।। णमोऽत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स ।।

श्री स्थानाङ्ग-सूत्रम्

मूल-सस्कृत-छाया-पदार्थ-मूलार्थ एव

हिन्दी विवेचनिका सहित

[प्रथम भाग]

व्याख्याकार

जैन-धर्म-दिवाकर, जैनागम-रत्नाकर, श्रमण सघ के प्रथम पट्टधर

आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज

सम्पादक

जैन-धर्म-दिवाकर, ध्यान-योगी, श्रमण सघ के चतुर्थ पट्टधर

आचार्य सम्राट् पूज्य श्री शिव मुनि जी महाराज

प्रकाशक

भगवान महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेटर ट्रस्ट, नई दिल्ली

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना, पजाब

आगम श्री स्थानाङ्ग सूत्रम् (प्रथम भाग)

व्याख्याकार आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

दिशा निर्देश राष्ट्रसन्त बहुश्रुत गुरुदेव श्री ज्ञानमुनि जी महाराज

पूर्व स सपादक पजाब प्रवर्तक उपाध्याय श्रमण श्री फूलचद जी महाराज

सपादक आचार्य सम्राट् डॉ श्री शिवमुनि जी महाराज

सहयाग श्रमण सघीय मत्री, श्री शिरीष मुनि जी महाराज

प्रकाशक भगवान महावीर मडीटेशन एण्ड रिसर्च सेटर ट्रस्ट, नई दिल्ली

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना

अवतरण जून, 2005

सहयाग राशि पाच सौ रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान 1 भगवान महावीर मेडिटेशन एड रिसर्च सेटर ट्रस्ट
आदीश्वर धाम, सन्मति नगर, कुप्प कला जि सगरूर (पजाब)
(लुधियाना मालर कोटला मेन रोड पर स्थित)

2 श्री अनिल जैन
1924 गली न 5,
कुलदीप नगर, लुधियाना
दूरभाष 9417011298

मुद्रण व्यवस्था कामल प्रकाशन
C/o विनोद शर्मा, म न 2088/5, गली न 19,
प्रेम नगर (निकट बलजीत नगर), नई दिल्ली 110008
दूरभाष 9810765003, 011-55830064
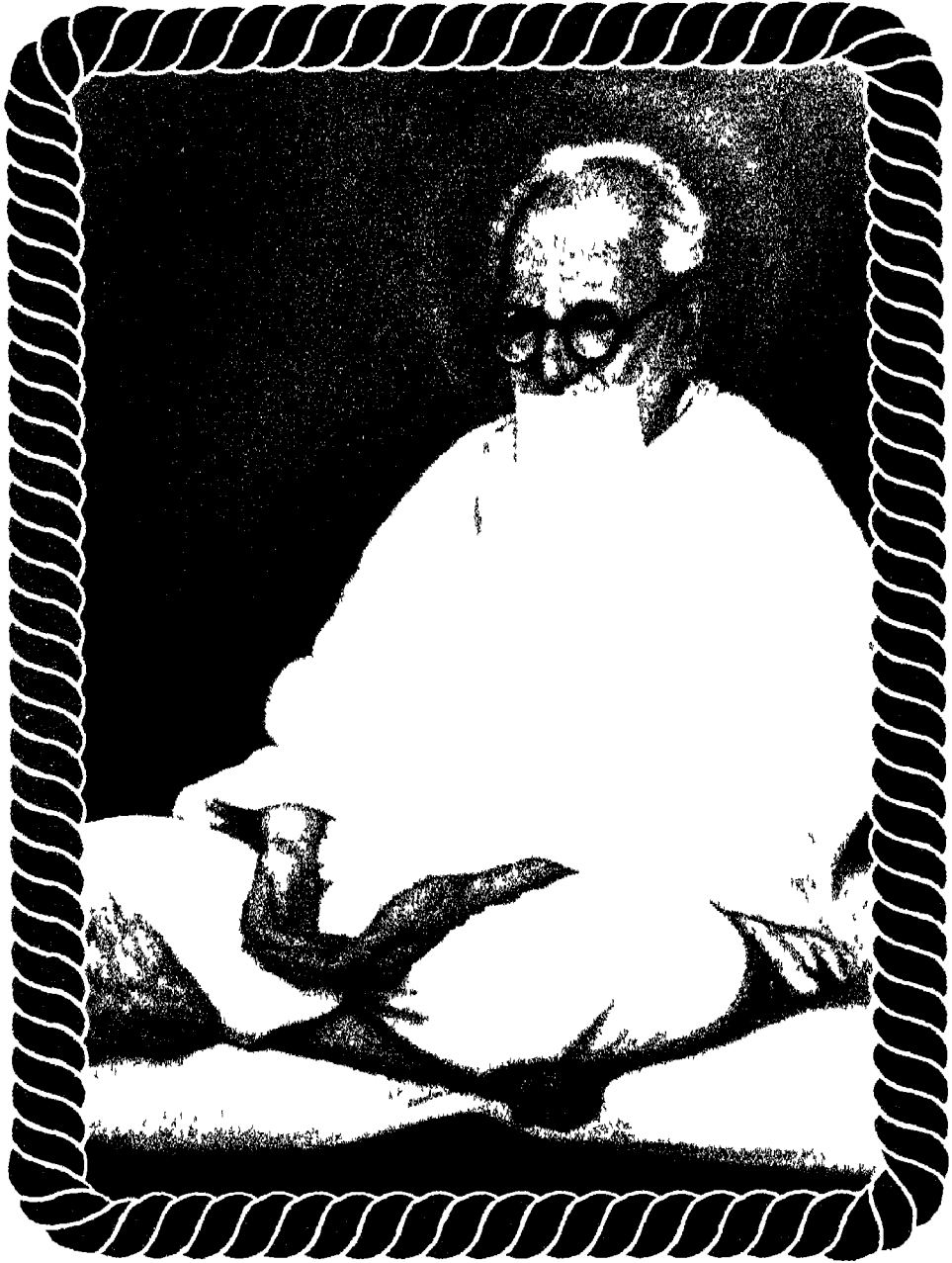
जैन धर्म दिवाकर जैनागम रत्नाकर ज्ञान महोदधि
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

प्रकाशकीय

श्री स्थानाङ्ग सूत्रम् 'प्रथम भाग' का नवीन सस्करण क साथ आगम-स्वाध्यायी मुमुक्षुओ क कर-कमलो मे अर्पित करत हुए हम हार्दिक हर्ष का अनुभव कर रह है। आचार्य देव श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा व्याख्यायित और पजाब प्रवर्तक उपाध्याय श्रमण श्री फूलचन्द जी महाराज द्वारा सपादित इस बृहद् आगम के पुनर्सपादन और पुनर्प्रकाशन का बृहद् दायित्व आचार्य श्री शिव मुनि जी महाराज ने अपने हाथो म लिया और अपनी आठ मास की अप्रमत्त श्रम साधना से उस सपूर्ण किया। अप्रमत्त पुरुषार्थी आचार्य श्री शिव मुनि जी महाराज एव उनक सुशिष्य सकल्प आर समर्पण क प्रतिमान पुरुष श्रमण सघीय मत्री श्री शिरीष मुनि जी महाराज न गुरुमह आचाय दव श्री आत्माराम जी महाराज की श्रुत साधना का सवसुलभ बनान के लिए जिस उत्साह और लगन स कार्य किया ह वह सघ और समाज म सदैव प्रशसनीय आर अनुकरणीय रहेगा।

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति आर भगवान महावीर मडिटशन एण्ड रिसर्च सेटर ट्रस्ट क तत्वावधान म विगत तान वर्षो म बारह आगमा क सालह सस्करणा का प्रकाशन पूर्ण हा चुका ह। इस प्रामाणिक उत्कृष्ट आर द्रुत काय की सघ म सर्वत्र प्रशसा हुई ह। वस्तुत इस प्रशसा क पात्र स्वय आचार्य श्री ह जिनक श्रमपूर्ण सपादन, आशीर्वाद और कुशल निर्देशन म यह कार्य निरतर प्रगतिमान ह।

आगम प्रकाशन पर्व क इस महनीय महायज्ञ म सकल श्रीसघ का पूर्ण सहयोग रहा है, तदर्थ हम सकल सघ क हार्दिक आभारी है। आशा है कि समग्र सघ का यह साधु-सहयाग हमे सदव प्राप्त हाता रहगा।

विनीत

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना

एव

भगवान महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेटर ट्रस्ट, नई दिल्ली

श्री ज्ञान मुनि जी महाराज

सम्पादकीय

श्री स्थानाङ्ग सूत्रम् द्वादशागी का एक अनमोल रत्न है। द्वादशागी मे इस आगम का आचाराग और सूत्रकृताग के पश्चात् तृतीय क्रम है। यह आगम जिनवाणी रूप अमूल्य मौक्तिको स पूर्ण अगाध महासागर है। इसे जिनवाणी का इनसाइक्लोपिडिया अथवा विश्वकाष को सज्ञा दी जा सकती है। इस आगम मे सूत्ररूप मे समग्र द्वादशागी का विशाल ज्ञान सचित है। इसके दस स्थान और एक श्रुतस्कध है। प्रथम स्थान मे एक-एक सख्या वाल, द्वितीय स्थान मे दो-दो सख्या वाले, तृतीय स्थान मे तीन-तीन सख्या वाले, इसी प्रकार क्रम प्राप्त दसवे स्थान म दस-दस की सख्या वाल बोलो का उत्कृष्ट सग्रह है। स्मरण सुविधा की दृष्टि स ये बोल जहा अनुपम है वही इनम जीव और जगत् क आध्यात्मिक और भौतिक दृष्टियो से गुह्यतम रहस्य अनावृत्त हुए है। विभिन्न दृष्टियो स धर्म, दर्शन और अध्यात्म पर गभीर चिन्तन हुआ है।

समग्र आगम वाङ्मय की भाति इस आगम क मूल स्रोत भी भगवान महावीर है। भगवान महावीर ने अर्थ रूप मे इस आगम का उपदेश दिया और आर्य सुधर्मा स्वामी ने इसे सूत्रबद्ध किया। आर्य सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य आर्य जबू स्वामी की जिज्ञासा पर द्वादशागी के तृतीय क्रम पर इस आगम की उन्हे वाचना दी। तब से लेकर वर्तमान तक कई आगमीय वाचनाए हुई, प्रस्तुत आगम का जो वर्तमान स्वरूप है यह भगवान महावीर के 980 वर्ष पश्चात् आर्य दवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे सम्पन्न हुई वाचना का है। 1500 वर्ष से भी अधिक समय पूर्व हुई इस वाचना से भी पर्याप्त श्रुत विच्छिन्न हुआ होगा ऐसा माना जाना स्वाभाविक है। भारत की स्वतन्त्रता से पूर्व का डेढ सहस्राब्दी का कालखण्ड चरम उहापोह का काल रहा। समय-समय पर भारतीय शासको के पारस्परिक द्वन्द्व और विदेशी आक्रान्ताओ के आक्रमणो से भारतवर्ष सत्रस्त रहा। परतत्रता की पीडा ने भारत को आर्थिक और आध्यात्मिक दृष्टि स पीडित किया। ऐसे मे श्रुत का विच्छिन्न हाना स्वाभाविक था। फिर भी परमार्थी श्रमणो ने अपने सजग और सतत प्रयासो से श्रुत के एक विशाल अश का सुरक्षित रखा।

विगत शती के प्रारभ मे जब भारतवर्ष स्वतत्रता के सकल्प के साथ आगे

बढ रहा था, उसी अवधि मे कई परमार्थी श्रमणो न आगम साहित्य के उद्धार पर पर्याप्त ध्यान दिया। स्थानकवासी परम्परा मे इस दिशा मे जिन मुनीश्वरो न एतिहासिक कार्य किए उनमे आचार्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज, आचार्य श्री घासीलाल जी महागज एव आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के नाम प्रमुख है। आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज का कार्य विलक्षण रहा। लगभग सत्तर वर्ष पूर्व जब राष्ट्रभाषा विकास क प्रथम चरण पर थी उस समय उन्हाने साधिकार राष्ट्रभाषा म आगमो की विशाल व्याख्याआ की रचना की। श्री स्थानाग सूत्र की प्रस्तुत विशाल व्याख्या का निर्माण आचार्य श्री न वि स 2001 मे पूर्ण किया। उनक इस महान श्रम को तब स आज तक सर्वाधिक विशाल ओर प्रामाणिक कार्य माना जाता रहा हे।

प्रज्ञा पुरुष आचार्य देव का आचार्य परम्परा म वही स्थान है जो आचार्य सिद्धसेन दिवाकर आचार्य हरिभद्र सूरि, आचार्य हमचन्द्र, आचार्य अभयदव सूरि प्रभृति आचार्यो का रहा है। श्रुतसाधना की दृष्टि स आचार्य दव की इस महासाधना से लाखो मुमुक्षुओ न श्रुताध्ययन का अमृतपान किया है। अपन इस महता-महीयान काय के रूप मे आचार्य दव सदैव अमर रहग।

लगभग 30 वर्ष पूर्व आचार्य दव क पोत्र शिष्य पजाब प्रवर्तक उपाध्याय श्रमण श्री फूलचद जी महाराज के श्रम साध्य सपादन म इस महान आगम का प्रथम प्रकाशन हुआ। पूज्य उपाध्याय श्री की श्रुतसाधना स भी सकल श्री सघ सुपरिचित है। आत्मकुल कमल दिवाकर श्री रत्नमुनि जी महाराज क साथ-साथ श्री तिलकधर शास्त्री न भी इस कार्य म अपना सहयाग दिया।

वर्तमान समय म आचार्य दव क व्याख्याकृत आगम अनुपलब्ध प्राय. हे। इसी तथ्य का दृष्टिपथ पर रखते हुए आगमा क पुनर्मुद्रण का लक्ष्य स्थिर किया गया। आगम श्रद्धालुओ ने पूर्ण समर्पण भाव स इस कार्य म सर्वताभावन सहयोग समर्पित किया। मर अन्तवासी मुनीश्वर श्री शिरीष मुनि जी महाराज इस कार्य का पूर समर्पित मन स आगे बढा रह हे। श्रुताराधना और श्रुतप्रभावना के रूप मे उनका श्रम श्रमण सघ मे सदैव प्रशसनीय रहगा।

वयावृद्ध विद्वान श्री ज प त्रिपाठी एव श्री विनोद शर्मा का समर्पित श्रम भी पूर्व की भाति इस प्रकाशन स जुडा हुआ है। तदर्थ विद्वान-द्वय साधुवाद क शतश. अधिकारी है।

—आचार्य शिव मुनि

जैन धर्म दिवाकर ध्यान योगी
आचार्य सम्राट् डा० श्री शिवमुनि जी महाराज

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव
आगम प्रकाशन समिति के सहयोगी-सदस्य

1 समादरणीया माता श्रीमती विद्यादेवी जैन धर्मपत्नी श्री चिरजीलाल जी जैन, मलोट मण्डी (पजाब)
2 श्री सदीप जैन, अध्यक्ष श्री एस एस जैन सभा, सिरसा (हरियाणा)
3 श्री महेन्द्र कुमार जी जैन, मिनी किग, लुधियाना, पजाब
4 श्री शोभनलाल जी जैन, लुधियाना, पजाब
5 आर एन ओसवाल परिवार, लुधियाना, पजाब
6 सुश्राविका लीला बहन, मोगा, पजाब
7 सुश्राविका सुशीला बहन लोहटिया, लुधियाना, पजाब
8 उमेश बहन, लुधियाना पजाब
9 स्व श्री सुशील कुमार जी जैन, लुधियाना, पजाब
10 श्री नवरग लाल जी जैन, सगरिया मण्डी, पजाब
11 श्रीमती शकुन्तला जैन धर्मपत्नी श्री राजकुमार जैन, सिरसा, हरियाणा
12 श्री रवीन्द्र कुमार जैन, भटिण्डा, पजाब
13 लाला श्रीराम जी जैन सर्राफ, मालेरकोटला पजाब
14 श्री चमनलाल जी जैन सुपुत्र श्री नन्द किशोर जी जैन, मालेरकोटला, पजाब
15 श्रीमती मूर्ति देवी जैन धर्मपत्नी श्री रतनलाल जी जैन (अध्यक्ष), मालेरकोटला, पजाब
16 श्रीमती माला जैन धर्मपत्नी श्री रामभूति जैन लोहटिया, मालेरकोटला, पजाब
17 श्रीमती एव श्री रत्नचद जी जैन एड सस, मालेरकोटला, पजाब
18 श्री बचनलाल जी जैन सुपुत्र स्व श्री डोगरमल जी जैन, मालेर कोटला, पजाब
19 श्री अनिल कुमार जैन, श्री कुलभूषण जैन सुपुत्र श्री केसरीदास जैन, मालेरकोटला पजाब
20 श्रीमती कांता जैन धर्मपत्नी श्री गोकुलचन्द जी जैन, शिरडी, महाराष्ट्र
21 किरण बहन, रमेश कुमार जैन बोकडिया, सूरत गुजरात
22 श्री श्रीपत सिह गोखरू, जुहू स्कीम मुम्बई, महाराष्ट्र
23 प्रेमचन्द जैन सुपुत्र श्री बनारसी दास जैन, मालेरकोटला, पजाब
24 प्रमोद जैन, मन्त्री एस एस जैन सभा, मालेरकोटला, पजाब
25 श्री सुदर्शन कुमार जैन, सेक्रेटरी एस एस जैन सभा मालेरकोटला, पजाब
26 श्री जगदीश चन्द्र जैन हवेली वाले, मालेरकोटला, पजाब
27 श्री सतोष जैन, खन्ना मण्डी, पजाब

28 श्री पार्वती जैन महिला मण्डल, मालेरकोटला, पजाब

29 श्री आनन्द प्रकाश जैन, अध्यक्ष जैन महासघ, दिल्ली प्रदेश

30 श्री चान्दमल जी, मण्डोत, सूरत

31 श्री शील कुमार जैन, दिल्ली

32 श्री राजेन्द्र कुमार जी लुकड, पूना

33 श्री गोविन्द जी परमार, सूरत

34 श्री शान्तिलाल जी, मण्डोत, सूरत

35 श्री चान्दमल जी माद्रेचा, सूरत

36 श्री आर डी जैन, विवेक विहार, दिल्ली

37 श्री एस एस जैन, प्रीत विहार, दिल्ली

38 श्री राजकुमार जैन, सुनाम, पजाब

39 श्री लोकनाथ जी जैन, नौलखा साबुन वाले, दिल्ली

40 श्री नेमचन्द जी जैन, सरदूलगढ़, पजाब

41 श्री स्नेहलता जैन धर्मपत्नी श्री किशनलाल जैन, सफीदो मण्डी (हरियाणा)

42 श्री सूर्यकान्त टी भटेवरा, पुणे, (महाराष्ट्र)

43 श्रीमती किरण जैन, करनाल (हरियाणा)

44 श्री विमल प्रकाश जी, जालधर, पजाब

45 श्री राजिदर जैन, श्री राकेश जैन, जालधर, पजाब

46 स्त्री सभा, रूपा मिस्त्री गली, लुधियाना, पजाब

47 वर्धमान शिक्षण सस्थान, फरीदकोट, पजाब

48 एस एस जैन सभा, जगराओ, पजाब

49 एस एस जैन सभा, गीदडवाहा, पजाब

50 एस एस जैन सभा, केसरी-सिहपुर, पजाब

51 एस एस जैन सभा, हनुमानगढ़, (राजस्थान)

52 एस एस जैन सभा, रत्नपुरा, पजाब

53 एस एस जैन सभा, रानिया, पजाब

54 एस एस जैन सभा, सगरिया, पजाब

55 एस एस जैन सभा, सरदूलगढ़, पजाब

56 एस एस जैन सभा, बरनाला, पजाब

57 श्री एस एस जैन सभा, मलौट मण्डी, पजाब

58 श्री एस एस जैन सभा, सिरसा, हरियाणा

59 एस एस जैन बिरादरी, तपावाली, मालेरकोटला, पजाब

60 श्री एस एस जैन सभा, सगरूर, पजाब

श्रुत सेवा
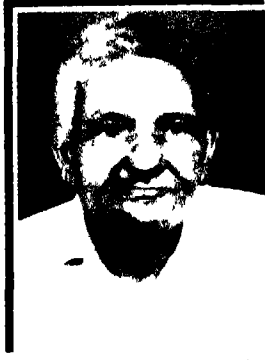
स्व० श्री चिरजीलाल जी जैन

स्व० श्रीमती विद्यादेवी जैन

श्री राजकुमार जी जैन

श्रीमती सुमित्रा देवी जैन

श्री विजय कुमार जी जैन

श्रीमती किरण जैन

श्री संदीप जैन

श्रीमती मीनू जैन

श्री पवन कुमार जैन

श्रीमती रेनू जैन

श्री अभिषेक जैन

आदर्श माता-पिता

इस विश्व अवनी पर कुछ ऐसे महनीय मानव जन्म लेते हैं जो अपने जीवन को तो आलोकित करते ही हैं, साथ ही अपने परिवार और समाज के लिए भी आलोक-स्तंभ बन जाते हैं। ऐसे मानव अखिल मानव- समाज के लिए समादरणीय और वन्दनीय होते हैं।

मलौट नगर के सुप्रसिद्ध मान्यवर श्रेष्ठी श्री चिरंजीलाल जी जैन एव उनकी धर्मपत्नी श्रीमती विद्यादेवी जैन ऐसे ही महनीय मानवों में परिगणित होते हैं। आप दोनों का जीवन समाज के लिए प्रकाश की मीनार के समान है। मृदुता, सत्यता, धर्मनिष्ठा, संयमीय सादगी, परोपकारिता आदि सद्गुणों का आत्यन्तिक विकास आप दोनों के जीवन में हुआ था। जैन धर्म के प्रति आप जैसी अनन्य अनुरागिता अन्यत्र कम ही देखने-सुनने को मिली। जैन धर्म को आपने सदैव प्राणो से भी प्रमुख माना।

परोपकार और मानवीय-सेवा के प्रत्येक पसंग पर आप सदैव सबसे आगे रहे। किसी भी जरूरतमद और दीन-दुखी को आपके द्वार से कभी निराश लौटते नहीं देखा गया। सच मे आप जैसे मानव-रत्नो से मानवता धन्य-धन्य हुई है।

मानवता के भूषण श्रीयुत चिरंजीलाल जी जैन एवं नारी धर्म की प्रतिमान सन्नारी श्रीमती विद्यादेवी जैन की उत्तमोत्तम साधना जब फलित हुई तो 18 सितम्बर सन् 1942 के दिन उनसे एक महाज्योति प्रगट हुई, अर्थात् उन्हे सर्वगुण-निधान एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। वही पुत्र जो वर्तमान में अखिल भारतवर्षीय श्री वर्धमान स्थानकवासी श्रमणसंघ के अनुशास्ता हैं, तीर्थंकर महावीर की पट्ट परम्परा के पट्टधर युगप्रधान आचार्य हैं।

प्रकाश पुरुष आचार्य श्री शिव मुनि जी महाराज वर्तमान जैन जगत् के सर्वाधिक तेजस्वी और यशस्वी व्यक्तित्व हैं। आचार्य देव के इस विराट् व्यक्तित्व के बीज को सुसंस्कारों के जल से सींचने वाले उनके माता-पिता ही थे। माता विद्यादेवी की सरलता, मृदुता और तेजस्विता का

सर्वांगीण विकास आचार्य श्री के जीवन में हुआ है। पितृदेव श्री चिरंजीलाल जी के विवेक, सत्य, परोपकार आदि महान गुण आचार्य देव के व्यक्तित्व के बीजमंत्र बने हैं।

तप और संयम की जीवत प्रतिमा महासाध्वी श्री निर्मला जी महाराज भी मां विद्या देवी एवं पिता चिरंजीलाल जी की पुत्री हैं। महासती श्री निर्मला जी म अपने आदर्श सयम की सुगंध से जैन जगत को महका रही हैं।

मां विद्यादेवी और पिता चिरंजीलाल जी का शेष समस्त गृहस्थ परिवार भी धार्मिक सस्कारों से ओत-प्रोत है। आपके बडे सुपुत्र श्री राजकुमार जी जैन एव छोटे सुपुत्र श्री विजय कुमार जी जैन तथा पुत्रवधुएं श्रीमती सुमित्रा देवी जैन एवं श्रीमती किरण जैन का जीवन भी त्याग, सेवा और धार्मिक भावनाओं से सरसब्ज है। पौत्र परिवार में सर्वश्री सदीप जैन, श्री पवन जैन एवं श्री अभिषेक जैन आपके दिखाए मार्ग पर आगे बढते हुए धर्मध्यान और सेवा-परायणता मे संलग्न हैं। पौत्रवधुएं श्रीमती मीनू जैन एवं श्रीमती रेनु जैन भी आपके सद्सस्कारों की संवाहिकाएं हैं। श्रीमती पुष्पा जैन (धर्मपत्नी श्री नेमचंद जी जैन, सरदूलगढ), श्रीमती शुक्ला जैन (धर्मपत्नी श्री महेन्द्र जैन डबवाली) एव श्रीमती प्रवीण जैन (धर्मपत्नी श्री अनिल कुमार जी जैन, लुधियाना) आपकी सुपुत्रियां हैं। सादगी, सरलता, तपस्विता और सेवा में ये तीनों ही समग्रभावेन समर्पित हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पितृदेव श्री चिरजीलाल जी एव मातेश्वरी श्रीमती विद्यादेवी जैन एक आदर्श नर-नारी रत्न थे। ऐसे मानव मानवता के शृंगार स्वरूप हैं।

विगत चार मई को मातेश्वरी विद्यादेवी जैन का पूर्ण समाधि अवस्था में स्वर्गवास हो गया। माता जी की हार्दिक भावना थी कि आगम प्रकाशन शृंखला में उनका भी योगदान हो। माता जी की हार्दिक भावनाओं का सम्मान करते हुए उनके पुत्र-पौत्र परिवार की ओर से प्रस्तुत आगम प्रकाशित हुआ है। मां विद्या के परिवार के इस उदार सहयोग के लिए आगम प्रकाशन समिति उनका हार्दिक धन्यवाद करती है।

—प्रस्तुति

विनोद शर्मा

प्रथम संस्करण से—

प्रस्तावना

श्री तिलकधर शास्त्री
साहित्य-रत्न, साहित्यालंकार

जैन-संस्कृति की प्राचीनता

भारत की पावन धरा पर दो संस्कृतियां बहुत ही प्राचीन काल से अक्षुण्ण रूप से चली आ रही हैं—जैन संस्कृति और वैदिक संस्कृति। यद्यपि इनमें से वैदिक संस्कृति के मूल ग्रन्थ 'वेद' लेखनकला की दृष्टि से प्राचीन माने जाते हैं, परन्तु उनकी भाषा को 'संस्कृत' कहा जाता है—संस्कृत अर्थात् किसी भाषा का परिमार्जित रूप। भाषा-शास्त्रियों का कथन है कि वैदिक ऋषियों ने मूल रूप से बोली जाने वाली किसी प्राकृत अर्थात् लोक में स्वाभाविक रूप से बोली जाने वाली भाषा का जो साहित्यिक रूप उपस्थित किया था उसे ही संस्कृत कहा जाता था। अतः वैदिक संस्कृत से प्राकृत की प्राचीनता भाषा-शास्त्र-सम्मत एक महान् तथ्य है। उपलब्ध जैन साहित्य का प्राकृत (अर्धमागधी) में होना जैन साहित्य की प्राकृत-परम्परा की ओर सबल संकेत करता है।

जैन तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का काल जैन काल-गणना के अनुसार करोड़ों वर्ष पूर्व माना जाता है।[१] भगवान ऋषभदेव के प्रवचन ही पहली बार जैन-आगमों के रूप में उदित हुए थे। वे प्राकृत में थे, अतः जैन-साहित्य की प्राचीनता वेदों से भी पूर्व मानने में आपत्ति नहीं हो सकती।

वेद साहित्य प्राचीन है, इस में सन्देह नहीं, परन्तु डॉ. राधाकृष्णन् ने "हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्रा" (History of Dharm-Shastra, Vol V, Part II, P 995) मे यह सिद्ध किया है कि यजुर्वेद मे ऋषभ[२], अजितनाथ और अरिष्टनेमि जी का उल्लेख प्राप्त होता है। पं. कैलाशचन्द्र जी ने भी अपने "जैनसाहित्य का इतिहास" की पूर्वपीठिका पृष्ठ १०७ पर डा. राधाकृष्णन् का समर्थन करते हुए ऋषभदेव का वेदों में उल्लेख स्वीकार किया है। यह उल्लेख प्रमाणित करता है कि वेद ने अपने से पूर्व की जैन-परम्परा के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का उल्लेख करके जैन संस्कृति की सत्ता का वैदिक साहित्य से पूर्व होना सिद्ध किया है।

जैन-साहित्य के अनुसार भगवान् ऋषभदेव का काल सभ्यता का उषा-काल था, उनके पूर्वकाल तक भाई-बहिन ही पति-पत्नी बन जाते थे। परन्तु भगवान् ऋषभदेव ने इस परम्परा को

---

१. उसभसिरिस्स भगवओ चरिमस्स य महावीरवद्धमाणस्स एगा सागरोवमकोडाकोडी आबाहाए अन्तरे पण्णत्ते। (समवायांग. १७३) उक्त पाठ एक कोडाकोडी (करोड़ × करोड़) सागरोपम काल का अन्तर बतलाता है जो औपमिक काल गणना से ही समझा जा सकता है।

२. उन्नत ऋषभो वाहनः (२४/७) तत्राह उव्वटो भाष्यकारः उन्नतः उच्चः ऋषभः पुष्टः वामनः बहून्यपि वयसि गते वृद्धि रहितः। इसी प्रकार—रोहिदृषभाय गवयी—२४/३० की व्याख्या में उव्वट कहते हैं—ऋषभाय तदाख्य देवाय।

समाप्त कर दिया, अतः समाज में भाई और बहिन के दाम्पत्य जीवन के प्रति अरुचि पैदा हो गई थी। ऋग्वेद में भी यमी अपने भाई यम से रत्यानन्द की इच्छा प्रकट करती है और यम उससे सहमत नहीं होता और बहिन की रत्यानन्द की प्रार्थना को ठुकरा देता है। ऋग्वेद का यह उल्लेख भगवान् ऋषभदेव द्वारा किए गए सभ्यता-स्थापना के प्रयास की ओर संकेत करता हुआ जैन संस्कृति और साहित्य की प्राचीनता को ही प्रमाणित करता है।

मोहनजोदडो की खुदाई से प्राप्त अनेक मूर्तियो और अवशेषों को पुरातत्त्ववेत्ता जैन- सस्कृति के अवशेष मानते हैं, क्योंकि वहां यज्ञ-प्रधान ब्राह्मण-संस्कृति का कोई अवशेष प्राप्त नहीं हुआ, योग-प्रधान संस्कृति के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं वे जैन संस्कृति के ही हो सकते हैं, अतः जैन संस्कृति की प्राचीनता इतिहास सिद्ध है।

भगवान ऋषभदेव का ही नहीं **"मुनयो वातरशना पिशङ्गा वसने मलाः"** (ऋक्— १०।१३५।२) इत्यादि शब्दों द्वारा जैन-मुनीश्वरों की ओर ही संकेत किया गया है, क्योंकि वात-रशना—वायु ही जिनकी लगोटी है, अर्थात् अचेलक मुनि, 'वसने मलाः' जिनके वस्त्र एवं शरीर पर मैल जमी है, ये विशेषण जैन मुनियों के ही हो सकते हैं। जल्ल-परीषह को सहन करने वाले जैन मुनियो के शरीर पर ही मैल देखी जा सकती है, क्योंकि वे शरीर की ममता से सर्वथा मुक्त होते हैं।

श्रुत-साहित्य

जैन आगमों के लिए 'श्रुत' शब्द का प्रयोग होता है और जैन-साहित्य के साथ-साथ विकसित होने वाले वेदों के लिए 'श्रुति' शब्द का प्रयोग किया गया है। श्रुत और श्रुति ये शब्द दोनों संस्कृतियों के मूल ग्रन्थों के निकटतम कालों में विकसित होने का संकेत करते हैं और दोनों का श्रवण-परम्परा से अर्थात् गुरु-परम्परा से प्रचार और प्रसार मानते हैं। फिर भी दोनों में मौलिक भेद हैं। वैदिक परम्परा वेदों को अपौरुषेय मानती है, पौरुषेय मानने की स्थिति में भी उन्हे ईश्वर-प्रणीत कहती है, परन्तु श्रमण-संस्कृति आगमों को केवलज्ञानियों द्वारा उपदिष्ट रचना स्वीकार करती है, साथ ही वह 'श्रुत' उसी सांस्कृतिक साहित्य को कहती है जो यथार्थ हो, सर्वज्ञोपदिष्ट हो और मंगलकारी हो।

वैदिक परम्परा केवल चार वेदों के लिए ही श्रुति शब्द का प्रयोग करती है, परन्तु श्रमण-परम्परा में प्राचीन एव अर्वाचीन सभी शास्त्रों के लिए 'श्रुत' शब्द का व्यवहार होता है। तभी तो जैन विद्वान् कहते हैं—**'श्रुत' शब्दोऽयं रूढिशब्दः...इति सर्वमतिपूर्वस्य श्रुतस्य सिद्धिर्भवति।** अर्थात् 'श्रुत' शब्द रूढ़ है और श्रुतज्ञान में किसी भी प्रकार का मतिज्ञान कारण हो सकता है। अतः अब आगमों के लिखित रूप में दृश्यमान होने पर उनके लिए भी श्रुत शब्द का प्रयोग किया जाता है। आरम्भ में यह श्रूयमाण साहित्य के लिए ही प्रयुक्त होता रहा होगा।

जैन मुनीश्वरो को लिपियों का ज्ञान था। समवायांग सूत्र १८ में अठारह लिपियों का उल्लेख है और ब्राह्मी लिपि में ४६ अक्षर भी बताए गए हैं। फिर भी वे परिग्रह-त्याग की दृष्टि से लेखन-कार्य में रुचि न लेते थे। जब भगवान महावीर के निर्वाण से लगभग नौ सौ अस्सी वर्ष पश्चात् दुष्काल आदि के कारण मानवीय स्मरण-शक्ति क्षीण होने लगी तब जैन मुनीश्वरों ने

अपवाद मार्ग का आश्रयण करके लेखन-कार्य आरम्भ कर दिया। अब तक श्रूयमाण एवं भाव-श्रुत रूप में विद्यमान आगम-साहित्य शब्द-श्रुत के रूप में भी परिणत होने लगा।

ज्ञान के पांच रूप बताए गए हैं—मतिज्ञाम, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवल-ज्ञान। इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहा जाता है। दूसरे श्रुतज्ञान के दो रूप हैं, भावश्रुत जो चेतना रूप होता है और दूसरा द्रव्यश्रुत जो कागज, स्याही, पत्र आदि द्रव्य-रूप साधनों के द्वारा निर्मित हुआ करता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को व्यावहारिक प्रत्यक्ष और अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान द्वारा प्राप्त ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है।

आचार्य देव श्रुतज्ञान के सात युग्मकों के रूप में चौदह भेद करते हैं, जैसे कि—१. अक्षर श्रुत, २. अनक्षर श्रुत, ३. सम्यक् श्रुत, ४. मिथ्याश्रुत, ५. संज्ञीश्रुत, ६ असंज्ञी श्रुत, ७ सादिक श्रुत, ८. अनादिक श्रुत, ९. सपर्यवसित-श्रुत, १० अपर्यवसित श्रुत, ११. गमिक श्रुत, १२. आगमिक श्रुत, १३ अंग-प्रविष्ट श्रुत, १४. अनंग-प्रविष्ट श्रुत, अर्थात अंग-बाह्य श्रुत।

१. **अक्षर-श्रुत**—अनेकविध भाषाओं, लिपियों एव संकेतो द्वारा व्यक्त श्रुत ज्ञान।

२. **अनक्षर-श्रुत**—श्रूयमाण ध्वनियों एवं चेष्टाओं द्वारा होने वाला श्रुतज्ञान।

३. **सम्यक् श्रुत**—अरिहन्त भगवन्तों द्वारा प्रणीत द्वादशांगवाणी अथवा शम-सम्पन्न निर्वेदयुक्त आत्मवान् तत्त्वज्ञों द्वारा कथित श्रुतज्ञान।

४. **असम्यक् श्रुत**—मिथ्याज्ञान एवं अनाचार का पोषक एव मानसिक विकृतिया उत्पन्न करने वाला विपरीत ज्ञान।

५. **संज्ञी श्रुत**—समनस्क जीवों को होने वाला श्रुत ज्ञान। गर्भज जीव संज्ञी कहलाते हैं, क्योंकि इन्द्रियों और मन के द्वारा ही उन्हें संवेदन की प्रतीति होती है और वे विविध क्रियाएं करते भी देखे जाते हैं।

६. **असंज्ञी श्रुत**—असंज्ञी अर्थात् मन से रहित जीवों मे होने वाला श्रुत ज्ञान। स्व-सवेदन स्थावरों को अर्थात् पृथ्वीकायिक आदि एव वनस्पतियों तथा विकलेन्द्रियो को भी होता है, परन्तु वे समनस्क नहीं होते।

७. **सादिक श्रुत**—जिसका आरम्भ किसी काल विशेष मे हुआ हो, क्योंकि समय-समय पर नित्य नवीन शोध-कार्य होते रहते हैं।

८. **अनादिक श्रुत**—जो ज्ञान परम्परा द्वारा निरन्तर प्राप्त हो रहा हो, अतः जिसका आदि न हो।

९. **सपर्यवसित श्रुत**—जिसका अन्त हो जाता है ऐसा श्रुत, क्योंकि किसी भी समय शास्त्र अक्षरशः वैसा नहीं रहता जैसा पूर्व में था। गणधरों की वाणी पर आकर उसका पूर्व अक्षर-रूप समाप्त हो जाता है और उसे नवीन रूप प्राप्त हो जाता है। विस्मृत ज्ञान भी सपर्यवसित श्रुत ही कहलाता है।

१०. **अपर्यवसित श्रुत**—जिसका कभी अन्त नहीं होता, क्योंकि ज्ञान-राशि परम्परया आगे ही आगे बढ़ती रहती है।

११. गमित श्रुत—विशेष प्रकार के गणित की चर्चा, विशिष्ट अर्थ-परिच्छेद से युक्त श्रुत अथवा समान पाठों से युक्त श्रुत।

१२. अगमिक श्रुत—जो गमिक श्रुत से विपरीत हो।

१३. अङ्ग-प्रविष्ट और १४ अङ्गबाह्य—ये श्रुत के दो प्रधानतम रूप हैं जिनमें समस्त श्रुत-साहित्य समाविष्ट हो जाता है।

अंग क्या है?

वैसे तो किसी समग्र वस्तु के एक भाग विशेष को अंग कहा जाता है, जैसे शरीर का एक अंग हाथ है, परन्तु संस्कृत साहित्य में 'अङ्ग' शब्द पूरे शरीर के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

जैन साहित्य में प्रयुक्त अङ्ग शब्द भी पूरे शरीर के समान समग्रता का ही बोधक है, अर्थात् 'अंग' वह मूल केन्द्र है जहां से उपांग रूप श्रुत का विकास हुआ है।

हम इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि १२ आगमों का एक समूह है, प्रत्येक आगम उसकी एक प्रमुख इकाई है, उस इकाई रूप अर्थ का बोध करवाने के लिए आगमों को अंग कहा गया है।

अङ्गो के बिना 'अङ्गी' का अस्तित्व नहीं होता। जैन सस्कृति ने ज्ञान को आत्मा का ही रूप माना है, आत्मा अंगी है और ज्ञान उसका अभिन्न अंग है। केवलज्ञानी तीर्थंकर भगवन्तों ने आत्मा के अङ्गभूत श्रुत को व्यक्त किया है, अतः इन्हें 'अङ्ग' कहा जाता है।

तीर्थंकर भगवान सिद्धगति को प्राप्त हो गए हैं, अतः अब उनका धरती पर दैहिक अस्तित्व नहीं है, परन्तु उनका दिया हुआ ज्ञान जो उन्हीं का अङ्ग है वह अब भी धरती पर विद्यमान है, अतः तीर्थंकर देव का अङ्ग होने के नाते इस श्रुत समूह को अङ्ग कहा गया है।

वैदिक साहित्य में वेदों के अध्ययन में सहायक शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प नामक साहित्य को अङ्ग कहा गया है। हो सकता है जैन मुनीश्वरों ने श्रुत-समूह को जीवन के परम लक्ष्य केवलज्ञान की प्राप्ति में सहायक जान कर इस श्रुत-समुदाय को अङ्ग कहना आरम्भ कर दिया हो। यह भी मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि मुनीश्वर श्रुत को अपने जीवन का मुख्य अङ्ग मानते हों—इसे अपने से अभिन्न मानते हों, अतः इसे अङ्ग कहने लग गए हों।

जो भी हो, अङ्ग साहित्य जैन-संस्कृति का आधार है और इस आधार पर हमारा पूरा सांस्कृतिक भवन टिका हुआ है।

आगम—

जैन-परम्परा में शास्त्रों के लिए 'श्रुत' शब्द के समान आज 'आगम' शब्द विशेष प्रचलित हो गया है, जबकि प्राचीन काल में इनके लिए 'श्रुत' शब्द की ही विशेष महत्ता थी, इसीलिये श्रुत-केवली, श्रुत-स्थविर आदि शब्द प्रचलित हुए। 'आगम' शब्द भी प्रयुक्त होता था, परन्तु वह विशेष प्रसिद्ध न था। आचार्य उमास्वाति जी का काल विक्रम की पहली शताब्दी के लगभग माना जाता है, उन्होंने श्रुत के पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख करते हुए—आप्त-वचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन और जिन वचन—ये शब्द श्रुत के स्थान पर प्रयुक्त होने वाले

बताए हैं। अनुयोगद्वार सूत्र मे भी लोकोत्तर आगमों में समस्त श्रुत-साहित्य को स्थान दिया गया है, अतः 'आगम' शब्द की प्राचीनता तो निर्बाध है, परन्तु इसका विशेष प्रचलन विगत कुछ शताब्दियों में ही हुआ, ऐसा प्रतीत होता है।

वैदिक साहित्य में भी 'निगमागम' शब्द प्राप्त होते हैं, अतः मालूम होता है कि परम्परा-प्राप्त ज्ञान के लिए 'आगम' शब्द भारतीय भाषा-शास्त्र की अपनी विशेषता है। समस्त श्रुत-साहित्य समय-समय पर तीर्थंकर देवों द्वारा अर्थतः उपदिष्ट होता रहा है,अतः वर्तमान श्रुत भगवान महावीर की देन होते हुए भी अन्य पूर्व के तीर्थंकरो द्वारा प्राप्त है, अतः यह आगम भी कहलाता है।[१]

गणि-पिटक—

श्रुत-समूह के लिये गणि-पिटक शब्द का भी प्रयोग होता है। 'पिटक' शब्द का सामान्य अर्थ है पिटारा अर्थात् भण्डार। श्रुत-साहित्य गणनायक आचार्यों के लिये ज्ञान का भण्डार था—उनका सर्वस्व था, इसी को वे सर्वदा अपने शिष्यो-प्रशिष्यो को बाट्य करते थे, अतः श्रुत-साहित्य के लिए 'गणि-पिटक' शब्द भी प्रचलित हो गया। यह शब्द भी कोई नवीन नहीं है, यह भी अत्यन्त प्राचीन है। समवायांग सूत्र में' "**दुवालसंगे गणि-पिडगे पण्णत्ते**" के रूप मे इसका प्राचीन प्रयोग उपलब्ध होता है। नन्दी-सूत्र में भी "**इच्चेयं दुवालसंगं गणिपिडगं**" के रूप मे द्वादशागी के लिए गणि-पिटक शब्द का प्राचीन प्रयोग उपलब्ध है।

सूत्र—

शास्त्र के लिए सूत्र शब्द भी प्रयुक्त होता है। सूत्र शब्द की अनेक निरुक्तिया की गई हैं, जैसे कि—सूचयतीति सूत्रम्—जो अर्थ को सूचित करता है उसे सूत्र कहते हैं। 'सीव्यतीति सूत्रम्'—जो अर्थ को शब्दो के साथ गूथ देता है वह सूत्र है। 'सुवतीति सूत्रम्' जो ज्ञानधारा को प्रवाहित करता है वह सूत्र है। "अनुसरतीति सूत्रम्" जो केवली-भाषित अर्थ का अनुसरण करता है और जिसका अनुसरण अन्य मुमुक्षु करते हैं उसे सूत्र कहा जाता है। वस्तुतः थोड़े शब्दों में अधिक अर्थ प्रकट करने के कारण आगम सूत्र कहलाते है। (अल्पाक्षर पठितत्वे सति बह्वर्थबोधकत्व सूत्रत्वम्—पतञ्जलिः।)

इस प्रकार श्रुत-साहित्य, आगम, गणिपिटक और सूत्र शब्दों का प्रयोग जैन-शास्त्रो के लिए होता रहा है और होता रहेगा।

महावीर—

आज से २५७२ वर्ष पूर्व वैशाली के निकट कुण्डपुर नामक ग्राम की भूमि को तीर्थंकर माला के सुमेरु भगवान महावीर के जन्म से पवित्र होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। माता त्रिशला और पिता सिद्धार्थ इस मृत्युजय अमर-आत्मा पुत्र को पाकर अमर हो गए।

महावीर जन्म-जात ज्ञानी थे, अतः वे सांसारिकता से विमुख रह कर उस दिन की प्रतीक्षा करते रहे जबकि संचित कर्म-राशि से मुक्त होकर केवलज्ञान प्राप्त करें और फिर उसे बांटते हुए लोक-कल्याण की साधना कर सकें।

---

१ गुरु-पारम्पर्येणागच्छतीति आगमः। आसमन्तात् गम्यन्ते—ज्ञायन्ते जीवादय· पदार्था अनेनेति। *वा अनु. २११/५*

अट्ठाईस वर्ष की अवस्था में माता-पिता के देहावसान के अनन्तर परमज्ञानी महावीर भाई नन्दीवर्धन से आज्ञा लेकर साधना के महापथ पर बढे और साढ़े बारह वर्ष तक नानाविध कष्टों को झेलते हुए उन्होंने अपने साध्य केवलज्ञान को प्राप्त कर ही लिया। अब उस सर्वज्ञ-आत्मा के लिए कुछ भी अज्ञात शेष नहीं रह गया और उन्होंने ज्ञात सत्य की अभिव्यक्ति करनी आरम्भ कर दी।

उनकी सत्याभिव्यक्ति के प्रथम पात्र बनने का सौभाग्य गौतम गोत्रीय वेदों के पारंगत विद्वान् इन्द्रभूति को प्राप्त हुआ। गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति को भगवान महावीर 'गौतम' (गोयम) नाम से ही सम्बोधित करते थे, क्योंकि इस नाम का आध्यात्मिक अर्थ गौतम को प्रमाद-रहित रहने की प्रेरणा देता रहता था। 'गौतम' का आध्यात्मिक अर्थ है—'गो' अर्थात् इन्द्रियों में 'तम' विशिष्ट अर्थात् इन्द्रियों मे विशिष्ट मन पर विजय प्राप्त करने वाले। 'गोयम' शब्द का अर्थ भी इसी से मिलता-जुलता है—गो अर्थात् इन्द्रियो को 'यम' अर्थात् संयम करने वाला—जितेन्द्रिय। यह नाम भी गौतम को इन्द्रिय-विजय के लिए प्रेरित करता रहता था।

गौतम ने जैसे ही भगवान महावीर के दर्शन किए वैसे ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, मनः-पर्यवज्ञान और अवधिज्ञान की चतुर्मुखी धाराए उनकी चेतना में बहने लगीं। वे निर्मल चित्त हो गए। उसके अनन्तर दस अन्य विद्वानों ने भी महावीर के चरण-सान्निध्य में आकर उनसे दिव्यज्ञान प्राप्त किया। गणधरों को सम्बोधित करके भगवान महावीर ने जिस परम सत्य की अभिव्यक्ति की है वही वर्तमान में जैन-संस्कृति के मूलाधार आगम हैं।

सुधर्मा स्वामी

ये कोल्लाग सन्निवेश के रहने वाले थे। कोल्लाग सन्निवेश राजगृह के निकट एक समृद्ध कस्बा था। ये अग्नि-वैश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम धम्मिल और माता का नाम भद्दिला था। सुधर्मा वैदिक कर्मकाण्ड के प्रकाण्ड विद्वान् थे, अतः मध्यमापावा के सोमिल ब्राह्मण ने अपने द्वारा किये जाने वाले विराट् यज्ञ में जिन विशिष्ट विद्वानों को आमन्त्रित किया था, उनमे सुधर्मा भी थे, जो पांच सौ शिष्यों के साथ उस यज्ञ में आए थे। विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार भगवान महावीर ने इनकी इस लोक एवं परलोक की विचित्रता-सम्बन्धी प्रश्नों का समाधान किया था और ये पचास वर्ष की अवस्था मे पाच सौ शिष्यो सहित आज से २५३० वर्ष पूर्व वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन भगवान महावीर के शिष्य बन गए थे और इन्हें पांचवें 'गणधर' का पद प्राप्त हुआ था।

ये बयालीस वर्ष तक छद्मस्थावस्था में अर्थात् साधना-काल में रहे। भगवान् महावीर के निर्वाण से १२ वर्ष बाद इन्हें केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ और ये आठ वर्ष तक केवलज्ञानी बन कर पृथ्वी पर विचरण करते रहे। १०० वर्ष की अवस्था में इन्होंने राजगृह के गुणशील चैत्य में मासिक अनशन पूर्वक भौतिक शरीर को छोड़कर मोक्ष-पद को प्राप्त किया था।

जम्बू-स्वामी—

इन्होने मगध में 'राजगृह' नगर के एक उच्च वैश्य वंश में जन्म लिया था। इनके पिता का नाम ऋषभदत्त और माता का नाम धारिणी था। धारिणी ने सुधर्मा स्वामी के दर्शन-प्रभाव से एक

पुत्र प्राप्त किया था, उस का नाम उन्होंने जम्बू कुमार रखा था, क्योंकि धारिणी ने पुत्र-जन्म से पूर्व जम्बू देवता की प्रसन्नता के लिए १०८ आयंबिल व्रत किये थे[१]।

कहते हैं इनको आठ कन्याओं ने स्वेच्छा से वरण किया।

विवाह से एक दिन पूर्व ही राजगृह मे 'सुधर्मा' स्वामी का आगमन हुआ और उनके प्रवचन-प्रभाव से इनके हृदय का प्रसुप्त संवेग वेग के साथ उमड़ पड़ा। इन्होंने साधु बनने की इच्छा प्रकट की, परन्तु इनके माता-पिता इनकी विरक्ति से सहमत न हो सके। अत: अन्त में 'विवाह के उपरान्त दीक्षा-ग्रहण करो' की इन्हें आज्ञा प्राप्त हो गई।

विवाह सम्पन्न हुआ और आठों पत्नियां इनके शयन-कक्ष मे एक साथ प्रविष्ट हुईं। उन्होंने हाव-भाव, रूप-रंग एवं नाना प्रकार की संयम से विचलित करने वाली कहानियां कह कर इन्हें वैराग्य-पथ से विचलित करना चाहा, परन्तु इनकी वैराग्य-प्रधान कथाओं ने आठों के हृदय विरक्त कर दिए और वे सभी प्रात: काल साध्वी बनने का पावन निश्चय लेकर इनके शयन-कक्ष से बाहर आईं।

इसी रात 'प्रभव' नाम का चोर इनके घर में चोरी करने आया था, उसने भी इनके द्वारा कही गई विरक्ति कथाए सुनी तो वह भी अपने ४९९ साथियों के साथ प्रात:काल ही दीक्षार्थ श्री सुधर्मा स्वामी जी के चरणों में आ पहुचा।

इस घटना से प्रभावित होकर जम्बू जी के माता-पिता और आठ वधुओ के माता-पिता भी साधु-जीवन में प्रवेशार्थ प्रस्तुत हो गए।

इस प्रकार सोलह वर्ष की अवस्था में ये साधु-जीवन स्वीकार कर साधना-पथ पर अग्रसर हुए। चौसठ साल तक संयमी जीवन व्यतीत किया। चालीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और अस्सी वर्ष की अवस्था मे मथुरा में मोक्षधाम प्राप्त किया।

इन्हीं की जिज्ञासाओं के समाधान के लिए सुधर्मा स्वामी ने शास्त्र-प्रवचन के रूप में श्रुत साहित्य को जन्म दिया था।

सुधर्मा स्वामी के बाद ये ही सघ-सचालक आचार्य बने और इनके अनन्तर इन्हीं के साथ दीक्षित होने वाले प्रभव स्वामी ने सघ का संचालन किया। जैन सस्कृति की यह धारणा है कि इस युग के अन्तिम केवली जम्बूस्वामी ही हुए है।

आगमों का निर्माण

आगमों का निर्माण कब किसने किया? यह प्रश्न कोई उलझा हुआ प्रश्न नहीं है। आगमों के निर्माताओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ॥

आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १९२

अर्थरूप शास्त्र के निर्माता भगवान् महावीर हैं और शब्दरूप शास्त्र का निर्माण किया है

१ धारिण्यभिदधे जम्बूदेवोद्देश्यपूर्वकम्।
करिष्येऽष्टोत्तर तद्वाचाम्लाना शत कृतिन्।

गणधरों ने। शासन-हित ही उनका लक्ष्य था, इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए सूत्रो का प्रवर्तन हुआ।

यहां यह भी ज्ञातव्य है कि भगवान् महावीर ने ज्ञानाभिव्यक्ति के रूप में जो कुछ कहा है वह नया नहीं है, वह प्राचीन ही है। सत्य नया होता भी नहीं, सत्य वही है जो शाश्वत है। सत्य का उद्‌घाटन करने वाले तीर्थंकर देव फिर भला नया क्या कह सकते थे। भगवान महावीर ने अपनी ज्ञानराशि को भगवान् पार्श्वनाथ की ही ज्ञानराशि स्वीकार किया है। भगवान पार्श्वनाथ ने भी वही ज्ञान-राशि प्राप्त की थी जो भगवान् ऋषभदेव से लेकर बाईस तीर्थंकर क्रमशः प्राप्त करते आए थे। यही कारण है कि नन्दी सूत्र[1] में गणि-पिटक के सम्बन्ध में कहा गया है कि— यह पहले भी था, अब भी है और भविष्य मे भी रहेगा। इसीलिए गणि-पिटक को ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य कहा गया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर ने ही अर्थ रूप में वर्तमान शास्त्रों का निर्माण किया था और उसे शाब्दिक रूप देने वाले गणधर हैं। इसीलिए शास्त्रों में विवेचना के समय गणधर यही कहते हैं कि—"**तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते**" उसका यह अर्थ कहा गया है—अर्थात् मेरे द्वारा प्रयुक्त शब्द भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित अर्थ को स्पष्ट कर रहे हैं।

जैन-परम्परा आगम-साहित्य को महाज्ञानी परमर्षि तीर्थंकर देवो की रचना मानते हुए भी आगमों को परम्परा-प्राप्त एव शाश्वत ज्ञान मानने के कारण अनादि भी मानती है, परन्तु आगम-प्रतिपादित सत्य के उपदेष्टा केवलज्ञानी महापुरुष ही हो सकते हैं, साधारण जन नहीं।

जैन-परम्परा यह स्वीकार करती है कि सभी तीर्थंकरों के काल मे द्वादशांगी गणिपिटक का आविर्भाव होता है। प्रत्येक तीर्थंकर के जितने गण होते हैं उतने ही उनके गणधर होते है और जितने गणधर होते हैं प्रत्येक अग की वाचनाए भी उतनी ही होती हैं। परन्तु यह नियम भगवान् महावीर पर चरितार्थ नही होता, भगवान महावीर के नौ गण थे, अतः नौ ही वाचनाएं हुईं, परन्तु उनके गणधरों की संख्या ग्यारह थी। आठवें और नौवे गणधर अकम्पित और अचलभ्राता—इन दोनों को एक वाचना प्राप्त हुई और दसवें तथा ग्यारहवें मेतार्य और प्रभास नामक गणधरों को भी एक ही वाचना मिली थी।

वर्तमान द्वादशागी का निर्माण सुधर्मा स्वामी जी ने किया था जैसा कि कल्पसूत्र से ज्ञात होता है।[2] शेष गणधरों की वाचनाएं विच्छिन्न हो गई हैं। दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थ जयधवला में भी सुधर्मा स्वामी द्वारा जम्बू आदि शिष्यों को वाचना देने का उल्लेख प्राप्त होता है।[3]

यद्यपि "**एक्कारस्स वि गणधरे पवायए, पवयणस्स वंदामि**" आवश्यक निर्युक्ति की इस गाथा में ग्यारह गणधरों को 'वाचक' बताया गया है और आचार्य जिनभद्र ने निर्युक्ति गाथा के भाष्य की स्वोपज्ञ टीका में भी '**तथा गणधराः गौतमादयः सूत्रवक्तारः इति पूज्यन्ते**

---

१ इच्चेइय दुवालसग गणि-पिडग न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ।—नन्दीसूत्र-५७
यह गणि पिटक पहले नही था, यह भी नहीं है, वर्तमान काल में नहीं है, यह भी नहीं है और भविष्य में नहीं होगा, यह भी नहीं है।

२ एए ण सव्वे अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स आवच्चिज्जा, अवसेसा गणहरा निरवच्चा वुच्छिन्ना।—कल्पसूत्र

३ तद्दिवसे चेव सुहम्माइरियो जम्बूसामियादीणमणेयाणमाइरियाण वक्खाणिद्दुवालसगो घाइचउक्कक्खयेण केवली जादो। जयधवला—पृ ८४।

मङ्गलत्वाच्च'' कह कर गौतमादि गणधरों द्वारा वाचना का उल्लेख प्राप्त होता है, परन्तु उनकी वाचनाओं का व्यवच्छेद हो जाने से वे वाचनाए उपलब्ध नहीं हैं।

आचारांग का महापरिज्ञा-अध्ययन, ज्ञाताधर्म कथा की अनेक कथाएं, प्रश्न-व्याकरण-सूत्र का नन्दीसूत्र में निर्दिष्ट स्वरूप अब उपलब्ध नहीं, जो आगमों के अनेक अंशों के लुप्त हो जाने की ओर संकेत करते हैं। साथ ही स्थानांग सूत्र में जमालि, तिष्य गुप्त, आषाढ़, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल्ल आदि-आदि सात निह्नवों के नाम प्राप्त होते हैं। इनमें पहले दो निह्नवों को छोड़कर शेष की उत्पत्ति भगवान महावीर के निर्वाण से चार-पांच सौ वर्षों के बाद हुई थी। उनका स्थानांग में उल्लेख किसी गीतार्थ स्थविर के द्वारा किया गया होगा, अत. द्वादशागी में परिवर्तन की बात भी कही जा सकती है।

यह भी हो सकता है कि सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने भावी निह्नवों की भी चर्चा कर दी हो, परन्तु आलोचक विद्वान् परिवर्तन की बात को ही विशेष महत्व देते हैं।

जैनागमों की भाषा 'अर्धमागधी' प्राकृत है, भाषा-शास्त्री अर्धमागधी को भारत के पूर्वोत्तर प्रदेश की भाषा कहते हैं। भगवान महावीर पूर्वोत्तर प्रदेश मे जन्मे थे, वहीं पले थे और उनका प्रचार-क्षेत्र भी प्राय: पूर्वोत्तर भारत ही रहा है, अत: भगवान महावीर की भाषा अर्धमागधी थी। उन्होंने सर्वसाधारण जनता को अपने परम ज्ञान से लाभान्वित करने के लिए अपने प्रवचन अर्धमागधी में किए। सयोग से 'गणधर' भी इसी प्रदेश के थे, अत: उन्होंने भगवान महावीर के उपदेश को सर्वगम्य एव सर्व-सुलभ बनाने के लिए अर्धमागधी भाषा में ही 'श्रुत' की रचना की। तीर्थंकर की भाषा होने के कारण इसे जैन-मुनीश्वरों ने अत्यधिक सम्मान प्रदान किया, अत. गणधरों के अनन्तर भी अंगबाह्य-साहित्य के लिए इसी भाषा को अपनाया गया। आचार्य हेमचन्द्र जी महाराज ने इसे 'आर्ष प्राकृत' कहा है, क्योंकि तत्कालीन ऋषियो के प्रयोग की भी यही भाषा थी।

व्याख्या-प्रज्ञप्ति के पांचवें शतक के चौथे उद्देशक में कहा गया है कि देवता अर्धमागधी भाषा बोलते हैं। भगवती सूत्र में भी गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान महावीर कहते हैं— गौतम। देव 'अर्धमागधी' भाषा बोलते हैं।[१] वस्तुत: भगवान महावीर ने तत्कालीन समाज में फैली हुई ब्राह्मणों की रूढिवादिता को समाप्त करना था जिनके कथनानुसार देव 'सस्कृत' ही बोलते हैं। उन्होने देवो की अर्धमागधी भाषा बताकर इस रूढ़ि का उन्मूलन किया।

वस्तुत: देवो के पास विशेष शक्तियां होती हैं, अत: वे जिस भाषा-भाषी के पास जाते हैं, उससे उसी भाषा मे बातचीत करते हैं। उनकी अपनी कौन-सी भाषा है ? यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। परमज्ञानी भगवान महावीर के पास आए हुए देव अर्धमागधी में ही बोलते होगे, अत: भगवान ने देवों की अर्धमागधी भाषा बतलाई होगी। यही कारण है कि ईसाइयों का कथन है कि देव 'हिब्रू' भाषा बोलते हैं, मुसलमानों का कथन है कि देवता 'अरबी' में बातचीत करते हैं और यहूदी देवों की भाषा 'अवेस्ता' कहते हैं। वस्तुत: अनेकानेक दृष्टियो से सभी ठीक कह रहे हैं, क्योंकि देव संस्कृत, अर्धमागधी, हिब्रू, अरबी और अवेस्ता आदि सभी भाषाएं बोल लेते

१ गोयमा ! देवा अद्धमागहीए भासाए भासन्ति। —भगवती ५।४

हैं, किन्तु उन्हें अर्धमागधी भाषा अधिक पसंद है। भगवान महावीर स्वयं सर्वज्ञ थे, ऐसी कौन-सी भाषा है जिसे वे बोल न सकते थे? परन्तु उनकी मातृभाषा अर्धमागधी थी, अत: वे प्राय: प्रवचन में उसी का प्रयोग करते थे, अत: उनके द्वारा अर्थ रूप में प्रतिपादित आगम अर्धमागधी भाषा में ही लिखे गए।

भगवान महावीर की भाषा में एक विशेषता थी जिसे हम 'भाषातिशय' कहते हैं—इसके अनुसार भले ही वे अर्धमागधी भाषा में बोलते थे, परन्तु उनकी भाषा श्रोता के कानों में पहुंचने तक उस भाषा का रूप धारण कर लेती थी, श्रोता जिस भाषा का ज्ञाता होता था।[1]

महावीर की यह भाषा-सम्बन्धी बात कुछ अटपटी-सी अवश्य लगती है, परन्तु वर्तमान में परावैज्ञानिको के प्रयोग इस बात की सत्यता को प्रमाणित कर रहे हैं।

पश्चिम में एक बेकस्टर नामक वैज्ञानिक हुआ है जिसने अनेक प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया है कि पेड़-पौधे भी हमारी भाषा को समझते हैं। हमारी आनन्दोल्लासमयी ध्वनियों से वे आनन्दित होते हैं और रोने-चिल्लाने की ध्वनियों से वे उदास हो जाते हैं। सगीत से खेती बढ़ती है, यह भी उन्हीं का एक प्रयोग है।

चैकोस्लोवाकिया के एक वैज्ञानिक राजडक 'भाषा और चेतन मन' पर अनेक प्रयोग कर रहे हैं। वे मनुष्य को सम्मोहित करके जब उससे बात करते हैं तब वह व्यक्ति उस भाषा को भी समझ लेता है जो उसे नहीं आती और जिसे वह जानता नहीं है। भगवान महावीर के महतोमहीयान तपस्वी व्यक्तित्व से जब सभी सम्मोहित हो जाते होगे उस समय उनके लिए महावीर की भाषा अपनी भाषा बन जाती होगी।

डा. राजडक ने यह प्रयोग एक ऐसी महिला पर किया जो चैक भाषा नहीं जानती थी, परन्तु सम्मोहन की अवस्था में वह उसे पूरी तरह समझ लेती थी। वस्तुत: भाषा का विशेष सम्बन्ध अचेतन से है—हमारे शान्त एकान्त मन से है। मन की एकाग्रता ही योग है, इस योग द्वारा विचार-संप्रेषण की कला अत्यन्त सहज हो जाती है, अत: महान् योगीश्वर भगवान महावीर की भाषा का सर्व-ज्ञातव्य होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। उनकी अर्धमागधी को सभी समझ सकते थे, इसमें सन्देह नहीं।

आगम-संख्या—

जैन-परम्परा के पास विशाल श्रुत-साहित्य है। दिगम्बर-परम्परा और श्वेताम्बर-परम्परा इस श्रुत-साहित्य को भिन्न-भिन्न रूपों में अपनाती है।

श्रुत साहित्य को दो भागों में बांटा गया है—अङ्ग-प्रविष्ट और अङ्ग-बाह्य।[2] अर्थ रूप में तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा और शब्द रूप में गणधरों द्वारा रचित साहित्य अंग-प्रविष्ट कहलाता है और विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न आचार्यों द्वारा अल्पबुद्धि शिष्यों को बोध देने के लिए रचा गया श्रुत साहित्य अङ्गबाह्य कहलाता है। इस अंग-बाह्य को ही उपांग भी कहा जाता है।

---

१ सा विय ण अद्धमागही भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेण परिणमइ।
(औपपातिक सूत्र-५६)

२ तं समासओ दुविह पण्णत्त, त जहा—अगपविट्ठं अगबाहिर च। —नन्दीसूत्र

अङ्ग-प्रविष्ट साहित्य—

यह साहित्य बारह रूपो मे विद्यमान है, बारह अगों मे विभक्त होने के कारण ही इसे द्वादशांगी भी कहा जाता है। द्वादशागी की नामावली इस प्रकार है—

१ आयाराग (आचाराङ्ग)	२ सूयगडाग (सूत्रकृताङ्ग)
३ ठाणांग (स्थानाङ्ग)	४ समवायांग
५ विवाह-पण्णत्ति (व्याख्या प्रज्ञप्ति)	६ नायाधम्मकहाओ (ज्ञाता-धर्मकथा)
७. उवासग-दसाओ (उपासक दशा)	८ अतगडदसाओ (अन्तकृद्दशा)

९. अनुत्तरोववाइय-दसाओ (अनुत्तरौपपातिक दशा)

१० पण्हावागरणाइ (प्रश्न-व्याकरणानि) ११ विवागसुयं (विपाक-श्रुतम्)

१२ दिदि्ठवाय (दृष्टिवाद जो विच्छिन्न हो चुका है।)

ये १२ अंग ग्रन्थ सभी श्वेताम्बर सम्प्रदायो को मान्य हैं और सभी इन पर श्रद्धा रखते है।

अंगबाह्य—

इसमें १२ उपागों को रखा गया है जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१ उववाइय (औपपातिक)	२ रायपसेणियं (राजप्रश्नीयम्)
३ जीवाभिगम	४ पण्णवणा (प्रज्ञापना)
५ सूरपण्णत्ति (सूर्य-प्रज्ञप्ति)	६ जबूद्दीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति)
७ चद-पण्णत्ति (चन्द्र-प्रज्ञप्ति)	८. निरयावलियाओ (निरयावलिका)
९ कप्पवडिंसियाओ (कल्पावतंसिक)	१० पुप्फियाओ (पुष्पिका)
११ पुप्फ-चूलाओ (पुष्पचूलिका)	१२ वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा)

ये १२ उपाग भी श्वेताम्बरों के सभी सम्प्रदायो को मान्य हैं।

इनके अतिरिक्त ४ छेदसूत्र[1] और ४ मूल-सूत्र हैं।[2] ये ३२ अग-उपाग-श्वेताम्बर स्थानकवासी सप्रदाय मानता है। परन्तु बारहवे अंग दृष्टिवाद का लोप हो जाने के कारण स्थानकवासी संप्रदाय ११ अग, १२ उपांग, ४ मूलसूत्र, ४ छेदसूत्र और एक आवश्यक—ये ३२ आगम स्वीकार करता है।

चार मूल सूत्र हैं। इन्हें मूल सूत्र इसलिए कहा गया है कि ये चारो जैन-सस्कृति के मूलभूत तत्त्वों की व्याख्या करने वाले हैं। सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-चारित्र और तप की विस्तृत व्याख्या उत्तराध्ययन में की गई है। चारित्र और तप रूप मूल की व्याख्या करता है दशवैकालिक सूत्र। श्रुतज्ञान की विवेचना अनुयोगद्वार सूत्र द्वारा उपस्थित हुई है और पांच ज्ञान का परिचयात्मक विश्लेषण नन्दीसूत्र में किया गया है।

---

१ आचार-दशा, कल्पसूत्र, व्यवहारसूत्र और निशीथसूत्र।

२ उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, अनुयोगद्वार और नन्दीसूत्र।

छेद् सूत्रों में साधक किन-किन दोषों के सेवन करने से दीक्षा-छेद आदि प्रायश्चित्तो का भागी बनता है, इस विषय का विशद वर्णन उपलब्ध होता है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ १० प्रकीर्णक ग्रन्थों को भी मान्यता देता है और छेदसूत्रों की संख्या ६ स्वीकार करके ४५ अग-उपांग स्वीकार करता है।

अंगबाह्य साहित्य का वर्गीकरण कब हुआ? किसने किया? यह जानने के लिए अभी तक कोई निश्चित उल्लेख प्राप्त नहीं हो पाए हैं। हां इतना निश्चित है कि प्रथम शती तक अङ्ग प्रविष्ट और अंग-बाह्य, यह विभाग हो गया था, क्योंकि उमास्वाति जी ने इन दोनों नामों का उल्लेख किया है। निरयावलिया सूत्र में अगबाह्य साहित्य के लिए उपांग शब्द का प्रयोग किया गया है, परन्तु निरयावलिया सूत्र से यह भी संकेत प्राप्त होता है कि एक समय ऐसा भी रहा है जब सम्भवतः पांच उपांग ही प्रसिद्ध हो पाए थे।

ऊपर अग-प्रविष्ट ग्रन्थों के जो नाम जिस क्रम से दिये गए हैं, वह क्रम प्रायः निश्चित ही है, इसमे कहीं भी फेर-बदल नहीं हुई। अंगबाह्य साहित्य को उपांग कह कर कुछ आचार्यों ने प्रत्येक का सम्बन्ध अंगसूत्रों से जोड़ने का प्रयास किया है, परन्तु उपागों के निर्दिष्ट सम्बन्ध के विषय में विचार करने पर ज्ञात होता है कि जिस अंग का जो उपांग बताया गया है उन दोनों का विषय-भेद इस सम्बन्ध के औचित्य को स्वीकार नहीं करता है। जैसे 'ज्ञाताधर्मकथा' का उपांग जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति को कहा गया है। ज्ञाताधर्मकथा और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के विषय में पारस्परिक जो भेद है वह दोनों के अंग-उपांग होने में सन्देह उत्पन्न कर देता है। अतः हम इसी निश्चय पर पहुचते हैं कि अंगबाह्य साहित्य सर्वथा स्वतन्त्र साहित्य है और उसकी रचना जैनागमों में निर्दिष्ट तत्त्वों की स्वतन्त्र व्याख्या करता है।

दृष्टिवाद

यद्यपि दृष्टिवाद नाम का बारहवा अंग लुप्त हो चुका है, फिर भी दृष्टिवाद की चर्चा जैन-साहित्य के समीक्षक अत्यन्त विस्तार के साथ करते हैं, अतः इस पर भी एक विहगम दृष्टिपात आवश्यक है।

दृष्टिवाद यह बारहवां अंग है, परन्तु अब यह उपलब्ध नहीं है, इसके विषय का ठीक अनुमान लगाना कठिन है। वैसे दृष्टि का अर्थ है दर्शन और वाद का अर्थ है चर्चा। इस प्रकार इस पूर्व के नाम से ज्ञात होता है कि इस पूर्व में अधिकतर दार्शनिक ज्ञान की चर्चा ही की गई होगी।

दृष्टिवाद के मुख्य पांच अधिकार थे—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, प्रथमानुयोग और चूलिका। दिगम्बर आचार्य भी पांच ही अधिकार मानते हैं, परन्तु उन्होंने पूर्वगत को चतुर्थ स्थान दिया है।

दिगम्बर परम्परा में चूलिका के पांच भेद बताए गए हैं—जलगता, स्थल-गता, माया-गता, रूप-गता और आकाश-गता। ये नाम यन्त्र-मन्त्र एवं तन्त्र सम्बन्धी सिद्धियों की ओर संकेत करते हैं।

पूर्वगत के चौदह भेदों का उल्लेख प्राप्त होता है। पं. श्री बेचर दास दोशी ने पूर्वों की तालिका इस प्रकार उपस्थित की है—

पूर्वों के नाम	समवायांग वृत्ति के अनुसार पद-संख्या
१. उत्पाद पूर्व	एक करोड पद
२ अग्रायणीय पूर्व	छियानवे लाख पद
३. वीर्य-प्रवाद	सत्तर लाख पद
४. अस्ति-नास्ति-प्रवाद	साठ लाख पद
५. ज्ञान-प्रवाद	एक कम एक करोड पद
६. सत्य-प्रवाद	एक करोड छह पद
७ आत्म-प्रवाद	छब्बीस करोड़ पद
८ कर्म-प्रवाद	एक करोड़ अस्सी हजार पद
९. प्रत्याख्यान-पद	चौरासी लाख पद
१० विद्यानुवाद	एक करोड़ दस लाख पद
११ अवन्ध्य	छब्बीस करोड़ पद
१२ प्राणायु	एक करोड छप्पन लाख पद
१३ क्रिया-विशाल	नौ करोड़ पद
१४ लोक बिन्दुसार	साढ़े बारह करोड पद

नन्दी वृत्ति में चौदह पूर्वों की पद-सख्या यही दी गई है। दिगम्बर परम्परा में कुछ नाम-भेद और कुछ पद-सख्या में अन्तर पाया जाता है। जैसे कि अवन्ध्य को कल्याण-पूर्व कहा गया है। इसी प्रकार प्राणायु को प्राणवाद कहा गया है और उसकी पद-सख्या एक करोड छप्पन लाख न मान कर तेरह करोड बताई गई है।

पूर्वों के नाम प्राय: अपने प्रतिपाद्य विषय का स्वय परिचय दे रहे हैं और उनकी पद-सख्या उनकी अत्यन्त विशालता का परिचय देती है। कल्प-सूत्र के एक अर्वाचीन वृत्तिकार कहते हैं—

"प्रथम पूर्व को लिखने के लिए एक हाथी के वजन के बराबर स्याही चाहिए, द्वितीय पूर्व के लिखने के लिए दो हाथियों के वजन के बराबर स्याही चाहिए। इस प्रकार उत्तरोत्तर दुगनी स्याही करते-करते अन्तिम पूर्व लोक-बिन्दुसार को लिखने के लिए आठ हजार एक सौ बानवे हाथियो के बराबर वजन जितनी स्याही चाहिये।"

व्याख्या-प्रज्ञप्ति के अनुसार कुछ मुनीश्वरों ने केवल बारह वर्षों में ११ अंगों और चौदह पूर्वों का अध्ययन किया था। इतना विशाल साहित्य १२ वर्षों के अल्पकाल में कैसे पढा जा सकता है? इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर पं. बेचर दास जी लिखते हैं—"उपर्युक्त कल्पना को महिमावर्धक वा अतिशयोक्ति-पूर्ण कहना अनुचित न होगा। इतना अवश्य है कि पूर्वगत साहित्य का परिमाण काफी विशाल रहा होगा।"

लोक-व्यवहार में अनुभवी वृद्धों द्वारा 'गुर' सिखलाने की परिपाटी थी, जिसके अनुसार ऐसी सांकेतिक पद्धति सिखला दी जाती थी जिससे घंटों का आय-व्यय आदि मिनटों में जान लिया जाता था (जैसे जितने रुपए का मन उतने आनों का ढाई सेर)। यह सांकेतिक पद्धति अत्यन्त सरल होने से सहज गम्य होती थी।

पूर्वों में भी 'गुर' बतलाने की शैली रखी गई होगी, जिससे कि कुछ ही शब्दों द्वारा विशाल विस्तृत अर्थ का बोध हो जाता होगा। पूर्वों का परिमाण बताते हुए उसी विशाल एवं विस्तृत अर्थ का ही विशाल परिमाण बताया गया होगा। यही कारण है कि जैनागमों की शैली को सूत्र-शैली एवं जैनागमों को 'सूत्र' कहा जाता है। सूत्र का अर्थ है थोड़े शब्दों में बहुत से अर्थ का ज्ञान कराने वाली शब्द-रचना (**अल्पाक्षरपठितत्वे सति बह्वर्थ-बोधकत्वं सूत्रत्वम्**)।

भगवती सूत्र के '**सव्वत्थ वि णं वोच्छिन्ने दिट्ठिवाए** (श. २०, ३०८) पाठ से ज्ञात होता है कि सभी तीर्थंकरों के शासनकाल में दृष्टिवाद का विच्छेद होता रहा है। आगे चलकर केवल ग्यारह अग-सूत्रों का ज्ञान शेष रह जाता है।

सभी तीर्थंकरों के गणधर दृष्टिवाद के अंगभूत चौदह पूर्वों के वेत्ता होते हैं। दिगम्बर मान्यता के अनुसार श्रुत केवली गौतम जी से द्वादशाङ्गी सहित चौदह पूर्वों का ज्ञान लोहार्य को मिला, उन्होंने जम्बू स्वामी को दिया। इनके बाद विष्णु आदि पांच आचार्य चौदह पूर्वधर हुए हैं।

इनके बाद विशाखाचार्य आदि ग्यारह आचार्य दश पूर्वों के ज्ञाता हुए। इनके अनन्तर नक्षत्र आदि पांच आचार्य चौदह पूर्वों के अंशधर हुए हैं, किसी भी सम्पूर्ण पूर्व का ज्ञान उन्हें न था। इस प्रकार धरसेन तक पूर्व ज्ञान की परम्परा चलती रही। आगे चलकर यह सर्वथा क्षीण हो गई।

श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर से लेकर भद्रबाहु जी तक चौदह पूर्वों के अध्ययन की परम्परा चलती रही, क्योंकि स्थूलभद्र भद्रबाहु जी के पास चौदह पूर्वों की वाचना लेने गए थे, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है। दशपूर्वधरों में अन्तिम वज्र स्वामी थे। इस प्रकार वीर निर्वाण-सम्वत् के १००० वर्ष बाद पूर्वों का अथवा पूर्वधर होने की योग्यता रखने वालों का विच्छेद हो गया।

लेखन-काल—

जैनागम 'श्रुत' हैं, अत: श्रुत-परम्परा के द्वारा परम-प्रज्ञ मुनीश्वर उन्हें हृदय-पटल पर ही लिखा करते थे, अत: जैनागमों का पुस्तक रूप में लेखन बहुत बाद में तब हुआ जब पंचम आरे के प्रभाव के कारण, अनेक दुर्भिक्षों के कारण[1] धारणा-शक्ति की क्षीणता के कारण और आगम-ज्ञान को कण्ठस्थ करने वालों की अल्पता के कारण श्रुत-परम्परा क्षीण होने लगी, तब भगवान् महावीर की शिष्य-परम्परा के छटे आचार्य भद्रबाहु जी के समय जैनागमों के लेखन-कार्य की आवश्यकता प्रतीत हुई। भद्रबाहु जी का काल ई. पू. चौथी शती का दूसरा दशक माना जाता है। भद्रबाहु जी के समय अर्थात् आज से २३४० वर्ष पहले और वीर-निर्वाण सम्वत् के १६०वें वर्ष में मगध में बारह वर्षीय दुर्भिक्ष पड़ा था, जिसके कारण साधु-मुनिराजों को आहार-पानी की उपलब्धि भी कठिन हो गई, वे मगध को छोड़कर सुदूर प्रान्तों में चले गए।

पाटली-पुत्र की प्रथम वाचना—

इस समय तक सम्पूर्ण श्रुतधर के रूप में केवल भद्रबाहु जी ही शेष रह गए थे। दुर्भिक्ष की समाप्ति पर मुनि-मण्डल पाटलीपुत्र में एकत्रित हुआ और श्रुत-रक्षा पर विचार करने लगा। ११

१. वीर-निर्वाण सं. १९१ में आर्य सुहस्ति के समय राजा सम्प्रति के राज्य में १२ वर्षीय दुर्भिक्ष पड़ने का उल्लेख मिलता है।

अंगों के ज्ञाता मुनिराज तो थे, परन्तु उनमें दृष्टिवाद (चौदह पूर्व) का कोई ज्ञाता न था, दृष्टिवाद सभी की प्रज्ञा से लुप्त हो चुका था, अतः मुनि-मण्डल ने स्थूलभद्र जी एवं पांच सौ साधुओं को भद्रबाहु जी के पास श्रुत-साधना के लिए भेजा। उस समय भद्रबाहु जी महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे, अतः बहुत से साधु तो ऊब कर वापिस आ गए, परन्तु स्थूलभद्र जी वहीं रह गए। भद्रबाहु जी ने उन्हें दस पूर्व व्याख्या-साहित सिखाए, शेष चार पूर्व वे मूलरूप में ही सीख पाए थे।[1]

इसी समय साधु वर्ग ने पारस्परिक पृच्छा के द्वारा ग्यारह अंगों को व्यवस्थित रूप प्रदान किया। **तित्थोगालीय** के इस प्रकरण से प्रथम बार ११ अंगों के व्यवस्थित होने की सूचना मिलती है और साथ ही ११ अंगों के होते हुए भी 'पूर्वश्रुत' की वाचना के प्रयत्न के पूर्वश्रुत की महत्ता की ओर संकेत करते हैं।

माथुरी वाचना (वी.नि. ८२७ से ८४०)

ई. सन् ४५३ से ४६६ के लगभग (वी.नि. ८२७ से ८४०) आचार्य स्कन्दिल के समय पूर्वी भारत एवं मध्यदेश पुनः दुर्भिक्ष से पीड़ित हो गए, अतः उस समय बहुत से श्रुतधर आचार्य संलेखना द्वारा परलोकवासी हो गए।

आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र एवं आचार्य मलयगिरी की नन्दी टीका से ज्ञात होता है कि इस दुर्भिक्ष के अनन्तर मथुरा में श्वेताम्बर श्रमण-संघ एकत्रित हुआ और आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में श्रुतज्ञान को पुस्तकारूढ़ किया गया।

वल्लभी-वाचना (वी.नि. ८३० के लगभग)

जिस समय आचार्य स्कन्दिल मथुरा में आगमोद्धार के प्रयास कर रहे थे, उसी समय सौराष्ट्र के प्रसिद्ध नगर वल्लभी में नागार्जुन सूरी के नेतृत्व में श्रमण-संघ एकत्रित हुआ था और श्रुतधर मुनीश्वरों के प्रयास से यहां भी आगमों को पुस्तकारूढ़ किया गया। नागार्जुन जी के नेतृत्व में होने के कारण इस वाचना को नागार्जुनी वाचना भी कहा जाता है।

देवर्द्धिगणी क्षमा-श्रमण (वी.नि. ९८०)

वल्लभी वाचना के लगभग १५० वर्ष बाद वल्लभी में पुनः श्रमण-संघ आगमोद्धार के लिए एकत्रित हुआ। यह उद्धार कार्य डेढ़ पूर्व के वेत्ता क्षमा-श्रमण देवर्द्धिगणी जी के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ था। ग्यारह अंगों के अतिरिक्त, अंगबाह्य श्रुत-ज्ञान के संकलन को भी इस वाचना में महत्व दिया गया। इस वाचना में पूर्व की वाचनाओं से तुलना भी की गई और समन्वय भी किया गया। जहां समन्वय न हो सका वहां **'वायणन्तरे पुण'** (वाचनान्तरे पुनः) आदि द्वारा पाठ-भेद भी प्रस्तुत कर दिए गए। इसी समय आगमों का अन्तिम लिखित रूप स्थिर हो गया।

इन वाचनाओं में किस वाचना में कितने आगम लेखबद्ध किए गए इसका कोई निश्चित विवरण प्राप्त नहीं होता है। यहां यह सर्वथा स्मरणीय है कि अर्थतः जैनागम तो परम्परा से चले आते हैं, यही कारण है कि महब्बलकुमार आदि सात मित्रों द्वारा साधुवृत्ति ग्रहण कर ११ अंगों के अध्ययन करने का वर्णन ज्ञाताधर्म-कथा के आठवें अध्ययन में प्राप्त होता है। इसी प्रकार

१ विशेष वर्णन के लिए देखिए "तित्थोगालीय"।

बाईसवे तीर्थंकर अरिष्टनेमि जी के युग मे गौतम कुमार आदि दस मुनिवरो द्वारा ११ अगों का अध्ययन करने की सूचना प्राप्त होती है। भगवान् ऋषभदेव जी ने पूर्वभव में ११ अंगों और चौदह पूर्वों का श्रुतज्ञान प्राप्त किया था, आदि उल्लेख आगमो की प्राचीनता प्रमाणित करते हैं। भगवान् महावीर ने अपने युग मे आगमों का उपदेश दिया था और भद्रबाहु भी ११ अगों और चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे। इन वाचनाओं के समय तो आगमो को लिपिबद्ध किया गया है।

अंग-बाह्य साहित्य का वही काल माना जा सकता है जो उनके लिखने वाले आचार्यों का काल है। जैसे दशाश्रुत आदि के निर्माता भद्रबाहु जी माने जाते हैं, उनका काल भद्रबाहु जी का काल अर्थात् ई. पूर्व ३५७ के आस-पास मानना चाहिए।

स्थानाङ्ग-सूत्र

स्थानाङ्ग-सूत्र ११ अगो में तीसरा अंग है जिसे हम जैन सस्कृति का 'विश्वकोष' कह सकते है। सख्या के क्रम से तत्त्वों के नामो का सकलन करने की सुन्दर शैली में लिखा गया यह एक अद्भुत ग्रन्थ है जो सम्भवत: स्मरण-शक्ति की वृद्धि के लिए निर्मित हुआ होगा। सबसे पहले 'स्थानाङ्ग' इस नाम पर ही विचार करना उपयुक्त होगा।

'स्थानाङ्ग' यह शब्द 'स्थान' और 'अङ्ग' इन दो शब्दों के मेल से बना है। स्थान शब्द अनेकार्थक है, परन्तु सूत्रकार को इसके दो अर्थ अभीष्ट प्रतीत होते हैं। 'देशी-नाम-माला' मे स्थान का अर्थ 'मान'—अर्थात् परिमाण किया गया है। प्रस्तुत आगम में तत्त्वों के एक से लेकर दश तक के परिमाण अर्थात् सख्या का उल्लेख है, अत: इसे 'स्थान' कहा गया है। 'स्थान' शब्द का अर्थ 'उपयुक्त' भी होता है।[1] प्रस्तुत आगम में तत्त्वों का एक दो आदि के क्रम से उपयुक्त चुनाव किया गया है, अत: इसे 'स्थान' कहा गया है। अभिप्राय यह है कि यह आगम ऐसा 'स्थान' है जिसमें तत्त्वो की सख्या का उपयुक्त निर्देश किया गया है।

दूसरा शब्द 'अङ्ग' है। वैदिक साहित्य मे प्रमुख ग्रन्थों को 'संहिता' अथवा 'वेद' कहा गया है और उनके अध्ययन के लिए सहायक विविध विषयों के शिक्षा, छन्द, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त और कल्प आदि के प्रतिपादक गौण ग्रन्थों को अंग कहा गया है, परन्तु जैन साहित्य मे इस शब्द का प्रयोग प्रधान ग्रन्थो के लिए किया गया है। जैन संस्कृति में द्वादशाङ्गी के लिये जिस 'गणिपिटक' शब्द का प्रयोग किया जाता है उस गणि-पिटक का प्रत्येक ग्रन्थ एक अङ्ग है, इसीलिए जैनाचार्यों ने श्रुत-पुरुष की कल्पना करते हुए 'गणिपिटक' को ही श्रुत-पुरुष कहा है और प्रत्येक आगम को उसका एक अङ्ग माना है। अङ्ग-समूह भी 'अङ्ग' कहलाता है, इसीलिए शरीर को अङ्ग कहा गया है। 'अङ्ग' शब्द स्थान के साथ मिलकर यह ध्वनित करता है कि यह आगम एक ऐसा आगम है जिसमें प्रत्येक तत्त्व की संख्या-क्रम से स्थापना की गई है।

'ज्ञान' आत्मा का अंग है, यह आगम एक ऐसा आगम है जिसमें आत्मा की अङ्ग-भूत ज्ञान राशि को एक दो आदि के क्रम से स्थान दिया गया है। इस अर्थ की भी सूचना दे रहा है 'स्थानाङ्ग' यह नाम।

---

१ स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या—गीता

गणि-पिटक में 'स्थानाङ्ग-सूत्र' को तीसरा स्थान दिया गया है जो इसके महत्त्व का प्रतिपादन कर रहा है। विद्वानों का विचार है कि अन्य नौ आगमों के निर्माण के अनन्तर स्मृति एव धारणा की सरलता की दृष्टि से अथवा विषय-अन्वेषण की सरलता की दृष्टि से स्थानाङ्ग-सूत्र और समवायांग सूत्र का निर्माण किया गया होगा और इन्हें विशेष प्रतिष्ठा देने के लिए अङ्गों में स्थान दे दिया गया होगा।[१] परन्तु यह तथ्य बुद्धि को अपील नहीं करता है।

बात यह है कि यदि नौ आगमों के निर्माण के अनन्तर स्थानाङ्ग-सूत्र और समवायाङ्ग- सूत्र का निर्माण हुआ होता तो इनको तीसरा, चौथा अङ्ग न मानकर दसवां, ग्यारहवा अग ही माना जा सकता था, इन्हें चौथा स्थान देने की क्या आवश्यकता थी ? दसवां, ग्यारहवां स्थान देने पर इनकी महत्ता में कोई अन्तर भी नहीं आ सकता था, क्या दसवें प्रश्न-व्याकरण-सूत्र और ग्यारहवें विपाक-सूत्र की महत्ता कम हो गई है?

मालूम होता है कि आचारांग और सूत्रकृताङ्ग को पहले इसलिए रखा गया है कि नव दीक्षित साधु आचार में परिपक्व हो जाए, वह साधु-वृत्ति के नियमो से परिचित हो जाए, हेय-उपादेय को जान जाए। इस प्रकार निरन्तर आठ वर्ष तक साधु-चर्या में परिनिष्ठित होकर अब वह ज्ञातव्य विषयों की नामावली को जाने, उनके सामान्य रूप से परिचित हो जाए और फिर वह क्रमश: प्रत्येक विषय की व्याख्या अन्य आगमों से प्राप्त करे, इसलिए स्थानाङ्ग सूत्र को तीसरा स्थान दिया गया होगा।

स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग को बुद्धि-गम्य कर लेने के अनन्तर एक प्रकार से श्रुत-साधक समस्त आगमों का वेत्ता हो जाता है, इसीलिये आगमकार उसे श्रुत-स्थविर कहते हैं और व्यवहार सूत्र के दसवे उद्देशक के पन्द्रहवे सूत्र में श्रुत-स्थविर को श्रेष्ठ बताते हुए कहा गया है कि वन्दना, छन्दोऽनुवृत्ति तथा पूजा-सत्कार से श्रुत-स्थविर का विशेष सम्मान करना चाहिए[२]। वहा यह भी कहा गया है कि जो 'स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग का अध्येता है और आठ वर्ष की दीक्षा वाला है वह आचार्य, उपाध्याय, गणी, गणावच्छेदक, प्रवर्तक आदि पदवियो के योग्य होता है। शास्त्रकार की यह व्यवस्था स्थानाङ्ग-सूत्र की महत्ता और उसके तृतीय स्थानस्थ होने के कारण का निर्देश करती है।

व्यवहार-सूत्र का यह कथन है कि **"अट्ठवासपरियागस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ ठाणसमवाए उद्दिसित्तए"**—अर्थात् आठ वर्ष का दीक्षित साधु स्थानाङ्ग और समवायांग के अध्ययन के योग्य होता है, उसका कारण भी यही बताया गया है कि चार वर्ष तक दीक्षा-पर्याय का आचार-निष्ठ होकर पालन करने वाला स्थिर-बुद्धि हो जाता है, अत: वह अन्य मतावलम्बियों से प्रभावित नहीं हो पाता। पांचवें वर्ष में दस कल्प-व्यवहारों को जान कर वह और भी दृढ़ आस्था वाला हो जाता है, अत: इसके अनन्तर वह स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग का भली-भांति

---

१. दे. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास पृ. १७२

२ तओ थेरभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—जाइथेरे, सुत्तथेरे, परियायथेरे, सट्ठिवासजा ए समणे णिग्गथे जातिथेरे, ठाणांग-समवाय-धरेण समणे णिग्गंथे सुयथेरे, वीसवास - परियाए णं समणे णिग्गन्थे परियाय-थेरे।

स्थानाग—३।३।१६५

अध्ययन कर सकता है।[१]

यहा एक बात अवश्य विचारणीय है कि क्या स्थानाङ्ग सूत्र का अध्ययन केवल आठ वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाला साधु ही कर सकता है? अन्य नहीं? किन्तु आगमों में अनेक श्रावकों द्वारा सूत्रों के अध्ययन का उल्लेख प्राप्त होता है, अत: इसका यही आशय है कि पूर्ण आचारवान् बनकर श्रद्धा-पूर्वक ज्ञान के चौदह अतिचारो को ध्यान में रख कर श्रावक-श्राविका वर्ग भी इसका अध्ययन कर सकता है।

अध्ययन-संख्या

स्थानाङ्ग सूत्र मे दस अध्ययन हैं और दस अध्ययनो का एक ही श्रुत-स्कन्ध है। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्ययन के चार-चार उद्देशक हैं, पंचम अध्ययन के तीन उद्देशक हैं और शेष छ: अध्ययनों का एक-एक उद्देशक है। इस प्रकार स्थानाङ्ग सूत्र दस अध्ययनो और २१ उद्देशकों मे विभक्त है।

श्रुतस्कन्ध—

स्थानाङ्ग सूत्र मे केवल एक श्रुतस्कन्ध है। अनेक अध्ययनो के समूह को स्कन्ध कहा जाता है। स्कन्ध वृक्ष के उस भाग को अर्थात् तने को कहते है जहा से अनेक शाखाए फूटती है। जब किसी श्रुत अर्थात् शास्त्र मे वर्ण्य विषय एव शैली आदि की दृष्टि से अनेक विभाग किये जाते हैं, उन्हे श्रुतस्कन्ध कहते हैं। जैसे आचाराङ्ग को बाह्य आचार और आन्तरिक आचार की दृष्टि से दो भागो मे बाट दिया गया है। सूत्रकृताङ्ग को पद्य और गद्य की दृष्टि से दो भागो मे विभक्त किया गया है। ज्ञाता-धर्म कथा को आराधक और विराधक की दृष्टि से और प्रश्नव्याकरण सूत्र को आस्रव और संवर की दृष्टि से दो-दो भागों में बाटा गया है। इस प्रकार इन शास्त्रो के दो-दो श्रुत-स्कन्ध है, परन्तु प्रस्तुत स्थानाङ्ग में एक ही श्रुत-स्कन्ध है, क्योंकि यहां आदि से लेकर अन्त तक एक आदि संख्या के क्रम से तत्त्व-निरूपण रूप विषय का प्रतिपादन किया गया है।

अध्ययन

जैनागमों का विषय-विभाग की दृष्टि से जब वर्गीकरण किया जाता है तब बड़े प्रकरण को अध्ययन और छोटे प्रकरण को उद्देशक कहा जाता है। बडे प्रकरण के लिए अध्ययन शब्द का प्रयोग केवल जैनागमो में ही प्रयुक्त हुआ है। कभी-कभी विषय-सूचक शब्द को इसके साथ संयुक्त करके समग्र अध्ययन के वर्ण्य-विषय का भी निर्देश कर दिया जाता है। जैसे 'अकाममरणिज्जमज्झयणं' 'अकाम-मरणीयमध्ययनम्'। इस अध्ययन-नाम से ही पूरे अध्ययन के वर्ण्य-विषय का बोध हो गया है।

अध्ययन शब्द विषय-ग्रहण-पूर्वक स्वाध्याय का निर्देश करता है, क्योंकि अधि = अपने

---

१ सूत्रकृतागे त्रयाणा त्रिषष्ठ्यधिकाना पाषण्डिकशताना दृष्टय: प्ररूप्यन्ते, ततो हीन-पर्यायो मतिभेदेन मिथ्यात्व यायात्। चतुर्वर्ष-पर्यायस्य धर्मेऽवगाढमतिर्भवति, तत. कुसमयैर्नापह्रियते, तेन चतुर्वर्ष-पर्यायस्य तदुद्देष्टुमनुज्ञातम्—तथा पञ्चवर्षोऽपवादस्य योग्य इति कृत्वा पञ्चवर्षस्य दशकल्पव्यवहारान् ददाति। तथा पञ्चाना वर्षाणामुपरिपर्यायो निकृष्ट उच्यते, तेन कारणेन स्थाने समवाये नवाधीतेन श्रुत-स्थविरा भवन्ति, तेन कारणेन तदुद्देशन प्रतिविकृष्टपर्यायो गृहीतस्तथा स्थान समवायश्च महर्धिक प्रायेण द्वादशानामप्यङ्गाना तेन सूचनादिति तेन तत्परिकर्मितमतौ दशवर्षपर्याये व्याख्या-प्रज्ञप्तिरुद्दिश्यते।

—भाष्यकार:

आप में, अयन = गमन। शास्त्र का इस प्रकार से अध्ययन जिससे कि अध्येता वर्ण्य-विषय के साथ तादात्म्य स्थापित करके आत्म-निष्ठ हो जाए।

निक्षेप नय के अनुसार नाम-अध्ययन, स्थापना-अध्ययन, द्रव्य-अध्ययन और भाव-अध्ययन के रूप में चार प्रकार के अध्ययन बताए गए हैं, परन्तु शास्त्रकारों को चारों में से भाव-अध्ययन ही विशेष रूप से इष्ट है। शास्त्रकार उसे भाव-अध्ययन कहते हैं जिसके अध्ययन से शुभ कर्म में प्रवृत्ति हो, आत्म-तत्त्व का स्मरण हो और उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि हो।

अध्ययन को 'अक्षीण' भी कहा जाता है, क्योंकि स्वाध्याय से ज्ञान कभी क्षीण नहीं होने पाता। अध्ययन को 'आय' भी कहा जाता है, क्योंकि इससे ज्ञान, दर्शन और चारित्र का लाभ होता है। अध्ययन को 'क्षपणा' भी कहते हैं, क्योंकि स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षय होता है। स्थानाङ्ग सूत्र के स्वाध्याय की भी यही विशेषता है, अतः इसका अध्ययनों में विभागीकरण किया गया है।

पद-संख्या—

जैनागमो में पद-संख्या का निर्णय एक जटिल समस्या है, जैसे कि समवायाङ्ग सूत्र में स्थानाङ्ग की पद संख्या ७२ हजार बताई गई है। नन्दी सूत्र में भी **'बावतरि-पय-सहस्सा'**—कहकर ७२ हजार पद-संख्या का ही निर्देश किया गया है। दिगम्बर सम्प्रदाय स्थानाङ्ग की पद संख्या ४२००० बताता है, परन्तु वर्तमान में उपलब्ध किसी भी प्रति में यह पद-संख्या प्राप्त नहीं होती।

पद क्या है ?

व्याकरण-शास्त्र में विभक्ति-युक्त सार्थक शब्द को एव प्रत्ययान्त धातु रूप को पद कहा गया है।[1] इस दृष्टि से "**रामः वनं गच्छति**" इस वाक्य में तीन पद हैं।

"**यत्रार्थोपलब्धिस्तत्पदम्**" की उक्ति के अनुसार पूर्ण अर्थ के परिचायक वाक्य को भी पद कहा जाता है। इस दृष्टि से '**रामः वनं गच्छति**'—यह एक वाक्य ही पद है। श्री हरिभद्र और आचार्य मलयगिरि को पद की यही परिभाषा इष्ट है।

छन्द-शास्त्र में पद्य की एक पंक्ति को पद कहा जाता है। जैसे कि **'एसो पंच णमोक्कारो'** यह अनुष्टुप छन्द का एक पद है।

दिगम्बर सम्प्रदाय अर्थ-पद, प्रमाण-पद और मध्यमपद भेदो के रूप मे तीन प्रकार के पद मानता है। ऊपर प्रदर्शित प्रथम और द्वितीय पद अर्थ पद है और छन्द-शास्त्रोक्त पद को प्रमाण-पद कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें अक्षरों या भाषाओं का एक निश्चित प्रमाण होता है।

१६ अरब, ३४ करोड़, ८३ लाख, ७ हजार, ८ सौ ८८ अक्षरों का एक मध्यम-पद होता है। इतने अक्षरों से ५१०८८४६२१ अनुष्टुप् छन्द बनते हैं। मध्यम पद की गणना से यदि स्थानाङ्ग की पद संख्या ४२००० मान ली जाए तो सम्भवतः पूरे जीवन में कोई मुनीश्वर स्थानाङ्ग का भी अध्ययन न कर पाएगा। परन्तु शास्त्रकारों ने लिखा है कि धन्ना अनगार ने नौ मास में और अर्जुन

---

१. सुप्तिङन्तं पदम्।

मुनि ने छः महीने में ११ अंगों का अध्ययन कर लिया था। मध्यम-पद- परिमाण मान लेने पर यह उल्लेख सर्वथा असम्भव सा लगता है, अतः सुबन्त तिडन्त को पद मान कर की जाने वाली गणना कुछ बुद्धि-गम्य हो सकती है। इस दृष्टि से स्थानाङ्ग की पद संख्या ७२००० स्वीकार की जा सकती है।

श्री अभयदेव सूरि कृत व्याख्या-सहित आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित स्थानाङ्ग-सूत्र में जो संख्या दी गई है वह सूत्र-संख्या ७८३ ही है।

बत्तीस अक्षरों से निर्दिष्ट श्लोक परिमाण को प्राचीन लिपिकार 'ग्रन्थाग्र' कहा करते थे और वे इसी ग्रन्थाग्र-परिमाण से लेखन का पारिश्रमिक लिया करते थे। ग्रन्थाग्र की दृष्टि से आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित स्थानाङ्ग की श्लोक-संख्या ३७०० दी गई है (पृष्ठ ५२६) परन्तु भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इस्टीच्यूट के वॉल्यूम १७ के १-३ भागो में निर्दिष्ट स्थानाङ्ग की प्रतियों में ग्रन्थाग्र-संख्या ३७७० तथा ३७५० दी गई है। इस प्रकार यहा श्लोक-सख्या मे ऐक्य प्रतीत नही होता है।

प्रवर्तक श्री फूलचन्द श्रमण जी द्वारा सम्पादित एवं हिन्दी टीका युक्त प्रस्तुत शास्त्र मे सूत्र-संख्या ८४६ रखी गई है।[१] क्योंकि कुछ बड़े सूत्रो का विषय की दृष्टि से विभाग कर दिया गया है।[२] साथ ही श्री श्रमण जी महाराज ने प्रत्येक स्थान का क्रमांक भिन्न-भिन्न रख दिया है, जिससे कि प्रत्येक स्थान और उद्देशक का उद्धरण जानने में सुविधा हो गई है।

शैली—

समवायाङ्ग के समान स्थानाङ्ग सूत्र का गुम्फन संग्रह-प्रधान कोष-शैली मे हुआ है। कण्ठस्थ करने की सुविधा की दृष्टि से बहुत प्राचीन काल से भारतीय साहित्यकार इस शैली का प्रयोग करते आए है। महाभारत मे वन-पर्व अध्याय १३४ मे तथा अंगुत्तर-निकाय आदि बौद्ध ग्रन्थो में इसी शैली का प्रयोग किया गया है।

प्रथम स्थान मे एक संख्यक वस्तुओं एवं क्रियाओं आदि का परिचय होने से उसे 'एक स्थान' या प्रथम स्थान कहा गया है। द्वितीय स्थान में दो संख्यक और तृतीय स्थान में तीन-संख्यक, इसी प्रकार क्रमशः बढ़ते हुए अन्त के दसवें स्थान में दस संख्यक तत्वो का परिचयात्मक निरूपण किया गया है। द्वितीय, तृतीय एव चतुर्थ स्थान को विषय-विभाग की दृष्टि से ४-४ उद्देशको में और पंचम स्थान को तीन उद्देशकों में विभक्त कर दिया गया है।

प्राचीन शैली के अनुसार शब्द-संक्षेप और वाक्य-संक्षेप की जैनागम शैली के अनुसार **''पण्णत्ते, तं जहा''** का संक्षेप **''प. तं.''** ही लिखने की प्रथा रही है। श्री 'श्रमण' जी महाराज ने इस शब्द-शैली को न अपनाकर पूर्ण शब्द दिए हैं जिससे कि पाठक को अध्ययन में सुविधा हो गई है। इसी प्रकार 'यावत्' शब्द द्वारा किए जाने वाले वाक्य-सक्षेप की शैली में भी परिवर्तन

---

१ प्रथम स्थान ६२ + द्वि. स्था. ८५ + तृ स्थान. ११६ + च स्था. १७५ + प स्था ८७ + ष स्था. ६६ + सप्तम स्था. ५३ + अष्टम स्था ७१ + न स्था. ४९ + दश. स्थान ८२।

२ जैसे चतुर्थ स्थान के तृतीय उद्देश में प्राचीन सूत्राङ्ग ३२० बहुत बड़ा सूत्र है। उसे विषय विभाग की दृष्टि से अनेक भागों में विभक्त कर दिया गया है।

करके पूरा पाठ देने की नवीन शैली का प्रयोग भी श्री 'श्रमण' जी की अपनी विशेषता है।[१]

जैनागमों की यह एक अपनी विशिष्ट शैली रही है कि यदि किसी एक शास्त्र मे किसी विषय का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया जा चुका है तब उसके अनन्तर उसी प्रकार का वर्णन अन्यत्र आने पर 'जहा भगवईए' 'जहा जीवाभिगमे' 'जहा पन्नवणाए' लिखकर पाठ को संक्षिप्त कर दिया जाता है, परन्तु स्थानाङ्ग में केवल नौवें स्थान में—'जहा समवाए' यह एक ही स्थान पर आया है। इससे ज्ञात होता है कि स्थानाङ्ग का सकलन और समवायाङ्ग का सकलन साथ-साथ हुआ होगा। अलग-अलग मुनि-मण्डलों द्वारा एक साथ संकलन-कार्य हुआ होगा। नौवे स्थान तक लेखन कार्य होने पर पारस्परिक परामर्श चल पड़ा होगा, तभी तो नौवें स्थान में 'जहा समवाए' पाठ दिया गया है। स्थानाङ्ग का गणिपिटक में तीसरा स्थान इसकी प्राथमिकता का द्योतक है और साथ ही इसकी पूर्णता का भी।

स्थानाङ्ग सूत्र में सूत्रकार ने कहीं-कहीं अपनी सग्रह-प्रधान कोश-शैली का परित्याग भी कर दिया है, जैसे कि चतुर्थ स्थान के द्वितीय उद्देशक मे नन्दीश्वर द्वीप का वर्णन, भगवान विमल वाहन का वर्णन, इसी प्रकार तृतीय स्थान के द्वितीय उद्देशक के अन्त मे (३।२।४७) दिए गए प्रश्नोत्तरों मे चरित्रों और पर्वतो आदि के परिचय मे भी सग्रह-शैली को छोड़कर वर्णन शैली को अपना लिया गया है। ऐसा क्यो हुआ? यह निश्चित तो नही कहा जा सकता, परन्तु यह माना जा सकता है कि इस वर्णन-परम्परा मे किसी की जिज्ञासा के समाधान का अवसर आने पर उसे भी तत्कालीन वाचनी में उल्लिखित कर लिया गया होगा। जैसे कि भगवान् महावीर के नौ गणों का वर्णन किया गया है, प्रश्न उत्पन्न हुआ होगा कि क्या अन्य किसी तीर्थंकर के भी नौ गण हुए हैं? सूत्रकार ने इसका समाधान कर दिया है, कि भविष्य में तीर्थंकर श्री विमलवाहन जी के भी नौ गण होगे।

संख्या-द्योतक शैली—

जैनागमों में सख्यावाचक शब्दो की स्थापना अपनी ही शैली में की गई है, जैसे कि 'एक सौ के स्थान पर 'दसदसाईं' (अर्थात् दस गुणा दस संख्या) कहा जाता है।

एक हजार के लिए **दस सयाइं** (दस सौ) लिखा जाता है। इसी प्रकार 'एक लाख' के लिए **'दस-सय-सहस्साइं'** पाठ प्राप्त होता है।

इसी प्रकार तीन की सख्या के लिए **'छच्च अद्धं'**[२] (स्था ६।१९) का प्रयोग किया गया है। इस सूत्र मे भरत और ऐरवत क्षेत्रों में भूतकालीन सुषम-सुषमा काल मे मनुष्य-शरीर की ऊंचाई छः हजार धनुष बताई गई है, वहीं पर उनकी आयु का निर्देश क्रम-प्राप्त था, परन्तु आयु तीन पल्योपम की है, अतः सूत्रकार ने छः की सख्या का क्रम बनाए रखने के लिए **"छच्च अद्धं"** अर्थात् छः का आधा तीन—"तीन पल्योपम की आयु वाले" कहा है। यदि इस आयु

---

१ जैसे कि—"जीवाण छट्ठाणनिवत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा ३, त जहा। इस पाठ में तीन का अक शेष पाठ "चिणंति वा, चिणिस्संति वा" का द्योतक है, परन्तु श्री श्रमण जी ने ३ का अक न देकर पूर्ण पाठ दे दिया है।

२ छच्च-अद्ध-पलिओवमाइ परमाउं पालइत्ता।

का निर्देश तृतीय स्थान में किया जाता तो इस प्रकरण के साथ उस प्रकरण का कोई सम्बन्ध न रह जाता, अत: **'छच्च-अद्धं'** की शैली को क्लिष्ट कल्पना नहीं कहा जा सकता।

एक तुलनात्मक अध्ययन—

भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध समकालीन महापुरुष थे और दोनों एक ही क्षेत्र में प्रचार कर रहे थे। यह ठीक है कि भगवान् महावीर का त्याग-मार्ग बहुत कठिन था, अत: भगवान् महावीर के मार्ग पर चलना प्रत्येक व्यक्ति के लिए शक्य न था, यही कारण है कि जैन-संस्कृति को एक सीमित क्षेत्र में ही रहना पड गया।

जिस समय भगवान् महावीर अपने प्रवचनों द्वारा 'तत्त्व-ज्ञान' प्रदर्शित कर रहे थे, उसी समय भगवान बुद्ध भी तत्त्वज्ञान के प्रकाशन में लीन थे, दोनों महापुरुष बहुत अंगों में समान तत्त्वज्ञान की बात कह रहे थे और शैली भी दोनो की कही-कहीं समान ही हो गई है। स्थानाङ्ग सूत्र और अगुत्तर-निकाय में यह साम्य स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जैसे कि नीचे लिखे उद्धरणों से स्पष्ट हो रहा है—

स्थानाङ्ग सूत्र (चतुर्थ स्थान)	**अंगुत्तर निकाय (चतुर्थ निकाय)**
चत्तारि उदका पण्णत्ता, त जहा—	चत्तारो मे भिक्खवे उदकरहदा कतमो—
उत्ताणे णामेगे उत्ताणोभासी,	चत्तारो ?—उत्तानो गम्भीरोभासो,
उत्ताणे णामेगे गंभीरोभासी,	गम्भीरो उत्तानोभासो
गम्भीरे णामेगे उत्ताणोभासी,	उत्तानो उत्तानोभासो,
गम्भीरे णामेगे गम्भीरोभासी।	गम्भीरो गम्भीरोभासो,
एवमेव चत्तारि पुरिसजाया।	एवमेव खो भिक्खवे चत्तारो
	उदक रहयमा पुग्गला। नि ४—१०४
चत्तारि मेहा पण्णत्ता, तं जहा—	चत्तारो मे .. बलाहका, कतमे चत्तारो ?
गज्जित्ता णाममेगे णो वासित्ता,	गज्जित्ता नो वास्सित्ता,
वासित्ता णाममेगे णो गज्जित्ता,	वास्सित्ता नो गज्जित्ता,
एगे गज्जित्ता वि, वासित्ता वि,	नो गज्जित्ता, नो वास्सित्ता,
एगे णो गज्जित्ता, णो वासित्ता।	गज्जित्ता च वास्सित्ता च।
एवामेव चत्तारि पुरिसजाया।	एवमेव चत्तारो मे बलाहकूपमा पुग्गला।
	निपा. ४—१०१
चत्तारि फला पण्णत्ता, तं जहा—	चत्तारिमानि अम्बानि, कतमानि चत्तारि ?
आमे णामेगे आममहुरे,	आमं पक्कवण्णि,
पक्के णामेगे आममहुरे,	पक्कं आम-वण्णि,
आमे णामेगे पक्कमहुरे,	आमं आमवण्णि
पक्के णामेगे पक्कमहुरे,	पक्कं पक्कवण्णि।
एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता।	एवमेव चत्तारि मे अम्बूपमा पुग्गला।
	निपा ४—१०६

यह पाठ साम्य और विषय-साम्य का एक निदर्शन मात्र उपस्थित किया है। अंगुत्तर-निकाय के अन्य अनेकों पाठों में इसी प्रकार के साम्य को देखा जा सकता है ? यद्यपि स्थानाङ्ग सूत्र मे पुरुषभेद और अंगुत्तर-निकाय में पुद्गल-भेद प्रदर्शित किया जा रहा है, परन्तु पुद्गल का अर्थ पुरुष भी होता है जैसा कि भगवती सूत्र शतक २०, उद्देशक २, सूत्र ६६४ से ज्ञात होता है।

अनेकविध प्रतीयमान द्विरुक्तियां—

तृण-वनस्पति सूत्र—स्थानाङ्ग सूत्र के विभिन्न स्थानो में एक ही पदार्थ की भिन्न-भिन्न संख्या बताई गई है, जैसे कि तृण-वनस्पति का वर्णन चौथे स्थान में, पांचवें स्थान में, छठे स्थान में, आठवें स्थान में और फिर दसवे स्थान मे भी किया गया है। प्रश्न होता है कि केवल दसवे स्थान में वर्णन से ही तृण-वनस्पति-भेद जाने जा सकते थे, फिर उनका अलग-अलग स्थानो में वर्णन क्यों किया गया है ?

प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, अतः इसके समाधान के लिए कुछ गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

प्रज्ञापना सूत्र के प्रथम पद में वनस्पतिकाय के 'प्रत्येक' और 'साधारण' ये दो भेद बताए गए है। इनमें से प्रत्येक के बारह भेदों का वर्णन किया गया है, उनमे से एक तृण-वनस्पति काय भी है।

तृण-वनस्पति की भी अनेक जातियां हैं, जैसे कि अग्रबीज—(जिनके अग्रभाग में बीज होते हैं), मूलबीज (जिनकी जड ही बीज होती है), पर्व-बीज (जिनकी गाठे ही बीज होती है), स्कन्ध बीज (जिनकी डाली अर्थात् कलम ही बीज होती है)। चतुर्थ स्थान के प्रथम उद्देशक मे सामान्य रूप से इन्ही चारो का नामोल्लेख किया गया है।[१]

पांचवें स्थान में वर्णित तृण-वनस्पतियां (स्था ५।२।४३) वे ही प्रदर्शित की गई हैं जिनकी उत्पत्ति बीज से ही होती है, इसीलिए अन्तिम मे 'बीजरुह' भेद प्रदर्शित किया गया। सम्मूर्छिम वनस्पतियो से इनका विभागीकरण ही यहा सूत्रकार को इष्ट प्रतीत होता है। यह भी हो सकता है कि पूर्व सूत्र में वर्णित असंयमी पुरुष पांच प्रकार के तृण-वनस्पतिकायिको में ही जन्म लेते हैं।

छठे स्थान में पूर्व वर्णित पांच भेदों के साथ सम्मूर्छिम नामक छठे भेद को भी सम्मिलित कर लिया गया है। (स्था. ६।१।१०) यह प्रदर्शित करने के लिए कि ऐसी तृण-वनस्पतियां भी हैं जो बिना बीज के ही उत्पन्न हो जाती है।

आठवें स्थान में ऐसे तृण-वनस्पतिकायिको के भेदो का वर्णन किया गया है, जिनमे फल और बीज नहीं होते (स्था. ८।१२०) जैसे कि—मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल (कोपले) पत्र और पुष्प। यह विषय पूर्व की अपेक्षा मूलतः भिन्न है।

दशम स्थान में सब का सम्मिलित रूप प्रदर्शित कर दिया गया है। (स्था. १०।१६८)

यह भी हो सकता है कि सूत्रकार क्रमशः ज्ञान का विकास करने की दृष्टि से भिन्न-भिन्न स्थानों में तृण-वनस्पति-भेद का संवर्धन करते गए हों।

प्रव्रज्या-सूत्र—

तृतीय स्थान (३।२) में प्रव्रज्या ग्रहण करने के चार रूपों में तीन-तीन कारण बताए गए हैं,

---

१. चउव्विहा तणवणस्सइ काइया पण्णत्ता, तं जहा—अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया, खन्धबीया (ठा ४।१।१०)

परन्तु उन कारणों से प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले साधारण साधक देवत्व को प्राप्त कर सकते हैं, उपशम श्रेणि भी अपना सकते हैं और प्रतिपाती भी हो सकते हैं, परन्तु चौथे स्थान में (स्था. ४।४) सात रूपो मे जो चार-चार प्रव्रज्या कारण बताए गए है उनमें उन प्रव्रज्या-भेदों को भी ग्रहण कर लिया गया है जिनसे अनुत्तरविमानो का देवत्व प्राप्त किया जा सकता है और कर्मसमूह पर विजय प्राप्त करके निर्वाण की ओर भी बढा जा सकता है, क्योंकि उनमें अतिचार-रहित प्रव्रज्या को भी स्थान दिया गया है।

कल्याणकों में देव आगमन

तृतीय स्थान के अन्तर्गत (३।१) कल्याणक वेला में आने वाले देव केवल हर्षोल्लास से परिपूर्ण होते है जबकि चौथे स्थान के तीसरे उद्देशक में वर्णित वे देव भी हैं जो हर्षोल्लास और शोक दोनों से युक्त हो सकते है।

अन्धकार और उद्योत-सूत्र

तृतीय स्थान के पहले उद्देशक में जो लोकान्धकार और लोकोद्योत के कारण बताए गए है वे केवल भावान्धकार और भावोद्योत को लक्ष्य में रखकर बताए गए है। चौथे स्थान के तृतीय उद्देशक मे निर्दिष्ट कारण द्रव्यान्धकार और द्रव्यालोक को भी अपने मे सम्मिलित कर लेते है।

इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी प्रतीयमान द्विरुक्तियो के पीछे शास्त्रकार का कोई न कोई रहस्य अवश्य है।

कुछ शब्दों के पारस्परिक अन्तर

पाप, क्रिया और दोष

स्थानाङ्ग सूत्र में कुछ ऐसे भी शब्द है जो परस्पर साम्य रखते हुए प्रतीत होते है, परन्तु जरा गहराई मे दृष्टिपात करने पर उनका पारस्परिक अन्तर स्पष्ट हो जाता है, जैसे कि—

पाप—जान-बूझकर हार्दिक सकल्प से किसी का बुरा सोचना, कडवी वाणी बोलना, किसी को दुःख पहुंचाना पाप है। अनन्तानुबन्धी चार कषायों का समूह, मिथ्या मोहनीय, मिश्र-मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृतियो से प्रेरित होकर जो क्रियाए की जाती हैं उन्हे ही पाप कहा जाता है। इन सात प्रकृतियों से मुक्त साधक सम्यक्त्व-दर्शी हो जाता है और वह पाप नही करता— ''सम्मत्तदंसी न करेइ पावं''।—आचाराग

क्रिया—निवृत्ति-प्रधान चारित्र और प्रवृत्ति प्रधान तप के अतिरिक्त शेष सभी प्रकार की प्रवृत्तियों को क्रिया कहा जाता है। विकथा, अयतना, विषय-वासना, कषाय, प्रमाद आदि से प्रेरित होकर क्रियाए की जाती हैं। जहां पाप है वहां क्रिया अवश्य होती है, किन्तु जहां क्रिया है वहां पाप भी हो यह आवश्यक नही है, क्योंकि क्रिया शुभ भी होती है और उससे पुण्य का बन्ध होता है। क्रिया तेरहवें गुणस्थान तक रहती है जब कि पापाचरण मिथ्यात्व की दशा में ही होता है।

दोष—पांच महाव्रतो या अणुव्रतों का समस्तरूप से या आंशिक रूप से भंग करना दोष है, दोष ऐसी क्रिया है जिसकी निवृत्ति प्रायश्चित्त से हो सकती है। जो व्रती है वही दोष कर सकता है। जो व्रती नही है वह दोष नहीं, पाप करता है।

पुण्य और दान में अन्तर

स्थानांग सूत्र में पुण्य और दान दोनों का पृथक्-पृथक् विवेचन देखकर दोनों में अन्तर जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होनी स्वाभाविक है। पुण्य वह क्रिया है जो शुभ भावों से प्रेरित होकर की जाती है, जैसे कि सेवा-सुश्रूषा, गुणीजनों को प्रणाम, स्वाध्याय, जप आदि सब पुण्य हैं। पुण्य-क्रिया में आदि से लेकर अन्त तक शुभ भाव बने रहते हैं।

दान में कुछ न कुछ देय अवश्य होता है, जैसे विद्यादान, वस्त्रदान, औषध-दान, प्राणदान, अभयदान आदि। दान पुण्य भी है, पाप भी है और कर्म-निर्जरा में सहायक भी है, परन्तु प्रत्येक पुण्य को दान नहीं कहा जा सकता।

नगर और नगरी में अन्तर

स्थानांग सूत्र में इन दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है। कुछ लोग यह समझते हैं कि बड़े शहर को नगर और छोटे शहर को नगरी कहा जाता होगा, परन्तु वास्तविकता यह है कि कलकत्ता, कानपुर, नागपुर, पटना, राजगृह आदि पुल्लिंग वाची बस्तियों को नगर कहा जाता है और मुम्बई, दिल्ली, वाराणसी, अयोध्या, मथुरा आदि स्त्रीलिंग वाची नामों वाली बस्तियां नगरी कहलाती हैं। नगर और नगरी में विशालता और छोटेपन का अन्तर नहीं है।

इसी प्रकार अन्य अनेक ऐसे नाम हैं जिनकी समानार्थकता सी प्रतीत होती है, परन्तु समभिरूढ़ नय के अनुसार शब्द-सागर में कोई भी शब्द समानार्थक नही है, अतः थोड़ा या बहुत अन्तर प्रत्येक शब्द में होता ही है।

स्थानाङ्ग सूत्र में प्रज्ञप्ति और दशा

'प्रज्ञप्ति' उन शास्त्रों को कहा जाता है जिनमें नाम के अनुरूप वर्ण्य-विषय का विस्तार किया जाता है, जैसे सूर्य-प्रज्ञप्ति, चन्द्र-प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति और व्याख्या-प्रज्ञप्ति। इनमें से व्याख्या-प्रज्ञप्ति अंग प्रविष्ट है और शेष प्रज्ञप्तियां अंग बाह्य के रूप मे पहचानी जाती हैं। स्थानांग में चारों प्रज्ञप्तियो का उल्लेख प्राप्त होता है

जैन-साहित्य में उन आगम-ग्रन्थो को 'दशा' कहा जाता है जिनमें दस अध्ययन हों अथवा दशा अर्थात् उत्थान-पतन आदि अवस्थाओं का वर्णन हो। दस-दस अध्ययनों वाले श्रुत दस हैं—

कर्म-विपाकदशा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक दशा, आचार-दशा, प्रश्न-व्याकरण-दशा, बन्ध-दशा, दोगृद्धि-दशा, दीर्घ-दशा और सक्षेपित-दशा। (स्था १०)

१. कर्म-विपाक-दशा—इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं। दोनो में दस-दस अध्ययन हैं। यहां सूत्रकार का आशय विपाक शब्द से अशुभ फल दिखाने का ही प्रतीत होता है।

२. उपासक-दशा—यह सातवां अंग-सूत्र है। इसमें दस उपासकों अर्थात् श्रावकों का परिचय दिया गया है।

३. अन्तकृद्दशा—यह आठवां अंग-सूत्र है। स्थानांग सूत्र में इसकी दस दशाओं के नाम दिये गए हैं। नमि, मातंग, सोमिल, रामगुप्त, सुदर्शन, जमाली, भगाली, किंकम, पल्यंकस्फाल और अम्बड़-पुत्र। वर्तमान अन्तकृद्दशा में इन दशाओं में से कुछ दशाएं ही प्राप्त होती हैं। अतः इस दशा को वाचनान्तर ही कहा जा सकता है।

४. अनुत्तरौपपातिक-दशा—इसमे तप के प्रभाव से श्रेष्ठ देवलोको में जन्म लेने वाले साधको का वर्णन किया गया है। स्थानांग के अनुसार उनके नाम हैं—ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, स्थाणु, शालिभद्र, आनन्द, तेतली, दशार्णभद्र और अतिमुक्त। इनमे से वर्तमान अनुत्तरौपपातिक दशा में केवल प्रथम के तीन नाम ही प्राप्त होते है। इस वर्तमान अग का विभाग तीन वर्गों में किया गया है। शालिभद्र और दशार्णभद्र के इतिवृत्त अन्यत्र उपलब्ध होते हैं। प्रस्तुत अंग के कार्तिक सेठ और अतिमुक्त भी वर्तमान अंग-शास्त्रों मे वर्णित कार्तिक और अतिमुक्त से भिन्न हैं, अत: इस अगसूत्र को भी वाचनान्तर कहा जा सकता है।

५. आचार-दशा—इसे ही दशाश्रुत-स्कन्ध कहा जाता है। इसमें दस अध्ययन है और इसका विषय स्थानांग प्रदर्शित ही है।

६. प्रश्नव्याकरण-दशा—इसमे प्रश्न और उत्तर दोनो का वर्णन करने वाली दस दशाए है, जिनमें उपमा, सख्या, ऋषि-भाषित, आचार्य-भाषित, महावीर-भाषित, क्षौमिक-प्रश्न, कोमल-प्रश्न, आदर्श-प्रश्न, अंगुष्ठ-प्रश्न और बाहु-प्रश्न आदि विषयो का वर्णन किया गया है। परन्तु वर्तमान प्रश्नव्याकरण में दो श्रुत-स्कन्ध है और उनमे पांच आश्रवो और पांच सवरों का ही वर्णन उपलब्ध होता है। अत: इसे भी वाचनान्तर ही कहा जा सकता है।

७. बन्ध-दशा—इसमे बन्ध, मोक्ष, भावना-विमुक्ति आदि दस दशाए बताई गई हैं, परन्तु अब यह अप्राप्त है। केवल भावना और विमुक्ति आचाराग सूत्र के २४वे और २५वें इन दो अध्ययनो के नाम है।

८. द्विगृद्धि-दशा—यह दशा भी वर्तमान मे अनुपलब्ध है, केवल भगवती सूत्र मे स्वप्न उद्देशक देखा जा सकता है।

९. दीर्घ-दशा—इसमे चन्द्र, सूर्य, शुक्र, श्री देवी, प्रभावती, द्वीप-समुद्रोपपत्ति, बहुपुत्रिका, मन्दर, स्थविर संभूत-विजय और स्थविर-पद्म-उच्छ्वास-निश्वास नामक दस अध्ययन बताए गए हैं। दीर्घ-दशा सूत्र भी अनुपलब्ध है। इसके चन्द्र, सूर्य, शुक्र और बहुपत्रिका नामक चार अध्ययन पुष्पिता नामक सूत्र मे प्राप्त हो जाते हैं। श्रीदेवी नामक अध्ययन पुष्पचूलिका नामक-सूत्र मे उपलब्ध है। शेष अध्ययन अनुपलब्ध है।

१०. सांक्षेपिक-दशा—यह दशा भी वर्तमान में अनुपलब्ध है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्थानांग-सूत्र की निर्माण-वेला में कुछ अन्य वाचनाए भी प्रचलित थीं जिनका इस सूत्र मे निर्देश किया गया है। हो सकता है कि कभी किसी भण्डार मे से अनुपलब्ध वाचनाए भी प्राप्त हो जाएं। राजवार्तिक मे जो वर्णन प्राप्त होता है वह स्थानांग से मेल खाता है, अत: राजवार्तिककार के सामने भी वही वाचनी रही होगी जो स्थानांग सूत्र के सकलन-कर्ता के सामने थी।

स्थानाङ्ग सूत्र में प्रक्षिप्त अंश—

अन्य आगमो के समान स्थानाङ्ग सूत्र को देखने से ज्ञात होता है कि सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न गीतार्थ मुनीश्वरों ने भगवान् महावीर के समय से प्राप्त श्रुत-धारा में यत्र-तत्र कुछ हानि एवं वृद्धि अवश्य की है। उदाहरण के रूप में स्थानाङ्ग सूत्र के नौवें स्थान मे भगवान महावीर के नौ गणों

का उल्लेख किया गया है। जिनके नाम हैं—गोदासगण, उत्तरबलिस्सह गण, उद्देहगण, चारणगण, ऊर्ध्ववातिकगण, विश्व-वातिगण, कामर्द्धितगण, माणवगण और कोडिन्नगण। कल्पसूत्र में कामर्द्धितगण का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। यदि कल्पसूत्र वर्णित कामर्द्धित कुल से इसकी उत्पत्ति मान भी ली जाए तो भी इन सब गणो का निर्माण भगवान महावीर के काल से लगभग दो सौ,वर्ष से लेकर ५०० वर्ष बाद तक माना जाता है, अत: स्थानाङ्ग सूत्र मे इनका उल्लेख गणो के निर्माण के बाद ही हुआ होगा और इसे किसी गीतार्थ मुनि की सयोजना ही कहा जा सकता है।

इसी प्रकार स्थानाङ्ग में सात निन्हवो का उल्लेख मिलता है जिनके नाम है—जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल। इनमे से जमालि और तिष्यगुप्त तो भगवान महावीर के सम-कालीन थे, परन्तु शेष निन्हवों का काल भगवान महावीर के निर्वाण वर्ष के तीन सौ साल से लेकर छ: सौ साल बाद तक का माना जाता है। ऐसी दशा मे स्थानाङ्ग के भीतर इनका उल्लेख इसमें होने वाली वृद्धि का प्रमाण ही उपस्थित करता है। अत: क्षमाश्रमण देवर्द्धिगणी तक अन्य शास्त्रो के समान स्थानाङ्ग में भी हानि-वृद्धि स्वीकार की जा सकती है। इसके अनन्तर शास्त्रो का रूप स्थिर हो गया होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

प्रतिपाद्य विषय की विविधता

यह कहना अत्युक्ति न होगी कि स्थानाङ्ग प्रतिपाद्य विषय के वैविध्य की दृष्टि से विश्वकोष है। जो इस महाग्रन्थ मे है उसका विस्तार अन्य सभी आगमो मे विद्यमान है और जो सभी आगमो मे है वह अकेले स्थानाङ्ग में है।

तीर्थंकर—

स्थानाङ्ग में बीस तीर्थंकरो के नाम प्राप्त होते हैं, जैसे श्री ऋषभदेव, श्री सम्भवनाथ जी, श्री अभिनन्दन जी, श्री पद्मप्रभ जी, श्री चन्द्रप्रभ जी, श्री पुष्पदन्त जी, श्री शीतल नाथ जी, श्री वासुपूज्य जी, श्री विमलनाथ जी, श्री अनन्तप्रभु जी, श्री धर्मनाथ जी, श्री शान्तिनाथ जी, श्री कुंथुनाथ जी, श्री अरनाथ जी, श्री मल्लिनाथ जी, श्री मुनि सुव्रत जी, श्री नमिनाथ जी, श्री अरिष्टनेमि जी, श्री पार्श्वनाथ जी, श्री महावीर स्वामी जी। इन बीस तीर्थंकरों का आयु, देहमान, अन्तर आदि की दृष्टि से जिसका जिस स्थान मे वर्णन हो सकता है वहां किया गया है, परन्तु वर्ण्य विषय के रूप में श्री अजितनाथ जी, श्री सुमतिनाथ जी, श्री सुपार्श्व नाथ जी और श्री श्रेयास नाथ जी का वर्णन नहीं हो सका।

चक्रवर्ती—

इस सूत्र में बारह चक्रवर्तियों के नामों का उल्लेख करते हुए शास्त्रकार ने उनका दो रूपों में वर्णन किया है। भरत, सगर, मघव, सनत् कुमार, शान्ति, कुन्थु, अर, महापद्म, हरिषेण और जय। ये दस चक्रवर्ती ऐसे है जिन्होंने संयम-पथ को अपना कर परम-पद प्राप्त किया। सुभूम और ब्रह्मदत्त ये दो ऐसे चक्रवर्ती हुए हैं जिन्होंने संयम से विमुख होकर महारम्भी और महापरिग्रही बन कर विषय-सरोवर में कलोलें कीं और अन्त में नरक-निवास कर दुख भोग रहे हैं।

कर्मों की दृष्टि में किसी का पक्षपात नहीं है, चाहे चक्रवर्ती हो और चाहे साधारण जन, जो जैसा करता है वैसा भरता है, यह अटल सिद्धान्त है।

जीव विज्ञान—

स्थानाङ्ग सूत्र के द्वितीय स्थान में बताया गया है कि द्वीन्द्रिय[1] से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवों तक के शरीर में हड्डियां, मांस और रक्त नामक तीन पदार्थ होते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों एवं सभी तिर्यंच प्राणियो का शरीर मांस, रक्त, हड्डियों, स्नायुओं और शिराओं से बना हुआ होता है।

भूगोल—

यह ठीक है कि प्राचीन शास्त्रों में वर्णित भूगोल आधुनिक भूगोल से पूर्णतया मेल नहीं खाता, क्योंकि समय-समय पर भूगोलीय वातावरण, पृथ्वी की स्थिति और उस स्थिति के बदलने से नदियों आदि के प्रवाह की भिन्नता हो जाती है, फिर भी शास्त्रीय वर्णन के कुछ भाग भूगोल पर प्रकाश डालते ही हैं, जैसे कि—स्थानाङ्ग सूत्र में गंगा और सिन्धु का महानदियों के रूप में वर्णन किया गया है, क्योंकि ये नदिया अनेक नदियों को साथ में लेकर सागर में प्रविष्ट होती हैं। इनके अतिरिक्त गंगा, यमुना, सरयू, ऐरावती और मही नामक विशाल नदियो का भी वर्णन यथा-स्थान प्राप्त होता है।

वर्षधर पर्वत जिन्हें सीमा निर्माण करने वाले कहा गया है सम्भवत: वे हो सकते हैं जिनसे मानसून हवाएं टकरा कर वर्षा करती हैं। इनके अतिरिक्त हिमालय से उत्तर की ओर बहने वाली सुवर्णकूला, रक्ता, रक्तवती आदि नदिया अब परिवर्तित नामों के साथ हैं या नही यह भूगोल वेत्ताओ के लिए अन्वेषण का विषय है।

तप्त-जला, मत्त-जला, उन्मत्त-जला आदि नदिया भी खोज का विषय हैं, क्योंकि हिमालय के हिमाच्छादित प्रदेशों मे अब भी ऐसे तप्त जल के स्रोत विद्यमान हैं जिनका जल तप्तजला नदियों के रूप में प्रवाहित होता है। गंगोत्री के पास एक ऐसा स्रोत है जिसमें डाले हुए आलू एवं चावल आदि उबल जाते हैं। आधुनिक शेषधारा जैसी चट्टानों से टकराकर उछलने वाले जल से पूरित नदियों में से तब कोई मत्त-जला और उन्मत्त-जला भी रही होगी।

कुछ महाह्रदों का भी वर्णन किया गया है, हिमालय की हिमाच्छादित एवं हिमाच्छादन से रहित झीलें महाह्रदो के रूप मे पहचानी जा सकती हैं।

क्षीरोदा (जिसका जल दूध जैसा दिखाई दे), शीतस्रोता और अन्तर्वाहिनी (बर्फ के या चट्टानों के नीचे ही नीचे बहने वाली अनेकश: नदियां, मेरु (सम्भवत: गौरीशंकर पर्वत) के आस-पास देखी जा सकती हैं।

इसी प्रकार इस विषय के अन्तर्गत भूकम्प के कारणों आदि की विवेचना एव घनवात, घनोदधि आदि पर अवलम्बित पृथ्वी का वर्णन भूगोलीय अन्वेषणों की मूलभित्ति प्रस्तुत करते हैं।

खगोलीय वर्णन—

इस विषय के मूल तत्वों पर भी स्थानाङ्ग सूत्र के द्वारा थोड़ा बहुत प्रकाश अवश्य पड़ता है। ज्योतिष-शास्त्र में अट्ठाईस नक्षत्र बताए गए हैं, उनके अधिष्ठाता देवों के नामों का यहां

---

१ द्वीन्द्रिय जीव—त्वचा और रसनेन्द्रिय वाले, त्रीन्द्रिय जीव त्वचा, रसना और नाक वाले। चतुरिन्द्रिय जीव त्वचा, रसना, नाक और आख वाले। पचेन्द्रिय जीव त्वचा, रसना, नाक, आंख और कान वाले।

उल्लेख हैं। इनके अतिरिक्त ८८ ग्रहों का उल्लेख भी द्वितीय स्थान के तृतीय उद्देशक में प्राप्त होता है। आधुनिक-खगोल-शास्त्रियो ने नौ ग्रहो के अतिरिक्त कुछ अन्य हर्षल आदि ग्रहों का भी पता लगाया है, हो सकता है कि वे स्थानांग में वर्णित ८८ ग्रहों के अन्तर्गत ही हों, परन्तु उनके नाम स्थानाङ्ग ही बताएगा, चाहे नए नाम रख लिए जाएं।

स्थान-स्थान पर नक्षत्र और चन्द्र-योग पर भी प्रकाश डाला गया है। साथ ही किस-किस प्रधान-नक्षत्र के साथ कितने अन्य तारों का सम्बन्ध है इस विषय की भी विवेचना की गई है।

खगोल-शास्त्र के अन्तर्गत स्थानाङ्ग के तीसरे स्थान में अल्पवृष्टि और अतिवृष्टि के भी तीन-तीन कारण बताए गए हैं। उनमें से जलीय पुद्गलों (परमाणुओं) के अभाव या अधिकता वाला कारण तो विज्ञान-सम्मत ही है। देव, भूत, नाग, यक्ष आदि की सम्यक् पूजा का होना या न होना रूप जो कारण सुवृष्टि या अनावृष्टि के लिए प्रदर्शित किया गया है, वह तत्कालीन समाज की देव-पूजा परायणता पर प्रकाश डालता है और हो सकता है उस पर वैदिक देववाद का भी प्रभाव हो, क्योंकि यज्ञों द्वारा सन्तुष्ट देव ही वहा सुवृष्टि के कारण माने गए हैं। वायु द्वारा जलीय पुद्गलों को अन्यत्र खींच ले जाना अथवा खींचकर उस स्थान पर लाना रूप कारण अल्पवृष्टि एवं सुवृष्टि के लिए उचित ही है।

नवम स्थान में शुक्रग्रह ही हय-वीथी, गजवीथी, नागवीथी, वृषभ-वीथी, गो-वीथी, उरगवीथी, अज-वीथी, मित्र-वीथी और वैश्वानरवीथी, ये नौ वीथियां बताई गई है। ये नौ वीथियां क्या हैं और इनका क्या प्रभाव है यह सब अध्ययन का विषय है।

दशम स्थान में कहा गया है कि कृत्तिका और अनुराधा ये दो नक्षत्र चन्द्र के सभी बाह्य मण्डलो में से दसवें मण्डल में परिभ्रमण करते हैं। यह चन्द्र से कृत्तिका एवं अनुराधा नक्षत्र की माण्डलिक दूरी का वर्णन ज्योतिष शास्त्रियों के अन्वेषण का विषय है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार कृत्तिका और अनुराधा एक दूसरे के सामने रहने वाले नक्षत्र है, क्योंकि मण्डलाकृति में २८ नक्षत्रों में कृत्तिका के सामने १४वें नक्षत्र के रूप में अनुराधा ही आता है।

इसी प्रकरण में ज्ञानवृद्धि करने वाले दस नक्षत्र बताए गए हैं—मृगशिरा, आर्द्रा, पुष्य, तीनों पूर्वा, मूल, आश्लेषा, हस्त और चित्रा। मुहूर्त चिन्तामणि में भी विद्यारम्भ के लिए इन्हीं नक्षत्रों को श्रेष्ठ माना गया है।

आयुर्वेद—

अष्टम स्थान में कुमार-भृत्य (बाल-चिकित्सा), काय-चिकित्सा (शारीरिक शास्त्र), शालाक्य (आंख, नाक, कान, मस्तिष्क और गले की विशेष चिकित्सा, आज भी एलोपैथी में इन अंगों का विशेष अध्ययन भिन्न रूप से करवाया जाता है), शल्य-चिकित्सा (ऑप्रेशन), जंगोली (सर्प, बिच्छु आदि के विष की चिकित्सा एवं इनके विषों के नानाविध प्रयोग), भूत-विद्या (भूत-प्रेत आदि के शमन का शास्त्र, अब पश्चिम में भी इसका विकास 'पराविद्या' के अन्तर्गत हो रहा है), क्षारतन्त्र (यवक्षार, चणकक्षार, आदि द्वारा की जानेवाली चिकित्सा, आज की बायोकेमिक प्रणाली १२ क्षारों पर ही निर्भर है), रसायन (धातुओं, रत्नों एवं पारद-गन्धक आदि द्रव्यों द्वारा तैयार की गई औषधियों द्वारा चिकित्सा जिसे विशेषत: बल-वीर्य की वृद्धि के लिए

प्रयुक्त किया जाता है) इन आठ रूपों से उस समय प्रचलित आयुर्वेद की चिकित्सा-पद्धतियो का यहा उल्लेख किया गया है।

साथ ही नवम स्थान मे रोगोत्पत्ति के नौ कारण बताते हुए लिखा है—अति आहार, अरुचिकर भोजन, अतिनिद्रा, अति जागरण, मल-वेग का रोकना, मूत्र-वेग का रोकना, अति चलना, प्रतिकूल आहार और कामवेग का रोकना या अति विषय-सेवन आदि रोगोत्पत्ति के कारण हैं। ये कारण लोक-प्रसिद्ध एवं सर्व-मान्य हैं।

इसी प्रकार नौ प्रकार का आयु-परिमाण, दस प्रकार का बल, दस प्रकार की तृण-वनस्पतियां, तीन प्रकार की परिचारणा, तीन प्रकार के मैथुन सेवियों के भेद, माता से मिलने वाले तीन अंग, पिता से मिलने वाले तीन अग, मनुष्य और तिर्यंचों की शुक्र और शोणित से उत्पत्ति, तीन-तीन के चार समूहों मे स्त्रीयोनि के भेद, बिना पुरुष ससर्ग के गर्भ-धारण के पांच कारण, संसर्ग होने पर भी गर्भाधान न होने के पांच कारण आदि विषय आयुर्वेद से ही सम्बन्धित हैं।

मनोविज्ञान—

दसवे स्थान मे वर्णित क्रोधोत्पत्ति के दस कारण, अभिमान होने के दस स्थान, दस प्रकार की सुखानुभूति, दस प्रकार के सक्लेश, दु:खानुभूति के कारण आदि विषयो का विवेचन मनोविज्ञान का ही विषय है।

भौतिक विज्ञान—

शब्द भी पुद्गलात्मक है अर्थात् शब्द के भी परमाणु होते हैं, आज तक यह सिद्धान्त शब्द शास्त्रियो को स्वीकार्य नही था, परन्तु अब भौतिक विज्ञान ने शब्द-परमाणु का होना सिद्ध कर दिया है। शब्द की परिभाषा करते हुए जैन-सिद्धान्त दीपिका मे कहा गया है कि "सहन्य-मानाना भिद्यमानाना ध्वनिरूप: परिणाम: शब्द:" अर्थात् टूटते हुए स्कन्धो का ध्वनि रूप परिणाम शब्द है। इसके प्रायोगिक और वैस्रविक दो भेद माने गए हैं। प्रायोगिक शब्द जिसका उच्चारण प्रयत्न-पूर्वक होता है, वह भाषात्मक (अर्थ-प्रतिपादक) और अभाषात्मक (तत, वितत, घन, सुषिर आदि नानाविध वाद्यो के शब्द) रूपों में दो प्रकार का होता है। वैस्रविक शब्द मेघादि से उत्पन्न स्वाभाविक ध्वनि को कहा जाता है

स्थानाङ्ग में द्वितीय स्थान के तृतीय उद्देशक मे शब्द के भाषा (भाषात्मक) और नो भाषा (अभाषात्मक) दो भेद बताए गए है। पुन: शब्द के दो भेद बताए गए हैं—अक्षर-सम्बद्ध और नोअक्षर-सम्बद्ध (ध्वन्यात्मक)। नो अक्षर-सम्बद्ध के ही यहां तत, वितत, घन और सुषिर आदि भेद किए गए हैं।

शब्दोत्पत्ति के दो कारण बताए गए हैं—पुद्गलो के परस्पर मिलने से और पुद्गलों के परस्पर भेद से। पुद्गल-भेद शब्द ही परमाणु-विस्फोट की ओर संकेत कर रहा है।

परमाणु-विज्ञान पर जैन-संस्कृति ने जो कुछ कहा है वह आधुनिक भौतिक विज्ञान की कसौटी पर शत-प्रतिशत खरा उतर रहा है।

काव्य-नाट्य आदि

स्थानाङ्ग के चौथे स्थान में चार प्रकार के वाद्यों (तत-वीणा आदि), वितत (ढोल, तबला

आदि), घन (घुंघरू, कांस ताल आदि), सुषिर (बासुरी आदि) का वर्णन है। चार प्रकार के नाट्य (नृत्य) ठहर-ठहर कर नाचना, संगीत के साथ नाचना, संकेतो द्वारा भाव प्रकट करते हुए नाचना और झुककर या लेटकर नाचना—का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार चार प्रकार के गायन बताए गए हैं—नृत्य-गायन, छन्द-गायन, अवरोह पूर्वक गायन, आरोहपूर्वक गायन। इसी प्रकरण में चार प्रकार की पुष्प-रचना, चार प्रकार के शारीरिक अलंकार, चार प्रकार के अभिनय आदि का वर्णन स्थानांग की विषय-विविधता का स्पष्ट प्रमाण है।

गद्य, पद्य, कथ्य (कथा-कहानी) और गेय रूप में चार प्रकार के काव्य-भेदो का तथा दशम स्थान में दस प्रकार के शुद्ध वाक्यो के प्रयोग आदि के रूप मे वर्ण्य-विषय ने काव्य जगत को ही स्पर्श किया है स्थानांग यह प्रमाणित कर रहा है।

मानवीय वृत्तियों का अध्ययन—

स्थानाग सूत्र मे मानवीय स्वभाव का परिचय देने वाले सूत्र सब से अधिक हैं। कहीं वृक्षो से, कही वस्त्रों से, कहीं कोरमंजरी से, कही कूटागार-शाला से, कही वृषभ से, कहीं हस्ती से, कहीं शख, धूम, अग्नि-शिखा, वन-खण्ड, सेना, पक्षी, यान, युग्म, सारथी, फल, बादल, कुम्भ आदि से समता करते हुए सैकडों रूपों में मानवीय वृत्तियों का इस सूत्र में वर्णन किया गया है। उदाहरण के रूप में—

वृक्ष चार प्रकार के होते हैं—पत्रयुक्त, पुष्पयुक्त, फल-युक्त, छाया-युक्त। इसी प्रकार मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं—पत्र-युक्त वृक्ष के समान केवल छाया रूप आश्रय देने वाले। पुष्प वाले वृक्ष के समान (केवल सद्विचार देने वाले)। फलयुक्त वृक्ष के समान (अन्न-वस्त्रादि देने वाले) और छाया-युक्त वृक्ष के समान (शान्ति सुरक्षा और सुख देने वाले)।

एक अन्य उदाहरण में कहा गया है—मेघ चार प्रकार के होते हैं—

१ एक मेघ गरजता है, बरसता नहीं।

२. एक मेघ बरसता है, गरजता नही।

३. एक मेघ गरजता भी है और बरसता भी है।

४ एक मेघ न गरजता है, न बरसता है।

इसी प्रकार पुरुष भी चार प्रकार के होते है—

१. कुछ व्यक्ति बोलते हैं, पर देते कुछ नहीं।

२. कुछ व्यक्ति बोलते हैं और देते भी हैं।

३. कुछ व्यक्ति देते हैं, पर बोलते नहीं।

४. कुछ व्यक्ति न बोलते हैं और न देते हैं।

इस सूत्र में केवल मेघ, बिजली, गर्जन, वर्षण आदि से सम्बन्ध जोड़ते हुए सात रूपों में मेघ के अध्ययन के माध्यम से मनुष्य-स्वभाव का विश्लेषण किया गया है।

इस प्रकार लगभग १०० उपमेय उपमानों के रूप में उपमेयों के विश्लेषण के साथ-साथ उपमानों के रूप में मनुष्य-स्वभाव का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार ने मानवता को हर पहलू से पहचानने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकार जीवन का सर्वाङ्गीण अध्ययन प्रस्तुत किया है स्थानाङ्ग सूत्र के माध्यम से शास्त्रकार ने।

प्रस्तुत सम्पादन और व्याख्या—

आज से लगभग चार वर्ष पूर्व इस महान् ग्रन्थ का प्रकाशन आरम्भ हुआ था, तब से मैं भी इस ग्रन्थ के प्रकाशन-कार्य के साथ सम्बद्ध हूं, 'अत: मैंने इस शास्त्र की व्याख्या का आद्योपान्त अध्ययन किया है। उसी अध्ययन के फलस्वरूप मेरी अन्त:-प्रज्ञा यह निस्संकोच कहती है कि प्रात:स्मरणीय जैनागम-रत्नाकर श्रमण संघ के आद्याचार्य श्रद्धेय स्वर्गीय श्री आत्माराम जी महाराज ने इस महाग्रन्थ की विवेचनिका लिखकर जैन समाज को गौरवान्वित किया है। श्रुत-पुरुष आचार्य श्री का यह प्रयास सन्त समाज के लिए तो वन्दनीय है ही, साथ ही जैनागमों का ज्ञान प्राप्त करने की पुण्येच्छा रखने वाले पाठको के लिए भी परम उपयोगी है।

जैन-धर्म-दिवाकर विद्वद्रत्न पंजाब-प्रवर्तक मुनि श्री फूलचन्द्र जी महाराज 'श्रमण' भी आचार्य श्री के चरण-सान्निध्य को प्राप्त कर आगम-सागर के निष्णात विद्वान् के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। आचार्य श्री की अन्तिम अभिलाषा को मूर्त रूप देते हुए उन्होंने इस महाग्रन्थ का विद्वत्ता पूर्ण सरल-सुबोध एवं सुन्दर सम्पादन प्रस्तुत करके जैन तत्त्व-ज्ञान को सर्वसाधारण के लिए सुलभ बना दिया है। सोने के लिए सुहागा बन गया है यह सम्पादन- कार्य का महाप्रयास। विद्वद्रत्न श्री रतन मुनि जी महाराज ने प्रूफ-संशोधन एवं समय-समय पर अनेक सम्पादन-सम्बन्धी सुझाव देकर इस महाप्रयास को सफल बनाया है।

मुझे यह लिखते हुए दुख तो हो रहा है, परन्तु क्या करू सत्य की अन्त:धारा अवरुद्ध नहीं हो पा रही, अत: यह निस्सकोच कह रहा हूं कि जैन-समाज में अध्ययन की वृत्ति का ह्रास होता जा रहा है, अत: आगम-ज्ञान की पावनी गंगा अन्त:सलिला सरस्वती के समान लुप्त होती जा रही है। आचार्य श्री के प्रयास को साकार रूप देकर हमे अपने आप को कृतकृत्य नहीं मान लेना चाहिए और न ही श्री 'श्रमण' जी महाराज के प्रति आभार प्रदर्शित करके उनकी कृतज्ञता से अपने आप को मुक्त समझ लेना चाहिए। आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन-समिति ने इस ग्रन्थ के व्यय-भार के दायित्व को निभा कर जो प्रशंसनीय कार्य किया है उसकी प्रशंसा मात्र से उसके महाप्रयास का अभिनन्दन नहीं हो जाता है, इस महान् शास्त्र-लेखन, सम्पादन और प्रकाशन का सच्चा अभिनन्दन तभी होगा जब हम इस का अध्ययन करेंगे और आचार्य श्री की स्वाध्याय-तपस्या का फल प्राप्त कर कर्म-निर्जरा करते हुए अपने जीवन-मार्ग को प्रशस्त करेंगे।

तिथि १७ सितम्बर १९७५

तिलकधर शास्त्री

प्रथम संस्करण से—

सम्पादकीय कथ्य

जैन साहित्य सर्वांगीण साहित्य है। शायद ही कोई ऐसा विषय हो जिसका कि वर्णन किसी न किसी रूप में जैन साहित्य में न हुआ हो। जैन साहित्य विचार-जगत् और व्यवहार-जगत् को एक अपूर्व अद्‌भुत प्रकाश सदा-सर्वदा काल से देता आ रहा है। क्षेत्र और काल की परिधि से परे जो परम और चरम सत्य है, जो नित्य एवं अखण्ड है, उसी सत्य की ओर यह साहित्य संकेत करता है। यह हमें विकल से सकल की ओर ले जाने वाला विराट् आध्यात्मिक साहित्य है।

श्रमण भगवान महावीर ने अपने जीवन में जो भी उपदेश दिया है उसका अधिकांश भाग श्रुत के रूप में निबद्ध नहीं हो सका। जितना अंश श्रुत-निबद्ध हो सका वह भी अपने समग्र रूप में लिपिबद्ध न हो पाया। उसका अधिकांश भाग विच्छिन्न हो चुका है। उसका कुछ अंश ही हमें उपलब्ध हो पाया है। जो श्रुत आज हमें उपलब्ध है श्रुतधर आचार्यों ने अनेक कष्ट सहकर, कहीं-कहीं तो अपने प्राणों को भी संकट मे डालकर उसकी रक्षा करने का प्रयास किया है। इतना ही नहीं प्रत्युत मूल आगमों का आधार लेकर उन आचार्यों ने श्रुत-साहित्य को पल्लवित भी किया है, देश और काल के अनुसार उसे नाना रूपो और नाना भाषाओं में निबद्ध करने का स्तुत्य प्रयास भी उनके द्वारा समय-समय पर होता रहा है।

जैनेतर विद्वानों ने अपने मान्य आगमों की प्रामाणिकता को प्रमाणित करने के लिए उसके साथ लोकोत्तर चमत्कारों को जोड दिया है, जैसे कि कुछ वैदिक धर्म के अनुयायियो की मान्यता है कि वेद अपौरुषेय हैं, वेद पहले थे, अब हैं और आगे भी अपने इसी रूप में रहेंगे। इनका प्रणयन किसी ने नहीं किया, इनका अस्तित्व अनादि है और अनन्त काल तक रहने वाला है। कुछ ऐसे ईश्वर-विश्वासी भी हैं जो वेद को ईश्वरकृत मानते है।

इस्लाम धर्म के अनुयायियों का कहना है कि कुरान खुदा का भेजा हुआ है, खुद खुदा ने उसे मुहम्मद साहिब के पास भेजा था। उन्होंने ही उसे दुनिया में इसे प्रसारित किया।

इस प्रकार अपने-अपने विश्वास के अनुसार अपने-अपने मान्य ग्रन्थ को सभी अलौकिक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, किन्तु जैन आचार्यों ने अपने मान्य आगमों के साथ ऐसे किसी भी चमत्कार को नहीं जोड़ा। जैन आचार्यों का सीधा-सादा एवं स्वाभाविक मन्तव्य है। वे कहते हैं—''जो व्यक्ति कर्मों पर विजय पाता हुआ इन्सान से भगवान बन जाता है, जो आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा हो जाता है, जो परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है, जो मोह-लोभादि सभी विकारों पर विजय प्राप्त कर लेता है, उसे अरिहंत कहते हैं। अरिहन्त आप्त पुरुष होते हैं, क्योंकि उनके वचन समीचीन एवं भ्रान्ति रहित हुआ करते हैं। असत्य बोलने के मुख्य कारण दो हैं—मोह और अज्ञान। जिसके महान व्यक्तित्व में इन दो कारणों का सर्वथा अभाव हो गया

है उसके द्वारा कही हुई वाणी निश्चय ही सत्य होती है। इस दृष्टि से अरिहन्त भगवान से बढ़कर आप्त पुरुष और कौन हो सकता है? कहा भी है 'आप्त-वाक्यं प्रमाणं' इस अपेक्षा से अरिहन्त भगवान के वचन ही आगम हैं, आगम ही शास्त्र हैं। शास्त्र वही कहलाता है जो छः लक्षणों एवं छः विशेषताओं से संयुक्त हो। वे लक्षण निम्नलिखित हैं—

१. **आप्तोपज्ञम्**—शास्त्र वही है जो आप्त महापुरुष का कथन हो।

२. **अनुल्लङ्घ्यम्**—जिसका प्रतिपाद्य विषय किसी भी तर्क एवं युक्ति से खण्डित न हो सकता हो, अथवा जिसकी आज्ञा भव्य प्राणियों के लिए अनुल्लंघनीय हो।

३. **अदृष्टेष्टविरोधकम्**—जिस में इष्ट-विरोधक कोई भी तत्त्व न हो, अथवा जो कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के विरुद्ध न हो।

४. **तत्त्वोपदेशकृत्**—जो तत्त्वों का प्रतिपादक हो, अथवा तत्त्वों का उपदेश करने वाला हो।

५. **सार्वम्**—प्राणीमात्र के लिए हितकर एवं श्रेयस्कर हो।

६. **कापथघट्टनम्**—मिथ्यामार्ग या कुमार्ग का विनाशक हो।

शास्त्र की यह परिभाषा, कितनी व्यापक स्वाभाविक एवं सत्य है? इसमें किसी अविश्वसनीय चमत्कार को स्थान नहीं दिया गया और न ही किसी प्रकार के कदाग्रह को ही यहां स्थान प्राप्त हुआ है। किसी भी आगम की परीक्षा उसके गुण-अवगुण की कसौटी पर होनी चाहिए, किसी अलौकिक कल्पना के आधार पर नहीं। गुण-अवगुण को गौण करके अन्यान्य बातों को कसौटी बनाना एक तरह की दुर्बलता ही कही जा सकती है।

आगमों का विषय-निरूपण सर्वांगीण है। जड-चेतन, आत्मा, परमात्मा आदि समस्त विषयों का जितना सूक्ष्म, गंभीर और विशुद्ध विवेचन जैन आगमों में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं। आध्यात्मिक दृष्टि से जहां उनमे नव तत्त्वों का विवरण मिलता है, वहां दार्शनिक दृष्टि से छह द्रव्यों का विश्लेषण भी प्राप्त होता है। जैन आगमों में जिन विषयो का वर्णन किया गया है, वे मौलिक एव असाधरण हैं। आश्रव, सवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष जैसे तत्त्वों का, प्रमाण, नय, निक्षेप, अनुयोग, लेश्या, कर्म-विवेचना और अनेकान्तवाद आदि का विवेचन तो जैन आगमों को छोड़कर विश्व के किसी भी धर्म-ग्रन्थ मे उपलब्ध नहीं हो सकता।

जैन साहित्य विषय-निरूपण की दृष्टि से समृद्ध होते हुए भी आत्म-शुद्धि पर विशेष बल देता है, क्योंकि ज्ञान का मुख्य फल है आचार-शुद्धि। जिस ज्ञान के फलस्वरूप आचरण में समुज्ज्वलता नहीं आती, उस ज्ञान को किसी भी दशा में सार्थक नहीं माना जा सकता। जैसे औषधि का ज्ञान होते हुए भी उसके सेवन के बिना रोग की निवृत्ति नहीं हो सकती, वैसे ही सम्यक्-चारित्र को अगीकार किए बिना राग-द्वेष आदि विकार नष्ट नहीं हो सकते, चाहे कोई कितना ही साक्षर एव पण्डित क्यों न हो?

आगमों में जिन-जिन विषयों का वर्णन मिलता है उन सबको तीन भागों में विभक्त करना चाहिए, तभी स्वाध्याय की सफलता कही जा सकती है। कुछ ऐसे विषय हैं जिन्हें जानकर हमें

उनके त्याग की प्रेरणा मिलती है, कुछ ऐसे विषय हैं, जिनकी उपादेयता को समझ कर उन्हें ग्रहण करने की रुचि जागृत होती है और कुछ ऐसा भी विषय-विभाग है जो न तो पाप की तरह त्याज्य है और न संयम एवं तप की तरह ग्राह्य ही है, जैसे कि जीव-तत्त्व, अजीव-तत्त्व आदि सभी विषय ज्ञातव्य मात्र ही हैं।

स्वाध्याय करते समय उच्च साधक सबसे पहले इस बात का ध्यान रखता है कि जो विषय हेय है उसे हेय की कोटि में, जो उपादेय है उसे उपादेय की कोटि मे और ज्ञेय को ज्ञेय की कोटि में ही रखा जाए। इस प्रकार जिस साधक का मस्तिष्क विषय का वर्गीकरण कर सकता है उसके द्वारा किया गया स्वाध्याय ही सफल होता है।

अच्छी प्रकार से किया हुआ स्वाध्याय मन की एकाग्रता को जगाता है। मन की एकाग्रता से धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान को प्रोत्साहन मिलता है। जब स्वाध्यायशील साधक के भाव विशुद्ध हो जाते हैं, तब वही स्वाध्याय तप बन जाता है, अत: आत्म-कल्याण के लिए सु-स्वाध्याय, सु-ध्यान और सु-तप ये तीन साधन आवश्यक हैं। सु के स्थान में सम्यक् का प्रयोग भी किया जाता है। विधि-पूर्वक श्रद्धा और विनय के साथ अध्ययन करना अथवा अनुप्रेक्षा पूर्वक अध्ययन करने को सु-अध्ययन कहते हैं। आर्त्त और रौद्र इन दो को छोड कर धर्म और शुक्ल ध्यान में मन को लगाना सु-ध्यान है। जिससे विषय, कषाय और संचित कर्म भस्म हो जाए वह सु-तप है। इस त्रिवेणी सयम से ही आत्मा परमात्म दशा को प्राप्त कर सकता है।

हमारे परम श्रद्धेय आचार्य-प्रवर पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज के जीवन की पावन भूमि मे इस त्रिवेणी सगम को मैंने अपनी श्रद्धा और विनय के नेत्रो से अनेक बार देखा तो मै प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। वे जब उपाध्याय-पद को सुशोभित कर रहे थे, तब उन्होने अपनी अद्भुत ज्ञान-राशि के आधार पर आचाराग आदि अनेक शास्त्रो पर हिन्दी भाषा में व्याख्याए लिखीं। जिनकी प्रशंसा सर्व-साधारण से लेकर बडे-बडे विद्वानो तक ने मुक्त कठ से की। तभी उनके मस्तिष्क मे एक नया विचार भी पैदा हुआ कि क्या ही अच्छा हो इसी तरह स्थानांग सूत्र की व्याख्या भी हिन्दी भाषा मे तैयार की जाए। महामानवो के सत्य सकल्प सुमेरु के समान अटल हुआ करते हैं, अत: उसी सत्य सकल्प के अनुसार वि.स १९९७, आषाढ कृष्णा तृतीया, शनिवार को लुधियाना में स्थानांग सूत्र का लेखन कार्य-प्रारम्भ हुआ और वि.सं. २००१, चैत्र शुक्ला, द्वितीया रविवार को उपाध्याय पद की स्थिति में ही उस महान् सकल्प को उन्होंने पूर्ण किया। यह समाज का अहोभाग्य है जोकि उन्होने सर्वजनोपयोगी यह अमूल्य शास्त्र समाज को हिन्दी व्याख्या-सहित अर्पित किया है।

कुछ अपनी बात लिख देना भी मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं। आगम-सम्पादन का कार्य महान् गम्भीर एवं अत्यन्त श्रम-साध्य है। शास्त्र-सम्पादन के लिए विशिष्ट योग्यता की आवश्यकता होती है, यह जानते हुए भी श्रुत-भक्ति से प्रेरित होकर मैंने यह महान् उत्तरदायित्व हृदय से स्वीकार किया। जैसे कि मेरे हृदय में अरिहन्त, सिद्ध, साधु एवं केवलि-भाषित धर्म के प्रति दृढ़ निश्चय है, वैसे ही जिनवाणी पर भी मेरा दृढ विश्वास है, क्योंकि केवलि-भाषित धर्म का मूल

स्रोत जिनवाणी ही है। प्रस्तुत सूत्र का सम्पादन करते हुए मैने सब से पहले इस बात का ध्यान रखा है कि सम्पादन के समय कही पर मेरे से कोई विपरीत प्ररूपणा न हो जाए, क्योंकि विपरीत प्ररूपणा करने से जिनवाणी की अवहेलना निश्चित है। इस अवहेलना से श्रद्धावानों की श्रद्धा को ठेस लग सकती है। सम्यग्दृष्टि के जीवन में तत्त्वों के प्रति मिथ्या धारणाओं का अवतरण भी हो सकता है। इस प्रकार अनर्थ-परम्परा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, जिसका दुष्परिणाम विपरीत प्ररूपणा करने वाले को ही भोगना पड़ता है। किसी भूले-भटके मानव को गलत मार्ग बताने वाला जैसे पाप का भागी बनता है वैसे ही मिथ्या-प्ररूपणा करने से भी मानव को पाप का भागी बनना पडता है।

प्रस्तुत सूत्र के संपादन में आचार्य-प्रवर के सु-शिष्य विद्वद्रत्न श्री रत्नमुनि जी का सहयोग भी कुछ कम नहीं रहा है, क्योंकि मूल, छाया, शब्दार्थ और मूलार्थ का संपादन आप श्री जी ने ही किया है। इतना ही नहीं प्रूफ संशोधन में भी आपका सहयोग दाहिने हाथ जैसा रहा है। मैं आपके इस सहयोग से कृतज्ञ हूं और सेवा के लिए हार्दिक आभार मानता हूं जो कि अपना अमूल्य समय देकर मुझे अब भी कृतार्थ कर रहे हैं।

इस महान् आध्यात्मिक ग्रन्थ के सम्पादन, प्रकाशन, प्रूफ-संशोधन एव भाषा-सौन्दर्य की दृष्टि से श्री तिलकधर शास्त्री साहित्य-रत्न का अथ से इति तक जो प्रशसनीय सहयोग रहा है, तदर्थ मैं यही मंगल कामना करता हूं कि उनकी जैन-संस्कृति के प्रति सर्वतोभावेन निष्ठा बनी रहे और समाज को उनका जैन साहित्य के प्रकाशन के लिए स्तुत्य सहयोग प्राप्त होता रहे।

प्रवचन-प्रभावना और प्रवचन-वत्सलता ये दो सम्यग्दर्शन के भूषण है, इन से पुण्यानुबंधी पुण्य का लाभ और अशुभ कर्मों की निर्जरा निश्चित है। इसी मंगल-भावना के साथ मैंने प्रस्तुत सम्पादन का कार्य किया है। सावधानी रखते हुए भी यदि कहीं अज्ञता से या प्रमाद से कोई गलत बात लिखी गई हो तो ''मिथ्या मे दुष्कृतं भूयात्''।

प्रस्तुत सूत्र के संपादन से मेरे ज्ञान में वृद्धि हुई है और सम्यग्दर्शन और चारित्र की विशुद्धि भी हुई है। मन की एकाग्रता एव वाक्-संयम में जो सुप्रवृत्ति रही है उससे मैं अपने को धन्य समझता हूं और आचार्य-प्रवर का भी मैं धन्यवादी हूं जिनकी कृपा से मैं अनेक दृष्टियों से लाभान्वित हो सका हूं। मेरा यह प्रयास ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विकास में सहायक हो और आध्यात्मिक जागृति की प्रेरणा देने वाला हो, यही मेरी हार्दिक मगल-कामना है।

—प्रवर्तक मुनि फूलचन्द्र 'श्रमण'

जैन-धर्म-दिवाकर जैनागम-रत्नाकर आचार्य-सम्राट्
श्रद्धेय श्री आत्माराम जी महाराज

व्यक्तित्व-दर्शन

तीर्थंकरों के चरणों से तीर्थरूप बनी भारतीय वसुन्धरा पर जन्म लेकर तरने और तारने वाले महापुरुषों की माला के प्रमुख रत्न जैन-धर्म-दिवाकर जैनागम-रत्नाकर श्रद्धेय श्री आत्माराम जी महाराज के आगम-पौरुष ने जैन संस्कृति को अक्षय गौरव प्रदान किया है।

राहों नगर की राहों में उस दिन आनन्दामृत बरस रहा था जिस दिन विक्रम सं 1939 के भाद्रपद-पद मास के शुक्लपक्ष की द्वादशी के दिन इस महापुरुष ने जन्म लिया था। शुक्लपक्ष ने उन्हे शुक्ल ध्यान के पक्ष में स्थिर किया और द्वादशी तिथि ने उन्हें द्वादशागी वाणी की प्रखर मर्मज्ञता प्रदान की। इस तप:पूत महापुरुष के पिता बनने का सौभाग्य मिला श्री मनसाराम जी चोपडा को और इन्हें परमेश्वरत्व के महापथ पर चलने की योग्यता प्रदान करने वाली माता परमेश्वरी का मातृत्व कृत- कृत्य हो गया उस महान् आत्मा के अवतरण से।

इनका सुकुमार शैशव पितृ-स्नेह और मातृ-ममता से मुक्त होकर स्वतन्त्र हो गया अटूट राग-बन्धनों से, अत: लुधियाना मे ये आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज एव श्री जयराम दास जी महाराज के विरक्त तपोनुरक्त जिनेन्द्र-भक्त साधुत्व की शरण मे आ गए और उनकी दिव्यदर्शिनी साधुता ने इन्हे भी पटियाला से 24 मील उत्तर मे स्थित 'छत बनूड़' की धरा पर सं. 1951 मे आषाढ मास की शुक्ल पंचमी को पचपरमेष्ठि के सान्निध्य मे साधनापथ का महापथिक बना दिया। इनके साधना- पथ को आलोकित किया श्रद्धेय श्री शालिग्राम जी महाराज ने।

इन्हे ज्ञानामृत-सरोवर में राजहंस के समान नीर-क्षीर विवेक के साथ विहार करते देख कर अमृतसर मे पूज्य आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज की प्रेरणा से पजाब के श्रीसघ ने इन्हें वि स. 1969 मे उपाध्यायपद से विभूतिष कर कहा 'नमो उवज्झायाणं'।

वि.सं. 1991 में देहली के चातुर्मास में इनके तप:पूत व्यक्तित्व में जैनत्व के सूर्य का प्रकाश पाकर श्रीसंघ ने 'जैन-धर्म-दिवाकर' कह कर इनका अभिनन्दन किया और 1993 में जब स्यालकोट में श्री लालचन्द जी महाराज की स्वर्ण-जयन्ती मनाई जा रही थी उस समय श्री लालचन्द जी महाराज की आज्ञा से श्रीसघ ने इन्हें 'साहित्य-रत्न' की उपाधि से अलंकृत कर अपनी कृतज्ञता व्यक्त की।

वि.स. 2003 आ गया। साधुत्व और उपाध्यायत्व मे इनकी सफलता इनके महतो महीयान पावन व्यक्तित्व को एक श्रेणी और आगे बढ़ा हुआ देखने को लालायित हो रही थी, अत: पंजाब के श्रमण-वृन्द एवं श्री-संघ ने पूज्य श्री काशीराम जी महाराज के स्वर्गस्थ होने पर इन्हें चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के उस दिन आचार्य-पदवी प्रदान की जो दिन भगवान महावीर के अवतरण से पावन हो चुका था।

इनकी अक्षय साधुत्व-साधना, श्रुत-सेवा एव महिमा-मण्डित पाण्डित्य से प्रभावित होकर

सादडी-सम्मेलन में एकत्रित मुनीश्वरो ने इन्हें अक्षय तृतीया स. 2009 के पावन दिवस पर श्रमण-सघ का प्रथम प्रधानाचार्य घोषित कर इनके प्रति अपनी श्रद्धा समर्पित की। श्री सघ कृत-कृत्य हुआ।

आचार्य श्री के पावन सन्तत्व के समक्ष लब्धिया मस्तक झुकाए रहती थीं, आगम-विद्या मानो उनके समक्ष साकार हो उठी थी, लगता था कि शास्त्र-ज्ञान का अक्षय उद्गम-स्रोत उनकी दिव्य आत्मा से ही फूट रहा है, उनकी तपोमयता के अलोक मे "अहिसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:" रूप उक्ति की चरितार्थता स्पष्ट देखी जा सकती थी। उनके दिव्य ज्ञान के समक्ष अनेकों पण्डितों विद्वानो के पाण्डित्य नत-मस्तक हो जाते थे, उनके आन्तरिक उल्लास की छाया मे पहुच कर उदासी भी हसने लगती थी, खिन्नता की खिन्नता भी नष्ट हो जाती थी, लगता था उनके महिमा-मण्डित व्यक्तित्व के महान् सिन्धु मे महावीर की निस्पृहता, बुद्ध की करुणा, श्री कृष्ण का कर्मयोग, पाणिनि का पाण्डित्य, कणाद के अकाट्य तर्क एवं गांधी जी की सर्वोदय भावना के महानद आकर मिल गए हैं।

मेरे श्रद्धेय ज्येष्ठ गुरु भ्राता श्री खजानचन्द जी महाराज को मै आचार्य श्री रूपी चन्द्र का दिव्यालोक कह सकता हू, इसी दिव्यालोक ने अर्थात् श्री खजानचन्द जी महाराज ने अपने शिष्य-रत्न के रूप मे श्री सघ को प्रदान किये श्री फूलचन्द जी महाराज 'श्रमण' जो इस समय पजाब-प्रवर्तक हैं, जिन्हे स 2032 मे चण्डीगढ़ में एकत्रित श्री संघ ने 'जैन-धर्म-दिवाकर' कह कर सम्मानित किया है, जिनके प्रखर पाण्डित्य ने आचार्य श्री की ग्रन्थ-राशि के सम्पादन का दायित्व निभाते हुए इस महान् शास्त्र का सम्पादन किया है। उनके अन्य शिष्य-रत्नो मे उप-प्रवर्तक पण्डित श्री हेमचन्द्र जी महाराज (प्रश्नव्याकरण सूत्र के व्याख्याता) की कीर्ति का प्रकाश सर्वत्र फैल रहा है। पण्डितरत्न श्री ज्ञान मुनि जी महाराज की विद्वत्ता एव उनके प्रभावशाली सन्तत्व की महिमा से कौन अपरिचित है? श्री प्रकाश मुनि जी महाराज का तप· प्रकाश सर्वत्र विकीर्ण हो रहा है, समस्त दक्षिण-पूर्वी भारत में जिनके तप:पूत पाण्डित्य से परिपूर्ण व्यक्तित्व का सर्वत्र जय-जयकार हो रहा है उन उत्कल-केसरी श्री मनोहर मुनि जी 'कुमुद' के असाधारण मुनित्व के चरणों मे कौन नत-मस्तक न होगा?

जैन-विभूषण भण्डारी श्री पद्मचन्द जी महाराज, व्याख्यान-वाचस्पति श्री क्रान्ति मुनि जी महाराज और प्रवचन-भूषण श्री अमर मुनि जी महाराज आदि अनेक मुनीश्वर आचार्य श्री के चरणो से ही साधना का आलोक प्राप्त कर सके।

सन् 1962 की जनवरी का अन्तिम दिन हमारे लिए आचार्य श्री के अन्तिम दर्शनों का दिन था। उस दिन वे चले गए उन देवलोकों की ओर जिनसे वे आए थे विश्व को ज्ञान का आलोक देने के लिए। वे चले गए हैं भौतिक दृष्टि से, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वे विराजमान है आज भी मेरे हृदय मन्दिर में, वे अमर हैं अपनी लगभग 46 कृतियों के रूप में। मैं स्थानाङ्ग-सूत्र के प्रत्येक शब्द में आज भी दर्शन कर रहा हूं अपने आराध्य गुरुदेव के और कह रहा हूं—

नमस्कार स्वीकार कीजिए, पूज्यदेव श्री आत्माराम।।

—रत्न मुनि

अपने संघ, संस्था एवं घर में अपना पुस्तकालय

'भगवान महावीर मेडीटेशन एण्ड रिसर्च सेन्टर ट्रस्ट' के अन्तर्गत 'आत्म-ज्ञान- श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति' द्वारा आचार्य सम्राट् पूज्य श्री शिवमुनि जी म.सा. के निर्देशन में श्रमण सघीय प्रथम पट्टधर आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी म. सा द्वारा व्याख्यायित जैन आगमों की टीकाओं का पुनर्मुद्रण एवं संपादन कार्य द्रुतगति से चल रहा है। श्री उपासकदशाग सूत्रम् , श्री अनुत्तरौपपातिक सूत्रम् , श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् भाग 1-2-3 अतकृद्दशांग सूत्रम्, श्री आचारांग सूत्रम् (प्रथम तथा द्वितीय श्रुतस्कध), श्री दशवैकालिक सूत्रम्, श्री नन्दीसूत्रम्, श्री विपाकसूत्रम्, श्री निरयावलिका सूत्रम्, श्री दशाश्रुतस्कध सूत्रम्, श्री स्थानाङ्ग सूत्रम् आदि आगम प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रकाशन योजना के अन्तर्गत जो भी श्रावक सघ अथवा संस्था या कोई भी स्वाध्यायी बन्धु आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी म.सा. के आगमों के प्रकाशन में सहयोग देना चाहते हैं एव स्वाध्याय हेतु आगम प्राप्त करना चाहते है, उनके लिए एक योजना बनाई गई है। 11,000/- (ग्यारह हजार रुपए मात्र) भेजकर जो भी इस प्रकाशन कार्य में सहयोग देंगे उनको प्रकाशित समस्त आगम एव आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म.सा द्वारा लिखित समस्त साहित्य तथा "आत्म दीप" मासिक पत्रिका दीर्घकाल तक प्रेषित की जाएगी। इच्छुक व्यक्ति निम्न पतो पर सम्पर्क करे:—

(1) भगवान महावीर मेडीटेशन एण्ड रिसर्च सेन्टर ट्रस्ट
आदीश्वर धाम, सन्मति नगर, कुप्प कलां, जि सगरूर (पजाब)
(लुधियाना-मालेर कोटला रोड पर स्थित)

(2) श्री प्रमोद जैन
द्वारा : श्री श्रीपाल जैन, पुराना लोहा बाजार
पो : मालेर कोटला, जिला : संगरूर, (पंजाब)
फोन : 0167-5258944

(3) श्री अनिल जैन
1924, गली नं 5, कुलदीप नगर,
लुधियाना-141008 (पंजाब)
फोन : 9417011298

श्री स्थानांग सूत्रम्

अनुक्रमणिका

*** प्रथम स्थान : सूत्र संख्या-६२ ***

*** द्वितीय स्थान : सूत्र संख्या-८४ ***

प्रथम उद्देशक

द्वितीय स्थान : द्वितीय उद्देशक

द्वितीय स्थान . तृतीय उद्देशक

द्वितीय स्थान : चतुर्थ उद्देशक

प्रथम उद्देशक

तृतीय स्थान : द्वितीय उद्देशक

तृतीय स्थान : तृतीय उद्देशक

तृतीय स्थान : चतुर्थ उद्देशक

*** चतुर्थ स्थान : सूत्र संख्या १७५ ***

प्रथम उद्देशक

चतुर्थ स्थान : द्वितीय उद्देशक

चतुर्थ स्थान : तृतीय उद्देशक

चतुर्थ स्थान : चतुर्थ उद्देशक

●●●

नमन

वीर प्रभु महाप्राण, सुधर्मा जी गुणखान।

अमर जी युगभान, महिमा अपार है।

मोतीराम प्रज्ञावन्त, गणपत गुणवन्त।

जयराम जयवन्त, सदा जयकार है।।

ज्ञानी-ध्यानी शालीग्राम, जैनाचार्य आत्माराम।

ज्ञान गुरु गुणधाम, नमन हजार है।

ध्यान योगी शिवमुनि, मुनियों के शिरोमणि।

पूज्यवर प्रज्ञाधनी शिरीष नैया पार है।।

श्री स्थानाङ्ग-सूत्रम्

प्रथम स्थान

सामान्य-परिचय :

स्थानांग सूत्र के इस प्रथम स्थान में सामान्य दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ के एकत्व का प्रतिपादन किया गया है।

आगम-प्रस्तावना

मूल—सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं ॥१॥

छाया—श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवता एवमाख्यातम्।

शब्दार्थ—आउसं—हे आयुष्मन् शिष्य! **मे**—मैंने; **सुयं**—सुना है; **तेणं**—उन, **भगवया**—भगवान् ने, **एवं**—इस प्रकार, **अक्खायं**—प्रतिपादन किया है।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् शिष्य ! मैंने सुना है, उन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने इस प्रकार से तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन किया है।

विवेचनिका—जैन-इतिहास की मान्यता है कि वर्तमान काल में जो आगम-साहित्य उपलब्ध है, वह सब श्री सुधर्मा स्वामी जी द्वारा संगृहीत है अर्थात् उन्होंने अपने प्रिय शिष्य श्री जम्बू स्वामी के प्रश्न करने पर भगवान् श्री महावीर से श्रुत एवं अर्थत: गृहीत धर्म-प्रवचनों को उत्तर के रूप में कहा और ग्रन्थ के रूप में निबद्ध किया है, अतएव जहां कहीं **"सुयं मे..........एवमक्खायं"** इत्यादि पाठ आगमों के प्रारंभ में आए हैं, वहां यही अर्थ लिया जाता है कि श्री सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू से कहते हैं कि—"हे आयुष्मन् जम्बू! मैंने सुना है कि भगवान् महावीर ने इस भांति कथन किया है।" अतएव स्थानांग सूत्र के प्रस्तुत प्रस्तावना-सूत्र का भी यही भाव ग्रहण करना चाहिए। वृत्तिकार अभयदेव सूरि भी यही लिखते हैं—

'इह किल सुधर्मा स्वामी पञ्चमो गणधरदेवो जम्बू नामानं स्वशिष्यं प्रति प्रतिपादयाञ्चकार—श्रुतम्—आकर्णितं मे—मया' इत्यादि।

जो निर्णय ऊपर दिया गया है उसके सम्बंध में एक प्रश्न उठता है कि नन्दी सूत्र में द्वादशांगी गणिपिटक को नित्य बतलाया गया है। जब द्वादशांगी नित्य है तो फिर नित्य का कर्त्ता कौन हो सकता है? जब कोई कर्त्ता ही नहीं तो यहां पर सुधर्मा स्वामी के कर्तृत्व का उल्लेख किस आधार पर किया गया है?

उत्तर में निवेदन है कि नन्दीसूत्र का पाठ और हमारा कर्तृत्व वाला उल्लेख दोनों ही मूलत: दो दृष्टियों पर अवलंबित हैं, अत: दोनों ही सत्य हैं। स्वरूप की दृष्टि से आगमों के दो रूप हैं—अर्थ-प्रधान और शब्द-प्रधान। अर्थ की दृष्टि से आगम नित्य हैं और अनादि हैं, अत: वे निर्माण-काल की सीमाओं से बाहर हैं, परन्तु सूत्र की दृष्टि से वे आदिमय एवं सान्त हैं, अत: कर्त्ता के द्वारा निर्मित हैं। आगम-साहित्य के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य श्री मलयगिरि भी इस सम्बन्ध में प्रज्ञापना सूत्र की टीका करते हुए इस प्रकार लिखते हैं—

'तत्त्वपर्यालोचनायां तु सूत्रार्थोभयरूपत्वादागमस्यार्थापेक्षया नित्यत्वात्, सूत्रापेक्षया चानित्यत्वात् कथञ्चित् कर्तृसिद्धि:।'

जीवन पथ पर प्रकाश

प्रस्तुत सूत्र जीवन के पथ पर प्रकाश फैलाता हुआ प्रेरणा देता है कि—

गुरु-भक्ति

श्री सुधर्मा स्वामी चार ज्ञान एवं चौदह पूर्वों के महान् विद्वान थे। इतिहासकारों ने उन्हें **'अजिणा जिणसंकासा'** अजिन होते हुए भी जिन के समान बतलाया है, यदि वे सूत्रोक्त ज्ञान-गौरव के प्रतिपादन का श्रेय स्वयं को ही दे देते तो इसमें भी किसी को कोई आपत्ति न होती, परन्तु वे गुरु-भक्त थे, भला वे अपने ज्ञानोपदेश-दाता गुरुदेव भगवान् महावीर को कैसे भूल सकते थे? अपने प्रिय शिष्य जम्बू से वे यही कहते हैं कि यह जो कुछ तत्त्व ज्ञान है वह सब भगवान् महावीर की देन है, मैं तो उस ज्ञान का प्रवक्ता मात्र हूँ, अत: मैंने गुरुदेव से जो कुछ सुना है, वही मैं तुझ से कहता हूँ।

सुधर्मा स्वामी शब्दत: शास्त्र के निर्माता होते हुए भी गुरु-भक्ति के कारण अपने आपको प्रवक्ता मात्र कहते हुए भावी शिष्यों का पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं और यह संकेत दे रहे हैं कि गुरु-भक्ति के द्वारा गृहीतज्ञान ही सफल और प्रभावशील हो सकता है, सत्य पर आधारित ज्ञान गुरुभक्ति के प्रकाश में ही मुक्ति-पथ को आलोकित कर सकता है।

प्रतिपादन शैली

श्री सुधर्मा स्वामी प्रमुख गणधर होते हुए भी अत्यन्त विनम्र, मृदुभाषी एवं शिष्य

हिताकांक्षी थे। वे गर्व से या तिरस्कार से ऐसी कोई बात नहीं कहते जिससे कि शिष्य का हृदय विक्षुब्ध हो जाए और वह अच्छी तरह वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त न कर सके। उनकी कथन शैली शान्तिपूर्ण है, आनन्ददायिनी है और गंभीर से गंभीर विषय को भी सरलता से प्रस्तुत करने वाली है।

श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू जी को **'आयुष्मन्'** शब्द से संबोधित करते हैं। यह सम्बोधन अतीव सुकोमल है, मृदु है, इसमें स्नेह एवं सम्मान के साथ-साथ शिष्य के ऐसे पुण्यशील दीर्घायुष्य की मंगलकामना है जिससे वह गृहीत ज्ञान का सन्देश जन-जन तक पहुंचाने का सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है। आज का शिक्षा-मनोविज्ञान छात्र के सम्मान की जिस खोज के अन्वेषण का ढोल पीटता है, वह नवीन नहीं प्राचीन है—जैन-संस्कृति की देन है। समस्त आगम-साहित्य इस का निदर्शन है।

श्रुतज्ञान

सूत्रकार ने जो सर्वप्रथम 'सुयं'—'श्रुतं' शब्द दिया है, वह श्रुतज्ञान की महत्ता एवं पांचों ज्ञानों में श्रुतज्ञान की मुख्यता सूचित करता है। श्रुतज्ञान ही वह ज्ञान है, जो जीवन में सबसे पहले सम्यग्ज्ञान के प्रकाश को जन्म देता है और फिर क्रमशः उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि करता हुआ निर्वाण पद की प्राप्ति में सहायक होता है। इसीलिये कहा गया है:—

'तहारूवं भंते! समणं वा माहणं वा पज्जुवासमाणस्स किं फला पज्जुवासणा?

गोयमा! सवणफला।

से णं भंते! सवणे किं फले? नाणफले।

से णं भंते! नाणे किं फले? विण्णाणफले।

से णं भंते! विण्णाणे किं फले? पच्चक्खाणफले।

से णं भंते! पच्चक्खाणे किं फले? संजमफले।

से णं भंते! संजमे किं फले? अणण्हयफले, एवं अणण्हयं तवफले, तवे वोदाणफले, वोदाणे अकिरियाफले।

से णं भंते! अकिरिया किं फला? सिद्धिपज्जवसाणफला।'

—भग० श० २, उ० ५, सू० ११२।

श्रुतज्ञान मोक्षमार्ग को प्रशस्त करता है और जीवन में अखण्ड शान्ति का साम्राज्य स्थापित करता है, उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् बतलाते हैं कि श्रुतज्ञान की आराधना से अज्ञान की समाप्ति हो जाती है और फिर कभी जीवन में संक्लेश भाव उत्पन्न नहीं होता। समस्त संक्लेशों का मूल अज्ञान है और जब वह श्रुतज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाता है तब जीवन के सभी क्लेश स्वयं ही समाप्त हो जाते हैं।

श्रुतज्ञान की महत्ता के सम्बन्ध में एक और भी बात है। पाँच ज्ञानों में श्रुतज्ञान ही सर्वदर्शी व्यापक ज्ञान है, अतः इसे केवलज्ञान के समकक्ष माना गया है। प्रज्ञापना सूत्र के पासणया पद में लिखा है कि श्रुतज्ञान त्रिकालग्राह्य है अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों का ज्ञान कराने वाला है, इस दृष्टि से श्रुतज्ञान अन्य ज्ञानों से विशिष्ट ठहरता है। श्री नन्दीसूत्र में भी श्रुतज्ञान की उसी महत्ता को स्पष्ट किया गया है जो प्रज्ञापना सूत्र में वर्णित की गई है।

सूत्रकार ने दूसरा शब्द '**मे**' दिया है जिस का अर्थ '**मया**' अर्थात् '**मैंने**' होता है, इसका अन्तरंग आशय यह है कि श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं—''जम्बू! यह तत्त्वज्ञान मैंने भगवान् महावीर से सुना है—उनके श्री चरणों में बैठकर उन्हीं से प्राप्त किया है।

सूत्रकार ने '**मया**' तृतीया विभक्ति के स्थान में '**मे**' का प्रयोग किया है। यद्यपि युष्मद् शब्द को '**मे**' आदेश केवल षष्ठी और चतुर्थी विभक्ति के एक वचन में ही होता है, परन्तु यहां '**मे**' तृतीया विभक्ति-प्रतिरूपक अव्यय है। जिसका विधान अर्धमागधी व्याकरण में किया गया है।

प्राचीन काल में आयुसम्बन्धी शब्द आशीर्वाद का वाचक रहा है। क्या जैन और क्या जैनेतर सभी परंपराओं में इसका एक सा महत्त्व था। जैन साहित्य में इसका प्रयोग 'आयुष्मन्' के रूप में बहुलता से देखा जाता है। वैदिक साहित्य में भी '**जीवेम शरदः शतम्**' आदि मंत्रों में दीर्घ आयु की ही अभिलाषा व्यक्त की गई है। धार्मिक आचार में ही नहीं, लोकाचार में भी आयु का विशेष महत्त्व रहा है। औपपातिक सूत्र में जहां कूणिक सम्राट् का भगवान् महावीर के दर्शन करने जाने का उल्लेख है, वहां भी राजा के लिये आयु-वृद्धि का ही आशीर्वाद दिया गया है।

जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति में भी वर्णन आया है कि जब भरत चक्रवर्ती दिग्-विजय करके वापिस अयोध्या में लौटे तो परिजनों ने उनका आयुवृद्धि सूचक मंगलमय शब्दों से स्वागत किया।

क्या धर्म-पक्ष और क्या संसार-पक्ष दोनों में ही आयु की महत्ता है। धर्म पक्ष में जब तक आयु है, तभी तक सत्य, संयम, शील और अहिंसा आदि गुणों का पालन करते हुए जीवन को मोक्षमार्ग पर अग्रसर किया जा सकता है। जब जीवन ही नहीं रहा तो फिर धर्म का पालन कैसा? संसार पक्ष में भी जो कुछ वैभव भोग-विलास अथवा परोपकारिता आदि हैं, वे सभी जीवन के अस्तित्व में ही हैं। आयु की समाप्ति के बाद सब कुछ ओझल हो जाता है।

शास्त्रकारों ने दश प्राण बतलाए हैं, जैसे कि—(१) श्रोत्रेन्द्रिय बलप्राण, (२) चक्षुरिन्द्रिय बलप्राण, (३) घ्राणेन्द्रिय बलप्राण, (४) रसनेन्द्रिय बलप्राण, (५) स्पर्शनेन्द्रिय बलप्राण,

(६) मनोबलप्राण, (७) वचन बलप्राण, (८) कायबलप्राण, (९) श्वासोच्छ्वास बलप्राण, (१०) आयु बलप्राण। उक्त दश प्राणों में आयु बलप्राण ही महत्त्वपूर्ण है। अन्य प्राणों की अवस्थिति आयु के साथ ही है। जब आयुबल प्राण समाप्त हो जाता है तो अन्य नव प्राण स्वत: ही समाप्त हो जाते हैं।

संसार में जितने भी प्राणी हैं, उन्हें आयु प्रिय है, कोई भी ऐसा जीव नहीं है जो जीना न चाहता हो। भगवान् महावीर ने आचारांग सूत्र में अहिंसाधर्म की व्याख्या करते हुए इस सम्बन्ध में बड़ा ही हृदयग्राही उल्लेख किया है :—

'सव्वे पाणा पियाउया, अप्पियवहा, सुहसाया दुक्खपडिकूला,
सव्वे जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं ति।'

इस सूत्र में 'आयुष्मन्' संबोधन इसी गम्भीर आशय को लेकर प्रयुक्त हुआ है। सर्व साधारण 'आयु' एवं जीवन शब्द से केवल आयुष्कर्म का ही भाव ग्रहण करते हैं, परन्तु आगम साहित्य के टीकाकार नाम, स्थापना, द्रव्य, ओघ, भव, तद्भव, भोग, संयम, यश और कीर्ति इस तरह दश प्रकार का जीवन मानते हैं :—

नाम-जीवन:—सजीव या निर्जीव पदार्थों का जीवन नाम रखना नाम-जीवन है।

स्थापना-जीवन:—सजीव या निर्जीव पदार्थों की स्वरूप स्थापना करना स्थापना-जीवन है।

द्रव्य-जीवन:—जीवितव्य (जीने की योग्यता) का कारण द्रव्य-जीवन कहलाता है।

ओघ-जीवन:—नारकी आदि का आयुरूप सामान्य जीवन ओघ-जीवन होता है।

भव-जीवन:—नारक आदि भव विशिष्ट रूप जीवन भव-जीवन माना जाता है।

तद्भव-जीवन:—मनुष्यादि का मृत्यु के अनन्तर मनुष्यादि का ही जीवन होना, समान जाति होने से इसको तद्भव जीवन कहते हैं।

(देव और नारकी का तद्भव जीवन नहीं होता।)

भोग-जीवन:—जिनके जीवन का मुख्य लक्ष्य भोग है, चक्रवर्ती आदि राज-पुरुषों का जीवन भोग-जीवन होता है।

संयम-जीवन:—जिनके जीवन का मुख्य ध्येय संयम है और संयम में ही जीवन-यापन कर रहे हैं अर्थात् साधु-पुरुषों का जीवन संयम-जीवन है।

यशो-जीवन:—यशरूप जीवन, अर्थात् जिसका यश दिग्दिगन्तरों में व्याप्त है, वह यशोजीवन कहलाता है।

कीर्ति-जीवन:—जिस जीवन की ख्याति एक ही दिशा की ओर फैली हुई है उसे कीर्ति-जीवन कहते हैं।

यश और कीर्ति में विशेष अन्तर यह है—रूप, बल, शौर्य, वीरता, कला-कौशल

आदि से जो प्रसिद्धि होती है उसे '**यश**' कहते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, दान, शील, सेवा, परोपकार आदि से जो प्रसिद्धि होती है उसे कीर्ति कहते हैं, अथवा सभी जातियों और कुलों में जिस के प्रति सम्मान है वह यश कहलाता है, और किसी एक सम्प्रदाय व राजनैतिक दल में जिस की ख्याति है वह कीर्ति कहलाती है।

टीकाकारों ने उक्त दश प्रकार के जीवनों में से आयुष्मन् सम्बोधन के साथ '**संयमायुषां यशःकीर्त्यायुषः**' का सम्बन्ध जोड़ा है। उनका कहना है कि श्री सुधर्मा जी जंबू स्वामी को जो '**आयुष्मन्**' कहते हैं उनका यह भाव है कि '**हे संयमशालिन्! हे यशस्विन्! हे कीर्तिमन्!**'

सूत्रकार ने चतुर्थ शब्द '**तेणं**' लिखा है उसका संस्कृत रूप '**तेन**' और हिन्दी अर्थ '**उसने**' होता है। यह शब्द भी गम्भीर आशय को प्रकट करता है। तत् शब्द का सामान्य अर्थ '**वह**' होता है, किन्तु उसका विशेष अर्थ '**प्रसिद्ध**' है, अतएव '**तेणं**' का अर्थ जगत्प्रसिद्ध किया जाता है। '**तेणं**' शब्द '**भगवया**' शब्द का विशेषण है, अतः इसका सम्मिलित अर्थ—'**जगत्प्रसिद्ध भगवान् ने ऐसा कहा है**'—यह होता है।

भगवान् किस रूप में प्रसिद्ध थे ?

भगवान् महावीर क्या समीपस्थ और क्या दूरस्थ, क्या स्थूल और क्या सूक्ष्म क्या बाह्य और क्या आध्यात्मिक, सभी पदार्थों के विषयों के पूर्णतया ज्ञाता थे—सर्वज्ञ थे, अतः उनका वचन सर्वत्र अव्याहत था —खण्डित नहीं होता था, वे संसार में पूर्ण-आप्त के नाम से प्रसिद्ध थे।

भगवान् महावीर ने अनादिकालीन मिथ्यादर्शन आदि वासनाओं को नष्ट कर दिया था, सम्पूर्ण राज्य वैभव छोड दिया था, पूर्वभवोपार्जित तीर्थंकर नामकर्मोदय के प्रभाव से संसार में धर्म-चक्र का प्रवर्तन करके पापाचार का मूलोच्छेदन किया था। उन पर साधना काल में अनेक-अनेक भयानक उपसर्ग आए, परन्तु वे शुक्लध्यान के पथ से अणुमात्र भी विचलित न हुए। घनघाती कर्म रूप अभ्रपटल को नष्ट करके उन में अपूर्व केवलज्ञान रूपी सूर्यमण्डल प्रकाशित हो उठा। भगवान् का इतना प्रताप था कि बड़े-बड़े स्वर्गाधिपति इन्द्र भी उनके चरण-कमलो में शीश झुकाए रहते थे।

भगवान् महावीर के समय भारत की दयनीय दशा थी, चारों ओर अत्याचार का साम्राज्य था, परन्तु भगवान् ने केवलज्ञान प्राप्त करके मध्य अपापा नगरी में जो सर्व प्रथम सार्वजनिक प्रवचन किया, उससे पापाचार की काली घटाएं छिन्न-भिन्न हो गईं। अपने समय में वेदों के उद्भट विद्वान श्री गौतम ने भगवान् के श्रीचरणों में आकर मुनि-दीक्षा ग्रहण की, जिससे अहिंसा धर्म का सूर्य संसार में और भी चमक उठा। भगवान् महावीर सभी विशेषताओं के पुञ्ज थे, सर्वज्ञ थे, महान् थे।

सूत्रकार ने पांचवां पद '**भगवया**' दिया है, जिसका संस्कृत रूपान्तर '**भगवता**' होता है। हिन्दी भाषा में इसका अर्थ किया जाता है, '**भगवान् ने**' यह तृतीया विभक्ति के एक वचन का रूप है और आख्यात क्रिया का कर्त्ता है।

भगवान् शब्द का अर्थ

भगवान् शब्द '**भग**' शब्द से '**मतुप्**' प्रत्यय लगने से बनता है, जिसका अर्थ भगवाला होता है। अब देखना है कि 'भग' शब्द का क्या अर्थ है? संस्कृत साहित्य में भग शब्द के १४ अर्थ बतलाए गए हैं। कल्पसूत्र की सुखबोधिका टीका में श्री विनयविजय जी लिखते हैं—

भगोऽर्कज्ञानमाहात्म्य-यशोवैराग्यमुक्तिषु।
रूपवीर्यप्रयत्नेच्छा - श्रीधर्मैश्वर्ययोनिषु॥

अर्थात् भग शब्द अर्क, ज्ञान, माहात्म्य, यश, वैराग्य, मुक्ति, रूप, वीर्य, प्रयत्न, इच्छा, श्री, धर्म, ऐश्वर्य और योनि इन १४ अर्थों में रूढ है। उपर्युक्त श्लोक में जो चौदह अर्थ लिखे हैं उन में से आदि और अन्त के अर्थों को छोड़ कर शेष सभी अर्थ भगवान् शब्द से गृहीत हैं, अतः 'भगवान्' विशेषण के द्वारा श्री सुधर्मा स्वामी यह प्रकट करना चाहते हैं कि श्री महावीर ज्ञानवान्, माहात्म्यवान्, यशस्वी, वैराग्यशील, मुक्ति के अधिष्ठाता, रूप-सम्पन्न, वीर्यवान्, प्रयत्नशील, इच्छाओं के अधिष्ठाता, श्रीसम्पन्न एवं धर्मरूप थे।

सूत्रकार ने केवल '**भगवया**' इस विशेषण मात्र का प्रयोग किया है विशेष्य का नहीं। परन्तु विशेष्य के साथ प्रयुक्त विशेषण ही अर्थ बोध का स्थापक होता है। ऐसी दशा में केवल '**भगवया**' शब्द का प्रयोग अर्थहीन सा प्रतीत होता है, किन्तु यहां यह ज्ञातव्य है कि अर्थ प्रसंगापेक्ष होता है, अतः यहा प्रसंग के द्वारा भगवान् शब्द से विशेष्य भगवान् महावीर का ही ग्रहण होता है। ऐसे ही स्थलों में विशेषण शब्द विशेष्य के रूप में रूढ़ हो जाया करते हैं, अतः आगमों में भगवान् शब्द महावीर स्वामी के लिये रूढ़ होकर विशेष्य के रूप में ही प्रयुक्त होता है।

सूत्रकार ने छठा शब्द '**एवं**' लिखा है, जो कि अव्यय है। इस अव्यय का अर्थ है "इस प्रकार"। भाव यह है—'जम्बू! मैं जो कुछ तेरे आगे कहूंगा, वह सब भगवान का ही कहा हुआ है।

'**एवं**' शब्द के प्रयोग से ध्वनित होता है कि सुधर्मा स्वामी की ओर से स्थानांग-सूत्र में किसी प्रकार की मति कल्पना नहीं है, जो कुछ भी है उनके अपने शब्दों में भगवान् का कथन है।

सूत्रकार ने सातवां शब्द '**अक्खायं**' दिया है, जिसका संस्कृत रूपान्तर '**आख्यातम्**' होता है। यह शब्द '**आङ्' पूर्वक 'ख्या' प्रकथने** धातु से भूतकाल में 'क्त' प्रत्यय लगने से निष्पन्न हुआ है। हिन्दी में इसका 'भलीभांति कहा है' यह अर्थ होता है।

'आख्यात' शब्द के प्रयोग का यह आशय है कि भगवान् महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है उनका प्रवचन शुद्ध, सरल, स्वच्छ और स्पष्ट होता है, उसमें शब्दविन्यास अर्थ-बोधक होता है, क्योंकि 'ख्या' धातु का अर्थ है 'प्रकथन' अर्थात् प्रकर्ष कथन—पूर्णकथन—स्पष्ट कथन। कुछ एक विचारक भगवान् की वाणी को अनक्षर एवं "ध्वन्यात्मक" मानते हैं, परन्तु उक्त उल्लेख से भगवान् की वाणी अनक्षर थी, "ध्वन्यात्मक" थी, इस कथन का निराकरण स्वत: हो जाता है। सम्पूर्ण शरीर से मृदंग की ध्वनि के समान निकलने वाला अनक्षर शब्द किसी भी अर्थ का बोधक नही कहा जा सकता और जब अर्थ का बोध ही नहीं हुआ तो धर्मोपदेश देने से लाभ ही क्या? अत: तीर्थंकरों की वाणी अक्षरात्मक स्वीकार करना ही युक्ति संगत है। अक्षरात्मक स्वीकार करने से ही भाषा का वास्तविक रूप व्यक्त होता है।

पौरुषेय? या अपौरुषेय?

'आख्यात' शब्द के प्रयोग का दूसरा भाव यह भी है कि आगम पौरुषेय हैं, अपौरुषेय नहीं। किसी भी अक्षर का उच्चारण बिना पुरुष-प्रयत्न के नहीं हो सकता, क्योंकि अक्षरों के उत्पत्ति स्थान तालु, कण्ठ आदि शरीर के अग ही हैं और वे अंग पुरुष अर्थात् शरीरधारी के बिना हो नहीं सकते, अत: अक्षरों का पुरुष-प्रयत्न होना स्वाभाविक है। मीमांसा-शास्त्र के निर्माता महर्षि जैमिनी वेदों को अपौरुषेय कहते हैं, परन्तु उनका यह कथन तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। 'शब्द-प्रमाण' की प्रामाणिकता आप्तवचन होने के कारण ही है और जब कोई भी ग्रन्थ आप्तवचन के रूप में माना जाता है। तब अपौरुषेयतावाद स्वय ही ध्वस्त हो जाता है। इसी बात को लेकर एक आचार्य कहते हैं कि:—

इदमच्चन्त विरुद्धं वयणं च अपौरुसेयं च।

अर्थात् यह अत्यन्त विरुद्ध वचन है कि वचन भी हो और अपौरुषेय भी, क्योंकि वचन का अन्वय-व्यतिरेक पौरुषेय के साथ है अपौरुषेय के साथ नहीं।

यह आगम सम्बन्धी पौरुषेयतावाद केवल शब्दांश को लेकर ही है, अर्थांश को लेकर नहीं, अर्थांश की दृष्टि से तो आगम अनादि और अपौरुषेय ही हैं।

पाठान्तर एवं रूपान्तर

आउसं और **तेणं** ये दो भिन्न-भिन्न पद न मानकर '**आउसंतेणं**' यह एक पद भी माना जाता है और इस दशा में वह भगवान् का विशेषण होता है। तब इस पद का अर्थ होगा "**आयुष्मता भगवता एवमाख्यातम्**"—अर्थात् आयुष्मान् भगवान् ने ऐसा कहा है। इसका अभिप्राय यह होगा कि 'भगवान् ने अपने जीवन काल में ऐसा कहा था?' निर्वाण होने के पश्चात् उन्होंने आकाशवाणी के रूप में कुछ नहीं कहा, क्योंकि मुक्तावस्था में आत्मा पूर्ण शुद्ध एवं शरीर रहित हो जाता है, अत: वहां वाणी के प्रयोग की कल्पना भी नहीं की

जा सकती है, अतः जो संप्रदाय मुक्तावस्था में भी धर्मोपदेश के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं उनका कथन न्याय-संगत नहीं है।

'आउसंतेणं' के स्थान में कहीं-कहीं **'आवसंतेणं'** पाठ भी आता है और वह **मया** का विशेषण होता है। **'आङ्'** उपसर्गपूर्वक **'वस्'** धातु से **'शतृ'** प्रत्यय के द्वारा यह शब्द निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ यह है कि गुरु प्रदर्शित मर्यादा में रहते हुए मैंने सुना है।

गुरु-सेवा में रहने से ही वस्तुतः ज्ञान की प्राप्ति होती है। जो शिष्य गुरु-सेवा में न रहकर गुरूपदिष्ट मर्यादा का परिपालन न कर, तत्त्वज्ञानी बनना चाहते हैं, उनकी यह इच्छा केवल गगनारविन्द वत् है। **'आवसंतेणं'** यह पाठ भी विनय-धर्म की अनिवार्यता को प्रमाणित करता है।

'आउसंतेणं' के स्थान में **'आमुसंतेणं'** के रूप मे भी पाठान्तर मिलता है, उसका संस्कृत रूप **'आमृशता'** होता है। हिन्दी में इसका भाव यह है कि भगवान् के चरणकमलों को भक्ति के साथ करतल आदि से स्पर्श करते हुए मैंने यह सुना है। **'आमुसंतेणं'** का सम्बन्ध **'मे'** मया से ही ठीक बैठता है।

'आउसंतेणं' का संस्कृत रूपान्तर करने में भी मतभेद है; कुछ आचार्य इसका संस्कृत रूप **'आयुष्मता'** न बनाकर **'आजुषमाणेन'** बनाते हैं और इसका सम्बन्ध **'मया'** से जोड़ते है। उक्त रूपान्तर का भाव यह है कि श्रवण-विधि की मर्यादा में रहते हुए मैने इस भांति सुना है। इसका अभिप्राय है कि जब गुरुदेव का धर्म-प्रवचन श्रवण करे तो पूर्णतया सावधानी के साथ सुनना चाहिए, बीच-बीच में विकथा आदि का प्रसग चलाकर दुर्लक्ष्य करके गुरुवाणी का अपमान नही करना चाहिए।

आत्म-वर्णन

मूल—एगे आया ॥ २ ॥

छाया—एक आत्मा।

शब्दार्थ—एगे—एक, **आया**—आत्मा है।

मूलार्थ—सामान्य रूप से आत्मा एक है।

विवेचनिका—सूत्रकार ने केवल दो शब्दों मे सूत्र का न्यास करते हुए कहा है **'एगे आया'** आत्मा एक है। यहां 'एक' शब्द विधेय है और 'आत्मा' शब्द उद्देश्य है, इस प्रकार आत्मा में एकत्व का विधान किया गया है।

प्रश्न होता है कि आत्मा के एकत्व का सिद्धांत तो ब्रह्म-वादियों का अर्थात् वेदान्त मतानुयायियों का है। उनका कथन है—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत् ॥

अर्थात् समस्त संसार में एक ही आत्मा है जो प्रत्येक प्राणी में अवस्थित है, परिदृश्यमान नानात्व केवल माया के ससर्ग के कारण प्रतिभासित होता है। आकाश में चन्द्रमा एक ही है, किन्तु पृथ्वीस्थ जलपूरित विविध घटों में प्रतिबिंबित होकर वह अनेक रूपों में भासित होता है।

किन्तु जैन-दर्शन की मान्यता तो इसके सर्वथा विपरीत है। वह तो आत्माओ का अनन्त होना स्वीकार करता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि—

अणंताणि य दव्वाणि, कालो पोग्गल जंतवो।

—२८/८

अर्थात् काल पुद्गल और जीवद्रव्य सख्या में अनन्त हैं। भगवती सूत्र में भी कहा है—

दव्वओ णं जीवत्थिकाए अणंताइं जीवदव्वाइं।

—भग० श० २३, उ० १०

द्रव्य से जीवास्तिकाय अनन्त है। जब आत्माओं का अनन्त होना आगम-सिद्ध है, तब यहा स्थानाग सूत्र मे "आत्मा एक है," यह आत्मा के एकत्व का सिद्धान्त किस आधार पर स्थापित किया गया है ?

उत्तर में कहना है कि जैन-दर्शन की आत्मा के सम्बन्ध में दो मान्यताएं हैं और वे मान्यताएं दो दृष्टियों पर अवलम्बित हैं, अत: दोनों ही पूर्णतया सत्य हैं।

जैन दर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु में सर्वदा दो धर्म रहते हैं—एक सामान्य और दूसरा विशेष। सामान्य के बिना विशेष नहीं होता और विशेष के बिना सामान्य का कोई अस्तित्व नही हो सकता, अत: प्रत्येक पदार्थ मे दोनों की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है।

वस्तु में जो सामान्य धर्म होता है वह समानता की एकता का बोधक है, जैसे कि मनुष्यमात्र में मनुष्यत्व धर्म है। मनुष्यत्व करोड़ों मनुष्यों में समान रूप से रहता है और 'यह मनुष्य है' इस प्रकार वह समानता का ज्ञान कराता है। जबकि सुरूप, कुरूप, बाल, वृद्ध, नर, नारी इत्यादि मनुष्य के विशेष धर्म भिन्न-भिन्न है और वे अनेकता का बोध कराते हैं। अनुयोगद्वार सूत्र मे सामान्य और विशेष का बड़े विस्तार के साथ वर्णन करते हुए कहा गया है—

अविसेसिए मणुस्से, विसेसिए संमुच्छिम-मणुस्से अ गब्भवक्कंतिय-मणुस्से अ। अविसेसिए संमुच्छिम-मणुस्से, विसेसिए पज्जत्तग[1] संमुच्छिम-मणुस्से अ अपज्जत्तग संमुच्छिम-मणुस्से अ। अविसेसिए गब्भवक्कंतिय-मणुस्से, विसेसिए कम्मभूमिओ य, अकम्मभूमिओ य, अन्तरदीवओ य, संखिज्जवासाउय, असंखिज्जवासाउय, पज्जत्तापज्जत्तओ।

—अनु० द्विनाम प्रकरण

१ यहा सूत्र का तात्पर्य लब्धि पर्याप्त से है, करण पर्याप्त से नहीं।

अर्थात् सामान्य मनुष्य है, विशेष संमूर्च्छिम मनुष्य और गर्भज मनुष्य हैं। सामान्य समूर्च्छिम मनुष्य है और विशेष पर्याप्त संमूर्च्छिम मनुष्य और अपर्याप्त संमूर्च्छिम मनुष्य हैं। सामान्य गर्भज मनुष्य हैं और विशेष कर्म-भूमिज, अकर्म-भूमिज, अन्तर-द्वीपज, इसी प्रकार संख्येय वर्षायुष्क और असंख्येय वर्षायुष्क पर्याप्त और अपर्याप्त आदि भी जान लेने चाहिएं।

अनुयोगद्वार सूत्र का उपर्युक्त पाठ सामान्य और विशेष के अन्तर को स्पष्टतया प्रति-पादित कर रहा है और यह भी बता रहा है कि ये दोनों धर्म किन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों पर अवलंबित हैं।

आत्मा का एकत्व और नानात्व सम्बन्धी प्रश्न भी उपर्युक्त सामान्य और विशेष दृष्टिकोण पर आधारित है। आत्मा में जो एकत्व का विधान है वह सामान्य धर्म को लेकर है। आत्मा मे आत्मत्व धर्म है, उसी के कारण आत्मा-आत्मा है या "यह भी आत्मा है" इस प्रकार की एकाकार प्रतीति होती है। आत्मा में देवत्व, नारकत्व, मनुष्यत्व, पशुत्व इत्यादि अनन्त विशेष धर्म भी रहते हैं। उन विशेष धर्मों के कारण आत्माए अनन्त ही हैं।

"एगे आया" इस वाक्य के द्वारा आत्मा के एकत्व का आत्मत्वरूप सामान्य धर्म के दृष्टिकोण से प्रतिपादन किया गया है। संसार में जितनी भी आत्माए हैं, वे सब अपन **'जीवो उवओग लक्खणो'** उपयोग लक्षण की दृष्टि से समान हैं। सूत्रगत एकत्व शब्द संख्या की दृष्टि से एकत्व का वाचक नही है, प्रत्युत समानता की दृष्टि से एकत्व का बोधक है। जैन-सिद्धांत के अनुसार यह संग्रहनय का सिद्धांत है। संग्रहनय की दृष्टि में वस्तु के लक्षण, स्वरूप और मूलाश को लेकर नानात्व में भी एकत्व का सिद्धांत प्रतिभासित होता है। संग्रहनय के एकत्ववाद के सम्बन्ध में अनुयोगद्वार सूत्र में कहा गया है—

संगहिय पिंडिअत्थं संगहवयणं समासओ बिंति।

—अनुयोग० नय-विचारणा

इस पर वृत्तिकार कहते हैं—

सम्यग् गृहीतः—उपात्तः संगृहीतः, पिण्डितः एकजातिमापन्नोऽर्थो विषयो यस्य संग्रहवचनस्य तत्संगृहीतपिण्डितार्थं संग्रहस्य वचनं संग्रहवचनं समासतः—संक्षेपतो ब्रुवते तीर्थंकरगणधराः, अयं हि सामान्यमेवेच्छति, न विशेषान्, ततोऽस्य वचनं संगृहीतसामान्यार्थमेव भवति, अतएव संगृह्णाति सामान्यरूपतया सर्ववस्तुक्रोडी-करोतीति संग्रहोऽयमुच्यते।

अनुयोगद्वार सूत्र का भावार्थ यह है कि एक जाति एवं स्वरूप में परिबद्ध अर्थ को जो सम्यक् प्रकार से संगृहीत करता है 'वह संग्रहनय' है। विस्तार में न जाकर संक्षेप रूप से वस्तु के प्रतिपादन करने को 'संग्रह' कहते हैं। संग्रहनय सामान्य धर्म का ही ग्रहण करता है, विशेष का नहीं। उदाहरण के लिये भी अनुयोगद्वार सूत्र का ही पाठ देखिए—

संगहस्स णं एगो वा, अणेगे वा अणुवउत्तो वा, अणुवउत्ता वा आगमओ दव्वावस्सयं, दव्वावस्सयाणि वा, से एगे दव्वावस्सए।

—अनुयोग०, नय-विचारणा

उपर्युक्त पाठ संग्रह-नय का उदाहरण उपस्थित करता है कि एक या अनेक, एक अनुपयुक्त या अनेक अनुपयुक्त, आगम से एक द्रव्यावश्यक या अनेक द्रव्यावश्यक संग्रहनय की दृष्टि में एक ही द्रव्यावश्यक माना जाता है।

संग्रहनय विशेष को न मानकर केवल सामान्य को ही ग्रहण करता है, उसका आन्तरिक अभिप्राय यही है कि सामान्य के अतिरिक्त विशेष है ही नहीं। उसका कहना है कि सामान्य से विशेष भिन्न है या अभिन्न? यदि प्रथम पक्ष स्वीकार किया जाए तो वह घटित नहीं हो सकता, क्योंकि सामान्य-शून्य होने के कारण विशेष का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता, आकाश-कूप के समान। यदि दूसरा पक्ष स्वीकार किया जाए तो वह भी युक्ति-संगत नहीं ठहरता, क्योंकि विशेष सामान्य से अभिन्न होता है तो वह सामान्य स्वरूप ही है, पृथक् नहीं। अत: दोनो ही पक्षो मे सामान्य ग्रहण ही सिद्ध हुआ, विशेष नहीं।

सामान्य विशेष का उपसंहार करते हुए आत्मा के एकत्व पक्ष के सम्बन्ध में कहना है कि यहां सामान्य-ग्राहक संग्रहनय को मुख्य मान कर एकत्व का उल्लेख किया गया है और विशेषग्राही नैगमनय तथा व्यवहारनय को गौण कर दिया गया है।

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जैनदर्शन और वेदातदर्शन के आत्मसम्बन्धी एकत्ववाद मे कितना महान् अन्तर है? वेदान्तदर्शन की एकत्व सम्बन्धी मान्यता सख्या की दृष्टि से है। वह मानता है कि आत्मा एक ही है। जैसे एक ही मृत्पिण्ड, घट, आदि की आकृति मे नाना रूपो में प्रतिभासित होता है, इसी प्रकार आत्मा भी एक होते हुए अनेक रूपो मे भासित हो रहा है।

इसके विपरीत जैनदर्शन की दृष्टि में यह संख्या सम्बन्धी एकत्व की सामान्य मान्यता भ्रमपूर्ण है। यदि मूल में आत्मा एक ही है तो फिर नानारूपता कैसी? कोई पाप कर्म कर रहा है और कोई पुण्य, एक आत्मा में दोनों भाव कैसे? यदि आत्मा एक ही है तो एक ही समय मे परस्पर सर्वथा विरोधी पापी एवं पुण्यशील आत्माएं नरक और स्वर्ग में कैसे रह सकती हैं? एक बात और भी गभीर है कि जब आत्मा एक ही है तो एक के सुखी होने पर सब को सुखी होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं है। जिनदत्त का दु:ख देवदत्त के अनुभव में नहीं आता और देवदत्त के सुख की अनुभूति जिनदत्त को नहीं होती। भगवान् महावीर ने पर-समय का वर्णन करते हुए सूत्रकृतांग में कहा है—

जहा य पुढवीथूभे, एगे नाणा हि दीसइ।
एवं भो! कसिणे लोए, विण्णू नाणा हि दीसइ ॥ १॥

एवमेगेत्ति जम्पन्ति, मंदा आरंभ निस्सिया।
एगे किच्चा सयं पावं, तिव्वं दुक्खं नियच्छइ ॥ १० ॥

अतः आत्मा का एकत्व संख्या की दृष्टि से न मान कर उपयोग लक्षणात्मक समानता की दृष्टि से मानना युक्ति संगत है। आत्मा की अनेकता मे ही पाप-पुण्य, दुःख-सुख, बन्ध-मोक्ष, नरक-स्वर्ग आदि के सिद्धांत ठीक ठहरते हैं।

'एगे आया' का दूसरा अभिप्राय यह भी माना जाता है कि अखिल विश्व षड् द्रव्यात्मक है। उन छः द्रव्यों में आत्मा भी एक स्वतंत्र द्रव्य है, यह कथन आत्मा के स्वतंत्र द्रव्यत्व को प्रकट करता है। इससे उन मतो का परिहार हो जाता है जो आत्मा को विभिन्न द्रव्यो का बना हुआ मिश्रित द्रव्य मानते हैं, स्वतंत्र नहीं।

'एगे आया' का तीसरा अभिप्राय यह है कि दुःख तथा सुख भोगने में आत्मा एक ही—अकेला ही रहता है। कर्मों का फल भोगते समय इसका कोई भागीदार नहीं होता। सूत्रकृतांग आगम में महावीर बतलाते हैं:—

अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परियाइयइ, अन्नेण कडं अन्नो नो पडिसंवेदेइ, पत्तेयं जायइ, पत्तेयं मरइ, पत्तेयं चयइ, पत्तेयं उववज्जइ, पत्तेयं झंझा, पत्तेयं सन्ना, पत्तेयं मन्ना, एवं विण्णू, वेयणा। —सूयगडाग सूत्र २/१/१३

आत्मा और जीव ये एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। **'आत्मा'** शब्द **'अत् सातत्य गमने'** धातु से बनता है। **'अतति सततं भवं गच्छतीति आत्मा'**—अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन में बधकर निरन्तर आने-जाने वाला आत्मा है। आत्मा का उपयोग सदा जागृत रहता है। ज्ञानावरणीय कर्म का पर्दा कितना ही क्यों न पड़ा हो, वह उपयोग ज्योति कभी भी सर्वथा विलुप्त नहीं होती। अक्षर-ज्ञान का अनन्तवा भाग तो सर्वदा उद्घाटित ही रहता है। यदि पूर्णतया आवरण आच्छादित हो जाए और अक्षर का अनन्तवां भाग ज्ञान-प्रकाश भी क्षीण हो जाए तो आत्मा अनात्मा में बदल जाएगा—जीव अजीव हो जाएगा। नन्दी सूत्र का उल्लेख है—

सव्व जीवाणं पि अ णं अक्खरस्स अणंत भागो निच्चुग्घाडिओ, जइ पुण सो वि आवरिज्जा, तेणं जीवो अजीवत्तं पाविज्जा। सुट्ठुवि मेहसमुदए होइ पभा चंद सूराणं।

नन्दी सूत्र के उक्त उल्लेख से आत्मा शब्द की उपर्युक्त व्युत्पत्ति पूर्णतया प्रमाणित हो जाती है। क्या सिद्ध, क्या संसारी सभी जीवों मे उपयोग का अंश पूर्ण तथा न्यून रूप से रहता ही है। कोई भी जीव ऐसा नहीं है जो पूर्णतया उपयोगांश से शून्य हो। छः द्रव्यों में केवल आत्मा ही एक ऐसा द्रव्य है जो कि प्रत्येक द्रव्य का ज्ञायक व निर्णायक है। वही भारतीय दर्शन का केन्द्र है। आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने पर ही अध्यात्मवाद में प्रगति हो सकती है। इसी कारण भगवान ने सर्व प्रथम आत्मा नामक द्रव्य का निर्देश किया है। प्रत्येक आत्मा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा तुल्य होने से एक है और पर्यायार्थिक नय की

अपेक्षा से आत्मा असंख्यात प्रदेशों वाला है। प्रदेशों की अपेक्षा अनन्त-अनन्त आत्माओं के प्रदेश समान हैं न्यूनाधिक नहीं, इस अपेक्षा से भी **'एगे आया'** का सिद्धांत युक्तिसंगत बैठता है।

दण्ड-वर्णन

मूल—एगे दंडे ॥ ३॥

छाया—एको दण्ड:।

शब्दार्थ—**एगे**-एक है, **दंडे**—दण्ड।

मूलार्थ—दण्ड एक है।

विवेचनिका—जैनदर्शन में उपाधिभेद से आठ आत्माएं मानी गई हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि विश्व में कुल आठ ही आत्माएं हैं, यह एक गंभीर रहस्य है। इस दृष्टि के द्वारा प्रत्येक आत्मा उपाधि भेद से अष्ट-स्वरूप होती है, अत: पूर्व सूत्रोक्त द्रव्य आत्मा एवं उपयोग आत्मा के वर्णन के पश्चात् योग आत्मा एवं कषाय आत्मा का वर्णन **'एगे दंडे'** सूत्र के द्वारा किया गया है।

संसारी आत्मा कभी भी उपयोग शून्य नहीं होती, स्थावर जीवों से लेकर देवों तक सभी जीवों को मन, वचन और काय इन तीनों योगों में से किसी को एक, किसी को दो और किसी को तीनों योग प्राप्त हैं। आत्मा योगों के द्वारा ही किसी भी प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता है। योग कर्मास्रव में मुख्य कारण हैं। मात्र योग ही कर्मबन्ध में कारण नहीं होते, बल्कि कषाय-सहित योग ही दण्ड के रूप में परिणत होते हैं, अत: यहां दण्ड के द्वारा योग एवं कषाय दोनों का ग्रहण आवश्यक है।

योग तीन होते हैं—मन-योग, वचन-योग, और काय-योग; अत: तदनुसारी कषाय-सहित दण्ड भी तीन ही माने गए हैं। आगमों में तीन दण्डों का उल्लेख है—**'मणदंडे, वयदंडे, कायदंडे'**। अब प्रश्न यह है कि दण्ड के तीन रूप हैं, तब सूत्रकार एक दण्ड का उल्लेख किस आधार से करते हैं?

उत्तर में कहना है कि दण्ड के तीन प्रकार होते हैं, यह सर्वथा सत्य है। यहां जो दण्ड के एकत्व का उल्लेख किया गया है, वह संग्रहनय की दृष्टि से ही है। सूत्रकार का भाव यह है कि दण्ड अपने सामान्य दण्डत्व स्वरूप की दृष्टि से एक है।

दण्ड दो प्रकार का होता है। एक द्रव्य-दण्ड और दूसरा भाव-दण्ड। द्रव्य-दण्ड लकड़ी आदि का होता है। भाव-दण्ड वासनालीन मन आदि का होता है। सूत्रगत दण्ड भाव-दण्ड का वाचक है।

दण्ड शब्द की विवेचना करते हुए आचार्य अभयदेव लिखते हैं कि—

दण्डयते ज्ञानाद्यैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते आत्माऽनेनेति दण्डः।

जिस के द्वारा आत्मा ज्ञानादि ऐश्वर्य से रहित बना दिया जाता है वह दण्ड कहलाता है, अतः दण्ड आत्म-गुणों का विनाशक है, इसलिये दण्ड से अपनी आत्मा को सदैव बचाए रखने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। यद्यपि व्यवहार में न्याय और नीति के उल्लंघन करने से मनुष्य दण्ड का भागी बनता है किन्तु जैन-दर्शन में अध्यात्ममर्यादा के उल्लंघन करने मात्र को दण्ड कहा गया है, अतः उत्तम कार्यों में ही प्रवृत्ति करनी चाहिए, नीच कार्यों में नहीं।

क्रिया-वर्णन

मूल—एगा किरिया ॥ ४ ॥

छाया—एका क्रिया।

शब्दार्थ—एगा—एक, **किरिया**—क्रिया है।

मूलार्थ—क्रिया एक है।

विवेचनिका—सांख्य-दर्शन आत्मा को निष्क्रिय मानता है। इस सूत्र से सांख्य-दर्शन की मान्यता का निराकरण किया गया है। '**एगा किरिया**' सूत्र में यह भाव प्रदर्शित किया गया है कि आत्मा दण्ड के अनन्तर क्रिया में प्रवृत्ति करता है। दण्ड और क्रिया का परस्पर कार्य- कारण भाव सम्बन्ध है। दण्ड कारण है और क्रिया कार्य है। दण्ड से बचने वाला क्रिया से भी बच जाता है। क्रिया शब्द '**करणं क्रिया**' इस व्युत्पत्ति के द्वारा भाववाचक शब्द माना जाता है। क्रिया से शारीरिक आदि कार्यों का ग्रहण करना चाहिए।

''**एगे दण्डे**'' तथा ''**एगा किरिया**'' इन दो सूत्रों का एक भाव और भी ग्रहण किया जाता है कि दण्ड और क्रिया शब्द से तेरह क्रिया-स्थानों का ग्रहण होता है। प्रथम पांच प्रकार दण्ड शब्द के वाच्य हैं और शेष आठ प्रकार क्रिया शब्द के। सभी दण्ड जैसे पर-प्राण-अपहार-स्वरूप होने से एक शब्द ग्राह्य हैं, वैसे ही आठ क्रियाएं भी कारण स्वरूप होने से एक शब्द के द्वारा ग्रहण होती हैं।

'सूत्रकृतांग' में तेरह क्रियाओं का बड़े ही विस्तार से विश्लेषण किया गया है। वहां उक्त क्रियाओं का क्या स्वरूप है, इनसे क्या हानियां होती हैं, इस विषय का सुन्दर आध्यात्मिक विवेचन प्राप्त होता है। विस्तार में न जाकर हम यहां तेरह क्रिया-स्थानों के नाम का निर्देश मात्र करते हैं—

इमाइं तेरस किरियाट्ठाणाइं भवन्तीति मक्खायं। तं जहा—अट्ठादंडे, अणट्ठादंडे, हिंसादंडे, अकम्हादंडे, दिट्ठिविपरियासियादंडे, मोसवत्तिए, अदिन्नादाणवत्तिए, अज्झत्थवत्तिए, माणवत्तिए, मित्तदोसवत्तिए, मायावत्तिए, लोभवत्तिए, इरियावहिए।

—सूत्र-२।२।१

सांख्यमत की मान्यता है कि आत्मा पूर्णतया क्रियाशून्य है। उसमें कोई परिस्पन्दन नहीं होता, वह प्रशान्त महासागर की भांति सर्वदा स्थिर रहता है। क्रिया करने वाली प्रकृति है। प्रकृति की क्रिया को आत्मा अपनी क्रिया मान लेता है, अतः वह किए हुए कर्मों का फल भोगता है।

सांख्य-दर्शन का यह कथन युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि आत्मा को निष्क्रिय मानने पर तो आत्मा कर्मों के बन्धन में बंध ही नहीं सकता और ऐसी दशा में बन्ध-मोक्ष की सभी व्यवस्थाएं छिन्न-भिन्न हो जाती हैं।

सांख्य-मत से एक ओर तो आत्मा निष्क्रिय है और दूसरी ओर वह सुख-दुख आदि का भोक्ता है। ये दोनों बातें परस्पर सर्वथा विरुद्ध हैं। भला जो करेगा नहीं, वह भोगेगा ही क्यों? जो करता है वही भोगता है। यदि क्रिया न करके भी आत्मा भोगता है तो भोगना भी तो एक क्रिया ही है, यदि आत्मा में भोगना रूप क्रिया विद्यमान है तो आत्मा में निष्क्रियत्व का सिद्धांत कहां रहा?

यदि यह कहा जाए कि भोक्तृत्व भी आत्मा में नहीं है, प्रत्युत प्रकृति-विकार रूप बुद्धि को ही सुखादि की अनुभूति होती है, तो यह कथन भी ठीक नहीं। इस दृष्टि से तो प्रकृति में ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों समा जाते हैं। आत्मा तो तटस्थ रहने के कारण भोक्तृत्व से शून्य ही ठहरता है, अतः धर्म-अधर्म एवं सुख-दुख के भोग की व्यवस्था के लिए आत्मा को सक्रिय मानना ही युक्ति-युक्त है।

आत्मा को सक्रिय मानने का सिद्धांत संसारी दशा में तो सिद्ध हो जाता है, किन्तु मोक्ष-दशा में सिद्ध नहीं होता। वहां तो जैनदर्शन ने भी आत्मा को निष्क्रिय मानते हुए कहा है—

वोदाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ? वोदाणेणं अकिरियं जणयइ। अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।

—उत्तरा० २९।२८

अर्थ—भगवन्! व्यवदान से क्या उत्पन्न होता है? व्यवदान से अक्रियता होती है, अक्रिय होने के पश्चात् आत्मा सिद्ध, बुद्ध, एवं मुक्त हो जाता है, निर्वाण-पद प्राप्त करता है, सब दुःखों का अन्त करता है।

सवणे नाणे य विण्णाणे पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हय तवे चेव वोदाणे अकिरिया सिद्धी।।

—भग० श० २, उ० ५

अब प्रश्न यह होता है कि यदि आत्मा निष्क्रिय ही है तो जैन-दर्शन आत्मा के सक्रिय होने का आग्रह क्यों करता है?

उत्तर में कहना है कि आत्मा में सक्रियत्व-भाव संसारी और सिद्ध दोनों ही अवस्थाओं में रहता है। आत्मा को पूर्ण निष्क्रिय मानने से तो उसका स्वरूप ही नष्ट हो जाएगा। उपर्युक्त विवेचन में प्रदर्शित जो मतभेद है, उसका समाधान यह है कि—सिद्ध अवस्था में अजीव क्रिया से सम्बन्ध छूट जाता है, किन्तु आत्मा की जो अपनी स्वभाव-सिद्ध जीवक्रिया है वह बनी ही रहती है, उसका तो कभी विनाश नहीं होता, अत: मोक्ष-सम्बन्धी निष्क्रियता अजीवक्रिया के परिवार से है, जीवक्रिया से नहीं। इसलिए कहा गया है—

एवं सकम्मवीरियं, बालाणं तु पवेइयं।
इत्तो अकम्मवीरियं पण्डियाणं सुणेह मे॥

—सूत्र० १/८/९

सूत्रकृतांग के उक्त उल्लेख का भाव यह है कि बालजीवों का अर्थात् अज्ञानी प्राणियों का पुरुषार्थ सकर्म होता है, अत: वह कर्मबन्ध का कारण होता है, किन्तु पण्डित जीवों का अर्थात् ज्ञानी आत्माओं का पुरुषार्थ अकर्म होता है अत: वह कर्मबन्ध का कारण नहीं होता। इस दृष्टि से मोक्षस्थ सक्रियता जीव क्रिया से सम्बन्धित होने से कर्मोत्पादक नहीं होती। इससे विपरीत संसारी सक्रियता अजीव क्रिया से सम्बन्धित होने से कर्मबन्ध का कारण होती है। अत: मोक्ष दशा में भी कथंचित् सक्रियत्व भाव सिद्ध है। जीव क्रिया और अजीव क्रिया के सम्बन्ध में स्थानांग सूत्र का पाठ भी मननीय है जैसे कि—

दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—जीवकिरिया चेव अजीवकिरिया चेव। जीव किरिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा—सम्मत्त किरिया चेव मिच्छत्त किरिया चेव। अजीव किरिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा—इरिया-वहिया चेव संपराइया चेव।

—स्था० २ स्थान

स्थानांग सूत्र का दण्ड और क्रिया सम्बन्धी पाठ संसारी दशा की अपेक्षा को लिए हुए है, क्योंकि जब जीव संसार में रहता है तभी वह कर्मबन्ध उत्पादक दुष्प्रयुक्त मन आदि दण्ड का और तेरह क्रियाओं का कर्त्ता होता है।

कर्मों की परम्परा अनादि काल से जीवात्मा के साथ आ रही है। क्या भव्य और क्या अभव्य सभी जीव अनादि काल से कर्माच्छादित रहे हैं। दोनों में से कोई भी पूर्वकाल में कर्ममल से सर्वथा मुक्त नहीं थे क्योंकि भव्य जीवों की कर्म-परम्परा अनादि एवं सान्त होती है, अत: एक दिन वह कर्ममल से सर्वथा मुक्त होकर मोक्ष पद प्राप्त करते हैं। अभव्य जीव की कर्म परम्परा अनादि अनन्त है, क्योंकि वह कभी भी कर्मों से सर्वथा विमुक्त होकर मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। अभव्य जीव में मोक्ष पाने की योग्यता ही नहीं होती है। भगवती सूत्र में कर्म-सन्तति की विवेचना करते हुए कहा गया है—

जीवा णं कम्मोवचय पुच्छा? गोयमा! अत्थेगइयाणं जीवाणं कम्मोवचए सादीए सपज्जवसिए, अत्थे० अणादीए सपज्जवसिए। अत्थे० अणादीए अपज्जवसिए, नो चेव

णं जीवाणं कम्मोवचए सादीए अपज्जवसिए। से केणट्ठे....? गोयमा! ईरियावहिया बन्धयस्स कम्मोवचए सादीए सपज्जवसिए। भवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए सपज्जवसिए। अभवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए अपज्जवसिए।

—भग० श० ३, उ० ३

सूत्रकार का कथन है कि कुछ जीवों का कर्मोपचय सादि एवं सान्त होता है, कुछ जीवों का अनादि सान्त होता है और कुछ जीवों का अनादि अनन्त भी होता है। परन्तु ऐसा कोई भी जीव नहीं है जिसका कर्मोपचय सादि एवं अनन्त हो। ईर्यापथिक-बन्धक का कर्मोपचय सादि एवं सान्त, भव्य जीव का कर्मोपचय अनादि एवं सान्त और अभव्य जीव का कर्मोपचय अनादि एवं अनन्त होता है।

इस विस्तृत विवेचन का अभिप्राय यह है कि कर्म और कर्मफल का सम्बन्ध संसार तक ही सीमित है, मोक्ष-दशा किसी कर्म का फल नहीं है। जैन-धर्म की मान्यता के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति सादि है एवं अनन्त काल तक के लिए होती है। यदि मोक्ष को भी किसी कर्म का फल मान लें तो कोई कर्म ऐसा है ही नहीं जो सादि अनन्त काल तक के लिये हो, अत: जो लोग मोक्ष को कर्मोदयजन्य फल मानकर आत्मा का पुन: संसार-आगमन मानते हैं, उन्हें उक्त सिद्धांत का गम्भीर पर्यवेक्षण करना चाहिए।

लोक-वर्णन

मूल—एगे लोए ॥५॥

छाया—एको लोक:।

शब्दार्थ—एगे—एक है, **लोए**—लोक।

मूलार्थ—लोक एक है।

विवेचनिका—आत्मा, दण्ड और क्रिया सब लोक में ही हैं, अलोक में नहीं, अत: आत्मा, दण्ड और क्रिया के अनन्तर ही 'लोक' का विवेचन किया गया है।

लोक क्या वस्तु है? वह जीव है या अजीव? यदि जीव है तो उसका स्वरूप क्या है? यदि अजीव है तो कौन सा अजीव है? इन प्रश्नों के उत्तर में कहना है कि लोक अजीव है और वह आकाश स्वरूप है। आचार्य अभयदेव लोक शब्द का अर्थ करते हुए यही कहते हैं—

'लोक: धर्मास्तिकायादिद्रव्याधारभूत: आकाशविशेष:।'

धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का आधारभूत आकाश-विशेष ही लोक कहलाता है।

'लोक' शब्द की यह व्याख्या केवल काल्पनिक ही नहीं, इस के लिये भगवती सूत्र का पाठ साक्षीभूत है—

लोयागासे णं भंते! किं जीवा, जीवदेसा, जीवपदेसा। अजीवा अजीवदेसा, अजीवपदेसा? गोयमा! जीवावि, जीवदेसावि, जीवपदेसावि। अजीवावि, अजीवदेसावि, अजीवपदेसा वि। जे जीवा, ते नियमा एगिंदिया बेइंदिया तेइन्दिया चउरिन्दिया पंचेन्दिया अणिन्दिया। जे जीवदेसा, ते नियमा एगिन्दियदेसा जाव अणिंदियदेसा। जे जीवपदेसा ते नियमा एगिन्दियपदेसा जाव अणिन्दियपदेसा।

जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—रूवी य, अरूवी य। जे रूवी ते चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—खंधा, खन्धदेसा, खंधपदेसा, परमाणुपोग्गला। जे अरूवी, ते पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए, नो धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पदेसा, अधम्मत्थिकाए, नो अधम्मत्थिकायस्स देसे, अधम्मत्थिकायस्स पदेसा, अद्धासमए। —भग० श० २। उ० १०। सू० १२१

लोकाकाश असंख्यात योजनात्मक है और ऊर्ध्व, अध:, तिर्यक् भेद से वह तीन प्रकार का है—ऊर्ध्वलोक में सौधर्म देवलोक से लेकर सर्वार्थसिद्ध तक छब्बीस स्वर्ग हैं, तिर्यक् लोक में मनुष्य, पशु-पक्षी आदि हैं। यह तिर्यक् लोक असंख्यात द्वीप समुद्रात्मक है। अधोलोक में भवनपति देव तथा सात नरक हैं। लोक का विवेचन इस शास्त्र में यथास्थान अनेक स्थानों पर होगा, अत: वहीं उस का विस्तृत परिचय दिया जाएगा। भाष्यकार ने लोक के आठ भेद किए हैं, वे इस प्रकार हैं—

आठ लोक

१. **नामलोक:**— 'लोक' इस संज्ञा को नामलोक कहते हैं।

२. **स्थापनालोक:**— लोक के मानचित्र को स्थापनालोक कहते हैं।

३. **द्रव्यलोक:**—जीव एवं अजीव द्रव्य को द्रव्यलोक कहते हैं।

४. **क्षेत्रलोक:**—चौदह राजु-लोक-प्रमाण विशाल क्षेत्र को क्षेत्रलोक कहते हैं

५. **काललोक:**—समय-आवलिका रूप काललोक है।

६. **भवलोक:**—जिसमें नारक, मनुष्य, तिर्यञ्च और देव हों वह भवलोक है।

७. **भावलोक:**—जिसमें औदयिक आदि छह भाव हों वह भावलोक है।

८. **पर्यव-लोक:**—द्रव्यों के पर्यायो का होना पर्यव-लोक है।

व्यवहार दृष्टि में भिन्न-भिन्न ये तीन लोक भी केवलज्ञानी की दृष्टि में एक ही हैं, अत: **एगे लोए** कहकर सूत्रकार ने अनेकता में एकता का दर्शन कराया है।

अलोक-वर्णन

मूल—एगे अलोए ॥ ६ ॥

छाया—एकोऽलोक:।

शब्दार्थ—एगे—एक है; **अलोए**—अलोक।

मूलार्थ—अलोक एक ही है।

विवेचनिका—जो लोक से विपरीत है वह अलोक कहलाता है। लोक में षड् द्रव्य हैं, अलोक में सिर्फ आकाश ही आकाश है, अतः लोक-परिचायक सूत्र के पश्चात् **'एगे अलोए'** यह-सूत्र रखा गया है, इसका अभिप्राय यह है कि —लोक की व्यवस्था उसके विपक्षभूत अलोक के होने पर ही हो सकती है। अतः लोक के अनन्तर अलोक का वर्णन उचित है। "जो केवलज्ञानी भगवान् के द्वारा देखा जाए वह लोक है और जो अन्य के द्वारा न देखा जाए वह अलोक है,"—इस प्रकार का अर्थ युक्ति-संगत नहीं बैठता है, अतः लोक का प्रतिपक्षभूत ही अलोक है। वह अनन्त-प्रदेशी होने पर भी सामान्य रूप से एक ही है। यद्यपि आकाश लोक में भी है, किन्तु वह लोक में अन्य द्रव्यों से स्पृष्ट है। इसके विपरीत अलोक में कोई भी आकाश प्रदेश किसी भी द्रव्य से स्पृष्ट नहीं है। उसी को अलोक कहा है। उस अलोक का प्रत्यक्ष केवलज्ञानी ही कर सकता है। वृत्तिकार भी लिखते हैं—

'एगे अलोए' एकोऽनन्तप्रदेशात्मकत्वेऽप्यविवक्षितभेदत्वादलोको लोकव्युदासात् नत्वनालोकनीयतया, केवलालोकेन तस्याप्यालोक्यमानत्वादिति।

धर्म-वर्णन

मूल—एगे धम्मे ॥ ७ ॥

छाया—एको धर्मः।

शब्दार्थ—एगे—एक; **धम्मे**—धर्म है।

मूलार्थ—धर्म संज्ञक द्रव्य एक है।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र में धर्मास्तिकाय का वर्णन किया गया है कि धर्मास्तिकाय द्रव्य की दृष्टि से एक है। धर्म, अस्ति, काय इन तीनों शब्दों के समुदाय से 'धर्मास्तिकाय' शब्द बना है। धर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशों के समूह वाला है। लोक प्रमाण व्यापक है, अरूपी है, उसका लक्षण एवं गुण गति है अर्थात् वह जीव और पुद्गल को गति देने में सहयोगी है। जीव और पुद्गल ने चलना तो अपनी शक्ति से है, किन्तु धर्म द्रव्य उन्हें गति प्राप्त करने में सहयोग देता है, क्योंकि निर्जल भूमि में जैसे मत्स्य की गति हो नहीं सकती वैसे ही धर्मद्रव्य के बिना जड़ और चेतन द्रव्यों में गति की शक्ति नहीं आ पाती।

यद्यपि लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा इसकी सिद्धि नहीं हो सकती, तदपि आगम-प्रमाण से तथा आगमपोषिका युक्तियों से धर्मद्रव्य का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

गति का उपादान कारण जड़ और चेतन हैं, किन्तु उसमें निमित्त कारण धर्मास्तिकाय है जो कि गति कार्य की उत्पत्ति में अवश्य अपेक्षित है। निमित्त कारण उपादान कारण से

भिन्न होता है, अतः जड़ और चेतन की गति में निमित्त रूप धर्मास्तिकाय की सिद्धि स्वयं सिद्ध है। इसी अभिप्राय से आगम में धर्मास्तिकाय का लक्षण **'गइलक्खणो धम्मो'** धर्म का मुख्य लक्षण बताते हुए गति में उसे जड़ चेतन पदार्थों का निमित्त कारण बताया गया है।

गतिशील द्रव्यों को गतिमर्यादा में नियंत्रित करने वाले तत्त्व को जैनदर्शन धर्मद्रव्य स्वीकार करता है। जैसे सुव्यवस्थित लाइन पर ही ग्रन्त्री (गाड़ी) गति कर सकती है। गाड़ी के बिना लाइन निष्प्रयोजन है और लाइन के बिना गाडी चल नहीं सकती, अतः दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं वैसे ही गति जड़ और चेतन ने करनी है, उन्हें गति में सहयोग देना धर्मास्तिकाय गुण है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीन द्रव्य निष्क्रिय हैं, अर्थात् गति क्रिया से रहित हैं। कहा भी है **'निष्क्रियाणि च'**।

—तत्त्वा० ५/६

इस से ज्ञात होता है कि धर्मास्तिकाय स्वयं गतिशील नहीं है, गतिशील को गति देना ही धर्मद्रव्य का स्वभाव है।

अधर्म-वर्णन

मूल—एगे अधम्मे ॥ ८ ॥

छाया—एकोऽधर्मः।

शब्दार्थ—**एगे**—एक है, **अधम्मे**—अधर्म।

मूलार्थ—धर्म द्रव्य की भांति अधर्म द्रव्य भी एक है।

विवेचनिका—जैनदर्शन में अधर्मास्तिकाय भी एक स्वतंत्र द्रव्य है। यह द्रव्य भी सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त किए हुए है। यह भी असंख्यातप्रदेशी, अरूपी, अजीव द्रव्य का एक भेद-विशेष है। स्थिति गुण अधर्म का लक्षण है। गति की निवृत्ति का नाम स्थिति है। जड़ चेतन की स्थिति में अधर्मास्तिकाय निमित्त है, रुकते हुए को रोकने वाला द्रव्य यदि कोई है तो अधर्म द्रव्य है। **"अहम्मो ठाणलक्खणो"** स्थिति में निमित्त रूप से अधर्मास्तिकाय की सिद्धि हो जाती है। जैसे आतप-संतप्त मनुष्य के लिये वृक्ष की छाया स्थिति में सहायक होती है, वैसे ही अधर्मास्तिकाय भी स्थिति में सहायक है।

प्रश्न होना स्वाभाविक है कि—जीव और पुद्गल ये स्वयं गति और स्थिति में परिणत हो जाते हैं, तो फिर इन दो द्रव्यों के मानने की क्या आवश्यकता है? जैसे पक्षी आकाश में स्वयं ही गति और स्थिति करता हुआ देखा जाता है।

उत्तर में कहना है कि—पक्षी आकाश में गति करता है, परन्तु वह स्थिति करने के लिये किसी वृक्ष आदि का सहारा अवश्य लेता है, तभी वह स्थिति कर सकता है। उसकी

स्थिति आकाश में नहीं देखी जाती, ठीक उसी प्रकार जीव और पुद्गल द्रव्य भी गति और स्थिति के लिये धर्म और अधर्म द्रव्य की अपेक्षा रखते हैं।

प्रश्न यह है कि किसी भी जैनेतर दर्शनकार ने धर्म और अधर्म को द्रव्यत्व के रूप में स्वीकार नहीं किया तो फिर जैनदर्शन उन्हें क्यों स्वीकार करता है?

इसके उत्तर में कहना है कि—लोक और अलोक की मर्यादा केवल जैन दर्शनकारों ने ही स्वीकार की है। लोक और अलोक को अन्य दर्शनकारों ने तो स्वीकार ही नहीं किया है। अन्य दर्शनों में लोक-अलोक का बिल्कुल भी उल्लेख नहीं पाया जाता है। जैन दर्शन में ही धर्म-अधर्म और लोक-अलोक की परिभाषा बताई गई है। लोक-अलोक के विभाग करने वाले मुख्यतया धर्म और अधर्म द्रव्य हैं। उक्त दोनों द्रव्य लोक-प्रमाण हैं। जीव और पुद्गल की गति-स्थिति भी लोक में है, लोक से परे केवल आकाश ही आकाश है। लोक-ससीम है और अलोक निस्सीम। यदि कोई नियामक तत्त्व न हो तो वे जड़ और चेतन द्रव्य अपनी सहज गतिशीलता के कारण कहीं भी अनन्त आकाश में चले जा सकते हैं। यदि वे अनन्त आकाश में सचमुच चले ही जाएं तो इस दृश्य एवं अदृश्य विश्व का नियत संस्थान किसी भी तरह घट नहीं सकेगा, अत: उक्त दो द्रव्य लोक की मर्यादा बांधने वाले नियामक तत्त्व हैं। जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य गति और स्थिति के लिये उक्त दोनों द्रव्यों की अपेक्षा रखते हैं, क्योंकि कहा भी है—

धर्मो हि जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भकरो, अधर्मो हि तद्विपरीतत्वात् स्थित्युपष्टम्भकारीति।

अत: ये दोनों द्रव्य आकाशवत् स्वतंत्र द्रव्य हैं। इन द्रव्यों से युक्त लोकाकाश में जीव सदण्ड और सक्रिय होता हुआ कर्मों से बंध जाता है।

बन्ध-वर्णन

मूल—एगे बंधे ॥ १ ॥

छाया—एको बन्धः।

शब्दार्थ—एगे—एक, **बंधे—**बंध है।

मूलार्थ—बन्ध भी एक है।

विवेचनिका—धर्म और अधर्म के कारण ही जीव को शुभाशुभ कर्मों का बन्ध होता है, अत: अब सूत्रकार बन्ध का वर्णन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—"बन्ध एक है।"

प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश इस तरह बन्ध के चार प्रकार होने पर भी सामान्य रूप से वह एक ही कहा गया है। इसके अतिरिक्त द्रव्य-बन्ध और भाव-बन्ध नामक सामान्य रूप से बन्ध के अन्य दो भेद भी माने गए हैं। रस्सियों, हथकड़ियों और बेड़ियों

आदि के बन्ध को द्रव्य-बन्ध कहा जाता है और कर्मों के बन्धन को भाव-बन्ध नाम दिया गया है, किन्तु सामान्य दृष्टि से सभी बन्ध बन्ध ही हैं, अत: बन्ध को बन्धत्व की दृष्टि से एक ही कहा गया है।

सूत्रकार जिस बन्ध की व्याख्या कर रहे हैं, वह कर्मबन्ध ही है। कर्मबन्ध के सम्बन्ध में यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि—कर्मबन्ध आदि है या अनादि? पहले जीव उत्पन्न होता है या कर्म-बन्ध पहले जन्म लेता है, या दोनों एक साथ ही उत्पन्न होते हैं?

इनमें से आत्मा के जन्म का पहला सिद्धांत ठीक नहीं, वह सत्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, क्योंकि आत्मा शुद्ध, बुद्ध है, वह कर्मों से लिप्त नहीं हो सकता। और **"रागो य दोसो य कम्मबीयं"** कर्मों के बीज राग-द्वेष हैं। जो पहले शुद्ध हो वह पीछे से अशुद्ध कैसे हो सकता है? क्योंकि राग-द्वेष के अभाव में बन्ध नहीं हो सकता और बन्ध के अभाव में राग-द्वेष नहीं हो सकते। अत: कर्मबन्ध से पूर्व आत्मा के जन्म की मान्यता ठीक नहीं कही जा सकती।

पहले कर्मों का और बाद में आत्मा का जन्म यह सिद्धांत भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि कर्त्ता के अभाव में कर्म-बन्ध कैसे माना जा सकता है? यदि कर्म किए बिना ही कर्मबन्ध हो जाए तो मुक्त आत्माओं को कर्मों से रहित कैसे माना जा सकता है? अत: यह सिद्धांत भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

तीसरा पक्ष भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि कर्मों के बिना जीव कैसे उत्पन्न हुआ? और जीव के बिना कर्म उत्पन्न कैसे हुए? अत: तीसरा सिद्धांत भी स्वीकार्य नहीं हो सकता। सच्चाई यह है कि जब से आत्मा है तब से कर्म हैं और जब से कर्म हैं तब से आत्मा है, दोनों का सम्बन्ध अनादि है, अत: ये साथ-साथ रहते हैं, इनका साथ-साथ जन्म नहीं होता, इनकी सत्ता अनादि है, किन्तु इनका बन्ध अनादि नहीं है।

कुछ दर्शनकारों का अभिमत है—कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है, परन्तु जो बन्धन अनादि होता है उससे कभी विमुक्त नहीं हुआ जा सकता। बन्ध को अनादि मानने से उसकी नित्यता सिद्ध होती है और जो नित्य है वह कभी भी टूट नहीं सकता और ऐसी दशा में कर्मबन्ध का कभी क्षय नहीं हो सकेगा।

सिद्धान्तत: आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध प्रवाह से अनादि है। इसलिये कर्मक्षय करने की विशुद्ध सामग्री मिल जाने पर वह सम्बन्ध टूट सकता है। जैसे अग्नि आदि निमित्तों के मिल जाने पर सुवर्ण से मैल पृथक् हो जाता है। वृत्तिकार लिखते है—अनादि संयोग का वियोग भी प्रत्यक्ष देखा जाता है जैसे कि—

अनादित्वेऽपि संयोगस्य वियोगोपलब्धेः कांचनोपलयोरिवेति, यदाह—
जह वेह कंचणोवलसंजोगोऽणाइसंतइगओ वि।

वोच्छिज्जइ सोवायं, तह जोगो जीव कम्माणं॥

अत: कर्म और जीव का अनादि सम्बन्ध निमित्तों के मिल जाने पर छूट जाता है, इसलिये सूत्रकार ने कहा है कि आत्मा एवं कर्मबन्ध का अनादि सम्बन्ध होने पर भी भव्यात्माएं कर्म-बन्धन से विमुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेती हैं।

मोक्ष-वर्णन

मूल—एगे मोक्खे ॥१०॥

छाया—एको मोक्षः।

शब्दार्थ—एगे—एक, **मोक्खे**—मोक्ष है।

मूलार्थ—मोक्ष भी एक है।

विवेचनिका—बन्ध के अभाव को मोक्ष कहते हैं। श्री उमास्वाति जी के शब्दों में—'**कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षः**' सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होना ही मोक्ष है।

मोक्ष द्रव्य और भाव की दृष्टि से दो तरह का है—रस्सी आदि के बन्धनों से छूटने का नाम द्रव्य-मोक्ष है और आठ प्रकार के कर्म-बन्धों से आत्मा के मुक्त हो जाने को भाव-मोक्ष कहा गया है। यद्यपि आठ प्रकार के कर्मबन्ध से छूटने की अपेक्षा आठ प्रकार का मोक्ष तथा उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा किसी एक नय के मत से मोक्ष के अनेक भेद हो सकते हैं, तथापि 'मोचन' क्रिया समान होने से मोक्ष एक है।

जैमिनी दर्शनानुयायी मोक्ष-तत्त्व को नहीं मानते, जब कि वे आत्मा को मानते हैं, तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी स्वीकार करते हैं। आखिर जन्म-मरण की परम्परा का कहीं तो अन्त होना ही है, जहां अन्त होना है, वही तो मोक्ष है, फिर मोक्ष की सत्ता को क्यों न स्वीकार किया जाए। जैमिनी दर्शन स्वर्ग तक आना-जाना मानता है। स्वर्ग जैसी परोक्ष सत्ता को स्वीकार करके भी वह परोक्ष मोक्ष की स्वीकृति में न जाने क्यों आनाकानी करता है? यह तो गुड खाए और गुलगुलों से परहेज जैसी बात है।

पुण्य-वर्णन

मूल—एगे पुण्णे ॥११॥

छाया—एकं पुण्यम्।

शब्दार्थ—एगे—एक, **पुण्णे**—पुण्य है।

मूलार्थ—पुण्यत्व की दृष्टि से पुण्य एक है।

विवेचनिका—संसार-पक्ष में जो आत्मा को पवित्र एवं शुभ बनाता है, वह पुण्य कहलाता है। अभयदेव सूरि के शब्दों में—

पुणति—शुभीकरोति, पुनाति वा पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यं-शुभकर्म, सद्वेद्यादि द्विचत्वारिंशद्विधम्।

यह शब्द पुण्य या पुन्य दोनों तरह से शुद्ध है। पुन्य नौ तरह से बांधा जाता है, और बयालीस प्रकार से भोगने में आता है। उसके अनेक भेद होने पर भी सामान्यतया पुण्य पदार्थ एक है। अनन्त आत्माओं के साथ पुण्य कर्म का सम्बन्ध होने से पुण्य के अनन्त भेद भी हो सकते हैं।

कुछ दार्शनिकों ने आत्मा को पुण्य और पाप से निर्लेप माना है। यह मान्यता युक्ति-संगत न होने से प्रामाण्य नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आत्मा को पुण्य का तथा पाप का फल अनुभव करते हुए देखा जाता है। जैसे पथ्य और अपथ्य आहार द्वारा रोग की हानि एवं वृद्धि होती है, उसी प्रकार पुण्य के द्वारा सुख की और पाप के द्वारा दुख की वृद्धि स्पष्ट रूप से देखी जाती है। "**अनुकूलवेदनीयं सुखम्**"। जिस फल की अनुभूति अनुकूल हो उसे पुण्य कहते हैं। पुण्य का फल पुद्गल के सहयोग से होता है। शरीर की, इन्द्रियों की, योग की तथा उपकरण की अनुकूलता से जो सुख अनुभव होता है उसे पुण्य-फल कहते हैं, अतः पुण्य सामान्यतया एक ही है।

पाप-वर्णन

मूल—एगे पावे ॥ १२ ॥

छाया—एकं पापम्।

शब्दार्थ—एगे—एक, **पावे**—पाप है।

मूलार्थ—पाप शब्द का वाच्य भी एक है।

विवेचनिका—पुण्य का प्रतिपक्षी पापकर्म है, जो आत्मा को मलिन करता है। अथवा आत्मा को दुर्गति में डालता है, अथवा आत्मा के आनन्द-रस को सुखाता है या नष्ट करता है उसे पाप कहते हैं। वृत्तिकार ने पाप-कर्म की व्युत्पत्ति बड़ी ही सुन्दर शैली में की है जो कि विशेष मननीय है। जैसे कि—

पाशयति गुण्डयत्यात्मानं पातयति चात्मन आनन्दरसं शोषयति क्षपयतीति पापम्।

जीव पाप-कर्म को १८ प्रकार से बांधता है और ८२ प्रकार से भोगता है। अमंगलरूप मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं को पाप कहते हैं, उसका फल है—मानसिक, वाचिक, शारीरिक, ऐन्द्रियिक तथा अनिष्टोपकरणों की प्राप्ति और अनिष्ट परिवार में जन्म लेकर जीव जो भी दुःख भोगता है वह सब पाप का ही दुष्परिणाम है।

प्रत्येक आत्मा कर्मविपाक के तारतम्य भाव से फल भोगता है। ऐसा विश्व में कोई आत्मा नहीं है जो एकान्त रूप से पुण्य या पाप से मुक्त हो, क्योंकि प्रत्येक जीव अष्टविध

कर्मों से संबद्ध है, अतः एकांत रूप से कोई भी आत्मा पुण्य या पाप से मुक्त नहीं है। पुण्य जीव के लिये सुपथ्य आहार के समान इष्ट है और पाप कुत्सित आहार के तुल्य अनिष्ट है। पुण्य लौकिक दृष्टि से उन्नति के शिखर पर ले जाता है, जब कि पाप अवनति के रसातल में पहुचा देता है। पापानुबन्धी पाप और पुण्यानुबन्धी पाप के भेद से पाप दो प्रकार का भी होता है तथा अनन्त प्राणियों के आश्रित होने से वह अनन्त भेद वाला भी होता है अतः अशुभत्व की दृष्टि से वह पाप एक ही प्रकार का है अतः पुण्य की तरह पाप भी एक स्वतंत्र तत्त्व है।

आश्रव-वर्णन

मूल— एगे आसवे ॥ १३ ॥

छाया—एक आश्रवः।

शब्दार्थ—एगे—एक, **आसवे**—आश्रव है।

मूलार्थ—आश्रव सामान्य विवक्षा से एक है।

विवेचनिका—सूत्रकार ने पुण्य और पाप का बन्धन कराने वाले कारणों को आश्रव कहा है, अथवा जिसके द्वारा आत्मा में कर्म प्रवेश करते है उसे आश्रव कहते हैं। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वृत्तिकार कहते है—

आश्रवन्ति—प्रविशन्ति येन कर्माण्यात्मनीत्याश्रवः, कर्मबन्ध हेतुरिति भावः, सचेन्द्रियकषायाव्रतक्रियायोगरूपः क्रमेण पंच-चतुः-पञ्च पञ्चविंशतिस्त्रिभेदः।

अभिप्राय यह है कि पांच इन्द्रियों, चार कषायो, पांच अव्रतों, पच्चीस क्रियाओ और तीन योगों द्वारा जो कर्म आत्मा के साथ बधते हैं उन्हें आश्रव कहते है। इस प्रकार सब मिलाकर आश्रव के बयालीस भेद हो जाते हैं।

आश्रव को दो अन्य रूपो मे भी विभक्त किया जाता है—द्रव्य-आश्रव और भाव-आश्रव। यदि छिद्रों के द्वारा नौका में जल प्रविष्ट होता है तो उसे द्रव्याश्रव कहते हैं। जब जीव रूपी नाव में आश्रवरूप छिद्रों द्वारा कर्मरूप जल का आत्मा में संचय होता है तब उसे भावाश्रव कहा जाता है।

पाठान्तर

'आश्रव' के स्थान मे 'आस्रव' पाठान्तर भी देखने को मिलता है। तत्त्वार्थसूत्र के छट्ठे अध्याय में **'स आस्रवः'** कह कर कर्म का सम्बन्ध कराने वाला तथा कर्म बंध का कारण होने से **'आस्रव'** कहा गया है।

आश्रव शुभ भी होता है और अशुभ भी। पुण्य का आश्रव शुभ होता है और पाप के आश्रव को अशुभ कहा गया है। आश्रव के अनेक भेद होने पर भी सामान्य रूप से उसे एक ही माना गया है।

संवर-वर्णन

मूल—एगे संवरे ॥१४॥

छाया—एकः संवरः।

शब्दार्थ—एगे—एक, **संवरे**—संवर है।

मूलार्थ—संवर एक है।

विवेचनिका—सूत्रकार संवर का निरूपण करते हैं। जिन छिद्रों से पाप-पुण्य आदि बन्धों के कारण आत्मा में प्रवेश करते हैं उनका निरोध करना संवर कहलाता है। संवर को स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार कहते हैं—

संव्रियते कर्मकारणं प्राणातिपातादि निरुध्यते येन परिणामेन सः संवरः, आश्रवनिरोध इत्यर्थः।

पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश प्रकार का श्रमण-धर्म, बारह भावनाएं (जिन्हें अनुप्रेक्षा भी कहते हैं) और बाईस परीषहों को जीतना एवं पांच चारित्रों का पालन करना इस प्रकार संवर के सत्तावन भेद किए जाते हैं[१]।

द्रव्य-भेद और भाव-भेद से संवर भी दो प्रकार का है—नाव के छिद्रों का निरोध करना द्रव्य-संवर है और जीवरूपी नाव के आश्रव रूप छिद्रों का निरोध करना भाव-संवर कहलाता है। संवर के अनेक भेद होने पर भी सामान्य दृष्टि से संवर को एक बताया गया है।

वेदना-वर्णन

मूल—एगा वेयणा ॥१५॥

छाया—एका वेदना।

शब्दार्थ—एका—एक, **वेयणा**—वेदना है।

मूलार्थ—कर्मों के सुपरिणाम तथा दुष्परिणाम की अनुभूतिरूप वेदना भी एक है।

विवेचनिका—संवर के पश्चात् वेदना का वर्णन किया गया है, जो पूर्व कर्म किए जा चुके हैं उनके फलों का अनुभव करना ही वेदना है, अर्थात् कर्मफल की अनुभूति को वेदना कहा जाता है।

वेदना के भेद

यह वेदना विपाकोदय और प्रदेशोदय की अपेक्षा से दो प्रकार की होती है। प्रदेशोदय

---

१ विस्तृत विवेचन के लिए देखिए तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९

तो अनुभव में नहीं आता, किन्तु विपाकोदय अनुभव में आता है।

विपाकोदय भी दो प्रकार से अनुभव होता है।

कर्मक्षय के लिए वेदना काय-क्लेश, केशलुंचन, तप एवं संयम की आराधना करते हुए उदीरणा के द्वारा उदय में आए हुए फल को आभ्युपगमिकी वेदना कहते हैं।

जो कर्म स्वतः उदय होकर रोग आदि विविध आधि-व्याधि और उपाधि उत्पन्न करते हैं, उन की अनुभूति को औपक्रमिकी वेदना कहा जाता है, किन्तु सामान्य रूप से अनुभूतिरूप वेदना एक ही है।

शान्ति, धैर्य और समता के द्वारा वेदना चाहे जिस प्रकार की हो वह भोगने पर निर्जरा का कारण बन जाती है, अन्यथा बन्ध तो हो ही जायेगा। वेदना की अनुभूति के समय भी बाईस प्रकार के परीषहों के जीतने से आत्मलाभ है और परीषहों के द्वारा पराजित होने से कर्मबन्ध का होना निश्चित हो जाता है।

निर्जरा-वर्णन

मूल—एगा निज्जरा ॥ १६ ॥

छाया—एका निर्जरा।

शब्दार्थ—एगा—एक, **निज्जरा—**निर्जरा है।

मूलार्थ—जिन कर्मों को भोगा जा चुका है, उन्हें आत्मा से अलग करना ही निर्जरा कहा जाता है।

विवेचनिका—वेदना की अनुभूति के अनन्तर कर्मों का आत्मा से पृथक् होना या पृथक् किया जाना निर्जरा कहलाता है। यह निर्जरा आठ कर्मों की अपेक्षा से आठ प्रकार की, १२ प्रकार के तप की अपेक्षा से बारह प्रकार की और बालतप की अपेक्षा से भी अनेक प्रकार की निर्जरा मानी गई है। अकाम निर्जरा आदि अन्य अनेक रूपों में भी निर्जरा होती है।

द्रव्य और भाव की अपेक्षा से भी निर्जरा के दो रूप माने गए हैं—

द्रव्य-निर्जरा

जिस उपाय से वस्त्र आदि के मल को दूर किया जाता है उसे द्रव्य-निर्जरा कहते हैं।

भाव-निर्जरा

सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र के द्वारा कर्ममल को आत्मा से पृथक् किया जाना भाव-निर्जरा कहलाता है।

निर्जरा एवं मोक्ष में अन्तर

निर्जरा और मोक्ष में यह अन्तर है कि—आंशिक कर्म-क्षय को निर्जरा कहते हैं और कर्मों का ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक क्षय हो जाना मोक्ष कहलाता है।

इस प्रकार सूत्रकार ने जीवादि नव तत्त्वों का वर्णन करते हुए सामान्य रूप से निर्जरा के एकत्व का प्रतिपादन किया है। निर्जरा शब्द जैन आगमों का पारिभाषिक शब्द है और यह कर्म-क्षय के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

जीव-तत्त्व

मूल—एगे जीवे पाडिक्कएणं सरीरएणं ॥१७॥

छाया—एको जीवः प्रत्येकेन शरीरकेण।

शब्दार्थ—एगे जीवे—एक जीव, **पाडिक्कएणं**—प्रत्येक, **सरीरएणं**—शरीर में है।

मूलार्थ—प्रत्येक शरीर में एक जीव है।

विवेचनिका—कर्म-निर्जरा जीव के ही होती है, अतः अब सूत्रकार जीव तत्त्व का वर्णन करते हैं—

इस सूत्र में सामान्य रूप से जीव-तत्त्व का वर्णन किया गया है, क्योंकि आस्तिकवाद में मुख्य तत्त्व जीवात्मा ही ग्रहण किया गया है। आत्मवाद के स्वीकार करने के पश्चात् ही लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद सिद्ध हो सकते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में आत्मवाद का वर्णन करते हुए साथ ही कर्मवाद आदि का भी सामान्य रूप से वर्णन कर किया गया है।

द्रव्य रूप से जीव अनन्त हैं। साधारण नाम कर्मोदय से एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं। जैसे एक सरसों के समान छोटी सी गोली में हजारों औषधियों की सत्ता रहती है, वैसे ही एक शरीर में अनन्त जीवों का समूह निवास करता है, किन्तु प्रत्येक नामकर्म के उदय होने पर एक शरीर में एक ही जीव निवास करता है। प्रत्येक शरीरी जीव ही तप-संयम की आराधना करने में तथा बन्ध से मुक्त होने में समर्थ है।

पाठान्तर

'**पाडिक्कएणं**' के स्थान पर किसी वाचना में '**पडिक्खएणं**' पाठ देखा जाता है, किन्तु इस पद का अर्थ अवगत न होने से इस शब्द की व्याख्या नहीं लिखी गई, क्योंकि वाचना-भेद बहुत हैं। सर्व वाचनाओं की व्याख्या नहीं की जा सकती।

यदि हम—''**पाडिक्कएणं सरीरएणं**'' इन दो पदों की संस्कृत-छाया ''**प्रत्येके शरीरे**'' बनाएं तो अर्थ होगा—प्रत्येक शरीर में एक जीव रहता है।

इन दो पदों में दो जगह '**णं**' का जो प्रयोग किया गया है वह वाक्यालंकार के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है।

भवधारणीय वैक्रिय वर्णन

मूल—एगा जीवाणं अपरिआइत्ता विगुव्वणा ॥१८॥

छाया—एका जीवानां अपर्यादाय विकुर्वणा।

शब्दार्थ—अपरिआइत्ता—बाहरी पुद्गलों को ग्रहण किए बिना ही, **एगा**—एक है, **जीवाणं**—जीवों की, **विगुव्वणा**—भवधारणीय वैक्रिय।

मूलार्थ—बाहर के पुद्गलों को लिए बिना जीवों की भवधारणीय वैक्रिय एक ही होती है।

विवेचनिका—जीव जब तक शरीर धारण नहीं करता तब तक वह वेदना की अनुभूति नहीं कर सकता है। शरीरों में भी जीव का सबसे पहला सम्बन्ध जन्म द्वारा स्वाभाविक रूप से प्राप्त शरीर से है, अतः जीवतत्त्व के वर्णन के पश्चात् भवधारणीय वैक्रिय शरीर का वर्णन सूत्रकार ने उपस्थित किया है।

जन्मजात वैक्रिय शरीर को ही भवधारणीय वैक्रिय शरीर कहते हैं। सूत्रकर्त्ता सभी शरीरी जीवों का वर्णन करते हुए विकुर्वणा के विषय में कहते हैं कि कर्मबन्ध-युक्त आत्मा जब देवयोनि में उत्पन्न होता है, तब उसका शरीर भवधारणीय वैक्रिय होता है। उस समय स्वाभाविक रूप से भवधारणीय शरीर के रूप में पुद्गलों का संचय हो जाता है।

उत्तर वैक्रिय शरीर धारण करते समय जैसे बाहर के पुद्गल लिए जाते हैं, वैसे ही भवधारणीय वैक्रिय शरीर की रचना करते समय ग्रहण नहीं किए जाते। इसी कारण सूत्रकार ने यह कथन किया है कि एक विकुर्वणा ऐसी होती है जो बाहर के पुद्गलों को लिए बिना ही हो जाती है। भगवती सूत्र में उत्तर वैक्रिय का वर्णन करते हुए कथन किया गया है—

''देवे णं भंते! महिड्ढिए जाव महाणुभागे बाहिरए पोग्गलए अपरिआइत्ता पभू एगवण्णं एगरूवं विउव्वित्तए? गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे। देवे णं भंते! बाहिरए पोग्गलए परिआइत्ता पभू'' त्ति। इह उत्तरवैक्रिय बाह्यपुद्गलादानाद् भवतीति विवक्षितमिति।

अपने-अपने उत्पत्ति स्थान में जो जीवों द्वारा भवधारणीय वैक्रिय शरीर की रचना की जाती है, वह एक प्रकार की होती है। इसीलिए सूत्रकर्त्ता ने **'अपरिआइत्ता'** पद ग्रहण किया है। इस पद से यह स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि—उत्तर वैक्रिय की रचना बाहर के पुद्गलों को लिए बिना महर्द्धिक देव भी नहीं कर सकता, किन्तु भवधारणीय वैक्रिय शरीर में पुद्गल स्वतः ही संचित हो जाते हैं।

मनोवर्णन

मूल—एगे मणे ॥ १९ ॥

छाया—एकं मनः।

शब्दार्थ—एगे—एक है, **मणे—**मन।

मूलार्थ—मन एक है।

विवेचनिका—शरीर में स्थित जीव की विशेष अनुभूति का साधन मन होता है, अतः भवधारणीय वैक्रिय शरीर के अनन्तर मन का वर्णन उपस्थित करते हुए सूत्रकार ने मन के एकत्व का प्रतिपादन किया है।

भवधारणीय वैक्रिय शरीरी जीव नियमतः अनुभूतिशील होते हैं, औदारिक आदि शरीर से उत्पन्न मनोयोग के द्वारा ही वस्तु का परिज्ञान होता है। वह मनोयोग अर्थात् मानसिक अनुभूति सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार इस तरह चार प्रकार की होने पर भी तथा असंख्यात संज्ञी अर्थात् अनुभूति शील जीवों के भिन्न-भिन्न मन होने पर भी सामान्य दृष्टि से मन एक ही है, क्योंकि "**मननलक्षणत्वेन सर्व मनसामेकत्वादिति**" मनन रूप लक्षण सामान्य रूप से मन मात्र का है, अतः मन एक है।

मन वर्ण, गन्ध और रस से युक्त होता है और साथ ही वह चतुःस्पर्शी भी है। जब उस पर बुद्धि की नन्ही सी किरण पड़ती है, तब वह क्रिया करने लग जाता है, उसी क्रिया को मनोयोग कहते हैं। जब तक वह ज्ञान-किरण के प्रकाश से रहित होता है तब तक वह निश्चेष्ट एवं निर्जीव होता है, बुद्धि की किरण पाते ही वह सजीव सा हो जाता है। मन कभी इन्द्रियों के साथ मिलकर काम करता है और कभी स्वतन्त्र रूप से भी कार्य किया करता है। सुषुप्ति दशा में सुप्त सा हो जाता है। आत्मा के बिना शरीर की तरह वह भी जड़ ही है।

इस प्रकार सूत्रकार ने मननशीलता के कारण अनेक मनों में एकत्व का विधान किया है।

वाणी-वर्णन

मूल—एगा वई ॥२०॥

छाया—एका वाक्।

शब्दार्थ—एगा—एक है, **वई—**वाणी।

मूलार्थ—वाणी एक है।

विवेचनिका—वाणी का अर्थ है वचन, भाषा-पर्याप्ति अर्थात् अभिव्यक्ति का सामर्थ्य। अभिव्यक्ति का सामर्थ्य होने पर ही वाणी का प्रयोग किया जाता है। यहां वाक् शब्द से भाववाक् का ग्रहण हुआ है। औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों के व्यापार से गृहीत वाग्-द्रव्य-समूह की सहायता से जो जीव का व्यापार होता है वह वाग्-योग कहलाता है।

यद्यपि वाणी सत्य, असत्य, मिश्र, असत्यामृषा इस तरह चार प्रकार की है, तथापि वचन सामान्य की अपेक्षा समस्त वचनों में एकत्व होने के कारण वाणी को भी एक कहा गया है।

द्वीन्द्रिय-जाति, त्रीन्द्रिय-जाति, चतुरिन्द्रिय-जाति, और असंज्ञी-पंचेन्द्रिय जीवों की वाणी असत्यामृषा ही होती है, किन्तु विशिष्ट संज्ञी-तिर्यंच चारों प्रकार की वाणी का प्रयोग कर सकता है। तेरहवें गुणस्थान तक वाग्-योग पाया जाता है। फिर भी "**सर्ववाचां वचनसामान्येऽन्तर्भावादिति**" वचन-सामान्य की अपेक्षा वाणीरूप होने से समस्त जीवों की वाणी एक ही है।

काय-व्यायाम

मूल—एगे कायवायामे ॥२१॥

छाया—एकः कायव्यायामः।

शब्दार्थ—एगे—एक है, **कायवायामे**—काय का व्यापार।

मूलार्थ—काय का व्यापार एक है।

विवेचनिका—मन, वाणी और काय आदि का सम्बन्ध कायिक व्यापारों से है, अतः अब काय के व्यापार का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—काय-व्यापार एक है। सजीव देह को काय कहते हैं, वह अन्न आदि से वृद्धि को प्राप्त करता है। काय में दो तरह से क्रिया होती है—एक जानकर और दूसरी अनजाने। काय के प्रत्येक अंग में स्पन्दनात्मक जो भी क्रिया होती है। वह पहली तरह की क्रिया है और काय में प्रतिक्षण नसों—नाड़ियों में जो क्रिया हो रही है, वह स्वाभाविक क्रिया है जो कि अनजाने में स्वतः ही होती रहती है।

योग, व्यायाम, क्रिया और व्यापार ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक सब में काययोग पाया जाता है। काया से जो भी क्रिया की जाती है उसे काययोग कहते हैं। अनन्त जीवों के साथ काययोग का सम्बन्ध जुडा हुआ है। इस दृष्टि से काय-व्यायाम भी अनन्त प्रकार का हो जाता है। यद्यपि काययोग औदारिक आदि सात प्रकार का है तदपि सामान्य दृष्टि से वह भी एक है। साधकों को संयम और तप की आराधना-साधना में काय-व्यायाम करना चाहिए, इसी में साधक का कल्याण है।

उत्पाद-वर्णन

मूल—एगा उप्पा ॥२२॥

छाया—एक उत्पादः।

शब्दार्थ—एगा—एक है, उप्पा—उत्पाद।

मूलार्थ—द्रव्य में उत्पन्न होने वाली पर्याय भी एक ही है।

विवेचनिका—काय-व्यापारों से आत्मा में अनेक पर्यायों का जन्म होता है, परन्तु वे सब पर्याएं भी सामान्य दृष्टि से एक हैं, अतः उनके एकत्व का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—पर्याय एक है। पर्याय शब्द जैनागमों का पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है—विशेष रूप, आकृति या परिवर्तन।

अन्य द्रव्यों की तरह आत्मा में द्रव्य-पर्याय भी उत्पन्न होती है और भाव-पर्याय भी। मनुष्य, देव आदि जीवों की द्रव्य-पर्याय है। वह द्रव्य-पर्याय एक समय में एक ही उत्पन्न हो सकती है, किन्तु उस द्रव्य-पर्याय के सहारे भाव-पर्याय भी एक समय में एक ही उत्पन्न होती है।

बारह उपयोग हैं, उनमें से एक समय में एक ही उपयोग जीव में पाया जाता है। जब केवलज्ञानी में केवलज्ञान की पर्याय उत्पन्न होती है तब उस में मति अज्ञान की पर्याय उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि परस्पर विरोधी दोनों पर्याय एक जीव में एक साथ उत्पन्न नहीं होती।

जीव के चौदह स्थान हैं। जीव उनमें से एक समय में एक स्थान में ही जन्म ले सकता है, अनेक स्थानों में नहीं। योग भी जीव की एक पर्याय है। उक्त तीनों योगों में से एक समय में एक ही योग में प्रवृत्ति होती है और वह प्रवृत्ति एक ही पर्याय को जन्म देती है।

विगति-वर्णन

मूल—एगा वियई ॥२३॥

छाया—एका विगतिः।

शब्दार्थ—एगा—एक है, **वियई**—विगति।

मूलार्थ—विगति अर्थात् विनाश भी एक ही है।

विवेचनिका—जहां उत्पाद अर्थात् उत्पत्ति होती है, वहां विनाश का होना भी अवश्यं-भावी है, अतः उत्पाद के अनन्तर उसके प्रतिक्रियात्मक रूप विगति का वर्णन आवश्यक था, अतः सूत्रकार विगति के एकत्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—विगति अर्थात् विनाश भी एक ही है।

जो वस्तु उत्पन्न हुई है, उसका विनाश भी निश्चित है। जो द्रव्य पर्याय उत्पन्न हुई है वह चिरकाल तक स्थायी नहीं रह सकती, क्योंकि वह विनाशशील है। द्रव्य का लक्षण है 'सत्' और जो सत् होता है, वह उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है। द्रव्यत्व ध्रुव है। इसीलिये कहा गया है—**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः, ध्रुवं जन्म मृतस्य च** जो उत्पन्न होता है

उस के विनाश का नियम भी अटल है और मोक्ष से पूर्व मरने वाले का जन्म भी अवश्य होता है।

जैन-दर्शन की मान्यता है कि जो सत् वस्तु है, वह न तो एकान्तरूप से नित्य है और न ही क्षणिकवादी सिद्धांत के अनुसार अनित्य है। सभी वस्तुएं यदि एक रूप में नित्य हैं तो दूसरे रूप में अनित्य हैं। इस कथनानुसार चाहे चेतन हो या जड़, मूर्त हो या अमूर्त, सूक्ष्म हो या बादर, सत् कहलाने वाली सभी वस्तुएं उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से तीन रूप वाली हैं।

प्रत्येक वस्तु में दो अंश हैं—एक भाग वह जो तीनों कालों में शाश्वत है और दूसरा अंश सर्वदा अशाश्वत है। शाश्वत अंश के कारण प्रत्येक वस्तु ध्रौव्यात्मक है और अशाश्वत अंश के कारण उत्पाद व्ययात्मक अर्थात् उत्पत्ति और विनाश से युक्त कहलाती है। इन दो अंशों में से किसी ओर दृष्टि जाने से और किसी ओर न जाने से शाश्वत तथा अशाश्वत की प्रतीति होती है, किन्तु दोनों अंशों की ओर दृष्टि देने से ही वस्तुतत्त्व को समझने में हम सफल हो सकते हैं, अतः विचारक को चाहिए कि—ध्रौव्य को भी अपने लक्ष्य में रखे और उत्पाद तथा व्यय को भी।

पर्याय उत्पन्न और विनाश होती रहती है, किन्तु वस्तुतत्त्व ज्यों का त्यों रहता है। यदि उसका भी विनाश हो जाए तो उसे निरन्वय विनाश कहते हैं। कूटस्थ नित्य मानने से वस्तु अपरिणामी सिद्ध होती है।

जीवास्तिकाय की जितनी पर्याय एक समय में नष्ट हो रही हैं, विगति की दृष्टि से वे सभी एक हैं। विगति के लिये शास्त्रों में 'विगम' शब्द का प्रयोग भी किया गया है।

विगतार्चा—त्यज्यमान शरीर

मूल—एगा वियच्चा ॥२४॥

छाया—एका विगतार्चा।

शब्दार्थ—एगा—एक है, **वियच्चा**—विगतार्चा अर्थात् त्यज्यमान शरीर।

मूलार्थ—जीव के द्वारा परित्यक्त होने वाला शरीर एक है।

विवेचनिका—गत सूत्र में विनाश का वर्णन किया गया है। सभी विनाश शरीर के चारों ओर केन्द्रित हैं, अतः इस सूत्र में सूत्रकार ने विनाशशील त्यज्यमान शरीर के एकत्व का विवेचन किया है।

जब जीव मृत्यु के कारण एक शरीर का परित्याग करता है तब वह अन्य शरीर धारण कर लेता है। धार्यमान शरीर या तो औदारिक होता है या वैक्रिय हुआ करता है।

अर्चा शब्द शरीर का वाचक है अर्थात् जीव द्वारा परित्यक्त शरीर ही कलेवर या शव आदि कहलाता है। उत्तर वैक्रिय के द्वारा चाहे जीव कितने ही रूप धारण कर ले, किन्तु अन्य भव में जाते समय एक ही शरीर को छोडता है। मरण-काल के समय कोई भी लब्धि-धारी या भवधारणीय वैक्रिय शरीरी जीव उत्तर वैक्रिय नहीं करता, यही इस सूत्र से ध्वनित होता है। वृत्तिकार का कथन है—

'वियच्च' त्ति विगते प्रागुक्तत्वादिह विगतस्य विगमवतो जीवस्य मृतस्य इत्यर्थः, अर्चा शरीरं विगतार्चा, प्राकृतत्वादिति, विवर्चा वा विशिष्टोपपत्तिपद्धतिर्विशिष्टभूषा वा, सा चैका सामान्यादिति॥

'वियच्च' की संस्कृत-छाया 'विवर्चा' भी बनती है जिसका अर्थ होता है—वस्तु-तत्त्व को जानने की विशिष्ट पद्धति, जिसका कि अनेकान्तवाद अथवा विशिष्ट विभूषा भी अर्थ निकलता है। दोनों के अनेक भेद होते हुए भी वे स्वरूप से एक हैं।

जीव एक समय में एक शरीर का ही परित्याग करता है, अतः त्यज्यमान शरीर भी सामान्य दृष्टि से एक ही है।

गति-वर्णन

मूल—एगा गई ॥ २५ ॥

छाया—एका गतिः।

शब्दार्थ—एगा—एक है, **गई—**गति।

मूलार्थ—गति भी सामान्य रूप से एक ही है।

विवेचनिका—जीवात्मा शरीर धारण करता है और फिर यथासमय कर्म-फल को भोगकर शरीर का त्याग भी करता है। इस शरीर-ग्रहण और त्याग के मध्यकाल में वह गतिशील रहता है—अतः अब सूत्रकार गति की विवेचना करते हुए कहते हैं—गति एक है।

गति का अर्थ है—गमन। मृत्यु के पश्चात् जीव स्वर्ग में जाता है और नरक तथा तिर्यञ्च आदि योनियों में गमन करता है, यह गमन ही गति है।

यद्यपि ऋजुगति, वक्रगति आदि गति के भी अनेक रूप हैं, किन्तु कोई भी गति हो, आखिर है तो गति ही, क्योंकि गतित्व रूप सामान्य धर्म सब में एक ही रहता है, इसलिए सूत्रकार ने गति के एकत्व का प्रतिपादन किया है। एक समय में जीव एक गति को अपनाता है, इस दृष्टि से भी गति एक ही कही गई है।

गति केवल जीव ही करता हो यह बात भी नहीं है, गति पुद्गल द्रव्यों में भी होती है, यहां गति के एकत्व के द्वारा उनकी गति भी सामान्य रूप से ग्रहण कर ली गई है।

आगति—आगमन-वर्णन

मूल—एगा आगई ॥२६॥

छाया—एका आगतिः।

शब्दार्थ—एगा—एक है, **आगई**—आगति।

मूलार्थ—आगति अर्थात् आगमन भी एक है।

विवेचनिका—जब तक जीव कर्मों के बन्धन में बंधा हुआ है, तब तक वह शरीर-त्याग कर यदि स्वर्गादि लोकों में जाता है तो वह इस संसार में लौट कर भी आता है, अतः गति के अनन्तर आगति के परिचय को आवश्यक मानते हुए सूत्रकार कहते हैं—आगति भी एक है।

नरक आदि गतियों से कर्मानुरूप भव में पुनः लौटकर आना आगति कहलाती है। विशिष्ट संस्कारी आत्माओं की गति और आगति दोनों ही महत्त्वपूर्ण होती हैं, शेष जीव कर्मचक्र के अनुसार गति-आगति करते हैं। इस प्रकार आवागमन अनादि काल से निरन्तर चल रहा है, जब तक जीव आत्मभाव में अर्थात् स्वरूप में नहीं आता तब तक उसे आवागमन से विश्रान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

गति और आगति के संदर्भ में यह जानना आवश्यक है कि—किसी भी वर्तमान भव से निकल कर अन्य किसी भव में जाना गति है और उसी पूर्वभव को पुनः लौटकर प्राप्त करना आगति है। सांसारिक जीवों की गति और आगति का युगल शाश्वत है।

च्यवन-वर्णन

मूल—एगे चवणे ॥२७॥

छाया—एकं च्यवनम्।

शब्दार्थ—एगे—एक है, **चवणे**—च्यवन।

मूलार्थ—च्यवन भी एक है।

विवेचनिका—सामान्य जीवों के स्वर्गादि लोकों से आगमन को आगति कहा जाता है, किन्तु कुछ देवविशेषों का आगमन च्यवन कहलाता है, अतः आगमन के साथ च्यवन का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—च्यवन भी एक है।

ज्योतिष्क देव और वैमानिक देवों के मरण को च्यवन और नारकी भवनपति एवं वानव्यन्तर देवों के मरण को उद्वर्तन कहते हैं। च्यवन एक जीव की अपेक्षा से या नाना जीवों की अपेक्षा से समान होने के कारण एक ही है। आयु समाप्त होने पर नियमेन देवताओं को भी औदारिक शरीर में आना पड़ता है। एक समय में जितने देवों का च्यवन

होता है वह च्यवन समय की अपेक्षा एक ही होता है, क्योंकि च्यवनमात्र में च्यवनत्व धर्म सामान्य रूप से एक समान ही रहता है; अतः च्यवन के एकत्व का प्रतिपादन किया गया है।

उपपात-वर्णन

मूल—एगे उववाए ॥२८॥

छाया—एक उपपातः।

शब्दार्थ—एगे—एक है, **उववाए**—उपपात।

मूलार्थ—देवता और नारकी जीवों के जन्म को उपपात कहते हैं, वह भी एक है।

विवेचनिका—उपपात शब्द जैन परिभाषा में देव और नारकियों के जन्म-विशेष के लिए रूढ़ है, क्योंकि इन दोनों गतियों में वैक्रिय शरीर पाया जाता है। वैक्रिय की अपेक्षा से उपपात एक ही है। अथवा एक समय में जितने देव और नारकियों का उपपात होता है समय की अपेक्षा से वह उपपात एक ही होता है, क्योंकि उपपातत्व रूप सामान्य धर्म सब में समान होता है।

तर्क-वर्णन

मूल—एगा तक्का ॥ २९ ॥

छाया—एकस्तर्कः।

शब्दार्थ—एगा—एक है, **तक्का**—तर्क।

मूलार्थ—तर्क-शक्ति भी एक है।

विवेचनिका—गति, आगति और च्यवन आदि परोक्ष पदार्थ हैं। परोक्ष पदार्थों को केवलज्ञानियों के ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है, अथवा तर्क के द्वारा भी, अतएव अब सूत्रकार तर्क का वर्णन करते हुए कहते हैं—तर्क एक है।

तर्क का अर्थ है—विमर्श करना। तर्क का स्थान ईहा और अवाय के अन्तराल में है। वृत्तिकार की वृत्ति इस विषय में निम्नलिखित है:—

'तक्का त्ति' तर्क्कणं तर्क्को—विमर्शः, अवायात् पूर्वा, ईहाया उत्तरा, प्रायः शिरः कण्डूयनादयः पुरुषधर्मा इह घटन्ते—इति सम्प्रत्ययरूपा, इह चैकत्वं प्रागिवेति।

अतः अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति से सम्बन्धित ज्ञान या विमर्श को तर्क कहते हैं। वह भी संग्रह-नय की दृष्टि से एक है।

प्राकृत के लक्षण वश से तर्क शब्द का यहां स्त्रीलिंग में प्रयोग हुआ है।

संज्ञा-वर्णन

मूल—एगा सन्ना ॥ ३० ॥

छाया—एका संज्ञा।

शब्दार्थ—एगा—एक है, सन्ना—संज्ञा।

मूलार्थ—सुनने के बाद विचार करना रूप संज्ञा एक है।

विवेचनिका—शास्त्रादि के श्रवण के अनन्तर एवं तर्क द्वारा निर्णीत विषय पर विचार भी आवश्यक होता है, अत: अब विचार रूप संज्ञा का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं:—"संज्ञा भी एक है।"

संज्ञा का सामान्य अर्थ ज्ञान होता है। संज्ञा के तीन भेद किए गए हैं—ज्ञान-संज्ञा, अनुभवन-संज्ञा और अभिधान-संज्ञा, अर्थात् नाम संज्ञा। पांच ज्ञान रूप संज्ञा को ज्ञान-संज्ञा कहा जाता है। अथवा व्यंजनावग्रह के उत्तरकाल में जो ज्ञान-विशेष होता है उसे ज्ञान-संज्ञा कहते हैं। इस दृष्टि से संज्ञा मतिज्ञान का ही एक अंश है।

अनुभवन संज्ञा—यह सोलह प्रकार की होती है जैसे कि आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा, परिग्रह-संज्ञा, सुख-संज्ञा, दु:ख-संज्ञा, शंका-संज्ञा, मोह-संज्ञा, क्रोध-संज्ञा, मान-संज्ञा, माया-संज्ञा, लोभ संज्ञा, शोक-संज्ञा, लोक-संज्ञा, धर्म-संज्ञा, ओघ-संज्ञा। वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से जो विचारों में विकृति उत्पन्न होती है वह संज्ञा कहलाती है।

अभिधान संज्ञा का अर्थ है किसी भी वस्तु या व्यक्ति आदि का बोध कराने वाला नाम।

इस प्रकार संज्ञा के अनेक रूप होते हुए भी सामान्य रूप से संज्ञा एक ही है।

मति-वर्णन

मूल—एगा मन्ना ॥ ३१ ॥

छाया—एका मति:।

शब्दार्थ—एगा—एक है, **मन्ना**—मति।

मूलार्थ—मनन करने वाली मति एक है।

विवेचनिका—संज्ञा अर्थात् विचार के लिए मनन आवश्यक होता है, अत: अब सूत्रकार मति अर्थात् मनन का वर्णन करते हुए कहते हैं—मति भी एक है।

जो ज्ञान वर्तमान विषयक है उसे ही मति कहा जाता है, अथवा पदार्थ के कुछ अंश का निर्णय करने में समर्थ एवं सूक्ष्म धर्म का पर्यालोचन करने वाली जो बुद्धि है, उसे ही

मति कहा जाता है।

अथवा 'मन्ना' शब्द का रूप संस्कृत में 'मन्ता' भी हो जाता है जिसका अर्थ है— **मनितव्यम्**, स्वीकार करना। मननरूप क्रिया को मन्ना कहा जाता है। मनन करने से धारणा दृढ़ होती है। जब तक धारणा दृढ़ न हो जाए तब तक उस विषय का मनन बंद नहीं करना चाहिए। जैसे मलिन जल को वैज्ञानिक पद्धति से विशुद्ध किया जाता है वैसे ही इन्द्रियों और मन के द्वारा ग्रहण किए हुए सद् विषय को मनन करने से ही दर्शन एवं चारित्र की विशुद्धि हो सकती है। अतः मनन एक ऐसी मनोवैज्ञानिक पद्धति है जो आध्यात्मिक शुद्धि में सहायक है यह मनन भी अनेक विध होता है, परन्तु सामान्य रूप से सभी प्रकार का मनन मनन ही है, इस प्रकार मननशीला मति भी एक ही सिद्ध होती है।

विज्ञ-वर्णन

मूल—एगा विन्नू ॥ ३२ ॥

छाया—एको विज्ञः।

शब्दार्थ—एगा—एक है, **विन्नू**—विद्वान् अथवा विज्ञाता।

मूलार्थ—विज्ञाता भी एक ही है।

विवेचनिका—मनन से विज्ञता प्राप्त होती है, अतः मति के अनन्तर विज्ञता का वर्णन करते हुए सूत्रकार 'एगा विन्नू' कह कर विज्ञता की एकता का प्रतिपादन कर रहे हैं।

विज्ञ या विद्वान् सामान्य रूप से एक हैं, क्योंकि सबका अवबोध रूप उपयोग एक है। इस सूत्र के विषय में वृत्तिकार लिखते हैं, जैसे कि—

'एगा विन्नू इति, विद्वान, विज्ञो वा तुल्यबोधत्वादेक इति' स्त्रीलिंगत्वाच्च प्राकृतत्वात् उत्पाद (स्य) उप्पावत्, लुप्त भावप्रत्ययत्वाद्वा एका विद्वता वेत्यर्थः'।

विद्वत्ता—विज्ञता भी समान रूप से एक है। उक्त सभी विषयों का सूत्रकार स्याद्वाद के आधार से वर्णन कर रहे हैं, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में अनन्त धर्म या अनन्त पर्याय हैं, परन्तु सूत्रकार उन सभी का समानरूप से एक शब्द द्वारा ग्रहण कर रहे हैं, अतः सूत्रकार ने विद्वत्ता को एक ही कहा है।

वेदना-वर्णन

मूल—एगा वेयणा ॥ ३३ ॥

छाया—एका वेदना।

शब्दार्थ—एगा—एक है, **वेयणा**—वेदना।

मूलार्थ—पीड़ारूप वेदना एक है।

विवेचनिका—जो व्यक्ति मननशील एवं अनुभूतिशील है, वही वेदना की अनुभूति कर सकता है, अत: विज्ञता के अनन्तर वेदना को प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार ने वेदना की भी एकता का प्रतिपादन किया है।

वेदनीय कर्म के उदय से जीव जिस असाता अर्थात् अशान्ति की अनुभूति करता है उसे वेदना कहते हैं। पन्द्रहवें सूत्र में सूत्रकार ने जिस वेदना का वर्णन किया है, वह ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के फल विशेष को लक्ष्य में रख कर किया है, किन्तु यहा सूत्रकार का अभिप्राय ज्वर आदि से उत्पन्न शारीरिक पीड़ा से है। यह वेदना कितने प्रकार की है? इस के उत्तर में कहा जा सकता है, जिस प्रकार आसमान में तारे असंख्य हैं उसी प्रकार वेदना भी अनगिनत प्रकार की हैं, फिर भी वेदनारूप क्रिया सामान्य रूप से एक ही प्रकार की है।

यदि चिकित्सालय में सौ रोगियों को पूछा जाए तुम्हें क्या हो रहा है? तो सब का उत्तर एक ही होगा ''वेदना—पीडा हो रही है।'' इस दृष्टि से वेदना एक है।

छेदन-वर्णन

मूल—एगे छेयणे ॥३४॥

छाया—एकं छेदनम्।

शब्दार्थ—एगे—एक है, **छेयणे**—छेदन।

मूलार्थ—छेदन रूप क्रिया एक है।

विवेचनिका—वेदना का प्रमुख कारण है—छेदन; अत: वेदना के कारणीभूत छेदन का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—छेदन रूप क्रिया एक है।

शरीर या अन्य किसी वस्तु के कुछ हिस्से को तलवार या अन्य शस्त्रों द्वारा अलग करना ही छेदन कहलाता है। कर्मों की स्थिति का घात करना भी छेदन ही है। जिस कर्म का स्थितिबन्ध दीर्घकालिक है उसे अपवर्तना के द्वारा अल्पकालिकी बनाना स्थिति-घात कहलाता है। जिन तीव्र परिणामों से आत्मा का कर्मों के साथ दीर्घकालिकी स्थिति का बन्ध हुआ है उसके विरोधी परिणामों के द्वारा स्थिति का घात करना भी छेदन कहा जाता है। वेदना का छेदन करना सम्यक्दृष्टि के लिये अनिवार्य है।

यद्यपि छेदन शब्द नपुंसक लिंगी है फिर भी प्राकृत के विशेष नियम से उसका पुलिंग में प्रयोग किया गया है।

भेदन-वर्णन

मूल—एगे भेयणे ॥३५॥

छाया—एकं भेदनम्।

शब्दार्थ—**एगे**—एक है, **भेयणे**—भेदन रूप क्रिया।

मूलार्थ—पीड़ारूप वेदना एक है।

विवेचनिका—वेदना का अंत स्थितिघात से भी होता है और रसघात से भी, अतः छेदन का वर्णन करने के अनन्तर प्रस्तुत सूत्र में भेदन का वर्णन किया गया है।

शरीर आदि पौद्‌गलिक वस्तु को सुई, कांटे, तीर और भाले आदि नोकदार शस्त्रों से विदीर्ण करना—छलनी की तरह बींधना इत्यादि प्रक्रिया को भेदन कहते हैं, अथवा कर्मों के रस का घात करना भेदन है। जिस कर्म का रस अर्थात् भोग परिणाम तीव्रतम कटु होता है उसे मंद, मंदतर एवं मंदतम बनाना रसघात कहलाता है। छेदन एवं भेदन का अन्तर स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार कहते हैं—

छेदनं शरीरस्यान्यस्य वा खड्गादिनेति, भेदनं कुन्तादिना अथवा छेदनं कर्मणः स्थितिघातः, भेदनं तु रसघात इति।

वृत्तिकार के आशय को ही पूर्व लिखित पंक्तियों में स्पष्ट किया गया है। 'भेदनम्' शब्द नपुंसकलिंगी होने पर भी प्राकृत-व्याकरण के विशेष नियम से पुल्लिंग में प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकार अनेक विध भेदन को भी सामान्य दृष्टि से एक कहा गया है।

चरम शरीरी मरण-वर्णन

मूल—एगे मरणे अंतिमसारीरियाणं ॥३६॥

छाया—एकं मरणं अन्तिमशारीरिकाणाम्।

शब्दार्थ—**अंतिम सरीरियाणं**—चरमशरीरियों का, **एगे मरणे**—मरण एक ही है।

मूलार्थ—चरमशरीरी जीवों का मरण एक बार ही होता है, पुनः-पुनः नहीं।

विवेचनिका—छेदन-भेदन क्रिया बार-बार जन्म-मरण के चक्र में फंसे हुए जीवों पर ही प्रभाव डालती है चरमशरीरी उससे मुक्त हो जाते हैं, अतः छेदन-भेदन के अनन्तर चरमशरीरियों का परिचय दिया गया है।

जो साधक घनघाति कर्मों का सर्वथा छेदन-भेदन करके कर्मों से रहित होकर स्नातक बन जाता है, उस का मरण एक बार ही होता है, क्योंकि वह पुनः जन्म धारण नहीं करता। कर्म-बीज दग्ध होने से जब जन्म ही नहीं, तब मरण कैसे हो सकता है?

सिद्ध गति प्राप्त होने पर जीव सादि अनन्त पद को प्राप्त कर लेता है, इसलिए सूत्रकार ने कहा है—'**एगे मरणे अंतिमसारीरियाणं**' चरमशरीरी आत्माओं का कार्मण-शरीर-परित्याग-रूप मरण एक बार ही होता है।

सर्वोत्तम पात्र

मूल—एगे संसुद्धे अहाभूए पत्ते ॥ ३७ ॥

छाया—एकः संशुद्धो यथाभूतः (प्राप्तः) पात्रम्।

शब्दार्थ—एगे—एक है, **संसुद्धे**—विशुद्ध, **अहाभूए**—यथाख्यात चारित्री, **पत्ते**—पात्र।

मूलार्थ—कषायरहित होने से विशुद्ध एवं यथाख्यात-चारित्र संपन्न जीव ही एक उत्तम पात्र है।

विवेचनिका—चरमशरीरी बनने के अनन्तर तेरहवें गुणस्थान में आत्मा ज्ञानादि रत्नों को प्राप्त कर सर्वोत्तम पात्र बन जाता है, अतः चरमशरीरी की विशेषता का वर्णन करने के अनन्तर प्रस्तुत सूत्र में उसकी उत्तम पात्रता का वर्णन किया गया है।

इस सूत्र में पात्र का उत्तम विश्लेषण किया गया है, जो कषायरहित है, यथाख्यात-चारित्र-समवेत है, वह वास्तविक रूप से पात्र है, क्योंकि वही सर्वगुण-संपन्न होने से उत्तम पात्र है। यहां पात्र से तात्पर्य है—पूर्ण ज्ञान आदि रत्नत्रय का आधारभूत साधक, अर्थात् विशुद्ध चारित्र को पालने वाले जीव उत्तम पात्र कहे जाते हैं।

'पत्ते' का संस्कृत रूप 'प्राप्त' भी बनता है। ऐसी दशा में इसका अर्थ होगा—जिसने ज्ञानादि रूप रत्नों को प्रकर्ष रूप से प्राप्त कर लिया है, अर्थात् तेरहवें गुणस्थान में जितने भी केवली हैं वे सब गुणों की अपेक्षा से सामान्य रूप से तथा सर्वोत्तम पात्रता की दृष्टि से एक हैं।

सम-दुःखानुभूति

मूल—एग-दुक्खे जीवाणं एगभूए ॥ ३८ ॥

छाया—एकदुःखो जीवानां एकभूतः।

शब्दार्थ—एग दुक्खे—एक दुःख, **जीवाणं**—जीवों का, **एगभूए**—एक ही सदृश है।

मूलार्थ—जीवों का दुःख एकभूत है अर्थात् सभी जीवो को दुःख की अनुभूति समान रूप से होती है।

विवेचनिका—केवलज्ञानी सर्वोत्तम पात्र दुःखानुभूति नहीं करते, शेष संसारी जीव चाहे वह उत्तम हो अथवा निकृष्ट कोटि का हो, किन्तु दुःखानुभूति सब में समान होती है। इसी समानता का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—दुःखानुभूति के एकत्व का प्रतिपादन करते हैं।

इस सूत्र में सूत्रकर्ता ने एक महत्त्वपूर्ण रहस्य का उद्घाटन किया है। जिन की प्रवृत्ति सदा हिंसा में संलग्न है उन्हें सर्वदा यह अवश्य सोचना चाहिए कि अपने जैसा दुःख सभी

जीवों को होता है। जो छेदन, भेदन, हनन आदि क्रियाएं अपने अनुकूल नहीं हैं वे दूसरों के भी अनुकूल नहीं हो सकती। जो दुःख अपने को प्रिय नहीं वह औरों को भी प्रिय नहीं हो सकता। अथवा जो दुःख-पीड़ित प्राणी हैं यदि वैसी स्थिति मेरी भी बन जाए तो मेरी भी वही दशा होगी जो अन्य की हो रही है। दुःखानुभूति प्राणिमात्र को समान रूप से होती है, किन्तु वह दुःख रूप कर्म आत्मा के साथ क्षीर नीरवत् एकभूत हो रहा है। जैसे लोहपिण्ड में अग्नि प्रविष्ट हो जाती है उस समय अग्नि और लोह-पिण्ड एक रूप हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा दुःखभूत अशुभ कर्मों के प्राप्त होते ही उनके साथ एक हो जाता है।

अथवा सर्वप्राणी आत्म-सदृश होने से एकभूत हैं, क्योंकि जब समभाव के द्वारा विचार किया जाता है तब यह सिद्ध होता है कि—प्रत्येक आत्मा अपने-अपने किए हुए कर्मों का फल अनुभव कर रहा है फिर भी सब में दुःखानुभूति के साम्य की दृष्टि से एकता है।

अथवा अन्तिम शरीरी आत्मा अपने अन्तिम शरीर से सम्बन्धित एक दुःख का अनुभव करता है, मुक्त होने के बाद सभी दुःखों का ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक विनाश हो जाता है।

इस विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—

'एगहक्खे त्ति' पाठान्तरे त्वेकधैषाख्या संशुद्धादिव्यपदेशो यस्य, नत्वसंशुद्ध-संशुद्धासंशुद्ध इत्यादि कोऽपि व्यपदेशान्तरनिमित्तस्य कषायादेरभावादिति संभवत्येक-धाक्षः, एकधा अक्षो वा जीवो यस्य स तथेति, जीवानां-प्राणिनामेकभूतः—एक एव आत्मोपम इत्यर्थः एकान्तहितवृत्तित्वात्, एकत्वं चास्य बहूनामपि समस्वभावत्वादिति।

कषाय रहित होने से अरिहंत एवं सिद्ध भगवान् का सब जीवों पर समभाव ही होता है।

इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जीवो द्वारा होने वाली अनुभूति स्वरूप से एक ही है।

अधर्म-प्रतिमा

मूल—एगा अहम्मपडिमा जं से आया परिकिलेसइ ॥ ३९ ॥

छाया—एका अधर्मप्रतिमा यत्तया आत्मा परिक्लिश्यते।

शब्दार्थ—एगा—एक, **अहम्मपडिमा**—अधर्म प्रतिज्ञा है, **जं**—जिस कारण से, **से**—वह, **आया**—आत्मा, **परिकिलेसइ**—ज्ञानादि गुणों से रहित होकर क्लेश प्राप्त करता है।

मूलार्थ—जिस अधर्म-प्रतिज्ञा रूप कारण से आत्मा जन्म-जरा-मरण आदि विविध दुःखों से दुःखित होता है वह अधर्म-प्रतिज्ञा भी एक है।

विवेचनिका—दु:खानुभूति का वर्णन करने के अनन्तर सूत्रकार दु:ख के मूल कारण अधर्म-प्रतिमा का वर्णन करते हैं—

विश्व में जो प्राणी दु:खों का अनुभव कर रहे हैं, वे सब अधर्म का ही दुष्परिणाम भोग रहे हैं। अधर्म के हिंसा आदि अनेक भेद होने पर भी उसका मूल रूप अधर्म-प्रतिज्ञा एक है। सूत्रकर्त्ता ने **'पडिमा'** शब्द किया है जिसका अर्थ है—प्रतिमा, प्रतिज्ञा। इस विषय में वृत्तिकार भी लिखते हैं—

'अधर्मप्रधानं शरीरं वा अधर्मप्रतिमा स चैका'

शारीरिक तथा मानसिक दु:खों एवं परिक्लेशों का मूल कारण अधर्म प्रतिज्ञा ही है, इसी से जीव सुख एवं आत्मभाव से वियुक्त होकर नरक आदि दुर्गतियों में परिभ्रमण करता है।

धर्म-प्रतिमा

मूल—एगा धम्मपडिमा जं से आया पज्जवजाए ॥४०॥

छाया—एका धर्मप्रतिज्ञा यत्तया आत्मा पर्यवजात:।

शब्दार्थ—**एगा**—एक, **धम्मपडिमा**—धर्म प्रतिज्ञा, **जं**—जिस कारण से, **से**—उस धर्म प्रतिज्ञा का स्वामी, **आया**—आत्मा, **पज्जवजाए**—ज्ञानादि गुणों से युक्त होता है।

मूलार्थ—जिस से आत्मा चिन्तामणि के तुल्य दुर्लभ रत्नत्रय को प्राप्त कर सुख प्राप्त करता है वह धर्म-प्रतिज्ञा सामान्य दृष्टि से एक है।

विवेचनिका—जीव अधर्म का आचरण अनादि काल से कर रहा है, किन्तु धर्म का आचरण वह कभी सौभाग्य से ही करता है, अत: सूत्रकार अधर्म वर्णन के अनन्तर धर्म-वर्णन प्रस्तुत करते हैं।

आत्मा का अपने स्वभाव में तन्मय होना ही धर्म है। धर्म के प्रभाव से जीव दुर्गति में गमन नहीं करता और सुगति को प्राप्त करता है तथा सर्व प्रकार के दु:खों से छूट जाता है। कहा भी है—

दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्, यस्माद्धारयते तत:।
धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद्धर्म इति स्मृत:॥

सम्यग्दर्शन-पूर्वक श्रुतधर्म और चारित्रधर्म रूपों में धर्म दो प्रकार का कथन किया गया है। जिस दशा में साधक का मन धर्म से ओत-प्रोत हो जाता है उस दशा को धर्म-प्रतिज्ञा कहते हैं। तब आत्मा ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र से ज्येष्ठ ही नहीं श्रेष्ठ भी बन जाता है। **'पर्यव: परिरक्षा परिज्ञानं वा'** इसका भाव यह है कि जब आत्मा धर्म-प्रतिज्ञा से युक्त होता है

तभी वह अन्य जीवों की रक्षा एवं परिज्ञान से सम्पन्न होता है। इसी दशा में आत्मा स्व-कल्याण एवं पर-कल्याण भी कर सकता है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में धर्म-प्रतिमा के एकत्व और उसके द्वारा सद्गुण-प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया है और धर्म की महत्ता की ओर भी संकेत किया गया है।

सूत्र में जो '**जं से**' ये दो पद आए हैं इनका संस्कृत रूप '**जं—यत्, (से-तस्याः)**' षष्ठी का एक वचन है और यह षष्ठी-प्रयोग तृतीयार्थ में हुआ है।

मनः-साम्य

मूल—एगे मणे देवासुरमणुयाणं तंसि तंसि समयंसि ॥ ४१ ॥

छाया—एकं मनो देवासुरमनुजानां तस्मिन् तस्मिन् समये।

शब्दार्थ—एगे मणे—मनोयोग एक होता है, **देव-असुर-मणुयाणं**—देव, असुर और मनुष्यों के उपलक्षण से पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के, **तंसि तंसि समयंसि**—उस-उस समय में।

मूलार्थ—देव, असुर, मनुष्यों में एक समय में एक ही मनोयोग होता है।

विवेचनिका—धर्म, अधर्म आदि सभी के लिये-मनोयोग का होना आवश्यक होता है, अतः धर्म एवं अधर्म के वर्णन के अनन्तर मनोयोग के साम्य का वर्णन किया गया है।

सूत्रकार समय की सूक्ष्मता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि जिस समय में देव, असुरकुमार और मनुष्य, उपलक्षण से सभी संज्ञी तिर्यंच जीव मनोयोग में प्रवृत्त होते हैं उस समय उनका मनोयोग एक ही होता है, क्योंकि जीव का स्वभाव ही ऐसा है कि वह एक समय में दो उपयोगों में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है—यदि ग्रीष्म ऋतु में कोई मनुष्य मध्याह्नकाल में प्रवाहित होती हुई नदी के बीच खडा है उस समय ऊपर से सूर्य की प्रचण्ड किरणों से उसका मस्तक तप रहा है, पांव ठण्डे हो रहे हैं और सिर गर्म, दोनों स्पर्शों का वह व्यक्ति एक समय में ही अनुभव कर रहा है। ऐसी दशा में एक समय में एक ही उपयोग होता है, अर्थात् मन को एक ही विषय की अनुभूति होती है, यह कैसे कहा जा सकता है?

उत्तर में कहना है कि—समय इतना सूक्ष्म है कि उसकी कल्पना भी हमारे मस्तिष्क में नहीं हो सकती। अतः तपती धूप में पानी में खड़े मनुष्य का मन कभी शीत स्पर्श की और कभी उष्ण स्पर्श की अनुभूति करता है एक साथ दोनों की नहीं।

यह भी प्रश्न हो सकता है कि सूत्र में देव, असुर और मनुष्य ही ग्रहण किए गए हैं, तिर्यंच और नारकीय क्यों छोड़ दिए गए? जब कि उन के भी मनोयोग होता है?

उत्तर में कहना है कि—देव, असुर और मनुष्य की विशिष्टता अन्य गतियों से विलक्षण

होती है, इसलिये वे ही ग्रहण किए गए हैं, किन्तु वास्तव में यहां सभी संज्ञी जीवों का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार इस सूत्र में मनोयोग के एकत्व का निर्देश किया गया है।

वाक्-साम्य

मूल—एगा वई देवासुरमणुयाणं तंसि तंसि समयंसि ॥ ४२ ॥

छाया—एका वाग् देवासुर-मनुजानां तस्मिन् तस्मिन् समये।

शब्दार्थ—देव-असुर-मणुयाणं—देव, असुर और मनुष्यों के, **तंसि तंसि समयंसि**—उस-उस समय में, **एगा वई**—एक ही वाग्योग होता है।

मूलार्थ—देव, असुर और मनुष्यों के उस-उस समय में वाग्योग एक होता है।

विवेचनिका—परोपकारी मनोयोग वाले प्राणियों का वचनयोग किसी न किसी अभिप्राय को लेकर ही प्रवृत्त होता है, अत: मनयोग के अनन्तर वाग्योग के एकत्व का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

आगम साहित्य में भाषा चार प्रकार की बतलाई गई है— सत्य-भाषा, असत्य-भाषा, मिश्र-भाषा और व्यवहार-भाषा। इनमें से एक समय में एक भाषा बोली जा सकती है, अत: यहां वाणी की एकता कही गई है। सशक्त इन्द्र आदि देवों में भी ऐसी ऋद्धि एवं पराक्रम नहीं जिससे वे छ: बातों को अन्यथा कर दें अर्थात् जो जीव को अजीव कर दें और अजीव को जीव कर दें, और एक समय में दो भाषाएं बोल सकें, इसी सत्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

"छहिं ठाणेहिं नत्थि जीवाणं इड्ढीइ वा जाव परक्कमेइ वा, तं जहा—जीवं वा अजीवं करणयाए, अजीवं वा जीवं करणयाए, एगसमएणं दो भासाओ भासित्तए।"

इस कथन से यही सिद्ध हुआ कि—एक समय में दो भाषाएं नहीं बोली जा सकतीं, क्योंकि एक समय में एक भाषा बोलने में ही उपयोग लगता है। दूसरी भाषाएं उस समय लब्धिरूप में रहती हैं, परन्तु उनका उपयोग नहीं हो सकता। इसीलिए सूत्रकार ने वाणी के एकत्व का प्रतिपादन किया है।

काय-व्यायाम-वर्णन

मूल—एगे कायवायामे देवासुर-मणुयाणं तंसि-तंसि समयंसि ॥ ४३ ॥

छाया—एक: कायव्यायामो देवासुर-मनुजानां तस्मिंस्तस्मिन् समये।

शब्दार्थ—देवासुरमणुयाणं—देव, असुर और मनुष्यों के, **तंसि तंसि समयंसि**—उस-उस समय में, **एगे कायवायामे**—एक ही काययोग होता है।

मूलार्थ—देव, असुर और मनुष्यों के उस-उस समय में एक काययोग होता है।

विवेचनिका—विशिष्ट वचन-योग वाले प्राणी काययोग के द्वारा ही सेवा, वैयावृत्य आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करते हैं, अतः सूत्रकार ने काय व्यायाम के साम्य का वर्णन किया है।

आगम-साहित्य में काययोग सात प्रकार का वर्णित है। उनकी व्याख्या आगे यथास्थान की जाएगी। सूत्र में व्यायाम शब्द विशिष्ट योग के लिए रूढ है। मन, वचन और शरीर के व्यापारों के लिए जैन परिभाषा में 'योग' शब्द प्रचलित है। शरीर की सब प्रकार की चेष्टाओं को व्यायाम कहा जाता है। व्यायाम-चेष्टा अच्छाई और बुराई दोनों रूपों में घटित हो जाती है।

देव शब्द से वैमानिक, ज्योतिष्क, और भवनपति देवता गृहीत हैं, असुर शब्द से वानव्यन्तर, आदि का ग्रहण किया गया है। औदारिक आदि कार्मणयोग पर्यन्त सात कायों में जीव का एक समय में एक काययोग में ही उपयोग पाया जाता है। जिसके वाग्योग है उसके काययोग नियमेन होता है, किन्तु जिसके काययोग है उसके वाग्योग हो भी सकता है और नहीं भी। बुद्धि एवं संकल्पपूर्वक जो काययोग होता है उसे काय-व्यायाम कहते हैं। विशिष्ट कायव्यायाम केवल संज्ञी जीवों में पाया जाता है। इसी कारण देव, असुर और मनुष्य का उल्लेख सूत्र में किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में देव, असुर और मनुष्यों के काय-व्यायाम की एकता का विवेचन किया गया है।

उत्थानादि-विवेचन

मूल—एगे उट्ठाण-कम्म-बल-वीरिय-पुरिसकार-परक्कमे देवासुर-मणुयाणं तंसि तंसि समयंसि ॥४४॥

छाया—एकः उत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पुरुषकार-पराक्रमः देवासुर-मनुजानां तस्मिंस्तस्मिन् समये।

शब्दार्थ—**एगे**—एक होता है, **उट्ठाण**—उठना, **कम्म**—गमन आदि क्रिया, **बल**—शरीर की शक्ति, **वीरिय**—आत्मशक्ति, **पुरिसकार**—पुरुषार्थ, **परक्कमे**—और पराक्रम, **देवासुरमणुयाणं**—वैमानिक तथा ज्योतिष्क देव, असुरकुमार, वानव्यन्तर आदि असुर तथा मनुष्यों के, **तंसि तंसि समयंसि**—उस-उस समय में।

मूलार्थ—देव, असुर और मनुष्यों की उस-उस समय में जो उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम आदि क्रियाएं होती हैं, वे सब सामान्य दृष्टि से एक हैं।

विवेचनिका—उत्थानादि की क्रिया-शक्तितया योगात्मा में पाई जाती हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि आत्मा अनन्त शक्तियों का भण्डार है, उसमें जो गुण हैं वे अपने आप में पूर्ण हैं, किन्तु वीर्यान्तराय कर्म का जितनी मात्रा में उदय होता है उतनी मात्रा में

वे शक्तियां मन्द, मन्दतर एवं मन्दतम होती जाती हैं। वीर्यान्तराय कर्म का जितना क्षयोपशम होता है उतनी ही वे शक्तियां व्यक्त होती हैं। वीर्यान्तराय कर्म के सर्वथा क्षय करने पर आत्मा में शक्ति की पूर्णता हो जाती है। इस सूत्र में क्षयोपशमजन्य शक्ति-विशेष का उल्लेख किया गया है। उस शक्ति की अभिव्यक्ति अनन्त प्रकार से होती है। उनमें से प्रत्येक प्रकार को छः भागों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे कि—

उत्थान:—उठना, बैठना, खड़े होना, भौतिक एवं आध्यात्मिक समुन्नति के लिए चेष्टा करना।

कर्म:—गमन, आगमन, हिलना, डुलना एवं परिभ्रमण आदि क्रियाएं।

बल:—शारीरिक शक्ति—शारीरिक सामर्थ्य।

वीर्य:—आध्यात्मिक बल अर्थात् मानसिक शक्ति।

पुरुषकार:—पुरुषत्वाभिमान—पुरुषार्थ करना।

पराक्रम:—उत्साह शक्ति का होना, लक्ष्य प्राप्ति तक सुदृढ़ रहना, हिम्मत न हारना। देव, असुर और मनुष्य जब भी इन का प्रयोग करते हैं तब एक समय में एक का ही प्रयोग किया करते हैं।

देव, असुर और मनुष्य ये विश्व में सबसे अधिक सशक्त माने जाते हैं, किन्तु उनमें भी ऐसी शक्ति नहीं है जो एक समय में अनेक शक्तियों का प्रयोग कर सकें। इस आशय को समझाने के लिए सूत्रकार ने उत्थान, कर्म आदि के एकत्व का उल्लेख किया है।

रत्न-त्रयी

मूल—एगे नाणे, एगे दंसणे, एगे चरित्ते॥ ४५ ॥

छाया—एकं ज्ञानम्, एकं दर्शनम्, एकं चारित्रम्।

शब्दार्थ—एगे नाणे—ज्ञान एक है, **एगे दंसणे**—दर्शन एक है, **एगे चरित्ते**—चारित्र एक है।

मूलार्थ—ज्ञान एक है, श्रद्धान रूप दर्शन एक है, चारित्र एक है।

विवेचनिका—उत्थानादि क्रियाओं से ही ज्ञानादि रत्नत्रय की आराधना हो सकती है। प्रस्तुत सूत्र में उसी रत्नत्रयी का उल्लेख किया गया है। आत्मा का अनन्य गुण यदि कोई है तो वह ज्ञान है। ज्ञान दो तरह का होता है—एक व्यावहारिक और दूसरा पारमार्थिक। पहला ज्ञान यथासंभव सब प्राणियों को होता है, चाहे हाथी हो या चींटी, एकेन्द्रिय जीव हो या पंचेन्द्रिय, देव हो या नारकी, अपने-अपने जीवन के निर्वाह के लिए ज्ञान सभी को होता है, किन्तु वह ज्ञान कहलाएगा व्यावहारिक ही। पारमार्थिक ज्ञान सम्यग्दृष्टि को ही होता है, अन्य किसी को नहीं होता। प्रस्तुत सूत्र में पारमार्थिक ज्ञान का ही उल्लेख किया गया है।

जिसके द्वारा पदार्थों का बोध होता है वह ज्ञान है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम या क्षय से ज्ञानोपलब्धि होती है। इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम या क्षय से दर्शन होता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान ये पांच ज्ञान हैं। मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंग-ज्ञान ये तीन अज्ञान कहलाते हैं। चक्षु-दर्शन, अचक्षु-दर्शन, अवधि-दर्शन और केवल-दर्शन ये चार दर्शन कहलाते हैं। इन सब को उपयोग कहते हैं। ज्ञान विशेष-ग्राही होता है और दर्शन सामान्य-ग्राही, जैसे कि कहा भी है—

"जं सामन्नग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं नाणं"।

अत: अवग्रह और ईहा को दर्शन कहते हैं सामान्यग्राही होने से, और अवाय एवं विशेषांश ग्रहण करने से धारणा को ज्ञान कहते हैं, इस तरह सूत्र के **'एगे नाणे'** इस पद से ज्ञान एवं दर्शन दोनों का ग्रहण हो जाता है। किसी एक दृष्टिकोण से दर्शन का भी ज्ञान शब्द से ग्रहण किया जाता है।

नन्दी सूत्र में मतिज्ञान के अट्ठाईस भेदों का उल्लेख करते हुए उन्हीं भेदों में दर्शन भी ग्रहण किया गया है, अत: ज्ञान शब्द से उक्त दोनों का ग्रहण हो जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में जो **'एगे दंसणे'** पाठ दिया है उसका भाव यह है—जिसके द्वारा पदार्थों का निश्चय किया जाता है, उस सम्यक् श्रद्धा की परिचायक शक्ति को दर्शन कहते हैं। यद्यपि उसके अनेक भेद होते हैं, तदपि वह एक है। क्षायिक सम्यग्दर्शन और औपशमिक सम्यग्दर्शन निर्मलत्व की दृष्टि से एक हैं, किन्तु क्षायोपशमिक की विचित्रता में दर्शन अनेकविध होते हुए भी सामान्य दृष्टि से एक ही है।

दर्शन-मोह के उपशम से, क्षय से या क्षयोपशम भाव से जो तत्त्व-श्रद्धान रूप आत्मभाव उत्पन्न होते हैं, वे उपाधि-भेद से अनेकविध हो जाने पर भी एक ही है, अथवा एक जीव को एक समय में एक ही प्रकार का दर्शन होता है।

तत्त्व-रुचि का होना सम्यक्त्व है। तत्त्व-रुचि का मूल कारण ज्ञान है। ज्ञान से तत्त्व-रुचि बढ़ती ही जाती है। तत्त्व-रुचि का परिपक्व सुफल सम्यग्दर्शन है। उससे ही जीव मोक्ष का अधिकारी बनता है। आगमों में दर्शन और ज्ञान के अनेक भेद होने पर भी ज्ञानत्व और दर्शनत्व की दृष्टि से ज्ञान और दर्शन दोनों एक-एक हैं।

जो मुमुक्षु के द्वारा आचरण किया जाता है अथवा जो कर्मों के चय अर्थात् समूह से आत्मा को निर्लिप्त कर देता है उसे चारित्र कहते हैं। चारित्र-मोह के उपशम से, क्षयोपशम से या क्षय से आत्मा में जो विरति रूप परिणाम उत्पन्न होते हैं वे सब चारित्र कहलाते हैं।

सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात इस तरह चारित्र पांच प्रकार का होता है। इनका विवेचन यथास्थान किया जाएगा।

सूत्र-संख्या सतरह से ले कर यहां तक जो कुछ कथन किया गया है वह सब जीवात्मा को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने वर्णन किया है। चारित्र की आराधना भी जीव करता है।

विशिष्ट प्रकार की विशुद्ध प्रक्रिया को चारित्र की संज्ञा दी गई है। चारित्रत्व की दृष्टि से वह एक है। उक्त तीनों प्रक्रियाएं मोक्ष-साधिकाएं हैं। इस साधना-त्रिपुटी की चरम सीमा तक पहुंचते ही जीव कर्मबन्धन से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। जब तक उपर्युक्त साधन अलग-अलग हैं तब तक जीव मुक्त नहीं हो सकता, जब तीनों एक साथ एक स्तर पर पहुंच जाते हैं तब जीव के मुक्त होने में कोई विलंब नहीं रहता।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन एवं सम्यक्-चारित्र रूप रत्नत्रयी के एकत्व एवं महत्त्व का विवेचन किया गया है।

समय-विवेचन

मूल—एगे समए ॥ ४६ ॥

छाया—एकः समयः।

शब्दार्थ—एगे—एक है, **समए**—समय।

मूलार्थ—समय एक है।

विवेचनिका—स्वर्णिम अवसर अर्थात् सुन्दर समय मिलने पर ही जीव रत्नत्रय के द्वारा आत्मविकास कर सकता है, अतः इस सूत्र में समय का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

समय एक ऐसा अखण्ड शाश्वत तत्त्व है जिसके विभाग बुद्धि की शक्ति से तो क्या केवलज्ञानी के ज्ञान से भी नहीं हो सकते, अतः काल के अविभाज्य अतिसूक्ष्म अंश को समय कहते हैं। सब से छोटा काल वर्तमान समय है। समय से काल का प्रारंभ होता है। जो भूतकाल में विनष्ट हो चुका है एवं भविष्यत्काल में अनुत्पन्न है, अकिंचित्कर होने से उसे समय नहीं कहा जा सकता, अर्थक्रिया-कारित्व वर्तमान समय ही है, उसी में ही वस्तु का उत्थान एवं पतन होता है। असंख्यात समयों की एक आवलिका होती है। १६७७७२१६ आवलिकाओं का एक मुहूर्त होता है। ३० मुहूर्त का एक अहोरात्र अर्थात् दिन रात होते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि काल के अविभाज्यांश का नाम समय है, वह समय सामान्य दृष्टि से एक है।

प्रदेश और परमाणु

मूल—एगे पएसे, एगे परमाणू ॥ ४७ ॥

छाया—एकः प्रदेशः, एकः परमाणुः।

शब्दार्थ—एगे—एक है, **पएसे**—प्रदेश, **एगे**—एक है, **परमाणू**—परमाणु।

मूलार्थ—प्रदेश एक है और परमाणु भी एक है।

विवेचनिका—समय का अच्छा और बुरा प्रभाव प्रदेश और परमाणु पुद्गल पर ही

पड़ता है, क्योंकि उनके ही वस्तु रूप पर्याय का उत्पाद और व्यय होता है, अतः समय के अनन्तर प्रदेश और परमाणु का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

समय का विश्लेषण करने के अनन्तर सूत्रकार अन्य अविभाज्य-अंश कौन-कौन से हैं? इसका विश्लेषण करते हैं। प्रकृष्ट देश को प्रदेश कहते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय के प्रदेश अरूपी होते हैं। वृत्तिकार भी उक्त अभिप्राय की पुष्टि करते हैं। जैसे कि—

प्रकृष्टो निरंशो धर्माधर्माकाशजीवानां देशः—अवयवविशेषः प्रदेशः, स चैकः स्वरूपतः।

अत्यन्त सूक्ष्म अणु को परमाणु कहते हैं, परमाणु सदा कारण रूप ही होता है, कार्य रूप नहीं, क्योंकि परम ज्ञानियों ने उसे नित्य माना है। परमाणु में पांच रसों में से एक रस, इसी प्रकार एक वर्ण, एक गन्ध और दो स्पर्श पाए जाते हैं। परमाणु द्रव्य का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं हो सकता, क्योंकि वह अतीन्द्रिय है उसका ज्ञान हमें आगम या अनुमान से ही हो सकता है। परमाणु का अनुमान कार्य की सत्ता से किया जाता है।

क्योंकि जो पौद्गलिक कार्य दृष्टिगोचर होते हैं वे सब सकारण हैं। इसी प्रकार जो अदृश्य अन्तिम कार्य होगा, उसका भी कारण होना ही चाहिए। वही कारण परमाणु द्रव्य है। उसका कारण अन्य कोई द्रव्य न होने से उसे अन्तिम कारण कहा गया है।

जो स्कन्ध, देश और प्रदेश से बिल्कुल भिन्न हैं, उन्हें परमाणु कहते हैं। वृत्तिकार श्री अभयदेवसूरि ने परमाणु के विषय में अपनी वृत्ति में एक प्राचीन श्लोक का उद्धरण दिया है, जैसे कि—

कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिंगश्च ॥

परमाणु अनन्त होते हुए भी स्वरूप से एक हैं। इस प्रकार प्रदेश और परमाणु अनन्त होते हुए भी जातित्व की अपेक्षा से एक हैं।

सिद्धि, सिद्ध, परिनिर्वाण और परिनिर्वृत

मूल—एगा सिद्धी, एगे सिद्धे, एगे परिनिव्वाणे, एगे परिनिव्वुए ॥ ४८ ॥

छाया—एका सिद्धिः, एकः सिद्धः, एकं परिनिर्वाणं, एकः परिनिर्वृतः।

शब्दार्थ—एगा सिद्धी—एक सिद्धि है, **एगे सिद्धे**—एक सिद्ध है, **एगे परिनिव्वाणे**—एक परिनिर्वाण है, **एगे परिनिव्वुए**—एक परिनिर्वृत है।

मूलार्थ—सिद्धि एक है, सिद्ध एक है, परमशान्ति एक है, परमशान्त भी एक है।

विवेचनिका—आत्म-प्रदेशों से कर्म परमाणुओं के अलग हो जाने पर ही सिद्धि प्राप्त

होती है और सिद्धत्व प्राप्त करना ही जीव का परम लक्ष्य है। इस सूत्र में सिद्धि, सिद्ध, परिनिर्वाण और परिनिर्वृत इन पदों का उल्लेख प्रस्तुत किया गया है।

सिद्धि—

आगम-साहित्य में सिद्धि भी एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। जीवात्मा के परम लक्ष्य को सिद्धि कहते हैं। वह साधक के परिश्रम का सुपरिणाम है। योगजन्य अणिमादि सिद्धियां अनेक प्रकार की होती हुईं भी सिद्धित्व की दृष्टि से वे सब एक ही हैं, अथवा जिस दशा को प्राप्त करके जीव कृतार्थ हो जाए उसे सिद्धि कहते हैं, वह भी एक ही है। ईषत्-प्राग्भार पृथ्वी को सिद्ध कहा गया है, वह भी एक ही है। वह पृथ्वी ४५ लाख योजना की लम्बी चौड़ी है और सर्वार्थसिद्ध महाविमान से बारह योजन ऊपर है, उसे सिद्धालय भी कहते हैं। वह भी द्रव्यत्व की दृष्टि से एक है।

सिद्ध—

जिस आत्मा ने सिद्धि प्राप्त कर ली है उसे सिद्ध कहते हैं। सिद्ध के अनेक रूप हैं जैसे कि—कर्म-सिद्ध, विद्या-सिद्ध, मंत्र-सिद्ध, योग-सिद्ध, आगम-सिद्ध, अर्थ-सिद्ध, यात्रा-सिद्ध, अभिप्राय-सिद्ध, शिल्प-सिद्ध, बुद्धि-सिद्ध, और कर्मक्षय-सिद्ध। इस प्रकार सिद्ध अनेक हैं, परन्तु अनेक होने पर भी सामान्य दृष्टि से सब में सिद्धत्व एक है, अतः सूत्रकार ने **'एगे सिद्धे'** कहा है।

कर्मक्षय से होने वाले सिद्ध भी दो प्रकार के हैं—अनन्तर-सिद्ध और परंपर-सिद्ध। अनन्तर-सिद्ध के पन्द्रह रूप हैं और परंपर-सिद्ध के अनेक रूप हैं, फिर भी सिद्धत्व की दृष्टि से वे सब एक हैं। गुणों का पूर्ण विकास जो एक में है वही दूसरे में भी है, वही तीसरे में है और वही सब में हैं। उनमें से कोई भी न्यूनाधिक गुणों वाला नहीं हैं, सिद्धों की एक राशि होने से वे एक हैं। यद्यपि सिद्ध भगवान् एक नहीं, अनन्त हैं, फिर भी सिद्धत्व सब में विद्यमान है, अतः वे अनेक होते हुए भी एक हैं।

परिनिर्वाण—

परिनिर्वाण शब्द भी महत्त्वपूर्ण अर्थ को लिए हुए है। जब आत्मा कर्म-कलंक-पंक से सर्वथा रहित हो जाता है एवं आत्मलीन हो जाता है, उसी दशा को परिनिर्वाण कहते हैं।

बौद्धदार्शनिक परिनिर्वाण का अर्थ शून्य करते हैं, वह इस स्थान पर अभीष्ट नहीं है, किन्तु राग-द्वेष से रहित होने का नाम ही वास्तव में परिनिर्वाण है। राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, मद, मोह एवं दुःख आदि अवगुणों से सर्वथा शून्य होना ही यदि परिनिर्वाण का अर्थ किया जाए तो जैन-दर्शन को यह अर्थ मान्य है, किन्तु गुणों से भी सर्वथा शून्य हो जाने की दशा को जैन-दर्शन परिनिर्वाण नहीं मानता है।

परिनिर्वृत—

निर्वाणगत जीव को परिनिर्वृत कहते हैं। परिनिर्वृत सिद्ध का दूसरा नाम है। जब आत्मा शारीरिक और मानसिक दु:खों से सर्वथा छूट जाता है, अथवा स्व-स्वरूप में तल्लीन होने से जो आत्मा सादि-अनन्त एक रस परमशान्ति का अनुभव करता है उसे परिनिर्वृत कहा जाता है। विश्व में बहुत सी आत्माएं कर्मों की अपेक्षा अनादि अनन्त भी हैं, जिनका विवेचन यथास्थान किया जाएगा। फिर भी सूत्रकार ने परिनिर्वृत को सामान्यत: एक ही स्वीकार किया है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में सिद्धि, सिद्ध, परिनिर्वाण और परिनिर्वृत का सामान्यत: एकत्व सिद्ध किया गया है।

शब्द-रूपादि का एकत्व

मूल—एगे सद्दे। एगे रूवे। एगे गंधे। एगे रसे। एगे फासे। एगे सुब्भिसद्दे। एगे दुब्भिसद्दे। एगे सुरूवे। एगे दुरूवे। एगे दीहे। एगे हस्से। एगे वट्टे। एगे तंसे। एगे चउरंसे। एगे पिहुले। एगे परिमण्डले। एगे किण्हे। एगे नीले। एगे लोहिए। एगे हलिद्दे। एगे सुक्किले। एगे सुब्भिगंधे। एगे दुब्भिगंधे। एगे तित्ते। एगे कडुए। एगे कसाए। एगे अंबिले। एगे महुरे। एगे कक्खडे जाव लुक्खे ॥ ४९ ॥

छाया—एक: शब्द:। एकं रूपम्। एको गन्ध:। एको रस:। एक: स्पर्श:। एक: सुरभिशब्द:। एको दुरभिशब्द:। एकं सुरूपम्। एकं दुरूपम्। एकं दीर्घम्। एकं ह्रस्वम्। एकं वृत्तम्। एकं त्र्यस्त्रम्। एकं चतुरस्त्रम्। एकं पृथुलम्। एकं परिमण्डलम्। एक: कृष्ण:। एको नील:। एको लोहित:। एको हरिद्र:। एक: शुक्ल:। एक: सुरभिगन्ध: एको दुरभिगन्ध:। एकस्तिक्त:। एक: कटुक:। एक: कषाय:। एकोऽम्ल:। एको मधुर:। एक: कर्कशो यावत् रूक्ष:।

शब्दार्थ—एगे—एक है, **सद्दे**—शब्द, **एगे**—एक है, **रूवे**—रूप, **एगे**—एक है, **गंधे**—गंध, **एगे**—एक है, **रसे**—रस, **एगे**—एक है, **फासे**—स्पर्श, **एगे**—एक है, **सुब्भिसद्दे**—सुरभिशब्द, **एगे**—एक है, **दुब्भिसद्दे**—दुरभिशब्द, **एको**—एक है, **सुरूवे**—सुरूप, **एगे**—एक है, **दुरूवे**—दुरूप, **एगे**—एक है, **दीहे**—दीर्घ-आकार, **एगे**—एक है, **हस्से**—ह्रस्व, **एगे**—एक है, **वट्टे**—वट्ट-वृत्त, **एगे**—एक है, **तंसे**—त्र्यस्त्र—त्रिकोण, **एगे**—एक है, **चउरंसे**—चतुरस्त्र—चतुष्कोण, **एगे**—एक है, **पिहुले**—पृथुल—विस्तीर्ण आकार, **एगे**—एक है, **परिमण्डले**—परिमण्डल—चूडी जैसा आकार, **एगे**—एक है, **किण्हे**—कृष्ण वर्ण, **एगे**—एक है, **नीले**—नील वर्ण, **एगे**—एक है, **लोहिए**—लोहित वर्ण, **एगे**—एक है, **हालिद्दे**—

पीला वर्ण, **एगे**—एक है, **सुक्किलले**—शुभ्र—धवल वर्ण, **एगे**—एक है, **सुब्भिगंधे**—सुरभिगन्ध, **एगे**—एक है, **दुब्भिगंधे**—दुर्गन्ध, **एगे**—एक है, **तित्ते**—तिक्त रस, **एगे**—एक है, **कडुए**—कटुक रस, **एगे**—एक है, **कसाए**—कषाय रस, **एगे**—एक है, **अंबिले**—अम्ल—खट्टा रस, **एगे**—एक है, **महुरे**—मधुर रस, **एगे**—एक है, **कक्खडे**—कर्कश—कठोर स्पर्श, **जाव**—यावत्, **लुक्खे**—रूक्ष भी एक है।

मूलार्थ—ऊँचा शब्द एक है, रूप एक है, गंध एक है, रस एक है, स्पर्श एक है, इष्ट शब्द एक है, अनिष्ट शब्द एक है, सुरूप एक है, कुरूप एक है, दीर्घ आकार एक है, छोटा आकार एक है, वृत्त—गोले के समान आकार एक है, त्रिकोण आकार एक है, चौकोण आकार एक है, पृथुल एक है, परिमंडल चूड़ी की तरह का आकार एक है, काला एक है, नीला एक है, लाल रंग एक है, पीला रंग एक है, श्वेत रंग एक है, सुगंध एक है, दुर्गन्ध एक है, तिक्त-तीखा रस एक है, कटुरस एक है, कषाय रस एक है, अम्ल रस एक है, मधुर रस एक है, कर्कश स्पर्श एक है, यावत् रूक्ष स्पर्श तक सभी स्पर्श एक-एक हैं।

विवेचनिका—द्रव्य की पहचान गुणों से होती है। जीवास्तिकाय अरूपी है और उसके गुण भी अरूपी हैं जैसे कि ज्ञान, अनुभव और आनन्द। इस से विपरीत पुद्गलास्ति-काय रूपी है और उस के गुण भी रूपी हैं, अतः अब सूत्रकार सिद्धात्मा का वर्णन करने के अनन्तर पुद्गलास्तिकाय के गुणों को प्रस्तुत करते है।

इस सूत्र में पुद्गल का स्पष्ट वर्णन मिलता है। पुद्गल को दो भागों में विभाजित किया गया है—एक परमाणु-विभाग और दूसरा स्कन्ध-विभाग। परमाणु किसी भी इन्द्रिय द्वारा गम्य नहीं है, अतः उसकी सत्ता कार्य रूप अनुमान से की जाती है। स्कन्ध-रूप पुद्गल की सत्ता का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा होता है और इन्द्रियों के बिना भी।

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श ये पुद्गल द्रव्य के गुण हैं। परमाणु के अतिरिक्त द्विप्रदेशी, तीन प्रदेशी आदि स्कन्धों में पाच संस्थानों मे से कोई सा संस्थान अवश्य पाया जाता है, परन्तु परमाणु में कोई संस्थान नहीं होता।

जो दर्शनकार शब्द को आकाश का गुण मानते हैं उनकी मान्यता का निराकरण उक्त सूत्र से स्वतः हो जाता है, क्योंकि शब्द श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य है, जब आकाश द्रव्य इन्द्रिय का विषय नहीं है तो उसका शब्द गुण भी इन्द्रिय-गम्य कैसे हो सकता है? शब्द इन्द्रियगम्य होने से पुद्गल का ही एक रूप है, ऐसा मानना ही युक्ति संगत है

सूत्रकर्त्ता ने जो "**सुब्भिसद्दे, दुब्भिसद्दे**" दो पद दिए हैं, इनका भाव यह है—जो श्रोत्रेन्द्रिय के लिए सुख रूप प्रतीत होता हुआ मन को भी प्रसन्न करता है उसे सुशब्द कहा

गया है, जो मन आदि को प्रसन्न न कर सके वह अनिष्ट एवं दुरभि शब्द होता है।

जो "**सुब्भिगंधे, दुब्भिगंधे**" पद दिए गए हैं, इनका भाव है—सुगन्ध, दुर्गन्ध। इनके समान ही सुरूप, कुरूप आदि के विषय में भी समझ लेना चाहिए। दीर्घ, ह्रस्व और पृथुल इन संस्थानों का समावेश आयत सस्थान में हो जाता है। वह संस्थान प्रतर, घन और श्रेणि के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें प्रत्येक आयत-संस्थान समप्रदेशावगाढ़ और विषम-प्रदेशावगाढ़ के भेद से दो प्रकार का होता है। इस तरह आयत संस्थान के दो भेद हो जाते है। परिमंडल संस्थान वलयाकार होता है।

सूत्र में जो पांच वर्ण बतलाए गए है, वे स्वतत्र रग है। शेष जितने प्रकार के रग दृष्टिगोचर होते है, वे सब मिश्रण से बनते है, अतः उनका उल्लेख यहा नही किया गया।

रस का वर्णन करते हुए रस के मूलतः पाच भेद वर्णन किए गए है—जैसे कि तिक्तरस जो कि श्लेष्म नाशक होता है, कटुक रस वातनाशक होता है, अन्न रुचि रोकने वाला कषाय रस है, यह भी वातजयी रस है, चित्त को आह्लादित करने वाला मधुररस है, किन्तु सूत्रकार ने लवण रस को स्वतत्र एवं मुख्य रस नही माना, कारण कि लवण पाच रसों के ससर्ग से बनता है।

वर्ण में वर्णत्व धर्म, शब्द में शब्दत्व धर्म, गध मे गन्धत्व धर्म, रस में रसत्व धर्म और स्पर्श में स्पर्शत्व धर्म एक होने से उन्हे एक कहा गया है। यद्यपि शब्द तीन प्रकार के होते है, जैसे कि—जीव शब्द, अजीव-शब्द और मिश्र-शब्द, तदपि उन्हे ग्रहण करने वाली एक श्रोत्रेन्द्रिय ही है। इसी प्रकार वर्ण पाच तरह का होते हुए भी उसे ग्रहण करने वाली चक्षुरिन्द्रिय ही है। इसी प्रकार गन्ध को ग्रहण करने वाली घ्राणेन्द्रिय है। रस को रसनेन्द्रिय अर्थात् जिह्वा और स्पर्श को स्पर्शनेन्द्रिय अर्थात् त्वचा ही ग्रहण करती है। इस दृष्टि से वे एक हैं। इन सबकी अनुभूति करने वाला एक आत्मा ही है। सस्थान, वर्ण और क्रिया ये तीनो ही यद्यपि चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य हैं, फिर भी मुख्य रूप से वर्ण को ही चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य माना गया है।

इस प्रकार पुद्गल के भेद और उपभेदों का वर्णन किया गया है। कर्म, लेश्या, शरीर, मन, वाणी, श्वासोच्छ्वास इत्यादि सब पुद्गल द्रव्य ही हैं, क्योंकि पुद्गल द्रव्य से युक्त आत्मा ही पाप-पुण्य का कर्त्ता होता है।

प्राणातिपात आदि का एकत्व

मूल—एगे पाणाइवाए जाव एगे परिग्गहे। एगे कोहे जाव लोभे। एगे पेज्जे। एगे दोसे जाव एगे परपरिवाए। एगा अरइरइ। एगे मायामोसे। एगे मिच्छादंसणसल्ले ॥ ५० ॥

छाया—एकः प्राणातिपातो यावद् एकः परिग्रहः। एकः क्रोधो यावत् लोभः।

एकं प्रेम। एको द्वेषो यावद् एकः परपरिवादः। एकम् अरतिरति। एका मायामृषा। एकं मिथ्यादर्शनशल्यम्।

शब्दार्थ—**एगे**—एक है, **पाणाइवाए**—प्राणातिपात, **जाव**—यावत्, **एगे**—एक है, **परिग्गहे**—परिग्रह। **एगे**—एक है, **कोहे**—क्रोध, **जाव**—यावत्, **एगे**—एक है, **लोभे**—लोभ। **एगे**—एक है। **पेज्जे**—राग, **एगे**—एक है। **दोसे**—द्वेष, **जाव**—यावत्, **एगे**—एक है। **परपरिवाए**—परपरिवाद, **एगे**—एक है। **अरइरइ**—अरतिरति, **एगे**—एक है। **मायामोसे**—कपट सहित मृषावाद, **एगे**—एक है, **मिच्छादंसणसल्ले**—मिथ्यादर्शन शल्य।

मूलार्थ—प्राणातिपात एक है, यावत् परिग्रह एक है। क्रोध एक है यावत् लोभ एक है। राग एक है। द्वेष एक है। यावत् परिवाद एक है। अरतिरति एक है। मायामृषा एक है और मिथ्या-दर्शन शल्य भी एक है।

विवेचनिका—दृश्यमान और अदृश्यमान सभी पुद्गल वर्ण, गंध, रस और स्पर्श वाले होते है, अतः कर्मवर्गणा के पुद्गल भी वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले हैं। जीव अजीव के योग से उत्पन्न हुई अशुभ विकृतियों को पाप कहा जाता है।

इस सूत्र में उन अठारह पापों के नामोल्लेख किए गए है जो आत्मा को मलिन करने वाले हैं। शुभ स्थान से गिराने वाला एव धर्म से परागमुख करने वाला जो तत्त्व है उसे पाप कहते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से पाप अठारह प्रकार का वर्णित है। उन अठारह प्रकारों का वर्णन इस प्रकार है—

१. प्राणातिपातः—प्राणों का अतिपात—विनाश करना। प्राण दस प्रकार के होते हैं—१. स्पर्शन, २. रसना, ३. घ्राण, ४. चक्षु, ५. श्रोत्र, ६. मनोबल, ७. वचनबल, ८. कायबल, ९. श्वासोच्छ्वास और १०. आयुर्बल। इन में से किसी एक दो या दसो के विनाश को प्राणातिपात कहते हैं। कहा भी है—

पंचेन्द्रियाणि, त्रिविधं बलञ्च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा॥

प्राणों का वियोजीकरण ही हिसा है। प्राणातिपात द्रव्य और भाव भेद से दो प्रकार का माना जाता है—

मन से हिंसा करना, वाणी से हिंसा करना, काय से हिंसा करना।

मन से हिंसा कराना, वाणी से हिंसा कराना, काय से हिंसा कराना।

मन से हिंसा की अनुमति देना, वाणी से हिंसा की अनुमति देना और काय से हिंसा की अनुमति देना।

क्रोध के वशीभूत होकर हिंसा करना एवं मान, माया और लोभ के वशीभूत होकर करना इस प्रकार नौ को चार से गुणा करने पर छत्तीस भेद हो जाते हैं।

सूत्रकार ने प्राणातिपात के स्थान पर जीवातिपात शब्द का प्रयोग नहीं किया, क्योंकि जीवातिपात कभी भी नहीं होता, अतः प्राणों के वियोग को प्राणातिपात कहा गया है। उससे जीव अवश्य दुःखी होता है। इस कारण इसे हिंसा भी कहते हैं। इस प्रकार पाप के अनेक भेद होने पर भी सामान्य रूप से प्राणातिपात एक है।

२. मृषावादः—मृषा का अर्थ है झूठ—मिथ्या—गलत, और वाद का अर्थ है बोलना अर्थात् झूठ बोलना। यह मृषावाद द्रव्य और भाव भेद से दो प्रकार का है—व्यवहार में असत्य बोलना द्रव्य मृषावाद है और नवतत्त्वों में से किसी भी तत्त्व का एवं छह द्रव्यों में से किसी भी द्रव्य का निषेध करना भाव मृषावाद है।

दूसरी दृष्टि से मृषावाद चार प्रकार का होता है, जैसे कि—जो जिस वस्तु का स्वरूप नहीं है, उसे मानना **अभूतोद्भावन मृषावाद** है, जैसे कि "आत्मा एक ही है, सर्वव्यापी है कर्त्ता नहीं, भोक्ता है।" किसी भी वस्तु का सर्वथा निषेध करना **भूतनिह्नव** है। जैसे कि—'आत्मा है नहीं।'

विपर्ययज्ञान से गाय को घोडा और घोड़े को गाय, स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री कहना **वस्त्वन्तरन्यास** मृषावाद कहलाता है।

किसी को गाली देना दुर्वचन बोलना जैसे—तू कुष्ठी है, काना है, अन्धा है—इस प्रकार निन्दायुक्त वचन बोलना **निन्दामृषावाद** कहलाता है। असत्य अनेक प्रकार का होने पर भी सामान्यतया वह एक है।

३. अदत्तादानः—बिना दी हुई वस्तु को चोरी की बुद्धि से उठा लेना अदत्तादान है। सचित्त—सजीव की चोरी करना, अचित्त—निर्जीव द्रव्य की चोरी करना, मिश्र—वस्त्र-भूषण आदि सहित मनुष्य, पशु आदि का अपहरण करना इस प्रकार अदत्तादान के अनेक भेद होने पर भी वह स्वरूप से एक है।

४. मैथुनः—कामराग के वशीभूत होकर स्त्री-पुरुष द्वारा परस्पर कामुक चेष्टाएं करना मैथुन है। वह अनेक तरह का होते हुए भी सामान्यतया एक ही प्रकार का है।

५. परिग्रहः—किसी वस्तु पर ममत्व—आसक्ति का होना ही परिग्रह है। वह बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है। बाह्य परिग्रह खेत, मकान, धन, धान्य, सचित्त-अचित्त, कनक, कामिनी, द्विपद-चतुष्पद आदि अनेक प्रकार के परिग्रह हैं। आभ्यन्तर परिग्रह ममत्व मूर्छा, आसक्ति आदि इस प्रकार परिग्रह के अनेक भेद होते हुए भी आसक्ति रूप परिग्रह मूलतः एक है।

६. क्रोधः—कोप, गुस्सा, रोष ये पर्यायवाची शब्द हैं क्रोधमोहनीय कर्म के उदय से होने वाला कृत्य-अकृत्य के विवेक को हटाने वाला एवं प्रज्वलन स्वरूप आत्मा के परिणाम को क्रोध कहते हैं। कोपवश आत्मा किसी की बात को सहन नहीं करता और बिना विचारे अपने तथा पराये अनिष्ट के लिए प्रस्तुत हो जाता है। आत्मा की ऐसी परिणति को

क्रोध कहा जाता है।

७. **मानः**—अभिमान, मद, अहंकार ये पर्यायान्तर नाम हैं। जाति-कुल आदि विशिष्ट गुणों के कारण आत्मा में जो अहंभाव जागृत होता है, उसे मान कहते हैं। अपने आप को बड़ा समझना, दूसरों को तुच्छ समझना, दूसरों की अवहेलना करना और दूसरों के गुणों को सहन न करना ये सब मान के दुष्परिणाम हैं।

८. **मायाः**—कपट, छल, माया, धोखा और ठगना ये सब एक ही अर्थ के द्योतक हैं। जीव में उत्पन्न होने वाले कपट आदि भावों को ही माया की संज्ञा दी गई है। माया अपने दोषों पर पर्दा डालती है, मैत्री भाव का नाश करती है और बुराइयों का आह्वान करती है।

९. **लोभः**—लोभ, लालसा, तृष्णा इत्यादि लोभ की अनेक संज्ञाए हैं। खाने-कमाने में, भोगविलास में अनावश्यक आसक्ति का होना लोभ का कार्य है। लोभ सब गुणों का विनाशक है और अवगुणों का पोषक है।

१०. **रागः**—अवगुणों का ज्ञान होने पर भी उसका परित्याग न करना राग है। अथवा माया और लोभ जिस में अव्यक्त रूप से विद्यमान हों, ऐसा आसक्ति रूप जीव का अवगुण ही राग है।

११. **द्वेषः**—गुणपुंज को अवगुणपुंज समझना की द्वेष है। अथवा जिसमें क्रोध और मान अप्रकट भाव से विद्यमान हों, ऐसा अप्रतीति रूप जीव का अवगुण विशेष द्वेष कहलाता है।

१२. **कलहः**—झगडा, फसाद करना, विवाद-वितण्डावाद करना, शान्ति में न स्वयं रहना और न दूसरों को रहने देना कलह—क्लेश है।

१३. **अभ्याख्यानः**—अप्रकट रूप में अविद्यमान दोषों का आरोप लगाना—किसी पर झूठे कलंक का आरोप करना अभ्याख्यान है। अज्ञात भाव में या ज्ञात भाव में दूसरों पर कलंक लगाने से मनुष्य को स्वयं कलंकित होना पड़ता है।

१४. **पैशुन्यः**—पीठ पीछे किसी के दोष प्रकट करना, गुप्तचरी करना, सद्-असद् दोषों को प्रकट करना, अर्थात् चुगली करना पैशुन्य है। दशवैकालिक सूत्र में इसके लिए **'पिट्ठीमंसं न खाएज्जा'** के रूप में पीठ के मांस को न खाने का आदेश दिया गया है। यह पीठ का मांस खाना पैशुन्य ही है।

१५. **परपरिवादः**—दूसरों की निन्दा करना। निन्दा का अर्थ है—सच्चे या झूठे दोषों को दुर्बुद्धि से प्रकट करने की वृत्ति। क्योंकि परिवाद शब्द निन्दा का वाची है, परनिन्दा करना पाप है। निन्दा अनेक प्रकार की होने पर भी सामान्यतया वह एक है।

१६. **अरतिरतिः**—दूसरों को बेचैन बनाना, किसी के आराम में बाधा डालना, नीच लोगों की संगति करना अरति कहलाती है और विविध क्रीड़ाओं में संलग्न रहना, व्रत-

नियम आदि योग्य अंकुश में अरुचि रखना अथवा मोहनीय कर्म के उदय से प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति होने पर उद्विग्न होना अरति है। विषय-वर्द्धक पदार्थों के मिल जाने से होने वाली मन की प्रसन्नता ही रति है। अरति और रति इन दोनों को सम्मिलित करने से अरतिरति बनता है।

१७. मायामृषाः—इस में माया और मृषा इन दो पापों का संमिश्रण है। दो दोषों के संयोग से सतरहवां पाप स्थानक बना है। कपट पूर्वक असत्य बोलना, वेष परिवर्तन कर लोगों को छलना, झूठी गवाही देना इत्यादि मायामृषा के रूप हैं।

१८. मिथ्यादर्शन शल्यः—जो सम्यग्दर्शन से उल्टा है, वह मिथ्यादर्शन कहलाता है। जैसे शरीर में चुभा कठोर एवं सूक्ष्म कण्टक सर्वदा कष्ट ही देता है, इसी प्रकार मिथ्यादर्शन भी आत्मा को दुःखी ही बनाए रखता है। मिथ्यात्व के उदय से जीव उन्मार्गगामी बना रहता है या सन्मार्ग से भटक जाता है। यद्यपि मिथ्यादर्शन के अनेक भेद हैं तदपि सामान्य दृष्टि से वह एक ही प्रकार का है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में १८ पापों का संक्षिप्त वर्णन कर के स्वरूप से उनके एकत्व का विवेचन किया गया है।

विरमण-विवेक

मूल—एगे पाणाइवायवेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे, एगे कोहविवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे ॥५१॥

छाया—एकः प्राणातिपात-विरमणं यावत् परिग्रहविरमणम्, एकः क्रोधविवेको यावत् मिथ्यादर्शनशल्यविवेकः।

शब्दार्थ—एगे—एक है, **पाणाइवायवेरमणे**—प्राणातिपात विरमण, **जाव**—यावत्, **परिग्गहवेरमणे**—परिग्रह विरमण, **एगे**—एक है, **कोहविवेगे**—क्रोध विवेक, **जाव**—यावत्, **एगे**—एक है, **मिच्छादंसणसल्लविवेगे**—मिथ्यादर्शनशल्य विवेक।

मूलार्थ—प्राणातिपात-विरमण एक है, यावत् परिग्रह-विरमण एक है, क्रोध-विवेक एक है, यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-विवेक एक है।

विवेचनिका—प्राणातिपातादि अठारह पापो से निवृत्ति विरमण और विवेक से ही हुआ करती है, अतः प्रस्तुत सूत्र में विरमण और विवेक का वर्णन किया गया है जो कि संवर और निर्जरा के मूल स्रोत हैं।

आत्मविकास के लिए अठारह पापों का त्याग करना मुख्य साधन है। इस सूत्र से यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि—ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा अर्थात् विद्या और चारित्र से मोक्ष है तथा **"ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः"** इसका स्पष्टीकरण सूत्रकर्ता ने स्वयमेव

कर दिया है, क्योंकि पहले अठारह पापों का ज्ञान करना यही ज्ञपरिज्ञा है और फिर उनका परित्याग करना यही प्रत्याख्यान-परिज्ञा है। इन्हीं दो कारणों से आत्मा कर्ममल से रहित होती है। वस्तुत: देखा जाए तो विद्या और चारित्र ही आत्मा का सर्वस्व है। उक्त दो साधनों से पूर्णविकसित आत्मा का जीवन-मुक्त एवं देह-मुक्त हो जाना अनिवार्य है, क्योंकि प्रत्येक पाप आत्मस्वरूप को तिरोहित करने वाला है और अठारह पापों का परित्याग यह आत्मगुणों के आविर्भाव का मुख्य कारण है। जाति और कुल ये आत्मा के रक्षक नहीं बनते, यदि उसके रक्षक बनते हैं तो विद्या एवं चारित्र ही बन सकते हैं।

इस सूत्र में 'वेरमण' और 'विवेक' ये दो शब्द विशेष महत्त्व पूर्ण हैं। पहले पांच पापों के साथ विरमण प्रयुक्त हुआ है, इसका भाव यह है कि—विरमण-विरति अर्थात् निवृत्ति। निवृत्ति और प्रवृत्ति धर्म के ये दो पहलू हैं। सत्कार्य में प्रवृत्त होने का अर्थ है—उसके विरोधी असत्कार्यों से पहले निवृत्त हो जाना। इसी तरह असत्कार्यों से निवृत्त होने का अर्थ है—उसके विरोधी सत्कार्यों मे मन, वचन और काय की प्रवृत्ति। यद्यपि यहां पर स्पष्ट रूप से दोष निवृत्ति को ही विरति कहा है, फिर भी उसमें सत्प्रवृत्ति का अंश आ ही जाता है, अत: यहां पर यह समझना आवश्यकीय है कि विरति सिर्फ निष्क्रियता नहीं है प्रत्युत उसमे सक्रियता गौण होकर रहती है। विरमण का प्रयोग आगमों में हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, और परिग्रह से निवृत्ति पाने के लिए ही किया गया है।

विवेक शब्द भी अनेक अर्थों में रूढ है, जैसे कि—परित्याग, पृथक्करण, यतना इत्यादि। जहां कहीं आगम में **'कोह विवेग'** ऐसा पाठ आया है वहां विवेक शब्द का अर्थ—परित्याग तथा पृथक्करण होता है। स्वाभाविक पर्याय को न छोड़ना और वैभाविक पर्याय से अपने आप को पृथक् करना विवेक कहलाता है।

विरमण का परिपालन विवेक से होता है, विवेक के बिना विरति नहीं टिक सकती। विरति और विवेक दोनों एक दूसरे के पूरक एवं पोषक हैं। जिस पाप-स्थानक का जितना परित्याग अधिक होगा, उतना ही विरमणव्रत निरतिचार पलता है। विरमण और विवेक से जीव कर्मों से मुक्त होता है।

यद्यपि चारित्र-मोहनीय के क्षयोपशम से विरमण और विवेक के अनेक भेद होते हैं तथापि सामान्यतया वह एक है।

काल-चक्र

मूल—एगा ओसप्पिणी। एगा सुसमसुसमा जाव एगा दुसमदुसमा। एगा उस्सप्पिणी। एगा दुसमदुसमा जाव एगा सुसमसुसमा ॥५२॥

छाया—एका अवसर्पिणी। एका सुषमसुषमा यावत् एका दुषमदुषमा। एका उत्सर्पिणी, एका दुषमदुषमा यावत् एका सुषमसुषमा।

शब्दार्थ—**एगा**—एक है, **ओसप्पिणी**—अवसर्पिणी काल, **एगा**—एक है, **सुसम-सुसमा**—सुषमसुषम आरक काल, **जाव**—यावत्, **एगा**—एक है, **दुसमदुसमा**—दु:षमदुषम आरक काल, **एगा**—एक है, **उस्सप्पिणी**—उत्सर्पिणी काल, **एगा**—एक है, **दुसमदुसमा**—दुषमदुषम आरक, **जाव**—यावत्, **एगा**—एक है, **सुसम-सुसमा**—सुषमसुषम आरक काल।

मूलार्थ—अवसर्पिणी काल एक है। सुषम-सुषमा एक है यावत् दु:षम-दु:षमा एक है। उत्सर्पिणी काल एक है, दु:षमदुषम आरक एक है यावत् सुषमसुषम आरक एक है।

विवेचनिका—विरमण और विवेक किसी काल विशेष में ही जीवन में अवतीर्ण हो सकते हैं अत: प्रस्तुत सूत्र में काल का वर्णन किया गया है। सूत्रकार ने संसार में रहने वाले जीव और पुद्‌गल की स्थिति का वर्णन करते हुए कालचक्र का निर्देश किया है। इस संसार में अनादि काल से काल-धारा दो रूप में प्रवाहित हो रही है, जैसे कि—

दस कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण एक अवसर्पिणी काल होता है। उतने ही सागरोपम प्रमाण का उत्सर्पिणी काल माना गया है। बीस करोडाकरोड सागरोपम का एक काल चक्र होता है।

काल का अस्तित्व—

बकुल, चम्पक, अशोक, आम्रादि वृक्ष समय आने पर ही फल देते हैं, क्योंकि इनका नियामक काल है। तथा बाल्य आदि विभिन्न अवस्थाएं भी इसी काल के ही आश्रित हैं। कर्म भी समय आने पर ही फल देते हैं, क्योंकि वे भी काल के अधीन हैं। इत्यादि क्रियाओं के देखने से काल का अस्तित्व स्वयं ही सिद्ध हो जाता है।

जिस प्रकार एक वर्ष के दो अयन होते हैं—दक्षिणायन और उत्तरायण। ठीक उसी प्रकार कालचक्र के भी दो भाग हैं—अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणीकाल। इन में अव-सर्पिणी ह्रासकाल है और उत्सर्पिणी विकास काल।

जिस काल में आयु और शरीर आदि क्रमश: हीन होते जाएं उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं और जिस काल में आयु-शरीर आदि वृद्धि को प्राप्त हों उसे उत्सर्पिणी काल कहा जाता है। इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—

'ओसप्पिणी' त्ति अवसर्प्पति हीयमानारकतया अवसर्प्पयति वाऽऽयुष्कशरीरादि भावान् हापयतीत्यवसर्पिणी, सागरोपमकोटीकोटीदशकप्रमाण: कालविशेष:। तथा उत्सर्प्पति—वर्द्धतेऽऽरकापेक्षया, उत्सर्प्पयति भावानायुष्कादीन् वर्द्धयतीति। उत्सर्पिणी अवसर्पिणी प्रमाणा।

गाड़ी के चक्र के जैसे बारह आरक होते हैं, इसी प्रकार कालचक्र के भी बारह आरक हैं—अवसर्पिणी काल के छ: आरकों के नाम ये हैं।

१. **सुषमसुषम**—अत्यन्त सुख रूप, चार कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण।

२. **सुषम**—सुख रूप, तीन कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण।

३. **सुषमदु:षम**—सुख और दु:ख रूप, दो कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण।

४. **दु:षमसुषम**—दु:ख और सुखरूप, एक कोटाकोटी सागरोपम बयालीस हजार वर्ष न्यून।

५. **दु:षम**—दु:ख रूप, इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण।

६. **दु:षमदु:षम**—अत्यन्त दु:ख रूप, इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण।

अवसर्पिणी काल समाप्त होने पर ही उत्सर्पिणीकाल आरंभ होता है। उसके छ: आरक हैं जैसे कि—

१. **दु:षमदु:षम**—अत्यन्त दु:ख रूप इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण।

२. **दु:षम**—दु:ख रूप, इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण।

३. **दु:षमसुषम**—दु:ख और सुख स्वरूप वर्ष बयालीस हजार न्यून एक कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण।

४. **सुषमदु:षम**—सुख दु:ख स्वरूप, दो कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण।

५. **सुषम**—सुख स्वरूप, तीन कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण।

६. **सुषमसुषम**—अत्यन्त सुख स्वरूप चार कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण।

इस प्रकार पांच भरत और पांच ऐरावत क्षेत्र, इन दस क्षेत्रों में उक्त प्रकार से कालचक्र प्रवर्तित हो रहा है, इस के विस्तृत स्वरूप का वर्णन जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र के काल प्रकरण में दिया गया है। यावन्मात्र द्रव्यों के परिणाम हैं, वे सब काल के ही अधीन हैं। काल के अनुसार ही पदार्थों में पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश होता है।

कालद्रव्य अढाई द्वीप प्रमाण है। क्योंकि सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे ये अढ़ाई द्वीप से बाहर चर नहीं, स्थिर हैं। समय, आवलिका, मुहूर्त आदि आदित्य से प्रारंभ होते हैं। अतएव कहा जाता है—द्रव्यत: काल अढाई द्वीप में वर्त रहा है और भावत: काल प्रत्येक पदार्थ के साथ रहता है, आगम में **'वत्तणा लक्खणो कालो'** कह कर परिवर्तन होना ही काल द्रव्य का लक्षण माना गया है। यदि स्थूल दृष्टि से देखा जाए तो प्रत्येक वादी कालचक्र को परिवर्तनशील मानता है। प्रस्तुत सूत्र में भी सूत्रकार ने अतिसंक्षेप के साथ कालचक्र का वर्णन कर दिया है।

आगमों के काल-सम्बन्धी सूत्रों में काल के अनेक भेद देखे जाते हैं जैसे कि प्रमाण-काल, यथायुष्यनिर्वर्तनकाल, मरणकाल और अद्धाकाल। ज्योतिष-चक्र के प्रदर्शक ग्रन्थों का निर्माण प्रमाण काल को मानकर ही हुआ है। इसका विवेचन सूर्यप्रज्ञप्ति आदि सूत्रों से जानना चाहिए। वर्तमान में अवसर्पिणी काल का पांचवां आरक बीत रहा है। अतीतकाल

में अनन्त अवसर्पिणिएं बीत गई हैं, किन्तु उन के छह आरकों का भाव एक सा होने से वे स्वरूप से एक हैं और उत्सर्पिणी काल का जो स्वभाव है वह अतीत और अनागत में एक समान होने से वह भी एक है।

संसारी जीवों की वर्गणा

मूल—एगा नेरइयाणं वग्गणा, एगा असुरकुमाराणं वग्गणा, चउवीस दंडओ जाव वेमाणियाणं वग्गणा।

एगा भवसिद्धियाणं वग्गणा, एगा अभवसिद्धियाणं वग्गणा। एगा भवसिद्धियाणं नेरइयाणं वग्गणा, एगा अभवसिद्धियाणं नेरइयाणं वग्गणा।

एवं जाव भवसिद्धियाणं वेमाणियाणं वग्गणा, एगा अभवसिद्धियाणं वेमाणियाणं वग्गणा।

एगा सम्मदिट्ठियाणं वग्गणा, एगा मिच्छादिट्ठियाणं वग्गणा, एगा सम्मामिच्छादिट्ठियाणं वग्गणा।

एगा सम्मदिट्ठियाणं नेरइयाणं वग्गणा, एगा मिच्छादिट्ठियाणं नेरइयाणं वग्गणा, एगा सम्ममिच्छादिट्ठियाणं नेरइयाणं वग्गणा, एवं जाव थणियकुमाराणं वग्गणा। एगा मिच्छादिट्ठियाणं पुढविकाइयाणं वग्गणा, एवं जाव वणस्सइकाइयाणं। एगा सम्मदिटिठयाणं बेइंदियाणं वग्गणा, एगा मिच्छादिट्ठियाणं बेइंदियाणं वग्गणा। एवं तेइंदियाणं पि चउरिंदियाणं पि। सेसा जहा नेरइया, जाव एगा सम्मामिच्छादिट्ठियाणं वेमाणियाणं वग्गणा ॥ ५३ ॥

छाया—एका नैरयिकाणां वर्गणा, एका असुरकुमाराणां वर्गणा, चतुर्विंशतिदण्डको यावत् वैमानिकानां वर्गणा।

एका भवसिद्धिकानां वर्गणा। एका अभवसिद्धिकानां वर्गणा। एका भवसिद्धि-कनैरयिकाणां वर्गणा, एका अभवसिद्धिकानां नैरयिकाणां वर्गणा एवं यावद् एका भवसिद्धिकानां वैमानिकानां वर्गणा, एका अभवसिद्धिकानां वैमानिकानां वर्गणा।

एका सम्यग्दृष्टिकाणां वर्गणा, एका मिथ्यादृष्टिकाणां वर्गणा, एका सम्यङ्-मिथ्यादृष्टिकाणां वर्गणा।

एका सम्यग्दृष्टिकाणां नैरयिकाणां वर्गणा, एका मिथ्यादृष्टिकाणां नैरयिकाणां वर्गणा, एका सम्यङ्मिथ्यादृष्टिकाणां नैरयिकाणां वर्गणा, एवं यावत् स्तनितकुमाराणां वर्गणा, एका मिथ्यादृष्टिकाणां पृथ्वीकायिकानां वर्गणा, एवं यावद् वनस्पति-

कायिकानाम्, एका सम्यग्दृष्टिकाणां द्वीन्द्रियाणां वर्गणा, एका मिथ्यादृष्टिकाणां द्वीन्द्रियाणां वर्गणा एवं त्रीन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणामपि, शेषा यथा नैरयिका यावत् एका सम्यङ्‌मिथ्यादृष्टिकाणां वैमानिकानां वर्गणा।

शब्दार्थ—**एगा**—एक है, **नेरइयाणं वग्गणा**—नारकियों की राशि, **एगा**—एक है, **असुरकुमाराणं वग्गणा**—असुरकुमारों की वर्गणा-राशि, **चउवीस दंडओ**—चतुर्विंशति दण्डक, **जाव**—यावत्, **वेमाणियाणं वग्गणा**—एक वैमानिकों की वर्गणा है, **एगा**—एक है, **भवसिद्धियाणं वग्गणा**—भवसिद्धिकों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **अभवसिद्धियाणं वग्गणा**—अभवसिद्धियों की राशि, **एगा**—एक है, **भवसिद्धियाणं नेरइयाणं वग्गणा**—भवसिद्धिक नारकियों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **अभवसिद्धियाणं नेरइयाणं वग्गणा**—अभवसिद्धिक नैरयिकों की वर्गणा, **एवं जाव**—इसी प्रकार यावत्, **एगा**—एक है, **भवसिद्धियाणं वेमाणियाणं वग्गणा**—भवसिद्धिक वैमानिकों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **सम्मदिट्ठियाणं वग्गणा**—सम्यग्दृष्टियों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **मिच्छादिट्ठियाणं वग्गणा**—मिथ्यादृष्टियों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **सम्मामिच्छादिट्ठियाणं वग्गणा**—सम्यक् मिथ्यादृष्टियों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **सम्मदिट्ठियाणं नेरइयाणं वग्गणा**—सम्यग्दृष्टि नारकियों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **मिच्छादिट्ठियाणं नेरइयाणं वग्गणा**—मिथ्यादृष्टि नारकियों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **सम्मामिच्छादिट्ठियाणं नेरइयाणं वग्गणा**—मिश्रदृष्टि नारकियों की वर्गणा-राशि, **एगा**—एक है, **एवं**—इसी प्रकार, **जाव**—यावत्, **थणियकुमाराणं वग्गणा**—एक स्तनितकुमार पर्यन्त जानना चाहिए अर्थात् प्रत्येक भवनपति देवों की वर्गणा एक है,। **एगा**—एक है, **मिच्छादिट्ठियाणं पुढविकाइयाणं वग्गणा**—मिथ्यादृष्टि पृथ्वी कायिक जीवों की राशि, **एवं**—इसी प्रकार, **जाव**—यावत्, **वणस्सइ-काइयाणं**—वनस्पति कायिकों पर्यन्त समझना चाहिए। **एगा**—एक है, **सम्मदिट्ठियाणं बेइंदियाणं वग्गणा**—सम्यग्दृष्टि द्वीन्द्रियों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **मिच्छादिट्ठियाणं बेइंदियाणं वग्गणा**—मिथ्यादृष्टि द्वीन्द्रियों की वर्गणा। **एवं**—इसी प्रकार, **तेइंदियाणंपि**—त्रीन्द्रिय जीवों की वर्गणा भी एक है, **चउरिंदियाणं पि**—चतुरिन्द्रियों की वर्गणा भी एक है, **सेसा जहा नेरइया**—शेष जीवों का वर्णन नारकियों की तरह जानना, **जाव**—यावत्, **एगा**—एक है, **सम्मामिच्छदिट्ठियाणं वेमाणियाणं वग्गणा**—मिश्रदृष्टि वैमानिकों की वर्गणा।

मूलार्थ—नारकियों से लेकर वैमानिक पर्यन्त अर्थात् चतुर्विंशति दण्डकों की एक-एक वर्गणा है। भव्य जीवों की एक वर्गणा, अभव्य जीवों की एक वर्गणा-राशि है। इसी प्रकार भव्य और अभव्य जीवों की चौबीस दण्डकों में एक-एक वर्गणा है। सम्यग्दृष्टियों की एक वर्गणा, मिथ्यादृष्टियों की एक वर्गणा तथा मिश्रदृष्टियों की एक वर्गणा है। नारकियों से लेकर स्तनितकुमारों तक तीन दृष्टि वालों की

एक-एक वर्गणा है। पांच स्थावर मिथ्यादृष्टि जीवों की एक-एक वर्गणा है। तीन विकलेन्द्रिय सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवों की एक-एक वर्गणा है। शेष दण्डकों में तीन दृष्टि वालों की एक-एक वर्गणा है।

विवेचनिका—पूर्व दो सूत्रों में सूत्रकार ने त्याज्य-ग्राह्य विषयों का निरूपण किया है। प्रस्तुत सूत्र में वर्गणाओं के द्वारा सूत्रकार जिज्ञासुओं को जीव-विषयक ज्ञातव्य बातों की ओर संकेत करते हैं। आगम साहित्य में जहां हेय (त्याज्य) और उपादेय (ग्राह्य) का विस्तृत विवेचन मिलता है वहां ज्ञातव्य विषय का वर्णन भी कुछ कम नहीं है। जीव और अजीव का स्वरूप, पर्याय, संख्या इत्यादि विषय ज्ञेय (ज्ञातव्य) कहलाते हैं। संसार में यावन्मात्र आत्माएं हैं वे सब चौबीस दण्डकों के अन्तर्भूत हो जाती हैं। स्वकृत कर्मों के फल भोगने के स्थान को दण्डक कहते हैं। यहां उन दण्डकों का नामोल्लेख करना भी आवश्यक है।

सात नारकियों का एक दण्डक है। १ असुरकुमार, २. नागकुमार, ३ सुवर्णकुमार, ४. विद्युत्कुमार, ५. अग्निकुमार, ६. द्वीपकुमार, ७ उदधिकुमार, ८. दिशाकुमार, ९. वायुकुमार, १०. स्तनितकुमार—इन दस भवनपतियों के दस दण्डक हैं। पृथ्वीकाय का एक दण्डक है, अप्काय का एक दण्डक है, तेजस्काय का एक दण्डक है, वायुकाय का एक दण्डक है, वनस्पतिकाय का एक दण्डक है, बेइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय इन्हें विकलेन्द्रिय की संज्ञा दी गई है, तीनों विकलेन्द्रियों के तीन दण्डक, तिर्यंच पंचेन्द्रिय का एक दण्डक, मनुष्य का एक दण्डक, वाणव्यन्तर का एक दण्डक, ज्योतिषी देवों का एक दण्डक और वैमानिक देवों का एक दण्डक है। दण्डकों की अपेक्षा जीवों के चौबीस भेद कहे जाते हैं। आगम में जहां कहीं भी दण्डकों का उल्लेख आता है, वहां उपर्युक्त चौबीस दण्डक समझने चाहिएं। इन दण्डको में प्रत्येक जीव अपने शुभ-अशुभ कर्मों को भोगते रहते हैं। चौबीस दण्डकों में मुक्त आत्मा की गणना नहीं होती, क्योंकि वे कर्म-रहित हो चुके हैं।

जीव अत्यन्त पाप कर्म का फल नरकों में भोगते हैं। वृत्तिकार ने जो निरय शब्द की व्युत्पत्ति जिज्ञासुओं की जानकारी के लिए की है वह हृदयंगम करने योग्य है जैसे कि—

"निर्गतम्-अविद्यमानम्, अयम्-इष्टफलं कर्म, येभ्यस्ते निरयास्तेषुभवा नैरयिकाः—क्लिष्टसत्वविशेषाः" निर+अय।

शुभ कर्मरहित स्थान को निरय कहते हैं। उन निरय स्थानों में पैदा होने वाले जीवों को नैरयिक कहा जाता है। यद्यपि नारकियों के अनेक भेद हैं, तथापि नारकत्व की दृष्टि से नैरयिकों की एक वर्गणा है। यहां वर्गणा शब्द राशि या समुदाय का वाचक है। नारकीय जीव अत्यन्त दुःखों का अनुभव निरन्तर करते हैं, वे सदा क्लिष्ट परिणामी होते हैं। उनमें नारक पर्याय की अपेक्षा एकत्व समान है, इस लक्ष्य को दृष्टिगोचर रखते हुए उनकी एक वर्गणा सूत्रकार ने कही है।

असुर आदि दस भवनपतियो के पीछे सूत्रकर्त्ता ने कुमार शब्द का प्रयोग किया है। इसका आशय यह है—जैसे मनुष्य भव मे कुमार अवस्था मन लुभावनी होती है, वैसे ही कुमार की तरह क्रीड़ापरायण तथा नवयौवन के कारण वे सदा दर्शनीय होते हैं। भले ही प्रत्येक भवनपति देव के अनेकों ही भेद हैं, फिर भी समानता की दृष्टि से असुरकुमार एक हैं। इसी प्रकार नागकुमार आदि को भी समझना चाहिए।

प्रश्न के शब्दो में यह कहा जा सकता है कि—जब साधक-प्रमाण का अभाव होने पर नरक और नैरयिक सिद्ध नही होते तब उनकी चर्चा या वर्णन करना केवल समय नष्ट करना ही है। जब शशशृंग ही नही हैं तब उनके रग-रूप की चर्चा करना भी व्यर्थ नहीं तो और क्या है? नारकियो की किसी भी प्रमाण द्वारा सिद्धि नही की जा सकती तो उनका दण्डक कैसे माना जा सकता है?

उत्तर मे कहना है कि—अनुमान और आगम के द्वारा नारकियो की सिद्धि की जा सकती है। प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में अन्य प्रमाणो के द्वारा भी वस्तुतत्त्व की सिद्धि हो जाती है। जैसे कि—प्रकृष्ट पाप कर्म का फल भोगने के लिए किसी अन्य स्थान व शरीर की अवश्य कल्पना करनी पडती है, पुण्य-कर्म के समान, क्योंकि जिस प्रकार नारकीय जीव दु:खों का अनुभव करते हैं अथवा जिस प्रकार प्रकृष्ट पाप का फल होना चाहिए वैसा फल मनुष्य या तिर्यंच योनि में नहीं भोगा जा सकता। इस अनुमान से नरक और नारको की सिद्धि की जा सकती है।

आगमों के अनेक स्थलों में नरक और नारकों का विस्तृत विवेचन मिलता है। प्रस्तुत सूत्र से भी यही सिद्ध होता है कि नरक और नारकी हैं। उनका अस्तित्व सदा काल भावी है, अत: आगम प्रमाण से भी नरक-सत्ता सिद्ध है।

अमुक व्यक्ति नारकी तुल्य दु:ख अनुभव कर रहा है, ऐसी उपमा जो दी जाती है, यह उपमान प्रमाण है। विश्व मे यदि कही नारकी है तो उसे उपमान के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। जिस प्रकार "वह सिंह के समान शूर है" यदि कहीं सिंह है तभी तो उससे उपमा दी गई है। इसी प्रकार कही पर नारकी हैं, तभी उनसे निकृष्ट उपमा दी जा सकती है, अत: उपमान प्रमाण से भी नरक एव नारकी का अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। नारकी उपमान है, व्यक्ति उपमेय है, सदृश—तुल्य—समान ये उपमा वाचक शब्द हैं। नारकी और व्यक्ति मे समान धर्म है 'तीव्र वेदना'।

देव शब्द की व्युत्पत्ति से भी देवत्व शब्द की सिद्धि हो सकती है, घट आदि अभि-धानवत्, क्योंकि जब औपचारिक भाव के आधार पर मनुष्य में देवपद का आरोपण करते हैं तो इससे स्वत: सिद्ध हो जाएगा कि देवत्व को पहले स्वीकार कर लिया गया है, क्योंकि अन्य वस्तु मे अन्य का उसी समय आरोप किया जा सकता है, जब उस आरोप को या उपमान को उपमेय से पूर्व माना जाए। जैसे कि—"यह पुरुष देव के समान है।" देव के

सद्भाव होने पर ही देव की उपमा घटित हो सकती है। इस से सिद्ध होता है कि देवभव मान लेने पर ही उसका "अमुक व्यक्ति में" आरोपण हो सकेगा अन्यथा नहीं। अतः देवता की सिद्धि इस आधार से भी हो जाती है कि प्रकृष्ट पुण्य-फल भोगने के लिए देवभव है। अति पुण्य और अति पाप का उदय औदारिक शरीर में नहीं, किन्तु वैक्रिय शरीर में ही हो सकता है। मंत्र आदि के प्रयोगों से भी देव की सिद्धि देखी जाती है, अतः देवत्व की सिद्धि सभी प्रमाणों के द्वारा निष्पन्न होती है।

पृथ्वी-अप्, तेजस्, वायु और वनस्पति इन की स्थावर संज्ञा है। स्थावरों में जीव-सिद्धि आगम प्रमाण और अनुमान प्रमाण से हो जाती है, जैसे कि पानी में या खान में रहा हुआ पत्थर बढता है। सजीव वस्तु ही बढती है जैसे बीज से अंकुर। इससे सिद्ध होता है कि पृथ्वी जीवात्मक है।

अप्—जैसे अण्डे में पानी सजीव है, वैसे ही पानी भी जीवात्मक है। जैसे नवीन गर्भ में उत्पन्न हाथी का शरीर कलल अवस्था में द्रव रूप होता है, उसका कोई अंगोपांग प्रत्यक्ष नहीं होता, फिर भी उस महाकाय का अस्तित्व मानने मे कोई इंकार नहीं कर सकता, इसी प्रकार अचित्त जल के अतिरिक्त सभी प्रकार के नदी, नाले, ओस, बर्फ, ओला, वर्षा आदि का जल सचित्त है—चेतनायुक्त है।

तेजस्—अग्नि और विद्युत् इनका समावेश तेजस् में हो जाता है, क्योंकि सूत्र में **'तेउकाय'** लिखा है, अग्निकाय नहीं। अग्नि और विद्युत् दोनों व्याप्य हैं, व्यापक नहीं, तेउकाय व्यापक है। अतः तज्जातीय सभी प्रकार के जीवों को तेउकाय कहा जाता है। अग्नि और विद्युत् का स्वभाव अलग-अलग है, एक नहीं। पानी की अपेक्षा भाप (वाष्प) सूक्ष्म और सशक्त है, अतः इंजन पानी से नहीं भाप से चलता है। वैसे ही अग्नि की अपेक्षा विद्युत् सूक्ष्म एवं सशक्त है। हैं दोनों एकजातीय, अतः विद्युत् सचित्त है। इसे प्रमाणित करने के लिए प्रज्ञापना सूत्र का पहला पद विशेष मननीय है।

वायु—आगमों में वायु को भी सचित्त ही माना है, जैसे देवता का शरीर चक्षु द्वारा न दीखने पर भी चेतना वाला समझा जाता है, देवता अपनी वैक्रिय शक्ति के द्वारा सूक्ष्म रूप बनाते हैं जिन्हें आंखों से नहीं देखा जा सकता तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि देव का शरीर नहीं है। इसी प्रकार वायु चक्षु का विषय नहीं है तो भी चैतन्य रूप है।

वनस्पति—मूल, कन्द, स्कन्ध, शाखा, प्रशाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल, बीज, छाल आदि सचित्त अर्थात् जीवात्मक हैं। वर्तमान काल के वैज्ञानिकों ने भी वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा वनस्पति आदि कतिपय स्थावरों में जीवात्मा को प्रमाणित कर आगम की पुष्टि की है।

जिस प्रकार जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त मनुष्य की दशा देखी जाती है, ठीक उसी प्रकार वनस्पति की हानि एवं वृद्धि देखी जाती है। वृद्धि और हानि जीव के होने पर ही हो सकती है। जड़ वस्तु में चय-उपचय अर्थात् हानि एवं वृद्धि नहीं होती। आचारांग सूत्र के शस्त्रपरिज्ञा

नामक अध्ययन के पांचवें उद्देशक में वनस्पति की तुलना मनुष्य से की गई है जो कि विशेष मननीय है।

स्थावर पांच होने से उनके दण्डक भी पांच ही हैं। प्रत्येक स्थावर की एक-एक वर्गणा है। जैसे कि वनस्पति के चौबीस लाख रूप हैं। वनस्पतित्व सब में समान होने से उनकी एक वर्गणा बनी। वनस्पति में संख्यात, असंख्यात और अनन्त जीव होने पर भी उनकी एक वर्गणा है, किन्तु पृथ्वी आदि चार स्थावरों में असंख्यात-असंख्यात जीव विद्यमान हैं।

जिन जीवों में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है, उन्हें भवसिद्धिक कहते हैं। जिन जीवों में मोक्ष-प्राप्त की योग्यता नहीं है, वे अभवसिद्धिक कहलाते हैं, उन्हें भव्य और अभव्य जीव भी कहा जाता है। श्री अभयदेवसूरि भव्य-अभव्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

भविष्यतीति भवा—भाविनी, सा सिद्धिः—निर्वृतिर्येषां ते भवसिद्धिकाः—भव्याः, तद्विपरीतास्त्वभवसिद्धिकाः—अभव्या इत्यर्थः।

उक्त दोनों तरह के जीवात्मा चौबीस दण्डकों में रहते हैं। भव्य जीवों की तथा अभव्य जीवों की समान रूप से एक-एक वर्गणा है।

आत्मा की अन्तरंग दृष्टि तीन प्रकार की होती है जैसे कि—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि। मिथ्यात्वादि मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम और क्षय से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है।

सम्यग्—अविपरीता दृष्टिः—दर्शन-रुचिस्तत्त्वानि प्रति येषां ते सम्यग्दृष्टिकाः।

अर्थात् जीव आदि पदार्थों को जो सम्यक् प्रकार से जानता है वह सम्यग्दृष्टि है। जो विपरीत भाव से जानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। जो किसी प्रकार से भी निर्णय नहीं कर सकता, किन्तु सत्य और असत्य दोनों को समान रूप में मानता है उसे मिश्र दृष्टि कहते हैं।

नारकी और दस भवनपति देव इन ग्यारह दण्डकों के जीवों में तीनों दृष्टियां पाई जाती हैं। पांच स्थावर एकान्त मिथ्यादृष्टि जीव हैं। तीन विकलेन्द्रियों में मिश्रदृष्टि के बिना दो दृष्टियां पाई जाती हैं। अपर्याप्त अवस्था में ही दो दृष्टियां हो सकती हैं, पर्याप्त में तो केवल मिथ्यादृष्टि ही होती है। शेष पांचों दण्डकों में तीन दृष्टियां पाई जाती हैं। जिस दण्डक में जितनी दृष्टियां पाई जा सकती हैं उसमें वर्गणाएं भी उतनी हो सकती हैं। ऐसा कोई दण्डक नहीं जिसमें कोई भी दृष्टि न पाई जाए।

इस प्रकार सूत्रकार ने नारकादिकों की वर्गणाएं प्रस्तुत करते हुए उनमें सामान्यतः पाए जाने वाले एकत्व का दिग्दर्शन कराया है।

लेश्याएं और उनकी वर्गणाएं

मूल—एगा कण्हपक्खियाणं वग्गणा, एगा सुक्कपक्खियाणं वग्गणा। एगा कण्हपक्खियाणं नेरइयाणं वग्गणा, एगा सुक्कपक्खियाणं नेरइयाणं

वग्गणा, एवं चउवीसदंडओ भाणियव्वो।

एगा कण्हलेसाणं वग्गणा, एगा नीललेसाणं वग्गणा एवं—जाव सुक्कलेसाणं वग्गणा, एगा कण्हलेसाणं नेरइयाणं वग्गणा, जाव काउलेसाणं नेरइयाणं वग्गणा एवं जस्स जइ लेसाओ भवणवइ-वाणमंतर-पुढवि-आउ-वणस्सइकाइयाणं च चत्तारि लेसाओ, तेउ-वाउ-बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदियाणं तिन्नि लेसाओ, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं छ लेसाओ, जोइसियाणं एगा तेउलेसा, वेमाणियाणं तिन्नि उवरिमलेसाओ ॥ ५४ ॥

छाया—एका कृष्णपाक्षिकाणां वर्गणा, एका शुक्लपाक्षिकाणां वर्गणा। एका कृष्णपाक्षिकाणां नैरयिकाणां वर्गणा, एका शुक्लपाक्षिकाणां नैरयिकाणां वर्गणा। एवं चतुर्विंशतिदण्डको भणितव्यः।

एका कृष्णलेश्यानां वर्गणा, एका नीललेश्यानां वर्गणा, एवं यावत् शुक्ललेश्यानां वर्गणा, एका कृष्णलेश्यानां नैरयिकाणां वर्गणा यावदेका कापोतलेश्यानां नैरयिकाणां वर्गणा, एवं यस्य यावत्यो लेश्याः। भवनपति-वाणव्यन्तर-पृथिव्यप्वनस्पति-कायिकानां च चतस्रो लेश्याः, तेजो वायु-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणां तिस्रो-लेश्याः,पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां मनुष्याणां षड् लेश्याः, ज्योतिषिकाणामेका तेजो लेश्या, वैमानिकानां तिस्र उपरितनलेश्याः।

शब्दार्थ—**एगा**—एक है, **कण्हपक्खियाणं वग्गणा**—कृष्णपाक्षिक जीवों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **सुक्कपक्खियाणं वग्गणा**—शुक्ल पाक्षिकों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **कण्हपक्खियाणं नेरइयाणं वग्गणा**—कृष्ण पाक्षिक नारकियों जीवों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **सुक्कपक्खियाणं नेरइयाणं वग्गणा**—शुक्लपाक्षिक नैरयिकों की वर्गणा, **एवं**—इसी प्रकार, **चउवीस दंडओ भाणियव्वो**—चौबीस दण्डकों के विषय में जानना चाहिए।

एगा—एक है, **कण्हलेसाणं वग्गणा**—कृष्णलेश्या वाले जीवों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **नीललेसाणं वग्गणा**—नीललेश्यी जीवों की वर्गणा, **एवं**—इसी प्रकार, **जाव**—यावत्, **सुक्कलेसाणं वग्गणा**—शुक्ल लेश्यी जीवों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **कण्हलेसाणं नेरइयाणं वग्गणा**—कृष्ण लेश्या वाले नारकियों की वर्गणा, **जाव**—यावत्, **काउलेसाणं नेरइयाणं वग्गणा**—कापोत लेश्या वाले नारकियों तक एक-एक वर्गणा कहनी चाहिए, **एवं**—इसी प्रकार, **जस्स**—जिसकी, **जइ**—जितनी, **लेसाओ**—लेश्याएं हैं उतनी कहनी चाहिएं, **भवणवइ-वाणमंतर-पुढवि-आउ-वणस्सइकाइयाणं**—भवनपति, वाणव्यन्तर, पृथ्वी, अप्, वनस्पतिकायिक जीवों में पहली, **च**—और, **चत्तारि लेसाओ**—चार लेश्याएं

होती हैं, **तेउ-वाउ-बेइंदिय-तेंइदिय चउरिंदियाणं**—तेजस्काय, वायुकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियों की, **तिन्नि लेसाओ**—पहली तीन लेश्याएं होती हैं, **पंचिंदिय तिरिक्ख-जोणियाणं**—पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीवों के और, **मणुस्साणं**—मनुष्यों के, **छल्लेसाओ**—छह लेश्या होती हैं, **जोइसियाणं एगा तेउलेसा**—ज्योतिष्क देवों की एक तेजोलेश्या होती है, **वेमाणियाणं तिन्नि उवरिम लेसाओ**—वैमानिक देवो की ऊपर की तीन प्रशस्त लेश्याएं होती हैं जैसे कि तेजो, पद्म, शुक्ल।

मूलार्थ—चौबीस दण्डकों के जीव कृष्णपाक्षिक और शुक्लपाक्षिक दोनों प्रकार के होते हैं। छः लेश्यावाले जीवों की एक-एक वर्गणा है। नारकियों में पहली तीन लेश्यावाले जीवों की एक-एक वर्गणा है। प्रत्येक दण्डक में यावन्मात्र लेश्या वाले हों तावन्मात्र ही उनकी एक-एक वर्गणा जाननी चाहिए। जैसे कि—भवनपति वानव्यन्तर, पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय के जीवों में चार लेश्याएं पाई जाती हैं। तेउकाय, वायुकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय इन में पहली तीन लेश्याएं होती हैं। गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यो में छह लेश्याएं होती हैं, किन्तु ज्योतिष्क देवों में एक तेजो लेश्या होती है। वैमानिक देवों में ऊपर की तीन लेश्याएं होती हैं। पहले और दूसरे देवलोक में एक तेजो लेश्या होती है तीसरे और चौथे तथा पांचवें देवलोक में एक पद्म लेश्या होती है। छट्ठे देवलोक से लेकर छबीसवें देवलोक पर्यन्त केवल शुक्ल लेश्या होती है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में दंडक और दृष्टि के द्वारा वर्गणाओ का वर्णन किया गया है। इस सूत्र में पाक्षिक और लेश्या-विषयक वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। जिस आत्मा का ससार-परिभ्रमण काल केवल अपार्द्धपुद्गल परावर्तन शेष रह गया है, उसे शुक्ल पाक्षिक जीव कहते हैं और जिस जीव की संसारयात्रा अपार्द्धपुद्गल परावर्तन से अधिक रहती है, उसे कृष्णपाक्षिक कहते हैं, जैसे—

जेसिमवड्ढ-पोग्गल परियट्टो, सेसओ उ संसारो।
ते सुक्कपक्खिया खलु, अहिए पुण किण्ह-पक्खिया॥

जो भवसिद्धिक जीव हैं, वे भी दो प्रकार के होते हैं—एक कृष्णपाक्षिक और दूसरे शुक्लपाक्षिक। दोनों ही प्रकार के जीव चौबीस दण्डकों मे पाए जाते हैं। शुक्लपाक्षिक जीव चाहे किसी भी दण्डक में हों उनकी एक वर्गणा है, इसी प्रकार कृष्णपाक्षिक जीवो की भी एक ही वर्गणा है।

शुक्लपाक्षिक जीवों की अपेक्षा कृष्णपाक्षिक अनन्त-अनन्त गुणा अधिक हैं। शुक्ल-पाक्षिक जीव भी अनन्त हैं। उनमें से जितने जीव मोक्ष को प्राप्त करते हैं, उतने ही जीव कृष्ण पक्ष से शुक्ल पक्ष में आते हैं।

जिस अदृष्ट शक्ति के द्वारा प्राणी कर्मों से बंध जाता है उसे लेश्या कहते हैं। अथवा कषायों के उदय से अनुरंजित जो योग प्रवृत्ति अर्थात् शारीरिक कार्यों में प्रवृत्ति है उसे 'लेश्या' कहा जाता है। यह लक्षण संसारी सकषायी जीवों में घटता है, किन्तु ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में केवल परमशुक्ल लेश्या ही होती है, वहां कषाय का उदय नहीं होता, फिर भी लेश्या है, अतः दूसरा लक्षण है **'योगपरिणामो लेश्या'** जहां तक योग की परिणति है वहां तक लेश्या है, चौदहवें गुणस्थान में सभी योगों की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, अतः अयोगी होने से वे जीव अलेश्यी कहलाते हैं।

सयोगी केवली भगवान् जब शुक्ल लेश्या पूर्वक विचरते हैं तब योग परिणाम लेश्या होती है—अन्तर्मुहूर्त शेष आयु के रहने पर जब वे योगनिरुन्धन करते हैं तब अयोगी होकर अलेश्यी भी हो जाते हैं। इससे जाना जाता है कि योगपरिणाम ही लेश्या है और वह योग सब शरीरों का कारण है। कार्मण शरीर का तथा अन्य शरीरों का मूल कारण भी योग ही माना जाता है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—

योगपरिणामो लेश्या, कथं पुनर्योगपरिणामो लेश्या? यस्मात् सयोगिकेवली शुक्ललेश्यापरिणामेन विहृत्यान्तर्मुहूर्ते शेषे योगनिरोधं करोति, ततोऽयोगित्वमलेश्यत्वं च प्राप्नोति, अतोऽवगम्यते योगपरिणामो लेश्येति। स पुनर्योगः शरीरनामकर्म परिणति विशेषः, यस्मादुक्तम्—"कर्महि कार्मणस्य कारणमन्येषाञ्च शरीराणामिति।"

—प्रज्ञापना सूत्र १७ वा पद, मलयगिरि वृत्ति।

द्रव्य और भाव के भेद से लेश्या दो प्रकार की है। द्रव्यलेश्या पुद्गल रूप है जो जिस लेश्या का नाम है तदनुरूप उसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श पाया जाता है। इसके विषय में तीन विभिन्न मत हैं। जैसे कि—१. कर्म-वर्गणा निष्पन्न। २ कर्म-निष्यन्द। ३. योग-परिणाम।

योगान्तर्गत पुद्गलों के वर्णों की अपेक्षा द्रव्य लेश्या छह प्रकार की है—१. कृष्णलेश्या, २. नील लेश्या, ३. कापोतलेश्या, ४. तेजोलेश्या, ५ पद्मलेश्या, ६. शुक्ललेश्या।

इन छहों लेश्याओं के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि का विस्तृत विवेचन उत्तराध्ययन सूत्र के ३४ वें अध्ययन और पन्नवणा सूत्र के सत्रहवें पद में है।

योगान्तर्गत कृष्ण आदि द्रव्य अर्थात् द्रव्यलेश्या के संयोग से होने वाला आत्मा का परिणाम विशेष भावलेश्या कहलाता है। छहों भाव लेश्याओं का स्वरूप दृष्टान्त के द्वारा क्रमशः नीचे दिया जाता है—

छह पुरुषों ने मार्ग में कहीं एक जामुन का वृक्ष देखा। वह वृक्ष पके हुए फलों से लदा हुआ था। फलों के भार से शाखाएं नीचे झुकी हुई थीं, उसे देखकर वे फल खाने के लिए लालायित हो गए। सोचने लगे—किस प्रकार इसके फल खाए जाएं ? उनमें से कृष्णलेश्या वाले व्यक्ति ने कहा—'वृक्ष पर चढने में तो गिर जाने का भय है, अतः इस वृक्ष को यदि जड़ से ही काट कर गिरा दिया जाए तो सुख से बैठकर हम सब खाएंगे।'

यह सुनकर नील लेश्या वाले ने कहा—'वृक्ष को जड़ से काट कर गिरा देने से क्या लाभ? केवल बड़ी-बड़ी शाखाएं क्यों न काट ली जाएं'?

इस पर तीसरा कापोतलेश्या वाला कहने लगा—'बड़ी-बड़ी शाखाएं न काट कर छोटी-छोटी डालियां क्यों न काट ली जाएं, क्योंकि फल तो छोटी डालियों में ही लगे हुए हैं।"

तेजोलेश्या वाले को यह बात पसंद नहीं आई। उसने कहा—"नहीं, सिर्फ फलों के गुच्छे ही तोड़े जाएं, हमें तो फलों से प्रयोजन है, वृक्ष, शाखा, प्रशाखाओं से नहीं।

पद्मलेश्यी व्यक्ति ने कहा— 'गुच्छे तोडने की भी आवश्यकता नहीं है, केवल पके हुए फल ही नीचे गिरा दिए जाएं।'

यह सुनकर शुक्ल लेश्या वाले छट्ठे पुरुष ने कहा—जमीन पर बहुत फल गिरे हुए हैं, उन्हें खा लेने से ही अपना मतलब सिद्ध हो जाएगा। वृक्ष में लगे हुए फल किसी अन्य के काम आ जाएंगे।'

यह हुआ जम्बू फल खाने वाले छह पुरुषों का छह लेश्याओं पर दृष्टान्त।

अब लीजिए दूसरा दृष्टान्त—छह क्रूर कर्मी डाकू किसी ग्राम में डाका डालने के लिए चल पड़े। मार्ग में वे विचार विमर्श करने लगे, उनमें से कृष्ण लेश्या वाले ने कहा—'ग्राम में जो भी दिखाई दे सभी को मार दिया जाए।' यह सुनकर नील लेश्या वाले चोर ने कहा—'पशुओं के मारने से हमें क्या लाभ होगा? हमारा तो मनुष्यों से विरोध है, अतः उन्हें मारकर ही धन का अपहरण करना चाहिए।

तीसरे कापोतलेश्यी चोर ने कहा—'नहीं, स्त्री-हत्या और बालक-हत्या करना महापाप है, अतः क्रूर परिणामी कंजूस पुरुषों की ही हत्या करनी चाहिए।'

यह सुनकर चौथा तेजोलेश्या वाला चोर कहने लगा—'यह ठीक नहीं, जो निहत्थे हैं उन पर आक्रमण करना व्यर्थ है, अतः जो हम पर आक्रमण करेंगे हम लोग तो उन सशस्त्र पुरुषों को ही मारेंगे। उन्हें किसी तरह भी नहीं छोड़ेंगे।'

पांचवें पद्मलेश्या वाले चोर ने कहा—'यदि भयभीत होकर लोग पलायमान होते हों तो उन्हें बिल्कुल भी नहीं मारना चाहिए। जो शस्त्र लेकर लड़ने आएं उन्हें ही मारा जाए, निशस्त्रों को नहीं।'

अन्त में छट्ठे ने कहा 'हम लोग तो चोर हैं, हमें तो धन की आवश्यकता है, अतः जैसे धन मिले वैसा उपाय करना चाहिए। एक तो हम दूसरों का धन चुराएं और फिर उन्हें मार डालें, यह उचित नहीं है। एक तो चोरी करना स्वयं पाप है फिर उनकी हत्या करना यह महापाप है।

इस प्रकार दोनों दृष्टान्तों के पुरुषों में पहले से दूसरे एवं दूसरे से तीसरे के परिणाम

शुभ हैं, इसी तरह उत्तरोत्तर संक्लेश की कमी, परिणामों में शुभ्रता अनुभव होती है। वे छह पुरुष छह लेश्याओं के प्रतीक हैं, जिस प्रकार इनका नामोल्लेख किया गया है, उसी प्रकार के वर्ण वाले द्रव्यों के ग्रहण से जीव के भाव उत्पन्न होते हैं, अत: षड्लेश्यी जीवों की एक-एक वर्गणा है।

किस दण्डक में कितनी लेश्या पाई जाती हैं? इसका विवरण शब्दार्थ और मूलार्थ में दिया जा चुका है।

काउ नीला किण्हा लेसाओ, तिन्नि होन्ति नरएसुं ।
तइयाए काउ नीला (पृथिव्यामित्यर्थ:) नीला किण्हा य रिट्ठाए ॥
किण्हा नीला काऊ, तेऊलेसा य भवणवंतरिया ।
जोइस सोहम्मीसाणे, तेऊलेसा मुणेयव्वा ॥
कप्पे सणंकुमारे, माहिंदे चेव बंभलोए य ।
एएसु पम्ह लेसा, तेण परं सुक्क लेसाउ ॥
पुढवी आउ वणस्सइ, बायर पत्तेय लेसा चत्तारि ।
गब्भय तिरिय नरेसु, छल्लेसा तिन्नि सेसाणं ॥

इस विषय की चार संग्रहणीय गाथाओं का निम्न प्रकार से अर्थ किया गया है जैसे कि—

बादर पृथ्वी और अप्काय में तथा प्रत्येक शरीरी वनस्पतिकाय में तेजोलेश्या वाले, भवनपति, वानव्यन्तर तथा ज्योतिष्क तथा प्रथम-दूसरे कल्प तक के देवता-देवी आयु पूर्णकर उक्त तीनों स्थावरों में उत्पन्न हो सकते हैं, अत: अपर्याप्त अवस्था में चार लेश्याएं पाई जाती हैं। शेष तेजोकाय, वायुकाय, तीन विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय में तीन अप्रशस्त लेश्याएं पाई जाती हैं।

संसारी जीवों का वर्गीकरण

मूल—एगा कण्हलेसाणं भवसिद्धियाणं वग्गणा, एवं छसुवि लेसासु दो दो पयाणि भाणियव्वाणि। एगा कण्हलेसाणं भवसिद्धियाणं नेरइयाणं वग्गणा, एगा कण्हलेसाणं अभवसिद्धियाणं नेरइयाणं वग्गणा एवं जस्स जत्ति लेसाओ तस्स तत्ति भाणियव्वाओ जाव वेमाणियाणं।

एगा कण्हलेसाणं सम्मदिट्ठियाणं वग्गणा, एगा कण्हलेसाणं मिच्छादिट्ठियाणं वग्गणा, एगा कण्हलेसाणं सम्मामिच्छादिट्ठियाणं वग्गणा, एवं छसुवि लेसासु जाव वेमाणियाणं जेसिं जइ दिट्ठीओ।

एगा कण्हलेसाणं कण्हपक्खियाणं वग्गणा, एगा कण्हलेसाणं

सुक्कपक्खियाणं वग्गणा जाव वेमाणियाणं जस्स जत्ति लेसाओ एए अट्ठचउबीस दंडगा ॥ ५५ ॥

छाया—एका कृष्णलेश्यानां भवसिद्धिकानां वर्गणा, एवं षट्स्वपि लेश्यासु द्वे द्वे पदे भणितव्ये। एका कृष्णलेश्यानां भवसिद्धिकानां नैरयिकानां वर्गणा, एका कृष्णलेश्यानां अभवसिद्धिकानां नैरयिकाणां वर्गणा, एवं यस्य यावत्यो लेश्यास्तस्य तावत्यो भणितव्याः यावद्वैमानिकानाम्।

एका कृष्णलेश्यानां सम्यग्दृष्टिकाणां वर्गणा, एका कृष्णलेश्यानां मिथ्यादृष्टि-काणां वर्गणा, एका कृष्णलेश्यानां सम्यङ्मिथ्यादृष्टिकाणां वर्गणा एवं षट्स्वपि लेश्यासु यावद् वैमानिकानां येषां यावत्यो दृष्टयः।

एका कृष्णलेश्यानां कृष्णपाक्षिकाणां वर्गणा, एका कृष्णलेश्याणां शुक्ल-पाक्षिकाणां वर्गणा यावद् वैमानिकानां यस्य यावत्यो लेश्या एते अष्टचतुर्विंशतिः दंडकाः।

शब्दार्थ—एगा—एक है, **कण्हलेसाणं भवसिद्धिकाणं वग्गणा**—कृष्ण लेश्या वाले भवसिद्धिक जीवों की वर्गणा, **एवं**—इस प्रकार, **छसुवि लेसासु**—छहो लेश्याओ में, **दो दो पयाणि भाणियव्वाणि**—दो-दो पद कहने चाहिए। **एगा**—एक है, **कण्हलेसाणं भवसिद्धियाणं नेरइयाणं वग्गणा**—कृष्ण लेश्या वाले भवसिद्धिक नैरयिको की वर्गणा, **एगा**—एक है, **कण्हलेसाणं अभवसिद्धियाणं नेरइयाणं वग्गणा**—कृष्ण लेश्या वाले अभवसिद्धिक नैरयिकों की वर्गणा, **एवं**—इसी प्रकार, **जस्स**—जिसकी, **जत्ति**—जितनी, **लेसाओ**—लेश्याए हैं, **तस्स**—उसकी, **तत्ति**—उतनी, **भाणियव्वाओ**—कहनी चाहिएं, **जाव**—यावत्, **वेमाणियाणं**—वैमानिक देवों पर्यन्त।

एगा—एक है, **कण्हलेसाणं सम्मदिट्ठियाणं वग्गणा**—कृष्ण लेश्या वाले सम्यग्-दृष्टियों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **कण्हलेसाणं मिच्छादिट्ठियाणं वग्गणा**—कृष्ण लेश्या वाले मिश्रदृष्टियों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **कण्हलेसाणं**—कृष्ण लेश्या वाले, **सम्मामिच्छा-दिट्ठियाणं वग्गणा**—सम्यग्मिथ्यादृष्टि वालो की वर्गणा, **एवं**—इस प्रकार, **छसु वि लेसासु**—छहों लेश्याओं में, **जाव**—यावत्, **वेमाणियाणं**—वैमानिक पर्यन्त, **जेसिं जइ दिट्ठीओ**—जिनकी जितनी दृष्टिया हैं, उतनी कहनी चाहिएं।

एगा—एक है, **कण्हलेसाणं कण्हपक्खियाणं वग्गणा**—कृष्ण लेश्या वाले कृष्ण पाक्षिक जीवों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **कण्हलेसाणं सुक्कपक्खियाणं वग्गणा**—कृष्ण लेश्या वाले शुक्ल पाक्षिक जीवों की वर्गणा, **जाव**—यावत्, **वेमाणियाणं**—वैमानिक पर्यन्त, **जस्स**—जिसकी, **जत्ति**—जितनी, **लेसाओ**—लेश्याएं, **एए**—ये, **अट्ठ**—आठ, **चउबीस दंडगा**—चौबीस दण्डकों के विषय में जानना चाहिए।

मूलार्थ—चौबीस दण्डकों में दो प्रकार के दण्डक पाए जाते हैं, जैसे कि भव्य और अभव्य। इन जीवों में छः लेश्याएं पाई जाती हैं। जिस दण्डक में जितनी लेश्याएं होती हैं; उन से युक्त भव्य और अभव्य जीवों की वर्गणा जाननी चाहिए।

चौबीस दण्डकों में सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्र-दृष्टि ये तीन दृष्टियां वर्णन की गई हैं। जिस दण्डक में जितनी दृष्टियां हों और जितनी लेश्याएं हों, उनसे युक्त तीनों दृष्टियों की एक-एक वर्गणा जाननी चाहिए।

चौबीस दण्डकों में कृष्णपाक्षिक और शुक्लपाक्षिक दो प्रकार के जीव हैं। जिस दण्डक में जितनी लेश्याएं हों उन लेश्याओं से युक्त कृष्णपाक्षिक और शुक्लपाक्षिक जीवों की वर्गणा जाननी चाहिए। ये आठ सूत्र चौबीस दण्डको में प्रतिपादित किए गए हैं।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र में भी प्रकारान्तर से वर्गणाओ के द्वारा जीव विषयक ज्ञातव्य बातों का निर्देश किया गया है। इस सूत्र में लेश्याओ के साथ भव्य, अभव्य, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, मिश्रदृष्टि, कृष्णपाक्षिक और शुक्लपाक्षिक जीवो की वर्गणा बताई गई है। इस पाठ से यह भी ध्वनित होता है कि अभव्य, मिथ्यादृष्टि और कृष्णपाक्षिक जीव भी छः लेश्याओं से युक्त हो सकते हैं अर्थात् तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या उक्त जीवों मे ऊपर की तीन प्रशस्त लेश्याए भी पाई जाती हैं, अतः छद्मस्थ आत्मा किसी भी जीव के विषय में यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि यह भव्य है अथवा अभव्य? कृष्णपाक्षिक है या शुक्लपाक्षिक? सुलभबोधि है या दुर्लभबोधि? चरमशरीरी है अथवा अचरमशरीरी? इस विषय को सर्वज्ञ महापुरुष ही जानते है।

छः लेश्याओं का सम्बन्ध प्रत्येक दृष्टि और प्रत्येक पक्ष से है। भव्य, शुक्लपाक्षिक और सम्यग्दृष्टि जीवों में भी पहली तीन अप्रशस्त लेश्याए हो सकती हैं। यदि भव्यात्मा मिथ्यादृष्टि एवं शुक्लपाक्षिक कृष्णलेश्या से युक्त भी हो तो काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ इन पांचों के समवाय के मिलने पर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो मुमुक्षु जीवों के लिए यह विषय विशेष रूप से हृदयंगम करने योग्य है। इसका अनुभव सम्यक्तया ध्यान-वृत्ति में ही हो सकता है।

मेघाच्छन्न सूर्य का प्रकाश जैसे मन्द हो जाता है, ठीक उसी प्रकार मोहाच्छन्न जीवात्मा की शक्तियां मन्द पड़ जाती हैं। वायु के द्वारा मेघों के तितर-बितर हो जाने से जैसे सूर्य का प्रकाश प्रखर हो जाता है वैसे ही मोह के सर्वथा नष्ट होने पर आत्मा पूर्णतया ज्ञान-प्रकाशयुक्त होकर सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है।

सिद्धों की वर्गणा

मूल—एगा तित्थसिद्धाणं वग्गणा, एवं जाव एगा एक्कसिद्धाणं वग्गणा, एगा अणिक्कसिद्धाणं वग्गणा, एगा पढम-समय-सिद्धाणं वग्गणा, एवं जाव अणंतसमयसिद्धाणं वग्गणा ॥५६॥

छाया—एका तीर्थसिद्धानां वर्गणा, एवं यावदेका एकसिद्धानां वर्गणा, एका अनेकसिद्धानां वर्गणा, एका प्रथमसमयसिद्धानां वर्गणा एवं यावदनन्तसमयसिद्धानां वर्गणा।

शब्दार्थ—एगा—एक है, **तित्थसिद्धाणं वग्गणा**—तीर्थसिद्धों की वर्गणा, **एवं**—इस प्रकार, **जाव**—यावत्, **एगा**—एक है, **एक्कसिद्धाणं वग्गणा**—एकसिद्धों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **अणिक्कसिद्धाणं वग्गणा**—अनेकसिद्धों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **पढम-समयसिद्धाणं वग्गणा**—प्रथम समय सिद्धों की वर्गणा, **एवं**—इस प्रकार, **जाव**—यावत्, **अणंतसमयसिद्धाणं वग्गणा**—अनन्त समय सिद्धों की भी एक वर्गणा है।

मूलार्थ—एक वर्गणा तीर्थसिद्धों की है, इसी प्रकार एक वर्गणा एक-सिद्धों की है, एक वर्गणा अनेक सिद्धों की है, एक वर्गणा प्रथम समय के सिद्धों की है, एवं अनन्त समय के सिद्धों की एक वर्गणा है।

विवेचनिका—सकर्मक जीव चार गतियों और चौबीस दण्डकों में पाए जाते हैं और कर्म-मुक्त जीव सिद्ध कहलाते हैं। इस सूत्र में उन जीवों का वर्णन किया गया है जो कि चौबीस दण्डकों से ऊपर उठ चुके हैं, जिन्हें परमात्मा, सिद्ध या मुक्तात्मा भी कहते हैं, जो आत्मविकास की चरमसीमा पर पहुंच गए हैं; जिन्हें कुछ करना शेष नहीं रह गया—कृतकृत्य हो चुके हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं। यद्यपि उनमें भेद नहीं, सब एक समान हैं, तदपि उपाधि भेद से उनके मूलतः दो भेद हैं—एक अनन्तर-सिद्ध, दूसरे परम्परसिद्ध। अनन्तर सिद्ध के पन्द्रह भेद किए गए हैं, जैसे कि—

१. **तीर्थ सिद्ध**—जिस समय तीर्थंकर भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न होता है, तब वे अपने उपदेश के द्वारा साधु-साध्वी, श्रावक व श्राविका रूप चार तीर्थ स्थापना करते हैं। उस स्थापित किए हुए तीर्थ में से जो आत्मा सिद्ध गति को प्राप्त करते हैं, उन्हें तीर्थ-सिद्ध कहते हैं। क्योंकि तीर्थ का अर्थ होता है जिस के द्वारा संसार सागर तैरा जाए **'तीर्यते संसारसागरोऽनेनेति तीर्थम्।'** तीर्थ दो प्रकार के होते हैं जैसे कि द्रव्यतीर्थ और भाव तीर्थ। पुण्य स्थलों को द्रव्य तीर्थ कहते हैं। उस तीर्थ के द्वारा संसार सागर को पार-नहीं किया जा सकता है। सावद्य एवं पापजनक होने से वह अप्रधान एवं अप्रामाणिक है। चतुर्विध श्रीसंघ ही भावतीर्थ है। उसके द्वारा संसार सागर को पार किया जा सकता है। वही भावतीर्थ मुमुक्षु

जनों को ग्राह्य है। इस संदर्भ में वृत्तिकार भी लिखते हैं, जैसे कि—

द्रव्यतो नद्यादीनां समोऽनपायश्च भूभागो भौतादि प्रवचनं वा, द्रव्यतीर्थता-त्वस्याप्रधानत्वाद्, अप्रधानत्वं च भावतस्तरणीयस्य संसारसागरस्य तेन तरितुमश-क्यत्वात्, सावद्यत्वादस्येति। भावतीर्थं तु सङ्घो यतो ज्ञानादिभावेन तद्विपक्षा-दज्ञानादितो भवाच्च भावभूतात् तारयतीति। आह च—

जं णाण-दंसण-चरित्त-भावाओ तव्विवक्खि भावाओ।
भवभावओ य तारेइ, तेण तं भावओ तित्थं॥

'तित्थ' शब्द का संस्कृत रूप त्रिस्थ भी होता है, अर्थात् जिस में ज्ञान, दर्शन और चारित्र ठहरते हैं उसे त्रिस्थ कहते हैं, क्योंकि क्रोध-अग्नि हो शान्त करने के लिए, भोग-तृष्णा, भवतृष्णा और परिग्रहतृष्णा के उन्मूलन के लिए और कर्ममल को हटाने के लिए ही भावतीर्थ में प्रवृत्ति होती है। त्र्यर्थ शब्द का प्राकृत रूप भी 'तित्थ' बनता है। जिसका फल क्रोध आदि को शान्त करना है। उसे त्र्यर्थ भी कहा जाता है। जैसे कि—

त्रयो वा क्रोधाग्नि दाहोपशमादयोऽर्थाः फलानि यस्य तत् त्र्यर्थम्। 'तित्थं' त्ति पूर्ववत् आह च—

कोहग्गिदाहसमणादओ व ते चेव तिन्नि जस्सऽत्था।
होइ तियत्थ तित्थं तमत्थं सद्दो फलत्थोऽयं॥

अथवा त्रयो ज्ञानादयोऽर्था वस्तूनि यस्य तत् त्र्यर्थम् आह च—

अहवा सम्मदंसण-नाण-चरित्ताइं तिन्नि जस्स अत्था।
तं तित्थं पुव्वोदियमिहमत्थो वत्थु पज्जाओ त्ति॥

जो आत्माएं तीर्थंकर के शासन में से सिद्ध होती हैं, उन्हें तीर्थसिद्ध कहते हैं, जैसे गौतमादि गणधर। इस प्रकार के जितने भी सिद्ध हैं उनकी एक वर्गणा है अर्थात् एक राशि है।

२. अतीर्थसिद्ध—पूर्व प्रवर्त्तित तीर्थ के व्यवच्छेद हो जाने पर कोई विशिष्ट संस्कारी आत्मा जातिस्मरण आदि ज्ञान द्वारा स्वयंबुद्ध होकर यदि भाव चारित्री बन जाए और तीर्थ स्थापन होने से पहले ही सिद्धत्व प्राप्त करले उसे अतीर्थ-सिद्ध कहा जाता है, मरुदेवी माता की तरह। इस प्रकार अतीर्थ-सिद्धों की एक वर्गणा-राशि है।

३. तीर्थंकरसिद्ध—जो महापुरुष तीर्थंकर पद को सुशोभित कर निर्वाण-पद को प्राप्त हुए हैं, वे तीर्थंकर सिद्ध कहलाते हैं, उनकी वर्गणा भी एक है।

४. अतीर्थंकरसिद्ध—तीर्थंकर के अतिरिक्त जिन्होंने सिद्धगति को प्राप्त किया है उन्हें अतीर्थंकर सिद्ध कहते हैं, उनकी भी एक वर्गणा है।

५. **स्वयंबुद्धसिद्ध**—स्वयं ही जिन्होंने वस्तु-तत्त्व को जान लिया है, बाह्य निमित्त के बिना ही बोध को प्राप्त हुए हैं तथा दीक्षित होकर निर्वाण प्राप्त करने वाले सिद्धों को स्वयंबुद्ध सिद्ध कहते हैं।

६. **प्रत्येकबुद्ध-सिद्ध**—किसी बाह्य वस्तु को देखकर उसकी अनित्य भावना आदि द्वारा जिन्हें बोध प्राप्त हुआ है उन्हें प्रत्येकबुद्ध-सिद्ध कहते हैं। प्रत्येकबुद्ध सिद्धों की वर्गणा-राशि एक है।

स्वयंबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध में परस्पर उपाधि, श्रुत, बोधि और लिंग की विशेषता रहती है। स्वयंबुद्ध तो आचार्य आदि के समीप जाकर भी लिंग ग्रहण करता है और प्रत्येकबुद्ध को साधु वेश देवता प्रदान करता है। इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—

लिंगप्रतिपत्तिः स्वयंबुद्धानामाचार्यसन्निधावपि भवति,
प्रत्येक-बुद्धानां देवता प्रयच्छतीति।

७. **बुद्धबोधित-सिद्ध**—जो आचार्य आदि के उपदेश के द्वारा बोध को प्राप्त कर सिद्ध हुए हैं, उन्हें बुद्धबोधित सिद्ध कहते हैं। उन सिद्धों की भी एक वर्गणा है।

८. **स्त्रीलिंगसिद्ध**—जो आत्माए स्त्री शरीर मे कर्मों पर विजय पाकर सिद्धगति को प्राप्त हुए हैं उन्हें स्त्रीलिंगसिद्ध कहते हैं, जैसे चन्दनबाला, राजीमती, पुष्पचूला, यक्षिणी आदि। स्त्री शरीर में जितने जीव सिद्ध हुए हैं उन की वर्गणा एक है।

९. **पुरुषलिंगसिद्ध**—जो पुरुष शरीर में सिद्ध हुए हैं उन्हें पुरुषलिंग सिद्ध कहा जाता है। उनकी भी एक वर्गणा है, सुधर्मा, जम्बूस्वामी आदि।

१०. **नपुंसकलिंगसिद्ध**—नपुंसकलिंग में सिद्ध हुए जीवों की एक वर्गणा है।

११. **स्वलिंगसिद्ध**—जैन वेष में जिन्होंने सिद्धत्व प्राप्त किया है, उनको स्वलिंग सिद्ध कहते हैं, उनकी वर्गणा एक है।

१२. **अन्यलिंगसिद्ध**—जैनेतर वेष में जिन आत्माओं ने जिन धर्म की आराधना करके सिद्धत्व प्राप्त किया है, वे अन्यलिंग सिद्ध कहलाते हैं। उनकी एक वर्गणा है।

१३. **गृहलिंग-सिद्ध**—जिन आत्माओं ने गृहस्थवेष में सिद्ध-गति को प्राप्त किया है, वे गृहलिंग सिद्ध कहलाते हैं, उनकी एक वर्गणा है।

१४. **एकसिद्ध**—जो एक समय में एकाकी सिद्ध हुए हैं उन्हें एकसिद्ध कहते हैं; जैसे भगवान् महावीर। यद्यपि एक सामयिक सिद्ध अनन्त हैं तदपि उनकी वर्गणा एक है।

१५. **अनेकसिद्ध**—एक ही समय में कम से कम दो और अधिक से अधिक एक सौ आठ हुए सिद्धों को अनेक-सिद्ध कहते हैं, उनकी भी वर्गणा एक है।

जब एक समय में एक से लेकर यावत् बत्तीस तक सिद्ध होते हैं, दूसरे समय में भी बत्तीस, इसी प्रकार आठ समय पर्यन्त बत्तीस-बत्तीस सिद्ध होते हैं, तत्पश्चात् अवश्य

अन्तर पड़ जाता है। जब एक समय में तेंतीस से लेकर अठतालीस पर्यन्त सिद्ध होते हैं, तब निरन्तर सात समय पर्यन्त सिद्ध हो सकते हैं, आठवें समय में नियमेन अन्तर पड़ जाता है। जब ऊनचास से लेकर साठ पर्यन्त एक समय में सिद्ध होते हैं, तब छः समय तक सिद्ध होते रहते हैं, सातवें समय में अन्तर पड़ जाता है। इस प्रकार आगे भी समझना चाहिए। जब एक समय में एक सौ आठ सिद्ध होते हैं तत्पश्चात् दूसरे समय में अवश्य अन्तर पड़ जाता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए वृत्तिकार ने बहुत प्राचीन गाथा का उद्धरण दिया है। जैसे कि—

"बत्तीसा अडयाला सट्ठी बावत्तरी य बोद्धव्वा।
चुलसीई छन्नउई दुरहिय अट्ठोत्तर सयं च"॥

किसी आचार्य का यह भी अभिमत है कि—आठ समय पर्यन्त निरंतर सिद्ध होते हैं— जैसे प्रथम समय में जघन्य एक, उत्कृष्ट बत्तीस सिद्ध हो सकते हैं, दूसरे समय में जघन्य एक, उत्कृष्ट अठतालीस सिद्ध हो सकते हैं। तीसरे समय में जघन्य एक, उत्कृष्ट साठ सिद्ध हो सकते हैं, चौथे समय में जघन्य एक उत्कृष्ट बहत्तर सिद्ध हो सकते हैं। पांचवें समय में जघन्य एक, उत्कृष्ट चौरासी सिद्ध हो सकते हैं। छट्ठे समय में जघन्य एक उत्कृष्ट एक सौ दो सिद्ध हो सकते हैं। आठवें समय में जघन्य एक, उत्कृष्ट एक सौ आठ सिद्ध हो सकते हैं। तदनन्तर अवश्य अन्तर पड जाता है। इस प्रकार गाथा की संख्या जाननी चाहिए। व्यवहार नय से इन सब की एक-एक वर्गणा कही गई है, किन्तु सिद्धात्मा सदैव स्वस्वरूप में ही रहते हैं।

परम्पर-सिद्धों के भी अनेक भेद हैं, जैसे कि जिन को सिद्ध हुए दो समय से लेकर अनन्त समय हो गए हैं, उन्हें परंपर सिद्ध कहते हैं। इनकी भी दो समय से लेकर अनन्त समय पर्यन्त एक-एक वर्गणा जाननी चाहिए। इस प्रकार सूत्रकार ने आत्मद्रव्य का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

पुद्गलों की वर्गणा

मूल—एगा-परमाणुपोग्गलाणं वग्गणा, एवं जाव एगा अणंतपएसियाणं खंधाणं वग्गणा।

एगा एगपएसोगाढाणं पोग्गलाणं वग्गणा, एवं जाव एगा असंखेज्ज-पएसोगाढाणं पोग्गलाणं वग्गणा।

एगा एगसमयठिइयाणं पोग्गलाणं वग्गणा, जाव असंखेज्जसमय-ठिइयाणं पोग्गलाणं वग्गणा।

एगा एगगुणकालगाणं पोग्गलाणं वग्गणा जाव एगा असंखेज्ज-

गुणकालगाणं पोग्गलाणं वग्गणा। एगा अणंतगुणकालगाणं पोग्गलाणं वग्गणा एवं वण्णा, गंधा, रसा, फासा भाणिव्वा जाव एगा अणंतगुण-लुक्खाणं पोग्गलाणं वग्गणा।

एगा जहन्नपएसियाणं खंधाणं वग्गणा, एगा उक्कस्सपएसियाणं खंधाणं वग्गणा, एगा अजहन्नुक्कस्स पएसियाणं खंधाणं वग्गणा। एवं जहन्नोगाहणयाणं, उक्कोसोगाहणयाणं, अजहन्नुक्कोसोगाहणगाणं, जहन्नठितियाणं उक्कस्सठितियाणं, अजहन्नुक्कोसठितियाणं। जहन्न-गुणकालगाणं, उक्कस्स गुणकालगाणं अजहन्नुक्कस्स गुणकालगाणं एवं वण्ण, गंध, रस, फासाणं वग्गणा भाणियव्वा जाव एगा अजहन्नुक्कस्स गुण लुक्खाणं पोग्गलाणं वग्गणा ॥ ५७ ॥

छाया—एका परमाणुपुद्गलानां वर्गणा, एवं यावदेका अनन्तप्रादेशिकानां स्कन्धानां वर्गणा। एका एकप्रदेशावगाढानां पुद्गलानां वर्गणा, यावद् एका असंख्येयप्रदेशावगाढानां पुद्गलानां वर्गणा।

एगा एकसमयस्थितिकानां पुद्गलानां वर्गणा, यावद् असंख्येयसमयस्थितिकानां पुद्गलानां वर्गणा।

एका एक-गुणकालकानां पुद्गलानां वर्गणा, यावद् असंख्येय-गुणकालकानां पुद्गलानां वर्गणा। एका अनन्तगुणकालकानां पुद्गलानां वर्गणा। एवं वर्णाः गन्धाः रसाः स्पर्शाः भणितव्याः, यावद् अनन्तगुणरूक्षाणां पुद्गलानां वर्गणा। एका जघन्य-प्रादेशिकानां स्कन्धानां वर्गणा, एका उत्कर्षप्रादेशिकानां स्कन्धानां वर्गणा, एका अजघन्योत्कर्षप्रादेशिकानां स्कन्धानां वर्गणा। एवं जघन्यावगाहनकानाम् उत्कर्षावगा-हनकानाम्, अजघन्योत्कर्षावगाहनकानाम्। जघन्यस्थितिकानाम् उत्कर्षस्थितिकानाम्, अजघन्योत्कर्षस्थितिकानाम्। जघन्यगुणकालकानाम्, उत्कर्षगुणकालकानाम्, अजघन्योत्कर्षकालकानाम्, एवं वर्णगन्धरसस्पर्शानां वर्गणा भणितव्या, यावदेका अजघन्योत्कर्षगुणरूक्षाणां पुद्गलानां वर्गणा।

शब्दार्थ—एगा—एक है, परमाणु-पोग्गलाणं वग्गणा—परमाणु पुद्गलों की वर्गणा, एवं—इसी प्रकार, जाव—यावत्, *अणंतपएसियाणं खंधाणं वग्गणा*—अनन्त प्रादेशिक स्कंधों की वर्गणा।

एगा—एक है, एगपएसोगाढाणं पोग्गलाणं वग्गणा—एक प्रदेशावगाढ पुद्गलों की वर्गणा, जाव—यावत्, एगा—एक है, असंखेज्जपएसोगाढाणं पोग्गलाणं वग्गणा—असंख्यात प्रदेश अवगाढ पुद्गलों की वर्गणा।

एगा—एक है, **एगसमयठितियाणं पोग्गलाणं वग्गणा जाव असंखेज्जसमयठितियाणं पोग्गलाणं वग्गणा**—एक समयस्थितिक पुद्गलों की यावत् असंख्यात समयस्थितिक पुद्गलों की एक-एक वर्गणा।

एगा—एक है, **एगगुणकालगाणं पोग्गलाणं वग्गणा**—एक गुण वाले काले पुद्गलों की वर्गणा, **जाव**—यावत्, **एगा**—एक है, **असंखेज्जगुणकालगाणं पोग्गलाणं वग्गणा**—असंख्यात गुण वाले काले पुद्गलों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **अणंतगुणकालगाणं पोग्गलाणं वग्गणा**—अनन्त गुण वाले काले पुद्गलों की वर्गणा, **एवं**—इसी प्रकार, **वण्णा गंधा रसा फासा भाणियव्वा**—पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्शों के विषय में भी कहना चाहिए, **जाव**—यावत, **एगा**—एक है, **अणंतगुणलुक्खाणं पोग्गलाणं वग्गणा**—अनन्तगुण रूक्ष पुद्गलों की वर्गणा।

एगा—एक है, **जहन्नपएसियाणं खंधाणं वग्गणा**—जघन्य प्रदेशी स्कन्धों की बर्गणा, **एगा**—एक है, **उक्कस्सपएसियाणं खंधाणं वग्गणा**—उत्कर्ष प्रादेशिक स्कन्धों की वर्गणा, **एगा**—एक है, **अजहन्नुक्कस्स पएसियाणं खंधाणं वग्गणा**—अजघन्य और अनुत्कृष्ट अर्थात् मध्यमप्रदेशी स्कन्धों की वर्गणा, **एवं**—इसी प्रकार, **जहन्नोगाहणगाणं उक्को-सोगाहणगाणं अजहन्नुक्कोसगाहणगाणं**—जघन्य अवगाहन वाले, उत्कृष्ट स्थितिवाले, और मध्यमस्थिति वाले स्कन्धों की एक-एक वर्गणा, **जहन्नगुणकालगाणं, उक्कस्सगुण-कालगाणं, अजहन्नुक्कस्सगुणकालगाणं**—जघन्य गुण वाले काले वर्ण वाले, उत्कर्ष गुण काले रंग वाले तथा मध्य गुण काले रग वाले स्कन्धों की एक-एक वर्गणा है, **एवं**—इसी प्रकार, **वण्ण गंध रस फासाणं वग्गणा भाणियव्वा**—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के विषय में कहना चाहिए, **जाव**—यावत्, एगा—एक है, **अज्जहन्नुक्कस्सगुणलुक्खाणं वग्गणा**—मध्य गुण रूक्षों की एक वर्गणा है।

मूलार्थ—द्रव्यत: एक परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्धों की वर्गणा एक-एक है। क्षेत्रत: एक प्रदेशावगाही पुद्गलों की वर्गणा एक है, यावत् असंख्यात प्रदेशावगाही पुद्गलों की वर्गणा एक है। कालत: एक समय स्थिति वाले पुद्गलों की एक वर्गणा है, यावत् असंख्यात-समय स्थिति वाले पुद्गलों की एक वर्गणा है। यावत् एकगुण काले वर्ण वाले पुद्गलों की एक वर्गणा है, अनन्त गुण काले रंग वाले पुद्गलों की एक वर्गणा। इसी प्रकार चार वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्शों के विषय में भी कहना चाहिए। इसी तरह द्रव्य से जघन्य प्रदेश-युक्त स्कन्धों की, उत्कृष्ट प्रदेश-युक्त स्कन्धों की और मध्यमप्रदेश-युक्त स्कन्धों की एक-एक वर्गणा है। क्षेत्र से जघन्य आकाश प्रदेशों पर अवगाहन किए हुए और मध्यम प्रदेशों पर अवगाहन किए हुए उत्कर्ष प्रदेशों पर अवगाहन किए हुए पुद्गलों की एक-एक

वर्गणा है। काल से जघन्य स्थिति वाले, उत्कृष्ट स्थिति वाले और मध्यम स्थिति वाले पुद्गलों की एक-एक वर्गणा है। भाव से जघन्य गुण वाले काले, मध्यम गुण वाले काले और उत्कृष्ट गुण वाले काले पुद्गलों की एक-एक वर्गणा है। इसी प्रकार पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श इनकी एक-एक वर्गणा कहनी चाहिए। सूत्र में पुद्गल का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जो वर्णन किया गया है, उसकी सामान्य रूप से एक-एक वर्गणा कहनी व जाननी चाहिए।

विवेचनिका—संसारी और मुक्त दोनों अवस्थाओं मे जीव चेतन लक्षण वाला होता है। चेतना रहित द्रव्य अजीव कहलाता है, अत: सिद्ध-वर्गणा के अनन्तर इस सूत्र में अजीव पुद्गल-द्रव्य के विषय में कथन किया गया है। पुद्गल शब्द का अर्थ होता है—जिसका एकत्व, पृथक्त्व, मिलने और बिछुडने का स्वभाव हो। पुद्गल तत्त्व के विषय में कहा भी है—**'पूरणगलनधर्मिणः पुद्गलाः'**[१] जो वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाला हो वह पुद्गल कहलाता है। यह लक्षण परमाणु से लेकर महास्कन्ध पर्यन्त सभी में घटित होता है। यद्यपि भगवती सूत्र के आठवें शतक में जीव को भी पुद्गल कहा है। बौद्ध लोग पुद्गल शब्द का व्यवहार जीव के लिए भी करते हैं, किन्तु जैन-दर्शन मे पुद्गल शब्द का व्यवहार प्राय: अजीव तत्त्व के लिए ही किया जाता है। जैन-दर्शन मन और कर्म को भी पौद्गलिक ही मानता है, तथा पृथ्वी, अप्, तेज और वायु को भी वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाला कहाता है।

वैशेषिक दर्शनकार ने वायु को केवल स्पर्श वाला ही माना है और तेज को गंध एव रस से रहित माना है तथा जल को भी गन्ध रहित स्वीकार किया है, जब कि उक्त सभी द्रव्य पुद्गल रूप हैं। जो-जो पुद्गल है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन चारों से युक्त है, फिर भले ही वह मन हो या शब्द, दृश्यमान हो या अदृश्यमान सभी पुद्गल हैं।

पुद्गल का सब से सूक्ष्म, अविभाज्य-अंश परमाणु है, उसमें भी पांच वर्णों मे से एक वर्ण, दो गन्धों में से एक गन्ध, पाच रसों में से एक रस और आठ स्पर्शों में से दो स्पर्श विद्यमान रहते हैं। शीत-उष्ण और रूक्ष-स्निग्ध इन में से परस्पर अविरोधी दो स्पर्श परमाणु में नियमेन होते हैं। जो किसी दूसरे के साथ नहीं मिला हुआ है वह परमाणु कहलाता है। सूत्रकार ने द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की अपेक्षा रखते हुए पुद्गल का वर्णन किया है, जैसे कि—

द्रव्यतः—परमाणु अनन्त होते हुए भी परमाणुत्व की सामान्य दृष्टि से वे एक हैं, अत: उन की वर्गणा एक है। इसी प्रकार द्वि-प्रदेशी (द्व्यणुक) त्रिप्रदेशी (त्र्यणुक) यावत् संख्यात-प्रदेशी एवं अनन्त-प्रदेशी स्कन्धों की एक-एक वर्गणा है।

---

१ तत्त्वार्थ सूत्र अ ५, सूत्र २३

क्षेत्रतः—आकाश के एक प्रदेश पर परमाणु से लेकर जितने प्रदेशी स्कन्ध अवस्थित हैं, उनकी एक-एक वर्गणा है। आकाश के एक प्रदेश पर एक परमाणु भी ठहर सकता है, द्विप्रदेशी स्कन्ध यावत् संख्यात-असख्यात, अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध भी ठहर सकता है।

इस प्रसंग पर प्रश्न हो सकता है कि आकाश के एक प्रदेश पर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध कैसे अवगाहन कर सकता है?

उत्तर में कहना है कि—आकाश का गुण है दूसरे द्रव्यों को अवकाश देना, क्योंकि वह सभी द्रव्यों का आधारभूत है। आकाश आधार है और शेष द्रव्य आधेय है। निश्चय नय से तो सभी द्रव्य अपने-अपने स्वरूप मे अवस्थित है, कोई भी द्रव्य परमार्थ से दूसरे द्रव्य में नहीं रह सकता। आकाश का कोई दूसरा आधार नहीं है, क्योंकि उससे महत्परिमाण वाला या उसके तुल्य परिमाण वाला और कोई द्रव्य नहीं है, अतः व्यवहार या निश्चय दोनो दृष्टियों से आकाश स्वप्रतिष्ठित है। अन्य द्रव्यो की अपेक्षा आकाश महान् है। इसी कारण वह सब द्रव्यो का आधार है। आकाश लोक-अलोक मे व्याप्त है, किन्तु शेष द्रव्य लोकाकाश में ही है। लोकाकाश असंख्यात प्रदेशात्मक है। कोई पुद्‌गल स्कन्ध लोकाकाश के एक प्रदेश में रहता है तो कोई दो प्रदेश मे रहता है। इसी तरह कोई पुद्‌गल असंख्यात प्रदेश परिमित लोकाकाश मे भी रह सकता है। आधारभूत क्षेत्र के प्रदेशो की सख्या आधेयभूत पुद्‌गल द्रव्य के परमाणुओं की सख्या से न्यून या उसके बराबर हो सकती है, अधिक नही, अतएव एक परमाणु एक ही आकाश प्रदेश पर स्थित रहता है, पर द्व्यणुक से लेकर संख्यात-असंख्यात और अनन्त अणुक भी एक प्रदेश पर रह सकते हैं, क्योंकि आकाश का विशेष गुण दूसरों को स्थान—अवकाश देने का है। जैसे एक तोला परिमाण वाले पारे मे सात तोले परिमाण सुवर्ण एक रूप हो जाता है और पारे का वजन तब भी एक तोला ही रहता है, किन्तु यदि पुनः उस पारे से किसी प्रयोग द्वारा सुवर्ण को पृथक् किया जाए तो वह सुवर्ण पुनः सात तोले परिमाण ही रहेगा और पारे का वजन पहले की तरह एक तोला परिमाण ही रहेगा। इस विषय मे वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित है—

पारदस्यैकेन कर्षेण चारित्ताः सुवर्णस्य ते सप्ताप्येकी भवन्ति, पुनर्वामितः प्रयोगतः सप्तैव ते इति। अचिन्त्यत्वात् द्रव्यपरिणामस्य।

पुद्‌गल का परिणमन अचिन्त्य है। जिस प्रकार एक दीपक के प्रकाश में सहस्रों दीपकों का प्रकाश एक रूप होकर ठहरता है उसी तरह एक प्रदेश पर अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध ठहर सकता है। आकाश के असंख्यात प्रदेशों पर भी अनन्त प्रदेशी स्कन्ध ठहरे हुए है, उनकी भी एक-एक वर्गणा है।

कालतः—एक समय की स्थिति वाले पुद्‌गलो की एक वर्गणा है, दो समय की

स्थिति वाले एवं असंख्यात समय की स्थिति वाले पुद्गलों की एक-एक वर्गणा है।

प्रश्न हो सकता है कि पुद्गल द्रव्य की स्थिति का विधान असंख्यात समय पर्यन्त तो सूत्रकार ने किया है, किन्तु अनन्त काल पर्यन्त रहने का विधान क्यों नही किया?

उत्तर में कहा जा सकता है कि पुद्गल द्रव्य की उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात काल की है, न कि अनन्त काल की। यदि परमाणु या स्कन्ध किसी आकाश प्रदेश पर निरन्तर ठहरे तो अधिक से अधिक असंख्यात काल तक ही ठहर सकता है तत्पश्चात् स्थानान्तरित हो ही जाता है।

भावतः—भाव शब्द का पर्याय बोधक है। एक गुण काले वर्ण वाले पुद्गल द्रव्यों की एक वर्गणा है, दो गुणा काले वर्ण वाले पुद्गलों की एक वर्गणा है। इसी प्रकार दस गुणा, सौ गुणा, संख्यात गुणा, असंख्यात गुणा एवं अनन्त गुणा काले वर्ण वाले पुद्गल द्रव्यों की भी एक-एक वर्गणा है। यह कथन तारतम्य भाव से किया गया है, जैसे मन्दतम काला और अत्यन्त काला इत्यादि। जिस प्रकार एक गुण काले से लेकर अनन्तगुण पर्यन्त काले वर्ण वाले पुद्गल हैं, उसी तरह शेष चार वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श वाले पुद्गलों के विषय में भी कहना और समझना चाहिए।

अब प्रकारान्तर से पुद्गल द्रव्य का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर जघन्य आदि भेदों वाले स्कन्धों की वर्गणा में एकत्व का कथन किया जाता है—

द्रव्यतः—जघन्य प्रदेश वाले स्कन्धों की वर्गणा एक है। सब से कम प्रदेश का नाम जघन्य प्रदेश है। दो परमाणु पुद्गलों के स्कन्ध को जघन्य प्रदेशी स्कन्ध कहते हैं। यद्यपि द्विप्रदेशी स्कन्ध अनन्त हैं, तदपि उन सब की जघन्य प्रदेशी होने से एक वर्गणा है। इसी प्रकार परम अनन्त परमाणुओं से बने हुए स्कन्ध को उत्कृष्ट प्रदेशों वाला महास्कन्ध कहा जाता है, जैसे तमतमा पृथ्वी उत्कृष्ट स्कन्ध वाली कही जा सकती है, क्योंकि वह सात राजू प्रमाण लंबी-चौड़ी है और एक लाख आठ हजार योजना की मोटाइ वाली है। शेष स्कन्ध मध्य प्रदेशी हैं, उन सब की एक-एक वर्गणा है।

क्षेत्रतः—क्षेत्र की अपेक्षा यदि आकाश के एक प्रदेश पर पुद्गल द्रव्य अवगाहित है उसको जघन्य अवगाहन की वर्गणा कहते हैं। यदि आकाश के असंख्यात-असंख्यात प्रदेशों पर पुद्गल द्रव्य अवगाहन किए हुए हों तो उनको उत्कृष्ट प्रदेशावगाहन कहा जाता है, जो जघन्य से अधिक है और उत्कृष्ट से न्यून है। इस प्रकार आकाश के प्रदेशों पर अवगाहित पुद्गल मध्यम अवगाहन करने वाला कहा जाता है। इन सब की एक-एक वर्गणा है।

कालतः—काल की अपेक्षा से एक समय की स्थिति वाला द्रव्य जघन्य स्थितिक

कहलाता है। सत्तर कोटाकोटी सागरोपम की स्थिति वाला पुद्गल द्रव्य उत्कृष्ट स्थितिक कहलाता है। दो समय स्थितिक से लेकर उत्कृष्ट स्थितिक द्रव्य में से कुछ समय कम करने से मध्यम स्थिति वाले पुद्गल द्रव्य कहलाते हैं। प्रत्येक की स्थिति की अपेक्षा से एक-एक वर्गणा है।

भावतः—भाव की अपेक्षा किसी कृष्णवर्ण पदार्थ के वर्ण का ह्रास होते-होते जब वह वर्ण उस अवस्था को प्राप्त होगा जहां उससे आगे उसका ह्रास न हो सके, तब उसे जघन्य गुण काला वर्ण कहा जाएगा और किसी पदार्थ के काले रंग का विकास जहां तक हो सकता है उसके अन्तिम रूप को उत्कृष्ट कहते हैं। एक गुण से अधिक और अनन्त गुण से कुछ न्यून जो काला पुद्गल द्रव्य है वह मध्यमगुण वाला कृष्ण पुद्गल कहलाता है, इसी प्रकार काले वर्ण के अतिरिक्त शेष चार वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, और आठ स्पर्श वाले पुद्गलों के विषय में कहना चाहिए। इस कथन से भली भांति सिद्ध हो जाता है कि पुद्गल द्रव्य परिणमनशील है। इसी कारण संसार की विचित्रता दृष्टिगोचर हो रही है।

पुद्गल द्रव्य का परस्पर मिलने और बिछुड़ने का स्वभाव है, इन्हीं अद्भुत मिलन एवं विभागीकरण के पर्यायों का परिवर्तन होने से संसार में विचित्रता दीख पड़ती है। यह शुभ से अशुभ और अशुभ से शुभ होता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। शास्त्रकार ने द्रव्य का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रुव किया है। इसी कारण पूर्व पर्याय का नाश तथा उत्तर पर्याय का उत्पाद और द्रव्य की ध्रुवता यह उस वस्तु में सदैव रहती है। जैसे दूध से दही, दही से मक्खन, मक्खन से घृत ये सब पदार्थ के पर्याय हैं। पूर्व-पूर्व पर्याय का व्यय और उत्तर-उत्तर पर्याय का उत्पाद तथा पुद्गलत्व की दृष्टि से ध्रौव्य प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं।

जैन सिद्धांत में प्रत्येक द्रव्य की अनन्त पर्यायों अर्थात् दशाओं का प्रतिपादन किया गया है। परमाणुवाद का यथार्थ स्वरूप जैसा जैन-आगमों में वर्णित है, वैसा अन्य दर्शन तथा धर्म शास्त्रों में नहीं देखा जाता। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये चार प्रत्येक पदार्थ के सर्वस्व हैं।

जघन्य और उत्कृष्ट स्वरूप ग्रहण करने से पुद्गल द्रव्य के आरपार की अन्त्यता सूचित की गई है। दोनों कोटियों के असंख्यात या अनन्त भेदों का वर्णन मध्य में गर्भित हो जाता है। इसके विस्तृत विवेचन के लिए प्रज्ञापना सूत्र का पांचवां पर्यायपद मननीय है। इस स्थान में तो केवल सामान्यतया वर्गणा करते हुए पुद्गल द्रव्य की विचित्रता का दिग्दर्शन कराया गया है।

जम्बूद्वीप-परिचय

मूल—एगे जम्बुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं जाव अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं ॥ ५८॥

छाया—एको जम्बूद्वीपो द्वीपः सर्वद्वीपसमुद्राणां यावत् अर्धांगुलञ्च किञ्चिद् विशेषाधिकं परिक्षेपेण।

शब्दार्थ—**एगे**—एक है, **जंबुद्दीवे दीवे**—जम्बूद्वीप ही ऐसा द्वीप जो कि, **सव्वदीव-समुद्दाणं**—सर्व द्वीप-समुद्रों के मध्य में है, **जाव**—यावत्, **अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहिए**—अर्द्धअंगुल और कुछ अधिक, **परिक्खेवेणं**—परिधि से युक्त।

मूलार्थ—सब द्वीप समुद्रों के मध्य में एक यही जंबूद्वीप नामक द्वीप है जो कि एक लाख योजन प्रमाण लंबा-चौड़ा है। जिसकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस एक सौ अट्ठाईस धनुष और साढ़े तेरह अंगुल से कुछ अधिक है।

विवेचनिका—जीव और पुद्गल द्रव्य की वर्गणाओं का स्वरूप जंबूद्वीप में किया गया है, अतः प्रस्तुत सूत्र में जंबूद्वीप का संक्षिप्त परिचय मिलता है। जम्बूद्वीप जैन और वैदिक परम्परा में प्रसिद्ध द्वीप है। वह जम्बू-वृक्ष से उपलक्षित है। यह द्वीप समस्त द्वीपों और समुद्रों के मध्य में है। इसकी लंबाई और चौड़ाई एक लाख योजन की है तथा वह समस्त द्वीपों की अपेक्षा लघु है। इस का आकार गोल है। इसका विस्तृत स्वरूप जंबूद्वीप-प्रज्ञप्ति नामक शास्त्र में वर्णित है—

''कहि णं भंते! जंबुद्दीवे? के महालए णं भंते! जंबुद्दीवे? किं संठिए णं भंते! जंबुद्दीवे? किं आयार-भाव पडोयारे णं जंबुद्दीवे पण्णत्ते? गोयमा! अयण्णं जंबुद्दीवे सव्वद्दीव समुद्दाणं सव्वब्भंतराए, सव्वखुड्डाए वट्टे, तेलपूयसंट्ठाणसंठिए, वट्टे, पुक्खरकण्णिय संट्ठाण संठिए, वट्टे पडिपुण्ण चंद संठाण संठिए, एगं जोयणसय सहस्साइं, सोलस सहस्साइं दोण्णि य सत्तावीसं जोयणसए तिण्णि य कोसं अट्ठावीसं च धणुसयं, तेरस अंगुलाइं, अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहियं परिक्खेवेणं पण्णत्ते।''

—सूत्र ३

श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी से उनके ज्येष्ठ श्रेष्ठ शिष्य श्री गौतम स्वामी जी पूछते हैं कि भगवन्! जम्बूद्वीप कहां पर है? वह कितना बड़ा है? और उसका आकार-भाव क्या है? इन सब प्रश्नों के उत्तर मे श्रमण भगवान् महावीर कहते हैं कि—हे गौतम! यह जम्बूद्वीप सर्वद्वीप समुद्रों के मध्य में है। सब द्वीपों से छोटा है। वह तेल के पूड़े के समान, रथ के पहिए के समान, पुष्करणी की कर्णिका के समान तथा पूर्णमासी के चन्द्र के समान आकार वाला है। लाख योजन प्रमाण लंबा-चौड़ा है, उसकी परिधि (घेरा) ३१६२२७ योजन, तीन कोस, एक सौ आठाई धनुष और साढ़े तेरह अंगुल की है। इस प्रकार का द्वीप विश्व भर में एक ही है।

प्रस्तुत सूत्र से यह भी ध्वनित होता है कि जम्बूद्वीप नामक द्वीप असंख्यात हैं, किन्तु उपर्युक्त प्रमाण वाला जम्बूद्वीप एक ही है। इसी जम्बूद्वीप में मनुष्य का निवास है, अन्य

जंबूद्वीपों में नहीं। इस द्वीप के नीचे बिल्कुल सीध में सातवीं नरक का अप्रतिष्ठान नरकावास है। इसके ऊपर बिल्कुल सीध में सर्वार्थसिद्ध महा-विमान है। अप्रतिष्ठान नरकावास और सर्वार्थ सिद्धमहाविमान दोनों जंबूद्वीप प्रमाण लंबाई-चौड़ाई और परिधि के हैं। उनमें तेंतीस सागरोपम की आयु है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में जंबूद्वीप का सामान्य वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

एकमुक्त श्री भगवान् महावीर

मूल—एगे समणे भगवं महावीरे इमीसे ओसप्पिणीए चउव्वीसाए तित्थगराणं चरमतित्थयरे सिद्धे, बुद्धे, मुत्ते जाव सव्वदुक्ख-पहीणे ॥ ५१॥

छाया—एकः श्रमणो भगवान् महावीरोऽस्यामवसर्पिण्यां चतुर्विंशति-तीर्थङ्कराणां चरम तीर्थङ्करः सिद्धो, बुद्धो, मुक्तो यावत् सर्वदुःखप्रहीणः (प्रक्षीणः)

शब्दार्थ—एगे—एक है, **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर, **इमीसे ओसप्पिणीए**—इस वर्तमान अवसर्पिणी काल में, **चउव्वीसाए तित्थयराणं**—चौबीस तीर्थंकरों के मध्य में से, **चरमतित्थयरे**—अन्तिम तीर्थंकर, **सिद्धे**—सिद्ध, **बुद्धे**—बुद्ध, **मुत्ते**—मुक्त, **जाव**—यावत्, **सव्वदुक्खप्पहीणे**—सर्व दु:खो से रहित हुए हैं।

मूलार्थ—इस अवसर्पिणीकाल में चौबीस तीर्थंकरों में से अन्तिम तीर्थंकर श्री श्रमण भगवान् महावीर ही एकाकी सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और सभी प्रकार के दु:खों से रहित हुए हैं।

विवेचनिका—द्वीपों में सब से छोटा द्वीप जंबूद्वीप है, संख्या की दृष्टि से वह एक है, अत: प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि तीर्थंकर भगवान् महावीर एकाकी निर्वाण को प्राप्त हुए। इस जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में तथा इस अवसर्पिणी काल मे जो चौबीस तीर्थंकर हुए हैं उनमें से अन्तिम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी एकाकी ही मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, जबकि तेईस तीर्थंकरों में कोई भी ऐसे तीर्थंकर नहीं हुए, जोकि महावीर की तरह एकाकी ही निर्वाण को प्राप्त हुए हों, इसीलिए सूत्रकार ने महावीर का यहां विशेष उल्लेख किया है।

प्रश्न होता है कि भगवान् के साथ श्रमण शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है ?

उत्तर में कहना है कि—परमतपस्वी, परमसहिष्णु निरन्तर श्रमशील स्वावलम्बी आत्मा को श्रमण कहते हैं। उक्त सभी विशेषण महावीर में घटित होते हैं, अत: उन्हें श्रमण कहते हैं, क्योंकि उन्होंने अन्य जनों से असाधारण एवं उत्कृष्ट तप किया है। 'भगवान्' शब्द की व्युत्पत्ति पहले सूत्र में कर दी गई है। जो भगवान् के साथ महावीर विशेषण दिया गया है उसके विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—

तथा विशेषेणेरयति मोक्षं प्रतिगच्छति वा प्राणिनः प्रेरयति वा कर्माणि निराकरोति, वीरयति वा रागादि शत्रून् प्रति पराक्रमयति इति वीरः, निरुक्तितो वा वीरो, यदाह—

विदारयति यत्कर्म तपसा च विराजते।
तपोवीर्येण युक्तश्च तस्माद्वीर इति स्मृतः॥

भाष्योक्तम्— ईरेइ विसेसेण व खिवइ कम्माइं गमयइ सिवं वा।
गच्छइ अ तेण वीरो स महंवीरो महावीरो॥
तिहुयण विक्खाय जसो महाजसो नामओ महावीरो।
विक्कंतो य कसायाइ सत्तुसेन्न पराजयओ॥
इतरवीरापेक्षया महांश्चासौ वीरश्चेति महावीरः।

वृत्तिकार तथा भाष्यकार के कथन करने का आशय यह है जिन्होंने समस्त कर्मों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त किया है, जिन्होंने अन्य जीवों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रेरणा दी है, अपने उपदेश द्वारा अन्य जीवों को बन्धन से मुक्त कराया है और जो अन्य वीरों की अपेक्षा महत्तम हैं, इत्यादि विशेषणों से विशिष्ट श्री वर्द्धमान महावीर हैं। इन्द्र और गणधरों ने श्री वर्द्धमान का अपर नाम "श्रमण भगवान् महावीर" रखा है यही नाम विश्व में अधिक प्रसिद्ध हुआ।

सिद्ध—अन्य सिद्धियों की अपेक्षा अनादिबद्ध कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाना ही सर्वोत्तम सिद्धि है, वह सिद्धि जिसे प्राप्त हो जाती है उसे सिद्ध कहा जाता है। भगवान् महावीर को यह सिद्धि प्राप्त हुई थी अतः वे सिद्ध कहलाते हैं।

बुद्ध—विशेषण इसलिए प्रयुक्त किया गया है कि मुक्तात्मा ज्ञान शून्य नहीं होता है, अपितु सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होता है। भगवान् महावीर सर्वज्ञ एवं सर्वद्रष्टा थे, अतः उन्हें बुद्ध कहा गया है।

मुक्त—मुक्त विशेषण इसलिए प्रयुक्त किया गया है कि आत्मा सर्व प्रकार के कर्म बन्धनों से मुक्त होकर अपुनरावृत्ति वाला हो जाता है। श्री महावीर सभी प्रकार के कर्मों से मुक्त होकर अपुनरावृत्त हो गए हैं, अतः उन्हें मुक्त विशेषण दिया गया है।

परिनिर्वृत्त—यावत् शब्द से यहा परिनिर्वृत्त ग्रहण किया गया है। भगवान् महावीर कर्मों से सर्वथा रहित होकर स्वस्थीभूत हो गए थे अतः वे परिनिर्वृत थे।

सर्वदुःखप्रहीण—जो शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार के दुःखों से रहित हो गए हैं उन्हें सर्वदुःखप्रहीण कहते हैं। प्रहीण शब्द प्राकृत में '**पहीण**' भी बनता है, किन्तु दोनों का एक ही अर्थ है, भगवान् सर्व दुःखों से रहित होकर केवल निजस्वरूप में ही निमग्न हो गए। भगवान् महावीर अकेले ही मुक्त हुए। इससे सिद्ध होता है अन्य तीर्थंकर अनेक मुनियों के साथ निर्वाण को प्राप्त हुए हैं।

एगो भगवं वीरो, तेतीसाए सह निव्वुओ पासो ।
छत्तीसएहिं पंचहिं सएहिं नेमी उ सिद्धिं गओ ॥

इस से सिद्ध होता कि तेईस तीर्थंकरों के निर्वाण के समय अन्य अनेक मुनिवर उन के साथ ही निर्वाण को प्राप्त हुए थे, केवल महावीर स्वामी ने ही एकाकी निर्वाण पद प्राप्त किया था।

इस स्थान पर प्रश्न हो सकता है कि जब द्वादशांगवाणी के प्रवर्तक श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी हैं तो फिर इस तीसरे अंग में उन के निर्वाण विषय का उल्लेख कैसे हो सकता है?

उत्तर में कहना है कि—यह वर्तमान कालीन द्वादशांगवाणी श्री सुधर्मास्वामी की वाचना कही जाती है, और यह सूत्ररूप वाचना वे अपने प्रिय सुशिष्य श्री जम्बू स्वामी जी को सुना रहे हैं, अतः उक्त शंका निर्मूल है।

अनुत्तरौपपातिकदेव-अवगाहना

मूल—अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं एगा रयणी उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता ॥ ६० ॥

छाया—अनुत्तरौपपातिकानां देवानामेका रत्निरूर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्ता।

शब्दार्थ—अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं—अनुत्तरौपपातिक देवों की अवगाहना, **एगा**—एक है, **रयणी**—हाथ की, **उड्ढं उच्चत्तेणं**—ऊर्ध्व ऊचेपन, **पण्णत्ता**—प्रतिपादन की गई है।

मूलार्थ—अनुत्तरौपपातिक देवों की अवगाहना एक हाथ की ऊंची कथन की गई है।

विवेचनिका—भगवान् महावीर के शासन में आठ सौ व्यक्ति अनुत्तर विमानवासी देव बने थे, अतः प्रस्तुत सूत्र में अनुत्तरौपपातिक देवों की ऊंचाई का उल्लेख किया गया है। अनुत्तरविमान सिद्धालय के समीप है, अतः सूत्रकार अनुत्तरविमानवासी देवों के विषय में कहते हैं कि—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध महा विमान में उत्पन्न होने वाले देवों की अवगाहना उत्सेध अंगुल के हिसाब से एक हाथ की है।

यद्यपि कतिपय आचार्यों की धारणा है कि चार अनुत्तरविमान वासी देवों की अवगाहना एक हाथ की है, किन्तु सर्वार्थसिद्ध विमानवासी देवों की कुछ न्यून एक हाथ की है, तदपि सूत्रकार उक्त पक्ष को स्वीकार न करते हुए केवल अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले देवों की अवगाहना एक हाथ की बताते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि सूत्र निर्दिष्ट अवगाहना ही प्रामाणिक है।

अनुत्तर का अर्थ है परमप्रधान, उपपात का अर्थ होता है जन्म। परमप्रधान विमानों में जन्म लेने वाले देवों को अनुत्तरौपपातिक देव कहते हैं। यदि हम **'अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं'** इन दो पदों में **'णं'** शब्द को वाक्यालंकार में ग्रहण करें तो उक्त पद प्रथमान्त भी माना जा सकता है अर्थात् **'अनुत्तरौपपातिका देवाः'** यदि **'ण'** को वाक्यालंकार में न ग्रहण करें तो उक्त दोनों पद षष्ठी के बहुवचनान्त तो सिद्ध हैं ही।

सूत्रकर्त्ता ने जो **'उड्ढं उच्चत्तेणं'** पद दिए हैं, इनका भाव यह है कि ऊंची वस्तु कई प्रकार से मानी जाती है, किन्तु इस स्थान में ऊर्ध्व का सम्बन्ध ऊंचाई से ही है।

'उड्ढं' पद में अनुस्वार प्राकृत लक्षण के कारण समझना चाहिए।

एक तारा-परिवार-नक्षत्र

मूल—अद्दा णक्खत्ते एगतारे पण्णत्ते, चित्ता णक्खत्ते एगतारे पण्णत्ते, साती णक्खत्ते एगतारे पण्णत्ते ॥६१॥

छाया—आर्द्रा नक्षत्रमेकतारं प्रज्ञप्तम्, चित्रा नक्षत्रमेकतारं प्रज्ञप्तम्, स्वाति-नक्षत्रमेकतारं प्रज्ञप्तम्।

शब्दार्थ—अद्दा णक्खत्ते—आर्द्रा नक्षत्र, **एगतारे पण्णत्ते**—एक तारे वाला कहा गया है, **चित्ता णक्खते**—चित्रा नक्षत्र, **एगतारे पण्णत्ते**—एक तारे वाला बताया है, **साती णक्खत्ते**—स्वाती नक्षत्र एक तारे वाला कहा गया है।

मूलार्थ—आर्द्रा, चित्रा और स्वाति नक्षत्र का एक-एक तारा बतलाया गया है।

विवेचनिका—देवाधिकार होने से तथा च्यवन की समानता से अनुत्तरौपपातिक देवों के वर्णन करने के अनन्तर इस सूत्र में एक तारे वाले नक्षत्रों का उल्लेख किया गया है। आर्द्रा, चित्रा और स्वाति इन तीन नक्षत्रों के साथ एक-एक तारा है। इससे सिद्ध होता है कि अन्य नक्षत्रों के साथ भी भिन्न-भिन्न तारे हैं, एक-एक नहीं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के सातवें वक्षस्कार में अट्ठाईस नक्षत्रों के तारों की संख्या निम्न प्रकार से प्रतिपादन की गई है, जैसे कि—

एतेसि णं भंते! अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अभिई णक्खत्ते कति तारे पण्णत्ते? गोयमा! तितारे पण्णत्ते, एवं णेयव्वा जस्स जइआओ ताराओ, इमं च तं तारग्गं तिग-तिग-पंच सय-दुग-दुग बत्तीस तिगं तह तिगं च छ-पंच तिग, एक्केग पंचम तिग छक्कगं चेव एक्कारसगचउक्कगं चउक्कगं चेव तारग्गं। —सूत्र १५८

इस पाठ का भाव यह है कि श्री गौतम स्वामी भगवान् महावीर स्वामी से पूछते हैं—भगवन्! अट्ठाईस नक्षत्रों के तारों की संख्या किस प्रकार से है? भगवान ने उत्तर देते हुए कहा—गौतम! अट्ठाईस नक्षत्रों के तारों की संख्या निम्नलिखित है—

१.	अभिजित्	नक्षत्र	के	३	तारे
२.	श्रवण	नक्षत्र	के	३	तारे
३.	धनिष्ठा	नक्षत्र	के	५	तारे
४.	शतभिषज	नक्षत्र	के	१००	तारे
५.	पूर्वाभाद्रपद	नक्षत्र	के	२	तारे
६.	उत्तराभाद्रपद	नक्षत्र	के	२	तारे
७.	रेवती	नक्षत्र	के	३२	तारे
८.	अश्विनी	नक्षत्र	के	३	तारे
९.	भरणी	नक्षत्र	के	३	तारे
१०.	कृत्तिका	नक्षत्र	के	६	तारे
११.	रोहिणी	नक्षत्र	के	५	तारे
१२.	मृगशीर्ष	नक्षत्र	के	३	तारे
१३.	आर्द्रा	नक्षत्र	का	१	तारा
१४.	पुनर्वसु	नक्षत्र	के	५	तारे
१५.	पुष्य	नक्षत्र	के	३	तारे
१६.	अश्लेषा	नक्षत्र	के	६	तारे
१७.	मघा	नक्षत्र	के	७	तारे
१८.	पूर्वाफाल्गुनी	नक्षत्र	के	२	तारे
१९.	उत्तराफाल्गुनी	नक्षत्र	के	२	तारे
२०.	हस्त	नक्षत्र	के	५	तारे
२१.	चित्रा	नक्षत्र	का	१	तारा
२२.	स्वाति	नक्षत्र	का	१	तारा
२३.	विशाखा	नक्षत्र	के	५	तारे
२४.	अनुराधा	नक्षत्र	के	४	तारे
२५.	ज्येष्ठा	नक्षत्र	के	३	तारे
२६.	मूल	नक्षत्र	के	११	तारे
२७.	पूर्वाषाढा	नक्षत्र	के	४	तारे
२८.	उत्तराषाढा	नक्षत्र	के	४	तारे

प्रश्न उपस्थित होता है कि—तारा किसे कहते हैं?

उत्तर में कहना यह है कि—**'तारा च ज्योतिर्विमानरूपेति'** तारा ज्योतिष देवों के विमान को कहते हैं। सब नक्षत्रों के तारों की संख्या का यथास्थान आगे वर्णन किया जाएगा। यहां केवल एक स्थान के अनुरोध से जिन-जिन नक्षत्रों का एक-एक तारा है, यहां उन्हीं का वर्णन किया गया है, अन्य का नहीं। यद्यपि ताराओं की संख्या में मतभेद भी है, तथापि जो सूत्र निर्दिष्ट है उसे ही प्रामाणिक मानना चाहिए।

पुद्गलों की अनन्तता

मूल—एगपएसोगाढा पोग्गला अणंता पण्णत्ता, एवमेगसमय-ठितिया, एगगुणकालगा पोग्गला अणंता पण्णत्ता, जाव एगगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता ॥ ६२ ॥

छाया—एकप्रदेशावगाढा पुद्गलाः अनन्ताः प्रज्ञप्ताः, एवमेकसमयस्थितिकाः एकगुणकालकाः पुद्गलाः अनन्ताः प्रज्ञप्ताः, यावदेकगुणरूक्षाः पुद्गलाः अनन्ताः प्रज्ञप्ताः।

शब्दार्थ—एगपएसोगाढा पोग्गला अणंता पण्णत्ता—आकाश के एक प्रदेश पर अवगाहन किए हुए पुद्गल अनन्त प्रतिपादन किए गए हैं, **एयं**—इसी प्रकार, **एगसमयठितिया**—एक समय की स्थिति वाले पुद्गल अनन्त कहे गए हैं, **एगगुणकालगा पोग्गला अणंता पण्णत्ता**—एक गुण काले वर्ण वाले पुद्गल अनन्त कहे गए हैं, **जाव**—यावत्, **एगगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता**—एक गुण रूक्ष पुद्गल अनन्त कथन किए गए हैं।

मूलार्थ—आकाश के एक प्रदेश पर अवगाहन करने वाले अनन्त पुद्गल हैं, इसी प्रकार एक समय स्थिति वाले, एक गुणयुक्त काले वर्ण वाले तथा एकगुणयुक्त रूक्ष स्पर्श वाले पुद्गल भी अनन्त हैं।

विवेचनिका—ग्रह, नक्षत्र और तारा ये सभी पुद्गल रूप हैं, अतः इस सूत्र में क्षेत्र, काल और भाव को लक्ष्य में रखकर पुद्गल द्रव्य का वर्णन किया गया है। जैसे कि—क्षेत्र की अपेक्षा से जब विचार किया जाता है तब आकाश के एक प्रदेश में अवगाहन करने वाले पुद्गल अनन्त हैं, इसी प्रकार एक समय की स्थिति वाले पुद्गल भी अनन्त हैं। एक गुण वाले काले रंग के पुद्गल भी अनन्त हैं। इसी प्रकार एक गुण गन्ध, एक गुण रस, एवं कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, इन आठ स्पर्श के एक-एक गुणों की एक-एक वर्गणा प्रतिपादन की गई है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि—यदि प्रत्येक आकाश प्रदेश को अनन्त पुद्गल अवगाह

रहे हैं तो इस प्रकार के अनन्त पुद्गल असंख्यात हो सकते हैं, अनन्त नहीं, क्योंकि लोकाकाश असंख्यात प्रदेशात्मक है, ऐसी दशा में सूत्र की उक्त बात कैसे चरितार्थ हो सकती है?

उत्तर में कहना यह है कि—अनन्त पुद्गल स्कन्ध एक-एक आकाश प्रदेश को अवगाहन कर रहे हैं। जिस आकाश प्रदेश को एक परमाणु ने अवगाहन कर रखा है, उस पर संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध भी ठहर सकता है, असंख्यात प्रदेशी स्कन्ध भी ठहर सकता है और अनन्त भी, किन्तु संख्यात प्रदेशी स्कन्ध असंख्यात प्रदेशों को नहीं अवगाह सकता। एक परमाणु दो प्रदेशों को अवगाहित नहीं कर सकता, द्विप्रदेशी स्कन्ध एक को या दो प्रदेशों को अवगाह सकता है। लोकाकाश के प्रत्येक आकाश-प्रदेश को अनन्त-अनन्त पुद्गल-स्कन्ध अवगाहित कर रहे हैं ऐसा नहीं समझना चाहिए, अपितु असंख्यात आकाश प्रदेश ऐसे हैं, जिन्हें अनन्त प्रदेशी स्कन्धों ने अवगाहित कर रखा है। कुछ परमाणुओं ने और कुछ द्विप्रदेशी स्कन्धों ने यावत् संख्यात प्रदेशी स्कन्धों एवं असंख्यात प्रदेशी स्कन्धों ने अवगाहित कर रखा है।

ज्ञाननय और क्रियानय

इस सूत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्व प्रथम ज्ञान होना चाहिए, किन्तु जैन-आगमों में ज्ञान और क्रिया की आराधना जब चरमसीमा पर पहुंच जाती है तभी जीव सभी बन्धनों और दु:खों से छूट जाता है, इनको दूसरे शब्दों में ज्ञाननय और क्रियानय भी कह सकते हैं। नैगम आदि सात नयों का अन्तर्भाव उक्त दो नयों में हो जाता है।

नय का अर्थ है विचारों की मीमांसा, विचारसरणि को भी नय कहा जाता है। नय में केवल विचारों के कारण या उस के परिणामों की चर्चा नहीं आती, किन्तु जो विचार परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं वस्तुत: विरोधी नहीं होते ऐसे विचारों के मूल-तत्त्व की गवेषणा करना ही नय का मुख्य ध्येय है। नयवाद से इतना पता अवश्य लगता है कि किसी भी एक विषय को लेकर नय-दृष्टियां या दृष्टिकोण अनेक हो सकते हैं। दृष्टिकोण भले ही कितने ही क्यों न हों, परन्तु उन्हें संक्षिप्त करके सात दृष्टियों में ही विभक्त किया गया है।

सात नयों का अन्तर्भाव—व्यवहारनय और निश्चय नय में, सामान्य और विशेष नय में, शब्द नय और अर्थनय में, ज्ञाननय और क्रियानय में हो जाता है। जब किसी वस्तु के एक धर्म को मुख्य और शेष अनन्त धर्मों को गौण रूप से माना जाए तब उस विचार सरणि को नय और जब किसी एक ही धर्म को मानकर चला जाए और अन्य अनन्त धर्मों का सर्वथा निषेध किया जाए तब उसे नयाभास कहा जाता है। हम सर्वप्रथम ज्ञान विषयक नयाभास के विषय में विचार करते हैं, जैसे कि—

ज्ञानवादी ज्ञान से ही सर्व पुरुषार्थ की सिद्धि मानते हैं, उनका कहना है इस लोक में और परलोक में ज्ञान ही फलदायक है, क्रिया करने की कोई आवश्यकता नही है, क्योंकि क्रिया कभी भी फलदायिनी नही हो सकती है। कहा भी है—

विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता।
मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य फलप्राप्तेरसम्भवात्।

ज्ञान ही मनुष्य को फल देने वाला है, क्रिया कभी फल नहीं दे सकती, क्योंकि मिथ्याज्ञान के कारण किसी कार्य में प्रवृत्त मनुष्यों को फल-प्राप्ति सर्वथा असभव होती है।

इससे विरुद्ध विचारधारा वाले क्रिया को ही सर्वेसर्वा मानते हैं, ज्ञान को नहीं। उनकी मान्यता है—

क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम्।
यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत्।

इसका सारांश यह है कि—क्रिया ही पुरुषों की फलवती होती है, ज्ञान नहीं। जैसे स्त्री आदि भोग्य और अशन आदि भक्ष्य या पेय के ज्ञान से किसी की तृप्ति नही हो सकती, औषध ज्ञान से कोई भी रोगी निरोगी नहीं हो सकता, अतः क्रिया ही फलवती अर्थात् जीवन-साधिका है, ज्ञान नहीं।

परन्तु जैन-आगमों की मान्यता है कि ज्ञान और क्रिया दोनों के समन्वय से ही कार्य-सिद्धि होती है, किसी एक से नहीं। कहा भी है—

हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणओ य अन्धओ॥

क्रियाहीन ज्ञानी नष्ट हो जाता है और ज्ञान-रहित क्रिया करने वाला भी नष्ट ही होता है। जैसे किसी स्थान में आग लगने पर पंगु व्यक्ति आग का ज्ञान होने पर भी चलने की क्रिया न कर सकने के कारण जल जाता है और अन्धा व्यक्ति आग का ज्ञान न प्राप्त कर सकने के कारण भागने की क्रिया में लीन होकर भी जलता ही है।

अतः ज्ञान और क्रिया दोनों के संयोग से फल की सिद्धि हो सकती है एक से नहीं। जैसे रथ एक पहिए से नहीं चल सकता इसी प्रकार जीवन-रथ भी ज्ञान और क्रिया इन दो पहियों के बिना नहीं चल पाता।

ज्ञान और क्रिया दोनों नयों से प्रस्तुत अध्ययन विचारा जाता है। आगमों में जितने भी पद या अर्थ हैं उनमें कोई ऐसा सूत्र या अर्थ नहीं है जो नयों से विहीन हो, किन्तु श्रोता या शिष्य योग्यता की दृष्टि से जिस-जिस भूमिका में अवस्थित हो उसके सम्मुख नयविज्ञ नयों का स्वरूप उस-उस शैली से समझाएं, जिससे यथाशीघ्र उसकी समझ में आ जाए और नयों के द्वारा वस्तु-तत्त्व को समझने में समर्थ हो सके। कहा भी है—

नत्थि नएहिं विहूणं सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि।
आसज्ज उ सोयारं नए नयविसारओ बूया।।

जैनागमों में ऐसा कोई सूत्र अथवा अर्थ नहीं है जो 'नय' से रहित हो, अत: नय-विशारद वक्ता को चाहिए कि जैसा श्रोता हो उसके अनुरूप नय द्वारा उसे समझाने का प्रयास करे।

ज्ञान-नय सत्य को पहचानने का मार्ग है और दूसरा अंश सत्य को पचाने का। सातों नय तत्त्वस्पर्शी होने से ज्ञान नय में समाविष्ट हो जाते हैं। उन नयों के द्वारा परखे हुए शुद्ध सत्य को जीवन में उतारने की विधि को क्रिया-नय कहते हैं। जीवन को सत्यमय बनाना ही क्रिया की सार्थकता है, अत: सिद्ध हुआ कि ज्ञान और चारित्र से अभ्युदय और अपवर्ग की सिद्धि हो जाती है।

।। प्रथम स्थान समाप्त ।।

जीव
- अभव सिद्धिक — कृष्ण पाक्षिक
- भव सिद्धिक — कृष्ण पाक्षिक, शुक्ल पाक्षिक

२४ दण्डक

	दण्डक	दृष्टियां	लेश्याएं
३ देव	वैमानिक देव दण्डक ज्योतिष्क देव दण्डक वानव्यन्तर देव दण्डक	मिश्रदृष्टि मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि	शुक्ल, पद्म, तेजस् तेजस् कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्
१ मनुष्य	मनुष्य दण्डक	मिश्रदृष्टि मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि	कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म, शुक्ल
१ तिर्यंच पचेन्द्रिय	पचेन्द्रिय-तिर्यंच दण्डक	मिश्रदृष्टि मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि	कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म, शुक्ल
३ विकलेन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय दण्डक त्रीन्द्रिय दण्डक द्वीन्द्रिय दण्डक	मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि	कृष्ण, नील, कापोत
५ स्थावर	तेजस्कायिक दण्डक वायुकायिक दण्डक	मिथ्यादृष्टि	कृष्ण, नील, कापोत
	वनस्पतिकायिक दण्डक अप्कायिक दण्डक पृथ्वीकायिक दण्डक	मिथ्यादृष्टि	कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्
१० भवनपति	दिक्कुमार दण्डक द्वीपकुमार दण्डक उदधिकुमार दण्डक स्तनितकुमार दण्डक वायुकुमार दण्डक अग्निकुमार दण्डक सुपर्णकुमार दण्डक विद्युत्कुमार दण्डक नागकुमार दण्डक असुरकुमार दण्डक	मिश्रदृष्टि मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि	कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्
१ नारक	नारकदण्डक	मिश्रदृष्टि मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि	कृष्ण, नील, कापोत

श्री स्थानाङ्ग-सूत्रम्

स्थान द्वितीय

४ उद्देशक

प्रथम उद्देशक

इस उद्देशक में

द्वितीय स्थान के प्रथम उद्देशक में जीव एवं अजीव नामक तत्त्वों का, जीव-अजीव की विशेषताओं का और उनसे सम्बन्धित क्रिया, गर्हा, प्रत्याख्यान, विद्या, चरण, आरम्भ, परिग्रह, श्रवण, मनन, समा, उन्माद, दण्ड, दर्शन, ज्ञान, धर्म, संयम, काल, शरीर, दिशा आदि का विशेष दृष्टि से वर्णन किया जाएगा।

द्वितीय-स्थान

प्रथम उद्देशक

सामान्य-परिचय

जैन दर्शन 'सामान्यविशेषात्मक वस्तु' कह कर प्रत्येक द्रव्य को सामान्य एवं विशेष दृष्टियों से देखता है। शास्त्रकार ने प्रथम स्थान में सामान्य दृष्टि से द्रव्यों का विवेचन किया है, अब वह द्वितीय स्थान से लेकर इस शास्त्र की पूर्णता तक विशेष दृष्टि से द्रव्यों के भेद प्रस्तुत करेंगे।

द्विविध-जगत्

मूल—जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपडोयारं, तं जहा—जीवच्चेव, **अजीवच्चेव ॥ १ ॥**

छाया—यदस्ति लोके तत्सर्वं द्विप्रत्यवतारं, तद्यथा—जीवाश्चैव, अजीवाश्चैव।

शब्दार्थ—णं—यह शब्द वाक्यालंकार के लिए प्रयुक्त किया गया है, **जदत्थि**—जो भी वस्तु, **लोगे**—लोक में है, **तं सव्वं**—वह सब, **दुपडोयारं**—पक्ष-प्रतिपक्ष, सामान्य-विशेष आदि दो भेदों से युक्त है, **तं जहा**—जैसे कि, **जीवच्चेव**—जीव और, **अजीवच्चेव**—अजीव, दोनों चकार समुच्चयार्थक हैं, **एव**—यह शब्द अवधारणार्थ में है।

मूलार्थ—जो जीवादि पदार्थ लोक में हैं, वे सब पक्ष-प्रतिपक्ष रूप से हैं, जैसे कि जीव और अजीव अर्थात् जीव-राशि और अजीव-राशि। लोक इसी द्वन्द्वात्मकता से व्याप्त है।

विवेचनिका—इस सूत्र में सामान्यत्व और विशेषत्व का आश्रय लेकर प्रत्येक वस्तु का पक्ष-प्रतिपक्ष के रूप में वर्णन किया गया है, अतः प्रथम स्थान में 'एगे आया' के रूप में सामान्य दृष्टि से आत्मा के एकत्व की विवेचना की गई थी। अब द्रव्यों का विशेष दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत हो रहा है।

इस उद्देशक के आदिम सूत्र में सूत्रकार ने जीव तत्त्व का विशेष रूप से वर्णन करते हुए कहा है कि विश्व में जीव और अजीव के अतिरिक्त तीसरी कोई वस्तु नहीं है। सभी द्रव्यों का अन्तर्भाव उक्त दोनों द्रव्यों में हो जाता है।

वेदान्तानुयायी अजीव द्रव्य नहीं मानते, उनका कहना है कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व या द्रव्य नहीं है "**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**"। इस के विपरीत भौतिकतावादी चार्वाक आदि दार्शनिक जीवात्मा को नहीं मानते। उनका कहना है कि पांच भूतों के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नहीं है। आने-जाने वाला कोई स्वतंत्र आत्मा नही है। शास्त्रकार इस विषय में अपना दार्शनिक सिद्धांत व्यक्त करते हुए कहते हैं कि जीव और अजीव दोनों स्वतंत्र तत्त्व हैं और समस्त लोक इन्हीं दो तत्त्वों से व्याप्त है।

पहले कहा जा चुका है कि संसार में दो ही पदार्थ हैं—जड़ और चेतन, इनसे भिन्न अन्य कोई द्रव्य या वस्तु नहीं है, दोनों स्वतन्त्र तत्त्व हैं और अनादि हैं। इनका परस्पर संमिश्रण नहीं होता। जीव जड़ नहीं बनता और जड़ कभी जीव नहीं बनता तथा इनके गुणों का परस्पर आदान-प्रदान भी नहीं होता। जो जिसके गुण और पर्याय हैं वे सदा उसी के ही रहते हैं।

इस स्थल पर प्रश्न उपस्थित होता है कि जब जीव द्रव्य अनन्त हैं और अजीव भी अनन्त हैं तो फिर दो शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है?

उत्तर में कहना है कि—जीवराशि और अजीवराशि संग्रहनय के मत से सिद्ध होती हैं। '**नोजीव नोअजीव**' तीसरी राशि के निषेध के लिए दो शब्द का प्रयोग किया गया है।

सूत्र में '**णं**' शब्द का वाक्यालंकार में प्रयोग किया गया है। किसी-किसी प्रति में '**जदत्थिं च णं**' इस प्रकार का पाठ भी मिलता है। इसमें अनुस्वार आगमिक है और '**च**' पुनरर्थ के लिए आया है। किसी प्रति में '**दुपओआरं**' इस प्रकार से भी पाठ देखा जाता है, इसका संस्कृत रूप '**द्विपदावतारं**' होता है। सभी पदार्थ स्वरूप से और पररूप से विद्यमान हैं अर्थात् पक्ष और प्रतिपक्ष रूप से सद्रूप हैं।

लोक किसे कहते हैं? इस के उत्तर में कहा जाता है कि—'**लोक्यते प्रमीयते इति लोकः, इति व्युत्पत्या लोकालोकरूपे वा तत्**' जो केवलज्ञान के द्वारा देखा जाए और जिसके द्वारा प्रमाणित किया जाए अथवा जो प्रमा का विषय हो, उसे लोक कहा जाता है, वह पञ्चास्तिकायात्मक है।

'**च्चेय, चिय, च्चेव**' इन अव्ययों का प्रयोग प्राकृत में 'एव' के स्थान पर होता है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में जगत् के प्रत्येक पदार्थ की द्विविधता का वर्णन करते हुए लोक को जीवात्मक एवं अजीवात्मक बताया गया है।

जीव की द्विविधता

मूल— तसे चेव थावरे चेव। सजोणिय च्चेव अजोणिय च्चेव।
साउय च्चेव अणाउय च्चेव। सइंदिय च्चेव अणिंदिए चेव।
सवेयगा चेव अवेयगा चेव। सरूवी चेव अरूवी चेव।

सपोग्गला चेव, अपोग्गला चेव। संसारसमावन्नगा चेव, असंसार-समावन्नगा चेव। सासया चेव असासया चेव ॥ २ ॥

छाया— त्रसाश्चैव, स्थावराश्चैव। सयोनिकाश्चैव, अयोनिकाश्चैव।
सायुषश्चैव, अनायुषश्चैव। सेन्द्रियाश्चैव, अनिन्द्रियाश्चैव।
सवेदकाश्चैव, अवेदकाश्चैव। सरूपिणश्चैव अरूपिणश्चैव।

सपुद्गलाश्चैव अपुद्गलाश्चैव। संसारसमापन्नकाश्चैव असंसारसमापन्नका-श्चैव। शाश्वताश्चैव अशाश्वताश्चैव।

शब्दार्थ—जीवों के दो रूप हैं—**तसे चेव थावरे चेव**—त्रस और स्थावर, **सजोणियाच्चेव अजोणियाच्चेव**—सयोनिक और अयोनिक, **साउयच्चेव अणाउयच्चेव**—आयुसहित और आयु रहित, **सइंदियच्चेव अणिंदियच्चेव**—इन्द्रिय-युक्त और इन्द्रिय-रहित, **सवेदगा चेव अवेदगा चेव**—सवेदी और अवेदी, **सरूवी चेव अरूवी चेव**—रूपी और अरूपी, **सपोग्गला चेव अपोग्गला चेव**—पुद्गल सहित और पुद्गल रहित, **संसार-समावन्नगा चेव असंसारसमावन्नगा चेव**—भव आश्रित और भव रहित, **सासया चेव असासया चेव**—शाश्वत और अशाश्वत।

मूलार्थ—त्रस और स्थावर, सयोनिक और अयोनिक, आयुसहित और आयुरहित, इन्द्रियसहित और इन्द्रियरहित, वासनासहित और वासना रहित, रूपसहित और अरूपी, पुद्गलसहित और पुद्गलरहित, भवाश्रित और भव-रहित, शाश्वत और अशाश्वत इस प्रकार जीवों के दो-दो भेद हैं।

विवेचनिका—सूत्रकर्ता ने नव सूत्रांगो में जीव तत्त्व का स्वरूप पक्ष-प्रतिपक्ष के रूप में प्रदर्शित किया है, जैसे कि—

त्रस:—त्रस नाम कर्म के उदय से उद्देश्य-पूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने-आने की अथवा हिलने-डुलने की प्रेरणा देने वाली कर्म-प्रकृति को त्रस कहते हैं। इस से आविष्ट जीव को भी त्रस कहा जाता है।

स्थावर:—जो जीव स्थावर नामकर्म प्रकृति के उदय होने पर अपने ही स्थान पर वृक्ष की तरह ठहरते हैं, वे स्थावर कहलाते हैं। स्थावर जीव पृथ्वी पानी आदि एकेन्द्रिय जाति में उत्पन्न होते हैं, संसारी जीव अनन्तानन्त हैं, उनके संक्षेप में दो भाग किए गए हैं। उन

अनन्तानन्त जीवों में से त्रस जीव असंख्यात हैं शेष सब स्थावर में हैं। अनन्त जीव स्थावरों में भव भ्रमण कर रहे हैं।

सयोनिकः—जन्म लेने के लिए कोई स्थान चाहिए। जिस स्थान में सर्व प्रथम औदारिक आदि स्थूल शरीर धारण करने के लिए ग्रहण किए गए पुद्गल कार्मणशरीर के साथ एकमेक होकर लोलीभूत हो जाते हैं, वही स्थान योनि है, उसी स्थान से जन्म लेने वाले जीव को सयोनिक कहते हैं। संसारी जीव सभी सयोनिक हैं।

अयोनिकः—संसार के बन्धनों से जो सर्वथा मुक्त हो गए हैं, जिन जीवों का जन्म-मरण का चक्र बिल्कुल समाप्त हो गया है, उन्हें अयोनिक कहते हैं, जिन्हे दूसरे शब्दों में विदेह, मुक्त एवं सिद्ध भी कहा जाता है।

सायुषः—जो आयु कर्म के उदय से जी रहे हैं, वे जीव चाहे किसी भी गति में हों या किसी भी भव में हों, उन्हें सायुष जीव कहते हैं।

अनायुषः—सिद्ध भगवान् आयु कर्म से सर्वथा रहित हैं, क्योंकि वे मोह को क्षय कर देते हैं और घनघाति कर्मों से भी सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। मृत्यु की सीमा से निकल कर अक्षय, अव्यय एवं निरामय पद में पहुँच कर सिद्ध हो जाते हैं। उन्हें ही अनायुष कहा जाता है।

सेन्द्रियः—इन्द्रिय का अर्थ है जिससे सांव्यावहारिक ज्ञान का लाभ हो सके। इन्द्रियों के दो रूप हैं—कर्म-इन्द्रियां और ज्ञान-इन्द्रियां। इनमें से ज्ञानेन्द्रिय के पांच रूप हैं। यदि इन्द्रियों की संख्या के आधार पर संसारी जीवों का विभाजन करना हो तो इनके पाच भाग बनते हैं—एकेन्द्रिय जीव, द्वीन्द्रिय जीव, त्रीन्द्रिय जीव, चतुरिन्द्रिय जीव और पञ्चेन्द्रिय जीव। छद्मस्थ जीव बाह्य विषयो का ज्ञान इन्द्रियों से ही प्राप्त किया करते हैं।

अनिन्द्रियः—जिन जीवों को केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हो गया है, उन्हे अनिन्द्रिय जीव कहते हैं। सयोगी केवली, अयोगी केवली और सिद्ध भगवान् ये सब अनिन्द्रिय जीव होते हैं, उनका ज्ञान स्वतः सिद्ध होता है।

सवेदकः—मैथुन की अभिलाषा को वेद कहते हैं। जो जीव वेद-युक्त हैं, उन्हें सवेदी या सवेदक कहते हैं।

अवेदकः—जिन्होंने वेद-मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम कर दिया है उन्हें अवेदी या अवेदक कहते हैं। दसवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक प्राप्त जीव और सिद्ध भगवान् ये सब अवेदक कहलाते हैं।

सरूपीः—कर्मानुसार रूप-विशेष एवं आकृति-विशेष को धारण करने वाले जीव सरूपी कहलाते हैं।

अरूपीः—मुक्त-आत्मा कर्म रहित होने से अमूर्त हैं अतः अरूपी हैं, इसलिए वृत्तिकार लिखते हैं—

सहरूपेण—मूर्त्या वर्तत इति समासान्ते इन् प्रत्यये सति सरूपिणः—संस्थान-वर्णादिमन्तः सशरीरा इत्यर्थः, न रूपिणोऽरूपिणो-मुक्ताः।

जैन-सिद्धांत में प्रत्येक द्रव्य रूपी और अरूपी शब्द से व्यवहृत होता है, साकार-निराकार शब्दों से नहीं। कारण यह है कि कोई भी वस्तु शश-श्रृंग के समान निराकार नहीं है, क्योंकि जो द्रव्य है, वह संस्थान वाला होता है, अतः रूपी और अरूपी शब्द ही युक्ति-संगत हैं, साकार-निराकार नहीं।

सपुद्गलः—जो आत्मा कर्म, शरीर, मन, वाणी आदि से युक्त हैं, वे संसारी हैं। संसार में जो भी जीव हैं वे सब पुद्गलसहित हैं, क्योंकि पुद्गल ही सांसारिक जीवों के शरीर आदि के निर्माण में सहयोगी हैं।

अपुद्गलः—जो आत्माएं कर्म पुद्गल से सर्वथा रहित हैं वे अपुद्गल कहलाते हैं, क्योंकि वे पुद्गलमय सांसारिकता से मुक्त हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में उन्हें सिद्ध कहा जाता है।

संसार-समापन्नकः—इस शब्द का अर्थ है संसार के आश्रय में रहने वाले जीव अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण करने वाले जीव ही संसार-समापन्नक कहलाते हैं।

असंसार-समापन्नकः—जो ससार रूप पर्याय से रहित हो गए हैं वे असंसार-समापन्नक कहलाते हैं, जैसे सिद्ध भगवान्।

शाश्वतः—सिद्धात्मा शाश्वत हैं, क्योंकि वे सादि अनन्त पद को प्राप्त कर गए हैं।

अशाश्वतः—संसारी आत्माएं अशाश्वत हैं, क्योंकि उनकी द्रव्य-पर्याय अर्थात् रूप-रंग आदि बदलती रहती हैं। आत्मप्रदेशों का संकोच-विस्तार तथा भवपरिवर्तन ये सब द्रव्य पर्याय हैं। अथवा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जीव शाश्वत है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अशाश्वत। वैभाविक पर्याय जीव की अशाश्वत होती है और स्वाभाविक पर्याय शाश्वत, यह सत्य इस सूत्र के अन्तिम दो पदों से ध्वनित होता है।

जीवास्तिकाय में संसारी और मुक्त दोनों तरह के जीवो का अन्तर्भाव हो जाता है। आत्मा की विशुद्ध अवस्था ही परमात्मा है, परमात्मा का आत्मा से कोई अलग अस्तित्व नहीं है, उसका पूर्ण होना ही सिद्धत्व अर्थात् परमात्मत्व है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में जीव की द्विविधता का साकेतिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

अरूपी अजीवकाय-वर्णन

मूल—आगासा चेव नो आगासा चेव। धम्मे चेव अधम्मे चेव ॥ ३ ॥

छाया—आकाशश्चैव, नो आकाशश्चैव। धर्मश्चैव, अधर्मश्चैव।

शब्दार्थ—आगासा चेव—आकाशास्तिकाय और, **नो आगासा चेव**—नो आकाशास्तिकाय, **धम्मे चेव**—धर्मास्तिकाय और, **अधम्मे चेव**—अधर्मास्तिकाय अथवा विरतिरूप धर्म और अविरति रूप अधर्म।

मूलार्थ—आकाश-द्रव्य और नो आकाशद्रव्य, धर्म-द्रव्य और अधर्म-द्रव्य इस प्रकार अरूपी-अजीव काय के दो-दो भेद हैं।

विवेचनिका—सूत्रकर्त्ता ने द्वितीय स्थान के पहले सूत्र में जीवात्मा के बाह्य और आन्तरिक स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है। इस सूत्र में वे अजीव तत्त्व का विश्लेषण कर रहे हैं। सर्व द्रव्यों का आधार भूत आकाश द्रव्य है जो कि अनादि-अनन्त है। आकाश अन्य सभी द्रव्यों से बड़ा स्कन्ध है, क्योंकि वह अनन्तानन्त प्रदेश परिमाण वाला है।

नोआकाश का अर्थ होता है—आकाश के अतिरिक्त अन्य अरूपी अजीव द्रव्य। वे द्रव्य कौन से हैं? इसके उत्तर में सूत्रकार स्वय प्रतिपादन करते हैं कि जो आकाश द्रव्य से भिन्न अरूपी द्रव्य हैं उन्हें नो आकाश कहते हैं, वे द्रव्य हैं—धर्म और अधर्म।

धर्म और अधर्म—

जीव और पुद्गल की गति में धर्म-द्रव्य सहायक बनता है, जैसे मत्स्य की गति में जल सहायक होता है। जीव और पुद्गल की अवस्थिति में अधर्मास्तिकाय इस प्रकार सहायक होता है, जैसे पथिक की गति रोकने के लिए वृक्ष की छाया सहायक होती है। इन दोनों द्रव्यों के प्रदेश असंख्यात-असंख्यात हैं। प्रदेश ऐसे सूक्ष्म अविभाज्य अंश को कहा जाता है जिसके दूसरे अंश की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। ऐसे सूक्ष्म अंश को निरंश अंश भी कहते हैं। धर्म और अधर्म इन दोनों की सत्ता भिन्न-भिन्न है। ये दोनों द्रव्य एक ऐसे अखण्ड स्कन्ध रूप हैं, जिनके असंख्यात-अंसख्यात प्रदेश हैं। वे प्रदेश वस्तुभूत स्कन्ध से अलग नहीं किए जा सकते। उक्त दोनों द्रव्य लोकव्यापी हैं। इससे सिद्ध होता है कि लोकाकाश, धर्म और अधर्म इन तीनों के प्रदेश असंख्यात होने पर भी पारस्परिक समता रखते हैं।

इस पाठ से यह भी ध्वनित होता है कि विषय-कषायों से निवृत्ति ही धर्म है और विषय-कषायों में प्रवृत्ति ही अधर्म है। अथवा आत्मा की स्वाभाविक परिणति धर्म है और वैभाविक परिणति अधर्म। इस प्रकार पक्ष-प्रतिपक्ष को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने इनका सामान्य विश्लेषण किया है।

बन्ध आदि की द्वन्द्वात्मकता

मूल— बंधे चेव, मोक्खे चेव। पुन्ने चेव, पावे चेव।
आसवे चेव, संवरे चेव। वेयणा चेव, निज्जरा चेव ॥४॥

छाया—बन्धश्चैव, मोक्षश्चैव। पुण्यञ्चैव, पापञ्चैव।
आश्रवश्चैव, संवरश्चैव। वेदना चैव, निर्जरा चैव।

शब्दार्थ—बंधे चेव—कर्मों का बन्ध, **मोक्खे चेव**—आत्मा का मोक्ष, **पुन्ने चेव**—पुण्य, **पावे चेव**—और पाप, **आसवे चेव**—आश्रव, संवरे चेव—और संवर, **वेयणा चेव**—वेदना, **निज्जरा चेव**—और निर्जरा, (चकार और एवकार दोनो का अर्थ पूर्ववत् जानना चाहिए।

मूलार्थ—बन्धतत्त्व और मोक्षतत्त्व, पुण्यतत्त्व और पापतत्त्व, आश्रवतत्त्व और संवर तत्त्व, वेदना और निर्जरा तत्त्व। इन तत्त्वो के ये द्वन्द्वात्मक रूप हैं।

विवेचनिका—इस सूत्र में जीव रूप पुद्गल को लक्ष्य मे रखकर पक्ष-प्रतिपक्ष का वर्णन किया गया है। जैसे कि—जब आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध होता है तब उसे बन्ध कहते हैं। उस बन्ध से मुक्त होना ही तो मोक्ष है।

शुभ कर्मों का आत्मा के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसे पुण्य कहा जाता है और जिस से अशुभ कर्मों का बन्ध हो उसे पाप कहते हैं। बन्ध के हेतु को आश्रव और जिसके द्वारा उसे रोका जाए उसे सवर कहते हैं। कर्मों के फलों का अनुभव करना वेदना कहलाती है और आत्म-प्रदेशों से कर्म-पुद्गल को पृथक् करना ही निर्जरा है।

आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा उपलक्षण से काल ये सब अरूपी अजीव द्रव्य हैं। केवल पुद्गल द्रव्य ही रूपी है। उसी का आत्मा के साथ कर्मरूप से बन्ध होता है। बन्ध और मोक्ष, पुण्य और पाप, आश्रव और संवर, वेदना और निर्जरा, ये पक्ष-प्रतिपक्ष के विधान करने वाले हैं। पुण्य-पाप, आश्रव-बन्ध और वेदना ये जीवा-जीव की मिश्र अवस्थाएं हैं, तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सब जीव की स्वाभाविक अवस्थाएं हैं।

यदि बन्ध है तभी मोक्ष भी होता है, पाप कर्म से निवृत्ति होने पर ही पुण्य-कर्म में प्रवृत्ति होती है, कर्मों का बन्ध रूप आश्रव होने पर ही तो संवर रूप उनका अवरोध होता है, कर्म फल-भोग रूप वेदना होने पर ही कर्म-बन्ध का परित्याग रूप निर्जरा सम्भव है, अत: सूत्रकार ने द्वन्द्वात्मकता का प्रतिपादन किया है।

क्रिया

मूल— दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—
जीव किरिया चेव, अजीव किरिया चेव।
जीव किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—
सम्मत्त-किरिया चेव, मिच्छत्त-किरिया चेव ॥५॥

छाया—द्वे क्रिये प्रज्ञप्ते, तद्यथा-जीवक्रिया चैव, अजीवक्रिया चैव। जीवक्रिया द्विविधा प्रज्ञप्ता तद्यथा-सम्यक्त्वक्रिया चैव, मिथ्यात्वक्रिया चैव।

शब्दार्थ—दो किरियाओ—दो क्रियाएं, **पण्णत्ताओ**—कथन की गई हैं, **तं जहा**—जैसे कि, **जीव किरिया चेव**—जीव-क्रिया और, **अजीव किरिया चेव**—अजीव-क्रिया, पुनः, **जीव किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा**—जीव क्रिया दो प्रकार की प्रतिपादन की गई है जैसे कि, **सम्मत्त-किरिया चेव**—सम्यक्त्व क्रिया और, **मिच्छत्त-किरिया चेव**—मिथ्यात्व क्रिया।

मूलार्थ—क्रियाएं दो प्रकार की कथन की गई हैं, जैसे कि जीव-क्रिया और अजीव क्रिया। जीव क्रिया के भी दो रूप हैं, जैसे कि—सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया।

विवेचनिका—कर्मों की निष्पत्ति क्रिया द्वारा ही हुआ करती है, क्रिया का अर्थ है—करना **'करणं क्रिया, क्रियते इति वा क्रिया'**। शुभ-अशुभ सभी प्रकार की चेष्टाओं को क्रिया कहते हैं, अथवा कर्म-बन्ध के हेतु को क्रिया कहा जाता है। क्रिया दो प्रकार की होती है—जीव की क्रिया और अजीव की क्रिया। जीव छह द्रव्यों में एक द्रव्य है। द्रव्य में अर्थ-क्रियाकारित्व धर्म रहता ही है। जब जीव स्वरूपाचरण में क्रिया करता है तब वह क्रिया कर्मबन्ध का कारण नहीं बनती, शेष सभी क्रियाएं जीव के लिए कर्मबन्ध की कारण हैं।

जीव-क्रिया भी दो प्रकार को होती है—सम्यक्त्व-क्रिया और मिथ्यात्व-क्रिया। जब आत्मा ज्ञानपूर्वक पदार्थों के स्वरूप को यथावत् जानने लगता है—तब उस चेष्टा विशेष को सम्यक्त्व क्रिया कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि—जीवात्मा न तो जड़ की तरह सर्वथा क्रिया-शून्य है और न सांख्यदर्शन की तरह अक्रिय है; अपितु ज्ञानयुक्त आत्मा सचाई से सक्रियत्व-भावों को धारण किए रहता है। देव, गुरु, धर्म और शास्त्र पर विश्वास रखते हुए जीव श्रद्धा, विनय एवं भक्ति सहित जो क्रिया करता है, उस क्रिया को सम्यक्त्व क्रिया कहते हैं।

मिथ्यात्व के उदय से जब जीव विपरीत एवं अज्ञानपूर्ण क्रिया करता है, अथवा मिथ्यात्व सहित जीव की जो भी क्रिया होती है उसे मिथ्यात्व क्रिया कहते हैं, वह मिथ्या संकल्पों के अधीन होकर पदार्थों के स्वरूप को अयथार्थ भाव से जब जानता एवं उनके प्रति आसक्त होता है तब उस समय उस जीव को मिथ्या क्रियात्व सहित माना जाता है, उक्त दोनों प्रकार की क्रियाएं जीव ही किया करते हैं।

अजीव-क्रिया

मूल—अजीव किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—इरियावहिया चेव,

संपराइया चेव ॥६॥

छाया—अजीव क्रिया द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—ऐर्यापथिकी चैव, साम्परायिकी चैव।

शब्दार्थ—अजीव किरिया—अजीव क्रिया, **दुविहा**—दो प्रकार की, **पण्णत्ता**—कथन की गई है, **तं जहा**—जैसे कि, **इरियावहिया चेव**—ऐर्यापथिकी और, **संपराइया चेव**—साम्परायिकी।

मूलार्थ—अजीव क्रिया दो प्रकार की प्रतिपादित की गई है, जैसे कि—ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी।

विवेचनिका—

ऐर्यापथिकी क्रिया—

इस सूत्र में अजीव-क्रिया दो प्रकार की बतलायी गयी है, ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी। मार्ग मे यतनापूर्वक गमन करते समय जो शारीरिक चेष्टा (कायिक योग) होती है उसे ऐर्यापथिकी क्रिया कहते हैं। कहा भी है—

ईरणमीर्या—गमनं तद्विशिष्टः पन्था ईर्यापथस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी।

छद्मस्थ वीतराग अप्रमत्त साधु के द्वारा केवल काययोग के कारण जो क्रिया होती है तथा सयोगी केवली महापुरुषों के द्वारा जो गमनागमन हलन-चलनादि क्रिया होती है वह ऐर्यापथिकी क्रिया कहलाती है। यह क्रिया विपाक-जनक अर्थात् कटु फलदायिनी नही होती, क्योंकि इसमें कषाय का अभाव रहता है। यह क्रिया दो समय से अधिक स्थिति वाली नहीं होती अथवा केवल काययोग के कारण से उपशान्तमोह आदि तीन गुणस्थानो मे जो सातावेदनीय कर्म रूप में पुद्गल राशि जीव के साथ मिलती है, उसे ऐर्यापथिकी क्रिया कहते हैं। जीव जिस क्रिया के द्वारा कर्म-पुद्गलों का ग्रहण करता है, वह अजीव-क्रिया है, साम्परायिक क्रिया से कर्मबन्ध तो होता ही है किन्तु ऐर्यापथिकी क्रिया से भी कर्मबन्ध होता है। कर्म अजीव है, इस विषय में वृत्तिकार भी लिखते हैं—

इह जीवव्यापारेऽप्यजीवप्रधानत्वविवक्षयाऽजीवक्रियेयमुक्ता, कर्मविशेषेणै-वैर्यापथिकी क्रियोच्यते इति।

ऐर्यापथिकी क्रिया दो प्रकार की होती है—एक बध्यमान और दूसरी वेद्यमान। प्रथम समय में इस के द्वारा कर्मों का बन्ध होता है, दूसरे समय में वेदा जाता है और तीसरे समय में उसका क्षय हो जाता है। यह क्रम तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम भाग तक चलता ही रहता है, जैसे कि आगम में भी कहा है—

जाव सजोगी भवइ—इरियावहियं कम्मं निबंधइ, सुहफरिस- दुसमयट्ठिइयं, तं

पढमसमए बद्धं, बीए समए वेइयं, तइए समए निज्जिण्णं, तं बद्धं, पुट्ठं, उदीरियं, वेइयं, निज्जिण्णं, सेयाले य अकम्मं यावि भवइ।

चौदहवें गुणस्थान में जीव अयोगी केवली होकर सिद्धत्व प्राप्त करता है, फिर आत्म-प्रदेशों में किसी भी तरह स्पन्दन नहीं होता, अतः कर्मबन्ध भी नहीं होता।

साम्परायिकी क्रियाः—

जो योग और कषाय के कारण से क्रिया होती है वह साम्परायिकी कहलाती है। आत्मा को संपराय-बद्ध अर्थात् कषाय-बद्ध करने वाली क्रिया को साम्परायिकी क्रिया कहा जाता है। यह क्रिया सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान या सूक्ष्मसंपराय चारित्र पर्यन्त रहती है। वृत्तिकार इस विषय में लिखते हैं—

संपरायाः कषायास्तेषु भवा साम्परायिकी, सा ह्यजीवस्य पुद्गलराशेः कर्मतापरिणतिरूपाजीवव्यापारस्याविवक्षणादजीवक्रियेति, सा च सूक्ष्मसम्परायान्तानां गुणस्थानकवतां भवतीति।

इस क्रिया के द्वारा जीव के साथ समय-समय में सात-आठ और छः कर्मों का बन्ध होता ही रहता है। संसार-चक्र की प्रवृत्ति इसी क्रिया द्वारा होती है। कषाय-भाव में साम्परायिकी क्रिया होती है और अकषाय भाव में ऐर्यापथिकी। आचार्य उमास्वाति ने भी कहा है—

सकषायाकषाययोः साम्परायिकैर्यापथयोः।

निष्कर्ष यह निकला कि आत्मा दोनों प्रकार की क्रियाओं से जब मुक्त हो जाता है तभी उसे निर्वाण-पद प्राप्त होता है।

कायिकी और आधिकरणिकी क्रिया

मूल—दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

काइया चेव, अहिगरणिया चेव।

काइया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—

अणुवरयकायकिरिया चेव, दुप्पउत्तकायकिरिया चेव।

अहिगरणिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—

संजोयणाहिगरणिया चेव, णिव्वत्तणाहिगरणिया चेव ॥७॥

छाया—द्वे क्रिये प्रज्ञप्ते, तद्यथा—कायिकी चैव, आधिकरणिकी चैव। कायिकी क्रिया द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—अनुपरतकायक्रिया चैव, दुष्प्रयुक्तकायक्रिया चैव।

आधिकरणिकी क्रिया द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—संयोजनाधिकरणिकी चैव, निर्वर्तनाधिकरणिकी चैव।

शब्दार्थ—दो किरियाओ पण्णत्ताओ—दो क्रियाएं प्रतिपादित की गई है, **तं जहा**—जैसे कि, **काइया चेव**—शरीर के व्यापार से उत्पन्न होने वाली क्रिया कायिकी क्रिया होती है और, **अहिगरणिया चेव**—शस्त्र आदि के योग से उत्पन्न होने वाली क्रिया आधिकरणिकी क्रिया होती है, **काइया किरिया दुविहा पण्णत्ता**—कायिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है, **तं जहा**—जैसे कि, **अणुवरयकायकिरिया चेव**—पापों से शरीर का निवृत्त न होना रूप अनुपरत क्रिया कही जाती है और, **दुप्पउत्तकिरिया चेव**—शरीर का दुष्प्रयोग करना रूप दुष्प्रयुक्त क्रिया कहलाती है।

अहिगरणिया किरिया दुविहा पण्णत्ता—आधिकरणिकी क्रिया भी दो प्रकार की कही गई है, **तं जहा**—जैसे कि, **संजोयणाहिगरणिया चेव**—शस्त्र-अस्त्र आदि के संयोजन करने की क्रिया संयोजनाधिकरणिकी क्रिया कहलाती है और, **णिव्वत्तणाहिगरणिया चेव**—शस्त्र-अस्त्र आदि को तैयार करने की क्रिया निर्वर्त्तनाधिकरणिकी क्रिया होती है।

मूलार्थ—दो प्रकार की क्रियाएं वर्णित की गई हैं, जैसे कि—कायिकी और आधिकरणिकी। कायिकी क्रिया भी दो प्रकार की वर्णित की गई है, जैसे कि—अनुपरत-कायिकी क्रिया और दुष्प्रयुक्त-कायिकी क्रिया। आधिकरणिकी क्रिया के भी दो प्रकार बताए गए हैं, जैसे कि—संयोजनाधिकरणिकी क्रिया और निर्वर्तनाधिकरणिकी क्रिया।

विवेचनिका—इस सूत्र में सूत्रकार ने साम्परायिकी क्रिया का वर्णन करना प्रारभ किया है—शरीर के व्यापार से जो क्रिया उत्पन्न होती है उसे कायिकी क्रिया कहते है और जो क्रिया अस्त्र-शस्त्र आदि के प्रयोग से उत्पन्न होती है वह आधिकरणिकी क्रिया कहलाती है। वृत्तिकार के शब्दों में—

अधिक्रियत आत्मा नरकादिषु येन तदधिकरणम्—अनुष्ठानं बाह्यं वा वस्तु, इह च बाह्यविवक्षितं खड्गादि, तत्र भवा आधिकरणिकीति।

वृत्तिकार द्वारा की गई इस व्युत्पति से सिद्ध होता है कि—आधिकरणिकी क्रिया द्वारा जीव भयंकर पाप कर्मों का बन्ध करता है और उस बन्ध के कारण वह नरक आदि दुर्गतियों को भी प्राप्त कर लेता है। इनमें से कायिकी क्रिया के दो भेद है, जैसे कि—

अनुपरतकायिकी क्रिया—जो आत्माए सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि हैं, अपने शरीर द्वारा अयतना पूर्वक की जाने वाली चेष्टा ही अनुपरतकायिकी-क्रिया कही जाती है। अविरति, अपच्चक्खाणी जीव असावधानी पूर्वक शरीर के द्वारा जो क्रियाएं करता है उन सब का अन्तर्भाव अनुपरतकायिकी क्रिया में हो जाता है।

दुष्प्रयुक्तकायिकी क्रियाः—इष्ट और अनिष्ट शब्द आदि विषयों से राग-द्वेष करना तथा मानसिक अशुभ संकल्पों के कारण मोक्षमार्ग में प्रवृत्त न होना, मोक्षमार्ग में व्यवस्थित

रूप से प्रगति न करना, अपितु आलस्य और प्रमाद में ही रहना दुष्प्रयुक्तकायिकी क्रिया कहलाती है।,

इसी प्रकार आधिकरणिकी क्रिया के भी दो भेद हैं, जैसे कि—

संयोजनाधिकरणिकी क्रिया:—शस्त्र-अस्त्र बनाने की योजना बनाना, उनके चलाने का पूर्वाभ्यास करना, बन्दूक को गोली भर के रखना आदि-आदि क्रियाओं का अन्तर्भाव इस क्रिया में ही हो जाता है।

निर्वर्तनाधिकरणिकी क्रिया:—जन-संहारक शस्त्र-अस्त्रों का निर्माण करना, नूतन शस्त्र आदि का आविष्कार तथा उत्पादन करना एवं अवैधानिक शस्त्रों का निर्माण करना भी उक्त क्रिया का ही रूप है।

प्राद्वेषिकी और पारितापनिकी क्रिया

मूल— दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—
पाउसिया चेव, परियावणिया चेव।
पाउसिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—
जीव-पाउसिया चेव, अजीव-पाउसिया चेव।
परियावणिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—
सहत्थपरियावणिया चेव, परहत्थपरियावणिया चेव ॥ ८ ॥

छाया—द्वे क्रिये प्रज्ञप्ते, तद्यथा—प्राद्वेषिकी चैव, पारितापनिकी चैव।

प्राद्वेषिकी क्रिया द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—जीवप्राद्वेषिकी चैव, अजीवप्राद्वेषिकी चैव।

पारितापनिकी क्रिया द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—स्वहस्तपारितापनिकी चैव, परहस्तपारितापनिकी चैव।

शब्दार्थ—दो किरियाओ—दो क्रियाएं, **पण्णत्ताओ**—प्रतिपादन की गई हैं, **तं जहा**—जैसे कि, **पाउसिया चेव**—द्वेष या मात्सर्य से जो क्रिया की जाती है वह प्राद्वेषिकी है और, **परियावणिया चेव**—ताडनादि से उत्पन्न होने वाली पारितापनिकी क्रिया कहलाती है।

पाउसिया किरिया दुविहा पण्णत्ता—प्राद्वेषिकी क्रिया दो प्रकार की प्रतिपादन की गई है, **तं जहा**—जैसे कि, **जीव पाउसिया चेव**—जीवों पर द्वेष करने वाली क्रिया जीव प्राद्वेषिकी और, **अजीव पाउसिया चेव**—अजीवों पर द्वेष करने वाली अजीव प्राद्वेषिकी क्रिया कहलाती है।

परियावणिया किरिया दुविहा पण्णत्ता—पारितापनिकी क्रिया दो प्रकार की प्रतिपादित

की गई है, **तं जहा**—जैसे कि, **सहत्थ परियावणिया चेव**—स्वहस्त पारितापनिकी और, **परहत्थ-परियावणिया चेव**—परहस्त पारितापनिकी। 'च' कार समुच्चय अर्थ में है और 'एव' शब्द निश्चय अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

मूलार्थ—दो प्रकार की क्रियाएं प्रतिपादित की गई हैं—प्राद्वेषिकी और पारितापनिकी। इन में से प्राद्वेषिकी क्रिया के दो भेद हैं—जीव प्राद्वेषिकी और अजीव प्राद्वेषिकी तथा पारितापनिकी क्रिया के भी दो भेद हैं—स्वहस्तपारितापनिकी और परहस्तपारितापनिकी।

विवेचनिका—इस सूत्र में क्रिया-निरूपण की शैली पहले से कुछ विलक्षण ही है। अन्य जीवों से सदैव क्रोध, द्वेष और मात्सर्य करते ही रहना प्राद्वेषिकी क्रिया कहलाती है। तथा अन्य जीवों को अनैतिक रूप से ताडना, तर्जना, मारना, पीटना आदि पारितापनिकी क्रिया का रूप है। प्रत्येक क्रिया के दो-दो भेद हैं, जैसे कि—

जीवप्राद्वेषिकी:—जीवों से द्वेष करना एवं उनके तन, धन और प्रतिष्ठा की हानि के उपायों की अन्वेषणा करना जीव प्राद्वेषिकी क्रिया कहलाती है।

अजीवप्राद्वेषिकी:—अपनी भूल या अविवेकता के कारण किसी पाषाण आदि की ठोकर से यदि शरीर का कोई भी अवयव क्षत-विक्षत हो जाए, तब उस अजीव पदार्थ पर द्वेष करना, क्रोधावेश में आकर उस को नष्ट-भ्रष्ट कर देना अजीव प्राद्वेषिकी क्रिया कहलाती है।

स्वहस्त-पारितापनिकी:—क्रोधान्ध होकर अपने हाथों से अपने ही शरीर को पीटना या दूसरों को दु:खित एवं पीड़ित करना स्वहस्त-पारितापनिकी क्रिया मानी जाती है।

परहस्त पारितापनिकी:—किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा किसी को मरवाना, पिटवाना एवं उस की हानि करवाना परहस्तपारितापनिकी क्रिया होती है।

प्राणातिपातिकी और अप्रत्याख्यानिकी क्रिया

मूल— दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

पाणातिवाय किरिया चेव, अपच्चक्खाण किरिया चेव।

पाणातिवाय किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—

सहत्थ-पाणातिवायकिरिया चेव, परहत्थ-पाणातिवायकिरिया चेव।

अपच्चक्खाण-किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—

जीव-अपच्चक्खाणकिरिया चेव, अजीव-अपच्चक्खाणकिरिया चेव ॥१॥

छाया—द्वे क्रिए प्रज्ञप्ते तद्यथा—प्राणातिपातक्रिया चैव, अप्रत्याख्यान-क्रिया चैव।

प्राणातिपातक्रिया द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—स्वहस्तप्राणातिपातक्रिया चैव, परहस्तप्राणातिपातक्रिया चैव।

अप्रत्याख्यानक्रिया द्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—जीव अप्रत्याख्यान क्रिया चैव, अजीव-अप्रत्याख्यानक्रिया चैव।

शब्दार्थ—दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—दो क्रियाएं बतलाई गई है, जैसे कि, **पाणातिवाय किरिया चेव**—प्राणातिपात क्रिया और, **अपच्चक्खाण किरिया चेव**—अप्रत्याख्यान क्रिया, **पाणातिवायकिरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा**—प्राणातिपात क्रिया दो प्रकार की प्रतिपादित की गई है जैसे कि, **सहत्थपाणातिवायकिरिया चेव**—स्वहस्तप्राणतिपात क्रिया और, **परहत्थपाणातिवायकिरिया चेव**—परहस्त प्राणातिपात क्रिया।

अपच्चक्खाण किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—अप्रत्याख्यान क्रिया भी दो प्रकार की प्रतिपादित की गई है, जैसे कि, **जीव अपच्चक्खाण किरिया चेव**—जीव अप्रत्याख्यान क्रिया और, **अजीव अपच्चक्खाण किरिया चेव**—अजीव अप्रत्याख्यान क्रिया। 'च' कार समुच्चयार्थक है और 'एव' अवधारणार्थक।

मूलार्थ—दो क्रियाएं प्रतिपादित की गई हैं—प्राणातिपातिकी और अप्रत्याख्यानिकी। पहली क्रिया के दो भेद हैं—अपने हाथों से अपने प्राणों का या किसी अन्य के प्राणों का विध्वंस करना तथा दूसरे से अपने या अन्य के प्राणों का नाश कराना।

अप्रत्याख्यानिकी क्रिया भी दो तरह की होती है, जैसे कि—जीव हिंसा आदि पापकर्म करने का त्याग न करना और अजीव-मदिरा मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों के सेवन का त्याग न करना।

विवेचनिका—इस सूत्र में पहले की अपेक्षा से क्रिया के वर्णन करने की शैली पुनः बदल गई है, इस में कहा गया है कि—प्राणियो के प्राणों का विनाश करना और आत्महत्या-रूप क्रिया को प्राणातिपातिकी क्रिया कहते हैं। प्रत्याख्यान का अर्थ होता है—त्याग। त्याग न करने से जो क्रिया होती है, उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया कहते हैं। दोनों क्रियाओं के दो-दो भेद प्रदर्शित किए गए हैं, जैसे कि—

स्वहस्त-प्राणातिपातिकी क्रिया:—क्रोधवश, लोभवश, मोहवश, भयवश और

तवश अपने हाथ से अपनी तथा दूसरों की हत्या करना स्वहस्त प्राणातिपातिकी या कहलाती है।

परहस्त-प्राणातिपातिकी क्रिया:—क्रोधादि कारणों से, डाकू से, हत्यारे से, घातक से और अविवेकी से मनुष्य और तिर्यंच की हिंसा कराना अथवा दूसरे से अपने शरीर को नष्ट करवाना परहस्त प्राणातिपातिकी क्रिया कहलाती है।

अप्रत्याख्यानिकी क्रिया के दो भेदों का स्वरूप निम्नलिखित है—

जीव-अप्रत्याख्यानिकी क्रिया:—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जितने भी जीव हैं उनके मारने-पीटने का, खाने-पीने का, हिंसा करने का, कष्ट देने का जब तक त्याग नहीं किया जाता तब तक उसे जीव-अप्रत्याख्यानिकी क्रिया कहा जाता है।

अजीव-अप्रत्याख्यानिकी क्रिया:—वस्त्राभूषण आदि जड पदार्थों के ग्रहण की मर्यादा को धारण न करना, मद्य, मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों का त्याग न करना, अपने एवं दूसरों के लिए हानिकारक वस्तुओ के संग्रह का त्याग न करना, उन पर आसक्ति रखना ही अजीव अप्रत्याख्यानिकी क्रिया है।

उपर्युक्त क्रिया-विश्लेषण से यह ध्वनित होता है कि व्यावहारिक जीवन में पापों से बचने के लिए भी प्रत्येक सुखाभिलाषी को कुछ मर्यादा एव नियम का पालन अवश्य ही करना चाहिए।

आरम्भिकी और पारिग्रहिकी क्रिया

मूल—दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आरंभिया चेव, परिग्गहिया चेव। आरंभिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—जीव-आरंभिया चेव, अजीवआरंभिया चेव। एवं परिग्गहिया वि ॥ १० ॥

छाया—द्वे क्रिये प्रज्ञप्ते, तद्यथा—आरम्भिकी चैव, पारिग्रहिकी चैव, आरम्भिकी क्रिया द्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—जीवारम्भिकी चैव, अजीवारम्भिकी चैव। एवं पारिग्रहिक्यपि।

शब्दार्थ—दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—दो क्रियाएं प्रतिपादित की गई हैं, जैसे कि, **आरंभिया चेव**—आरंभिकी और, **परिग्गहिया चेव**—पारिग्रहिकी।

आरंभिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—आरम्भिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है, जैसे कि, **जीव-आरंभिया चेव**—जीव आरंभिकी और, **अजीव आरंभिया चेव**—अजीव आरम्भिकी, **एवं**—इस प्रकार, **परिग्गहिया वि**—पारिग्रहिकी क्रिया के भी दो भेद समझ लेने चाहिएं।

मूलार्थ—आरम्भिकी और पारिग्रहिकी इस प्रकार क्रियाएं दो तरह की होती हैं,

इनमें से पहली क्रिया के दो भेद हैं, जैसे कि—जीव-आरंभिकी और अजीव-आरंभिकी। इसी तरह पारिग्रहिकी क्रिया के भी दो भेद समझने चाहिएं।

विवेचनिका—इस सूत्र में भी क्रियाओं का वर्णन किया गया है। कर्मबन्ध का मुख्य कारण क्रिया को ही माना गया है। शारीरिक एवं मानसिक व्यापारों की विविधता के कारण क्रिया के अनेक रूप हो जाते हैं। सूत्रकार क्रिया के अनेक रूपों को प्रदर्शित कर रहे हैं। खेती, घर, दुकान आदि के कार्यों में जो भी सावद्य क्रिया की जाती है उसे आरंभिकी क्रिया कहते हैं और दास, दासी, पशु, पक्षी आदि जीवों का संग्रह करने से तथा वस्त्र-आभूषण, धन, धान्य आदि अजीव पदार्थों का संग्रह करने से उन पर मोह-ममत्व करने से जो क्रिया होती है उसे पारिग्रहिकी क्रिया कहते हैं। इनमें से प्रत्येक क्रिया के दो-दो भेद हैं, जैसे कि—

जीव-आरंभिकी:—जिस क्रिया में कार्य की भावना मुख्य होती है और हिंसा की भावना गौण, वह आरंभिकी कही जाती है। जैसे कि मकान बनाते या गिराते समय, हल-कुदाली आदि के चलाते समय व्यापार-धन्धों में यंत्रादि के सचालन से जो जीव-हिंसा हो जाती है उसे जीव-आरंभिकी क्रिया कहते हैं।

अजीव-आरंभिकी:—अजीव को जीव मानकर हिंसा आदि क्रिया करना जैसे कि रस्सी को सांप समझकर मारना अथवा अजीव पदार्थों का कोई न कोई जीवाकार बनाकर मारना अजीव-आरम्भिकी क्रिया होती है। आटे का या मिट्टी का पशु बनाकर उनकी बलि देना यद्यपि व्यवहार पक्ष में अजीव आरंभिकी क्रिया है, किन्तु वास्तव में इसमें हिंसा की ही भावना रहती है, अत: यह अजीव-आरम्भिकी नाम से कथन की गई है। असयमपूर्वक जड पदार्थों का उपयोग करना इसी क्रिया में समाविष्ट है।

जीव-पारिग्रहिकी:—चेतन जगत् में मोह-ममत्व के होने से जो क्रिया होती है, उसे जीव पारिग्रहिकी क्रिया कहते हैं।

अजीव-पारिग्रहिकी:—जड़ पदार्थों पर मोह-ममत्व के द्वारा जो क्रिया होती है, उसे अजीव पारिग्रहिकी क्रिया कहते हैं। उक्त दोनों की क्रमश: सचित्त और अचित्त तथा कामिनी और कनक रूप में पारिग्रहिकी की संज्ञा दी जा सकती है। जिसका जिस पर ममत्वभाव है वह परिग्रह है, उससे होने वाली क्रिया को पारिग्रहिकी क्रिया कहा जाता है।

आरम्भिकी और पारिग्रहिकी दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहां आरम्भिकी है वहा पारिग्रहिकी विकल्प से है और जहां पारिग्रहिकी है वहां आरंभिकी नियमेन है। उक्त दोनों क्रियाएं एक दूसरे की पूरक हैं। इसलिए सूत्रकार ने दोनों क्रियाओं को एक ही सूत्र में स्थान दिया है, क्योंकि दोनों सहचारी हैं।

जैन संस्कृति का उपासक क्रिया के इन रूपों को समझता हुआ आरम्भ और परिग्रह दोनों से यथासंभव बचने का प्रयास करता है।

मायाप्रत्ययिकी और मिथ्या-दर्शन प्रत्ययिकी क्रिया

मूल—दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—मायावत्तिया चेव, मिच्छादंसणवत्तिया चेव।

मायावत्तिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—आयभाववंकणता चेव परभाववंकणता चेव।

मिच्छादंसणवत्तिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—ऊणाइरित्त-मिच्छादंसण-वत्तिया चेव, तव्वइरित्त-मिच्छादंसण-वत्तिया चेव॥ ११॥

छाया—द्वे क्रिये प्रज्ञप्ते, तद्यथा—मायाप्रत्ययिकी चैव, मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी चैव।

मायाप्रत्ययिकी द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा-आत्मभाववक्रता चैव, परभाववक्रता चैव।

मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—ऊनातिरिक्तमिथ्या-दर्शनप्रत्ययिकी चैव, तद्व्यतिरिक्तमिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी चैव।

शब्दार्थ—दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—दो क्रियाएं कथन की गई हैं, जैसे कि, **मायावत्तिया चेव**—मायाप्रत्ययिकी और, **मिच्छादंसणवत्तिया चेव**—मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी, **मायावत्तिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा**—मायाप्रत्ययिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है, जैसे कि, **आयभाववंकणता चेव**—आत्मभाव वक्रता और, **पर-भाववंकणता चेव**—परभाव वक्रता।

मिच्छादंसणवत्तिया किरिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा—मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है, **ऊणाइरित्तमिच्छादंसणवत्तिया चेव**—शरीर परिमाण से आत्मा को न्यून व अधिक मानना, **तव्वइरित्तमिच्छादंसणवत्तिया चेव**—उन दोनों से अतिरिक्त ही आत्मा का परिमाण मानना।

मूलार्थ—क्रिया के दो रूप कहे गए हैं यथा—मायाप्रत्ययिकी और मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी। इनमें से पहली क्रिया के दो भेद हैं, जैसे कि—आत्मभावों की वक्रता और परभावों की वक्रता। मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया के भी दो भेद होते हैं, जैसे कि—शरीर परिमाण से आत्मा का परिमाण न्यून या अधिक मानना ऊनातिरिक्त-मिथ्या-दर्शन प्रत्ययिकी क्रिया और तद्व्यतिरिक्त-मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया।

विवेचनिका—माया और मिथ्यादर्शन की दृष्टि से क्रियाओ के दो रूप बताए गए हैं, जैसे कि—मायाप्रत्ययिकी और मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी।

माया का अर्थ है—छल-कपट। माया के द्वारा दूसरो को ठगना मायाप्रत्ययिकी क्रिया

कहलाती है, जैसे कि अपने हृदय के अशुभ संकल्पों को छिपा कर शुभ भाव प्रकट करना, मायाप्रत्ययिकी क्रिया है।

अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि, तत्त्व में अतत्त्व बुद्धि, अर्थात् असत्य को सत्य और सत्य को असत्य समझना। देवताओं के प्रति, गुरुओं एवं धर्मकार्यों के प्रति अरुचि और धर्म-शास्त्रों के प्रति अश्रद्धा, ये सब मिथ्यादर्शन के ही रूप हैं। मिथ्यादर्शन से होने वाली क्रिया ही मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया है।

सूत्रकार ने इन दोनों क्रियाओं के दो-दो भेद प्रतिपादित किए हैं। उन में से पहली माया-प्रत्ययिकी क्रिया के दो भेद किए गए हैं जैसे कि—

आत्मभाववक्रता :—अपने अप्रशस्त भावों को जनता के समक्ष प्रशस्त रूप में दिखलाना। हृदय में वक्रता रखकर बाहर से अपने भावों को सरल दिखाना अर्थात् अन्त:करण में कपट होने पर भी बाहर से सरल बने रहने का ढोंग रचना आत्मभाववक्रता क्रिया कहलाती है।

परभाव वक्रता:—किसी अन्य व्यक्ति को ठगने के लिए झूठे, कल्पित लेख आदि लिखना, दूसरों को माया-जाल में फंसाना आदि परभाववक्रता मानी जाती है। दूसरे शब्दों में दोषी होते हुए भी अपने आप को निर्दोषी प्रदर्शित करना आत्मभाववक्रता है और पौद्गलिक अर्थात् संसार की तुच्छ वस्तुओं की प्राप्ति के लिए दूसरों को वंचन करना परभाववक्रता है।

मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया के भी दो रूप होते हैं, और इन दोनों रूपों में सभी प्रकार के मिथ्यात्व का अन्तर्भाव हो जाता है, जैसे कि—

ऊन-अतिरिक्त-मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया :—आत्मतत्त्व को उसके परिमाण से कम अथवा अधिक स्वीकार करना ही ऊन-अतिरिक्त मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया कहलाती है। जैसे कि आत्मा को अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला स्वीकार करना, उसे दीप-शिखा के समान मानना अथवा श्यामाक (चौराई) के कण के परिमाण वाला स्वीकार करना तथा आकाश के समान आत्मा को सर्वव्यापी मानना आदि इस क्रिया के अनेक रूप हैं।

तद्व्यतिरिक्त-मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी:—"पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु और आकाश इन पांच तत्त्वों से निर्मित शरीर से भिन्न आत्मा की कोई सत्ता नहीं है, शरीर की उत्पत्ति के साथ आत्मा उत्पन्न होता है और उसके विनाश के साथ ही विनष्ट हो जाता है" इस अनात्मवाद को लक्ष्य में रखकर जीव जो भी क्रिया करता है, उसे तद्व्यतिरिक्त मिथ्यादर्शन-क्रिया कहा जाता है।

दृष्टिजा और स्पृष्टिजा क्रिया

मूल—दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—दिट्ठिया चेव, पुट्ठिया चेव।

दिट्ठिया-किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—जीव-दिट्ठिया चेव, अजीव-दिट्ठिया चेव। एवं पुट्ठिया वि ॥ १२ ॥

छाया—द्वे क्रिये प्रज्ञप्ते, तद्यथा—दृष्टिजा (का) चैव, स्पृष्टिजा (का) चैव। दृष्टिजा क्रिया द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—जीवदृष्टिजा (का) चैव, अजीवदृष्टिजा (का) चैव। एवं स्पृष्टिजा (का) अपि।

शब्दार्थ—दो किरियाओ पण्णत्ताओ—दो क्रियाएं प्रतिपादित की गई हैं, **तं जहा**—जैसे कि, **दिट्ठिया चेव**—जो पदार्थों के देखने से होती है और, **पुट्ठिया चेव**—जो किसी को स्पर्शन से उत्पन्न होती है। **दिट्ठिया किरिया दुविहा पण्णत्ता**—दृष्टिजा क्रिया दो प्रकार की कही गई है, **तं जहा**—जैसे कि, **जीव-दिट्ठिया चेव**-जीवों के दर्शन से और, **अजीव-दिट्ठिया चेव**—अजीव पदार्थों के देखने से, **एवं पुट्ठिया वि**—इस प्रकार स्पृष्टिजा क्रिया के भी दो भेद होते हैं।

मूलार्थ—दो क्रियाएं प्रतिपादित की गई हैं, जैसे कि—दृष्टि से उत्पन्न होने वाली और स्पर्शन से होने वाली। दृष्टि से उत्पन्न होने वाली क्रिया दो प्रकार की होती है—जीव के देखने से और अजीव के देखने से, इसी प्रकार स्पर्शजा क्रिया के भी दो रूप हुआ करते हैं।

विवेचनिका—इस सूत्र में दर्शन और स्पर्शन से होने वाली क्रिया के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। क्रिया से कर्मबन्ध होता है। ज्ञानरूप दर्शन एवं स्पर्शन का यहा निषेध नहीं किया गया, किन्तु विकारी दृष्टिकोण से किसी जीव या वस्तु को देखना या स्पर्श करना ही कर्मबन्ध का कारण है।

राग एवं द्वेष से कलुषित चित्त से किसी जीव या अजीव पदार्थ को देखने से जो क्रिया होती है, उसे दृष्टिजा क्रिया कहते हैं और रागादि से मलिन चित्त के द्वारा स्त्री आदि के अंग-उपांगों को स्पर्श करने से जो क्रिया होती है, उसे स्पृष्टिजा क्रिया कहा जाता है। इनमें से दृष्टिजा क्रिया के दो रूप बताए गए हैं—जीव दृष्टिजा और अजीव दृष्टिजा।

जीव दृष्टिजाः—जीवों के अद्भुत एवं विस्मय-जनक रूप, रंग एवं क्रियाओं को देखने के लिए जाना दृष्टिजा क्रिया है। जीवों द्वारा किए जा रहे खेल-तमाशे, नर्तकियों के नृत्य, मल्ल-युद्ध, मौष्टिकयुद्ध, मेले, जन्तुशाला एवं प्रदर्शन आदि के देखने पर जीव-दृष्टिजा क्रिया उत्पन्न हुआ करती है।

अजीव दृष्टिजाः—किसी चित्रशाला, राजमहल, शीशमहल, विशिष्टभवन, प्रदर्शनी, कौतुकागार (अजायबघर) कठपुतली, चलचित्र इत्यादि अजीव पदार्थों को देखने से उत्पन्न होने वाली क्रिया अजीव दृष्टिजा क्रिया कहलाती है।

इन दोनों प्रकार की क्रियाओं का निरीक्षण शुल्क आदि के द्वारा हो सकता है। देखते समय राग-द्वेष, पक्ष-विपक्ष, लोभ-मोह, काम-विकार, हर्ष-विषाद आदि उत्पन्न होते ही हैं। ये सब मानसिक विकारों की उत्पत्ति के कारण हैं। अत: दोनों प्रकार की ये क्रियाएं, कर्म-बन्ध की कारण हैं। दृष्टिजा क्रिया को दृष्टिका और दृष्टिकी भी कहा जाता है।

स्पृष्टिजा क्रिया के दो भेद निरूपित किए गए हैं जैसे कि जीव-स्पृष्टिजा और अजीवस्पृष्टिजा।

जीव स्पृष्टिजा:—किसी ऐसे जीव को छूना जिससे मोह-ममत्व या काम आदि विकारों की उत्पत्ति हो अथवा मर्यादा-विरुद्ध किसी वस्तु को छूने से व्यक्ति विशिष्ट का संयम यदि दूषित हो जाए तो ऐसी स्पर्शजा क्रिया भी पापकारी हो जाती है।

अजीव स्पृष्टिजा:—जिस प्रकार किसी विकार-जनक अजीव पदार्थ को छूने से व्रत दूषित हो जाएं, वैसी क्रिया को अजीव स्पृष्टिजा कहते हैं।

'पुट्ठिया' शब्द का संस्कृत रूप पृष्टिका, पृष्टिजा, पृष्टिकी भी बनता है। जिसका अर्थ होता है—पापजनक प्रश्न पूछना। इससे जो क्रिया होती है, उसे भी पृष्टिका कहते हैं।

प्रातीत्यिकी और सामन्तोपनिपातिकी क्रिया

मूल—दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पाडुच्चिया चेव, सामंतो-वणिवाइया चेव। पाडुच्चिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—जीवपाडुच्चिया चेव, अजीव-पाडुच्चिया चेव। एवं सामंतोवणि-वाइयावि ॥ १३ ॥

छाया—द्वे क्रिये प्रज्ञप्ते, तद्यथा—प्रातीत्यिकी चैव, सामन्तोपनिपातिकी चैव। *प्रातीत्यिकी क्रिया द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—जीवप्रातीत्यिकी चैव, अजीव-प्रातीत्यिकी* चैव। एवं सामन्तोपनिपातिक्यपि।

शब्दार्थ—दो किरियाओ पण्णत्ताओ—दो क्रियाएं प्रतिपादित की गई हैं, **तं जहा**—जैसे कि, **पाडुच्चिया चेव**—बाह्य वस्तु की अपेक्षा से और, **सामंतोवणिवाइया चेव**—जनसमूह की अपेक्षा से।

पाडुच्चिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—बाह्य वस्तु की अपेक्षा से क्रिया के दो भेद किए गए हैं, जैसे कि, **जीव पाडुच्चिया चेव**—जीव से सम्बन्धित बाह्य वस्तु से होने वाली और, **अजीव पाडुच्चिया चेव**—अजीव से सम्बन्धित बाह्य वस्तु की अपेक्षा से होने वाली, **एवं**—इसी प्रकार, **सामंतोवणिवाइया चेव**—जन समूह की अपेक्षा से भी क्रिया के दो भेद जानने चाहिएं।

मूलार्थ—क्रिया के दो भेद वर्णित हैं, जैसे कि—प्रातीत्यिकी क्रिया-बाह्य वस्तु

की अपेक्षा से होने वाला कर्मों का बन्ध तथा सामन्तोपनिपातिकी क्रिया-जनता के (मेला) मिलने से होने वाला कर्म-बन्ध।

प्रातीत्यिकी क्रिया के दो भेद वर्णित हैं, जैसे कि—जीव प्रातीत्यिकी और अजीव-प्रातीत्यिकी। इस प्रकार दो भेद सामन्तोपनिपातिकी क्रिया के होते हैं।

विवेचनिका—इस सूत्र में भी प्रकारान्तर से क्रिया का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में मूलतः दो क्रियाएं बताई गई हैं—बाह्य वस्तु के आश्रय से उत्पन्न राग-द्वेष के द्वारा होने वाली क्रिया (कर्म-बन्ध) को प्रातीत्यिकी क्रिया कहते हैं। अपने बाह्य वैभव की प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होना अथवा सामन्त का अर्थ है—सब ओर से और उपनिपात का अर्थ है—जनमिलन, सब ओर से लोगों के मिलने पर जो पाप सहित क्रिया होती है उसे सामंतोपनिपातिकी क्रिया कहते हैं।

जीव-प्रातीत्यिकीः—स्वपक्ष में बन्धु-परिजनादि, एवं बैल-घोड़ा आदि उपयोगी पशुओं के अनिष्ट योग से आर्तध्यान करना एवं शोक मनाना और परपक्ष में मनुष्य, पशु आदि प्राणियों के इष्ट योग से ईर्ष्या मात्सर्य आदि रखना जीव-प्रातीत्यिकी क्रिया कहलाती है।

अजीव-प्रातीत्यिकीः—अजीव पदार्थों को देखकर राग-द्वेषादि के कारण उत्पन्न होने वाली क्रिया अजीव-प्रातीत्यिकी क्रिया होती है, क्योंकि वह क्रिया राग-द्वेष के भाव उत्पन्न करती है।

किसी जीव या अजीव पदार्थ के देखने के लिए जो जनसमुदाय एकत्र हुआ हो और वह जनसमुदाय मुक्तकण्ठ से पदार्थ की प्रशंसा या निन्दा कर रहा हो, उस समय यदि उन पदार्थों का स्वामी अत्यधिक प्रफुल्लित या खिन्न होता है, तो उस दशा में होने वाली क्रिया को जीव या अजीव सामन्तोपनिपातिकी क्रिया कहते हैं।

इस कथन से सिद्ध हो जाता है कि जिन निमित्तों से कर्मों का बन्ध होता है, उनका उल्लेख क्रिया के नाम से किया गया है। इतना ही नहीं, किन्तु उन के भेद-प्रभेदों का सविस्तार वर्णन किया गया है। कर्मों का बन्ध आत्मा के भावों पर ही निर्भर है। शास्त्रकार ने क्रिया के रूप प्रदर्शित कर पापकर्म से बचने का उपाय प्रस्तुत कर दिया है, चारित्र रूप क्रिया के द्वारा अपने आपको पाप-क्रिया से बचाना प्रत्येक साधक का आध्यात्मिक कर्तव्य है।

स्वहस्तिकी एवं नैसृष्टिकी क्रिया

मूल—दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—साहत्थिया चेव, णेसत्थिया चेव। साहत्थिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—जीव-साहत्थिया चेव, अजीव-साहत्थिया चेव। एवं णेसत्थियावि॥ १४ ॥

छाया—द्वे क्रिये प्रज्ञप्ते, तद्यथा—स्वहस्तिकी चैव, नैसृष्टिकी चैव। स्वहस्तिकी

क्रिया द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—जीवस्वहस्तिकी चैव, अजीवस्वहस्तिकी चैव। एवं नैसृष्टिकी चापि।

शब्दार्थ—दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—दो प्रकार की क्रियाएं कथन की गई हैं, जैसे कि, **साहत्थिया चेव**—अपने हाथों से होने वाली क्रिया, **णेसत्थिया चेव**—दूसरों के द्वारा कराई जाने वाली क्रिया।

साहत्थिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—स्वहस्तिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है, जैसे कि, **जीव साहत्थिया चेव**—अपने हाथों से पकड़ कर किसी जीव को मारना, **अजीव साहत्थिया चेव**—अपने हाथों में खड्ग आदि हथियार लेकर किसी जीव का हनन करना, **एवं**—इसी प्रकार, **णेसत्थिया वि**—नैसृष्टिकी क्रिया के भी दो भेद जान लेने चाहिएं।

मूलार्थ—दो प्रकार की क्रिया का वर्णन किया गया है, जैसे कि—स्वहस्तिकी और नैसृष्टिकी। इनमें स्वहस्तिकी क्रिया के दो भेद हैं, जैसे कि—जीव-स्वहस्तिकी और अजीवस्वहस्तिकी। इसी प्रकार नैसृष्टिकी क्रिया के भेद जानने चाहिएं।

विवेचनिका—इस सूत्र में स्वहस्तिकी और नैसृष्टिकी क्रिया का दिग्‌दर्शन कराया गया है। अपने हाथों से की जाने वाली क्रिया को स्वहस्तिकी और पापकारी प्रवृत्ति के लिए किसी को अनुमति देना नैसृष्टिकी क्रिया कहलाती है। इनमें से प्रत्येक क्रिया के दो-दो भेद होते हैं, उनका विवरण निम्नलिखित है—

जीव-स्वहस्तिकीः—अपने हाथ से किसी जीव को लेकर, या उस जीव के द्वारा किसी अन्य जीव को मारना या मरवाना, अथवा अपने हाथ से जीवों का हनन करना, जीव-स्वहस्तिकी क्रिया कहलाती है।

अजीव-स्वहस्तिकीः—अपने हाथ में लिए हुए शस्त्र-अस्त्र आदि द्वारा किसी का ताडन एवं हनन आदि करना अजीव स्वहस्तिकी क्रिया होती है। इसी प्रकार नैसृष्टिकी क्रिया के भी दो भेद हैं, जैसे कि—

जीव नैसृष्टिकीः—किसी भी व्यक्ति की आज्ञा से जलाशय आदि से यंत्रों के द्वारा पानी निकाल कर बाहर फैंकने से जो क्रिया आदि होती है, उसे तथा किसी भी त्रस जीव को पकड़कर बाहर फैंकने से जो क्रिया हुआ करती है उसे जीव नैसृष्टिकी क्रिया कहते हैं।

अजीव नैसृष्टिकीः—क्षेपणी (गोफण) आदि द्वारा पत्थर फैंकना, धनुष आदि द्वारा तीर आदि फैंकना, प्रक्षेपणास्त्र आदि का प्रयोग अजीव नैसृष्टिकी क्रिया है। वायुयानों द्वारा बम-वर्षा और तोप आदि यंत्रों के द्वारा किसी पर प्रहार करना भी इसी क्रिया में अन्तर्भूत हो जाता है।

'णेसत्थिया' शब्द का संस्कृत रूप 'नैशस्त्रिकी' भी बनता है जिसका अर्थ है—शस्त्रादि के माध्यम से होने वाली क्रिया। इस शब्द का भाव भी वही है जो नैसृष्टिकी शब्द का भाव है।

आज्ञापनिकी और वैदारणिकी क्रिया

मूल—दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-आणवणिया चेव, वेयारणिया चेव। जहेव णेसत्थियाओ ॥ १५ ॥

छाया—द्वे क्रिये प्रज्ञप्ते, तद्यथा—आज्ञापनिकी चैव, वैदारणिकी चैव। यथैव नैसृष्टिक्याः।

शब्दार्थ—दो किरियाओ पण्णत्ताओ—दो क्रियाएं प्रतिपादित की गई हैं, **तं जहा**—जैसे कि, **आणवणिया चेव**—पापकर्म का आदेश देना और, **वेयारणिया चेव**—जीव आदि का विदारण करना, **जहेव**—जिस प्रकार, **णेसत्थियाओ**—नैसृष्टिकी क्रिया का विषय वर्णन किया गया है, उसी प्रकार यहां भी समझ लेना चाहिए।

मूलार्थ—दो प्रकार की क्रियाएं वर्णित हैं, जैसे कि— आज्ञापनिकी-आज्ञा से कार्य कराना, और पदार्थों को छेदन-भेदन करवाना वैदारणिकी क्रिया कहलाती है। शेष नैसृष्टिकी के समान वर्णन समझना चाहिए।

विवेचनिका—इस सूत्र में आज्ञापनिकी और वैदारणिकी क्रिया का निरूपण किया गया है। किसी शास्त्रोक्त नियम का पालन करने की शक्ति न होने पर शास्त्रोक्त आज्ञा से विपरीत अर्थ का प्ररूपण करना, आज्ञा-व्यापादिकी या आनयनी क्रिया कहलाती है और यदि अन्य किसी ने पाप क्रिया की हो तो उसे प्रकाशित करना वैदारणिकी क्रिया कहलाती है।

जीव-आज्ञापनिकीः—किसी को पापकर्म करने की आज्ञा या उपदेश देना, किसी के द्वारा जीव आदि पदार्थ मंगवाना, फल-फूल, पत्ते आदि मगवाना या पाच स्थावरों में से किसी एक काय को अविवेकता से मंगवाना जीव आज्ञापनिकी क्रिया कहलाती है।

अजीव-आज्ञापनिकीः—सावद्य यंत्र-मंत्र, तन्त्र आदि द्वारा अथवा अस्त्रविद्या के द्वारा अजीव वस्तुओं का प्रयोग करना अन्य किसी हिंसक द्वारा पाप जनक वस्तुओं का मंगवाना अजीव आज्ञापनिकी क्रिया कहलाती है।

वैदारणिकी क्रिया दो प्रकार की होती है—जैसे कि जीव वैदारणिकी और अजीव वैदारणिकी। 'वियारण' के संस्कृत में तीन रूप बनते हैं—**विदारण, विचारण और वितारण।** तीनों के तीन ही अर्थ होते हैं, जैसे कि—**विदारण**—जीव और अजीव को फोड़ना। **विचारण**—व्यवहार में द्व्यर्थक अर्थात् मिश्र भाषा बोलना। **वितारण**—किसी को छलना—

असली वस्तु दिखाकर, नकली देना, असली मुद्रा या नोट लेकर खोटी मुद्रा देना वैदारणिकी क्रिया है। वैचारणिकी क्रिया भी वैदारणिकी क्रिया का ही रूप है। इन क्रियाओं के द्वारा कर्मों का बन्ध ही होता है, जैसे कि कहा भी है—

जीवमजीवं वाऽसमानभावेषु विक्रीणति सति द्वैभाषिको विचारयति, परियच्छावेइ-त्ति, भणितं होति अथवा जीवं पुरुषं वितारयति, प्रतारयति—वञ्चयतीत्यर्थः, असद्गुणै-रेतादृशस्तादृशस्त्वमिति, पुरुषादि विप्रतारणं बुद्ध्यैव वाऽजीवं भणत्येतादृशमेतद्, इति यत् सेति वृत्तिकारः।

जीव वैदारणिकी:—किसी जीव को विदारण करना, या उसे द्विभाषिक बनकर छलना जीव वैदारणिकी क्रिया कहलाती है।

अजीव-वैदारणिकी—क्रोध एवं द्वेषावेश में आकर अजीव पदार्थ को विदारण करने से जो क्रिया होती है उसे अजीववैदारणिकी क्रिया कहते हैं।

शास्त्रकार पापकर्म का रूप प्रस्तुत कर रहे हैं, इसलिए कि मनुष्य पाप के स्वरूप को जान कर उससे बच सके और जीवन के लिए अपना प्रशस्त-मार्ग बना सके।

अनाभोगप्रत्ययिकी और अनवकांक्षप्रत्ययिकी

मूल—दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—अणाभोगवत्तिया चेव, अणवकंख-वत्तिया चेव।

अणाभोगवत्तिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—अणाउत्त-आइयणत्ता चेव, अणाउत्तापमज्जणता चेव।

अणवकंखवत्तिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—आयसरीर-अणवकंखवत्तिया चेव, परसरीर-अणवकंखवत्तिया चेव ॥ १६ ॥

छाया—द्वे क्रिये प्रज्ञप्ते, तद्यथा—अनाभोगप्रत्ययिकी चैव, अनवकांक्षाप्रत्ययिकी चैव।

अनाभोगप्रत्ययिकी क्रिया द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—अनायुक्ताऽऽदानता चैव, अनायुक्ताप्रमार्जनता चैव।

अनवकांक्षाप्रत्ययिकी क्रिया द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—आत्मशरीर- अनवकांक्षा-प्रत्ययिकी चैव, परशरीर-अनवकांक्षा-प्रत्ययिकी चैव।

शब्दार्थ—दो किरियाओ पण्णत्ताओ—दो क्रियाए, प्रतिपादन की गई है, **तं जहा**—जैसे कि, **अणाभोगवत्तिया चेव**—अज्ञान पूर्वक की जाने वाली क्रिया, **अणवकंखवत्तिया चेव**—अपने शरीर की असावधानी से होने वाली क्रिया।

अणाभोगवत्तिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—अनाभोग प्रत्ययिकी क्रिया दो प्रकार की प्रतिपादन की गई है जैसे कि, **अणाउत्त आइयणत्ता चेव**—बिना उपयोग किसी वस्तु का ग्रहण करना या रखना, **अणाउत्तपमज्जणता चेव**—असावधानी से प्रमार्जना करना।

अणवकंखवत्तिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—अनवकांक्षा-प्रत्ययिकी क्रिया दो प्रकार से वर्णित की गई है, जैसे कि, **आयसरीर-अणवकंखवत्तिया चेव**—स्व शरीर से किसी अन्य ही हानि करना, **परसरीरअणवकंखवत्तिया चेव**—परशरीर से अन्य की हानि करना।

मूलार्थ—दो क्रियाएं वर्णन की गई हैं, जैसे कि—अनाभोग-प्रत्ययिकी और अनवकांक्षा-प्रत्ययिकी। इनमें से पहली क्रिया के दो भेद हैं, जैसे कि—असावधानी से वस्तु को उठाना या रखना और असावधानी से प्रतिलेखन व प्रमार्जन करना, ये दोनों क्रियाएं क्रमशः अनायुक्त आदानता और अनायुक्त प्रमार्जनता हैं तथा अपने और दूसरे के शरीर से किसी को हानि पहुंचाना, क्रमशः आत्म-शरीर अनवकांक्षा-प्रत्ययिकी और पर शरीर अनवकांक्षा-प्रत्ययिकी क्रिया कहलाती है।

विवेचनिका—इस सूत्र में अनाभोग-प्रत्यया और अनवकांक्ष-प्रत्यया नामक दो क्रियाओं के स्वरूप का सभेद वर्णन किया गया है। वस्त्र-पात्र तथा अन्य उपकरणों को बिना ही अवलोकन व प्रमार्जन किए किसी स्थान पर रखना तथा उठाना अनाभोग-प्रत्यया क्रिया कहलाती है।

इस लोक और परलोक की आकांक्षा न रखते हुए दोनो लोकों से विमुख होकर निर्भीक होकर पाप क्रिया करने वाले व्यक्ति द्वारा हिंसा, असत्य, चोरी, दुराचार आदि पापों के सेवन से जो क्रिया होती है, वह अनवकांक्षा-प्रत्यया क्रिया कहलाती है।

सूत्र में आए हुए अनाभोग शब्द का अर्थ है अज्ञानता। अनजाने में तथा बिना उपयोग या बिना यतना के जो क्रिया होती है, उसे अनाभोग-प्रत्ययिकी क्रिया कहते हैं। इस क्रिया के दो रूप हैं, जैसे कि—

अनायुक्त-आदानता—अनमने एव असावधान चित्त से किसी वस्तु का ग्रहण करना ही अनायुक्त आदानता क्रिया है। इस प्रकार की क्रिया करने से साधक का अहिंसा-व्रत टूट जाता है, अतः अहिंसा-व्रत के पालन में बाधक होने से यह क्रिया भी वर्जित है। किसी भी वस्तु को यतना-पूर्वक उठाने एवं रखने से यह क्रिया नहीं होती और साधक का अहिंसा-व्रत सफल हो जाता है।

अनायुक्त-प्रमार्जना—प्रतिलेखन किए बिना या दुष्प्रतिलेखन किए हुए स्थान पर किसी वस्तु का रखना, उस स्थान पर चलना, खड़े होना, बैठना, सोना, बिना प्रमार्जना किए

या दुष्प्रमार्जना करते हुए उक्त क्रियाएं करना अयतना है। अयतना से अहिंसा का सम्यक् पालन नहीं हो सकता, अतः अयतनशील व्यक्ति अनाभोग प्रत्ययिकी क्रिया करता हुआ पाप कर्म का बन्ध करता है।

आत्मशरीर-अनवकांक्षा-प्रत्ययिकी—अपने शरीर से किसी को क्षति पहुंचाने का प्रयत्न करना रूप क्रिया को आत्म-शरीर अनवकांक्षा-प्रत्ययिकी क्रिया कहा जाता है, अथवा इष्ट-वियोग-वश, क्रोधवश और लज्जावश आत्महत्या करना, प्रलोभन में फंसकर अपने शरीर को खतरे में डालना आदि भी उक्त क्रिया के ही रूप हैं।

परशरीर-अनवकांक्षा-प्रत्ययिकी—दूसरे को आत्म-हत्या करने के लिए बाध्य करना, दूसरे के शरीर को प्रलोभन आदि में फंसाकर खतरे में डालना, आदि पर-शरीर-अनवकांक्षा-प्रत्ययिकी क्रिया के रूप हैं। उपर्युक्त दोनों क्रियाएं कर्मबन्ध का कारण होने से वर्जनीय हैं। पुण्योदय से जो शरीर मिला है, उसका दुरुपयोग करना पाप है। आत्महत्या करना या दूसरे को आत्महत्या करने के लिए बाध्य या प्रेरित करना भी पाप ही है। इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—

तत्रात्मशरीरानवकांक्षाप्रत्यया-स्वशरीरक्षतिकर्माणि कुर्वतः, तथा परशरीर-क्षतिकराणि तु कुर्वतो द्वितीयेति।

वृत्तिकार के शब्दों का भाव ऊपर प्रदर्शित किया जा चुका है।

प्रेमप्रत्ययिकी और द्वेषप्रत्ययिकी क्रिया

मूल—दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पेज्जवत्तिया चेव, दोस-वत्तिया चेव।

पेज्जवत्तिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—मायावत्तिया चेव, लोभवत्तिया चेव। दोसवत्तिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—कोहे चेव, माणे चेव॥ १७ ॥

छाया—द्वे क्रिये प्रज्ञप्ते, तद्यथा—प्रेमप्रत्ययिकी चैव, द्वेषप्रत्ययिकी चैव। प्रेमप्रत्ययिकी क्रिया द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—मायाप्रत्ययिकी चैव, लोभप्रत्ययिकी चैव।

द्वेषप्रत्ययिकी क्रिया द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—क्रोधश्चैव मानश्चैव।

शब्दार्थ—दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—क्रियाएं दो प्रकार की कही गई हैं, जैसे कि, **पेज्जवत्तिया चेव**—राग के निमित्त से, **दोसवत्तिया चेव**—द्वेष के निमित्त से।

पेज्जवत्तिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—प्रेम-प्रत्ययिकी क्रिया दो प्रकार की होती है, जैसे कि, **मायावत्तिया चेव**—माया-प्रत्ययिकी और, **लोभवत्तिया चेव**—

लोभ-प्रत्ययिकी।

दोसवत्तिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—द्वेष प्रत्ययिकी क्रिया दो तरह की होती है, जैसे कि, **कोहे चेव, माणे चेव**—क्रोध और मान।

मूलार्थ—प्रेम और द्वेष की दृष्टि से भी क्रिया के दो रूप माने गए हैं—जैसे कि प्रेमप्रत्यया और द्वेष-प्रत्यया। प्रेमप्रत्यया क्रिया के दो रूप हैं—मायाप्रत्यया और लोभ-प्रत्यया। द्वेषप्रत्यया क्रिया के भी दो भेद हैं—क्रोधप्रत्यया और मानप्रत्यया।

विवेचनिका—समस्त क्रियाओं के और कर्म-बन्ध के मूल बीज राग और द्वेष हैं। इन में जीव की सभी क्रियाओं का अन्तर्भाव हो जाता है। ईर्यापथिकी क्रिया को छोड़कर साम्परायिकी क्रियाएं भले ही अनेक प्रकार की हों फिर भी उन सब का मूलाधार राग-द्वेष ही हैं। जो जीव की अन्तर्मुखीदशा है, वह कर्म-बन्ध का कारण नहीं है, केवल काययोग से जो वीतराग के द्वारा क्रिया होती है वह बन्ध एक सामयिक स्थिति वाला होता है, दूसरे समय में उसे भोग लिया जाता है और तीसरे समय में वह क्षय हो जाता है। साम्परायिकी क्रिया में कषाय और योग दोनों की प्रवृत्ति होती है। ससारी जीव कभी राग भाव से क्रिया करता है और कभी द्वेष भाव से। दोनों अवस्थाओं में कर्म-बन्ध का होना अनिवार्य है।

जीवात्मा जब माया और लोभ से प्रेरित होकर क्रिया करता है, तब उस क्रिया को प्रेम-प्रत्ययिकी कहते हैं और जब क्रोध तथा मान के वशीभूत हो कर क्रिया करता है, तब वह द्वेष-प्रत्ययिकी क्रिया कहलाती है। प्रेम, इच्छा, मूर्च्छा, काम, मोह, स्नेह, ममत्व और आसक्ति आदि राग के ही विविध रूप हैं और ईर्ष्या, रोष, दोष, मात्सर्य, वैर, मान और असूया ये सब द्वेष के ही रूपान्तर हैं। दूषित प्रेम को राग कहते हैं और विशुद्ध प्रेम उत्कृष्ट श्रद्धा का दूसरा नाम है। उक्त क्रियाए अजीव-प्रधान होने से इन सब का समावेश साम्परायिकी क्रिया में हो जाता है, अतः ये क्रियाएं वर्जनीय हैं।

जिस प्रकार प्रमार्जनी द्वारा घर का कूडा-करकट बाहर निकाला जा सकता है और बाहर का कूड़ा-करकट भीतर भी लाया जा सकता है इसी प्रकार शुद्धान्तःकरण से की हुई क्रियाएं कर्म-मल को आत्मा से पृथक् भी कर सकती हैं और अशुद्ध भावों से की हुई क्रियाएं आत्मा को कर्म-मल से मलिन भी बना सकती हैं।

प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि राग-द्वेष दोनों ही कर्मों का संचय करने वाले विकार हैं, तो फिर कायिकी आदि अन्य-अन्य क्रियाओं का वर्णन क्यों किया गया है?

उत्तर में कहना है कि—वास्तव में कर्म-बन्ध के मूल कारण राग और द्वेष ही हैं, किन्तु साधक को भी सभी क्रियाओं का बोध हो जाए, इसी लक्ष्य को सामने रखते हुए सूत्रकार ने कायिकी आदि क्रियाओं का व्यावहारिक शैली में वर्णन किया है।

यह भी प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि प्रेम तो सदैव उपादेय ही है, फिर प्रेम प्रत्ययिकी क्रिया को त्याज्य क्यों माना गया है?

इस के उत्तर में यही कहना है कि—आगम में जहां कहीं प्रेम या प्रियस् शब्द मिलता है, वह केवल राग का ही वाची होता है, परन्तु तभी जबकि उस के उत्तर भेदों में माया और लोभ का वर्णन किया गया हो। शुद्ध प्रेम तो शुद्ध श्रद्धा का ही ग्राह्य रूप है। श्रद्धा रूप प्रेम कर्म-बन्ध का कारण न होकर कर्म-निर्जरा की पृष्ठभूमि को ही प्रस्तुत करता है।

गर्हा-विवेचन

मूल—दुविहा गरिहा पण्णत्ता तं जहा—मणसा वेगे गरहइ, वयसा वेगे गरहइ। अहवा गरिहा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—दीहं वेगे अद्धं गरहइ, रहस्सं वेगे गरहइ ॥ १८ ॥

छाया—द्विविधा गर्हा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—मनसा वैको गर्हते, वचसा वैको गर्हते। अथवा गर्हा द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—दीर्घां वैकोऽद्धां गर्हते, ह्रस्वां वैकोऽद्धां गर्हते।

शब्दार्थ—दुविहा गरिहा पण्णत्ता—गर्हा के दो रूप प्रतिपादित किए गए हैं; **तं जहा**—जैसे कि, **एगे**—कुछ एक व्यक्ति, **मणसा**—मन से पापकर्म की, **गरहइ**—निन्दा करते हैं और, **एगे**—कुछ महानुभाव, **वयसा**—वाणी से पापकर्म की, **गरहइ**—निन्दा करते हैं। **अहवा गरिहा दुविहा पण्णत्ता**—अथवा गर्हा के दो अन्य रूप भी बताए गए हैं, **तं जहा**—जैसे कि, **एगे**—कुछ साधक, **दीहं अद्धं**—दीर्घकाल पर्यन्त पाप कर्म की, **गरहइ**—निन्दा करते हैं, **एगे**—और कुछ साधक, **रहस्सं अद्धं**—थोड़े काल पर्यन्त पापकर्म की, **गरहइ**—निन्दा किया करते हैं।

मूलार्थ—पाप कर्म की गर्हा अर्थात् निन्दा के दो रूप हैं, जैसे कि—कुछ साधक मन से पाप की निन्दा करते हैं और कुछ साधक वाणी से पाप की निन्दा किया करते हैं। अथवा गर्हा के दो अन्य रूप भी माने जाते हैं, जैसे कि कुछ साधक आयु-पर्यन्त किए गए पाप-कर्मों की निन्दा करते हैं तथा कुछ साधक थोड़े काल तक किए हुए पापकर्म की गर्हणा अर्थात् निन्दा किया करते हैं।

विवेचनिका—अबोधावस्था में की हुई अशुभ क्रिया बोध-दशा में साधक के लिए पश्चात्ताप का कारण बन जाया करती है, अतः प्रस्तुत सूत्र में गर्हा का वर्णन किया गया है, गुरु की साक्षी से अशुभ क्रिया की निन्दा और उसका पश्चात्ताप करना ही गर्हा है। गर्हा के अनेक भेद होने पर भी सूत्रकार ने मुख्यतया दो ही भेद वर्णित किए हैं, जैसे कि—एक द्रव्य से गर्हा और दूसरी भाव से गर्हा। इन में से मिथ्यादृष्टि की गर्हा केवल द्रव्य से होती है और अनुपयुक्त दशा में सम्यग्दृष्टि की गर्हा भी द्रव्य से ही होती है, किन्तु उपयुक्त दशा

में उसकी भाव गर्हा ही हुआ करती है।

कुछ सम्यग्दृष्टि साधक अन्तः करण से पाप की निन्दा करते हैं, कारण कि सम्यग्दर्शन-युक्त आत्मा हेय, ज्ञेय और उपादेय इन तीनों कोटियों को भली प्रकार जानता है। वह अबोध-अवस्था में किए हुए पापकर्मों की, भूलों की तथा अपने दोषों की अन्तःकरण से निन्दा करता है। यह निन्दा आत्मशुद्धि का कारण होती है। जब तक साधक अपने अन्तः-करण से पापकर्मों को हेय नहीं मानता, तब तक उसकी इनसे निवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए सूत्रकार कहते हैं कि कुछ साधक जनता को या गुरु को प्रसन्न करने के लिए तथा उसका विश्वास-पात्र बनने के लिए जनता के समक्ष अपने कर्मों की निन्दा केवल वचनमात्र से करते हैं। उनके भाव वास्तव में जनता को अनुकूल करने के लिए होते हैं, दोष निवृत्ति के लिए नहीं। इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए वृत्तिकार कहते हैं—

वचसा वाचा—वा अथवा वचसैव न मनसा, भावतो दुश्चरितादि उक्त्वा जनरंजनार्थं गर्हा प्रवृत्ताङ्गारमर्दकादि प्रायः साधुवत्-एकोऽन्यो गर्हते-इति।

गर्हा के चार विकल्प—

१. कुछ साधक मन से गर्हणा करते हैं, वचन से नहीं।

२. कुछ व्यक्ति वचन से गर्हणा करते हैं, मन से नहीं।

३. कुछ साधक मन से भी गर्हणा करते है और वचन से भी।

४ कुछ व्यक्ति न मन से गर्हणा करते है और न वचन से ही।

इनमें से पहले और तीसरे रूप का आश्रय सम्यग्दृष्टि साधक लेते हैं। दूसरे रूप का आश्रय कपटी व्यक्ति लेते हैं। चौथे रूप का आश्रयण एकान्तमिथ्या-दृष्टि और यथाख्यात-चारित्री करते हैं। धर्म से अनभिज्ञ होने पर मिथ्यादृष्टि, निर्दोष होने से यथाख्यात-चारित्री और मन, वचन और काय रहित होने से तथा अकर्मा होने से सिद्ध भगवान् चौथे रूप में समाविष्ट हैं।

सूत्रकर्त्ता ने दूसरे प्रकार से भी गर्हा का स्वरूप निरूपित किया है, जैसे कि—पहली दीर्घकालिकी गर्हा और दूसरी स्वल्पकालिकी गर्हा, इस प्रकार गर्हा दो तरह की कथन की गई है। धर्म-विमुख एवं अबोध-अवस्था में किए गए पाप कर्म की गर्हा कुछ साधक आयु पर्यन्त करते रहते हैं और कुछ साधक स्वल्पकाल तक ही गर्हा करते हैं, आयु पर्यन्त नहीं। दीर्घकालिकी गर्हा और अल्पकालिकी गर्हा के उपर्युक्त चार विकल्प बनते हैं।

शास्त्रकार ने प्रसिद्ध निन्दा शब्द को छोड़कर गर्हा शब्द का ग्रहण इसलिए किया है कि गर्हा शब्द प्रायः जनता के समक्ष ही व्यवहृत होता है। इसी कारण गर्हा को ही ग्रहण किया है। दीर्घ तथा ह्रस्व ये दोनों काल गर्हा करने वाले की आयु से सम्बन्धित हैं। 'वा' शब्द अवधारणार्थ में प्रयुक्त है। इसका अर्थ होता है—कि कोई मन से ही गर्हा करता है

वचन से नहीं और कोई वचन से ही गर्हा करता है, मन से नहीं।

क्रिया के बाद गर्हा का उल्लेख करने का उद्देश्य यही है कि—सावद्य अर्थात् पापमयी भावना से प्रेरित क्रिया होने पर ही गर्हा की जाती है, अन्यथा नहीं।

प्रत्याख्यान (त्याग) विवेचन

मूल—दुविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते, तं जहा—मणसा वेगे पच्चक्खाइ, वयसा वेगे पच्चक्खाइ। अहवा पच्चक्खाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—दीहं वेगे अद्धं पच्चक्खाइ, रहस्सं वेगे अद्धं पच्चक्खाइ॥१९॥

छाया—द्विविधं प्रत्याख्यानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—मनसा वैकः प्रत्याख्याति, वचसा वैकः प्रत्याख्याति। अथवा प्रत्याख्यानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—दीर्घं वैकोऽद्धं प्रत्याख्याति, ह्रस्वं वैकोऽद्धं प्रत्याख्याति।

शब्दार्थ—दुविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते—दो प्रकार का प्रत्याख्यान प्रतिपादन किया गया है, **तं जहा**—जैसे कि, **वा**—अवधारणार्थ में, **एगे**—कुछ व्यक्ति, **मणसा**—मन से, **पच्चक्खाइ**—त्याग करते हैं, **एगे**—और कुछ साधक, **वयसा पच्चक्खाइ**—वचन से त्याग करते हैं। **अहवा**—अथवा, **एगे**—कुछ व्यक्ति, **दीहं अद्धं**—दीर्घकाल पर्यन्त जीवन भर के लिए, **पच्चक्खाइ**—प्रत्याख्यान करते हैं, **एगे रहस्सं**—और कुछ व्यक्ति थोड़े काल के लिए, **पच्चक्खाइ**—त्याग करते हैं।

मूलार्थ—दो प्रकार से प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग का वर्णन किया गया है—कुछ व्यक्ति मन से प्रत्याख्यान करते हैं और कुछ वचन से। अथवा कुछ जीवन भर के लिए प्रत्याख्यान करते हैं और कुछ थोड़े काल के लिए।

विवेचनिका—जो साधक अपने जीवन में की हुई अशुभ क्रिया की गर्हा करता है वही उसका परित्याग कर सकता है। इसी कारण गर्हा के बाद प्रत्याख्यान का विषय वर्णित किया गया है, यथा—

प्रमादप्रातिकूल्येन मर्यादया ख्यानं-कथनं प्रत्याख्यानं, विधि-निषेध-विषया प्रतिज्ञेत्यर्थः।

अर्थात् मर्यादा-पूर्वक पाप कर्म न करने की तथा भगवान् की आज्ञा पालन करने की दृढ़ प्रतिज्ञा को ही प्रत्याख्यान कहा जाता है।

प्रतिज्ञा दो प्रकार से की जाती है—एक द्रव्य से और दूसरी भाव से।

मिथ्यादृष्टि जीव भले ही जानकर प्रत्याख्यान करे या अज्ञान-पूर्वक करे, किन्तु वह द्रव्य से प्रत्याख्यान कहा जाएगा।

सम्यग्दृष्टि यदि बिना उपयोग के प्रत्याख्यान करता है तो उसे द्रव्यात्मक प्रत्याख्यान ही माना जाता है, भावात्मक नहीं। यदि वह उपयोग पूर्वक प्रत्याख्यान करता है तो वह प्रत्याख्यान भावात्मक माना जाता है, द्रव्यात्मक नहीं।

प्रत्याख्यान अशुभ क्रियाओं का ही हुआ करता है, शुभ क्रियाओं का नहीं। हिंसा का प्रत्याख्यान तो किया जाता है, अहिंसा का नहीं, असत्य का प्रत्याख्यान हो सकता है, सत्य का नहीं, दुराचार का त्याग हो सकता है, सदाचार का नहीं। प्रत्याख्यान भावी अशुभ क्रियाओं का ही होता है, भूतकाल की क्रियाओं का नहीं, कहा भी है—

अईयं निंदामि, पडुप्पन्नं संवरेमि, अणागयं पच्चक्खामि त्ति।

अर्थात् भूतकाल में किए हुए पापों की निन्दा करता हूँ, वर्तमान में पाप क्रियाओं को संवर के द्वारा रोकता हूँ और भविष्यत् में पापों के परित्याग के लिए प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि कृत कर्म की फलभोग के द्वारा अथवा तप-विशेष के द्वारा निर्जरा की जा सकती है, भविष्य में किसी भी पाप को न करने की प्रतिज्ञा ली जा सकती है और वर्तमान में तो पापकर्मों से अपने को संयम के द्वारा रोका ही जा सकता है।

प्रत्याख्यान के भी गर्हा के समान चार रूप हैं, जैसे कि—

१. कुछ साधक मन से प्रत्याख्यान करते हैं, वचन से नहीं।

२ कुछ व्यक्ति वचन से प्रत्याख्यान करते हैं, मन से नहीं।

३. कुछ प्रबुद्धचेता साधक मन से भी प्रत्याख्यात करते हैं, और वचन से भी।

४. और ढिल-मिल विश्वास प्रमत्त साधक न मन से प्रत्याख्यान करते हैं और न वचन से ही।

यद्यपि आगमों में देश-प्रत्याख्यान, सर्व-प्रत्याख्यान, मूलगुण-प्रत्याख्यान और उत्तर-गुण-प्रत्याख्यान आदि अनेक प्रकार के प्रत्याख्यान कहे गए हैं। इनमें भी देश-प्रत्याख्यान के उनचास प्रकार बताए गए हैं। सर्व-प्रत्याख्यान एक ही प्रकार से किया जाता है। प्रत्याख्यानों के अनेक भेद हैं, तथापि उन सबका अन्तर्भाव मानसिक और वाचिक प्रत्याख्यानों में ही हो जाता है।

अब काल की दृष्टि से प्रत्याख्यान के दो रूप उपस्थित करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि प्रत्याख्यान के दीर्घकालिक और अल्पकालिक दो रूप होते हैं। जब साधक किसी पाप क्रिया को जीवनभर न करने की दृढ प्रतिज्ञा धारण करता है तब उसका वह प्रत्याख्यान दीर्घकालिक प्रत्याख्यान कहलाता है। संथारे के समय किया जाने वाला द्रव्य-प्रत्याख्यान और भाव-प्रत्याख्यान दीर्घकालिक ही होता है, क्योंकि उसमें समय की कोई सीमा नहीं होती।

उत्तर-गुणों की आराधना अल्पकालिक प्रत्याख्यान का ही एक रूप है। यद्यपि सूक्ष्म

रूप से पापों का परित्याग करना अत्यन्त कठिन कार्य है, तथापि उसके लिए क्रमशः उत्तरोत्तर संवर्धनशील प्रत्याख्यान ही किया जाना चाहिए। अल्पकालिक प्रत्याख्यान साधना-सोपान की सीढ़ी है जिस पर क्रमशः चढना ही उपयुक्त होता है।

विद्या और चरण-विश्लेषण

मूल—दोहिं ठाणेहिं अणगारे संपन्ने, अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं वीतिवएज्जा, तं जहा—विज्जाए चेव, चरणेण चेव ॥ २० ॥

छाया—द्वाभ्यां स्थानाभ्याम् अनगारः सम्पन्नः, अनादिकम् अनवदग्रं दीर्घाद्धं (दीर्घाध्वम्) चतुरन्तसंसारकान्तारं व्यतिव्रजेत्, तद्यथा—विद्यया चैव, चरणेन चैव।

शब्दार्थ—दोहिं ठाणेहिं—दो गुणों से, **अणगारे**—अनगार, **संपन्ने**—युक्त, **अणादीयं अणवदग्गं**—अनादि और अनन्त, **दीहमद्धं**—दीर्घ काल वाला या दीर्घ मार्ग वाला, **चाउरंत-संसारकंतारं**—चतुर्गतिक रूप संसार अरण्य को, **वीतिवएज्जा**—पार करता है, **तं जहा**—जैसे कि, **विज्जाए चेव चरणेण चेव**—विद्या और चारित्र से, 'च' और 'एव' शब्द का अर्थ पूर्ववत् जानना चाहिए।

मूलार्थ—दो गुणों से युक्त अनगार अनादि अनन्त एवं चार गति रूप संसार-अटवी से पार हो सकता है, विद्या से और चारित्र से। अन्य सभी साधनों का समावेश इन दो साधनो में ही हो जाता है।

विवेचनिका—गर्हा और प्रत्याख्यान संयम हैं। संयम ज्ञानपूर्वक होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में विद्या और चारित्र का उल्लेख किया गया है। ज्ञान ही विद्या है और विद्या का क्रियात्मक रूप ही चारित्र है, अतः विद्या और चारित्र ये दोनों मोक्ष के अमोघ साधन हैं। **'सा विद्या या विमुक्तये'** विद्या वही है जो मुक्ति के लिए परम सहायक हो। चारित्र के बिना ज्ञान पंगु है और ज्ञान के बिना चारित्र अन्धा है। दोनों के पारस्परिक सहयोग और उस सहयोग के जीवन मे प्रयोग से ही आत्मा का पूर्ण विकास होता है। जैसे दीर्घ मार्ग वाले भयानक जंगल को शीघ्र पार करने के लिए यान आदि की आवश्यकता रहती है, वैसे ही अनन्त दुःखों से परिपूर्ण संसार रूपी भयंकर जंगल को पार करने के लिए विद्या और चारित्र ही समर्थ साधन हैं।

अणादीयं—इस पद से यह ध्वनित किया गया है कि वह संसार उत्पत्ति से रहित है और यह किसी अदृश्य शक्ति के द्वारा निर्मित नहीं है, प्रत्युत **'अणादीयं'** अनादि एवं सदा कालभावी है।

अनवदग्गं—अनादि संसार का अन्त नहीं हो सकता। अन्य मतावलम्बियों के द्वारा

इसकी समाप्ति का सिद्धान्त यथार्थ की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। घट फूटने के बाद वह नष्ट नहीं होता, अपितु अपने मूल कारण परमाणु रूप में परिवर्तित होकर समयान्तर में पुनः अपने घट रूप में आ जाता है, अतः उसका नाश नहीं होता, केवल रूपान्तर मात्र हुआ करता है।

दीहमद्धं—इस पद से काल और मार्ग दोनों का ग्रहण किया जाता है, क्योंकि अद्धा, अध्वं शब्दों का प्राकृत में अद्धं बनता है। मकार आगमिक है। इसका अर्थ है लम्बा काल या लम्बा मार्ग। नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव रूप चार गतियों वाले संसार रूपी विस्तृत वन मार्ग को पार करने के लिए यदि अनन्तकाल भी व्यतीत हो जाए तो भी संसार-यात्रा का अन्त नहीं हो पाता है।

वीतिवएज्जा—इस क्रिया पद से शास्त्रकार यह सूचित करते हैं कि भव रूप महावन को जीव ज्ञान और चारित्र के द्वारा पार कर सकता है, अर्थात् आठ कर्मों से तथा दुःखसमूह से सर्वथा मुक्त हो सकता है। यह कर्म-क्षय का सिद्धान्त ही जैन-धर्म का प्रमुख सिद्धान्त है।

मोक्ष-मार्ग का सम्यग्दर्शन होते ही जीव कर्मक्षय में प्रवृत्त होता है और कर्म-क्षय करके ही वह मोक्ष का अधिकारी बन सकता है।[१]

कुछ दार्शनिकों का यह सिद्धांत है कि—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि आत्मा के विशेष धर्म हैं। परन्तु ये आत्मा के आत्मभूत लक्षण नहीं हैं। ये आत्मा के वैभाविक धर्म हैं, स्वाभाविक नहीं। मुक्तात्मा में जो धर्म पाए जाते हैं, वे ही आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। जिन गुणों का सम्बन्ध केवल संसारी आत्मा तक ही सीमित है वे वैभाविक गुण कहलाते हैं। इन वैभाविक गुणों के प्रत्याख्यान के बिना मुक्ति असम्भव है।

विद्या सम्यग्दर्शन और श्रुतज्ञान दोनो की परिचायिका है। योगदर्शन में अविद्या को मिथ्यात्व का अपर नाम बतलाया गया है।

चरण का अर्थ चारित्र होता है। जैसे पक्षी को उड़ने की कला आती है, किन्तु जब वह उड़ने की क्रिया करता है तभी वह उड सकता है अन्यथा नहीं। जिस पक्षी को उड़ने का ज्ञान है, किन्तु पंख नहीं, वह उड़ान नहीं लगा सकता और जिस के पंख हैं, किन्तु उड़ने का ज्ञान नहीं, वह भी उड़ नहीं सकता। दोनों के होने से उड़ान लगाई जा सकती है एक से नहीं। इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया दोनों के द्वारा साधक कर्मों से मुक्त हो सकता है एक से नहीं। कहा भी है—**ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः**।

प्रश्न उपस्थित होता है कि—तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति जी ने **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः** कह कर मोक्ष प्राप्ति के मूल कारण तीन बतलाए हैं। प्रस्तुत सूत्र में दो कारण

१ क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे। -भगवद्गीता

बताए गए हैं। दोनों सूत्र में परस्पर विरोध का क्या कारण है?

उत्तर में कहना है कि—द्वितीय स्थान के अनुरोध से मोक्ष प्राप्ति के दो साधन बताए गए हैं, किन्तु विद्या शब्द से यहां सम्यग्दर्शन भी ग्रहण किया जाता है। ज्ञान पदार्थों का निश्चयात्मक होता है। जो ज्ञान वस्तुतः निश्चयात्मक है, वही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान हो ही नहीं सकता, अतः प्रस्तुत सूत्र में विद्या शब्द ज्ञान और दर्शन दोनों का बोधक है।

जो दार्शनिक **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** कहकर ज्ञानमात्र से ही मोक्ष का होना मानते हैं उन को यह सूत्र सन्देश दे रहा है कि ज्ञानमात्र से मुक्ति असम्भव है, क्योंकि औषध के ज्ञानमात्र से रोग की निवृत्ति नहीं होती। यदि यह कहा जाए कि मंत्र आदि के जाप से कार्य-सिद्धि होती हुई दृष्टिगोचर होती है तो यहां यह समझ लेना चाहिए कि मन्त्र शब्द का अर्थ है मनन के द्वारा त्राण अर्थात् रक्षा करने वाला। यह मनन ज्ञान एवं चारित्र का समन्वित रूप ही तो है। लौकिकता-युक्त ज्ञान लौकिक सिद्धियां प्रदान करता है और अलौकिक ज्ञान चारित्र के माध्यम से कर्मक्षय के लिए प्रेरित करता हुआ मोक्ष का साधन बन जाया करता है।[१]

सारांश यह है कि ज्ञान मात्र से ही सिद्धि नहीं हो सकती जब तक कि क्रिया साथ में न हो, और न ही ज्ञान-शून्य क्रिया ही फलवती हो सकती है। जिसने यान चलाने की कला नहीं सीखी, वह यदि अनजाने चला भी दे तो अपने को, यान को तथा यात्रियों को सुरक्षित रूप मे लक्ष्य स्थान पर नही पहुँचा सकता, यह एक निश्चित नियम है। वैसे ही ज्ञान के बिना संयम, तप आदि क्रिया मोक्ष-प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकते।

प्रस्तुत सूत्र में विद्या और चारित्र के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति के सिद्धांत की स्थापना करके सूत्रकार यह ध्वनित कर रहे हैं कि जाति-कुल और वर्ण आदि मोक्ष-मार्ग में बाधक नहीं हैं, कोई भी जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की साधना के द्वारा मुक्त हो सकता है। केवल उच्चकुल, जाति एवं वर्ण से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, मुक्ति की प्राप्ति होती है विद्या एवं चारित्र से। अतः विद्या और चारित्र का मोक्ष-उपलब्धि में विशेष योग जैनागमों ने स्वीकार किया है।

---

१ "अनुस्मृतिज्ञानमात्रान्मत्रादीना फलमुपलभ्यते" तत्र ब्रूमो मत्रेष्वपि परिजपनादिक्रियाया साधनभावो न मत्रज्ञानस्य, प्रत्यक्षविरुद्धमिदमिति चेत्, यता दृष्ट हि क्वचित् मत्रानुस्मृतिमात्रज्ञानादिष्टफलमिति।

अत्रोच्यते, न मत्रज्ञानमात्रनिर्वर्त्त्य तत्फल, तज्ज्ञानाक्रियक्रियत्वात्, इह यदक्रिय न तत् कार्यस्य निर्वर्त्तक दृष्ट, यथाकाशकुसुम, यच्च निर्वर्त्तक तदक्रिय न भवति यथा कुलाल., न चेद प्रत्यक्षविरुद्ध, नहि ज्ञान साक्षात् फलमुपहदुपलक्ष्यत इति। अथ यदि न मन्त्रज्ञानकृत तत्फल, तत. कुत. पुनस्तदिति? तत्समय-निबद्धदेवता विशेषेभ्य इति ब्रूमः, तेषा हि सक्रियत्वेन क्रियानिर्वर्त्यमेतन् मंत्रज्ञानसाध्यमिति।

साधना के बाधकः आरम्भ और परिग्रह

मूल—दो ठाणाइं अपरियाणित्ता आया णो केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, तं जहा—आरंभे चेव, परिग्गहे चेव।

दो ठाणाइं अपरियाइत्ता आया णो केवलं बोहिं बुज्झेज्जा, तं जहा—आरंभे चेव, परिग्गहे चेव।

दो ठाणाइं अपरियाइत्ता आया नो केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा तं जहा-आरंभे चेव, परिग्गहे चेव।

एवं णो केवलं बंभचेरवासमावसेज्जा।

णो केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा। णो केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा।

नो केवलमभिणिबोहियणाणं उप्पाडेज्जा।

एवं सुयनाणं। ओहिनाणं। मणपज्जवनाणं। केवलनाणं ॥२१॥

छाया—द्वे स्थाने अपरिज्ञाय आत्मा नो केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं लभते श्रवणतया, तद्यथा—आरम्भश्चैव, परिग्रहश्चैव।

द्वे स्थाने अपरिज्ञाय आत्मा नो केवलां बोधिं बुध्येत, तद्यथा-आरम्भश्चैव, परिग्रहश्चैव।

द्वे स्थाने अपरिज्ञाय आत्मा नो केवलं मुण्डो भूत्वा अगाराद् अनगारितां प्रव्रजेत् तद्यथा—आरम्भश्चैव, अपरिग्रहश्चैव। एवं नैव केवलं ब्रह्मचर्यवासमावसेत्। नैव केवलेन संयमेन संयमयेत्, नैव केवलेन संवरेण संवृणुयात्। नैव केवलमभिनिबोधिकज्ञानमुत्पादयेत्। एवं श्रुतज्ञानम्। अवधिज्ञानम्। मनःपर्यवज्ञानम्। केवलज्ञानम्।

शब्दार्थ—दो ठाणाइं—दो स्थानों को, **अपरियाणित्ता**—अच्छी तरह जाने बिना, **आया**—आत्मा, **केवलिपण्णत्तं**—केवली भगवान् के द्वारा प्रतिपादित, **धम्मं**—धर्म, **सवणयाए**—श्रवण आदि से, **णो लभेज्जा**—प्राप्त नहीं कर सकता (वे कौन से दो स्थान हैं), **तं जहा**—जैसे कि, **आरंभे चेव**—आरंभ और, **परिग्गहे चेव**—परिग्रह।

दो ठाणाइं अपरियाइत्ता—दो स्थानों को बिना समझे, **आया**—आत्मा, **केवलं बोहिं**—केवल बोधि का, **णो बुज्झेजा**—अनुभव नहीं कर सकता, वे दो कारण हैं, **तं जहा**—जैसे कि, **आरंभे चेव, परिग्गहे चेव**—आंरभ और परिग्रह।

दो ठाणाइं अपरियाइत्ता आया—दो स्थानो को जाने बिना आत्मा, **केवलं मुण्डे भवित्ता**—केवल मुण्डित होकर, **अगाराओ अणगारियं नो पव्वइज्जा**—घर को छोड़ कर

साधु-वृत्ति को ग्रहण नहीं कर सकता, **तं जहा**—जैसे कि, **आरंभे चेव परिग्गहे चेव**—आरभ और परिग्रह। **एवं**—इसी प्रकार आरभ और परिग्रह को जाने बिना और उनका त्याग किए बिना। **केवलं**—सम्पूर्ण, **बंभचेरवासं**—ब्रह्मचर्य में, **णो आवसेज्जा**—नहीं बसता है, **केवलेणं संजमेणं**—प्रतिपूर्ण संयम से, **णो संजमेज्जा**—जीवो की रक्षा नही कर सकता। **केवलेणं संवरेणं**—प्रतिपूर्ण सवर से, **णो संवरेज्जा**—आश्रव का निरोध नही कर सकता। **केवलमभिणिबोहियणाणं नो उप्पाडेज्जा**—प्रतिपूर्ण मतिज्ञान उत्पन्न नही कर सकता। **एवं सुयनाणं**—इसी प्रकार श्रुतज्ञान, **ओहिनाणं**—अवधिज्ञान। **मणपज्जवनाणं**—मनः-पर्यवज्ञान, **केवलनाणं**—केवलज्ञान प्राप्त नही कर सकता।

मूलार्थ—आरम्भ और परिग्रह को तथा उनके दुष्परिणाम को जाने बिना और उनका त्याग किए बिना आत्मा केवलिभाषित धर्म नहीं सुन सकता।

सम्यक्त्व की प्राप्ति नही कर सकता। साधुवृत्ति ग्रहण नहीं कर सकता।

ब्रह्मचर्य मे निवास नही कर सकता।

संयम—छः काय जीवो की रक्षा नही कर सकता।

सम्पूर्ण संवर से स्वयं को संवृत नही कर सकता।

आभिनिबोधिक ज्ञान सपूर्णतया उत्पन्न नही कर सकता।

सम्पूर्ण श्रुत अर्थात् आगमों का पारगामी भी नही बन सकता।

परम अवधिज्ञान को भी प्राप्त नही कर सकता।

मनःपर्यवज्ञान को भी प्राप्त नही कर सकता।

उसे केवलज्ञान भी नहीं हो सकता।

विवेचनिका—विद्या और चारित्र आत्म-विकास के अमोघ साधन है। उन्हे प्राप्त करने मे मुख्यतया कौन-कौन बाधक है, प्रस्तुत सूत्र मे उन्ही का उल्लेख किया गया है। जब तक आत्मा सभी प्रकार के अनर्थो तथा दुःखो के मूल कारण आरम्भ और परिग्रह है, यह नही समझता और इनका प्रत्याख्यान नही करता तब तक वह केवलि-भाषित धर्म सुनने योग्य ही नही बन पाता है। शास्त्रकार ने जो '**अपरियाणित्ता**' पद दिया है, उसका आशय यही है कि ज्ञान के द्वारा आरभ और परिग्रह के स्वरूप को जिसने जाना नही और उनका सच्चे हृदय से परित्याग भी नही किया, वह केवलि-भाषित श्रुत धर्म और चारित्रधर्म का श्रवण करने योग्य नही हो सकता, सम्यक्त्व-लाभ, प्रव्रज्या-ग्रहण, ब्रह्मचर्य पालन, शुद्ध सयम, संवर, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान इन सभी प्रकार के महालाभो को वह प्राप्त नहीं कर सकता।

किसी कार्यवश हिसादि अशुभ क्रियाओं में होने वाली प्रवृत्ति को आरम्भ कहते हैं

और धर्म-साधना के अतिरिक्त धन-धान्य आदि के प्रति ममत्व जागृत करने वाले कारणों को परिग्रह कहते हैं। जो आत्मा हिंसा और परिग्रह में प्रवृत्त है, वह असत्य, चोरी, कुशील आदि पापों में भी प्रवृत्त होता है। आरम्भ और परिग्रह के त्याग से सभी पापों की निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि आरम्भ और परिग्रह ही पापवृत्ति के मूल हैं।

सूत्रकार मुण्डित शब्द के द्वारा यह ध्वनित करना चाहते हैं कि केवल केशलुञ्चन ही साधुत्व नहीं है, सच्चा साधुत्व आरम्भ और परिग्रह की निवृत्ति मे ही है। द्रव्य-मुण्डित के रूप में केशलुञ्चन यदि आवश्यक है तो आरम्भ और परिग्रह के प्रत्याख्यान के रूप मे साधु का भाव-मुण्डित होना भी अनिवार्य है। भाव-मुण्डित हुए बिना आत्मा उपर्युक्त सभी प्रकार के लाभों से वंचित रह जाती है और महालाभो से वचित आत्मा दु:ख की परपरा से बच नही सकती है।

आरम्भ और परिग्रह के त्याग से महालाभ

मूल—दो ठाणाइं परियाइत्ता आया केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए तं जहा—आरंभे चेव, परिग्गहे चेव। एवं जाव केवलनाणं उप्पाडेज्जा॥ २२॥

छाया—द्वे स्थाने परिज्ञाय (पर्यादाय) आत्मा केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं लभेत श्रवणतया, तद्यथा आरम्भश्चैव परिग्रहश्चैव। एवं यावत् केवलज्ञानमुत्पादयेत्।

शब्दार्थ—दो ठाणाइं परियाइत्ता आया—दो स्थानों को जानकर आत्मा, **केवलिपण्णत्तं धम्मं**—केवलिभाषित धर्म का, **सवणयाए**—सुन कर, **लभेज्ज**—प्राप्त करे, **तं जहा**—जैसे कि, **आरंभे चेव परिग्गहे चेव**—आरम्भ और परिग्रह, **एवं**—इसी प्रकार, **जाव**—यावत्, **केवलनाणं उप्पाडेज्जा**—केवलज्ञान का उत्पादन करे।

मूलार्थ—आरम्भ और परिग्रह के स्वरूप को सम्यक्तया जानकर तथा उन्हें त्याग कर ही आत्मा केवलि-भाषित धर्म को सुनने का लाभ प्राप्त करे। इतना ही नहीं धर्म-प्राप्ति और केवलज्ञान आदि भी उत्पन्न करे।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र मे यह बताया गया कि—विद्या और चारित्र का लाभ किस प्रकार हो सकता है। आरम्भ और परिग्रह का परित्याग करने वाले साधक को ही विद्या और चारित्र की प्राप्ति हो सकती है और वही क्रमश: आत्मविकास की चरमसीमा में पहुँच कर नि:सीम-अनन्तानन्त गुणो का स्वामी बन सकता है।

ज्ञान-पूर्वक परित्याग ही महत्त्वपूर्ण होता है, इसीलिए सूत्रकार ने '**परियाइत्ता**' पद दिया है। जो अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही है, वह श्रावक बन सकता है और जो आरम्भ एव परिग्रह से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं, वे ही श्रमणत्व एव निर्ग्रन्थत्व अवस्था को प्राप्त कर

सकते है। साधक जितना भी आरम्भ और परिग्रह में फसता है, उतनी ही विद्या और चारित्र की आराधना में न्यूनता होती जाती है। ज्यों-ज्यों विद्या और चारित्र की आराधना अधिक बढ़ती जाती है त्यों-त्यों आत्मसमाधि भी दृढ़ होती जाती है। किन्तु आरम्भ एवं परिग्रह की उलझनों में पड़कर साधक आत्मसमाधि खो बैठता है और अनेक झझटों तथा संकटों का शिकार बन जाता है, अत: श्रमण तथा श्रमणीवर्ग को आरम्भ और परिग्रह के झंझटों से दूर रहना चाहिए। यही प्रस्तुत सूत्र का साकेतिक अभिप्राय है।

श्रवण-मनन से धर्मलाभ

मूल—दोहिं ठाणेहिं आया केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, तं जहा—सोच्च च्चेव, अभिसमेच्च च्चेव जाव केवलनाणं उप्पाडेज्जा ॥ २३॥

छाया—द्वाभ्यां स्थानाभ्यामात्मा केवलि-प्रज्ञप्तं धर्मं लभेत श्रवणतया तद्यथा—श्रुत्वाचैवाभिसमेत्य चैव यावत्केवलज्ञानमुत्पादयेत्।

शब्दार्थ—**दोहिं ठाणेहि आया**—दो स्थानों से आत्मा, **केवलिपण्णतं धम्मं**—केवलिभाषित धर्म, **सवणयाए**—श्रवण करते हुए, **लभेज्ज**—प्राप्त करे, **तं जहा**—जैसे कि, **सोच्च च्चेव**—सुनकर और, **अभिसमेच्च च्चेव**—सम्यक्तया अवधारणकर, **जाव**—यावत्, **केवलनाणं उप्पाडेज्जा**—केवलज्ञान उत्पन्न करे।

मूलार्थ—साधक को केवलि-भाषित धर्म की प्राप्ति दो प्रकार से हो सकती है, सुनकर और सम्यक् प्रकार से जानकर। इसी प्रकार प्रव्रज्या, ब्रह्मचर्य, संयम, सवर और केवलज्ञान आदि का भी उत्पादन करे।

विवेचनिका—इस सूत्र मे यह बताया गया है कि—प्रकृति से ही जिस की प्रवृत्ति आरम्भ और परिग्रह मे स्वल्प है, उसे केवलिभाषित धर्म की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

इस के उत्तर में कहा गया है कि जब आत्मा परमज्ञानी गुरु के मुखारविन्द से आगम-शास्त्रो को सुनता है और फिर उस पर विचार करता है तब वह धर्म की प्राप्ति कर सकता है। जो साधक आगमो का श्रवण तो करता है, किन्तु उस पर अनुप्रेक्षा, चिन्तन-मनन एवं निदिध्यासन नही करता वह साधना-पथ पर चलता हुआ भी सफलता नही प्राप्त कर सकता।

यदि किसी साधक मे विचार करने की शक्ति तो है, किन्तु उसे सुनने का अवसर प्राप्त नही होता तो वह अभीष्ट फल कैसे प्राप्त कर सकता है? श्रवण के बिना निदिध्यासन और निदिध्यासन के बिना श्रवण लाभकारी नही हो सकता। इस लिए साधना मार्ग पर सफलता चाहने वाले साधक को चाहिए कि शास्त्रवेत्ताओ से शास्त्र का श्रवण कर—उनके गहन सिद्धान्तों का परिज्ञान प्राप्त करके उसे जीवन में चरितार्थ करने का प्रयास करे।

द्रव्यश्रुत जैसे भावश्रुत का कारण होता है, वैसे ही श्रवण करना भी अनुप्रेक्षा का कारण है। खाने के बाद जैसे पचाने की शक्ति के अभाव में खाया हुआ भोजन व्यर्थ हो जाता है, उसी प्रकार अनुप्रेक्षा के बिना श्रवण करना भी व्यर्थ हो जाता है। विष और अमृत का परिज्ञान जैसे सुनने से होता है, वैसे ही पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा आदि का परिज्ञान भी सुनने से ही होता है और निश्चय अनुप्रेक्षा से श्रवण और मनन एक दूसरे के पूरक एवं पोषक हैं। इस प्रकार सूत्रकार ने इस सिद्धान्त को स्पष्ट कर दिया है कि केवल तोता-रटन करने वाला साधक कभी सफल नहीं हो सकता, अत: शास्त्रों को पढकर उस पर चिन्तन-मनन कर आरम्भ और परिग्रह से दूर रह कर ही मुमुक्षु को साधना-मार्ग में सफलता प्राप्त हो सकती है।

समा

मूल—दो समाओ पण्णत्ताओ तं जहा—ओसप्पिणी समा चेव, उस्सप्पिणी समा चेव॥ २४ ॥

छाया—द्वे समे प्रज्ञप्ते, तद्यथा—अवसर्पिणी समा चेव, उत्सर्पिणी समा चैव।

शब्दार्थ—दो समाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—समा-काल विशेष दो प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे कि, **ओसप्पिणी समा चेव**—अवसर्पिणी समा और, **उस्सप्पिणी समा चेव**—उत्सर्पिणी समा।

मूलार्थ—काल-विशेष दो ही कथन किए गए हैं, जैसे कि—अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणी काल। इस प्रकार काल के दो भाग हैं।

विवेचनिका—अध्यात्म-साधना काल-विशेष में ही होती है, अत: अब सूत्रकार समा का वर्णन करते हैं। समा शब्द स्त्री लिंगी है जिसका अर्थ समान एवं 'काल-विशेष' दोनों होते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में समा का भाव यह है कि जितना कालमान अवसर्पिणी का है, उतना ही कालमान उत्सर्पिणी का भी है, अत: दोनों काल समान हैं न्यूनाधिक नहीं। विषमा का प्रतिपक्ष समा है। समय की अपेक्षा अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनों सम हैं, विषम नहीं।

'समा' शब्द का दूसरा अर्थ काल विशेष है, अत: प्रत्येक आरे की जो संज्ञा है, उसके अन्त में 'समा' लिखा या बोला जाता है, जैसे कि—**सुसमसुसमा, सुसमा, सुसमदुसमा, दुसमसुसमा, दुसमा, दुसमदुसमा।** यह क्रम अवसर्पिणी काल का है। इस क्रम से उल्टा उत्सर्पिणी में पाया जाता है, जैसे कि—**दुसमदुसमा, दुसमा, दुसमसुसमा, सुसमदुसमा, सुसमा, सुसमसुसमा।**

जैनागमों द्वारा वर्णित यह काल-क्रम उस विकासवाद का मूल है जिसे पाकर डार्विन

विकासवादियों का जन्मदाता बन बैठा है। वस्तुतः विकासवाद जैनागमों की देन है। संस्कृत के एक विचारक ने कहा है—**चक्रवत्परिवर्तन्ते सुखानि च दुखानि च**—जीवन एक चक्र है जिसमें क्रमशः सुख और दुख आते रहते हैं और जाते रहते हैं। जैन-सिद्धान्त इसी सत्य का समर्थक है कि पहले सुख ही सुख था, फिर सुख ही शेष रहा, फिर सुख के साथ दुःख की भी अनुभूति होने लगी, फिर ऐसी दशा का विकास हुआ जिसमें सुख दुःख-साध्य हो गया, उसके अनन्तर दुःख ही शेष रह गया। फलतः दुःख ही दुःख की अवस्था का प्रवर्तन हुआ।

अन्त में क्रम बदला और पुनः जीवन दुख से सुख की ओर विकास क्रम से प्रवृत्त हुआ। इस प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का आवागमन जीवन के विकास-क्रम का सत्य सिद्धान्त है।

द्विविध-उन्माद

मूल—दुविहे उम्माए पण्णत्ते तं जहा—जक्खावेसे चेव, मोहणिज्जस्स चेव कम्मस्स उदएणं। तत्थ णं जे से जक्खावेसे से णं सुहवेयतराए चेव, सुहविमोयतराए चेव। तत्थ णं जे से मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, से णं दुहवेयतराए चेव, दुहविमोयतराए चेव ॥ २५ ॥

छाया—द्विविधः उन्मादः प्रज्ञप्तस्तद् यथा—यक्षावेशश्चैव, मोहनीयस्य चैव कर्मणः उदयेन। तत्र यः सः यक्षावेशः सः सुखवेद्यतरकश्चैव, सुखविमोच्यतरकश्चैव। तत्र यः सः मोहनीयस्य कर्मणः उदयेन सः दुःखवेद्यतरकश्चैव, दुःखविमोच्यतरकश्चैव।

शब्दार्थ—दुविहे उम्माए पण्णत्ते तं जहा—दो प्रकार का उन्माद कहा गया है जैसे कि, **जक्खावेसे चेव**—यक्षावेश-जन्य उन्माद और, **मोहणिज्जस्स चेव कम्मस्स उदएणं**—मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला उन्माद, **चेव**—का अर्थ पूर्ववत्, **णं**—वाक्या-लंकार में, **तत्थ णं**—उन दोनों में से, **जे**—जो, **जक्खावेसे**—यक्षावेश का उन्माद है, **से णं**—वह, **सुहवेयतराए चेव**—सुखपूर्वक भोगा जा सकता है और, **सुहविमोयतराए चेव**—सुखपूर्वक ही उसकी निवृत्ति भी हो सकती है। **तत्थ णं**—उन दोनों में से, **जे**—जो, **मोहणि-ज्जस्स कम्मस्स उदएणं**—मोहनीय कर्म के उदय से उन्माद होता है, **से**—वह, **दुहवेयतराए चेव**—दुःखपूर्वक भोगा जा सकता है और, **दुहविमोयतराए चेव**—दुःख पूर्वक ही उस से मुक्ति पाई जा सकती है।

मूलार्थ—उन्माद दो प्रकार का कहा गया है, जैसे कि—पहला वह उन्माद है जो यक्ष के आवेश से होता है और दूसरा मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला उन्माद है। जो यक्षावेश के कारण उन्माद होता है, उसका वेदन (अनुभूति) सुख से होता

है और उस से छुटकारा भी आसानी से हो जाता है, किन्तु जो मोह-कर्म के उदय से उन्माद होता है उसका भोग और उस से छुटकारा दोनों ही दु:ख पूर्वक होते हैं।

विवेचनिका—जीवन में स्वस्थता होने पर ही धर्म का श्रवण सम्यग्दर्शन का लाभ, प्रव्रज्याग्रहण और केवलज्ञान आदि उत्पन्न होते हैं। ज्ञान का प्रमुख सम्बन्ध बुद्धि से है, स्वस्थ बुद्धि ही ज्ञान प्राप्त कर सकती है। बौद्धिक अस्वस्थता को उन्माद कहा जाता है। यह उन्माद ज्ञान का बाधक है जिसके द्वारा सम्यग्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र की प्राप्ति होती है। इसीलिए सूत्रकार ने उन्माद का स्वरूप और उसके मुख्य भेदों का उल्लेख किया है। उन्माद का अर्थ है—जिसके कारण से बुद्धि में हित की ओर प्रवृत्ति और अहित से निवृत्ति पाने की शक्ति मलिन हो जाती है, सत्-असत् की पहचान नहीं रहती है। कभी-कभी उन्मत्त मनुष्य भी हित-अहित एवं प्रवृत्ति-निवृत्ति करते हुए देखे जाते हैं, फिर भी उन्माद के कारण सत्-असत् का अन्तर जानने में असमर्थ हो जाते हैं।

यक्षावेश उन्माद—इसी उन्माद के कारण अर्जुनमाली नामक इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति छ: महीने तक छ: पुरुषो और एक स्त्री का नित्यप्रति सहार करता रहा था। इस उन्माद के भी अनेक रूप देखे जाते हैं।

दूसरा उन्माद मोहकर्म के उदय से होता है, उसके दो भेद हैं। दर्शन-मोहकर्म के उदय से जो मिथ्यादर्शन की रुचि जीव में उत्पन्न होती है, उसके वशीभूत होकर जीव उत्सूत्र (शास्त्र-विरुद्ध) की प्ररूपणा करने लग जाता है। तदनुसार ही अनुचित क्रियाएं करने में भी उसकी प्रवृत्ति हो जाती है। साथ ही यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि —विश्व में जितने भी भोगवादी मतमतान्तर हैं, वे सब सम्यग्ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र के न होने से ही उत्पन्न हुए हैं। उनका मूल कारण दर्शनमोहनीयजन्य उन्माद ही है। अभीष्ट जड-चेतन प्राप्ति की तीव्र इच्छा से अथवा अभीष्ट जड-चेतन के वियोग से जो उन्माद होता है, वह चारित्र मोहनीय कर्म-जन्य उन्माद कहलाता है।

यह उन्माद किसी मंत्र, यंत्र, तंत्र आदि से दूर नहीं हो सकता, किन्तु उस कर्म के क्षयोपशम से ही इस उन्माद का निराकरण साध्य माना जा सकता है, अन्य प्रकार से नहीं। असत्-प्ररूपणा, आसक्ति और प्रबल आशातना के द्वारा जीव अनन्त भवों तक विपद्ग्रस्त बना ही रहता है और अनेक उपाय करने पर भी उससे छूट नहीं पाता।

यक्षावेश-जन्य उन्माद इहभविक ही होता है, क्योंकि यक्षोन्माद-जन्य वेदना की अनुभूति इसी जन्म तक सीमित रहती है, किन्तु मोहनीय-कर्मजन्य उन्माद का प्रभाव अनेक जन्मों तक रहता है। यह उन्माद अत्यन्त दु:ख से भोगा जाता है और उससे जीव अति दु:ख से ही छूटता है। इसकी अपेक्षा यक्षावेश-जन्य उन्माद आसानी से भोगा जाता है और आसानी से ही छूटता है, यही दोनों में अन्तर है।

दण्ड-विवेचन

मूल—दो दंडा पण्णत्ता, तं जहा—अट्ठादंडे चेव, अणट्ठादंडे चेव। नेरइयाणं दो दंडा पण्णत्ता, तं जहा—अट्ठादंडे य अणट्ठादंडे य। एवं चउवीसा दंडओ जाव वेमाणियाणं ॥ २६ ॥

छाया—द्वौ दण्डौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—अर्थदण्डश्चैव, अनर्थदण्डश्चैव। नैरयिकाणां द्वौ दण्डौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—अर्थदण्डश्च, अनर्थदण्डश्च। एवं चतुर्विंशतिर्दण्डकाः यावद् वैमानिकानाम्।

शब्दार्थ—दो दंडा पण्णत्ता, तं जहा—दो दण्ड प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे कि, **अट्ठादण्डे चेव**—अर्थ दण्ड और, **अणट्ठादंडे चेव**—अनर्थ दण्ड, **नेरइयाणं दो दण्डा पण्णत्ता, तं जहा**—नारको के दो दण्ड कथन किए गए हैं, जैसे कि, **अट्ठादंडे य अणट्ठादंडे य**—अर्थदण्ड और अनर्थ दण्ड, **एवं**—इसी प्रकार, **चउवीसा**—चौबीस, **दण्डओ**—दण्डको के विषय में जानना चाहिए, **जाव**—यावत्, **वेमाणियाणं**—वैमानिक देवों पर्यन्त, दो-दो ही दण्ड पाए जाते हैं।

मूलार्थ—दण्ड के दो भेद हैं, जैसे कि —अर्थ-दण्ड और अनर्थ-दण्ड। नारकीयों से लेकर वैमानिक देवों पर्यन्त चौबीस दण्डकों में उक्त दो-दो दण्ड पाए जाते हैं।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र मे दण्ड शब्द विशेष अर्थ का बोधक है। यहां इसका अर्थ है—पापकर्म में प्रवृत्ति। उन्मत्त प्राणी हिंसा आदि अशुभ क्रियाओं में प्रीति करते हैं और वे क्रियाएं अर्थदण्ड और अनर्थदण्ड से प्रेरित होकर ही की जाती हैं। शरीर-पोषण के प्रयोजन के लिए जो हिसादि क्रिया की जाती हैं, वे अर्थदण्ड हैं। जो निष्प्रयोजन हिसादि पापकर्म किया जाता है, वह अनर्थदण्ड है। यहा यह जानना भी आवश्यक है कि गृहस्थ-धर्म मे अनर्थ-दण्ड का परित्याग होता है परन्तु अर्थ-दण्ड का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता। फिर भी उसका यथा-शक्ति त्याग करना चाहिए।

नारकीय जीव अपने शरीर की रक्षा के निमित्त जब कभी दूसरे का हनन करता है, तब अर्थदण्ड, जब वह द्वेष-मात्र से हनन करता है, तब अनर्थ-दण्ड इसी प्रकार चौबीस दण्डकों के विषय मे जानना चाहिए।[1]

चौबीस दण्डकों मे जीव किसी न किसी रूप में अर्थ-दण्ड और अनर्थ-दण्ड करता ही रहता है। जो सर्व प्रकार से विरत हैं, वे सप्रयोजन और निष्प्रयोजन दोनों दण्डों से निवृत्त रहते है।

---

१ नारकस्य स्वशरीररक्षार्थं परस्योपहननमर्थदण्ड· प्रद्वेषमात्रादनर्थदण्डः। पृथिव्यादीनां त्वनाभोगेनाप्याहारग्रहणे जीववधभावादर्थदण्डोऽन्यथा त्वनर्थदण्डः। अथवोभयमपि भवान्तरार्थदण्डादि परिणतेरिति— इति वृत्तिकारः।

दर्शन-विवेचन

मूल—दुविहे दंसणे पण्णत्ते, तं जहा—सम्मद्दंसणे चेव, मिच्छादंसणे चेव। सम्मदंसणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—णिसग्गसम्मद्दंसणे चेव, अभिगमसम्मद्दंसणे चेव।

णिसग्ग-सम्मद्दंसणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—पडिवाई चेव, अप्पडिवाई चेव। अभिगम-सम्मद्दंसणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—पडिवाई चेव, अपडिवाई चेव। मिच्छादंसणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अभिग्गहिय-मिच्छादंसणे चेव, अणभिग्गहिय-मिच्छादंसणे चेव।

अभिग्गहियमिच्छादंसणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सपज्जवसिए चेव, अपज्जवसिए चेव। एवमणभिग्गहिय- मिच्छादंसणे वि ॥ २७ ॥

छाया—द्विविधं दर्शनं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—सम्यग्दर्शनञ्चैव, मिथ्यादर्शनञ्चैव।

सम्यगदर्शनं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—निसर्गसम्यग्दर्शनं चैव, अभिगमसम्यग्दर्शनं चैव। निसर्गसम्यग्दर्शनं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—प्रतिपाति चैव, अप्रतिपाति चैव। अभिगमसम्यग्दर्शनं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—प्रतिपाति चैव, अप्रतिपाति चैव।

मिथ्यादर्शनं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आभिग्रहिक-मिथ्यादर्शनं चैव, अनाभिग्रहि-कमिथ्यादर्शनं चैव। आभिग्रहिकमिथ्यादर्शनं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—सपर्यवसितं चैव, अपर्यवसितं चैव। एवमनाभिग्रहिकमिथ्यादर्शनमपि।

शब्दार्थ—दुविहे दंसणे पण्णत्ते, तं जहा—दो प्रकार का दर्शन कहा गया है, जैसे कि, **सम्मद्दंसणे चेव**—सम्यग्दर्शन और, **मिच्छादंसणे चेव**—मिथ्या दर्शन। **सम्मद्दंसणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—सम्यग्दर्शन दो प्रकार से वर्णन किया गया है, जैसे कि, **णिसग्ग-सम्मद्दंसणे चेव**—जिनोक्त तत्त्वों में स्वाभाविक रुचि हो जाना और, **अभिगमसम्मद्दंसणे चेव**—गुरु आदि के उपदेश के द्वारा जिनोक्त तत्त्वों में रुचि जागृत होना, **णिसग्ग-सम्मद्दंसणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—निसर्ग सम्यग्दर्शन दो प्रकार से वर्णित किया गया है, जैसे कि, **पडिवाई चेव**—उत्पन्न होने के बाद नष्ट हो जाने वाला और, **अप्पडिवाई चेव**—उत्पन्न होने के अनन्तर सदा स्थिर रहने वाला, **अभिगमसम्मद्दंसणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—अभिगम सम्यग्दर्शन भी दो प्रकार से कथन किया गया है, जैसे कि, **पडिवाई चेव**—प्रतिपाति और, **अप्पडिवाई चेव**—अप्रतिपाति। **मिच्छादंसणें दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—मिथ्यादर्शन दो प्रकार से कहा गया है, जैसे कि, **अभिग्गहियमिच्छादंसणे चेव**—आभिग्रहिक-मिथ्यादर्शन और, **अणभिग्गहियमिच्छादंसणे चेव**—अनाभिग्रहिक-मिथ्या-दर्शन। **अभिग्गहियमिच्छादंसणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—आभिग्रहिक मिथ्यादर्शन दो प्रकार से कथन किया गया है, जैसे कि, **सपज्जवसिए चेव**—अन्त होने वाला मिथ्यात्व

और, **अपज्जवसिए चेव**—सदा स्थिर रहने वाला मिथ्यात्व। **एवं अणभिग्गहियमिच्छादंसणे वि**—इसी प्रकार अनाभिग्रहिक मिथ्यादर्शन के भी दो भेद कहे गए हैं जैसे कि सपर्यवसित और अपर्यवसित।

मूलार्थ—दर्शन के दो रूप कहे गए हैं, जैसे कि—सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन। सम्यग्दर्शन के दो भेद है, जैसे कि—निसर्ग सम्यग्दर्शन और अभिगम सम्यग्दर्शन। निसर्ग सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं, जैसे कि—प्रतिपाति-पतनशील और अप्रतिपाति-अपतनशील। इसी प्रकार अभिगम सम्यग्दर्शन के भी दो भेद जानने चाहिएं।

मिथ्यादर्शन दो प्रकार से वर्णित है, जैसे कि—आभिग्रहिक-मिथ्यादर्शन और अनाभिग्रहिक-मिथ्यादर्शन। इनमे से पहले के दो भेद हैं। सपर्यवसित-अंतसहित और अपर्यवसित—अन्तरहित। इसी तरह अनाभिग्रहिक-मिथ्यात्व के भी दो भेद होते है, जैसे कि सर्पयवसित और अपर्यवसित।

विवेचनिका—उन्माद और दण्ड आदि जिस दर्शन में बाधक हैं, अब उस दर्शन का विवेचन किया जा रहा है। अन्तरग श्रद्धा ही दर्शन है। यह श्रद्धा सम्यक् भी हो सकती है और मिथ्या भी। इसी कारण सूत्रकार ने दर्शन के भी दो भेद किए हैं, सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन।

सम्यग्दर्शनः—जीव मे यथार्थ रूप से पदार्थों का निश्चय करने की जो प्रवृत्ति है, वही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर ही आत्मस्वरूप का परिज्ञान होता है। आत्म-तत्त्व का परिज्ञान हो जाना ही सम्यग्दर्शन है। इसे पाकर ही जीव त्याज्य को छोडता है, ग्राह्य को ग्रहण करता है और ज्ञातव्य को भली भांति जानता है।

मिथ्यादर्शनः—मिथ्या श्रद्धा को मिथ्यादर्शन कहते हैं। यही मिथ्यादर्शन आत्मोपलब्धि का बाधक है। जिनोक्त तत्त्व से विपरीत गमन करना, विरोधी विचार रखना और तत्त्वों का स्वरूप यथावत् न जानना मिथ्यादर्शन का ही कार्य है।

इस प्रकार दर्शन के मूलतः दो ही भेद है। इन्ही दो दर्शनों में सभी दर्शनो का अन्तर्भाव हो जाता है। सम्यग्दर्शन के दो भेद कथन किए गए हैं, जैसे कि —निसर्ग-सम्यग्दर्शन और अभिगम या अधिगम-सम्यग्दर्शन।

निसर्ग-सम्यग्दर्शनः—दर्शन-मोहनीय-कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम होने पर गुरु-उपदेश के बिना ही जिनोपदिष्ट भावो पर दृढ श्रद्धा का होना निसर्ग सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन कहलाता है। पदार्थों को यथार्थ रूप से जानने की रुचि सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों की तीव्रतम जिज्ञासा से उत्पन्न होती है। सांसारिक इच्छा को लक्ष्य में रखकर जो तत्त्व-जिज्ञासा होती है, वह सम्यग्दर्शन की कोटि मे नही आती, क्योंकि उसका अन्तिम फल मोक्ष न होकर सांसारिक वृद्धि होती है, किन्तु आध्यात्मिक तृप्ति के लिए जो तत्त्व-निश्चय की

रुचि होती है, वही निसर्ग-सम्यग्दर्शन की कोटि में आ सकती है, क्योंकि वही मोक्ष-प्राप्ति की साधिका है।

अभिगम-सम्यग्दर्शनः—जो सम्यग्दर्शन उपदेश आदि बाह्य निमित्त से उत्पन्न होता है, उसे अभिगम या अधिगम सम्यग्दर्शन कहते हैं। तत्त्वार्थ-सूत्र में 'अभिगम' के स्थान पर 'अधिगम' का प्रयोग किया गया है। दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। सम्यग्दर्शन तो एक ही प्रकार का है, किन्तु उत्पत्ति की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के दो भेद किए गए हैं।

निसर्ग और अभिगम सम्यग्दर्शन में अन्तरः—

उक्त दोनों दर्शनों में अन्तर यही है कि एक बाह्य निमित्तों के बिना उत्पन्न होता है और दूसरा असाधारण बाह्य निमित्तों की अपेक्षा रखता है। जैसे कि कुछ विशिष्ट संस्कारी जीव ऐसे होते हैं जो दूसरों की सहायता के बिना ही स्वयमेव कवित्व आदि कलाओं को सीख लेते हैं और दूसरे वे जीव हैं जो शिक्षक आदि के द्वारा ही कवित्व आदि की शिक्षा ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार आन्तरिक कारण तुल्य होने पर भी बाह्य निमित्त की अपेक्षा और अनपेक्षा को लेकर सम्यग्दर्शन के दो भेद किए गए हैं।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शन दो-दो तरह के होते हैं—एक प्रतिपाति और दूसरा अप्रतिपाति। औपशमिक और सास्वादन सम्यग्-दर्शन ये दोनों तो नियमतः प्रतिपाति ही होते हैं। क्षायोपशमिक सम्यग्-दर्शन जब मिथ्यात्व तथा मिश्र-मोहनीय कर्म के अभिमुख होता है, तब वह गिरावट के कारण प्रतिपाति भी होता है। यदि यह सम्यग्दर्शन क्षायिक के अभिमुख हो तो वह सादि अनन्तमहागुण मे समाविष्ट हो जाता है, किन्तु वेदक सम्यग्दर्शन तो क्षायिक महागुण में ही सम्मिलित होने वाला होता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन का कालमान अन्तर्मुहूर्त यावत् रहने वाला होता है। सास्वादन की स्थिति जघन्य एक समय, उत्कृष्ट छः आवलिका होती है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की स्थिति ६६ सागरोपम प्रमाण से कुछ अधिक है। वेदक सम्यक्त्व जीव को एक बार ही होता है, उसकी स्थिति एक समय मात्र की है। एक समय के बाद वह क्षायिक सम्यक्त्व में परिणत हो जाता है। किन्तु जो क्षायिक सम्यक्त्व है, वह अप्रतिपाति ही होता है, उसे सादि अनन्त भी कह सकते हैं। वह अनन्तानन्त काल के बाद भी प्रतिपाति नहीं हो सकता। जब तक जीव में यह सम्यग्दर्शन नहीं होता, तब तक केवलज्ञान और सिद्धत्व उपलब्ध नहीं हो सकता। औपशमिक श्रेणि और क्षपकश्रेणि तथा पांच प्रकार के सम्यग्दर्शन का स्वरूप 'कम्मपयडी' एवं 'कर्म-ग्रन्थों' से जान लेना चाहिए।

मिथ्यादर्शन का स्वरूप

मिथ्यादर्शन का स्वरूप जानना भी आवश्यक है। जैसे विष को जाने बिना अमृत के महत्त्व को नहीं जाना जा सकता वैसे ही मिथ्यात्व के स्वरूप को बिना जाने सम्यक्त्व का परिज्ञान नहीं होता। अतः सूत्रकार ने मिथ्यात्व का स्वरूप और उसके भेद-प्रभेदों का भी

संक्षेप से वर्णन किया है।

जब जीव में मिथ्यात्व-मोहनीय-कर्म-प्रकृति का उदय होता है, तब जीव की बुद्धि विपरीत हो जाती है और इस अवस्था में वह पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को न समझकर केवल मिथ्याग्रह में ही निमग्न हो कर अतत्त्व को तत्त्व और तत्त्व को अतत्त्व समझने लग जाता है।

यद्यपि मिथ्यादर्शन के अनेक रूप हैं, फिर भी उनका समावेश दो रूपों में हो जाता है, जैसे कि—आभिग्रहिक-मिथ्यादर्शन और अनाभिग्रहिक-मिथ्यादर्शन।

आभिग्रहिक-मिथ्यादर्शनः—तत्त्व की परीक्षा किए बिना ही एकान्तवाद का आश्रय लेकर एक पक्ष पर आग्रह करना और अन्य पक्षों का निषेध करना आभिग्रहिक-मिथ्यादर्शन है। आभिग्रहिक-मिथ्यादर्शन संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को ही होता है। एकेन्द्रिय जीवों में तो अव्यक्त मिथ्यादर्शन ही होता है।

इसके दो भेद हैं—सपर्यवसित और अपर्यवसित। दूसरे शब्दों में इन्हें सान्त और अनन्त भी कह सकते हैं। भव्य जीवों का मिथ्यादर्शन अनादि एव सान्त है, क्योंकि भव्य जीव को जैसे ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, वैसे ही तत्क्षण मिथ्यादर्शन का अन्त हो जाता है, किन्तु अभव्य जीवों का मिथ्यादर्शन अनादि अनन्त है—जिस का न आदि है और न अन्त। सम्यग्दर्शन की अपेक्षा प्रतिपाति मिथ्यादर्शन सादि सान्त है। सपर्यवसित का अर्थ अवसान होता है, जिस मिथ्यात्व का अवसान हो गया है या कालान्तर में होने वाला है, भले ही अभी उस मिथ्यात्व के अवसान होने में असंख्य काल शेष हैं, फिर भी उसे सपर्यवसित ही कहते हैं। जिस आत्मा में भविष्यत् काल के किसी क्षण में सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव होता ही नहीं ऐसे मिथ्यात्व को अपर्यवसित कहते हैं। जैसे प्रकाश से अन्धकार दूर होता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन के लाभ से मिथ्यात्व का अवसान होता है, अथवा मिथ्यात्व का अवसान होने पर ही सम्यग्दर्शन का लाभ होता है।

अनाभिग्रहिक-मिथ्यादर्शनः—गुण-दोष की परीक्षा किए बिना ही सब पक्षों को बराबर समझना, अथवा विशिष्ट चेतनारहित मिथ्यादृष्टि जीवों में जो मिथ्यात्व पाया जाता है, वह अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है। इसके पहले की तरह दो भेद हैं—सपर्यवसित और अपर्यवसित। इन शब्दों का अर्थ पूर्ववत् जानना चाहिए अर्थात् अनाभिग्रहिक मिथ्यादृष्टि भी दो तरह के होते हैं—भव्य और अभव्य।

जैन-दर्शन सभी अनर्थों का मूल कारण मिथ्यादर्शन को ही मानता है और सम्यग्दर्शन को समस्त आध्यात्मिक साधना के मूलाधार के रूप में स्वीकार करता है। मिथ्यादर्शन के अनुयायियों में भी परस्पर एक मत नहीं है। आत्मतत्त्व को ही लीजिए, कोई आत्मा को अनादि मानता है, कोई पांच भूतो से निष्पन्न और उनके वियुक्त होने पर विनष्ट होने वाला

स्वीकार करता है, कोई पांच स्कन्धों की समष्टि को आत्म संज्ञा देता है, तो कोई आत्मा को अणु मानता है, कोई विभु, कोई आत्मा को अकर्त्ता-भोक्ता मानता है और कोई आत्मा को सर्वथा संसारी, कोई स्वतंत्र मानता है और कोई आत्मा को ईश्वराधीन एवं परतंत्र मानता है, कोई मन को ही आत्मा मानता है और कोई इन्द्रियों के समुदाय को, कोई आत्मा को सर्वदा शुद्ध मानता है और कोई सभी कालों में अशुद्ध। इत्यादि आत्मा के विषय में अनेक मत हैं। इसी प्रकार सृष्टि और ईश्वर के विषय में भी मत-भेद हैं। ये सभी मत-भेद मिथ्या-दर्शन के कारण ही हैं। सम्यग्दर्शन में कोई मतभेद नहीं होता।

सूत्रकर्त्ता ने पहले दर्शन पद दिया है, फिर उसके सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन, इस प्रकार जो दो भेद किए हैं इसके विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—

दृष्टिर्दर्शनं, तत्त्वेषु रुचिः, तच्च सम्यग्—अविपरीतं, जिनोक्तानुसारी तथा मिथ्या-विपरीतमिति।

अर्थात् दृष्टिकोण को दर्शन कहते हैं, तत्त्वों में रुचि का होना ही दर्शन है। जिन भगवान् के कथन किए हुए तत्त्वों पर रुचि करना ही सम्यग्दर्शन है। इसके विपरीत मिथ्यादर्शन कहलाता है।

सम्मद्दंसणेः—इस पद से यह सूचित किया जाता है कि—अन्तरंग सम्यग् विचार ही सन्मार्ग की ओर ले जाते हैं। **निसग्गसम्मद्दंसणे** और **अभिगमसम्मद्दंसणे** इन दो पदों से अनेकान्तवाद की सिद्धि होती है। प्रत्येक आत्मा स्वभावतः भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है तथा गुरु-उपदेश के द्वारा भी, अतः दोनों प्रकार से सम्यग्दर्शन का लाभ हो सकता है।

पडिवाई और अपडिवाईः—इन दो पदों से मोहनीय-कर्म की प्रबलता और जीव की अतुल शक्ति का दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे कि जब मोहनीय कर्म का उदय प्रबल रूप से होता है तब आत्मा सम्यग्दर्शन से पतित हो जाता है, अतएव इस पद में किसी प्रकार का विस्मय नहीं करना चाहिए। **अपडिवाई**—इस पद से जीव की अतुल शक्ति का वर्णन किया गया है। जो कि मोहनीय-कर्म को क्षय कर सदा काल भावी रहने वाला क्षायिक सम्यग्दर्शन अप्रतिपाति कहलाता है, क्योंकि वह एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् कभी लुप्त नहीं होता। अतः विश्व के सभी जीव उक्त दो दर्शनों में अन्तर्निहित हो जाते हैं।

सम्यग्-ज्ञान-विवेचन

मूल—दुविहे नाणे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे चेव, परोक्खे चेव।

पच्चक्खे नाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—केवलनाणे चेव, नोकेवल-नाणे चेव।

केवलनाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—भवत्थ-केवलनाणे चेव,

सिद्धकेवलनाणे चेव। भवत्थ-केवलनाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सजोगि-भवत्थकेवलनाणे चेव, अजोगि-भवत्थ-केवलनाणे चेव। सजोगि-भवत्थ-केवलनाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—पढमसमयसजोगिभवत्थ-केवलनाणे चेव, अपढमसमय-सजोगिभवत्थ-केवलनाणे चेव। अहवा चरिमसमय-सजोगिभवत्थ-केवलनाणे चेव, अचरिमसमय-सजोगि-भवत्थ-केवलनाणे चेव। एवं अजोगिभवत्थ-केवलनाणेऽवि।

सिद्धकेवलनाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अणंतरसिद्ध-केवलनाणे चेव, परंपरसिद्ध-केवलनाणे चेव। अणंतरसिद्ध-केवलनाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—एक्काणंतरसिद्ध-केवलनाणे चेव, अणेक्काणंतरसिद्ध-केवलनाणे चेव।

परंपरसिद्ध-केवलनाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—एक्कपरंपरसिद्ध केवलनाणे चेव, अणेक्कपरंपरसिद्धकेवलनाणे चेव ॥२८॥

छाया—द्विविधं ज्ञानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—प्रत्यक्षं चैव, परोक्षं चैव।

प्रत्यक्षं ज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—केवलज्ञानञ्चैव, नोकेवलज्ञानञ्चैव।

केवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—भवस्थकेवलज्ञानञ्चैव, सिद्धकेवलज्ञानञ्चैव।

भवस्थकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—सयोगि-भवस्थ-केवलज्ञानञ्चैव, अयोगिभवस्थ-केवलज्ञानञ्चैव। सयोगिभवस्थ-केवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—प्रथमसमय-सयोगिभवस्थ-केवलज्ञानञ्चैव, अप्रथम-समयसयोगिभवस्थ-केवलज्ञानञ्चैव।

अथवा चरमसमय-सयोगिभवस्थ-केवलज्ञानञ्चैव, अचरम-समयसयोगिभवस्थ-केवलज्ञानञ्चैव। एवमयोगिभवस्थ-केवलज्ञानमपि।

सिद्धकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—अनन्तरसिद्धकेवलज्ञानञ्चैव-परम्पर-सिद्ध-केवलज्ञानञ्चैव। अनन्तरसिद्ध-केवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—एकानन्तरसिद्ध-केवलज्ञानञ्चैव, अनेकान्तरसिद्ध-केवलज्ञानञ्चैव।

परम्परसिद्ध-केवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—एकपरम्परसिद्ध-केवलज्ञानञ्चैव, अनेकपरम्परसिद्ध-केवलज्ञानञ्चैव।

शब्दार्थ—**दुविहे नाणे पण्णत्ते, तं जहा**—दो प्रकार का ज्ञान कहा गया है, जैसे कि, **पच्चक्खे चेव, परोक्खे चेव**—प्रत्यक्ष ज्ञान और परोक्ष ज्ञान। **पच्चक्खे नाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार से वर्णित किया गया है, जैसे कि, **केवलनाणे**

चेव—केवल ज्ञान और, **नोकेवलनाणे चेव**—नोकेवलज्ञान—अवधि और मनःपर्यवज्ञान, **केवल नाणे**—केवलज्ञान, **दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—दो प्रकार का कहा गया है, जैसे कि, **भवत्थकेवलनाणे चेव**—भवस्थ केवलज्ञान और, **सिद्धकेवलनाणे चेव**—सिद्ध केवलज्ञान, **भवत्थकेवलनाणे**—भवस्थ केवलज्ञान भी, **दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—दो प्रकार का वर्णित किया गया है, जैसे कि, **सजोगिभवत्थकेवलनाणे चेव**—सयोगी-भवस्थ केवलज्ञान और, **अजोगिभवत्थकेवलनाणे चेव**—अयोगी-भवस्थ केवलज्ञान। इन दोनों में से, **सजोगिभवत्थकेवलनाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—सयोगी भवस्थ-केवलज्ञान दो प्रकार से कहा गया है, जैसे कि, **पढमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणे चेव**—जिस केवलज्ञान को उत्पन्न हुए एक समय ही हुआ है, वह प्रथम समय सयोगी-भवस्थकेवलज्ञान, **अपढमसमयसजोगि-भवत्थकेवलनाणे चेव**—जिस केवलज्ञान को उत्पन्न हुए अनेक समय हो गए हैं, वह अप्रथमसमय सयोगी भवस्थ केवलज्ञान है, **अहवा**—अथवा, **चरिमसमयसजोगिभ वत्थ केवलनाणे चेव**—तेरहवें गुणस्थान के चरमान्त अर्थात् अन्तिम समय में जो पहुँच गया है, वह चरम समय सयोगी भवस्थ केवलज्ञान है और, **अचरिमसमय-सजोगि भवत्थ-केवलनाणे चेव**—जो उस गुणस्थान के चरम समय में नहीं पहुँचा वह अचरम-समय सयोगी भवस्थ केवलज्ञान है। **एवं**—इसी प्रकार, **अजोगिभवत्थ-केवल-नाणेऽवि**—अयोगी भवस्थ केवलज्ञान के विषय में भी जानना चाहिए।

सिद्धकेवलनाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सिद्ध केवलज्ञान दो प्रकार का कहा गया है, जैसे कि, **अणंतरसिद्धकेवलनाणे चेव**—अनंतर सिद्ध केवलज्ञान और, **परंपरसिद्ध-केवलनाणे चेव**—परंपरसिद्ध-केवलज्ञान, **अणंतरसिद्ध-केवलनाणे दुविहे पण्णत्ते तं जहा**—अनंतरसिद्ध-केवलज्ञान दो प्रकार का कथन किया गया है, जैसे कि, **एक्काणंतरसिद्ध-केवलनाणे चेव**—एक अनन्तर सिद्ध केवलज्ञान और, **अणेक्काणं-तरसिद्ध-केवलनाणे चेव**—अनेक अनन्तर सिद्ध केवलज्ञान। **परंपरसिद्ध-केवलनाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—परंपरसिद्ध-केवलज्ञान दो तरह से कथन किया गया है, जैसे कि, **एक्कपरंपरसिद्ध-केवलनाणे चेव**—एक-परम्परसिद्ध-केवलज्ञान और, **अणेक्क-परंपरसिद्ध-केवलनाणे चेव**—अनेक-परपरसिद्ध-केवलज्ञान। **च**—समुच्चय अर्थ में, **एव**—अवधारणार्थ में जानना चाहिए।

मूलार्थ—ज्ञान के दो भेद किए गए हैं, जैसे—प्रत्यक्ष ज्ञान और परोक्ष ज्ञान। इनमें से प्रत्यक्ष ज्ञान के भी दो भेद कथन किए गए हैं—केवलज्ञान-प्रत्यक्ष और नोकेवलज्ञान प्रत्यक्ष। केवलज्ञान प्रत्यक्ष के दो भेद कहे गए है, जैसे—भवस्थ-केवलज्ञान और सिद्ध-केवलज्ञान। इन में से भवस्थ केवलज्ञान के दो भेद कहे गए हैं, जैसे कि—सयोगी-भवस्थ-केवलज्ञान और अयोगी भवस्थ-केवलज्ञान। इन में से सयोगी-भवस्थ-केवलज्ञान प्रत्यक्ष के दो भेद हैं, यथा—प्रथम-समय-सयोगी भवस्थ-

केवलज्ञान और अप्रथम-समय-सयोगी भवस्थ केवलज्ञान। अथवा चरम-समय-सयोगी-भवस्थ-केवलज्ञान और अचरम-समय सयोगी भवस्थ-केवलज्ञान। इसी प्रकार प्रथमसमय, अप्रथम समय और चरम-समय, अचरम-समय, ये चार पद अयोगी भवस्थ-केवलज्ञान के आदि में क्रमशः संयुक्त करने चाहिएं।

सिद्ध केवलज्ञान के भी दो भेद हैं, जैसे-अनन्तर-सिद्ध-केवलज्ञान और परम्परसिद्ध-केवलज्ञान। इनमें अनन्तरसिद्ध-केवलज्ञान के दो भेद हैं, जैसे कि—एक-अनन्तर सिद्ध-केवलज्ञान और अनेक-अनन्तर-सिद्धकेवलज्ञान। परम्परसिद्ध-केवलज्ञान के दो भेद हैं, जैसे कि—एक-परम्पर-सिद्ध-केवलज्ञान और अनेक-परम्पर-सिद्धकेवलज्ञान। इस प्रकार ज्ञान के अनेक रूप प्रदर्शित किए गए हैं।

विवेचनिका—सम्यग्दर्शन पूर्वक बोध ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। अथवा सम्यग्दर्शन ज्ञान की पृष्ठभूमिका है। क्षायिक सम्यग्दर्शन निश्चय ही अप्रतिपाति अर्थात् विनाश-रहित होता है, उसी में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ करता है, सम्यग्दर्शन के अन्य भेदों में नहीं। अतः इस सूत्र में ज्ञान के पांच भेदों को दो भागों में विभाजित किया गया है, जैसे—प्रत्यक्षज्ञान और परोक्ष ज्ञान। इनमें प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद हैं, जैसे कि—केवलज्ञान-प्रत्यक्ष और नो-केवलज्ञान प्रत्यक्ष। प्रस्तुत सूत्र में परोक्ष ज्ञान और नोकेवलज्ञान का अधिकार नहीं, सिर्फ केवलज्ञान का ही वर्णन है, जिसे सकल प्रत्यक्ष भी कहते हैं। भवस्थ केवलज्ञान जीवन्मुक्त में भी पाया जाता है और सिद्ध भगवन्तों में भी।

जीव आठ कर्मों से बद्ध है, वह भी अनादि काल से। उन कर्मों में चार कर्म घनघाति कहलाते हैं, जैसे कि—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। ये चार कर्म आत्म-गुणों को आच्छादित करने वाले हैं; उन्नति, उत्थान एवं विकासोन्मुख जीवों की प्रगति में ये बाधक हैं। इनके रहते हुए जीव कषाय-मुक्त वीतराग नहीं हो सकता और वीतरागता के अभाव में केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

घनघाति कर्मों के सर्वथा नष्ट एवं क्षय होने पर ही केवलज्ञान का सूर्य अनन्तकाल के लिए जगमगा उठता है। जब यह सूर्य एक बार उदित हो जाता है, तो फिर वह कभी भी अस्त नहीं होता, वह सदा-सर्वदा एक सा रहता है, किसी भी समय में वह धूमिल नहीं होता। इससे बढ़कर अन्य कोई ज्ञान नहीं है। यह ज्ञान केवल मनुष्य-भव में उत्पन्न होता है अन्य किसी भव में नहीं।

भवे तिष्ठति इति भवस्थः—जो केवलज्ञान मनुष्य भव में हो, उसे भवस्थ-केवलज्ञान कहते हैं। भवस्थ केवलज्ञान दो तरह का होता है—सयोगी और अयोगी। मन, वचन और काय के व्यापार को योग कहते हैं। इन तीनों में से कोई सा भी योग जिसमें प्रवृत्त हो, उसे सयोगी कहते हैं। जो केवलज्ञानी योग-सहित हैं उन्हें सयोगि-भवस्थ कहते हैं। जिन के

मन, वचन और काय की शक्ति होते हुए भी उनका पूर्णतया निरोध हो गया है, उन्हें अयोगी भवस्थ कहते हैं। इनका गुणस्थान क्रमशः तेरहवां और चौदहवां है।

जिस केवलज्ञान को उत्पन्न हुए पहला ही समय हुआ है, उसे प्रथम-समय-सयोगी-भवस्थ केवलज्ञान कहते हैं और जिस केवलज्ञान को हुए अनेक समय हो चुके हैं, उसे अप्रथम-समय-सयोगी भवस्थ केवलज्ञान कहते हैं। अथवा जिस ज्ञान को तेरहवां गुणस्थान पार करने में केवल एक समय रह गया है, वह चरम समय-सयोगी भवस्थ केवलज्ञान कहलाता है और जिसे उस गुणस्थान को पार करने में अनेक समय शेष रहते हैं, उसे अचरम समय सयोगी भवस्थ केवलज्ञान कहा जाता है। इसी प्रकार दो-दो के क्रमशः चार भेद चौदहवें गुणस्थान के विषय में जानने चाहिएं।

जब तक भवोपग्रही कर्म शेष हैं, तब तक वह भवस्थ केवलज्ञान कहलाता है। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इनको भवोपग्रही कर्म कहते हैं। जब तक इनका क्षय नहीं होता, तब तक भव रहता है। आयु कर्म के क्षय होने से भवस्थ-केवली का निर्वाण हो जाता है। मोहनीय कर्म क्षय होने से तीन घाति कर्मों का एक साथ क्षय हो जाता है। आयु कर्म के सर्वथा विलय होने से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

जिन के आठ कर्म सर्वथा क्षय हो गए हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं। सिद्धावस्था में जन्म-मरण, रोग-शोक, भय, शरीर आदि का बिल्कुल अभाव रहता है। कर्मों से निर्लिप्त और केवलज्ञान से प्रकाशमय आत्मा को दूसरे शब्दों में परमात्मा भी कहते हैं। सिद्धों का केवलज्ञान यद्यपि समान है, न्यून-अधिक नहीं, तदपि उपाधि भेद से सूत्रकर्ता ने भेद बतलाए हैं, जैसे कि अनन्तरसिद्ध और परम्परसिद्ध।

आठ समय तक निरन्तर सिद्धगति को प्राप्त करने वाले सिद्धों को अनन्तर सिद्ध कहते हैं। बीच-बीच में अन्तर पाकर जो सिद्ध होते हैं, उन्हें परम्पर सिद्ध कहते हैं। आठ समय तक समय-समय में एक-एक सिद्ध होने वालों को एक अनन्तर सिद्ध कहते हैं। समय-समय में अनेक सिद्ध होने वालों को अनेक अनन्तर सिद्ध केवलज्ञान कहते हैं। इसी प्रकार परंपर सिद्ध के दो भेद हैं, दो समय से लेकर मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, षण्मास का अन्तर पड़ जाने पर जो एक-एक सिद्ध हुआ है, उसे एकपरंपर-सिद्ध केवलज्ञान कहते हैं। अन्तर पाकर जो अनेक सिद्ध हुए हैं, उन्हें अनेक-परंपर-सिद्ध केवलज्ञान कहते हैं। अनन्तर-सिद्ध भी अनन्त हैं और परम्पर-सिद्ध भी अनन्त हैं। भवस्थकेवलज्ञानी को अरिहन्त कहते हैं और मुक्तात्माओं को सिद्ध। दोनों को जैन-दर्शन आराध्य मानता है और साध्य भी।

प्रस्तुत सूत्र के अन्तर्गत आए हुए प्रत्यक्ष और परोक्ष विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं। जैसे कि-

'ज्ञानं' विशेषावबोधः, अश्नाति—भुङ्क्ते, अश्नुते वा व्याप्नोति ज्ञानेनार्थानित्यक्षः आत्मा, तं प्रति यद् वर्तते, इन्द्रियमनोनिरपेक्षत्वेन तत्प्रत्यक्षम्—अव्यवहितत्वे-

नार्थसाक्षात्करणदक्षमिति, आह च—

अक्खो जीवो अत्थव्वावण, भोयण गुणण्णिओ जेण।
तं पइ वट्टइ नाणं जं, पच्चक्खं तमिह तिविहं ति ॥

परेभ्यः—अक्षापेक्षया पुद्गलमयत्वेन द्रव्येन्द्रियमनोभ्योऽक्षस्य जीवस्य यत्तत्परोक्षं निरुक्तवशादिति, आह च—

अक्खस्स पोग्गल कया, जं दव्विंदिय मणापरा तेण।
तेहिंतो जं नाणं, परोक्खमिह तमणुमाणं व त्ति॥

अथवा परैरूक्षा सम्बन्धनं जन्यजनकभावलक्षणमस्येति परोक्षम्, इन्द्रियमनोव्यवधानेनात्मनोऽर्थप्रत्यायकमसाक्षात्कारीत्यर्थः।

वृत्ति का सारांश इतना ही है, जो ज्ञान से अपने विषय को व्याप्त करता है, उसे अक्ष अर्थात् आत्मा कहते हैं, वह इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जो स्वतंत्र, स्वच्छ एवं निर्मल ज्ञान देता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। जो इन्द्रिय और मन की सहायता से ज्ञान होता है, उसे पारमार्थिक दृष्टि से परोक्ष ही कहा जाता है, वह परोक्षज्ञान अस्पष्ट होता है।

विकलादेश प्रत्यक्ष के भेद

मूल—णोकेवलनाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—ओहिणाणे चेव, मणपज्जवणाणे चेव।

ओहिणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—भवपच्चइए चेव, खओवसमिए चेव। दोण्हं भवपच्चइए पण्णत्ते, तं जहा—देवाणं चेव, नेरइयाणं चेव।

दोण्हं खओवसमिए पण्णत्ते, तं जहा—मणुस्साणं चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव।

मणपज्जवणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—उज्जुमई चेव, विउलमई चेव ॥२१॥

छाया—नोकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—अवधिज्ञानञ्चैव, मनःपर्यवज्ञानञ्चैव। अवधिज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—भवप्रत्ययिकञ्चैव क्षायोपशमिकञ्चैव। द्वयोर्भवप्रत्ययिकं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—देवानाञ्चैव, नैरयिकाणाञ्चैव। द्वयोः क्षायोपशमिकं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—मनुष्याणाञ्चैव, पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिकानाञ्चैव।

मनःपर्यवज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—ऋजुमतिश्चैव, विपुलमतिश्चैव।

शब्दार्थ—**नोकेवलनाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—नोकेवलज्ञान के दो भेद कथन किए गए हैं, जैसे कि, **ओहिणाणे चेव**—अवधिज्ञान और, **मणपज्जवणाणे चेव**—मनःपर्यवज्ञान, पुनः, **ओहिणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—अवधिज्ञान के दो भेद कहे गए

हैं, जैसे कि, **भवपच्चइए चेव**—जिस ज्ञान की उत्पत्ति में कारक स्वरूप भव हो, उसे भवप्रत्ययिक कहते हैं, **खओवसमिए चेव**—अवधिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे क्षायोपशमिक कहते हैं इनमें से, **दोण्हं भवपच्चइए पण्णत्ते, तं जहा**—दो को भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान होना कथन किया गया है, जैसे कि, **देवाणं चेव**—देवों को और, **नेरइयाणं चेव**—नैरयिकों को। **दोण्हं खओवसमिए पण्णत्ते, तं जहा**—दो को क्षयोपशम-जन्य-अवधिज्ञान होना कथन किया गया है, जैसे कि, **मणुस्साणं चेव**—मनुष्यों को और, **पंचिंदियतिरिक्ख-जोणियाणं चेव**—संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यंचों को। **मणपज्जवणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—मन:पर्यवज्ञान दो प्रकार से वर्णित किया गया है, जैसे कि, **उज्जुमई चेव**—ऋजुमति और, **विउलमई चेव**—विपुलमति।

मूलार्थ—नोकेवलज्ञान दो प्रकार से वर्णन किया गया है, जैसे कि—अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान। अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है, भवप्रत्ययिक और क्षायोपशमिक। भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान देव और नारकियों को होता है। मनुष्यों और संज्ञी तिर्यंचों को क्षायोपशमिक अवधिज्ञान हुआ करता है।

मन: पर्यवज्ञान के भी दो भेद हैं, जैसे कि—ऋजुमति और विपुलमति।

विवेचनिका—सकलादेश प्रत्यक्ष के अनन्तर सूत्रकार विकलादेश प्रत्यक्ष ज्ञान का वर्णन करते हैं। केवलज्ञान सर्वप्रत्यक्ष है, जबकि अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान देशप्रत्यक्ष हैं। देशप्रत्यक्ष में भी मन और इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित नही है, केवल आत्मा के द्वारा ही रूपी पदार्थों का साक्षात्कार किया जाता है, अरूपी पदार्थों का नहीं।

अवधिज्ञान और उसके भेद

इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही मर्यादा को लिए हुए रूपी द्रव्य का ज्ञान करना अवधिज्ञान कहलाता है। अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय इस प्रकार के दो भेद होते हैं। जो अवधिज्ञान जन्म लेते ही प्रकट होता है वह भवप्रत्ययिक कहलाता है, अर्थात् उस के उत्पन्न होने में व्रत, नियम आदि अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रहती। जैसे पक्षी को उडान लगाने का ज्ञान जन्म सिद्ध है और मत्स्य आदि जल-जन्तुओं को अथाह जलराशि में रहने का ज्ञान जन्म से ही होता है। गाय आदि पशुओं को जल में तैरने का ज्ञान जन्म-सिद्ध है। वैसे ही देव और नारकी को अवधिज्ञान का होना जन्मसिद्ध माना गया है। जो अवधि-ज्ञान जन्मसिद्ध नहीं है, किन्तु जन्म लेने के बाद मूल तथा उत्तरगुणों के बल से प्रकट होता है, वह क्षायोपशमिक ज्ञान कहलाता है।

इस प्रसंग में प्रश्न उपस्थित हो सकता है, कि केवलज्ञान के अतिरिक्त चार ज्ञान जबकि क्षयोपशम भाव में ही उत्पन्न होते हैं, तो फिर क्षयोपशम को छोड़कर केवल भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कैसे माना गया है?

उत्तर में कहना यही है कि वास्तविक अवधिज्ञान क्षयोपशम जन्य ही होता है, किन्तु जिस भव में अवधिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होना अनिवार्य है, उसे भव प्रत्ययिक अवधिज्ञान कहते हैं। देव और नारकियों को बिना ही संयम और तप की आराधना किए अवधिज्ञान होता है। इस विषय में भाष्यकार के शब्द निम्नलिखित हैं—

तत्राक्षेपः— **ओही खओवसमिए भावे भणितो भवो तहोदइए।**
तो किह भवपच्चइओ वोत्तुं जुत्तो हवइ दोण्हं॥

तत्र परिहारः—सोऽवि हु खओवसमिओ, किन्तु स एव उ खओवसमलाभो।
तम्मि सइ होइ अवस्सं, भण्णइ भवपच्चओ तो सो॥

यतः— **उदयक्खय-खओवसमिओवसमा वि अ जं च कम्मुणो भणिया।**
दव्वं खेत्तं कालं भवं च भावं च संपप्प॥

भाष्यकार का कहना है कि कोई भी अवधिज्ञान योग्य क्षयोपशम के बिना हो ही नहीं सकता। देव और नारकीय सभी अवधिज्ञान सम्पन्न होते हैं, अतः उनमें भवप्रत्यय की मुख्यता है, गुण प्रत्यय की नहीं, मनुष्य और तिर्यंचों में अवधिज्ञान गुणप्रत्ययिक होता है। मूलगुण और उत्तरगुण की आराधना साधना करते हुए वह प्रशस्त लेश्या में उत्पन्न होता है। न्यून, अधिक, धूमिल, स्पष्ट, सूक्ष्म, बादर, अतिदूर, अतिसमीप, अन्दर, बाहर रूपीद्रव्य कहीं भी हो, उसे अवधिज्ञानी प्रत्यक्ष रूप से जानता व देखता है।

मनःपर्यवज्ञान और उसके पात्र

अवधिज्ञान की तरह मनःपर्यवज्ञान भी क्षायोपशमिक है। इसके उत्पन्न होने के लिए नौ शर्तें नियत हैं—मनुष्य को ही यह ज्ञान उत्पन्न होता है, अन्य किसी गतिवाले जीव को नहीं। मनुष्यों में भी गर्भज को होता है, संमूर्च्छिम को नहीं। पर्याप्तक को होता है, अपर्याप्तक को नहीं। पर्याप्तक में भी सख्यात वर्ष की आयु वाले को उत्पन्न होता है, असंख्यात वर्ष की आयु वाले को नहीं। वह भी कर्मभूमिज को उत्पन्न होता है, अकर्मभूमिज को नहीं। उनमें भी सम्यग्दृष्टि को मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है, मिथ्या एवं मिश्रदृष्टियों को नहीं। उनमें भी सयत-साधु को होता है, अन्य किसी को नहीं। संयतों में भी अप्रमत्त को होता है, प्रमत्त को नहीं। अप्रमत्तो मे भी ऋद्धि प्राप्त, विशिष्ट लब्धि प्राप्त को ही मनः-पर्यवज्ञान उत्पन्न होता है, अन्य को नही।

मनःपर्यवज्ञान का विषय है—अढाई द्वीप, जिसे मनुष्यलोक या समय-क्षेत्र भी कहते हैं। उस में रहने वाले संज्ञी जीवों के मन में होने वाले संकल्प-विकल्पों को प्रत्यक्ष रूप से जानना व देखना ही मनःपर्यवज्ञान का विषय है, शेष बाह्य पदार्थ मनःपर्यवज्ञान का विषय नहीं हैं।

मनः पर्यवज्ञान के दो भेद हैं, जैसे कि—ऋजुमति और विपुलमति। इनको सामान्यग्राही

ज्ञान और विशेषग्राही ज्ञान भी कह सकते हैं। मानो किसी के मन में घट के संकल्प हो रहे हैं, ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान का विषय इतना ही है कि 'यह घट है।' किन्तु विपुलमति का विषय इतना महान है कि संकल्पगत 'घट' स्वर्णमय है, रजतमय है, या मृण्मय, किस काल या क्षेत्र का बना हुआ है, छोटा है या बड़ा, हल्का है या भारी इत्यादि विशेषग्राही मन:-पर्यवज्ञान को विपुलमति कहते हैं। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मन:पर्यवज्ञान विशुद्धतर होता है, क्योंकि वह ऋजुमति की अपेक्षा सूक्ष्मतर और अधिक स्पष्टतया जान सकता है। इसके अतिरिक्त दोनों में यह भी अन्तर है कि ऋजुमति उत्पन्न होने के बाद कदाचित् चला भी जाता है, किन्तु विपुलमति नियमेन ही केवलज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त बना रहता है। इस लिए इन्हें क्रमश: प्रतिपाति और अप्रतिपाति मन:पर्यवज्ञान भी कहते हैं। अवधि और मन:पर्यवज्ञान ये दोनों देश-प्रत्यक्ष होने से प्रत्यक्ष प्रमाण में गिने जाते हैं।

परोक्ष-ज्ञान विवेचन

मूल—परोक्खे णाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—आभिणिबोहियणाणे चेव, सुयणाणे चेव।

आभिणिबोहियणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सुयनिस्सिए चेव, असुयनिस्सिए चेव। सुयनिस्सिए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अत्थोग्गहे चेव, वंजणोग्गहे चेव। असुयनिस्सिए वि एमेव ॥ ३० ॥

छाया—परोक्षज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानं चैव, श्रुतज्ञानं चैव। आभिनिबोधिकज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—श्रुतनिश्रितं चैव, अश्रुतनिश्रितं चैव। श्रुतनिश्रितं ज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—अर्थावग्रहश्चैव व्यञ्जनावग्रहश्चैव। अश्रुतनिश्रितमपि एवमेव।

शब्दार्थ—परोक्खे णाणे दुविहे पण्णत्ते—परोक्ष ज्ञान दो प्रकार से वर्णित किया गया है, **तं जहा**—जैसे कि, **आभिणिबोहियणाणे चेव**—आभिनिबोधिक ज्ञान और, **सुयणाणे चेव**—श्रुत-ज्ञान।

आभिणिबोहियणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—आभिनिबोधिक ज्ञान दो प्रकार से कथन किया गया है, जैसे कि, **सुयनिस्सिए चेव**—श्रुतनिश्रित और, **असुयनिस्सिए चेव**—अश्रुतनिश्रित। **सुयनिस्सिए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—श्रुतनिश्रित दो तरह से कथन किया गया है, जैसे कि, **अत्थोग्गहे चेव**—अर्थावग्रह और, **वंजणोग्गहे चेव**—व्यंजनावग्रह, **असुयनिस्सए वि एमेव**—अश्रुतनिश्रित के भी दो भेद समझने चाहिएं।

मूलार्थ—परोक्षज्ञान भी दो प्रकार से वर्णित है, जैसे कि—आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुतज्ञान। आभिनिबोधिक ज्ञान के दो भेद हैं, जो सुनने से बुद्धि उत्पन्न होती

है, उसे श्रुत-निश्रित और जो बिना ही सुने स्वभाव से उत्पन्न होती है उसे अश्रुत-निश्रित ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार आभिनिबोधिक ज्ञान के दो भेद होते हैं। श्रुत-निश्रित मतिज्ञान के भी दो भेद होते हैं, जैसे कि—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। इसी प्रकार अश्रुत-निश्रित के भी दो भेद होते हैं।

विवेचनिका—प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रतिपक्षी परोक्ष प्रमाण कहलाता है। परोक्ष प्रमाण का समावेश मति और श्रुत-ज्ञान में होता है अर्थात् मति और श्रुत के अतिरिक्त अन्य कोई परोक्ष प्रमाण नहीं है। परोक्ष का अर्थ होता है—अस्पष्ट ज्ञान। यद्यपि अन्य शास्त्रों से भिन्न जैन न्याय-शास्त्र में स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इस तरह परोक्ष-प्रमाण पांच प्रकार से वर्णित है।[1] इन्हें सभी दर्शनकारों ने निर्विवाद रूप से परोक्ष-प्रमाण स्वीकार किया है। जैन-दर्शन में इन्द्रिय आदि द्वारा पदार्थों की अपेक्षा से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहा गया है। जब कि लोक-व्यवहार में इन्द्रिय-व्यापार-रहित ज्ञान को परोक्ष कहा गया है। जिज्ञासुओ को लक्ष्य में रखते हुए उक्त पांच की सामान्य व्याख्या प्रस्तुत की जाती है—

स्मरण—पहले जाने हुए पदार्थों को याद करना स्मरण-परोक्ष ज्ञान है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष से जाने हुए अर्थ में भी संशय नही होता, अतः वह प्रमाण की कोटि से माना जाता है, उसी प्रकार स्मृति से जाने हुए अर्थ में कोई सशय या विपर्यय नहीं रहता। जहां संशय होता है, उसे स्मरणाभास कहा जाता है, स्मरणाभास परोक्ष ज्ञान नहीं।

प्रत्यभिज्ञान—यह प्रत्यक्ष और स्मरणरूप दो ज्ञानों का समुदाय है। 'यह वही है, जिसे गतवर्ष मैंने देखा था।' इस वाक्य में वर्तमान और अतीत के योग रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहा जाएगा। इस का सीधा अर्थ है—पहचानना। प्रत्यक्ष में देखा और अतीत की स्मृति हुई, अतः वह तुरन्त पहचानने में आ जाता है।

तर्क—अविनाभाव सम्बन्ध रूप व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। साधन के होने पर साध्य का होना और साध्य के न होने पर साधन का भी न होना, अविनाभाव सम्बन्ध है। इसका दूसरा नाम ऊह भी है। व्याप्ति के ग्रहण करने के लिए तर्क को प्रमाण मानना अनिवार्य है।

अनुमान—साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। जिसे प्रमाता ने सिद्ध करना है, उसे साध्य और जिस के द्वारा वह सिद्ध किया जाता है, वह साधन है। जिस हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव अर्थात् निश्चित अन्यथानुपपत्ति है, उस हेतु से जो साध्य का ज्ञान होता है, वही अनुमान है। उसके स्वार्थानुमान और परार्थानुमान इस प्रकार दो भेद प्रायः सभी दर्शनकारों ने स्वीकार किए हैं।

आगम—आप्तों के वचनों से होने वाले अर्थ-ज्ञान को आगम कहते हैं। उपचार से

१. स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदात्तत्पञ्चप्रकारम्। —प्रमाणनयतत्त्वालोक परिच्छेद ३, सू. २

आप्त का वचन भी आगम है। जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता है और जैसा जानता है, वैसे ही कहता है वह आप्त है। इन पांचों का अन्तर्भाव मति और श्रुतज्ञान में ही हो जाता है।

आभिनिबोधिक शब्द का प्रयोग सम्यग्मति के लिए ही किया जाता है, जबकि मति शब्द ज्ञान और अज्ञान दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। इसीलिए सूत्रकार ने यहां आभिनि-बोधिक शब्द का प्रयोग किया है—

आभिनिबोधिक—यह शब्द मतिज्ञान का ही दूसरा नाम है। आगमों में मतिज्ञान के स्थान पर अधिकतर आभिनिबोधिक शब्द का ही प्रयोग मिलता है। इसका अर्थ है—इन्द्रिय और मन के सहयोग से योग्य देश में रही हुई वस्तु को विषय करने वाला ज्ञान। इस ज्ञान के अट्ठाईस और तीन सौ छत्तीस भेदों का स्पष्टोल्लेख 'नन्दी सूत्र,' 'दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र' और 'तत्त्वार्थ सूत्र' में पाया जाता है। यह ज्ञान भी इतना महान है, जिसका कोई पारावार नहीं है।

श्रुत-ज्ञान—आगमों के सुनने से, तत्त्वोपदेश सुनने से या तत्त्वज्ञान के पढने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह श्रुतसंज्ञक कहलाता है। यह ज्ञान मति-पूर्वक होता है। जिसमें शब्द और अर्थ का पर्यालोचन हो, वही श्रुतज्ञान कहलाता है। श्रुतज्ञान में द्रव्य श्रुतज्ञान की कारणता रही हुई है। यद्यपि यह ज्ञान इन्द्रियो के सहयोग से होता है, तदपि श्रोत्र और मन इसमें मुख्य कारण हैं। जब श्रोत्र से सुना जाता है और मन से मनन किया जाता है तब वह भावश्रुत के रूप में परिणत हो जाता है। विश्व भर में जितना साहित्य है, वह सब द्रव्यश्रुत है, तज्जन्य ज्ञान होने पर जब आत्मा त्याज्य भावों को त्यागता है और उपादेय—ग्राह्य भावों को ग्रहण करता है, तब वह श्रुत—श्रुतज्ञान कहलाता है, अन्यथा वह श्रुताज्ञान ही है। इस ज्ञान में भी इतना महाप्रकाश है, जिसकी कोई सीमा ही नहीं है। वह भी सभी द्रव्यों तथा उनकी अनन्त पर्यायों को विषय करने की शक्ति रखता है।

आभिनिबोधिक ज्ञान के अवान्तर भेद—

आभिनिबोधिक ज्ञान के मुख्यतया दो भेद हैं—जैसे कि श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित। जो मति श्रुतज्ञान से सम्बन्धित है उसे श्रुतनिश्रित और जो मतिज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम जन्य औत्पत्तिकी आदि बुद्धि है, वह श्रुत से सम्बन्धित नहीं, अपितु स्वतंत्र है, इस कारण उस मतिज्ञान को अश्रुतनिश्रित कहते हैं। **सुयनिस्सिए—असुयनिस्सिए** इन का संस्कृत रूप श्रुत-निःसृत, अश्रुत-निःसृत भी बन जाता है। इनका अर्थ पहले की तरह ही जानना चाहिए। श्रुत-निश्रित के दो भेद कथन किए गए हैं, जैसे कि—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। इनका विवेचन निम्नलिखित है—

अर्थावग्रह—अर्थ का अवग्रह। अर्थ बाह्य वस्तु को कहा जाता है, वस्तु में जो सामान्य अंश है, वह द्रव्य है और जो विशेष अंश है वह पर्यायसंज्ञक है। द्रव्य से पर्याय भिन्न नहीं

और पर्याय से द्रव्य भिन्न नहीं, दोनों एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। जीव इन्द्रिय और मन की सहायता से जब जानता है, तब द्रव्य के कुछ ही पर्यायों को जानता है, न कि सब पर्यायों को। पर्याय का ज्ञान होने से द्रव्य का भी ज्ञान हो जाता है। जिस-जिस इन्द्रिय एवं मन का जो-जो विषय है, उसे अर्थ कहा जाता है। अवग्रह से तात्पर्य विषय ग्रहण से है। जब नाम, जाति, द्रव्य, गुण कर्म और क्रिया आदि विशेष कल्पना से रहित जो सामान्य ज्ञान होता है तब वह अर्थावग्रह कहलाता है। अर्थावग्रह ज्ञान पटुक्रमी कहलाता है।

व्यंजनावग्रह—जिसके द्वारा अर्थ की प्राप्ति मंद क्रम से हो तथा शब्द आदि अर्थ का उपकरणेन्द्रिय के साथ सम्बन्ध हो, उसे व्यंजनावग्रह कहते हैं। चक्षु और मन के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों द्वारा व्यंजनावग्रह होता है। जिस प्रकार दीपक के द्वारा घट आदि पदार्थ प्रकाशित होते हैं उसी प्रकार व्यंजनावग्रह के द्वारा जब पदार्थों का आत्मा को आभास मात्र होता है तब उसे व्यंजनावग्रह कहा जाता है। इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—

व्यज्यतेऽनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यंजनं, तच्चोपकरणेन्द्रियं, शब्दादित्वपरिणत-द्रव्यसंघातो वा, ततश्च व्यंजनेन—उपकरणेन्द्रियेण शब्दादित्वपरिणतद्रव्याणां व्यंजना-नामवग्रहो व्यंजनावग्रह इति। अथवा व्यंजनम्—इन्द्रियशब्दादिद्रव्यसम्बन्ध इति, आह च—

वंजिज्जइ जेणऽत्थो, घडोव्व दीवेण वंजयं तो तं।
उवगरणिंदियसद्दादि, परिणयदव्वसंबंधो त्ति॥

अयं च मनो नयनवर्जेन्द्रियाणां भवतीति चतुर्धा, नयनमनसोऽप्राप्तार्थं परिच्छेद-कत्वात्, इतरेषां पुनरन्यथेति।

व्यंजनावग्रह को निर्विकल्प ज्ञान भी कहते हैं। अवग्रह के पहले समय में ग्रहण किए गए विषय को दर्शन कहा जाता है। नैश्चयिक अवग्रह एक सामयिक होता है और व्यावहारिक अवग्रह आन्तर्मुहूर्तिक। व्यंजनावग्रह के समय में भी ज्ञान होता है, किन्तु वह सूक्ष्म एवं अव्यक्त होने से प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार अश्रुतनिश्रित के भी अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह के रूप में दो भेद जानने चाहिएं। अवग्रह के ही दो भेद होते हैं, ईहा आदि के नहीं। इसी कारण द्वितीय स्थान में उन का उल्लेख नहीं किया गया।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने आभिनिबोधिक अर्थात् मति-ज्ञान का संक्षिप्त परिचय प्रदान किया है।

श्रुत-ज्ञान-विवेचन

मूल—सुयणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अंगपविट्ठे चेव, अंग-बाहिरे चेव। अंगबाहिरे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—आवस्सए चेव, आवस्सयवइरित्ते

चेव। आवस्सयवइरित्ते दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—कालिए चेव, उक्कालिए चेव ॥ ३१ ॥

छाया—श्रुतज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—अङ्गप्रविष्टञ्चैव, अङ्गबाह्यञ्चैव। अङ्ग-बाह्यं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आवश्यकञ्चैव, आवश्यकव्यतिरिक्तञ्चैव। आवश्यक व्यतिरिक्तं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—कालिकं चैव, उत्कालिकं चैव।

शब्दार्थ—सुयणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—श्रुतज्ञान के दो भेद वर्णित हैं, जैसे, **अंगपविट्ठे चेव**—अंग प्रविष्ट और, **अंगबाहिरे चेव**—अंग-बाह्य, **अंगबाहिरे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—अंग-बाह्य के दो प्रकार हैं, जैसे कि, **आवस्सए चेव**—आवश्यक और, **आवस्सयवइरित्ते चेव**—आवश्यक व्यतिरिक्त, **आवस्सयवइरित्ते दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—आवश्यक व्यतिरिक्त दो प्रकार से कथित है, जैसे कि, **कालिए चेव**—कालिक और, **उक्कालिए चेव**—उत्कालिक।

मूलार्थ—श्रुत-ज्ञान दो प्रकार से प्रदर्शित किया जाता है, जैसे कि—आचारांगादि अंग-शास्त्रों में जो श्रुत-ज्ञान है, उसे अंग-प्रविष्ट कहा जाता है और अंग शास्त्र से बाहर उत्तराध्ययनादि शास्त्रों में जो श्रुत-ज्ञान है, वह अंग-बाह्य कहलाता है। अंग-बाह्य शास्त्र भी दो प्रकार से वर्णित है, जैसे कि—आवश्यक-शास्त्र और आवश्यक-व्यतिरिक्त शास्त्र। जो आवश्यक से व्यतिरिक्त शास्त्र है, वह भी दो प्रकार से कथन किया गया है, जैसे कि—कालिक-शास्त्र और उत्कालिक-शास्त्र।

विवेचनिका—मतिज्ञान के अनन्तर प्रस्तुत सूत्र में श्रुतज्ञान का उल्लेख किया गया है। क्योंकि श्रुत मतिपूर्वक होता है, न कि श्रुतपूर्विका मति होती है। समस्त श्रुतसाहित्य दो भागों में विभाजित है, यथा अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य। द्वादशांग गणीपिटक श्रुतज्ञान अंग-प्रविष्ट कहलाता है अर्थात् जो श्रुतज्ञान बारह अंगों में प्रविष्ट है, वह अंग प्रविष्ट है और जो श्रुतज्ञान उनसे बाहर है, उसे अंग बाह्य कहते हैं। अंग-प्रविष्ट श्रुत अर्थ रूप से तीर्थंकर भाषित होता है और सूत्ररूप से गणधरकृत, इस कारण वह श्रुत अग-प्रविष्ट कहलाता है। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन मातृका-पदों से उत्पन्न हुए श्रुत को ध्रुव श्रुत भी कहते हैं। अथवा तीर्थंकर के द्वारा प्रकाशित ज्ञान को उनके महामनीषी शिष्य गणधरों ने साक्षात् ग्रहण करके उसे जो द्वादशांग गणिपिटक के रूप में सूत्रबद्ध किया है, वह श्रुत अंगप्रविष्ट कहलाता है, किन्तु साधक की बुद्धि, संहनन और आयु की न्यूनता के कारण उस अंग-प्रविष्ट से उद्धृत कर सर्वसाधारण शिष्यों के हित के लिए आचार्यों ने जिन विभिन्न विषयों पर शास्त्रों की रचना की है वह श्रुत अंग-बाह्य कहलाता है। उन शास्त्रों को स्थविर-कृत माना जाता है। अभिन्न दशपूर्वधर से लेकर चतुर्दश पूर्वधर तक जितने भी आचार्य हुए हैं, उनकी वाणी या रचना को भी सम्यक्-श्रुत कहा जाता है, शेष श्रुतधरों की रचना में भजना है, सम्यक् श्रुत

हो और न भी हो। इससे यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि आत्म-विकास का मुख्य हेतु श्रुतज्ञान ही है।

श्रुतज्ञान का अधिकारी यदि सम्यग्दृष्टि, योग्य एवं मुमुक्षु है, तो वह लौकिक शास्त्रों को भी उपयोगी बना सकता है। यदि अधिकारी योग्य न हो तो वह अध्यात्म-शास्त्र से भी कोई लाभ नहीं उठा सकता। फिर भी प्रणेता की योग्यता और विषय की दृष्टि से लोकोत्तरिक श्रुत की अपेक्षा अवश्य रहती है।

अंग-बाह्य श्रुत के मुख्य दो भेद हैं, जैसे कि—आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। जो चतुर्विध श्री संघ के लिए प्रातः और साय अवश्यकरणीय हो, उसे आवश्यक कहते हैं। तद् व्यतिरिक्त के दो भेद कथन किए हैं, जैसे कि—कालिक और उत्कालिक। इनके विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—

यदिह दिवस-निशा-प्रथमपश्चिमपौरुषीद्वय एव पठ्यते, तत्कालेन निवृत्तं-कालिकमुत्तराध्ययनादि। यत्पुनः कालवेलावर्जं पठ्यते तदूर्ध्वं कालिकादित्युत्कालिकं दशवैकालिकादि इति।

कालिक सूत्र उसे कहते हैं, जो दिन और रात्रि के पहले और पिछले पहर में पढ़े जाते हैं तथा जो काल-वेला की अपेक्षा न रखकर पढे जाते हैं वे उत्कालिक कहलाते है।

तटस्थ दृष्टिकोण से यदि विचार किया जाए तो जितने भी ज्ञान-विषयक सूत्र ऊपर लिखे जा चुके हैं, वे सब नन्दी सूत्र के बीज रूप हैं, क्योंकि इन सूत्रों का विस्तार नन्दी सूत्र में देखा जाता है। इन्हीं सूत्रों के आधार पर अनेक जैन-ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। केवलज्ञान क्षायिक भाव में होता है, शेष चार ज्ञान क्षयोपशम भाव में। केवलज्ञान सादि अनन्त है। मनः-पर्यवज्ञान इहभविक ही होता है, शेष तीन ज्ञान इहभविक भी हैं और पारभविक भी। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने परोक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान का भेद-उपभेदों सहित सुन्दर वर्णन किया है।

धर्म-विवेचन

मूल—दुविहे धम्मे पण्णत्ते तं जहा—सुयधम्मे चेव चारित्तधम्मे चेव। सुयधम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सुत्तसुयधम्मे चेव, अत्थसुयधम्मे चेव। चारित्तधम्मे दुविहे पण्णत्ते तं जहा—अगारचारित्तधम्मे चेव, अणगार-चारित्तधम्मे चेव॥३२॥

छाया—द्विविधो धर्मः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—श्रुतधर्मश्चैव, चारित्रधर्मश्चैव। श्रुतधर्मः द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—सूत्रश्रुतधर्मश्चैव अर्थश्रुतधर्मश्चैव। चारित्रधर्मो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अगारचारित्रधर्मश्चैव, अनगारचारित्रधर्मश्चैव।

शब्दार्थ—धम्मे—धर्म, **दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—दो प्रकार से प्रतिपादन किया गया

है, जैसे कि, **सुयधम्मे चेव**—श्रुत-धर्म और, **चारित्तधम्मे चेव**—चारित्र-धर्म, **सुयधम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—श्रुत धर्म दो प्रकार से प्रतिपादन किया गया है, जैसे कि, **सुत्तसुय-धम्मे चेव**—सूत्र श्रुत-धर्म और, **अत्थसुयधम्मे चेव**—अर्थ-श्रुत-धर्म। पुनः, **चारित्तधम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—चारित्र धर्म दो प्रकार से प्रतिपादित है, जैसे कि, **अगारचारित्त-धम्मे चेव**—गृहस्थ-चारित्र धर्म और, **अणगारचारित्तधम्मे चेव**—साधु-चारित्र धर्म।

मूलार्थ—धर्म दो प्रकार से कथन किया गया है, जैसे कि—श्रुत-धर्म और चारित्रधर्म। श्रुतधर्म के पुनः दो भेद किए गए हैं, जैसे कि—सूत्ररूप श्रुत-धर्म और अर्थ रूप श्रुत धर्म। चारित्र-धर्म के दो भेद हैं, गृहस्थ-धर्म और मुनि-धर्म।

विवेचनिका—सम्यग्ज्ञान से धर्म-तत्त्व को ही जाना जाता है, अतः सम्यग्ज्ञान के पश्चात् प्रस्तुत सूत्र में धर्म का वर्णन किया गया है। धर्म के मुख्यतया दो भेद हैं—श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म। जो दुर्गति में गिरते हुए जीवों की रक्षा करता है, उन्हें पतन की ओर जाने से बचाता है और सुगति में स्थापित करता है उसे धर्म कहते हैं, कहा भी है—

दुर्गतौ प्रपततो जीवान् रुणद्धि, सुगतौ तान् धारयतीति धर्मः।

वह धर्म दो भागों में विभक्त है जिसे सूत्रकार ने स्वयमेव श्रुत और चारित्र के रूप में कथन किया है।

श्रुत धर्म—परमश्रद्धा और यथाविधि सविनय आगमों का अध्ययन-अध्यापन करते रहना, शब्द-विषयक एवं अर्थ-विषयक सन्देह होने पर ज्ञानी सद्गुरुओं से पूछते रहना, सन्देह की निवृत्ति जैसे भी हो सके वैसे करना, अध्ययन किए हुए आगमों की पुनः-पुनः आवृत्ति करते रहना जिससे धारणा दृढ हो सके और विस्मृति दोष की निवृत्ति होती रहे, धर्म-कथा करना, अनुप्रेक्षा—भूले हुए, शब्द एव अर्थ को याद करने के लिए उसमें पुनः-पुनः उपयोग लगाना, अथवा चिन्तन-पूर्वक पूर्वापर की संगति मिलाकर स्वाध्याय करना, चिन्तन के सागर में गहरे गोते लगाना और जिनवाणी को अन्तर्ज्ञान के रूप में परिणत करना अनुप्रेक्षा है। वह सम्यक् श्रुत दो भागों में विभक्त है—एक सूत्ररूप और दूसरा अर्थरूप। सूत्र गणधर कृत हैं और अर्थ जिनोक्त हैं, क्योंकि सूत्र से ही अर्थ ज्ञान होता है। सूत्र और अर्थ के विषय में वृत्तिकार के शब्द मननीय हैं यथा—

सूत्र्यन्ते—सूच्यन्ते वाऽर्था अनेनेति सूत्रम्, सुस्थिततत्वेन व्यापित्वेन च। सुष्ठूक्तत्वाद्वा सूक्तम्, सूप्तमिव सूप्तम्, अव्याख्यानेनाप्रबुद्धावस्थत्वादिति। भाष्यवचनं त्वेवं—

सिंचति खरेइ जमत्थं तम्हा सुत्त निरुत्त विहिणा वा।
सएइ सवइ सुव्वइ सिव्वइ सरएव जेणत्थं॥
अविवरियं सुत्तं पिवसुद्दिठय वावित्तओ सुवुत्तं ति।

जिसके द्वारा अर्थ सूचित किया जाए, जिसके द्वारा बिखरे हुए अर्थ रूपी मोतियों को

अच्छी तरह पिरोया जाए उसे सूत्र कहते हैं। जो भली प्रकार से कहा गया हो, उसे सूक्त कहते हैं। जिसमें अनन्त अर्थ सुशोभित एवं व्याप्त हैं उसे भी सूत्र कहा जाता है। जैसे कोई व्यक्ति गाढ़निद्रा में प्रसुप्त है उसके पास यदि कोई वार्तालाप करता है तो उसे कोई पता नहीं चलता, ठीक उसी प्रकार सूत्र भी जब तक उसकी व्याख्या न की जाए तब तक शिष्य की समझ में नहीं आता, इस प्रकार सूत्र को सुप्त भी कहते हैं। जिससे अर्थ झरता है, जिससे अर्थ सीया जाता है अथवा जिसके द्वारा अर्थ का स्मरण किया जाता है वह सूत्र कहलाता है।

अर्थ के विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—

अर्यतेऽधिगम्यते, अर्थ्यते वा याच्यते बुभुत्सुभिरित्यर्थो—व्याख्यानमिति, आह—'जो सुत्ताभिप्पाओ सो अत्थो अज्जए य जम्हत्ति।'

अर्थात् जो सूत्र का अभिप्राय है, वह अर्थ कहलाता है अथवा जिज्ञासुओं के द्वारा जो कुछ सूत्र से याचना की जाती है, उसे अर्थ कहते हैं। वह श्रुत भले ही सूत्र रूप में हो या अर्थ रूप में, दोनों ही आत्मविकास के मुख्य हेतु हैं। सूत्र का स्वाध्याय करना सूत्र-श्रुत-धर्म है। अर्थ का स्वाध्याय करना अर्थ-श्रुत-धर्म है। दोनों ही निर्जरा के हेतु हैं।

चारित्र-धर्म—जिसके द्वारा आत्मा संचित कर्मो से रिक्त हो जाए एवं जिससे अध्यात्म-साधना में प्रगति होती है—वह चारित्र है, कहा भी है—

चर्यते—आसेव्यते यत्नेन वा, चर्यते गम्यते मोक्ष इति चारित्रम्, मूलोत्तर-गुणकलापस्तदेव धर्मश्चारित्रधर्म इति।

अंशरूप से चारित्र की आराधना करना अगार-वृत्ति है। आमूलचूल अखण्ड चारित्र की आराधना करना अनगार-धर्म है। इनको क्रमशः गृहस्थ-धर्म और मुनि-धर्म भी कहते हैं।

सूक्ष्म-संपराय-सराग-संयम

मूल—दुविहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा—सराग-संजमे चेव, वीयरागसंजमे चेव। सरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सुहुमसंपरायसरागसंजमे चेव, बादरसंपरायसरागसंजमे चेव।

सुहुमसंपरायसरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—पढमसमयसुहुम-संपरायसरागसंजमे चेव, अपढमसमयसुहुमसंपरायसरागसंजमे चेव। अहवा चरिमसमयसुहुमसंपराय-सरागसंजमे चेव, अचरिमसमयसुहुमसंपराय-सरागसंजमे चेव। अहवा सुहुमसंपरायसरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—संकिलिस्समाणए चेव, विसुज्झमाणए चेव ॥३३॥

छाया—द्विविधः संयमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—सरागसंयमश्चैव, वीतरागसंयमश्चैव।

सराग-संयमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—सूक्ष्मसम्परायसरागसंयमश्चैव, बादर-संपरायसरागसंयमश्चैव। सूक्ष्मसंपरायसरागसंयमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रथमसमयसूक्ष्मसंपरायसरागसंयमश्चैव, अप्रथमसमयसूक्ष्मसंपरायसरागसंयमश्चैव। अथवा चरमसमयसूक्ष्मसंपरायसरागसंयमश्चैव, अचरमसमयसूक्ष्मसम्परायसराग-संयमश्चैव। अथवा सूक्ष्मसम्परायसरागसंयमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—संक्लिश्य-मानश्चैव, विशुध्यमानश्चैव।

शब्दार्थ—दुविहे संजमे पण्णत्ते तं जहा—संयम धर्म दो प्रकार का कथन किया गया है, जैसे कि, **सरागसंजमे चेव**—सराग संयम और, **वीयरागसंजमे चेव**—वीतराग संयम, **सरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—सराग-संयम दो प्रकार से वर्णित है, जैसे कि, **सुहुमसंपरायसरागसंजमे चेव**—सूक्ष्म-सम्पराय-सराग-संयम और, **बादरसम्पराय-सराग-संजमे चेव**—बादर-संपराय-सराग-संयम, **सुहुमसंपराय-सरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—सूक्ष्म-संपरायसराग-संयम दो प्रकार से वर्णित है, जैसे कि—**पढमसमय-सुहुमसंपराय-सरागसंजमे चेव**—प्रथमसमय-सूक्ष्म-सपराय सराग-संयम और, **अपढमसमयसुहुम-संपरायसरागसंजमे चेव**—अप्रथम-समयसूक्ष्म-संपराय-सराग-संयम, **अहवा**—अथवा, **चरिमसमयसुहुमसंपरायसराग संजमे चेव**—चरिमसमय-सूक्ष्मसंपराय- सरागसंयम और, **अचरिमसमय-सुहुमसंपराय-सरागसंजमे चेव**—अचरमसमयसूक्ष्म- संपरायसरागसंयम। **अहवा**—अथवा, **सुहुमसंपरायसराग-संजमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—सूक्ष्मसंपराय-सरागसंयम दो प्रकार से प्रतिपादित किया गया है, जैसे कि, **संकिलिस्समाणए चेव**—संक्लिश्यमान—उपशम-श्रेणी से नीचे गिरते हुए और, **विसुज्झमाणए चेव**—विशुध्यमान—श्रेणी में आरोहण करते हुए।

मूलार्थ—संयम के दो प्रकार हैं—सराग-संयम और वीतराग-संयम। सराग-संयम के दो प्रकार हैं—सूक्ष्म-सम्पराय-सराग-संयम और बादर-सम्पराय-सराग-संयम। सूक्ष्मसम्पराय-सराग-संयम के भी दो भेद कहे गए हैं, जैसे कि प्रथमसमय-सूक्ष्म-सम्पराय-सराग-संयम और अप्रथमसमय-सूक्ष्मसम्पराय सराग-संयम। अथवा जिसका निष्क्रमण काल समय मात्र रह गया है, और जिसके अभी निष्क्रमण में अनेक समय हैं। अथवा सूक्ष्म-सम्परायसंयम के भी दो भेद हैं, जैसे कि—उपशम-श्रेणि से गिरते हुए का संयम जो संक्लिश्यमान कहलाता है और उपशम-श्रेणि या क्षपक श्रेणि में आरूढ़ होते हुए का संयम विशुध्यमान संयम कहा जाता है।

विवेचनिका—चारित्र-धर्म को दूसरे शब्दों में संयम कहा जाता है। प्रस्तुत सूत्र में सराग-संयम और वीतराग संयम का स्वरूप बतलाया गया है। संयम मूलतः दो भागों में विभाजित है, जैसे कि—सराग-संयम और वीतराग-संयम। इनके भेदों का वर्णन करने की

अपेक्षा पहले संयम का स्वरूप प्रदर्शित करना आवश्यक है, क्योंकि किसी भी विषय का स्वरूप समझे बिना उसके भेदोपभेदों का समझना कठिन होता है।

सावद्य—पापसहित व्यापार से सर्वथा निवृत्त होना ही संयम है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, अशुभयोग इनको आश्रव कहते हैं, अथवा हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह इनको भी आश्रव कहते हैं। आश्रवों से सदा निवृत्ति पाना, पांचों इन्द्रियों को वश में रखना, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि चार कषायों पर विजय पाना, तथा मन, वचन और काय को वश में करना ही सयम है। धर्मोपकरणो को यतना से उठाना एवं रखना तथा उपयोग मे लाना भी सयम ही है।

सराग संयम और वीतराग संयम—

निज शरीर तथा सचेतन और अचेतन द्रव्यों पर यत्किंचिन्मोह ममत्व रखना सराग-संयम है। इसमें माया और लोभ का अंश औदयिक भाव के कारण से रहता है। इस कारण यह संयम अधिक विशुद्ध नही होने पाता। जब संयम सब प्रकार के दोषों से मुक्त, निर्दोष एवं विशुद्ध होता है तब वह संयम वीतराग-संयम कहलाता है। वीतराग-संयम ही सर्वोपरि सयम हैं।

सराग-संयम के दो भेद है—एक सूक्ष्म-सम्पराय-सराग-संयम और दूसरा बादर-संपराय सराग-सयम।

संपराय का अर्थ होता है कषाय। जिसमें थोडा सा ही लोभ का अंश रह जाता है और शेष सभी कषायों का उपशम या क्षय हो जाता है उसे सूक्ष्म-संपराय-सराग-संयम कहते है। इसमें लोभ कषाय के सूक्ष्म खण्डो का ही उदय रहता है। सूक्ष्म-संपराय-नामक दसवें गुणस्थान में जीव उपशमक और क्षपक दोनों तरह के होते हैं। संज्वलन कषाय के अतिरिक्त शेष सभी कषायों का उपशम या क्षय तो पहले से ही प्रारंभ हो जाता है। जब जीव सयम के इस स्तर पर पहुंच जाता है, तब संज्वलन लोभ का सर्वथा उपशम या क्षय कर देता है। उपशम करने वाला जीव उपशमक कहलाता है और क्षय करने वाला क्षपक। दसवा गुणस्थान सराग-संयम की चरम सीमा है।

सूक्ष्म संपराय सराग संयम में दो तरह के परिणाम होते हैं—वर्धमान और हीयमान, अवस्थित नही। उतने समय तक ज्ञानोपयोग ही होता है, दर्शनोपयोग नहीं। जब संयमी जीव नौवे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान में प्रवेश करता है तब उसका संयम विशुध्यमान होता है और वर्धमान परिणाम भी, किन्तु जब जीव ग्यारहवें गुणस्थान से दसवें गुणस्थान में आता है तब संयम के संक्लिश्यमान और हीयमान परिणाम होते हैं।

दसवें गुणस्थान में यदि प्रवेश किए हुए पहला ही समय हुआ है उसे प्रथम-समय-सूक्ष्मसम्पराय-सराग-सयम कहते हैं और जिसे प्रवेश किए हुए अनेक समय हो गए हैं उसे अप्रथम-समय सूक्ष्म-सम्पराय-सराग-सयम कहा जाता है।

अथवा—जिसका निष्क्रमण-काल समय मात्र रह गया है उसे चरमसमय-सूक्ष्म-सम्पराय-सराग-संयम कहा जाता है और जिसके निष्क्रमण में अनेक समय रहते हैं उसे अचरम-समय-सूक्ष्म-सम्पराय-सराग संयम कहा जाता है।

सूक्ष्म-संपराय-सराग-संयम का कालमान जघन्य अर्थात् कम से कम एक समय है, यह काल करने की अपेक्षा से समझना चाहिए। उत्कृष्ट कालमान अन्तर्मुहूर्त है, इससे अधिक नहीं। यदि वर्धमान परिणामी संयम है तो दसवें से ग्यारहवें या सीधे बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है, यदि हीयमान परिणामी है तो नौवें गुणस्थान में आ जाता है। इसी गुणस्थान में सूक्ष्म सम्पराय चारित्र पाया जाता है, अन्य किसी गुणस्थान में नहीं।

बादर-सम्पराय-सराग-संयम

मूल—बादर-संपराय-सराग-संजमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—पढम-समय-बादर-संपराय-सराग-संजमे चेव, अपढम-समय बादर-संपराय-सराग-संजमे चेव; अहवा चरिम-समय बादर-संपराय-सराग-संजमे चेव, अचरिमसमय बादर-संपराय-सराग-संजमे चेव; अहवा बादर-संपराय-सराग-संजमे दुविहे पण्णत्ते तं जहा—पडिवाई चेव, अपडिवाई चेव ॥ ३४॥

छाया—बादरसम्परायसरागसंयमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रथमसमयबादर-सम्परायसराग-संयमश्चैव, अप्रथमसमयबादरसम्पराय-सरागसंयमश्चैव; अथवा चरम-समयबादरसम्पराय-सरागसंयमश्चैव, अचरमसमयबादरसम्परायसराग-संयम-श्चैव। अथवा बादरसंपरायसरागसंयमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा-प्रतिपाती चैव अप्रति-पाती चैव।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—बादर-सम्पराय-संयम के दो भेद कथन किए गए हैं, जैसे कि प्रथम-समय-बादर-सम्पराय-सराग-संयम और अप्रथमसमय-बादर-सम्पराय सराग-संयम, अथवा चरमसमयबादर-सम्परायसरागसंयम और अचरमसमयबादरसम्परायसराग-संयम। अथवा बादरसंपरायसरागसंयम प्रकारान्तर से और भी दो भेदों वाला है, जैसे कि प्रतिपाती और अप्रतिपाती।

विवेचनिका—सूक्ष्म-सम्पराय-सराग संयम का वर्णन करने के अनन्तर सूत्रकार ने बादर-सम्पराय-सराग संयम का दिग्दर्शन कराया है। जिस संयम मे संज्वलन कषाय का उदय स्थूल रूप से हो वह बादर संपराय-सराग-संयम कहलाता है, क्योंकि संपराय का अर्थ जैन परिभाषा में कषाय माना गया है। गुणस्थानों में उत्थान-पतन कषाय के कारण ही होते हैं। जितनी कषाय की मात्रा न्यून होगी, उतना ही संयम विशुद्ध होगा। सूक्ष्म संपराय

की अपेक्षा से नौवें गुणस्थान में बादर कषाय है, उसकी अपेक्षा से आठवें में अधिक, उसकी अपेक्षा सातवें गुणस्थान में अधिक कषाय का उदय रहता है। उसकी अपेक्षा छठे गुणस्थान में अधिकतर अर्थात् पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर गुणस्थानो में कषाय के अंश बहुत कम होते जाते हैं। परिणामों की शुद्धि के साथ-साथ संयम की विशुद्धि भी बढ़ती जाती है।

छठे गुणस्थान से लेकर नौवें गुणस्थान तक बादर-संपराय-सराग-संयम होता है। सामायिक, छेदोपस्थापनीय और परिहार-विशुद्धि इन सबका अन्तर्भाव बादर-सम्पराय-सराग-संयम में हो जाता है। इसके मुख्यतया दो भेद हैं, प्रतिपाती और अप्रतिपाती।

जीवन के किसी भी क्षण में लुप्त होने वाला संयम तथा उपशम-श्रेणि में पाया जाने वाला संयम प्रतिपाती होता है, किन्तु जो संयम जीवन पर्यन्त रहने वाला है अथवा क्षपकश्रेणि में होने वाला संयम अप्रतिपाती कहलाता है। संयम के असंख्यात स्थान हैं। उनमें संयम की अनन्त पर्याय हैं। प्रथम समय और चरम समय ये दो भेद बादर-सम्पराय-सराग-संयम में प्रवेश और उस से निष्क्रमण की अपेक्षा से तथा अप्रथम-समय और अचरम-समय, ये दो भेद बादर-सम्पराय-सराग सयम में स्थिरता की अपेक्षा से जान लेने चाहिएं। छठे गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट देशोन करोड़ पूर्व की है। सातवें गुणस्थान से लेकर नौवें गुणस्थान पर्यन्त इन सब की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

वीतराग-संयम-वर्णन

मूल—वीयराग-संजमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—उवसंत-कसाय-वीयराग-संजमे चेव, खीणकसाय-वीयराग-संजमे चेव।

उवसंत-कसाय-वीयराग-संजमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—पढम-समय उवसंत-कसाय-वीयराग-संजमे चेव अपढमसमय-उवसंत-कसाय-वीयराग-संजमे चेव।

अहवा चरिम-समय-उवसंत-कसाय-वीयराग-संजमे चेव, अचरिम-समयउवसंत-कसाय-वीयराग संजमे चेव ॥ ३५॥

छाया—वीतरागसंयमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—उपशान्तकषायवीतरागसंयमश्चैव, क्षीणकषायवीतरागसंयमश्चैव।

उपशान्त-कषाय-वीतराग-संयमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रथम-समयोपशान्तकषाय-वीतराग-संयमश्चैव, अप्रथम-समयोपशान्त-कषायवीतराग-संयमश्चैव।

अथवा चरमसमयोपशान्तकषाय-वीतरागसंयमश्चैव, अचरम-समयोपशान्त-कषाय-वीतरागसंयमश्चैव।

(शब्दार्थ स्पष्ट है।)

मूलार्थ—वीतराग संयम के दो प्रकार हैं—एक उपशान्त-कषाय-वीतराग-संयम और दूसरा क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम। इन मे पहला भेद ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव में पाया जाता है और दूसरा भेद बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव में होता है। प्रथम समय और अप्रथम समय के समान वीतराग संयम से पूर्व चरम और अचरम समय जोड़ देने से इसके दो-दो भेद और बन जाते हैं।

विवेचनिका—इस सूत्र में वीतराग-संयम के भेदो का वर्णन किया गया है। इसके मूलतः दो भेद हैं, जैसे कि—उपशान्त-कषाय-वीतराग-संयम और क्षीण कषाय-वीतराग-संयम। जिस संयम में कषायों का वेदन प्रदेशोदय से भी नहीं होता, कषाय सर्वथा उपशान्त हो जाए उसे उपशान्त-कषाय-वीतराग-सयम कहते हैं और जिसमें कषायों का आत्यन्तिक क्षय हो जाता है, उसे क्षीण-कषाय-वीतराग-सयम कहा जाता है। इनका गुणस्थान क्रमशः ग्यारहवां और बारहवां है।

उपशान्त-कषाय-वीतराग-संयम—जिसे ग्यारहवें गुणस्थान में पहुचे एक ही समय हुआ है, उसे प्रथम-समय-उपशान्त-कषाय वीतराग सयम कहा जाता है और जिसे अनेक समय हो गए हैं उसे अप्रथम-समय-उपशान्त-कषाय वीतराग सयम कहते हैं। ग्यारहवें गुणस्थान में जिस संयम का कालमान एक समय रह गया है, उसे चरम-समय-उपशान्त-कषाय-वीतराग-सयम कहा जाता है और जिसकी स्थिति अभी अनेक समय की है, उसे अचरम-समय-उपशान्त-कषाय-वीतराग-सयम कहा जाता है। इसका कालमान अन्तर्मुहूर्त है। इस संयम मे यदि जीव काल कर जाए तो निश्चय ही अनुत्तर विमानों में देवत्व के रूप में जन्म लेता है। इस संयम से मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती और न आगे के गुणस्थानों का स्पर्श ही पाता है। वापिस ही लौटना पडता है। यदि दर्शन और चारित्र दोनों ही औपशमिक हों तब तो वह निश्चय ही पहले गुणस्थान में आता है, यदि क्षायिक सम्यक्त्व-सहित उपशम-श्रेणि का आरोहण किया जाता है, तो वह अधिक से अधिक चौथे गुणस्थान तक आ सकता है।

उपशान्त-कषाय-वीतराग-संयम वाला जीव उपशम-श्रेणि एक भव में दो बार ही कर सकता है, अधिक नहीं। फिर वह जीव उस भव मे क्षपक-श्रेणि नहीं कर सकता। चरमशरीरी जीव कभी भी उपशम श्रेणि आरोहण नहीं करता, वह जब भी आरोहण करेगा तब क्षपक श्रेणि ही करेगा। अनेक भवों की अपेक्षा एक जीव उपशम-श्रेणि चार बार ही कर सकता है, अधिक नहीं। वह पांच चारित्रों में यथाख्यात चारित्री होता है, जहां यथाख्यात चारित्र है वहां निश्चय ही वीतरागता पाई जाती है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में वीतराग-संयम का भेदोपभेदों सहित सामान्य वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम

मूल—खीणकसाय-वीयराग-संजमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—छउमत्थ-खीणकसायवीयराग-संजमे चेव, केवलिखीण-कसाय-वीयराग-संजमे चेव। छउमत्थखीण-कसाय-वीयराग-संजमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सयंबुद्ध-छउमत्थखीण-कसाय-वीयराग-संजमे चेव, बुद्धबोहिय-छउमत्थ-खीण-कसायवीयराग-संजमे चेव। सयंबुद्ध-छउमत्थ-खीण-कसाय-वीयराग-संजमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—पढम-समय-सयंबुद्ध-छउमत्थ-खीण-कसाय-वीयराग संजमे चेव, अपढम-समय-संयबुद्ध-छउमत्थ-कसाय-वीयराग संजमे चेव।

अहवा—चरिम-समय-सयंबुद्ध-छउमत्थ-खीणकसाय-वीयराग-संजमे चेव, अचरिम-समय-सयंबुद्ध-छउमत्थ-खीण-कसाय-वीयराग-संजमे चेव ॥ ३६॥

छाया—क्षीण-कषाय-वीतराग-संयमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—छद्मस्थ-क्षीण-कषाय-वीतराग संयमश्चैव, केवलि-क्षीण-कषाय-वीतराग संयमश्चैव। छद्मस्थ-क्षीण-कषायवीतराग-संयमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा-स्वयंबुद्ध- छद्मस्थ-क्षीण-कषाय-वीतराग-संयमश्चैव, बुद्धबोधित-छद्मस्थ-क्षीणकषायवीतरागसंयम-श्चैव। स्वयंबुद्ध-छद्मस्थक्षीणकषायवीतराग-संयमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रथमसमय-स्वयंबुद्धछद्मस्थ-क्षीणकषायवीतरागसंयमश्चैव, अप्रथमसमयस्वयंबुद्ध-छद्मस्थक्षीणकषायवीतरागसंयमश्चैव।

अथवा—चरिमसमयस्वयंबुद्ध-छद्मस्थक्षीणकषायवीतरागसंयमश्चैव, अचरिम-समयस्वयंबुद्ध-छद्मस्थ-क्षीणकषायवीतराग-संयमश्चैव।

(शब्दार्थ स्पष्ट है।)

मूलार्थ—क्षीण कषाय वीतराग संयम दो प्रकार का वर्णित किया गया है, जैसे-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग-संयम और केवलिक्षीणकषाय-वीतराग-संयम, छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग-संयम भी दो प्रकार का कहा गया है, यथा स्वयं-बुद्ध-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग-संयम और बुद्धबोधित-छद्मस्थक्षीणकषाय-वीतराग-संयम। स्वयंबुद्ध-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग-संयम भी दो प्रकार का कथन किया गया है, जैसे—प्रथमसमय-स्वयंबुद्ध-छद्मस्थ क्षीणकषाय-वीतराग-संयम और अप्रथम-समय-स्वयंबुद्ध-छद्मस्थ-क्षीणकषाय वीतराग-संयम।

अथवा—चरमसमय-स्वयंबुद्ध-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग-संयम और अचरम-समय-स्वयंबुद्ध-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग-संयम।

विवेचनिका—इस सूत्र में क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम के दो प्रकार बताए गए हैं—छद्मस्थ-क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम और केवलि-क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम। क्षीण-कषाय-वीतराग संयम बारहवें गुणस्थान में पाया जाता है, उसके स्वामी दो प्रकार के होते हैं—स्वयंबुद्ध और बुद्धबोधित।

अन्य किसी बाह्य निमित्त के बिना ही अथवा किसी के उपदेश-प्रवचन सुने बिना ही या जातिस्मरण या अवधिज्ञान के द्वारा स्वय विषयों और कषायों से तथा आरंभ-परिग्रह से विरक्त होने वाला साधक स्वयंबुद्ध कहलाता है और किसी आचार्य आदि द्वारा उपदेश-प्रवचन श्रवण करके जो आरंभ-परिग्रह से विरक्त हुए हैं, जिन्होंने गृहस्थ धर्म से ऊपर उठकर सयम-मार्ग अपनाया है, उन्हें बुद्धबोधित कहते हैं। द्विस्थान के अनुरोध से 'प्रत्येक-बुद्ध' का अन्तर्भाव स्वयंबुद्ध में हो जाता है। उक्त दोनो प्रकार के संयमी क्षपक श्रेणि में आरोहण कर सकते हैं। जब वे कषायों का सर्वथा क्षय कर के बारहवे गुणस्थान में पहुँचते हैं तब उनमें छद्मस्थ-क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम होता है। छद्मस्थ का अर्थ होता है—जिसके घनघाति कर्म कुछ शेष हैं अर्थात् केवलज्ञान-बाधक कर्म जिसके कुछ शेष हैं उसे छद्मस्थ कहते हैं। छद्मस्थ का अन्तिम गन्तव्य स्थान बारहवां गुणस्थान है। इस सूत्र में यह सिद्ध किया गया है कि क्षीण-कषाय-वीतराग-सयम छद्मस्थ में भी पाया जाता है और केवली मे भी। बारहवे गुणस्थान से वीतराग सयमी लौटकर नही आता, अपितु घनघाति कर्मों का क्षय करके तेरहवे गुणस्थान में पहुँच जाता है। छद्मस्थ-क्षीण-कषाय वीतराग संयम में कोई भी जीव काल नहीं करता और उसमें सयम के परिणाम वर्द्धमान होते हैं और अवस्थित भी, किन्तु हीयमान परिणाम कभी नही होते। इसकी स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त की होती है। यह शुद्ध संयम जीव को एक बार ही प्राप्त होता है। वहा पर भी एक यथाख्यात चारित्र ही होता है।

जिस संयम को पहला ही समय हुआ है वह प्रथमसमयछद्मस्थक्षीण-कषाय-वीतराग संयम है और जिसे अनेक समय हो गए हैं वह अप्रथमसमयछद्मस्थक्षीण-कषायवीतरागसंयम है। अथवा जो उस समय के अंतिम भाग में पहुंच गया है उसे चरम-समय-छद्मस्थ-क्षीण कषाय-वीतराग संयम कहते हैं और जिसे अन्तिम भाग में पहुँचने के लिए कुछ क्षण शेष हैं, उसे अचरम-समय-छद्मस्थ-क्षीण कषाय-वीतराग संयम कहते हैं। क्षपक-श्रेणि से जीव आत्म-विकास की पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है, अतः क्षपक-श्रेणि पर आरूढ होकर आत्म-विकास के लिए प्रयत्नशील होना ही संयम का प्रधानतम लक्ष्य है।

बुद्धबोधित-छद्मस्थक्षीणकषायवीतराग-संयम

मूल—बुद्धबोहिय-छउमत्थ-खीणकसाय-वीयरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—पढमसमय-बुद्धबोहिय-छउमत्थखीणकसाय-वीयराग संजमे चेव, अपढमसमय-बुद्धबोहिय-छउमत्थखीणकसायवीयरागसंजमे चेव।

अहवा—चरिमसमय-बुद्धबोहिय-छउमत्थ-खीणकसाय-वीयराग-संजमे चेव, अचरिम-समयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसाय-वीयराग संजमे चेव॥३७॥

छाया—बुद्धबोधितछद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतरागसंयमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रथमसमयबुद्धबोधित-छद्मस्थ—क्षीणकषाय-वीतरागसंयमश्चैव, अप्रथमसमयबुद्ध-बोधित-छद्मस्थक्षीणकषायसंयमश्चैव।

अथवा—चरिमसमय-बुद्धबोधित-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतराग-संयमश्चैव, अचरिमसमय-बुद्धबोधित-छद्मस्थ-क्षीणकषाय-वीतरागसंयमश्चैव।

(शब्दार्थ स्पष्ट है।)

मूलार्थ—बुद्ध-बोधित-छद्मस्थ-क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम भी दो प्रकार का कहा गया है, जैसे—प्रथम-समय-बुद्धबोधित-छद्मस्थ-क्षीणकषायवीतरागसंयम और अप्रथमसमय-बुद्धबोधित-क्षीणकषायवीतरागसंयम।

अथवा—चरिमसमयबुद्धबोधित—छद्मस्थ-क्षीणकषायवीतराग-संयम और अचरिम-समय-बुद्धबोधितक्षीणकषायवीतराग-संयम।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र में बुद्ध-बोधित-छद्मस्थ-क्षीण-कषाय वीतराग-संयम का वर्णन किया गया है। संयम सराग भी होता है, अतः उसकी निवृत्ति के लिए संयम के साथ वीतराग पद जोडा गया है। वीतराग उपशान्त मोहनीय गुणस्थान में भी होता है, अतः उसकी निवृत्ति के लिए सूत्रकार ने वीतराग-संयम के साथ 'क्षीण कषाय' पद को सयुक्त किया है। 'क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम' केवलज्ञानी मे भी होता है, अतः सूत्रकार ने क्षीण-कषाय-वीतराग-सयम के साथ 'छद्मस्थ' पद का निवेश किया है। 'छद्मस्थ क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम' स्वयंबुद्ध में भी पाया जाता है, अतः इस पद के साथ 'बुद्ध-बोधित' पद का निवेश कर दिया है।

इस प्रकार संयमी साधक का सूत्रकार ने द्वितीय स्थान के अनुरोध से दो-दो करके चार भेदों के रूप में वर्णन किया है। जैसे—एक वह है, जिसे बारहवें गुणस्थान में प्रवेश किए हुए अभी पहला ही समय हुआ है, उसे ही 'प्रथमसमय-बुद्धबोधित-छद्मस्थ-क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम' कहा गया है और दूसरा वह है, जिसे उस गुण-स्थान में प्रवेश किए अनेक

समय हो गए हैं, उसे अप्रथमसमय-बुद्धबोधित-छद्मस्थ-क्षीण-कषाय- वीतराग-संयम की संज्ञा दी गई है।

अथवा एक वह है, जिसे क्षीण-मोह गुणस्थान का अन्तिम समय रह गया है, इसे ही चरिमबुद्धबोधित-छद्मस्थ-क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम बताया गया है और दूसरा वह है, जिसे उस गुणस्थान में पहुँचने के लिए अनेक समय शेष रह गए हैं, इसे ही 'छद्मस्थ-क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम' कथन किया गया है।

सामायिक आदि पांच चारित्रों का अन्तर्भाव संयम में हो जाता है। उपशान्त मोह-गुणस्थान की अपेक्षा क्षीण-मोह गुणस्थान का संयम विशेष महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि वह सयम अप्रतिपाती होता है।

केवली-क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम

मूल—केवलिखीण-कसाय-वीयराग-संजमे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—सजोगि-केवलिखीणकसाय-वीयरागसंजमे चेव, अजोगिकेवलिखीण-कसाय-वीयरागसंजमे चेव।

सजोगि-केवलि-खीणकसाय-वीयरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—पढमसमय-सजोगिकेवलिखीणकसाय-वीयराग-संजमे चेव, अपढमसमय-सजोगिकेवलिखीणकसाय-वीयराग-संजमे चेव। अहवा चरमसमय-सजोगिकेवलिखीणकसायवीयराग-संजमे चेव, अचरमसमय-सजोगि-केवलि-खीणकसाय-वीयरागसंजमे चेव।

अजोगिकेवलि-खीणकसायवीयरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—पढमसमयअजोगिकेवलिखीण-कसायवीयरागसंजमे चेव, अपढमसमय-अजोगिकेवलिखीणकसायवीयरागसंजमे चेव। अहवा चरमसमयअजोगि-केवलिखीणकसायवीयरागसंजमे चेव, अचरमसमयअजोगिखीणकसाय-वीयरागसंजमे चेव॥३८॥

छाया—केवलि-क्षीणकषाय-वीतरागसंयमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—सयोगि-केवलि-क्षीण-कषाय-वीतराग-संयमश्चैव, अयोगिकेवलिक्षीणकषाय-वीतराग संयमश्चैव। सयोगिकेवलि-क्षीणकषाय-वीतरागसंयमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रथमसमय-सयोगिकेवलि-क्षीणकषाय-वीतरागसंयमश्चैव, अप्रथमसमयसयोगि-केवलि-क्षीणकषायवीतरागसंयमश्चैव।

अथवा—चरमसमय-सयोगिकेवलि-क्षीणकषाय-वीतरागसंयमश्चैव, अचरम-

समयसयोगि-केवलि-क्षीणकषाय-वीतरागसंयमश्चैव।

अयोगिकेवलि-क्षीणकषायवीतरागसंयमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रथमसमय-अयोगि-केवलि-क्षीणकषाय-वीतराग-संयमश्चैव। अप्रथम-समय-अयोगिकेवलि-क्षीणकषाय-वीतरागसंयमश्चैव।

अथवा—चरिमसमय-अयोगिकेवलि-क्षीणकषाय-वीतराग-संयमश्चैव, अचरि-मसमयअयोगिकेवलि-क्षीणकषाय-वीतरागसंयमश्चैव।

(शब्दार्थ स्पष्ट है।)

मूलार्थ—केवली क्षीणकषाय वीतराग संयम के दो प्रकार हैं—सयोगी-केवली-क्षीणकषाय-वीतराग-संयम और अयोगीकेवलि-क्षीणकषाय-वीतरागसंयम।

इन दो में से सयोगी-केवलीक्षीणकषायवीतरागसंयम के दो-दो भेद कथन किए गए हैं, जैसे कि—प्रथमसमय-अप्रथमसमय अथवा चरम-समय और अचरम-समय। इसी प्रकार अयोगीकेवली के विषय में भी दो-दो भेद समझ लेने चाहिएं।

विवेचनिका—इस सूत्र में केवली-क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम के दो भेदों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है—एक सयोगी-केवली-क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम और दूसरा अयोगी-केवली-क्षीण-कषाय-वीतराग सयम। इसमें सयोगी केवली शब्द विशेष मननीय है। योग का अर्थ है आत्मा की प्रवृत्ति या व्यापार, वह प्रवृत्ति तीन तरह से कार्यान्वित होती है—मन से, वाणी से और काया से। जब मन:पर्यवज्ञानी या विशिष्ट अवधिज्ञानी दूर रहते हुए केवली भगवान् से प्रश्न करते हैं तब वह वाणी से नहीं मन से उत्तर देते हैं। उस समय मनोयोग प्रवृत्त होता है अन्यथा नही। उपदेश देते समय वचनयोग का उपयोग करते है। जब हलन-चलन गमनागमन आदि क्रिया करते हैं तब काययोग का उपयोग होता है। जिसका एक योग या दो योग अथवा तीन योग प्रवृत्त हों उसे सयोगी केवली कहते हैं। केवली का अर्थ है केवलज्ञानोपेत आत्मा जो केवलज्ञानी सयोगी है, उसमें जो संयम पाया जाता है उसे सयोगीकेवली-क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम कहते हैं। तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करते ही पहले समय मे ही केवलज्ञान हो जाता है। इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट देशोन करोड़ पूर्व की है। इसमें कोई भी जीव काल नहीं करता। सभी केवलज्ञानी सयोगी अवस्था के अन्त में एक ऐसे ध्यान के लिए योगों का निरोध करते हैं, जो कि परम निर्जरा का कारण होता है।

केवली-क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम का दूसरा भेद अयोगी-केवली-क्षीण-कषाय-वीतराग-संयम है। यह संयम चौदहवें गुणस्थान में होता है। इस गुणस्थान में संवर या चारित्र की परिपूर्णता हो जाती है। उसमें योगों का सर्वथा निरोध हो जाता है, इसलिए उसे अयोगी-केवली कहते हैं और जब वे सूक्ष्म क्रियानिवृत्ति शुक्ल ध्यान के बल से अपने शरीर के

भीतर पोले भाग को अर्थात् मुख, उदर आदि को आत्मप्रदेशों से परिव्याप्त कर देते हैं, तब वे अयोगी केवली समुच्छिन्न क्रियाऽप्रतिपाती शुक्ल ध्यान में प्रवेश करते हैं। वहां अ इ उ ऋ लृ, इन पांचों ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय का शैलेशीकरण होता है। शैलेशीकरण दशा में वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र, इन चार भवोपग्रही कर्मों का सर्वथा क्षपण हो जाता है। संयम की आवश्यकता वहीं तक रहती है, जब तक कर्म सर्वथा क्षय न हो जाएं। कर्मों से निर्लिप्त होने पर कर्मों का बन्ध ही नहीं होता, फिर उसे क्षय करने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। साधना का अन्तिम स्तर चौदहवां गुणस्थान है। उसके अन्तिम भाग में कोई कर्म आत्मा में शेष नहीं रह जाता। कर्मों से निर्लिप्त होकर आत्मा सिद्धत्व प्राप्त करता है। अरिहंत और सिद्ध-पद को जैन-दर्शन परमात्मा मानता है।

स्थावर एवं द्रव्य वर्णन

मूल—दुविहा पुढविकाइया पण्णत्ता, तं जहा—सुहुमा चेव, बायरा चेव। एवं जाव दुविहा वणस्सइकाइया पण्णत्ता, तं जहा—सुहुमा चेव, बायरा चेव।

दुविहा पुढविकाइया पण्णत्ता, तं जहा—पज्जत्तगा चेव, अपज्जत्तगा चेव। एवं जाव वणस्सइकाइया।

दुविहा पुढविकाइया पण्णत्ता, तं जहा—परिणया चेव, अपरिणया चेव। एवं जाव वणस्सइकाइया।

दुविहा दव्वा पण्णत्ता, तं जहा—परिणया चेव, अपरिणया चेव।

दुविहा पुढविकाइया पण्णत्ता, तं जहा—गइसमावण्णगा चेव, अगइसमावण्णगा चेव। एवं जाव वणस्सइकाइया।

दुविहा दव्वा पण्णत्ता, तं जहा—गइसमावण्णगा चेव, अगइ-समावण्णगा चेव।

दुविहा पुढविकाइया पण्णत्ता, तं जहा—अणंतरोगाढा चेव, परंपरोगाढा चेव ॥३९॥

छाया—द्विविधाः पृथ्वीकायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सूक्ष्माश्चैव बादराश्चैव। एवं यावद् द्विविधाः वनस्पतिकायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सूक्ष्माश्चैव, बादराश्चैव। द्विविधाः पृथ्वीकायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पर्याप्ताश्चैव, अपर्याप्ताश्चैव। एवं यावद् वनस्पति-कायिकाः।

द्विविधाः पृथ्वीकायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—परिणताश्चैव, अपरिणताश्चैव। एवं

यावद् वनस्पतिकायिकाः।

द्विविधानि द्रव्याणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—परिणतानि चैव, अपरिणतानि चैव।

द्विविधाः पृथ्वीकायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—गतिसमापन्नकाश्चैव; अगतिसमापन्नकाश्चैव। एवं यावद् वनस्पतिकायिकाः।

द्विविधानि द्रव्याणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—गतिसमापन्नकानि चैव, अगतिसमापन्नकानि चैव।

द्विविधाः पृथ्वीकायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अनन्तरावगाढाश्चैव, परम्परावगाढाश्चैव। एवं यावद् द्रव्याणि।

शब्दार्थ—**दुविहा**—दो प्रकार से, **पुढविकाइया पण्णत्ता**—पृथ्वीकायिक जीवों का वर्णन किया गया है, **तं जहा**—जैसे कि, **सुहुमा चेव**—सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव और, **बायरा चेव**—बादर पृथ्वीकायिक जीव। **एवं जाव दुविहा वणस्सइकाइया पण्णत्ता, तं जहा**—इसी प्रकार यावत् वनस्पति जीवों के भी दो भेद कथन किए गए हैं, जैसे कि, **सुहुमा चेव, बायरा चेव**—सूक्ष्म वनस्पति कायिक जीव और बादर वनस्पति कायिक जीव। **दुविहा पुढविकाइया पण्णत्ता, तं जहा**—दो प्रकार से पृथ्वीकायिक जीव प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे कि, **पज्जत्तगा चेव**—पर्याप्त और, **अपज्जत्तगा चेव**—अपर्याप्त, **एवं जाव वणस्सइकाइया**—इसी प्रकार वनस्पति कायिक जीवों के भेद होते हैं। पुनः, **दुविहा पुढविकाइया पण्णत्ता, तं जहा**—पृथ्वीकायिक जीव दो प्रकार से कथन किए गए हैं जैसे कि, **परिणाया चेव**—स्वकाय-परकाय शस्त्र से परिणत और, **अपरिणाया चेव**—जो शस्त्र आदि से परिणत नहीं हुए हैं, **एवं जाव वणस्सइकाइया**—इस प्रकार अप्काय यावत् वनस्पतिकाय के विषय में जानना चाहिए। **दुविहा दव्वा पण्णत्ता, तं जहा**—पुद्गल द्रव्य दो प्रकार से कथन किया गया है, जैसे कि, **परिणया चेव, अपरिणया चेव**—जो वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की अपेक्षा अन्य वर्णादि पर्याय में परिणत हो गया है और दूसरा वह जो अभी परिणत नहीं हुआ है। **दुविहा पुढविकाइया पण्णत्ता, तं जहा**—पृथ्वीकायिक जीव दो तरह के प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे कि, **गइसमावण्णगा चेव, अगइसमावण्णगा चेव**—जो पृथ्वीकायिक जीव विग्रह गति को प्राप्त हैं, उन्हें गतिसमापन्नक और जो स्थिति वाले हैं, उन्हें अगतिसमापन्नक कहा गया है। **एवं जाव वणस्सइकाइया**—इसी प्रकार वनस्पति पर्यन्त जीवों के विषय में जानना चाहिए। **दुविहा दव्वा पण्णत्ता, तं जहा**—द्रव्य भी दो प्रकार से कथित हैं, जैसे कि, **गइसमावण्णगा चेव**—गतिसमापन्नक और, **अगइसमावण्णगा चेव**—स्थिति-युक्त। **दुविहा पुढविकाइया पण्णत्ता, तं जहा**—दो प्रकार से पृथ्वीकायिक जीव कथन किए गए हैं, जैसे कि, **अणन्तरोगाढा चेव**—जो उत्पत्ति स्थान में लगते-लगते आकाश प्रदेशों पर ठहरे हुए हैं, वे अनन्तरावगाढ और, **परंपरोगाढा**

चेव—जो उत्पत्ति-स्थान में आकाश प्रदेशों मे अंतर पाकर ठहरे हुए हैं, वे परंपरावगाढ पृथ्वीकायिक जीव कहलाते हैं, **जाव दव्वा**—इसी प्रकार द्रव्य को भी अवगाढ आदि के विषय में जान लेना चाहिए।

मूलार्थ—पांच स्थावरों के सूक्ष्म और बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, परिणत और अपरिणत, गतिप्राप्त और स्थिति-प्राप्त, अनन्तरावगाढ और परंपरावगाढ इस प्रकार दो-दो भेद प्रदर्शित किए गए हैं। तथा द्रव्य के विषय में परिणत और अपरिणत, गतिप्राप्त और स्थिति-प्राप्त, अनन्तरावगाढ और परपरावगाढ़ इस प्रकार दो-दो भेद कथन किए गए हैं।

विवेचनिका—संयम के उत्कर्ष से सिद्धत्व और असयम के उत्कर्ष से स्थावरत्व प्राप्त किया जाता है, अत: इस सूत्र में स्थावर जीवो का वर्णन किया गया है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय इन्हें स्थावर कहते हैं। उक्त पांच स्थावर दो-दो भागों में विभाजित हैं।

सूक्ष्म और बादर—

सूक्ष्म नाम कर्मोदय से पांच सूक्ष्म स्थावर कहलाते हैं, उनका शरीर इतना सूक्ष्म होता है जो कि चर्म-चक्षुओं के द्वारा दृष्टिगोचर नहीं हो सकता, भले ही अणुवीक्षण यंत्र से क्यों न देखा जाए, फिर भी वे चक्षु का विषय नहीं बन पाते । वे जीव किसी के मारे से नहीं मरते, किसी भी शस्त्र का उन पर आघात नही पहुँचता, वे अपनी आयु समाप्त होने पर ही मरते हैं। वे सब लोक में परिव्याप्त हैं।

बादर स्थावर उन्हें कहते हैं जिनका शरीर समूह रूप से चर्म-चक्षुओं द्वारा दृष्टिगोचर होता है और उन पर शस्त्र आदि का आघात भी हो जाता है।

पर्याप्त और अपर्याप्त—

पांच स्थावर जीव पर्याप्त और अपर्याप्त, इस प्रकार भी दो भागो में विभाजित हो जाते हैं। जब पर्याप्त नाम कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करता है, तब वह पर्याप्त कहलाता है और जब अपर्याप्ति नामकर्म के उदय से स्वयोग्य पर्याप्तियों को परिपूर्ण नहीं करता, तब वह अपर्याप्त जीव कहलाता है, पर्याप्तिया छ: प्रकार की होती हैं, जैसे कि—

१. **आहार-पर्याप्ति**—आहार योग्य बाह्य पुद्‌गलों को जिस शक्ति से जीव ग्रहण करता है और ग्रहण करके उसे खल और रस रूप में बदलता है, वह आहार पर्याप्ति कहलाती है।

२. **शरीर-पर्याप्ति**—जीव जिस शक्ति से परिणमन किए हुए आहार को सात धातुओं और उपधातुओं में बदलता है, उसे शरीर-पर्याप्ति कहते हैं।

३. इन्द्रिय-पर्याप्ति—जिसके द्वारा शरीर सात धातुओं में परिणत आहार को इन्द्रियों के रूप में परिवर्तित करता है अथवा पांच इन्द्रियो के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके अनाभोग-निवर्तित अपनी शक्ति के द्वारा उन्हें इन्द्रिय रूप में लाने की विशेष शक्ति को इन्द्रिय-पर्याप्ति कहते हैं।

४. श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति—जिस शक्ति द्वारा जीव श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके सांस लेता है, उसे श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं। उसे ही दूसरे शब्दों में आनप्राण-पर्याप्ति भी कहा जाता है।

५. भाषा पर्याप्ति—जीव जिस शक्ति से भाषा योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें भाषा के रूप में परिणमन करता है और छोड़ता है, वह भाषा-पर्याप्ति कहलाती है।

६. मनः पर्याप्ति—जीव जिस शक्ति के द्वारा मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें मन के रूप में परिणमन करता है और उनका आलंबन लेकर छोड़ता है, वह मनः-पर्याप्ति कहलाती है।

स्थावर जीव अधिक से अधिक चार पर्याप्तियां पूर्ण करके ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। कारण यह है कि पर्याप्त शक्ति या सामर्थ्य विशेष का नाम है, वह पुद्गल द्रव्य के उपचय से उत्पन्न होती है। विकलेन्द्रिय जीवों में पांच पर्याप्तियां पाई जाती हैं और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में छः पर्याप्तियां होती हैं। जिन स्थावरों में जितनी पर्याप्तियां होनी चाहिएं, यदि वे उनमें पूर्ण रूप से हैं, तो वे पर्याप्त-स्थावर जीव कहलाते हैं और जिनमें कुछ अधूरी पर्याप्तियां होती हैं, वे अपर्याप्त स्थावर-जीव कहलाते हैं। कहा भी है—

आहार सरीरिंदिय पज्जत्ती, आणपाण भास मणे।
चत्तारि पंच छप्पिय, एगिंदिय विगल सन्नीणं ॥

पर्याप्ति नाम-कर्म के उदय से जीव पर्याप्त और अपर्याप्ति नाम-कर्म के उदय से जीव अपर्याप्त कहलाते हैं। जिन जीवों ने अपर्याप्त अवस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाना है, वे लब्धि-अपर्याप्त कहलाते हैं और जो निश्चय ही पर्याप्त होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं, उन्हें करण-अपर्याप्त कहा जाता है। उत्पत्ति-स्थान में पहुंच कर जीव कार्मण शरीर के द्वारा बाह्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और उन पुद्गलों के द्वारा यथायोग्य पर्याप्तियों को ग्रहण करना प्रारंभ करता है। उत्पत्ति-स्थान को प्राप्त करने के अनन्तर एक सौ छिहत्तर आवलिकाओं से उनकी आहार-पर्याप्ति पूर्ण होती है। शरीर-पर्याप्ति दो सौ आठ आवलिकाओं के अनन्तर पूर्ण होती है। इन्द्रिय-पर्याप्ति में बत्तीस, शेष पर्याप्तियों के पूर्ण होने में क्रमशः बत्तीस-बत्तीस आवलिकाएं लगती हैं। श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनःपर्याप्ति में उन पुद्गलों का अवलंबन लेकर जो शास्त्रकारों ने छोड़ना लिखा है, इसका भाव यह है कि इन्हें छोड़ने में शक्ति की आवश्यकता रहती है। जैसे किसी वस्तु को जितने जोर से हम पकड़ते हैं, उतने जोर से उसे फैंकने में सफल होते हैं। उस वस्तु को फैंकने से शक्ति प्राप्त होती है। जो

स्थावर जीव पहली चार पर्याप्तियों से पर्याप्त होता है, उसे पर्याप्त कहते हैं, किन्तु जो तीन पर्याप्तियां कर चुके हैं और चौथी पर्याप्ति अभी पूरी नहीं हुई, इतने में ही काल कर जाते हैं, उन्हें अपर्याप्त कहते हैं।

परिणत और अपरिणत

जो पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावर स्वकाय से या परकाय से अचित्त हो गए हैं, उन्हें परिणत कहते हैं और जो अचित्त नहीं हुए, उन्हें अपरिणत कहा जाता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति, इनकी अनुकूलता से ही जीव सुखी और जीवित है तथा प्रतिकूलता से दुःखी और मरण को प्राप्त होता है। इसी कारण पृथ्वी-कायिक जीवों का जीवन पृथ्वीकाय के सहारे से भी चलता है और अन्य स्थावरों के सहयोग से भी। इसी प्रकार यदि पृथ्वीकाय के जीवों के लिए पृथ्वीकाय रूप शस्त्र घातक है तो शेष स्थावर भी उसके लिए घातक हो सकते हैं। अथवा जिस स्थावर का वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अन्य अवस्था में परिणमन हो जाता है, उसे परिणत कहते हैं, जो अभी पहली अवस्था में ही है, वह अपरिणत कहलाता है। अथवा जिस पृथ्वीकाय के द्वारा किए हुए आहार का परिणमन हो गया है, वह परिणत है और जिसका परिणमन नहीं हुआ है, वह अपरिणत कहलाता है। सारांश यह है कि जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य जब अपने विवक्षित परिणाम को छोड़कर परिणामान्तर को प्राप्त होता है, तब उसे परिणत और जो परिणामान्तर को प्राप्त नहीं हुआ है, उसे अपरिणत कहते हैं।

द्रव्य, वह है जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये युक्त हो। इनमें ध्रौव्य शाश्वत है और उत्पाद और व्यय अशाश्वत हैं। पहली पर्याय को छोड़ना व्यय कहलाता है और उत्तर पर्याय को धारण करना उत्पाद है। दही का उत्पाद हुआ और दूध का व्यय, इस प्रकार प्रयोग से भी पर्याय परिवर्तित होती रहती है और विश्रसा से भी, अर्थात् स्वतः भी, जैसे कि कहा भी है।

द्रवन्ति-गच्छन्ति, विचित्रपर्यायानिति द्रव्याणि, जीवपुद्गलरूपाणि, तानि च विवक्षितपरिणामत्यागेन परिणामान्तरापन्नानि, परिणतानि विवक्षितपरिणामवन्त्येव-अपरिणतानीति।

गतिसमापन्नक और अगतिसमापन्नक

पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावर गति-प्राप्त और अगति—स्थिति-प्राप्त दोनों तरह के होते हैं। जब पहली आयु समाप्त होती है और नई आयु के पहले समय में अन्य देह को धारण करने के लिए आत्मा जाती है, तब उसे गति समापन्नक कहते हैं। जब तक आयु की स्थिति रहती है, तब तक वह अगति-समापन्नक कहलाते हैं। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य के विषय में भी समझना चाहिए, वह भी गति-प्राप्त और अगति-प्राप्त, दोनों तरह का होता है।

अनन्तरावगाढ और परम्परावगाढ

पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावर जीवों को यदि विवक्षित आकाशादि प्रदेशों पर अवगाहित हुए कुल एक ही समय हुआ है, तो उन्हें अनन्तरावगाढ कहते हैं और जिन्हें अनेक समय हो गए हैं, उन्हें परंपरावगाढ़ कहा जाता है। अथवा जिन द्रव्यों की आकाश प्रदेशों पर परम्परा बद्ध-स्थिति होती है, उन्हें अनन्तरावगाढ कहते हैं, जो बीच-बीच में अन्तर पाकर अवगाढ़ अर्थात् स्थित हैं, उन्हे परम्परावगाढ कहते हैं। जैसे कि वृत्तिकार लिखते हैं—

विवक्षितं क्षेत्रं द्रव्यं वाऽपेक्ष्यानन्तरम्-अव्यवधानेनावगाढा अनन्तरावगाढाः, इतरे तु परम्परावगाढा इति।

इस प्रकार स्थावर जीवों का तथा द्रव्यों का विवेचन एवं भेद-प्रभेदों का उल्लेख प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।

काल-आकाश वर्णन

मूल—दुविहे काले पण्णत्ते, तं जहा—ओसप्पिणी काले चेव, उस्सप्पिणी काले चेव। दुविहे आगासे पण्णत्ते, तं जहा—लोगागासे चेव, अलोगागासे चेव ॥४०॥

छाया—द्विविधः कालः प्रज्ञप्तस्तद्यथा-अवसर्पिणीकालश्चैव, उत्सर्पिणी-कालश्चैव। द्विविधमाकाशं प्रज्ञप्तं, तद्यथा-लोकाकाशञ्चैव, अलोकाकाशञ्चैव।

(शब्दार्थ स्पष्ट है।)

मूलार्थ—काल दो प्रकार से प्रतिपादन किया गया है जैसे कि—अवसर्पिणीकाल और उत्सर्पिणीकाल। आकाश के भी दो प्रकार हैं, जैसे कि—लोकाकाश और अलोकाकाश।

विवेचनिका—स्थावरो में भी जीव काल एव क्षेत्र मर्यादा से रहता है, अतः इस सूत्र में काल और आकाश के भेदों का उल्लेख किया गया है, जैसे कि ह्रास एवं अवनतिरूप अवसर्पिणी काल और विकास एवं वृद्धि रूप उत्सर्पिणी काल। ये दोनों काल पांच भरत और पांच ऐरावत क्षेत्रों में निरन्तर समान रूप से प्रवर्तित रहते हैं। पाच महाविदेह क्षेत्रों में सर्वदा अवस्थित लक्षण वाला काल होता है।

इनमें से उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों कालों के छः-छः विभाग होते हैं, जिन्हें आरक कहा जाता है। दोनो का काल मिलकर बीस कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण का एक काल-चक्र होता है।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि काल किसे कहते हैं ? इसका लक्षण क्या है ? उत्तर में यही कहना है कि जिसके द्वारा समय, विपल, पल, घटिका, मुहूर्त, दिन, वार, पक्ष, मास, वर्ष,

संवत् इत्यादि की संख्या की जाती है और जिससे ज्येष्ठ-कनिष्ठ आदि का व्यवहार होता है, वह काल है। उसका लक्षण वर्तना है। कहा भी है—

कल्यते संख्यायतेऽसावनेन वा, कलनं वा, कला समूहो वेति कालः वर्तना परापरत्वलक्षणः।

उमास्वाति जी काल के विषय में लिखते हैं—वर्तना, परिणाम, क्रिया और परत्व-अपरत्व ये सब काल के कार्य हैं[१], कार्य द्वारा काल का लक्षण किया जाता है। काल के विषय मे विभिन्न शैली से विवरण यथास्थान आगे किया जाएगा।

आकाश भी दो प्रकार से वर्णित है, जैसे कि—लोकाकाश और अलोकाकाश। आकाश शब्द का अर्थ है—जो सर्व द्रव्यो को और सर्व पर्यायो को अपने मे स्थान देता है, वह आकाश है। उसमे सभी के होने पर भी वे अपने-अपने स्वरूप में अवस्थित हैं, वे कभी भी आकाशत्व को प्राप्त नही होते। आकाश तो केवल दूसरो को अवकाश ही देता है। यही आकाश का आकाशत्व है।

जिस आकाश मे धर्म, अधर्म, पुद्‌गल, जीव और काल ये द्रव्य विद्यमान हों, उसे लोकाकाश और जहा ये द्रव्य न हो, उसे अलोक-आकाश कहते है। ऐसा कभी नही होता कि लोकाकाश कभी अलोकाकाश बन जाए और अलोक-आकाश कभी लोक-आकाश हो जाए। दोनों अपनी-अपनी मर्यादा मे नियत हैं।

जैन-आगम आकाश को अवकाश—स्थान प्रदान रूप लक्षण वाला मानता है, शब्द गुण वाला नहीं, क्योंकि शब्द पुद्‌गल की पर्याय है। काल और आकाश यह दोनों द्रव्य अनादि अनन्त है और अमूर्त है। इनके कथन करने का अभिप्राय है कि किसी नय या अपेक्षा से काल भी जीव के ह्रास-विकास मे निमित्त भूत है और आकाश सर्व द्रव्यो का आधारभूत है, क्योंकि इस में सभी द्रव्यो की अवस्थिति है।

द्विविध-शरीर वर्णन

मूल—नेरइयाणं दो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा—अब्भंतरगे चेव, बाहिरगे चेव। अब्भंतरए कम्मए, बाहिरए वेउव्विए। एवं देवाणं भाणियव्वं।

पुढविकाइयाणं दो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा—अब्भंतरगे चेव, बाहिरगे चेव। अब्भंतरगे कम्मए, बाहिरगे ओरालिए। एवं जाव वणस्सइकाइयाणं।

बेइंदियाणं दो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा—अब्भंतरए चेव, बाहिरए चेव। अब्भंतरगे कम्मए, अट्‌ठि-मंस-सोणितबद्धे, बाहिरए ओरालिए, जाव चउरिंदियाणं।

---

१ तत्त्वार्थ सूत्र, अ. सूत्र २२।

पंचिंदियतिरिक्ख-जोणियाणं दो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा—अब्भंतरगे चेव, बाहिरए चेव। अब्भंतरगे कम्मए, अट्ठि-मंस-सोणिय-ण्हारु-छिराबद्धे, बाहिरए ओरालिए। मणुस्साणं वि एवं चेव।

विग्गहगइसमावन्नगाणं नेरइयाणं दो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा—तेयए चेव, कम्मए चेव। निरंतरं जाव वेमाणियाणं।

नेरइयाणं दोहिं ठाणेहिं सरीरुप्पत्ती सिया, तं जहा—रागेण चेव, दोसेण चेव, जाव वेमाणियाणं।

नेरइयाणं दुट्ठाणनिव्वत्तिए सरीरगे पण्णत्ते, तं जहा—रागनिव्वत्तिए चेव, दोस निव्वत्तिए चेव, जाव वेमाणियाणं।

दो काया पण्णत्ता, तं जहा—तसकाया चेव, थावरकाया चेव। तसकाए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—भवसिद्धिए चेव, अभवसिद्धिए चेव। एवं थावरकाए वि ॥४१॥

छाया—नैरयिकाणां द्वे शरीरके प्रज्ञप्ते, तद्यथा—आभ्यन्तरं चैव, बाह्यकं चैव। आभ्यन्तरकं कार्मकं, बाह्यकं वैक्रियकमेवं देवानां भणितव्यम्।

पृथ्वीकायिकानां द्वे शरीरके प्रज्ञप्ते, तद्यथा—आभ्यन्तरकं चैव, बाह्यकं चैव, आभ्यन्तरकं कार्मकं, बाह्यकमौदारिकं, यावद् वनस्पतिकायिकानाम्।

द्वीन्द्रियाणां द्वे शरीरके प्रज्ञप्ते, तद्यथा—आभ्यन्तरकं चैव, बाह्यकं चैव। आभ्यन्तरकं कार्मकमस्थिमांसशोणितबद्धं बाह्यकमौदारिकं यावच्चतुरिन्द्रियाणाम्।

पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां द्वे शरीरके प्रज्ञप्ते, तद्यथा—आभ्यन्तरकं चैव, बाह्यकं चैव, आभ्यन्तरकं कार्मकमस्थि-मांस-शोणित-स्नायुशिराबद्धं, बाह्यकमौदारिकम्। मनुष्याणामप्येवञ्चैव।

विग्रहगतिसमापन्नकानां नैरयिकाणां द्वे शरीरके प्रज्ञप्ते, तद्यथा—तैजसं चैव, कार्मकं चैव। निरन्तरं यावद् वैमानिकानाम्।

नैरयिकाणां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां शरीरोत्पत्तिः स्यात्, तद्यथा—रागेण चैव, द्वेषेण चैव, यावद्वैमानिकानाम्।

नैरयिकाणां द्विस्थान-निर्वृत्तितः शरीरकं प्रज्ञप्तं तद्यथा—रागनिर्वृत्तिकं चैव, द्वेषनिर्वृत्तिकं चैव।

द्वौ कायौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—त्रसकायश्चैव, स्थावरकायश्चैव। त्रसकायो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—भवसिद्धिकश्चैव, अभवसिद्धिकश्चैव। एवं स्थावरकायोऽपि।

शब्दार्थ—नेरइयाणं—नारकियों के, **दो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा**—दो शरीर प्रतिपादन किए गए हैं जैसे कि, **अब्भंतरए चेव**—आभ्यन्तरिक शरीर और, **बाहिरए चेव**—बाह्य शरीर, **अब्भंतरए कम्मए**—आभ्यन्तरिक कार्मण शरीर और, **बाहिरए वेउव्विए**—बाह्य शरीर वैक्रियक है। **एवं देवाणं भाणियव्वं**—इसी प्रकार देवों के विषय में कहना चाहिए।

पुढविकाइयाणं दो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा—पृथ्वीकायिक जीवों के दो शरीर कथन किए गए हैं, जैसे कि, **अब्भंतरे चेव, बाहिरए चेव**—आभ्यन्तर शरीर और बाह्य शरीर, **अब्भंतरए कम्मए**—आभ्यन्तरिक कार्मण शरीर और, **बाहिरए ओरालिए**—बाह्य औदारिक शरीर, **जाव वणस्सइ काइयाणं**—अप्काय यावत् वनस्पतिकायिक जीवों के भी उक्त दो शरीर जानने चाहिएं।

बेइंदियाणं दो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा—द्वीन्द्रिय जीवों के दो शरीर हैं, जैसे कि; **अब्भंतरए चेव, बाहिरए चेव**—आभ्यन्तरिक शरीर और बाह्य शरीर, **अब्भंतरए कम्मए**—कार्मण शरीर आभ्यन्तरिक है और, **अट्ठिमंससोणितबद्धे बाहिरए ओरालिए**—बाह्य औदारिक शरीर अस्थि-मांस-शोणित आदि से प्रतिबद्ध है, **जाव चउरिंदियाणं**—पूर्वोक्त प्रकार से चतुरिन्द्रिय जीवों के भी दो शरीर हैं।

पंचिंदिय-तिरिक्ख-जोणियाणं—पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीवों के, **दो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा**—दो शरीर प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे कि, **अब्भंतरए चेव, बाहिरए चेव**—आभ्यन्तरिक शरीर और बाह्य शरीर, **अब्भंतरए कम्मए**—आभ्यन्तरिक कार्मण शरीर है और, **बाहिरए ओरालिए**—बाह्य औदारिक शरीर होता है, जो कि, **अट्ठिमंससोणिय-ण्हारूछिराबद्धे**—अस्थि, मांस, रुधिर, स्नायु, शिरा—नाडी आदि से बधा हुआ होता है, **मणुस्साणं वि एवं चेव**—इसी प्रकार मनुष्यों के भी दो शरीर जान लेने चाहिएं।

विग्गहगइसमावन्नगाणं—विग्रहगति को प्राप्त हुए, **णेरइयाणं**—नारकियों के, **दो सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा**—दो शरीर प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे कि, **तेयए चेव, कम्मए चेव**—तैजस् और कार्मण, **निरन्तरं जाव वेमाणियाणं**—इसी प्रकार वैमानिक पर्यन्त २४ दण्डकों के विषय मे जानना चाहिए।

दोहिं ठाणेहिं—दो स्थानों से, **णेरइयाणं**—नारकियों के, **सरीरुप्पत्ती सिया, तं जहा**—शरीर की उत्पत्ति होती है, जैसे कि, **रागेण चेव, दोसेण चेव, जाव वेमाणियाणं**—वैमानिक पर्यन्त सभी जीवों की उत्पत्ति दो कारणो से होती है, राग से और द्वेष से।

नेरइयाणं दुट्ठाणनिव्वत्तिए सरीरगे पण्णत्ते, तं जहा—नारकियों का शरीर दो स्थानों से निष्पन्न है, अर्थात् दो मूल कारणों से निर्मित है, **रागेण चेव, दोसेण चेव**—राग से और द्वेष से, **जाव वेमाणियाणं**—यह वैमानिक पर्यन्त कहना चाहिए।

दो काया पण्णत्ता, तं जहा—दो काया कथन की गई हैं, जैसे कि, **तसकाए चेव, थावरकाए चेव**—त्रस-काय और स्थावर-काय, **तसकाए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—

त्रस काय में दो तरह के जीव हैं, जैसे कि, **भवसिद्धिए चेव, अभवसिद्धिए चेव**—भवसिद्धिक और अभव-सिद्धिक अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के योग्य और मोक्ष गमन के अयोग्य, **एवं थावरकाए वि**—इसी प्रकार स्थावर काय में भी दो तरह के जीव समझने चाहिएं।

मूलार्थ—नारकियो का आभ्यन्तर शरीर कार्मण है, (तैजस् शरीर का कार्मण शरीर में ही अन्तर्भाव माना गया है) और बाह्य शरीर वैक्रिय होता है। इसी प्रकार भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, इन देवों के शरीर की स्थिति भी जाननी चाहिए।

पृथ्वी आदि पांच स्थावरों का आन्तरिक शरीर कार्मण है और बाह्य शरीर औदारिक है। तीन विकलेन्द्रियों के आभ्यन्तरिक शरीर कार्मण है और बाह्य शरीर अस्थि, मांस, रुधिर से बंधा हुआ औदारिक शरीर होता है। तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों के आभ्यन्तर शरीर कार्मण है और बाह्य शरीर अस्थि, मांस, रुधिर, स्नायु, तथा शिरा से आबद्ध औदारिक होता है।

विग्रहगति प्राप्त नारकियों के दो शरीर होते हैं, तैजस् और कार्मण। इसी प्रकार चौबीस दण्डकों के विषय में जानना चाहिए। चौबीस दण्डकों में सभी जीवों की उत्पत्ति राग-द्वेष के कारण से ही होती है। सर्व संसारी त्रस और स्थावरकाय में ही निवास करते हैं और दोनों कायों में भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक जीव पाए जाते हैं। कोई ऐसी काय नहीं जो भव्य ही हो और कोई ऐसी काय भी नहीं जो केवल अभव्य हो, अतः दोनो तरह के जीव नियमेन होते हैं—भव्य भी और अभव्य भी।

विवेचनिका—काल का प्रभाव शरीर पर भी पडता है, अतः सूत्रकार नरक आदि चौबीस दण्डकों के द्वारा शरीर का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—जो उत्पत्ति-समय से लेकर प्रतिक्षण संवर्धित एवं जीर्ण-शीर्ण होता रहता है, और शरीर-नाम-कर्म के उदय से जिस का निर्माण होता है, वह शरीर है, जैसे कि कहा भी है।

शीर्यतेऽनुक्षणं चयापचयाभ्यां विनश्यतीति शरीरं, तदेव शटनादिधर्मतयाऽनुकम्पितत्वाच्छरीरम्।

आभ्यन्तर और बाह्य इस प्रकार शरीरों को दो भागो मे विभाजित किया गया है। औदारिक, वैक्रिय और आहारक इनको बाह्य शरीर माना गया है तथा तैजस और कार्मण इन दो शरीरों को आभ्यन्तर शरीर में अन्तर्निहित किया गया है। जो आत्म-प्रदेशों के साथ क्षीर-नीरवत् एकीभूत हो रहा है और भवान्तर में जाते समय जीव के साथ रहता है, उसे आभ्यन्तरिक शरीर कहते हैं, किन्तु जो जीव प्रदेशों के साथ किसी अवयव में अव्याप्त भी

है और परलोक में जाते समय साथ नहीं जाता, यहीं रह जाता है, उसे बाह्य शरीर कहते हैं। छद्मस्थ आत्मा के लिए आभ्यन्तर शरीर अदृश्य एवं परोक्ष होता है और बाह्य शरीर कथञ्चित् प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष है। अत: नारकीय और देवों का आभ्यन्तरिक कार्मण शरीर जो कि आत्म-प्रदेशों के साथ लोलीभूत है वह भवान्तर में जीव के साथ जाता है। यहां कार्मण शरीर के कथन से तैजस् शरीर का भी ग्रहण स्वत: हो जाता है, क्योंकि ये दोनों शरीर एक दूसरे के अविनाभावी हैं। इस विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—

कार्मणशरीरं नामकर्मोदयनिर्वर्त्यमशेषकर्मणां प्ररोहभूमिराधारभूतं तथा संसार्यात्मनां गत्यन्तरसंक्रमणे साधकतमम्, तत् कार्मणवर्गणा स्वरूपं कर्मैवकर्मकमिति। कर्मकग्रहणे च तैजसमपि गृहीतं द्रष्टव्यं, तयोरव्यभिचारित्वेनैकत्वस्य विवक्षितत्वादिति।

देव और नारकियों का बाह्य शरीर वैक्रिय होता है। पांच स्थावरों का बाह्य शरीर औदारिक होता है, किन्तु वायु-काय का बाह्य शरीर वैक्रिय भी होता है। यहां अपर्याप्त अवस्था में जो बाह्य शरीर होता है, वही शरीर इस प्रसंग में अभीष्ट है अथवा जो आयु पर्यन्त रहे, वह औदारिक या वैक्रिय ही होता है।

विकलेन्द्रिय तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का अस्थि, मांस, शोणित से आबद्ध औदारिक शरीर होता है, किन्तु उसमें स्नायु (नसों का समूह) शिरा-नाडी आदि नहीं होते। संज्ञी तिर्यंच और मनुष्य में ये सब कुछ होते हैं।

विग्गहगइसमावन्नगाणं—यह पद जो सूत्रकार ने दिया है, इससे सिद्ध होता है कि परलोक में जाते समय जीव की दो ही गतियां होती हैं—ऋजुगति और विग्रहगति। जीव आकाश के जिन प्रदेशों पर काल-धर्म को प्राप्त होते हैं, उन्हीं प्रदेशों की सम श्रेणि में गमन करना ऋजुगति कहलाती है। किन्तु जो वक्रगति से अभीष्ट स्थान पर जाता है, उसे विग्रहगति-समापन्न कहते हैं। जैसे कि वृत्तिकार लिखते हैं—

विग्रहगतिः—वक्रगतिर्यदा विश्रेणिव्यवस्थितम् उत्पत्तिस्थानं गन्तव्यं भवति तदा या स्यात्, तां समापन्ना विग्रहगतिसमापन्ना।

विग्रहगति में या वक्रगति में बाटे बहते जीव में दो शरीर पाए जाते हैं जैसे कि तैजस् और कार्मण, इसी प्रकार चौबीस दण्डकों में जानने चाहिएं।

चौबीस दण्डकों में जितने भी देहधारी जीव हैं, उनके शरीर की उत्पत्ति अर्थात् आरभ और निर्वर्तना अर्थात् संवर्धनशीलता में दो ही मुख्य कारण हैं—राग और द्वेष। संसार-चक्र इन से ही चल रहा है। राग-द्वेष की सत्ता ही संसार है और इनके वियोजीकरण में ही मोक्ष है।

संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे सब त्रस और स्थावर रूपों में निवास करते हैं। कारण कि—जो त्रस नामकर्म के उदय से दु:ख आदि के होने पर त्रास पाते हैं, उन्हें त्रसकाय कहते हैं और जो स्थावर नामकर्मोदय से दु:ख आदि होने पर भी उसी स्थान पर रहते हैं, उन्हें

स्थावर कहा जाता है। उपर्युक्त दोनों कायों में भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीव पाए जाते हैं। जो कर्मक्षय के योग्य सामग्री मिलने पर मुक्ति-साधना के लिए पुरुषार्थ कर सकते हैं, वे भव्यात्मा हैं और जो कर्म-क्षय के योग्य सामग्री मिलने पर भी पुरुषार्थ न कर सकें, वे अभव्यात्मा कहलाते हैं। भव्यत्व और अभव्यत्व ये जीवों के पारिणामिक भाव हैं, औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं क्षायिक भाव नहीं। जो भव्य है, वह भव्य ही है और जो अभव्य है, वह अभव्य ही है, ये बदलते नहीं हैं। इस सूत्र से यही सिद्ध होता है कि आत्मा कर्मों के अनुसार ही गति-अगति करता है। बाह्य शरीर से रहित होना मरण और आभ्यन्तर शरीर से रहित होना मोक्ष है। जब आत्मा सर्वथा शरीर-रहित हो जाता है तभी निर्वाण-पद की प्राप्ति होती है।

शुभ दिशाएं

मूल—दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पइ, णिग्गंथाणं वा, णिग्गंथीणं वा पव्वावित्तए—पाईणं चेव, उदीणं चेव। एवं मुंडावित्तए, सिक्खावित्तए, उवट्ठावित्तए, संभुंजित्तए, संवसित्तए, सज्झायमुद्दिसित्तए, सज्झायं समुद्दिसित्तए, सज्झायमणुजाणित्तए, आलोइत्तए, पडिक्कमित्तए, निंदित्तए, गरहित्तए, विउट्टित्तए, विसोहित्तए, अकरणयाए अब्भुट्ठित्तए, आहारिहं पायच्छितं तवोकम्मं पडिवज्जित्तए।

दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पइ, णिग्गंथाणं वा णिग्गंथीणं वा, अपच्छिममारणंतिय-संलेहणा-जूसणा-जूसियाणं भत्तपाण- पडियाइक्खित्ताणं पाउवगयाणं कालं अणवकंखमाणाणं विहरित्तए, तं जहा—पाईणं चेव, उदीणं चेव॥४२॥

छाया—द्वे दिशेऽभिगृह्य कल्पते, निर्ग्रन्थानां वा, निर्ग्रन्थीनां वा प्रव्राजयितुं तद्यथा—प्राचीनां चैव, उदीचीनां चैव, एवं मुण्डयितुं, शिक्षयितुम्, उपस्थापयितुं, संभोजयितुं, संवासयितुं, स्वाध्यायमुद्देष्टुं, स्वाध्यायं समुद्देष्टुं, स्वाध्यायमनुज्ञातुम्, आलोचयितुं, प्रतिक्रमितुं, निन्दितुं, गर्हितुं, विवर्त्तयितुं (वित्रोटयितुं, विकुट्टयितुं वा) विशोधयितुमकरणतयाऽभ्युत्थातुं यथार्हं प्रायश्चित्तं तपःकर्म प्रतिपत्तुम्।

द्वे दिशेऽभिगृह्य कल्पते, निर्ग्रन्थानां वा, निर्ग्रन्थीनां वा अपश्चिममारणान्तिकसंलेखना-जोषणा-जोषितानां, भक्तपानप्रत्याख्यातानां पादपोपगतानां कालमनवकांक्षतां विहर्तुं तद्यथा—प्राचीनां चैव, उदीचीनां चैव।

शब्दार्थ—दो दिसाओ—दो दिशाओ को, **अभिगिज्झ**—ग्रहण कर, **णिग्गंथाणं वा**—साधुओं को अथवा, **णिग्गंथीण वा**—साध्वियों को, **कप्पइ**—युक्त होता है, **पव्वावित्तए**—

प्रव्रजित करना, **पाईणं चेव, उदीणं चेव**—पूर्व और उत्तर दिशा के सम्मुख होकर, **एवं**—इसी प्रकार, **मुंडावित्तए**—मुण्डित करना, **सिक्खावित्तए**—शिक्षा देना, **उवट्ठावित्तए**—महाव्रतों में स्थापन करना, **संभुंजित्तए**—एक मांडले पर बैठकर भोजन करना, **संवसित्तए**—एक साथ बसना, **सज्झायमुद्दिसित्तए**—स्वाध्याय के लिए उपदेश करना, **सज्झायं समुद्दिसित्तए**—पुनरावृत्ति के लिए उपदेश करना, **सज्झायमणुजाणित्तए**—स्वाध्याय के लिए अनुज्ञा देना, **आलोइत्तए**—आलोचना करना, **पडिक्कमित्तए**—प्रतिक्रमण करना, **निंदित्तए**—आत्म-साक्षी से निन्दा करना, **गरहित्तए**—गुरु साक्षी से गर्हणा करना, **विउट्टित्तए**—अतिचारों का सम्बन्ध तोडना, **विसोहित्तए**—आत्म-विशुद्धि करना, **अकरणयाए अब्भुट्ठित्तए**—पापकर्म न करने के लिए उद्यत होना, **आहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जित्तए**—यथायोग्य प्रायश्चित्त तपःकर्म ग्रहण करना।

दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पइ—दो दिशाओं को ग्रहण कर युक्त है, **णिग्गंथाणं वा**—निर्ग्रन्थों को और, **णिग्गंथीणं वा**—साध्वियों को, **अपच्छिममारणंतियसंलेहणा जूसणाजूसियाणं**—अपश्चिम मारणान्तिक अनशन सेवन करने से शरीर को क्षपित करना, **भत्त-पाण पडियाइक्खित्ताणं**—भोजन-पान का परित्याग कर, **पाउवगयाणं**—वृक्ष की शाखा की तरह पड़े हुए को, **कालं अणवकंखमाणाणं**—काल की चाहना न करते हुए को विचरना कल्पता है, **तं जहा**—जैसे कि, **पाईणं चेव**—पूर्व दिशा और, **उदीणं चेव**—उत्तर दिशा, अर्थात् पूर्वोक्त सर्व क्रियाएं दो दिशाओं में से किसी एक दिशा को सम्मुख रखकर ग्रहण करनी युक्त हैं।

मूलार्थ—श्रमण व श्रमणियों को चाहिए कि पूर्व और उत्तर दिशा के अभिमुख हो कर निम्नलिखित क्रियाएं करें, जैसे कि—

१. किसी को दीक्षा देनी हो, २. मुण्डित करना हो, ३. शिक्षा देनी हो, ४. महाव्रतों में स्थापन करना हो, ५. सहभोज करना हो, ६. एक स्थान में निवास करना हो, ७. स्वाध्याय के लिए प्रेरणा करनी हो, ८. सूत्र एवं अर्थ स्थिर रखने के लिए समुद्देश करना हो, ९. स्वाध्याय के लिए आज्ञा देनी हो, १०. गुरु के पास आलोचना करनी हो, ११. प्रतिक्रमण करना हो, १२. आत्मसाक्षी से किए हुए दोष की निन्दा करनी हो, १३. गुरु की साक्षी से अपनी भूल स्वीकार करनी हो, १४. अतिचारों से अनुबन्धों का व्यवच्छेद करना हो, १५. अतिचाररूप मल को हटाकर आत्मा को निर्मल बनाना हो, १६. पुनः वैसी दूषित क्रिया न करने की प्रतिज्ञा करनी हो, १७. यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप में तपकर्म अंगीकार करना हो, १८. अपश्चिम-मारणान्तिक संलेखना जोषणा सेवित करना, भोजन-पान का परित्याग कर पादपोपगमन अनशन करके काल की चाहना न करते हुए विचरना। ये सभी क्रियाएं पूर्व और उत्तर इन दो दिशाओं के अभिमुख होकर ही करनी चाहिएं।

विवेचनिका—इस सूत्र में यह कथन किया गया है कि भव्यात्मा दो दिशाओं का अवलंबन लेकर ही धार्मिक क्रियाकलाप करता है। क्योंकि लोक व्यवहार में व्यवहार शुद्धि का होना भी अत्यावश्यकीय है। पूर्व और उत्तर ये दो दिशाएं जैसे लोकपक्ष में महत्त्वपूर्ण हैं, वैसे ही अध्यात्म-पक्ष मे भी ये दिशाएं कुछ कम नहीं हैं।

पूर्व दिशा—प्रकाशपुंज चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि पूर्व से ही उदित होते हैं, अन्य दिशाओं से नहीं, उन का उत्थान एवं उन्नति भी पूर्व से ही होती है, इससे जीव को प्रेरणा मिलती है कि वह भी सद्‌गुणो से उत्थान एव उन्नति कर जगमगाते हुए ज्ञान के प्रकाश से विश्व को आलोकित करे।

उत्तर दिशा—इस दिशा से जीव को यह प्रेरणा मिलती है—ध्रुव तारा उत्तर में ही रहता है, वह दूसरो के मार्ग का प्रदर्शन करता है और स्वयं अपने केन्द्र में अटल रहता है। वह सम्बोधन करता है, ऐ साधक! तू भी अपने सुविचारो में अटल रहकर भूली भटकी जनता को मार्ग प्रदर्शन कर। जैसे सप्तर्षि ध्रुव तारे के चारों ओर भ्रमण करते हैं, वैसे तू भी निर्ग्रन्थ प्रवचन को लक्ष्य में रखकर आत्मा में पर्यटन कर। साधक को विकास, वृद्धि और अभ्युदय की प्रेरणा इसी से मिलती है।

इन दो दिशाओं से ही साधक को मूल रूप से ऐहिक और पारभविक समुन्नति की प्रेरणा मिलती है। शेष दो दिशाएं अनिष्ट मानी जाती हैं।

जैनागमों मे चार दिशाओं के चार लोकपालों का उल्लेख मिलता है।[१] जैसे कि पूर्व दिशा का लोकपाल सोम, दक्षिण दिशा का यम, पश्चिम का वरुण और उत्तर का वैश्रवण, जिसे कुबेर भी कहते हैं। सोम और वैश्रवण ये दोनों लोकपाल सौम्यदृष्टि और धर्मात्माओ की रक्षा करने वाले हैं। अतः व्यवहार दृष्टि से ये दिशाए प्रत्येक शुभ कार्य के लिए स्वीकृत की गई हैं।

पूर्व और उत्तर, इन दिशाओं के अभिमुख हो कर उपर्युक्त सभी क्रियाएं करे, ऐसी स्पष्ट रूप से आज्ञा देने वाला प्रस्तुत आगम प्रमाण है। सम्यग्दृष्टि के लिए आगम प्रमाण भी सर्वमान्य है। जहां प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण कार्य सिद्धि में सहायक नहीं होते हैं, वहा आगम प्रमाण ही साध्य को पाने के लिए मार्ग प्रदर्शन करता है।

सभी तीर्थंकर साधना काल में उक्त दो दिशाओं के अभिमुख होकर ही साधना करते रहे हैं और केवलज्ञान होने के अनन्तर समवसरण में प्रवचन भी इन्हीं दो दिशाओं की ओर मुख करके किया करते हैं। जिस मार्ग का उन्होंने अनुसरण किया है, वही मार्ग अनुयायियों के लिए भी प्रशस्त है।

गुरुजनों की अनुपस्थिति में दो दिशाओं में से किसी एक के अभिमुख होकर शुभ

---

१ भगवती सूत्र ५, श ३।

क्रियाएं करनी चाहिएं, किन्तु उपस्थिति काल में उनके अभिमुख होकर ही शुभ क्रियाएं करनी चाहिएं, फिर भले ही कोई दिशा हो। संघाड़ापति को चाहिए कि शुभ क्रियाएं करता हुआ उक्त दो दिशाओं को न भूले। श्रावक के लिए भी यही नियम लागू होता है।

सिक्खावित्तए—सिखाना, शिक्षा दो प्रकार की होती है—ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा। सूत्र और उसका अर्थ ग्रहण कराना ग्रहण शिक्षा है और आचार-गोचर, प्रत्युपेक्षणादि के विषय में शिक्षित करना आसेवन शिक्षा कहलाती है। कहा भी है—

शिक्षयितुम्—अर्थात् ग्रहणशिक्षापेक्षया सूत्रार्थौ ग्रहयितुम्, आसेवनशिक्षापेक्षया तु प्रत्युपेक्षादि शिक्षयितुमिति।

जो स्वाध्याय से सम्बंधित तीन सूत्र रखे गए है, उनका भाव यह है कि '**त्वमधीष्व**'— 'तू पढ़', 'सूत्र-अर्थ को पुनरावृत्ति के द्वारा स्थिर एव परिचित्त कर' और 'सम्यक् प्रकार से उन्हें धारण कर' ऐसा उपदेश करना यही इन तीन सूत्रो का भाव है।

निन्दित्तए—आत्मसाक्षी से अतिचारो की तथा दूषित क्रिया की निन्दा करना, फिर गुरु के समक्ष लगे हुए उन अतिचारो की तथा प्रमाद वश की हुई भूलो की निन्दा करना, यह भाव **गरहित्तए** पद से निकलता है।

सूत्रकार ने जो अतिम सूत्र दिया है, उसमें—'**अपच्छिममारणंतियसंलेहणा-जूसणाजूसियाणं**' पद दिया है। सलेखना उसे कहते है कि जिस तप के करने से शरीर और कषाय दोनो कृश हो जाए। वह सलेखना मरणकाल के स्वागत के लिए की जाती है, पश्चिम शब्द अमंगल है, अत: अमगल परिहार के लिए सूत्रकार ने अकार का ग्रहण किया है। **जोषणा** का अर्थ होता है—प्रीतिपूर्वक सेवन।[१]

पण्डित मरण तीन तरह का होता है, जैसे कि—१. भक्तप्रत्याख्यान, २ इंगिनीमरण और ३. पादपोपगमन।

अपने शरीर तथा सचित्त एव अचित्त उपकरणो पर मोह-ममत्व न करना और अठारह तरह के पापो का तथा तीन या चार आहार का आजीवन परित्याग करना भक्तप्रत्याख्यान कहलाता है। इस सथारे में उठना-बैठना यत्नपूर्वक गमनागमन साधक कर सकता है, स्थान भी बदल सकता है और दया बुद्धि से निर्दोष क्रियाए भी कर सकता है।

---

१ इस प्रसग पर वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित है–

''पश्चिमैवामङ्गलपरिहारार्थमपश्चिमा सा चासौ मरणमेव योऽन्तस्तत्र भवा मारणान्तिकी, साचासौ संलिख्यतेऽनया शरीरकषायादीति सलेखना-तपो विशेष.। सा चेति अपश्चिममारणान्तिकसलेखना तस्या: ''जूसणत्ति'' जोषणा-सेवा तया तल्लक्षणधर्मेणेत्यर्थ । ''जूसियाण त्ति'' सेविताना तद्युक्तानामित्यर्थ:, तया वा झोषितानां क्षपितानां क्षपितदेहानामित्यर्थ:; तथा भक्तपाने प्रत्याख्याते यैस्ते तथा तेषा, पादपवदुपगतानाम्– अचेष्टतया स्थितानाम्, अनशनविशेषप्रतिपन्नानामित्यर्थ.। ''काल'' मरणकान्मनवकांक्षता तत्रानुत्सुकाना विहर्तुं–स्थातुमिति वृत्ति:।

जो निश्चित स्थान में हिलने-चलने का आगार रखकर मृत्यु होती है, उसे इंगिनीमरण कहते हैं। शेष सब नियम ऊपर लिखे अनुसार हैं। इसमें स्थान की मर्यादा रखी जाती है। इसमें हिलने-डुलने का निषेध नहीं है। यह भक्तप्रत्याख्यान की अपेक्षा अधिक कठिन है।

जिस अनशन या संथारे में शरीर की सर्व चेष्टाओ का निरोध किया ज़ा सकता है, जैसे गिरी हुई वृक्ष की शाखा निश्चेष्ट पड़ी रहती है, वैसे ही अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग होने पर भी निश्चेष्ट रहना, इसको पादपोपगमन संथारा कहते हैं। जिस ओर पड़ा है, मरणपर्यन्त उसी ओर पडे रहना, किसी भी अग या उपांग को हिलाना-चलाना नही। शेष नियम पूर्वोक्त की तरह समझने चाहिएं।

प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने दो दिशाओं के अभिमुख होकर जिन कर्त्तव्यों का निर्देश किया है वे सब मुमुक्षुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

॥ द्वितीय स्थान का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

द्वितीय स्थान

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में द्वित्व विशिष्ट जीव और अजीव-धर्म का विवरण प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय उद्देशक में भी द्वित्व विशिष्ट जीव-धर्म का ही प्रकारान्तर से वर्णन किया गया है।

कर्म और भोग

मूल—जे देवा उड्ढोववण्णगा, कप्पोववण्णगा, विमाणोववण्णगा, चारोववण्णगा, चारट्ठितिया, गतिरतिया, गति-समावण्णगा तेसिं देवाणं सया समियं जे पावे कम्मे कज्जइ, तत्थ गया वि एगइया वेयणं वेदेन्ति, अण्णत्थगया वि एगइया वेयणं वेदेन्ति।

णेरइयाणं सया समियं जे पावे कम्मे कज्जइ, तत्थ गया वि एगइया वेयणं वेदेन्ति, अण्णत्थ गया वि एगइया वेयणं वेदेन्ति जाव पंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाणं। मणुस्साणं सया समियं जे पावे कम्मे कज्जइ, इह गया वि एगइया वेयणं वेदेन्ति, अण्णत्थ गया वि एगइया वेयणं वेदेन्ति। मणुस्सवज्जा सेसा एक्कगमा ॥ ४३ ॥

छाया—ये देवाः ऊर्ध्वोपपन्नकाः, कल्पोपपन्नकाः, विमानोपपन्नकाः, चारोपपन्नकाः, चारस्थितिकाः, गतिरतिकाः, गतिसमापन्नकाः, तेषां देवानां सदा समितं यत् पापकर्म क्रियते, तत्रगता अपि एक वेदनां वेदयन्ति, अन्यत्रगता अपि एके वेदनां वेदयन्ति।

नैरयिकाणां सदा समितं यत्पापं कर्म क्रियते, तत्रगता अपि एके वेदनां वेदयन्ति, यावत्पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां मनुष्याणां सदा समितं यत्पापं कर्म क्रियते, इहगता अपि एके वेदनां वेदयन्ति, अन्यत्रगता अपि एके वेदनां वेदयन्ति, मनुष्यवर्जाः शेषाः एकगमाः।

शब्दार्थ—**जे देवा**—जो देव, **उड्ढोववण्णगा**—ऊर्ध्व लोक में उत्पन्न हुए हैं, **कप्पोववण्णगा**—कल्प देवलोक में उत्पन्न हुए हैं, **विमाणोववण्णगा**—ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए हैं, **चारोववण्णगा**—गतिशील ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न हुए हैं, **चारट्ठितिया**—अढाई द्वीप से बाहर स्थिर विमानों में रहने वाले ज्योतिष्क देव, **गतिसमावण्णगा**—निरंतर गतिशील विमानों में उत्पन्न हुए देव, **तेसिं देवाणं**—उन देवों के द्वारा, **सया समियं**—सदा निरंतर, **जे पावे कम्मे कज्जइ**—जो पाप तथा ज्ञानावरणादि कर्म किए जाते हैं (अथवा जो कर्म बाधे जाते हैं, अबाधाकाल के अतिरिक्त वे देव उसका फल), **तत्थगया वि एगइया वेयणं वेदन्ति**—उसी देवभव में ही कितनेक वेदना वेदते हैं और, **अण्णत्थगया वि एगइया वेयणं वेदेन्ति**—कुछ देव अन्यत्र अर्थात् अन्य जन्मों में जाकर भी वेदना वेदते हैं।

णेरइयाणं—नारकीय जीवों द्वारा, **सया समियं**—सदा निरंतर, **जो पावे कम्मे कज्जइ**—जो पापकर्म किया जाता है (उसका फल), **एगइया**—कोई-कोई नारकी, **तत्थगया वि**—नरक-भव में स्थित ही, **वेयणं**—वेदना, **वेदेन्ति**—वेदते हैं और, **एगइया**—कोई-कोई, **अण्णत्थगया वि**—किसी अन्य जन्म में भी, **वेयणं वेदेन्ति**—वेदना वेदते हैं। **जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं**—यावत् पचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक और, **मणुस्साणं**—मनुष्यों द्वारा, **सया समियं**—सदा निरन्तर, **जो पावे कम्मे कज्जइ**—जो पाप-कर्म किया जाता है (उसका फल), **एगइया इहगया वि वेयणं वेदेन्ति**—कोई-कोई इसी जन्म में वेदना वेदते हैं और, **एगइया अण्णत्थगया वि**—कतिपय अन्य जन्म में भी, **वेयणं वेदेन्ति**—वेदना भोगते है, **मणुस्सवज्जा सेसा एक्कगमा**—मनुष्य को छोड कर शेष तेईस दडकों को एक समान समझना चाहिए।

मूलार्थ—जो देव ऊर्ध्वलोक में कल्प और कल्पातीत विमानों में उत्पन्न हुए हैं और चर एवं स्थिर ज्योतिष्क विमानों मे उत्पन्न हुए हैं, उनके द्वारा जो सदा पापकर्म किया जाता है, उसका फल कुछ देव तो वहीं पर भोग लेते हैं और कुछ भवान्तर में भोगा करते हैं। नारकियो से लेकर वैमानिकों पर्यन्त चौबीस दण्डकों में जीव इसी प्रकार कर्म-फल भोगते है। केवल मनुष्य को छोड़कर शेष जीवों का फल-प्रदर्शक सूत्र पाठ एक समान है। अर्थात् इस जन्म में भी कर्मों का फल भोगते हैं और भवान्तर में भी कर्मों का फल भोगा करते हैं।

विवेचनिका—इस सूत्र में पापकर्म और उसके फल-भोगों का दिग्दर्शन कराया गया है। ऊर्ध्व-लोक में दो प्रकार के देव हैं—कल्पोपपन्न और विमानोपपन्न। पहले बारह देवलोकों की कल्पसंज्ञा है, वहां पर राजनीति आदि का भाव पाया जाता है अर्थात् जहां तक राजनीति की मर्यादा है, वहां तक कल्प कहलाता है। जहां पर अनुशासन व राजनीति की आवश्यकता नहीं, उन देवलोकों को कल्पातीत कहते हैं। **विमाणोववन्नगा** पद से ग्रैवेयक

और अणुत्तर वैमानिक देवों का ग्रहण किया गया है। **चारोववन्नगा** पद ज्योतिष्क देवों का परिचायक है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा इनको ज्योतिष्क देव कहते हैं। वे दो तरह के हैं—चर और स्थिर। अढाई द्वीप में सभी ज्योतिष्क देव चर हैं, उनके लिए सूत्रकार ने गतिरतिक और गतिसमापन्नक, ये दो विशेषण दिए हैं। वे गतिशीलता पर ही हर्षान्वित रहते हैं, किन्तु जो स्थिर हैं उनके लिए सूत्रकार ने **चारट्ठितिया** विशेषण का प्रयोग किया है। चार पद से उन ज्योतिष्क देवों का ग्रहण होता है जो कि स्थिति स्वभाव वाले हैं। अढाई द्वीप से बाहर जो सूर्य-चन्द्र आदि हैं, वे अवस्थित हैं। अढाई द्वीप से बाहर के वे देव भी सदा सर्वदा कर्मबन्ध करते ही रहते हैं। अबाधा-काल को छोडकर किए हुए कर्मों का फल उन्हें भी भोगना पड़ता है और अन्यगति में भी वे फल भोगते ही हैं। इस पाठ से यह प्रमाणित होता है कि देवों में भी पापकर्म की प्रवृत्ति पाई जाती है और किए हुए कर्म का फल वे इस भव में भी भोगते हैं और भवान्तर में भी भोगा करते हैं।

नारकी से लेकर चौबीस दण्डकों के जीव अपने किए हुए पापकर्मों का फल उस जन्म में भी भोगते हैं और अन्य जन्मों में भी। **मणुस्सवज्जा** इस पद से ध्वनित होता है कि मनुष्य के लिए उक्त नियम आवश्यक नही है, क्योंकि वह कर्मक्षय करके मोक्ष-पद की प्राप्ति भी कर सकता है। मोक्षगामी आत्मा अपने द्वारा किए हुए पाप-कर्मों का फल भवान्तर में नहीं भोगता, क्योंकि ऐसी आत्माएं यहीं पर सभी कृत-कर्मों का क्षय कर देती हैं। जो मनुष्य मोक्षगामी नहीं हैं, उन्हें तो इस भव में या जन्मान्तरों में फल भोगना ही पड़ता है। ऐसे ही लोगों के लिए कहा गया है—**न क्षीयते चाकर्म कृतं कोटिशतैरपि।**

"**सेसा एक्कगमा**" इस पद का भाव यह है कि—**शेषाः व्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकाः एकगमाः—तुल्याभिलापाः—समसूत्रपाठा इत्यर्थः।** जीव कर्मानुसार ही गति-आगति करते हैं और साथ ही अपने किए हुए शुभाशुभ कर्मों का फल भी भोगते हैं। **कज्जइ** यह क्रिया पद है—**क्रियते—बध्यते कर्मकर्तृप्रयोगोऽयंसम्पद्यते, भवतीत्यर्थः** अर्थात् क्रिया का प्रयोग कर्मकर्तृ में किया गया है।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि ज्योतिष्क और वैमानिक देवों का पहले भी वर्णन हो चुका है, इस स्थान में उनका वर्णन पुनः क्यों किया गया है ?

उत्तर में कहना है कि—जो पहले देवों के प्रसंग में कथन किया गया है, वह अनुष्ठान का फल दिखाने के लिए किया गया है, किन्तु इस स्थान पर दण्डक के क्रम से वर्णन करना आवश्यक था, अतः इसमें कोई दोषापत्ति नहीं है। वृत्तिकार भी लिखते हैं—

ननु प्रथमसूत्र एव ज्योतिष्कवैमानिकदेवानां विवक्षितार्थस्याभिहितत्वात्किं पुनरिह तद्भणनेनेति? उच्यते—तत्रानुष्ठानफलदर्शनप्रसङ्गेन भेदतश्चोक्तत्वादिह तु दण्डक-क्रमेण सामान्यतश्चोक्तत्वादिति न दोषो, दृश्यते चेह तत्र विशेषोक्तावपि सामान्योक्ति-रितरोक्तौ त्वितरेति।

आगमों की अर्थ-गति बड़ी विचित्र है, वहां कभी विशेष उक्ति में सामान्य उक्ति और कभी सामान्य उक्ति में विशेष उक्ति देखने को मिलती है। इस प्रसंग में विशेष उक्ति से सामान्य उक्ति का निर्देश किया गया है।

नैरयिक आदि की गति-आगति

मूल—नेरइया दुगतिया, दुयागतिया पण्णत्ता, तंजहा—नेरइए नेरइएसु उववज्जमाणे मणुस्सेहिंतो वा पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वा उववज्जेज्जा।

से चेव णं से नेरइए णेरइयत्तं विप्पजहमाणे मणुस्सत्ताए वा पंचिंदिय-तिरिक्खजोणियत्ताए वा गच्छेज्जा, एवं असुरकुमारा वि। णवरं से चेव णं से असुरकुमारे असुरकुमारत्तं विप्पजहमाणे माणुस्सत्ताए वा, तिरिक्ख-जोणियत्ताए वा गच्छेज्जा। एवं सव्वदेवा।

पुढविकाइया दुगतिया, दुयागतिया पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइए पुढविकाइएसु उववज्जमाणे पुढविकाइएहिंतो वा णोपुढविकाइएहिंतो वा उववज्जेज्जा। से चेव णं से पुढविकाइए पुढविकाइयत्तं विप्पजहमाणे पुढविकाइयत्ताए वा णो पुढविकाइयत्ताए वा गच्छेज्जा। एवं जाव मणुस्सा ॥ ४४ ॥

छाया—नैरयिकाः द्विगतिकाः, द्व्यागतिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नैरयिको नैरयिकेषूपपद्यमानो मनुष्येभ्यो वा पञ्चेंद्रियतिर्यग्योनिकेभ्यो वा उपपद्यते। स चैव (णं वाक्यालंकारे) स नैरयिको नैरयिकत्वं विप्रजहन् मनुष्यतया वा, पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिकतया वा गच्छेद्। एवं असुरकुमारा अपि। नवरं स चैव स असुरकुमारोऽसुरकुमारत्वं विप्रजहन् मनुष्यतया वा, तिर्यग्योनिकतया वा गच्छेत् एवं सर्वे देवाः।

पृथ्वीकायिकाः द्विगतिकाः, द्व्यागतिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथ्वीकायिकाः पृथ्वीकायिकेषूपपद्यमानाः पृथ्वीकायिकेभ्यो वा, नोपृथ्वीकायिकेभ्यो वोपपद्येत। स चैव सः पृथ्वीकायिकः पृथ्वीकायिकत्वं विप्रजहन् पृथ्वीकायिकतया वा, नोपृथ्वीकायिकतया वा गच्छेत्—एवं यावन्मनुष्याः।

शब्दार्थ—**नेरइया**—नारकियों की, **दुगतिया**—दो गति और, **दुयागतिया पण्णत्ता, तं जहा**—दो आगति प्रतिपादन की गई हैं, जैसे कि, **नेरइए नेरइएसु उववज्जमाणे**—नारकी नैरयिक के रूप में उत्पन्न होता हुआ, **मणुस्सेहिंतो**—मनुष्यों से तथा, **पंचिंदियतिरिक्ख-जोणिएहिंतो उववज्जइ**—पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिकों से उत्पन्न होता है। नारकों में जो मनुष्य से निकल कर नरक में गया है, **से चेव णं से नेरइए**—वही का वही नैरयिक, **णेरइयत्तं**—नैरयिकत्व को, **विप्पजहमाणे मणुस्सत्ताए वा**—छोड़ता हुआ मनुष्यपने तथा, **पंचिंदिय-तिरिक्खजोणियत्ताए वाऽगच्छेज्जा**—पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिकपने में आता है, **एवं असुरकुमारा**

वि—इसी प्रकार असुरकुमारों के विषय में भी जानना चाहिए। **णवरं**—विशेषता इतनी ही है, **से चेव णं से असुरकुमारे**—वही का वही असुरकुमार, **असुरकुमारत्तं विप्पजहमाणे**—असुरकुमारत्व को छोड़ता हुआ, **मणुस्सत्ताए वा**—मनुष्यत्व रूप को अथवा, **तिरिक्ख-जोणित्ताए वा**—तिर्यंचपने को, **गच्छेज्जा**—प्राप्त करता है।

पुढविकाइया—पृथ्वीकायिक जीवों की, **दुगतिया, दुयागतिया पण्णत्ता, तं जहा**—दो गति, दो आगति कथन की गई हैं, जैसे कि, **पुढविकाइए**—पृथ्वीकायिक जीव, **पुढविकाइएसु उववज्जमाणे**—पृथ्वीकाय में उत्पन्न होता हुआ, **पुढविकाइएहिंतो वा**—पृथ्वीकाय से अथवा, **णोपुढविकाइएहिंतो**—पृथ्वीकाय के अतिरिक्त शेष कायों से आकर, **उववज्जेज्जा**—उत्पन्न होता है। **से चेव णं से पुढविकाइए**—वही का वही पृथ्वीकायिक जीव, **पुढवीकाइयत्तं विप्पजहमाणे**—पृथ्वीकाय को छोडता हुआ, **पुढवीकाइयत्ताए**—पृथ्वीकायपने को तथा, **णोपुढविकाइयत्ताए**—पृथ्वीकाय के अतिरिक्त अन्य काय को, **गच्छेज्जा**—प्राप्त करता है। **एवं जाव मणुस्सा**—इसी प्रकार मनुष्यों के विषय में भी जान लेना चाहिए।

मूलार्थ—नारकी जीव द्विगतिक और द्वि-आगतिक होता है। जब नारक जीव नरक में उत्पन्न होता है, तब मनुष्य-गति से या पंचेन्द्रिय तिर्यंच से उत्पन्न होता है। जब वह नरक से निकलता है तब वह मनुष्य में या पंचेन्द्रिय तिर्यंच में उत्पन्न होता है, अन्य किसी गति में नहीं जाता है और न अन्य गति से वहां आता है। इसी प्रकार असुरकुमार से लेकर सब देवों के विषय में भी जानना चाहिए। विशेषता इतनी है, कि—असुरकुमार आदि दस भवनपति, सोलह वानव्यन्तर, पांच ज्योतिष्क और पहले तथा दूसरे देवलोक से देवत्व का परित्याग करके पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय रूप में भी जीव जन्म धारण कर लेता है।

पृथ्वीकाय के जीवों की दो गति और दो आगति हैं, जैसे कि—पृथ्वीकायिक जीव पृथ्वीकाय में उत्पन्न होता हुआ पृथ्वीकाय से और नोपृथ्वीकाय से आकर उत्पन्न होता है, वही पृथ्वीकायिक जीव वहां से निकलता हुआ पुनः पृथ्वीकाय में तथा पृथ्वीकाय से अतिरिक्त अन्य कायों में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार मनुष्य के विषय में भी जानना चाहिए।

विवेचनिका—किसी भी दण्डक में रहता हुआ जीव जो कर्मोपार्जन करता है, उसका फल उस दण्डक में भी भोगता है और अन्य दण्डकों में भी, ऐसा पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट किया गया है, किन्तु इस सूत्र में संक्षेप रूप से जीवों की गति-आगति का वर्णन किया गया है। गति-आगति कर्मानुसार ही होती है। जिस जीव ने नरक की आयु बांध ली है वह भले ही मनुष्य गति में हो या तिर्यंचगति में, किन्तु निश्चय नय से वह नारकी है, जैसे कि—**उदितनारकायुर्नारक एव व्यपदिश्यते**। अतः मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही नरक में

उत्पन्न होते हैं, अन्यगतिक जीव नहीं। नारकी जीव भी इन्हीं दोनों गतियों में आकर उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार असुरकुमार से लेकर सभी देवों के विषय में जान लेना चाहिए अर्थात्—मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच मरकर देव बन सकते हैं, और देव मरकर मनुष्य और तिर्यंच गति में ही आ सकते हैं।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच न कहकर सिर्फ तिर्यंचगति कहने का तात्पर्य है—भवनपति से लेकर ईशानकल्प देवलोक तक का देवता भी पृथ्वी, अप् और वनस्पतिकाय में जन्म ले सकता है। इस सूत्र से यह भी सिद्ध हो जाता है कि—पंचेन्द्रिय तिर्यंच भी देव गति प्राप्त कर सकता है और अशुभ कर्मोदय से देवता भी एकेन्द्रिय जाति में और पंचेन्द्रिय तिर्यंच में जन्म धारण कर सकता है। नारकी पंचेन्द्रिय तिर्यंच मे या मनुष्य में ही जन्म धारण करता है, एकेन्द्रियपने में नहीं।

जिस किसी जीव ने पृथ्वीकाय की आयु बांध ली है वह पृथ्वीकायिक कहलाता है। वह भले ही देव, मनुष्य या तिर्यंच भव में हो, वह जीव पृथ्वीकायिकों में होता हुआ पृथ्वीकाय मे भी उत्पन्न होता है और नोपृथ्वीकाय में भी। वही जीव पृथ्वीकाय को छोड़ता हुआ पुनः पृथ्वीकाय में तथा नोपृथ्वीकाय में उत्पन्न होता है।

तेजस्काय तथा वायुकाय के तथा सातवीं नरक के नारकी, ये तीन प्रकार के जीव अपने स्थान से मृत्यु को प्राप्त होकर मनुष्यगति को प्राप्त नहीं कर सकते और असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य एवं तिर्यंच भी मनुष्यगति में नहीं आ सकते, शेष सर्व गतियों से आकर जीव मनुष्यगति में उत्पन्न हो सकता है।

एकान्त नय का आश्रय लेकर जिनका यह कहना है, कि "मनुष्य मरकर मनुष्य ही होता है और तिर्यंच मर कर तिर्यंच ही" इस एकान्तवाद का स्पष्ट रूप से इस विवेचन द्वारा निराकरण हो जाता है।

नेरइए—इस पद का यह भाव है—**यो मनुष्यत्वादितो नरकं गतः, स एवासौ नारको नान्यः, अनेनैकान्तानित्यत्वं निरस्तमिति वृत्तिः।** अर्थात् जो मनुष्यगति से नरकगति को प्राप्त हुआ है, वही नारक है, अन्य नहीं। इस कथन से क्षणिकवाद का भी खण्डन स्वतः हो जाता है। जैन-दर्शन न एकान्त नित्यवादी है और न एकान्त अनित्यवादी। वह प्रवाह से द्रव्य को नित्य मानता है और पर्याय से अनित्य। "यह वही है" ऐसा कथन क्षणिकवाद में नहीं घटता। अतः सिद्ध हुआ—कर्मानुसार असुरकुमार आदि देव भी च्युत होकर पृथ्वी, अप् और वनस्पतिकाय में उत्पन्न हो जाते हैं। जो सूत्रकार ने **णोपुढविकाइयत्ताए** सूत्र पद दिया है, इसका भाव है—पृथ्वीकायिक जीव देव और नारक को छोड़कर शेष सभी दण्डकों में जन्म ले सकता है।

यह गति-आगति का वर्णन अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से पर्यालोचन करने योग्य है। इस सूत्र से जो लोग मिथ्यात्ववश होकर पितृ-तर्पण और श्राद्ध आदि क्रियाएं करते हैं, उनकी इस मान्यता का निराकरण स्वतः हो जाता है।

चौबीस दण्डकों में द्विविध-जीव

मूल—दुविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—भवसिद्धिया चेव, अभवसिद्धिया चेव, जाव वेमाणिया।

दुविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—अणन्तरोववण्णगा चेव, परंपरोववण्णगा चेव, जाव वेमाणिया।

दुविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—गतिसमावण्णगा चेव, अगतिसमावण्णगा चेव, जाव वेमाणिया।

दुविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—पढमसमओववण्णगा चेव, अपढमसमओववण्णगा चेव, जाव वेमाणिया।

दुविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—आहारगा चेव, अणाहारगा चेव, जाव वेमाणिया।

दुविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—उस्सासगा चेव, णोउस्सासगा चेव, जाव वेमाणिया।

दुविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—सइंदिया चेव, अणिंदिया चेव, जाव वेमाणिया।

दुविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—पज्जत्तगा चेव, अपज्जत्तगा चेव, जाव वेमाणिया।

दुविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—सन्नी चेव, असन्नी चेव। एवं पंचिंदिया, सव्वे विगलिंदियवज्जा जाव वाणमंतरा।

दुविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—भासगा चेव, अभासगा चेव, एवमेगिंदियवज्जा सव्वे।

दुविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—सम्मदिट्ठिया चेव, मिच्छादिट्ठिया चेव, एगिंदियवज्जा सव्वे।

दुविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—परित्तसंसारिया चेव, अपरित्तसंसारिया चेव, जाव वेमाणिया।

दुविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—संखेज्जकालसमयट्ठितिया चेव, असंखेज्जकालसमयट्ठितिया चेव। एवं पंचिंदिया, एगिंदिय-विगलिंदियवज्जा जाव वाणमंतरा।

दुविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—सुलभबोहिया चेव, दुलभबोहिया चेव, जाव वेमाणिया।

दुविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—कण्हपक्खिया चेव, सुक्कपक्खिया चेव, जाव वेमाणिया।

दुविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—चरिमा चेव, अचरिमा चेव, जाव वेमाणिया॥४५॥

छाया—द्विविधाः नैरयिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—भवसिद्धिकाश्चैव, अभवसिद्धिकाश्चैव, यावद् वैमानिकाः।

द्विविधाः नैरयिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अनन्तरोपपन्नकाश्चैव, परम्परोपपन्नकाश्चैव, यावद् वैमानिकाः।

द्विविधाः नैरयिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—गतिसमापन्नकाश्चैव, अगतिसमापन्नकाश्चैव, यावद् वैमानिकाः।

द्विविधाः नैरयिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्रथमसमयोपपन्नकाश्चैव, अप्रथमसमयोपपन्नकाश्चैव, यावद् वैमानिकाः।

द्विविधाः नैरयिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आहारकाश्चैव, अनाहारकाश्चैव। एवं यावद् वैमानिकाः।

द्विविधाः नैरयिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—उच्छ्वासकाश्चैव, नो उच्छ्वासकाश्चैव, यावद् वैमानिकाः।

द्विविधाः नैरयिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सेन्द्रियाश्चैव, अनिन्द्रियाश्चैव, यावद् वैमानिकाः।

द्विविधाः नैरयिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पर्याप्तकाश्चैव, अपर्याप्तकाश्चैव, यावद् वैमानिकाः।

द्विविधाः नैरयिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—संज्ञिनश्चैव, असंज्ञिनश्चैव। एवं पञ्चेन्द्रियाः सर्वे, विकलेन्द्रियवर्जाः यावद् वानव्यन्तराः।

द्विविधाः नैरयिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—भाषकाश्चैव, अभाषकाश्चैव। एवं एकेन्द्रियवर्जा. सर्वे।

द्विविधाः नैरयिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सम्यग्दृष्टिकाश्चैव, मिथ्यादृष्टिकाश्चैव, एकेन्द्रियवर्जाः सर्वे।

द्विविधाः नैरयिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—परित्तसांसारिकाश्चैव, अनन्तसांसारिकाश्चैव, यावद् वैमानिकाः।

द्विविधा नैरयिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—संख्येयकालसमयस्थितिकाश्चैव, असंख्येय-

कालसमयस्थितिकाश्चैव। एवं पंचेन्द्रियाः एकेन्द्रियविकलेन्द्रियवर्जाः यावद् वान-व्यन्तराः।

द्विविधाः नैरिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सुलभबोधिकाश्चैव, दुर्लभबोधिकाश्चैव, यावद् वैमानिकाः।

द्विविधाः नैरयिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कृष्णपाक्षिकाश्चैव, शुक्लपाक्षिकाश्चैव, यावद् वैमानिकाः।

द्विविधाः नैरयिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चरिमाश्चैव, अचरिमाश्चैव, यावद्वैमानिकाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है।)

मूलार्थ—नारकीय से लेकर वैमानिक देवों पर्यन्त सभी दण्डकों में दो तरह के जीव पाए जाते हैं, जैसे कि—

१. भव्य, अभव्य। २. अनन्तरोत्पन्न, परम्परोत्पन्न।

३. गतिप्राप्त, अगतिप्राप्त। ४. प्रथमसमयोत्पन्न, अप्रथमसमयोत्पन्न।

५. आहारक, अनाहारक। ६. उच्छ्वासक, अनुच्छ्वासक।

७. सेन्द्रिय, अनिन्द्रिय। ८. पर्याप्त, अपर्याप्त।

९. संज्ञी, असंज्ञी। पंचेन्द्रिय-दण्डकों में वानव्यतर पर्यन्त जानना।

१०. भाषक, अभाषक। एकेन्द्रियों को छोड़कर।

११. सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि। एकेन्द्रिय को छोडकर।

१२. परित्तसंसारी, अनन्तसंसारी।

१३. संख्यातवर्षायुष्क, असंख्यातवर्षायुष्क। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों को छोड़कर वानव्यंतर पर्यंत जानना।

१४. सुलभबोधिक, दुर्लभबोधिक।

१५. कृष्णपाक्षिक, शुक्लपाक्षिक। १६. चरम, अचरम।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र में भी ससारी जीवो का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है, क्योंकि इस उद्देशक में प्रायः जीवास्तिकाय का ही वर्णन है। जैनागमों में सक्षेप से सभी प्राणियों कि गणना के लिए चौबीस दण्डक बताए गए हैं, जैसे कि—सात नारकों का एक दण्डक, दस भवनपति देवों के दस दण्डक, पांच स्थावरों के पांच दण्डक, तीन विकलेन्द्रियों के तीन दण्डक, तिर्यक् पंचेन्द्रियों का एक दण्डक, मनुष्य का एक दण्डक, वानव्यन्तरों का एक दण्डक, ज्योतिष्क देवों का एक दण्डक और वैमानिक देवों का एक दण्डक।

१. भव्य-अभव्य—जो जीव मोक्ष के योग्य हैं, ये भव्य और जो मोक्ष-प्राप्ति के सर्वथा अयोग्य हैं, वे अभव्य कहलाते हैं। उक्त चौबीस दण्डकों में दोनों प्रकार के जीव पाए जाते हैं।

२. अनन्तरोत्पन्न-परम्परोत्पन्न—किसी भी दण्डक में जब जीव समय-समय में निरंतर उत्पन्न होते हैं, तब वे अनन्तरोत्पन्न कहलाते हैं और जब बीच-बीच में अन्तर डालकर उत्पन्न होते हैं, तब वे परम्परोत्पन्न कहलाते हैं। पाच स्थावरों में जीव समय-समय में ही उत्पन्न होते रहते हैं। त्रसकाय में दोनों प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं निरंतर भी और अन्तर पाकर भी।

३. गतिसमापन्नक-अगतिसमापन्नक—जो जीव नवीन शरीर को धारण करने के लिए गति कर रहे हैं, वे गति-समापन्नक कहलाते हैं और जो आयु-पर्यन्त किसी भव में अवस्थित रहते हैं अर्थात् किसी भी भव में पहुँच चुके हैं, वे गति-समापन्नक हैं। जिन्होंने भवान्तर की आयु बांध ली है, किन्तु अभी भवान्तर में पहुँचे नहीं, वे अगति-समापन्नक हैं। यह भी कहा जा सकता है कि चल और स्थिर ही क्रमशः गतिसमापन्नक और अगति-समापन्नक है।

४. प्रथमसमयोपपन्नक-अप्रथमसमयोपपन्नक—दण्डकों में जिन जीवों को उत्पन्न हुए पहला ही समय हुआ है, वे प्रथमसमयोपपन्नक और जिन्हें उत्पन्न हुए अनेक समय हो चुके है, वे अप्रथमसमयोपपन्नक कहलाते हैं।

५. आहारक-अनाहारक—जो जीव समय-समय में आहार ग्रहण कर रहे हैं, वे आहारक हैं और जो जीव-विग्रह-गति से भवान्तर में जाते हुए एक मोड या दो मोड करते हैं, वे एक या दो समय तक अनाहारक कहलाते हैं। जो जीव त्रसनाडी से मरकर पुनः त्रसनाडी मे ही उत्पन्न होते हैं, वे एक या दो समय अनाहारक रहते हैं, किन्तु लोकनाडी मे प्रविष्ट हुए एकेन्द्रिय जीवों की अनाहारक अवस्था तीन समय की ही होती है। तेरहवे गुणस्थान में समुद्घात के समय केवली तीन समय तक अनाहारक रहते हैं।

६. उच्छ्वासक-नो उच्छ्वासक—जो जीव श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति से युक्त हैं, वे उच्छ्वासक हैं, किन्तु जो उससे बिल्कुल रहित हैं वे नो-उच्छ्वासक कहलाते हैं। जिन जीवों को अभी आहार, शरीर और इन्द्रिय आदि पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हुए हैं, वे नो-उच्छ्वासक जीव कहलाते हैं।

७. सेन्द्रिय-अनिन्द्रिय—जो जीव इन्द्रिय-पर्याप्ति से युक्त हैं, वे सेन्द्रिय और जो उससे रहित एव अपूर्ण हैं, वे अनिन्द्रिय जीव कहलाते हैं।

८. पर्याप्तक-अपर्याप्तक—जो जीव पर्याप्ति नामकर्म प्रकृति से युक्त हैं, वे पर्याप्तक जीव हैं और जो इन से भिन्न हैं, वे अपर्याप्तक कहलाते हैं। यहां लब्धि-अपर्याप्त से तात्पर्य है, न कि करण अपर्याप्त से। जिन्होंने अपर्याप्त-अवस्था में ही काल कर जाना है, वे लब्धि-अपर्याप्त हैं और जिन्होंने निश्चय ही पर्याप्त दशा को प्राप्त करना है, वे करण-अपर्याप्त कहलाते हैं।

उपर्युक्त आठ युगल-भेदों से युक्त जीव चौबीस दण्डकों में पाए जाते हैं।

९. संज्ञी-असंज्ञी—मनः पर्याप्ति वाले जीव संज्ञी और जिन्हें द्रव्य मन की प्राप्ति नही हुई, वे असंज्ञी कहे जाते हैं। ज्योतिष्क और वैमानिक के अतिरिक्त शेष सभी जीव संज्ञी-असंज्ञी दो तरह के होते हैं। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय सभी असंज्ञी होते हैं। यद्यपि नारकी, भवनपति और वानव्यन्तर जीव संज्ञी होते हैं, तदपि असंज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय उनमें जन्म लेते हैं। जिन की स्थिति कम से कम दस हजार वर्ष की है और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की है, उनमें असंज्ञी जीव उत्पन्न होते हैं, अधिक स्थिति में नही। उनमे ज्ञान भी स्वल्प ही होता है। वे अप्रशस्त लेश्या में ही आयु यापन करते हैं।

१०. भाषक-अभाषक—जिन जीवों की भाषा-पर्याप्ति पूर्णतया उदय मे आ गई है, वे भाषकजीव कहलाते हैं और जिन छोटे-बड़े त्रस प्राणियों को अभी भाषा-पर्याप्ति नहीं हो पाई वे अभाषक होते हैं। स्थावर जीव अभाषक ही होते हैं, क्योंकि उनके काययोग और स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है, रसनेन्द्रिय नही।

११. सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि—पांच स्थावरो के अतिरिक्त शेष उन्नीस दण्डकों मे सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनो तरह के जीव पाए जाते है। कुछ अपर्याप्त विकलेन्द्रियो मे सास्वादन सम्यक्त्व भी पाया जाता है। सम्भव सभी पर्याप्तियां पूर्ण होने के अनन्तर वे जीव मिथ्यादृष्टि भी हो जाते हैं।

१२. परित्तसंसारी-अनन्तसंसारी—संक्षिप्त भव वाले जीव परित्त ससारी हैं और जिनके अभी अनन्त भव शेष रहते है, उन्हें अनन्त संसारी कहते हैं। सभी दण्डकों मे दोनो तरह के जीव पाए जाते है।

१३. संख्येयकालसमयस्थितिक—असंख्येयकालसमयस्थितिक—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव संख्यात वर्षायुष्क होते है, ज्योतिष्क एव वैमानिक असंख्यात वर्षायुष्क ही होते हैं। शेष दण्डको में दोनो तरह के जीव पाए जाते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि सूत्रकार ने काल और समय दोनो का एक साथ प्रयोग क्यों किया? जब कि एक से भी काम चल सकता है।

इसके उत्तर में कहना यह है, कि—जब काल और समय दोनो का एक साथ प्रयोग किया जाता है, तब दोनों एक दूसरे के पूरक-पोषक होते हैं, अन्यथा काल का अर्थ काला भी होता है। समय का अर्थ सिद्धान्त व आचार आदि भी होता है। इन अर्थों से व्यावृत्ति करने के लिए सूत्रकार ने काल के साथ समय का प्रयोग किया है। अथवा काल पूरक सख्या को कहते हैं और अपूरक संख्या को समय कहा जाता है। जैसे किसी की आयु सौ वर्ष की है, यह काल हुआ। दो-चार दिन न्यूनाधिक हो जाना समय कहलाता है। इस आशय को लेकर संभव है सूत्रकार ने काल-समय का प्रयोग एक साथ किया हो। वृत्तिकार भी इस विषय में लिखते हैं—

कालः कृष्णोऽपि स्यात्, समय आचारोऽपिस्यादतः कालश्चासौ समयश्चेति कालसमयः।

१४. सुलभबोधिक-दुर्लभबोधिक—जिन जीवों को जिन-धर्म की प्राप्ति सुलभता से हो सके, वे सुलभबोधिक जीव हैं। इससे विपरीत जिन्हें बड़ी कठिनाई से धर्म प्राप्त हो सके, वे दुर्लभ-बोधिक कहलाते हैं। सभी दण्डकों में सुलभबोधी और दुर्लभबोधी जीव विद्यमान हैं।

१५. कृष्णपाक्षिक-शुक्लपाक्षिक—अभव्यात्मा, नास्तिक, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और अनन्तानन्तकाल पर्यन्त संसार में परिभ्रमण करने वाले जीव कृष्णपाक्षिक और क्रियावादी, आस्तिक, आत्मवादी, अहिंसावादी इत्यादि जीव शुक्लपाक्षिक कहलाते हैं। सभी दण्डकों में दोनों तरह के जीव पाए जाते हैं। वृत्तिकार लिखते हैं—

पाक्षिकदण्डके शुक्लो विशुद्धत्वात्पक्षः—अभ्युपगमः शुक्लपक्षस्तेन चरन्तीति शुक्लपाक्षिकाः, शुक्लत्वञ्च क्रियावादित्वेति। आह च—

"किरियावाई भव्वे णो अभव्वे, सुक्कपक्खिए, णो किण्हपक्खिए त्ति" आस्तिकत्वेन विशुद्धानां पक्षि—वर्गः शुक्लपक्षस्तत्रभवाः शुक्लपाक्षिकाः, तद्विपरीतास्तु कृष्णपाक्षिका इति।

१६. चरम-अचरम—जो एक भव लेकर मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं, उन्हें चरम और शेष को अचरम कहते हैं। गति की अपेक्षा से और स्थिति की अपेक्षा से, भव की अपेक्षा से, क्षेत्र की अपेक्षा से जो अन्तिम हैं, वे चरम, शेष अचरम कहलाते हैं।

सूत्रकार ने आदि में भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक तथा अन्त में चरम और अचरम का कथन किया है। इनका सम्बन्ध परस्पर इस प्रकार से होता है—भवसिद्धिक जीव ही चरम हो सकता है और अभवसिद्धिक जीव सदैव अचरम अवस्था में ही रहता है।

इस प्रकार सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में जीवों का अनेक दृष्टियों से अनेकविध वर्गीकरण प्रस्तुत करके जीव-विज्ञान का सूक्ष्म स्वरूप प्रदर्शित किया है, जिससे सूत्रकार के अतीन्द्रिय-ज्ञान की उत्कृष्टता अभिव्यक्त हो रही है।

जीव की द्विविध-अनुभूतियां

मूल—दोहिं ठाणेहिं आया अहोलोगं जाणइ पासइ, तं जहा—समोहएणं चेव अप्पाणेणं आया अहोलोगं जाणइ, पासइ, असमोहएणं चेव अप्पाणेणं आया अहोलोगं जाणइ, पासइ। आधोहि समोहयासमोहएणं अप्पाणेणं आया अहोलोगं जाणइ, पासइ, एवं तिरियलोगं, उड्ढलोगं केवलकप्पलोगं।

दोहिं ठाणेहिं आया अहोलोगं जाणइ, पासइ, तं जहा—विउव्विएणं चेव, अप्पाणेणं आया अहोलोगं जाणइ, पासइ, आहोहि विउव्विया-विउव्विएणं अप्पाणेणं आया अहोलोगं जाणइ, पासइ। एवं तिरियलोगं, उड्ढलोगं, केवलकप्पलोगं।

दोहिं ठाणेहिं आया सद्दाइं सुणइ, तं जहा—देसेणवि आया सद्दाइं सुणइ सव्वेण वि आया सद्दाइं सुणइ। एवं रूवाइं पासइ, गंधाइं अग्घाइ, रसाइं आसाएइ, फासाइं पडिसंवेदेइ।

दोहिं ठाणेहिं आया ओभासइ, तं जहा—देसेण वि आया ओभासइ सव्वेण वि आया ओभासइ एवं पभासइ-विकुव्वइ, परियारेइ, भासं भासइ, आहारेइ, परिणामेइ, वेदेइ, निज्जरेइ।

दोहिं ठाणेहिं देवे सद्दाइं सुणेइ तं जहा—देसेणवि देवे सद्दाइं सुणेइ, सव्वेण वि सद्दाइं सुणेइ, जाव निज्जरेइ।

मरुया देवा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—एगसरीरे चेव, बिसरीरे चेव। एवं किन्नरा, किंपुरिसा, गंधव्वा, णागकुमारा, सुव्वण्णकुमारा, अग्गि-कुमारा, वाउकुमारा।

देवा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—एगसरीरे चेव, बिसरीरे चेव ॥ ४६ ॥

छाया—द्वाभ्यां स्थानाभ्यामात्मा अधोलोकं जानाति, पश्यति, तद्यथा—समवहतेन चैव आत्मना अधोलोकं जानाति, पश्यति, असमवहतेन चैव आत्मना अधोलोकं जानाति पश्यति, यथावधि—अधोऽवधिः समवहतासमवहतेन चैव आत्मना अधोलोकं जानाति, पश्यति। एवं तिर्यग्लोकम्, ऊर्ध्वलोकम्, केवलकल्पलोकम्।

द्वाभ्यां स्थानाभ्यामात्मा अधोलोकं जानाति, पश्यति, तद्यथा—विकुर्वितेन चैव आत्मना आत्मा अधोलोकं जानाति, पश्यति, अविकुर्वितेन चैव आत्मना आत्मा अधो-लोकं जानाति, पश्यति, विकुर्विताविकुर्वितेन चैव आत्मना आत्मा अधोलोकं जानाति, पश्यति। एवं तिर्यग्लोकम्। ऊर्ध्वलोकम्। केवलकल्पलोकम्।

द्वाभ्यां स्थानाभ्यामात्मा शब्दान् शृणोति, तद्यथा—देशेनाप्यात्मा शब्दान् शृणोति, सर्वेणाप्यात्माशब्दान् शृणोति। एवं रूपाणि पश्यति, गन्धान् आजिघ्रति, रसानास्वादयति, स्पर्शान् प्रतिसंवेदयति।

द्वाभ्यां स्थानाभ्यामात्माऽवभासते, तद्यथा—देशेनाप्यात्मा अवभासते, सर्वेणाप्यात्मा अवभासते, एवं प्रभासते। विकुर्वति, परिचारयति, भाषां भाषते, आहारयति, परिणमयति, वेदयति, निर्जरयति।

द्वाभ्यां स्थानाभ्यां देवः शब्दान् शृणोति—देशेनापि देवः शब्दान् शृणोति, सर्वेणापि देवः शब्दान् शृणोति यावत् निर्जरयति।

मरुतो देवाः द्विविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एकशरीराश्चैव, द्विशरीराश्चैव। एवं किन्नराः, किंपुरुषाः, गन्धर्वाः, नागकुमाराः, सुपर्णकुमाराः, अग्निकुमाराः, वायु-

कुमाराः। देवाः द्विविधा प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एकशरीराश्चैव द्विशरीराश्चैव।

शब्दार्थ—दोहिं ठाणेहिं—दो स्थानों से, **आया**—आत्मा, **अहोलोगं**—अधोलोक को, **जाणइ**—जानता है और, **पासइ**—देखता है, **तं जहा**—जैसे कि, **अप्पाणेणं समोहएणं चेव**—अपने द्वारा किए हुए समुद्घात से, **आया**—आत्मा, **अहोलोगं जाणइ, पासइ**—पाताल लोक को जानता व देखता है, अथवा, **अप्पाणेणं असमोहएणं चेव**—अपने द्वारा नहीं किए हुए समुद्घात से, **आया**—आत्मा, **अहोलोगं जाणइ, पासइ**—रसातल लोक को जानता व देखता है, **आधोहि समोहयासमोहएणं अप्पाणेणं**—अधोवर्ती अवधि या नियत क्षेत्र विषयक अवधि से अपने द्वारा किए हुए या बिना किए हुए समुद्घात के द्वारा, **आया अहोलोगं जाणइ, पासइ**—अधोलोक को आत्मा जानता व देखता है। **एवं तिरियलोगं**—इसी प्रकार मध्य लोक को जानता व देखता है, **उड्ढं लोगं**—ऊर्ध्वलोक को और, **केवलकप्पलोगं**—सम्पूर्ण लोक को आत्मा जानता व देखता है।

दोहिं ठाणेहिं—दो तरह से, **आया**—आत्मा, **अहोलोगं जाणइ, पासइ, तं जहा**—अधोलोक को जानता व देखता है, जैसे कि, **विउव्विएणं चेव अप्पाणेणं आया जाणइ पासइ**—अपने द्वारा किए हुए वैक्रिय से जानता व देखता है, **अविउव्विएणं चेव अप्पाणेणं आया अहोलोगं जाणइ, पासइ**—अपने द्वारा नहीं किए हुए वैक्रिय से आत्मा अधोलोक को जानता व देखता है, **आहोहि विउव्वियाविउव्विएणं अप्पाणेणं**—यथा अवधि—अधोऽवधि अपने द्वारा किए हुए वैक्रिय या बिना वैक्रिय के, **आया**—आत्मा, **अहोलोगं जाणइ, पासइ**—अधोलोक को जानता व देखता है। **एवं तिरियलोगं**—इसी प्रकार मध्यलोक को, **उड्ढलोगं**—ऊर्ध्वलोक को, **केवलकप्पलोगं**—अखण्डलोक को जानता व देखता है।

दोहिं ठाणेहिं—दो प्रकार से, **आया**—आत्मा, **सद्दाइं सुणइ**—शब्दो को सुनता है, **तं जहा**—जैसे कि, **देसेण वि आया सद्दाइं सुणइ**—देश-अंश से भी आत्मा शब्द सुनता है और, **सव्वेण वि आया सद्दाइं सुणइ**—सर्व प्रकार से भी आत्मा शब्द सुनता है, **एवं-रूवाइं पासइ**—इसी प्रकार रूप देखता है, **गंधाइं अग्घाइ**—गन्ध सूंघता है, **रसाइं आसायइ**—रस का आस्वादन करता है, **फासाइं पडिसंवेदेइ**—स्पर्शों का अनुभव करता है।

दोहिं ठाणेहिं—दो प्रकार से, **आया**—आत्मा, **ओभासइ**—उद्योतित होता है, **तं जहा**—जैसे कि, **देसेण वि आया ओभासइ**—अंश रूप से भी आत्मा प्रकाशित होता है और, **सव्वेणावि आया ओभासइ**—प्रदीप की तरह सर्व प्रकार से भी आत्मा प्रकाशित होता है। **एवं पभासइ**—इसी प्रकार विशेष रूप से प्रकाशित होता है, **विकुव्वइ**—वैक्रिय करता है, **परियारेइ**—परिचारणा करता है, **भासं भासइ**—भाषा भाषण करता है, **आहारेइ**—आहार करता है, **परिणामेइ**—परिणमन करता है, **वेदेइ**—दुःख-सुख की अनुभूति करता है, **निज्जरेइ**—निर्जरा करता है।

दोहिं ठाणेहिं देवे सद्दाइं सुणेइ, तं जहा—दो तरह से देव शब्दों को सुनता है, जैसे

कि, **देसेण वि देवे सद्दाइं सुणेइ**—देवता देश रूप से भी शब्द को सुनता है और, **सव्वे** **वि देवे सद्दाइं सुणइ**—सर्व प्रकार से भी देवता शब्द सुनता है, **जाव निज्जरेइ**—याव निर्जरा करता है।

मरुया देवा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—मारुत देव दो तरह के होते हैं, जैसे कि **एगसरीरे चेव**—एक शरीर वाले और, **बिसरीरे चेव**—दो शरीर वाले-भवधारणीय औ उत्तरवैक्रिय शरीर वाले, **एवं**—इसी प्रकार, **किन्नरा**—किन्नर देव, **किंपुरिसा**—किंपुरु देव, **गंधव्वा**—गन्धर्व देव, **णागकुमारा**—नागकुमार देव, **सुवण्णकुमारा**—सुपर्णकुमा **अग्गिकुमारा**—अग्निकुमार, **वायुकुमारा**—वायुकुमार देव। **देवा दुविहा पण्णत्ता,** **जहा**—ज्योतिष्क और वैमानिक देव भी दो तरह से प्रतिपादन किए गए है, जैसे कि **एगसरीरे चेव**—एक शरीर और, **बिसरीरे चेव**—दो शरीरी पूर्वोक्त प्रकार से जानने चाहिए

मूलार्थ—आत्मा दो प्रकार से अधोलोक को जानता व देखता है, जैसे कि-समुद्घात किए जाने पर, या उस के न किए जाने पर अवधिज्ञान आदि द्वारा जानत है और देखता है, एवं उभयावस्था में भी जानना चाहिए। इसी तरह मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक को और सम्पूर्णलोक को प्रत्यक्ष करता है।

दो प्रकार से आत्मा नीचे लोक मे रहे हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव क जानता व देखता है, जैसे कि—किए हुए वैक्रिय शरीर से या बिना वैक्रिय कि यथावधि जानता व देखता है, जिस प्रकार अवधि का हो रहा है, उसके द्वा अधोलोक का प्रत्यक्ष करता है। मध्य एवं ऊर्ध्वलोक को तथा सम्पूर्णलोक क भली भान्ति जानता व देखता है।

आत्मा शब्दों को दो तरह से सुनता है, जैसे कि—अंश रूप से या सर्व रूप से इसी प्रकार देश से या सर्व से रूपों को देखता है। देश और सर्व से गन्धों को सूंघत है। इसी प्रकार दो तरह से रसों को चखता है और स्पर्शो की अनुभूति करता है

दो प्रकार से आत्मा जगमगाता है—अश से और सम्पूर्ण रूप से। इसी प्रकार दो-दो भेद अवशिष्ट क्रियाओं के साथ जोड़ने चाहिएं, जैसे कि—प्रकाशित होता है विकुर्वणा करता है—परिचारणा करता है, बोलता है, आहार करता है, परिणम करता एवं निर्जरा करता है। निर्जरा तक देवता भी देश और सर्व से ही उपर्युक सभी क्रियाएं करता है।

मरुत नामक लोकान्तिक देव एक शरीर वाले भी होते हैं और दो शरीर वा भी। एक शरीर वाले हैं तो भवधारणीय हैं, यदि दो शरीर वाले हों तो भवधारणी एवं उत्तरवैक्रिय होते हैं। इसी प्रकार किन्नर, किंपुरुष, गन्धर्व, नागकुमार, सुपर्णकुमा अग्निकुमार और वायुकुमार के विषय में जानना चाहिए।

देवता दो प्रकार के कथन किए हैं—एक शरीरी और दो शरीरी। एक शरीरी भवधारणीय हैं और द्विशरीरी भवधारणीय एवं उत्तर वैक्रिय वाले होते हैं।

विवेचनिका—इस सूत्र में योग-जन्य शक्ति का तथा लोकप्रमाण- ज्ञान-शक्ति का उल्लेख किया गया है। जितनी लब्धियां जीव को प्राप्त हो सकती हैं उनमें कुछ लब्धियां *औदयिक भाव से होती हैं, जैसे कि तीर्थंकर-नामकर्मलब्धि, आहारक लब्धि, वैक्रिय-लब्धि* इत्यादि लब्धियां पुण्योदय से ही प्राप्त होती हैं। कुछ औपशमिक भाव से, कुछ क्षायिक भाव से और कुछ क्षायोपशमिक भाव से उत्पन्न हुआ करती हैं।

आहारक-लब्धि और वैक्रिय-लब्धि को जब व्यक्त किया जाता है, तब आत्मा के प्रदेशों में जो हलचल होती है उसे ही समुद्घात कहते हैं। जब किसी भी विवक्षित दिशा में रहे हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की जानकारी के लिए आहारक शरीर या वैक्रिय शरीर की रचना करते हैं, तो वह रचना समुद्घात से होती है। जिनको सुस्पष्ट ज्ञान हो रहा है, वे बिना समुद्घात किए भी जान रहे हैं। जहां मौलिक शरीर गमन नहीं कर सकता एवं अवधिज्ञान भी दूरदेश स्थित विषय को ग्रहण नहीं कर रहा हो वहां चेतना-युक्त उत्तर-वैक्रिय शरीर से भी अधोलोक-वर्ती जिज्ञासित विषय का ज्ञान हो सकता है तथा आहारक शरीर के द्वारा भी।

आधोहि—*इस पद के दो संस्कृत रूप बनते हैं—यथावधिः, अधोऽवधिः। जिसको* जैसा अवधिज्ञान प्राप्त है, अथवा परमावधिज्ञान से नीचे-नीचे अवधिज्ञान के जितने भेद हैं, उनमें से किसी एक से अथवा अवधिज्ञान का विषय प्रायः अधो-दिशा की ओर अधिक है, इस कारण सूत्रकार ने 'आधोहि' पद का प्रयोग किया है। इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—

आहोहीत्यादि, यत्प्रकारोऽवधिरूपेति यथावधिः, आदि दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्परमावधेर्वाऽधोवर्त्यवधिर्यस्य सोऽधोऽवधिरात्मा नियतक्षेत्रविषयाऽवधिज्ञानी स कदाचित् समवहतेन कदाचिदन्यथेति, समवहताऽसमवहतेनेति।

अप्पाणेणं आया—इस पद से यह ध्वनित होता है कि ज्ञान से आत्मा सभी दिशाओं व विदिशाओं को जानता व देखता है, सम्पूर्ण लोक का भी उसे ज्ञान हो सकता है।

केवलकल्प—यह शब्द आगम-भाषा में प्रतिपूर्ण अर्थ में व्यवहृत होता है। अनुत्तर विमानी देवता भी सम्पूर्ण लोक को नहीं प्रत्यक्ष कर सकते। अपनी विमान-ध्वजा का उपरि भाग उनके प्रत्यक्ष से बाहर है। सम्पूर्ण लोक को केवल मनुष्य ही अवधिज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष कर सकता है, अन्य-योनिक जीव नहीं। इतना महान् सर्वतोमुखी विषयग्राही अवधि-ज्ञान मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं हो सकता है। यही तो मनुष्य की महत्ता है।

इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे लक्ष्य में रखकर सूत्रकार कहते हैं—पांच इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह दो तरह का होता है—आंशिकज्ञान और समग्रज्ञान।

जब किसी पदार्थ के कुछ अंशों का ही ज्ञान होता है, तब वह आंशिक ज्ञान कहलाता है और जब पदार्थों के अन्तः-बाह्य सम्पूर्ण रूप का ज्ञान होता है उसे समग्रज्ञान कहा जाता है। अथवा—किसी व्यक्ति का एक श्रोत्र बलहीन हो गया है, वह एक ही श्रोत्र से सुनता है उसे देश से सुनना कहा जाएगा और जब दोनों श्रोत्रों से सुना जाता है तब वह सर्व से सुनना कहलाएगा। अथवा श्रोत्रेन्द्रिय से सुनना देश से, जिस किसी मुनिराज को संभिन्न-श्रोत्र-लब्धि प्राप्त हो गई हो, वह सर्वेन्द्रियों से सुनता है, अतः वह सर्व से सुनना कहलाएगा। कहा भी है—**यो वा संभिन्नश्रोत्रोऽभिधानलब्धियुक्तः सः सर्वेन्द्रियैः श्रृणोतीति सर्वेणेति व्यपदिश्यते इति वृत्तिः**। इसी प्रकार रूप, गन्ध, रस और स्पर्श के विषय में भी जानना चाहिए।

ओभासइ—जो आत्मा यशः-कीर्ति से या ज्ञान से प्रकाशित हैं, उनके लिए सूत्रकार ने **ओभासइ** क्रिया का प्रयोग किया है। अथवा बाह्य-अवधिज्ञान से जो भासित हो रहा है वह देश-अवभासित और आभ्यन्तर-अवधिज्ञान से जो भासित हो रहा है वह सर्व-अवभासित कहलाता है।

पभासइ—इस क्रियापद से यह संकेत मिलता है कि—जो आत्मा क्षायोपशमिक ज्ञान से या चतुर्ज्ञान से जगमगा रहा है, वह देश से और जो क्षायिकज्ञान अर्थात् केवलज्ञान से प्रकाशित हो रहा है, वह सर्व से वस्तु-तत्त्व को जानता एवं देखता है।

विकुव्वइ—किसी विवक्षित अंगी के अंग जैसे हाथ-पांव आदि वैक्रिय-शक्ति से बनाना देश-वैक्रिय कहलाता है और सर्वांग-प्रतिपूर्ण शरीर बनाना, सर्व से वैक्रिय कहलाता है। वैक्रिय-शक्ति-सम्पन्न आत्मा दोनो तरह से वैक्रिय करता है।

परियारेइ—सवेदी आत्मा दोनों तरह से परिचारणा—मैथुन-क्रीडा करता है। तीन योगों में से किसी एक या दो योग से परिचारणा करना देश से और तीन योगों से परिचारणा करना सर्व से की जाने वाली परिचारणा कहलाती है।

भासइ—भाषक आत्मा दो तरह से बोलता है—देश से और सर्व से, जिह्वा के अग्रभाग से बोलना या तुतलाकर बोलना या प्रान्तीय भाषा में बोलना देश से और समस्त ताल्वादि स्थानों से बोलना, सुस्पष्ट बोलना, या अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बोलना सर्व से कहलाता है अथवा अविकसित अवस्था में बोलना देश से तथा विकसित अवस्था में बोलना सर्व से कहलाता है।

आहारेइ—जीवात्मा दो प्रकार से आहार करता है—देश से और सर्व से। मुख के द्वारा, नासिका एवं इंजैक्शन आदि के द्वारा खाद्य-पेय का आहार करना देश से और ओजाहार तथा रोमाहार करना, यह सर्व से आहार ग्रहण करना कहलाता है।

परिणामेइ—आहार किए हुए पदार्थों को आत्मा ही खल एवं रस भाग में परिणत करता है। परिणमन दो तरह का होता है—बदहजमी—अजीर्ण प्लीहा आदि रोग होने पर देश से परिणमन करता है और नीरोग व्यक्ति सर्वरूप से परिणमन किया करता है।

वेदेइ—आंशिक व सर्वरूप से कर्मों का फल भोगना ही वेदना है। आत्मा कर्मों के फल की दो रूपों में अनुभूति करता है। शरीर के किसी एक भाग में पीडा होना, फोडा-फुन्सी का निकलना, देश रूप से वेदना अर्थात् अनुभूति कहलाती है और दाह-ज्वर, शीतज्वर सर्वांगव्यापी पीड़ा आदि के रूप में सर्व रूप से वेदना कहलाती है।

निज्जरेइ—आत्मा जब आहारित, परिणमित, वेदित पुद्‌गलों का परित्याग करता है तब वह एक देशीय निर्जरा है और जब पसीने की तरह सर्वांग से परित्याग करता है तब वह सर्व प्रकार से निर्जरा कहलाती है अथवा जहां तक मोहनीय कर्म का बन्धक है, वहां तक देशरूप से कर्मों की निर्जरा होती है और मोहनीय कर्म की अपेक्षा सर्वथा अबन्धक होना सर्वरूप से निर्जरा है। दोनों तरह की निर्जरा आत्मा ही करता है।

सूत्रकार ने जैसे आत्मा के विषय में देशरूप से और सर्वरूप से विश्लेषण किया है, वैसे ही देवता के विषय में भी विश्लेषण प्रस्तुत किया है। देवता भी निर्जरा तक यथासंभव चौदह क्रियाओ को देशतः और सर्वतः ही किया करते हैं।

नौ लोकान्तिक देवों में मरुत् नामक विमानवासी देवों का ही उल्लेख किया गया है। इससे देहली-दीपक-न्याय से सभी लोकान्तिक देवों का ग्रहण हो जाता है। वे ब्रह्मदेवलोक में कृष्णराजि के अन्तराल में रहते हैं। उनकी आयु आठ सागरोपम की है, इससे न्यून अधिक नहीं। वे प्रायः भद्र स्वभाव के होते हैं। इसी कारण उनके ऊपर किसी का शासन नहीं है। वे सदाकाल से स्वतन्त्र हैं। उनके नौ विमान हैं, उनमें रहने वाले सभी लोकान्तिक देव कहलाते हैं। उमास्वाति जी ने लिखा है—

'सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्चेति'

—तत्त्वार्थ सूत्र अ ४, सू २६।

इस सूत्र में लोकान्तिक देवों में मरुत् नामक एक जाति का उल्लेख किया गया है। किन्नर, किपुरुष और गन्धर्व ये तीन जातियां वान- व्यन्तरों की ग्रहण की गई हैं। नागकुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार और वायुकुमार ये चार जातियां भवनवासी देवों की हैं। इससे तज्जातीय अन्तर्वर्ती सभी जाति और भेदों के ग्रहण करने के लिए निर्देश किया गया है न कि अन्य जातियों के व्यवच्छेद के लिए। ज्योतिष्क और वैमानिक देवों का उल्लेख सूत्रकार ने अलग किया है। देवों का विग्रहगति मे एक ही शरीर होता है और शेषकाल में वे द्विशरीरी भी होते हैं अर्थात् भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय नामक दो शरीर धारण करते हैं, अथवा जब वे अपने मूल शरीर में होते हैं, तब एक शरीर और उत्तर-वैक्रिय के समय द्विशरीर वाले हो जाते हैं।

इस प्रकरण में यह विशेष ज्ञातव्य है कि सभी अहमिन्द्र देव एक भवधारणीय शरीर वाले ही होते हैं, शेष सभी देव भवधारणीय और उत्तर-वैक्रिय शरीरधारी हुआ करते हैं।

॥ द्वितीय स्थान का द्वितीय उद्देशक सम्पूर्ण ॥

द्वितीय स्थान

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक में जीव-तत्त्व का अनेक रूपों में वर्णन किया गया है। अब तृतीय उद्देशक में पुद्गल, जीव, धर्म, क्षेत्र, द्रव्य, लक्षण और पदार्थों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाएगा।

शब्द विवेचन

मूल—दुविहे सद्दे पण्णत्ते, तं जहा—भासासद्दे चेव, णोभासासद्दे चेव।

भासासद्दे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अक्खर-संबद्धे चेव, णोअक्खरसंबद्धे चेव।

णोभासासद्दे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—आउज्जसद्दे चेव, णोआउज्जसद्दे चेव।

आउज्जसद्दे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—तते चेव, वितते चेव।

तते दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—घणे चेव, झुसिरे चेव, एवं वितते वि।

णोआउज्जसद्दे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—भूसण-सद्दे चेव, नोभूसणसद्दे चेव।

नो भूसणसद्दे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—ताल-सद्दे चेव, लतिया-सद्दे चेव।

दोहिं ठाणेहिं सद्दुप्पाए सिया तं जहा—साहन्नंताणं चेव पोग्गलाणं सद्दुप्पाए सिया, भिज्जंताणं चेव पोग्गलाणं सद्दुप्पाए सिया ॥४७॥

छाया—द्विविधः शब्दः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—भाषाशब्दश्चैव, नोभाषाशब्दश्चैव।

भाषा शब्दो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अक्षर-संबद्धश्चैव, नोअक्षर- संबद्धश्चैव।

नोभाषाशब्दो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—आतोद्यशब्दश्चैव, नोआतोद्यशब्दश्चैव।

आतोद्यशब्दो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ततश्चैव, विततश्चैव।

ततो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथाः—घनश्चैव, शुषिरश्चैव। एवं विततोऽपि।

नोआतोद्यशब्दो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—भूषणशब्दश्चैव, नोभूषणशब्दश्चैव।

नोभूषणशब्दो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—तालशब्दश्चैव, लतिकाशब्दश्चैव।

द्वाभ्यां स्थानाभ्यां शब्दोत्पादः स्यात्, तद्यथा—संहन्यमानानां चैव पुद्गलानां शब्दोत्पादः स्यात्, भिद्यमानानां चैव पुद्गलानां शब्दोत्पादः स्यात्।

शब्दार्थ—दुविहे सद्दे पण्णत्ते, तं जहा—शब्द दो प्रकार से कथन किए गए है, जैसे कि, **भासासद्दे चेव**—भाषा शब्द और, **णोभासासद्दे चेव**—नोभाषा शब्द। पुनः, **भासासद्दे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—भाषा शब्द दो प्रकार से वर्णित है, जैसे कि, **अक्खर-संबद्धे चेव**—अक्षर-बद्ध और, **णोअक्खरसंबद्धे चेव**—अनक्षर-बद्ध। **णोभासासद्दे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—नोभाषा शब्द दो प्रकार से वर्णित है, जैसे कि, **आउज्जसद्दे चेव**—वाद्य-शब्द और, **णोआउज्जसद्दे चेव**—वाद्य के अतिरिक्त शब्द, **आउज्जसद्दे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—आतोद्य-शब्द दो तरह से प्रतिपादित किया गया है, जैसे कि, **तते चेव**—तत शब्द—मृदग-ढोल आदि से उत्पन्न, **वितते चेव**—वितत शब्द—सारंगी आदि से उत्पन्न, **तते दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—तत शब्द दो प्रकार से कथन किया गया है, जैसे कि, **घणे चेव**—घन शब्द-झालर-घटा आदि जन्य शब्द, **झुसिरे चेव**—शुषिर शब्द—बंसी-शख आदि से उत्पन्न, **एवं वितते वि**—इसी प्रकार वितत के विषय में भी जानना चाहिए।

णोआउज्जसद्दे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—वाद्य अतिरिक्त अन्य शब्द दो प्रकार से प्रतिपादित किए गए है, जैसे कि, **भूसणसद्दे चेव**—भूषण-शब्द और, **णोभूसणसद्दे चेव**—नो-भूषण शब्द। इनमे से, **णोभूसणसद्दे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—नो-भूषण शब्द दो तरह के बताए गए हैं, जैसे कि, **ताल-सद्दे चेव**—हस्त-ताल और, **लतिया-सद्दे चेव**—लात का शब्द।

दोहिं ठाणेहिं—दो प्रकार से, **सद्दुप्पाए सिया**—शब्द की उत्पत्ति होती है, **तं जहा**—जैसे कि, **साहन्नंताणं चेव पोग्गलाणं**—पुद्गलों के भिडने से तथा, **भिज्जंताणं चेव पोग्गलाणं**—पुद्गलों के खण्डित होने से, **सद्दुप्पाए सिया**—शब्द उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—शब्द दो प्रकार से प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे कि—भाषा-शब्द और भाषा-रहित शब्द। भाषा शब्द के दो भेद हैं—१. अक्षर-संबद्ध, २. अनक्षर-संबद्ध। नो भाषा शब्द के दो भेद हैं—१. वाद्य-शब्द और नोवाद्य शब्द। आतोद्य—वाद्य-शब्द के दो भेद हैं—१. तत और २. वितत। तत शब्द के दो भेद हैं—१. घन और २. शुषिर। इसी प्रकार वितत के भी दो भेद जानने चाहिएं। नो-आतोद्य-शब्द के दो भेद हैं—१. भूषण-शब्द और २. नोभूषण-शब्द। पुनः नोभूषण-शब्द के दो भेद हैं—

ताल-शब्द और लतिया-शब्द।

दो प्रकार से शब्द की उत्पत्ति होती है—पुद्‌गल के पारस्परिक संघर्ष से और पुद्‌गलों के विदारण से।

विवेचनिका—इस सूत्र में शब्द का वर्णन किया गया है। शब्द तीन प्रकार का होता है, जैसे कि—जीव-शब्द, अजीव-शब्द और मिश्र-शब्द। इन तीनों में सभी शब्दों का अन्तर्भाव हो जाता है। चौथे प्रकार का शब्द विश्व भर में नहीं है। जीव के द्वारा जो शब्द होता है, उसके दो ही प्रकार हैं—एक अक्षरात्मक और दूसरा अनक्षरात्मक। उक्त दोनों शब्दों का समावेश भाषा में हो जाता है। सूत्रकार ने जीव शब्द को भाषा के नाम से व्यवहृत किया है, क्योंकि भाषा-पर्याप्ति-नाम-कर्मोदय से उत्पन्न हुआ जीव शब्द भाषा ही कहलाता है। जो जीव के द्वारा बोलने में आती है, वही भाषा है। द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव तक जो कुछ भी वे जाति स्वभाव से बोलते हैं, वही भाषा है। वह वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक दोनों तरह की होती है। नन्दी सूत्र में इन्हें अक्षर-श्रुत और अनक्षर-श्रुत के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

नोभाषा शब्द दो प्रकार का होता है, जैसे कि—आतोद्य अर्थात् वाद्य-विशेष से होने वाला शब्द और नोआतोद्य अर्थात् बिना वाद्य-यन्त्रों से उत्पन्न शब्द। इनमें से जो आतोद्य-जन्य शब्द है, उसके मुख्यतया दो भेद हैं—तत और वितत। चमड़ा लपेटे हुए ढोल मृदंग आदि वाद्यों से होने वाले शब्द को तत कहते हैं। तार वाले—सारंगी, सितार, वीणा और तानपूरा आदि वाद्यों से होने वाले शब्द को वितत कहते हैं। झालर, घुंघरू एवं घंटे आदि से होने वाले शब्द को घन कहते हैं और बैंड, बीन, बंसी आदि वाद्यों से होने वाले शब्द को शुषिर कहते हैं। आदि शब्द से हार्मोनियम आदि आधुनिक वाद्यों का भी इसी भेद मे समावेश हो जाता है। वृत्तिकार लिखते हैं—

ततं वीणादिकं ज्ञेयं, विततं पटहादिकं।
घनं तु कांस्यतालादि, वंशादि शुषिरं मतम्॥

विश्व में जितने तरह के बाजे हैं, उनमे कुछ मुंह से बजाए जाते हैं और कुछ हाथ आदि साधनों से बजाए जाते हैं। उनकी रचना जीव के द्वारा होती है और जीव ही उन्हें बजाता है, अतः भाषा शब्द के समकक्ष नोभाषा शब्द का प्रयोग किया गया है। जितने भी संगीत के उपकरण (साज-बाज) हैं, वे सब नोभाषाशब्द की कोटि में आ जाते हैं। नोभाषाशब्द भी दो तरह के होते हैं—एक भेद में उपकरणों का अन्तर्भाव हो जाता है और दूसरे भेद में भूषणशब्द और नोभूषणशब्दों का समावेश होता है। भूषणों की मधुर ध्वनि का होना गति और नृत्य पर अवलंबित है, अतः नोभूषणशब्द के दो भेद हैं, जैसे कि ताल—हाथों से ताली बजाना, लतिया—पैरों की आहट या अभिमान से एवं अति हर्ष से पार्ष्णिप्रहार करना इत्यादि शब्द जीव के द्वारा किए जाते हैं।

पुद्गलों के मिलने पर, संयोग से, संघर्ष से और टक्कर आदि से शब्द की उत्पत्ति होती है, जैसे कि दो विरोधी दिशाओं की वायु की टक्कर से शब्द होता है, पृथ्वी के साथ पृथ्वी, जल के साथ जल, तेज के साथ तेज मिलने से, माचिस की तीली घिसाने से अर्थात् पुद्गल से जब पुद्गल का संघर्ष होता है तब शब्द होता है। इसी प्रकार उनके भेदन से, छेदन से, बिछुड़ने से शब्द उत्पन्न हुआ करता है, जैसे कि बास के विदारण करने से, कपड़ा फाड़ने से, धागा तोड़ने से, बम के फटने से, गोली चलने से शब्द उत्पन्न हुआ करते हैं। जितने भी प्रकार के शब्द उत्पन्न होते है, वे उक्त दो भेदो में समाविष्ट हो जाते हैं। शब्द उत्पत्ति का तीसरा कोई कारण नहीं है। वृत्तिकार भी लिखते हैं—

संघातमापद्यमानानां सतां कार्यभूतः शब्दोत्पादः स्यात्, पञ्चम्यर्थे वा षष्ठीति, संहन्यमानेभ्यः इत्यर्थः, पुद्गलानां बादरपरिणामानां यथा घण्टातालयोः, एवं भिद्यमानानां—वियोज्यमानानां च यथा वंशदलानामिति।

अर्थ ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है।

पुद्गल-विश्लेषण

मूल—दोहिं ठाणेहिं पोग्गला साहण्णंति, तं जहा—सइं वा पोग्गला साहण्णंति, परेण वा पोग्गला साहण्णंति।

दोहिं ठाणेहिं पोग्गला भिज्जंति, तं जहा—सइं वा पोग्गला भिज्जंति, परेण वा पोग्गला भिज्जंति।

दोहिं ठाणेहिं पोग्गला परिसडंति, तं जहा—सइं वा पोग्गला परिसडंति, परेण वा पोग्गला परिसाडिज्जंति। एवं परिवडंति, विद्धंसंति।

दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तं जहा—भिन्ना चेव, अभिन्ना चेव।

दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तं जहा—भेउरधम्मा चेव, नोभेउरधम्मा चेव।

दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तं जहा—परमाणु-पोग्गला चेव, नो परमाणु-पोग्गला चेव।

दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तं जहा—सुहुमा चेव, बायरा चेव।

दुविहा, पोग्गला पण्णत्ता, तं जहा—बद्धपासपुट्ठा चेव, नो बद्धपासपुट्ठा चेव।

दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तं जहा—परियाइया चेव, अपरियाइया चेव।

दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तं जहा—अत्ता चेव, अणत्ता चेव।

दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तं जहा—इट्ठा चेव, अणिट्ठा चेव। एवं कंता। पिया। मणुन्ना। मणामा ॥४८॥

छाया—द्वाभ्यां स्थानाभ्यां पुद्गलाः संहन्यते, तद्यथा—स्वयं वा पुद्गलाः संहन्यन्ते, परेण वा पुद्गलाः संहन्यन्ते।

द्वाभ्यां स्थानाभ्यां पुद्गलाः भिद्यन्ते तद्यथा—स्वयं वा पुद्गला भिद्यन्ते, परेण वा पुद्गला भिद्यन्ते।

द्वाभ्यां स्थानाभ्यां पुद्गलाः परिशटन्ति तद्यथा—स्वयं वा पुद्गलाः परिशटन्ति, परेण वा पुद्गलाः परिशाटयन्ति। एवं परिपतन्ति, विध्वंसन्ते।

द्विविधाः पुद्गलाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—भिन्नाश्चैव, अभिन्नाश्चैव।

द्विविधाः पुद्गलाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—भिदुरधर्माणश्चैव, अभिदुरधर्माणश्चैव।

द्विविधाः पुद्गलाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—परमाणुपुद्गलाश्चैव, नोपरमाणुपुद्गलाश्चैव।

द्विविधाः पुद्गलाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सूक्ष्माश्चैव, बादराश्चैव।

द्विविधाः पुद्गलाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—बद्धपार्श्वस्पृष्टाश्चैव, नोबद्धपार्श्व-स्पृष्टाश्चैव।

द्विविधाः पुद्गलाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पर्याप्ताश्चैव, अपर्याप्ताश्चैव।

द्विविधाः पुद्गलाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अत्ताश्चैव, अनत्ताश्चैव।

द्विविधाः पुद्गलाः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—इष्टाश्चैव, अनिष्टाश्चैव। एवं कान्ताः। प्रियाः। मनोज्ञाः। मनोऽमाः।

शब्दार्थ—दोहिं ठाणेहिं—दो प्रकार से, **पोग्गला**—पुद्गल, **साहण्णंति**—एकत्र होते हैं, **सइं वा पोग्गला साहण्णंति**—स्वयमेव बादलो की तरह एकत्र होते हैं, **वा**—अथवा, **परेण**—पर के द्वारा, **पोग्गला**—पुद्गल, **साहण्णंति**—एकत्र किए जाते है, **दोहिं ठाणेहिं**—दो तरह से, **पोग्गला**—पुद्गल, **भिज्जंति**—विघटित होते हैं, **तं जहा**—जैसे कि, **सइं वा पोग्गला भिज्जंति**—स्वयमेव पुद्गल विघटित होते हैं, **परेण वा पोग्गला भिज्जंति**—पर के द्वारा पुद्गल भेदन किए जाते हैं, **दोहिं ठाणेहिं पोग्गला परिसडंति, तं जहा**—पुद्गलों का सड़न दो तरह से होता है, जैसे कि, **सइं वा पोग्गला परिसडंति**—स्वतः भी पुद्गल सड़ते हैं और, **परेण वा पोग्गला परिसाडिज्जंति**—पर के द्वारा भी पुद्गल सडाए जाते हैं, **एवं परिवडंति**—इसी प्रकार पुद्गल स्वतः भी गिरते हैं और पर के द्वारा भी गिराए जाते हैं, **विद्धंसंति**—स्वतः भी विध्वंस होते हैं और पर के द्वारा भी विध्वंसित किए जाते हैं।

दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तं जहा—दो प्रकार से पुद्गल प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे कि, **भिन्ना चेव, अभिन्ना चेव**—विघटित को भिन्न और संघात प्राप्त को अभिन्न कहते हैं, **दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तं जहा**—दो तरह के पुद्गल कहे गए हैं, जैसे कि, **भेउरधम्मा**

चेव, नोभेउर-धम्मा चेव—भिदुर स्वभाव वाले और ठोस स्वभाव वाले, **दुविहा पोग्गला पण्णत्ता तं जहा**—पुनः पुद्गल दो तरह के बताए है, जैसे कि, **परमाणु-पोग्गला चेव, नो परमाणु-पोग्गला चेव**—परमाणु पुद्गल और स्कन्धपुद्गल, **दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तं जहा**—पुद्गल दो प्रकार के कथन किए गए हैं, जैसे कि, **सुहुमा चेव, बायरा चेव**—सूक्ष्म और बादर अर्थात् स्थूल। **दुविहा, पोग्गला पण्णत्ता, तं जहा**—पुनः पुद्गल दो प्रकार के प्रतिपादन किए गए है, जैसे कि, **बद्धपासपुट्ठा चेव, नो बद्धपासपुट्ठा चेव**—एक वे पुद्गल हैं जो इन्द्रिय ग्राह्य है और दूसरे वे हैं, जो इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं हैं, **दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तं जहा**—पुनः पुद्गल दो प्रकार से प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे कि, **परियाइयच्चेव, अपरियाइयच्चेव**—जो जीव के द्वारा भाषा, मन, कर्म, शरीर आदि के रूप में गृहीत हैं और वे भी पुद्गल हैं जो किसी भी जीव के द्वारा गृहीत नहीं हैं, **दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तं जहा**—पुनः दो प्रकार के पुद्गल प्रतिपादित किए गए है, जैसे कि, **अत्ता चेव, अणत्ता चेव**—परिग्रह के रूप मे जीव ने स्वीकार किए हुए और जो किसी के द्वारा गृहीत नही है, वे अनात्त पुद्गल कहलाते है।

दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तं जहा—पुद्गल दो तरह के होते हैं, जैसे कि, **इट्ठा चेव, अणिट्ठा चेव**—इष्ट और अनिष्ट, **एवं कंता**—इसी प्रकार कान्त और अकान्त, **पिया**—प्रिय और अप्रिय, **मणुन्ना**—मनोज्ञ और अमनोज्ञ, **मणामा**—मन-आम और मन-अनाम अथवा मनोरम और अमनोरम ये दो-दो अन्य भेद भी पुद्गल के होते हैं।

मूलार्थ—दो प्रकार से पुद्गल एकत्र होते हैं, स्वतः या पर के द्वारा। इसी प्रकार स्वभाव से भी भेदन होता है और पर के द्वारा भी पुद्गलो का भेदन होता है। पुद्गल स्वभाव से भी सड़ते हैं और पर के द्वारा भी। स्वभाव से भी पुद्गल गिरते हैं और पर के द्वारा भी। पुद्गल स्वभाव से भी विध्वंस होते हैं और पर के द्वारा भी।

सभी पुद्गल दो-दो प्रकार के हैं, जैसे कि—भिन्न और अभिन्न, भिदुर धर्म वाले और बिना भिदुर धर्म वाले। परमाणु के रूप में और स्कन्ध के रूप में, सूक्ष्म और बादर, बद्ध-पार्श्व-स्पृष्ट और नो-बद्ध-पार्श्व-स्पृष्ट। ग्रहण किए हुए पुद्गल और नहीं ग्रहण किए हुए पुद्गल। परिग्रह के रूप में स्वीकार किए हुए पुद्गल और नही स्वीकार किए हुए पुद्गल। इसी प्रकार इष्ट और अनिष्ट, कान्त और अकान्त, प्रिय और अप्रिय, मनोज्ञ और अमनोज्ञ, मनोरम और अमनोरम पुद्गल दो-दो प्रकार के कथन किए गए हैं।

विवेचनिका—इस सूत्र में भी पुद्गल विषयक वर्णन किया गया है, क्योंकि आगमो में पुद्गलो के चार भेद वर्णित है, जैसे कि—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणुपुद्गल।

पुद्गलद्रव्य में पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श हैं। इन आठ स्पर्शों में से जब स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श पारस्परिक योग को प्राप्त होते हैं, तब परमाणु पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध हो जाता है। अनेक परमाणुओं के पिण्डीभूत रूप को स्कन्ध कहते हैं। उन परमाणुओं का मिलन स्वतः ही होता है। अनेक स्कन्धों का पिण्डीभूत रूप किसी प्रयोग के द्वारा भी हो जाता है, जैसे कि ईंट और सीमेंट आदि के योग से दुर्ग, प्रासाद या हर्म्य आदि बन जाते हैं। लोहे के अनेक खण्डों को प्रयोग से जोडकर एक बनाना, अनेक छोटे-बडे पुर्जों को जोड़कर मशीन के रूप में प्रस्तुत करना आदि प्रक्रियाएं जीव द्वारा पुद्गलों का स्कन्धीकरण ही कहा जा सकता है।

पुद्गल कभी स्वतः ही टूट जाते हैं, जैसे उडद की फलिया सूख जाने पर स्वतः ही फट जाती हैं अथवा स्कन्ध-परमाणु स्वतः भी अलग हो जाते हैं, इन्हीं को भिन्न धर्म वाले पुद्गल कहा जाता है। किसी जीव के प्रयोग द्वारा पुद्गल तोडे जाते हैं अर्थात् जिनको जीव द्वारा तोड़ा जाए, फोड़ा जाए, फाडा जाए, चीरा जाए, बींधा जाए, वे भी भिन्न धर्म वाले ही पुद्गल माने जाते हैं और कुछ अभिन्न स्वभाव वाले पुद्गल हैं, जैसे कि—ईषत्प्राग्भारादि पृथिवियां।

कुछ ऐसे पुद्गल हैं जो कालातिक्रम होने पर स्वयं सड जाते हैं जैसे खाने-पीने के पदार्थ। कभी-कभी विशेष उद्देश्य से भी जीवों के द्वारा पदार्थ सडाए जाते हैं, जैसे कि रासायनिक प्रक्रिया से आसव आदि सडाए जाते हैं। कुछ पुद्गल स्वयं पिघलते हैं जैसे घृत आदि और किन्हीं पुद्गलों को पिघलाया जाता है जैसे लोहे आदि को पिघलाया जाता है।

कुछ ऐसे पुद्गल भी हैं जोकि स्वयं गिरते हैं, भूकम्प आने से जिस तरह मकान स्वयं गिर जाता है, पर्वत के शिखर से पत्थर, वृक्ष से फल स्वय भी गिरते हैं और उन्हे किन्हीं के द्वारा गिराया भी जाता है।

रूपान्तर होने को दूसरे शब्दों में विध्वंस भी कहते हैं, जैसे कि फर्श पर पडा हुआ पानी कालान्तर में बिल्कुल सूख जाता है। कुछ समय पहले जो वस्तु दृश्यमान थी उसका अदर्शन हो जाना ही विध्वंस कहलाता है।

भिन्न और अभिन्न—घट-पटादि सभी पदार्थ दो तरह के हैं—जिसमें दरार पड़ गई, टूट-फूट गया वह पुद्गल भिन्न कहलाता है, इससे विपरीत जो अखण्ड एवं पूर्ण है, वह अभिन्न कहलाता है।

भिदुरधर्मा और नोभिदुरधर्मा—जिनका स्वभाव प्रतिक्षण विनश्वर है वे पुद्गल भिदुरधर्मा कहलाते हैं जैसे कि खुला रखा हुआ कर्पूर समयान्तर में दृष्टिगोचर नहीं होता। रेत की दीवार से रेत और बर्फ से जल की बूंदें समय-समय में क्षरती रहती हैं, पाषाण एवं स्वर्ण आदि घन पदार्थ भिदुर धर्म वाले नहीं हैं।

परमाणु पुद्गल और नोपरमाणु पुद्गल—जो परम-अणु अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म है उसे ही परमाणु कहा जाता है। प्रत्येक स्कन्ध का मूल कारण परमाणु कहलाता है। वह परमाणु प्रवाह से नित्य है और पर्याय से अनित्य। वह परमाणु-पुद्गल एक रूप, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श से युक्त होता है। इन्द्रिय-अतीत होने से वह अनुमान और आगम से साध्य है और अतीन्द्रिय ज्ञान से ग्राह्य है। परमाणु-पुद्गल अनन्त है। परमाणु आकाश के प्रदेश भी हो सकते हैं, अतः सूत्रकार ने परमाणु के साथ पुद्गल शब्द का प्रयोग किया है, जिस का अर्थ होता है, पुद्गल के परमाणु न कि अन्य परमाणु। नो परमाणु पुद्गल का अर्थ होता है—दो प्रदेशी (द्व्यणुक) स्कन्ध से लेकर महास्कन्ध पर्यन्त सभी पुद्गल इसी में अन्तर्निहित हो जाते हैं।

सूक्ष्म और बादर—परमाणु से लेकर चतुःस्पर्शी स्कन्ध पर्यन्त सभी पुद्गल सूक्ष्म कहलाते है। कार्मण-वर्गणा और मनोवर्गणा के पुद्गल इसी कोटि में अन्तर्भूत है। पाच स्पर्शी स्कन्ध से लेकर आठ स्पर्शी स्कन्ध पर्यन्त सभी पुद्गल बादर कहलाते है। बादर पुद्गलों मे कुछ दृश्यमान हैं और कुछ अदृश्यमान। सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व के अन्त्य तथा आपेक्षिक ऐसे दो-दो भेद है। जो सूक्ष्मत्व तथा स्थूलत्व दोनो एक ही वस्तु में अपेक्षा भेद से घट न सकें वे अन्त्य और जो घट सकें वे आपेक्षिक हैं।

बद्धपार्श्वस्पृष्ट और नो बद्धपार्श्वस्पृष्ट—जो पुद्गल पहले रेणु की तरह शरीर मे स्पृष्ट होते है और बाद मे स्वतः ही वहां चिपक जाते हैं, वे बद्धपार्श्वस्पृष्ट पुद्गल कहलाते हैं, ऐसे पुद्गल घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियो द्वारा सम्बन्धानुरूप गृहीत होते है। ये जब घ्राणेन्द्रिय के साथ स्पृष्ट हो कर बद्ध होते है, तब वे सूघने मे भी आते है, इसी प्रकार जब रसनेन्द्रिय के साथ और स्पर्शनेन्द्रिय के साथ स्पृष्ट होकर बद्ध होते हैं तब रसास्वादन तथा स्पर्श की अनुभूति होती है।

नोबद्धपार्श्वस्पृष्ट पुद्गल दो तरह के होते है—कुछ श्रोत्रेन्द्रिय के विषय होते है और कुछ चक्षुग्राह्य हुआ करते है। जो पार्श्वस्पृष्ट हैं, वे श्रोत्रग्राह्य हैं और जो न बद्ध हैं और न पार्श्वस्पृष्ट वे पुद्गल चक्षुरिन्द्रिय-ग्राह्य होते है। क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी मानी गई है, अतः वह अपने विषय को दूर से ही ग्रहण कर लेती है। कहा भी है—

पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासइ अपुट्ठं तु[1]।
गंधं रसं च फासं च बद्धपुट्ठं वियागरे॥

श्रोत्रेन्द्रिय स्पृष्ट पुद्गलो को ग्रहण करती है, चक्षुरिन्द्रिय बिना ही स्पर्श किए रूप को ग्रहण करती है, किन्तु घ्राण, रसना और स्पर्शन ये तीन इन्द्रियां बद्ध-स्पृष्ट पुद्गलों को ग्रहण करती है। वृत्तिकार भी इस प्रकार लिखते हैं—

पार्श्वेन स्पृष्टाः देहत्वचाछप्ताः रेणुवत्पार्श्वस्पृष्टास्ततो बद्धाः—गाढतरं श्लिष्टाः

१ नन्दी सू गा ८५। विशेषावश्यक भाष्य गा ३३६, निर्युक्ति गा. ५।

तनौ तोयवत्पार्श्वस्पृष्टाश्च ते बद्धाश्चेति राजदन्तादित्वाद् बद्धपार्श्वस्पृष्टा आह च "पुट्ठं रेणु व तणुम्मि बद्धमप्पीकयं पएसेहिं ति," एते च घ्राणेन्द्रियादिग्रहणगोचराः उभयपदनिषेधे श्रोत्राद्यविषयाश्चक्षुविषयाश्चेति, इयमिन्द्रियापेक्षया बद्धपार्श्व-स्पृष्टता पुद्‌गलानां व्याख्याता, एवं जीवप्रदेशापेक्षया परस्परापेक्षया व्याख्येयेति।

पर्यात्त और अपर्यात्त—जो पुद्‌गल जीव ने कर्म, शरीर, भाषा और श्वासोच्छ्‌वास के रूप में सब ओर से ग्रहण किए हुए हैं, उन्हें पर्यात्त कहते हैं, जिनको किसी जीव ने ग्रहण नहीं किया वे अपर्यात्त कहलाते हैं। **परियाइय** का संस्कृत रूप **'पर्यायातीताः'** भी होता है जिसका अर्थ होता है—विवक्षित पर्याय से रहित होना, जैसे कि दूध विवक्षित पर्याय है, जब वह जमकर दही बन जाता है तब उसे दूध नहीं कहा जाता। कडे से कुण्डल बन जाने पर फिर उसे कोई भी कड़ा नहीं कहता। जो कुण्डल विवक्षित पर्याय में ज्यों का त्यों है, उसे अपर्यायातीत कहते हैं।

आत्त और अनात्त—जिस पुद्‌गल को जीव ने परिग्रह के रूप में ग्रहण किया हुआ है वह आत्त और जिसको किसी भी जीव ने परिग्रह के रूप में ग्रहण नहीं किया उसे अनात्त कहते हैं।

इष्ट और अनिष्ट—जो पुद्‌गल मनोरथपूरक होने से प्रयोजन-वश अर्थ-क्रियार्थियों को अभीष्ट हैं वे इष्ट, इनसे विपरीत अन्य पुद्‌गल सभी अनिष्ट कहलाते हैं।

कान्त और अकान्त—जिनमें रंग रूप की प्रधानता है वे कान्त और जिनका रंग-रूप चक्षु के अनुकूल नहीं है, वे अकान्त कहलाते हैं।

प्रिय और अप्रिय—जो सर्वेन्द्रिय को प्रसन्न करने वाले हैं अथवा जो सर्व इन्द्रियों के अनुकूल हैं वे प्रिय हैं और जो पुद्‌गल इन्द्रियो के प्रतिकूल हैं वे अप्रिय कहलाते हैं।

मनोज्ञ और अमनोज्ञ—जिन पुद्‌गलों को प्रत्येक जन अपने अन्तःकरण के द्वारा सुन्दर मानता है और जिनके स्मरण-मात्र से ही मन प्रसन्नता से विकसित हो जाता है वे मनोज्ञ और इनसे विपरीत अमनोज्ञ पुद्‌गल कहलाते हैं।

मन-आम और मन-अनाम—जिन पुद्‌गलों के संकल्पमात्र से मन आनन्द से झूम उठे, उन पुद्‌गलों को मन-आम कहते हैं। इनके अतिरिक्त सभी पुद्‌गल मन अनाम कहलाते हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने पुद्‌गल द्रव्य का अनेक सूक्ष्म दृष्टियों से निरीक्षण करते हुए उनका समुचित वर्गीकरण एवं समीक्षण प्रस्तुत किया है।

इन्द्रिय-विषयों की अनेकरूपता

मूल—दुविहा सद्दा पण्णत्ता, तं जहा—अत्ता चेव, अणत्ता चेव। एवमिट्ठा जाव मणामा।

दुविहा रूवा पण्णत्ता, तं जहा—अत्ता चेव, अणत्ता चेव, जाव मणामा एवं गंधा, रसा, फासा, एवमिक्किक्के छ आलावगा भाणियव्वा ॥ ४९॥

छाया—द्विविधाः शब्दाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आत्ताश्चैव अनात्ताश्चैव, एवमिष्टाः यावन्मनोमताः—(मन-आमाः)। द्विविधे रूपे प्रज्ञप्ते, तद्यथा—आत्ताश्चैव, अनात्ताश्चैव, यावत् मन-आमाः। एवं गंधाः, रसाः, स्पर्शाः, एवमेकैके षड् आलापकाः भणितव्याः।

शब्दार्थ—दुविहा सद्दा पण्णत्ता, तं जहा—दो प्रकार से शब्द प्रतिपादन किए गए हैं जैसे कि, **अत्ता चेव**—ग्रहण किए हुए शब्द और, **अणत्ता चेव**—नहीं ग्रहण किए हुए शब्द। **एवं**—इसी प्रकार, **इट्ठा**—इष्ट तथा, **जाव मणामा**—यावत् मनोमत या मनःप्रिय शब्दों को जानना चाहिए, **दुविहा रूवा पण्णत्ता, तं जहा**—रूप दो प्रकार से वर्णित है, जैसे कि, **अत्ता चेव**—जीव द्वारा गृहीत और, **अणत्ता चेव**—जीव द्वारा अगृहीत, **जाव मणामा**—यावत् मनोमत—मनःप्रिय रूपों को जानना चाहिए, **एवं**—इसी प्रकार, **गंधा, रसा, फासा**—गन्ध, रस और स्पर्श के विषय में जानना चाहिए, **एवं**—इसी प्रकार, **इक्किक्के**—एक-एक के, **छ आलावगा**—छः-छः आलापक, **भाणियव्वा**—कहने चाहिए।

मूलार्थ—शब्द दो प्रकार से कथन किए गए हैं, जैसे कि—जीव के द्वारा गृहीत और अगृहीत। इसी प्रकार इष्ट-अनिष्ट यावत् मनःप्रिय तक छह आलापक कहने चाहिएं। इसी प्रकार वर्ण, गध, रस और स्पर्श के विषय में १२-१२ आलापक समझने चाहिएं।

विवेचनिका—यह सूत्र पहले सूत्र से सम्बन्धित है जैसे कि—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श, ये छः जीव के द्वारा गृहीत भी हैं और अगृहीत भी। इष्ट भी हैं और अनिष्ट भी। कान्त भी है और अकान्त भी, प्रिय भी हैं और अप्रिय भी, मनोज्ञ भी हैं और अमनोज्ञ भी हैं, मन-आम भी हैं, मन-अनाम भी हैं। **अत्त** का संस्कृत रूप **आत्त** बनता है जिस का अर्थ होता है, ग्रहण किया हुआ। इससे सूत्रकर्त्ता ने जीव का कर्तृत्व-भाव सिद्ध किया है। जो दार्शनिक प्रकृति को ही कर्त्री मानते है इससे उनकी मान्यता का निवारण सहज में हो जाता है।

आचार और प्रतिमा

मूल—दुविहे आयारे पण्णत्ते, तं जहा—णाणायारे चेव, नोणाणायारे चेव। नोणाणायारे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—दंसणायारे चेव, नोदंसणायारे चेव। नोदंसणायारे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—चरित्तायारे चेव, नो-चरित्तायारे चेव। नोचरित्तायारे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—तवायारे चेव, वीरियायारे चेव।

दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—समाहिपडिमा चेव, उवहाणपडिमा चेव। दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—विवेगपडिमा चेव, विउसग्ग-पडिमा चेव। दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—भद्दा चेव, सुभद्दा चेव। दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—महाभद्दा चेव, सव्वओभद्दा चेव। दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—खुड्डिया चेव मोयपडिमा, महल्लिया चेव, मोयपडिमा। दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—जवमज्झे चेव चंद-पडिमा, वइरमज्झे चेव चंदपडिमा।

दुविहे सामाइए पण्णत्ते, तं जहा—अगारसामाइए चेव, अणगारसामाइए चेव ॥ ५०॥

छाया—द्विविधः आचारः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ज्ञानाचारश्चैव, नोज्ञानाचारश्चैव, नोज्ञानाचारो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—दर्शनाचारश्चैव, नोदर्शनाचारश्चैव। नोदर्शनाचारो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा-चारित्राचारश्चैव, नोचारित्राचारश्चैव। नोचारित्राचारो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—तप आचारश्चैव, वीर्याचारश्चैव।

द्वे प्रतिमे प्रज्ञप्ते तद्यथा—समाधिप्रतिमा चैव, उपधानप्रतिमा चैव। द्वे प्रतिमे प्रज्ञप्ते तद्यथा—विवेकप्रतिमा चैव, व्युत्सर्ग-प्रतिमा चैव। द्वे प्रतिमे प्रज्ञप्ते तद्यथा—भद्रा चैव, सुभद्रा चैव। द्वे प्रतिमे प्रज्ञप्ते तद्यथा—महाभद्रा चैव, सर्वतोभद्रा चैव। द्वे प्रतिमे प्रज्ञप्ते तद्यथा—क्षुद्रिका चैव मोकप्रतिमा, महती चैव मोकप्रतिमा, द्वे प्रतिमे प्रज्ञप्ते तद्यथा—यवमध्या चैव चन्द्रप्रतिमा, वज्रमध्या चैव चन्द्रप्रतिमा। द्विविधं सामायिकं प्रज्ञप्तं तद्यथा—अगारसामायिकं चैव, अनगारसामायिकं चैव।

शब्दार्थ—दुविहे आयारे—दो प्रकार का आचार, **पण्णत्ते**—प्रतिपादन किया गया है, **तं जहा**—जैसे कि, **णाणायारे चेव, नोणाणायारे चेव**—ज्ञानाचार और नोज्ञानाचार, **नोणाणायारे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—नोज्ञानाचार के दो प्रकार कथन किए गए हैं, जैसे कि, **दंसणायारे चेव नोदंसणायारे चेव**—दर्शनाचार और नोदर्शनाचार, **नोदंसणायारे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—नोदर्शनाचार के दो भेद कथन किए गए हैं, जैसे कि, **चरित्तायारे चेव नो-चरित्तायारे चेव**—चारित्राचार और नोचारित्राचार, **नोचरित्तायारे दुविहे पण्णत्ते तं जहा**—नोचारित्राचार के दो भेद प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे कि, **तवायारे चेव वीरियायारे चेव**—तप आचार और वीर्याचार।

दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—दो प्रतिमाएं प्रतिपादन की गई हैं, जैसे कि, **समाहि-पडिमा चेव उवहाणपडिमा चेव**—समाधि-प्रतिमा और उपधान-प्रतिमा, **दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा**—दो प्रतिमाएं प्रतिपादन की गई हैं, जैसे कि, **विवेग-पडिमा**

चेव, विउसग्गपडिमा चेव—विवेक-प्रतिमा और व्युत्सर्ग-प्रतिमा, **दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा**—पुनः दो प्रतिमाएं कथन की गई हैं, जैसे कि, **भद्दा चेव सुभद्दा चेव**—भद्रा और सुभद्रा, पुनः, **दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा**—दो प्रतिमाएं कही गई हैं, जैसे कि, **महाभद्दा चेव सव्वओभद्दा चेव**—महाभद्रा और सर्वतोभद्रा, पुनः, **दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा**—प्रतिमा के दो भेद कथन किए गए हैं जैसे कि, **खुड्डिया चेव मोयपडिमा चेव**—लघु मोक प्रतिमा और, **महल्लिया चेव मोयपडिमा**—महती मोक प्रतिमा पुनः, **दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा**—दो प्रतिमाए प्रकथन की गई हैं, जैसे कि, **जवमज्झे चेव चंद पडिमा**—यव-मध्य चन्द्र-प्रतिमा और, **वइरमज्झे चेव चंद पडिमा**—वज्र-मध्या चन्द्र-प्रतिमा।

दुविहे सामाइए पण्णत्ते, तं जहा—सामायिक के मूलतः दो भेद कथन किए गए हैं, जैसे कि, **अगारसामाइए चेव, अणगारसामाइए चेव**—गृहस्थ सामायिक और साधु सामायिक।

मूलार्थ—आचार दो प्रकार से कथन किया गया है, जैसे कि ज्ञानाचार और नोज्ञानाचार। नो ज्ञानाचार के दो भेद दर्शनाचार और नोदर्शनाचार हैं। पुनः नोदर्शनाचार के दो भेद चारित्राचार और नोचारित्राचार है। पुनः नोचारित्राचार के दो भेद हैं, तप-आचार और वीर्य-आचार।

प्रतिमा के दो भेद हैं—समाधि-प्रतिमा और उपधान-प्रतिमा।

पुनः प्रतिमा के दो भेद हैं—विवेक-प्रतिमा और व्युत्सर्ग-प्रतिमा।

पुनः प्रतिमा के दो भेद हैं—भद्रा और सुभद्रा।

पुनः प्रतिमा के दो भेद हैं—महाभद्रा और सर्वतोभद्रा।

पुनः प्रतिमा के दो भेद हैं—लघ्वी मोक-प्रतिमा और महती मोक-प्रतिमा।

पुनः प्रतिमा के दो भेद हैं—यवमध्या चन्द्र-प्रतिमा और वज्रमध्या चन्द्र-प्रतिमा।

सामायिक के दो भेद हैं—गृहस्थ-सामायिक और मुनि-सामायिक।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र में पुद्गलधर्म के वर्णन के अनन्तर जीव-धर्म का वर्णन प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं—अखण्ड एवं प्रतिपूर्ण धर्म पांच भागों में विभक्त है, जैसे कि ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप-आचार और वीर्याचार। मोक्ष के लिए किए जाने वाले अनुष्ठान विशेष को आचार कहते हैं। इनकी व्याख्या निम्नलिखित है—

१. ज्ञानाचार—श्रुतज्ञान अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान से आत्मा को प्रकाशित करना, नए ज्ञान की प्राप्ति, नया ज्ञान सीखना और सीखे हुए ज्ञान की रक्षा के लिए जो आवश्यकीय आचरण हैं, उन्हें ज्ञानाचार कहते है। ज्ञानाचार की आराधना के आठ प्रकार हैं—जैसे कि काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिन्हव, व्यंजन, अर्थ और तदुभय। इनका विवेचन निम्नलिखित है—

१. जिस समय जिस सूत्र को पढ़ने की आज्ञा शास्त्र में निर्दिष्ट है, उस समय उसी सूत्र का अध्ययन करना काल-ज्ञानाचार है।

२. ज्ञान और सद्गुरु के अनुशासन में रहना विनय-ज्ञानाचार कहलाता है।

३. ज्ञान और ज्ञानदाता के प्रति तीव्र निष्ठा एवं अत्यन्त सम्मान की भावना रखना बहुमान ज्ञानाचार है।

४. तप-पूर्वक शास्त्रों का अध्ययन करना, योगावहन करना उपधान-ज्ञानाचार है।

५. जिस विद्या-गुरु से जो श्रुतज्ञान सीखा है, उसके नाम को न छिपाना अनिह्नव-ज्ञानाचार है।

६. सूत्र के अक्षरों का सम्यक् प्रकार से उच्चारण करना व्यंजन-ज्ञानाचार है, क्योंकि मूलपाठ में भेद या उच्चारण गलत हो जाने से अर्थ में भेद हो जाता है और अर्थ में भेद हो जाने से क्रिया में भेद हो जाता है, क्रिया में भेद होने से निर्जरा नहीं होती और निर्जरा के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, अत: शुद्धोच्चारण और शुद्ध पाठ पर ध्यान देना आवश्यक है।

७. सूत्र में से सत्य अर्थ निकालना, अनुसन्धान पूर्वक अध्ययन करना अर्थ-ज्ञानाचार है।

८. विधिपूर्वक व्यंजन और अर्थ का अध्ययन और अध्यापन करना उभय-ज्ञानाचार है। आत्म-विकास के लिए वही ज्ञान सफल हो सकता है, जिसका अध्ययन विधि-सहित किया गया हो। जैसे विधि-सहित औषधि-सेवन करने से रोग की निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही विधि-सहित अध्ययन किए हुए श्रुत-ज्ञान से भी दु:ख और अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है।

२. दर्शनाचार—नोज्ञानाचार ही दर्शनाचार है। दर्शन शब्द सम्यक्त्व का ही दूसरा नाम है। दर्शनाचार भी आत्मविकास के लिए ज्ञानाचार की तरह अनिवार्य है। सम्यग्दर्शन के बिना आत्मानुभूति नहीं हो सकती, आत्मानुभूति के बिना ज्ञान व्यर्थ है। ज्ञान और दर्शन का परस्पर अविनाभावी सम्बन्ध है। तत्त्वो और अर्थों पर श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के द्वारा आचरणीय क्रियाओं को दर्शनाचार कहते हैं। इसके भी आठ भेद हैं, जैसे कि—१. नि:शंकित, २. नि:कांक्षित, ३. निर्विचिकित्सा, ४. अमूढ़दृष्टि, ५. उपबृंहण, ६. स्थिरी-करण, ७. वात्सल्य और ८. प्रभावना।

१. जिनवाणी में सन्देह न करना, शका, भय और शोक से रहित होना, जो-जो मोक्ष होने के अमोघ साधन हैं, उन पर शंका न करना, निर्ग्रन्थ प्रवचन से विचलित करने वाले उपसर्गों से भयभीत न होना, इष्ट का वियोग होने से शोक न करना, जिनवाणी पर दृढ़ निश्चय रखना। इस प्रकार की चर्या को **नि:शंकित** दर्शनाचार कहते हैं।

२. अन्य दर्शनों की आकांक्षा न करना, धर्म-विमुख सुख की वांछा न करना, ऐहिक

एवं पारलौकिक सुखों की कामना न करना, अरिहंत, सिद्ध, साधु और जिनधर्म के अतिरिक्त अन्य किसी की शरण ग्रहण न करना **निःकांक्षित** दर्शनाचार कहलाता है।

३. आचरण किए हुए धर्म का फल मुझे मिलेगा या नहीं इस विषय में सन्देह न करना **निर्विचिकित्सा**-दर्शनाचार कहलाता है। (क्योंकि संकटग्रस्त व्यक्ति के मन में धर्मफल के प्रति सन्देह का होना स्वाभाविक है।) सम्यग्दर्शनी में ऐसा सन्देह साधना को खोखला कर देता है, अतः उसे आत्मविश्वास और समता के द्वारा सन्देह की निवृत्ति करनी चाहिए।

४. विभिन्न दर्शनो की विचित्र युक्तियों से और अन्य दर्शनों में बढ़ते हुए आकर्षण के द्वारा निर्ग्रन्थ प्रवचन से विचलित न होना, मिथ्यादृष्टियों के बाह्याडम्बरों को देखकर जिन- धर्म के प्रति श्रद्धा को विचलित न होने देना, अथवा स्त्री, पुत्र और धन आदि में मस्त होकर मूढ़ न होना एवं सम्यग्दृष्टित्व से विमुख न होना ही **अमूढ़दृष्टि** दर्शनाचार कहलाता है।

५. गुणी जनों का उत्साह बढाना, जो सघ में साहित्य सेवी हैं, तपस्वी हैं, विद्वान् है, दाता हैं, शास्त्रार्थकलादक्ष हैं, व्याख्याता हैं, कवि हैं, प्रखर लेखक है, जिनधर्म की प्रभावना करने वाले प्रभावक है उन्हे धन्यवाद देना, उनकी प्रशंसा करना तथा पारितोषिक वितीर्ण करना, उन्हें सम्मानित करना आदि क्रियाओं को **उपबृंहण**-दर्शनाचार कहते हैं।

६. स्वकर्त्तव्य, सम्यक्त्व एवं धर्म से पतित होते हुए को येन-केन-प्रकारेण पुनः धर्म में स्थिर करना, जिस कारण से या जिस अभाव से वह पतित होने जा रहा है, उस कारण को ढूंढकर, सान्त्वना देकर उसे धर्म में स्थिर करना **स्थिरीकरण**-दर्शनाचार है।

७. अपने शिशु पर जैसे गौ वत्सलता रखती है, वैसे ही सहधर्मी जनों पर वत्सलता रखना, उन्हें आपत्तियो से बचाना, उनकी रक्षा करना, हित एवं प्रेम रखना, उनकी जीवन-शुद्धि मे सहयोग देना **वात्सल्य**-दर्शनाचार है।

८ सत्य एव जिन-धर्म का इस प्रकार प्रचार करना जिससे कि अन्य धर्मों के लोग भी प्रभावित हों, और चतुर्विध-श्रीसघ की महिमा बढ़े तथा वह स्वय लोकापवादो से बचा रहे, इस प्रकार के आचरण को **प्रभावना**-दर्शनाचार कहा जाता है।

ये आठ आचार सम्यक्-दर्शन के भूषण हैं। इन गुणों के धारण करने से सम्यग्दर्शन की विशुद्धि होती है। सम्यग्दर्शन की विशुद्धि से आत्मा शीघ्र ही निर्वाण-पद की प्राप्ति कर सकता है। दर्शन-विशुद्धि से ही चारित्र की आराधना हो सकती है, क्योंकि नो-दर्शनाचार चारित्राचार का ही दूसरा नाम है।

३. चारित्राचार—जिससे संचित कर्मों का विलय हो जाए और जिसके सेवन से जीव संसार-सागर को पार कर सके, वह चारित्र कहलाता है। चारित्र से ही चरित्र का निर्माण होता है। पांच समितियों और तीन गुप्तियों का यथाविधि पालन करना ही चारित्राचार है। उनका विवरण निम्नलिखित है—

समितियां—

१. आत्मरक्षा और पररक्षा को लक्ष्य में रखकर उपयोग एवं यतना के साथ गमनागमन, संकोचना-पसारना, उठना-बैठना, शयनासन करना, प्रतिलेखना-प्रमार्जन करना आदि **ईर्या-समिति** है।

२. बिना विचारे न बोलना, क्रोध, लोभ, भय, हंसी उपहास के वशीभूत होकर असत्य न बोलना, जिससे क्लेश उत्पन्न हो, वैसी भाषा न बोलना, हिंसा और परितापजनक भाषा न बोलना, यतनापूर्वक भाषण में प्रवृत्ति करना और सत्य, हित, मित एवं प्रिय वचन बोलना **भाषा-समिति** है।

३. निर्दोष आहार-पानी, वस्त्र, पात्र, चौंकी, पट्टा, मकान और फूस आदि का उपयोग करना संयम और निर्दोष वस्तुओं को ही ग्रहण करना **एषणा-समिति** कहलाती है।

४. आत्मरक्षा व संयम-रक्षा के निमित्त जो भी द्रव्य एवं स्थान ग्रहण किया हुआ है, उसकी प्रतिलेखना प्रमार्जना आदि करते रहना, प्रतिलेखन एव प्रमार्जन पूर्वक ही द्रव्य तथा स्थान को ग्रहण करना और यतना से वस्तुमात्र को उठाना, रखना और लौटाना **आदान-भाण्ड-मात्र-निक्षेपणा समिति** है।

५. मल-मूत्र, श्लेष्म, थूक, कफ, नख, केश, रक्त, राध, आंख और कान की मैल, पसीना और अकल्पनीय भोजन-पानी आदि दूषित वस्तुओं को जहां न कोई आता हो और न कोई देखता हो ऐसी निर्दोष अचित्त भूमि पर परिष्ठापन करना ही **उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-मल-सिंघाण-परिष्ठापनिकी समिति** है।

गुप्तियां—

१. अठारह पापों का सेवन न मन से करना, न मन से कराना और न मन से उनका समर्थन ही करना, इस प्रकार की निवृत्ति को **मनःगुप्ति** कहते हैं।

२. पापों का सेवन न वचन से करना, न कहकर दूसरे से कराना और न वचन से उनका समर्थन करना तथा मौन धारण करना **वचनगुप्ति** है।

३. पाप एवं अशुभ क्रियाओं को काय से न स्वय करना, न दूसरे से करवाना और न पापक्रिया का काय से समर्थन करना, इसे **कायगुप्ति** कहा जाता है।

इस प्रकार पांच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन करना चारित्राचार है, इनके बिना किसी भी चारित्र की आराधना नहीं हो सकती। ये आठ प्रवचन-माताएं हैं। जैसे माता शिशु की रक्षा करती है, पालन-पोषण करती है और उसे सुशिक्षित भी करती है, वैसे ही ये आठ प्रवचन-माताएं साधक की रक्षा करती हैं, संयम का पोषण करती हैं, तथा साधक को कर्म-शत्रुओं पर विजय पाने के योग्य बना देती हैं। चारित्राचार में सभी प्रकार के चारित्रों का अन्तर्भाव हो जाता है।

४. तप-आचार—नो-चारित्राचार, तप-आचार और वीर्याचार का ही दूसरा नाम है।

जिससे देह, इन्द्रिय और योग अनायास वशीभूत हो जाएं, कर्मों की सत्ता नष्ट हो जाए, आत्मा स्वच्छ एवं निर्मल हो जाए, वही तप है, किन्तु जो दूसरो को तपाए, उसे बाल-तप अर्थात् अज्ञान-तप कहते हैं। वह तप मोक्ष का साधक नही हो सकता और उसकी गणना तप आचार में नहीं हो सकती। तप बारह प्रकार का होता है, जैसे कि—

अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रस-परित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और **व्युत्सर्ग।**

इन में पहले छः भेद बाह्य तप के हैं और छः भेद आभ्यन्तर तप के हैं। इनकी आराधना करना तप-आचार है।

५. **वीर्याचार**—वीर्य नाम जीव की शक्ति विशेष का है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जितनी शक्ति जीव को प्राप्त हुई है, तदनुसार उसका सदुपयोग करना ही वीर्याचार कहलाता है। ज्ञान के आठ, दर्शन के आठ, चारित्र के आठ और तप के बारह इस प्रकार कुल मिलाकर आचार के छत्तीस भेद होते हैं। इनकी आराधना में अपनी शक्ति का प्रयोग करना ही वीर्याचार है। ये पांच आचार आत्मा से कर्ममल को पृथक् करने का सामर्थ्य रखते हैं। इस वीर्य-आचार को ही विशेष रूप से कहने के लिए सूत्रकार ने इस षट्सूत्री का कथन किया है।

समाधि-प्रतिमा—

विशिष्ट नियमरूप अभिग्रह को धारण करना या स्वीकार करना प्रतिमा कहलाती है। आगमों में प्रतिमा शब्द का प्रयोग प्रतिज्ञा अर्थ में व्यवहृत हुआ है। मन के सम्पूर्ण विक्षेपो को दूर करके चित्त-वृत्तियो को पूर्णतया एकाग्र करना ही समाधि है। उस समाधि की प्रतिज्ञा धारण करना ही **समाधि-प्रतिमा** कहलाती है। वह दो प्रकार की होती है—श्रुत-समाधि-प्रतिमा और चारित्र-समाधि-प्रतिमा। इन दोनों की आराधना करना ही समाधि-प्रतिमा है।

उपधान-प्रतिमा—

साधुओं की द्वादश प्रतिमाओं और गृहस्थों की ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं को **उपधान-प्रतिमा** कहते हैं। समाधि और उपधान प्रतिमा कहने से यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि "**ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः**" श्रुत शब्द से ज्ञान और उपधान शब्द से क्रिया की सिद्धि अवश्य होती है, अतः ये दोनों प्रतिमाएं आत्म-विकास के लिए मुख्य कारण हैं।

विवेक-प्रतिमा—

विवेक का अर्थ है—अत्यन्त प्रिय पदार्थों का परित्याग। प्रकृति और पुरुष की विभिन्नता का ज्ञान, भले एवं बुरे का ठीक और स्पष्ट ज्ञान कराने वाली मन की विशेष शक्ति तथा अवगुणों और बुराइयों के परित्याग की वृत्ति को भी विवेक कहा जाता है।

व्युत्सर्ग-प्रतिमा—

बाह्य सचेतन अचेतन वस्तुओं का परित्याग करना व्युत्सर्ग कहलाता है। कर्म, कषाय

एवं संसार का परित्याग करना, भक्तपानादि एवं अनुचित क्रियाओं का परित्याग करना तथा कायोत्सर्ग करना **व्युत्सर्ग-प्रतिमा** है। विवेक और व्युत्सर्ग ये दोनों प्रतिमाएं चारित्र के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं।

भद्रा-प्रतिमा—

दिशा-सम्बन्धी अनुष्ठान विशेष को **भद्रा-प्रतिमा** कहते हैं। इसमें साधक को पूर्व आदि चार दिशाओं में चार-चार पहर तक कायोत्सर्ग करना होता है। इस का कालमान अहोरात्र प्रमाण है।

सुभद्रा-प्रतिमा—

दिन और रात के आठ प्रहरों में प्रातःकाल में पूर्व दिशा से आरम्भ करके क्रमशः पूर्व, अग्निकोण, दक्षिण, वायव्यकोण, पश्चिम, नैऋत्यकोण, उत्तर और ईशानकोण में एक-एक प्रहर तक कायोत्सर्ग करना **सुभद्रा-प्रतिमा** है।

महाभद्रा प्रतिमा और सर्वतोभद्रा-प्रतिमा—

महाभद्रा प्रतिमा का कालमान चार अहोरात्र का है, चार दिशाओं में क्रमशः एक-एक अहोरात्र पर्यन्त कायोत्सर्ग करना यह इस प्रतिमा का विशेष अनुष्ठान है, किन्तु सर्वतोभद्र प्रतिमा का काल मान दस अहोरात्र है। चार दिशाएं और चार विदिशाएं, एक अधोदिशा और एक ऊर्ध्वदिशा इस प्रकार कुल दस दिशाएं हैं। प्रत्येक दिशा के अभिमुख एक-एक अहोरात्र प्रमाण कायोत्सर्ग करना होता है। दस अहोरात्र पूर्ण होने पर ही इस अनुष्ठान की पूर्णता होती है। इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—

भद्रा-पूर्वादि दिक्चतुष्टये प्रत्येकं प्रहरचतुष्टयकायोत्सर्गकरणरूपा—अहोरात्र-द्वयमानेति। सुभद्राप्येवं प्रकारैव संभाव्यते, अदृष्टत्वेन तु नोक्तेति। महाभद्रापि तथैव, नवरमहोरात्रकायोत्सर्गरूपा अहोरात्रचतुष्टयमाना, सर्वतोभद्रा तु दशसु दिक्षु प्रत्येकमहोरात्रकायोत्सर्गरूपा अहोरात्रदशकप्रमाणेति।

क्षुद्रिका-मोकप्रतिमा और महती-मोक प्रतिमा—

इन प्रतिमाओं का विधि-विधान कुछ अन्य ही प्रकार का है। इन प्रतिमाओं में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को लक्ष्य मे रखकर जीवन को मर्यादित करना होता है। मर्यादित जीवन को ही संयम-जीवन कहते हैं।

द्रव्यतः—जो वस्तु देह के लिए भले ही अनुकूल हो, किन्तु इन्द्रिय और मन के अनुकूल न हो उसका सेवन करना अर्थात् आहार करना।

क्षेत्रतः—ग्राम और नगर से बिल्कुल बाहर जंगल में रहना।

कालतः—शरत्काल में या ग्रीष्मकाल में ही इसका अनुष्ठान किया जाता है, वर्षा ऋतु में नहीं।

भावतः—यदि धर्म से विचलित करने वाले परीषह—उपसर्ग आ पड़ें तो समता के द्वारा उन्हें सहन करना, कषायों पर नियंत्रण रखना। यदि बिना ही भोजन किए अनुष्ठान का प्रारंभ करे तो छौले से (छः दिन पूर्ण होने पर) समाप्त करे। यदि भोजन करने के अनन्तर धारण करे तो सतौले से (सात दिन होने पर) अनुष्ठान समाप्त करे, यही **क्षुद्रिका मोक-प्रतिमा** है।

महती मोक-प्रतिमा को यदि बिना ही भोजन किए प्रारंभ किया जाए, तो उसको समाप्त सतौले से करे, यदि भोजन करने के अनन्तर प्रारभ करे तो अष्टाह्निक उपवास के साथ उसकी पूर्णता करे। काल-भेद और तप-भेद से लघु और महती समझनी चाहिए।

यव-मध्या-चन्द्र-प्रतिमा—

जिस प्रकार चन्द्र की कलाएं शुक्लपक्ष मे बढ़ती जाती हैं और कृष्णपक्ष में प्रतिदिन क्रमशः कम होती जाती हैं, ठीक उसी प्रकार आहार-पानी को क्रमशः शुक्लपक्ष में बढ़ाना और पुनः कृष्णपक्ष मे घटाना 'यव-मध्य-चन्द्र-प्रतिमा' कही जाती है। इस प्रतिमा मे आहार-पानी का क्रम इस प्रकार रहता है—

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को केवल एक ग्रास अन्न का और केवल एक घूंट जल का ग्रहण किया जाता है और दूसरे दिन द्वितीया के दिन दो ग्रास अन्न के एवं दो घूंट जल के ग्रहण करते हुए क्रमशः एक ग्रास अन्न और एक घूंट जल को बढ़ाते हुए पूर्णिमा के दिन पन्द्रह ग्रास अन्न और पन्द्रह घूंट जल लेना होता है।

पुनः कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन पन्द्रह ग्रास अन्न एवं पन्द्रह घूंट जल लेकर, इसके अनन्तर क्रमशः प्रतिदिन एक ग्रास और एक घूंट कम करते हुए अमावस्या के दिन एक ग्रास अन्न एव एक घूंट जल ग्रहण किया जाता है।

वज्र-मध्या-चन्द्र-प्रतिमा—

इस प्रतिमा का आरम्भ कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से होता है। प्रथम दिन पन्द्रह अन्न के ग्रास एव पन्द्रह जल के घूंट ग्रहण करके क्रमशः प्रतिदिन एक-एक ग्रास और जल की घूंटों को कम करते हुए अमावस्या को केवल एक ग्रास अन्न एव एक घूट जल ग्रहण किया जाता है।

पुनः शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन भी एक ग्रास अन्न एवं एक घूंट जल ग्रहण करके क्रमशः एक-एक ग्रास एव एक-एक घूंट को बढ़ाते हुए पूर्णिमा के दिन पन्द्रह अन्न के ग्रास और पन्द्रह घूट जल के ग्रहण किए जाते हैं।

इन दोनों प्रतिमाओं का कालमान एक मास है। साधना के अनुरूप साधन की पद्धति बदलती रहती है। जिस समय जिस साधक के मन में साधना करने की तरंग उठती है, तुरंत उसके अनुकूल साधन का अवतरण भी हो जाता है। वृत्तिकार भी इसी प्रकार लिखते हैं—

यवस्येव मध्यं यस्याः सा यवमध्या, चन्द्र इव कलावृद्धिहानिभ्यां या प्रतिमा सा

चन्द्रप्रतिमा। तथाहि—शुक्लप्रतिपदि एकं कवलमभ्यहृत्य ततः प्रतिदिनं कवलवृद्ध्या पञ्चदश पौर्णमास्यां कृष्णप्रतिपदि च पञ्चदश भुक्त्वा प्रतिदिनमेकैकहान्य-मावस्यायामेकमेव यस्यां भुङ्क्ते सा यवमध्याचन्द्रप्रतिमेति। यस्यां तु कृष्णप्रतिपदि पञ्चदश भुक्त्वा—एकैकहान्यमावस्यायामेकं शुक्लप्रतिपदि चैकमेव ततः पुनरे-कैकवृद्ध्या पूर्णिमायां पञ्चदश भुङ्क्ते सा वज्रस्येव मध्यं यस्यां तन्वित्यर्थः, सा वज्रमध्या चन्द्रप्रतिमेति। एवं भिक्षादावपि वाच्यमिति।

वैदिक परम्परा में यव-मध्य-चन्द्र-प्रतिमा और वज्र-मध्य-चन्द्रप्रतिमाओ को 'चान्द्रायण-व्रत' कहा गया है। यह प्रतिमाएं जहां धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं वहा आयुर्वेद की दृष्टि से भी काया-कल्प करने वाली है। शरीर-शुद्धि एव स्वास्थ्य-वृद्धि में भी इनका योगदान महत्त्वपूर्ण है।

सामायिक वाले ही प्रतिमाओं की आराधना कर सकते हैं, इस कारण सूत्रकार ने सामायिक का स्वरूप और स्वामी-भेद से उसके भेदों का वर्णन किया है। मन, वचन और काय के अशुभ व्यापार से निवृत्त होना निवृत्ति रूप सामायिक और समता में रमण करना प्रवृत्तिरूप सामायिक है। जो-जो अशुभ व्यापार सामायिक मे बाधक हैं, उन-उन से अभीष्ट कालमान पर्यन्त निवृत्त रहना—सावधान रहना साधक के लिए अनिवार्य है। इसके साथ ही जिनसे समता की आराधना मे प्रगति हो सके उन साधनों का सदुपयोग भी स्मृति में रखना जरूरी है। संसार-सागर में भटकने से उत्पन्न होने वाले क्लेशों को क्षण-क्षण में नाश करने वाले, कल्पवृक्ष, कामधेनु एवं चिन्तामणि आदि जितने भी सुख के कारण हैं, उन सब कारणों से बढ़ कर है और अनुपम सुख देने वाला सामायिक चारित्र है।

इसके मूलतः दो भेद है, जैसे कि देश-सामायिक और सर्व-सामायिक अथवा गृहस्थ जिस सामायिक की आराधना करता है, उसे अगार-सामायिक कहते है और जिसकी आराधना मुनि करता है, उसे अनगार सामायिक कहते है। एक सामायिक चारित्र ही ऐसा चारित्र है, जिसकी आराधना अशरूप से गृहस्थ भी कर सकता है, किन्तु शेष चार चारित्रों की आराधना मुनि ही कर सकते है, अन्य नहीं।

जीव-गति : कर्म-गति

मूल—दोण्हं उववाए पण्णत्ते, तं जहा—देवाणं चेव, नेरइयाणं चेव।

दोण्हं उव्वट्टणा पण्णत्ता, तं जहा—णेरइयाण चेव, भवणवासीण चेव।

दोण्हं चवणे पण्णत्ते, तं जहा—जोइसियाण चेव, वेमाणियाण चेव।

दोण्हं गब्भवक्कंती पण्णत्ता, तं जहा—मणुस्साण चेव पंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाण चेव।

दोण्हं गब्भत्थाणं आहारे पण्णत्ते, तं जहा—मणुस्साण चेव पंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाण चेव।

दोण्हं गब्भत्थाणं वुड्ढी पण्णत्ता, तं जहा—मणुस्साण चेव पंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाण चेव।

एवं निव्वुड्ढी, विगुव्वणा, गतिपरियाए, समुग्घाए, काल-संजोगे, आयाती, मरणे।

दोण्हं छविपव्वा पण्णत्ता, तं जहा—मणुस्साण चेव, पंचिंदियतिरिक्ख-जोणियाण चेव।

दो सुक्कसोणियसंभवा पण्णत्ता, तं जहा—मणुस्सा चेव, पंचिंदिय-तिरिक्खजोणिया चेव।

दुविहा ठिती पण्णत्ता, तं जहा—कायट्ठिती चेव, भवट्ठिती चेव।

दोण्हं कायट्ठिती पण्णत्ता, तं जहा—मणुस्साण चेव, पंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाण चेव।

दोण्हं भवट्ठिती पण्णत्ता, तं जहा—देवाणं चेव, नेरइयाणं चेव।

दुविहे आउए पण्णत्ते, तं जहा—अद्धाउए चेव, भवाउए चेव।

दोण्हं अद्धाउए पण्णत्ते, तं जहा—मणुस्साणं चेव, पंचिंदिय-तिरिक्ख-जोणियाणं चेव।

दोण्हं भवाउए पण्णत्ते, तं जहा—देवाणं चेव, णेरइयाणं चेव।

दुविहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—पदेसकम्मे चेव, अणुभावकम्मे चेव।

दो अहाउयं पालेंति तं जहा—देवच्चेव, णेरइयच्चेव।

दोण्हं आउयसंवट्टए पण्णत्ते, तं जहा—मणुस्साण चेव, पंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाण चेव ॥५१॥

छाया—द्वयोरुपपातः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—देवानां चैव, नैरयिकाणां चैव।

द्वयोरुद्वर्तना प्रज्ञप्ता, तद्यथा—नैरयिकाणां चैव, भवनवासिनां चैव।

द्वयोश्चवनं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—ज्योतिष्काणां चैव, वैमानिकानां चैव।

द्वयोर्गर्भव्युत्क्रान्तिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—मनुष्याणां चैव, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां चैव।

द्वयोर्गर्भस्थयोराहारः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—मनुष्याणाञ्चैव, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनि-

कानाञ्चैव।

द्वयोर्गर्भस्थयोर्वृद्धिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—मनुष्यकानाञ्चैव, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनि-कानाञ्चैव।

एवं निवृद्धिः, विकुर्वणा, गतिपर्यायः, समुद्घातः, कालसंयोगः, आयातिः, मरणम्।

द्वयोः छविपर्वाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—मनुष्याणां चैव, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनि-कानाञ्चैव।

द्वौ शुक्रशोणितसंभवौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—मनुष्याश्चैव, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका-श्चैव।

द्विविधा स्थितिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—कायस्थितिश्चैव, भवस्थितिश्चैव।

द्वयोः कायस्थितिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—मनुष्याणां चैव, पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां चैव।

द्वयोर्भवस्थितिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—देवानां चैव, नैरयिकाणां चैव।

द्विविधमायुष्कं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—अद्धायुष्कं चैव, भवायुष्कं चैव।

द्वयोरद्धायुष्कं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—मनुष्याणां चैव, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानाञ्चैव।

द्वयोर्भवायुष्कं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—देवानां चैव, नैरयिकाणाञ्चैव।

द्विविधं कर्म प्रज्ञप्तं, तद्यथा—प्रदेशकर्म चैव, अनुभावकर्म चैव।

द्वौ यथायुष्कं पालयतस्तद्यथा—देवाश्चैव, नैरयिकाश्चैव।

द्वयोरायुःसंवर्त्तकः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—मनुष्याणां चैव, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां चैव।

शब्दार्थ—दोण्हं उववाए पण्णत्ते, तं जहा—दो का उपपात कहा गया है, जैसे कि, **देवाणं चेव**—देवों का और, **नेरइयाणं चेव**—नैरयिकों का, **दोण्हं उव्वट्टणा पण्णत्ता, तं जहा**—दो की उद्वर्तना वर्णित की है, जैसे कि, **णेरइयाण चेव, भवणवासीण चेव**—नारकियों की और भवनपतियों की। **दोण्हं चवणे पण्णत्ते, तं जहा**—दो का च्यवन कथन किया गया है, जैसे कि, **जोइसियाण चेव, वेमाणियाण चेव**—ज्योतिष्क और वैमानिकों का, **दोण्हं गब्भवक्कंती पण्णत्ता, तं जहा**—दो की उत्पत्ति गर्भ से कही गई है, जैसे कि, **मणुस्साण चेव**—मनुष्यों की और, **पंचिंदिय- तिरिक्खजोणियाण चेव**—पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिकों की, **दोण्हं गब्भत्थाणं आहारे पण्णत्ते, तं जहा**—दो का गर्भकाल में आहार वर्णित किया गया है, जैसे कि, **मणुस्साण चेव, पंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाण चेव**—मनुष्यों का और संज्ञी तिर्यंचों का, **दोण्हं गब्भत्थाणं वुड्ढी पण्णत्ता, तं जहा**—दो की गर्भस्थकाल में वृद्धि कथन की गई है, जैसे कि, **मणुस्साण चेव**—मनुष्यों की और,

पंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाण चेव—पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की, **एवं**—इसी प्रकार, **निव्वुड्ढी**—वृद्धि का न होना—गर्भस्थ का ह्रास, **विगुव्वणा**—विकुर्वण—वैक्रिय करना, **गतिपरियाए**—गर्भ से आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना, **समुग्घाए**—समुद्घात—मारणान्तिक आदि समुद्घात का होना, **काल-संजोगे**—कालकृत अवस्था का होना, **आयाती**—गर्भ से बाहर आना, **मरणे**—प्राणात्यागरूप-मरण।

दोण्हं छविपव्वा पण्णत्ता, तं जहा—दो के सन्धि-बन्धन प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे कि, **मणुस्साण चेव**—मनुष्यो के और, **पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण चेव**—पचेन्द्रिय तिर्यंचों के, **दो सुक्कसोणिय-संभवा पण्णत्ता, तं जहा**—रजोवीर्य से उत्पन्न होने वाले दो तरह के जीव है, जैसे कि, **मणुस्सा चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणिया चेव**—मनुष्य और सज्ञी तिर्यंच, **दुविहा ठिती पण्णत्ता, तं जहा**—दो प्रकार से स्थिति वर्णन की गई है, जैसे कि, **कायट्ठिती चेव, भवट्ठिती चेव**—कायस्थिति और भवस्थिति, **दोण्हं कायट्ठिती पण्णत्ता, तं जहा**—दो की कायस्थिति वर्णित की गई है, जैसे कि, **मणुस्साण चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण चेव**—मनुष्यों की और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की, **दोण्हं भवट्ठिती पण्णत्ता, तं जहा**—दोनों की भवस्थिति कही गई है, जैसे कि, **देवाणं चेव, नेरइयाणं चेव**—देवो की और नारकियों की, **दुविहे आउए पण्णत्ते, तं जहा**—आयु दो प्रकार से प्रतिपादन की गई है, जैसे कि, **अद्धाउए चेव, भवाउए चेव**—काल-प्रधान आयु और भवप्रधान आयु। इन में से, **दोण्हं अद्धाउए पण्णत्ते, तं जहा**—दो की आयु काल प्रधान होती है, जैसे कि, **मणुस्साण चेव, पंचिंदियतिरिक्ख-जोणियाण चेव**—मनुष्यो की और तिर्यंचो की, **दोण्हं भवाउए पण्णत्ते, तं जहा**—दो की भव आयु कही गई है, जैसे कि, **देवाण चेव, णेरइयाण चेव**—देवों की और नारकियो की, **दुविहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा**—दो प्रकार से कर्म प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे कि, **पदेसकम्मे चेव, अणुभावकम्मे चेव**—प्रदेश-कर्म और अनुभावकर्म, **दो अहाउयं पालेंति तं जहा**—दो गतियों के जीव जैसे आयु बांधी हो वैसी ही भोगते हैं जैसे कि, **देवच्चेव, णेरइयच्चेव**—देव और नारकी, **दोण्हं आउए संवट्टए पण्णत्ते, तं जहा**—दो की आयु सोपक्रमी होती है, जैसे कि, **मणुस्साण चेव**—मनुष्यो की और, **पंचिंदियतिरिक्ख-जोणियाण चेव**—पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिकों की।

मूलार्थ—उपपात दो का होता है—देवों का और नारकियों का। उद्वर्तन दो का होता है—नारकी और भवनवासी देवों का। च्यवन दो का होता है—ज्योतिष्क और वैमानिकों का। गर्भ में आगमन दो का होता है—संज्ञी मनुष्य एवं तिर्यंचों का। गर्भ में वृद्धि, हानि, विकुर्वणा, गतिपर्याय, समुद्घात, काल-संयोग, गर्भ से बाहर निकलना, जन्म, मरण मनुष्य और तिर्यंच दोनों का होता है।

त्वचा और हड्डियों का सन्धि-बन्धन दो का ही होता है, मनुष्य और तिर्यंचों का। शुक्र-शोणित से पैदा होने वाले दो हैं—मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच। स्थिति दो प्रकार से वर्णित है—कायस्थिति और भवस्थिति। मनुष्य और तिर्यंचों की कायस्थिति कथन की गई है तथा नारकी और देवों की भव-स्थिति। आयु दो प्रकार की होती है अद्धायु और भवायु। मनुष्य और तिर्यंचों की आयु काल-प्रधान होती है तथा देव और नारकियों की आयु भवायु कहलाती है। कर्म दो तरह के कथन किए गए हैं—प्रदेशकर्म और अनुभाव कर्म। देव और नारकी जीवों ने जिस प्रकार की आयु बांधी है, उसी प्रकार से उसे भोगते हैं, किन्तु मनुष्य और तिर्यंच संवर्तक आयु वाले होते हैं—जिसे सोपक्रमी आयु भी कहते हैं।

विवेचनिका—पहले सूत्र में उस धर्म का विवरण प्रस्तुत किया गया है, जिसे हम जीव की कथंचित् स्वाभाविक पर्याय भी कह सकते हैं, किन्तु प्रस्तुत सूत्र में चतुर्गतिक जीवों की वैभाविक पर्यायों का उल्लेख किया गया है, जिसे हम जीव की द्रव्य-पर्याय भी कह सकते हैं। द्रव्य-पर्यायों के वर्णन करने की शैली बडी विचित्र है। जैसे कि—

उपपात—देव और नारकियों के जन्म को उपपात कहते हैं। पूर्वभव समाप्त होने पर ससारी जीव जब नया भव धारण करता है, तब उसे जन्म लेना पडता है, परन्तु सब का जन्म एक समान नहीं होता, यही बात यहां बताई गई है। पूर्वभव का स्थूल शरीर छोड़ने के बाद अन्तराल गति से केवल कार्मण शरीर के साथ आकर नवीन भव-योग्य स्थूल शरीर के लिए सर्वप्रथम योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना—जन्म कहलाता है। वैक्रिय शरीरधारी देव और नारकियों का जो जन्म होता है, उसे उपपात कहते है। उनका जन्म गर्भ से नहीं होता और न उद्भिज की तरह संमूर्छन से ही, अत: दोनो की व्यावृत्ति के लिए उपपात शब्द का प्रयोग किया गया है।

उद्वर्तना—जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु भी होती है। नारकी और भवनपति देव जब आयु का क्षय होने पर प्राणत्याग करते हैं, उसे उद्वर्तना कहा जाता है, अर्थात् नीचे से ऊपर को आना ही उद्वर्तना है। वहां का भव समाप्त होने पर आत्मा निश्चय ही पाताललोक से मध्यलोक में आ जाता है।

च्यवन—अर्थात् नीचे को आना। ज्योतिष्क और वैमानिक देवों का जो मरण होता है, उसे शास्त्रीय भाषा में च्यवन कहते हैं। आगमों में जहां कहीं भी च्यवन का प्रयोग हुआ है, उपर्युक्त देव-जाति के मरणकाल के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

गर्भव्युत्क्रान्ति —गर्भाशय में उत्पन्न होना, अर्थात् गर्भ में निवास करना ही गर्भ-व्युत्क्रान्ति है। संज्ञी मनुष्य और तिर्यंच ही गर्भ में निवास करते हैं, अन्य नहीं।

आहार—गर्भस्थ जीव गर्भ में ही रहते हुए आहार करते हैं, वे संज्ञी मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही हो सकते हैं, अन्य नहीं।

वृद्धि—अनुकूल आहार मिलने से शरीर का उपचय गर्भकाल में मनुष्य और पंचेन्द्रिय का ही होता है।

निवृद्धि—इस शब्द में 'नि' उपसर्ग अभावार्थ में प्रयुक्त है जिसका अर्थ होता है—शरीर की क्षीणता। आहार की प्रतिकूलता से, वात, पित्त आदि से पीड़ित होने पर क्षण-क्षण में क्षीणता होना ही निवृद्धि कहलाती है। यह निवृद्धि भी गर्भकाल में मनुष्यों और तिर्यंचों की ही होती है।

विकुर्वणा—वैक्रिय करने को विकुर्वणा कहते हैं। गर्भस्थ जीव यदि वैक्रिय-लब्धि सम्पन्न हो तो वह कारण पड़ने पर वैक्रिय-लब्धि का प्रयोग भी कर सकता है। वह गर्भ में रहता हुआ आत्मप्रदेशो को बाहर निकाल कर बहुत बड़ी चतुरंगिणी सेना, शस्त्र-अस्त्रों से सुसज्जित कर शत्रु से घोर संग्राम कर सकता है। यदि उस समय उस गर्भस्थ जीव की मृत्यु हो जाए, तो वह नरक में भी जा सकता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए आगम का एक उदाहरण प्रश्नोत्तर के रूप में देना आवश्यक है, जैसे कि—

''जीवे णं भंते! गब्भगए समाणे णेरइएसु उववज्जेज्जा? गोयमा! अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा। से केणट्ठेणं? गोयमा! से णं सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए, वीरियलद्धीए विउव्विअलद्धीए पराणीयं आगतं सोच्चा णिसम्म पएसे निच्छुब्भइ, णिच्छुब्भित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णइ, समोहण्णित्ता चउरंगिणिं सेणं विउव्वइ विउव्वित्ता, चाउरंगिणीए सेणाए पराणीएणं सद्धिं संगामं संगामेइ त्ति''।[1]

''अर्थात् गौतम स्वामी श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से पूछते हैं—हे भगवन्! क्या गर्भस्थ जीव गर्भ मे ही मर कर नरक मे उत्पन्न हो सकता है ? इसके उत्तर मे भगवान् ने कहा—गौतम। कुछ जीव गर्भ मे ही मर कर नरक में उत्पन्न हो सकते हैं और कुछ नही। तब भगवान् से गौतम ने पुनः प्रश्न किया—भगवन्! गर्भस्थ जीव ऐसा क्या पापकर्म करता है जिससे मरकर वह नरक में जाता है ? इस के उत्तर में श्री भगवान् बोले—गौतम! संज्ञी पंचेन्द्रिय सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त वीर्यलब्धि और वैक्रिय-लब्धि सम्पन्न जीव गर्भ में रहते हुए आए हुए आक्रान्त शत्रु को सुनकर अपने प्रदेशो को बाहर निकाल कर वैक्रिय-लब्धि द्वारा चतुरंगिणी सेना बनाकर शत्रु-सेना पर जवाबी आक्रमण करता है, रणांगण में घोर संग्राम करता हुआ यदि अकस्मात् उस समय गर्भस्थ जीव का मरण हो जाए तो वह नरक में भी उत्पन्न हो सकता है।''

समुद्घात—केवली-समुद्घात और आहारक-समुद्घात के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के समुद्घात गर्भावस्था मे जीव कर सकता है। वैक्रिय समुद्घात का वर्णन पहले किया जा चुका है।

---

१ भगवती सू. श. १।

काल-संयोग—काल के प्रभाव से गर्भस्थ जीव में अनेक अवस्थाएं बदलती हैं। वह सब अवस्थाएं कालकृत होती हैं। इसी कालकृत अवस्था को ही काल-संयोग कहा जाता है।

आयाति—समय पूरा होने पर या समय से पहले ही गर्भ से बाहर आ जाना आयाति कहलाती है।

मरण—जिस जीव को जितने प्राण मिले हैं, उन से वियुक्त होना ही मरण कहलाता है। अनेक जीव गर्भ काल में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। गर्भ-व्युत्क्रान्ति से लेकर मरण-पर्यन्त की क्रियाएं केवल मनुष्यों और तिर्यंच जीवों की ही होती हैं।

छविपर्व—गर्भज जीवों के शरीर में ही त्वचा और सन्धियों के बन्धन होते हैं, अन्य जीवों में नहीं। छवि का अर्थ है—शरीर और पर्व का अर्थ है—अस्थि-सन्धियां। ये केवल मनुष्यों और पशु आदि गर्भज जीवों में ही पाई जाती हैं। कुछ प्रतियों में '**छवियत्त**' पाठ भी मिलता है, जिनका शरीर छवियुक्त है, उन्हें छविकात्मा भी कहते हैं। किसी प्रति में **छविपत्त** पाठ है। इसका अर्थ होता है—छविप्राप्त। निष्कर्ष यह कि मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव छवि और पर्व वाले होते हैं। वृत्तिकार भी इस विषय मे लिखते हैं—

छविपव्वत्ति, द्वयानामुभयेषां 'छवि' त्ति, मतुब्लोपाच्छविमन्ति त्वग्वन्ति, 'पव्व' त्ति, पर्वाणि सन्धिबन्धनानि छविपर्वाणि। क्वचित्—'छवियत्त' त्ति पाठः। तत्र छवियोगाच्छविः स एव छविकः, स चासौ 'अत्त' त्ति, आत्मा च शरीरं छविकात्मेति, ''छविपत्त'' त्ति पाठान्तरे छविःप्राप्ता—जातेत्यर्थः गर्भस्थानामिति सम्बन्धनीयम्।

शुक्र-शोणित से उत्पन्न होने वाले मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही हैं, शेष जीव नहीं।

काय-स्थिति—काय शब्द यहां पर्याय अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। पर्याय काय-शरीर जैसी होने के कारण उपमान से वह पर्याय भी काय कहलाती है। उस जैसी पर्यायों मे अवस्थान करना स्थिति कहलाती है। जैसे कि मनुष्य यदि मर कर पुनः मनुष्य-योनि में ही उत्पन्न हो तो सात-आठ भव पर्यन्त ही मनुष्य होगा, अधिक नही। इसी प्रकार तिर्यंच पंचेन्द्रिय भी तिर्यंच पंचेन्द्रिय योनि में अधिक से अधिक सात-आठ भव पर्यन्त ही जन्म-मरण प्राप्त कर सकता है, तत्पश्चात् वह कायस्थिति समाप्त हो जाती है और दूसरी प्रारंभ हो जाती है। पृथ्वीकायिक जीव पृथ्वी-काय मे निरंतर असख्यात भव धारण कर सकता है। इसी प्रकार अपनी-अपनी काय में अप्, तैजस और वायुकायिक जीव भी असंख्यात जन्म धारण कर सकता है। वनस्पति-कायिक जीव वनस्पति योनि में निरन्तर अनन्त भव (जन्म) धारण कर सकता है।

यदि द्वीन्द्रिय जीव द्वीन्द्रिय योनि मे निरन्तर उत्पन्न हो तो सख्यात भव (निश्चित संख्या तक ही जन्म) धारण कर सकता है। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय के विषय में

भी समझना चाहिए, किन्तु पंचेन्द्रिय तिर्यंच सात-आठ जन्म ही धारण कर सकता है, अतः कायस्थिति मनुष्यों और पचेन्द्रिय तिर्यंचों की ही होती है।

प्रश्न हो सकता है कि 'तिरिक्खजोणियाण' इस पद से भी अर्थ-संगति हो सकती है, फिर 'पंचिन्दिय पद' क्यों जोडा गया?

उत्तर में कहना है कि—अन्य तिर्यंचों से पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की प्रधानता सिद्ध करने के लिए पंचेन्द्रिय विशेषण का प्रयोग किया गया है। पंचेन्द्रिय जीव ही सम्यक्त्व एवं देशविरति के धारण-पालन करने वाले होते हैं तथा वे आयु में मनुष्य की समानता भी रखते हैं। कायस्थिति की अपेक्षा भी वह मनुष्य के समान हैं। इत्यादि अनेक दृष्टिकोणों को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने 'पंचिंदिय' पद का निवेश किया है।

भव-स्थिति—देव और नारकियो की कायस्थिति नहीं होती, क्योंकि देव मरकर देव नहीं बनता और नारकी भी मरकर नारकी नहीं बन सकता, उन्हें नियमेन मनुष्य या तिर्यंच में आना पड़ता है, अतः उनकी भवस्थिति होती है। उनकी भवस्थिति कम से कम दस हजार वर्ष की और अधिक से अधिक तेंतीस सागरोपम की है। मध्यम स्थिति के अनेक भेद हैं।

अद्धायु—अद्धायु का अर्थ है—जन्मान्तर में भी साथ रहने वाली आयु। मनुष्य ने यदि पुनः मनुष्य की आयु बाधी है इसी प्रकार यदि किसी तिर्यंच पंचेन्द्रिय ने तिर्यंच पंचेन्द्रिय की आयु बाधी है तो उसे अद्धायु कहते हैं। इसका सीधा सम्बन्ध कायस्थिति से है। जिन जीवों की कायस्थिति का उल्लेख किया गया है, उनकी अद्धायु होती है।

भवायु—जिन जीवों का ऐसा स्वभाव है कि जितने काल तक उनका भव (जन्म) है, उतने काल पर्यन्त उस भव में रहना है, उस भव की आयु का बन्ध पुनः उस भव मे न करना भवायु कहलाता है। जैसे कि देवता देव आयु नही बांधता अर्थात् वह पुनः देवयोनि में जन्म नहीं लेता। इसी प्रकार नैरयिक जीव कभी नैरयिक की आयु नहीं बांधता अर्थात् पुनः नरक-गति में नहीं जाता। इस पद का सीधा सम्बन्ध भवस्थिति से है।

प्रदेशकर्म—प्रदेश कर्म वे कर्म कहलाते हैं जिनकी सत्ता कर्माशय मे विद्यमान है, जिनका जीव को वेदन तो होता है, किन्तु अनुभूति नही होने पाती। अर्थात् यह कर्म उदित होकर फलानुभूति के बिना ही क्षीण हो जाते है।

अनुभावकर्म—जिस कर्म का फल सुख-दुःखादि की अनुभूति के साथ भोगा जाता है, उस कर्म को अनुभाव-कर्म कहते हैं। अनुभाव-कर्मों का कर्माशय के साथ जिस क्रम से बन्ध होता है, उसी क्रम से वे फल दिया करते हैं।

कर्म के विषय मे गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने कहा है—

"एवं खलु मए गोयमा! दुविहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—पएसकम्मे य अणुभावकम्मे

य। तत्थ णं, जं तं पएसकम्मं तं वेदेइ, तत्थ णं, जं तं अणुभावकम्मं तं अत्थेगइए वेदेइ, अत्थेगइए नो वेदेइ।"[1]

"हे गौतम! मैंने दो प्रकार के कर्म वर्णित किए हैं, जैसे कि—प्रदेश कर्म और अनुभाव-कर्म। उन दोनों में जो प्रदेश-कर्म हैं उन्हें नियमेन जीव को भोगना ही पड़ता है, किन्तु जो अनुभाव कर्म हैं उसे कोई जीव भोगता है और कोई नहीं। जिसकी संसार-यात्रा समाप्त हो गई है, वह कर्मफल नहीं भोगता, शेष सभी जीव कर्मफल भोगते हैं।

सूत्रकार ने यह भी सिद्ध किया है कि देव और नारकी निरुपक्रमी (आयु की पूर्णता के बिना किसी भी निमित्त से जिनकी आयु कम नहीं हो सकती) आयु वाले होते हैं, अतः वे अपनी आयु यथावत् भोगते हैं। दूसरे स्थान के अनुरोध से दो प्रकार के जीवों का ही उल्लेख किया गया है। निरुपक्रमी आयु किन-किन की होती है, इसका उत्तर एक गाथा में मिल जाता है, जैसे कि—

देवा नेरइया वि य, असंखवासाउया य तिरि-मणुया।
उत्तम पुरिसा य, तहा चरमसरीरा य निरुवक्कमा॥

अर्थात् देव और नारकी, असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच, उत्तम पुरुष (५४ महापुरुष) और चरमशरीरी ये सब निश्चय ही निरुपक्रमी आयु वाले होते हैं। उमास्वाति जी ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—

औपपातिक-चरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।

—अ २, सू० ५२॥

औपपातिक (देव और नारकी) चरमशरीरी, उत्तमपुरुष और असंख्यात वर्ष-जीवी, ये सब अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं। निरुपक्रम और अनपवर्तनीय ये दोनों एक ही अर्थ के वाचक हैं। जिस का भोगकाल बन्धकालीन स्थिति मर्यादा के समान हो, वह निरुपक्रम आयु कहलाती है। इस आयु की शस्त्र-अस्त्र निमित्त के मिलने पर भी बन्धकालीन काल मर्यादा नहीं घटती है और न वह आयु एक साथ ही भोगी जा सकती है।

आयुसंवर्त्तक—आयु का संक्षेप, सोपक्रम और अपवर्तनीय ये सब शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। जो आयु बन्धकालीन स्थिति पूर्ण होने से पहले शीघ्र भोगी जा सके, वह अपवर्तनीय आयु कहलाती है। जो शस्त्र-अस्त्र आदि निमित्त के मिलने पर दीर्घकालीन आयु क्षय हो जाए, वह आयु संवर्त्तक कहलाती है। ऐसी आयु मनुष्य और तिर्यंचों की होती है, अन्य किसी की नहीं। बाहर के निमित्तों के मिलने से व्यवहार नय के मत से अकालमृत्यु होने वाले जीवों की आयु संवर्त्तक होती है। यह भी कोई नियम नहीं है कि मनुष्य और तिर्यंच की आयु निरुपक्रमी नहीं हो सकती, किन्तु सूत्रकार का आशय यह है कि सोपक्रमी आयु, मनुष्य और तिर्यंचों की होती है। निरुपक्रमी आयु वाले जीव चारों गतियों में विद्यमान

१. भगवती सू. श. १, उ ४।

हैं, किन्तु निश्चित रूप से देव और नारकियों के लिए ही यह नियम है। वे निरुपक्रमी आयु वाले ही होते हैं। इस पद का अर्थ वृत्तिकार ने निम्नलिखित किया है—

संवर्तनम्—अपवर्तनं-संवर्त्तः स एव संवर्त्तक उपक्रम इत्यर्थः-आयुषः संवर्त्तक इति।

'प्रश्नव्याकरण' सूत्र के पहले आश्रवद्वार में हिंसा के तीस नाम वर्णन करते हुए सूत्रकार ने एक नाम वहा पर 'सवट्टण' भी वर्णित किया है। जिसका अर्थ वृत्तिकार ने 'संक्षेप' किया है। इससे सिद्ध होता है कि—सोपक्रमी जीवो की आयु सवर्त्तक हो जाती है। अतः प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है कि वह अपनी आयु की तथा अन्य जीवो की जो आयु है, उसकी रक्षा के लिए बाहिरी रक्षा-साधनों की ओर अवश्य ध्यान रखे। अर्धमागधी कोष भाग चौथा पृष्ठ ५६४ पर लिखा है कि 'सवट्टग' (पु) संवर्त्तक डाबना—संकुचित करना, अतः आयु की रक्षा के लिए सावधानी पूर्वक वर्त्तना प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है।

प्रस्तुत सूत्र मे देव और नारकी मनुष्य और तिर्यंच इन के विषय मे विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

जम्बूद्वीप की भौगोलिक स्थिति

मूल—जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता, बहुसमतुल्ला, अविसेसमणाणत्ता अन्नमन्नं णाइवट्टंति आयाम-विक्खम्भ-संठाण-परिणाहेणं, तं जहा—भरहे चेव एरवए चेव, एवमेएण-महिलावेणं हिमवए चेव हेरण्णवए चेव, हरिवासे चेव, रम्मयवासे चेव।

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिम-पच्चत्थिमेणं दो खित्ता पण्णत्ता, बहुसमतुल्ला अविसेस जाव पुव्वविदेहे चेव, अवरविदेहे चेव।

जंबू० मंदरस्स पव्वयस्स उत्तर-दाहिणेणं दो कुराओ पण्णत्ताओ, तं जहा—बहुसमतुल्लाओ जाव देवकुरा चेव, उत्तरकुरा चेव। तत्थ णं दो महतिमहालया महादुमा पण्णत्ता, तं जहा—बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अन्नमन्नं णाइवट्टंति आयाम-विक्खंभुच्चत्तोव्वेह-संठाणपरिणाहेणं, तं जहा—कूडसामली चेव, जंबू चेव सुदंसणा। तत्थ णं दो देवा महिड्ढिया जाव महासोक्खा पलिओवमट्ठितिया परिवसंति तं जहा—गरुले चेव वेणुदेवे, अणाढिए चेव जंबूदीवाहिवई॥५२॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य उत्तरदक्षिणेन द्वे वर्षे प्रज्ञप्ते, तद्यथा—बहुसमतुल्ये, अविशेषे अनानात्वे अन्योऽन्यं नातिवर्त्तेते आयाम-विष्कम्भोच्चत्वोद्वेधसंस्थानपारिणाहेन, तद्यथा-भरतं चैव, ऐरावतं चेव, एवमेतेनाभिलापेन हैमवतं

चैव; हैरण्यवर्तञ्चैव, हरिवर्षञ्चैव, रम्यकवर्षञ्चैव।

जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वपश्चिमेन द्वे क्षेत्रे प्रज्ञप्ते, तद्यथा—बहुसमतुल्ये, अविशेषे यावत् पूर्वविदेहश्चैव; अपरविदेहश्चैव।

जम्बू मन्दरस्स पर्वतस्य उत्तरदक्षिणेन द्वौ कुरू प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—बहुसमतुल्ये यावत् देवकुरवश्चैव, उत्तरकुरवश्चैव। तत्र द्वौ महातिमहालयौ महाद्रुमौ प्रज्ञप्तौ तद्यथा—बहुसमतुल्ये, अविशेषे, अनानात्वे अन्योऽन्यं नातिवर्तेते-आयाम-विष्कम्भोच्चत्वोद्वेधसंस्थानपरिणाहेन तद्यथा—कूटशाल्मली चैव, जम्बूश्चैव सुदर्शनः। तत्र द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावन्महासौख्यौ पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, तद्यथा—गरुडश्चैव वेणुदेवः अनाधृतश्चैव जम्बूद्वीपाधिपतिः।

शब्दार्थ—जंबुद्दीवे दीवे—जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, **मंदरस्स पव्वयस्स**—मेरु पर्वत के, **उत्तरदाहिणेणं**—उत्तर और दक्षिण की ओर, **दो वासा**—दो क्षेत्र, **पण्णत्ता**—प्रतिपादन किए गए हैं, **तं जहा**—जैसे कि, **भरहे चेव, एरवए चेव**—भरत और ऐरावत, वे कैसे हैं?, **बहुसमतुल्ला**—अत्यन्त सम और तुल्य, **अविसेसमणाणत्ता**—विशेषता एवं नानात्व से रहित, **अन्नमन्नं**—परस्पर वे दोनो, **णाइवट्टंति**—अतिक्रम नहीं करते, **आयाम- विक्खम्भ-संठाण-परिणाहेणं**—लम्बाई, चौडाई, आकार और परिधि की अपेक्षा से वे सम हैं, **एवमेएणमभिलावेणं**—इसी प्रकार इस अभिलाप—क्रम से, **हेमवए चेव, हेरण्णवए चेव**—हेमवत और हैरण्यवत क्षेत्र के विषय मे तथा, **हरिवासे चेव, रम्मयवासे चेव**—हरिवर्ष और रम्यकवर्ष के विषय मे जानना चाहिए। **जंबुद्दीवे दीवे**—जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, **मंदरस्स पव्वयस्स**—मेरु पर्वत के, **पुरच्छिम-पच्चत्थिमेणं**—पूर्व और पश्चिम की ओर, **दो खेत्ता**—दो क्षेत्र, **पण्णत्ता, तं जहा**—प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे कि, **पुव्वविदेहे चेव, अवरविदेहे चेव**—पूर्व महाविदेह और पश्चिम महाविदेह, वे दोनों, **अन्नमन्नं**—परस्पर, **बहुसमतुल्ला**— अत्यन्त सम एवं तुल्य, **अविसेस जाव**—विशेषता तथा नानात्व से रहित यावत् सब विवरण पूर्वोक्त प्रकार से जानना चाहिए।

जंबूमंदरपव्वयस्स उत्तर-दाहिणेणं दो कुराओ—जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत के उत्तर और दक्षिण की ओर दो कुरु, **पण्णत्ताओ, तं जहा**—कथन किए गए है, जैसे कि—**देवकुरा चेव, उत्तरकुरा चेव**—देवकुरु और उत्तरकुरु, वे दोनों, **बहुसमतुल्ला**—अतीव सम एवं तुल्य हैं, **जाव**—यावत् सर्व विवरण पूर्ववत् जानो। **तत्थ णं**—वहां पर, **महतिमहालया**—विश्व मे सब से महान्, **दो महादुमा**—दो महावृक्ष, **पण्णत्ता, तं जहा**—प्रतिपादित हैं, जैसे कि, **बहुसमतुल्ला**—बहुत सम एवं तुल्य, **अविसेसं**—विलक्षणता रहित, **अणाणत्ता**—नानात्व से रहित, **आयाम-विक्खंभुच्चत्तोव्वेह-संठाणपरिणाहेणं**—लंबाई-चौड़ाई, ऊंचाई, उद्वेध—गहराई, सस्थान—आकार परिधि से वे दोनो परस्पर एक दूसरे को, **नाइवट्टन्ति**—अतिक्रम नहीं करते, **तं जहा**—जैसे कि, **कूडसामली चेव, जंबू चेव**

सुदंसणा—कूटशाल्मली और जम्बू नामक वृक्ष जिसका दूसरा नाम सुदर्शन भी है, **तत्थ णं दो देवा महिड्ढिया**—उन पर दो देव महाऋद्धि वाले, **जाव**—यावत्, **महासोक्खा**—महासुखी **पलिओवमट्ठितिया**—पल्योपम स्थिति वाले, **परिवसंति तं जहा**—निवास करते हैं, जैसे कि, **गरुले चेव वेणुदेवे**—गरुड—सुपर्णकुमार जातीय वेणुदेव और, **जंबूदीवाहिवई अणाढिए**—जम्बूद्वीपाधिपति अनाधृत कुमार।

मूलार्थ—जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत के उत्तर और दक्षिण की ओर दो क्षेत्र प्रतिपादन किए गए हैं, जो कि परस्पर लंबाई-चौड़ाई, आकार और परिधि से तुल्य हैं। इनमें नाम के अतिरिक्त अन्य कोई विभिन्नता या नानात्व नहीं है। वे परस्पर किसी भी विषय को अतिक्रम नहीं करते, जैसे कि—भरत और ऐरावत। इसी प्रकार हैमवत और हैरण्यवत तथा हरिवर्ष और रम्यकवर्ष क्षेत्र के विषय में भी जान लेना चाहिए।

जम्बूद्वीप में मेरु के पूर्व और पश्चिम की ओर दो क्षेत्र प्रतिपादन किए गए हैं, वे भी परस्पर-आयाम-विष्कम्भ और परिधि आदि में समानता रखते हैं, जैसे कि—पूर्व महाविदेह और पश्चिम महाविदेह।

जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत के उत्तर और दक्षिण की ओर दो कुरु प्रतिपादन किए गए हैं, जो कि प्रत्येक दृष्टि से परस्पर तुल्य हैं। वे अनादिकाल से देवकुरु और उत्तरकुरु नाम से प्रसिद्ध हैं। उन दो क्षेत्रों में दो बड़े विस्तार वाले महावृक्ष हैं, जो लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई, गहराई, परिधि और आकार से परस्पर तुल्य हैं, जैसे कि—कूटशाल्मली और जम्बू, जिस का दूसरा नाम सुदर्शन भी है। उन पर निवास करने वाले महर्द्धिक तथा महासुखी एक पल्योपम स्थिति वाले दो देव हैं, उनके नाम सुपर्णजातीय वेणुदेव और जम्बूद्वीपाधिपति अनाधृतकुमार हैं।

विवेचनिका—मनुष्य और तिर्यंच प्रायः द्वीप और समुद्रों में रहते हैं, अतः इस सूत्र में सर्वप्रथम जम्बूद्वीप के अन्तवर्ती परस्पर समान एवं सदा कालभावी क्षेत्रों का उल्लेख किया गया है। जम्बूद्वीप सब द्वीपों में छोटा द्वीप है। वह एक लाख योजन लंबा-चौड़ा है। उसके ठीक मध्यभाग मे सुमेरु पर्वत है। वह हजार योजन गहरा है और निन्यानवे हजार योजन ऊंचा, सर्वांग लक्ष योजन प्रमाण है। आगमकारों ने उसे भूमध्य भाग का केन्द्र माना है। उसी को लेकर पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर का व्यवहार किया गया है। मन्दर, मेरु और सुमेरु ये पर्यायवाची नाम हैं। मन्दर पर्वत से दक्षिण की ओर भरत क्षेत्र है और उत्तर की ओर ऐरावत क्षेत्र। इन दोनों क्षेत्रों की लंबाई-चौड़ाई एक बराबर है। दोनों का संस्थान ज्या-आरोपितधनु के समान है। धनुपृष्ठ भाग समुद्र की ओर है। दोनों क्षेत्रों की परिधि—घेरा भी तुल्य ही है। इसी प्रकार हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रों का तथा हरिवर्ष और रम्यकवर्ष क्षेत्रों का वर्णन एक जैसा है। इन क्षेत्रों की लम्बाई-चौड़ाई, व्यास और परिधि आदि का वर्णन

सम एवं तुल्य है।

बहुसमतुल्ला—सम एवं तुल्य दोनों पद एक ही अर्थ के पर्यायवाची हैं, किन्तु इस स्थान पर 'बहुसमतुल्ला' का अर्थ होता है—अत्यन्त सदृश। बहुसम पद अत्यन्त का वाचक है और तुल्य पद सदृश का। अथवा बहु शब्द को यदि सम और तुल्य दोनों के साथ जोड़ा जाए तो इसका अर्थ होगा—वे दोनों क्षेत्र द्रव्य एवं क्षेत्र की अपेक्षा बहुसम हैं तथा काल और भाव की अपेक्षा बहु-तुल्य हैं।

एकार्थक पदों को देखकर पुनरुक्त दोष की शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अनुवाद, आदर, वीप्सा, भृशार्थ, विनियोग, हेतु, असूया, ईषत्संभ्रम, विस्मय, गणना और स्मरण इन अर्थों में साहित्यिक विद्वानों ने पुनरुक्त दोष नहीं माना है, जैसे कि कहा भी है—

अनुवादादरवीप्सा, भृशार्थ-विनियोग-हेत्वसूयासु।
ईषत्संभ्रम-विस्मय, गणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम् ॥ वृत्ति ॥

सूत्रकार ने सम और तुल्य का प्रयोग यहां अत्यन्तार्थ में ही किया है।

अविसेसमणाणत्ता—विशेषत्व और नानात्व ये दोनों शब्द जैसे व्यावहारिक दृष्टि से एक ही अर्थ के वाचक हैं, वैसे ही अविशेषत्व और अनानात्व भी एक ही अर्थ के द्योतक हैं। एक क्षेत्र में जो नदी, नगर, पर्वत, खण्ड आदि हैं, दूसरे क्षेत्र में भी वैसे ही हैं, कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों क्षेत्रों में सदा काल से समानता चली आ रही है। वृत्तिकार ने भी उपर्युक्त-पदों का अर्थ निम्नलिखित किया है—

समतुल्यशब्दः सदृशार्थः, अत्यन्तं समतुल्ये बहुसमतुल्ये प्रमाणतः अविशेषे—अविलक्षणे नग-नगर-नद्यादिकृतविशेषरहिते अनानात्वे—अवसर्पिण्यादि-कृतायुरा-दिभावभेदवर्जिते।

अन्नमन्नं नाइवट्टंति—वे दोनो क्षेत्र किसी भी विषय का अतिक्रमण नहीं करते, सदा अपनी मर्यादा में ही अवस्थित हैं, किसी भी काल में वे न्यूनाधिक नहीं होते।

प्रश्न हो सकता है कि वे दोनों क्षेत्र किस नियम का अतिक्रम नहीं करते? इसके उत्तर में कहना है कि—लंबाई-चौड़ाई, संस्थान, परिधि, काल और भाव ये सब दोनों क्षेत्रों में एक समान हैं। वृत्तिकार भी लिखते हैं—

आयामेन—दैर्घ्येण, विष्कम्भेन—पृथुत्वेन, संस्थानेन—आरोपितज्याधनुराकारेण, परिणाहेण—परिधिनेति। इह च द्वन्द्वैकवद्भावः कार्य इति, अथवा बहुसमतुल्ये—आयामतः, तथाहि—भरतपर्यन्तश्रेणीयम्।

चोद्दस य सहस्साइं, सयाइं चत्तारि एक सयराइं।
भरहद्धुत्तर जीवा छा य कला ऊणिया किंचि ॥

कला च योजनस्यैकोनविंशतितमो भाग इति १४४७१$^{६}/_{१९}$ ऐरवतेऽप्येवम्। तथा अविशेषे विष्कम्भतः, तथाहि पंच सए छव्वीसे छच्च कला वित्थडं भरहवासं

ति ५२६६[६]/१९ अयमेव ऐरवतस्यापीति, अनानात्वे संस्थानतः अन्योऽन्यं नातिवर्त्तेते, परिणाहतः परिणाहश्च ज्याधनुःपृष्ठयोर्यत्प्रमाणं तत्र ज्याप्रमाणमुक्तं, धनुः पृष्ठप्रमाणंत्विदम्—

चोद्दस य सहस्साइं, पंचेव सयाइं अट्ठवीसाइं।
एगारस य कलाओ, धणुपुट्ठं उत्तरद्धस्स॥

१४५२८[११]/१९ यथा च भरतस्यैरवतस्यापि तथैवेति'।

जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत के पूर्व और पश्चिम की ओर दो क्षेत्र हैं, जोकि प्रत्येक विषय में परस्पर समानता रखते हैं, जैसे कि पूर्व महाविदेह और पश्चिम महाविदेह। इन दोनों क्षेत्रों में सदैव चौथे आरे जैसा भाव रहता है। प्रत्येक महाविदेह में सोलह-सोलह विजय पाए जाते हैं। प्रत्येक विजय छः खण्डो में विभक्त है। प्रत्येक विजय में बत्तीस-बत्तीस हजार देश है। प्रत्येक देश में एक-एक राजा है। प्रत्येक राजा चक्रवर्ती नरेश्वर के शासन के अन्तर्गत है।

मेरु के दक्षिण और उत्तर दिशा में क्रमशः देवकुरु एवं उत्तरकुरु है। वे क्षेत्र भी आयामादि से परस्पर तुल्य हैं। इन मे से जो देवकुरु क्षेत्र है, वह सोमनस और विद्युत्प्रभ नाम वाले वक्षस्कार पर्वतों से आवृत है। ये दोनों पर्वत गजदन्ताकार वाले है। उत्तरकुरु क्षेत्र गन्धमादन और माल्यवान वक्षस्कार पर्वतों से आवृत है। वे दोनों पर्वत भी गजदन्ताकार है। देवकुरु के मध्य भाग मे एक कूटशाल्मलि महावृक्ष है और उत्तर कुरु के मध्य भाग मे जम्बू वृक्ष है जिसका दूसरा नाम सुदर्शन महावृक्ष है। वे दोनों महावृक्ष लंबाई-चौड़ाई, ऊंचाई-गहराई, सस्थान और विस्तार से परस्पर तुल्य हैं। इन दोनो वृक्षों पर महाऋद्धि वाले, महाद्युति वाले, महानुभाव, महायशस्वी और महाशक्तिशाली दो देव निवास करते है, जैसे कि सुपर्णजातीय वेणुदेव और जम्बूद्वीपाधिपति अनाधृतकुमार। वे दोनो देव पल्योपम स्थिति वाले है।

महतिमहालया—इस पद का भाव है, कि उक्त दोनों वृक्ष बड़े तेजस्वी हैं और वे अनेक प्रकार के उत्सवो के आश्रय बने हुए हैं एवं बडे विस्तार वाले हैं। इस विषय मे वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—

महान्तौ गुरु 'अतीति' अत्यन्तं महसां—तेजसां—महानां वा-उत्सवानामालयौ—आश्रयो महातिमह-आलयौ महातिमहालयौ वा समयभाषया महान्तावित्यर्थः।

उन वृक्षो का विशेष वर्णन तीन गाथाओं में किया गया है, जैसे कि—

रयणमया पुप्फफला, विक्खंभो अट्ठ अट्ठ उच्चत्तं।
जोयणमद्धुव्वेहो, खंधो दो जोयणुव्विद्धो॥
दो कोसे विच्छिन्नो, विडिमा छज्जोयणाणि जंबूए।
चाउद्दिसिंपि साला, पुव्विल्ले तत्थ सालम्मि॥

भवणं कोसप्पमाणं, सयणिज्जं तत्थऽणाढियसुरस्स ।
तिसु पासाया, सालेसु तेसु सीहासणा रम्मा ॥

अर्थात् जम्बू नामक महावृक्ष आठ योजन ऊंचा और उतना ही फैलाव वाला है। उसकी गहराई दो कोस की, उसका स्कन्ध दो योजन का है। उसकी छः-छः योजन की चार महाशाखाएं हैं जो कि चारों दिशाओ में फैली हुई हैं। जो पूर्व की शाखा है उस पर एक कोस प्रमाण भवन है, उसमें अनाधृतकुमार देव की शय्या है। शेष तीन शाखाओं पर तीन प्रासाद हैं, उनमें तीन रमणीक सिंहासन हैं। वह जंबूवृक्ष रत्नमय फूलों और फलों से सुशोभित है। वह महावृक्ष वनस्पति रूप नहीं, अपितु पृथिवीकायिक एवं शाश्वत है। इसी प्रकार का वर्णन कूटशाल्मलि के विषय में भी जानना चाहिए।

महासोक्खा—किसी-किसी प्रति में **महासोक्खा** के स्थान पर **महेसक्खा** पाठ मिलता है। इस पद का संस्कृत रूप **'महेशाख्यौ'** बनता है। **महेशौ-महेश्वरावित्याख्या ययोस्तौ महेशाख्याविति**—जो कि तज्जातीय साधारण देवों की अपेक्षा से महेश्वर हैं। इनका विशेष विवरण जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति से जानना चाहिए।

जम्बूद्वीप में पर्वतों की समानता

मूल—जंबूमंदरस्स पव्वयस्स य उत्तरदाहिणेणं दो वासहरपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता, अन्नमन्नं णातिवट्टंति आयामविक्खंभुच्चत्तोव्वेह-संठाण-परिणाहेणं, तं जहा—चुल्लहिमवंते चेव, सिहरिच्चेव। एवं महाहिमवंते चेव, रुप्पिच्चेव। एवं णिसढे चेव, णीलवंते चेव।

जंबूमंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं हेमवंतेरण्णवतेसु वासेसु दो वट्टवेयड्ढपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता जाव सद्दावाती चेव, वियडावाती चेव। तत्थ णं दो देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितिया परिवसंति, तं जहा—साती चेव, पभासे चेव।

जंबूमंदरस्स उत्तरदाहिणेणं हरिवासरम्मतेसु वासेसु दो वट्टवेयड्ढ-पव्वया पण्णत्ता, तं जहा—बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता जाव गंधावाती चेव, मालवंतपरियाए चेव, तत्थ णं दो देव महिड्ढिया जाव पलिओव-मट्ठितिया परिवसंति, तं जहा—अरुणे चेव, पउमे चेव।

जंबूमंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं देवकुराए पुव्वावरे पासे एत्थ णं आसक्खंधगसरिसा अद्धचंदसंठाणसंठिया दो वक्खारपव्वया पण्णत्ता,

तं जहा—बहुसम जाव सोमणसे चेव, विज्जुप्पभे चेव।

जंबूमंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं उत्तरकुराए पुव्वावरे पासे एत्थ णं आसक्खंधगसरिसा अद्धचंदसंठाणसंठिया दो वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता जाव गंधमादणे चेव, मालवंते चेव।

जंबू-मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो दीहवेयड्ढपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता जाव भारहे चेव दीहवेयड्ढे, एरावते चेव दीहवेयड्ढे। भारहेणं दीहवेयड्ढे दो गुहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—बहुसमतुल्लाओ अविसेसमणाणत्ताओ अन्नमन्नं णातिवट्टंति आयाम-विक्खंभुच्चत्त-संठाण-परिणाहेणं, तं जहा—तिमिसगुहा चेव, खंडगप्प-वायगुहा चेव। तत्थ णं दो देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितिया परिवसंति, तं जहा—कयमालए चेव, नट्टमालए चेव। एरावएणं दीहवेयड्ढे दो गुहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—जाव कयमालए चेव, नट्टमालए चेव।

जंबू-मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए दो कूडा पण्णत्ता, तं जहा—बहुसमतुल्ला जाव विक्खंभुच्चत्तसंठाणपरिणाहेण, तं जहा—चुल्लहिमवंतकूडे चेव, वेसमणकूडे चेव।

जंबू-मंदरदाहिणेणं महाहिमवंते वासहरपव्वए दो कूडा पण्णत्ता, तं जहा—बहुसमतुल्ला जाव महाहिमवंतकूडे चेव, वेरुलियकूडे चेव। एवं निसढे वासहरपव्वए दो कूडा पण्णत्ता, तं जहा—बहुसमतुल्ला जाव निसढकूडे चेव, रुयगप्पभे चेव।

जंबू-मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं नीलवंते वासहरपव्वए दो कूडा पण्णत्ता, तं जहा—बहुसमतुल्ला जाव तं जहा—नीलवंतकूडे चेव, उवदंसणकूडे चेव। एवं रुप्पिंमि वासहरपव्वए दो कूडा पण्णत्ता, तं जहा—बहुसमतुल्ला जाव तं जहा—रुप्पिकूडे चेव, मणिकंचणकूडे चेव। एवं सिहरिंमि वासहर-पव्वए दो कूडा पण्णत्ता, तं जहा—बहुसमतुल्ला जाव तं जहा—सिहरिकूडे चेव, तिगिंछिकूडे चेव ॥५३॥

छाया—जम्बूमन्दरस्य पर्वतस्य च उत्तर-दक्षिणेन द्वौ वर्षधरपर्वतौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—बहुसमतुल्यौ, अविशेषौ, अनानात्वौ अन्योऽन्यं नातिवर्त्तेते, आयाम-विष्कम्भो-

च्चत्वोद्वेध-संस्थान-परिणाहेन, तद्यथा—चुल्लहिमवान् चैव, शिखरी चैव। एवं महा-हिमवान् चैव, रुक्मी चैव। एवं निषधश्चैव, नीलवन्तश्चैव।

जम्बूमन्दरस्य पर्वतस्य उत्तर-दक्षिणेन हैमवत- हैरण्यवतयोर्वर्षयोः द्वौ वृत्तवैताढ्य पर्वतौ प्रज्ञप्तौ, बहुसमतुल्यौ अविशेषौ अनानात्वौ यावत् तद्यथा—शब्दापाती चैव, विकटापाती चैव। तत्र खलु द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत् पल्योपमस्थितिकौ परिवसत-स्तद्यथा—स्वाती चैव, प्रभासश्चैव।

जम्बूमन्दरस्य पर्वतस्य उत्तरदक्षिणेन हरिवर्षरम्यकवर्षयोर्द्वौ वृत्तवैताढ्य-पर्वतौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—बहुसमतुल्यौ अविशेषौ अनानात्वौ यावत् गन्धापाती चैव, माल्य-वत्पर्यायश्चैव। तत्र खलु द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतस्तद्यथा—अरुणश्चैव पद्मश्चैव।

जम्बूमन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणेन देवकुरोः पूर्वापरस्मिन् पार्श्वे अत्र खलु अश्व-स्कन्धकसदृशौ अर्द्धचन्द्रसंस्थान-संस्थितौ द्वौ वक्षस्कारपर्वतौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—बहुसमतुल्यौ यावत् तद्यथा—सौमनसश्चैव, विद्युत्प्रभश्चैव।

जम्बूमन्दरस्य पर्वतस्य उत्तरेण उत्तरकुरोः पूर्वापरस्मिन् पार्श्वे अत्र खलु अश्व-स्कन्धकसदृशौ अर्द्धचन्द्रसंस्थान-संस्थितौ द्वौ वक्षस्कारपर्वतौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—बहुसमतुल्यौ यावत् तद्यथा—गन्धमादनश्चैव, माल्यवान् चैव।

जम्बूमन्दरस्य पर्वतस्य उत्तर-दक्षिणेन द्वौ दीर्घवैताढ्यपर्वतौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—बहुसमतुल्यौ यावत् भारतश्चैव दीर्घवैताढ्यः, एरावतश्चैव दीर्घ-वैताढ्यः। भारते खलु दीर्घवैताढ्ये द्वे गुहे प्रज्ञप्ते, तद्यथा—बहुसमतुल्ये, अविशेषे, अनानात्वे अन्योन्यं नातिवर्तेते, आयाम-विष्कम्भोच्चत्वोद्वेध-संस्थान-परिणाहेन, तद्यथा—तमिस्त्रगुहा, खण्डकप्रपात- गुहा चैव। तत्र खलु द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतस्तद्यथा—कृतमाल्यकश्चैव, नृत्यमाल्यकश्चैव। ऐरवते खलु दीर्घवैताढ्ये द्वे गुहे प्रज्ञप्ते यावत् तद्यथा— कृतमाल्यकश्चैव, नृत्यमाल्यकश्चैव।

जम्बूमन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणेन चुल्लहिमवति वर्षधरपर्वते द्वौ कूटौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—बहुसमतुल्यौ यावत् विष्कम्भोच्चत्वोद्वेध-संस्थान-परिणाहेन, तद्यथा—चुल्ल-हिमवत् कूटश्चैव, वैश्रवणकूटश्चैव।

जम्बूमन्दरदक्षिणेन महाहिमवति वर्षधरपर्वते द्वौ कूटौ प्रज्ञप्तौ तद्यथा—बहुसमतुल्यौ यावत् तद्यथा—महाहिमवत्कूटश्चैव, वैडूर्यकूटश्चैव। एवं निषधवर्षधरपर्वते द्वौ कूटौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—बहुसमतुल्यौ यावत् तद्यथा—निषधकूटश्चैव, रुचकप्रभश्चैव।

जम्बूमन्दरस्य उत्तरेण नीलवति वर्षधरपर्वते द्वौ कूटौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—बहुसमतुल्ये यावत् तद्यथा—नीलवत्कूटश्चैव, उपदर्शनकूटश्चैव। एवं रुक्मिणि वर्षधरपर्वते द्वौ कूटौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—बहुसमतुल्यौ यावत् तद्यथा—रुक्मिकूटश्चैव, मणिकंचन-

कूटश्चैव। एवं शिखरिणि वर्षधरपर्वते द्वौ कूटौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—शिखरिकूटश्चैव, तिगिच्छिकूटश्चैव।

(शब्दार्थ—स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप मे मेरु पर्वत के दक्षिण और उत्तर की ओर दो वर्षधर पर्वत प्रतिपादन किए गए हैं, जोकि परस्पर अत्यन्त तुल्य, विशेषता और नानात्व से रहित अर्थात् आयाम (लम्बाई), विष्कम्भ (चौडाई), उच्चत्व, गहराई, संस्थान (आकार) और परिधि से वे दोनों परस्पर किसी भी अपेक्षा से न्यून व अधिक नहीं है। चुल्ल-हिमवान और शिखरी ये क्रमशः उनके नाम हैं। इसी प्रकार महाहिमवान और रुक्मी का तथा निषध और नीलवान पर्वतों का भी वर्णन जान लेना चाहिए।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे मेरु पर्वत के दक्षिण और उत्तर दिशा की ओर हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रों में दो वृत्त (वर्तुलाकार) वैताढ्य पर्वत प्रतिपादन किए गए हैं, जो कि परस्पर प्रत्येक विषय मे समानता रखते हैं। शब्दापाती और विकटपाती, ये उनके नाम हैं। वहां पर एक पल्योपम की स्थिति वाले महर्द्धिक दो देव निवास करते हैं, स्वाती और प्रभास।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप में मेरु से दक्षिण और उत्तर की ओर हरिवर्ष और रम्यकवर्ष क्षेत्र में दो वर्तुलाकार वैताढ्य पर्वत प्रतिपादित किए गए है। वे परस्पर प्रत्येक विषय मे तुल्य हैं, उनके नाम क्रमशः गन्धापाती और माल्यवानपर्याय हैं। वहा पर महर्द्धि वाले तथा पल्योपम स्थिति वाले दो देव रहते हैं, उनके पवित्र नाम अरुण और पद्म हैं।

जम्बूद्वीप में मन्दरगिरि से दक्षिण की ओर तथा देवकुरु के पूर्व एवं पश्चिम भाग में अश्वस्कन्ध के समान अर्द्धचन्द्राकार दो वक्षस्कार पर्वत वर्णित हैं, जो कि परस्पर अत्यन्त तुल्य हैं, उनके नाम सोमनस और विद्युत्प्रभ हैं।

जम्बूद्वीप के अन्तर्गत मन्दर पर्वत से उत्तर की ओर उत्तरकुरु के पूर्व और पश्चिम भाग में अश्वस्कन्ध के तुल्य, अर्द्धचन्द्राकार दो वक्षस्कार पर्वत प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे कि—गन्धमादन और माल्यवान। वे दोनों प्रत्येक दृष्टि से अत्यन्त सम है।

जम्बूद्वीप मे मेरु से दक्षिण और उत्तर की ओर दो दीर्घवैताढ्य पर्वत प्रतिपादन किए गए हैं, जो कि परस्पर प्रत्येक दृष्टि से अत्यन्त तुल्य हैं, जैसे कि—भरत दीर्घवैताढ्य और ऐरावत दीर्घवैताढ्य। इनमे भरत दीर्घवैताढ्य में दो गुफाएं वर्णन की गई हैं। वे दोनों लंबाई, चौड़ाई, ऊंचाई, सस्थान और परिधि से अतीव समान

हैं। उनके नाम तमिस्र गुफा और खण्डकप्रपात गुफा हैं। उन गुफाओं के अधिष्ठाता महर्द्धिक, पल्योपम की स्थिति वाले कृतमालक और नृत्यमालक दो देव हैं। इसी प्रकार ऐरावत दीर्घवैताढ्य का वर्णन भी जानना चाहिए।

जम्बूद्वीप में मेरु गिरि से दक्षिण की ओर चुल्लहिमवान वर्षधर पर्वत पर दो कूट हैं, जैसे कि—चुल्लहिमवान कूट और वैश्रवण कूट। वे दोनों परस्पर प्रत्येक दृष्टि से अतीव तुल्य हैं।

जम्बूद्वीप में मेरु से दक्षिण की ओर महाहिमवान वर्षधर पर्वत है, उस पर महाहिमवान कूट और वैडूर्यकूट, ये दो कूट ऐसे हैं जो कि प्रत्येक दृष्टि से अतीव समान हैं। इसी प्रकार निषध वर्षधर पर्वत पर दो कूट हैं, जो कि अत्यन्त तुल्य हैं, उनके नाम निषधकूट और रुचकप्रभ है।

जम्बूद्वीप में मेरु से उत्तर दिशा की ओर नीलवान वर्षधर पर्वत पर दो कूट हैं, वे दोनों परस्पर सम हैं। नीलवंत कूट और उपदर्शन कूट, ये उनके नाम हैं। इसी प्रकार रुक्मी वर्षधर पर्वत पर दो कूट अत्यन्त समान हैं, जैसे कि—रुक्मी कूट और मणिकंचन कूट। इस प्रकार शिखरी पर्वत पर शिखरीकूट और तिगिच्छिकूट, ये दो कूट परस्पर अत्यन्त तुल्य है।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र में जम्बूद्वीप के अन्तर्गत वर्ष, वर्षधर, वक्षस्कार, वृत्तवैताढ्य और दीर्घ वैताढ्य पर्वतो की समानता का वर्णन किया गया है। ये सब विवरण शास्त्रीय भूगोल से सम्बन्धित हैं। इन मे कभी भी व्यावहारिक परिवर्तन नही होता, ये सभी शाश्वत भाव में अवस्थित हैं और साथ ही उक्त सज्ञाएं पारिभाषिक हैं।

वर्ष—यह पद क्षेत्र का वाची है। वास का सस्कृत रूप वर्ष होता है। वर्ष संवत्सर को भी कहते हैं, किन्तु इस प्रसंग में क्षेत्र का अर्थ ही अभीष्ट है। वाचक उमास्वाति जी ने तत्त्वार्थ सूत्र के तीसरे अध्याय में क्षेत्र के लिए वर्ष का ही प्रयोग किया है। जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र हैं, जैसे कि—भरत, ऐरावत, हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष और महाविदेह। जम्बूद्वीप के दक्षिणान्त में भरत और उत्तरान्त में ऐरावत हैं। भरत से उत्तर की ओर हैमवत, उससे उत्तर की ओर हरिवर्ष, ये तीनों क्षेत्र मेरु से दक्षिण की ओर हैं। मेरु से पूर्व और पश्चिम की ओर महाविदेह क्षेत्र है। मेरु से उत्तर दिशा की ओर रम्यकवर्ष तथा हैरण्यवत, उससे उत्तर में ऐरावत क्षेत्र है, जो कि उत्तरान्त में है।

भरत और ऐरावत—

भरतक्षेत्र का आकार अर्धचन्द्राकार है, उसका पूर्व, पश्चिम और दक्षिण भाग लवण-समुद्र को स्पर्श करता है। उत्तर दिशा में उसकी सीमा हिमवान पर्वत तक है। ऐरावत क्षेत्र का वर्णन इसके विपरीत है—उस की तीन सीमाएं पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा में लवणसमुद्र को

स्पर्श करती हैं तथा दक्षिण की ओर शिखरी पर्वत को स्पर्श करती हैं। वह भी भरत क्षेत्र की तरह अर्धचन्द्राकार है। दोनों क्षेत्रों की लम्बाई पूर्व-पश्चिम की ओर १४४७१ ६/१९ योजन की है और उत्तर-दक्षिण की ओर ५२६ ६/१९ योजन की चौड़ाई है।

हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र—

हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र की लबाई ३७६७४ १५/१९ योजन की है और २१०५ ५/१९ योजन की चौडाई है। पूर्व और पश्चिम की ओर आयाम (लम्बाई) है और दक्षिण-उत्तर की ओर विष्कम्भ (चौड़ाई) है। हिमवान और महाहिमवान पर्वतो के अन्तराल में हैमवत क्षेत्र है, इसमे एक पल्योपम की स्थिति वाले यौगलिक मनुष्य निवास करते हैं।

हरिवर्ष और रम्यकवर्ष—

दो पल्योपम की स्थिति वाले यौगलिक मनुष्यो का निवास उक्त दो क्षेत्रो में है। इन क्षेत्रो की लंबाई पूर्व-पश्चिम की ओर ७३९०१ १७/१९ योजन प्रमाण है। उनका दक्षिण और उत्तर की ओर विस्तार ८४२१ १/१९ योजन प्रमाण है। पूर्व-पश्चिम की ओर आयाम तथा दक्षिण-उत्तर की ओर चौडाई है, इससे न्यूनाधिक नही।

महाविदेह क्षेत्र—

निषधपर्वत और नीलवंतपर्वत के मध्यभाग में महाविदेह क्षेत्र है, वह भी पूर्व और पश्चिम की ओर लवण समुद्र को स्पर्श करता है। महाविदेह क्षेत्र दो भागों मे विभक्त है— पूर्व-महाविदेह और पश्चिम-महाविदेह। दोनों के मध्य में मेरु पर्वत है। उसकी समुच्चय लंबाई एक लाख योजन की है। दक्षिण और उत्तर की ओर ३३६८४ ४/१९ योजन प्रमाण चौड़ाई है। मेरु पर्वत का व्यास १०००० योजन प्रमाण है, उसके दोनों ओर—पूर्व-पश्चिम की ओर ४५००० योजन प्रमाण महाविदेह क्षेत्र है।

देवकुरु और उत्तरकुरु—

ये दोनों कुरु महाविदेहक्षेत्र में हैं। निषध से उत्तर की ओर और नीलवंत पर्वत से दक्षिण की ओर गजदंताकार गन्धमादन और माल्यवान पर्वत हैं, जिन्हें गजदंतगिरि भी कहते हैं। वे दोनों अर्धचन्द्राकार हैं, उनकी लंबाई दक्षिण-उत्तर की ओर है तथा पूर्व-पश्चिम की ओर उनकी चौड़ाई है। जो कि मेरु पर्वत के आस-पास हैं। प्रत्येक कुरु का व्यास ११८४२ २/१९ योजन प्रमाण है। यहां तीन पल्योपम की स्थिति वाले यौगलिक मनुष्य और तिर्यंच रहते हैं।

वक्षस्कार पर्वत—

सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन और माल्यवान ये चार वक्षस्कार पर्वत देवकुरु क्षेत्र और उत्तरकुरु क्षेत्र की मर्यादा बांधने वाले हैं। इन्हें गजदंत गिरि भी कहते हैं। दूसरे शब्दो में इन्हें वक्षस्कार पर्वत भी कहा जाता है। वक्षस्कार पर्वत महाविदेह क्षेत्र में कुल सोलह हैं। आठ पूर्वविदेह में और आठ पश्चिम विदेह में। दो देवकुरु मे तथा दो उत्तरकुरु में हैं। कुल वक्षस्कार बीस हैं।

वर्षधर पर्वत—

वर्ष क्षेत्र को कहते हैं, क्षेत्र सात हैं। उन्हें विभक्त करने वाले छः वर्षधर पर्वत हैं— जैसे कि हिमवान, निषध, नीलवंत, रुक्मी और शिखरी। हिमवान और शिखरी दोनों पर्वतों की लंबाई पूर्व-पश्चिम की ओर २४९३२$^{१}/_{१९}$ योजन प्रमाण है, ये लवण समुद्र को स्पर्श कर रहे हैं। उनकी चौड़ाई १०५२$^{१२}/_{१९}$ योजन प्रमाण है। १०० योजन की ऊंचाई है। दोनों की गहराई २५ योजन की है। हिमवान का दूसरा नाम चुल्लहिमवान भी है क्योंकि वह महाहिमवान पर्वत की अपेक्षा से लघु है, इसलिए हिमवान और शिखरी दोनों वर्षधर पर्वत अत्यन्त तुल्य हैं।

महाहिमवान और रुक्मी—

ये पूर्व और पश्चिम की ओर लंबे हैं और उत्तर-दक्षिण की ओर चौड़े। इनकी लम्बाई ५३९३१$^{१}/_{१९}$ योजन प्रमाण है, चौड़ाई ४२१०$^{१०}/_{१९}$ योजन प्रमाण और ऊंचाई २०० योजन की है। गहराई ५० योजन प्रमाण है। इसलिए दोनों वर्षधर पर्वत प्रत्येक दृष्टि से तुल्य हैं।

निषध और नीलवंत—

ये दोनों पर्वत पूर्व-पश्चिम मे लवणसमुद्र को स्पर्श करते हैं, उत्तर-दक्षिण में चौडे हैं। इनकी लंबाई ९४१५६ योजन, चौड़ाई १६८४२$^{२}/_{१९}$ योजन और ऊचाई ४०० योजन प्रमाण है।

वैताढ्य पर्वत—

जम्बूद्वीप में ३४ वैताढ्य पर्वत हैं। महाविदेह क्षेत्र में ३२, भरत क्षेत्र में एक और ऐरावत क्षेत्र में भी एक है। इनको सूत्रकार ने दीर्घवैताढ्य की सज्ञा दी है, किन्तु भरत-ऐरावत क्षेत्र में जो दीर्घ वैताढ्य पर्वत हैं, वे लंबाई मे पूर्व-पश्चिम की ओर लवणसमुद्र को स्पर्श करते हैं। वैताढ्य पर्वत ने भरत-ऐरावत या विजय क्षेत्रों को दो भागों में विभाजित किया हुआ है। प्रत्येक वैताढ्य पर्वत में दो-दो गुफाएं है, जिनका उद्घाटन चक्रवर्ती के शासन में होता है, उसके देहावसान होने पर या दीक्षा लेने पर वे गुफाएं स्वयं बन्द हो जाती हैं। हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष तथा रम्यकवर्ष क्षेत्रों में क्रमशः शब्दापाती, विकटापाती, गन्धापाती और मालवंतपर्याय नामक वृत्त वैताढ्य पर्वत हैं, जो कि लंबे न होकर वर्तुलाकार (गोल) हैं। सभी वैताढ्य पर्वतों की गुफाएं देवाधिष्ठित हैं।

कूट—

चुल्लहिमवान पर्वत पर यद्यपि ११ कूट हैं, तदपि द्विस्थान के अनुरोध से आदि अन्त कूट का ही ग्रहण किया गया है जिनके नाम चुल्लहिमवंत कूट और वैश्रमणकूट हैं। महाहिमवान वर्षधर क्षेत्र में यद्यपि आठ कूट हैं, तथापि महाहिमवंत और वैडूर्य इन दो कूटों का जो यहां उल्लेख किया गया है, वह भी आदि-अन्त की अपेक्षा से समझना चाहिए। निषध पर्वत पर निषध-कूट और रुचककूट ये दो कूट प्रत्येक दृष्टि से अतीव तुल्य हैं।

निषध पर्वत पर कुल ९ कूट हैं। इसी प्रकार नीलवंत पर भी ९ कूट हैं। यहां आदि-अन्त ग्रहण करने से नीलवंत और उपदर्शन कूट का ही ग्रहण किया गया है।

रुक्मी पर्वत पर आठ कूट हैं। द्विस्थान के अनुरोध से रुक्मी कूट और मणिकंचन-कूट ही ग्रहण किए गए है। शिखरी पर्वत पर ११ कूट है, उनमें शिखरी कूट और तिगिच्छि कूट विशेष-उल्लेखनीय हैं।

जम्बूद्वीप में सरोवर-सरिताओं की समानता

मूल—जंबूमंदरस्स पव्वयस्स य उत्तरदाहिणेणं चुल्लहिमवंतसिहरीसु वासहरपव्वएसु दो महद्दहा पण्णत्ता, तं जहा—बहुसमतुल्ला अविसेस-मणाणत्ता अण्णमण्णं णातिवट्टन्ति, आयामविक्खम्भ-उव्वेह-संठाण-परिणाहेणं, तं जहा—पउमद्दहे चेव, पुंडरीयद्दहे चेव। तत्थ णं दो देवयाओ महिड्ढियाओ जाव पलिओवमट्ठितियाओ परिवसंति, तं जहा—सिरी चेव, लच्छी चेव। एवं महाहिमवंतरुप्पीसु वासहरपव्वएसु दो महद्दहा पण्णत्ता, तं जहा—बहुसमतुल्ला, अविसेसमणाणत्ता अन्नमन्नं णाइवट्टंति आयामविक्खम्भ-उव्वेह-संठाण-परिणाहेणं, तं जहा—महापउमद्दहे चेव, महापोंडरीयद्दहे चेव, देवयाओ हिरिच्चेव, बुद्धिच्चेव। एवं निसढनीलवंतेसु तिगिंछिद्दहे चेव, केसरिद्दहे चेव, देवयाओ धितिच्चेव, कित्तिच्चेव।

जंबूमंदरस्स पव्वयस्स य दाहिणेणं महाहिमवंताओ, वासहरपव्वयाओ महापउमद्दहाओ दो महानईओ पवहंति, तं जहा—रोहियच्चेव, हरिकंतच्चेव। एवं निसढाओ वासहर-पव्वयाओ तिगिंछिद्दहाओ दो महानईओ पवहंति, तं जहा—हरिच्चेव, सीओअच्चेव।

जंबूमंदरस्स पव्वयस्स य उत्तरेणं नीलवंताओ वासहर-पव्वयाओ केसरिद्दहाओ दो महानईओ पव्वहंति, तं जहा—सीता चेव, नारिकंता चेव। एवं रुप्पीओ वासहरपव्वयाओ महापोंडरीयद्दाओ दो महानईओ पवहंति, तं जहा—णरकंता चेव, रुप्पकूला चेव।

जंबूमंदरस्स पव्वयस्स य दाहिणेणं भरहे वासे दो पवायद्दहा पण्णत्ता, तं जहा—बहुसमतुल्ला, अविसेसमणाणत्ता अण्णमण्णं णातिवट्टंति आयामविक्खंभ-उव्वेह-संठाण-परिणाहेणं, तं जहा—गंगापवातद्दहे चेव, सिंधुपवातद्दहे चेव। एवं हिमवए वासे दो पवायद्दहा पण्णत्ता, तं जहा—बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अण्णमण्णं णातिवट्टंति आयामविक्खंभ-

उव्वेह-संठाण-परिणाहेणं, तं जहा—रोहियप्पवातद्दहे चेव, रोहियंसप्पवायद्दहे चेव।

जंबूमंदरदाहिणेणं हरिवासे वासे दो पवायद्दहा पण्णत्ता, बहु समतुल्ला, अविसेसमणाणत्ता अण्णमण्णं णातिवट्टंति आयामविक्खंभ-उव्वेह संठाणपरिणाहेणं, तं जहा—हरिप्पवायद्दहे चेव, हरिकंतपवायद्दहे चेव। जंबूमंदरस्स उत्तरदाहिणेणं महाविदेहे वासे दो पवायद्दहा पण्णत्ता, बहुसमतुल्ला, अविसेस-मणाणत्ता अण्णमण्णं णातिवट्टंति आयाम-विक्खंभ-उव्वेह-संठाण-परिणाहेणं, तं जहा—सीयप्पवायद्दहे चेव सीतोदप्पवायद्दहे चेव।

जंबूमंदरस्स उत्तरेणं रम्मयवासे दो पवायद्दहा पण्णत्ता, बहुसमतुल्ला, अविसेसमणाणत्ता अण्णमण्णं णातिवट्टंति आयामविक्खंभ-उव्वेह-संठाण-परिणाहेणं, तं जहा—नरकंतप्पवायद्दहे चेव, णारीकंतप्पवायद्दहे चेव। एवं हेरण्णवते वासे दो पवायद्दहा पण्णत्ता, बहुसमतुल्ला, अविसेसमणाणत्ता अण्णमण्णं णातिवट्टंति आयामविक्खंभ-उव्वेह-संठाण-परिणाहेणं, तं जहा—सुवन्नकूलप्पवायद्दहे चेव, रुप्पकूलप्पवायद्दहे चेव।

जंबूमंदरस्स उत्तरेणं एरवए वासे दो पवायद्दहा पण्णत्ता, बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अण्णमण्णं णातिवट्टंति आयामविक्खंभ-उव्वेह-संठाण-परिणाहेणं, तं जहा—रत्तप्पवायद्दहे चेव, रत्तावइप्पवायद्दहे चेव।

जंबूमंदरस्स दाहिणेणं भरहे-वासे दो महानईओ पण्णत्ताओ, बहुसमतुल्लाओ अविसेसमणाणत्ताओ अण्णमण्णं णातिवट्टंति, आयामविक्खंभ-उव्वेह-संठाण-परिणाहेणं, तं जहा—गंगा चेव, सिंधू चेव। एवं जहा पवायद्दहा। एवं णईओ भाणियव्वाओ जाव एरवए वासे दो महानईओ पण्णत्ताओ बहुसमतुल्लाओ अविसेसमणाणत्ताओ अण्णमण्णं णातिवट्टंति आयामविक्खंभ-उव्वेह-संठाण-परिणाहेणं, तं जहा—रत्ता चेव, रत्तावई चेव ॥५४॥

छाया—जम्बू-मन्दरस्य पर्वतस्य च उत्तर-दक्षिणेन चुल्लहिमवच्छिखरिणोर्वर्ष-धरपर्वतयो द्वौ महाह्रदौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—बहुसमतुल्यौ, अविशेषौ अनानात्वौ अन्योऽन्यं नातिवर्त्तेते आयामविष्कम्भोद्वेधसंस्थान-परिणाहेन, तद्यथा—पद्मह्रदश्चैव, पुण्डरीक-ह्रदश्चैव। तत्र द्वे देवते महर्द्धिके यावत् पल्योपमस्थितिके परिवसतः, तद्यथा—श्रीश्चैव,

लक्ष्मीश्चैव। एवं महाहेमवद्रुक्मिणोर्वर्षधरपर्वतयोः द्वौ महाह्रदौ प्रज्ञप्तौ, बहुसमतुल्यौ अविशेषौ अनानात्वौ अन्योऽन्यं नातिवर्त्तेते आयामविष्कम्भोद्वेधसंस्थान-परिणाहेन, तद्यथा—महापद्मह्रदश्चैव, महापुण्डरीकह्रदश्चैव। देवते ह्रीश्चैव, बुद्धिश्चैव। एवं निषध-नीलवतोस्तिगिंछिह्रदश्चैव, केसरिह्रदश्चैव। देवते धृतिश्चैव, कीर्तिश्चैव।

जम्बूमंदरस्य पर्वतस्य च दक्षिणे महाहिमवतोर्वर्षधरपर्वतयोर्महापद्मह्रदतः द्वे महानद्यौ प्रवहतस्तद्यथा—रोहिता चैव, हरिकान्ता चैव। एवं निषधस्य वर्षधरपर्वतस्य तिगिंछिह्रदतो द्वे महानद्यौ प्रवहतस्तद्यथा—हरिच्चैव, शीतोदा चैव।

जम्बूमन्दरस्य पर्वतस्य च उत्तरेण नीलवतोर्वर्षधरपर्वतस्य केसरिह्रदतः द्वे महा-नद्यौ प्रवहतस्तद्यथा—शीता चैव, नारीकान्ता चैव। एवं रुक्मिणः वर्षधरपर्वतस्य महापुण्डरीकह्रदतः द्वे महानद्यौ प्रवहतस्तद्यथा—नरकान्ता चैव, रौप्यकूला चैव।

जम्बूमंदरस्य पर्वतस्य च दक्षिणेन भारते वर्षे द्वौ प्रपातह्रदौ प्रज्ञप्तौ बहुसमतुल्यौ अविशेषौ अनानात्वौ अन्योऽन्यं नातिवर्त्तेते आयामविष्कम्भोद्वेध-संस्थान-परिणाहेन तद्यथा—गंगाप्रपातह्रदश्चैव, सिन्धु-प्रपातह्रदश्चैव। एवं हैमवतिवर्षे द्वौ प्रपातह्रदौ प्रज्ञप्तौ, बहुसमतुल्यौ अविशेषौ अनानात्वौ अन्योऽन्यं नातिवर्तेते आयामविष्कम्भोद्वेध-संस्थान-परिणाहेन, तद्यथा—रोहित-प्रपातह्रदश्चैव, रोहितांशप्रपातह्रदश्चैव।

जम्बूमन्दरस्य पर्वतस्य च दक्षिणेन हरिवर्षे वर्षे द्वौ प्रपातह्रदौ प्रज्ञप्तौ, बहुसमतुल्यौ अविशेषौ अनानात्वौ अन्योऽन्यं नातिवर्त्तेते आयामविष्कम्भोद्वेध-संस्थान- परिणाहेन, तद्यथा—हरित्प्रपातह्रदश्चैव, हरिकान्त-प्रपातह्रदश्चैव।

जम्बूमन्दरस्य पर्वतस्य चोत्तरदक्षिणेन महाविदेह-वर्षे द्वौ प्रपात-ह्रदौ प्रज्ञप्तौ, बहुसमतुल्यौ अविशेषौ अनानात्वौ अन्योऽन्यं नातिवर्तेते आयामविष्कम्भोद्वेध- संस्थान-परिणाहेन, तद्यथा—शीताप्रपातह्रदश्चैव, शीतोदाप्रपातह्रदश्चैव।

जम्बू-मन्दरस्योत्तरेण रम्यकवर्षे द्वौ प्रपातह्रदौ प्रज्ञप्तौ, बहुसमतुल्यौ अविशेषौ अनानात्वौ अन्योऽन्यं नातिवर्तेते आयामविष्कम्भोद्वेध-संस्थान-परिणाहेन, तद्यथा—नरकान्ता-प्रपातह्रदश्चैव, नारीकान्ता-प्रपातह्रदश्चैव। एवं हैरण्यवति वर्षे द्वौ प्रपातह्रदौ प्रज्ञप्तौ बहुसमतुल्यौ अविशेषौ अनानात्वौ अन्योऽन्यं नातिवर्तेते आयामविष्कम्भोद्वेध-संस्थान-परिणाहेन, तद्यथा—स्वर्णकूला-प्रपातह्रदश्चैव, रौप्यकूला-प्रपातह्रदश्चैव।

जम्बूमन्दरस्य उत्तरेण ऐरावते वर्षे द्वौ प्रपातह्रदौ प्रज्ञप्तौ बहुसमतुल्यौ अविशेषौ अनानात्वौ अन्योऽन्यं नातिवर्तेते आयामविष्कम्भोद्वेध-संस्थान-परिणाहेण, तद्‌यथा—रक्ता-प्रपातह्रदश्चैव, रक्तवती-प्रपातह्रदश्चैव।

जम्बूमन्दरस्य दक्षिणेन भारते वर्षे द्वे महानद्यौ प्रज्ञप्ते, बहुसमतुल्ये अविशेषे अनानात्वे अन्योऽन्यं नातिवर्तेते। आयामविष्कम्भोद्वेध-संस्थान-परिणाहेन, तद्‌यथा गंगा चैव, सिन्धुश्चैव। एवं यथा प्रपातह्रद नद्यः भणितव्याः। ऐरवते वर्षे द्वे महानद्यौ

प्रज्ञप्ते, बहुसमतुल्ये अविशेषे, अनानात्वे अन्योऽन्यं नातिवर्तेते आयामविष्कम्भो-द्वेध-संस्थान-परिणाहेन, तद्यथा—रक्ता चैव, रक्तवती चैव।

मूलार्थ—जम्बूद्वीपस्थ मन्दर पर्वत की उत्तर-दक्षिण दिशा में चुल्लहिमवान् और शिखरी पर्वतों पर दो महाह्रद प्रतिपादन किए गए हैं। वे दोनों ह्रद बहुसमतुल्य, अविशेष, अनानात्व एवं आयाम-विष्कम्भ, गहराई, संस्थान तथा व्यास में एक दूसरे को अतिक्रम नहीं करते। उनके नाम पद्म ह्रद और पुण्डरीक ह्रद हैं। वहां महर्द्धि सम्पन्न यावत् पल्योपम स्थिति वाली श्रीदेवी और लक्ष्मी, ये दो देवियां निवास करती हैं। इसी प्रकार महाहिमवान् और रुक्मी वर्षधर पर्वतों पर दो महान ह्रद कथन किए गए हैं, वे भी उपरोक्त ह्रदों की भांति आकार-प्रकार और गहराई आदि में सम तुल्य तथा एक-दूसरे को अतिक्रम नहीं करते। उनके नाम महापद्मह्रद और महापुण्डरीक ह्रद हैं। उस स्थान पर ह्री एवं बुद्धि नामक महर्द्धिक देवियां निवास करती हैं। इसी तरह निषध व नीलवान् पर्वतों पर तिगिच्छह्रद और केसरी ह्रद विद्यमान हैं, वहां पर भी धृति तथा कीर्ति नामक दो महर्द्धिक देवियां निवास करती हैं।

जम्बूद्वीपस्थ मेरु पर्वत की दक्षिण दिशा में महाहिमवान् वर्षधर पर्वत के महापद्म ह्रद से रोहिता तथा हरिकान्ता दो महानदियां निकलती हैं। इसी तरह निषध वर्षधर पर्वत के तिगिंच्छ ह्रद से हरि और शीतोदा नामक दो महानदियां निकलती हैं।

जम्बूमन्दर पर्वत की उत्तर दिशा में विद्यमान नीलवान् वर्षधर पर्वत के केसरी ह्रद से शीता एव नारीकान्ता, ये दो महानदियां निकलती हैं। इसी प्रकार रुक्मी पर्वत के महापुण्डरीक ह्रद से नरकान्ता एवं रौप्यकूला दो महानदिया प्रवाहित होती हैं।

जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत की दक्षिण दिशा में स्थित भरतवर्ष में परस्पर बहुसमतुल्य गंगा-प्रपात तथा सिन्धु-प्रपात नामक दो प्रपात ह्रद (कुण्ड) कथन किए गए है।

जम्बूद्वीप स्थित मन्दर पर्वत की उत्तर दक्षिण दिशा में स्थित महाविदेह वर्ष में परस्पर सम-तुल्य शीता तथा शीतोदा नामक दो प्रपात-ह्रद प्रतिपादन किए गए हैं।

जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत के उत्तर में रम्यक वर्ष मे नरकान्त और नारीकान्त दो प्रपातह्रद हैं। इसी तरह हैरण्यवत वर्ष में परस्पर सम आकार-प्रकार युक्त स्वर्णकूल एवं रौप्यकूल नामक दो ह्रद हैं। इसी तरह जम्बूद्वीपस्थ मेरु की उत्तर दिशा मे ऐरावत वर्ष में परस्पर सम-तुल्य आकार-प्रकार युक्त रक्त एवं रक्तवती नामक दो प्रपात ह्रद हैं।

जम्बूद्वीपस्थ मन्दर की दक्षिण की ओर स्थित भारतवर्ष में परस्पर बहुसम एवं तुल्य गंगा और सिन्धु नामक दो महानदियां हैं। इसी तरह जैसे प्रपात ह्रदों का कथन है, उसी तरह नदियों का भी कथन है। यावत् ऐरावतवर्ष में आकार आदि से समान रक्ता और रक्तवती दो महानदियां वर्णित हैं।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र में जम्बूद्वीप के अन्तर्गत ह्रद, नदी और प्रपात-ह्रदों का उल्लेख किया गया है। सभी वर्षधर पर्वतो पर ह्रद (सरोवर) हैं। छहों ह्रदो की लंबाई-चौड़ाई और गहराई कितनी है? इसे जानने का सरल उपाय यह है कि जिस पर्वत की जितनी ऊंचाई है, उससे दस गुणा योजन का आयाम और उससे अर्धप्रमाण विस्तार वाला ह्रद होता है। जैसे कि—

ऊंचाई योजन	पर्वतनाम	ह्रदनाम	आयाम योजन	विष्कम्भ योजन	गहराई योजन
१००	चुल्लहिमवान	पद्मह्रद	१०००	५००	१०
२००	महाहिमवान	महापद्मह्रद	२०००	१०००	१०
४००	निषध	तिगिच्छह्रद	४०००	२०००	१०
४००	नीलवत	केसरीह्रद	४०००	२०००	१०
२००	रुक्मी	महापौंडरीकह्रद	२०००	१०००	१०
१००	शिखरी	पौडरीकह्रद	१०००	५००	१०

चुल्लहिमवान पर्वत[१] के मध्यभाग में पद्म ह्रद है, वह चारों ओर एक वनखण्ड से परिवृत है। इसी प्रकार शिखरी पर्वत पर पौण्डरीकह्रद है, उक्त दोनों ह्रद पूर्व-पश्चिम दिशा की ओर लंबे हैं तथा उत्तर-दक्षिण में चौडे हैं। उनके मध्यभाग में एक-एक कमल है। उन पर क्रमशः श्रीदेवी और लक्ष्मी देवी का निवास है। वे दोनों पल्योपम स्थिति वाली है। उनकी आयु से यह जान पड़ता है कि ये व्यतर देवियां नहीं, बल्कि भवनपति जाति के देवो की देवियां सिद्ध होती है। कारण कि व्यन्तर देवी की उत्कृष्ट आयु अर्द्धपल्योपम की है।

इसी प्रकार महापद्म और महापौण्डरीक ह्रद की अधिष्ठात्री देवी क्रमशः ह्री और बुद्धि देवी हैं। तिगिच्छ और केसरी ह्रद की अधिनायिका धृति और कीर्ति देवी हैं। ह्रदाधिष्ठात्री सभी देवियो की स्थिति पल्योपम प्रमाण है। कहा भी है—

एएसु सुरबहूओ, वसंति पलिओवमट्ठितीयाओ।
सिरि-हिरि-धिति-कित्तीओ, बुद्धी-लच्छी सनामाओ।

१ 'उत्तर दाहिणेण चुल्लहिमवतसिहरीसु' के स्थान पर 'दक्खिणोत्तरेण चुल्लहिमवंतसिहरीसु' ऐसा यदि पाठ होता तो दिशा के यथाक्रम से वर्षधर पर्वत का यथाक्रम का ज्ञान सुगमता से हो जाता, किन्तु 'उत्तरदाहिणेण' इस क्रम से पाठ देने का आशय सूत्रकार का क्या था? यह विचारणीय है। —सम्पादक

सभी महानदियों का निकास अपने-अपने ह्रद से होता है, जैसे कि—महाहिमवान पर्वत के महापद्म ह्रद से दो नदियां निकलती हैं—रोहित और हरिकान्ता। रोहित नदी दक्षिणी तट से निकलकर १६०५ योजन से कुछ अधिक दूरी पर जाकर मकरमुख जैसे स्थान से २०० योजन नीचे एक कुण्ड में बिखरते हुए मोतियों के समान गिरती है और उसके अनन्तर रोहित प्रपातह्रद के दक्षिणी तट से निकल कर हैमवत क्षेत्र के मध्यवर्ती शब्दापाती वृत्तवैताढ्य पर्वत से आधा योजन दूर रहते हुए मार्ग में २८००० नदियों को साथ मिलाकर जगती के नीचे भूमि को निदीर्ण करती हुई पूर्व के लवणसमुद्र में जा गिरती है। रोहित नदी अपने उद्‌गमस्थान में साढे बारह योजन चौडी और एक कोस गहरी है। तत्पश्चात् क्रमश: बढ़ती हुई १२५ योजन चौड़ी होकर लवणसमुद्र में प्रवेश करती है। इसी प्रकार अन्य नदियों के विषय में भी जानना चाहिए।

ह्रद और प्रपात—

जिस जलाशय से महानदियों का निकास होता है, वह ह्रद कहलाता है और महानदी पहली बार जिस कुण्ड में गिरती है वह प्रपातह्रद कहलाता है। जो जिस नदी का कुण्ड है, वह कुण्ड उसी नाम से प्रसिद्ध है, जैसे कि गंगाप्रपात-ह्रद, रोहितप्रपात-ह्रद इत्यादि।

मेरु से दक्षिण की ओर सात महानदियां बहती हैं, जैसे कि—गंगा, सिन्धु, रोहिताशा, रोहिता, हरिकान्ता, हरिसलिला, सीतोदा।

मेरु से उत्तर की ओर सात महानदियां बहती हैं, जैसे कि—सीता, नारीकान्ता, नरकान्ता, रूप्यकूला, सुवर्णकूला, रक्ता और रक्तावती।

पद्म और पौण्डरीक ह्रद से तीन-तीन महानदियां निकलती हैं, शेष ह्रदों से दो-दो महानदियां निकलती हैं, जम्बूद्वीप में कुल चौदह महानदिया हैं। इनका विस्तृत वर्णन जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में प्राप्त होता है।

जम्बूद्वीप की काल-व्यवस्था एवं जीव-अवस्था

मूल—जम्बुद्दीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु तीताए उस्सप्पिणीए सुसम-दुसमाए समाए दो सागरोवमकोडाकोडीओ काले होत्था। एवमिमीसे ओसप्पिणीए जाव पण्णत्ते। एवं आगमिस्साए उस्सप्पिणीए जाव भविस्सइ। जंबूदीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु तीताए उस्सप्पिणीए सुसमाए समाए मणुया दो गाउयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था। दोन्नि य पलिओवमाइं परमाउं पालइत्था। एवमिमीसे ओसप्पिणीए जाव पालइत्था। एवमागमेस्साते उस्सप्पिणीए जाव पालइस्संति।

जंबुद्दीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु एगसमए एगजुगे दो अरिहंतवंसा

उप्पज्जिंसु वा, उप्पज्जंति वा, उप्पज्जिस्संति वा। एवं चक्कवट्टिवंसा। दसारवंसा।

जंबू० भरहेरवएसु एगसमए दो अरहंता उप्पज्जिंसु वा, उप्पज्जंति वा, उप्पज्जिस्संति वा। एवं चक्कवट्टिणो। एवं बलदेवा, एवं वासुदेवा (दसारवंसा) जाव उप्पज्जिंसु वा, उप्पज्जंति वा, उप्पज्जिस्संति वा।

जंबुद्दीवे, दीवे दोसु कुरासु मणुआ सया सुसमसुसममुत्तमिड्ढिं पत्ता पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, तं जहा—देवकुराए चेव, उत्तरकुराए चेव। जंबुद्दीवे दीवे दोसु वासेसु मणुया सया सुसमुत्तमं इड्ढिं पत्ता पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, तं जहा—हरिवासे चेव, रम्मगवासे चेव।

जंबुद्दीवे दीवे दोसु वासेसु मणुया सुसमदुसममुत्तममिड्ढिं पत्ता पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, तं जहा—हेमवए चेव, एरण्णवए चेव।

जंबुद्दीवे दीवे दोसु खित्तेसु मणुया सया दुसमसुसममुत्तममिड्ढिं पत्ता पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, तं जहा—पुव्व-विदेहे चेव, अवरविदेहे चेव। जंबुद्दीवे दीवे दोसु वासेसु मणुया छव्विहंपि कालं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, तं जहा—भरहे चेव, एरवए चेव ॥५५॥

छाया—जम्बू-द्वीपे द्वीपे भरतैरावर्तयोर्वर्षयोरतीतायामुत्सर्पिण्यां सुषमदुषमायां समायां द्वे सागरोपमकोटाकोटी कालो बभूव। एवमस्यामुपसर्पिण्यां यावत् प्रज्ञप्तः। एवमागमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां यावत् भविष्यति।

जम्बू-द्वीपे द्वीपे भरतैरावर्तयोः वर्षयोऽतीतायामुत्सर्पिण्यां सुषमायां समायां मनुजा द्वे गव्यूती ऊर्ध्वमुच्चत्वेन बभूवुः। द्वे च पल्योपमे परमायुष्के पालितवन्तः। एवमस्यामवसर्पिण्यां यावत् पालितवन्तः। एवमागमिष्यन्त्यां यावत् पालयिष्यन्ति। जम्बू-द्वीपे द्वीपे भरतैरावर्तयोः वर्षयोरेकसमये, एक युगे द्वावर्हद्वंशौ उद्बभूवतुः, उत्पद्येते वा, उत्पत्स्येते वा। एवं चक्रवर्तिवंशौ। एवं दसारवंशौ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतैरावर्तवर्षयोरेकसमये द्वावर्हन्तौ उद्बभूवतुः, उत्पद्येते वा, उत्पत्स्येते वा। एवं चक्रवर्तिनौ। एवं बलदेवौ, एवं वासुदेवौ (दसारवंशौ) यावत् (उद्बभूवतुः) उत्पद्येते, वा उत्पत्स्येते वा।

जम्बू-द्वीपे द्वीपे द्वयोः कुर्वोः मनुजाः सदा सुषमसुषमोत्तमर्द्धि प्राप्ताः प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, तद्यथा—देवकुरौ, उत्तरकुरौ चैव।

जम्बू-द्वीपे द्वीपे द्वयोः वर्षयोः चैव मनुजाः सदा सुषमोत्तमर्द्धिं प्राप्ताः प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, तद्यथा—हरिवर्षे चैव, रम्यकवर्षे चैव।

जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वयोः वर्षयोः मनुजाः सदा सुषमोत्तमर्द्धिं प्राप्ताः प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, तद्यथा—हेमवते चैव, ऐरण्यवते चैव।

जम्बू-द्वीपे द्वीपे द्वयोः क्षेत्रयोः मनुजाः सदा दुषमसुषमोत्तमर्द्धिं प्राप्ताः प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, तद्यथा—पूर्वविदेहे चैव, अपरविदेहे चैव।

जम्बू-द्वीपे द्वीपे द्वयोः वर्षयोः मनुजाः षड्विधमपि कालं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, तद्यथा—भरते चैव, एरावते चैव।

मूलार्थ—जम्बूद्वीप के भरत और ऐरावत क्षेत्रों में भूतकाल मे उत्सर्पिणी काल का सुषमदुषम नामक आरा दो सागरोपम कोटाकोटी परिमाण का था। इसी प्रकार इस वर्तमान अवसर्पिणी काल का सुषम-दुषम नामक आरा दो सागरोपम कोटाकोटी परिमाण वाला है। इसी तरह आगामी उत्सर्पिणी का भी होगा।

जम्बूद्वीप के भरत और ऐरावत क्षेत्रों में भूतकाल के अवसर्पिणी काल के सुषम-काल में मनुष्य दो गव्यूति परिमाण में ऊंचे थे और उन्होंने दो पल्योपम की परम आयु पालन की थी। इसी तरह इस अवसर्पिणी काल में भी मनुष्यों ने दो पल्योपम की आयु पाई है और आगामी काल में भी इसी प्रकार आयु प्राप्त करेंगे।

जम्बूद्वीप के भरत और ऐरावत क्षेत्रो में एक समय में तथा एक युग में दो अरिहन्त-वश पैदा हुए, पैदा होते हैं और भविष्य में भी पैदा होंगे। इसी प्रकार चक्रवर्ती और दसार-वश भी जानने चाहिए।

जम्बूद्वीप के भरत और ऐरावत क्षेत्रो मे एक समय में दो अरिहंत उत्पन्न हुए, उत्पन्न होते है और भविष्य में भी उत्पन्न होंगे। इसी तरह चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव के विषय में भी जानना चाहिए।

जम्बूद्वीप के दो कुराओं में मनुष्य सदा काल सुषम-सुषम आरक की ऋद्धि प्राप्त करके उसका उपभोग करते हुए विचरते हैं, जैसे—देवकुरु और उत्तरकुरु।

जम्बूद्वीप के हरिवर्ष और रम्यकवर्ष इन दो क्षेत्रों में मनुष्य सदा सुषम-आरक की उत्तम ऋद्धि को प्राप्त कर उसका उपभोग करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं।

जम्बूद्वीप के हैमवत और हैरण्यवत नामक दो वर्षों में मनुष्य सदैव काल सुषम-सुषम आरक की समृद्धि को प्राप्त कर उसका उपभोग करते हुए विचरते हैं।

जम्बूद्वीप के पूर्व महाविदेह और पश्चिम महाविदेह इन दो क्षेत्रों में उत्पन्न मनुष्य सदैव सुषम-सुषम काल की उत्तम महर्द्धि को प्राप्त कर उसका उपभोग करते हुए विचरण करते हैं।

जम्बूद्वीप के भरत और ऐरावत नामक दो क्षेत्रों में उत्पन्न हुए मनुष्य सदा छहों

ही कालों का अनुभव करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं।

विवेचनिका—जम्बू द्वीप के अन्तर्गत द्रव्य, क्षेत्र और भाव वर्णन के अनन्तर प्रस्तुत सूत्र में मुख्यतया काल का वर्णन किया गया है और साथ ही कालचक्र के अनुसार जीवों की अवस्थाओं का दिग्दर्शन कराया गया है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी ये दोनों काल भरत-ऐरावत क्षेत्रों में ही होते हैं, अन्य किसी क्षेत्र में नहीं। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में से प्रत्येक के छः-छः आरे है। प्रत्येक आरे मे भरत-ऐरावत क्षेत्र के अन्तर्गत जीव और पुद्गल प्रभावित होते है। जीवो की आयु और अवगाहना (ऊंचाई) तदनुसार ही होती है।

जीवो की आयु और अवगाहना जो सुषमसुषम आरे में भरत और ऐरावत क्षेत्र में होती है, ठीक उतनी ही आयु और अवगाहना देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्रों मे मनुष्य और स्थलचर तिर्यंच की सदैव हुआ करती है। सुषम नामा दूसरे आरे में जितनी आयु और अवगाहना होती है उतनी हरिवर्ष-रम्यकवर्ष मे सदैव रहती है। जितनी सुषमदुषम नामा तीसरे आरे मे होती है, उतनी आयु और अवगाहना हैमवत-हैरण्यवत मे सदाकाल रहती है। दुषमसुषम नामक चौथे आरे मे अधिक से अधिक करोड़ पूर्व की आयु होती है और ५०० धनुष की अवगाहना हुआ करती है। उतनी ही महाविदेह क्षेत्रों मे सदैव पाई जाती है, किन्तु पांचवें और छठे आरे मे जो भाव होते हैं, उनसे भरत और ऐरावत क्षेत्र ही प्रभावित होते है, अन्य क्षेत्र नहीं। किन्तु उत्सर्पिणी काल में उपर्युक्त पद्धति से बिलकुल विपरीत छः आरे व्यतीत होते है।

जैसे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकाल भरत और ऐरावत क्षेत्र मे भूतकाल मे बीता है, वैसे ही भविष्य मे भी बीतता रहेगा न्यूनाधिक नहीं। वर्तमानकाल मे अवसर्पिणी काल का पाचवा आरा बीत रहा है। उक्त दो क्षेत्रो में एक साथ ही अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल-चक्र बीतता है, आगे-पीछे नहीं। काल की प्रारभ और समाप्ति दोनों मे एक साथ होती है, ऐसा आगमकारो का सिद्धान्त है।

भरत और ऐरावत क्षेत्रो मे एक समय और एक युग मे दो तीर्थंकरो का कल्याणक (जन्म, दीक्षा एवं निर्वाण आदि) होता है। जब भरत क्षेत्र मे तीर्थंकर का जन्म होता है, तब ऐरावत क्षेत्र में भी होता है। जब भरत क्षेत्र में चक्रवर्ती का जन्म होता है, तब ऐरावत मे भी हुआ करता है। जब भरत क्षेत्र में बलदेव एवं वासुदेव होते हैं, तब ऐरावत में भी होते हैं। भरत क्षेत्र में शक्रेन्द्र कल्याणक मे सर्वप्रथम सम्मिलित होता है, जबकि ऐरावत में ईशानेन्द्र सम्मिलित हुआ करता है।

जम्बू-द्वीप के ग्रह-नक्षत्र

मूल—जंबुद्दीवे दीवे दो चंदा पभासिंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा। दो सूरिआ तविंसु वा, तवंति वा, तविस्संति वा। दो कत्तिया, दो रोहिणीओ, दो मग्गसिराओ, दो अद्दाओ, एवं भाणियव्वं—

कत्तिय[१] रोहिणि[२] मगसिर[३], अद्दा[४] य पुणव्वसू[५] अ पूसो[६] य।
तत्तोऽवि अस्सलेसा[७], महा[८] य दो फग्गुणीओ[९-१०] य ॥१॥
हत्थो[११] चित्ता[१२] साई,[१३] विसाहा[१४] तह य होंति अणुराहा[१५]।
जेट्ठा[१६] मूलो[१७] पुव्वा[१८] य, आसाढा उत्तरा[१९] चेव ॥२॥
अभिई[२०]-सवण[२१]-धणिट्ठा,[२२] सयभिसया[२३] दो य होंति भद्दवया[२४-२५]।
रेवति[२६] अस्सिणि[२७] भरणी[२८], नेतव्वा आणुपुव्वीए ॥३॥

एवं गाहाणुसारेणं णेयव्वं जाव दो भरणीओ, दो अग्गी, दो पयावती, दो सोमा, दो रुद्दा, दो अदिती, दो बहस्सती, दो सप्पी, दो पीती, दो भगा, दो अज्जमा, दो सविता, दो तट्ठा, दो वाऊ, दो इंदग्गी, दो मित्ता, दो इंदा, दो निरती, दो आऊ, दो विस्सा, दो बम्हा, दो विण्हू, दो वसू, दो वरुणा, दो अया, दो विविद्धी, दो पुस्सा, दो अस्सा, दो यमा, दो इंगालगा, दो वियालगा, दो लोहितक्खा, दो सणिच्चरा, दो आहुणिया, दो पाहुणिया, दो कणा, दो कणगा, दो कणकणगा, दो कणग-विताणगा, दो कणगसंताणगा, दो सोमा, दो सहिया, दो आसासणा, दो कज्जोवगा, दो कब्बडगा, दो अयकरगा, दो दुंदुभगा, दो संखा, दो संखवन्ना, दो संखवन्नाभा, दो कंसा, दो कंसवन्ना, दो कंसवन्नाभा, दो रुप्पी, दो रुप्पाभासा, दो णीला, दो णीलोभासा, दो भासा, दो भासरासी, दो तिला, दो तिलपुप्फवण्णा, दो दगा, दो दगपंचवन्ना, दो काका, दो कक्कंधा, दो इंदग्गीवा, दो धूमकेऊ, दो हरी, दो पिंगला, दो बुद्धा, दो सुक्का, दो बहस्सती, दो राहू, दो अगत्थी, दो माणवगा, दो कासा, दो फासा, दो धुरा, दो पमुहा, दो वियडा, दो विसंधी, दो नियल्ला, दो पइल्ला, दो जडियाइलगा, दो अरुणा, दो अग्गिला, दो काला, दो महाकालगा, दो सोत्थिया, दो सोवत्थिया, दो वद्धमाणगा, दो पूससमाणगा, दो अंकुसा, दो पलंबा, दो निच्चालोगा, दो णिच्चुज्जोता, दो सयंपभा, दो ओभासा, दो सेयंकरा, दो खेमंकरा, दो आभंकरा, दो पभंकरा, दो अपराजिता, दो अरया, दो असोगा, दो विगतसोगा, दो विमला, दो वितत्ता, दो वितत्था, दो विसाला, दो साला, दो सुव्वता, दो अणियट्टा, दो एगजडी, दो दुजडी, दो करकरिगा, दो रायग्गला, दो पुप्फकेतू, दो भावकेऊ ॥५६॥

छाया—जम्बूद्वीपे-द्वीपे द्वौ चन्द्रौ प्रभासितवन्तौ वा, प्रभासयतः प्रभायिष्यतो वा, द्वौ सूर्यौ तपितवन्तौ वा, तापयतो वा, तापयिष्तो वा। द्वे कृत्तिके, द्वे रोहिण्यौ, द्वे मृगशीर्षे, द्वे आर्द्रे, एवं भणितव्यम्—

कृत्तिका[1] रोहिणी[2] मृगशिर[3]:, आर्द्रा[4] च पुनर्वसुश्च[5] पुष्यश्च[6]।
ततोऽपि अश्लेषा[7] मघा[8] च, द्वे फाल्गुन्यौ[9,10] च ॥ १ ॥
हस्तश्चित्रा,[11,12] स्वाती,[13] विशाखा[14] तथा च भवति अनुराधा[15] ।
ज्येष्ठा[16] मूला[17] पूर्वा[18] च, आषाढा[19] उत्तरा चैव ॥ २ ॥
अभिजित्[20] श्रवणं[21] धनिष्ठा,[22] शतभिषग्[23] द्वे च भवतः भाद्रपदे[24,25] ।
रेवती[26] अश्विनी,[27] भरणी[28] ज्ञातव्यानि आनुपूर्व्या ॥ ३ ॥

एवं गाथानुसारेण ज्ञातव्यम्—यावत् द्वे भरण्यौ, द्वावग्नी, द्वौ प्रजापती, द्वौ सोमौ, द्वौ रुद्रौ, द्वे अदिती, द्वौ बृहस्पती, द्वौ सर्पौ, द्वौ पितरौ, द्वौ भगौ, द्वौ अर्यमणौ, द्वौ सवितारौ, द्वौ त्वष्टारौ, द्वौ वायू, द्वौ इन्द्राग्नी, द्वौ मित्रौ, द्वौ निर्ऋती, द्विके आपः, द्वौ विश्वौ, द्वौ ब्रह्माणौ, द्वौ विष्णू, द्वौ वसू, द्वौ वरुणौ, द्वौ अजौ, द्वौ विवृद्धी, द्वौ पूषणौ, अश्विनौ, द्वौ यमौ, द्वौ अङ्गारकौ, द्वौ विकालकौ, द्वौ लोहिताक्षौ, द्वौ शनिश्चरौ, द्वौ आघूर्णिकौ, द्वौ प्राघूर्णिकौ, द्वौ कणौ, द्वौ कनकौ, द्वौ कनकनकौ, द्वौ कनकवितानकौ, द्वौ कनकसन्तानकौ, द्वौ सोमौ, द्वौ सहितौ, द्वौ अश्वासनौ, द्वौ कार्योपकौ, द्वौ कर्बटकौ, द्वौ अजकरकौ, द्वौ दुन्दुभकौ, द्वौ शंखौ, द्वौ शंखवर्णौ, द्वौ शंखवर्णाभौ, द्वौ कांस्यौ, द्वौ कांस्यवर्णौ, द्वौ कांस्यवर्णाभौ, द्वौ रुक्मिणौ, द्वौ रुक्मा- भासौ, द्वौ नीलौ, द्वौ नीलाभासौ, द्वौ भस्मनौ, द्वौ भस्मराशि, द्वौ तिलौ, द्वौ तिलपुष्पवर्णौ, द्वौ दकौ, द्वौ दकपञ्चवर्णौ, द्वौ काकौ, द्वौ कर्कन्धू, द्वौ इन्द्रग्रीवौ, द्वौ धूमकेतू, द्वौ हरी, द्वौ पिंगलौ, द्वौ बुधौ, द्वौ शुक्रौ, द्वौ बृहस्पती, द्वौ राहू, द्वौ अगस्त्यौ, द्वौ मानवकौ, द्वौ कासौ, द्वौ स्पर्शौ, द्वौ धुरौ, द्वौ प्रमुखौ, द्वौ विकटौ, द्वौ विसन्धी, द्वौ नियल्लौ, द्वौ प्रतिल्लौ, द्वौ जटियालिकौ, द्वौ अरुणौ, द्वौ अग्निल्लौ, द्वौ कालौ, द्वौ महाकालकौ, द्वौ स्वस्थिकौ, द्वौ सौवस्तिकौ, द्वौ वर्द्धमानकौ, द्वौ पुष्यमाणकौ, द्वौ अंकुशौ, द्वौ प्रलम्बौ, द्वौ नित्यालोकौ, द्वौ नित्योद्योतकौ, द्वौ स्वयंप्रभौ, द्वौ अवभासकौ, द्वौ श्रेयस्करौ, द्वौ क्षेमंकरौ, द्वौ आभाङ्करौ, द्वौ प्रभाङ्करौ, द्वौ अपराजितौ, द्वौ अरजसौ, द्वौ अशोकौ, द्वौ विगतशोकौ, द्वौ विमलौ, द्वौ वितप्तौ, द्वौ वित्रस्थौ, द्वौ विशालौ, द्वौ शालौ, द्वौ सुव्रतौ, द्वौ अनिर्वृत्तौ, द्वौ एकजटिनौ, द्वौ द्विजटिनौ, द्वौ करकरिकौ, द्वौ राजगलौ, द्वौ पुष्पकेतू, द्वौ भावकेतू।

(शब्दार्थ स्पष्ट है।)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप में भूतकाल में दो चन्द्र प्रकाशित हुए और भविष्य में भी दो

ही प्रकाशित होंगे। दो सूर्य तपे हैं, तपते हैं और आगे भी तपेंगे। कृत्तिका, रोहिणी, मृगशीर्ष, आर्द्रा ये सब भी दो-दो हैं, इस प्रकार कथन करना चाहिए।

अट्ठाईस नक्षत्रों के नाम—कृत्तिका, रोहिणी, मृगशीर्ष, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषक, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी, भरणी इस क्रम से नक्षत्रों को समझना चाहिए।

इसी प्रकार गाथा के अनुसार अट्ठासी महाग्रह हैं—अग्नि, प्रजापति, सोम, रुद्र, अदिति, बृहस्पति, सर्प, प्रीति, भग, अर्यमण, सविता, त्वष्टा, वायु, इन्द्राग्नि, मित्र, इन्द्र, निर्ऋति, आयु, विश्व, ब्रह्मा, विष्णु, वसु, वरुण, अज, विवृद्धि, पुष्य, अश्व, यम, अंगारक, विकालक, लोहिताक्ष, शनिश्चर, आघूर्णिक, प्राघूर्णिक, कण, कनक, कणकनक, कणकवितानक, कनकसंतानक, सौम्य, सहित, आश्वासन, कार्योपग, कर्बटक, अजकरक, दुन्दुभग, शंख, शंखवर्ण, शंखवर्णाभ, कांस्य, कांस्यवर्ण, कांस्यवर्णाभ, रुक्मी, रुक्माभास, नील, नीलावभास, भस्म, भस्मराशि, तिल, तिलपुष्पवर्ण, दक, दकपंचवर्ण, काक, कर्कन्धु, इन्द्रग्रीव, धूमकेतु, हरिपिंगल, बुध, शुक्र, बृहस्पति, राहु, अगस्त्य, मानवक, कास, स्पर्श, धुरा, प्रमुख, विकट, विसन्धि, निगड़, प्रतिल्ल, जटियालिक, अरुण, अग्निल्ल, काल, महाकाल, स्वस्तिक, सोवस्तिक, वर्धमानक, पुष्यमानक, अंकुश, प्रलम्ब, नित्यालोक, नित्योद्यतक, स्वयंप्रभ, अवभासक, श्रेयस्कर, क्षेमंकर, आभंकर, प्रभंकर, अपराजित, अरक, अशोक, विगतशोक, विमल, वितप्त, वित्रस्थ, विशाल, शाल, सुव्रत, अनिवृत्त, एकजटी, द्विजटी, करकरिक, राजार्गल, पुष्पकेतु और भावकेतु, ये सभी दो-दो कथन किए गए हैं।

विवेचनिका—इस सूत्र में कृतिका आदि अट्ठाईस नक्षत्रों और सूर्य-चन्द्र आदि अट्ठासी ग्रहों का वर्णन किया गया है। जम्बूद्वीप में दो चन्द्र, दो सूर्य सदैव मेरु के चारों ओर प्रदक्षिणा करते रहते हैं। चन्द्र-चन्द्र का और सूर्य-सूर्य का अन्तर एक लाख योजन का है। प्रत्येक चन्द्र और सूर्य का परिवार २८-२८ नक्षत्रों तथा ८८-८८ ग्रहों का है। इसी कारण सूत्र में **दो चंदा, दो सूरिया, दो कत्तिया** इत्यादि पाठ रखा गया है। २८ नक्षत्रों के २८ अधिष्ठाता देवों का उल्लेख भी सूत्र में विहित है। अट्ठासी महाग्रहों के नाम जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में भी स्पष्ट मिलते हैं। वर्तमानकालीन नवग्रहों का अंतर्भाव अट्ठासी में ही हो जाता है, इनसे बाहर कोई भी महाग्रह नहीं है। इन ग्रहों के चक्र द्वारा मनुष्यों को दुःख-सुख की अनुभूति होती है। जीवाभिगम सूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति में मननीय पाठ है, जैसे कि—

रयणियर-दिणयराणं, णक्खत्ताणं महागहाणं च ।
चार विसेसेण, भवे सुह दुक्खं चेव मणुस्साणं ॥

इस गाथा का भाव यह है कि सूर्य आदि महाग्रहो की तथा नक्षत्रो की गति-विशेष से मनुष्यों को सुख-दु:ख का अनुभव होता है। इस कथन से फलित ज्योतिष की सिद्धि हो जाती है। इसी बात की पुष्टि के लिए दूसरा आगम प्रमाण ज्ञाताधर्मकथा का आठवां अध्ययन है। जब उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथ भगवान् का जन्म हुआ था, तब अश्विनी नक्षत्र का योग चन्द्र के साथ लगा हुआ था। महाग्रह उच्चस्थान में आए हुए थे। वह पाठ निम्नलिखित है—

अस्सिणीए णक्खत्तेणं जोगमुवगएणं, उच्चट्ठाणगएसु गहेसु।

अत: सिद्ध हुआ कि व्यवहार दृष्टि से ग्रह नक्षत्र भी दु:ख-सुख में निमित्त कारण हैं। सूर्यप्रज्ञप्ति, देवेन्द्रस्तुति आदि आगमों में भी उक्त गाथा देखी जाती है। जीवों के सुख-दु:ख के कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, देव, मनुष्य, तिर्यंच, जड-पदार्थ, जीव आदि पदार्थ स्वय कर्मानुसार निमित्त कारण बन जाते हैं। इन ग्रहों के फलादेश का वर्णन भगवती सूत्र के तृतीय शतक में लोकपालो के अधिकार मे विस्तार से किया गया है।

बहुत-सा फलादेश जो नहीं मिलता, उसका मूल कारण नवग्रहो के अतिरिक्त अन्य ग्रह भी है। यही कारण है कि लोग इस विद्या में निष्णात होते हुए भी सफल मनोरथ नही देखे जाते। गतिमान होने से नवग्रहों का फलादेश युक्तियुक्त सिद्ध होता है।

जम्बूद्वीपीय वेदिका

मूल—जंबूद्दीवस्स णं दीवस्स वेइया दो गाउयाइं उद्धं उच्चत्तेणं पण्णत्ता। लवणे णं समुद्दे दो जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं पण्णत्ते। लवणस्स णं समुद्दस्स वेइया दो गाउयाइं उद्धं उच्चत्तेणं पण्णत्ता ॥ ५७ ॥

छाया—जम्बूद्वीपस्य खलु द्वीपस्य वेदिका द्वे गव्यूती ऊर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्ता। लवण: खलु समुद्रो द्वियोजनशतसहस्त्राणि चक्रवालविष्कम्भेण प्रज्ञप्त:। लवणस्य खलु समुद्रस्य वेदिका द्वे गव्यूतो ऊर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्ता।

मूलार्थ—जम्बूद्वीप की वेदिका दो कोस ऊंची कथन की गई है। लवण समुद्र का चक्रवाल विष्कम्भ दो लाख योजन कथन किया गया है। लवण समुद्र की वेदिका दो कोस ऊंची कही गई है।

विवेचनिका—जम्बूद्वीप का आयाम-विष्कम्भ (लम्बाई-चौड़ाई) लाख योजन है। वह अन्य द्वीपो की तरह वलयाकार वाला नहीं है, बल्कि तेल के पूड़े की तरह गोल है, उसके चारों ओर सीमान्त भाग मे आठ योजन ऊंची जगती है। वह मूल में बारह योजन की

चौड़ी है, मध्य में आठ योजन के विस्तार वाली है। उसके ठीक मध्य भाग में दो कोस की ऊंची पद्मवरवेदिका है। उसके दोनों ओर वनखण्ड हैं। वह स्थान इतना रमणीक एवं मनमोहक है जिस कारण वहां वानव्यन्तर देव विशेष आनन्द का अनुभव करते हैं और अपने शुभकृत कर्म का फल भोगते हैं। लवण समुद्र की पद्मवरवेदिका का वर्णन भी इसी प्रकार का समझना चाहिए। पद्मवरवेदिका का विशेष वर्णन जीवाभिगम सूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति में प्राप्त होता है।

धातकी-खण्ड द्वीप-वर्णन

मूल—धायईखंडे दीवे पुरच्छिमद्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता, बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अणमण्णं णातिवट्टंति, आयामविक्खंभ-संठाण-परिणाहेणं, तं जहा—भरहे चेव, एरवए चेव। एवं जहा जंबूदीवे तहा एत्थवि भाणियव्वं जाव दोसु वासेसु मणुया छव्विहंपि कालं पच्चणुभवमाणा विहरंति, तं जहा—भरहे चेव, एरवए चेव। णवरं कूडसामली चेव, धायईरुक्खे चेव। देवा गरुले चेव वेणुदेवे, सुदंसणे चेव। धायईखंडद्दीवपच्चत्थिमद्धे णं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता, बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अण्णमण्णं णातिवट्टंति, आयामविक्खंभ-संठाण-परिणाहेणं, तं जहा—भरहे चेव, एरवए चेव। जाव छव्विहंपि कालं पच्चणुभवमाणा विहरंति, भरहे चेव, एरवए चेव णवरं कूडसामली चेव, महाधायईरुक्खे चेव। देवा गरुले चेव वेणुदेवे, पियदंसणे चेव।

धायईखंडे णं दीवे दो भरहाइं, दो एरवयाइं, दो हेमवयाइं, दो हेरन्नवयाइं, दो हरिवासाइं, दो रम्मगवासाइं, दो पुव्वविदेहाइं, दो अवरविदेहाइं, दो देवकुराओ, दो देवकुरुमहद्दुमा, दो देवकुरुमहद्दुमवासी देवा, दो उत्तरकुराओ, दो उत्तरकुरुमहद्दुमा, दो उत्तरकुरुमहद्दुमवासी देवा। दो चुल्लहिमवंता, दो महाहिमवंता, दो निसहा, दो नीलवंता, दो रुप्पी, दो सिहरी, दो सद्दावाती, दो सद्दावातिवासी साती देवा, दो वियडावाती, दो वियडावातिवासी पभासा देवा, दो गंधावाती, दो गंधा- वातिवासी अरुणा देवा, दो मालवंतपरियागा, दो मालवंतपरियागावासी पउमा देवा, दो मालवंता, दो चित्तकूडा, दो पम्हकूडा, दो नलिनकूडा, दो एगसेला,

दो तिकूडा, दो वेसमणकूडा, दो अंजणा, दो मातंजणा, दो सोमणसा, दो विज्जुप्पभा, दो अंकावती, दो पम्हावती, दो आसीविसा, दो सुहावहा, दो चंदपव्वता, दो सूरपव्वता, दो णागपव्वता, दो देवपव्वता, दो गंधमायणा, दो उसुगारपव्वता, दो चुल्लहिमवंतकूडा, दो वेसमणकूडा, दो महाहिमवंतकूडा, दो वेरुलियकूडा, दो निसहकूडा, दो रुयगकूडा, दो नीलवंतकूडा, दो उवदंसणकूडा, दो रुप्पिकूडा, दो मणिकंचणकूडा, दो सिहरिकूडा, दो तिगिच्छिकूडा, दो पउमद्दहा, दो पउमद्दहवासिणीओ सिरीदेवीओ, दो महापउमद्दहा, दो महापउमद्दहवासिणीओ हिरीतो देवीओ। एवं जाव दो पुंडरीयद्दहा, दो पोंडरीयद्दहवासिणीओ लच्छीदेवीओ। दो गंगापवायद्दहा जाव दो रत्तवतिपवातद्दहा, दो रोहियाओ जाव दो रुप्प-कूलाओ, दो गाहवतीओ, दो दहवतीओ, दो पंकवतीओ, दो तत्तजलाओ, दो मत्तजलाओ, दो उम्मत्तजलाओ, दो खीरोयाओ, दो सीहसोताओ, दो अंतोवाहिणीओ, दो उम्मिमालिणीओ, दो फेणमालिणीओ, दो गंभीर-मालिणीओ।

दो कच्छा, दो सुकच्छा, दो महाकच्छा, दो कच्छगावती, दो आवत्ता, दो मंगलावत्ता, दो पुक्खला, दो पुक्खलावई।

दो वच्छा, दो सुवच्छा, दो महावच्छा, दो वच्छगावती, दो रम्मा, दो रम्मगा, दो रमणिज्जा, दो मंगलावती।

दो पम्हा, दो सुपम्हा, दो महापम्हा, दो पम्हगावती, दो संखा, दो णलिणा, दो कुमुया, दो सलिलावती।

दो वप्पा, दो सुवप्पा, दो महावप्पा, दो वप्पगावती, दो वग्गू, दो सुवग्गू, दो गंधिला, दो गंधिलावती।

दो खेमाओ, दो खेमपुरीओ, दो रिट्ठाओ, दो रिट्ठपुरीओ, दो खग्गीओ, दो मंजुसाओ, दो ओसधीओ, दो पोंडरिगिणीओ।

दो सुसीमाओ, दो कुंडलाओ, दो अपराजियाओ, दो पभंकराओ, दो अंकावईओ, दो पम्हावईओ, दो सुभाओ, दो रयणसंचयाओ।

दो आसपुराओ, दो सीहपुराओ, दो महापुराओ, दो विजयपुराओ,

दो अपराजिताओ, दो अवराओ, दो असोयाओ, दो विगयसोयाओ।

दो विजयाओ, दो वेजयंतीओ, दो जयंतीओ, दो अपराजियाओ, दो चक्कपुराओ, दो खग्गपुराओ, दो अवज्झाओ, दो अउज्झाओ।

दो भद्दसालवणा, दो णंदणवणा, दो सोमणसवणा, दो पंडगवणाइं, दो पंडुकंबलसिलाओ, दो अतिपंडुकंबलसिलाओ, दो रत्तकंबलसिलाओ, दो अइरत्तकंबलसिलाओ, दो मंदरा, दो मंदरचूलियाओ।

धायईखंडस्स णं दीवस्स वेदिया दो गाउयाइं उद्धमुच्चत्तेणं पण्ण-त्ता ॥ ५८ ॥

छाया—धातकीखण्डे द्वीपे पौरस्त्यानर्द्धे मन्दरस्य पर्वतस्य उत्तरदक्षिणेन द्वे वर्षे प्रज्ञप्ते, बहुसमतुल्ये अविशेषे अनानात्वे अन्योऽन्य नातिवर्तेते, आयामविष्कम्भ-संस्थान-परिणाहेन, तद्यथा—भरतश्च, ऐरवतश्च। एवं यथा जम्बूद्वीपे तथाऽत्रापि भणितव्यम्, यावत् द्वयोर्वर्षयोर्मनुजाः षड्विधमपि कालं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, तद्यथा—भरते चैव, ऐरवते चैव। नवरं कूटशाल्मलिश्चैव, धातकीवृक्षश्चैव, देवौ गरुडश्चैव, वेणुदेवश्चैव।

धातकीखण्डद्वीपपश्चिमार्द्धे मन्दरस्य पर्वतस्य उत्तरदक्षिणेन द्वे वर्षे प्रज्ञप्ते, बहुसमतुल्ये, अविशेषे अनानात्वे अन्योऽन्यं नातिवर्तेते, आयामविष्कम्भसंस्थान-परिणाहेन, तद्यथा—भरतश्चैव, ऐरावतश्चैव, यावत् षड्विधमपिकालं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, भरते चैव, ऐरवते चेव, नवरं कूटशाल्मलिश्चैव, महाधातकीवृक्षश्चैव, देवौ गरुडश्चैव, वेणुदेवप्रियदर्शनश्चैव।

धातकीखण्डे खलु द्वीपे, द्वौ भरतौ, द्वौ ऐरावतौ, द्वौ हैमवतौ, द्वौ हैरण्यवतौ, द्वौ हरिवर्षौ, द्वौ पूर्वविदेहौ, द्वौ अपरविदेहौ, द्वौ देवकुरू, द्वौ देवकुरुमहद्द्रुमौ, द्वौ देवकुरुमहद्द्रुमवासिनौ देवौ। द्वौ उत्तरकुरू, द्वौ उत्तरकुरुमहद्द्रुमौ, द्वौ उत्तरकुरुमहद्द्रुम-वासिनौ देवौ। द्वौ चुल्लहिमवन्तौ, द्वौ महाहिमवन्तौ, द्वौ निषधौ, द्वौ नीलवन्तौ, द्वौ रुक्मिणौ, द्वौ शिखरिणौ। द्वौ शब्दापातिनौ, द्वौ शब्दापातवासिनौ स्वाती देवौ, द्वौ विकटापातिनौ, द्वौ विकटापातवासिनौ प्रभासौ देवौ, द्वौ गन्धापातिनौ, द्वौ गन्धा-पातिवासिनौ अरुणौ देवौ, द्वौ माल्यवत्पर्यायकौ, द्वौ माल्यवत्पर्यायकवासिनौ पद्मौ देवौ। द्वौ माल्यवन्तौ, द्वौ चित्रकूटौ, द्वौ पद्मकूटौ, द्वौ नलिनकूटौ, द्वौ एकशैलौ, द्वौ त्रिकूटौ, द्वौ वैश्रमणकूटौ, द्वौ अञ्जनौ, द्वौ मातञ्जनौ, द्वौ सौमनसौ, द्वौ विद्युत्प्रभौ। द्वौ अङ्कावत्यौ, द्वौ पद्मावत्यौ, द्वौ आशीविषौ, द्वौ सुखावहौ, द्वौ चन्द्रपर्वतौ, द्वौ

सूर्यपर्वतौ, द्वौ नागपर्वतौ, द्वौ देवपर्वतौ, द्वौ गन्धमादनौ, द्वौ इषुकारपर्वतौ। द्वौ चुल्लहिमवन्तौ कूटौ, द्वौ वैश्रमणकूटौ, द्वौ महाहिमवत्कूटौ, द्वौ वैडूर्यकूटौ, द्वौ निषधकूटौ, द्वौ रुचककूटौ, द्वौ नीलवत्कूटौ, द्वौ उपदर्शनकूटौ, द्वौ रुक्मिकूटौ, द्वौ मणिकञ्चनकूटौ, द्वौ शिखरिकूटौ, द्वौ तिगिच्छिकूटौ। द्वौ पद्महृदौ, द्वौ पद्महृदवासिन्यौ श्रीदेव्यौ, द्वौ महापद्महृदौ, द्वौ महापद्महृदवासिन्यौ ह्रीदेव्यौ। एवं यावत् द्वौ पौंड्रीयकहृदौ, द्वौ पौंड्रीयकहृदवासिन्यौ लक्ष्मीदेव्यौ। द्वौ गंगाप्रपातहृदौ, यावत् द्वौ रक्तवतिप्रपातहृदौ। द्वे रोहिते, यावत् द्वे रूप्यकूले, द्वे ग्राहवत्यौ, द्वे पंकवत्यौ, द्वे तप्तजले, द्वे मत्तजले, द्वे उन्मत्तजले, द्वे क्षीरोदके, द्वे सिंहस्रोते, द्वे अन्तर्वाहिन्यौ, द्वे हृदवत्यौ, द्वे ऊर्मिमालिन्यौ, द्वे फेणमालिन्यौ, द्वे गम्भीरमालिन्यो।

द्वे कच्छे, द्वे सुकच्छे, द्वे महाकच्छे, द्वे कच्छगावत्यौ, द्वे आवर्त्ते, द्वे मंगलावर्ते, द्वे पुष्कले, द्वे पुष्कलावत्यौ।

द्वे वत्स्ये, द्वे सुवत्स्ये, द्वे महावत्स्ये, द्वे वत्स्यवत्यौ, द्वे रम्ये, द्वे रम्यके, द्वे रमणीयके, द्वे मंगलावत्यौ।

द्वे पद्मे, द्वे सुपद्मे, द्वे महापद्मे, द्वे पद्मकवत्यौ, द्वे शंखे, द्वे नलिने, द्वे कुमुदे, द्वे सलिलावत्यौ।

द्वे वप्रे, द्वे सुवप्रे, द्वे महावप्रे, द्वे वप्रकवत्यौ, द्वे वल्गू, द्वे सुवल्गू, द्वे गन्धिले, द्वे गन्धिलावत्यौ।

द्वे क्षेमे, द्वे क्षेमपुर्यौ, द्वे रिष्टे, द्वे रिष्टपुर्यौ, द्वे खडगिन्यौ, द्वे मञ्जूषे, द्वे औषध्यौ, द्वे पौंड्रीकिण्यौ।

द्वे सुसीमे, द्वे कुण्डले, द्वे अपराजिते, द्वे प्रभङ्करे, द्वे अङ्कवत्यौ, द्वे पद्मावत्यौ, द्वे शुभे, द्वे रत्नसञ्चये।

द्वे अश्वपुर्यौ, द्वे सिंहपुर्यौ, द्वे महापुर्यौ, द्वे विजयपुर्यौ, द्वे अपराजितौ, द्वे अपरौ, द्वे अशोके, द्वे विगतशोके।

द्वे विजये, द्वे वैजयन्त्यौ, द्वे जयन्त्यौ, द्वे अपराजिते, द्वे चक्रपुरे, द्वे खड्गपुरे, द्वे अवध्ये, द्वे अयोध्ये।

द्वे भद्रशालवने, द्वे नन्दनवने, द्वे सौमनसवने, द्वे पण्डगवने। द्वे पाण्डुकम्बलशिले, द्वे अतिपाण्डुकम्बलशिले, द्वे रक्तकम्बलशिले, द्वे अतिरक्तकम्बलशिले।

द्वौ मन्दरौ, द्वे मन्दरचूलिके। धातकीखण्डस्य द्वीपस्य वेदिका द्वे गव्यूती ऊर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्ता।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—धातकी खण्ड के पूर्वार्द्ध में मन्दर पर्वत के दक्षिण-उत्तर में बहुसमतुल्य भरत और ऐरावत दो क्षेत्र हैं। इसी तरह जैसे जम्बूद्वीप में कथन किया गया है, वही यहां पर भी जानना चाहिए, यावत् भरत और ऐरावत क्षेत्र में उत्पन्न मनुष्य छहों काल का अनुभव करते हुए विचरते हैं। इतना विशेष है कि वहां कूटशाल्मली और धातकीवृक्ष हैं। गरुड़ और वेणुदेव, ये दो देव वहां पर निवास करते हैं।

धातकीखण्ड द्वीप के पश्चिमार्द्ध में मन्दर पर्वत के दक्षिण-उत्तर में भरत और ऐरावत नामक बहुसमतुल्य दो क्षेत्र कथन किए गए हैं, यावत् वहां उत्पन्न मनुष्य छहों काल का उपभोग करते हैं। इतना विशेष है कि वहां पर कूटशाल्मली और महाधातकी दो वृक्ष हैं तथा उन पर गरुड़ और वेणुदेव प्रियदर्शन नामक दो देव निवास करते हैं।

धातकीखण्ड द्वीप में भरत, ऐरावत, हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, पूर्वविदेह, पश्चिमविदेह, देवकुरु, देवकुरुमहावृक्ष, देवकुरुमहाद्रुमवासी देव, उत्तरकुरु, चुल्लहिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नीलवान्, रुक्मी, शिखरी, शब्दापाती, शब्दापाती-स्वाती देव, विकटापाती, विकटापातीवासी, प्रभासीदेव, गन्धापातीवासी अरुणदेव, माल्यवान्पर्याय, माल्यवान्पर्यायवासी पद्मदेव, माल्यवान्, चित्रकूट, पद्मकूट, नलिनकूट, एकशैल, त्रिकूट, वैश्रमणकूट, अञ्जन, मातञ्जन, सोमनस, विद्युत्प्रभ, अंकावती, पद्मावती, आशीविष, सुखावह, चन्द्रपर्वत, सूर्यपर्वत, नागपर्वत, गन्धमादन, देवपर्वत, इषुकारपर्वत, चुल्लहिमवानकूट, वैश्रमणकूट, महाहिमवान्कूट, वैडूर्यकूट, निषधकूट, रुचककूट, नीलवत्कूट, उपदर्शनकूट, रुक्मीकूट, मणिकञ्जनकूट, शिखरीकूट, तिगिच्छकूट, पद्मह्रद, पद्मह्रद वासिनी श्री देवी, महापद्मह्रद, महापद्मह्रद-वासिनी ह्री देवी। इसी प्रकार यावत् पौंड्रीयकह्रद, पौण्ड्रीयकह्रदवासिनी लक्ष्मी देवी, गंगाप्रपातह्रद, रक्तवतीप्रपातह्रद, रोहिता, यावत् रूप्यकूला, ग्रहवती, ह्रदवती, पङ्कवती, तप्तजला, मत्तजला, उन्मत्तजला, क्षीरोदका, सिंहस्रोता, अन्तर्वाहिनी, ऊर्म्मिमालिनी, फेणमालिनी, गम्भीरमालिनी। कच्छ, सुकच्छ, महाकच्छ, कच्छगावती, आवती, मंगलावती, पुष्कला, पुष्कलावती। वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, वत्स्यवती, रम्या, रम्यका, रमणीयका, मंगलावती। पद्मा, सुपद्मा. महापद्मा, पद्मकवती, शंखा, नलिना, कुमुदा, सलिलावती। वप्रा, सुवप्रा, महावप्रा, वप्रकवती, वल्गू, सुवल्गू, गन्धिला, गन्धिलावती। क्षेमा, क्षेमपुरी, रिष्टा, रिष्टपुरी, खड्गा, मंजूषा, औषधी, पौण्ड्रीकिणी, सुसीमा, कुण्डला, अपराजिता, प्रभङ्करा, अंकवती, पद्मवती, शुभा,

रत्नसञ्चया, अश्वपुरा, सिंहपुरा, महापुरा, विजयपुरा, अपराजिता, अपरा, अशोका, विगतशोका, विजया, वैजयंती, जयन्ती, अपराजिता, चक्रपुरा, खड्गपुरा, अवध्या, अयोध्या। भद्रशालवन, नन्दनवन, सौमनसवन, पण्डगवन। पाण्डुकम्बलशिला, रक्तकम्बलशिला, अतिपाण्डुकम्बलशिला, रक्तकम्बलशिला, अतिरक्तकम्बलशिला, मन्दर और मन्दर-चूलिकाएं। उपरोक्त सभी पर्वत, नदियां, ह्रद, कुरु, वृक्ष, देव, कूट, ह्रदवासी देविएं, विजय, उनकी राजधानियां, वन, शिला, ये सभी दो-दो कथन किए गए हैं। धातकीखण्ड द्वीप की वेदिका दो कोस ऊंची प्रतिपादन की गई है।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र में धातकी खण्ड के अन्तर्गत सभी क्षेत्रो का तथा वर्षधर, नदी, चक्रवर्ती-विजय राजधानी, मेरु, जगती, पद्मवर-वेदिका, लवणसमुद्र, उसकी वेदिका, इत्यादि अनेक, विषयों का सक्षेप रूप में उल्लेख किया गया है।

जम्बूद्वीप सब महाद्वीपो में छोटा है, फिर भी एक लाख योजन का लम्बा-चौडा है। उसके चारों ओर प्रकोटाकार की जगती है, जो आठ योजन ऊंची है और मूल में बारह योजन की विस्तार वाली है, घटती-घटती ऊपर उसकी चौडाई चार योजन रह जाती है। जगती के ऊपर ठीक मध्यभाग में पद्मवर वेदिका है, वह दो कोस ऊंची है और पांच सौ धनुष विस्तार वाली है। उसके दोनो पार्श्व भाग में वनखण्ड हैं।

उस जगती से बाहर वलयाकार दो लाख योजन के विस्तार वाला लवण समुद्र है, जिसमे ९५००० योजन तक उत्तरोत्तर पानी की गहराई बढ़ती ही जाती है, तत्पश्चात दस हजार योजन तक एक हजार योजन की गहराई है। फिर ९५००० हजार योजन तक गहराई घटती जाती है। तब तक घटती जाती है जब तक कि धातकीखण्ड की सीमा नहीं आ जाती।

धातकीखण्ड—

जम्बूद्वीप के चारों ओर अवस्थित लवण समुद्र के उस पार वलयाकार ४ लाख योजन लम्बाई-चौडाई वाला धातकीखण्ड है, जिसकी परिधि ४११०९६१ योजन है। जम्बूद्वीप की अपेक्षा धातकीखण्ड द्वीप मे मेरु वर्ष और वर्षधरों की संख्या दोगुणी है। अर्थात् उसमें दो मेरु, चौदह वर्ष और बारह वर्षधर पर्वत हैं, उनके नाम वे ही हैं जो जम्बूद्वीप में हैं। वलयाकृति धातकी खण्ड पूर्वार्द्ध और पश्चिमार्द्ध नामक दो भागों में विभक्त है। विभाग करने वाले दो पर्वत हैं, जो कि इष्वाकार हैं और दक्षिण से उत्तर की ओर फैले हुए हैं। धातकी खण्ड के मेरु आदि का प्रमाण वही है, जो जम्बूद्वीप में बताया गया है। केवल इतनी विशेषता है कि जम्बूद्वीप के मेरु की ऊचाई एक लाख योजन है, किन्तु धातकीखण्ड और पुष्करार्द्ध द्वीप के सभी मेरु ८४ हजार योजन ऊंचे है। धातकीखण्ड के प्रत्येक भाग में

एक-एक मेरु, सात-सात वर्ष-क्षेत्र और छ:-छ: वर्षधर पर्वत विद्यमान हैं। शेष नदी, क्षेत्र, पर्वत आदि जो जम्बूद्वीप में वर्णित हैं, वे धातकीखण्ड में द्विगुण संख्या में हैं। उसके पूर्वार्द्ध और पश्चिमार्द्ध में पूर्व-पश्चिम विस्तृत छह-छह वर्षधर पर्वत हैं, वे सभी एक ओर से तो कालोदसमुद्र को और दूसरी ओर से लवणोद समुद्र को स्पर्श किए हुए हैं।

मेरुपर्वत—मन्दर, मेरु, सुमेरु ये पर्यायवाची नाम हैं। मेरुओं की सख्या कुल पांच हैं। मेरु पर्वत की ऊंचाई एक लाख योजन की है, वह एक हजार योजन भूमि में अदृश्य है तथा निन्यानवें हजार योजन ऊपर है, उसकी लंबाई-चौड़ाई चारों ओर दस हजार योजन प्रमाण है। मेरु पर्वत पर मूल से लेकर ऊपर तक चार विशाल वन हैं। धरणीतल पर पूर्व-पश्चिम लंबा और उत्तर-दक्षिण विस्तार वाला भद्रशाल वन है, जिसकी लंबाई २२ हजार योजन प्रमाण है और २५० योजन चौड़ा है। सुमेरु पर्वत पर ऊपर की ओर बढते हुए नन्दनवन, सौमनसवन तथा सबसे ऊपर पण्डकवन है। पण्डकवन का वलयाकृति व्यास ४९४ योजन प्रमाण है, उसके ठीक मध्यभाग मे ४० योजन की ऊची चूलिका है। मूल में चूलिका की चौड़ाई बारह योजन की है, मध्य मे आठ योजन और ऊपर चार योजन की चौडाई है। यह चूलिका वैडूर्य-मणिमयी है। मेरु चूलिका के पूर्वान्त में उत्तर-दक्षिण लंबी और पूर्व-पश्चिम चौडी अर्द्धचन्द्राकार पांच सौ योजन लबी, ढाई सौ योजन चौडी और चार योजन मोटी सर्वांग स्वर्णमयी स्वच्छ पाण्डुकंबला-शिला है, उस पर पांच सौ धनुष के लबे-चौडे और ढाई सौ योजन ऊंचे दो सिंहासन हैं।

चूलिका के पश्चिमान्त भाग में रक्तकंबला शिला, दक्षिणान्त भाग मे अतिपाण्डुकंबला शिला और उत्तरान्त भाग में अतिरक्तकंबला शिला है। इन शिलाओं की लंबाई-चौडाई आदि भी पाण्डुकम्बला शिला के समान है, परन्तु अतिपाण्डु कम्बल शिला और अतिरक्तकम्बलशिला इन दो शिलाओ पर एक-एक सिंहासन है।

भरत-ऐरावत क्षेत्र में एक समय एक तीर्थंकर का जन्म होता है, इस कारण उत्तर और दक्षिण शिला पर एक-एक सिंहासन है, किन्तु पूर्व और पश्चिम महाविदेह में दो तीर्थंकरों का जन्म होना एक समय में संभव है, इस कारण पूर्व-पश्चिम शिला पर दो-दो सिंहासन हैं। ये चारों शिलाएं अभिषेक-शिला के नाम से प्रसिद्ध हैं। धातकीखण्ड में दो मेरु, और पुष्कराद्ध खण्ड में भी दो मेरु हैं। इन सबकी ऊंचाई ८४००० योजन की है, उन पर भी चार-चार वन हैं और चार-चार अभिषेक-शिलाएं हैं।

पुष्करवर द्वीप की अवस्थिति

मूल—कालोदस्स णं समुद्दस्स वेइया दो गाउयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता। पुक्खरवरदीवड्ढ-पुरच्छिमद्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा

पण्णत्ता, बहुसमतुल्ला, अविसेसमणाणत्ता अण्णमण्णं णातिवट्टंति आयाम-विक्खंभ-संठाण-परिणाहेणं, तं जहा—भरहे चेव, एरवए चेव। तहेव जाव दो कुराओ पण्णत्ताओ, देवकुरा चेव, उत्तरकुरा चेव। तत्थ णं दो महतिमहालया महद्दुमा पण्णत्ता, तं जहा—कूडसामली चेव, पउमरुक्खे चेव, वेणुदेवे पउमे चेव, जाव छव्विहंपि कालं पच्चणुभवमाणा विहरंति। पुक्खरवरदीवड्ढ-पच्छिमद्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता, तं जहा—तहेव णाणत्तं कूडसामली चेव, महापउमरुक्खे चेव, देवा गरुले चेव वेणुदेवे, पुंडरीए चेव।

पुक्खरवरदीवड्ढे णं दीवे दो भरहाइं, दो एरवयाइं जाव दो मंदरा, दो मंदरचूलियाओ।

पुक्खरवरस्स णं दीवस्स वेइया दो गाउयाइं उड्ढमुच्चत्तेणं पण्णत्ता। सव्वेसिंपि णं दीवसमुद्दाणं वेदियाओ दो गाउयाइं उड्ढमुच्चत्तेणं पण्णत्ताओ ॥ ५९ ॥

छाया—कालोदस्य खलु समुद्रस्य वेदिका द्वे गव्यूती उर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्ता। पुष्करवरद्वीपार्द्ध-पूर्वार्द्धे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणोत्तरेण द्वे वर्षे प्रज्ञप्ते, बहुसमतुल्ये, अविशेषे अनानात्वे अन्योऽन्यं नातिवर्तेते आयामविष्कम्भसंस्थानपरिणाहेन, तद्यथा—भरतश्च, ऐरवतश्च। तथैव यावत् द्विके कुरू प्रज्ञप्ते, देवकुरुश्चेव उत्तरकुरुश्चैव। तत्र खलु द्वौ महातिमहालयौ महाद्रुमौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—कूटशाल्मलिश्चैव, पद्मवृक्षश्चैव। देवौ गरुडश्चैव, वेणुदेवः पद्मश्चैव, यावत् षड्विधमपिकालं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति।

पुष्करवरद्वीपार्द्धपश्चिमार्द्धे खलु मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणोत्तरेण द्वे वर्षे प्रज्ञप्ते, तद्यथा तथैव नानात्वं कूटशाल्मलिश्चैव, महापद्मवृक्षश्चैव। देवौ गरुडश्चैव, वेणुदेवः पौंड्रीकश्चैव।

पुष्करवरद्वीपार्द्धे खलु द्वीपे द्वौ भरतौ, द्वौ ऐरावतौ यावत् द्वौ मन्दरौ, द्वे मन्दरचूलिके।

पुष्करवरस्य खलु द्वीपस्य वेदिका द्वे गव्यूती ऊर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्ता।

सर्वेषामपि खलु द्वीप-समुद्राणां वेदिकाः द्वे गव्यूती ऊर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्ताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है।)

मूलार्थ—कालोद समुद्र की वेदिका दो गव्यूति अर्थात् दो कोस की ऊंची है। पुष्करवर-द्वीपार्द्ध में मन्दरपर्वत के उत्तर और दक्षिण में बहुसमतुल्य भरत और ऐरावत नाम वाले दो क्षेत्र अवस्थित हैं। वैसे ही उत्तरकुरु और देवकुरु नामक दो

कुरु कथन किए गए हैं। वहां पर महाविशालकाय कूटशाल्मलि और पद्मवृक्ष नामक दो वृक्ष हैं। उन वृक्षों पर गरुड और वेणुदेवपद्म नामक दो महाशक्तिशाली देव निवास करते हैं। वहां रहने वाले मनुष्य छहों काल का अनुभव करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं। पुष्करवरद्वीपार्द्ध के पश्चिम में मन्दर पर्वत के उत्तर दक्षिण में बहुसमतुल्य भरत और ऐरावत नामक दो क्षेत्र हैं। उसी प्रकार न्यूनाधिकता से रहित कूटशाल्मलि और महापद्मनामक दो वृक्ष हैं। पुष्करवरद्वीपार्द्ध में भरत और ऐरावत नामक दो क्षेत्र, दो मन्दरपर्वत और दो मन्दर-चूलिकाएं हैं। पुष्करवरद्वीप की वेदिका दो कोस ऊंची कही गई है। सभी द्वीप-समुद्रों की वेदिकाएं दो कोस ऊंची कही गई हैं।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र में कालोदसमुद्र का एवं पुष्करार्द्ध द्वीप का वर्णन किया गया है। सूत्रकार ने जो धातकीखण्ड का विषय वर्णन किया है, पुष्करार्द्ध द्वीप में भी वैसे ही समझना चाहिए। विशेष विवरण निम्नलिखित है—

कालोद समुद्र—धातकीखण्ड द्वीप के चारों ओर वलयाकार कालोद समुद्र है। उसकी लम्बाई-चौड़ाई चारों ओर आठ लाख योजन है। वह बहुत से मच्छ-कच्छप आदि जल-जन्तुओं से भरा हुआ है।

पुष्करवरद्वीप—यह द्वीप १६ लाख योजन का वलयाकार है और कालोदसमुद्र के चारों ओर स्थित है। इसका कालोदसमुद्र की जगती से ठीक आठ लाख योजन का विस्तार है और उसका आकार सतर्क बैठे हुए सिंह के समान है जो कि मण्डलाकार या दुर्ग की तरह गोलाकार है, उसने पुष्करवर द्वीप को दो भागों में विभाजित कर रखा है। अन्दर की ओर मनुष्य हैं, पर बाहर की तरफ नहीं है। अर्द्धपुष्कर की परिधि १४२३०२४९ योजन की है। जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और आधे पुष्करवरद्वीप में लवण समुद्र एवं कालोद समुद्रों के तट पर ही मानवी सृष्टि है, अन्यत्र नहीं। धातकीखण्ड में जो नदी, वर्ष, वर्षधर, मेरु आदि बताए गए हैं, ठीक वैसे ही पुष्करार्द्ध में भी विद्यमान हैं।

मनुष्यलोक—जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करवरद्वीप के आधे भाग में जहां मनुष्य जाति निवास करती है, उस समस्त क्षेत्र में कुल मिलाकर—पांच मेरु, तीस वर्षधर, पांच देवकुरु, पांच उत्तरकुरु, पांच हैमवत, पांच हैरण्यवत, पांच हरिवर्ष, पांच रम्यकवर्ष, पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच महाविदेह हैं। प्रत्येक महाविदेह में बत्तीस-बत्तीस विजय हैं, इस प्रकार कुल १६० विजय हैं। मनुष्य का जन्म-मरण मनुष्य लोक में ही होता है, मानुषोत्तर पर्वत से बाहर नहीं। सूर्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र और तारे भी मनुष्यलोक में ही गतिमान हैं। इसी कारण मनुष्यलोक को **'समयक्षेत्र'** भी कहते हैं। सूर्य की गति से ही काल की गणना होती है। ढाई द्वीपों के मनुष्य-निवास योग्य क्षेत्र का परिमाण ४५ लाख योजन है।

चौंसठ इन्द्रों के नाम

मूल—दो असुरकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—चमरे चेव, बली चेव।

दो णागकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—धरणे चेव, भूयाणंदे चेव।

दो सुवन्नकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—वेणुदेवे चेव, वेणुदाली चेव।

दो विज्जुकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—हरिच्चेव, हरिस्सहे चेव।

दो अग्गिकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—अग्गिसिहे चेव, अग्गिमाणवे चेव।

दो दीवकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—पुन्ने चेव, विसिट्ठे चेव।

दो उदहिकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—जलकंते चेव, जलप्पभे चेव।

दो दिसाकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—अमियगती चेव, अमितवाहणे चेव।

दो वातकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—वेलंबे चेव, पभंजणे चेव।

दो थणियकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—घोसे चेव, महाघोसे चेव।

दो पिसाइंदा पण्णत्ता, तं जहा—काले चेव, महाकाले चेव।

दो भूइंदा पण्णत्ता, तं जहा—सुरूवे चेव, पडिरूवे चेव।

दो जक्खिंदा पण्णत्ता, तं जहा—पुन्नभद्दे चेव, माणिभद्दे चेव।

दो रक्खसिंदा पण्णत्ता, तं जहा—भीमे चेव, महाभीमे चेव।

दो किन्नरिंदा पण्णत्ता, तं जहा—किन्नरे चेव, किंपुरिसे चेव।

दो किंपुरिसिंदा पण्णत्ता, तं जहा—सप्पुरिसे चेव, महापुरिसे चेव।

दो महोरगिंदा पण्णत्ता, तं जहा—अतिकाए चेव, महाकाए चेव।

दो गंधव्विंदा पण्णत्ता, तं जहा—गीतरती चेव, गीयजसे चेव।

दो अणपन्निंदा पण्णत्ता, तं जहा—संनिहिए चेव, सामण्णे चेव।

दो पणपन्निंदा पण्णत्ता, तं जहा—धाए चेव, महाधाए चेव।

दो इसिवाइंदा पण्णत्ता, तं जहा—इसिच्चेव, इसिवालए चेव।

दो भूतवाइंदा पण्णत्ता, तं जहा—इस्सरे चेव, महिस्सरे चेव।

दो कंदिंदा पण्णत्ता, तं जहा—सुवच्छे चेव, विसाले चेव।

दो महाकंदिंदा पण्णत्ता, तं जहा—हस्से चेव, हस्सरती चेव।

दो कुहंडिंदा पण्णत्ता, तंजहा—सेए चेव, महासेए चेव।

दो पतइंदा पण्णत्ता, तं जहा—पतए चेव, पतयवई चेव।

जोइसियाणं देवाणं दो इंदा पण्णत्ता, तं जहा—चंदे चेव, सूरे चेव।

सोहम्मीसाणेसु णं कप्पेसु दो इंदा पण्णत्ता, तं जहा—सक्के चेव, ईसाणे चेव।

एवं सणंकुमार-माहिंदेसु कप्पेसु दो इंदा पण्णत्ता, तं जहा—सणंकुमारे चेव, माहिंदे चेव।

बंभलोग-लंतएसु णं कप्पेसु दो इंदा पण्णत्ता, तं जहा—बंभे चेव, लंतए चेव।

महासुक्क-सहस्सारेसु णं कप्पेसु दो इंदा पण्णत्ता, तं जहा—महासुक्के चेव, सहस्सारे चेव।

आणय-पाणतारण-च्चुतेसु णं कप्पेसु दो इंदा पण्णत्ता, तं जहा—पाणते चेव, अच्चुते चेव।

महासुक्क-सहस्सारेसु णं कप्पेसु विमाणा दुवण्णा पण्णत्ता, तं जहा—हालिद्दा चेव, सुक्किल्ला चेव।

गेविज्जगाणं देवाणं दो रयणीओ उड्ढमुच्चत्तेणं पण्णत्ताओ ॥ ६०॥

छाया—द्वौ असुरकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—चमरश्चैव, बली चैव।

द्वौ नागकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—धरणश्चैव, भूतानन्दश्चैव।

द्वौ सुपर्णकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—वेणुदेवश्चैव, वेणुदालिश्चैव।

द्वौ विद्युत्कुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—हरिश्चैव, हरिसहश्चैव।

द्वौ अग्निकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—अग्निशिखश्चैव, अग्निमानवश्चैव।

द्वौ द्वीपकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—पुण्यश्चैव, विशिष्टश्चैव।

द्वौ उदधिकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—जलकान्तश्चैव, जलप्रभश्चैव।

द्वौ दिक्कुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—अमितगतिश्चैव, अमितवाहनश्चैव।

द्वौ वातकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—वैलम्बश्चैव, प्रभञ्जनश्चैव।

द्वौ स्तनितकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—घोषश्चैव, महाघोषश्चैव।

द्वौ पिशाचेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—कालश्चैव, महाकालश्चैव।

द्वौ भूतेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—सुरूपश्चैव, प्रतिरूपश्चैव।

द्वौ यक्षेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—पूर्णभद्रश्चैव, मणिभद्रश्चैव।

द्वौ राक्षसेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—भीमश्चैव, महाभीमश्चैव।

द्वौ किन्नरेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—किन्नरश्चैव, किम्पुरुषश्चैव।

द्वौ किम्पुरुषेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—सत्पुरुषश्चैव, महापुरुषश्चैव।

द्वौ महोरगेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—अतिकायश्चैव, महाकायश्चैव।

द्वौ गन्धर्वेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—गीतरतिश्चैव, गीतयशश्चैव।

द्वौ अन्नप्राज्ञेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—सन्निहितश्चैव, सामान्यश्चैव।

द्वौ पानप्राज्ञेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—धातश्चैव, महाधातश्चैव।

द्वौ ऋषिवादीन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—ऋषिश्चैव, ऋषिपालकश्चैव।

द्वौ भूतवादीन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—ईश्वरश्चैव, महेश्वरश्चैव।

द्वौ क्रन्द्रेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—सुवक्षश्चैव, विशालश्चैव।

द्वौ महाक्रन्द्रेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—हासश्चैव, हास्यरतिश्चैव।

द्वौ कुम्भटेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—श्वेतश्चैव, महाश्वेतश्चैव।

द्वौ पात्रेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—पात्रकश्चैव, पात्रकपतिश्चैव।

ज्योतिष्काणां द्वौ इन्द्रो प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—चन्द्रश्चैव, सूर्यश्चैव।

सौधर्मेशानयोः खलु कल्पयोः द्वौ इन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—शक्रश्चैव, ईशानश्चैव।

एवं सनत्कुमार-महेन्द्रयोः कल्पयोर्द्वौ इन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—सनत्कुमारश्चैव, महेन्द्रश्चैव।

ब्रह्मलोक-लान्तकयोः कल्पयोर्द्वौ इन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—ब्रह्मा चैव, लान्तकश्चैव।

महाशुक्र-सहस्रारयोः कल्पयोः द्वाविन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—महाशुक्रश्चैव, सहस्रारश्चैव।

आणत-प्राणतारणाच्युतेषु कल्पेषु द्वाविन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा-प्राणतश्चैव, अच्युतश्चैव।

महाशुक्र-सहस्रारयोः खलु कल्पयोः विमानानि द्विवर्णकानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—हरिद्रकानि चैव शुक्लानि चैव।

ग्रैवेयकाः देवाः द्विरत्निके ऊर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्ताः।

मूलार्थ—असुरकुमारों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—चमरेन्द्र और बली इन्द्र।

नागकुमारों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—धरणेन्द्र और भूतानन्द।
सुपर्णकुमारों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—वेणुदेव और वेणुदाली।
विद्युत्कुमारों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—हरि और हरिस्सह।
अग्निकुमारों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—अग्निशिख और अग्निमानव।
द्वीपकुमारों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—जलकान्त और जलप्रभ।
दिशाकुमारों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—अमितगति और अमितवाहन।
वातकुमारों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—वैलम्ब और प्रभञ्जन।
स्तनितकुमारों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—घोष और महाघोष।
पिशाचों के दो इन्द्र कहे गए हैं, जैसे—काल और महाकाल।
भूतों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—स्वरूप और प्रतिरूप।
यक्षों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—पूर्णभद्र और मणिभद्र।
राक्षसों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—भीम और महाभीम।
किन्नरों के दो इन्द्र कथन किए गए है, जैसे—किन्नर और किम्पुरुष।
किम्पुरुषों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—सत्पुरुष और महापुरुष।
महोरगों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—अतिकाय और महाकाय।
गन्धर्वों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—गीत रति और गीतयश।
अन्नप्राज्ञों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—सन्निहित और सामान्य।
पानप्रज्ञेन्द्रों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—धाता और महाधाता।
ऋषिवादियों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—ऋषि और ऋषि-पालक।
भूतवादियों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—ईश्वर और महेश्वर।
क्रन्दों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—सुवक्ष और विशाल।
महाक्रन्दों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—हास और हास्यरति।
कुम्भटों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—श्वेत और महाश्वेत।
पतकों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—पतक और पतकपति।
ज्योतिष्कों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—चन्द्र और सूर्य।

सौधर्म और ईशान कल्पों के दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र।

इसी प्रकार सनत्कुमार और महेन्द्र कल्पों में दो-दो इन्द्र कथन किए गए हैं,

जैसे—सनत्कुमार और महेन्द्रकुमार।

ब्रह्मलोक और लान्तक कल्पों में दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—ब्रह्मा और लान्तक।

महाशुक्र और सहस्रार कल्पों में दो इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—महाशुक्र और सहस्रार।

आणत-प्राणत और आरण-अच्युत कल्पों में दो-दो इन्द्र कथन किए गए हैं, प्राणत और अच्युत।

महाशुक्र और सहस्रार कल्पों में पीले और श्वेत वर्ण के विमान कथन किए गए हैं।

ग्रैवेयक देवो के शरीर की ऊंचाई दो रत्नि परिमाण है।

विवेचनिका—राजा का प्रशासन जैसे द्वीप समुद्रों में रहने वाले मनुष्यों पर होता है, वैसे ही इन्द्रों का प्रशासन देवलोक पर हुआ करता है। अतः प्रस्तुत सूत्र में चौंसठ इन्द्रों के नाम प्रदर्शित किए गए है और साथ ही सूत्रकार ने उन्हें चार भागों में विभक्त कर दिया है, जैसे कि—

भवनपति देवों के बीस इन्द्र, वानव्यन्तरों के बत्तीस, ज्योतिष्क देवों के दो और वैमानिक देवो के दस इन्द्र हैं।

मेरु पर्वत की अपेक्षा से दक्षिण और उत्तर दिशा आगमकारों ने निर्धारित की है। भवनपति और वानव्यन्तर उक्त दो दिशाओं मे विभक्त हैं। दक्षिण दिशा की अपेक्षा उत्तरदिशा मे रहने वाले भवनपति और इन्द्र वैभव और आयु की दृष्टि से समृद्ध है। जम्बूद्वीपगत सुमेरु पर्वत के नीचे दक्षिण और उत्तर भाग में अनेक कोटाकोटि लक्ष योजन पर्यन्त देवता रहते हैं। इनका आवास इस रत्नप्रभा के पृथ्वी-पिण्ड में से ऊपर नीचे के एक-एक हजार योजन छोड़कर मध्य के एक लाख अट्ठत्तर हजार योजन प्रमाण भाग में सब जगह है, किन्तु भवनपति देव तो रत्नप्रभा के नीचे ९० हजार योजन प्रमाण भाग में ही होते हैं। इनके आवास बडे मण्डप जैसे होते हैं, भवन नगर तुल्य होते हैं। बाहर से गोल और अन्दर से समचतुष्कोण और भूमितल पुष्करकर्णिका जैसा होता है।

भवनपति देव कुमारों की तरह देखने में मनोहर तथा सुकुमार होते हैं, इसी कारण उनके नाम के पीछे 'कुमार' जोड़ा जाता है। जैसे कि असुरकुमार, नागकुमार आदि। इन देवों के जन्म से ही अपनी-अपनी जाति के भिन्न-भिन्न रूप और सम्पत्ति के चिह्न हैं, जैसे कि असुरकुमार के मुकुट में चूड़ामणि है। इन चिह्नों का विशेष वर्णन दसवें स्थान में किया जाएगा। इन की आयु का विस्तृत विवरण प्रज्ञापना सूत्र में प्राप्त होता है।

वानव्यन्तरदेव ऊर्ध्व, मध्य और अधः तीन लोकों में नगर और आवासों में रहते हैं,

वे अपनी इच्छा से अथवा दूसरों की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न जगह जाया करते हैं। उनमें से कुछ मनुष्यों की भी सेवा करते हैं। वे विभिन्न प्रकार के वनों, पहाड़ों और गुफाओं के अन्तरालों में रहने के कारण वानव्यन्तर कहलाते हैं। इनकी सोलह जातियां हैं। दक्षिण-उत्तर दिशाओं के विभाग से उनके बत्तीस रूप हो जाते हैं, उन पर बत्तीस इन्द्रों का आधिपत्य है जिनके नाम मूलार्थ में दिए जा चुके हैं।

मेरु के समतल भूभाग से ७९० योजन की ऊंचाई पर ज्योतिष्क देवों के क्षेत्रों का प्रारम्भ हो जाता है जो कि वहां से ऊंचाई में ११० योजन परिमाण है और तिरछा लोक (मध्यलोक) असंख्यात योजन परिमाण है। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारे ये पाच ढाई द्वीप में चर हैं और बाहर स्थिर हैं। इनमें चन्द्र और सूर्य की प्रधानता है। ज्योतिष्क देवों के चन्द्र और सूर्य ये दो इन्द्र हैं। ज्योतिष्क देवों के असंख्यात इन्द्र होने पर भी जातिमात्र का आश्रय लेकर सूत्रकार ने दो ही इन्द्र ग्रहण किए हैं। वृत्तिकार भी इसी प्रकार लिखते हैं, जैसे कि—

ज्योतिष्काणां त्वसंख्यातचन्द्रसूर्यत्वेऽपि जातिमात्राश्रयणाद् द्वावेव चन्द्र-सूर्याख्याविन्द्रावुक्तौ।

चौथे प्रकार के देव वैमानिक कहलाते हैं, उनका यह नाम मात्रपारिभाषिक ही है, क्योंकि विमान से चलने वाले ज्योतिष्क देव भी हैं। वैमानिकों के दो भेद हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। जो कल्प-राजनीति की मर्यादा में रहते हैं, वे कल्पोपपन्न और जो कल्प की मर्यादा से ऊपर रहते हैं, वे कल्पातीत कहलाते हैं। वे सभी वैमानिक न तो एक ही स्थान में हैं और न तिरछे ही हैं, किन्तु एक दूसरे के ऊपर-ऊपर रहते हैं। इन्द्र का शासन बारहवें देवलोक के देवों तक सीमित है, इसलिए उनको कल्पोपपन्न कहते हैं। सौधर्म-कल्प ज्योतिष्क देवों के ऊपर असंख्यात योजन की ऊंचाई पर मेरु के दक्षिण भाग से उपलक्षित आकाश प्रदेश में स्थित है। उसके बहुत ऊपर, किन्तु उत्तर की ओर ऐशान कल्प है। सौधर्म के समश्रेणि बहुत ऊपर सानत्कुमार कल्प है और माहेन्द्र कल्प ऐशान कल्प के बहुत ऊपर समश्रेणि में है। ये चार देवलोक अर्धचन्द्राकार हैं। पांचवां ब्रह्मदेवलोककल्प पूर्ण चन्द्राकार है। इसके ऊपर समश्रेणी में क्रमशः लान्तक, महाशुक्र और सहस्रार ये तीन कल्प एक दूसरे से बहुत ऊपर परिपूर्ण चन्द्राकार गोल हैं। इनके ठीक ऊपर सौधर्म-ऐशान की तरह आनत और प्राणत देवलोक हैं। इनके ठीक ऊपर समश्रेणि में सानत्कुमार और माहेन्द्र की तरह दो कल्प हैं, जैसे कि—आरण और अच्युत। सहस्रार देवलोक तक एक-एक इन्द्र का शासन है, किन्तु आनत-प्राणत इन दो कल्पों में एक इन्द्र और आरण, अच्युत कल्पों में भी एक ही इन्द्र का शासन है। वैमानिकों के कुल दस इन्द्र हैं।

सौधर्म और ईशान देवलोक में पांच वर्ण के विमान हैं।

सानत्कुमार और माहेन्द्र देवलोक में काले रंग के बिना चार रंग के विमान हैं।

ब्रह्मलोक और लान्तक कल्प में काले और नीले विमान के बिना शेष तीन वर्ण के विमान हैं।

शुक्र और सहस्रार देवलोक में सभी विमान पीत और सफेद वर्णों के हैं।

शेष वैमानिकों के विमान मात्र शुक्ल वर्ण के ही हैं।

ग्रैवेयक देवों की ऊचाई दो हाथ की होती है। उक्त सभी इन्द्र तीर्थंकर भगवान के जन्मादि चार कल्याणकों में उपस्थित होते है। सम्यग्दृष्टि देव धर्मात्माओं की रक्षा करते हैं और मिथ्यादृष्टि देव परीक्षा लेते हैं। देव धर्मानुरक्त मनुष्य को तथा गुप्त ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं और सत्यवादियों की रक्षा करते हैं। देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक में लिखा है कि—सभी चौसठ इन्द्र सम्यग्दृष्टि हैं। वे अनुग्रह और निग्रह करने में सर्वथा समर्थ हैं और पंच-परमेष्ठी के परमभक्त हैं।

॥ द्वितीय स्थान का तृतीय उद्देशक सम्पूर्ण ॥

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में पुद्गल-तत्त्व एवं जीव-तत्त्व का विशद विवेचन किया गया है। अब चतुर्थ उद्देशक में जीव एवं अजीव तत्त्वों का काल एवं क्षेत्र आदि की दृष्टि से विश्लेषण किया जाएगा।

समय, नगर, छाया आदि का जीवत्व-अजीवत्व

मूल—समयाति वा, आवलियाति वा, जीवाति या, अजीवाति या पवुच्चति। आणापाणूति वा, थोवेति वा, जीवाति या, अजीवाति या पवुच्चति। खणाति वा, लवाति वा, जीवाति या, अजीवाति या पवुच्चति। एवं मुहुत्ताति वा, अहोरत्ताति वा, पक्खाति वा, मासाति वा, उडूति वा, अयणाति वा, संवच्छराति वा, जुगाति वा, वाससयाति वा, वाससहस्साइ वा, वाससतसहस्साइ वा,वासकोडीइ वा, पुव्वंगाति वा, पुव्वाति वा, तुडियंगाति वा, तुडियाति वा, अडडंगाति वा, अडडाति वा, अववंगाति वा, अववाति वा, हूहूअंगाति वा, हूहूयाति वा, उप्पलंगाति वा, उप्पलाति वा, पउमंगाइ वा, पउमाति वा, णलिणंगाति वा, णलिणाति वा, अच्छणिकुरंगाति वा, अच्छणिउराति वा, अउअंगाति वा, अउआति वा, णउअंगाति वा, णउआति वा, पउतंगाति वा, पउताति वा, चुलितंगाति वा, चुलिताति वा, सीसपहेलियंगाति वा, सीसपहेलियाति वा, पलिओवमाति वा, सागरोवमाति वा। उस्सप्पिणीति वा, ओसप्पिणीति वा, जीवाति या अजीवाति या पवुच्चति।

गामाति वा, नगराति वा, निगमाति वा, रायहाणीति वा, खेडाति वा, कब्बडाति वा, मडंबाति वा, दोणमुहाति वा, पट्टणाति वा, आगराति

वा, आसमाति वा, संबाहाति वा, संनिवेसाति वा, घोसाइ वा, आरामाइ वा, उज्जाणाति वा, वणाति वा, वणसंडाति वा, वावीइ वा, पुक्खरणीति वा, सराति वा, सरपंतीति वा, अगडाति वा, तलागाति वा, दहाति वा, णदीति वा, पुढवीति वा, उदहीति वा, वातखंधाति वा, उवासंतराति वा, वलताति वा, विग्गहाति वा, दीवाति वा, समुद्दाइ वा, वेलाति वा, वेतिताति वा, दाराति वा, तोरणाति वा, णेरतिताति वा, णेरतितावासाति वा, जाव वेमाणियाइ वा, वेमाणियावासाति वा, कप्पाति वा, कप्पविमाणा-वासाति वा, वासाति वा, वासधरपव्वाति वा, कूडाति वा, कूडागाराति वा, विजयाति वा, रायहाणीइ वा, जीवाति या, अजीवाति या पवुच्चति।

छाताति वा, आतवाति वा, दोसिणाति वा, अंधगाराति वा, ओमाणाति वा, उम्माणाति वा, अतिताणगिहाति वा, उज्जाणगिहाति वा, अवलिंबाति वा, सणिप्पवाताति वा जीवाति या अजीवाति या पवुच्चइ।

दो रासी पण्णत्ता, तं जहा—जीवरासी चेव, अजीवरासी चेव ॥ ६१॥

छाया—समया इति वा, आवलिका इति वा, जीवा इति च, अजीवा इति च प्रोच्यते। आनुप्राणौ इति वा, स्तौका इति वा, जीवा इति वा, अजीवा इति च प्रोच्यते। क्षणा इति वा, लवा इति वा, जीवा इति च, अजीवा इति च प्रोच्यते। एवं मुहूर्त्ता इति वा, अहोरात्रा इति वा, पक्षा इति वा, मासा इति वा, ऋतव इति वा, अयनानि इति वा, सम्वत्सरा इति वा, युगा इति वा, वर्षशतानीति वा, वर्षसहस्राणीति वा, वर्षशतसहस्राणीति वा, वर्षकोटय इति वा, पूर्वाङ्गणीति वा, पूर्वाणीति वा, त्रुटिताङ्गनीति वा, त्रुटितानीति वा, अटटागांनीति वा, अटटानीति वा, अववंगानीति वा, अववानीति वा, हूहूकांगानीति वा, हूहूकानीति वा, उत्पलंगानीति वा, उत्पलानीति वा, पद्माङ्गनीति वा, पद्मानीति वा, नलिनाङ्गनीति वा, नलिनानीति वा, अक्षनिकुरंगाणीति वा, अक्षनिकुराणीति वा, अयुतङ्गनीति वा, अयुतानीति वा, नियुताङ्गनीति वा, नियुतानीति वा, प्रयुताङ्गनीति वा, प्रयुतानीति वा, चूलिकाङ्गनीति वा, चूलिकानीति वा, शीर्ष-प्रहेलिकाङ्गनीति वा, शीर्षप्रहेलिकानीति वा, पल्योपमानीति वा, सागरोपमाणीति वा, उत्सर्पिणीति वा, अवसर्पिणीति वा, जीवा इति च, अजीवा इति च प्रोच्यते।

ग्रामा इति वा, नगराणीति वा, निगमानीति वा, राजधान्य इति वा, खेटकानीति वा, कर्बटानीति वा, मडम्बानीति वा, द्रोणमुखानीति वा, पत्तनानीति वा, आकराणीति वा, आश्रमा इति वा, सम्बाहा इति वा, सन्निवेशा इति वा, घोषा इति वा, आरामा इति वा, उद्यानानीति वा, वनानीति वा, वनखण्डा इति वा, वाप्य इति वा, पुष्करिण्य

इति वा, सरांसीति वा, सरपंक्त्य इति वा, अवटा इति वा, तटाका इति वा, ह्रदानीति वा, नद्य इति वा, पृथ्व्य इति वा, उदधय इति वा, वातस्कन्धा इति वा, अवकाशान्तराणीति वा, वलय इति वा, विग्रहा इति वा, द्वीपा इति वा, समुद्रा इति वा, वेला इति वा, वेदिका इति वा, द्वाराणीति वा, तोरणानीति वा, नैरयिका इति वा, नैरयिकवासा इति वा, यावत् वैमानिका इति वा, वैमानिकावासा इति वा, कल्पा इति वा, कल्पावासा इति वा, वर्षाणीति वा, वर्षधरपर्वता इति वा, कूटा इति वा, कूटागाराणीति वा, विजया इति वा, राजधान्य इति वा, जीवा इति च, अजीवा इति च प्रोच्यते।

छाया इति वा, आतपा इति वा, ज्योत्स्ना इति वा, अन्धकाराणीति वा, अवमानानीति वा, उन्मानानीति वा, अतियानगृहाणीति वा, उद्यानगृहाणीति वा, अपलिम्पा इति वा, शनैःप्रपाता इति वा, जीवा इति च, अजीवा इति च प्रोच्यते।

द्वे राशी प्रज्ञप्ते, तद्यथा—जीवराशिश्चैव अजीवराशिश्चैव।

शब्दार्थ स्पष्ट है

मूलार्थ—समय, आवलिका, आणु, प्राणु, स्तोक, क्षण, लव, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, सम्वत्सर, युग, वर्षशत, वर्षसहस्त्र, वर्षशतसहस्त्र, वर्षकोटि, पूर्वाङ्ग, पूर्व, त्रुटिताङ्ग, त्रुटित, अटटाङ्ग, अटट, अववाङ्ग, अवव, हूहूआङ्ग, हूहूक, उत्पलाङ्ग, उत्पल, पद्माङ्ग, पद्म, नलिनाङ्ग, नलिन, अक्षनिकुराङ्ग, अक्षनिकुर, अयुताङ्ग, अयुत, नियुताङ्ग, नियुत, प्रयुताङ्ग, प्रयुत, चूलिकाङ्ग, चूलिका, शीर्षप्रहेलि-काङ्ग, शीर्षप्रहेलिका, पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये सभी जीव और अजीव प्रतिपादन किए जाते हैं।

ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, खेटक, कर्बट, मडम्ब, द्रोणमुख, पत्तन, आकर, आश्रम, सबाह, सन्निवेश और घोष—

आराम, उद्यान, वन, वनखण्ड, वापी (बावड़ी), पुष्करिणी, सर, सरपंक्ति, अगड, तालाब, ह्रद, नदी, पृथ्वी, उदधि (समुद्र), वातखण्ड, आवासान्तर, वलय, विग्रह, द्वीप, समुद्र, वेला, वेदिका, द्वार, तोरण—

नैरयिक, नरकावास, यावत् विमान, विमानवासी, कल्प, कल्पविमानवासी, वर्ष (देश), वर्षधर पर्वत, कूट, कूटागार, विजय और राजधानी ये सभी जीव और अजीव कहे जाते हैं।

छाया, आतप, चांदनी, अन्धकार, अवमान, उन्मान, अतियानगृह, उद्यान-गृह, अवलिम्ब, शनैःप्रपात उपरोक्त सभी जीव और अजीव कथन किए गए हैं।

दो राशि प्रतिपादन की गई हैं, जैसे—जीवराशि और अजीवराशि।

विवेचनिका—इस सूत्र में काल-द्रव्य का वर्णन किया गया है। जैन-आगमों के अध्ययन से यह निश्चित होता है कि भगवान ने प्रत्येक स्थान पर पंचास्तिकाय का निरूपण किया है। काल स्वतन्त्र द्रव्य है या औपचारिक ? इस के विषय में आचार्यों का सिद्धान्त एक नहीं है। पंचास्तिकाय सप्रदेशी होने के कारण उन्हें द्रव्य मानने में सभी आचार्य सहमत हैं, किन्तु काल अप्रदेशी है, इसलिए उसे कुछ आचार्य द्रव्य मानते हैं और कुछ नहीं। वाचक उमास्वाति जी लिखते हैं कि **कालश्चेत्येके** अर्थात् कुछ आचार्य कहते हैं कि—काल भी द्रव्य है। इससे सिद्ध होता है कि वे काल को द्रव्य नहीं मानते, किन्तु उन्होंने काल को द्रव्य मानने वालों का खण्डन भी नहीं किया, कारण कि अनेक आगमों में काल को द्रव्य के रूप में वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र-पाठ ही एक ऐसा पाठ है जोकि काल को जीव और अजीव की पर्याय (परिवर्तव्य) सिद्ध करता है। पर्याय को ही दूसरे शब्दों में काल संज्ञा दी गई है। जीव पर्याय वर्तने से काल जीव भी है और अजीव पर्याय वर्तने से काल अजीव भी है। जैसे कि 'यह बालक दस वर्ष का है इस भवन को बने दस वर्ष हो गए हैं' वर्ष एक काल संज्ञा भी है, किन्तु वह जीव आश्रित होने से जीव काल और अजीव आश्रित होने से अजीव संज्ञा वाला हो जाता है।

काल के विषय में सुदर्शन सेठ और श्रमण भगवान महावीर के मध्य में जो संवाद हुआ है, वह भी प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करने में अत्यन्त सहायक है—

कइविहे णं भंते! काले पण्णत्ते? सुदंसणा! चउव्विहे काले पण्णत्ते, तं जहा— पमाणकाले, अहाउनिव्वत्तिकाले, मरणकाले, अद्धाकाले।

—भग सू श ११, उ ११

भगवन्! काल कितने प्रकार का होता है ?

सुदर्शन! पूर्व अनन्त तीर्थंकरों ने काल के चार भेद प्रतिपादन किए हैं, जैसे कि प्रमाणकाल, यथायुनिवर्त्तितकाल, मरणकाल और अद्धाकाल। इनका संक्षेप से विवरण निम्नलिखित है—

दिन और रात्रि के काल-विभाग को प्रमाणकाल कहते हैं। जिस जीव ने जिस गति की आयु बाधी है, उसके उदय-काल को यथायुनिवर्त्तित कहा जाता है। आयु समाप्त होने पर जब जीव स्थूल शरीर को छोडता है तब उसे मरणकाल कहते हैं। समय, आवलिका, मुहूर्त, वर्ष, अवसर्पिणी आदि का जो व्यवहार होता है उसे अद्धाकाल कहते हैं। वास्तव में अद्धाकाल जीव और अजीव का पर्याय रूप ही है। वृत्तिकार भी इसी प्रकार लिखते हैं, जैसे कि—

"तत्र समया इति वा आवलिका इति वा' यत्काल-वस्तु-तदविगानेन जीवा इति च जीवपर्यायत्वात् पर्यायपर्यायिनश्च कथञ्चिदभेदात् तथा अजीवानां पुद्गलादिनां पर्यायत्वादजीवा इति च, च कारौ समुच्चयार्थौ दीर्घता च प्राकृतत्वात्, प्रोच्यते—

अभिधीयत इति न जीवादिव्यतिरेकिणः समयादयः, तथाहि जीवाजीवानां सादिसपर्यवसानादिभेदावस्थितिस्तद्भेदाः समयादयः, सा च तद्धर्मो धर्मश्च धर्मिणो नात्यन्तभेदवान्, अत्यन्तभेदे हि विप्रकृष्टधर्ममात्रोपलब्धौ प्रतिनियतधर्मिविषय एव संशयो न स्यात्, तदन्येभ्योऽपि तस्य भेदाविशेषाद्। दृश्यते च यदा कश्चिद्धरित-तरु-तरुणशाखा-विसरविवरान्तरतः किमपि शुक्लं पश्यति तदा किमयं पताका? किं वा बलाकेत्येवं प्रतिनियतधर्मिविषयः संशय इति अभेदेऽपि सर्वथा संशयानुत्पत्तिरेव, गुणग्रहणत एव तस्यापि गृहीत्वादिति। इह च त्वभेदनयाश्रयणाज्जीवाइ येत्याद्युक्तम्, समयावलिकालक्षणार्थद्वयस्य जीवादिद्वयात्मकतया भणनाद् द्विस्थानकावतारो दृश्यः एवमुत्तरसूत्राण्यपि नेयानि"।

इस वृत्ति का सारांश इतना ही है कि समय से लेकर उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी पर्यन्त जितनी भी काल संख्या है, वह जीव पर्याय होने से जीव और अजीव पर्याय होने से अजीव है, अतः सिद्ध हुआ कि एक दृष्टिकोण से काल जीव भी है और अजीव भी। काल की गणना समय से प्रारंभ होती है।

समय—काल का अविभाज्य अंश जिसका विभाग बुद्धि की कल्पना से भी नहीं किया जा सकता उसे समय कहते हैं, कहा भी है—

अद्धा दो धारच्छेयणेणं छिज्जमाणा जाहे विभागं णो हव्वमागच्छइ, से त्तं समए।

—भ श ११, उ ११

आवलिका—असंख्यात समयों की एक आवलिका होती है अर्थात् जघन्य युक्तासंख्यात समयो की एक आवलिका कही गई है, सैंकडों आवलिकाओं का एक सेकिण्ड होता है, अतः सेकिण्ड आवलिका की अपेक्षा बहुत स्थूल है।

आणापाणु—संख्यात अर्थात् हजारों आवलिकाओं का एक आणापाणू होता है। स्वस्थ मनुष्य की नब्ज (नाड़ी) की सहज गति को आणापाणू कहा जाता है। सात आणापाणू का एक स्तोक, सात स्तोकों का एक लव, ७७ लवों का एक मुहूर्त अथवा ३७७३ आणापाणू का मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्त का अहोरात्र, पन्द्रह अहोरात्र का पक्ष, दो पक्ष का मास, दो मास की ऋतु, तीन ऋतुओं का अयन, दो अयनों का संवत्सर, पांच संवत्सर का युग, बीस युग की शती, दस शतियो का सहस्त्र, सौ सहस्त्रों का लाख, ८४ लाख वर्षों का पूर्वाङ्ग, ८४ लाख पूर्वाङ्गों का एक पूर्व, ८४ लाख पूर्वों का एक त्रुटिताङ्ग, ८४ लाख त्रुटिताङ्गों का एक त्रुटित, इसी प्रकार उत्तरोत्तर शीर्ष प्रहेलिका पर्यन्त ८४००००० को ८४००००० से गुणा करने पर 'उत्कृष्टसंख्यात' संख्या बन जाती है। आगमों की परिभाषा में १९४ अंकों में शीर्षप्रहेलिका गणना की समाप्ति होती है। शीर्षप्रहेलिका से अधिक होते ही संख्या को 'असंख्यात' कहा जाता है। असंख्यात की परिमाण-वृद्धि आदि की गणना पल्योपम एवं सागरोपम से की जाती है, जिनका विशद वर्णन आगे यथास्थान किया जाएगा। प्रत्येक जीव की आयु एवं

कर्मभोग की स्थिति काल से सम्बन्धित है, अत: जीव की अपेक्षा से काल को भी जीव मान लिया गया है। यह भी कहा जा सकता है कि काल जीव एवं अजीव रूप ही है, उसकी कोई भिन्न सत्ता ही नहीं है, क्योंकि जीव एवं अजीव के पर्याय-परिवर्तन अर्थात् स्थिति एवं दशा का परिवर्तन ही तो काल है, अत: सूत्रकार ने काल को जीव एवं अजीव इन दो रूपों में विभक्त कर दिया है।

अब सूत्रकार क्षेत्र की अपेक्षा से जीव-अजीव तत्त्व की समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। जैसे कि—

ग्राम—कृषकों की वह बस्ती ग्राम कहलाती है, जहां कर 'महसूल चुंगी' आदि की व्यवस्था न हो और जहां से राज्य को उपज का छठा भाग प्राप्त होता हो।

नगर—ऐसी मध्यम श्रेणी की बस्ती को नगर कहा जाता था जहां के निवासियों को राज्य-कर से मुक्त रखा जाता था।

निगम—व्यापार के प्रमुख केन्द्र स्थान अर्थात् मण्डियों को निगम कहा जाता था।

राजधानी—जिस महानगर में राज-परिवार एवं राज-प्रमुखों का निवास हो, जहां बड़े-बड़े राजकीय कार्यालय हों, और जहां पर लोक-सभा, राज्य-सभा एव विधान-सभाओं के कार्य-स्थान हों उस समृद्ध नगर को 'राजधानी' कहा जाता था।

खेड़ा—कच्चे परकोटे से घिरी हुई महत्त्वपूर्ण बस्ती खेडा नाम से प्रसिद्ध थी।

कुनगर—ऐसी जीर्ण-शीर्ण पुरानी बस्ती को कुनगर कहा जाता था, जहां अध्ययन, वैद्य आदि की सुविधाएं सर्व-सुलभ न हों।

मण्डप—ऐसी बस्ती मण्डप कहलाती है जिसके चारों ओर दूर-दूर तक कोई ग्राम एवं नगर आदि न हो।

द्रोण-मुख—उन प्रमुख व्यापार-प्रधान नगरों को 'द्रोणमुख' कहा जाता था जिनमें बड़े-बडे जलमार्गों के केंद्र अर्थात् बन्दरगाहें होती थीं और साथ ही जहां अनेक स्थल-मार्गों का भी केन्द्र होता था।

पट्टण (पत्तन)—वे व्यापारिक नगर पट्टण कहलाते थे जिनमें जलमार्गों एवं स्थल-मार्गों में से केवल एक का ही केन्द्र हुआ करता था।

आकर—विभिन्न प्रकार की खानों वाले नगर एव खनिज-पदार्थों के व्यापारिक केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध नगर आकर नाम से प्रसिद्ध थे।

आश्रम—तीर्थ-स्थानों, ऋषि-मुनियों के आवासों को आश्रम कहा जाता था।

संवाह—पर्वतों पर बसे ऐसे स्थान 'संवाह' कहलाते थे जहां पर लोग स्वास्थ्य-संवर्धन एवं भ्रमण के लिए जाया करते थे। और जहां पर आसपास के किसान अपने अनाज को सुरक्षित रखने के लिए अन्न-भण्डारों का निर्माण किया करते थे वह भी संवाह कहलाता है।

सन्निवेश—बड़े मार्गों पर अवस्थित उन बस्तियों को सन्निवेश कहा जाता था, जहा पर व्यापारियों / सार्थवाहों (काफिले) के समूह पड़ाव डाला करते थे।

घोष—ऐसे विशेष ग्रामों को घोष कहा जाता था, जहां दूध, दही, दुग्ध-निर्मित्त खोया आदि पदार्थों और पशु-व्यापार की प्रमुखता होती थी।

आराम—वृक्षों, लताओं, लता-मण्डपों, कुञ्जों एवं सरोवरों आदि से युक्त वे भ्रमण-स्थल जहां स्त्रियां, पुरुष एवं बच्चे आदि आराम, भ्रमण एवं मनोविनोद आदि के लिए जाया करते थे।

उद्यान—ऐसे कृत्रिम स्थल उद्यान कहे जाते थे जहां उपयोगिता एवं व्यापार आदि की दृष्टि से फूलों और फलों के पौधे एवं वृक्ष लगाए जाते थे और साथ ही जो जनता के लिए भ्रमण-स्थल भी हुआ करते थे।

वन—जिस प्राकृतिक स्थान में एक ही प्रकार के वृक्षों की प्रधानता हो उसे 'वन' कहा जाता था।

वन-खण्ड—विभिन्न प्रकार के वृक्षों एव लताओं आदि से सम्पन्न प्राकृतिक स्थल 'वन-खण्ड' कहलाते थे।

वापी—उस चतुष्कोण कूप को वापी कहा जाता था जिसके चारों ओर से जल के पास तक पहुचने के लिए कलापूर्ण सीढ़ियां निर्मित की गई हों।

पुष्करणी—कमलों एव कुमुदों से परिपूर्ण विशाल जलाशय पुष्करणी कहलाते थे।

सर—ऐसे गहरे जलाशय सर कहलाते थे जिनमे वर्षा-जल और स्रोत-जल दोनों एकत्रित हुआ करते थे।

सर-सर-पंक्ति—अनेक छोटे-बड़े जलाशयो में विभक्त जल-प्रधान प्रदेश को सर-सर-पंक्ति संज्ञा दी गई थी।

अगड—छोटे-बड़े कूप अगड कहलाते थे।

तडाग (तडाक)—वे कृत्रिम पक्के जलाशय जिनमें अनेक साधनों से पानी भरा जाता था।

ह्रद (द्रह)—महानदियों को जन्म देने वाली बडी-बड़ी झीलें ह्रद कहलाती थीं।

नदी—गंगा, यमुना, सिन्धु एवं सरस्वती आदि नदियां।

पृथिवी—रत्नप्रभा आदि आठ भूमि-प्रदेश।

उदधि—घनोदधि आदि सात आगम-प्रसिद्ध उदधि। (लवण समुद्र आदि का समुद्र रूप में पृथक् पाठ होने के कारण उदधि शब्द से घनोदधि आदि आगमकार को इष्ट जान पड़ते हैं।)

वात-स्कन्ध—वायु के घनवात एव तनुवात आदि अनेक रूप वात-स्कन्ध कहलाते हैं।

अवकाशान्तर—आगमों की भाषा में दो पृथ्वियों के अन्तराल में अवस्थित आकाश-प्रदेश को अवकाशान्तर, एवं उवासंतर कहा जाता है।

वलय—रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों के चारों ओर थाली के उठे हुए किनारों के समान घनोदधि, तनुवात और घनवात आदि सहित आठ योजन ऊपर की ओर उठे हुए भाग को वलय कहा जाता है।

विग्रह—त्रसनाल नामक आकाशनाली जो चौदह राजू ऊंची और एक राजू लंबी-चौड़ी मानी जाती है उसी का दूसरा नाम विग्रह भी है। अथवा लोकनाड़ी के मध्य-भाग को विग्रह कहा जाता है। यद्यपि विग्रह शब्द के युद्ध, मोड़ और निरुक्ति आदि अर्थ भी होते हैं, परन्तु यहां प्रकरणवशात् उपर्युक्त अर्थ ही ग्रहण किया जा सकता है।

द्वीप—चारों ओर से समुद्र द्वारा घिरे हुए पृथ्वी-खण्ड को द्वीप कहा जाता है, जैसे जम्बू द्वीप आदि।

समुद्र—कम से कम दो लाख योजन विस्तृत विशाल जल-भण्डार समुद्र कहलाता है, जैसे लवण समुद्र आदि।

वेला—चन्द्रयोग से समुद्र में उठने वाली उत्ताल तरंगें वेला कहलाती हैं, समुद्र-तट (जिसे समुद्र की जगती भी कहा जाता है) भी वेला ही कहलाता है।

वेदिका—जगती पर या अन्य दिव्य स्थानों में स्थित वैडूर्य मणिमय पद्मवर-वेदिका आदि दिव्य स्थानों का विशेष नाम वेदिका है।

द्वार—प्रत्येक द्वीप-समुद्र की चारों दिशाओं में विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नाम के चार प्रवेश-मार्ग बताए गए हैं, उन्हें ही द्वार कहा जाता है।

तोरण—प्रत्येक द्वार का ऊपरी कलात्मक भाग तोरण नाम से प्रसिद्ध है। शेष शब्दों का व्याख्यात्मक वर्णन पहले यथास्थान किया जा चुका है। सूत्रकार का आशय यह है कि उपर्युक्त सभी स्थानात्मक प्रदेशों का सम्बन्ध जीव और अजीव दोनों से है, अतः ये सभी स्थान भी अपेक्षाकृत जीव और अजीव हैं।

छाया—किसी भी द्रव्य के प्रतिबिम्ब—(कैमरे के चित्र, चलचित्र, टेलीविजन पर दृष्ट होने वाले चित्र) आदि को छाया कहा जाता है।

आतप—सूर्य की धूप आतप नाम से प्रसिद्ध है।

ज्योत्स्ना—चन्द्र की चांदनी को ज्योत्स्ना नाम दिया गया है।

अन्धकार—अंधेरा जगत प्रसिद्ध द्रव्य है।

अवमान—भूमि आदि की नाप-जोख के लिए अवमान शब्द का प्रयोग होता है।

प्रमाण—अंगुल, वितस्ति (विलांत), हाथ, गज, फुट, मीटर, कोस आदि की पारिभाषिक संज्ञा प्रमाण है।

उन्मान—तोल के रूप में प्रयुक्त होने वाले—रत्ती, मासा, तोला, छटांक, सेर, मन, ग्राम, मिलीग्राम, किलो, टन आदि बाटों को उन्मान कहा जाता था।

अतियान-गृह—अत्यन्त विशाल यानों के ठहरने के लिए नगरों के पास बने विशाल स्थान, हाथीखाना, गाड़ीखाना, बस स्टैण्ड, रेलवे स्टेशन आदि।

उद्यानगृह—उद्यानों आदि में बने सुन्दर बंगले।

अवलिंब—वैसे तो यह एक विशेष देश का नाम है, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में इसका अर्थ है—तम्बू, शामियाना, कुटीर आदि।

शनैःप्रपात—राजाओं एवं रईसों आदि के विनोद-स्थलों में बने फुवारे आदि शनैःप्रपात कहलाते थे।

ये समस्त स्थान एवं पदार्थ भी जीव-अजीव से व्याप्त हैं, इन्हीं की अपेक्षा से जैनागम उपर्युक्त स्थान एवं पदार्थों को जीव-अजीव मानते हैं। अभिप्राय यह है कि इस विश्व में न कोई पदार्थ केवल जीव है और न केवल अजीव, अपितु जीव और अजीव की अपेक्षा से जीव-अजीव है। वस्तुतः विश्व के सभी पदार्थ जीव और अजीव दो रूपों में विभक्त हैं, इनसे भिन्न इस विश्व में कुछ है ही नहीं।

कर्म-बन्ध और कर्म-भोग

मूल—दुविहे बंधे पण्णत्ते, तं जहा—पेज्जबंधे चेव, दोसबंधे चेव। जीवाणं दोहिं ठाणेहिं पावं कम्मं बंधंति, तं जहा—रागेण चेव, दोसेण चेव। जीवाणं दोहिं ठाणेहिं पावं कम्मं उदीरेंति, तं जहा—अब्भोवगमियाए चेव वेयणाए, उवक्कमियाए चेव वेयणाए। एवं वेदेंति, णिज्जरेंति—अब्भोवगमियाए चेव वेयणाए, उवक्कमियाए चेव वेयणाए॥ ६२॥

छाया—द्विविधो बन्धः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रेमबन्धश्चैव, द्वेषबन्धश्चैव। जीवाः खलु द्वाभ्यां स्थानाभ्यां पापं कर्म बध्नन्ति, तद्यथा—रागेण चैव, द्वेषेण चैव। जीवाः खलु द्वाभ्यां स्थानाभ्यां पापं कर्मोदीरयन्ति, तद्यथा—आभ्युपगमिक्या चैव वेदनया, औपक्रमिक्या चैव वेदनया। एवं वेदयन्ति, एवं निर्जरयन्ति—आभ्युपगमिक्या चैव वेदनया, औपक्रमिक्या चैव वेदनया।

शब्दार्थ—दुविहे बंधे पण्णत्ते, तं जहा—बन्धन दो प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—**पेज्जबंधे चेव**—राग-बन्ध और, **दोसबंधे चेव**—द्वेष-बन्ध, **जीवा**—जीव, **णं**—वाक्यालंकार में, **दोहिं ठाणेहिं**—दो स्थानों से, **पावं कम्मं बंधंति**—पाप कर्म का बन्ध करते हैं, **तं जहा**—जैसे, **रागेण चेव, दोसेण चेव**—राग से और द्वेष से, **जीवाणं**—जीव, **दोहिं ठाणेहिं**—दो स्थानों से, **पावं कम्मं उदीरेंति**—पाप-कर्म की उदीरणा करते हैं, **तं जहा**—जैसे, **अब्भोवगमियाए चेव वेदणाए**—स्ववश वेदना से और, **उवक्कमियाए चेव**

वेयणाए—कर्म के स्वयमेव उदय होने से, **एवं**—इसी तरह, **वेदेंति**—उदयप्राप्त कर्मों का वेदन करते हैं, **णिज्जरेंति**—निर्जरा करते हैं, **अब्भोवगमियाए चेव वेयणाए**—आभ्यौपगमिकी वेदना से और, **उवक्कमियाए चेव वेयणाए**—औपक्रमिकी वेदना से।

मूलार्थ—दो प्रकार का बन्धन प्रतिपादन किया गया है, जैसे—राग-बन्ध और द्वेष-बन्ध। जीव-आत्माएं दो कारणों से कर्मों का बन्धन करती हैं, जैसे—राग से और द्वेष से। जीव दो प्रकार से पापकर्म की उदीरणा करते हैं, जैसे—स्ववश से और पापकर्म के स्वयं उदय होने से। ऐसे ही आभ्यौपगमिकी और औपक्रमिकी वेदना से पापकर्म का वेदन और निर्जरण करते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में जीव-राशि और अजीव-राशि का उल्लेख किया गया है। बद्ध और मुक्त दोनों प्रकार के जीवों का अन्तर्भाव जीवराशि में हो जाता है। इस सूत्र में बद्ध जीवों के बन्ध का वर्णन किया गया है।

समस्त जीवों के दो रूप हैं—जैसे कि बद्ध जीव और मुक्त जीव। प्रस्तुत सूत्र में बद्ध जीवों का निरूपण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि कर्मबन्ध के मूलतः दो कारण हैं—प्रेम अर्थात् राग और द्वेष। इन्हें कर्मबीज भी कहा जाता है। माया और लोभ ये राग के दो पहलू हैं और क्रोध तथा मान द्वेष के दो रूप हैं। इन दोनों में अन्य सभी कषायों का अन्तर्भाव हो जाता है। और तो क्या नोकषाय के नौ भेद भी राग-द्वेष के बाहर नहीं माने जा सकते हैं।

केवल योगनिमित्त से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध ही हो सकता है, किन्तु स्थितिबन्ध और अनुभावबन्ध कषाय के निमित्त से ही होते हैं। इसी कारण सूत्रकार ने माना है, कि—समस्त संसारी जीव राग-द्वेष के कारण से पाप-कर्म का बन्ध करते हैं। जब जीव क्रोध या मान में परिणत होता है, तब उस मलिन परिणाम को द्वेष कहते हैं और जब वह माया या लोभ में परिणत होता है, तब उस मलिनभाव को राग कहते हैं। सूत्र में ''पेज्जबंधे'' पद है। इसके संस्कृत में 'प्रेम-बन्ध' और 'प्रेयस्-बन्ध' ये दो रूप बनते हैं। प्रेम दो प्रकार का होता है—एक प्रशस्त और दूसरा अप्रशस्त। प्रशस्त प्रेम के विषय में आगमों के अनेक स्थलों में प्रेम शब्द का उल्लेख पाया जाता है, जैसे कि—

''इणमेव निग्गंथे पावयणे निस्संकिया, निक्कंखिया, निव्वितिगिच्छा, लद्धट्ठा, गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, विणिच्छियट्ठा, अभिगयट्ठा, अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ता''

—सूय॰ श्रुत॰ २, अ॰ २। भगवती सूत्र श॰ ३।

उक्त पाठ में जो विशेषण दिए गए हैं, ये सब तद्युगीन या अन्य युगीन श्रमणोपासकों के हैं। उनकी हड्डी के अन्तर्गत मिंजी भी धर्मप्रेम—धर्मानुराग से अनुरंजित थी। यहां सूत्रकर्त्ता ने प्रेम और अनुराग को प्रशस्त सिद्ध किया है, किन्तु दूसरी ओर अप्रशस्त होने से इसे कर्मबन्ध का मुख्य कारण भी बतलाया है। वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—

"प्रेम्णः—प्रेमलक्षणचित्तविकारसम्पादकमोहनीयकर्मपुद्गलराशेर्बन्धने-जीव-प्रदेशेषु योगप्रत्ययतः प्रकृतिरूपतया प्रदेशरूपतया च सम्बन्धनं तथा कषायप्रत्ययतः स्थित्यनुभागविशेषापादाने च प्रेमबन्धः।"

प्रेम चित्त में विकार उत्पन्न करने वाला और कर्मवर्गणा की पुद्गल-राशि से आत्मा को बांधने वाला है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रेम प्रशस्त भी होता है और अप्रशस्त भी। सम्यक्श्रद्धा होने पर जो आत्मा में धर्म के प्रति रुचि या लगन होती है, उसे प्रशस्त प्रेम कहते हैं और जिस प्रेम के कारण माया तथा लोभ के विचार जागृत होते हैं उसे अप्रशस्त प्रेम कहते हैं। अतः साधक को इस तरह के प्रेम और द्वेष से स्वयं को सुरक्षित रखना चाहिए।

पहले गुणस्थान से लेकर दसवे गुणस्थान तक कषायों का यत्किंचिद् उदय होने से कर्मबन्ध होता ही रहता है, किन्तु ग्यारहवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान में अशुभ कर्मबन्ध नहीं होता, केवल सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है, वह भी पहले समय में बंधता है, दूसरे समय में भोगा जाता है और तीसरे समय में उसकी निर्जरा हो जाती है। क्योंकि—उन गुणस्थानों में योग-प्रत्यय से ही कर्मबन्ध होता है, अतः यहां उनकी विवक्षा नहीं की गई, कारण कि उनका बन्ध सामयिक होने से नहीं जैसा ही होता है।

सूत्रकर्ता ने जो यह कहा है कि—"**जीवा णं दोहिं ठाणेहिं पावं कम्मं बंधंति, तंजहा—रागेण चेव दोसेण चेव**" इसका कारण यह है कि कषाय ही स्थितिबन्ध और अनुभावबन्ध में मुख्य कारण हैं। यह कथन कषायों की प्रधानता दिखाने के लिए किया गया है। यद्यपि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये सब बन्ध के कारण प्रतिपादन किए गए हैं, तथापि कषायों की प्रधानता दिखलाना ही सूत्रकार का मुख्योद्देश्य रहा है, क्योंकि कहा भी है—

को दुक्खं पावेज्जा? कस्स व सोक्खेहिं विम्हओ होज्जा?
को वा न लहेज्ज मोक्खं, राग दोसा जइ न होज्जा॥

अर्थात् यदि राग-द्वेष का सर्वथा अभाव हो जाता तो कौन दुःख प्राप्त करता? कोई नहीं। किसको सुखों से विस्मय होता? किसी को नहीं। कौन मोक्ष प्राप्त न करता? अर्थात् सब करते। वास्तव में देखा जाए तो जहां मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय हैं वहां नियमेन राग-द्वेष विद्यमान होते हैं। इसी कारण इनको कर्मबीज कहा गया है। सूत्र में उदीरणा, उदय, वेदना और निर्जरा शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, इनके अर्थ निम्नलिखित हैं—

उदीरणा—कर्मों के फल-भोग का समय आने से पहले ही उन्हें भोग लेना अर्थात् कर्मदलिकों को प्रयत्न विशेष से खींचकर नियत समय के पहले ही उनके शुभाशुभ फलों को भोगना उदीरणा है। जैसे कि—केशलोच, तपश्चर्या, कायोत्सर्ग आदि कष्टों से वेदना का उदय करना उदीरणा ही है। इसे आभ्युपगमिकी वेदना भी कहते हैं। उदीरणा उन्हीं कर्मों की

हो सकती है जो उदय होने के योग्य हो रहे हैं, जैसे कि आम्र आदि जो फल पकने को तैयार हो, उसी को प्रयत्न विशेष से शीघ्र रसयुक्त बनाया जा सकता है, किन्तु जो फल बिल्कुल ही कच्चा हो, उसे घास-फूस में रखने से वह सड़-गल जाता है, परन्तु परिपक्व नहीं होता। ठीक इसी प्रकार उदीरणा के विषय में भी जानना चाहिए। उदीरणा के विषय में आगमकार कहते हैं—

तं किं उदिण्णं उदीरेइ, अणुदिण्णं उदीरेइ, अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ, उदयाणंतरं पच्छाकडं कम्मं उदीरेइ? गोयमा! नो उदिण्णं उदीरेइ, नो अणुदिण्णं उदीरेइ, उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ, नो उदयाणंतरं पच्छाकडं कम्मं उदीरेइ—

—भगवती सू० श० १, उ० ३

अर्थात्—गौतम स्वामी ने भगवान महावीर स्वामी से उदीरणा के विषय में अनेक प्रकार के प्रश्न किए हैं, जैसे कि—

भगवन्! जीव उदीयमान कर्मों की उदीरणा करता है? अथवा जो कर्म उदय के योग्य नहीं हुए हैं, उनकी उदीरणा करता है? अथवा जो उदय तो नहीं हुए, किन्तु उदय होने के योग्य हो रहे हैं, उनकी उदीरणा करता है, अथवा जो उदय हो चुके हैं उनकी उदीरणा करता है?

उत्तर में भगवान ने कहा—गौतम! उदय की उदीरणा नहीं होती, उदय में नहीं आए हुए उपशान्त कर्मों की भी उदीरणा नहीं होती, जो उदय तो नहीं हुए हैं, किन्तु उदय होने वाले हैं उन्ही कर्मों की उदीरणा होती है। उदय के अनन्तर की भी उदीरणा नहीं हो सकती।

उपक्रम से भी कर्मों की उदीरणा होती है, ऐसा उक्त सूत्र से स्पष्ट सिद्ध होता है। वृत्तिकार भी वृत्ति करते हुए लिखते हैं—

"उदीरयन्ति—अप्राप्तावसरं सदुदये प्रवेशयन्ति, अभ्युपगमेन अङ्गीकरणेन निर्वृत्ता तत्र वा भवा आभ्युपगमिकी तथा शिरोलोचतपश्चरणादिकया वेदनया—पीडया, उपक्रमेण—कर्मोदीरणकारणेन निर्वृत्ता तत्र वा भवा औपक्रमिकी तया ज्वराती-सारादिजन्या।"

इस से सिद्ध हुआ कि आत्मा कर्मों की उदीरणा करके आभ्युपगमिकी वेदना से तथा औपक्रमिकी वेदना से फल भोगता है। स्वाभाविक क्रम से उदित होने वाले कर्मों के फल-भोग को औपक्रमिकी वेदना अर्थात् स्वाभाविक अनुभूति कहा जाता है और परीषह-उपसर्ग एवं तप आदि के द्वारा समभाव पूर्वक जीवन में लाई गई जो सुख-दुख की अनुभूति होती है, उसे आभ्युपगमिकी वेदना कहा जाता है। यदि भावना क्षान्ति आदि सद्गुणों से मंगलरूप हो जाए तो वह कर्म-बन्धन का कारण नहीं हो सकता।

उदय—फलदान का समय आने पर कर्मों के द्वारा शुभ-अशुभ फल का दिया जाना उदय कहलाता है। उदयावस्था में परवशता से कर्मों का भोग होता है। उसमें सहिष्णुता—

समता आदि से कर्मों का केवल वेदन ही हो सकता है, बन्ध नहीं। अन्यथा बन्ध का होना अनिवार्य है।

निर्जरा—कर्म का नोकर्म के रूप में परिणत होकर उनका अलग हो जाना ही निर्जरा है। वह दो प्रकार की होती है, जैसे कि सकाम-निर्जरा और अकाम-निर्जरा। अकाम-निर्जरा तो सहज स्वभाव से क्षण-क्षण में होती रहती है, वह मोक्ष का कारण नही है। सकाम निर्जरा ही धर्म एवं मोक्ष का कारण है, वह संवरपूर्वक ही होती है।

आत्मा द्वारा शरीर का त्याग

मूल—दोहिं ठाणेहिं आया सरीरं फुसित्ताणं णिज्जाति, तं जहा—देसेणवि आया सरीरं फुसित्ताणं णिज्जाति, सव्वेणावि आया सरीरगं फुसित्ताणं णिज्जाति। एवं फुरित्ताणं, एवं फुडित्ता, एवं संवट्टइत्ता, एवं निव्वट्टइत्ता॥ ६३॥

छाया—द्वाभ्यां स्थानाभ्यामात्मा शरीरं स्पृष्ट्वा निर्याति, तद्यथा— देशेनापि आत्मा शरीरं स्पृष्ट्वा निर्याति, सर्वेणापि आत्मा शरीरं स्पृष्ट्वा निर्याति। एवं स्फोटयित्वा, एवं स्फुटित्वा, एवं संवर्त्य, एवं निवर्त्य।

पदार्थ—आया—आत्मा, **दोहिं ठाणेहिं**—दो स्थानों से, **सरीरं फुसित्ताणं**—शरीर को स्पर्श कर, **णिज्जाति**—निकलता है, **तं जहा**—जैसे, **देसेणवि आया सरीरं फुसित्ताणं णिज्जाति**—देश से भी आत्मा शरीर को स्पर्श करके निकलता है, **सव्वेणावि आया सरीरगं फुसित्ताणं णिज्जाति**—सर्वात्मना भी जीव शरीर को स्पर्श करके निकलता है, **एवं**—इसी तरह, **फुरित्ताणं**—सस्पन्दन होकर, **एवं**—इसी तरह, **फुडित्ता**—स्फुरण करके,, **एवं**—इसी तरह, **संवट्टइत्ता**—संकोच करके, **एवं**—ऐसे ही, **निव्वट्टइत्ता**—जीव प्रदेशों से शरीर को पृथक् कर आत्म-प्रदेश निकलते है।

मूलार्थ—आत्मा दो स्थानों से शरीर को स्पर्श कर बाहिर निकलता है, जैसे—देश से भी शरीर को स्पर्श कर निकलता है और सर्वात्मना भी शरीर को स्पर्श कर निकलता है। इसी तरह स्पन्दन करके, स्फुरण करके, संकोच करके एवं इसी प्रकार निवर्त्तन करके भी आत्मा शरीर से पृथक् होता है।

विवेचनिका—कर्मों की निर्जरा होने पर देश रूप से या सर्व रूप से भवान्तर में जाते समय या सिद्धत्व प्राप्त करते समय जीव का शरीर से निर्गमन कैसे होता है? इसका निरूपण प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।

स्थूल शरीर का परित्याग कर जब आत्मा भवान्तर में जाता है, उस शरीर-परिवर्तन को मरण कहा जाता है, किन्तु जब आत्मा तैजस और कार्मण शरीर से अलग होता है तब उसे मोक्ष कहते हैं, मृत्यु नहीं। प्रस्तुत सूत्र में यह सिद्ध किया गया है, कि जब आत्मा शरीर से

निकलता है, तब वह शरीर से अंश रूप में भी निकलता है और सर्वांश रूप से भी निकला करता है। शरीर में आत्मा का निवास आयु की अवधि के अनुसार होता है। आयु समाप्त होने के पश्चात् वह शरीर में निवास नहीं कर सकता, यह एक निश्चित सिद्धांत है।

संसारी जीव जब शरीर से निकलता है, तब उसकी गति दो में से किसी एक प्रकार की होती है, जैसे कि—इलिकागति और कन्दुकगति। इलिका लट नामक एक कीट होता है। वह वृक्ष पर किसी एक पत्ते के किसी एक किनारे पर दृढ़ता से पिछले पांव जमा देता है फिर दूसरे पत्ते पर अगले पांव जमाने का प्रयत्न करता है। उसके अगले पांव जमते ही वह पिछले पत्ते को छोड देता है। ठीक उसी प्रकार जिस स्थान में आत्मा को जन्म लेना होता है, आत्मा के कुछ प्रदेश पहले उस स्थान का स्पर्श करते हैं और फिर आत्मा के अन्य प्रदेश पूर्व शरीर को त्याग कर सर्वांग रूप से उस शरीर में पहुंच जाते हैं। आत्मा की शरीर-त्याग और शरीर-ग्रहण की इसी गति को इलिका-गति कहा जाता है।

जब आत्मा के सभी प्रदेश एक साथ गेंद के समान निकलकर अन्य शरीर में प्रवेश करते हैं अर्थात् बन्दूक की गोली के समान या धनुष से छूटे हुए तीर के समान एक साथ जाते हैं, तो उसे कन्दुकगति कहा जाता है। इसी कारण सूत्र-कर्त्ता ने यह कथन किया है कि देश से भी आत्मा शरीर का स्पर्श करके निकलता है और सर्वात्मना भी शरीर का स्पर्श करके निकलता है। जब इलिकागति से जीव अन्य शरीर को धारण करता है, तब आत्मा के कुछ प्रदेश अन्य प्राप्त होने वाले शरीर का स्पर्श करके ही पूर्व शरीर का त्याग करते हैं और जब आत्मा कन्दुकगति से अन्य शरीर में जाती है, तो उसके सब प्रदेश एक साथ पूर्व शरीर का त्याग और अन्य शरीर का ग्रहण किया करते हैं। संसारी जीव इलिकागति और कन्दुकगति दोनों से पूर्व शरीर का त्याग करते हैं, किन्तु मुक्तात्मा कन्दुकगति से ही शरीर का त्याग किया करते हैं।

सूत्र के फुरित्ता, फुडित्ता, संवट्टइत्ता, निवट्टइत्ता, ये पद विशेष मननीय हैं। इन पदों के मनन करने से सूत्र-पाठ बिल्कुल सरल हो जाता है।

फुरित्ता—इस पद का अर्थ होता है—परिस्पन्दन करके जब आत्मा शरीर के किसी एक अंग को झकझोर कर बाहर निकलता है—तब उसे देशतः परिस्फुरण कहा जाता है और जब आत्मा समस्त शरीर को एक साथ झकझोर कर निकलता है, तब उसे सर्वतः स्फुरण कहा जाता है।

फुडित्ता—इस पद का संस्कृत रूप 'स्फुटित' बनता है। जब जीव शरीर के किसी अंग विशेष को फोड़कर निकलता है, तब देशतः स्फुटित होना कहा जाता है और जब सम्पूर्ण शरीर को फोड़ करके शरीर से आत्मा निकलती है, तब वह सर्वतः स्फुटित होना कहा जाता है।

संवट्टइत्ता—इस पद का अर्थ होता है संकुचित करना। जब महाकाय वाले जीव ने

कीटाणु के रूप में जन्म लेना होता है, तो आत्मा मृत्यु से पूर्व अपने सभी प्रदेशों को संकुचित कर लेता है। जब जीव संकुचित होकर इलिकागति से जन्म स्थान में जाता है, तब देश-संवर्त्तन कहा जाता है और जब वह कन्दुक-गति से शरीर त्यागकर के जाता है, तब वह सर्वत: संवर्त्तन कहलाता है।

निव्वट्टइत्ता—जब आत्मा शरीर से पृथक् होता है, तब उसके दो प्रकार कथन किए गए हैं, जैसे कि—जब औदारिक स्थूल शरीर को छोड़कर तैजस और कार्मण शरीर को लेकर आत्मा अन्य शरीर को धारण करने के लिए जाता है, तब वह शरीर के किसी एक अंग से निकलता है और जब जीव मोक्ष प्राप्त करता है, तब सभी प्रकार के शरीरों से सर्वथा पृथक् हो जाता है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने आत्मा के शरीर-त्याग एवं अन्य शरीर-ग्रहण के समय की सूक्ष्म गति का विश्लेषण किया है।

केवली धर्म-श्रवण का साधन

मूल—दोहिं ठाणेहिं आया केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, तं जहा—खएण चेव, उवसमेण चेव। एवं जाव मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा, तं जहा—खएण चेव, उवसमेण चेव॥६४॥

छाया—द्वाभ्यां स्थानाभ्यामात्मा केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं लभेत् श्रवणतया, तद्यथा—क्षयेण चैव, उपशमेन चैव। एवं यावत् मनःपर्यवज्ञानमुत्पादयेत्, तद्यथा क्षयेण चैव, उपशमेन चैव।

शब्दार्थ—**आया**—आत्मा, **दोहिं ठाणेहिं**—दो स्थानों से, **केवलिपण्णत्तं**—केवलि-प्ररूपित, **धम्मं**—धर्म को, **सवणयाए**—सुनने को, **लभेज्ज**—प्राप्त करे, **तं जहा**—जैसे, **खएण चेव**—क्षय से और, **उवसमेण चेव**—उपशम से, **एवं जाव**—इसी प्रकार, यावत्, **मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा**—मनःपर्यवज्ञान को उत्पादन करे, **तं जहा**—यथा, **खएण चेव**—क्षय से और, **उवसमेण चेव**—उपशम से।

मूलार्थ—आत्मा दो स्थानों से केवली भगवान् द्वारा प्रतिपादित धर्म को सुनने की प्राप्ति कर सकता है, जैसे—क्षय-भाव से और उपशम-भाव से। इसी तरह यावत् क्षायिक भाव से और उपशम भाव से आत्मा मनःपर्यवज्ञान को उत्पन्न कर सकता है।

विवेचनिका—सिद्धत्व प्राप्त करना आत्मविकास की पूर्णता है। परंपरा से उसका प्रारंभ केवलिभाषित धर्म सुनने से होता है। धर्म सुनने का अंतरंग साधन क्या है? इस विषय का स्पष्टीकरण प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में क्षयोपशम-जन्य सद्गुणों का वर्णन किया गया है। क्षयोपशम शब्द दो

शब्दों के संमिश्रण से बनता है, जैसे कि क्षय+उपशम। फल देने के लिए प्रस्तुत कर्मों के क्षय से और फल-आदान के लिए अप्रस्तुत कर्मों के उपशम से आत्मा में सद्गुण व्यक्त होते हैं। कर्मों के क्षय और उपशम करने वाले आत्मा के इस धर्मविशेष को क्षयोपशम कहते हैं। क्षयोपशम चार कर्मों का होता है, जैसे कि—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। जब ये चार कर्म क्षयोपशम भाव में होते हैं, तभी आत्मा केवलिभाषित धर्म सुन सकता है। मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान उत्पादन कर सकता है। सम्यक्त्व, विरताविरत और सर्वविरत ये सब क्षय-उपशम भाव से ही प्राप्त होते हैं, किन्तु केवलज्ञान क्षायिक भाव में ही रहता है, अत: उसका इस सूत्र में वर्णन नहीं किया गया। इससे यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है, कि केवलिभाषित धर्मश्रवण, चार ज्ञान की प्राप्ति, ये सब क्षयोपशम-भाव पर ही अवलम्बित हैं।

सम्यक्त्व, दीक्षित होना, ब्रह्मचर्य का पालन, संयम, संवर, मति आदि ज्ञान क्षयोपशम भाव से ही पैदा होते हैं। इसी कारण सर्व साधारण के लिए सूत्रकर्ता ने क्षयोपशम भाव का निरूपण किया है। उदय-भाव में किसी भी सद्गुण की प्राप्ति नहीं होती। यदि उदय होने से पहले सद्गुण विद्यमान हों तो वे कर्मोदय होने से लुप्त हो जाते हैं।

औदयिक भाव वह है जो उदय से पैदा हो। उदय एक प्रकार की आत्म-परिणामों की कलुषता है। जैसे मल के मिल जाने पर जल मलीन हो जाता है, वैसे ही उदयभाव में आत्म-परिणाम मलिन हो जाते हैं। जैसे कि—मिथ्यात्व, अज्ञान, कषाय और विषय इनके उदय होने पर धर्म-श्रवण की रुचि नहीं रहती और जीवन-प्रमाद से ओतप्रोत हो जाता है।

सूत्रकर्ता ने क्षयोपशम न कह कर क्षय और उपशम को अलग-अलग कहा है। इसका आशय यह है, कि—क्षय से आत्मा का जो विकास होता है, वह आरम्भ होकर अनन्तकाल तक रहता है और उपशम से होने वाला आत्म-विकास अन्तमुहूर्त के लिए ही हो सकता है अर्थात् कुछ काल तक ही रहता है, किन्तु क्षयोपशम भाव की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरोपम से कुछ अधिक है। क्षयोपशम भाव से ही क्षपक-श्रेणि का आरम्भ होता है। क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन और चारित्र ही आगे चलकर क्षायिकभाव में परिणत हो जाते हैं, इसलिए सूत्रकार ने अपेक्षाकृत क्षयोपशम की प्रधानता सिद्ध की है। क्षय और उपशम को अलग-अलग द्विस्थान के अनुरोध से भी रखा गया है, अत: यह पाठ क्षयोपशम का परिचायक है न कि क्षय और उपशम भाव का।

पल्योपम और सागरोपम काल

मूल—दुविहे अद्धोवमिए पण्णत्ते, तं जहा—पलिओवमे चेव, सागरोवमे चेव। से किं तं पलिओवमे? पलिओवमे—

जं जोयणविच्छिन्नं, पल्लं एगाहियप्परूढाणं ।
होज्ज निरंतरणिचितं, भरितं बालग्गकोडीणं ॥
वाससए वाससए, एक्केक्के अवहडंमि जो कालो ।
सो कालो बोद्धव्वो, उवमा एगस्स पल्लस्स ॥
एएसिं पल्लाणं, कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिता ।
तं सागरोवमस्स उ, एगस्स भवे परीमाणं ॥६५॥

छाया—द्विविधे अद्धोपमिके प्रज्ञप्ते, तद्यथा—पल्योपमञ्चैव, सागरोपमञ्चैव। अथ किं तत् पल्योपमम्? पल्योपमम्—

यद्योजनविस्तीर्णं, पल्यमेकाहिकप्ररूढानाम् ।
भवेन्निरन्तरनिचितं, भृतं बालाग्रकोटीनाम् ॥ १ ॥
वर्षशते वर्षशते, एकैकस्मिन्नपहृते यः कालः।
सः कालो बोद्धव्यः, उपमा एकस्य पल्यस्य ॥ २ ॥
एतेषां पल्यानां, कोटाकोटी भवेद्दशगुणिता।
तत्सागरोपमस्य तु, एकस्य भवेत् परिमाणम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—दुविहे अद्धोवमिए पण्णत्ते—अद्धौपमिक दो प्रकार से कथन किया गया है, **तं जहा**—जैसे, **पलिओवमे चेव**—पल्योपम और, **सागरोवमे चेव**—सागरोपम, **से किं तं पलिओवमे?**—वह पल्योपम परिमाण क्या है? **पलिओवमे**—पल्योपम, **एगाहियप्प-रूढाणं**—एक दिन के नवजात युगलियो के बच्चों के, **बालग्गकोडीणं**—बालाग्र-कोटियों से, **जं**—जो, **जोयणविच्छिन्नं**—योजनपरिमाण विस्तीर्ण, **पल्लं**—कूप, **निरंतरणिचितं**—निरन्तर ठूस-ठूंस कर, **भरितं**—भरा हुआ, **होज्ज**—होवे, ऐसे कूए में से, **वाससए वाससए**—सौ-सौ वर्ष के पश्चात्, **एक्केक्के अवहडंमि**—एक-एक बालाग्र को अपहरण करने में, **जो कालो**—जो समय लगे, **सो कालो**—वह काल, **एगस्स पल्लस्स**—एक पल्योपम की, **उवमा**—उपमा, **बोद्धव्वो**—जाननी चाहिए, **एएसिं पल्लाणं**—इन पल्यों की जो, **दसगुणिता**—दस गुणा, **कोडाकोडी हवेज्ज**—कोटाकोटी हो, **तं**—उस कोटाकोटी को, **एगस्स सागरोवमस्स भवे परीमाणं**—एक सागरोपम का परिमाण जानना चाहिए।

मूलार्थ—अद्धोपम का अर्थ है—काल-विशेष। इस के दो रूप हैं—पल्योपम और सागरोपम।

शिष्य ने पूछा—भगवन्! पल्योपम किसे कहते हैं?

गुरु ने उत्तर में कहा—भद्र! एक दिन से लेकर सात दिन के भीतर होने वाले युगलिक बच्चे के सिर के बालों के अति सूक्ष्म टुकड़ों से एक योजन लम्बा-चौड़ा कुआं ठूंस-ठूंस कर भर दिया जाए। पुनः उस भरे हुए कूप में से सौ-सौ वर्ष के

पश्चात् एक-एक बालाग्र निकालने पर, जितने समय में वह कूप रिक्त हो जाए, उतने काल को एक पल्योपम कहा जाता है। शिष्य ने फिर पूछा—भगवन्! सागरोपम क्या है?

उत्तर में गुरु बोले—भद्र! उपरोक्त पल्योपम की कोटाकोटी को दस से गुणा करने में जो काल होता है, उस काल को एक सागरोपम कहा जाता है।

विवेचनिका—विगत सूत्र में क्षय-उपशम का वर्णन किया गया है। उस क्षय-उपशम के अवस्थिति काल का ज्ञान कराने के लिए प्रस्तुत सूत्र में कालभेद की विवेचना की गई है।

क्षायोपशमिक सद्गुणों का आविर्भाव या अवस्थान उत्कृष्ट असंख्यातकाल पर्यन्त रहता है। प्रस्तुत सूत्र में पल्योपम और सागरोपम प्रमाण काल का वर्णन किया गया है। जिस का मान गणना से नहीं, उपमा से ही जाना जा सकता है, उस काल को अद्धौपमिक काल कहते हैं। वह काल पल्योपम और सागरोपम दो प्रकार का है। उत्सेधांगुल (भगवान् महावीर का आधा अंगुल) परिमाण से एक योजन लम्बे-चौड़े और गहरे कुएं को सात दिन की आयु वाले बालक के बालाग्र के असख्य खण्डों से यदि ठूंस-ठूंस कर इतना भर दिया जाए—वे खण्ड इतने निविड हो जाएं कि प्रबल तूफान आने पर भी कोई खण्ड उड़ने न पाए। उस कूप में से सौ-सौ वर्ष के पश्चात् यदि एक-एक खण्ड निकाला जाए, इस प्रकार कुएं को खाली करने में जितना समय लगता है, उतने समय को अद्धापल्योपम काल कहते हैं। अद्धापल्योपम को दस कोटि-कोटि गुणा करने से अथवा दस कोटि-कोटि पल्योपम का एक अद्धा सागरोपम होता है। इनके द्वारा कर्म-स्थिति, नारकी आदि चार गतियों वाले जीवों की आयु, भवस्थिति, कायस्थिति आदि का परिमाण जाना जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में केवल अद्धापल्योपम और सागरोपम का ही विवरण प्रस्तुत किया गया है, जबकि 'अनुयोग द्वार सूत्र' में उद्धार-पल्योपम और क्षेत्र-पल्योपम का वर्णन और उनके प्रयोजन का भी विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है।

ऐसा पल्य अर्थात् कूप न तो किसी ने बनाया है और न किसी ने बालाग्र के सूक्ष्म खण्डों से उसे भरा ही है, किन्तु लम्बे काल को समझाने के लिए यह कल्पना की गई है। दस कोटाकोटि पल्यों का एक सागर और दस कोटाकोटि सागरोपम का एक अवसर्पिणी काल होता है और उतना ही काल उत्सर्पिणी का भी हुआ करता है।

बीस करोड़ाकरोड सागरोपम का एक कालचक्र होता है और अनन्त कालचक्रों से एक पुद्गल-परावर्तन होता है। प्रत्येक जीव ने अतीत में अनन्तानन्त पुद्गल-परावर्तन किए हैं। भविष्य में किसी का एक पुद्गल-परावर्तन शेष रहता है, किसी के दो-तीन और कितनों के संख्यात-असंख्यात और अनन्त भी शेष हैं अर्थात् इतनी लम्बी यात्रा कृष्णपक्षी जीवों की ही शेष रहती है। शुक्लपक्षी जीव भी अनन्त हैं, किन्तु उन की क्रमशः संसार-यात्रा

बहुत थोड़ी रह जाती है। जिनकी काल-लब्धि क्रमशः समाप्त होती जाती है, वे ही उत्तरोत्तर विशुद्ध होकर चरमशरीरी बनते हैं। चरमशरीरी मनुष्य ही कैवल्य प्राप्त कर सिद्धत्व प्राप्त करते हैं। काल-लब्धि के अनुसार जीव कृष्णपक्ष से शुक्लपक्षी बनते हैं, शुक्लपक्षी से सम्यग्दृष्टि, सम्यग्दृष्टि से विरति, विरति से केवली और केवली से सिद्ध-पद को प्राप्त करते हैं।

क्रोध आदि पापों के दो रूप

मूल—दुविहे कोहे पण्णत्ते, तं जहा—आयपइट्ठिए चेव, परपइट्ठिए चेव। एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। एवं जाव मिच्छादंसणसल्ले ॥ ६६॥

छाया—द्विविधः क्रोधः प्रज्ञप्तः तद्यथा—आत्मप्रतिष्ठितश्चैव, परप्रतिष्ठितश्चैव। एवं नारकादीनां यावत् वैमानिकानाम्। एवं यावत् मिथ्यादर्शनशल्यम्।

शब्दार्थ—दुविहे कोहे पण्णत्ते—दो प्रकार का क्रोध कथन किया गया है, **तं जहा**—यथा, **आयपइट्ठिए चेव**—आत्मप्रतिष्ठित और, **परपइट्ठिए चेव**—परप्रतिष्ठित, **एवं**—इसी प्रकार, **नेरइयाणं**—नैरयिकादि प्राणियों का, **जाव**—यावत्, **मिच्छादंसणसल्ले**—मिथ्यादर्शनशल्य कथन किया गया है।

मूलार्थ—दो प्रकार का क्रोध कथन किया गया है, जैसे—एक आत्म-प्रतिष्ठित और दूसरा पर-प्रतिष्ठित। इसी तरह नारकादिक जीवों का भी क्रोध दो प्रकार का कहा गया है, वैमानिक देवों तक का क्रोध इसी भांति समझना चाहिए। इसी तरह मिथ्या-दर्शन-शल्य के विषय में भी कहा गया है।

विवेचनिका—पल्योपम और सागरोपम आदि काल तक नरक आदि में अवस्थिति क्रोधादि पापों के ही कारण होती है, अतः अब क्रोध का विवेचन किया गया है।

क्रोध—

क्रोध आदि के कारण ही कर्मों का स्थितिबन्ध होता है। क्रोध के दो भेद कथन किए गए हैं, जैसे कि—स्व-प्रतिष्ठित और पर-प्रतिष्ठित। क्रोध एक प्रकार का दावानल है जो दो निमित्तों से भड़कता है—एक अपने निमित्त से—भूल से, अज्ञान से, बिना उपयोग से, विवेक एव सभ्यता के न होने से और हानि हो जाना इत्यादि अनेक कारणों से जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसे आत्म-प्रतिष्ठित क्रोध कहते हैं।

जो क्रोध पर-निमित्त से होता है, जैसे कि किसी से ठोकर या टक्कर लगने से, दुर्वचन सुनने से, धर्मविरुद्ध क्रिया से, किसी के अपराध से, आज्ञाविरुद्ध चलने से, किसी के द्वारा हानि पहुंचाने से जीव भड़क उठता है, उसी भडकन को पर-प्रतिष्ठित क्रोध कहा जाता है।

मान—

जो विशिष्ट जाति, कुल, रूप, बल, ऐश्वर्य, ज्ञान, लाभ, नीरोगता आदि से अभिमान

होता है, उसे आत्म-प्रतिष्ठित मान कहते हैं और जो चल एवं अचल सम्पत्ति के द्वारा सुयोग्य परिवार एवं राज-सत्ता के द्वारा अभिमान होता है, वह पर-प्रतिष्ठित मान कहलाता है।

माया—

अपने दोषों व बुराइयों को छुपाना आत्म-प्रतिष्ठित माया है और दूसरों की आंखों में कपट की धूल झोंक कर धन-माल आदि हथियाना पर-प्रतिष्ठित माया है।

किसी को बिना हानि पहुंचाए तृष्णावश वस्तुओं का संग्रह करना या केवल इच्छा मात्र से लाभ का होना आत्म-प्रतिष्ठित लोभ कहलाता है और शोषणवृत्ति से, किसी के द्वारा किए जाने से, परिवार के निमित्त से, सम्बन्धियों के निमित्त से जो लोभ उत्पन्न होता है, वह पर-प्रतिष्ठित लोभ हुआ करता है। इसी प्रकार अठारह तरह के पाप जब अपने ही निमित्त से किए जाते हैं तब वे आत्म प्रतिष्ठित और जब किसी अन्य के निमित्त से किए जाते हैं तब उन्हें पर-प्रतिष्ठित कहते हैं। नारकी जीवों से लेकर वैमानिक देवों पर्यन्त २४ दण्डकों में निवास करने वाली आत्माओं के क्रोध आदि के दो रूप हैं।

प्रश्न हो सकता है कि एकेन्द्रिय आदि असंज्ञी जीवों के द्रव्य मन के अभाव होने पर उनमें आत्म-प्रतिष्ठित क्रोध आदि पाप कैसे माने जा सकते हैं ? उत्तर में कहा जा सकता है कि वृक्ष आदि असंज्ञी जीवों में भी पूर्व-जन्मों के संस्कारों से स्व-प्रतिष्ठित एवं पर-प्रतिष्ठित क्रोध आदि पापभाव जागृत होते हैं, किन्तु वे दृष्टिगोचर नहीं होते। चींटी आदि असंज्ञी जीवों में इनका सामान्य रूप से उदय देखा भी जा सकता है, क्योंकि चींटी आदि जीव क्रोध आने पर ही काटते हैं, अन्यथा नहीं।

बद्ध एवं मुक्त जीव

मूल—दुविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा—तसा चेव, थावरा चेव।

दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—सिद्धा चेव, असिद्धा चेव।

दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—सइंदिया चेव, अणिंदिया चेव।

एवं एसा गाहा फासेयव्वा जाव ससरीरी चेव, असरीरी चेव—

सिद्धसइंदियकाए, जोगे वेए कसाय लेसा य।
णाणुवओगाहारे, भासग चरिमे य ससरीरी ॥ ६७॥

छाया—द्विविधाः संसारसमापन्नकाः जीवाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—त्रसाश्चैव, स्थावराश्चैव।

द्विविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सिद्धाश्चैव, असिद्धाश्चैव।

द्विविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सेन्द्रियाश्चैव, अनिन्द्रियाश्चैव। एवमेषा

गाथा स्पर्शनीया यावत् सशरीरिणश्चैव, अशरीरिणश्चैव—

सिद्ध-सेन्द्रिय-कायः, योगो वेदः कषायो लेश्या च।
ज्ञानोपयोगाहारकः, भाषकश्चरिमश्च सशरीरी॥१॥

शब्दार्थ—संसारसमावण्णगा जीवा—संसारसमापन्नक जीव, **दुविहा**—दो प्रकार के, **पण्णत्ता, तं जहा**—प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे, **तसा चेव, थावरा चेव**—त्रस और स्थावर, **सव्वजीवा**—सभी जीव, **दुविहा**—दो प्रकार के, **पण्णत्ता, तं जहा**—प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे, **सिद्धा चेव, असिद्धा चेव**—सिद्ध और असिद्ध, **एवं**—इस तरह, **एसा गाहा**—यह गाथा, **फासेयव्वा**—स्पर्श करनी चाहिए, **जाव**—यावत्, **ससरीरी चेव, असरीरी चेव**—सशरीरी और अशरीरी। **सिद्ध**—सिद्ध, **सइंदिय**—सेन्द्रिय, **काए**—काय, **जोगे**—योग, **वेए**—वेद, **कसाय**—कषाय, **य**—और, **लेसा**—लेश्या, **णाणुवओगाहारे**—ज्ञान, उपयोग, आहारक, **भासग**—भाषक, **चरिमे**—चरिम, **य**—और, **ससरीरी**—सशरीरी।

मूलार्थ—संसार में स्थित जीव दो प्रकार के कथन किए गए हैं, यथा—त्रस और स्थावर। दो प्रकार के सब जीव कथन किए गए हैं, जैसे—सिद्ध और असिद्ध। दो प्रकार के सब जीव कथन किए गए हैं, जैसे—सेन्द्रिय और अनिन्द्रिय। एवं गाथानुसार स्पर्श करना चाहिए, यावत् सशरीरी और अशरीरी यथा—

सिद्ध, सेन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, ज्ञान, उपयोग, आहारक, भाषक, चरिम और सशरीरी।

विवेचनिका—क्रोधादि पापों से 'निमित्त' और 'प्रवृत्ति' के आधार पर जीव जिन योनियों में जन्म लेता है, अब उनका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

तेरह रूपो मे सब जीवों का वर्णन किया गया है। सब तत्त्वों में जीव की प्रधानता है, इसी कारण नव तत्त्वों मे सबसे पहला तत्त्व जीव है। उसके होने पर ही लौकिक एवं अलौकिक व्यवहार चलते हैं। ससार में जितने भी जीव है, वे सब दो भागो मे विभक्त हैं, जैसे—त्रस और स्थावर।

(१-क) **त्रस**—त्रस-नाम-कर्म का उदय होने पर अपनी इच्छा से गमन एवं विश्राम आदि क्रियाएं करने वाले जीव त्रस कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव त्रसवर्गीय जीव हैं। नारकी, मनुष्य और देव भी त्रस वर्ग में ही आते हैं। यद्यपि कुछ आगमों में तेजस्काय और वायुकाय जीवों को भी त्रस माना गया है, परन्तु वह कथन गति की अपेक्षा से समझना चाहिए, न कि त्रस-नाम-कर्मोदय की अपेक्षा से।

(१-ख) **स्थावर**—जो जीव स्वेच्छया गमनागमन न कर सकें—जिनके स्थावर-नाम-कर्म उदय हुआ है, वे जीव ही इस कोटि में माने गए हैं, जैसे कि—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति ये सब स्थावर जीव हैं।

(२-क) **सिद्ध**—सर्व कर्मों का क्षय करके जन्म-मरण रूप संसार से सर्वथा मुक्त

आत्माओं को सिद्ध कहा जाता है—निरुपाधिक ब्रह्म, परमात्मा और मुक्तात्मा ये सब सिद्धों के ही नाम हैं। सिद्धत्व की दृष्टि से सभी सिद्ध एक हैं, किन्तु संख्या की दृष्टि से सिद्ध अनन्त हैं।

(२-ख) **असिद्ध**—सिद्धो के अतिरिक्त शेष सभी ससारी जीव असिद्ध हैं, वे सिद्धो की अपेक्षा से अनन्तानन्त हैं। नैरयिक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति मे जितने भी जीव हैं, वे सब असिद्ध कहलाते हैं।

(३-क) **स-इन्द्रिय**—विषय का ज्ञान करने वाले नाक-कान आदि शरीर के अंगों को इन्द्रिय कहा जाता है। केवल स्पर्शनेन्द्रिय वाले एकेन्द्रिय और स्पर्शन तथा रसना नामक दो इन्द्रियों वाले जीव द्वीन्द्रिय कहलाते हैं। स्पर्शन, रसना और घ्राण इन तीन इन्द्रियों वाले जीव त्रीन्द्रिय और स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा चक्षु इन चार इन्द्रियों वाले जीव चतुरिन्द्रिय कहलाते हैं और स्पर्शन आदि चार इन्द्रियो तथा श्रोत्र नामक पाचवीं इन्द्रिय से युक्त जीव पचेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं।

(३-ख) **अनिन्द्रिय**—जो जीव इन्द्रियों से रहित हैं, उन्हे अनिन्द्रिय जीव कहते हैं। सिद्ध भगवान तो अनिन्द्रिय हैं ही, जन्मान्तर मे जाते हुए जीव तथा आहार-पर्याप्ति और शरीर-पर्याप्ति से अपर्याप्त जीव भी अपेक्षाकृत अनिन्द्रिय ही होते हैं। जीवन्मुक्त केवली द्रव्येन्द्रियां होने पर भी अनिन्द्रिय कहलाते हैं, क्योंकि आत्मदर्शी सर्वज्ञ होने के कारण वे इन्द्रियों से काम नहीं लेते, क्योंकि इन्द्रिय-ज्ञान सीमित होता है और केवलियो का ज्ञान निःसीम होता है, इसलिए वे अनिन्द्रिय ही होते है। इन्द्रिय-ज्ञान क्षायोपशमिक होता है, वह भाव केवली में नही होता। केवली मे क्षायिक भाव होता है। क्षायिक भाव मे सभी गुण निःसीम होते हैं।

(४-क) **सकाय**—काय शब्द का अर्थ है—राशि अथवा समूह। शरीर नामकर्म के उदय होने पर औदारिक एवं वैक्रिय पुद्‌गलों के समूह से निर्मित्त द्रव्यविशेष को काय कहते हैं। काय के भेद से जीव छः प्रकार के है—जिन जीवो का शरीर पृथ्वी रूप है, वे पृथ्वीकाय। जिन जीवों का शरीर जलरूप है, वे अप्काय। जिन जीवों का शरीर अग्नि तथा विद्युत् रूप है, वे तेजस्काय। जिन का शरीर वायुरूप है, वे वायुकाय। जिन जीवों का शरीर वनस्पति रूप है, वे वनस्पतिकाय कहलाते हैं। ये सब स्थावर जीव एक स्पर्शनेन्द्रिय वाले होने के कारण एकेन्द्रिय कहलाते हैं। चलने फिरने वाले सभी जीव त्रसकाय माने गए हैं। संसार के सभी प्राणी छः कायों में अन्तर्निहित हो जाते हैं।

(४-ख) **अकाय**—जो जीव छः काया से सर्वथा रहित हैं, वे अकायिक हैं। सिद्ध भगवान काय से सर्वथा रहित होते हैं।

(५-क) **सयोगी**—योग का अर्थ है—आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन करने वाली शक्ति।

यह परिस्पन्दन वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम या क्षय से उत्पन्न होता है। इस शक्ति को कार्यान्वित करना ही योग है। इस में वीर्यात्मा कारण है और योगात्मा कार्य है। यह शक्ति मनोयोग, वचन-योग और काय-योग के रूप में व्यक्त होती है। जीव पहले गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त सभी सयोगी होते हैं।

(५-ख) **अयोगी**—जो मन, वचन और काय नामक योगों से रहित हैं, वे अयोगी कहलाते हैं। चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव और सिद्ध भगवान अयोगी ही होते हैं। जब आत्म-प्रदेशों में परिस्पन्दन न होने से आत्मा निष्पन्द हो जाता है तब जीव की उस अवस्था को अयोगी कहते हैं।

(६-क) **सवेदी**—मैथुन करने की अभिलाषा को वेद कहते हैं। यह अभिलाषा नोकषाय मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होती है। जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा होती है, उसे स्त्री-वेद कहते हैं। जिस कर्म के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा होती है, वह पुरुष-वेद कहलाता है। जिस कर्म के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ रमण करने की इच्छा होती है, उसे नपुंसक-वेद कहते हैं। ससारी जीव तीनों वेदों से युक्त हैं, अतः सभी ससारी जीव सवेदी कहलाते हैं।

(६-ख) **अवेदी**—सिद्ध भगवान अवेदी होते हैं और नौवें गुणस्थान से लेकर अन्तिम छः गुणस्थानों में रहने वाले जीव भी अवेदी कहलाते हैं।

(७-क) **सकषाय**—संसारी जीवों को कर्म-बन्ध में बांधने वाले कलुषित तत्त्व को कषाय कहा जाता है। कषायों से आत्मा कर्म-मल से आवृत होकर मलिन हो जाता है। क्रोध, मान, माया और लोभ इनको और इनके परिवार को कर्म-बन्ध के और आत्म-मालिन्य के कारण होने से कषाय कहा जाता है। ये कषाय पहले गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक के जीवों में पाए जाते हैं। यहां इतना अवश्य स्मरणीय है कि ये कषाय पूर्व-पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर-उत्तर गुणस्थान मे कम ही कम होते जाते हैं।

(७-ख) **अकषाय**—जिन जीवों के कषाय का उदय नहीं हुआ या जिनके कषाय की सत्ता ही क्षय हो गई है, वे अकषायी कहलाते हैं, जैसे कि—उपशान्तमोह, क्षीण-मोह, सयोगीकेवली, अयोगीकेवली और सिद्ध भगवान् ये सब वीतराग अकषाय होते हैं।

(८-क) **सलेश्यी**—लेश्या भी एक ऐसा तत्त्व है जिससे आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होता है। लेश्याएं छः होती हैं, जैसे कि—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कपोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या। छठे गुणस्थान तक छहों लेश्याएं पाई जाती हैं, सातवें में पिछली तीन लेश्याएं, किन्तु आठवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक एक शुक्ल लेश्या ही पाई जाती है।

(८-ख) **अलेश्यी**—अयोगीकेवली और सिद्ध भगवान् अलेश्यी अर्थात् लेश्याओं से रहित होते हैं।

(९-क) **ज्ञानी**—सम्यग्दृष्टि जीव ही ज्ञानी है। पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानना ही ज्ञान कहलाता है। कर्मक्षय के अमोघ साधनो का ज्ञान हो जाना ही वास्तव मे ज्ञान है। यह ज्ञान सम्यग्दर्शन होने पर ही होता है। विवेक का दूसरा नाम सम्यग्दर्शन है। चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक सभी जीव ज्ञानी हैं और सिद्ध भगवान् तो केवल ज्ञानी ही होते है।

(९-ख) **अज्ञानी**—अयथार्थरूप से जानना ही अज्ञान है। अज्ञान का भाव मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि में ही पाया जाता है। कर्मबन्ध के कारण को न जानना ही अज्ञान है। अविवेक और अज्ञान का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। यह दोनों एक दूसरे के पूरक—पोषक हैं। अज्ञान से युक्त जीव को अज्ञानी कहा जाता है।

(१०-क) **साकार-उपयोगी**—जो उपयोग पदार्थों के विशेष धर्मों का अर्थात् जाति, गुण, क्रिया आदि का ग्रहण करने वाला है उसे साकारोपयोग कहते हैं। पांच ज्ञानों में से एक काल में एक ही ज्ञान में और तीन अज्ञानो मे से एक काल मे किसी एक अज्ञान मे ही उपयोग का होना साकारोपयोग कहलाता है और साकारोपयोग वाले जीव को साकारोपयोगी कहा जाएगा।

(१०-ख) **अनाकार-उपयोगी**—जो उपयोग पदार्थों के सामान्य धर्म को अर्थात् केवल सत्ता को ग्रहण करता है, उसे अनाकार या निराकार उपयोग कहते हैं। जब सामान्य का ज्ञान होता है तब दर्शन और जब विशेषांश का ज्ञान होता है तब साकारोपयोग कहलाता है। चाक्षुष दर्शन आदि चार उपयोग उक्त उपयोग में ही गर्भित हैं। पांच ज्ञान और चार दर्शन, ये नौ उपयोग सम्यग्दृष्टि में और तीन अज्ञान, केवल दर्शन के सिवाय तीन दर्शन ये छः उपयोग अज्ञानियों में पाए जाते हैं। सिद्धों में और केवली भगवान् में दो उपयोग होते हैं, केवलज्ञान और केवलदर्शन।

(११-क) **आहारक**—जो जीव ओज, लोम प्रक्षेपाहार में से किसी भी प्रकार का आहार करता है अथवा सचित्त, अचित्त और मिश्र इनमें से किसी एक का आहार करता है, वह आहारक कहलाता है।

(११-ख) **अनाहारक**—जो जीव किसी प्रकार का आहार नहीं करता, वह अनाहारक कहलाता है। विग्रहगति-सम्पन्न जीव, केवली-समुद्घात के समय सयोगी-केवली, अयोगी केवली और सिद्धभगवान् अनाहारक होते हैं। शेष सभी संसारी जीव आहारक होते है। अनाहारक दशा मे मनःपर्यवज्ञान, चाक्षुषदर्शन और विभगज्ञान ये तीन उपयोग नहीं पाए जाते हैं।

(१२-क) **भाषक**—भाषा-पर्याप्ति से सम्पन्न जीव अर्थात् बोलने की शक्ति वाले जीव भाषक होते हैं।

(१२-ख) **अभाषक**—एकेन्द्रिय जीव, अपर्याप्त जीव, अयोगी केवली और सिद्ध भगवान् ये सब अभाषक होते हैं।

(१३-क) **चरम**—चरम-शरीरियों के अन्तिम जन्म को चरम-जन्म कहा जाता है और इस अन्तिम जन्म मे जीव भी चरम ही कहलाता है।

(१३-ख) **अचरम**—जिन जीवों ने अभी अनेक जन्म धारण करने हैं, वे सब अचरम कहलाते हैं।

(१४-क) **सशरीरी**—जो जीव शरीर सहित हैं, वे सशरीरी कहलाते हैं।

(१४-ख) **अशरीरी**—सिद्ध भगवान् अशरीरी हैं, अथवा अपेक्षाकृत ससारी जीव भी दो प्रकार के होते हैं—सशरीरी और अशरीरी, जैसे कि—

जीवे णं भंते! गब्भं वक्कममाणे किं ससरीरी वक्कमइ, असरीरी वक्कमइ? गोयमा! सिय ससरीरी वक्कमइ, सिय असरीरी वक्कमइ। से केणट्ठेणं०? गोयमा! ओरालिय वेउव्विय आहारयाइं, पडुच्च असरीरी वक्कमइ, तेयाकम्माइं पडुच्च ससरीरी वक्कमइ। से तेणट्ठेणं गोयमा!० —भगवती सूत्र श० १, उ० ७

इस पाठ का सारांश इतना ही है कि जब आत्मा शरीर से निकलता है तब वह औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरो से अशरीरी होता है और तैजस एवं कार्मण शरीर की अपेक्षा से वह सशरीरी होता है। इसी प्रकार जब वह गर्भ मे प्रविष्ट होता है तब भी वह पूर्वोक्त तीन शरीरो की अपेक्षा अशरीरी और दो की अपेक्षा से सशरीरी होता है।

प्रस्तुत सूत्र मे संसारी और मुक्तात्मा के परस्पर अन्तर कथन किए गए हैं। त्रस, स्थावर, इन्द्रिय-काय आदि सब कर्मों के कारण से ही होते है। सिद्धात्मा कर्मों से सर्वथा रहित होने के कारण निज स्वरूप में निमग्न है। जो आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं वे उनमे पूर्णतया विकसित होते हैं, किन्तु जो वैभाविक गुण हैं उनसे वे सर्वथा रहित होते हैं। इस सूत्र से ये भी ध्वनित होता है कि आत्मा से ही परमात्मा बनता है, परमात्मा से आत्मा नहीं। जो मुक्त हो चुका है वह कालान्तर मे पुन: संसार मे लौटकर नहीं आता। वह मुक्त होने के अनन्तर निज स्वरूप मे ही लीन हो जाता है।

बाल-मरण, पण्डित-मरण

मूल—दो मरणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णो णिच्चं वन्नियाइं, णो णिच्चं कित्तियाइं, णो णिच्चं बुइयाइं, णो णिच्चं पसत्थाइं, णो णिच्चं अब्भणुन्नायाइं भवन्ति, तं जहा—वलयमरणे चेव, वसट्टमरणे चेव। एवं णियाणमरणे चेव, तब्भवमरणे चेव, गिरिपडणे चेव, तरुपडणे चेव। जलप्पवेसे चेव, जलणप्पवेसे चेव। विसभक्खणे चेव, सत्थोवाडणे चेव।

दो मरणाइं जाव णो णिच्चं अब्भणुन्नायाइं भवन्ति, कारणेण पुण अप्पडिकुट्ठाइं, तं जहा—वेहाणसे चेव, गिद्धपट्ठे चेव।

दो मरणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णिच्चं जाव अब्भणुन्नायाइं भवंति, तं जहा—पाओवगमणे चेव, भत्तपच्चक्खाणे चेव।

पाओवगमणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—णीहारिमे चेव, अणीहारिमे चेव णियमं अपडिक्कमे।

भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—णीहारिमे चेव, अणीहारिमे चेव, णियमं सपडिक्कमे ॥६८॥

छाया—द्वे मरणे श्रमणेन भगवता महावीरेण श्रमणानां निर्ग्रन्थानां नो नित्यं वर्णिते, नो नित्यं कीर्त्तिते, नो नित्यं उक्ते, (नो नित्यं व्युदिते), नो नित्यं प्रशंसिते, नो नित्यमभ्यनुज्ञाते भवतः, तद्यथा—बलन्मरणं चैव, वशार्त्तमरणञ्चैव। एवं निदान-मरणञ्चैव, तद्भवमरणञ्चैव, गिरिपतनञ्चैव, तरुपतनञ्चैव। जलप्रवेशश्चैव, ज्वलनप्रवेशश्चैव, विषभक्षणञ्चैव, शस्त्रावपाटनञ्चैव।

द्वे मरणे यावत् नो नित्यमभ्यनुज्ञाते भवतः, कारणेन पुनरप्रतिक्रुष्टे, तद्यथा—वैहायसञ्चैव, गृध्रपृष्ठञ्चैव।

द्वे मरणे श्रमणेन भगवता महावीरेण श्रमणानां निर्ग्रन्थानां नित्यं वर्णिते यावत् अभ्यनुज्ञाते भवतः, तद्यथा—पादपोपगमनञ्चैव, भक्तप्रत्याख्यानञ्चैव।

पादपोपगमनं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—निर्हारिमञ्चैव, अनिर्हारिमञ्चैव, नियमाद्-प्रतिकर्म। भक्तप्रत्याख्यानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—निर्हारिमञ्चैव, अनिर्हा-रिमञ्चैव नियमात्सप्रतिकर्म।

शब्दार्थ—समणेणं भगवया महावीरेणं—श्रमण भगवान्, महावीर ने, **समणाणं णिग्गंथाणं**—श्रमण निर्ग्रन्थों को, **दो मरणाइ**—दो प्रकार का मरण, **णो निच्चं वन्नियाइं**—नित्य ही वर्णित नहीं किया, **णो निच्चं कित्तियाइं**—नित्य ही कीर्त्तित नहीं किया, **णो णिच्चं बुइयाइं**—नित्य ही कथनीय नहीं बताया, **णो णिच्चं पसत्थाइं**—नित्य ही प्रशस्त नहीं कहा, **णो णिच्चं अब्भणुन्नाइं**—नित्य ही आज्ञा नहीं दी है, **तं जहा**—वह जैसे, **वलयमरणे चेव**—संयम से पतित होकर मरना और, **वसट्टमरणे चेव**—विषयों के वश होकर मृत्यु होना, **एवं**—इसी प्रकार, **णियाणमरणे चेव**—परलोक की ऋद्धि के लिए संयमादि क्रिया को बेचकर मरना, **तब्भवमरणे चेव**—मरकर मनुष्य बनूं आदि भावना से मरना, **गिरिपडणे चेव**—पर्वत से गिरकर मरना और, **तरुपडणे चेव**—वृक्ष से गिरकर मरना, **जलप्पवेसे चेव**—जल में डूबकर मरना और, **जलणप्पवेसे चेव**—अग्नि में गिरकर

मरना, **विसभक्खणे चेव**—विष-भक्षण कर मरना, **सत्थोवाडणे चेव**—शस्त्र द्वारा मरना। **दो मरणाइं**—दो प्रकार से मृत्यु, **जाव**—यावत्, **णो णिच्चं अब्भणुन्नाइं भवन्ति**—नित्य ही उनकी आज्ञा नहीं दी है, किन्तु, **कारणेण पुण अप्पडिकुट्ठाइं**—ब्रह्मचर्यादि की रक्षा के हेतु उनका निषेध भी नहीं किया गया है, **तं जहा**—जैसे, **वेहाणसे चेव**—फांसी लेकर मरना और, **गिद्धपट्ठे चेव**—गृध्रपृष्ठ नामक मृत्यु को प्राप्त होना।

समणेणं भगवया महावीरेणं—श्रमण भगवान महावीर ने, **दो मरणाइं**—दो मरण, **समणाणं निग्गंथाणं**—श्रमण निर्ग्रन्थों को, **णिच्चं वन्नियाइं**—नित्य वर्णन किए हैं, **जाव**—यावत्, **अब्भणुन्नाइं भवंति**—आज्ञा दी है, **तं जहा**—जैसे, **पाओवगमणे चेव**—पादपोपगमन अनशन द्वारा मरना और, **भत्तपच्चक्खाणे चेव**—भक्त-प्रत्याख्यान द्वारा मृत्यु पाना, **पाओवगमणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—पादपोपगमन दो प्रकार का है, जैसे, **णीहारिमे चेव**—यदि नगर में मृत्यु हो जावे, तो नगर से बाहर ले जाकर उसका संस्कार करना, **अणीहारिमे चेव**—पर्वत आदि की गुफा मे मृत्यु होने पर शरीर को बाहर नहीं निकालते, किन्तु, **णियमं**—नियम से ही, **अपडिक्कमे**—ऐसा मृत-शरीर चेष्टा रहित होता है, **भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा**—भक्तप्रत्याख्यान व्रत दो प्रकार से कथन किया गया है, जैसे, **णीहारिमे चेव**—नगर में मृत्यु होने पर नीहरण होना, **अणीहारिमे चेव**—नगर से बाहर पर्वत आदि की गुफा मे मरने पर अनीहरण होना, किन्तु यह मृत्यु, **णियमं**—नियम से, **सपडिक्कमे**—शरीर प्रतिक्रिया युक्त होता है।

मूलार्थ—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए दो मरण अच्छे नहीं बतलाए हैं, वे कीर्त्ति-योग्य नहीं हैं, वे सत्कार-योग्य नहीं हैं, वे सुन्दर नहीं हैं, जैसे—

(१) संयम से भ्रष्ट होकर मरना और विषयों के वशीभूत होकर मरना।

(२) ऋद्धि-सिद्धि आदि का निदान कर्म करके और मनुष्य आदि बनने की आशा से मरना।

(३) पर्वत से गिरकर मरना और वृक्ष से गिरकर मरना।

(४) जल में डूबकर मरना और अग्निदाह से मरना।

(५) विष खाकर मरना और शस्त्रादि से मरना।

दो मृत्युओं की आज्ञा तो नहीं है, परन्तु ब्रह्मचर्यादि की रक्षा के लिए उनका निषेध भी नहीं किया गया है, जैसे कि—

(६) पाश लेकर मरना और मृतकलेवर में बैठकर मरना, अपितु श्रमण भगवान महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थों को दो मृत्युओं की सदाकाल आज्ञा दी है, जैसे कि—

(७) पादपोपगमन व्रत से मरना और भक्त-प्रत्याख्यान द्वारा मृत्यु को प्राप्त करना।

(८) पादपोपगमन मृत्यु दो प्रकार की होती है, जैसे—नगर में संथारा करे तो निर्हरण होता है और नगर से बाहर करे तो निर्हरण नहीं होता, यह मृत्यु नियम से शारीरिक प्रतिक्रिया रहित होती है।

(९) यही दो भेद भक्तप्रत्याख्यान अनशन के भी होते हैं, किन्तु इस प्रकार के अनशन शारीरिक-प्रतिक्रिया से युक्त होते हैं।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र में बाल-मरण और पण्डित-मरण का वर्णन किया गया है। जिसका जन्म हुआ है, उसका मरण नियमेन होता ही है, किन्तु जिनका मरण होता है, वे पुनः जन्म ले भी सकते हैं और मुक्त भी हो सकते हैं।

जो कर्मों से सर्वथा रहित होकर मुक्त हो गए हैं, उनका जन्म भी नहीं होता है और मरण भी नहीं होता। जो संसारी जीव हैं, उनका मरण दो तरह का होता है, अज्ञान-पूर्वक और ज्ञान-पूर्वक। जीने की कला के ज्ञाता व्यक्ति धर्मात्मा कहलाते हैं और जिनको जीवन की कला नहीं आती, उन्हें पापात्मा कहा जा सकता है। मरण भी एक महत्त्वपूर्ण कला है, मरण-कला का सदुपयोग करने वाला धर्मात्मा है और मरण कला का दुरुपयोग करने वाला पापात्मा है, अतः सूत्रकार मरण-कला पर प्रकाश डाल रहे हैं, जिससे मरण भी मुक्ति का कारण बन सके। जिनको जीने की और मरने की कला नहीं आती, वे ही जीव संसार-चक्र में परिभ्रमण करते हुए जन्म मरण-जन्य दुःख पाते रहते हैं। जैन-दर्शन सर्वथा सर्वत्र दुःखों से मुक्त होने के लिए जीने की कला सिखलाता है एवं साथ ही मरण-कला का भी ज्ञान करवाता है। जिनको उपर्युक्त दो कलाएं पसन्द नहीं, बल्कि जो इनसे विमुख रहते हैं, वे अज्ञानपूर्वक ही जीते हैं और अज्ञान-पूर्वक ही मर जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के जीवन और मरण दोनों ही व्यर्थ जाते हैं।

अज्ञान-मरण अर्थात् बाल-मरण जैन-दर्शन को इष्ट नहीं है, अतः सभी तीर्थंकरों ने इस मरण का निषेध किया है। जैन मुनियों को विशेष रूप से बाल-मरण का सद्बोध कराते हुए और उनसे बचे रहने का आदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

णो णिच्चं वन्नियाइं—अग्निदाह आदि से मरने का समर्थन ज्ञानी कदापि नहीं करते।

णो णिच्चं कित्तियाइं—धर्मभ्रष्ट होकर मरने को भी प्रशंसनीय नहीं माना है।

णो णिच्चं बुइयाइं—धर्म-भ्रष्ट होकर मरने आदि को किसी भी आचार्य ने आदर की दृष्टि से नहीं देखा, अतः स्पष्ट शब्दों में उसका निषेध ही किया गया है।

णो णिच्चं पसत्थाइं—किसी भी तीर्थंकर ने इस प्रकार के मरण को प्रशस्त अर्थात् अच्छा नहीं माना है।

णो णिच्चं अब्भणुन्नायाइं—इस प्रकार के बाल-मरण की किसी भी अरिहन्त ने आज्ञा नहीं दी है।

जिस प्रकार दूसरों की हत्या करना हिंसा है, उसी प्रकार दुःखों से पीड़ित होकर, मोह से, राग से, क्रोध से, दरिद्रता से और लोकापवाद से भयभीत होकर आत्म-हत्या करना भी हिंसा ही है, इसलिए आत्म-हिंसा करने का भी भगवान ने निषेध किया है, किन्तु अहिंसा, सत्य, सदाचार आदि धर्मों की रक्षा के लिए पवित्र भावना के साथ मरने का शास्त्रों में निषेध नहीं किया गया।

जैन-दर्शन किसी भी एकान्तवाद का समर्थक नहीं है। वह अनेकान्तवाद को लक्ष्य में रखकर ही सब कुछ कहता और करता है। उसकी दृष्टि बाह्य क्रियाकाण्ड पर नहीं, अपितु अन्तःकरण के मूल पर पडती है। दूषित मनोवृत्ति से जो क्रिया अज्ञानियों के लिए अनन्त संसार बढाने वाली है, विशुद्ध एवं विवेकपूर्ण अन्तःकरण से की गई वही क्रिया संवर, निर्जरा एवं मोक्ष का कारण बन सकती है। ब्रह्मचर्य आदि धर्मों की रक्षा के निमित्त यदि मरना पडे तो फांसी से वा गृध्र-पृष्ठ से मरने का भी निषेध नहीं किया गया है।

प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि—कारण पड़ने पर विहायस और गृध्रपृष्ठमरण का निषेध क्यों नहीं और शेष दस प्रकार के मरण का सर्वथा निषेध क्यों किया गया है?

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि—संयम से भ्रष्ट होकर मरने को वलयमरण, इन्द्रियों के वशीभूत होकर मरने को वसट्टमरण, किसी विशेष कामना के लिए मरण को निदानमरण, मनुष्य-जन्म में रहते हुए पुनः मनुष्य-जन्म धारण करने की कामना से मरना तद्भव-मरण कहलाता है। उपर्युक्त चार मरण धर्म-वैमुख्य और मानसिक पतन सिद्ध करते हैं। जल में डूबकर मरने से और अग्नि मे जलकर मरने से स्थावर जीवों की हिंसा तथा शरीरगत त्रस जीवों की हिंसा होती है, अतः प्रथम महाव्रत की रक्षा के लिए उक्त दो प्रकार से मरने का निषेध स्वतः होता है। गिरि से कूदकर मरने से अयतना, तथा अन्य त्रस और स्थावरों की हिंसा हो सकती है, अतः गिरिपतन से मरण का भी निषेध हो जाता है। वृक्ष पर श्रमण निर्ग्रन्थों के चढ़ने का विधान नहीं है, उस पर चढ़ना और उसके द्वारा देहपात करना संयम और अहिंसा से विरुद्ध होने के कारण निषिद्ध है। विषभक्षण से शरीरगत सभी कीटाणुओं का विनाश हो जाता है तथा जिनसे विष-याचना करके लाया जाता है उन पर राज्यापत्ति की संभावना रहती है। इसी प्रकार शस्त्र रखना महर्षि के लिए सर्वथा निषिद्ध है। यदि वह मरने के लिए शस्त्र-अस्त्र मांगकर ले आया तो हथियार आदि देने वाले पर समाज या राज्य की ओर से आपत्ति होने की संभावना हो सकती है, अतः इस तरह के मरने का निषेध किया गया है। हां यदि कोई अनार्य ध्यानस्थमुनि को पर्वत से धक्का देकर नीचे गिराए, जल में डुबो दे, अग्नि से जला दे या शस्त्र से छेदन कर दे, ऐसी स्थितियों में भी यदि मुनि निज ध्यान से विचलित न हो, तो वह अज्ञान मरण नहीं और वह दुर्गति का भी

कारण नहीं हो सकता। विहायस और गृध्रपृष्ठ-मरण से हिंसा और अयतना नहीं होने पाती, तथा किसी अन्य जन पर भी किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होती और धर्म की अवहेलना भी नहीं हो पाती। इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—

"शीलभङ्गरक्षणादौ" पाठान्तरे तु कारणेन "अप्रतिक्रुष्टे" अनिवारिते भगवता वृक्षशाखादावुद्बद्धत्वाद् विहायसि—नभसि भवं वैहायसं प्राकृतत्वेन तु वेहाणसमित्युक्तमिति, गृध्रैः स्पृष्टं-स्पर्शनं यस्मिंस्तद् गृध्रस्पृष्टम्, यदि वा गृध्राणां भक्ष्यं गृष्ठमुपलक्षणत्वादुदरादि च तद्भक्ष्यकारिकरभादिशरीरानुप्रवेशेन महासत्त्वस्य मुमूर्षोर्यस्मिंस्तत् गृध्रपृष्ठमिति गाथात्र—

गिद्धादिभक्खणं गद्धपट्ठमुब्बंधणादिवेहासं।
एते दोन्निवि मरणा कारण जाए अणुन्नाया॥

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि—ब्रह्मचर्य आदि की रक्षा के लिए भगवान महावीर ने साधु आदि मुमुक्षुओं को वैहायस आदि मृत्यु से नहीं रोका, किन्तु व्रतभंग करने की आज्ञा नहीं दी, व्रत रक्षा के लिए अपने प्राणों की बलि दे देना अच्छा है, किन्तु व्रतभंग नहीं होने देना चाहिए। इसी बात को सिद्ध करने के लिए दूसरा आगम-प्रमाण निम्नोक्त है—

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ—पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफासं अहियासित्तए से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं केइं अकरणयाए आउट्टे तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमाइए तत्थवि तस्स कालपरियाए, सेवि तत्थ विअंतिकारए इच्चेयं विमोहायतणं—हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं त्तिबेमि।

—आचारांग सूत्र स्कन्ध १, अ ७, उ ४। सू २१२

इस पाठ का सारांश इतना ही है कि—संयम-बाधक परिस्थिति के समय व्रत या साधु- मर्यादा की रक्षा करते हुए व्रती यदि वैहायस आदि कारण से देहपात कर जाए तो वह धर्म- विरुद्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसका वह मरण कर्मों का तथा मोह का अन्त करने वाला है, वह उसका हित, सुख, क्षेम, कल्याण करने वाला है और भवान्तर में साथ जाने वाला है, कारण कि वह मरण व्रत रक्षा के लिए किया गया है न कि मोहादिकरण से। प्रस्तुत सूत्र से यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि प्राण-रक्षा की अपेक्षा प्रण-रक्षा पर शास्त्र विशेष बल देता है।

महासती राजीमती संयम से स्खलित होते हुए रथनेमि के प्रति कहती हैं—'हे अयश की कामना करने वाले तुझे धिक्कार है, जो तू असंयम जीवन के लिए वमन किए हुए विषय का पुनः सेवन करना चाहता है। ऐसे जीने से तो तेरा मरण ही श्रेयस्कर है। उसके शब्द निम्नोक्त हैं—

धिरत्थु तेऽजसोकामी जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे॥

इस गाथा से भी उक्त कथन का समर्थन हो जाता है कि साधक अपवादिक स्थिति में अहिंसा, सत्य, सदाचार की रक्षा के निमित्त सहर्ष अपने प्राणों की आहुति दे डाले, किन्तु अपनी प्रतिज्ञा को किसी भी रूप में भंग न होने दे। गृध्रपृष्ठ-मरण का अभिप्राय है ऐसा मरण जिसमें शरीर गृध्रों के काम आए अर्थात् जंगल में ही मरण की शरण लेना, नगर आदि में नहीं। दूसरा अर्थ यह भी होता है कि जहां पर गृध्रों का आक्रमण होता हो, वहां औंधे मुख लेट जाना, जिससे मुर्दा समझकर सैंकडों गृध्र टूट कर उस पर आ पड़ें और शरीर को स्वल्पकाल में ही खा जाएं। ऐसे मरण को भी गृध्र-पृष्ठ मरण कहा जाता है।

जिस मरण की भगवान् ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है, जिसे सर्वोत्तम प्रतिपादन किया गया है और जिस के लिए भगवान ने आज्ञा दी है वह मरण दो प्रकार का है, जैसे कि— पादपोपगमन-मरण और भक्तप्रत्याख्यान-मरण। संथारा करके जिस रूप में एक बार लेट जाएं फिर उसी जगह उसी रूप में मृत्यु तक लेटे रहना पादपोपगमन मरण है। इस मरण में हाथ-पैर आदि अंगोपांग हिलाने-चलाने का भी निषेध किया गया है। जिस प्रकार वृक्ष की शाखा जहा जिस रूप में गिरती है वह फिर उसी रूप में पड़ी रहती है, वही दशा पादपोपगमन अनशन करने वाले की होती है। किसी भी प्रकार का परीषह या उपसर्ग आने पर भी निश्चेष्ट पडे रहना ही इस का प्रमुख विधान है। यह सथारा नगर मे भी किया जाता है और पर्वत आदि की गुफाओ में भी, किन्तु संथारे वाला साधक दूसरे से किसी भी प्रकार की शारीरिक सेवा नहीं करवाता।

भक्त प्रत्याख्यान संथारा करने वाला साधक तीन या चार आहारों का परित्याग करने के बाद जब काल धर्म या मरणकाल को प्राप्त होता है उसे भक्तप्रत्याख्यान-मरण कहा जाता है। इस संथारे में अन्य से सेवा भी ली जा सकती है। यह संथारा नगर में भी किया जा सकता है और नगर से बाहर वन-पर्वतों आदि में भी। नगर में इनके शरीर का निर्हरण लोग करते हैं अर्थात् उसका दाह-संस्कार आदि लोग करते हैं। गुफाओं या वन पर्वतों में परित्यक्त शरीर का लोग निर्हरण नहीं करते, अत: ऐसे मृत साधक का शरीर-मृत्यु स्थान में ही पड़ा रह जाता है।

इङ्गिनीमरण—इसका उल्लेख द्विस्थान के अनुरोध से सूत्रकार ने नहीं किया, क्योंकि इस मरण में संथारे वाला साधक मर्यादित स्थान को छोड़कर अन्य किसी स्थान में नहीं जाता, एक ही स्थान पर रहते हुए हाथ-पैर आदि अंगोपांग हिलाने चलाने का उसे आगार (छूट) होता है। वह भी दूसरे से कोई सेवा नहीं ले सकता। शेष सामान्य विधि-साधन सब संथारों में एक जैसा ही है[१]।

---

१ तीनो संथारों का विस्तृत वर्णन आचारांग सूत्र के विमोक्ष अध्ययन में तथा उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवें अध्ययन मे किया गया है।

लोक एवं लौकिक पदार्थ

मूल— के अयं लोए? जीवच्चेव, अजीवच्चेव।
के अणंता लोए? जीवच्चेव, अजीवच्चेव।
के सासया लोए? जीवच्चेव, अजीवच्चेव ॥६९॥

छाया—कोऽयं लोकः? जीवाश्चैव, अजीवाश्चैव।
केऽनन्ताः लोकाः? जीवाश्चैव, अजीवाश्चैव।
के शाश्वताः लोकाः? जीवाश्चैव, अजीवाश्चैव।

शब्दार्थ—के अयं लोए—लोक क्या वस्तु है, **जीवच्चेव, अजीवच्चेव**—जीव और अजीवमय यह लोक है। **के अणंता लोए**—लोक में अनन्त पदार्थ कौन है, **जीवच्चेव, अजीवच्चेव**—जीव और अजीव ही अनन्त हैं। **के सासया लोए**—लोक मे शाश्वत कौन है, **जीवच्चेव, अजीवच्चेव**—जीव और अजीव ही लोक में शाश्वत हैं।

मूलार्थ—लोक क्या वस्तु है? जीवमय और अजीवमय पदार्थ को ही लोक कहा जाता है। लोक में अनन्त कौन हैं? इस लोक में जीव और अजीव ही अनन्त हैं। लोक में शाश्वत कौन हैं? लोक में जीव और अजीव दोनों ही शाश्वत हैं।

विवेचनिका—विगत सूत्र में लोकस्थ जीवों के बाल-मरण और पण्डित-मरण का विधि-निषेध-पूर्वक वर्णन किया गया है, अतः स्वभावतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि लोक क्या है? सूत्र में इसी प्रश्न का सक्षिप्त समाधान प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते है—जिसमें चेतनधर्मी जीव और अचेतन धर्मी धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल रूप अजीव पदार्थों का अस्तित्व पाया जाता है उसे ही लोक कहा जाता है, अतः जीवमय एवं अजीवमय पदार्थ ही लोक है।

साथ ही इस सूत्र में जीव और अजीव दोनो पदार्थों को अनन्त और शाश्वत भी बताया गया है।

प्रश्न है कि एक ही सूत्र में जीव अजीव की अनन्तता एवं शाश्वतता के वर्णन का उद्देश्य क्या है? सूत्रकार जैन-दर्शन के सिद्धान्त का स्वरूप प्रदर्शित करते हुए अन्य दर्शनों की अपेक्षा इसके वैशिष्ट्य का निर्देश भी कर देना चाहते हैं। जैसे कि :—

शंकर वेदान्त अद्वैतवाद का समर्थन करता है। सूत्रकार ने जीव और अजीव दोनों की सत्ता स्वीकार करते हुए द्वैतवाद की मान्यता का पोषण किया है, अतः अद्वैतवाद की मान्यता का निराकरण कर दिया गया है।

बौद्ध-दर्शन शून्यवाद का समर्थन करता है, किन्तु जीव एवं अजीव दोनों को शाश्वत कहकर सूत्रकार ने जैन-दर्शन के द्वारा शून्यवाद का भी खण्डन कर दिया है और क्षणिक-वाद का भी।

जैन-दर्शन सापेक्षतावादी है, अतः उसका कथन है कि चेतनत्व की अपेक्षा से सभी जीव एक हैं, परन्तु वैयक्तिक दृष्टि से अनन्त हैं। इसी प्रकार अजीव भी जड़ता की दृष्टि से एक है, परन्तु वैयक्तिक अस्तित्व की दृष्टि से अजीव भी अनन्त हैं।

इस प्रकार सूत्रकार ने बौद्धों के क्षणिकवाद का भी खण्डन कर दिया है, जीव-अजीव की नित्यता से ईश्वर कर्तृत्व जीव-सिद्धान्त का भी खण्डन कर दिया गया है।

बोधि और बुद्ध तथा मोह एवं मूढ

मूल—दुविहा बोधी पण्णत्ता, तं जहा—णाणबोधी चेव, दंसण-बोधी चेव। दुविहा बुद्धा पण्णत्ता, तं जहा—णाणबुद्धा चेव, दंसणबुद्धा चेव। एवं मोहे मूढा॥७०॥

छाया—द्विविधा बोधिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—ज्ञानबोधिश्चैव, दर्शनबोधिश्चैव। द्वि-विधाः बुद्धाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—ज्ञानबुद्धाश्चैव, दर्शनबुद्धाश्चैव। एवं मोहो मूढाः।

शब्दार्थ—दुविहा बोधी पण्णत्ता, तं जहा—बोधि दो प्रकार की कथन की गई है, जैसे, **णाणबोधी चेव**—ज्ञान-बोधि और, **दंसणबोधी चेव**—दर्शनबोधि, **दुविहा बुद्धा पण्णत्ता, तं जहा**—दो प्रकार के बुद्ध प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—**णाणबुद्धा चेव**—ज्ञान-बुद्ध और, **दंसणबुद्धा चेव**—दर्शन बुद्ध, **एवं**—इसी तरह, **मोहे**—मोह दो प्रकार से कथन किया गया है, जैसे ज्ञान-मोह और दर्शन-मोह। इसी प्रकार, **मूढा**—ज्ञान-मूढ और दर्शन-मूढ भी जानने चाहिएं।

मूलार्थ—दो प्रकार की बोधि प्रतिपादन की गई है, जैसे—ज्ञान की प्राप्ति और दर्शन की प्राप्ति। दो प्रकार के बुद्ध कथन किए गए हैं, जैसे—ज्ञान-बुद्ध और दर्शन-बुद्ध। इसी तरह ज्ञान-मोह और दर्शन-मोह तथा ज्ञान-मूढ एवं दर्शन-मूढ के विषय में भी समझ लेना चाहिएं।

विवेचनिका—लोकों में और अलौकिक पदार्थों से जीव बुद्ध एवं मूढ आदि होते हैं, अतः अब प्रस्तुत सूत्र में बुद्ध और मूढ आदि जीवों का उल्लेख किया गया है। ज्ञानावरणीय और दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षय एवं क्षयोपशम से जो ज्ञान एवं श्रद्धान उत्पन्न होते हैं, उन्हें क्रमशः ज्ञानबोधि और दर्शनबोधि कहते हैं। जो जीव ज्ञान-बोधि और दर्शन-बोधि से युक्त हैं, उन्हें ज्ञान-बुद्ध और दर्शन-बुद्ध कहा जाता है।

जिस प्रकार ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा से बोधि और बुद्ध का वर्णन किया गया है, ठीक उसी प्रकार मोह का उदय होने पर ज्ञानावरणीय तथा दर्शन-मोहनीय कर्मों के उदय से विपरीत ज्ञान और विपरीत दर्शन हो जाता है। इन्हें ही क्रमशः ज्ञान-मोह और दर्शन-मोह कहा जाता है। जो जीव ज्ञान-मोह और दर्शन-मोह से युक्त हैं, उन्हें ज्ञानमूढ और दर्शनमूढ

कहते हैं। दूसरे शब्दों में उन्हें अज्ञानी अथवा मिथ्यादृष्टि भी कहा जाता है, इस विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—

"'ज्ञानं' मोहयति—आच्छादयतीति ज्ञानमोहो—ज्ञानावरणोदयः एवं 'दंसणमोहे चेव' सम्यग्दर्शनमोहोदयः इति। दुविहा मूढा पण्णत्ता, तं जहा—नाणमूढा चेव, उदित ज्ञानावरणाः। 'दंसणमूढा चेव' दर्शनमूढाः मिथ्यादृष्टयः इति।"

इसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्मोदय से ज्ञान-मूढ और मिथ्यात्व के उदय से दर्शनमूढ जीव ही संसार-सागर में डूबते-तरते रहते हैं और ज्ञान-बुद्ध और दर्शन-बुद्ध साधक ही मोक्ष के अधिकारी बनते हैं।

आठ कर्मों की द्विविधता

मूल—णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—देसनाणावरणिज्जे चेव, सव्वणाणावरणिज्जे चेव। दरिसणावरणिज्जे कम्मे एवं चेव।

वेयणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सायावेयणिज्जे चेव, असाया-वेयणिज्जे चेव।

मोहणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते तं जहा—दंसणमोहणिज्जे चेव, चरित्त-मोहणिज्जे चेव।

आउए कम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अद्धाउए चेव भवाउए चेव।

णामे कम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सुभणामे चेव, असुभणामे चेव।

गोत्ते कम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—उच्चागोते चेव, णीयागोते चेव।

अंतराइए कम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—पडुप्पन्नविणासिए चेव, पिहित-आगामिपहं चेव॥७१॥

छाया—ज्ञानावरणीयं कर्म द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—देशज्ञानावरणीयञ्चैव, सर्वज्ञानावरणीयञ्चैव। दर्शनावरणीयं कर्म एवमेव।

वेदनीयं कर्म द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—सातावेदनीयञ्चैव, असातावेदनीयञ्चैव।

मोहनीयं कर्म द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—दर्शनमोहनीयञ्चैव, चारित्रमोहनीयञ्चैव।

आयुष्कं कर्म द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अद्धायुष्कञ्चैव, भवायुष्कञ्चैव।

नामकर्म द्विविधं प्रज्ञप्तम् तद्यथा—शुभनाम चैव, अशुभनाम चैव।

गोत्रं कर्म द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—उच्चगोत्रञ्चैव, नीचगोत्रञ्चैव।

अन्तरायिकं कर्म द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—प्रत्युत्पन्नविनाशितं चैव, पिहितागामिपथञ्चैव।

(पदार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—१. ज्ञानावरणीय कर्म दो प्रकार का है, यथा—देशज्ञानावरणीय और सर्वज्ञानावरणीय।

२. दर्शनावरणीय कर्म भी इसी तरह दो प्रकार का है।

३. वेदनीय कर्म दो प्रकार का है यथा—सातावेदनीय और असातावेदनीय।

४. मोहनीय कर्म दो प्रकार का है, यथा—दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय।

५. आयु-कर्म दो प्रकार का है, यथा—अद्धायुष्क और भवायुष्क।

६. नाम कर्म दो प्रकार का है, यथा—शुभ नाम और अशुभ नाम।

७. गोत्र कर्म दो प्रकार का है, यथा—उच्च गोत्र और नीच गोत्र।

८. अन्तराय कर्म दो प्रकार का है, यथा—प्रत्युत्पन्नविनाशी और पिहितागामिपथी।

विवेचनिका—जीव बुद्ध एवं मूढ आदि केवल अपने कर्मों के कारण ही होते हैं, अत: कर्मों का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है कि—ज्ञानावरणीय कर्म और दर्शन-मोहनीय कर्मों के उदय से ही जीव कर्मों से बद्ध हो जाता है। जीव के द्वारा मिथ्यात्व, कषाय, प्रमाद आदि कारणों से कार्मण-वर्गणा के पुद्गल ग्रहण किए जाते हैं। कार्मणवर्गणा के पुद्गल इतने सूक्ष्मातिसूक्ष्म होते हैं कि उन्हे अतिसूक्ष्मदर्शी यन्त्रों के द्वारा भी दृष्टिगोचर नहीं किया जा सकता। उन्हे केवल सर्वज्ञ परमावधिज्ञानी ही जान सकते है। जब उन सूक्ष्मतम कार्मण पुद्गलो का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है, तब उन्हें कर्म कहा जाता है। कर्म दो भागो में विभक्त हैं, जैसे कि—घातिकर्म और अघाति कर्म। जो कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणों का घात करते हैं वे घाति और जो कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणों का घात नहीं करते वे अघाति कर्म कहलाते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घाति हैं और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार कर्म अघाति कहलाते हैं। अघाति कर्म का प्रभाव जीव की वैभाविक प्रकृति—आयु, शरीर, इन्द्रिय आदि पर पड़ता है, किन्तु जो घाति कर्म हैं उनके भी दो भेद हैं, जैसे—देशघाति और सर्वघाति।

केवल-ज्ञानावरण केवल-दर्शनावरण, निद्रादिपंचक[1], और संज्वलन के अतिरिक्त बारह कषाय और मिथ्यात्व ये बीस प्रकृतियां सर्वघाति कहलाती हैं। कहा भी है—

केवलणाणावरणं, दंसण छक्कं च मोहबारसगं।
ता सव्वघाइसन्ना भवंति मिच्छत्तवीसइमं॥

---

१ निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यान-गृद्धि।

देशज्ञानावरण-सर्वज्ञानावरणः—

घाति प्रकृतियों में सर्वघाति प्रकृति के अतिरिक्त शेष सर्व प्रकृतियां देशघाति कहलाती हैं। जो कर्म ज्ञान को आवृत करता है, उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। जो कर्म मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यवज्ञान को आच्छादित करता है, उसे देशज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं और जो आवरण केवल-ज्ञान को आवृत कर रहा है, उसे सर्व ज्ञानावरणीय कहते हैं। जैसे अति निबिड़ बादलों से आच्छादित सूर्य का प्रकाश मन्दतर हो जाता है, वैसे ही जो कर्म केवलज्ञान को आच्छादित करते हैं उन्हें सर्वज्ञानावरणीय कर्म कहा जाता है। जैसे बन्द कमरे में दो, तीन या चार गवाक्षों से अन्दर रोशनी आती है, पर्णकुटीर या चटाई की झोंपडी में विभिन्न छोटे-बडे छिद्रों से बाहर की रोशनी भीतर पहुंच ही जाती है, वैसे ही विभिन्न गवाक्ष-छिद्रों के समान क्षयोपशम क्रिया है। क्षयोपशम विचित्र प्रकार का होता है। जितना- जितना क्षयोपशम होता जाता है, जीव ज्ञेय पदार्थों का उतना-उतना अधिक ज्ञान प्राप्त करता जाता है। क्षायोपशमिक ज्ञान में एक अद्‌भुत शक्ति है जो लोक एवं अलोक सभी को आलोकित कर देती है।

देशदर्शनावरण-सर्वदर्शनावरणः—सामान्यावबोध को देश और सब ओर से आच्छादित करने वाला कर्म दर्शनावरणीय कहलाता है। जैसे द्वारपाल के निषेध करने पर राजा आदि के दर्शन नहीं हो सकते, वैसे ही जिस कर्म के उदय से आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थ के दर्शन न हो सकें वह दर्शनावरणीय कर्म कहलाएगा। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधि-दर्शन ये तीन देशदर्शनावरणीय हैं। केवलदर्शनावरणीयकर्म केवलदर्शन नहीं होने देता, अतः सर्वदर्शनावरण सर्वघाति कहलाता है, शेष कर्म देशघाति कहे जाते हैं।

सातावेदनीय-असातावेदनीयः—जिस कर्म के उदय से जीव को अनुकूल विषयों की प्राप्ति हो तथा शारीरिक एवं मानसिक सुख का अनुभव हो, वह सातावेदनीय कर्म है और जिसके उदय से प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति हो, शारीरिक एवं मानसिक वेदना हो, वह असातावेदनीय कहलाता है। इस प्रकार वेदनीय कर्म के दो भेद होते हैं। जैसे मधुलिप्त खड्‌ग की तीक्ष्ण धार को चाटने से जिह्वा सुख-दुःख का अनुभव करती है, यही दशा इस कर्म की भी है। साता का सुख रूप में और असाता का दुःखरूप में अनुभव किया जाता है।

दर्शनमोहनीय-चरित्रमोहनीयः—जो कर्म जीव के हित और अहित परखने एवं तदनुसार क्रिया करने के विवेक को मोहित कर देता है या मूर्छित कर देता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। जैसे पिया हुआ मद्य मनुष्य के सत्-असत् विवेक को लुप्त कर देता है, वैसे ही मोहनीय कर्म भी साधक को धर्म-ज्ञान से शून्य बना देता है। जो पदार्थ जैसा है, उसे उसी रूप में समझना सम्यग्दर्शन कहलाता है। मोहनीय-कर्म आत्मा के इस सर्वोत्तम गुण को नष्ट कर देता है। जो जीव को सन्मार्ग से भटका दे या सन्मार्ग में नहीं आने दे, उसे

दर्शनमोहनीय कर्म कहा जाता है और जिसके द्वारा आत्मा अपने स्वरूप को भी भूल जाए उसे चरित्रमोहनीय कर्म कहते हैं।

अद्धायु-भवायुः—जिसके कारण जीव नियत काल तक नियत शरीर में निवास करते हैं, उसे आयुकर्म कहा जाता है। जिस तरह बंदी कारागार में निवास करता है, वैसे ही चार गतियों में जीव आयु के अनुसार निवास करते हैं। आयुकर्म जीव को न दुःख देता है और न सुख, किन्तु वह चार गतियों में दुख-सुख के आधार रूप देह में जीवों को धारण किए रखता है। मनुष्य और तिर्यंचों की कायस्थिति होती है अर्थात् जीव जिस योनि में मरता है यदि पुनः उसी में जन्म लेता है तो उसे कायस्थिति कहा जाता है, इसी को दूसरे शब्दों में अद्धायु भी कहते हैं। देव और नारकी की भवस्थिति होती है, अर्थात् देव और नारकीय जीव मरकर पुनः देव और नारकीय शरीर धारण नहीं कर सकते। देव और नारकियों की इस प्रकार की आयु भवायु कहलाती है।

शुभनाम-अशुभनामः—जीव ने जन्म लेकर जैसे-जैसे भोग-भोगने हैं, उन्हीं के अनुरूप शरीर धारण करने में सहायता करने वाले कर्मों को नाम-कर्म कहा जाता है।

नाम-कर्म चित्रकार के समान है। जैसे चित्रकार विविध रंगों से सुन्दर एवं असुन्दर चित्र बनाता है, वैसे ही नाम-कर्म भी प्राणी को सुन्दर अथवा असुन्दर, उत्तमलक्षण-सम्पन्न शरीर और लक्षणहीन शरीर अर्थात् शुभ-अशुभ शरीर की रचना नाम कर्म के उदय से ही होती है। जिसके उदय से इष्टशब्द, इष्टरूप, इष्टगन्ध, इष्टरस, इष्टस्पर्श, इष्टगति, यशः कीर्ति, इष्टस्वर, पराघात, आदेयवचन, तीर्थंकर नामकर्म, शुभ फल देने वाली नामकर्म की जितनी प्रकृतियां हैं, वे जब उदित हों तब वे शुभनाम कर्म और उन से विपरीत जिनके उदय हों वे अशुभनाम कर्म कहलाते हैं।

उच्चगोत्र-नीचगोत्रः—जिस कर्म के उदय से प्राणी उच्च-नीच आदि कहलाता है, उसे गोत्रकर्म कहते हैं। आठ कारणों से प्राणी उच्च बनता है, जैसे कि विशिष्ट जाति, उत्तमकुल, अनन्तबल, विश्वसुन्दररूप, विशिष्टतप, विशिष्ट श्रुत, सुलभ लाभ और ऐश्वर्य-सत्ता, इनमें से जितने-जितने अंश में विशिष्टता होती है, उतने-उतने अंश में जीव उच्च बनता जाता है। तीर्थंकरों में उपर्युक्त आठो विशेषताए विद्यमान रहती हैं। इसीलिए वे सर्वोच्च माने जाते हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव जाति-विहीन, कुलविहीन, बलहीन, रूपहीन, तप एवं श्रुत-विहीन, लाभ और ऐश्वर्य-विहीन होता है, उसे नीचगोत्र कहा जाता है। जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाता है, फिर वे घट आदि पदार्थ ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के पास जाने से उनकी ऊंच व नीच संज्ञा हो जाती है, यही दशा गोत्र कर्म की है। इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं:—

पूज्योऽयमित्यादि व्यपदेशरूपां गां—वाचं त्रायत इति गोत्रं, स्वरूपं चास्येदम्
जदा कुंभारो भंडाइ कुणइ, पुज्जेयराइं लोयस्स।
इय गोयं कुणइ जियं लोए पुज्जेयरावत्थं॥
इति, उच्चैः गोत्रं पूज्यत्वनिबन्धनत्वमितरत्तद्विपरीतम्—

अर्थात् जिस कर्म के उदय से जीव पूज्य और अपूज्य बन जाए, वह गोत्र कर्म है।

प्रत्युत्पन्नविनाशी अन्तराय, पिहितागामिपथ-अन्तरायः—जीव के कार्यों में विघ्न उत्पन्न करने वाले कर्म को अन्तराय कर्म कहा जाता है। इस कर्म का जब भी उदय होता है तब वह दो तरह से विघ्न करता है। वर्तमान काल मे प्राप्त वस्तु का विनाश करने वाले अन्तराय कर्म को 'प्रत्युत्पन्न-विनाशी अन्तराय कर्म' कहा जाता है और भविष्य मे प्राप्त होने वाली वस्तु की प्राप्ति को रोक देने वाले अन्तराय कर्म को 'पिहितागामिपथ अन्तराय' कर्म कहते है।

यह कर्म एक भण्डारी के समान होता है। राजा की आज्ञा होने पर भी कोषाध्यक्ष के प्रतिकूल होने से याचक को यथा-अभीष्ट लाभ नही हो सकता, इसी प्रकार अन्तराय कर्म के उदय होने पर जीव को अभीष्ट फल की प्राप्ति नही हो पाती है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में कर्म-गति का सक्षिप्त वर्णन किया गया है।

मूर्च्छा और उसके रूप

मूल—दुविहा मुच्छा पण्णत्ता, तं जहा—पेज्जवत्तिया चेव, दोसवत्तिया चेव। पेज्जवत्तिया मुच्छा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—माए चेव, लोभे चेव। दोसवत्तिया मुच्छा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—कोहे चेव, माणे चेव॥ ७२॥

छाया—द्विविधा मूर्च्छा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—प्रेमवृत्तिका चैव, द्वेषवृत्तिका चैव। प्रेमवृत्तिका मूर्च्छा द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—माया चेव, लोभश्चैव। द्वेषवृत्तिका मूर्च्छा द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—क्रोधश्चैव, मानश्चैव।

शब्दार्थ—मुच्छा—आसक्ति, **दुविहा पण्णत्ता, तं जहा**—दो प्रकार की कही गई है जैसे—**पेज्जवत्तिया चेव**—प्रेम-प्रत्ययिकी और, **दोसवत्तिया**—द्वेष-प्रत्ययिकी, **पेज्जवत्तिया मुच्छा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा**—प्रेमप्रत्ययिकी आसक्ति दो प्रकार की कही गई है जैसे—**माए चेव, लोभे चेव**—माया और लोभ—**दोसवत्तिया मुच्छा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा**—द्वेषप्रत्ययिक मोह दो प्रकार का है, जैसे, **कोहे चेव माणे चेव**—क्रोध और मान।

मूलार्थ—मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति के दो रूप कथन किए गए हैं, जैसे — प्रेम-प्रत्यया और द्वेष-प्रत्यया। प्रेम-प्रत्यया मूर्च्छा भी दो प्रकार की कही गई है, जैसे—माया और लोभ। द्वेष-प्रत्यया मूर्च्छा भी दो प्रकार की है, जैसे क्रोध और मान।

विवेचनिका—यह जीव अपने कर्मों के कारण मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति में आबद्ध होता है, अतः अब इस सूत्र में मूर्च्छा का उल्लेख और उसके रूपों का वर्णन किया गया है। सत् एवं असत् के विवेक को नष्ट कर देने वाले मोह-कर्म को मूर्च्छा कहा जाता है। मूर्च्छा शब्द आसक्ति के लिए रूढ है। प्राप्त वस्तु के प्रति मोह और अप्राप्त स्वर्गीय पदार्थों आदि के प्रति आकर्षण एवं रुचि को आसक्ति कहा जाता है, यह आसक्ति ही मूर्च्छा है। मूर्च्छा राग और द्वेष की जननी है। इसी का तीसरा नाम मोह भी है, क्योंकि जड और चेतन पदार्थों में या इन्द्रिय-पोषक पदार्थों में अपनत्व-ममत्व का होना ही मूर्च्छा है। जो इष्ट वस्तु अपने पास नहीं है, उसे पाने के लिए इच्छा बढाना लोभ है, जो पदार्थ विद्यमान है, उसकी रक्षा के लिए और जो पदार्थ लोभ का विषय बना हुआ है उसे पाने के लिए कपट करना माया है। यदि कोई उस पदार्थ को हथियाने के लिए बाधा डालता है तब वह मूर्च्छा क्रोध का रूप धारण कर लेती है। जिनके पास वे पदार्थ नहीं है उनके समक्ष वह मूर्च्छा अभिमान का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार मूर्च्छा विभिन्न समयों मे विभिन्न रूप धारण करती रहती है। कभी वह प्रेम-राग के रूप में परिवर्तित होती है और कभी द्वेष के रूप में।

जो व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि को बुरा मानता है, वह उन्हें क्यों नहीं छोडता? इसका उत्तर यही है कि जब तक ऐसे व्यक्तियों पर छाया हुआ मूर्च्छा-भाव नहीं हटेगा तब तक कोई भी अवगुण उनसे छूटने वाला नहीं है और अवगुण तब तक छूट नहीं सकते, जब तक उन पर मूर्च्छा छाई रहती है।

पेज्जवत्तिया के सस्कृत में दो रूप है—प्रेमवृत्तिका या प्रेम-प्रत्यया। यहा प्रेम शब्द राग का ही वाचक है।

दो प्रकार की आराधना

मूल—दुविहा आराहणा पण्णत्ता, तं जहा—धम्मियाराहणा चेव, केवलि-आराहणा चेव।

धम्मियाराहणा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सुयधम्माराहणा चेव, चरित्तधम्माराहणा चेव।

केवलि-आराहणा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—अंतकिरिया चेव, कप्पविमाणोववत्तिआ चेव ॥७३॥

छाया—द्विविधा आराधना प्रज्ञप्ता, तद्यथा—धार्मिकाराधना चैव, केवलि-आराधना चैव। धार्मिकाराधना द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—श्रुतधर्माराधना चैव, चारित्रधर्माराधना चैव। केवल्याराधना द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—अन्तक्रिया चैव, कल्पविमानोपपत्तिका चैव।

शब्दार्थ—दुविहा आराहणा पण्णत्ता, तं जहा—आराधना दो प्रकार की है, जैसे—

धम्मियाराहणा चेव—धार्मिकी आराधना और, **केवलि-आराहणा चेव**—केवली आराधना, **धम्मियाराहणा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा**—धार्मिकी आराधना दो प्रकार की है, जैसे—**सुयधम्माराहणा चेव**—श्रुतधर्म की आराधना और, **चरित्तधम्माराहणा चेव**—चारित्र-धर्म की आराधना, **केवलि-आराहणा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा**—केवली आराधना दो प्रकार की है, जैसे— **अंतकिरिया चेव**—अन्तक्रिया और, **कप्पविमाणोववत्तिआ चेव**—कल्पदेव लोक में उत्पत्ति रूप।

मूलार्थ—आराधना दो प्रकार की प्रतिपादन की गई है, जैसे—धार्मिकी आराधना और केवली-आराधना। धार्मिकी आराधना भी दो तरह की है, जैसे—श्रुतधर्म-रूपा और चारित्र-धर्मरूपा। केवली आराधना दो प्रकार की है जैसे—अन्तक्रिया-भवच्छेद रूप और कल्प-विमानो में उत्पत्तिरूप।

विवेचनिका—मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति के बन्धनों से मुक्ति का उपाय आराधना है, अत: प्रस्तुत सूत्र में आराधना के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र में एकीभाव से प्रवृत्ति करना ही आराधना है। सूत्रकार ने आत्म-विकास के लिए धार्मिक आराधना और केवली-आराधना वर्णित की है। इनमें से धार्मिक आराधना के दो रूप प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे कि श्रुत-धार्मिक आराधना और चारित्र धार्मिक आराधना। शास्त्रों का विधिपूर्वक अध्ययन-अध्यापन करना श्रुत-धार्मिक आराधना है और शास्त्र- सम्मत आचार का पूर्णरूप से पालन करना चारित्र-धार्मिक आराधना कहलाती है। धार्मिक आराधना से मूर्च्छा का अत होता है, मूर्च्छा के नष्ट होने से वीतरागता जागृत होती है और वीतरागता से जीव केवली बन जाता है।

उच्चतम साधक की आराधना को केवली आराधना कहा जाता है। केवलज्ञान पाकर शुक्लध्यान के तीसरे और चौथे पाद की आराधना करना अन्तक्रिया कहलाती है। कर्मजन्य सभी क्रियाओं का व्यवच्छेद करना ही अन्तक्रिया मानी जाती है। इस दशा को प्राप्त जीव सभी कर्मों से मुक्त हो जाता है। यह आराधना अयोगी केवली गुणस्थान में प्रवेश करते हुए तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान में होती है। दूसरी केवली-आराधना कल्पविमानोपपत्तिका कहलाती है। इसका आशय है, जो साधु अवधिज्ञानी हैं, जिन्हें मन: पर्यवज्ञान है तथा जो द्वादशांग वाणी के वेत्ता हैं, उन्हें भी केवली कहा जाता है। इन को छद्मस्थ केवली भी कहते हैं। छद्मस्थ केवली छठे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के स्वामी होते हैं। उनमें भी वर्द्धमान-परिणामी और अवस्थित-परिणामी संयम के आराधक माने जाते हैं। शरीर शान्त होने के अंतिम क्षण तक जिसकी आराधना बराबर चल रही है उसी को छद्मस्थ केवली आराधना कहा जाता है। इस प्रकार के जितने आराधक होते हैं, वे काल करके बारह कल्पदेवलोकों नवग्रैवेयक देवलोकों तथा पांच अनुत्तर विमानों के अतिथि बनते हैं। भवन-पति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क आदि साधारण देव-जातियों में उनका जन्म नहीं होता। देवों में

भी उच्च देव बनते हैं, फिर वे कुछ ही भवों में निश्चय ही निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं।

ऐकान्तिक और आत्यन्तिक कर्म-क्षय को अन्तक्रिया कहते हैं। और उत्तरोत्तर विशुद्ध से विशुद्धतर आराधना करते-करते यदि आयु पहले ही पूर्ण हो जाए तो वह कल्प विमानोपपात्तिक केवली आराधना कहलाती है, अत: प्रत्येक साधक को श्रुत और चारित्र की आराधना करनी चाहिए। तीर्थंकर आदि भी इसी आराधना से लक्ष्य-बिन्दु को प्राप्त कर गए हैं।

तीर्थंकरों के अनुपम रूप का वर्णन

मूल—दो तित्थयरा नीलुप्पलसमा वन्नेणं पण्णत्ता, तं जहा—मुणिसुव्वए चेव, अरिट्ठनेमी चेव।

दो तित्थयरा पियंगुसमा वन्नेणं पण्णत्ता, तं जहा—मल्ली चेव, पासे चेव।

दो तित्थयरा पउमगोरा वन्नेणं पण्णत्ता, तं जहा—पउमप्पहे चेव, वासुपुज्जे चेव।

दो तित्थयरा चंदगोरा वन्नेणं पण्णत्ता, तं जहा—चंदप्पभे चेव, पुप्फदंते चेव ॥७४॥

छाया—द्वौ तीर्थङ्करौ नीलोत्पलसम-वर्णेन प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—मुनिसुव्रतश्चैव, अरिष्टनेमिश्चैव।

द्वौ तीर्थङ्करौ प्रियंगुसमवर्णेन प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—मल्लिश्चैव, पार्श्वश्चैव।

द्वौ तीर्थङ्करौ पद्मगौरौ वर्णेन प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—पद्मप्रभश्चैव, वासुपूज्यश्चैव।

द्वौ तीर्थङ्करौ चन्द्रगौरौ वर्णेन प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—चन्द्रप्रभश्चैव, पुष्पदन्तश्चैव।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—श्री मुनिसुव्रत और श्री अरिष्टनेमि भगवान का वर्ण नीलोत्पल के समान कथन किया गया है।

श्री मल्लिनाथ और श्री पार्श्वनाथ इन दो तीर्थंकरों का वर्ण प्रियंगु पुष्प के समान कहा गया है।

श्री पद्मप्रभ और श्री वासुपूज्य इन दो तीर्थंकरों का वर्ण पद्म अर्थात् कमल के समान गौर प्रतिपादन किया गया है।

श्री चन्द्रप्रभ और श्री पुष्पदन्त इन दो तीर्थंकरों का वर्ण चन्द्रवत् गौर प्रतिपादन किया गया है।

विवेचनिका—अन्त-क्रिया आराधना सामान्य केवली भी करते हैं और तीर्थंकर भी,

अतः प्रस्तुत सूत्र में आठ तीर्थंकरों के शरीरगत वर्ण का उल्लेख किया गया है। इस अवसर्पिणीकाल में भी पहले की भाँति २४ तीर्थंकर हुए हैं। तीर्थंकर पद सर्वोच्चपद है। उनके शरीर में १००८ शुभ लक्षण होते हैं। यदि उन लक्षणों में एक लक्षण भी किसी के शरीर में हो तो वह नियमेन राजा बनता है, किन्तु ऐसे पवित्र लक्षण जिस शरीर में एक हजार आठ हों वे कितने महान हो सकते हैं इसकी साक्षी सत्य मन स्वयं ही दे सकता है। अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा से उनमें चौंतीस विशिष्ट अतिशय भी होते हैं और उनका प्रत्येक कल्याणक आदर्श होता है। पुण्यानुबन्धी-पुण्य का सर्वोत्तम फल तीर्थंकर बनना है। इन्द्र, नरेन्द्र आदि मध्यम पुण्य के उदय से ही बनते हैं। तीर्थंकर गृहवास में भी तीन ज्ञान के धारण करने वाले होते हैं। प्रव्रज्या ग्रहण करते ही वे मनःपर्यवज्ञान समेत चार प्रकार के ज्ञान धारण करने वाले होते हैं। केवलज्ञान होने के पश्चात् ही वे तीर्थ की स्थापना करते हैं। जिसके द्वारा संसार से तिरा जाए उसे तीर्थ कहते हैं। साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका इन चार भावतीर्थों की स्थापना करने के कारण ही उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। सब तीर्थंकरों के शरीर का वर्ण—रंग एक सा नहीं होता। इसी रहस्य को व्यक्त करने के लिए सूत्रकार कहते हैं—

बीसवें मुनिसुव्रत तथा बाईसवें अरिष्टनेमि तीर्थंकर का वर्ण श्याम—अलसी फूल के समान था। उन्नीसवें मल्लीनाथ जी और तेईसवें पार्श्वनाथ जी का वर्ण प्रियंगु पुष्प के समान नीला था। छठे पद्मप्रभ और बारहवें वासुपूज्य भगवान का वर्ण लाल कमल के समान था।

आठवें चन्द्रप्रभ जी और नौवें पुष्पदन्त जिनका दूसरा नाम सुविधि भी था—इन दो तीर्थंकरों का वर्ण चन्द्र के समान गौर था। शेष सोलह तीर्थंकरों का वर्ण चमकते हुए कनक स्वर्ण की भाँति था। आचार्य हेमचन्द्रकृत अभिधानचिन्तामणि कोश में लिखा है—

रक्तौ च पद्मप्रभवासुपूज्यौ, शुक्लौ च चन्द्रप्रभ-पुष्पदन्तौ।
कृष्णौ पुनर्नेमिमुनी विनीलौ, श्रीमल्लिपार्श्वौ कनकत्विषोऽन्ये॥

एक प्राकृत गाथा में भी उक्त वर्णों का उल्लेख पाया जाता है, जैसे कि—

पउमाभवासुपुज्जा, रत्ता ससिपुप्फदंत ससिगोरा।
सुव्वय नेमी काला, पासो मल्ली पियंगाभा॥

जिस तीर्थंकर के शरीर का जो वर्ण था वह अनुपम एवं सर्वोत्तम ही था[१]।

सत्यप्रवाद नामक पूर्व-शास्त्र

मूल—सच्चप्पवायपुव्वस्स णं दुवे वत्थु पण्णत्ता ॥ ७५॥

छाया—सत्यप्रवादपूर्वस्य द्वे वस्तुनी प्रज्ञप्ते।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

---

१ तीर्थंकरो के वर्णों का विशद वर्णन औपपातिक सूत्र में विशेष रूप से किया गया है।

मूलार्थ—सत्यप्रवाद पूर्व के दो वस्तु कथन किए गए हैं।

विवेचनिका—तीर्थंकरो के द्वारा जो उपदेश दिया जाता है वही शास्त्र का रूप धारण कर लेता है, अत: तीर्थंकरो के वर्णन के अनन्तर तीर्थंकरोपदिष्ट एवं वर्तमान मे प्रचलित ग्यारह अंग शास्त्रों के समान प्राचीन काल मे १४ पूर्व नाम से प्रसिद्ध शास्त्र भी थे, किन्तु काल-प्रवाह में वे १४ पूर्व शास्त्र लुप्त हो चुके हैं। ज्ञात होता है कि स्थानांग सूत्र के निर्माण-काल तक पूर्व-ग्रन्थों का पठन-पाठन प्रचलित था। उन १४ पूर्व-शास्त्रों में सत्यप्रवाद नामक एक पूर्व-शास्त्र भी था जो १४ पूर्वों में छठा माना जाता था और जिसमें एक करोड़ छह पद थे। यह पूर्व शास्त्र दो वस्तुओं में विभक्त था। इस प्रकरण में 'वस्तु' का अर्थ स्कन्ध या अधिकार ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार सत्यप्रवाद पूर्व में कुल दो वस्तु अर्थात् स्कन्ध थे। इन दोनों स्कन्धों में सत्य और सयम पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया था।

दो तारों वाले नक्षत्र

मूल—पुव्वाभद्दवयाणक्खत्ते दुतारे पण्णत्ते। उत्तराभद्दवयाणक्खत्ते दुतारे पण्णत्ते। एवं पुव्वाफग्गुणी उत्तराफग्गुणी ॥७६॥

छाया—पूर्वाभाद्रपदनक्षत्रं द्वितारं प्रज्ञप्तम्। उत्तराभाद्रपदनक्षत्रं द्वितारं प्रज्ञप्तम्। एवं पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पूर्वाभाद्रपदनक्षत्र के दो तारे हैं। उत्तराभाद्रपदनक्षत्र के भी दो तारे कथन किए गए हैं। इसी प्रकार पूर्वाफाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के भी दो-दो तारे प्रतिपादन किए गए हैं।

विवेचनिका—पूर्व शब्द के साम्य से सूत्रकार ने पूर्वाभाद्रपद उत्तराभाद्रपद, पूर्वा-फाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनी इन चार नक्षत्रों के दो-दो तारे वर्णन किए है।[१] **"पुव्वाभद्दवया दुतारे, उत्तराभद्दवया दुतारे, पुव्वाफग्गुणी दुतारे, एवं उत्तरावि।"** चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र के इस पाठ से भी उक्त सूत्र का समर्थन हो जाता है।

प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि सूत्रकार ने क्रम को छोडकर उत्क्रम क्यो अंगीकार किया है? जबकि पहले पूर्वाफाल्गुनी का उल्लेख करना चाहिए था न कि पूर्वाभाद्रपदा का।

इस प्रश्न के उत्तर में कहना यह है कि—आगमकारों ने नक्षत्रों की गणना अभिजित् से प्रारंभ करके उत्तराषाढ़ा नक्षत्र मे उनका पर्यवसान किया है। इस गणना के अनुसार पूर्वाभाद्रपदा का क्रम पहले आता है, अत: सूत्रकार ने नक्षत्रों का विन्यास क्रम से ही किया है, उत्क्रम से नहीं।

---

१ **चौदह पूर्वों** की विशेष जानकारी के लिए देखिए आचार्य श्री आत्माराम जी म द्वारा हिन्दी मे अनूदित नन्दीसूत्र।—सम्पादक

लवण और कालोद समुद्र

मूल—अंतो णं मणुस्सखेत्तस्स दो समुद्दा पण्णत्ता, तं जहा—लवणे चेव, कालोदे चेव ॥७७॥

छाया—अन्तः खलु मनुष्यक्षेत्रस्य द्वौ समुद्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा— लवणश्चैव, कालोदश्चैव।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—४५ लाख योजन विस्तृत मनुष्य-क्षेत्र में लवण और कालोदधि नामक दो समुद्र कथन किए गए हैं।

विवेचनिका—गतिशील नक्षत्र ढाई द्वीपों में ही प्रकाश करते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में मनुष्य-लोक का वर्णन किया गया है। मनुष्य-लोक ४५ लाख योजन परिमाण लम्बा-चौड़ा है। उसमें दो समुद्र हैं—लवण और कालोद। ये ही दो समुद्र मनुष्य लोक के भीतर हैं, कारण कि तिर्यक्लोक में असंख्य द्वीप-समुद्र हैं। वे सब मनुष्य-लोक से बाहर हैं।[१]

सुभूम और ब्रह्मदत्त का नरकवास

मूल—दो चक्कवट्टी अपरिचत्त-कामभोगा कालमासे कालं किच्चा अहेसत्तमाए पुढवीए अप्पइट्ठाणे णरए नेरइयत्ताए उववन्ना, तं जहा—सुभूमे चेव, बंभदत्ते चेव ॥७८॥

छाया—द्वौ चक्रवर्तिनौ अपरित्यक्तकामभोगौ कालमासे (मरणावसरे) कालं कृत्वा अधः सप्तम्यां पृथ्व्यामप्रतिष्ठाने नरके नैरयिकत्वेनोत्पन्नौ, तद्यथा सुभूमश्चैव, ब्रह्मदत्तश्चैव।

शब्दार्थ—दो चक्कवट्टी—दो चक्रवर्ती, **अपरिचत्त-कामभोगा**—काम और भोगों को न छोडकर, **कालमासे**—मरणावसर पर, **कालं किच्चा**—मृत्यु को प्राप्त होकर, **अहे**—नीचे, **सत्तमाए पुढवीए**—सातवीं पृथ्वी में, **अप्पइट्ठाणे णरए**—अप्रतिष्ठान नामक नरक में, **नेरइयत्ताए**—नारकीपने में, **उववन्ना**—उत्पन्न हुए, जैसे, **सुभूमे चेव**—सुभूम और, **बंभदत्ते चेव**—ब्रह्मदत्त।

मूलार्थ—आठवां सुभूम और बारहवां ब्रह्मदत्त ये दो चक्रवर्ती सांसारिक काम-भोगों को न छोड़कर नीचे तमस्तमा नामक सातवीं पृथ्वी के अप्रतिष्ठान नामक नरक में नारकियों के रूप में उत्पन्न हुए। वहां उनकी उत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागरोपम की है।

---

१ इस विषय का विशेष वर्णन जीवाभिगम सूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति में विस्तृत रूप से प्राप्त होता है।

विवेचनिका—जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भरत क्षेत्र में वर्तमान अवसर्पिणी काल में बारह चक्रवर्ती राजा हुए हैं। उनमें से दो चक्रवर्ती काम-भोगों में अत्यन्त लीन हो गए थे, अतः वे मृत्यु के अनन्तर अप्रतिष्ठान नामक नरकावास में नारकी के रूप में उत्पन्न हुए। वे थे आठवें चक्रवर्ती सुभूम और बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त।

इस वर्णन से यह सिद्ध होता है कि त्यागवृत्ति वाला जीव अधोगति में नहीं जाता, इसीलिए सूत्रकर्त्ता ने "**अपरिचत्तकामभोगा**" पद दिया है। काम का अर्थ है शब्द और रूप तथा भोग का अर्थ है—गन्ध, रस और स्पर्श। इन दोनों पदों के मिलने पर काम-भोग शब्द बनता है, अतः काम-भोग का अर्थ है—पांचों इन्द्रियों के पांच विषय। इनका त्याग किए बिना जीव सद्गति का अधिकारी नहीं हो सकता।

सूत्रकर्त्ता ने '**कालमासे**' शब्द दिया है। इस शब्द के द्वारा उपलक्षणा से पक्ष, वार, अहोरात्र, मुहूर्त, पल और विपल सभी का ग्रहण हो जाता है। '**अहेसत्तमाए पुढवीए**' इस पद का आशय यह है—अधोलोक में सात पृथ्वियां हैं, इसलिए अधो शब्द के साथ सप्तम् शब्द की संयोजना की गई है। जिस से उसी का बोध होता है अन्य का नहीं। "**अप्पइट्ठाणे नरए**" इस पद का भाव यह है कि सातवीं नरक भूमि में पांच नरकावास हैं, अतः वे दोनों चक्रवर्ती पांचवें नरकावास में उत्पन्न हुए हैं। जहां सब से अधिक वेदना है और सब से अधिक पीड़ा-भोग की आयु है। अन्य चार नरकावासों में अपेक्षाकृत वेदना और आयु मध्यम है। जो यहां लौकिक दृष्टि से महान थे, बत्तीस राजाओं के भी अधिराज थे, महा-पुण्यशाली एवं महासुखी थे, धर्म-मार्ग अपनाए बिना वे सातवें नरक में तेंतीस-तेंतीस सागरोपम स्थिति वाले नरकावासो में उत्पन्न हुए। यह है कामभोगों में आसक्ति का फल। सूत्रकार इस कथा के संकेत से भोगासक्ति से विरति का उपदेश भी दे रहे हैं और आसक्ति के दुष्परिणामों का भी संकेत कर रहे हैं।

देवों की स्थिति

मूल—असुरिंदवज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता।

सोहम्मे कप्पे देवाणं उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता।

ईसाणे कप्पे देवाणं उक्कोसेणं सातिरेगाइं दो सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता।

सणंकुमारे कप्पे देवाणं जहन्नेणं दो सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता।

माहिंदे कप्पे देवाणं जहन्नेणं सातिरेगाइं दो सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता ॥ ७९ ॥

छाया—असुरेन्द्रवर्जितानां भवनवासिनां देवानां देशोने द्वे पल्योपमे स्थितिः प्रज्ञप्ता।

सौधर्मे कल्पे देवानामुत्कर्षेण द्वे सागरोपमे स्थितिः प्रज्ञप्ता।

ईशाने कल्पे देवानामुत्कर्षेण सातिरेके द्वे सागरोपमे स्थितिः प्रज्ञप्ता।

सनत्कुमारे कल्पे देवानां जघन्येन सातिरेके द्वे सागरोपमे स्थितिः प्रज्ञप्ता।

माहेन्द्रे कल्पे देवानां जघन्येन सातिरेके द्वे सागरोपमे स्थितिः प्रज्ञप्ता।

शब्दार्थ—असुरिंदवज्जियाणं—असुरेन्द्रों को छोडकर, **भवणवासीणं देवाणं**—भवनवासी देवों की, **देसूणाइं**—देशोन, **दो पलिओवमाइं**—दो पल्योपम, **ठिती पण्णत्ता**—स्थिति कही गई है। **सोहम्मे कप्पे**—सौधर्म कल्प में, **देवाणं**—देवो की, **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट, **दो सागरोवमाइं**—दो सागरोपम, **ठिती पण्णत्ता**—स्थिति कथन की गई है। **ईसाणे कप्पे**—ईशान-कल्प में, **देवाणं**—देवों की, **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट, **सातिरेगाइं**—कुछ अधिक, **दो सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता**—दो सागरोपम स्थिति कही गई है। **सणंकुमारे कप्पे**—सनत्कुमार-कल्प में, **देवाणं**—देवों की, **जहन्नेणं**—जघन्य, **दो सागरोवमाइं**—दो सागरोपम, **ठिती पण्णत्ता**—स्थिति कथन की गई है। **माहिंदे कप्पे**—माहेन्द्र-कल्प में, **देवाणं**—देवो की, **जहन्नेणं**—जघन्य, **सातिरेगाइं**—कुछ अधिक, **दो सागरोवमाइं**—दो सागरोपम, **ठिती पण्णत्ता**—स्थिति कथन की गई है।

मूलार्थ—बली और चमरेन्द्र इन दो को छोडकर शेष भवनवासी देवों की स्थिति कुछ कम दो पल्योपम कथन की गई है। सौधर्म कल्प में देवों की उत्कर्ष दो सागरोपम स्थिति कथन की गई है। ईशान-कल्प में देवों की कुछ अधिक दो सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति कथन की गई है। सनत्कुमार-कल्प में देवों की दो सागरोपम जघन्य स्थिति कथन की गई है। माहेन्द्रकल्प में देवों की कुछ अधिक दो सागरोपम जघन्य स्थिति कथन की गई है।

विवेचनिका—नरकवास का काल और स्थिति जानने के अनन्तर स्वभावत: देवलोकों के काल और स्थिति को जानने की उत्कण्ठा होती है, अत: प्रस्तुत सूत्र में देवलोकों की स्थिति का वर्णन किया गया है। सभी जीव चार गतियों में आयु के आधार पर आधारित हैं। जिस प्रकार नारकी अंसख्यात काल की स्थिति वाले होते हैं, उसी प्रकार भवनपति आदि देवों की भी स्थिति असंख्यात वर्षों की प्रतिपादन की गई है। असुरकुमार और उनके चमर एवं बलि इन दो इन्द्रों के अतिरिक्त अन्य भवनपति देवों की उत्कृष्ट स्थिति दो पल्योपम से कुछ कम होती है। इन्द्र शब्द से उनके सामानिक देवों का भी ग्रहण हो जाता है।

कल्प-स्त्रियां

मूल—दोसु कप्पेसु कप्पत्थियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—सोहम्मे चेव, ईसाणे चेव ॥८०॥

छाया—द्वयोः कल्पयोः कल्पस्त्रियः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सौधर्मे चैव, ईशाने चैव।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दो कल्पों में कल्प-स्त्रियां प्रतिपादित की गई हैं, जैसे—सौधर्म-कल्प में और ईशान कल्प में।

विवेचनिका—देव-जाति में नपुंसक लिंगी नहीं होते, अतः वहां देव और देवियां ही हैं। भवन-पति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और पहले-दूसरे देवलोक पर्यन्त देवियों की उत्पत्ति होती है, शेष कल्पों में नहीं। कल्प का अर्थ होता है—मर्यादा। जो देव या देवी राजनीति की मर्यादा मे रहते हैं, उन्हे कल्पोपपन्न कहते हैं। यद्यपि कल्प बारहवें देवलोक पर्यन्त हैं, तदपि देवियों की उत्पत्ति दूसरे कल्प तक ही होती है। शेष देवलोकों में देव ही देव हैं। काम-विकार का उदय बारहवे देवलोक तक ही होता है। कल्पातीत और अनुत्तर विमानों में नहीं।

कल्पों में तेजोलेश्या वाले देव

मूल—दोसु कप्पेसु देवा तेउलेस्सा पण्णत्ता, तं जहा—सोहम्मे चेव, ईसाणे चेव ॥८१॥

छाया—द्वयोः कल्पयोः देवास्तेजोलेश्याः, प्रज्ञप्ताः तद्यथा—सौधर्मे चैव, ईशाने चैव।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सौधर्म और ईशान दो कल्प-देवलोकों में देवों की तेजोलेश्या प्रतिपादन की गई है।

विवेचनिका—तेजोलेश्या का सद्भाव दूसरे कल्प पर्यन्त ही है। शेष कल्प या कल्पातीत देवो में तेजोलेश्या नही होती। इस प्रसग में लेश्या का अर्थ द्रव्य-लेश्या ही है। भावलेश्याएं तो दूसरे कल्प के देवों में भी छहों पाई जाती है। जिन देवों की लेश्या स्थूल दृष्टि से तुल्य है उनमें भी नीचे की अपेक्षा ऊपर के देवो की तथा अधिक स्थिति वाले देवों की उत्तरोत्तर विशुद्धतम होती हैं।

देव-परिचारणा

मूल—दोसु कप्पेसु देवा कायपरियारगा पण्णत्ता, तं जहा—सोहम्मे चेव, ईसाणे चेव।

दोसु कप्पेसु देवा फासपरियारगा पण्णत्ता, तं जहा—सणंकुमारे चेव, माहिंदे चेव।

दोसु कप्पेसु देवा रूवपरियारगा पण्णत्ता, तं जहा—बंभलोगे चेव, लंतगे चेव।

दोसु कप्पेसु देवा सद्दपरियारगा पण्णत्ता, तं जहा—महासुक्के चेव, सहस्सारे चेव।

दो इंदा मणपरियारगा पण्णत्ता, तं जहा—पाणए चेव, अच्चुए चेव ॥ ८२॥

छाया—द्वयोः कल्पयोः देवाः कायपरिचारकाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सौधर्मे चैव ईशाने चैव।

द्वयोः कल्पयोः देवाः स्पर्शपरिचारकाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सनत्कुमारे चैव, माहेन्द्रे चैव।

द्वयोः कल्पयोः देवाः रूपपरिचारकाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—ब्रह्मलोके चैव, लान्तके चैव।

द्वयोः कल्पयोः देवाः शब्दपरिचारकाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—महाशुक्रे चैव, सहस्त्रारे चैव।

द्वाविन्द्रौ मनःपरिचारकौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा—प्राणतश्चैव, अच्युतश्चैव॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दो कल्पों में देव काया से परिचारणा किया करते हैं, जैसे—सौधर्म और ईशान में।

दो कल्प लोकों में देव स्पर्श से परिचारणा करते हैं, जैसे—सनत्कुमार में और माहेन्द्र में।

दो कल्पों में देव रूप-मात्र से परिचारणा करते हैं, जैसे—ब्रह्मलोक में और लान्तककल्प में।

दो कल्पों में देव शब्द-मात्र से परिचारणा करते हैं, जैसे—महाशुक्र और सहस्त्रारकल्प में।

दो इन्द्र मन से परिचारणा करते हैं, जैसे—प्राणत और अच्युत।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र में परिचारणा के विषय में कथन किया गया है। परिचारणा यह शब्द पारिभाषिक है। देवों की रति-क्रीड़ा को परिचारणा कहा जाता है। जिस प्रकार मनुष्य शरीर द्वारा रति-क्रीड़ा करते हैं, ठीक उसी प्रकार दूसरे कल्प पर्यन्त देव भी शरीर द्वारा परिचारणा करते हैं। तीसरे और चौथे देवलोक के देव स्पर्श के द्वारा परिचारणा करते हैं। वे देवियों के केवल स्पर्श करने से ही कामतृष्णा शान्त कर लेते है। पांचवें और छठे देवलोक के देव सुसज्जित देवियों के रूप को देखकर ही विषय-जन्य सुख का अनुभव करते हैं। सातवें और आठवें स्वर्ग के देवों की कामवासना देवियों के मनोहारी शब्द-मात्र को सुनकर ही शान्त हो जाती है। नौवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें इन चार देवलोकों में रहने वाले देवों

की वैषयिक तृप्ति केवल देवियों के चिन्तन-मात्र से ही हो जाती है। उन्हें इस तृप्ति के लिए न देवियों के स्पर्श की, न रूप देखने की और न मनोहारिणी वाणी सुनने की अपेक्षा रहती है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या देवों के भी शुक्र-पुद्गल होता है? क्योंकि उसके क्षरण से ही तो वैषयिक सुखानुभव हुआ करता है। उत्तर में कहा जा सकता है कि देवों का जब शरीर वैक्रिय है तो शुक्र-पुद्गल भी वैक्रिय ही होता है, वेद-शमन शुक्रपुद्गल (वीर्य) के क्षरण से ही होता है, किन्तु मानुषीवत् गर्भ धारणा की शक्ति वह नहीं रखता। वह पुद्गल उस देवी के पांच इन्द्रियों के सुख रूप में परिणत होकर शरीर में परम शक्ति उत्पन्न करने वाला होता है। देवियां दो प्रकार की होती हैं—परिगृहीता और अपरिगृहीता। अपरिगृहीता देवी आठवें देवलोक तक जा सकती है, आगे नहीं।[1]

कल्पातीत देवलोकों में जितने भी देव हैं, वे परिचारणा नहीं करते। ऐसा उक्त पाठ से सिद्ध होता है। तो क्या वे ब्रह्मचारी होते हैं? इसके उत्तर में कहना यह है कि—उस लोक का क्षेत्रस्वभाव तथा बाह्य वातावरण ही ऐसा होता है जिससे उनमें वेद के उदय होने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। जैसे एक जन्मजात बालक को महाव्रती नहीं कहा जा सकता, जबकि वह न किसी की हिंसा करता है, न असत्य बोलता है, न चोरी करता है, न उसमें काम की कामना ही होती है और न ही उसमें परिग्रह बुद्धि ही उत्पन्न होती है, फिर भी वह साधु या ब्रह्मचारी नहीं कहलाता, क्योंकि अवस्था की दृष्टि से उसमें विकार बहुत कुछ शान्त होते हैं, वह भी स्वाभाविक ही है, फिर भी उसे त्यागी नहीं कहते, किन्तु जो वस्तु के स्वरूप को जानकर परित्याग करता है अथवा अनुकूल वातावरण के होने पर भी विकारों से विकृत नहीं होता, वही ब्रह्मचर्य कहलाता है। वह गुण जिसमें हो उसे ब्रह्मचारी कहते हैं। ऐसी भावना देवों में नहीं होती, इसलिए वे ब्रह्मचारी नहीं माने जाते।

अशुभ कर्म पुद्गल

मूल—जीवा णं दुट्ठाणणिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा, तं जहा—तसकायनिव्वत्तिए चेव, थावरकायनिव्वत्तिए चेव। एवं उवचिणिंसु वा, उवचिणंति वा, उवचिणिस्संति वा। बंधिंसु वा, बंधंति वा, बंधिस्संति वा। उदीरिंसु वा, उदीरेंति वा, उदीरिस्संति वा। वेदेंसु वा, वेदंति वा, वेदिस्संति वा। णिज्जरिंसु वा, णिज्जरिंति वा, णिज्जरिस्संति वा॥८३॥

छाया—जीवाः खलु द्विस्थाननिवृत्तिकान् पुद्गलान् पापकर्मतया चिन्वन्तो वा,

---

१ इस विषय का विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के ३४वे पद मे तथा मलयगिरी कृत वृति में विशेष रूप से किया गया है।

चिन्वन्ति वा, चेष्यन्ति वा, तद्यथा—त्रसकायनिवृत्तितांश्चैव, स्थावरकाय-निवृत्तितांश्चैव। एवमुपचितवन्तो वा, उपचिन्वन्ति वा, उपचेष्यन्ति वा। एवं बंधवन्तो वा, बध्नन्ति वा, भन्त्स्यन्ति वा। उदीरितवन्तो वा, उदीरयन्ति वा, उदीरयिष्यन्ति वा। वेदितवन्तो वा, वेदयन्ति वा, वेदिष्यन्ति वा। निर्जरवन्तो वा, निर्जरयन्ति वा, निर्जरिष्यन्ति वा।

शब्दार्थ—**जीवा णं**—जीवों ने, 'ण' वाक्यालकार में प्रयुक्त, **दुट्ठाणणिव्वत्तिए पुग्गले**— दो स्थानो से निर्वर्तित पुद्गलों को, **पावकम्मत्ताए**—पाप कर्मपने मे, **चिणिंसु वा**—अतीत काल में एकत्रित किया, **चिणंति वा**—वर्त्तमान में एकत्रित करते हैं, **चिणिस्संति वा**—भविष्यत् में एकत्रित करेंगे, **तं जहा**—यथा, **तसकायनिव्वत्तिए चेव**—त्रसकाय निर्वर्तित और, **थावरकायनिव्वत्तिए चेव**—स्थावरकाय निर्वर्तित। **एवं**—इसी प्रकार, **उवचिणिंसु वा**—पाप कर्मों का उपचय किया, **उवचिणंति वा**—उपचय करते है, **उवचिणिस्संति वा**—और उपचय करेंगे। **बंधिंसु वा**—पाप कर्मो को बांधा, **बंधंति वा**—बांधते है और, **बंधिस्संति वा**—बांधेंगे। **उदीरिंसु वा**—भूत काल में उदीरणा की, **उदीरेंति वा**—उदीरणा करते है और, **उदीरिस्संति वा**—उदीरणा करेगे। **वेदेंसु वा**—भूतकाल में वेदन किया, **वेदंति वा**—वेदते है और, **वेदिस्संति वा**—वेदन करेगे। **णिज्जरिसु वा**—निर्जरा की, **णिज्जरिंति वा**—निर्जरा करते है और, **णिज्जरिस्संति वा**—निर्जरा करेंगे।

मूलार्थ—जीवों ने दो स्थानों से त्रसकाय और स्थावर काय निर्वर्तित पुद्गलों को पाप-कर्मपने में भूत काल में एकत्रित किया, वर्तमान काल में एकत्रित करते हैं और भविष्यत् में एकत्रित करेंगे। इसी प्रकार उपचय किया, उपचय करते हैं और भविष्यत् में भी उपचय करेंगे। इसी तरह पापकर्मों का बन्ध किया, करते हैं और आगे भी करेंगे। इसी प्रकार पापकर्मो की उदीरणा की, करते हैं, एवं आगे भी करेंगे। ऐसे ही कर्मों के विपाक को वेदन किया, करते हैं और आगामी काल में भी करेंगे। इसी तरह अतीत काल में निर्जरा की, वर्त्तमान में निर्जरा करते हैं तथा आगे भी निर्जरा करेंगे।

विवेचनिका—इस सूत्र में चय, उपचय, बन्ध, उदीरणा, वेदन और निर्जरा इनका वर्णन किया गया है और साथ ही यह भी निर्देश किया गया है, कि जीवों ने त्रसपने और स्थावरपने मे पाप कर्मों का उपार्जन किया, वर्तमान में कर रहे हैं और भविष्य में करेगे। ससारसमापन्न जितने भी जीव हैं वे सब त्रस और स्थावर भेदों में विभक्त हैं, इनसे अतिरिक्त अन्य कोई ससारी जीव नही है। ससारी जीव मोह-कर्म के उदय से कर्मों का उपार्जन करते हैं। अशुभ परिणामों से पाप कर्मों का उपार्जन होता है, जिसका क्रम निम्नलिखित है—

चयन—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि के द्वारा कर्म-वर्गणा के पुद्गलों का आत्म-प्रदेशों में सग्रह ही चयन है।

उपचयन—पूर्व-बद्ध कर्मों के साथ सम्बन्धित होने से वे कर्म वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं, इसलिए इस क्रिया को उपचयन भी कहते हैं। संग्रहीत कर्म-राशि आठ कर्मों में विभाजित हो जाने से और भी पुष्ट हो जाती है।

बन्ध—उपचयन होने के अनन्तर उन कर्म-पुद्गलों की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के रूप में बन्ध हो जाना ही बन्ध कहलाता है। सामान्य, एवं विशिष्ट कर्मबन्ध को ही दूसरे शब्दों में चयन, उपचयन और बन्ध कहा गया है।

उदीरण—परिणामों के बल से कर्मों को उदय के योग्य बनाना या जो उदय योग्य हो रहे हैं, उन्हें उदीयमान करना उदीरण कहलाता है।

वेदना—जो कर्म उदीरणा के द्वारा उदय हुए हैं अथवा स्वतः उदय हुए हैं, उनका भोगना या अनुभव करना वेदन कहलाता है।

निर्जरा—वेदन के अनन्तर आत्मा से कर्म-पुद्गलों का पृथक् होना निर्जरण—निर्जरा कहलाती है। निर्जरा कर्मों की नहीं, नोकर्म की होती है।

कर्मों का चयन-उपचयन, बन्ध, उदीरणा, वेदन और निर्जरा कथन करने से सूत्रकार ने यह सिद्ध किया है कि—पुद्गल-द्रव्य आत्मगुण नहीं है, प्रत्युत यह एक जीव की तरह स्वतन्त्र-द्रव्य है। इसी कारण आत्मा इससे सर्वथा मुक्त होकर निर्वाणपद की प्राप्ति कर सकता है। इसीलिए निर्जरा पद को सबसे अन्त मे रखा गया है।

पुद्गल स्कन्धों की अनन्तता

मूल—दुपएसिया खंधा अणंता पण्णत्ता। दुपदेसोगाढा पोग्गला अणंता पण्णत्ता। एवं जाव दुगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता॥८४॥

छाया—द्विप्रदेशिकाः स्कन्धाः अनन्ताः प्रज्ञप्ताः। द्विप्रदेशावगाढाः पुद्गलाः अनन्ताः प्रज्ञप्ताः। एवं यावत् द्विगुणरूक्षाः पुद्गलाः अनन्ताः प्रज्ञप्ताः।

शब्दार्थ—दुपएसिया—दो प्रदेशिक, **खंधा**—स्कन्ध, **अणंता पण्णत्ता**—अनन्त कहे गए हैं। **दुपदेसोगाढा**—दो प्रदेशों पर अवगाहित, **पोग्गला**—पुद्गल, **अणंता पण्णत्ता**—अनन्त प्रतिपादित किए गए हैं, **एवं जाव**—इसी प्रकार यावत्, **दुगुणलुक्खा**—द्विगुण रूक्ष, **पोग्गला**—पुद्गल, **अणंता पण्णत्ता**—अनन्त कथन किए गए हैं।

मूलार्थ—दो प्रदेशों वाले स्कन्ध अनन्त कहे गए हैं। दो प्रदेशो पर अवगाहित पुद्गल अनन्त प्रतिपादन किए गए हैं। एवं इसी प्रकार यावत् दो गुण रूक्ष पुद्गल अनन्त कथन किए गए हैं।

विवेचनिका—कर्म पुद्गलात्मक है। सूत्रकार ने यहां उसका निरूपण द्विस्थान के अनुरोध से कुछ विलक्षण पद्धति से किया है, जैसे कि—**द्रव्यतः**—द्विप्रदेशी स्कन्ध अनन्त

हैं। **क्षेत्रत:**—द्विप्रदेशावगाढ पुद्‌गल भी अनन्त हैं। **कालत:**—द्विसमय अवस्थित रहने वाले पुद्‌गल भी अनन्त हैं। **भावत:**—पुद्‌गल द्रव्य में जो वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हैं, वे भाव या गुण कहलाते हैं। परमाणु पुद्‌गल से लेकर महास्कन्ध पर्यन्त, पुद्‌गल द्रव्य में गुणों का ह्रास-विकास होता ही रहता है। जो विवक्षित समय में निम्न स्तर पर काला वर्ण पहुंचा हुआ है, समयान्तर में वही काला वर्ण द्विगुणित हो जाता है। इसी प्रकार काले रंग का विकास होते-होते वह अनन्त गुणा हो जाता है। इसी प्रकार अन्य वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श के विषय में जानना चाहिए। द्विगुण रूक्ष पुद्‌गल तक सभी प्रकार के पुद्‌गल अनन्त हैं। जो अनन्तगुण रूक्ष है, वही समयान्तर में दो गुण रूक्ष भी बन सकता है, क्योंकि पदार्थ अचिन्त्य स्वभाव वाले हैं।

॥ इति द्वितीयं स्थानम् ।

|| णमोऽत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स ||

श्री स्थानाङ्ग-सूत्रम्

स्थान तृतीय

३-उद्देशक

प्रथम उद्देशक

इस उद्देशक में–

इस उद्देशक में इन्द्र, विकुर्वणा, नारकी जीव, देवपरिचारणा, मिथुनभाव, योग, करण, आयुबन्ध के कारण, गुप्ति, अगुप्ति, दण्ड, गर्हा, पुरुष-भेद, मत्स्यरूप, पक्षी-रूप, स्त्री-पुरुष-नपुंसक-भेद, तिर्यंच जीव, जीव-भेद, तारों के प्रचलन, अन्धकार-प्रकाश आदि के कारण, उपकार के दुष्प्रतिकार, सुप्रतिकार, विश्व-वन के मार्गदर्शक, काल, पुद्गल, क्रिया, उपाधि, परिग्रह, सुप्रणिधान, उत्पत्ति- स्थान, वनस्पति जीव, अनादि तीर्थ, द्वीप, काल, प्रमाण, कालस्थिति, आयु-प्रमाण, धान्य-बीज-स्थिति, नारकीय-स्थिति, क्षेत्र, समुद्र, नरक, देवलोक-प्रज्ञप्ति, आदि विषयों का त्रिविधता की दृष्टि से विवरण उपस्थित किया गया है।

तृतीय-स्थान

प्रथम उद्देशक

सामान्य-परिचय

इस स्थान में सूत्रकार ने नाना द्रव्यों का त्रिविधता की दृष्टि से अद्‌भुत वर्णन प्रस्तुत किया है।

निक्षेप की दृष्टि से इन्द्र का स्वरूप

मूल—तओ इंदा पण्णत्ता, तं जहा—णामिंदे, ठवणिंदे, दव्विंदे। तओ इंदा पण्णत्ता, तं जहा—णाणिंदे, दंसणिंदे, चरित्तिंदे। तओ इंदा पण्णत्ता, तं जहा—देविंदे, असुरिंदे, मणुस्सिंदे ॥ १॥

छाया—त्रयः इन्द्राः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—नामेन्द्रः, स्थापनेन्द्रः, द्रव्येन्द्रः। त्रयः इन्द्राः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—ज्ञानेन्द्रः, दर्शनेन्द्रः, चारित्रेन्द्रः। त्रयः इन्द्राः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—देवेन्द्रः, असुरेन्द्रः, मनुष्येन्द्रः।

शब्दार्थ—**तओ इंदा पण्णत्ता, तं जहा**—तीन इन्द्र कहे गए हैं, यथा—**णामिंदे**—नाम इन्द्र, **ठवणिंदे**—स्थापना इन्द्र, **दव्विंदे**—द्रव्य इन्द्र। **तओ इंदा पण्णत्ता, तं जहा**—तीन इन्द्र कथन किए गए हैं, यथा, **णाणिंदे**—ज्ञान-इन्द्र, **दंसणिंदे**—दर्शन इन्द्र, **चरित्तिंदे**—चारित्र इन्द्र। **तओ इंदा पण्णत्ता, तं जहा**—तीन इन्द्र हैं, यथा— **देविंदे**—देव-इन्द्र, **असुरिंदे**—असुर-इन्द्र, **मणुस्सिंदे**—मनुष्य-इन्द्र।

मूलार्थ—तीन इन्द्र कथन किए गए हैं, जैसे—नाम-इन्द्र, स्थापना-इन्द्र, द्रव्य-इन्द्र। इसी प्रकार तीन इन्द्र और भी हैं—ज्ञान-इन्द्र, दर्शन-इन्द्र और चारित्र-इन्द्र। ऐसे ही तीन इन्द्र और भी हैं, जैसे-देव-इन्द्र, असुर-इन्द्र तथा मनुष्य-इन्द्र।

विवेचनिका—इस सूत्र में निक्षेप के द्वारा इन्द्र का निरूपण किया गया है। विवेच्य वस्तु के स्वरूप को समझाने के लिए नाम आदि भेदों से उसका स्थापन करना ही निक्षेप

कहलाता है। सभी व्यवहार या ज्ञान का आदान-प्रदान भाषा के द्वारा ही होता है। भाषा शब्दों से बनती है। एक ही शब्द प्रसंगानुसार या प्रयोजनवश अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रत्येक शब्द कम से कम चार अर्थों में अवश्य प्रयुक्त होता है, जैसे कि—नामेन्द्र, स्थापनेन्द्र, द्रव्येन्द्र और भावेन्द्र। इनकी संक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित है—

नामेन्द्र—जिस जीव या अजीव पदार्थ का नाम इन्द्र रख लिया गया है, वह नाममात्र से इन्द्र होने के कारण नामेन्द्र है, परन्तु इन्द्र शब्द का व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ उस पर घटित नहीं हो सकता। इस निक्षेप मे यथार्थ, अयथार्थ और अर्थशून्य नाम की अपेक्षा नहीं रखी जाती है।

स्थापनेन्द्र—जो प्रतिकृति असली वस्तु की है, अथवा जिसमें असली वस्तु का आरोप किया गया हो, वह स्थापना कहलाती है, जैसे कि ऐश्वर्य-सम्पन्न इन्द्र के चित्र को इन्द्र कहना, भारत के चित्र को भारत कहना, जम्बूद्वीप के मानचित्र को जम्बू द्वीप कहना। स्थापना के दो भेद हैं:—

सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना। जैसे दर्पण में बिम्ब का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही जिस चित्र या मूर्ति में बिम्ब की प्रतिकृति पाई जाए, वह सद्भावस्थापना है और शतरंज के राजा-वजीर-हाथी-घोड़े के समान विकृत-प्रतिकृति को असद्भावस्थापना कहते हैं। इसी प्रकार इन्द्र की सद्भाव या असद्भाव स्थापना को इन्द्र कहना स्थापनेन्द्र है।

द्रव्येन्द्र—जो भावनिक्षेप का पूर्व या उत्तर रूप है, वही द्रव्य निक्षेप कहलाता है। इसमें किसी भी पदार्थ की भूतकालीन दशा का तथा भविष्यत् कालीन रूप का आरोप वर्तमान में किया जाता है। अनुपयुक्तावस्था मे भी यह द्रव्यनिक्षेप ही कहलाता है। जिस जीव ने निश्चित रूप से भावी-भव में इन्द्र बनना है, किन्तु अभी उसकी मनुष्यायु समाप्त नहीं हुई, उसे द्रव्येन्द्र कहते हैं। जो इन्द्र आयु समाप्त होने पर मनुष्य-भव में उत्पन्न हुआ है, उसे अतीत काल की अपेक्षा से इन्द्र कहना भी द्रव्येन्द्र माना जाता है। अथवा जिस इन्द्र का उपयोग इन्द्रपद मे नहीं लगा हुआ है वह उस समय की अपेक्षा से द्रव्येन्द्र ही है।

भावनिक्षेप का उल्लेख शब्द रूप में तो सूत्रकार ने नहीं किया, किन्तु अर्थ रूप में बिल्कुल स्पष्ट है। भावेन्द्र दो प्रकार के कथन किए गए हैं—जैसे कि लौकिक और अलौकिक। सूत्रकार ने पहले लोकोत्तरिक भावेन्द्र का उल्लेख किया है, तदनन्तर लौकिक इन्द्र का। जिस ने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह ज्ञान की अपेक्षा से ज्ञानेन्द्र है। जिसमें क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो गया है, वह अन्य सम्यग्दृष्टि जीवों की अपेक्षा दर्शनेन्द्र है और जिसमें यथाख्यात-चारित्र उत्पन्न हो गया है, अन्य चारित्री-जीवों की अपेक्षा वह श्रेष्ठतम है अत: वह चारित्रेन्द्र है। अथवा अप्रतिपाति ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप रत्नत्रय से जो सम्पन्न हैं, वे ज्ञानेन्द्र, दर्शनेन्द्र, और चारित्रेन्द्र कहलाते हैं। अथवा जो रत्नत्रय के साधक निरतिचार ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना करते हैं, वे भी लोकोत्तरिक भावेन्द्र की श्रेणी में आ जाते हैं।

लौकिक भावेन्द्र भी तीन ही तरह के होते हैं—ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के अधिराजा को देवेन्द्र कहते हैं। भवनपति और वानव्यन्तर देवों के प्रमुख शासक को असुरेन्द्र कहा जाता है। चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि प्रधान शास्ताओं को मनुष्येन्द्र कहते हैं। लौकिक भावेन्द्र का भविष्य समुज्ज्वल भी होता है और अन्धकारमय भी, किन्तु लोकोत्तरिक भावेन्द्र का भविष्य सदा-सर्वदा अत्युज्ज्वल ही रहता है, यही दोनों में अन्तर है।

अनेक रूप विकुर्वणा

मूल—तिविहा विकुव्वणा पण्णत्ता, तं जहा—बाहिरए पोग्गले परि-याइत्ता एगा विकुव्वणा। बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता एगा विकुव्वणा। बाहिरए पोग्गले परियाइत्तावि अपरियाइत्तावि एगा विकुव्वणा।

तिविहा विकुव्वणा पण्णत्ता, तं जहा—अब्भंतरए पोग्गले परियाइत्ता एगा विकुव्वणा। अब्भंतरए पोग्गले अपरियाइत्ता एगा विकुव्वणा। अब्भंतरए पोग्गले परियाइत्तावि अपरियाइत्तावि एगा विकुव्वणा।

तिविहा विकुव्वणा पण्णत्ता, तं जहा—बाहिरब्भंतरए पोग्गले परि-याइत्ता एगा विकुव्वणा। बाहिरब्भंतरए पोग्गले अपरियाइत्ता एगा विकुव्वणा, बाहिरब्भंतरए पोग्गले परियाइत्तावि अपरियाइत्तावि एगा विकुव्वणा ॥ २ ॥

छाया—त्रिविधा विकुर्वणा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—बाह्यान् पुद्गलान् पर्यादाय एका विकुर्वणा। बाह्यान् पुद्गलानपर्यादाय एका विकुर्वणा। बाह्यान् पुद्गलान् पर्यादायापि अपर्यादायापि एका विकुर्वणा।

त्रिविधा विकुर्वणा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—अभ्यन्तरकान् पुद्गलान् पर्यादाय एका विकुर्वणा।

अभ्यन्तरकान् पुद्गलानपर्यादाय एका विकुर्वणा। अभ्यन्तरकान् पुद्गलान् पर्यादायापि अपर्यादायापि एका विकुर्वणा।

त्रिविधा विकुर्वणा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—बाह्याभ्यन्तरकान् पुद्गलान् पर्यादाय एका विकुर्वणा। बाह्याभ्यन्तरकान् पुद्गलानपर्यादाय एका विकुर्वणा। बाह्याभ्यन्तरकान् पुद्गलान् पर्यादायापि अपर्यादायापि एका विकुर्वणा।

शब्दार्थ—तिविहा विकुव्वणा पण्णत्ता, तं जहा—तीन प्रकार की विकुर्वणा कही गई है, जैसे, **बाहिरए पोग्गले**—बाहिर के पुद्गलो को, **परियाइत्ता**—ग्रहण करके, **एगा विकुव्वणा**—एक विकुर्वणा की जाती है। **बाहिरए पोग्गले**—बाहिर के पुद्गलो को, **अपरियाइत्ता**—बिना लिए, **एगा विकुव्वणा**—एक विकुर्वणा होती है। **बाहिरए पोग्गले**

परियाइत्तावि अपरियाइत्ताविं—बाहिर के पुद्गलों को ग्रहण करके और बिना ग्रहण किए भी, **एगा विकुव्वणा**—एक विकुर्वणा की जाती है। **तिविहा विकुव्वणा पण्णत्ता, तं जहा**—तीन प्रकार की विकुर्वणा कही गई है, जैसे, **अब्भंतरए पोग्गले**—अभ्यन्तर के पुद्गल, **परियाइत्ता एगा विकुव्वणा**—ग्रहण करके एक विकुर्वणा होती है। **अब्भंतरे पोग्गले**—अभ्यन्तर-पुद्गलों को, **अपरियाइत्ता एगा विकुव्वणा**—बिना ग्रहण किए एक विकुर्वणा होती है, **अब्भंतरए पोग्गले**—अभ्यन्तर के पुद्गल, **परियाइत्तावि अपरियाइ-त्तावि**—ग्रहण करने पर और न ग्रहण करने पर भी, **एगा विकुव्वणा**—एक विकुर्वणा होती है। **तिविहा विकुव्वणा पण्णत्ता, तं जहा**—तीन तरह की विकुर्वणा है, जैसे—**बाहिर-ब्भंतरए पोग्गले**—बाहिर और अभ्यन्तर के पुद्गलों को, **परियाइत्ता एगा विकुव्वणा**—ग्रहण करके एक विकुर्वणा होती है। **बाहिरब्भंतरए पोग्गले**—बाहिर और अभ्यन्तर के पुद्गलों को, **अपरियाइत्ता एगा विकुव्वणा**—बिना लिए एक विकुर्वणा होती है। **बाहिरब्भंतरए पोग्गले**—बाहिर और अभ्यन्तर के पुद्गल, **परियाइत्तावि अपरियाइत्तावि**—लेने और न लेने पर भी, **एगा विकुव्वणा**—एक विकुर्वणा होती है।

मूलार्थ—तीन प्रकार की विकुर्वणा—सज्जा प्रतिपादन की गई है, जैसे—एक विकुर्वणा बाह्य पुद्गल ग्रहण करने पर की जाती है। एक विकुर्वणा बाहिर के पुद्गलों को बिना लिए की जाती है और बाहिर के पुद्गल ग्रहण करने पर और न ग्रहण करने पर भी एक विकुर्वणा की जाती है।

तीन तरह की विकुर्वणा और कही गई है, जैसे—अभ्यन्तर-पुद्गलों को ग्रहण करने से एक विकुर्वणा होती है। एक विकुर्वणा अभ्यन्तर पुद्गल लिए बिना ही होती है। एक विकुर्वणा अभ्यन्तर-पुद्गलों को ग्रहण करने पर और न ग्रहण करने पर भी होती है।

तीन तरह की विकुर्वणा—विभूषा और भी कही गई है, जैसे—बाह्य-अभ्यन्तर पुद्गलो को लेने से एक विकुर्वणा होती है। एक विकुर्वणा बाह्य-अभ्यन्तर पुद्गल लिए बिना होती है तथा एक विकुर्वणा बाह्य-अभ्यन्तर पुद्गल लेने और न लेने पर भी की जाती है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वर्णित इन्द्रों में वैक्रिय करण की शक्ति अर्थात् विकुर्वणा-शक्ति होती है, अत: प्रस्तुत सूत्र में विकुर्वणा—वैक्रिय अर्थात् विकृति का वर्णन किया गया है। विकुर्वणा वैक्रिय शरीरी देव और नारकी, वैक्रियलब्धि-सम्पन्न मनुष्य-तिर्यंच एवं रूपपरावर्तिनी-कला-सम्पन्न जीव ही कर सकते हैं। विकुर्वणा सुन्दर और असुन्दर दोनों तरह की होती है। प्रत्येक के तीन-तीन भेद होने से विकुर्वणा के नौ भेद हो जाते हैं। किसी विकुर्वणा में बाहिर के पुद्गल ग्रहण किए जाते हैं और किसी में अन्दर के पुद्गल ग्रहण

किए जाते हैं तथा किसी में दोनों पुद्गलों का ग्रहण होता है। विकुर्वणा का विस्तृत विवेचन निम्नलिखित है—

बाह्य-पुद्गल ग्रहण की दृष्टि से—

१—एक विकुर्वणा वह है जो देवता आदि द्वारा अपने से अलग रहने वाले पुद्गलों को वैक्रिय समुद्घात द्वारा ग्रहण करके की जाती है।

२—बाहर के पुद्गलों को ग्रहण किए बिना ही अर्थात् भवधारणीय रूप में ही जो पुद्गल ग्रहण किए हुए हैं, उनके द्वारा दूसरी विकुर्वणा होती है।

३—कुछ पुद्गल भवधारणीय शरीर से लेकर और कुछ बाहर के पुद्गल ग्रहण करके जो विकुर्वणा की जाती है, वह तीसरे प्रकार की होती है। अथवा यदि विकुर्वणा का अर्थ विभूषा किया जाए तो उक्त पाठ का भाव यह होगा, कि—विभूषा के उपयोगी जो भी बाह्य वस्त्र-आभरण आदि हैं, उनका उपयोग करना एक विकुर्वणा है। बाह्य-पुद्गल ग्रहण किए बिना ही विभूषा करना, जैसे कि—अपने केश, नखादि का संवारना दूसरी विकुर्वणा है। कुछ बाह्य पुद्गलों को लेकर और केश नखादि संवारना यह तीसरी तरह की विकुर्वणा है।

आभ्यन्तरिक पुद्गलों के ग्रहण की दृष्टि से—

१—भवधारणीय वैक्रिय शरीर वाले देव आदि द्वारा अथवा औदारिक शरीर वाले मनुष्यों आदि के द्वारा अपने शरीर में ही विद्यमान पुद्गलों द्वारा जो विकुर्वणा की जाती है, वह पहली विकुर्वणा है, जैसे कि—सर्प तरह-तरह के फण तथा गिरगिट विभिन्न प्रकार के वर्ण परिवर्तन करते हैं। यह विकुर्वणा आभ्यन्तर पुद्गलों से ही की जाती है।

२—भवधारणीय या औदारिक शरीर में जो अनावश्यक पुद्गल हैं, उनको छोड़ना दूसरी विकुर्वणा है।

३—शरीरगत कुछ पुद्गलों को लेकर और कुछ को छोडकर जो विकुर्वणा की जाती है, वह तीसरी विकुर्वणा है।

विभूषा पक्ष में अपने केश-नख आदि का संवारना, अनावश्यक मल-श्लेष्म आदि का परित्याग करना, इस प्रकार दूसरे सूत्र में कहे गए विकुर्वणा का भाव जानना चाहिए। तीसरे सूत्र में विकुर्वणा का प्रकार उक्त दोनों सूत्रों से विलक्षण ही निरूपित किया गया है, जैसे कि—

बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों पुद्गलों के ग्रहण की दृष्टि से—

१—जिस में भवधारणीय शरीर से बाहर कुछ पुद्गलों को और कुछ आभ्यन्तर पुद्गलों को ग्रहण करके जो विकुर्वणा होती है, वह पहले प्रकार की विकुर्वणा मानी जाती है।

२—दूसरी विकुर्वणा वह होती है—जो बाह्य और आभ्यन्तर दोनों पुद्गलों को ग्रहण किए बिना ही होती है—जैसे कि भवधारणीय शरीर में ही मुख विकार आदि करना।

३—तीसरे प्रकार की विकुर्वणा वह कहलाती है जिसमें कुछ बाह्य-अभ्यन्तर पुद्गलों को ग्रहण करके और अनावश्यक बाह्य-आभ्यन्तर पुद्गलों को न ग्रहण करके अर्थात् इष्ट-पुद्गल को ग्रहण कर और अनिष्ट पुद्गलों को बिना ही ग्रहण किए जो विकुर्वणा की जाती है, वही तीसरे प्रकार की विकुर्वणा है।

विभूषा पक्ष में—कुछ वस्त्र, अंगराग, मेंहदी, माला, सुरखी आदि ग्रहण करके और कुछ केश-नखादि संवारने से जो विकुर्वणा होती है और कुछ दोनों के बिना ही ग्रहण किए हर्ष, विषाद, हास्य-जनक मुख-विकार आदि करके विकुर्वणा की जाती है और कुछ यथासमय अभीष्ट पुद्गलों को ग्रहण करके जो विकुर्वणा होती है, वह तीसरे प्रकार की है। इस प्रकार विकुर्वणा के नौ रूप बनते हैं।

जीवों का वर्गीकरण

मूल—तिविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—कति-संचिया, अकति-संचिया, अवत्तव्वगसंचिया। एवमेगिंदियवज्जा जाव वेमाणिया॥ ३ ॥

छाया—त्रिविधाः नैरयिकाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—कतिसञ्चिताः, अकतिसञ्चिताः, अवक्तव्यसंचिताः। एवमेकेन्द्रियवर्जाः यावत् वैमानिकाः।

शब्दार्थ—तिविहा नेरइया—तीन प्रकार के नारकी, **पण्णत्ता, तं जहा**—कथन किए गए हैं,यथा—**कतिसंचिया**—कति-संचित, **अकतिसंचिया**—अकति-संचित और, **अवत्तव्वगसंचिया**—अवक्तव्यसंचित, **एवमेगिंदियवज्जा**—इसी प्रकार एकेन्द्रियों को छोड़ कर, **जाव**—यावत्, **वेमाणिया**—वैमानिकों तक कहना।

मूलार्थ—नारक जीव तीन प्रकार के कथन किए गए हैं, जैसे—कतिसंचित, अकति-संचित और अवक्तव्य-संचित। इसी प्रकार एकेन्द्रियों को छोड़कर वैमानिकों तक तीन-तीन भेद समझने चाहिएं।

विवेचनिका—देवों के समान विकुर्वणा नारकी भी कर सकते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में नारकीयों का वर्णन किया गया है। इस सूत्र में चौबीस दण्डकों के अन्तर्गत जीवों की संख्या का वर्णन है। सामान्य रूप से 'कति' शब्द का अर्थ है—कितने। किन्तु यहां 'कति' शब्द संख्यामात्र का परिचायक है। नैरयिक तीन प्रकार के कहे गए हैं। जो एक समय में दो नारकी से लेकर संख्यात नारकी तक नैरयिक रूप में उत्पन्न होते हैं, वे नारकी कति-संचित कहलाते हैं। एक समय में असंख्यात उत्पन्न होने वाले नारकियों को अकति-संचित कहा जाता है। यदि एक समय में एक ही जीव नारकी के रूप में उत्पन्न होता है तो उसे अवक्तव्य-संचित कहा जाता है। इसी प्रकार पांच स्थावरों के अतिरिक्त उन्नीस दण्डकों में सभी जीव कति-संचित, अकति-संचित और अवक्तव्य-संचित—इन तीन रूपों में पाए जाते हैं।

वनस्पति के अतिरिक्त चार स्थावरों में सूक्ष्म, बादर (स्थूल), पर्याप्त और अपर्याप्त इन चार अवस्थाओं में असंख्यात जीव ही उत्पन्न होते हैं। वे आयुपर्यन्त असंख्यात ही रहते हैं और असंख्यात ही मरते हैं, इस कारण कति-संचित और अवक्तव्य-संचित ये दो उनमें नहीं पाए जाते हैं।

वनस्पति में अनन्त जीव हैं, अत: उनकी गणना भी अकतिसंचित में ही होती है, क्योंकि समय-समय में अनन्त-अनन्त जीव वनस्पति रूप में उत्पन्न होते रहते हैं। एक या संख्यात जीव पांच स्थावरों में उत्पन्न नहीं होते, अत: एकेन्द्रिय जीवों में अकति-संचित ही होते हैं।

उक्त विषय को निम्नलिखित दो गाथाओं में स्पष्ट किया गया है—

अणुसमय संखेज्जा, संखेज्जाउय तिरिय मणुआ य।
एगेंदिएसु गच्छे, आराईसाण देवा य॥
एगो असंख भागो, वट्टइ उव्वट्टणोववायम्मि।
एग णिगोए णिच्चं, एवं सेसेसु वि स एव॥

सख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य, तिर्यञ्च, भवन-पति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और पहले दूसरे देवलोकों के देव तथा देवियां एकेन्द्रिय जीवों के रूप में भी उत्पन्न हो सकते हैं।

देव-परिचारणा

मूल—तिविहा परियारणा पण्णत्ता, तं जहा—एगे देवे, अन्ने देवे, अन्नेसिं देवाणं देवीओ अ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेति। अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेति। अप्पाणमेव अप्पणा विउव्वि-य विउव्विय परियारेति।

एगे देवे णो अन्ने देवा, णो अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय-अभि-जुंजिय परियारेति। अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेति। अप्पाणमेव अप्पणा विउव्विय विउव्विय परियारेति।

एगे देवे णो अन्ने देवा, णो अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय-अभि-जुंजिय परियारेति। णो अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेति, अप्पाणमेव अप्पाणं विउव्विय-विउव्विय परियारेति ॥४॥

छाया—त्रिविधा परिचारणा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—एको देवोऽन्यान् देवानन्येषां देवानां देवीश्च अभियुज्य-अभियुज्य परिचारयति, आत्मीया देवी:, अभियुज्य-अभियुज्य परिचारयति। आत्मनामेव आत्मना विकृत्य-विकृत्य परिचारयति।

एको देवो नोऽन्यान् देवान् नोऽन्येषां देवानां देवीश्च अभियुज्य-अभियुज्य परिचारयति। आत्मीया देवीरभियुज्य-अभियुज्य परिचारयति, आत्मनामेव आत्मना विकृत्य-विकृत्य परिचारयति।

एको देवो नोऽन्यान् देवान्, नोऽन्येषां देवानां देवीरभियुज्य-अभियुज्य परिचारयति। नो आत्मीया देवीरभियुज्य-अभियुज्य परिचारयति, आत्मनामेव आत्मना विकृत्य-विकृत्य परिचारयति।

शब्दार्थ—**तिविहा परियारणा पण्णत्ता, तं जहा**—तीन प्रकार की परिचारणा कही गई है, जैसे— **एगे देवे**—एक देव, **अन्ने देवे**—अल्प-ऋद्धि वाले देवों को तथा, **अन्नेसिं देवाणं**—अन्य देवों की, **देवीओ**—देवियों को, **अभिजुंजिय-अभिजुंजिय**—वश में करके, **परियारेति**—परिचारणा करता है। **अप्पणिज्जियाओ देवीओ**—अपनी देवियों को, **अभि-जुंजिय-अभिजुंजिय**—आलिंगन करके, **परिचारेति**—परिचारणा करता है। **अप्पाणमेव**—अपने आत्मा से ही, **अप्पणा**—आत्मा द्वारा, **विउव्विय विउव्विय**—विकुर्वणा कर, **परिया-रेति**—परिचारणा करता है।

एगे देवे—कुछ एक देव, **णो अन्ने देवा**—न अन्य देवों से, **णो अण्णेसिं देवाणं**—न अन्य देवों की, **देवीओ**—देवियों को, **अभिजुंजिय-अभिजुंजिय**—वश करके, **परि-यारेति**—परिचारणा करते हैं, किन्तु, **अप्पणिज्जियाओ देवीओ**—अपनी देवियों को, **अभिजुंजिय-अभिजुंजिय**—वश करके, **परियारेति**—परिचारणा करते हैं। **अप्पाणमेव अप्पणा**—अपनी आत्मा से ही अपने साथ, **परियारेति**—परिचारणा करते हैं।

एगे देवे—कुछ देव, **णो अन्ने देवा**—न अन्य देवों से, **णो अण्णेसिं देवाणं देवीओ**—न अन्य देवों की देवियों से, **अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेति**—वशकर परिचारणा करते हैं, अपितु, **अप्पाणमेव अप्पणा**—स्वयं अपनी आत्मा से, **विउव्विय-विउव्विय**—विकुर्वणा करके, **परियारेति**—परिचारणा करते हैं।

मूलार्थ—देव परिचारणा तीन प्रकार से कथन की गई है, जैसे कुछ देव अल्प ऋद्धि वाले किसी देव या अन्य देवों की देवियों को वश में कर उनसे परिचारणा करते हैं, अपनी देवियों से परिचारणा करते हैं, तथा अपने द्वारा विकुर्वणा करके उससे परिचारणा करते हैं।

कुछ देव न अन्य देवों से, न अन्य देवियों से परिचारणा करते हैं, किन्तु अपनी देवियों से तथा अपने द्वारा विकुर्वणा कर उससे परिचारणा करते हैं।

कोई एक देव न अन्य देवों से, न अन्य देवियों से और न ही अपनी देवियों से परिचारणा करते हैं, किन्तु अपने द्वारा विकुर्वणा कर उससे ही परिचारणा करते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वैमानिक देवों तक का वर्गीकरण करके अब देवों-सम्बन्धी परिचारणा का वर्णन किया गया है। इस सूत्र में वासना का उदय होने पर देव किस प्रकार परिचारणा (वासना-शान्ति) करते हैं? इस विषय का स्पष्ट चित्रण किया गया है। मोहकर्म का अखण्ड शासन तीनों लोकों में व्याप्त है। मनुष्य योनि में भी जो वीतराग हैं, अवेदी एवं अप्रमत्त संयत हैं, उनके अतिरिक्त शेष सभी पर मोहकर्म का शासन पाया जाता है। वासना का उदय भी सबमें समान रूप से नहीं होता, किसी में तीव्र-उदय, किसी में तीव्रतर-उदय एवं किसी में तीव्रतम उदय होता है। मन्दोदय की गणना देवों में नहीं होती। इस सूत्र से यह स्वत: सिद्ध हो जाता है कि—देव भी इस कामविकार से सुरक्षित नहीं हैं, उनमें भी तरह-तरह की काम-चेष्टाएं पाई जाती हैं। जब भी उनमें वेदोदय (वासना का उदय) होता है, तब वह किसी भी तरह निष्फल नहीं जाता। तीव्र वासना को शान्त करने का जो भी उन्हें प्रकार सूझता है, उसका उपयोग करने में वे चूकते नहीं हैं।

देवों में भी सबकी प्रकृति और स्वभाव एक समान नहीं होता। कुछ राजनीति के नियमों से पूर्णतया सन्नद्ध एवं बद्ध हैं, कुछ ऐसे भी हैं, जो पूर्णतया राजनीति के नियमों से सन्नद्ध एवं बद्ध नहीं हैं और कुछ स्वच्छन्दाचारी भी हैं, अत: उनकी परिचारणा के प्रकार भी विभिन्न हैं।

ऊर्ध्व लोकों में रहने वाले देवता भी भोगों में लीन रहने वाले जीव हैं, भोगी होने के कारण वे भी हिंसा, झूठ, चोरी और मैथुन आदि भोगों एवं भोग-साधनों से उदासीन नहीं रह सकते हैं, यही कारण है कि उनमें भी सामान्य जीवों के समान अनुकूल निमित्त मिलते ही विषय-सुख की कामना उद्दीप्त एवं प्रदीप्त हो उठती है और इस कामना के कारण वे भी परिचारणा अर्थात् रति-सुख के लिए लालायित हो उठते हैं। उनकी इस परिचारणा के सूत्रकार ने तीन रूप प्रस्तुत किए हैं—

(क) कुछ रति-कामी ऐसे देवता भी हैं जो अपने वैभव की अपेक्षा हीन वैभव वाले देवताओं को भय एवं प्रलोभन आदि से वश में करके उनकी देवियों से अपनी वासना को शान्त करते हैं। इस प्रकार देवों की परिचारणा का यह प्रथम रूप है।

प्रस्तुत प्रकरण में यह विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार की परिचारणा-वृत्ति कुछ निकृष्ट-वृत्ति वाले देवों में ही पाई जाती है, सभी देवों में नहीं।

(ख) कुछ रति-कामी ऐसे देवता भी हैं जो अपनी उद्दीप्त वासनाओं को केवल अपनी देवियों से ही शान्त करते हैं और इस शान्ति के लिए वे अपनी देवियों की विविध रूपों से परिचर्या करते हैं और उनके साथ विनोद करते हैं। देव-परिचारणा का यह दूसरा रूप है।

(ग) कुछ ऐसे भी रति-सुख-प्रेमी देव हैं, जो अन्य देवों की देवियों के साथ किसी कारणवशात् अपनी देवियों के भी अभाव में अपनी वासना को शान्त करने के लिए अपनी

उत्तर-वैक्रिय नामक विशेष शक्ति के द्वारा सुन्दर स्त्री-शरीर का निर्माण करके उससे अपनी रति-सुख की कामना को पूर्ण कर लेते हैं। यह देव-परिचारणा का तीसरा रूप है।

देव-परिचारणा के इस तीसरे रूप के विषय में एक शंका उत्पन्न हो सकती है कि—भगवती सूत्र (२।५।१००) के अनुसार जीव एक समय में एक ही वेद का अनुभव कर सकता है, दो का नहीं। जिस समय देव में 'पुरुष वेद' अर्थात् पुरुष-भाव के कारण नारी-कामना जागृत हुई है, उसी समय उसने जो नारी-रूप तैयार किया है, उस नारी-रूप में उस समय नारी-वेद अर्थात् नारी-भाव के कारण पुरुष-कामना भी जागृत होगी, परन्तु वह नारी रूप वैक्रिय शरीर होने के कारण उस देव का ही रूप माना जाएगा। ऐसी दशा में उस देव में पुरुष-वेद और स्त्री-वेद दोनों एक साथ किस प्रकार रह सकते हैं?

उत्तर में कहा जा सकता है कि पुरुष-वेदी देव अपनी शक्ति द्वारा पुद्गलों को ग्रहण कर जिस नारी रूप का निर्माण करता है, वह तो जडवत् होता है, अतः उसमें 'स्त्रीवेद' की अनुभूति नहीं होती, वह तो देवता के वेद को शान्त करने का एक साधन-मात्र ही होता है, अतः इस परिचारणा के समय देव में एक ही वेद की अनुभूति होती है, दो वेदों की नहीं। अतः भगवती-सूत्र का यह वचन सत्य ही है कि जीव में एक समय में एक ही वेद की अनुभूति होती है, दो की नहीं।

मिथुन-भाव

मूल—तिविहे मेहुणे पण्णत्ते, तं जहा—दिव्वे, माणुस्सए, तिरिक्ख-जोणिए।

तओ मेहुणं गच्छंति, तं जहा—देवा, मणुस्सा, तिरिक्खजोणिया।

तओ मेहुणं सेवंति, तं जहा—इत्थी, पुरिसा, णपुंसगा॥५॥

छाया—त्रिविधं मैथुनं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—दिव्यम्, मानुष्कम्, तिर्यग्योनिकम्।
त्रयो मैथुनं गच्छन्ति, तद्यथा—देवाः, मनुष्याः, तिर्यग्योनिजाः।
त्रयो मैथुनं सेवन्ते, तद्यथा—स्त्रियः, पुरुषाः, नपुंसकाः।

शब्दार्थ—तिविहे मेहुणे पण्णत्ते, तं जहा—तीन प्रकार का मैथुन कहा गया है, जैसे—**दिव्वा**—देव-सम्बन्धी, **माणुस्सए**—मनुष्य सम्बन्धी और, **तिरिक्खजोणिए**—तिर्यञ्च-सम्बन्धी। **तओ मेहुणं गच्छंति**—तीन मैथुन धर्म को प्राप्त होते है, **तं जहा**—यथा, **देवा**—देव, **मणुस्सा**—मनुष्य और, **तिरिक्खजोणिया**—तिर्यञ्च।

तओ मेहुणं सेवंति—तीन प्रकार के जीव मैथुन का सेवन करते हैं, **तं जहा**—जैसे—**इत्थी**—स्त्रियां, **पुरिसा**—पुरुष और, **णपुंसगा**—नपुंसक।

मूलार्थ—तीन प्रकार का मैथुन कहा गया है, जैसे—देव-सम्बन्धी, मनुष्य-सम्बन्धी और तिर्यञ्च सम्बन्धी।

तीन मैथुन धर्म को प्राप्त होते हैं, जैसे—देव, मनुष्य और तिर्यञ्च।

तीन मैथुन का सेवन करते हैं, जैसे—स्त्री, पुरुष और नपुंसक।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में परिचारणा का वर्णन किया गया है, अब इस सूत्र में परिचारणा के अंगभूत मैथुन का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

वासनाभिभूत नर-नारी के पारस्परिक मिलन की सम्भोगात्मक क्रिया को मैथुन कहा जाता है। यह मैथुन-क्रिया देव, मनुष्य और तिर्यंचों में ही होती है। इस कारण मैथुन को त्रिविध कहा गया है। नारकी जीवो में मैथुन-क्रिया नही पाई जाती, क्योंकि तीव्र वेदना पाते हुए जीवों में वासना का उदय असम्भव होता है।

जब जीव में वेदोदय हो जाता है, तब वह अपने भोग्य की गवेषणा करता है, अथवा अपने भोग्य को येन-केन प्रकारेण प्राप्त कर ही लेता है। जब प्रबल रूप से कामदेव का भूत सवार हो जाता है, तब जीव गम्य, अगम्य, नैतिक और अनैतिक के विवेक से रहित हो जाता है।

त्रिलिंगी मैथुन सेवन करते है, स्त्री, पुरुष और नपुंसक। स्त्रीवेद के उदय से स्त्री पुरुष को चाहती है, पुरुष-वेद के उदय से पुरुष स्त्री को चाहता है, किन्तु नपुंसक वेद के उदय से नपुसक मे स्त्री और पुरुष दोनो की चाह होती है, क्योंकि उसमे कामाग्नि की प्रदीप्ति अधिक होती है, फिर भी वह उस अग्नि को शान्त नहीं कर सकता है।

स्त्री, पुरुष और नपुंसक ये तीन वेद मनुष्य और तिर्यंच भव में ही पाए जाते हैं, किन्तु देवभव में नपुंसक वेद नही होता और नारकीय भव मे स्त्री और पुरुष ये दो वेद नहीं पाए जाते, वे तो केवल नपुंसक वेदी ही होते हैं। वृत्तिकार ने तीन लिंगियों के लक्षण विभिन्न बताएं हैं, जैसे कि—

स्त्र्यादि लक्षणमिदमाचक्षते विचक्षणाः—

योनिर्मृदुत्वमस्थैर्य, मुग्धत्वं क्लीवता स्तनौ।
पुंस्कामितेति लिंगानि, सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते॥
मेहनं, खरता, दार्ढ्यं, शौण्डीर्यं, श्मश्रु, धृष्टता।
स्त्रीकामितेति, लिङ्गानि सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते॥
स्तनादिश्मश्रुकेशादि, भावाभावसमन्वितम्।
नपुंसकं बुधाः प्राहुर्मोहानलसुदीपितम्॥

अर्थात्-स्त्री के सात लक्षण हैं जिनके द्वारा स्त्री की पहचान होती है—१. योनि, २. सुकोमलता, ३. अधृति, ४. मुग्धता, ५. भीरुता, ६. स्तन, ७. पुरुष की कामना, इन सात लिंगो से स्त्रीत्व कहा जाता है।

सात लक्षण पुरुष के हैं, जैसे कि १. लिंग, २. कठोरता, ३. दृढ़ता, ४. शूर-वीरता,

५. दाढ़ी-मूंछ का होना, ६. धृष्टता और ७. स्त्री की कामना, इन सात लिंगों से पुरुष कहा जाता है।

स्तनादि, दाढ़ी, मूंछ, केश आदि का होना या न होना, काम की अतिकामना का होना ये लक्षण नपुंसक में पाए जाते हैं। पांच स्थावरों में और असंज्ञी त्रस जीवों में तथा नारकी में नपुंसक वेद अव्यक्त रूप से पाया जाता है। मोहकर्म के उदय से ही जीव में मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है, इस के क्षय, क्षयोपशम तथा उपशम किए बिना वह धर्म की प्राप्ति नहीं कर सकता।

योग और करण विश्लेषण

मूल—तिविहे जोगे पण्णत्ते, तं जहा—मणजोगे, वइजोगे, कायजोगे। एवं णेरइयाणं, विगलिंदियवज्जाणं, जाव वेमाणियाणं।

तिविहे पओगे पण्णत्ते, तं जहा—मणपओगे, वइपओगे, कायपओगे। जहा जोगो विगलिंदियवज्जाणं तहा पओगो वि।

तिविहे करणे पण्णत्ते, तं जहा—मणकरणे, वइकरणे, कायकरणे। एवं विगलिंदियवज्जं जाव वेमाणियाणं।

तिविहे करणे पण्णत्ते, तं जहा—आरंभकरणे, संरंभकरणे, समारंभ-करणे निरंतरं जाव वेमाणियाणं ॥ ६॥

छाया—त्रिविधो योगः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—मनो-योगः, वाग्योगः, काय-योगः। एवं नैरयिकाणां, विकलेन्द्रियवर्जानां यावत् वैमानिकानाम्।

त्रिविधः प्रयोगः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—मनः-प्रयोगः, वाक्-प्रयोगः, काय-प्रयोगः। यथा योगो विकलेन्द्रियवर्जानां तथा प्रयोगोऽपि।

त्रिविधं करणं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—मनःकरणं, वाक्करणं, कायकरणं। एवं विकले-न्द्रियवर्जं यावत् वैमानिकानाम्।

त्रिविधं करणं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आरम्भकरणम्, संरम्भकरणम्, समारम्भकरणम्। निरन्तरं यावद् वैमानिकानाम्।

शब्दार्थ—तिविहे जोगे पण्णत्ते, तं जहा—तीन प्रकार का योग प्रतिपादन किया गया है, यथा— **मणजोगे**—मन का व्यापार, **वइजोगे**—वचन का व्यापार, **कायजोगे**—काय का व्यापार, **एवं**—ऐसे ही, **णेरइयाणं**—नारकियो के भी तीन योग हैं। **विगलिंदियवज्जाणं**—विकलेन्द्रियों को छोड़कर, **जाव**—यावत्, **वेमाणियाणं**—वैमानिकों पर्यन्त कथन करना चाहिए।

तिविहे पओगे पण्णत्ते, तं जहा—प्रयोग तीन प्रकार का प्रतिपादन किया गया है,

यथा, **मणपओगे**—मन-प्रयोग, **वइपओगे**, **कायपओगे**—वचन-प्रयोग, और कायप्रयोग, **जहा जोगो**—यथा योग का कथन किया है, **तहा**—वैसे ही, **विगलिंदियवज्जाणं**—विकलेन्द्रियों को छोड़कर, **पओगो वि**—प्रयोग का विषय भी जानना चाहिए।

तिविहे करणे पण्णत्ते, तं जहा—करण तीन कथन किए गए हैं, यथा— **मणकरणे**—मनः-करण, **वइकरणे**—वचन-करण, **कायकरणे**—काय-करण। **एवं**—इसी प्रकार, **विगलिंदियवज्जाणं**—विकलेन्द्रियों को छोड़कर, **जाव**—यावत्, **वेमाणियाणं**—वैमानिकों तक कहना चाहिए।

तिविहे करणे पण्णत्ते, तं जहा—तीन प्रकार का करण कहा गया है, जैसे—**आरंभकरणे**—आरम्भ-करण, **संरंभकरणे**—संरम्भ-करण, **समारंभकरणे**—समारम्भ करण, **निरंतरं**—निरन्तर, **जाव**—यावत्, **वेमाणियाणं**—वैमानिकों पर्यन्त करण का वर्णन करना चाहिए।

मूलार्थ—तीन प्रकार का योग प्रतिपादन किया गया है, जैसे—मनोयोग, वाग्योग, और काय-योग। ऐसे ही नारकियों से लेकर विकलेन्द्रियों को छोड़कर वैमानिक देवों पर्यन्त तीन योग होते हैं।

प्रयोग भी तीन प्रकार के कहे गए हैं, यथा—मनः-प्रयोग, वचन-प्रयोग और काय-प्रयोग। नारकियों से लेकर विकलेन्द्रियों को छोड़ते हुए वैमानिक देवों पर्यन्त तीन प्रयोग ही होते हैं।

करण भी तीन प्रकार के कहे गए हैं—मनः-करण, वचन-करण और काय-करण। विकलेन्द्रियों को छोड़कर नारकियों से वैमानिकों तक तीन ही करण पाए जाते हैं।

एक दूसरे रूप में भी करण के तीन रूप ही कहे गए हैं—आरम्भ-करण, संरम्भ-करण और समारम्भ-करण। विकलेन्द्रियों को छोड़कर नारकियों से वैमानिकों तक ये ही तीन करण पाए जाते हैं।

विवेचनिका—वासना-पूर्ति योग वाले जीव ही करते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में योग, प्रयोग तथा करण के भेदों का उल्लेख किया गया है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से समुत्पन्न लब्धि-विशेष को वीर्य कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है जैसे कि—सकरण-वीर्य और अकरण-वीर्य। इनमें सकरण-वीर्य पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त सभी जीवों में पाया जाता है। सकरण-वीर्य से ही मन-वचन और काय क्रियाशील होते हैं। मन-वचन और काया की क्रियाशीलता को ही योग कहते हैं। यदि आत्मवीर्य को कारण कहा जाए तो योग कार्य है, अतः इनमें परस्पर कारणकार्य भाव है।

वह योग तीन भागों में विभाजित है, जैसे कि—मनोयोग, वचनयोग और काययोग।

जीव के द्वारा योग-प्रवृत्ति जब प्रकर्ष रूप से होती है तब उस प्रबल-प्रवृत्ति को प्रयोग कहते हैं। संसारी आत्मा जैसे लब्धि-वीर्य और करण-वीर्य दोनों की अपेक्षा सवीर्य होते हैं, वैसे ही अलेश्यी और सिद्धात्मा करण-वीर्य से रहित होते हैं। लब्धिवीर्यता आत्मा का निज गुण है।

मनोयोग जीव के लिए ऐसा उपकारी है, जैसे कि दुर्बल को यष्टि का आधार। वृत्तिकार लिखते हैं—

''मनसा करणेन युक्तस्य जीवस्य योगो—वीर्यपर्यायो दुर्बलस्य यष्टिकाद्रव्य-वदुपष्टम्भकरो मनोयोग इति।'

मन के द्वारा होने वाला व्यापार चार प्रकार का होता है, जैसे कि—सत्य-मनोयोग, असत्य-मनोयोग, मिश्र-मनोयोग और असत्यामृषा-मनोयोग।

इसी प्रकार ४ प्रकार का वचनयोग होता है—सत्यभाषा, असत्यभाषा, मिश्रभाषा और असत्यामृषा भाषा।

काययोग सात प्रकार का होता है, जैसे कि—औदारिक, औदारिक-मिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र, आहारक, आहारक-मिश्र और कार्मण-काय-योग। इनका विवेचन सातवें स्थान में ही किया जायेगा।

एकेन्द्रिय जीवों में केवल काययोग ही पाया जाता है। असंज्ञी त्रस जीवो में काययोग और वचनयोग नामक दो योग पाए जाते हैं, किन्तु संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में तीनों योग होते हैं।

जिसके द्वारा कार्य किया जाए, वह करण कहलाता है। करण असाधारण व्यापार का ही दूसरा नाम है। आत्मा जो कुछ भी करता है, वह योग की सहायता से करता है। कभी मन से करता है, कभी करवाता है और कभी उसका अनुमोदन करता है। कभी वचन से करता है, कभी वचन से करवाता है और कभी उसका अनुमोदन करता है तथा कभी काय के द्वारा करता है, दूसरे से कराता है, करते हुए का अनुमोदन करता है, इसलिए उक्त योग-प्रयोगों को करण कहा गया है। कहा भी है—

''क्रियते येन तत्करणम्—मननादि क्रियासु प्रवर्तमानस्यात्मन उपकरणभूतस्तथा परिणामवत्पुद्गलसंघात इति भावस्तत्र मन एव करणं मनःकरणमेव इतरेऽपि।''

जिस प्रकार योग का वर्णन किया है, उसी प्रकार करण के विषय में भी जान लेना चाहिए। इन्हीं करणों के द्वारा आत्मा कर्मबन्ध करता है और इन्हीं से मोक्ष भी पाता है।

संरम्भ—मन से किसी भी जीव के परितप्त करने का विचार करने को संरम्भ कहते हैं, अर्थात् हिंसानुबन्धी रौद्र-ध्यान को संरम्भ कहा जाता है। दूसरे शब्दों में इसे मानसिक हिंसा भी कह सकते हैं। हिंसा-जनक जितने भी संकल्प मन मे उत्पन्न होते हैं, उन सबका अन्तर्भाव संरम्भ करण में ही हो जाता है।

समारम्भ—जिस क्रिया का मुख्य उद्देश्य जीवों को परिताप एवं पीड़ा पहुँचाने का ही हो, प्राणातिपात का नहीं, उस क्रिया को समारम्भ कहते हैं। भले ही इस क्रिया से किसी की हिंसा हो जाए, किन्तु फिर भी वह क्रिया समारम्भ ही कहलायेगी।

आरम्भ—पृथ्वी आदि किसी भी जीव की हिंसा कर देना अर्थात् हिंसा की भावना से किसी की हिंसा कर देना आरम्भ कहलाता है। संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ ये तीनों शब्द जैन-परिभाषा में हिंसा की उत्तरोत्तर प्रक्रिया के वाचक हैं, किन्तु शुद्धनय के मत से ये तीनों हिंसा के ही दूसरे नाम हैं। जैसे कि कहा भी है—

संकप्पो संरंभो परितावकरो भवे समारंभो।
आरंभो उद्दवओ सुद्धनयाणं तु सव्वेसिं॥

ये तीन करण २४ दण्डकों में निरन्तर पाए जाते हैं। असंज्ञी जीवों में संरम्भ-करण पूर्वभव के संस्कारानुवृत्तिमात्र से जान लेना चाहिए।

अशुभायु और शुभायु-बन्ध के कारण

मूल—तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—पाणे अतिवाइत्ता भवइ, मुसं वइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा, माहणं वा, अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभित्ता भवइ। इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताए कम्मं पगरेंति।

तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—णो पाणे अतिवाइत्ता भवइ, णो मुसं वइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ। इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति।

तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभ-दीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—पाणे अतिवाइत्ता भवइ, मुसं वइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा, माहणं वा हीलेत्ता, णिंदित्ता, खिंसित्ता, गरहित्ता, अवमाणित्ता अन्नयरेणं अमणुन्नेणं, अपीतिकारएणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ। इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति।

तिहिं ठाणेहिं जीवा सुभदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—णो पाणे अतिवाइत्ता भवइ, णो मुसं वइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा, माहणं वा वंदित्ता, नमंसित्ता, सक्कारित्ता, सम्माणेत्ता, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, पज्जुवासेत्ता मणुन्नेणं पीतिकारेण असण-पाण-खाइम-साइमेणं

पडिलाभित्ता भवइ, इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा सुहदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति ॥७॥

छाया—त्रिभिः स्थानैः जीवाः अल्पायुष्कतया कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—प्राणानतिपातयिता भवति, मृषावक्ता भवति, तथारूपं श्रमणं वा, माहनं वा अप्रासुकेन, अनेषणीयेन अशन-पान-खादिम-स्वादिमेन प्रतिलम्भयिता भवति। इत्येतैः त्रिभिः स्थानैः जीवा अल्पायुष्कतया कर्म प्रकुर्वन्ति।

त्रिभिः स्थानैर्जीवाः दीर्घायुष्कतया कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—नो प्राणानतिपातयिता भवति, नो मृषावक्ता भवति, तथारूपं श्रमणं वा, माहनं वा प्रासुकैषणीयेन अशन-पान-खाद्य-स्वादिमेन प्रतिलम्भिता भवति। इत्येतैः त्रिभिः स्थानैर्जीवा दीर्घायुष्कतया कर्म प्रकुर्वन्ति।

त्रिभिः स्थानैर्जीवाः अशुभदीर्घायुष्कतया कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—प्राणानतिपातयिता भवति, मृषावक्ता भवति, तथारूपं श्रमणं वा, माहनं वा हीलित्वा, निन्दित्वा, खिंसित्वा, गर्हित्वा, अपमानयित्वा अन्यतरेण अमनोज्ञेन, अप्रीतिकारकेण अशन-पान-खादिम-स्वादिमेन प्रतिलम्भिता भवति। इत्येतैस्त्रिभिः स्थानैर्जीवा अशुभदीर्घायुष्कतया कर्म प्रकुर्वन्ति।

त्रिभिः स्थानैर्जीवाः शुभदीर्घायुष्कतया कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—नो प्राणानतिपातयिता भवति, नो मृषावक्ता भवति, तथारूपं, श्रमणं वा, माहनं वा वन्दित्वा, नमंस्यित्वा सत्कारयित्वा, सन्मानयित्वा, कल्याणं, मंगलं, दैवतं, चैत्यं पर्युपास्य मनोज्ञेन प्रीतिकारकेण अशन-पान-खादिम-स्वादिमेन प्रतिलम्भयिता भवति। इत्येतैः त्रिभिः स्थानैर्जीवाः शुभदीर्घायुष्कतया कर्म प्रकुर्वन्ति।

शब्दार्थ—तिहिं ठाणेहिं—तीन स्थानों से, **जीवा**—जीव, **अप्पाउअत्ताए**—अल्प आयु के, **कम्मं**—कर्म, **पगरेंति**—करते हैं, **तं जहा**—यथा, **पाणे अतिवाइत्ता भवति**—जो प्राणियों की हिंसा करते हैं, **मुसं वइत्ता भवइ**—जो झूठ बोलते है, **तहारूवं**—तथारूप साधु वृत्ति के अनुकूल, **समणं वा**—साधु को अथवा, **माहणं वा**—माहन को (यह साधु का ही दूसरा नाम है) तथा प्रतिमाधारी श्रावक को, **अफासुएणं**—अप्रासुक, **अणेसणिज्जेणं**—अनेषणीय (जो सदोष हैं), **असण-पाण खाइम-साइमेणं**—अन्न, पानी, खाद्य एवं स्वादिम को, **पडिलाभित्ता भवइ**—बहराते हैं, **इच्चे-तेहिं तिहिं ठाणेहिं**—इन तीन स्थानों से, **जीवा**—जीव, **अप्पाउअत्ताए कम्मं पगरेंति**—अल्प आयु के कर्म करते हैं।

तिहिं ठाणेहिं जीवा—तीन स्थानों से जीव, **दीहाउअत्ताए**—दीर्घ आयु के, **कम्मं**—कर्म, **पगरेंति**—करते हैं, **तं जहा**—जैसे, **णो पाणे अतिवाइत्ता भवइ**—जो प्राणियों की घात नहीं करते, **णो मुसं वइत्ता भवइ**—जो असत्य नहीं बोलते, **तहारूवं**—जो तथारूप, **समणं वा**—श्रमण अथवा, **माहणं वा**—माहन को, **फासुएसणिज्जेणं**—प्रासुक एषणीय,

असण-पाण-खाइम-साइमेणं—अन्न, पान, खाद्य और स्वादिम का, **पडिलाभेत्ता भवइ**—प्रतिलाभ कराते हैं, **इच्चेहिं तिहिं ठाणेहिं**—इन तीन स्थानों से, **जीवा**—जीव, **दीहाउअत्ताए**—दीर्घायु के, **कम्मं**—कर्म, **पगरेंति**—करते हैं।

तिहिं ठाणेहिं—तीन स्थानों से, **जीवा**—जीव, **असुभ-दीहाउअत्ताए**—अशुभ दीर्घायु के, **कम्मं**—कर्म, **पगरेंति**—करते हैं, **तं जहा**—यथा, **पाणे अतिवाइत्ता भवइ**—प्राणियों की हिंसा करने से, **मुसं वइत्ता भवइ**—असत्य बोलने से, **तहारूवं**—तथा रूप, **समणं वा, माहणं वा**—श्रमण अथवा माहन को, **हीलित्ता**—हीलना, **णिंदित्ता**—मन से निन्दना,, **खिंसित्ता**—लोगों के समक्ष निन्दा करना, **गरहित्ता**—गर्हा कर एवं, **अवमाणित्ता**—अपमानित कर, **अन्नयरेणं**—अन्य कोई एक, **अमणुन्नेणं**—अमनोज्ञ, **अपीतिकारेणं**—अप्रीतिकर, **असण-पाण-खाइम-साइमेणं**—अन्न, पान, खाद्य, स्वादिम, **पडिलाभेत्ता भवइ**—प्रतिलाभ कराने से, **इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं**—इन तीन कारणों से, **जीवा**—जीव, **असुभदीहा-उअत्ताए**—अशुभ-दीर्घायु के, **कम्मं**—कर्म **पगरेंति**—करते हैं।

तिहिं ठाणेहिं—तीन स्थानों से, **जीवा**—जीव, **सुभदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति**—शुभ-दीर्घायु के कर्म करते हैं, **तं जहा**—जैसे, **णो पाणे अतिवाइत्ता भवइ**—प्राणियों की हिंसा नहीं करने से, **णो मुसं वइत्ता भवइ**—असत्य न बोलने से, **तहारूवं**—तथा रूप, **समणं वा, माहणं वा**—श्रमण, माहन को, **वंदित्ता**—स्तुति कर, **नमंसित्ता**—नमस्कार कर, **सक्कारित्ता**—सत्कार कर, **सम्भाणेत्ता**—सन्मान कर, (कारण कि-गुरु कैसे हैं) **कल्लाणं**—कल्याणकारी, **मंगलं**—मंगलकारी, **देवतं**—धर्म-देव हैं, **चेतितं**—ज्ञान स्वरूप हैं, उनकी, **पज्जुवासेत्ता**—पर्युपासना कर, **मणुन्नेणं**—मनोज्ञ, **पीतिकारेणं**—प्रीतिकारक, **असण-पाण-खाइम-साइमेणं**—अशन-पान-खाद्य और स्वादिम को, **पडिलाभेत्ता भवइ**—बहराने से, **इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं**—इन तीन कारणों से, **जीवा**—जीव, **सुहदीहाउअत्ताए**—शुभदीर्घायु के, **कम्मं पगरेंति**—कर्म करते हैं।

मूलार्थ—तीन स्थानों से प्राणी अल्पायु के कर्मों का उपार्जन करते हैं, जैसे प्राणियों की हिंसा करने से, असत्य भाषण से एवं तथारूप साधु-वृत्ति के धारक श्रमण तथा माहन—साधु एवं प्रतिमाधारी श्रावक को अप्रासुक अनेषणीय-सदोष आहार-पानी, खाद्य एवं स्वादिम पदार्थों को बहराने से-प्रदान करने से। इन तीन कारणों से जीव अल्पायु के कर्म बांधते है। तीन स्थानों से जीव दीर्घायु के कर्म करते हैं, जैसे-जो प्राणियों की हिंसा नहीं करते, जो मृषावाद का आचरण नहीं करते हैं एवं तथारूप साधु अथवा माहन को प्रासुक, एषणीय अशन-पान-खाद्य और स्वादिम बहराते हैं। इन तीन कारणों से प्राणी दीर्घायु के कर्म उपार्जन करते हैं। तीन स्थानों से जीव अशुभ दीर्घायु का उपार्जन करते हैं, जैसे प्राणियों की हिंसा करने से, असत्य बोलने से और तथारूप साधु तथा माहन को हीलना—मनसा निन्दने से,

लोगों के सामने निन्दा करने से तथा उसके समक्ष निन्दा करके उसे अपमानित कर किसी प्रकार का अमनोज्ञ, अप्रीतिकर आहार बहराने से। इन तीन कारणों से जीव अशुभ और लम्बी आयु को बांधते हैं।

तीन कारणों से जीव शुभ और दीर्घायु के कर्म करते हैं, जैसे कि—जो हिंसा नहीं करते, झूठ नहीं बोलते और तथारूप श्रमण और माहन को स्तुति-पूर्वक नमस्कार कर, सत्कार और सम्मान-पूर्वक गुरु-भावना से उनको कल्याणकारी, मंगलकारी, धर्म देव और ज्ञानस्वरूप जानकर उनकी पर्युपासना करके आहार-पानी आदि बहराने से। इन तीन कारणों से जीव शुभ एवं दीर्घायु का बन्धन करते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में जिस योग-प्रयोग आदि का वर्णन किया गया है, उसके फलस्वरूप कर्म-भोग के लिए आयुबन्ध हुआ करता है, अत: अब सूत्रकार आयु-बन्ध का वर्णन करते हैं।

दुर्गति में अल्पायु खेद-जनक नहीं होती, किन्तु सुगति में वह अवश्य खेदजनक होती है। जब जीव शुभ लक्ष्य की पूर्ति के लिए अज्ञान से अनुचित साधनों का उपयोग करता है तब उस क्रिया का फल इतना अभीष्ट नहीं होता जितना कि वह चाहता है। इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर सूत्रकार ने वास्तविक स्थिति के रहस्य का अनावरण करते हुए कहा है—

जिस शुभ क्रिया का सम्बन्ध हिंसा के साथ जुडा हुआ है, वह अल्पायु बांधने का एक मुख्य कारण है। जैसे कि यज्ञ आदि करना, मन्दिर आदि धर्मस्थान बनवाना, कन्दमूल फलाहार से तप करना, जल एवं भूगर्भ समाधि लगाना, पंचाग्नि तप तपना, अर्थात् जिस तप, यज्ञ आदि क्रियाओं से त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती है, वह क्रिया अल्पायु बांधने मे कारण होती है।

जिस शुभ अनुष्ठान के साथ असत्य जुडा हुआ है, वह क्रिया भी अल्पायु बांधने में कारण होती है, जैसे कि—किसी प्राणी को बचाने के लिए, खतरे में पडे हुए अपने पन्थ की रक्षा के लिए, देश व समाज की रक्षा के लिए अपने इष्ट देव की प्रभावना के कारण तथा अन्य किसी शुभ लक्ष्य की पूर्ति के कारण असत्य बोलते हुए यदि शुभायु का बध हो जाए तो वह अल्पायु वाला होगा।

दान देना भी धर्म है। पवित्र भावना के बिना दान नहीं दिया जा सकता, विशेषकर उत्तम श्रमण माहन को अशन (भोजन) पान (पीने के द्रव्य) खादिम (मिठाई आदि) स्वादिम (इलायची सुपारी आदि) चार प्रकार का अप्रासुक अर्थात् सचित्त, अनेषणीय अर्थात् सदोष आहार-पानी बहराना, आहार-पानी से उन्हें लाभान्वित करना, वह भी अबोधा-वस्था में। इस प्रकार का दाता एक ओर भक्तिभाव और दूसरी ओर दानविधि से अनभिज्ञता

इन दोनों के कारण त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है, अतः वह दाता शुभ अल्पायु बांधता है।

जब मनुष्य किसी शुभ क्रिया में संलग्न होता है तब वह क्रिया भले ही तप, दान, पुण्य, सेवा और भक्ति आदि के रूप में की जा रही हो, वह सुगति में पहुँचाने वाली होती है, किन्तु उस क्रिया के साथ यदि हिंसा, असत्य एवं अविधि आदि का सम्बन्ध जुड़ा हुआ हो तो वह अल्पायु बांधने का कारण बन जाती है। उक्त तीन कारणों से जीव देव-भव की तथा मानव-भव की अपेक्षा स्वल्पायु बांधता है। सुखरूप स्वल्प आयु अपने तथा दूसरों के लिए खेदजनक होती है।

तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताए कम्मं पगरेंति—सूत्र के इस पाठ से यह भली-भान्ति सिद्ध हो जाता है कि—आयुबन्ध के जहां अन्य-अन्य कारण आगमों में विहित हैं, वहां अल्पायु बन्ध के उक्त तीन-कारण नहीं-बतलाए गए। इस सूत्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जो दाता देय-वस्तु और विधि का जानकार नहीं है, केवल भक्ति-भाव से दान कर रहा है, वह देव व मनुष्य की अल्प आयु ही बांधता है, जो जीव हिंसा और असत्य में संलग्न हैं, वे तिर्यंच आदि दुर्गति में अल्पायु द्वारा असंख्य एवं अनन्त जन्म लेते और मरते हैं।

जो दाता हिंसा करके, झूठ बोलकर, श्रमण-माहन को संयम-विधि से प्रतिकूल सदोष आहार-पानी से लाभान्वित करता है, इस प्रकार से दिया हुआ सुपात्र दान भी उसके लिए पूर्णतया हितकर नहीं होता, क्योंकि अल्पायु धर्म और सुख में बाधिका होती है। जो दान धर्म और अनुपम सुख में सहायक हो सके, वही दान वास्तव में सुपात्र-दान है।

तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति—सूत्र के इस पाठ से यह प्रमाणित होता है कि जो प्रकृति से दयालु, अनुकम्पाशील हैं, अपने प्रिय प्राणों की बलि देकर भी जीव-रक्षा करते हैं, दीन-हीन प्राणियों की बिना किसी भेदभाव के सेवा करते हैं, वे दीर्घायु का बन्ध करते हैं।

जो संकटग्रस्त होने पर भी असत्य नहीं बोलते, इस प्रकार जो भी व्यक्ति धर्मशील हैं वे भी शुभ दीर्घायु का बन्ध करते हैं। इसी प्रकार जो दाता प्रासुक और निर्दोष आहार-पानी से श्रमण-माहन को लाभान्वित करते हैं, वे भी सुखमय दीर्घायु का बन्ध करते हैं। जैसे कि संगम ग्वाले ने अपने लिए बनी हुई खीर महामुनि को बहराकर तथा सुमुख गाथापति ने दत्तक अनगार को बहराकर परभव की दीर्घायु का बन्ध किया जो कि क्रमशः महासुखी शालिभद्र और सुबाहुकुमार बने, जिनके पुण्य-प्रताप से श्रेणिक महाराजा तथा गौतमस्वामी भी प्रभावित हुए। यह निर्दोष आहार-पानी देने का शुभ परिणाम ही है, अतः साधु के निमित्त कोई वस्तु तैयार नहीं करनी चाहिए। जो पहले का बना हुआ निर्दोष आहार-पानी है, उसी को बहराने में दाता का हित है।

अशुभ दीर्घायु बांधने के तीन कारण—जिनका जीवन अन्य जीवों के लिए भयप्रद बना हुआ है, जो सभी प्रकार की हिंसा में निरत हैं, जिनके संकल्प क्रूरता एवं निर्दयता से परिपूर्ण हैं, जिनकी दृष्टि और प्रज्ञा अनार्य हैं, जो स्वार्थान्ध हैं, जिनके मन में प्राणियों के प्राणों का कोई मूल्य ही नहीं है, इस प्रकार के जीव यदि आयु का बन्धन करते हैं तो अशुभ एवं दु:ख पूर्ण दीर्घायु का बन्ध करते हैं।

जिससे संघ में, समाज में, देश और राष्ट्र में अशान्ति व्याप्त हो, जिससे किसी का प्राणवध हो, लोग धर्म से विमुख हों, इस प्रकार का असत्य बोलने वाले जीव अशुभ दीर्घायु का बन्ध करते हैं।

जो तथारूप श्रमण और माहन हैं, उनकी भर्त्सना करके, निन्दा करके, उन्हें अपमानित एवं तिरस्कृत करके, अनिष्ट एवं अप्रीतिकारक, अशन, पान, खाद्य, एवं स्वाद्य पदार्थों को बहराता है, वह भी अशुभ दीर्घायु का बंध करता है और उसे आयुपर्यंत दु:खानुभव करना पड़ता है। जैसे कि—**नागश्री ब्राह्मणी** ने धर्मरुचि अनगार को विषैले कटुतुम्बे का शाक जो कि अप्रिय एवं अप्रीतिकर था बहराया, जिससे उसने नरक की अशुभ दीर्घायु का बन्ध किया था। इससे यह ध्वनित होता है कि अनादरपूर्वक दिया हुआ आहार अशुभ दीर्घायु का ही कारण होता है।

शुभ दीर्घायु-बन्ध के तीन कारण—जिसने त्रस जीवों की हिंसा का त्याग किया है और स्थावरों की मर्यादा कर ली है, या जो हिंसा का सर्वथा त्यागी है, वह अहिंसक यदि आयुकर्म का बन्ध करता है तो वह वैमानिकों में भी शुभ दीर्घायु का बन्ध करता है।

जिसने तीन करण, तीन योग से स्थूल मृषावाद का परित्याग किया है अथवा मृषावाद का त्याग जिसने सर्वथा तीन करण तीन योग से कर दिया है, इस प्रकार का सत्यवादी यदि आयु का बन्ध करता है तो वह वैमानिकों में भी शुभ दीर्घायु का ही बन्ध करता है।

जो व्यक्ति उच्चकोटि के आत्मार्थी मूलगुण एवं उत्तरगुण सम्पन्न श्रमण और माहन को वन्दन नमस्कार करके, सत्कार एवं सम्मान करके, परम श्रद्धा से उपासना करके मनोज्ञ प्रीतिकारक आहार पानी बहराता है, वह भी यदि आयु-कर्म का बन्ध करता है तो वैमानिकों में भी शुभ दीर्घायु का बन्ध करता है। जैसे कि रेवती श्राविका ने साधना में संलग्न सिंह अनगार को परम भक्ति से आहार पानी बहराकर देवायु का बन्ध किया, संसार-बन्ध को संक्षिप्त किया और तीर्थंकर नाम-गोत्र का बन्ध किया, इत्यादि महालाभ रेवती को प्राप्त हुए।

यद्यपि माहन शब्द श्रमण का पर्यायवाची शब्द है, तदपि **'समणं वा माहणं'** दोनों शब्दों का प्रयोग एक साथ होने के कारण श्रमण शब्द का अर्थ साधु और 'माहण' शब्द का अर्थ प्रतिमाधारी श्रावक ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है। जैसा वेष वैसी क्रिया करने वाले को **तथारूप** कहते हैं। वेष चारित्र का परिचायक होता है, जो वेष के अनुसार क्रिया नहीं

करता, उसे तथारूप नहीं कहते।

फासुएणं—इस पद का अर्थ होता है—अचित्त अर्थात् जो स्थावर जीवों से रहित है, उसे प्रासुक कहते हैं। निर्दोष एवं कल्पनीय आहार को एषणीय कहा जाता है। अप्रासुक और अनेषणीय आहार चारित्र का पोषक नहीं होता, बल्कि घातक होता है। जिस आहार के देने से साधु का संयम दूषित हो जाए, वैसा आहार देने के लिए भगवान ने आज्ञा नहीं दी है। जो संयम का पोषक आहार देते हैं, उससे देने और लेने वाले दोनों ही लाभान्वित होते हैं।

त्यागी वर्ग को देने योग्य आहार चार प्रकार का होता है, जैसे कि—**अशन**-चावल, रोटी आदि, **पान**—जल आदि, **खादिम**—मिष्ठान्न आदि और **स्वादिम**—चूर्ण एवं औषधि आदि।

सूत्रकार ने जो **वंदित्ता, नमंसित्ता, सक्कारित्ता, सम्माणित्ता**—पद दिए हैं, इनसे यह भली-भान्ति सिद्ध हो जाता है कि दान वही श्रेष्ठ होता है जो भक्ति और सत्कार पूर्वक दिया जाए। **मणुन्नेणं पीतिकारएणं** इन पदों से सिद्ध होता है कि प्रिय और प्रीतिकारक पदार्थ के देने से ही शुभायु का बंध तथा निर्जरा होती है। यदि देय वस्तु प्रिय न भी हो, किन्तु देने वाले के भाव प्रीतियुक्त हों तो वह देयवस्तु भी सुखरूप हो जाती है, जैसे कि राजदुलारी चन्दनबाला ने श्री भगवान् महावीर को उड़द के बाकलों का दान दिया था। वह दान उसकी कर्म-निर्जरा का कारण बन गया, जैसे कि वृत्तिकार लिखते हैं—

''अमनोज्ञेन'' स्वरूपतोऽशोभनेन कदन्नादिनाऽत एवाप्रीतिकारकेण भक्ति-मतस्त्वमनोज्ञमपि मनोज्ञमेव, तत्फलत्वात्, अपि चन्दनाया इव, आर्यचन्दनया हि कुल्माषाः सूर्प्यकोणकृता भगवते महावीराय पञ्चदिनोनषाण्मासिकक्षपणपारणके दत्ताः, तदेव च तस्या लोहनिगडानि हेममयनूपुरौ सम्पन्नौ, केशा पूर्ववदेव जाताः, पञ्चवर्णविविधराशिभिः गृहं भृतं, सेन्द्रदेवदानवनरनायकैरभिनन्दिता, कालेनावाप्त-चारित्रा च सिद्धिसौधशिखरमुपगतेति''।

अर्थात् आर्या चन्दना ने भक्तिपूर्वक उड़द के बाकले श्रमण भगवान महावीर को पांच दिन कम छः मास के उपवास के पारणे के समय बहराए, जिसके परिणाम स्वरूप लोहे की बेड़ियां स्वर्णमय नूपुर बन गईं। केश पहले की तरह हो गए। पंच वर्ण के फूलों की तथा सुवर्ण-वृष्टि हुई और वह इन्द्र सहित देव-दानव, नर-नायकों के द्वारा अभिनन्दित हुई, अतः समयान्तर में उसने चारित्र भी ग्रहण किया और अन्त में सिद्धिगति को प्राप्त हुई। अतः दान वही श्रेष्ठ है जो श्रद्धा-भक्ति से दिया जाता है।

सूत्रकर्ता ने जो **कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं** पद दिए हैं, ये पद विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। परमश्रद्धेय श्रमण माहन प्रातः स्मरणीय होने से कल्याण रूप हैं, सर्वविघ्नों के नाशक होने से मंगल रूप हैं, धर्म-देव होने से देवरूप हैं, सज्ज्ञानमय होने से तथा मन के आह्लादक होने से चैत्यरूप हैं। **'चैत्यं श्रमणं'** चैत्य का अर्थ श्रमण ही समुचित है, किन्तु वृत्तिकार

ने "**चैत्यमिव जिनादिप्रतिमेव**" लिखा है, परन्तु यह सूत्र-विरुद्ध होने से अप्रामाणिक है, क्योंकि चैत्य शब्द का अर्थ चारित्र-पूर्वक ज्ञान है, तो फिर धर्मदेव को जड़ की उपमा से उपमित करना समुचित नहीं जान पड़ता। आगे चलकर वृत्तिकार ने जिन-भवनों का निर्माण करने से होने वाली उस हिंसा को अहिंसा का रूप दिया है, वह भी आगम-सम्मत न होने से अप्रमाणित है, क्योंकि मूल-सूत्र में यह विषय न होने से वृत्तिकार के उक्त शब्द स्वतः अप्रामाणिक सिद्ध हो जाते हैं, जैसे कि वे लिखते हैं—

भण्णइ जिण पूयाए, कायवहो जइ वि होइ उ किं।
तह वि तइ परिसुद्धा, गिहिणा कूवाहरण जोगा॥

अर्थात् जिन-पूजादि में जो हिंसा होती है, वह कर्मबन्ध का कारण अवश्य है, किन्तु उस हिंसा की शुद्धि इस प्रकार से हो जाती है जैसे कि कूप खोदने वालों की शुद्धि उसी के जल से होती है।

यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इससे पापाचरण के प्रति प्रेरणा मिलती है। पहले सब प्रकार के पापों का सेवन कर लिया जाए फिर अपने ही विचारों से उसकी शुद्धि की जाए यह उचित नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार जिन-पूजा में हिंसा को अहिंसा का रूप दिया गया है, ठीक उसी प्रकार मनुस्मृति में भी यज्ञ में होने वाले पशु-वध को अहिंसा का रूप दिया गया है, जैसे कि—

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥

—मनु० अ० ५, श्लो० ३९

अर्थात् प्रजापति ने यज्ञ की सिद्धि के लिए पशु उत्पन्न किए और अग्नि में डाली हुई आहुति समस्त जगत् की वृद्धि के लिए होती है, इसलिए यज्ञ में जो पशु-वध होता है, वह वास्तव मे वध नहीं, अवध है।

जैसे मनुस्मृति की यह मान्यता अवैध है, वैसे ही जिन-पूजा आदि कार्यों में की गई हिंसा भी वैध नहीं हो सकती। धर्म के निमित्त जो हिंसा आदि क्रियाएं की जाती हैं वे क्रियाएं शास्त्र-सम्मत न होने से अप्रामाणिक ही हैं। जब धर्मदेव श्रमण-माहन को सदोष आहार बहराने से जीव अल्पायु का बन्ध करता है तो भला देवाधिदेव के निमित्त हिंसा आदि क्रियाएं शुभकर्मों के बन्ध में कारण कैसे बन सकती हैं?

गुप्ति और दण्ड

मूल—तओ गुत्तीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—मणगुत्ती, वइगुत्ती, कायगुत्ती।

संजतमणुस्साणं तओ गुत्तीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—मणगुत्ती, वइगुत्ती, कायगुत्ती।

तओ अगुत्तीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—मण-अगुत्ती, वइ-अगुत्ती, काय-अगुत्ती। एवं नेरइयाणं जाव थणियकुमाराणं, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, असंजतमणुस्साणं, वाणमंतराणं, जोइसियाणं, वेमाणियाणं।

तओ दंडा पण्णत्ता, तं जहा—मणदंडे, वइदंडे, कायदंडे। विगलिंदियवज्जं जाव वेमाणियाणं ॥८॥

छाया—तिस्रो गुप्तयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मनोगुप्तिः, वाग्गुप्तिः, कायगुप्तिः।

संयतमनुष्याणां तिस्रो गुप्तयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मनोगुप्तिः, वाग्गुप्तिः, कायगुप्तिः।

तिस्रोऽगुप्तयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मनोऽगुप्तिः, वागगुप्तिः, कायागुप्तिः। एवं नैरयिकाणां यावत् स्तनितकुमाराणाम्, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानाम्, असंयतमनुष्याणाम्, वानव्यन्तराणाम्, ज्योतिष्काणाम्, वैमानिकानाम्।

त्रयो दण्डाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मनोदण्डः, वाग्दण्डः, कायदण्डः।

नैरयिकाणां त्रयो दण्डाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—मनोदण्डः, वाग्दण्डः, कायदण्डः। विकलेन्द्रियवर्जं यावत् वैमानिकानाम्।

मूलार्थ—तीन गुप्तिया प्रतिपादन की गई हैं, जैसे—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति।

संयत मनुष्यों की तीन गुप्तियां प्रतिपादन की गई हैं, जैसे—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति।

तीन अगुप्तियां प्रतिपादन की गई हैं, जैसे—मन-अगुप्ति, वचन-अगुप्ति और काय-अगुप्ति।

इसी तरह नारकियों से स्तनित कुमारों तक, पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्च योनिकों, असंयत मनुष्यों, वानव्यन्तरों, ज्योतिष्कों और वैमानिक देवों के विषय में भी जानना चाहिए। तीन दण्ड कथन किए गए हैं, जैसे—मन-दण्ड, वचन-दण्ड और काय-दण्ड।

नारकियों के तीन दण्ड प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—मन-दण्ड, वचन-दण्ड और काय-दण्ड। विकलेन्द्रियों को छोड़कर वैमानिकों पर्यन्त इसी तरह की दण्ड-व्यवस्था जाननी चाहिए।

विवेचनिका—आयु के रहते हुए अर्थात् जीवन धारण करते हुए ही मन-वाणी आदि पर विजय प्राप्त की जा सकती है, अतः दीर्घायु आदि के वर्णन के अनन्तर गुप्ति का वर्णन किया गया है। हिंसा आदि क्रियाएं गुप्तियों के होते हुए भी हो जाती हैं। मन-वाणी और शरीर को अशुभ क्रियाओं से सर्वथा हटाए रखने को ही गुप्ति कहा जाता है। वास्तव में देखा जाए तो निवृत्ति-प्रधान धर्म की श्रेष्ठता गुप्ति में ही निहित है। कहा भी है—

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चा मोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा य, मणगुत्ती उ चउव्विहा॥

—उत्तरा० अ० २४, गा० २०

इस गाथा का भाव यही है, कि—मन में चार प्रकार के संकल्प उत्पन्न होते हैं जैसे कि—सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार्य। उक्त चार प्रकार के व्यापारों के निरोध को मनोगुप्ति कहा जाता है। इसी प्रकार वचनगुप्ति के विषय में भी जानना चाहिए। कायोत्सर्ग करना या ध्यानस्थ होना कायगुप्ति है। गुप्ति का पूर्णतया आराधन अप्रमत्त संयत मनुष्यों से ही हो सकता है।

गुप्ति का दूसरा अर्थ होता है—कुशल क्रियाओ में प्रवृत्ति करना और अकुशल क्रियाओं से निवृत्ति पाना। इसी गुप्ति को ही दूसरे शब्दो मे योग-प्रतिसंलीनता भी कहा जाता है, **से किं तं मणजोगपडिसंलीणया? अकुसलमणणिरोहो वा, कुसलमणउदीरणं वा** (औपपातिक सूत्र तप अधिकार) गुप्तियों की पूर्णता के द्वारा ही जीव कर्मबन्धनो से मुक्त होकर निर्वाणपद प्राप्त कर लेता है। मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के विषय में गौतम स्वामी के द्वारा किए गए प्रश्नों के उत्तर मे भगवान ने जो कुछ कहा है वह भी इस प्रकरण में ज्ञातव्य है, जैसे कि—

मणगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? मणगुत्तयाए जीवे एगग्गं जणयइ। एगग्ग-चित्ते णं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ।

वयगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? वयगुत्तयाएणं निव्वियारं जणयइ, निव्वियारे णं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते यावि विहरइ।

कायगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? कायगुत्तयाएणं संवरं जणयइ, संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ। —(उत्तरा० अ० २९, सू० ५३-५४-५५)

मनोगुप्ति से चित्त की एकाग्रता और संयम की आराधना होती है। वचनगुप्ति से निर्विकारता और अध्यात्मयोगसाधना होती है तथा कायगुप्ति से संवर, सवर से आश्रवों का निरोध होता है। इस प्रकार गुप्ति की पूर्ण साधना संयत मनुष्य ही कर सकते है। अन्य २३ दण्डकों में रहने वाले जीव नहीं।

सूत्रकार ने जिस प्रकार तीन गुप्तियों का वर्णन किया है, उसी प्रकार तीन अगुप्तियों का भी उन्होंने वर्णन किया है। मन, वचन और काया से अशुभ कर्मों में प्रवृत्ति को ही अगुप्ति कहा जाता है। अगुप्ति का सद्भाव २४ दण्डकों में पाया जाता है। हां, इतना अन्तर अवश्य है कि एकेन्द्रिय पांच स्थावरों में काय-अगुप्ति, असंज्ञी त्रस जीवों में वचन-अगुप्ति और काय-अगुप्ति और संज्ञी त्रस जीवों में तीनों अगुप्तियां पाई जाती हैं।

अगुप्ति से जीव दण्ड का भागी बनता है। मन से अपने को तथा पर को दण्डित करना ही मनोदण्ड कहलाता है। इसी प्रकार वाणी और शरीर के द्वारा अपने को और दूसरों को

दण्डित करना वचन-दण्ड और काय-दण्ड कहलाता है। जिस कारण से जीव चार गतियों में दुःखानुभव करता है, वह दण्ड है। २४ दण्डकों में जिस-जिस दण्डक में जितने-जितने योग पाए जाते हैं वे दण्ड हैं। जब जीव मन-वचन और काया के द्वारा किसी भी प्रकार का अपराध करता है तब उसका अशुभ परिणामरूप दुःख-दण्ड भी उक्त तीनों से भोगता है। जिनसे दण्ड भोगना पड़े ऐसी क्रियाओं को न करना ही साधना का प्रमुख लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति होने पर पुनः गुप्तियों का आरम्भ हो सकता है और उनसे मनुष्य कर्म-निर्जरा करता हुआ मोक्ष का भागी बन सकता है।

गर्हा-विश्लेषण

मूल—तिविहा गरहा पण्णत्ता, तं जहा—मणसा वेगे गरहति, वयसा वेगे गरहति, कायसा वेगे गरहति, पावाणं कम्माणं अकरणयाए।

अहवा गरहा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—दीहं पेगे अद्धं गरहति, रहस्सं पेगे अद्धं गरहति, कायं पेगे पडिसाहरति, पावाणं कम्माणं अकरणयाए।

तिविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते, तं जहा—मणसा वेगे पच्चक्खाइ, वयसा वेगे पच्चक्खाइ, कायसा वेगे पच्चक्खाइ, एवं जहा गरहा, तहा पच्चक्खाणेवि, दो आलावगा भाणियव्वा॥९॥

छाया—त्रिविधा गर्हा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—मनसा वैको गर्हते, वचसा वैको गर्हते, कायेन वा एको गर्हते, पापानां कर्मणामकरणतया। अथवा गर्हा त्रिविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—दीर्घामप्येको अद्धां गर्हते, ह्रस्वामप्येकोऽद्धां गर्हते, कायमप्येकः प्रतिसंहरति पापानां कर्मणामकरणतया।

त्रिविधं प्रत्याख्यानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—मनसा वैकः प्रत्याख्याति, वचसा वैकः प्रत्याख्याति, कायेन वैकः प्रत्याख्याति, एवं यथा गर्हा तथा प्रत्याख्यानेऽपि द्वौ आलापकौ भणितव्यौ।

शब्दार्थ—तिविहा गरहा पण्णत्ता, तं जहा—तीन प्रकार की गर्हा कथन की गई है, जैसे, **मणसा वेगे गरहति**—कोई मन से गर्हा करता है, **वयसा वेगे गरहति**—कोई वचन से गर्हा करता है, **कायसा वेगे गरहति**—कोई काया से गर्हा करता है, **पावाणं कम्माणं**—पाप कर्मों के, **अकरणयाए**—न करने के लिए। **अहवा**—अथवा, **पावाणं कम्माणं**—पाप कर्मों के, **अकरणयाए**—न करने के लिए, **तिविहा गरहा पण्णत्ता, तं जहा**—तीन प्रकार की गर्हा कथन की गई है, जैसे— **दीहं पेगे अद्धं गरहति**—कोई आत्मा दीर्घ काल के लिए गर्हा करता है, **रहस्सं पेगे अद्धं गरहति**—कोई आत्मा थोड़े काल के लिए गर्हा करता हैं, **कायं पेगे पडिसाहरति**—काय का संकोच करता है।

तिविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते—तीन प्रकार का प्रत्याख्यान प्रतिपादन किया गया है, **तं जहा**—जैसे, **मणसा वेगे पच्चक्खाइ**—कोई आत्मा मन से प्रत्याख्यान करता है, **वयसा वेगे पच्चक्खाइ**—कोई वचन से प्रत्याख्यान करता है, **कायसा वेगे पच्चक्खाइ**—कोई काय से प्रत्याख्यान करता है, **एवं जहा**—इस प्रकार जैसे, **गरहा**—गर्हा, **तहा**—वैसे ही, **पच्चक्खाणेवि**—प्रत्याख्यान में भी, **दो आलावगा**—दो आलापक, **भाणियव्वा**—कहने चाहिए।

मूलार्थ—तीन प्रकार की गर्हा प्रतिपादन की गई है, जैसे—कोई आत्मा पाप-कर्मों के न करने के लिए मन से गर्हा करता है, कोई वचन से और कोई काया से गर्हा करता है।

अथवा पाप कर्मों के न करने के लिए तीन प्रकार की गर्हा और कथन की गई है, जैसे—कोई आत्मा दीर्घकाल के लिए गर्हा करता है, कोई थोड़े समय के लिए गर्हा करता है और कोई पाप कर्म से निवृत्त होकर काया को वश में करता है। प्रत्याख्यान का भी वर्णन तीन प्रकार से किया गया है, जैसे—कोई आत्मा मन से प्रत्याख्यान करता है, कोई वचन से और कोई काया से प्रत्याख्यान करता है। इसी प्रकार जैसे गर्हा का वर्णन है, उसी तरह प्रत्याख्यान के भी दो आलापक जान लेने चाहिएं।

विवेचनिका—दण्ड गर्हणीय होता है, अतः इस सूत्र में गर्हा का वर्णन किया गया है। पाप-कर्म से घृणा करना ही गर्हा है। स्वयं किए हुए पाप-कर्मों से, किसी के द्वारा करवाए गए पापकर्मों से, अपने द्वारा समर्थित एवं अनुमोदित पापकर्मों से और सभी प्रकार की पापमयी प्रवृत्तियों से घृणा ही गर्हा है। जैन धर्म जीवों से घृणा नहीं सिखाता, बल्कि पाप-कर्म से घृणा अवश्य सिखलाता है। गर्हा आत्मोन्नति का एक साधन है। गर्हा किए बिना न किसी का कल्याण हुआ और न होगा।

वचन से गर्हा तीन प्रकार से की जाती है—मन से, वचन से और काया से। अन्तःकरण से पश्चात्ताप करना, पश्चात्ताप-जनक शब्दों का उच्चारण करना, काया से कभी भी इन्द्रियों को पाप कर्मों में प्रवृत्त न होने देना ये क्रमशः मनो-गर्हा, वचन-गर्हा और काय-गर्हा कहलाती है। तात्पर्य यह है कि यदि अन्तरंगभावों से पाप कर्म की गर्हा—घृणा हो जाए तो उससे निवृत्त होने का उपाय भी किया जा सकता है। जब तक पाप-कर्म की गर्हा नहीं की जाती तब तक उससे निवृत्ति भी नहीं हो सकती, यह निश्चित नियम है।

गर्हा के तीन प्रकार और भी बतलाए गए हैं, जैसे कि—एक गर्हा वह होती है जोकि आयुपर्यन्त रहती है। जिस पाप से इतनी घृणा हो गई है कि उसका सेवन करने के लिए जीव पुनः जीवनभर तैयार नहीं होता, वह दीर्घकालिकी गर्हा कहलाती है। दूसरी गर्हा अल्पकालिकी

होती है और तीसरी गर्हा वह होती है जोकि काया को पापमयी वृत्तियों में प्रवृत्ति से रोका जाए। भूत काल में किए हुए दण्ड की गर्हा होती है। गर्हा के द्वारा ही आत्मा के भाव शुद्ध हो सकते हैं।

प्रत्याख्यान भविष्य के लिए किया जाता है। प्रत्याख्यान त्याग का ही दूसरा नाम है। कोई जीव मन से पाप कर्म का त्याग करता है, कोई वचन से और कोई काय द्वारा पाप कर्म न करना रूप काय से प्रत्याख्यान करता है। कोई दीर्घकाल के लिए और कोई अल्पकाल के लिए प्रत्याख्यान करता है, किन्तु काय को संवर में रखना यही प्रत्याख्यान का मुख्योद्देश्य है। भूत काल की गर्हा और भविष्यत् काल का प्रत्याख्यान ये दोनो ही मुमुक्षुओं के लिए मननीय और आचरणीय हैं।

सूत्र कर्त्ता ने **पावाणं कम्माणं** यहां चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग किया है, जैसे कि—''**पापेभ्यः कर्मभ्यो गर्हते, तानि जुगुप्सते इत्यर्थः, किमर्थमकरणतायै मा कार्षमहमेतानीति**''। यहां 'कायसाकायेन' इस पद में सकार आगमिक है।

अनेक दृष्टियों से पुरुष-भेद

मूल—तओ रुक्खा पण्णत्ता, तं जहा—पत्तोवए, फलोवए, पुप्फोवए।

एवामेव—तओ पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—पत्तोवारुक्खसमाणा, पुप्फोवारुक्खसमाणा, फलोवारुक्खसमाणा।

तओ पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—नामपुरिसे, ठवणापुरिसे, दव्वपुरिसे।

तओ पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—नाणपुरिसे, दंसणपुरिसे, चरित्त-पुरिसे।

तओ पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—वेदपुरिसे, चिंधपुरिसे, अभिलाव-पुरिसे।

तिविहा पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—उत्तमपुरिसा, मज्झिमपुरिसा, जहन्नपुरिसा।

उत्तमपुरिसा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—धम्मपुरिसा, भोगपुरिसा, कम्मपुरिसा।

धम्मपुरिसा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—धम्मपुरिसा अरिहंता, भोगपुरिसा चक्कवट्टी, कम्मपुरिसा वासुदेवा।

मज्झिमपुरिसा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—उग्गा, भोगा, रायन्ना।

जहन्नपुरिसा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—दासा, भयगा, भाइल्लगा ॥ १०॥

छाया—त्रयो वृक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पत्रोपकः, पुष्पोपकः, फलोपकः।

एवमेव त्रीणि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पत्रोपकवृक्षसमानाः, पुष्पोपकवृक्षसमानाः, फलोपकवृक्षसमानाः।

त्रीणि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—नामपुरुषः, स्थापनापुरुषः, द्रव्यपुरुषः।

त्रीणि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—ज्ञानपुरुषः, दर्शनपुरुषः, चारित्रपुरुषः।

त्रीणि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—वेदपुरुषः, चिन्हपुरुषः, अभिलापपुरुषः।

त्रिविधानि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—उत्तमपुरुषाः, मध्यमपुरुषाः, जघन्यपुरुषाः।

उत्तमपुरुषास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—धर्म-पुरुषाः, भोग-पुरुषाः, कर्म-पुरुषाः।

धर्मपुरुषास्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—धर्मपुरुषा अरिहन्ताः, भोगपुरुषाश्चक्रवर्तिनः, कर्म-पुरुषा वासुदेवाः।

मध्यमपुरुषास्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—उग्राः, भोगाः, राजन्याः।

जघन्यपुरुषास्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—दासाः, भृत्यकाः, भागिकाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—वृक्ष तीन प्रकार के हैं, जैसे—पत्रोपक, फलोपक, पुष्पोपक।

इसी प्रकार तीन तरह के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—पत्रोपक वृक्ष समान, फलोपक वृक्ष समान और पुष्पोपक वृक्ष समान।

तीन पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे—नाम-पुरुष, स्थापना-पुरुष और द्रव्य-पुरुष।

तीन प्रकार के पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे—ज्ञान-पुरुष, दर्शन-पुरुष और चारित्र-पुरुष।

तीन प्रकार के पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे—वेद-पुरुष, चिह्न-पुरुष और अभिलाप- पुरुष।

तीन प्रकार के पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे—उत्तम-पुरुष, मध्यम-पुरुष और जघन्य-पुरुष।

उत्तम पुरुष तीन प्रकार के कथन किए गए हैं, जैसे—धर्म-पुरुष, भोग-पुरुष और कर्म-पुरुष।

धर्म-पुरुष तीन प्रकार के कथन किए गए हैं, जैसे—अरिहन्त, चक्रवर्ती और वासुदेव।

मध्यम-पुरुष तीन प्रकार के कथन किए गए हैं, जैसे—उग्र, भोग और राजा।

जघन्य-पुरुष तीन प्रकार के कथन किए गए हैं, जैसे-दास, भृत्य और भागिक।

विवेचनिका—गर्हा और प्रत्याख्यान करने वाले जीव उपकारी होते हैं। इस सूत्र में उन्हें वृक्ष की उपमा से उपमित किया गया है। वृक्ष तीन प्रकार के होते हैं—एक वे जो केवल पत्तों से ही सुशोभित होते हैं, दूसरी तरह के वे वृक्ष हैं जो पत्र और फूलों से सुशोभित होते हैं और तीसरी तरह के वृक्ष वे होते हैं, जो पत्र, पुष्प और फलों से विभूषित होते हैं। जो वृक्ष जिस-जिस ऋद्धि से समृद्ध हैं, वे उस-उस ऋद्धि से जन-सेवा करते हैं। कोई छाया और पत्रों से सेवा करते हैं, कोई फूलों से भी सेवा करते हैं और कोई फलों से भी। इनमें कुछ मन और इन्द्रियों के आह्लादक भी होते हैं।

इसी तरह परोपकारी व्यक्ति भी तीन तरह के होते हैं। लौकिक दृष्टि से कोई सामान्य उपकार करने वाले, कोई विशिष्ट उपकार करने वाले तथा कोई विशिष्टतर उपकारी होते हैं। लोकोत्तर पक्ष में कोई सूत्र का शुद्धोच्चारण सिखाने वाले, कोई मनोवैज्ञानिक पद्धति से अर्थ सिखाने या समझाने वाले और कुछ सूत्र एवं अर्थ दोनों को ही सुललित रूप से सिखाने-पढाने वाले होते हैं, जिससे श्रोता और शिष्य ज्ञान-दर्शन और चारित्र से जगमगा उठें। इस प्रकार के उपकारी वक्ता एवं गुरु महान् होते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि उपकारी पुरुषों के विषय में सूत्रकार ने वृक्षों के पत्तों से लेकर फलों-पर्यन्त उपमा दी है।

प्रस्तुत सूत्र के शेष अवान्तर सूत्रों में अनेक दृष्टियों से पुरुष का विश्लेषण किया गया है, जब किसी जीव या अजीव का नाम पुरुष रख लिया जाता है, उसे नामपुरुष कहते हैं। पुरुष का चित्र या मूर्ति को स्थापना पुरुष कहते हैं। जिस स्त्री या नपुंसक जीव ने मरकर अवश्यमेव पुरुष बनना है, वह द्रव्य-पुरुष कहलाता है।

जो जीव ज्ञान में लीन हैं, वे ज्ञान-पुरुष, जो सम्यग्दर्शन में संलग्न हैं, वे दर्शन-पुरुष और जिनका उपयोग चारित्र में लगा हुआ है, वे चारित्र-पुरुष कहलाते हैं। अथवा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में प्राप्त विशुद्ध जीव ज्ञान-पुरुष, दर्शन-पुरुष और चारित्र-पुरुष कहलाते हैं। कोई भी हो अवेदी अवस्था में जीव पुरुष कहलाता है।

जिस कर्म के उदय से जीव को स्त्री की अभिलाषा उत्पन्न होती है वह पुरुष-वेद कहलाता है। जिस व्यक्ति ने पुरुष के दाढी-मूंछ आदि चिन्ह धारण किए हों, वह पुरुष-चिन्ह कहलाता है। पुरुष वेषधारिणी स्त्री आदि को भी चिन्ह-पुरुष कहा जाता है। जो शब्द पुल्लिग में प्रयुक्त होते हैं, जैसे कि घटपटादि शब्द वे अभिलाप-पुरुष कहे जाते हैं। कहा भी है—**अभिलप्यतेऽनेनेति अभिलापः शब्दः, स एव पुरुषः पुल्लिङ्गतया अभिधानाद् यथा घटः कुटो वेति।**

तीन प्रकार के पुरुष—

जो अपने युग में धर्म की दृष्टि से, सुख की दृष्टि से या नीति की दृष्टि से सर्वोपरि हो, वह उत्तमपुरुष कहलाता है। उत्तम पुरुष भी तीन प्रकार के होते हैं, जैसे कि—तीर्थंकर,

चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव। इनमें अरिहन्त या तीर्थंकर धर्मपुरुष कहलाते हैं, क्योंकि वे धर्मतीर्थ के स्थापन करने वाले होते हैं। साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका इनको धर्मतीर्थ कहते हैं। तीर्थंकर चौसठ इन्द्रों के भी पूज्य होते हैं। समयान्तर में जब धर्म धूमिल सा हो जाता है, तब उसे निखारकर तीर्थंकर ही जनता के समक्ष रखते हैं। इसी कारण उन्हें धर्मपुरुष माना गया है। वे विश्व में धर्म के द्वारा ही शान्ति स्थापना का पावन कार्य करते हैं, न कि दण्ड के द्वारा। चक्रवर्ती भोगपुरुष कहलाते हैं, जिसके पास अनुपम एवं अतुल भोग सामग्री हो और स्वेच्छया उनका उपभोग करता हो, बत्तीस हजार राजाओं के ऊपर जिसका अखण्ड शासन चलता हो, जिसके रनवास में बत्तीस हजार रानियां हों, वैसा भोग-पुरुष चक्रवर्ती ही होता है। वासुदेव कर्म-पुरुष कहलाते हैं, वे युद्धवीर होते हैं, वे अधिकतर अपने बल पर ही निर्भर रहते हैं। तीन सौ साठ संग्रामों के द्वारा जय-विजय प्राप्त कर न्यायपूर्वक राजनीति की स्थापना करते हैं, इन्हें ही कर्मयोगी भी कहते हैं।

तीन प्रकार के मध्यमपुरुष होते हैं—उग्रकुल, भोगकुल तथा राजन्यकुल में उत्पन्न होने वाले। ऋषभदेव भगवान ने अपने शासन-काल में आरक्षक, कोतवाल, सेनापति आदि पुरुष स्थापन किए थे, उनकी सन्तति को उग्र पुरुष कहा जाता है। जो अध्यापक, पुरोहित, शिक्षक आदि गुरुरूप में स्थापन किए थे, उनके कुल में उत्पन्न भोग-पुरुष कहलाते हैं। जिनको अपने समान स्थापन किया, उनकी परंपरा में जन्म लेने वालों को राजन्य कहा जाता है, अर्थात् क्षत्रिय पुरुषों को राजन्य कहा जाता है।

तीन प्रकार के जघन्य पुरुष होते हैं—दास, भृतक और भागीदार। दासी के पुत्र को दास कहते हैं। वेतन लेकर काम करने वाले को भृतक कहते हैं, जिसे वैतनिक पुरुष भी कहा जाता है। भागीदार वे कहलाते हैं, जिनका किसी कार्य विशेष में आधा-चौथा और तिहाई आदि भाग हुआ करता है।

सूत्र के पहले पाठ में पत्तोवम के स्थान में पत्तोवा और समाणा के स्थान में सामाणा ऐसा पाठ दिया गया है, वह प्राकृत के व्याकरण-सम्बन्धी नियमानुसार है।

मत्स्यों और पक्षियों के रूप

मूल—तिविहा मच्छा पण्णत्ता, तं जहा—अंडया, पोअया, संमुच्छिमा।
अंडगा मच्छा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—इत्थी, पुरिसा, णपुंसगा।
पोअया मच्छा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—इत्थी, पुरिसा, णपुंसगा।
तिविहा पक्खी पण्णत्ता, तं जहा—अंडया, पोअया, संमुच्छिमा।
अंडगा पक्खी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—इत्थी, पुरिसा, णपुंसगा।
पोअया पक्खी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—इत्थी, पुरिसा, णपुंसगा।

एवमेतेणं अभिलावेणं उरपरिसप्पावि ३/९ भाणियव्वा। भुजपरिसप्पावि, ३/१२ भाणियव्वा, एवं चेव ॥ ११ ॥

छाया—त्रिविधाः मत्स्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अण्डजाः, पोतजाः, संमूर्च्छिमाः। अण्डजाः मत्स्याः त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—स्त्रियः, पुरुषाः, नपुंसकाः। पोतजाः मत्स्यास्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—स्त्रियः, पुरुषाः, नपुंसकाः। त्रिविधाः पक्षिणः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अण्डजाः, पोतजाः, संमूर्च्छिमाः। अण्डजाः पक्षिणस्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—स्त्रियः, पुरुषाः, नपुंसकाः। पोतजाः पक्षिणस्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—स्त्रियः, पुरुषाः, नपुंसकाः। एवमेतेनाभिलापकेन उरःपरिसर्पाः अपि ३/९ भणितव्याः। भुजपरिसर्पा अपि ३/१२ भणितव्याः, एवं चैव॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तीन प्रकार के मत्स्य प्रतिपादन किए हैं, जैसे—अण्डज, पोतज और संमूर्च्छिम।

अण्डज मत्स्य तीन प्रकार के हैं, जैसे—स्त्री, पुरुष और नपुंसक।

पोतज मत्स्य तीन प्रकार के है, जैसे—अण्डज, पोतज और संमूर्च्छिम।

तीन प्रकार के पक्षी कथन किए गए हैं, जैसे—स्त्री, पुरुष और नपुसक।

पोतज पक्षी तीन प्रकार के हैं, जैसे—स्त्री, पुरुष और नपुंसक।

इसी प्रकार इसी अभिलापक से उरपरिसर्प भी जान लेने चाहिएं तथा भुजपरिसर्पों के विषय मे भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

विवेचनिका—उत्तम, मध्यम और जघन्य इस प्रकार मनुष्य-पुरुष के तीन भेद बतलाने के अनन्तर प्रस्तुत सूत्र मे जलचर, स्थलचर, पक्षी, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प तिर्यंच पचेन्द्रिय जीवो के रूपो का परिज्ञान कराया गया है। मत्स्य, कच्छप, गाह, मगर, सुंसुमार, नक्र इत्यादि सब जलचर जीव कहलाते है। एक खुरा घोडा, गर्दभ आदि, द्विखुर गाय, मृग आदि, गण्डीपद हाथी आदि, नख वाले सिह, कुत्ता, बिलाव आदि ये सब स्थलचर जीव कहलाते है। आकाश मे उडान लगाने वाले कबूतर, चमगादड आदि खेचर कहलाते है। अहि, अजगर, महोरग, फण वाले, बिना फण वाले, साप आदि उर:परिसर्प कहलाते है, क्योंकि वे छाती के बल से चलते है। गोह, नकुल, मूषक आदि भुजपरिसर्प कहलाते है, क्योंकि ये भुजा के बल से चलते है। शेष सभी पचेन्द्रिय तिर्यंचो का अन्तर्भाव उक्त पाच में ही हो जाता है। ये दो प्रकार के होते है गर्भज और संमूर्च्छिम। जिनकी सृष्टि मैथुन से हुई है वे गर्भज कहलाते है। जिनकी सृष्टि बिना ही मैथुन से हुई है, वे समूर्च्छिम होते हैं। जितने

प्रकार के संमूर्च्छिम जीव हैं, वे सब एकान्त नपुंसक होते हैं। स्थलचर तिर्यंच पंचेन्द्रियों के अतिरिक्त जितने गर्भज तिर्यंच हैं—वे सब दो तरह के होते हैं—अण्डज और पोतज। जिनका जन्म अण्डे से होता है, वे अण्डज और जिनका जन्म किसी प्रकार के आवरण से वेष्टित न होकर होता है, वे पोतज जीव कहलाते है, जैसे हाथी, खरगोश, नेवला, चूहा आदि। इस विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—**पोतं वस्त्रं तद्वज्जरायुर्वर्जितत्वाज्जाताः पोतादिव वा—बोहित्थाज्जाताः पोतजाः।**" अण्डज और पोतज पुनः तीन-तीन प्रकार के होते हैं जैसे कि—स्त्री, पुरुष और नपुसक। किन्तु स्थलचर अण्डज नही होते, वे जरायुज एवं पोतज ही होते हैं। स्थलचरों मे अधिक संख्या जरायुज जीवों की है। वे भी तीन तरह के होते है—स्त्री, पुरुष और नपुंसक।

प्रस्तुत सूत्र मे स्थलचर जीवो का उल्लेख नही किया गया है। जो अण्डज और पोतज है उन्हीं प्राणियों का सूत्रकार ने वर्णन किया है। यह विषय प्राणी-विज्ञान से सम्बन्ध रखता है। अण्डज और पोतज जीवो की प्रकृति, स्वभाव और शक्ति भिन्न-भिन्न होती है जो कि अनुसन्धान का विषय है।

स्त्री-पुरुष और नपुंसक भेद

मूल—तिविहा इत्थीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—तिरिक्खजोणित्थीओ, मणुस्सित्थीओ, देवित्थीओ।

तिरिक्खजोणीओ इत्थीओ तिविहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—जलचरीओ, थलचरीओ, खहचरीओ।

मणुस्सित्थीओ तिविहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—कम्मभूमिआओ, अकम्मभूमिआओ, अंतरदीविआओ।

तिविहा पुरिसा पण्णत्ता, तं जहा—तिरिक्खजोणीपुरिसा, मणुस्स-पुरिसा, देव-पुरिसा।

तिरिक्खजोणीपुरिसा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—जलचरा, थलचरा, खहचरा।

मणुस्सपुरिसा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—कम्मभूमिगा, अकम्मभूमिगा, अंतरदीविगा।

तिविहा णपुंसगा पण्णत्ता, तं जहा—णेरइयणपुंसगा, तिरिक्खजोणियणपुंसगा, मणुस्सणपुंसगा।

तिरिक्खजोणियनपुंसगा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—जलयरा, थलयरा, खहयरा।

मणुस्सनपुंसगा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—कम्मभूमिगा, अकम्मभूमिगा, अंतरदीविगा ॥१२॥

छाया—त्रिविधाः स्त्रियः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—तिर्यग्योनिकस्त्रियः मनुष्यस्त्रियः, देवस्त्रियः।

तिर्यग्योनिकस्त्रियस्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जलचर्यः, स्थलचर्यः, खेचर्यः।

मनुष्यस्त्रियस्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कर्मभूमिजाः, अकर्मभूमिजाः, अन्तर-द्वीपजाः।

त्रिविधाः पुरुषाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—तिर्यग्योनिकपुरुषाः, मनुष्यपुरुषाः, देवपुरुषाः।

तिर्यग्योनिकपुरुषास्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कर्मभूमिजाः, अकर्मभूमिजाः, अन्तरद्वीपजाः।

त्रिविधाः नपुंसकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नैरयिकनपुंसकाः, तिर्यग्योनिकनपुंसकाः, मनुष्यनपुंसकाः।

तिर्यग्योनिकनपुंसकास्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जलचराः, स्थलचराः, खेचराः।

मनुष्यनपुंसकास्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कर्मभूमिजाः, अकर्मभूमिजाः, अन्तरद्वीपजाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तीन प्रकार की स्त्रियां वर्णन की गई हैं, यथा—तिर्यञ्ची, मनुष्यी और देव-स्त्रियां।

तिर्यञ्ची स्त्रियां तीन प्रकार की हैं, जैसे—जलचरी, स्थलचरी और खेचरी।

मनुष्य-स्त्रियां तीन प्रकार की हैं, यथा—कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज और अन्तर-द्वीपज।

तीन प्रकार के पुरुष हैं, जैसे—तिर्यञ्चयोनिज, मनुष्ययोनिज और देवयोनिज।

तिर्यञ्चयोनिज पुरुष भी तीन प्रकार के है, जैसे—जलचर, स्थलचर और आकाश-गामी-पक्षी।

मनुष्य पुरुष तीन प्रकार के हैं, यथा—कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज और अन्तर-द्वीपज। तीन प्रकार के नपुंसक कहे गए हैं, जैसे—नारकी, तिर्यञ्च और नपुंसक।

तिर्यञ्चयोनिक-नपुंसक तीन प्रकार के हैं, जैसे—जलचर, स्थलचर और खेचर।

मनुष्य-नपुंसक भी तीन प्रकार के हैं, जैसे—कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज और अन्तरद्वीपज।

विवेचनिका—तिर्यंचों की उत्पत्ति किस-किस से होती है? यह वर्णन करने के अनन्तर प्रस्तुत सूत्र में स्त्री-पुरुष और नपुंसकों का उल्लेख किया गया है। स्त्री जाति तीन गतियों में पाई जाती है, जैसे कि—तिर्यंचगति, मनुष्य और देवगति मे। नारकी जीव सब नपुंसक होते हैं। तिर्यंची स्त्रियां जलचर, स्थलचर, खेचर तीनों में पाई जाती हैं। यहां सूत्रकार ने उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प जीवो का अन्तर्भाव अपेक्षा से स्थलचर में कर लिया है।

मनुष्य स्त्रियां तीन प्रकार की होती हैं—जैसे कि पांच भरत, पाच ऐरावत और पांच महाविदेह, इन पन्द्रह कर्मभूमि क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाली स्त्रिया, तीस अकर्मभूमि क्षेत्रों में और ५६ अन्तरद्वीपों मे उत्पन्न होने वाली स्त्रिया।

पुरुष भी तीन प्रकार के होते हैं—तिर्यग्योनिक पुरुष, मनुष्य पुरुष और देव पुरुष। इनमे तिर्यंच पुरुष तीन तरह के होते है—जलचर, स्थलचर और खेचर (पक्षी)। मनुष्य पुरुष तीन प्रकार के होते है—कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज और अन्तर-द्वीपज।

नपुंसक तीन गतियो मे उत्पन्न होते हैं—जैसे कि नारकी नपुंसक, तिर्यग्योनिक नपुसक और मनुष्य नपुंसक। तिर्यग्योनिक नपुसक तीन तरह के होते है—जलचर नपुंसक, स्थलचर नपुंसक और पक्षी नपुंसक। मनुष्य नपुंसक भी तीन तरह के होते हैं—कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज और अन्तरद्वीपज।

इस प्रसंग में ध्यान में रखने योग्य बात यह है कि कर्मभूमिज नपुसक दो तरह के होते है—गर्भज और संमूर्च्छिम, किन्तु अकर्मभूमि और अन्तरद्वीप मे समूर्च्छिम मनुष्य ही नपुंसक होते है, वहां गर्भज मनुष्य नपुंसक नहीं होते।

तिर्यंच जीवों के रूप

मूल—तिविहा तिरिक्खजोणिया पण्णत्ता, तं जहा—इत्थी, पुरिसा, णपुंसगा॥ १३ ॥

छाया—त्रिविधास्तिर्यग्योनिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—स्त्रियः, पुरुषाः, नपुंसकाः॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तिर्यग्योनिक तीन प्रकार के हैं, जैसे कि—स्त्री, पुरुष और नपुंसक।

विवेचनिका—मनुष्यों की तरह प्रस्तुत सूत्र में तिर्यंचों को भी त्रिलिंगी बताया गया है। अंगोपांग नाम कर्म के उदय से जीव स्त्री-लिंगी, पुरुष-लिंगी और नपुंसकलिंगी बनते हैं। किसी भी लिंग का निर्माण वेदोदय से होता है। शरीर-निर्माण के आरम्भ में जिस वेद का उदय होता है, वैसा ही लिंग बनकर तैयार हो जाता है। तिर्यंचों में तीनों ही लिंग पाए जाते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि मनुष्य भी तीन प्रकार के हैं—स्त्री-पुरुष और नपुंसक **"एवं मणुस्सा वि"** फिर सूत्रकार ने ऐसा पाठ क्यों नहीं दिया? जबकि इस पाठ की स्वाभाविक आवश्यकता थी।

प्रश्न बहुत सुन्दर और मननीय है—संभव है लिपिबद्धता के समय **"एवं मणुस्सा वि"** ऐसा पाठ लेखन से रह गया हो।

दूसरा कारण पाठ न देने का यह भी हो सकता है कि मनुष्य की अपेक्षा तिर्यंचों में लिंगत्रय की प्रचुरता है। पुरुषतिर्यंच असंख्यात हैं, उनसे स्त्रीतिर्यंच तिगुणी हैं और उनसे भी नपुंसकतिर्यंच अनन्तानन्त हैं। मनुष्यों में ऐसी बात नहीं। गर्भज मनुष्य संख्यात ही पाए जाते हैं। संमूर्च्छिम मनुष्यों का कभी-कभी २४ मुहूर्त के लिए अभाव भी हो जाता है। किन्तु तिर्यंचों में किसी भी लिंग का कभी अभाव नहीं हो सकता। तिर्यंचों में कोई भी ऐसा अनुभव नहीं करता कि मैं स्त्री हूँ, या मैं पुरुष हूँ, या मैं नपुंसक हूँ। इस दृष्टि से वे सब समान हैं। यह पुत्र है, पुत्री है, माता है, पिता है, बहन है, या भाई है, वे ऐसा अनुभव नहीं करते, किन्तु पुत्र-पुत्री, बहन आदि का विवेक ही मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है। यही कारण है कि सूत्रकार ने **"एवं मणुस्सा वि"** यह पाठ प्रस्तुत नहीं किया।

लेश्या-दृष्टि से जीव-भेद

मूल—नेरइयाणं तओ लेसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—कण्हलेसा, नीललेसा, काउलेसा। असुरकुमाराणं तओ लेसाओ संकिलिट्ठाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—कण्हलेसा, नीललेसा, काउलेसा, एवं जाव थणियकुमाराणं। एव पुढविकाइयाणं, आउवणस्सइकाइयाण वि। तेउकाइयाणं, वाउकाइयाणं, बेंदियाणं, तेंदियाणं, चउरिंदियाण वि, तओलेस्सा, जहा नेरइयाणं।

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं तओ लेसाओ संकिलिट्ठाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—कण्हलेसा, नीललेसा, काउलेसा।

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं तओ लेसाओ असंकिलिट्ठाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—तेउलेसा, पम्हलेसा, सुक्कलेसा, एवं मणुस्साण वि। वाणमंतराणं जहा असुरकुमाराणं।

वेमाणियाणं तओ लेस्साओ पण्णत्ताओ, तं जहा—तेउलेसा, पम्हलेसा, सुक्कलेसा ॥ १४ ॥

छाया—नैरयिकाणां तिस्रो लेश्याः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या। असुरकुमाराणां तिस्रो लेश्याः संक्लिष्टाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कृष्णलेश्या,

नीललेश्या, कापोतलेश्या, एवं यावत् स्तनितकुमाराणाम्। एवं पृथिविकायिकानाम्। अप्-वनस्पतिकायिकानामपि। तेजस्कायिकानाम्, वायुकायिकानाम्, द्वीन्द्रियाणाम्, त्रीन्द्रियाणाम्, चतुरिन्द्रियाणामपि तिस्रो लेश्याः यथा नैरयिकाणाम्।

पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां तिस्रो लेश्याः संक्लिष्टाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या।

पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां तिस्रो लेश्या असंक्लिष्टाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या, एवं मनुष्याणामपि। वानव्यन्तराणां यथासुरकुमाराणाम्।

वैमानिकानां तिस्रो लेश्याः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नारकों की तीन लेश्या कही गई हैं, जैसे—कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या। असुरकुमारों की तीन लेश्या संक्लिष्ट प्रतिपादन की गई है, जैसे—कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या। इसी क्रम से स्तनितकुमार पर्यन्त जान लेना चाहिए। ऐसे ही पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक जीवों की भी तीन-तीन लेश्याएं जाननी चाहिए। जैसे नारकों की तीन लेश्या कथन की गई हैं, उसी प्रकार तेजस्कायिक, वायुकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों की भी समझ लेनी चाहिएं।

पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों की कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेश्याएं संक्लिष्ट कही गयी हैं। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों की तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या ये तीन लेश्याएं असंक्लिष्ट कथन की गई हैं। इसी भांति मनुष्यों की भी जाननी चाहिएं। वानव्यन्तरों की असुरकुमारों की तरह लेश्याएं होती हैं। वैमानिक देवो की तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या ये तीन लेश्याएं प्रतिपादन की गई हैं।

विवेचनिका—कषायो वाले, मनो-योग, वचन-योग और काय-योग वाले स्त्री, पुरुष और नपुंसक लेश्या-युक्त ही होते हैं, अतः इस सूत्र मे संक्लिष्ट और असंक्लिष्ट लेश्याओं का निरूपण किया गया है। जो लेश्याएं कष्ट उत्पन्न करने वाली हैं, उन्हें संक्लिष्ट लेश्या कहते हैं और जो लेश्याएं कष्टदायिनी न होकर सुखदायिनी होती हैं, वे असंक्लिष्ट लेश्याए कहलाती हैं।

नैरयिक, भवनपति, स्थावर, असंज्ञी त्रस, वानव्यन्तर इन बीस दण्डकों में तीन संक्लिष्ट लेश्याएं पाई जाती हैं, जैसे कि—कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या। तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों में तीन संक्लिष्ट लेश्याएं पाई जाती हैं और तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्याएं भी पाई जाती हैं। किन्तु वैमानिकों में तीन असंक्लिष्ट लेश्याएं ही पाई जाती हैं। यद्यपि

पृथ्वी, अप्, वनस्पति जीवों की अपर्याप्त अवस्था में तेजोलेश्या भी होती है, किन्तु पर्याप्त अवस्था में नहीं। इसी कारण सूत्रकर्ता ने संक्लिष्ट पद ग्रहण किया है। असुरकुमार आदि दस भवनपति और वानव्यन्तर देवों में भी तेजोलेश्या का सद्भाव पाया जाता है। इसी कारण संक्लिष्ट पद देने की सार्थकता हो जाती है। ज्योतिष्क देवों में केवल तेजोलेश्या ही पाई जाती है, अतः इस सूत्र में उनकी चर्चा नहीं की गई।

लेश्याओं का सद्भाव कषाय और योग के सम्बन्ध से ही होता है। अतः इनको कषायलेश्या या योगलेश्या भी कहते हैं। चौदहवें गुणस्थान में जीव अलेश्यी होता है, क्योंकि वहां अयोगी होता है। इस सूत्र में तो जिस-जिस दण्डक में तीन संक्लिष्ट या तीन असंक्लिष्ट लेश्याएं पाई जाती हैं उस-उस दण्डक का उल्लेख किया गया है।[१]

ताराओं का प्रचलन और देवों के शब्दादि

मूल—तिहिं ठाणेहिं तारारूवे चलिज्जा, तं जहा—विकुव्वमाणे वा, परियारेमाणे वा, ठाणाओ वा ठाणं संकममाणे तारारूवे चलेज्जा।

तिहिं ठाणेहिं देवे विज्जुयारं करेज्जा, तं जहा—विकुव्वमाणे वा, परियारेमाणे वा, तहारूवस्स समणस्स वा, माहणस्स वा, इड्ढिं, जुतिं, जसं, बलं, वीरियं, पुरिसक्कार-परक्कमं उवदंसेमाणे देवे विज्जुयारं करेज्जा।

तिहिं ठाणेहिं देवे थणियसद्दं करेज्जा, तं जहा—विकुव्वमाणे, एवं जहा विज्जुयारं तहेव थणियसद्दंपि ॥ १५ ॥

छाया—त्रिभिः स्थानैस्तारारूपं चलति, तद्यथा—विकुर्वद्वा, परिचारयद्वा, स्थानाद्वास्थानं संक्रामत् तारारूपं चलेत्।

त्रिभिः स्थानैर्देवो विद्युत्कारं कुर्यात्, तद्यथा—विकुर्वद्वा, परिचारयद्वा, तथारूपस्य श्रमणस्य वा, माहणस्य (ब्राह्मणस्य वा) ऋद्धिं, द्युतिं, यशः, बलं, वीर्यं, पुरुषकारपराक्रममुपदर्शयन् देवो विद्युत्कारं कुर्यात्।

त्रिभिः स्थानैर्देवो स्तनितशब्दं कुर्यात्, तद्यथा विकुर्वद्वा, एवं यथा विद्युत्कारं तथैव स्तनितशब्दमपि।

शब्दार्थ—तिहिं ठाणेहिं—तीन स्थानों से, **तारारूवे चलिज्जा**—तारा अपने स्थान को छोड़ता है, **तं जहा**—जैसे, **विकुव्वमाणे वा**—वैक्रिय करता हुआ, **परियारेमाणे वा**—परिचारणा करते समय और, **ठाणाओ ठाणं वा**—एक स्थान से अन्य स्थान पर, **संकममाणे वा**—संक्रमण करता हुआ, **तारारूवे चलेज्जा**—तारक चलता है।

---

१ लेश्याओं का विस्तृत वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र के ३४वें अध्ययन में एवं प्रज्ञापना सूत्र के १७वें पद में प्राप्त होता है।

तिहिं ठाणेहिं—तीन स्थानों से, **देवे**—देव, **विज्जुयारं करेज्जा**—विद्युत्कार करता है, **तं जहा**—जैसे, **विकुव्वमाणे वा**—वैक्रिय करता हुआ, **परियारेमाणे वा**—परिचारणा करता हुआ और, **तहारूवस्स**—तथारूप, **समणस्स वा**—श्रमण अथवा, **माहनस्स**—माहन को (अपनी), **इड्ढिं**—ऋद्धि, **जुतिं**—द्युति, **जसं**—यश, **बलं**—बल, **वीरियं**—वीर्य, **पुरिसक्कार-परक्कमं**—पुरुषकार-पराक्रम, **उवदंसेमाणे**—दिखाता हुआ, **देवे**—देव, **विज्जुयारं करेज्जा**—विद्युत्कार करता है।

तिहिं ठाणेहिं—तीन स्थानों से, **देवे**—देव, **थणियसद्दं करेज्जा**—स्तनित शब्द करता है, **तं जहा**—जैसे, **विकुव्वमाणे**—वैक्रिय करता हुआ, **एवं जहा**—इसी प्रकार जैसे, **विज्जुयारं**—विद्युत्कार करता है, **तहेव**—वैसे ही, **थणियसद्दंपि**—स्तनित शब्द के भी तीन कारण जानने चाहिएं।

मूलार्थ—तीन कारणों से तारे चलते हैं, यथा—वैक्रिय करते समय, परिचारणा के समय और एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते समय।

तीन कारणों से देव विद्युत्कार करते हैं, जैसे—विकुर्वणा करते समय, परिचारणा करते समय और तथारूप श्रमण, माहन को अपनी ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य, और पुरुषकार-पराक्रम दिखाते हुए विद्युत्कार करते हैं। उपर्युक्त तीन कारणों से ही देव मेघवत् गम्भीर शब्द करते हैं।

विवेचनिका—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे जो आकाश में दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वह सब ज्योतिष्क देवों की दुनिया है, यह दुनिया प्रवाह से अनादि अनन्त और पर्याय से सादि सान्त है।

जो तारे स्वयं प्रकाशमान हैं, वे सैंकड़ों मील दूर और लम्बे चौड़े हैं और वे अपनी परिधि में परिभ्रमण करते हैं। इन तारों का परस्पर टकराव भी नहीं होता। फिर जन सामान्य 'देखो टूट रहा है तारा' आदि शब्दों से तारों के टूटने की चर्चा करते हैं। प्रश्न है कि क्या सचमुच ही तारे टूटते हैं? इसी शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं:-

जिस समय देव उत्तर वैक्रिय शरीर का निर्माण करते हैं, देवियों के साथ परिचारणा (रतिक्रीड़ा) करते हैं, या एक स्थान से जब दूसरे-स्थान में संक्रमण करते हैं, तब जन-सामान्य को ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि 'तारा टूट रहा है।'

जब देव वैक्रिय करते हैं, परिचारणा करते हैं, या किसी श्रमण माहन को अपना दिव्य बल पराक्रम दिखलाते हैं, तब बिना ही बादलों के विद्युत-चमत्कार और मेघ की तरह गंभीर गर्जना करते हैं।

जिस समय असुरेन्द्र, चमरेन्द्र और सौधर्म देवलोक में अपनी उद्दण्डता दिखाता हुआ विद्युत् की तरह तड़तड़ाहट करता हुआ, मेघ की तरह गर्जता हुआ, ज्योतिष्क चक्र को दो

भागों में विभक्त करता हुआ, मध्य मार्ग से ऊपर जाता है, उसी प्रकार अन्य महर्द्धिक देव भी कर सकते हैं।

जो पहले तीन कारण तारा के विषय में बतलाए गए हैं, वे सब खगोल-शास्त्रियों के दृष्टिकोण से भू-लोक की जनता के लिए उत्पात-सूचक होते हैं। जो विद्युत्कार और मेघगर्जन की तरह गम्भीर गर्जन का निर्देश किया गया है, वह जब देव अहंकार के वश होकर दर्प एवं उल्लास युक्त होते हैं, तब वैसी क्रिया करते हैं। इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—

विद्युत्कारं ति विद्युत्—तडित् सैव क्रियत इतिकारः, कार्यं विद्युतो वा करणं कारः—क्रिया विद्युत्कारस्तं विद्युतं कुर्यादित्यर्थः वैक्रियकरणादीनि हि सदर्पस्य भवन्ति, तत्र प्रवृत्तस्य च दर्पोल्लासवतश्चलविद्युद्गर्जनादीन्यपि भवन्तीति चलनविद्युत्कारा-दीनां वैक्रियादिकं कारणतयोक्तमिति।

अन्धकार, प्रकाश और देव-आगमन आदि के कारण

मूल—तिहिं ठाणेहिं लोगंधयारे सिया, तं जहा—अरिहंतेहिं वोच्छिज्ज-माणेहिं, अरिहंतपण्णत्ते धम्मे वोच्छिज्जमाणे, पुव्वगते वोच्छिज्जमाणे।

तिहिं ठाणेहिं लोगुज्जोए सिया, तं जहा—अरहंतेहिं जायमाणेहिं, अरहंतेसु पव्वयमाणेसु, अरहंताणं णाणुप्पायमहिमासु।

तिहिं ठाणेहिं देवंधयारे सिया, तं जहा—अरहंतेहिं वोच्छिज्जमाणेहिं, अरहंतपण्णत्ते धम्मे वोच्छिज्जमाणे, पुव्वगते वोच्छिज्जमाणे।

तिहिं ठाणेहिं देवुज्जोए सिया, तं जहा—अरहंतेहिं जायमाणेहिं, अरहंतेहिं पव्वयमाणेहिं, अरहंताणं णाणुप्पायमहिमासु।

तिहिं ठाणेहिं देवसंनिवाए सिया, तं जहा—अरिहंतेहिं जायमाणेहिं, अरिहंतेहिं पव्वयमाणेहिं, अरिहंताणं णाणुप्पायमहिमासु।

एवं देवुक्कलिया। देवकहकहए।

तिहिं ठाणेहिं देविंदा माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छंति, तं जहा—अरिहंतेहिं जायमाणेहिं, अरहंतेहिं पव्वयमाणेहिं, अरहंताणं णाणुप्पायमहिमासु। एवं सामाणिया, तायत्तीसगा, लोगपाला देवा, अग्गमहिसीओ देवीओ, परिसोववण्णगा देवा, अणियाहिवई देवा, आयरक्खा देवा माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छंति।

तिहिं ठाणेहिं देवा अब्भुट्ठिज्जा, तं जहा—अरहंतेहिं जायमाणेहिं जाव तं चेव।

एवमासणाइं चलेज्जा, सीहणादं करेज्जा, चेलुक्खेवं करेज्जा।

तिहिं ठाणेहिं देवाणं चेइयरुक्खा चलेज्जा, तं जहा—अरहंतेहिं तं चेव।

तिहिं ठाणेहिं लोगंतिया देवा माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छिज्जा, तं जहा—अरहंतेहिं जायमाणेहिं, अरहंतेहिं पव्वयमाणेहिं, अरहंताणं णाणुप्पाय-महिमासु ॥१६॥

छाया—त्रिभिः स्थानैर्लोकान्धकारं स्यात्, तद्यथा—अर्हत्सु व्युच्छिद्यमानेषु, अर्हत्प्रज्ञप्ते धर्मे व्युच्छिद्यमाने, पूर्वगते व्युच्छिद्यमाने।

त्रिभिः स्थानैर्लोकोद्यतः स्यात्, तद्यथा—अर्हत्सु जायमानेषु, अर्हत्सु प्रव्रजत्सु, अर्हतां ज्ञानोत्पादमहिमासु।

त्रिभिः स्थानैर्देवान्धकारं स्यात्, तद्यथा—अर्हत्सु व्युच्छिद्यमानेषु, अर्हत्प्रक्षप्ते धर्मे व्युच्छिद्यमाने, पूर्वगते व्युच्छिद्यमाने।

त्रिभिः स्थानैर्देवोद्योतः स्यात्, तद्यथा—अर्हत्सु जायमानेषु, अर्हत्सु प्रव्रजमानेषु, अर्हतां ज्ञानोत्पादमहिमासु।

त्रिभिः स्थानैर्देवसंनिपातः स्यात्, तद्यथा—अर्हत्सु जायमानेषु, अर्हत्सु प्रव्रजत्सु, अर्हतां ज्ञानोत्पादमहिमासु।

एवं देवोत्कलिका। देवकहकहकः।

त्रिभिः स्थानैर्देवेन्द्राः मानुष्यं लोकं शीघ्रमागच्छन्ति, तद्यथा—अर्हत्सु जायमानेषु, अर्हत्सु प्रव्रजत्सु, अर्हतां ज्ञानोत्पादमहिमासु। एवं सामानिकाः, त्रायस्त्रिंशकाः, लोकपालाः देवाः, अग्रमहिष्यो देव्यः, परिषदुपपन्नकाः देवाः, अनीकाधिपतयो देवाः, आत्मरक्षकाः देवाः, मानुष्यं लोकं शीघ्रमागच्छन्ति।

त्रिभिः स्थानैर्देवाः अभ्युतिष्ठन्ति, तद्यथा—अर्हत्सु जायमानेषु यावत् तच्चैव।

एवमासनानि चलन्ति, सिंहनादं कुर्वन्ति, चेलोत्क्षेपं कुर्वन्ति।

त्रिभिः स्थानैर्लोकान्तिकाः देवाः मानुष्यं लोकं शीघ्रमागच्छन्ति, तद्यथा—अर्हत्सु जायमानेषु, अर्हत्सु प्रव्रजमानेषु, अर्हतां ज्ञानोत्पादमहिमासु।

शब्दार्थ—**तिहिं ठाणेहिं**—तीन स्थानों से, **लोगंधयारे सिया**—लोक में अन्धकार होता है, **तं जहा**—यथा, **अरिहंतेहिं वोच्छिज्जमाणेहिं**—अरिहन्तों के व्यवच्छेद होने पर अर्थात् मोक्ष-गमन पर, **अरिहंतपण्णत्ते धम्मे वोच्छिज्जमाणे**—अरिहंत प्ररूपित धर्म के

व्यवच्छेद होने पर, **पुव्वगते वोच्छिज्जमाणे**—दृष्टिवाद-अन्तर्गत पूर्वों के विच्छिन्न होने पर।

तिहिं ठाणेहिं लोगुज्जोए सिया—तीन स्थानों से लोक में उद्योत होता है, **तं जहा**—यथा, **अरहंतेहिं जायमाणेहिं**—अरिहन्तों के जन्म पर, **अरहंतेसु पव्वयमाणेसु**—अरिहन्तों के प्रव्रजित होने पर और, **अरहंताणं णाणुप्पायमहिमासु**—अरिहन्तों के केवलज्ञान की महिमा पर।

तिहिं ठाणेहिं देवंधयारे सिया—तीन स्थानों से देव-लोक में अन्धकार होता है, **तं जहा**—जैसे, **अरहंतेहिं वोच्छिज्जमाणेहिं**—अरिहन्तों के व्यवच्छेद होने पर, **अरहंतपण्णत्ते धम्मे वोच्छिज्जमाणे**—अरिहन्त प्ररूपित धर्म के विच्छिन्न होने पर और, **पुव्वगते वोच्छिज्ज-माणे**—पूर्वगत ज्ञान के व्यवच्छेद होने पर।

तिहिं ठाणेहिं देवुज्जोए सिया—तीन स्थानों से देवलोक में उद्योत हो जाता है, **तं जहा**—जैसे, **अरहंतेहिं जायमाणेहिं**—अरिहन्तों के उत्पन्न होने पर, **अरहंतेहिं पव्वयमाणेहिं**—अरिहन्तों के प्रव्रजित होने पर और, **अरहंताणं णाणुप्पायमहिमासु**—अरिहन्तों के केवल ज्ञान की महिमा पर।

तिहिं ठाणेहिं—तीन स्थानों से, **देवसंनिवाए सिया**—देवों का भूमि पर अवतरण होता है, **तं जहा**—जैसे, **अरिहंतेहिं जायमाणेहिं**—अरिहन्तों के उत्पन्न होने पर, **अरिहंतेहिं पव्वयमाणेसु**—अरिहन्तों के प्रव्रजित होने पर और, **अरिहंताणं णाणुप्पायमहिमासु**—अरिहन्तों के केवलज्ञान की महिमा पर। **एवं**—इसी प्रकार, **देवुक्कलिया**—देवों का समवाय एकत्रित होता है। **देवकहकहए**—देवों द्वारा हर्षवश किए गए कल-कल शब्द होते हैं।

तिहिं ठाणेहिं—तीन कारणों से, **देविंदा**—देवेन्द्र, **माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छंति**—मनुष्य-लोक में शीघ्र आते हैं। **तं जहा**—जैसे, **अरहंतेहिं जायमाणेहिं**—अरिहन्तों के जन्म पर, **अरहंतेहिं पव्वयमाणेहिं**—अरिहन्तों की दीक्षा पर और, **अरहंताणं णाणुप्पायमहिमासु**—अरिहन्तों के ज्ञानोत्सव पर। **एवं**—इसी प्रकार, **सामाणिया**—सामानिक देव, **तायत्तीसगा**—त्रायस्त्रिंशक देवा, **लोगपाला देवा**—लोकपाल, **अग्गमहिसीओ देवीओ**—अग्रमहिषी देवियां, **परिसोववन्नगा देवा**—तीन प्रकार की परिषदों में उत्पन्न देव, **अणियाहिवई देवा**—अनीकाधिपति देव, **आयरक्खा देवा**—आत्मरक्षक देव, **माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छंति**—मनुष्य लोक में शीघ्र ही आते हैं।

तिहिं ठाणेहिं—तीन कारणों से, **देवा अब्भुट्ठिज्जा**—देव अपने सिंहासन से उठते हैं, **तं जहा**—जैसे, **अरिहंतेहिं जायमाणेहिं**—अरिहन्तों के जन्म पर, **जाव तं चेव**—यावत् उपर्युक्त सभी कारण जानने चाहिएं। **एवमासणाइं चलेज्जा**—इसी प्रकार देव आसनों से चलित होते हैं, **सीहणादं करेज्जा**—सिंहनाद करते हैं, **चेलुक्खेवं करेज्जा**—वस्त्रों की वर्षा करते हैं।

तिहिं ठाणेहिं—तीन स्थानों से, **देवाणं चेइयरुक्खा चलेज्जा**—देवों के चैत्यवृक्ष चलित होते है, **तं जहा**—जैसे, **अरहंतेहिं तं चेव**—अरिहन्तों के उक्त जन्मादि अवसरों पर सब वर्णन इसी प्रकार जानना चाहिए।

तिहिं ठाणेहिं—तीन कारणों से, **लोगंतिया देवा**—लोकान्तिक देव, **माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छंति**—मनुष्यलोक में शीघ्र आते हैं, **तं जहा**—जैसे, **अरहंतेहिं जायमाणेहिं**—अरिहन्तों की उत्पत्ति पर, **अरिहंतेहिं पव्वयमाणेहिं**—अरिहन्तों की प्रव्रज्या पर और, **अरहंताणं णाणुप्पायमहिमासु**—अरिहन्तों के ज्ञानोत्पत्ति के उत्सव पर।

मूलार्थ—तीन कारणों से लोक में अन्धकार होता है, जैसे-अरिहन्तों के व्यवच्छेद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो जाने पर। अरिहन्त भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्म के विच्छिन्न होने पर और दृष्टिवादांग के अन्तर्गत पूर्वों के व्यवच्छेद होने पर।

तीन कारणों से लोक में उद्योत अर्थात् प्रकाश होता है, जैसे—अरिहन्तों के जन्म लेने पर, अरिहन्तों के दीक्षा ग्रहण करने पर और केवलज्ञान की महिमा-उत्सव पर।

तीन कारणों से देवलोक में अन्धकार हो जाता है, जैसे—अरिहन्तों का व्यवच्छेद होने पर, अरिहन्तों द्वारा प्ररूपित धर्म के विच्छेद होने पर एवं पूर्वगत ज्ञान के व्यवच्छेद होने पर।

तीन कारणों से देवलोक में उद्योत होता है—जैसे—अरिहन्तों के जन्म लेने पर, अरिहन्तों की प्रव्रज्या पर और केवलज्ञान की महिमा पर।

तीन कारणों से देवों का भूमि पर अवतरण होता है, जैसे—अरिहन्तों के जन्म होने पर, अरिहन्तों की प्रव्रज्या पर और उनके केवलज्ञान के उत्सव पर।

तीन कारणों से देवेन्द्र मनुष्यलोक में शीघ्र ही अवतरित होते हैं, जैसे—अरिहन्तों के जन्म पर, अरिहन्तों की प्रव्रज्या पर और केवलज्ञान की महिमा पर। इसी प्रकार सामानिक देवों का, त्रयस्त्रिंशक देवों, चार लोकपाल देवों, देवों की अग्रमहिषियों, तीनों परिषत् के देवों, अनीकाधिपति देवों और आत्म-रक्षक देवों का मनुष्यलोक में शीघ्र ही आगमन होता है।

ऊपर कहे गए तीन कारणों से देव अपने सिंहासनों से उठ खड़े होते हैं। इस तरह उक्त अवसरों पर देवों के आसन चलायमान होते हैं। देव सिंह के समान गर्जन करते हैं एवं वस्त्रों की वर्षा करते हैं।

ऊपर वर्णित तीनों कारणों से देवों के चैत्यवृक्ष चलायमान होते हैं—अरिहन्तों के जन्म लेने पर, उनकी दीक्षा पर एवं केवल ज्ञान के उत्सव पर। इन्हीं तीन

कारणों से लोकान्तिक देव मनुष्य लोक में अवतरित होते हैं।

विवेचनिका—विद्युत्कार और स्तनित शब्द आदि से उत्पन्न उत्पातों को अन्धकार कहा जाता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में अन्धकार और उद्योत के विशेष कारण निर्दिष्ट किए गए हैं। अन्धकार दो प्रकार का होता है—द्रव्य-अन्धकार और भाव-अन्धकार। सूर्य आदि प्रकाश-पुंजों के अभाव में जो अन्धकार होता है, उसे द्रव्य-अन्धकार कहते हैं और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र के अभाव के कारण होने वाले अन्धकार को भावान्धकार कहा जाता है।

अथवा अन्धकार दो प्रकार का होता है, जैसे कि—लौकिक अन्धकार और अलौकिक अन्धकार। परोपकारी राजा एवं नेता की मृत्यु होने पर या देश एवं नगर आदि के भंग होने पर जो जन-मानस में शोक एवं हाहाकार छा जाता है, वह लौकिक अन्धकार कहलाता है और अशोक आदि अष्ट प्रातिहार्यों के धारण करने वाले, घनघाति कर्मों के क्षय करने वाले, देवेन्द्रों, असुरेन्द्रों एवं नरेन्द्रों द्वारा भक्तिभाव से पूजित तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म की उपार्जना वाले गुण एवं अतिशय से सम्पन्न अरिहंत भगवान का निर्वाण होने पर लोक में जो अन्धकार छा जाता है, उसे अलौकिक अन्धकार कहा जाता है, क्योंकि वे तीन लोक में रहने वाले भव्य जीवों के श्रद्धा के केन्द्र होते है, उनका वियोग होने से भक्तजनों में शोक का अन्धकार छा जाता है। कहा भी है—

अरिहन्ति वंदण-नमंसणाणि, अरिहन्ति पूय-सक्कारं ।
सिद्धिगमणं च अरिहा, अरिहन्ता तेण वुच्चंति ॥

जो वन्दन-नमस्कार और पूजा-सत्कार के योग्य हैं और जो सिद्धिगमन के योग्य हैं, उन्हें ही अरिहन्त कहा जाता है। उनके द्वारा बताए गए सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्ररूप धर्म के लुप्त होने पर भी लोक में अन्धकार छा जाता है, क्योंकि धर्म ही सुख और कल्याण का साधन है, उसके व्यवच्छेद होने से तीनों लोकों में अशान्ति और दुःख का साम्राज्य छा जाता है। दृष्टिवाद के सर्वथा लुप्त होने पर अन्धकार हो जाता है, क्योंकि दृष्टिवाद श्रुतज्ञान का महाप्रकाश माना जाता है, उसके लुप्त होने से भी लोक मे अन्धकार हो जाता है, अन्धकार होने का यह तीसरा कारण है।

लोक में प्रकाश

जब तीर्थंकर भगवान का जन्म होता है, तब लोक में उद्योत अर्थात् प्रकाश होता है। जब तीर्थंकर गृहवास का परित्याग करते हैं, तब भी लोक में प्रकाश होता है और जब वे घनघाती कर्मों का सर्वथा क्षय कर केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं उस समय भी लोक में प्रकाश व्याप्त हो जाता है। यहां उद्योत अतीव प्रसन्नता का द्योतक है। उक्त कारणों से तीनों लोकों में रहने वाले भव्य जीवों का मन आनन्द-विभोर हो जाता है। उस समय ईति, भीति, रोग, मारी, उपद्रव, अशांति, दुःख, दरिद्रता, भुखमरी और दुष्काल ये सब ऐसे लुप्त हो जाते हैं जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार लुप्त हो जाता है, फिर हर्षोल्लास क्यों न हो? बाह्य वातावरण

शान्त होने पर मानसिक वातावरण शान्त हुआ करता है। इसी कारण से तीनों लोक में प्रकाश होता है।

देवसंनिपात—देवों का मर्त्यलोक में आगमन अर्थात् हर्षोल्लास से भूमि पर एकत्र होना संनिपात कहलाता है। **देवोत्कलिका**—देवों का समवाय, विभिन्न जाति के देवों, विभिन्न देवलोको के देवों, विभिन्न विमानों में रहने वाले देवो का महासमागम ही देवोत्कलिका कहलाती है। **देवकहकह**—देवों के द्वारा प्रमोदवश किए जाने वाले कलकल शब्द को देव कहकह कहते हैं। जब तीर्थंकर का जन्म, दीक्षा व केवल ज्ञान होता है, उस समय देवों के द्वारा मर्त्यलोक में विशेष प्रकार के उत्सव का आयोजन किया जाता है। उक्त तीनो पद भी उसी से सम्बंध रखते हैं।

महामान्य देवों का आगमन

जिस राजधानी मे तीर्थंकर भगवान का जन्म होता है या वे मुनिव्रत धारण करते हैं अथवा जिस स्थान पर उन्हे केवलज्ञान उत्पन्न होता है, उस स्थान में देवेन्द्र भी शीघ्र पहुंच जाते हैं तथा निम्नलिखित उपाधिधर देव एव देविया भी यथा शीघ्र बडी उत्सुकता से उस स्थान में पहुचकर हर्षोल्लास का प्रदर्शन करते हैं और दर्शन करके वे अपने को कृतार्थ समझते है।

जो सामानिक आदि सब प्रकार के देवों के स्वामी है, वे **देवेन्द्र**, जो आयु आदि मे इन्द्र के समान हैं और देव-परिषद् के प्रमुख सदस्य हैं, किन्तु इन्द्रत्व जिन्हें प्राप्त नही, वे **सामानिक** कहलाते हैं। जो मंत्री एवं पुरोहित के तुल्य माननीय हैं, उन देवों को **त्रयस्त्रिंश** कहा जाता है। जो देव इन्द्र के सखातुल्य हैं अथवा जो विधान-परिषद् एवं राज्य-परिषद् के सदस्य एवं माननीय है, वे **पारिषद्यदेव** कहलाते हैं। जो देव सीमारक्षक हैं अथवा राज्यपाल के तुल्य हैं, वे **लोकपाल** कहलाते है। जो देव-सेना के अधिपति है, वे **अनीकाधिपति** कहलाते है। जो देव शस्त्र उठाए हुए स्वामी की रक्षा के लिए पीठ पीछे खड़े रहते है, वे **आत्मरक्षक** कहलाते हैं। जो देवियां पट्टरानी के तुल्य प्रधान हैं उन्हें **अग्रमहिषियां** कहते है। ये सब देव-देवियां तीर्थंकर भगवान के जन्मोत्सव, दीक्षोत्सव एवं केवल-ज्ञानोत्सव मनाने के लिए अपने सब स्वर्गीय सुख-भोग छोड़कर तत्क्षण उसी राजधानी में पहुंच जाते है जहा उन्होंने पहुंचना होता है। उपर्युक्त तीन कारणों के उपस्थित होने पर देवो के सिंहासन कम्पायमान हो उठते हैं, जिससे वे देव प्रसन्न होकर सिंहनाद करते है, अतीव हर्षोद्रेक से वस्त्र उछालने लग जाते है। इतना ही नहीं लोकानुभाव के कारण सुधर्मादि सभा के प्रतिद्वार, तोरण, मुखमण्डप, प्रेक्षामण्डप, चैत्यवृक्ष, महाध्वजा आदि ये सब कांपने लग जाते हैं। आसन आदि का कम्पन लोकस्थिति से होता है। आसन आदि के कम्पन से उनके अवधिज्ञान का उपयोग इधर खिंच जाता है और वे तुरन्त ही अपने आसन से उठकर यहा आने के लिए उद्यत हो जाते हैं। उपर्युक्त तीन कारणों के उपस्थित होने पर

लोकान्तिक देव भी यथा शीघ्र मनुष्यलोक में आ जाते हैं। लोकान्तिक देव कल्पोपपन्न होते हुए भी स्वतंत्र एवं भद्रपरिणामी होते हैं। उन देवों की स्थिति-आयु आठ सागरोपम की होती है, न इससे न्यून और न अधिक। वे ब्रह्मदेवलोक के अन्तर्गत कृष्णराजियों में रहते हैं। औदयिक आदि भावलोक के अन्त में रहने के कारण अर्थात् शीघ्र ही निर्वाण-पद की प्राप्ति करने वाले होने से उन्हें लोकान्तिक कहते हैं। इस विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—

लोकस्य ब्रह्मलोकस्यान्तः—समीपं कृष्णराजीलक्षणं क्षेत्रं निवासो येषां ते, लोकान्ते वा औदयिकभावलोकावसाने भवा अनन्तरभवे मुक्तिगमनादिति लोकान्तिकाः, सारस्वतादयोऽष्टधा वक्ष्यमाणरूपा इति। लोकान्तिक देव भी भगवान के जन्म, दीक्षा और केवल-ज्ञान के महोत्सव पर शीघ्र ही मनुष्यलोक में आ जाते हैं।

प्रस्तुत सूत्र से यह भी ध्वनित होता है कि यदि कोई व्यक्ति भक्तिपूर्वक अरिहंत भगवान के जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान विषयक स्तुति करता है, उनकी परमभक्ति में निमग्न हो जाता है तो उसकी सान्निध्यता देव अवश्य करते हैं, क्योंकि अरिहंत भगवान के परमभक्त भी उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं।

अरिहंतेहिं जायमाणेहिं, अरिहन्तेहिं पव्वयमाणेहिं सूत्र के इन पदों में प्राकृत व्याकरण के अनुसार सप्तमी के स्थान पर तृतीया का प्रयोग किया गया है।

उपकार का दुष्प्रतिकार और सुप्रतिकार

मूल—तिण्हं दुप्पडियारं समणाउसो! तं जहा—अम्मापिउणो, भट्टिस्स, धम्मायरियस्स।

१. संपातो वि यं णं केइ पुरिसे अम्मापियरं सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भंगेत्ता, सुरभिणा गंधट्टएणं उव्वट्टित्ता, तिहिं उदगेहिं मज्जावित्ता, सव्वालंकारविभूसियं करेत्ता, मणुन्नं थालीपागसुद्धं अट्ठार-सवंजणाउलं भोयणं भोयावेत्ता जावज्जीवं पिट्ठिवडेंसियाए परिवहेज्जा, तेणावि तस्स अम्मापिउस्स दुप्पडियारं भवइ। अहे णं से तं अम्मापियरं केवलिपण्णत्ते धम्मे आघवइत्ता, पण्णवित्ता, परूवित्ता, ठावित्ता भवइ, तेणामेव तस्स अम्मापिउस्स सुप्पडियारं भवइ समणाउसो!

२. केइ महच्चे दरिद्दं समुक्कसेज्जा, तए णं से दरिद्दे समुक्किट्ठे समाणे पच्छा पुरं च णं विउलभोगसमितिसमन्नागते यावि विहरेज्जा, तए णं से महच्चे अन्नया कयाइ दरिद्दीहूए समाणे, तस्स दरिद्दस्स अंतिए हव्वमागच्छेज्जा। तए णं से दरिद्दे तस्स भट्टिस्स सव्वस्समवि दलयमाणे, तेणावि तस्स दुप्पडियारं भवइ। अहे णं से तं भट्टिं केवलिपण्णत्ते धम्मे

आघवइत्ता, पण्णवइत्ता, परूवइत्ता, ठावइत्ता भवइ, तेणामेव तस्स भट्टिस्स सुप्पडियारं भवइ।

३. केइ तहारूवस्स समणस्स वा, माहणस्स वा अंतिए एगमवि आयरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा, निसम्म कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववन्ने। तए णं से देवे तं धम्मायरियं दुब्भिक्खाओ वा देसाओ सुभिक्खं देसं साहरेज्जा, कंताराओ वा णिक्कंतारं करेज्जा, दीहकालिएणं वा रोगायंकेणं अभिभूतं समाणं विमोएज्जा, तेणावि तस्स धम्मायरियस्स दुप्पडियारं भवति। अहे णं से तं धम्मायरियं केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भट्ठं समाणं भुज्जोवि केवलिपण्णत्ते धम्मे आघवइत्ता जाव ठावइत्ता भवति, तेणामेव तस्स धम्मायरियस्स सुप्पडियारं भवइ ॥ १७ ॥

छाया—त्रयाणां दुष्प्रतिकारं श्रमण! आयुष्मन्! तद्यथा—अम्बापित्रोः, भर्त्तुः, धर्म्माचार्यस्य। १. सम्प्रातरपि च खलु कश्चित् पुरुषोऽम्बापितरं शतपाक-सहस्रपाकैस्तैलैरभ्यज्य सुरभिणा गन्धाट्टकेनोद्वर्त्य, त्रिभिरुदकैर्मज्जयित्वा, सर्वालङ्कार-विभूषितं कृत्वा मनोज्ञं स्थालीपाकशुद्धमष्टादशव्यञ्जनाकुलं भोजनं भोजयित्वा यावज्जीवं पृष्ठयावतंसिकया परिवहेत्, तेनापि तस्य—अम्बापित्रोर्दुष्प्रतिकारं भवति। अथ खलु स तावम्बापितरौ केवलिप्रज्ञप्ते धर्मे आख्याय, प्रज्ञाप्य, प्ररूप्य स्थापयिता भवति, तेनैव तस्याम्बापित्रोः सुप्रतिकारं भवति, श्रमणायुष्मन्!

२. कश्चित् महार्च्यो दरिद्रं समुत्कर्षयेत्, ततः खलुः स दरिद्रः समुत्कृष्टः सन् पश्चात् पुरं च खलु विपुलभोगसमितिसमन्वागते चापि विहरेत्। ततः खलु स महार्च्योऽन्यदा कदाचिद् दरिद्रीभूतः सन्, तस्य दरिद्रस्यान्तिके शीघ्रमागच्छेत्। ततः खलु स दरिद्री तस्मै भर्त्रे सर्वस्वमपि ददत्, तेनापि तस्य दुष्प्रतिकारं भवति। अथ खलु स तं भर्त्तारं केवलिप्रज्ञप्ते धर्मे आख्याय, प्रज्ञाप्य, प्ररूप्य स्थापयिता भवति, तेनैव तस्य भर्त्तुः सुप्रतिकारं भवति।

३. कश्चित् तथारूपस्य श्रमणस्य वा माहनस्य वान्तिके एकमप्यार्यं धार्मिकं सुवचनं श्रुत्वा, निशम्य कालमासे कालं कृत्वाऽन्यतरेषु देवलोकेषु देवत्वेनोपपन्नः, ततः स देवस्तं धर्माचार्यं दुर्भिक्षाद्देशात् सुभिक्षं देशं संहरेत्, कान्ताराद्वा निष्कान्तारं कुर्यात्, दीर्घकालिकेन वा रोगातङ्केनाभिभूतं सन्तं विमोचयेत्, तेनापि तस्य धर्माचार्यस्य दुष्प्रतिकारं भवति। अथ खलु स तं धर्माचार्यं केवलिप्रज्ञप्ताद्धर्माद् भ्रष्टं सन्तं भूयोऽपि केवलिप्रज्ञप्ते धर्मे आख्याय यावत् स्थापयिता भवति, तेनैव तस्य धर्माचार्यस्य सुप्रतिकारं भवति।

शब्दार्थ—तिण्हं दुप्पडियारं समणाउसो—हे श्रमण आयुष्मन्! दुष्प्रतिकार अर्थात्

जिनके ऋण से मुक्ति दुष्कर बतायी गयी है, वे तीन हैं, **तं जहा**—जैसे, **अम्मापिउणो**—माता और पिता, **भट्टिस्स**—भर्त्ता-स्वामी, जिसके आश्रय से सम्पन्न हुआ हो और, **धम्मायरियस्स**—धर्माचार्य। सर्वप्रथम माता-पिता के ऋण के विषय में शास्त्रकार प्रतिपादन करते हैं, **केइ पुरिसे**—जैसे कोई कुलीन पुरुष, **यं**—पुनः, **णं**—वाक्यालंकारार्थ मे, **संपातो वि**—प्रातः काल अथवा सम्प्रात हुए समय पर, **अम्मापियरं**—माता-पिता को, **सयपाग-सहस्सपागेहिं तिल्लेहिं**—शत औषधि अथवा सहस्त्र औषधि के तैल से, **अब्भंगेत्ता**—मर्दन करके फिर, **सुरभिणा**—सुरभित, **गंधट्टएणं उव्वट्टित्ता**—द्रव्यचूर्ण से उवट्टण करके, **तिहिं उदगेहिं मज्जावित्ता**—शीत, उष्ण या गन्धोदक से स्नान कराकर पुनः, **सव्वालंकारविभूसियं करित्ता**—सर्व प्रकार के अलंकारों से विभूषित कर पुनः, **मणुन्नं**—मनोज्ञ, **थालीपागसुद्धं**—सुन्दर पात्र विशेष में भली प्रकार से पकाया हुआ दोषों से रहित होने से शुद्ध, **अट्ठारसवंजणाउलं**—अट्ठारह प्रकार के व्यजनों से युक्त, **भोयणं**—भोजन को, **भोयावेत्ता**—खिलाकर, **जावज्जीवं**—जीवन पर्यन्त, **पिट्ठिवडेंसियाए परिवहेज्जा**—पृष्ठ अथवा कन्धो पर उठा कर परिवहन करे, **तेणावि**—ऐसा करने पर भी, **तस्स अम्मापिउस्स**—उस माता-पिता का, **दुप्पडियारं भवइ**—प्रत्युपकार दुष्कर होता है, **अहे णं से**—यदि वह पुत्र, **तं**—उस, **अम्मापियरं**—माता-पिता को, **केवलिपण्णत्ते धम्मे**—केवलि-प्रतिपादित धर्म में, **आघवइत्ता**—कह कर, **पण्णवित्ता**—बोध देकर, **परूवित्ता**—भेद-प्रभेद प्रदर्शित कर, **ठावित्ता भवइ**—धर्म में स्थापन करे, **तेणामेव**—ऐसा करने से ही, **तस्स अम्मापिउस्स**—उस माता-पिता का, **सुप्पडियारं भवति**—सुखपूर्वक प्रत्युपकार किया जा सकता है। **समणाउसो**—हे श्रमणायुष्मन्।

केइ महच्चे—कोई धनी पुरुष, **दरिहं समुक्कसेज्जा**—किसी दरिद्र पुरुष को धन दे कर धनी बना दे, **तए णं से**—तदनन्तर वह, **दरिद्दे समुक्किट्ठे समाणे**—दरिद्री पुरुष धनाढ्य होकर, **पच्छा पुरं च णं**—धनाढ्य होने के पश्चात् या उस सेठ के समक्ष, **विउलं भोगसमितिसमन्नागते यावि विहरेज्जा**—विपुल भोगो से समन्वित और ऋद्धि प्राप्त होने पर सुखपूर्वक विचरे, **तए णं**—तत्पश्चात्, **से**—वह, **महच्चे**—महाधनी या सेठ, **अन्नया कयाइ**—अन्य किसी समय, **दरिद्दीहूए समाणे**—निर्धन हो जाने पर, **तस्स दरिद्दस्स अंतिए हव्वमागच्छेज्जा**—उस पूर्व दरिद्र पुरुष के पास शीघ्र आए, **तए णं**—तब, **से**—वह, **दरिद्दे**—दरिद्री, **तस्स**—उस, **भट्टिस्स**—स्वामी को, **सव्वस्समवि दलयमाणे**—अपना सर्वस्व देने पर, **तेणावि**—उस से भी, **तस्स**—उस स्वामी का, **दुप्पडियारं भवइ**—प्रत्युपकार नही होता, **अहे णं**—अथ, **से**—वह दरिद्री पुरुष, **भट्टिं**—स्वामी को, **केवलिपण्णत्ते धम्मे**—केवली द्वारा प्रतिपादित धर्म में, **आघवइत्ता**—कहकर, **पण्णवइत्ता**—प्रज्ञापन कर, **परूवित्ता**—प्ररूपण कर, **ठावित्ता भवइ**—स्थापन करता है, **तेणामेव**—उस से ही, **तस्स**—उस, **भट्टिस्स**—सेठ का, **सुप्पडियारं भवइ**—सुप्रत्युपकार होता है।

केइ—कोई व्यक्ति, **तहारूवस्स**—तथारूप, **समणस्स वा**—श्रमण अथवा, **माहणस्स वा**—माहन के, **अंतिए**—समीप, **एगमवि आयरियं**—एक भी आर्य, **धम्मियं**—धार्मिक, **सुवयणं सोच्चा**—सुवचन सुनकर, **निसम्म**—हृदय में विचार कर, **कालमासे कालं किच्चा**—काल के समय मरकर, **अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववन्ने**—किसी देवलोक में देवत्व में उत्पन्न हुआ, **तए णं**—तब, **से**—वह, **देवे**—देव, **तं धम्मायरियं**—उस धर्माचार्य को, **दुब्भिक्खाओ वा देसाओ**—दुर्भिक्ष वाले देश से, **सुभिक्खं देसं साहरेज्जा**—सुभिक्ष-देश में पहुंचा देवे, **कंताराओ वा णिक्कंतार करेज्जा**—जंगल से बस्ती में पहुंचा दे, **दीहकालिएणं वा रोगायंकेणं अभिभूयं**—दीर्घकालीन रोगातक से व्याप्त, **समाणं**—हुए को, **विमोएज्जा**—विमुक्त कर दे, **तेणावि**—उससे भी, **तस्स**—उस, **धम्मायरियस्स**—धर्माचार्य का, **दुप्पडियारं भवइ**—दुष्प्रतिकार होता है, **अहे णं**—यदि वह देव, **तं**—उस, **धम्मायरियं**—धर्माचार्य को, **केवलिपण्णत्ताओ**—केवलीप्ररूपित, **धम्माओ**—धर्म से, **भट्ठं समाणं**—भ्रष्ट होते हुए को, **भुज्जोवि**—पुनरपि, **केवलिपण्णत्ते धम्मे**—केवलिप्रज्ञप्त धर्म में, **आघवइत्ता**—कहकर, **जाव**—यावत्, **ठावइत्ता भवइ**—स्थापना कर्ता हो, **तेणामेव**—ऐसा करने से ही, **तस्स**—उस, **धम्मायरियस्स**—धर्माचार्य का, **सुप्पडियारं भवइ**—सुप्रत्युपकार हो सकता है।

मूलार्थ—भगवान् महावीर कहते हैं, हे आयुष्मन्! श्रमणो! तीन महापुरुषों के उपकार का प्रत्युपकार बड़ी कठिनता से किया जा सकता है, जैसे कि—माता-पिता का प्रत्युपकार, सेठ-स्वामी का और धर्माचार्य का। जैसे कोई व्यक्ति प्रातः काल होते ही अपने माता-पिता की शतपाक एवं सहस्त्रपाक तैलों से प्रतिदिन मालिश करे, पुनः सुगन्धित उबटन से शरीर स्वच्छ कर, तीन तरह के जलों से स्नान कराये, फिर अलंकारों से विभूषित कर स्थालीपाक शुद्ध अठारह प्रकार के व्यञ्जनों से युक्त भोजन कराकर जीवनभर पीठ पर उठाकर फिरता रहे, ऐसा करते रहने पर भी वह (पुत्र) माता-पिता का प्रत्युपकार नहीं कर सकता। यदि वह सुपुत्र अपने माता-पिता को केवलि-भाषित धर्म कहकर, सुनाकर और धर्म के भेद-प्रभेद बतलाकर उन्हें धर्म में स्थापित कर देवे तो ऐसा करने से वह माता-पिता के ऋण से उन्मुक्त हो सकता है।

हे आयुष्मन् श्रमण! कोई धनी पुरुष किसी निर्धन पुरुष को धनवान बना देवे। फिर वह निर्धन पुरुष धनी हो जाने पर पीछे व पहिले अत्यन्त-भोग सामग्री प्राप्त होने पर सुखपूर्वक विचरण करे। तत्पश्चात् किसी समय वह पहला सेठ निर्धन होकर उस नए धनी पुरुष के पास जाए तो वह निर्धन पुरुष अपने उपकर्त्ता निर्धन स्वामी को अपना सर्वस्व दे देने पर भी उसके किए हुए उपकार से मुक्त नहीं हो सकता, परन्तु यदि वह पुरुष अपने स्वामी को केवलि-प्ररूपित धर्म सुनाकर, भेद-प्रभेद

समझाकर धर्म में स्थापित कर दे तभी वह निर्धन पुरुष अपने सेठ के उपकार से उऋण हो सकता है।

कोई व्यक्ति तथारूप श्रमण, माहन के पास से एक भी आर्य, धार्मिक सुवचन को सुनकर और हृदय में विचार कर समय आने पर मृत्यु के अनन्तर किसी एक देवलोक में देवपने में जाकर उत्पन्न हो जाए। इस प्रकार वह देव उस धर्माचार्य को दुर्भिक्ष देश से सुभिक्ष देश में पहुंचा दे, यदि वह धर्माचार्य कहीं मार्ग से भटककर घने जंगल (उन्मार्ग) में चला जाए, वहां से उसे बस्ती में पहुंचा देवे, यदि वह धर्माचार्य दीर्घकालीन रोग से पीड़ित हो और उस रोगातंक से वह देव उसे विमुक्त कर देवे, ऐसा करने पर भी वह देव बना हुआ व्यक्ति अपने धर्माचार्य के किए हुए उपकार का ऋण नहीं चुका सकता। हां, यदि वह देव उस धर्माचार्य को कभी धर्म-भ्रष्ट होते हुए देखकर उसे केवलिभाषित धर्म का महत्त्व दिखाकर धर्म में स्थापित कर दे, ऐसा कर देने पर ही धर्माचार्य का सुख-पूर्वक प्रत्युपकार कर सकता है।

विवेचनिका—अरिहंत भगवान परम उपकारी होते हैं, इसी कारण देव भी उनके दर्शनार्थ मनुष्य-लोक में आते हैं। अरिहंत भगवान् के अतिरिक्त भी ऐसे उपकारी हैं, जिनके उपकार का बदला नहीं चुकाया जा सकता। ऐसे परोपकारी तीन हैं—माता-पिता, स्वामी और धर्माचार्य (धर्मगुरु)। इनके उपकार से उऋण होना कठिन ही नहीं, अपितु कठिनतम है, भले ही कोई आजीवन उनकी तन, मन और धन से सेवा करता रहे। यहां कुछ एक पदों का विश्लेषण किया जाता है—

संपातोवि—सूत्र के इस पद से यह ध्वनित होता है—जिस क्रिया या सेवा का सम्बन्ध प्रातःकाल से है, जैसे कि तेल मालिश करना, उद्वर्तन लगाना, नहलाना इत्यादि क्रियाएं प्रातःकाल ही की जाती हैं।

सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं—इस पद का भाव यह है—सौ औषधियों से बना हुआ तेल अर्थात् जिस पाक में शत औषधियों का क्वाथ है और जिस पाक मे सहस्र औषधियों का क्वाथ है, वे क्रमशः शतपाक एवं सहस्रपाक तेल कहलाते हैं। इस प्रकार तेलों से जो प्रातःकाल माता-पिता की मालिश करता है, तत्पश्चात् सुगन्धित उबटन लगाता है, फिर तीन प्रकार के जलों से उन्हें प्रतिदिन स्नान कराता है, तत्पश्चात् उन्हें वस्त्र और अलंकारों से सर्वथा विभूषित करता है।

मणुन्नं थालीपागसुद्धं—इस पाठ का भाव यह है—जो भोजन अभीष्ट एवं हांडी में पकाया गया है, वह प्रायः अपक्व नहीं रहता, अपितु स्वादिष्ट हल्का और सुपथ्य होता है।

अट्ठारस वंजणाउलं—जो भोजन अठारह व्यंजनों से निष्पन्न है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि जो न केवल सुपथ्य ही है, अपितु रुचिकर भी है। जो पुत्र नित्य प्रति

इस प्रकार का अभीष्ट, सुपथ्य एवं रुचिकर भोजन माता-पिता को खिलाता है।

पिट्ठिवडेंसियाए परिवहेज्जा—इसका भाव यह है—जहां कहीं माता-पिता ने जाना होता है, तो उन्हें अपनी पीठ पर चढ़ाकर, या कन्धे पर उठाकर ले जाता है। इस प्रकार से दिन-रात माता-पिता की सेवा दत्तचित्त होकर करता है तो क्या वह पुत्र माता-पिता से उऋणी हो सकता है?

भगवान ने उत्तर दिया—इतनी सेवा करने पर भी पुत्र माता-पिता का ऋण नहीं चुका सकता। हां यदि कोई मातृ-पितृभक्त माता-पिता को केवलिभाषित धर्म सुनाकर उसके भेद-प्रभेद बतलाकर उन्हें धर्म में श्रद्धान्वित बना दे, तो ही वह पुत्र उनके ऋण से उऋणी हो सकता है।

महच्चे दरिद्दं—इन दो पदों का भाव यह है—धनी और दरिद्र। 'महच्चे' शब्द की व्युत्पत्ति वृत्तिकार इस प्रकार लिखते हैं, जैसे कि—**केइ महच्चे त्ति कश्चित्—कोऽपि महती-ऐश्वर्यलक्षणाऽर्च्चा ज्वाला पूजा व यस्य अथवा महांश्चासौ-अर्थपतितया, अर्च्यश्च पूज्य इति महार्च्चो-महार्च्यो वा माहत्यं महत्वं तद्योग-माहत्यो व ईश्वर इति।**

यहां दरिद्र शब्द अनीश्वर और निर्धन के अर्थ में ग्रहण किया गया है। "**पच्छा पुरं**" ये दोनों शब्द स्वामी के पहले या पीछे समक्ष अर्थ में ग्रहण किए गए हैं अर्थात् जो पहले दरिद्र था, वह स्वामी के धनाढ्य-काल में या स्वामी के दरिद्र होने पर सर्व प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो गया। समयान्तर में जो पहले स्वामी था वह पहले सेवक के पास कुछ सहयोग लेने के लिए गया। वह पुराना सेवक जो अब पूर्णतया धनाढ्य बना हुआ है, सभी चल-अचल संपत्ति पूर्व स्वामी के चरणों में भेंट स्वरूप रख दे, तो भी भगवान् के उत्तर के अनुसार वह अपने उपकारी सेठ से उऋणी नहीं हो सकता। हां, यदि अपने स्वामी को केवलि-भाषित धर्म का स्वरूप समझाकर, उसकी धर्म मे रुचि स्थापित कर दे, तो वह उस ऋण से मुक्त हो सकता है।

अरिहंत भगवन्तों की उपस्थिति किसी भी क्षेत्र में सदा नहीं होती, अतः सूत्रकार ने श्रमण माहन शब्दों का प्रयोग किया है। उपलक्षण से आचार्य शब्द से उपाध्याय का भी ग्रहण हो जाता है। उनके पास से आर्य धर्म का एक भी सुवचन सुनकर जिसने देवत्व को प्राप्त किया है। सुवचन वही हो सकता है जो श्रुत और चारित्र धर्म से सम्बन्धित हो, वही सुवचन प्रशस्त भाव और देवत्व का कारण बन सकता है। जिसके सद्वचन सुनकर कोई जीव मर कर देव बने, समयान्तर में उसे ज्ञान हो कि मेरे धर्माचार्य घने जंगल में भटक रहे हैं, या दुष्कालग्रस्त देश में कष्ट पा रहे हैं, उन्हें शरीर-यात्रा के लिए भिक्षा भी नहीं मिल रही है, या "**रोगायंकेण**" दीर्घकालिक रोग-पीड़ा के आतंक से आतंकित हो रहे हैं। उस समय वह देव उन्हें जंगल से नगर में, अभावग्रस्त देश से समृद्ध देश में ले जाए, यदि रोग-ग्रस्त

हों, तो नीरोग बना दे। ऐसा करने पर भी वह देव उनके उपकार रूप ऋण से मुक्त नहीं हो सकता। उसके लिए भी उऋण होने का केवल एक ही उपाय है कि यदि कारणवश वे आचार्य धर्म से विचलित हो रहे हों तो पुनः उन्हें धर्म में लगा दे और उनकी धर्मनिष्ठा को सुदृढ़ कर दे।

सब धर्मों में केवलिभाषित धर्म ही श्रेष्ठ है। जो व्यक्ति माता-पिता को, स्वामी को तथा धर्म से विचलित होने वाले गुरु को—**आघवइत्ता**—धर्म के स्वरूप का विवेचन करके, **पण्णवइत्ता**—ज्ञान करा कर, **परूवइत्ता**—विस्तारपूर्वक भेद-प्रभेद दिखलाकर अथवा विशेष प्रकार से भेदों तथा प्रभेदों की व्याख्या के द्वारा समझाकर उनके विचलित मन को एकाग्र कर उन्हें केवलिभाषित धर्म में स्थिर कर देता है, तो वही व्यक्ति उनके ऋण से उऋण हो सकता है, अन्य नहीं।

मनुष्य को सर्वदा ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे धार्मिक जनों में प्रतिष्ठा बढ़े और परलोक की साधना सफल हो, इसी मे उसका अपना और विश्व का कल्याण है, कहा भी है—

जो जेण जम्मि ठाणम्मि, ठाविओ दंसणे व चरणे वा।
सो तं तओ चुयंतम्मि, चेव काउं भवे निरिणो॥

अर्थात्—श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म में स्थापित करने से और धर्म विमुख होने पर उन्हें पुनः सन्मार्ग में स्थिर करने से पुत्र, सेवक और शिष्य ऋण मुक्त हो सकते हैं। धर्म में किसी को लगाने से जीव महापुण्य और महानिर्जरा का भागी बनता है।

विश्व-वन के मार्ग-दर्शक

मूल—तिहिं ठाणेहिं संपण्णे अणगारे अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं वीईवएज्जा, तं जहा—अणिदाणयाए, दिट्ठिसंपन्नयाए, जोगवाहियाए ॥ १८ ॥

छाया—त्रिभिः स्थानैः सम्पन्नोऽनगारोऽनादिकमनवदग्रं दीर्घाध्वं चातुरन्तं संसार-कान्तारं व्यतिव्रजेत्, तद्यथा—अनिदानतया, दृष्टिसम्पन्नतया, योगवाहितया।

शब्दार्थ—तिहिं ठाणेहिं—तीन स्थानों से, **संपण्णे**—सम्पन्न, **अणगारे**—अनगार, **अणादीयं**—अनादि, **अणवदग्गं**—अन्तरहित अर्थात् अनन्त, **दीहमद्धं**—दीर्घमार्गयुक्त, **चाउरंतं संसारकंतारं**—चतुर्गतिक ससार रूपी अरण्य को, **वीईवएज्जा**—उल्लंघन करता है, **तं जहा**—जैसे, **अणिदाणयाए**—निदानरहित क्रिया करने से, **दिट्ठिसंपन्नयाए**—सम्यग्दर्शन-युक्त होने से, **जोगवाहियाए**—श्रुत के (योग्य) योग उपधान तप करने से।

मूलार्थ—तीन गुणों से सम्पन्न अनगार अनादि-अनन्त, दीर्घ मार्ग वाले चतुर्गतिरूप संसार अरण्य को पार कर जाता है, जैसे—निदान न करने से, सम्यग्दर्शनयुक्त होने

से और श्रुत का उपधान तप करने अर्थात् चित्त की समाधि से।

विवेचनिका—संसार से सर्वथा मुक्त होकर परिनिर्वाण प्राप्त करना ही धर्म का अन्तिम फल है। प्रस्तुत सूत्र में संसार या कर्मच्छेदन के तीन साधन कथन किए गए हैं।

संसार कर्मों पर निर्भर है, जो अनगार अर्थात् साधक मल-आवरण-विक्षेप रूप कर्मों का सर्वथा क्षय कर देता है, वह अनादि-अनन्त संसार रूपी गहन वन से पार हो जाता है। आत्मा को निर्लिप्त करने के लिए तथा परमात्म पद को पाने के लिए भगवान महावीर ने तीन अमोघ साधन बतलाए हैं, जैसे कि:—

१. अपने वास्तविक लक्ष्य से गिरकर शुभ क्रिया के बदले में भौतिक सुखों की कामना करना निदान कहलाता है। संयम एवं तप आदि शुभ अनुष्ठान करने पर इह-लौकिक तथा पारलौकिक भोगों की कामना न करना ही अनिदान कहलाता है। कर्म क्षय के लिए तथा भगवत्पद की प्राप्ति के उद्देश्य से ही संयम एवं तप की आराधना करनी चाहिए। क्योंकि निदान से जीव सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है।

२. सम्यग्दर्शन का पाना दुर्लभ ही नहीं, प्रत्युत नितान्त दुर्लभ है। सत्य के प्रकाश को प्राप्त करना ही सम्यग्दर्शन है। दूसरे शब्दों में तत्त्वार्थ पर तथा कर्मक्षय के अचूक उपायों पर दृढ निष्ठा रखना ही सम्यग्दर्शन कहलाता है। उससे सम्पन्न जीव सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

३. तपपूर्वक आगमों का अध्ययन करना ही योगवाहिता कहलाती है। विशेष प्रकार से योगसाधना करना और संयम एवं तपपूर्वक किया हुआ अध्ययन महत्त्वपूर्ण माना जाता है अर्थात् रत्नत्रय की आराधना सन्तुलित रूप में यदि की जाए तो उसे ही योगवाहिता कहते हैं।

अनिदानता से साधक संयम एवं समाधि का दुरुपयोग नहीं करता और सम्यग्दृष्टि से वास्तविक लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ परीषह और उपसर्गों पर विजय प्राप्त करता है। अनिदानता और सम्यग्दर्शन ये दोनों योगवाहिता के रक्षक, पोषक तथा सहायक हैं, इन के बिना योगवाहिता जीवन मे पनप नहीं सकती है।

इन तीन योगों की पूर्णता से ही साधक मोक्ष का अधिकारी बन सकता है।

उत्तम, मध्यम और जघन्य काल

मूल—तिविहा ओसप्पिणी पण्णत्ता, तं जहा—उक्कोसा, मज्झिमा, जहन्ना।

एवं छप्पि समाओ भाणियव्वाओ, जाव दूसमदूसमा।

तिविहा उस्सप्पिणी पण्णत्ता, तं जहा—उक्कोसा, मज्झिमा, जहन्ना।

एवं छप्पि समाओ भाणियव्वाओ, जाव सुसमसुसमा॥१९॥

छाया—त्रिविधा अवसर्पिणी प्रज्ञप्ता, तद्यथा—उत्कृष्टा, मध्यमा, जघन्या। एवं षडपि समा भणितव्याः यावत् दुष्षम-दुष्षमा।

त्रिविधा उत्सर्पिणी प्रज्ञप्ता, तद्यथा—उत्कृष्टा, मध्यमा, जघन्या। एवं षडपि समाः भणितव्याः, यावत् सुषम-सुषमा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तीन प्रकार की अवसर्पिणी कथन की गई है, यथा—उत्कृष्टा, मध्यमा और जघन्या। इसी प्रकार छहों समय अर्थात् कालचक्र जानने चाहिएं, यावत् दुःषम-दुःषम आरक तक।

तीन प्रकार की उत्सर्पिणी कथन की गई है—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य, इसी प्रकार छहों समय अर्थात् कालचक्र के विषय में जानना चाहिए, यावत् सुषम-सुषमा आरक तक।

विवेचनिका—अनगार संसार सागर को काल की अनुकूलता से ही पार कर सकता है। इसी कारण प्रस्तुत सूत्र में काल की उत्तमता आदि का वर्णन किया गया है। पांच भरत और पांच ऐरावत क्षेत्रों में अवसर्पिणीकाल और उत्सर्पिणीकाल क्रमशः सदैव आता-जाता रहता है।

अवसर्पिणीकाल तीन प्रकार का होता है—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। जो अन्य अवसर्पिणियों की अपेक्षा अनेक दृष्टियों से श्रेष्ठ हो, वह उत्कृष्ट अवसर्पिणीकाल है। जो अवसर्पिणीकाल अन्य अवसर्पिणीकाल की अपेक्षा न अच्छा हो और न बुरा, वह मध्यम काल है और जो अवसर्पिणी काल अन्य सजातीय कालों की अपेक्षा निकृष्ट-स्तर की रही है, वह जघन्य अवसर्पिणीकाल माना जाता है। जो अवसर्पिणीकाल वर्तमान में व्यतीत हो रहा है, इसे हुण्ड निकृष्ट स्तर का अवसर्पिणीकाल कहा जाता है। इस प्रकार की हुण्ड अवसर्पिणी अनन्तकाल के बाद आती है। दस अच्छेरों का अवतरण इसी में हुआ है। प्रत्येक अवसर्पिणीकाल के छः-छः भाग होते हैं। प्रत्येक भाग के तीन-तीन भेद होते हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। पहले भाग के प्रारम्भ में ऐन्द्रियक विषय, अवगाहना, मनुष्य और तिर्यंच की आयु और सुख इन सबकी उत्कृष्टता होती है। उसी भाग के मध्य में उक्त सभी पदार्थ एवं गुण मध्यम ही रह जाते हैं और अन्तिम भाग में उस आरक की अपेक्षा जघन्य स्तर के रह जाते हैं। इसी तरह सभी भागों के विषय में उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य रूप जानने चाहिएं।

उत्सर्पिणीकाल के भी तीन रूप होते है—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। जो उत्सर्पिणी अन्य उत्सर्पिणी की अपेक्षा श्रेष्ठतम हो, वह उत्कृष्ट है, जो मध्यम श्रेणी वाली हो, मध्यम होगी और निकृष्ट श्रेणी की उत्सर्पिणी जघन्य स्तर की मानी जाती है। इसी प्रकार उसके भी छहों भागों के विषय में जानना चाहिए।

पुद्गल-क्रिया, उपधि और परिग्रह

मूल—तिहिं ठाणेहिं अच्छिन्ने पोग्गले चलेज्जा, तं जहा—आहारिज्जमाणे वा पोग्गले चलेज्जा, विकुव्वमाणे वा पोग्गले चलेज्जा, ठाणाओ वा ठाणं संकामिज्जमाणे पोग्गले चलेज्जा।

तिविहे उवही पण्णत्ते, तं जहा—कम्मोवही, सरीरोवही, बाहिर-भंडमत्तोवही, एवं असुरकुमाराणं भाणियव्वं, एवं एगिंदिय-नेरइयवज्जं जाव वेमाणियाणं।

अहवा तिविहे उवही पण्णत्ते, तं जहा—सच्चित्ते, अचित्ते, मीसए, एवं णेरइआणं निरंतरं जाव वेमाणियाणं।

तिविहे परिग्गहे पण्णत्ते, तं जहा—कम्मपरिग्गहे, सरीरपरिग्गहे, बाहिरभंडमत्त-परिग्गहे। एवं असुरकुमाराणं। एवं एगिंदियनेरइयवज्जं जाव वेमाणियाणं।

अहवा तिविहे परिग्गहे पण्णत्ते, तं जहा—सचित्ते, अचित्ते, मीसए। एवं नेरइयाणं निरंतरं जाव वेमाणियाणं॥२०॥

छाया—त्रिभिः स्थानैरच्छिन्नाः पुद्गलाश्चलन्ति, तद्यथा—आहार्यमाणाः वा पुद्गलाश्चलन्ति, विक्रियमाणाः वा पुद्गलाश्चलन्ति, स्थानाद्वास्थानं संक्रम्यमाणाः वा पुद्गलाश्चलन्ति। त्रिविधा उपधिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—कर्मोपधिः, शरीरोपधिः बाह्यभाण्डमात्रोपधिः, एवमसुरकुमाराणां भणितव्या। एवमेकेन्द्रिय-नैरयिकवर्जं यावद् वैमानिकानाम्। अथवा त्रिविधा उपधिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—सचित्ता, अचित्ता, मिश्रिता, एवं नैरयिकाणां निरन्तरं यावद् वैमानिकानाम्। त्रिविधः परिग्रहः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—कर्मपरिग्रहः शरीरपरिग्रहः, बाह्यभाण्डमात्रपरिग्रहः, एवं असुरकुमाराणां एवं एकेन्द्रिय-नैरयिकवर्जं यावत् वैमानिकानाम्। अथवा त्रिविधः परिग्रहः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—सचित्तः, अचित्तः, मिश्रः। एवं नैरयिकाणां निरन्तरं यावद् वैमानिकानाम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तीन कारणों से अच्छिन्न पुद्गल चलायमान होते हैं, जैसे—आहार ग्रहण करने पर, वैक्रिय करते समय और एक स्थान से दूसरे स्थान पर संक्रमण करते समय पुद्गल चलनशील हो जाया करते हैं।

तीन प्रकार की उपधि कथन की गई है, जैसे—कर्मोपधि, शरीरोपधि और बाह्यभाण्ड-मात्र उपधि। इसी प्रकार असुरकुमारों की उपधि के विषय में भी कथन

करना चाहिए। इसी प्रकार एकेन्द्रिय और नारकों को छोड़कर वैमानिक देवों पर्यंत जीवों की उपधियों को जानना चाहिए। अथवा तीन प्रकार की उपधि और कथन की गई हैं, जैसे—सचित्त, अचित्त और मिश्रित। इसी प्रकार नारकों से लेकर निरन्तर वैमानिकों तक की उपधियां जाननी चाहिएं।

तीन प्रकार का परिग्रह कथन किया गया है, जैसे—कर्म-परिग्रह, शरीर-परिग्रह और बाह्य भाण्ड-मात्र परिग्रह। इसी प्रकार एकेन्द्रिय और नारकों को छोड़कर वैमानिक देवों तक जीवों के तीन-तीन परिग्रह समझने चाहिएं।

अथवा तीन प्रकार का परिग्रह प्रतिपादन किया गया है, जैसे—सचित्त, अचित्त और मिश्रित। इसी प्रकार नारकों के और वैमानिक देवों तक जीवों के तीन-तीन परिग्रह जानने चाहिएं।

विवेचनिका—उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य कालों में विश्व का विकास-ह्रास पुद्गलों द्वारा ही होता है, अतः काल के अनन्तर प्रस्तुत सूत्र में पुद्गलों का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—पुद्गल दो प्रकार के होते हैं, छिन्न और अच्छिन्न। खड्गादि के द्वारा छेदन होने पर पुद्गल द्रव्य चलायमान होता ही है, किन्तु बिना ही छेदन किए पुद्गल अपने स्थान से तीन कारण होने पर चलायमान हो जाते हैं, जैसे कि—जिस पुद्गल का जीव आहार करता है, वह स्वतः उसकी ओर खिंचता चला आता है फिर भले ही वह खाद्य हो या पेय हो, फिर मुंह में भी चलित होता है, तत्पश्चात् जब तक वह रूपान्तर में परिणत नहीं हो जाता, तब तक वह चलायमान ही रहता है।

वैक्रिय शरीर का निर्माण करते समय भी अछिन्न पुद्गल चलायमान होते हैं, क्योंकि उस समय पुद्गलों की गति वैक्रिय शरीर का निर्माण करने वालों के हाथ में होती है।

एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाते हुए बाण या गेन्द की तरह छोड़ते हुए, उठाते हुए, रखते हुए, विभिन्न रूपों में परिणत होते समय पुद्गल अपने स्थान से चलित होने पर ही दूसरे स्थान पर जाता है, अन्यथा नहीं। वह स्वतः भी चलित होता है और प्रयोग से भी चलित होता है तथा बाहर के वातावरण से भी एवं मोह से भी चलित हुआ करता है। इस कथन से सूत्रकर्त्ता ने जीवों की आकर्षण-शक्ति का भी दिग्दर्शन करा दिया है।

जीव औदयिक भाव में ही पुद्गलों का ग्रहण करता है, क्षायिक भाव में नहीं। इसी कारण सूत्रकार ने उपधि शब्द का ग्रहण किया है, क्योंकि उपधि उसे कहते हैं, जिसके द्वारा जीव की पोषणा होती है। आठ प्रकार के कर्मों को, औदारिक आदि पांच शरीरों को तथा शरीर के उपयोगी बाह्य साधनों को उपधि कहा जाता है। एकेन्द्रिय और नारकियों के अतिरिक्त शेष अठारह दण्डकों में तीन प्रकार की उपधि पाई जाती है, किन्तु छः दण्डकों में दो प्रकार की उपधि होती है, तीसरी नहीं।

अथवा उपधि प्रकारान्तर से तीन प्रकार की होती है—सजीव उपधि, निर्जीव उपधि तथा मिश्र उपधि। समस्त जीवों के शरीर सचित्त उपधि से, उत्पत्ति स्थान अचित्त उपधि से और उच्छ्‌वास आदि मिश्र उपधि से निर्मित होते हैं। ये उपधियां चौबीसों दण्डकों में पाई जाती हैं।

जो ममत्व एवं मोह का अथवा आसक्ति का कारण है, उसे परिग्रह कहते हैं। कहा भी है—**परिगृह्यते—स्वीक्रियते इति परिग्रहो मूर्च्छा विषय इति।** जिसे मूर्च्छा भाव से ग्रहण किया जाए, वह परिग्रह कहलाता है। वह तीन प्रकार का होता है—कर्म, शरीर और बाह्य-उपकरण। अथवा चेतन जगत् पर ममत्व करना सचित्त परिग्रह है, वस्त्र, आभूषण, धन आदि पर ममत्व करना अचित्त परिग्रह और दोनों पर ममत्व करना मिश्र परिग्रह है। परिग्रह संज्ञा चौबीस दण्डकों में पायी जाती है।

वीतराग अवस्था में किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं होता। बाहर की वस्तु स्वयं परिग्रह नहीं, किन्तु ममत्व बुद्धि से उसे रखना, संग्रह करना, उसे पाने के लिए आशा करना, ये सब परिग्रह के ही रूपान्तर हैं।

सुप्रणिधान और दुष्प्रणिधान

मूल—तिविहे पणिहाणे पण्णत्ते, तं जहा—मणपणिहाणे, वयपणिहाणे, कायपणिहाणे। एवं पंचिंदियाणं जाव वेमाणियाणं।

तिविहे सुप्पणिहाणे पण्णत्ते, तं जहा—मणसुप्पणिहाणे, वइसुप्पणि-हाणे, कायसुप्पणिहाणे।

संजयमणुस्साणं तिविहे सुप्पणिहाणे पण्णत्ते, तं जहा—मणसुप्पणिहाणे, वइसुप्पणिहाणे, कायसुप्पणिहाणे।

तिविहे दुप्पणिहाणे पण्णत्ते, तं जहा—मणदुप्पणिहाणे, वइदुप्पणिहाणे, कायदुप्पणिहाणे, एवं पंचिंदियाणं जाव वेमाणियाणं॥२१॥

छाया—त्रिविधं प्रणिधानं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—मनः प्रणिधानम्, वचनप्रणिधानम्, कायप्रणिधानम्, एवं पञ्चेन्द्रियाणां यावद् वैमानिकानाम्।

त्रिविधं सुप्रणिधानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—मनःसुप्रणिधानम्, वचनसुप्रणिधानम्, कायसुप्रणिधानम्। संयतमनुष्याणां त्रिविधं सुप्रणिधानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—मनःसुप्रणि-धानम्, वचनसुप्रणिधानम्, कायसुप्रणिधानम्।

त्रिविधं दुष्प्रणिधानं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—मनोदुष्प्रणिधानम्, वचनदुष्प्रणिधानम्, कायदुष्प्रणिधानम्। एवं पञ्चेन्द्रियाणां यावद् वैमानिकानाम्।

शब्दार्थ—**तिविहे पणिहाणे पण्णत्ते, तं जहा**—तीन प्रकार का प्रणिधान प्रतिपादन

किया गया है, जैसे, **मणपणिहाणे**—मन:प्रणिधान-मन की एकाग्रता, **वयपणिहाणे**—वचन की एकाग्रता, **कायपणिहाणे**—काया की एकाग्रता, **एवं**—इसी तरह, **पंचिंदियाणं**—पञ्चेन्द्रियों का भी, **जाव**—यावत्, **वेमाणियाणं**—वैमानिक देवों के भी उक्त तीन प्रणिधान होते हैं।

तिविहे सुप्पणिहाणे पण्णत्ते, तं जहा—तीन प्रकार का सुप्रणिधान प्रतिपादन किया गया है, जैसे, **मणसुप्पणिहाणे**—मन का शुभ व्यापार, **वइसुप्पणिहाणे**—वचन का शुभ व्यापार और, **कायसुप्पणिहाणे**—काय का शुभ व्यापार।

संजयमणुस्साणं तिविहे सुप्पणिहाणे पण्णत्ते, तं जहा—संयत मनुष्यों के तीन सुप्रणिधान कथन किए गए हैं, जैसे, **मणसुप्पणिहाणे**—मन:सुप्रणिधान, **वइसुप्पणिहाणे**—वचन-सुप्रणिधान, **कायसुप्पणिहाणे**—काय-सुप्रणिधान।

तिविहे दुप्पणिहाणे पण्णत्ते, तं जहा—तीन प्रकार के दुष्प्रणिधान कहे गए हैं, जैसे, **मणदुप्पणिहाणे**—मन का अशुभ व्यापार, **वइदुप्पणिहाणे**—वचन का अशुभ व्यापार, **कायदुप्पणिहाणे**—काय का अशुभ व्यापार, **एवं पंचिंदियाणं जाव वेमाणियाणं**—इसी प्रकार पञ्चेन्द्रियों से लेकर वैमानिक देवों तक के भी उक्त तीन दुष्प्रणिधान होते हैं।

मूलार्थ—तीन प्रकार का प्रणिधान प्रतिपादन किया गया है, जैसे—मन:प्रणिधान, वचनप्रणिधान और कायप्रणिधान। इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय जीवों से लेकर वैमानिक देवों तक सभी जीवों के तीन प्रणिधान होते हैं।

तीन प्रकार के सुप्रणिधान होते हैं, जैसे—मन:-सुप्रणिधान, वचन-सुप्रणिधान और काय-सुप्रणिधान। संयत मनुष्यों के तीनों ही सुप्रणिधान होते हैं—मन:सुप्रणिधान, वचनसुप्रणिधान और कायसुप्रणिधान।

तीन प्रकार के दुष्प्रणिधान होते हैं, जैसे—मन:-दुष्प्रणिधान, वचन-दुष्प्रणिधान और काय-दुष्प्रणिधान। ऐसे ही पञ्चेन्द्रिय जीवों से लेकर वैमानिक देवों तक सभी जीवों के तीन दुष्प्रणिधान कहे गए हैं।

विवेचनिका—पुद्गल धर्म का विश्लेषण करने के अनन्तर प्रस्तुत सूत्र में जीव धर्म रूप प्रणिधान, सुप्रणिधान और दुष्प्रणिधान का विश्लेषण किया गया है। प्रणिधान का अर्थ है—एकाग्रता। मन-वचन और काया में जब एकाग्रता होती है, तब उसे प्रणिधान कहा जाता है। इस प्रकार का प्रणिधान चौबीस दण्डकों के जीवों में पाया जाता है।

प्रणिधान दो प्रकार का होता है—सुप्रणिधान और दुष्प्रणिधान। सद्वृत्तियों में, धर्म-ध्यान एवं शुक्लध्यान में मन, वचन और काय को एकाग्र करना सुप्रणिधान कहलाता है, वह संयमी मनुष्यों में ही पाया जाता है, क्योंकि सुप्रणिधान उत्तम समाधि का ही दूसरा नाम है। समाधि लगाने वाले संयमी के लिए मन, वचन और काय की एकाग्रता का होना परम-आवश्यक है।

असद्वृत्तियों में मन, वचन और काया की एकाग्रता को दुष्प्रणिधान कहा जाता है। क्योंकि आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान में जो एकाग्रता होती है, वह एकाग्रता सुपरिणामी न होकर दुष्परिणामी होती है। जो जीव असद्वृत्तियों में मन, वचन और काय को लगाता है, वह दुष्प्रणिधानी कहलाता है। दुष्प्रणिधान का शासन भी चौबीस दण्डकों के जीवों पर होता है। कुछ संयमशील तपस्वी ही उस दुष्प्रणिधान के शासनाधिकार से अपने को मुक्त रखते हैं।

सुप्रणिधान जीवन का निर्माता है और दुष्प्रणिधान जीवन का विनाशक। अतः सुप्रणिधान में प्रवृत्ति और दुष्प्रणिधान से निवृत्ति ही सूत्रकार को अभीष्ट है।

उत्पत्ति-स्थान की विविधता

मूल—तिविहा जोणी पण्णत्ता, तं जहा—सीया, उसिणा, सीओसिणा। एवं एगिंदियाणं, विगलिंदियाणं, तेउकाइय-वज्जाणं, संमुच्छिमपंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाणं, संमुच्छिममणुस्साण य।

तिविहा जोणी पण्णत्ता, तं जहा—सचित्ता, अचित्ता, मीसिया। एवं एगिंदियाणं, विगलिंदियाणं, संमुच्छिम-पंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाण, संमुच्छिममणुस्साण य।

तिविहा जोणी पण्णत्ता, तं जहा—संवुडा, वियडा, संवुडवियडा।

तिविहा जोणी पण्णत्ता, तं जहा—कुम्मुन्नया, संखावत्ता, वंसीपत्ता। कुम्मुन्नया णं जोणी उत्तमपुरिसमाऊणं।

कुम्मुन्नयए णं जोणीए तिविहा उत्तमपुरिसा गब्भं वक्कमंति, तं जहा—अरहंता, चक्कवट्टी, बलदेव-वासुदेवा।

संखावत्ता जोणी इत्थीरयणस्स। संखावत्ताए णं जोणीए बहवे जीवा य पोग्गला य वक्कमंति, विउक्कमंति, चयंति, उववज्जंति, नो चेव णं निप्फज्जंति।

वंसीपत्तिया णं जोणी पिहज्जणस्स। वंसीपत्तियाए णं जोणीए बहवे पिहज्जणे गब्भं वक्कमंति॥ २२ ॥

छाया—त्रिविधा योनिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—शीता, उष्णा, शीतोष्णा। एवमेकेन्द्रियाणाम्, विकलेन्द्रियाणाम्, तेजस्कायिकवर्जाणाम्, संमूच्छिम-तिर्यग्योनिकानाम्, संमूर्च्छिममनुष्याणाञ्च।

त्रिविधा योनिः प्रज्ञप्ता, तं जहा—सचित्ता, अचित्ता, मिश्रिता। एवमेकेन्द्रियाणाम्, विकलेन्द्रियाणाम्, संमूर्च्छिम-पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिकानाम्, संमूर्च्छिममनुष्याणाञ्च।

त्रिविधा योनिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—संवृत्ता, विवृत्ता, संवृत्तविवृत्ता।

त्रिविधा योनिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—कूर्मोन्नता, शङ्खावर्त्ता, वंशीपत्रिका। कूर्मोन्नता खलु योनिरुत्तमपुरुषमातृणाम्।

कूर्मोन्नतायां योन्यां त्रिविधा उत्तमपुरुषाः गर्भे व्युत्क्रामन्ति, तं जहा—अरिहन्ताः, चक्रवर्तिनः, बलदेव-वासुदेवाः।

शङ्खावर्तयोनिः स्त्रीरत्नस्य। शंखावर्त्तायां खलु योन्यां बहवो जीवाश्च, पुद्गलाश्च व्युत्क्रामन्ति, व्यवक्रामन्ति, च्यवन्ते, उत्पद्यन्ते, नो चैव खलु निष्पद्यन्ते।

वंशीपत्रिकायोनिः पृथग्जनस्य। वंशीपत्रिकायां खलु योन्यां बहवः पृथग्जनाः गर्भे व्युत्क्रामन्ति।

शब्दार्थ—तिविहा जोणी पण्णत्ता, तं जहा—तीन प्रकार की योनि प्रतिपादन की गई हैं, जैसे, **सीया**—शीता, **उसिणा**—उष्ण और, **सीओसिणा**—शीतोष्णा, **एवं**—इसी प्रकार, **एगिंदियाणं**—एकेन्द्रिय जीवों की, **विगलिंदियाणं**—विकलेन्द्रियों की, **तेउकाइय-वज्जाणं**—तेजस्कायिक जीवों को छोड़ कर तथा, **संमुच्छिमपंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाणं**—संमूर्च्छिम-पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिकों की और, **संमुच्छिममणुस्साण य**—संमूर्च्छिम मनुष्यों की तीन प्रकार की योनि होती है।

तिविहा जोणी पण्णत्ता, तं जहा—योनि तीन प्रकार की प्रतिपादन की गई हैं, जैसे, **सचित्ता**—सचित्त योनि, **अचित्ता**—अचित्त योनि और, **मीसिया**—मिश्रित योनि, **एवं**—इसी प्रकार, **एगिंदियाणं**—एकेन्द्रिय जीवों, **विगलिंदियाणं**—विकलेन्द्रिय जीवों, **संमुच्छिम-पंचिंदिय-तिरिक्ख जोणियाणं**—संमूर्च्छिम-पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचों, **य**—और, **संमुच्छिममणुस्साण**—संमूर्च्छिम मनुष्यों की, उक्त तीन प्रकार की योनियां होती हैं, किन्तु नारकी और देवों की अचित्त तथा गर्भज मनुष्यों व तिर्यंचों की मिश्र योनि होती है।

तिविहा जोणी पण्णत्ता, तं जहा—तीन प्रकार की योनि प्रतिपादन की गई है, जैसे, **संवुडा**—संवृत अर्थात् ढकी या दबी हुई, **वियडा**—विवृत अर्थात् खुले मुंह वाली और, **संवुडवियडा**—संवृत-विवृत अर्थात् कुछ बन्द और कुछ खुली।

तिविहा जोणी पण्णत्ता, तं जहा—तीन प्रकार की योनि प्रतिपादन की गई है, जैसे **कुम्मुन्नया**—कछुवे के समान उन्नत, **संखावत्ता**—शंखावर्त्त के समान, **वंसीपत्तिया**—बांस के पत्र की तरह, **कुम्मुन्नया णं जोणी उत्तमपुरिसमाऊणं**—कूर्मोन्नत योनि उत्तम पुरुषों की माता की होती है। **कुम्मुन्नयाए णं जोणीए**—कूर्म समान उन्नत योनि में, **तिविहा**—तीन प्रकार के, **उत्तमपुरिसा गब्भं वक्कमंति**—उत्तम पुरुष गर्भ में उत्पन्न होते हैं, **तं जहा**—जैसे, **अरहंता**—अरिहन्त, **चक्कवट्टी**—चक्रवर्ती, **बलदेवा**—बलदेव, और **वासुदेवा**—वासुदेव।

संखावत्ता जोणी इत्थीरयणस्स—शंखावर्त्त योनि स्त्री-रत्न की होती है, **संखावत्ताए**

णं जोणीए—शंखावर्त्त योनि में, **बहवे**—बहुत से, **जीवा य पोग्गला य वक्कमंति**—जीव और जीव के ग्राह्य पुद्गल उत्पन्न होते हैं, **विउक्कमंति**—विनष्ट होते हैं, **चयंति**—च्यवते हैं और, **उववज्जंति**—उत्पन्न होते हैं, **नो चेव णं निप्फज्जंति**—किन्तु वे जीव योनि के मुख से जन्म नहीं लेते।

वंसीपत्तियाणं जोणी—वंशीपत्रिका योनि, **पिहज्जणस्स**—सामान्य जन की माता की होती है, **वंसीपत्तियाए णं जोणीए**—वंशीपत्रिका योनि में, **बहवे**—बहुत से, **पिहज्जणे गब्भं वक्कमंति**—सामान्य जन गर्भ मे उत्पन्न होते हैं।

मूलार्थ—तीन प्रकार की योनियां वर्णन की गई हैं, जैसे—शीत, उष्ण और शीतोष्ण। इसी प्रकार तेजस्कायिक जीवों को छोड़कर, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संमूर्च्छिम-पञ्चेन्द्रिय- तिर्यग्योनिक और संमूर्च्छिम-मनुष्यों की त्रिविध योनि समझ लेनी चाहिए।

सचित्त योनि, अचित्त योनि और मिश्रित योनि—ये तीन प्रकार की योनियां भी कथन की गई हैं। इसी प्रकार एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संमूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच और संमूर्च्छिम मनुष्यों की उपर्युक्त सचित्त, अचित्त और मिश्रित योनि होती हैं, किन्तु नारक और देवों की अचित्त एव मनुष्यों और तिर्यंचों की मिश्रित योनि जाननी चाहिए।

तीन प्रकार की अन्य योनियां भी कही गई है, जैसे—संवृत्त, विवृत्त और संवृत्त-विवृत्त।

तीन प्रकार की योनियां और कथन की गई हैं, जैसे कि—कूर्मोन्नत, शंखावर्त्त और वंशीपत्रिका। कूर्म-कछवे के समान उन्नत योनि उत्तम पुरुषों की माताओं की होती है। कूर्मसम योनि में तीन प्रकार के उत्तम पुरुष गर्भ में आते हैं, जैसे—अरिहन्त, चक्रवर्ती और बलदेव तथा वासुदेव।

शंखावर्त्त योनि चक्रवर्ती की स्त्रीरत्न की होती है। शंखावर्त्त योनि में बहुत से जीव और जीव के ग्रहण करने योग्य पुद्गल गर्भ में आते हैं, और विनष्ट होते हैं, पैदा होते और मरते हैं किन्तु वे जीव योनि के मुख से जन्म नहीं लेते।

वंशीपत्रिका योनि सामान्य-स्त्रीजनों की होती है। वंशी-पत्रिका योनि में बहुत से सामान्य जीव उत्पन्न होते हैं।

विवेचनिका—दुष्प्रणिधान से जीव विविध योनियों में जन्म धारण करता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में विविध योनियों का विवेचन किया गया है। पूर्व-जन्म समाप्त होने पर संसारी जीव जब नया जन्म धारण करते हैं, तब इस नये जन्म के लिए ऐसे नये स्थान की

आवश्यकता होती है जहां जीव स्थूल शरीर धारण करने के लिए कार्मण शरीर के साथ नवीन पुद्गलों का सम्मिश्रण कर सके। जिस स्थान पर जीव कार्मण शरीर के साथ नवीन पुद्गलों को ग्रहण कर नया शरीर धारण करता है उसी स्थान को योनि कहा जाता है। इसी परिभाषा को स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार कहते हैं:—

युवन्ति—तैजसकार्मणशरीरवन्तः सन्त औदारिकादिशरीरेण मिश्रीभवन्त्यस्यामिति योनिः—जीवस्योत्पत्तिस्थानं शीतादिस्पर्शवदिति।

सूत्रकार ने इस उत्पत्ति स्थान का अनेक दृष्टियों से विश्लेषण किया है। सर्व प्रथम इसके तीन रूप उपस्थित किए गए हैं—शीत, उष्ण और शीतोष्ण।

शीत योनि:—इस उत्पत्ति स्थान में पृथ्वीकायिक जीव, अपकायिक जीव, वायुकायिक जीव, वनस्पति कायिक जीव, विकलेन्द्रिय जीव और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं।

उष्ण योनि:—तेजस्काय के जीव उष्ण योनि में ही उत्पन्न हुआ करते हैं।

शीतोष्ण योनि:—गर्भज मनुष्य, तिर्यंच तथा देव शीतोष्ण योनि में जन्म लेते हैं।

शीत योनि में परिगणित जीव शीतयोनिक भी होते हैं, उष्णयोनिक भी और शीतोष्ण-योनिक भी हुआ करते हैं।

इस प्रकरण में योनि शब्द का वाच्यार्थ नारी का अंग विशेष नहीं, योनि का अर्थ जीव विशेष के रूप में जन्म ही हो सकता है। योनि-स्वभाव से कुछ जीव ऐसा जन्म धारण करते हैं जिनमें उनकी प्रकृति शीतल होती है, अत: वे सब के साथ प्रेम का व्यवहार करते हैं।

कुछ जीव ऐसे हैं जिनकी प्रकृति उष्ण ही होती है, अत: वे सदा क्रोधी एवं कलहप्रिय होते हैं। अग्नि सदा सबको जलाती ही है—इसी प्रकार ऐसे जीवों को क्रोधाग्नि एवं पापाग्नि सर्वदा जलाती ही रहती है।

कुछ जीव ऐसे हैं जो शीतोष्ण प्रकृति के होते हैं—कभी बिल्कुल शान्त और समय आने पर वे आगबबूला भी हो उठते हैं।

सूत्रकार ने चेतना की दृष्टि से योनि-भेद उपस्थित करते हुए उसके तीन रूप उपस्थित किए हैं—सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त।

सचित्त योनि:—ऐसे उत्पत्ति स्थान को सचित्तयोनि कहा जाता है जहां पहले से ही अन्य जीव विद्यमान हों।

अचित्त योनि:—जीव-प्रदेशों से रहित उत्पत्ति-स्थान को अचित्त योनि कहा जाता है।

सचित्ताचित्त:—उस उत्पत्ति स्थान को सचित्ताचित्त कहा जाता है, जहां कुछ भाग अचेतन भी हो। देवों और नारकी जीवों की उत्पत्ति माता के गर्भ से नहीं होती, वे तो पर्यंक-जात हुआ करते हैं, अत: उनका उत्पत्ति स्थान ऐसा स्थान है जो अचेतन है, अत: उनके उत्पत्ति-स्थान को अचित्त योनि कहा गया है।

गर्भज, तिर्यञ्च और मनुष्यादि के उत्पत्ति स्थान सचित्ताचित्त कहलाते हैं।

शेष सभी जीव सचित्त, अचित्त एवं सचित्ताचित्त योनियों में उत्पन्न होते हैं। इस विषय का समर्थन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

अचित्ता खलु जोणी, णेरइयाणं तहेव देवाणं।
मीसा य गब्भवसही, तिविहा जोणी य सेसाणं॥

प्रस्तुत प्रकरण में भी योनि का अभिप्राय जन्म धारण स्थान ही है। शास्त्रकार देवों की उत्पत्ति एवं नारकियो का जन्म ऐसे पर्यंक आदि से मानते हैं जिसमें जीव नहीं होता, अतः उनका उत्पत्ति स्थान अचित्त अर्थात् निर्जीव पदार्थ है।

शेष दो शब्दों में चित्त शब्द का अर्थ स्पन्दनशीलता एवं ज्ञानशीलता है। देव और नारकियों को छोड़कर शेष चौरासी लाख जीवों के रूप में उत्पन्न होने वाले कुछ ऐसे हैं जिनमे सज्ञान है, गति नहीं, जैसे एकेन्द्रिय जीव वृक्ष आदि। कुछ ऐसे हैं जिनमें गति और सज्ञान दोनों है, जैसे त्रस जीव मनुष्यादि कुछ ऐसे भी जीव हैं जिनमे गति है, संज्ञान नहीं, जैसे कि अचित्त वायु। ऐसे ही जीवो को सचित्तयोनिक और मिश्रयोनिक जीव कहा गया है।

सूत्रकार ने आवरण की दृष्टि से भी योनि-भेद उपस्थित करते हुए उसके तीन रूप बताए हैं—जैसे—सवृत, विवृत और सवृत-विवृत अर्थात् मिश्र।

संवृत्तयोनिः—ऐसे जीवो को संवृत्त-योनिक कहा जाता है जिनकी जीव रूप मे सत्ता का आभास जन्म के अनन्तर ही होता है। जैसे वृक्ष ऐसे उत्पत्ति स्थान में जन्म लेते हैं जहा उनकी उत्पत्ति का ज्ञान जन्म के अनन्तर ही हुआ करता है। पर्यङ्कजन्मा देव और कुम्भी-जन्मा नारकी जीवो का जन्म-स्थान भी ऐसे ही है जो जन्म से पूर्व तिरोहित ही रहता है।

विवृत्त-योनिः—ऐसे जन्म-स्थान को विवृत्तयोनि कहा जाता है जिसमे कोई आवरण नही होता। जैसे गोबर में उत्पन्न होने वाले जीव विवृत्तयोनिक कहे जाते हैं, क्योंकि उनका जन्मस्थान तिरोहित एवं प्रच्छन्न पदार्थ नहीं है। सभी चींटी-कीट आदि विकलेन्द्रिय जीव विवृत्तयोनिक ही कहलाते है।

संवृत्त-विवृत्तयोनिः—गर्भज मनुष्यों एव गाय, भैंस आदि तिर्यञ्च जीवों के जन्म-स्थान को संवृत्त-विवृत्त ही कहा जाता है, क्योंकि गर्भज जीव कुछ दिन तक प्रच्छन्न रहते हैं, किन्तु उनके गर्भ में आने का ज्ञान हो जाता है और जेर में लिपटे हुए जब प्रकट होते हैं तब उनका जन्म-स्थान प्रच्छन्न नही दृश्य हो जाता है, इसलिए इन जीवों को मिश्रयोनि भी कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन को प्रमाणित करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

एगिन्दिय नेरइया, संवुडजोणी हवंति देवा य।
विगलिंदियाण विगडा, संवुडवियडा य गब्भम्मि॥

सूत्रकार ने अग-लक्षण-विद्या एव उत्पन्न जीवों की महत्ता आदि को लक्ष्य में रखकर

और भी जन्म-स्थान के तीन रूप बताये हैं—कूर्मोन्नता, शंखावर्ता और वंशीपत्रिका।

कूर्मोन्नता:—जीव को जन्म देने वाला नारी का अंग विशेष भी कूर्म के पृष्ठ सा उन्नत हो सकता है और वह अंग-लक्षण-विद्या की दृष्टि से श्रेष्ठ भी कहा जा सकता है। परन्तु शास्त्रकार का वास्तविक आशय यह प्रतीत होता है कि कूर्मोन्नता योनि ऐसे जन्म स्थान को कहा जाता है जहा उत्पन्न होने वाले जीव सर्वदा उन्नति के पथ पर ही चलते हो। इसलिए तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों और बलदेव एवं वासुदेव जीवों के उत्पत्ति-स्थान को कूर्मोन्नता योनि कहा गया है, क्योंकि ये जीव सर्वदा उन्नति पथगामी ही हुआ करते है।

शंखावर्ता—ऐसे जन्म-स्थान को शंखावर्ता कहा गया है जिसमे अनेक आवर्त हों, अर्थात् जहां उन्नति-अवनति के फेर हो। शंखावर्ता-योनि का वन्ध्या, अतृप्तकामा, राज-महिषी को कहा गया है, क्योंकि अतृप्तकामा एव वन्ध्या के रूप में अवनत एव राजमहिषी के रूप में उन्नत वैभव-भोगिनी होने से वह उन्नति-अवनति के आवर्त में पडी रहती है। सौन्दर्य की दृष्टि से स्त्रीरत्न कहलाते हुए भी वन्ध्यत्व के कारण होने वाली मानसिक वेदनायुक्त नारी शंखावर्तवत् ही तो मानी जाएगी।

वंशपत्रिका—सामान्य जीवों के सामान्य उत्पत्तिस्थान को वंशपत्रिका कहा गया है। वंश का रक्षण करने वाले जीवो की रक्षा करने वाली योनि ही वंशपत्रिका है, क्योंकि सभी सामान्य जीव अपने उत्पादको की रक्षा करते ही हैं। अथवा वश अर्थात् बांस की पत्रिका अर्थात् पत्ते के समान व्यर्थ ही जन्म लेकर व्यर्थ ही मर जाने वाले जीवों को जन्म देने वाले उत्पत्तिस्थानो को वश-पत्रिका कहा जा सकता है।

नारी के सन्तानोत्पत्ति-मार्ग को ही यदि योनि कहा जाए तो शास्त्रकार का यह आशय जान पड़ता है कि वे पाठक को यह बतलाना चाहते हैं कि तू अनेक रूपो में जन्म लेता रहा है, ले रहा है और लेता रहेगा, किन्तु शीत-उष्ण, सचित्त-अचित्त, विवृत्त-सवृत्त एवं कूर्मोन्नता आदि योनियों में रह रह कर भी तू अभी उनसे उदासीन नही हुआ, पुनः पुनः- "**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्**" के अनुसार मर-मर कर जी रहा है और जी-जी कर मर रहा है। इस बार तू योनि-मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

वनस्पति-जीव

मूल—तिविहा तण-वणस्सइकाइया पण्णत्ता, तं जहा—संखेज्ज-जीविया, असंखेज्जजीविया, अणंतजीविया॥ २३ ॥

छाया—त्रिविधाः तृण-वनस्पतिकायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—संख्यात-जीविकाः, असंख्यात जीविकाः, अनन्त-जीविकाः।

पदार्थ—तिविहा—तीन प्रकार की, **तण-वणस्सइकाइया**—बादर (स्थूल) वनस्पति, **पण्णत्ता, तं जहा**—प्रतिपादन की गई है, जैसे, **संखेज्ज-जीविया**—सख्येय जीवों वाली,

असंखेज्जजीविया—असंख्येय जीवों वाली और, **अणंतजीविया**—अनन्त जीवों वाली।

मूलार्थ—तीन प्रकार की बादर वनस्पति प्रतिपादन की गई है, जैसे—संख्यात जीवों वाली, अंसख्यात जीवों वाली और अनन्त जीवों वाली।

विवेचनिका—कूर्मोन्नतादि जन्मस्थान मनुष्य का ही होता है, अत: 'मनुष्य' के समान धर्म वाली बादर वनस्पति का वर्णन प्रस्तुत सूत्र में किया गया है। प्रत्येक बादर अर्थात् स्थूल वनस्पति बारह प्रकार की होती है, जैसे कि—आम्र तथा दाडिम आदि वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, पर्व, तृण, वलय, हरित्काय, औषधि, जलज, कुहण[1]। इन में से प्रस्तुत सूत्र में केवल तृण वनस्पति का वर्णन किया गया है। तृण वनस्पति यद्यपि दर्भ-कुशा आदि अनेक प्रकार की हैं, तदपि सूत्रकार ने उनके भेद-प्रभेद न बताकर समूहात्मक रूप में तीन प्रकार ही निरूपित किए हैं। जैसे कि—कुछ वनस्पतियां संख्यात जीवों वाली, कुछ असंख्यात जीवों वाली और कुछ अनन्त जीवों वाली होती हैं। वैसे तो अनन्त जीव साधारण वनस्पति में सूक्ष्म एवं बादर निगोद (काई) में पाए जाते हैं, फिर भी सूत्रकार ने यह सिद्ध किया है कि तृण-वनस्पति काय में भी ''*उग्गमाणे अणंते*' अंकुर फूटते समय अनन्त जीव होते हैं, इस अपेक्षा से अनन्त जीव कथन किए गए हैं।

अनादि तीर्थ

मूल—जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे तओ तित्था पण्णत्ता, तं जहा—मागहे, वरदामे, पभासे, एवं एरवए वि।

जंबुद्दीवे महाविदेहे वासे एगमेगे चक्कवट्टि-विजये तओ तित्था पण्णत्ता तं जहा—मागहे, वरदामे, पभासे।

एवं धायइसंडे दीवे पुरच्छिमद्धेवि, पच्चत्थिमद्धेवि, पुक्खरवरदीवद्धपुरच्छिमद्धेवि, पच्चत्थिमद्धेवि ॥२४॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे त्रीणि तीर्थानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—मागधं, वरदामं, प्रभासम्, एवमैरवतेऽपि।

जम्बूद्वीपे द्वीपे महाविदेहे वर्षे एकैकस्मिन् चक्रवर्त्तिविजये त्रीणि तीर्थानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—मागधं, वरदामं, प्रभासम्। एवं धातकीखंडे द्वीपे पौरत्यार्द्धे, पश्चिमार्द्धे, पुष्करवरद्वीपार्द्धपौरस्त्यार्द्धेऽपि, पाश्चात्यार्द्धेऽपि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भारतवर्ष में तीन तीर्थ प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—मागध, वरदाम और प्रभास। इसी प्रकार ऐरवत क्षेत्र में भी तीन तीर्थ कथन

---

१ इस विषय का विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना सूत्र मे प्राप्त होता है।

किए गए हैं। जम्बूद्वीप के महाविदेह वर्ष में एक-एक चक्रवर्ती-विजय में तीन-तीन तीर्थ प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे-मागध, वरदाम और प्रभास। ऐसे ही धातकी-खण्ड द्वीप के पूर्वार्द्ध में भी पश्चिमार्द्ध में भी। पुष्करवरद्वीपार्द्ध के पूर्वार्द्ध में भी और पाश्चात्यार्द्ध में भी तीन-तीन तीर्थ जान लेने चाहिएं।

विवेचनिका—बादर वनस्पति का अस्तित्व जल पर ही निर्भर है, जल तीर्थ-सुलभ द्रव्य है, अतः वनस्पति के अनन्तर द्रव्य-तीर्थ का वर्णन किया गया है।

द्रव्य तीर्थ दो प्रकार के होते है—सादि और अनादि। आधुनिक जितने भी द्रव्य-तीर्थ उपलब्ध हैं, वे सब सादि एवं कृत्रिम हैं। आगम-विहित न होने से वे मान्य नहीं हैं। अनादि द्रव्य तीर्थ हैं—मागध, वरदाम और प्रभास। देवाधिष्ठित होने से इन्हें तीर्थ कहा गया है। तीर्थ का जैसा नाम है, वैसा ही नाम देव का है।

जम्बूद्वीप के भरत, ऐरावत तथा महाविदेह क्षेत्र के प्रत्येक विजय में उपर्युक्त नामों वाले तीन-तीन तीर्थ हैं।

इस प्रकार धातकी-खण्ड के पूर्वार्द्ध और पश्चिमार्ध तथा पुष्करवरद्वीपार्द्ध के पूर्व और पश्चिमार्द्ध मे भी इन्ही नामो वाले तीन-तीन तीर्थ पाए जाते हैं। इस प्रकार ढाई द्वीपों में ५१० तीर्थ विद्यमान हैं।

सभी चक्रवर्ती अष्टम-भक्त उपवासों के साथ लवण-समुद्र के जल मे प्रवेश कर अपने कार्य की सिद्धि के लिए नामांकित बाण फैंक कर तीर्थ के अधिष्ठाता देव का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, तत्पश्चात् वे देव चक्रवर्ती के लिए अमूल्य रत्नों का उपहार लेकर आते है और साथ ही उनकी आधीनता भी स्वीकार लेते है। चक्रवर्ती के राज्य की सीमाए पूर्व, दक्षिण और पश्चिम दिशा मे मागध, वरदाम तथा प्रभास तीर्थ पर्यन्त ही होती हैं। तीर्थाधिपति देव चक्रवर्ती के सीमा-रक्षक हो जाते हैं। कुछ देव चक्रवर्ती की प्रत्यक्ष रूप मे सेवा करते हैं और कुछ देव परोक्ष रूप में सेवा किया करते हैं।

मनुष्य की महती महिमा जैनागमों में प्रतिपादित की गई है, प्रस्तुत वर्णन भी मानवता की उसी महिमा का वर्णन कर रहा है और कह रहा है कि मनुष्य देवों के आधीन नही है, प्रत्युत देव भी मनुष्य के सहायक एव सेवक है। साधना-सम्पन्न मनुष्य उत्थान करता हुआ चक्रवर्तित्व प्राप्त कर सकता है और उससे भी ऊपर उठकर सिद्धत्व का अधिष्ठाता बन सकता है।

महाभारत के अन्त मे महर्षि व्यास भी यही कहते है:—

''गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।''

मैं गुह्य ज्ञान का रहस्य बतला रहा हूँ कि मनुष्य से श्रेष्ठ इस विश्व में कुछ नहीं है।

काल-स्थिति तथा उत्तम-पुरुष

मूल—जंबुद्दीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु तीयाए उस्सप्पिणीए-सुसमाए समाए तिन्नि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो हुत्था। एवं ओसप्पिणीए। नवरं पण्णत्ते। आगमिस्साए उस्सप्पिणीए भविस्सइ। एवं धायइसंडे पुरच्छिमद्धे, पच्चत्थिमद्धेवि। एवं पुक्खरवरदीवद्धपुरच्छिमद्धे, पच्चत्थिमद्धे वि कालो भाणियव्वो।

जंबुद्दीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु तीयाए उस्सप्पिणीए सुसम-सुसमाए समाए मणुया तिन्नि गाउयाइं उद्धं उच्चत्तेणं, तिन्नि पलिओवमाइं परमाउं पालइत्था। एवं इमीसे ओसप्पिणीए, आगमिस्साए उस्सप्पिणीए। जंबुद्दीवे दीवे देवकुरुउत्तरकुरासु मणुया तिण्णि गाउआइं उद्धं उच्चत्तेणं पण्णत्ता, तिन्नि पलिओवमाइं परमाउं पालयंति, एवं जाव पुक्खरवरदीवद्ध-पच्चत्थिमद्धे।

जंबुद्दीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु एगमेगाए ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीए तओ वंसा उप्पज्जिंसु वा, उप्पज्जंति वा, उप्पज्जिस्संति वा, तं जहा-अरहंतवंसे, चक्कवट्टिवंसे, दसारवंसे। एवं जाव पुक्खरवरदीवद्ध-पच्चत्थिमद्धे।

जंबुद्दीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु एगमेगाए ओसप्पिणी-उस्सप्पिणीए तओ उत्तमपुरिसा उप्पज्जिंसु वा, उप्पज्जंति वा, उप्पज्जिस्संति वा, तं जहा—अरहंता, चक्कवट्टी, बलदेव-वासुदेवा। एवं जाव पुक्खरवरदीवद्ध-पच्चत्थिमद्धे।

तओ अहाउयं पालयंति, तं जहा—अरहंता, चक्कवट्टी, बलदेव-वासुदेवा। तओ मज्झिमाउयं पालयंति, तं जहा—अरहंता, चक्कवट्टी, बलदेव-वासुदेवा ॥ २५ ॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतैरवतयोर्वर्षयोरतीतायामुत्सर्पिण्यां सुषमायां समायां त्रयः सागरोपमकोटिकोट्यः काल आसीत्। एवमवसर्पिण्यां, नवरं प्रज्ञप्तः। आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति। एवं धातकीखण्डे पौरस्त्यार्द्धे। पाश्चात्यार्द्धे। एवं पुष्करवरद्वीपार्द्ध-पौरस्त्यार्द्धे, पाश्चात्यार्द्धेऽपि कालो भणितव्यः। जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतैरवतयोर्वर्षयोरतीतायामुत्सर्पिण्यां सुषम-सुषमायां समायां मनुष्याः तिस्रो गव्यूतय

ऊर्ध्वमुच्चत्वेन, त्रीणि पल्योपमानि परमायुरपालयन्।

एवमस्यामवसर्पिण्याम्। आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्याम्।

जम्बूद्वीपे द्वीपे देवकुरूत्तरकुरुषु मनुष्याः तिस्रो गव्यूतय ऊर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्ताः त्रीणि पल्योपमानि परमायुः पालयन्ति। एवं यावत्पुष्करवरद्वीपार्द्ध-पाश्चात्यार्द्धे।

जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतैरवतयोर्वर्षयोरेकैकस्यामावसर्पिण्यामुत्सर्पिण्यां त्रयो वंशा उदपद्यन्त वा, उत्पद्यन्ते वा, उत्पत्स्यन्ते वा, तद्यथा—अर्हद्वंशः, चक्रवर्त्तिवंशः, दशारवंशः। एवं यावत्पुष्करवरद्वीपार्द्ध-पाश्चात्यार्द्धे।

जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतैरवतयोर्वर्षयोरेकैकस्यामवसर्पिण्यामुत्सर्पिण्यां त्रय उत्तमपुरुषा उदपद्यन्त वा, उत्पद्यन्ते वा, उत्पत्स्यन्ते वा, तद्यथा—

अर्हन्ताः, चक्रवर्त्तिनः, बलदेव-वासुदेवाः। एवं यावत्पुष्करवरद्वीपार्द्ध-पाश्चात्यार्द्धे।

त्रयो यथायुष्कं पालयन्ति, तद्यथा—अर्हन्ताः, चक्रवर्त्तिनः, बलदेव-वासुदेवाः। त्रयो मध्यमायुष्कं पालयन्ति, तद्यथा—अर्हन्ताः, चक्रवर्त्तिनः, बलदेव-वासुदेवाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरत और ऐरवत वर्षों में अतीत उत्सर्पिणी का सुषम आरक तीन सागरोपम कोटाकोटि परिमाण काल का था। इसी तरह वर्त्तमान और भविष्यकालीन अवसर्पिणी का काल परिमाण प्रतिपादन किया गया है। ऐसे ही धातकीखण्ड के पूर्वार्द्ध और पश्चिमार्द्ध में भी और इसी प्रकार पुष्करवरद्वीपार्द्ध के पूर्वार्द्ध और पश्चिमार्द्ध में भी काल का परिमाण कहना चाहिए।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरत और ऐरावत क्षेत्रों में अतीत उत्सर्पिणी के सुषम-सुषम नामक आरक में मनुष्यों की ऊंचाई तीन गव्यूति थी और तीन पल्योपम की परमायु का पालन होता था। इसी प्रकार वर्त्तमान अवसर्पिणी में और आगामी उत्सर्पिणी में भी काल-मान होगा।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप के देवकुरु और उत्तरकुरु में मनुष्य तीन गव्यूति प्रमाण ऊंचे कथन किए गए हैं, और उनकी परमायु तीन पल्योपम की बताई गई है। इसी प्रकार पुष्करवरद्वीपार्द्ध के पश्चिमार्द्ध तक कालमान तथा आयुमान होता है। जम्बूद्वीप द्वीप के भरत और ऐरवत क्षेत्रों में एक-एक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में तीन वंश उत्पन्न हो चुके हैं और होंगे, जैसे—अरिहन्तवंश, चक्रवर्त्तिवंश और दसारवंश। इसी तरह पुष्करवरद्वीपार्द्ध के पश्चिमार्द्ध में भी तीन ही वंश हुए हैं और होंगे।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरत और ऐरवत क्षेत्रों में एक-एक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में तीन उत्तम पुरुष उत्पन्न हो चुके हैं, उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होंगे, जैसे—अरिहन्त, चक्रवर्ती और बलदेव-वासुदेव। इसी तरह पुष्करवरद्वीपार्द्ध के पश्चिमार्द्ध में भी तीन ही उत्तम पुरुष हुए, होते हैं और होंगे।

तीन उत्तम पुरुष यथा आयु काल पालन करते हैं, जैसे—अरिहंत, चक्रवर्ती, और बलदेव-वासुदेव। तीन मध्यम आयु का पालन करते हैं अर्थात् इन्हें वार्द्धक्य कभी भी नहीं आता, जैसे—अरिहन्त, चक्रवर्त्ती और बलदेव-वासुदेव।

विवेचनिका—तीर्थों की स्थिति का निर्धारक तत्त्व काल द्रव्य है और उसकी महत्ता उत्तम पुरुषों के कारण है, अत: काल एवं उत्तम पुरुषों की स्थिति और आयु का वर्णन प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।

ढाई द्वीप के अन्तर्गत पांच भरत और पांच ऐरावत, इन दस क्षेत्रों में किसी भी उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल के सुषम आरक की स्थिति तीन कोटाकोटि सागरोपम की होती है।

पांच भरत और पांच ऐरावत क्षेत्रों में जब सुषमसुषम नामक आरा व्यतीत होता है, तब वहां के मनुष्यों की अवगाहना (ऊंचाई) तीन कोस की होती है और उनकी तीन पल्योपम काल की उत्कृष्ट आयु होती है। इसी प्रकार ढाई द्वीप में पांच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु इन दस क्षेत्रों में होने वाले युगलियों की अवगाहना भी तीन कोस की और उनकी आयु तीन पल्योपम की होती है। उस काल तथा उन क्षेत्रों का ऐसा ही स्वभाव है। काल या क्षेत्र के यथार्थ स्वरूप को समझना या समझाना सम्यक्त्व है।

पांच भरत और पांच ऐरावत इन दस क्षेत्रों में जब-जब भी सुषम-दुषम और दुषम-सुषम आरक व्यतीत होता है, तब-तब अरिहंतवंश, चक्रवर्तीवंश और दशार्ह वंश उत्पन्न हुए हैं, होते हैं और उत्पन्न होंगे। यह कथन तीन काल की अपेक्षा से किया गया है।

इन वशों में तीन प्रकार के उत्तम पुरुष जन्म धारण करते हैं, जैसे कि—अरिहंत—तीर्थंकर चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव। ये तीन धर्मदृष्टि से और व्यवहारिक दृष्टि से उत्तम पुरुष कहलाते हैं। धर्म दृष्टि से तीर्थंकर भगवान उत्तम पुरुष हैं। भोगदृष्टि से चक्रवर्ती और कर्मदृष्टि से बलदेव-वासुदेव उत्तम पुरुष होते हैं। अत: सूत्रकार ने धर्म एवं लोक दृष्टि को लक्ष्य में रखकर इनका वर्णन किया है।

अरिहन्त, चक्रवर्ती और बलदेव एवं वासुदेव की आयु अनपवर्तनीय या निरुपक्रमी होती है अर्थात् जितने काल की उन्होंने आयु बांधी होती है, उतनी वे अवश्य पूरी करते हैं। वज्र प्रहार होने पर भी उनकी आयु बीच में नहीं टूट सकती। वास्तव में देखा जाए तो निरुपक्रमी आयु ही निश्चय नय को स्पर्श करती है, शेष लोगों की आयु निरुपक्रमी भी होती है और सोपक्रमी भी। जिनकी आयु सोपक्रमी होती है, उनका मरण निश्चय ही बाह्यनिमित्त से होता है।

जिन उत्तम पुरुषों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनकी अपने युग में अन्य लोगों की अपेक्षा आयु और अवगाहना मध्यम होती है, वे गुणों की अपेक्षा सुख एवं पुण्य प्रताप की अपेक्षा अपने युग में उत्कृष्ट होते हैं।

तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों का आयु-प्रमाण

मूल—बायरतेउकाइयाणं उक्कोसेणं तिन्नि राइंदियाइं ठिती पण्णत्ता। बायरवाउकाइयाणं उक्कोसेणं तिन्नि वाससहस्साइं ठिती पण्णत्ता ॥ २६ ॥

छाया—बादरतेजस्कायिकानामुत्कर्षेण त्रीणि रात्रि-दिवानि स्थितिः प्रज्ञप्ता। बादरवायुकायिकानामुत्कर्षेण त्रीणि वर्षसहस्त्राणि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

शब्दार्थ—बायर—बादर, **तेउकाइयाणं**—तेजस्कायिक जीवों की, **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट, **तिन्नि**—तीन, **राइंदियाइं**—रात्रि-दिन परिमाण, **ठिती**—स्थिति, **पण्णत्ता**—प्रतिपादन की गई है, **बायरवाउकाइयाणं**—बादर वायुकायिक जीवों की, **उक्कोसेणं**—उत्कृष्टता से, **तिन्नि**—तीन, **वाससहस्साइं**—हजार वर्ष परिमाण, **ठिती**—स्थिति, **पण्णत्ता**—प्रतिपादन की गई है।

मूलार्थ—बादर तेजस्कायिक जीवों की उत्कृष्ट तीन रात्रि-दिन परिमित आयु प्रतिपादन की गई है। बादरवायु-कायिक जीवों की उत्कृष्टता से तीन हजार वर्ष की स्थिति प्रतिपादन की गई है।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र में भी उत्कृष्ट आयु का ही उल्लेख किया गया है। तेजस्काय और वायुकाय से निकला हुआ जीव मनुष्य गति में नहीं आ सकता, भले ही वह सूक्ष्म हो या बादर, वह केवल तिर्यञ्चगति में ही जा सकता है। क्योंकि मनुष्य की आयु जिन अध्यवसायों अर्थात् भावों से बांधी जा सकती है, वैसे अध्यवसाय-परिणाम तेजस्काय और वायुकायिक जीवों में नहीं होते। बादर तेजस्काय की आयु उत्कृष्ट तीन अहोरात्र की हो सकती है। यदि प्रदीप्त अंगारों को भस्मावच्छन्न रखा जाए, तो वे अंगारे तीन दिन समाप्त होने के अनन्तर स्वयं बुझ जाते हैं, इससे अधिक वे सजीव नहीं रह सकते।

बादर वायुकाय के जीवों की उत्कृष्ट आयु तीन हजार वर्ष की होती है। यह कथन घनवात की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि घनवात घनोदधि के नीचे असंख्यात योजनों तक पाई जाती है। जैसे मशक या ट्यूब में भरी हुई वायु घन-ठोस होती है, वैसे ही घनवात भी ठोस होती है, उसके आधार पर घनोदधि और घनोदधि के आधार पर पृथ्वी है। वायुकायिक जीवों की सर्वोत्कृष्ट आयु घनवात में ही पाई जाती है। सूक्ष्म तेजस और वायु की आयु आन्तर्मौहर्तिक ही होती है।

धान्य-बीजों का स्थितिकाल

मूल—अह भंते! सालीणं, वीहीणं, गोधूमाणं, जवाणं, जवजवाणं, एतेसिं णं धन्नाणं कोट्ठाउत्ताणं, पल्लाउत्ताणं, मंचाउत्ताणं, मालाउत्ताणं, ओलित्ताणं, लित्ताणं, लंछियाणं, मुद्दियाणं, पिहियाणं केवइयं कालं जोणी संचिट्ठति? गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि संवच्छराइं, तेण परं जोणी पमिलायति, तेण परं जोणी पविद्धंसति, तेण पर जोणी विद्धंसति, तेण परं बीए अबीए भवति, तेण परं जोणी वोच्छेदे पण्णत्ते ॥२७॥

छाया—अथ भदन्त! शालीनां, ब्रीहीणां, गोधूमानां, यवानां, यवयवानामेतेषां खलु धान्यानां कोष्ठागुप्तानां, पल्यागुप्तानां, मञ्चागुप्तानां, मालागुप्तानामवलिप्तानां, लिप्तानां, लाञ्छितानां, मुद्रितानां, पिहितानां कियत्कालं योनिः सन्तिष्ठति? गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षेण त्रीणि सम्वत्सराणि, ततः परं योनिः प्रम्लायति, ततः परं योनिः प्रविध्वस्यते, ततः परं योनिर्विध्वस्यते, ततः परं बीजमबीजं भवति, ततः परं योनिः व्यवच्छेदः प्रज्ञप्तः।

शब्दार्थ—अह भंते!—अथ हे भदन्त! **सालीणं**—शालि, **वीहीणं**—ब्रीहि, **गोधूमाणं**—गेहूं, **जवाणं**—यव, **जवजवाणं**—मक्की, **एतेसिं णं धन्नाणं**—इन धान्यों को, **कोट्ठाउत्ताणं**—कोठे में बन्द किए हुओं को, **पल्लाउत्ताणं**—पल्य में गुप्त किए हुओं को, **मंचाउत्ताणं**—मञ्च में गुप्त किए हुए, **मालाउत्ताणं**—चन्द्रशाला में गुप्त, **ओलित्ताणं**—गोबर आदि से अवलिप्त, **लित्ताणं**—मिट्टी आदि से लिपे हुए, **लंछियाणं**—चिन्हित, **मुद्दियाणं**—मुद्रित, **पिहियाणं**—सर्व प्रकार से ढके हुओं की, **केवइयं कालं**—कितने काल तक, **जोणी संचिट्ठति**—योनि रह सकती है? **गोयमा!**—गौतम!, **जहण्णेणं**—जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त, **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट, **तिण्णि संवच्छराइं**—तीन वर्ष, **तेण परं**—तत्पश्चात्, **जोणी पमिलायति**—योनि वर्ण आदि रहित होकर मुर्झा जाती है, **तेणं परं जोणी पविद्धंसति**—तत्पश्चात् योनि विध्वंस हो जाती है, **तेण परं जोणी विद्धंसति**—तत्पश्चात् योनि क्षय हो जाती है।, **तेण परं बीए अबीए भवति**—ततः बीज से अबीज हो जाता है, **तेण परं जोणी वोच्छेदे पण्णत्ते**—फिर योनि का विच्छेद हो जाता है।

मूलार्थ—हे भगवन्! शालि, ब्रीहि, गोधूम, जौ, यवयव आदि धान्यों को कोठे में, पल्य में, मञ्च में, लिप्त, चिन्हित, मुद्रित और सर्व प्रकार से आच्छादित करके स्थापित करके रखे हुओं की योनि कितने काल पर्यन्त रहती है? भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन वर्ष तक योनि रह सकती है। तत्पश्चात् योनि कुम्हला जाती है, ध्वस्त हो जाती है, विध्वस्त हो जाती है, वे

धान्य बीज से अबीज हो जाते हैं और योनि का व्यवच्छेद हो जाता है, अर्थात् योनि अचित्त हो जाती है।

विवेचनिका—उत्कृष्ट स्थिति का प्रकरण होने के कारण सूत्रकार ने कुछ धान्य विशेषों के नामों का निर्देश किया है और उनमें अंकुरित होने की शक्ति उत्कृष्ट कितने काल पर्यन्त रह सकती है इसका युक्ति-संगत प्रस्तुत सूत्र में स्पष्टीकरण किया गया है। सूत्र के आदि में अह-अथ शब्द जिज्ञासा के भाव को व्यक्त करने वाला है। जिज्ञासा होने पर भी प्रश्न किए जा सकते हैं और शंका होने पर भी। जिज्ञासामूलक जितने प्रश्न किए जा सकते हैं, वे सब ज्ञानवर्द्धक होते हैं, किन्तु शंकामूलक प्रश्न ज्ञानवर्द्धक एवं ज्ञान-नाशक दोनों तरह के हो सकते हैं। गौतम स्वामी ने जब कभी भगवान से प्रश्न किया, तब स्वबोध और शिष्यों के बोध के लिए ही प्रश्न किया है, अतः उनका प्रश्न जिज्ञासा मूलक ही होता है।

गौतम स्वामी जब कभी भगवान से कुछ पूछने के लिए उत्सुक होते थे, तब वे भगवान को "**भंते!**" शब्द से सम्बोधित किया करते थे। इससे उनके अन्तःकरण में रही हुई विनीतता, श्रद्धा और गुरुभक्ति स्पष्ट झलकती है। ज्ञान पाने का वास्तव में वही अधिकारी है, जिसका अन्तःकरण गुरुभक्ति से ओत-प्रोत हो और साथ ही जिज्ञासु एवं तर्कशील हो। इस प्रकार विनय सम्पन्न शिष्य यदि कभी गुरुदेव से कुछ पूछता है और वह स्तुतिपरक असाधारण शब्दों से सम्बोधित करके पूछता है तभी उसे ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं।

अर्धमागधी भाषा में "**भंत**" शब्द का सम्बोधन रूप में "**भंते**" बनता है। "**भंत**" शब्द के संस्कृत रूप अनेक बनते हैं, जैसे कि—भदन्त, भजन्त, भान्त, भ्रान्त, भगवत्, भवान्त इत्यादि। भद् धातु का प्रयोग कल्याण और सुख अर्थ में होता है। कल्याण और सुख का हेतु होने से भगवान को "**भदन्त**" कहा जा सकता है। कहा भी है—

भदि कल्लाण सुहत्थो धाऊ, तस्स य भदंत सद्दोऽयं।
स भदंतो कल्लाणं, सुहो य कल्लं किलारोग्गं॥

विद्वानों के द्वारा सेव्य और सिद्धिमार्ग के उपास्य होने से भगवान को "**भजन्त**" भी कहा जा सकता है। कहा भी है—

अहवा भज सेवाए, तस्स भयंतोत्ति सेवए जम्हा।
सिवगइणो सिवमग्गं, सेव्वो य जओ तदत्थीणं॥

निःसीमज्ञान एवं अगणितगुणों से देदीप्यमान होने के कारण भगवान को "**भान्त**" एवं "**भ्राजन्त**" भी कह सकते हैं। कहा भी है—

अहवा भा भाजो वा, दित्तीए होइ तस्स भंतो त्ति।
भाजंतो वाऽयरिओ, सो णाण तवोगुण जुईए॥

मिथ्यात्व आदि बन्ध के हेतुओं से जो सर्वथा रहित हो गए हैं, वे "भ्रान्त" कहाते हैं, क्योंकि यह दो शब्दों के समुदाय से बना हुआ है, जैसे कि भ्र+अन्त, 'भ्र' शब्द बन्ध के कारणों का वाचक है। अन्त उसका नाशक अर्थात् जिन्होंने उन बन्ध हेतुओं का नाश कर दिया है, उनके लिए भ्रान्त शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। वृत्तिकार भी लिखते हैं—**भ्रान्तः—अपेतो मिथ्यात्वादेः, तत्रानवस्थित इत्यर्थः।** "भंत" शब्द का भगवान रूप भी बनता है। जो सम्पूर्ण ऐश्वर्य सोलह कला पूर्ण धर्म से युक्त हैं, महायशस्वी, अनन्तबली, मोक्षगामी और चौंतीस अतिशय सम्पन्न हैं, उन्हें भगवान कहते हैं। कहा भी है—

अहवा भंतोऽपेओ, जं मिच्छत्ताइ बन्ध-हेऊओ।
अहवेसरियाइ भगो, विज्जइ सो तेण भगवंतो॥

भव का तथा भय का अन्त—नाशक होने से "भवान्त" या "भयान्त" ये दो रूप भी बन जाते हैं, जैसे कि कहा भी है—

नेरइयाइ भवस्स वा अंतो, जं तेण सो भवंतो त्ति।
अहवा भयस्स अंतो होइ, भयंतो भव नासो॥

इन सब अर्थों को सूत्रकर्ता ने लक्ष्य में रखकर ही सूत्र में "भंते" शब्द का प्रयोग किया है।

संसार में ऐसा कोई रूपवान पदार्थ नहीं जिसकी स्थिति की निश्चित सीमा न हो। अतः समस्त धान्यों की स्थिति का समय भी निश्चित ही है। धान्यों को बीज रूप में सुरक्षित रखने के लिए विभिन्न देश व काल में साधन बदलते रहते हैं। जो धान्यों या बीजों के विनाशकारी तत्त्व हैं, उनसे यदि उन्हें सुरक्षित रखने का प्रयास किया जाए, तो वे निश्चित काल तक बीज रूप में रह सकते हैं, तत्पश्चात् सुरक्षित रखने पर भी वे बीज अबीज रूप में परिणत हो ही जाते हैं। यदि बीज सुरक्षित न रखा जाए तो कालावधि से पहले भी समाप्त हो सकता है। बीज में जो उगने की शक्ति है, उसे योनि कहते हैं। बीज की वह उत्पादन-शक्ति रखने पर अधिक से अधिक कितने काल तक स्थिर रह सकती है? इसके उत्तर में भगवान बोले—धान्य अनेक प्रकार के हैं, उन सब धान्यों में उत्पन्न होने की शक्ति एक समान नहीं है। हां, शाली आदि धान्य यदि पूर्णतया सुरक्षित रक्खे जाएं, तो वे अधिक से अधिक तीन वर्ष तक बीज रूप में रह सकते हैं, तदनन्तर उनकी उत्पादक शक्ति नष्ट हो जाती है।

सूत्रकार का प्रस्तुत विवेचन प्राचीन बीज-सुरक्षण प्रणाली के सम्बन्ध में है, नवीन वैज्ञानिक कृत्रिम साधनों से कोल्ड स्टोर आदि में इन बीजों को अधिक काल तक सुरक्षित रखा जा सकता है। शास्त्र-विवेचन प्राकृतिक है, कृत्रिम नहीं।

नारकियों का स्थिति काल

मूल—दोच्चाए णं सक्करप्पभाए पुढवीए णेरइयाणं उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता। तच्चाए णं वालुयप्पभाए पुढवीए जहन्नेणं णेरइयाणं तिन्नि सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता॥२८॥

छाया—द्वितीयायां खलु शर्कराप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकाणामुत्कर्षेण त्रीणिसागरोपमाणि स्थितिः प्रज्ञप्ता। तृतीयायां खलु वालुकाप्रभायां पृथिव्यां जघन्येन नैरयिकाणां त्रीणि सागरोपमाणि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

शब्दार्थ—दोच्चाए णं—दूसरी, **सक्करप्पभाए**—शर्करप्रभा, **पुढवीए**—पृथ्वी पर, **णेरइयाणं**—नारकों की, **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट, **तिण्णि सागरोवमाइं**—तीन सागरोपम, **ठिती पण्णत्ता**—स्थिति प्रतिपादन की गई है।

तच्चाए णं—तीसरी, **वालुयप्पभाए**—वालुका प्रभा नामक, **पुढवीए**—पृथ्वी पर, **जहन्नेणं**—जघन्य से, **णेरइयाणं**—नारकों की, **तिन्नि सागरोवमाइं**—तीन सागरोपम, **ठिती पण्णत्ता**—स्थिति प्रतिपादन की गई है।

मूलार्थ—द्वितीय शर्कराप्रभा पृथ्वी पर नारकियो की उत्कृष्ट स्थिति तीन सागरोपम की प्रतिपादन की गई है। किन्तु तृतीय बालुकाप्रभा पृथ्वी पर नारकियों की जघन्य स्थिति तीन सागरोपम की है।

विवेचनिका—जीवों की स्थिति के प्रकरण में अब सूत्रकार नैरयिकों की उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण करते हैं।

नारकीय जीवों के निवास योग्य सात पृथिवियां शास्त्रकारों ने कथन की हैं। उनमें से दूसरी शर्कराप्रभा पृथिवी में ग्यारह प्रस्तट हैं। उनमें जो ग्यारहवां प्रस्तट (पाथडा) है, उसमें नारकियों की अधिक से अधिक स्थिति तीन सागरोपम की होती है।

तीसरी बालुकाप्रभा पृथिवी में नौ प्रस्तट हैं। उनमें जो पहला प्रस्तट है, उसमें रहने वाले नारकियों की कम से कम तीन सागरोपम की स्थिति हुआ करती है। स्थिति का क्रम निम्नलिखित है:—

पहले नरक में कम से कम स्थिति दस हजार वर्ष की और अधिक से अधिक एक सागर की होती है।

दूसरे नरक में कम से कम एक सागर की तथा अधिक से अधिक तीन सागरोपम की होती है।

तीसरे नरक में कम से कम तीन सागरोपम की स्थिति और अधिक से अधिक सात सागरोपम की होती है।

चौथे नरक में कम से कम सात सागरोपम की और अधिक से अधिक दस सागरोपम की स्थिति हुआ करती है।

पांचवें नरक में कम से कम दस सागरोपम की स्थिति और अधिक से अधिक सत्रह सागरोपम की स्थिति मानी जाती है।

छठे नरक में कम से कम सत्रह सागरोपम की और अधिक से अधिक बाईस सागरोपम की स्थिति हुआ करती है।

सातवीं तमतमा पृथिवी में नारकियों की कम से कम बाईस सागरोपम की और अधिक से अधिक तेंतीस सागरोपम की स्थिति कही गई है। कहा भी है—

सागरमेगं तिय सत्त दस य, सत्तरस्स तह य बावीसा।
तेतीस जाव ट्ठिई, सत्तसु पुढवीसु उक्कोसा॥
जा पढमाए जेट्ठा, सा बिइयाए कणिट्ठिया भणिया।
तरतम जोगो एसो दसवास सहस्स रयणाए।

नरकों में उष्ण-वेदना

मूल—पंचमाए णं धूमप्पभाए पुढवीए तिन्नि निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता। तिसु पुढवीसु नेरइयाणं उसिणवेयणा पण्णत्ता, तं जहा—पढमाए, दोच्चाए, तच्चाए। तिसु णं पुढवीसु णेरइया उसिणवेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति—पढमाए, दोच्चाए, तच्चाए ॥२९॥

छाया—पञ्चमायां खलु धूमप्रभायां पृथिव्यां त्रीणि नरकावासशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि। तिसृषु पृथिवीषु नैरयिकाणामुष्णवेदना प्रज्ञप्ता, तद्यथा—प्रथमायां, द्वितीयायां, तृतीयायाम्। तिसृषु खलु पृथिवीषु नैरयिका उष्णवेदनां प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति—प्रथमायां, द्वितीयायां, तृतीयायाम्।

शब्दार्थ—पंचमाए णं—पांचवी, **धूमप्पभाए पुढवीए**—धूमप्रभा पृथ्वी में, **तिन्नि निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता**—तीन लाख नरकावास प्रतिपादन किए गए हैं, **तिसु पुढवीसु**—तीन पृथ्वियो पर, **नेरइयाणं**—नारकों की, **उसिणवेयणा पण्णत्ता, तं जहा**—उष्ण वेदना कथन की गई है, जैसे—**पढमाए, दोच्चाए, तच्चाए**—प्रथमा, द्वितीया और तृतीया पृथ्वी में, **तिसु णं पुढवीसु**—तीन पृथ्वियों में, **णेरइया**—नारक, **उसिणवेयणं**—उष्ण वेदना का, **पच्चणुभवमाणा**—अनुभव करते हुए, **विहरंति**—विचरण करते हैं, **पढमाए, दोच्चाए, तच्चाए**—प्रथम, द्वितीय और तीसरी पृथ्वी पर।

मूलार्थ—पांचवीं धूमप्रभा नामक नरक भूमि में तीन लाख नरकावास प्रतिपादन किए गए हैं। प्रथमा, द्वितीया और तृतीया नरक भूमि में नैरयिकों की उष्ण वेदना

प्रतिपादन की गई है। पहली, दूसरी और तीसरी नरक भूमि में नारकी उष्ण वेदना का अनुभव करते हुए विचरण करते हैं।

विवेचनिका—नारकियों की स्थिति वर्णन करने के अनन्तर इस सूत्र में नरकावासों का और उनकी उष्ण वेदना का उल्लेख किया गया है। पांचवीं धूमप्रभा नामक पृथ्वी में पांच प्रस्तट हैं। उनमें तीन लाख नरकावास हैं, जोकि असंख्यात योजन के लम्बे-चौड़े हैं। प्रत्येक नरकावास में असंख्यात नारकी रहते हैं। उनमें जलचर प्राणी, पेट के बल सरकने वाले सर्पादि तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव और मनुष्य पापकर्मों का फल भोगने के लिए नैरयिकों के रूप में उत्पन्न होते हैं, अन्य जीव नहीं।

पहली, दूसरी और तीसरी पृथ्वी में जितने भी नैरयिक रहते हैं, वे सब उष्ण वेदना भोगते हैं। इसे क्षेत्र वेदना भी कहते हैं। जिन जीवों ने नरक के योग्य पापकर्म किए हुए हैं, वे ही उष्ण वेदना प्राप्त करते हैं, यम या नरकपाल नहीं। वहां पर उष्णता कितनी है? इस के उत्तर में कहा जा सकता है, कि:—

'जहा इहं अगणी उण्हो, इत्तोऽणंतगुणे तहिं। नरएसु वेयणा उण्हा०

—(उत्तरा० सू० अ० १९)

अग्नि में जितनी उष्णता है, उससे भी अनन्त गुणा वेदना नरक भूमि में पाई जाती है। इसी उष्णता में रहकर नारकी पाप कर्मों का फल भोगा करते हैं।

तीन लोक में क्षेत्रों की समानता

मूल—तओ लोगे समा सपक्खिं, सपडिदिसिं पण्णत्ता, तं जहा—अप्पइट्ठाणे णरए, जंबुद्दीवे दीवे, सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे।

तओ लोगे समा सपक्खिं, सपडिदिसिं पण्णत्ता, तं जहा—सीमंतए णं णरए, समयक्खेत्ते, ईसीपब्भारा पुढवी ॥ ३० ॥

छाया—त्रीणि लोके समानि सपक्षं, सप्रतिदिक् प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—अप्रतिष्ठानो नरकः, जम्बूद्वीपो द्वीपः, सर्वार्थसिद्धं महाविमानम्।

त्रीणि लोके समानि सपक्षं, सप्रतिदिक् प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—सीमन्तकः खलु नरकः, समयक्षेत्रं, ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी।

शब्दार्थ—लोगे—लोक में, **तओ**—तीन, **समा**—चारों ओर से समान, **सपक्खिं**—दक्षिण और वाम दिशाओं में सदृश और, **सपडिदिसिं**—विदिशाओं में भी तुल्य, **पण्णत्ता, तं जहा**—प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे, **अप्पइट्ठाणे णरए**—सातवीं नरक का अप्रतिष्ठान नरकावास, **जंबुद्दीवे दीवे**—जम्बूद्वीप नामक द्वीप और, **सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे**—सर्वार्थ सिद्ध महाविमान, **तओ लोगे समा सपक्खिं, सपडिदिसिं पण्णत्ता, तं जहा**—तीन क्षेत्र लोक में दिशा-विदिशाओं में तुल्य प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे, **सीमंतए णं णरए**—

सीमन्तक नरकावास, **समयक्खेत्ते**—मनुष्यक्षेत्र और, **ईसीपब्भारा पुढवी**—आठवीं ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी—सिद्ध शिला।

मूलार्थ—तीन क्षेत्र लोक में सम और दिशा-विदिशाओं में तुल्य प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—अप्रतिष्ठान नरकावास, जम्बूद्वीप और सर्वार्थसिद्ध महाविमान। तीन क्षेत्र लोक में तुल्य और सर्व प्रकार से सम प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—सीमन्तक नरकावास, समयक्षेत्र और सिद्धशिला।

विवेचनिका—पृथ्वी के छोटे बड़े किसी भी एक भाग को क्षेत्र कहा जाता है। नरकावास भी क्षेत्र है। प्रस्तुत सूत्र में जिन क्षेत्रों की समानता है उनका निर्देश किया गया है। तीन लोक में लाख-लाख योजन परिमाण वाले तीन ऐसे क्षेत्र हैं जो कि परस्पर तुल्य—लम्बाई, चौडाई और परिधि आदि की अपेक्षा सम एवं सीध में एक दूसरे के ऊपर हैं, जैसे कि—अप्रतिष्ठान नरकावास, जम्बूद्वीप और सर्वार्थसिद्ध महाविमान।

सातवीं पृथ्वी पर चारों दिशाओं मे असंख्यात-असंख्यात योजन के चार नरकावास हैं। उनके ठीक मध्यभाग में अप्रतिष्ठान नामक नरकावास है। उसमें संख्यात नारकी हैं। वहां पर सब नारकी परम कृष्ण लेश्यी हैं और वे सबसे अधिक दुख भोगते हैं। उनकी वहां स्थिति तेंतीस सागरोपम से न्यूनाधिक नहीं है।

उसके ऊपर बिल्कुल सीध में यह जम्बूद्वीप है। इसके ऊपर बिल्कुल सीध में छब्बीसवां देवलोक है जिसे सर्वार्थसिद्ध महाविमान भी कहते हैं। यह देवलोक चार अनुत्तर महाविमानों के मध्यवर्ती है। इसमें सभी देव परमशुक्ल लेश्यी और एक भवावतारी हैं।

लोक में तीन क्षेत्र ४५ लाख योजन परिमाण वाले हैं, जैसे कि सीमन्तक नरकावास, समयक्षेत्र और ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी। रत्नप्रभा पृथ्वी में तेरह प्रस्तट हैं। उनमें सीमन्तक नरकावास पहले प्रस्तट में है। उसमें ऐसे संख्यात नारकी जीव निवास करते हैं जिनकी स्थिति कम से कम दस हजार वर्ष और अधिक से अधिक ९०००० वर्ष की है। ऐसे नारकी जीव इस नरकावास में भी हैं और अन्य नरकावासों में भी रहते हैं।

ढाई द्वीप परिमाण वाले इस मनुष्य लोक को समय क्षेत्र भी कहते हैं। पृथ्वियां कुल आठ हैं। उनमें ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी सब से छोटी होने पर भी ४५ लाख योजन परिमाण वाली है। वह सर्वार्थसिद्ध महाविमान से बारह योजन ऊपर उत्तान छत्राकार है। वह अपने अगुरुलघु स्वभाव से अवस्थित है। उससे चार कोस ऊपर लोक का चरमान्त अर्थात् अन्तिम भाग है।

स्वाभाविक रस वाले और जलचराकीर्ण समुद्र

मूल—तओ समुद्दा पगईए उदगरसेणं पण्णत्ता, तं जहा—कालोदे, पुक्खरोदे, सयंभुरमणे। तओ समुद्दा बहुमच्छ-कच्छभाइण्णा पण्णत्ता, तं जहा—लवणे, कालोदे, सयंभुरमणे॥ ३१ ॥

छाया—त्रयः समुद्राः प्रकृत्या उदकरसेन प्रज्ञप्ताः तद्यथा—कालोदः, पुष्करोदः, स्वयंभूरमणः, त्रयः समुद्राः बहुमत्स्य-कच्छपाकीर्णाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—लवणः, कालोदः, स्वयंभूरमणः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—कालोद, पुष्करोद और स्वयंभूरमण इन तीन समुद्रों का जल प्रकृति से ही उदक रस के समान है।

लवण समुद्र, कालोद और स्वयंभूरमण समुद्र ये तीन समुद्र मत्स्यों और कच्छपों से अत्यन्त आकीर्ण हैं।

विवेचनिका—जंबूद्वीप और समयक्षेत्र मध्यलोक में हैं, अतः इस सूत्र में समुद्रों का उल्लेख किया गया है। लोक में असंख्यात समुद्र हैं। किन्तु उन समुद्रों में जल का रस विभिन्न प्रकार का है। जल का जो स्वाभाविक रस है, वैसा जल तीन समुद्रों में ही है।

धातकीखण्ड द्वीप के बाहर वलयाकार कालोद समुद्र है। पुष्करवर द्वीप से बाहर वलयाकार पुष्करोद समुद्र है। सबसे बाहर जो महा समुद्र है, उसे स्वयंभूरमण कहते हैं, उस में भी पानी स्वाभाविक रस वाला है। सूत्रकार ने **'पगईए'** शब्द द्वारा यह सिद्ध किया है कि प्रकृति से उक्त समुद्रों का जल उदकरस वाला है किन्तु प्रयोग से उनका जल भी अन्य रस वाला हो सकता है, जैसे शर्करा आदि पदार्थों के मिलने से जल का रस अन्य रस में परिणत हो जाता है। इससे पदार्थ की परिणमनशीलता सिद्ध की गई है।

वैसे तो जलचर जीवों का अस्तित्व सभी समुद्रों में पाया जाता है किन्तु लवण, कालोद और स्वयंभूरमण इन तीन समुद्रों में मच्छ, कच्छप आदि जलचर जीवों की बहुलता है। अतएव शास्त्रकारों का कथन है—

लवणे उदग रसेसु य, महोरया मच्छकच्छहा भणिया।
अप्पा सेसेसु भवे, न य ते णिमच्छया भणिया॥

लवण समुद्र आदि में मत्स्य, कच्छप आदि की अधिकता है। अन्य समुद्रों में वे थोडी संख्या में पाए जाते हैं, अतः वे सर्वथा मत्स्यादि से रहित नहीं हैं।

विषय स्थूल हो या सूक्ष्म, भीतर हो या बाहर, जिन वाणी सबको प्रकाशित करने वाली है।

अप्रतिष्ठान नरक और सर्वार्थसिद्ध देवलोक के अधिकारी

मूल—तओ लोगे णिस्सीला, णिव्वया, णिग्गुणा, निम्मेरा, णिप्पच्चक्खाणपोसहोववासा कालमासे कालं किच्चा अहे सत्तमाए पुढवीए अप्पइट्ठाणे णरए णेरइयत्ताए उववज्जंति, तं जहा—रायाणो, मंडलीया, जे य महारंभा कोडुंबी।

तओ लोए सुसीला सुव्वया, सग्गुणा समेरा, सपच्चक्खाणपोसहोववासा कालमासे कालं किच्चा सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं तहा—रायाणो परिचत्तकामभोगा, सेणावई, पसत्थारो॥ ३२॥

छाया—त्रयो लोके निःशीला, निर्व्रताः निर्गुणाः निर्मर्यादाः निष्प्रत्याख्यान-पौषधोपवासाः कालमासे कालं कृत्वा अधः सप्तम्यां पृथिव्यामप्रतिष्ठाने नरके नैरयिकतया उत्पद्यन्ते, तद्यथा—राजानः, माण्डलिकाः, ये च महारम्भाः कुटुम्बिनः।

त्रयो लोके सुशीलाः, सुव्रताः, सगुणाः, समर्यादाः, सप्रत्याख्यानपौषधोपवासाः कालमासे कालं कृत्वा सर्वार्थसिद्धे महाविमाने देवतयोपपत्तारो भवन्ति, तद्यथा—राजानः परित्यक्तकामभोगाः, सेनापतयः, प्रशस्तारः।

शब्दार्थ—**तओ लोगे**—लोक में तीन व्यक्ति जो, **णिस्सीला**—शील से रहित हैं, **णिव्वया**—व्रतरहित हैं, **णिग्गुणा**—निगुणी, **निम्मेरा**—मर्यादा रहित एवं, **णिप्पच्चक्खाण-पोसहोपवासा**—प्रत्याख्यान-पौषध और उपवास से रहित, **कालमासे**—काल के समय, **कालं किच्चा**—काल करके, **अहे**—नीचे, **सत्तमाए पुढवीए**—सातवीं पृथ्वी पर, **अप्पइट्ठाणे**—अप्रतिष्ठान, **नरए**—नरक में, **णेरइयत्ताए**—नारकीयपने, **उववज्जंति**—उत्पन्न होते हैं, **तं जहा**—जैसे, **रायाणो**—चक्रवर्ती राजा आदि, **मंडलीया**—माण्डलीक राजा, **य**—और, **जे**—जो, **महारंभा कोडुंबी**—महारम्भ करने वाले कुटुम्बाधिपति।

तओ लोए—लोक में तीन व्यक्ति, **सुसीला**—जो सुशील, **सुव्वया**—सुव्रत, **सग्गुणा**—सद्‌गुणयुक्त, **समेरा**—समर्यादित, **सप्पच्चक्खाणपोसहोववासा**—प्रत्याख्यान-पौषधोपवास युक्त हैं, वे, **कालमासे**—काल के समय, **कालं किच्चा**—काल कर के, **सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे**—सर्वार्थसिद्ध महाविमान में, **उववत्तारो भवंति**—उत्पन्न होते हैं, **तं जहा**—जैसे, **रायाणो परिचत्तकामभोगा**—काम-भोगों को त्याग करने वाले चक्रवर्त्यादि राजा लोग, **सेणावई**—सेनापति, और **पसत्थारो**—धर्मशास्त्र के पाठक।

मूलार्थ—लोक में तीन व्यक्ति—शील रहित, व्रत रहित, निर्गुण, मर्यादा रहित तथा पौषधोपवास प्रत्याख्यानादि न करने वाले कालमास में काल करके अधोलोक की सातवीं पृथ्वी के अप्रतिष्ठान नामक नरकावास में नारकीय रूप में उत्पन्न होते हैं, जैसे कि—चक्रवर्त्यादि राजा लोग, माण्डलिक सामन्त और महारम्भ करने वाले कुटुम्बी लोग।

लोक में तीन व्यक्ति—सुशील, सुव्रती, सद्‌गुणी, मर्यादित जीवन व्यतीत करने वाले, पौषधोपवास और प्रत्याख्यानी, ये कालमास में काल को प्राप्त कर सर्वार्थसिद्ध महाविमान में देव रूप में उत्पन्न होते हैं, जैसे—कामभोगों का परित्याग करने वाले

चक्रवर्त्ती, सेनापति और धर्मशास्त्र के पाठक।

विवेचनिका—समय-क्षेत्र में रहे हुए विशिष्ट मनुष्य अशुभ क्रिया की पराकाष्ठा से और शुभ क्रिया की पराकाष्ठा से कहां-कहां किस रूप में जन्म लेते हैं, प्रस्तुत सूत्र में इसी विषय पर प्रकाश डाला गया है।

मनुष्य की सत्-असत् कर्मों में प्रवृत्ति स्वाभाविक है, सत्-कर्म प्रवृत्ति मनुष्य को देवत्व की ओर ले जाती है और असत्-कर्म-प्रवृत्ति से मनुष्य अधोगति को प्राप्त होता है, अधोगति की ओर ले जाने वाली असद् वृत्तियां इस प्रकार हैं—

णिस्सीला—जो व्यक्ति अत्यन्त विषयासक्त हैं और जिनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य भोग-विलास है, वे "निःशील" कहलाते हैं।

णिव्वया—जो सभी प्रकार के पापाचरण में संलग्न हैं, जिन्हें किसी भी बड़े से बड़ा पाप करने में हिचकिचाहट नहीं होती, उन्हें "निर्व्रत" कहा जाता है।

णिग्गुणा—जो आध्यात्मिक गुणों से सर्वथा शून्य हैं, जिनके जीवन में मूल गुण एवं उत्तर गुण नहीं हैं, वे व्यक्ति "निर्गुण" कहलाते हैं।

णिम्मेरा—जो धार्मिक मर्यादा से रहित हैं, अथवा स्वीकृत की हुई मर्यादा का पालन नहीं करते, जो पाप क्षेत्र में स्वेच्छाचारी हैं, उन्हें "निर्मर्याद" कहते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति अपने लिए और समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होते हैं।

णिप्पच्चक्खाण-पोसहोववासा—अष्टमी, पूर्णमासी आदि पर्वों में नवकारसी, पोरसी, पौषध एवं उपवास आदि तपश्चर्या से सर्वथा रहित हैं, जो तपश्चरण को देह-दण्ड ही समझते हैं, ऐसे चक्रवर्ती आदि महाराजा, माण्डलीक राजा पंचेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा करने वाले कौटुम्बिक लोग मृत्यु के अनन्तर नीचे सातवीं पृथ्वी के अन्तर्गत अप्रतिष्ठान नरकावास में नारकी के रूप में उत्पन्न होते हैं। किसी भी द्वीप में उत्पन्न होने वाला उपर्युक्त पाप-कर्मों में निरत जीव तेंतीस सागरोपम काल तक अप्रतिष्ठान नरक में ही निवास करता है।

जो व्यक्ति सुशील, सुव्रती, सद्गुणी, मर्यादावान् एवं प्रत्याख्यान पौषध उपवासादि तपश्चर्या करने वाले तथा काम-भोगों के परित्यागी चक्रवर्ती आदि महाराजा सेनापति और धर्मशास्त्रादि के प्रवक्ता हैं, वे समय आने पर मृत्यु को प्राप्त करके सर्वार्थसिद्ध महाविमान में देव रूप में उत्पन्न होते हैं और वहां अधिक से अधिक तेंतीस सागरोपम काल तक निवास करते हुए आनन्दित एवं प्रमुदित होते हैं।

परिचत्तकामभोगा—यह विशेषण राजा, सेनापति और प्रशास्ता इन तीनों के साथ है, अतः ये तीनों तभी देवत्व के अधिकारी हो सकते हैं, जब वे काम-भोगों से विरक्त हों।

पसत्थारो—लेखाचार्य, कलाचार्य, प्राध्यापक, उपाध्याय, अनेक विषयों के अनुसन्धान कर्त्ता, समाज के पथ-प्रदर्शक आदि के लिए जैनागम "प्रशास्ता" शब्द का प्रयोग करते

हैं। जैनागमों का यह दृढ़ सिद्धान्त है कि केवल दूसरों को उपदेश देने मात्र के लिए अध्ययन करने वाले मुक्ति के अधिकारी नहीं हो सकते, देवत्व एवं मोक्ष प्राप्ति के लिए व्यक्ति के निजी आचरण का पवित्र होना आवश्यक है। निजी तपश्चर्या ही साधना का सम्बल है।

त्रिवर्ण-विमान

मूल—बंभलोग-लंतएसु णं कप्पेसु विमाणा तिवण्णा पण्णत्ता, तं जहा—लोहिया, हालिद्दा, सुक्किला। आणय-पाणयारणच्चुएसु णं कप्पेसु देवाणं भवधारणिज्जसरीरा उक्कोसेणं तिण्णि रयणीओ उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता ॥३३॥

छाया—ब्रह्मलोक-लान्तकयोः खलु कल्पयोर्विमानानि त्रिवर्णानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—लोहितानि पीतानि, शुक्लानि। आनत-प्राणतारणाच्युतेषु खलु कल्पेषु देवानां भवधारणीयशरीराणि उत्कर्षेण तिस्रो रत्नय ऊर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तानि।

शब्दार्थ—बंभलोग-लंतएसु णं कप्पेसु—ब्रह्मलोक और लान्तक कल्पों में, **विमाणा**—विमान, **तिवण्णा**—तीन वर्ण वाले, **पण्णत्ता, तं जहा**—प्रतिपादन किए हैं, जैसे, **लोहिया**—लोहित अर्थात् लाल, **हालिद्दा**—पीत और, **सुक्किला**—शुक्ल। **आणय-पाणयारणच्चुएसु णं कप्पेसु**—आणत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पों में, **देवाणं**—देवों के, **भवधारणिज्ज-सरीरा**—भवधारणीय शरीर, **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट से, **तिण्णि रयणीओ**—तीन हाथ के, **उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता**—ऊर्ध्व—ऊंचे कथन किए गए हैं।

मूलार्थ—ब्रह्मलोक और लान्तक कल्पों में लोहित, पीत और शुक्ल तीन वर्णों के विमान प्रतिपादन किए गए हैं। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चार कल्पों में देवों का भवधारणीय शरीर अधिक से अधिक तीन हाथ ऊंचा प्रतिपादन किया गया है।

विवेचनिका—विमान सभी रंगीन होते हैं, किस-किस देवलोक में तीन रंग वाले विमान पाए जाते हैं, और किस-किस कल्प में देवों का भव-धारणीय शरीर तीन हाथ का ऊंचा होता है, इस विषय पर प्रस्तुत सूत्र में प्रकाश डाला गया है।

कल्पदेवलोक बारह हैं, उनमें से पांचवें और छठे कल्प का नाम क्रमशः ब्रह्म और लान्तक है। इन दो कल्पों में तीन वर्ण वाले विमान हैं, जैसे कि लाल, पीले और सफेद।

नौवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें कल्पों में रहने वाले देवों का भवधारणीय शरीर उत्सेध अंगुल प्रमाण[1] से उत्कृष्ट तीन हाथ की ऊंचाई वाला होता है।

---

१ देखो अनुयोगद्वार सूत्र का दूसरा भाग।

भव-धारणीय शरीर वह शरीर होता है, जो कि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त धारण किया जाता है, **''भवं जन्मापि यावद्धार्यन्ते, भवं वा देवगतिलक्षणं धारयन्तीति भवधारणी-यानि''** भवधारणीय शरीर इसलिए कहा गया है, क्योंकि देव अपनी वैक्रिय शक्ति द्वारा उत्तर वैक्रिय अर्थात् स्वअभिलषित शरीर भी धारण कर लेते हैं। उनका वह शरीर एक लाख योजन तक का हो सकता है, इसलिए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अंतिम चार कल्प देवलोकों में देवों का भवधारणीय शरीर उत्सेधांगुल प्रमाण से अधिक से अधिक तीन हाथ ऊँचा होता है।

प्रज्ञप्तियों का अध्ययन काल

मूल—तओ पन्नत्तीओ कालेणं अहिज्जंति, तं जहा—चंदपन्नत्ती, सूर-पन्नत्ती, दीवसागरपन्नत्ती ॥३४॥

छाया—तिस्रः प्रज्ञप्तयः कालेनाधीयन्ते, तद्यथा—चन्द्रप्रज्ञप्तिः, सूर्यप्रज्ञप्तिः, द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः।

शब्दार्थ—तओ पन्नत्तीओ—तीन प्रज्ञप्तिए, **कालेणं अहिज्जंति, तं जहा**—दिन व रात्रि के प्रथम व चतुर्थ पहर में पढ़ी जाती है, जैसे, **चंदपन्नत्ती**—चन्द्रप्रज्ञप्ति, **सूरपन्नत्ती**—सूर्यप्रज्ञप्ति और, **दीवसागरपन्नत्ती**—द्वीप-सागर प्रज्ञप्ति।

मूलार्थ—चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति तथा द्वीपसागर प्रज्ञप्ति सूत्र दिन व रात्रि के प्रथम और चतुर्थ पहर मे पढ़े जाते हैं।

विवेचनिका—देव और देवविमानों का ज्ञान मनुष्य को आगमो द्वारा प्राप्त होता है। शास्त्रकारों ने आगमों के अध्ययन के लिए समय निश्चित किया है, जिस प्रकार स्वर विद्या मे विभिन्न रागो का समय नियत है। जो राग जिस समय गाना चाहिए, वह उसी समय में गाया जाता है। अकाल में गायन किया हुआ राग फलप्रद नहीं होता। ठीक इसी प्रकार असमय में किया हुआ आगम-अध्ययन अशान्ति एव असमाधि-जनक होने से आत्म-कल्याणकारी नहीं हो सकता, अतः आगमों मे आगमों के अध्ययन का समय निश्चित कर दिया गया है। नियत समय पर किया हुआ अध्ययन ही आत्म-समाधि एवं परम शान्ति प्रदान कर सकता है।

तओ पन्नत्तीओ कालेणं अहिज्जंति—इस वाक्य मे 'काल' शब्द रखा गया है, इसका कारण यह है कि आगम दो तरह के होते हैं—कालिक और उत्कालिक। अंग-सूत्र तो सभी कालिक हैं, किन्तु अंग-बाह्य सूत्रों में कुछ कालिक सूत्र हैं और कुछ उत्कालिक। जो दिन या रात्रि के पहले और चौथे पहर के स्वाध्याय से सम्बन्ध रखते हैं, वे कालिक और अनध्याय काल को छोडकर जो शेष कालों से सम्बन्ध रखते हैं वे उत्कालिक कहलाते हैं, अतः चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, ये तीन प्रज्ञप्तिएं निश्चित समय में हो पढ़ी जा सकती हैं और वे तभी पाठक के लिये कल्याणदायिनी हो सकती हैं।

तओ—इस शब्द से यह ध्वनित होता है कि त्रिस्थान के कारण तीन प्रज्ञप्तिएं ग्रहण की गई हैं, जबकि व्याख्या-प्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति भी कालिक हैं और ये दोनों विद्यमान भी हैं। उक्त तीन प्रज्ञप्तियो मे भूगोल और खगोल का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

आगमों के स्वाध्यायकाल का विशेष समय इसलिये निर्धारित किया गया है कि जैन-आगम अर्द्धमागधी भाषा में उल्लिखित हैं और वह भाषा देवों की है। अनध्यायकाल में अथवा असमय में देवो का गमनागमन विशेष होता है, वह भी मनुष्य लोक में। अशुद्ध अध्ययन करने से संभव है उनके द्वारा कोई उपद्रव उपस्थित हो जाए, अतः उस समय पठन का निषेध किया गया है। सभी आगम देवाधिष्ठित हैं, अतः वे आगम समय का ध्यान रखते हुए तथा बहुमान एव भक्तिपूर्वक अध्ययन करने से ही फलीभूत हो सकते हैं। देवों की अपनी मूलभाषा अर्धमागधी है और यही भाषा उन्हें अभीष्ट है। इसी कारण यह भाषा विशिष्टता प्राप्त करती है।[१] इसीलिये सूत्रकर्त्ता ने काल शब्द से आगमों के अध्ययन करने का समय निश्चित कर दिया है।

॥ तृतीय स्थान का प्रथम उद्देशक सम्पूर्ण ॥
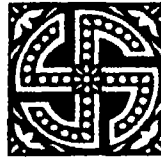
१ देखो भगवती सूत्र, श०५, उ०४।

तृतीय-स्थान

द्वितीय उद्देशक

इस उद्देशक में सूत्रकार लोक और देवलोक की शासन-व्यवस्था और उसकी स्थिति का वर्णन करेंगे। त्रस-स्थावर आदि जीवों के विषय में बतायेंगे कि किस प्रकार सुशील जीव के लिए प्रगति के द्वार खुलते हैं और वह शैक्ष्य भूमि एवं स्थविर भूमि आदि में पहुंचकर प्रव्रज्या के मार्ग से बोधि प्राप्त कर कैसे बुद्ध बनता है एवं किस प्रकार कृतकर्मों की निर्जरा द्वारा अभय-पद प्राप्त करता है।

विभिन्न दृष्टियों से लोक

मूल—तिविहे लोगे पण्णत्ते, तं जहा—णामलोगे, ठवणालोगे, दव्वलोगे। तिविहे लोगे पण्णत्ते, तं जहा—णाणलोगे, दंसणलोगे, चरित्तलोगे। तिविहे लोगे पण्णत्ते, तं जहा—उद्धलोगे, अहोलोगे, तिरियलोगे॥ ३५॥

छाया—त्रिविधो लोकः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—नामलोकः, स्थापनालोकः, द्रव्यलोकः।

त्रिविधो लोकः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ज्ञानलोकः, दर्शनलोकः, चारित्रलोकः।

त्रिविधो लोकः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ऊर्ध्वलोकः, अधोलोकः, तिर्यग्लोकः।

शब्दार्थ—तिविहे लोगे पण्णत्ते, तं जहा—लोक तीन प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—**णामलोगे**—नामलोक १४ राजुलोक परिमाण, **ठवणालोगे**—स्थापनालोक, चौदह राजुलोक का चित्र और, **दव्वलोगे**—द्रव्यलोक—जीव-अजीव रूप।

तिविहे लोगे पण्णत्ते, तं जहा—लोक तीन प्रकार का है जैसे—**णाणलोगे**—ज्ञान-लोक, **दंसणलोगे**—दर्शन-लोक और, **चरित्तलोगे**—चारित्रलोक।

तिविहे लोगे पण्णत्ते, तं जहा—तीन प्रकार का लोक कथन किया है, जैसे—**उड्ढलोगे**—ऊर्ध्वलोकः, **अहोलोगे**—अधोलोक और, **तिरियलोगे**—तिर्यग्लोक अर्थात् मध्य-लोक।

मूलार्थ—इस सूत्र में तीन प्रकार से लोक का वर्णन किया गया है, जैसे—कि नाम-लोक, स्थापना-लोक और द्रव्य-लोक। लोक तीन प्रकार से कहा गया है, जैसे कि ज्ञान-लोक, दर्शन-लोक और चारित्र-लोक। ऊर्ध्व-लोक, अधो-लोक और मध्य-लोक के रूप में भी तीन लोक कहे जाते हैं।

विवेचनिका—प्रथम उद्देशक में जीव-धर्मों का विवेचन किया गया है। जीवों का निवास भी लोक में ही होता है। अब लोक का भेद-उपभेद सहित परिचय प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं—लोक तीन प्रकार का कहा गया है। लोक का अर्थ है—धर्मास्तिकायादि छः द्रव्यों का समूह रूप जगत्—विश्व।

निक्षेप की दृष्टि से लोकः—

नामलोकः—ऐसे जीव-अजीव पदार्थ को लोक कहा जाता है, जिसका नाम अर्थ के अनुरूप हो, जैसे किसी जीव का नाम धनपति रखा जाए। ऐसी अवस्था में अर्थ के अनुकूल होने पर उसका धनवान होना अनिवार्य होगा, परन्तु नामनिक्षेप में यह अनिवार्यता नहीं होती। निर्धन भी 'धनपति' नाम वाला हो सकता है, अतः विश्व का नाम लोक रखना यह नाम अर्थ के अनुरूप होने से नामलोक है।

स्थापनालोकः—विश्व के चित्र, माडल या प्रतिकृति को स्थापनालोक कहा जाता है। एक पुरुष पायजामा पहिनकर दोनों हाथों को कमर पर रखकर फिरकी ले, उसके समान लोक का आकार है। पग से कमर तक का भाग अधोलोक है, उसमें सात नरक हैं। नाभि की जगह मध्यलोक है, उसमें मनुष्य और तिर्यंचों का निवास है। नाभि से ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक है, उसमें गर्दन से नीचे के भाग में बारह देवलोक हैं, गर्दन के भाग में नवग्रैवेयक हैं, मुख के भाग में पांच अनुत्तर विमान हैं और मस्तक भाग में सिद्धशिला है। इस प्रकार की बनी हुई प्रतिकृति को स्थापना-लोक माना जाता है।

द्रव्यलोकः—जिस आकाश भाग में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय एवं जीवास्तिकाय ये द्रव्य पाए जाएं, वह द्रव्यलोक कहलाता है। अलोक में केवल आकाश ही आकाश है। द्रव्यों का सद्भाव लोक में ही पाया जाता है, अतः इसे द्रव्यलोक कहा जाता है अथवा द्रव्यलोक वह कहलाता है, जहां जीव और अजीव, रूपी और अरूपी, सप्रदेशी और अप्रदेशी इत्यादि द्रव्य पाए जाते हैं, अतः द्रव्यलोक प्रवाह से नित्य है और पर्याय से अनित्य है।

शास्त्रकारों की भाषा में द्रव्यलोक का वर्णन निम्नलिखित है—

जीवमजीवे रूवमरूवी, सप्पएस अप्पएसे य।
जाणाहि दव्वलोयं, णिच्चमणिच्चं च जं दव्वं॥

भावनिक्षेप की दृष्टि से लोक :—

सूत्रकार भाव निक्षेप की दृष्टि से लोक का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं—भाव की दृष्टि से लोक तीन प्रकार का होता है—ज्ञानलोक, दर्शनलोक और चारित्रलोक। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

ज्ञानलोकः—जिस ज्ञान में संपूर्ण लोक प्रतिबिंबित हो रहा है, अथवा जिस ज्ञानी का उपयोग—ध्यान लोक में लगा हुआ है, वह ज्ञानलोक है।

दर्शनलोकः—जिस जीव को लोक के अस्तित्व पर दृढ़ श्रद्धा है, अथवा जब जीव अवधिदर्शन और केवलदर्शन से लोक का प्रत्यक्ष करता है अथवा जब जीव सम्यग्दर्शन से ओतप्रोत होकर लोक-व्यापी सभी द्रव्यों एवं पर्यायों पर आस्था रखता है, वह दर्शनलोक कहलाता है।

चारित्रलोकः—चारित्र की आराधना लोक में ही की जाती है, अत: इस अपेक्षा से यह चारित्रलोक कहलाता है, अथवा केवलज्ञानी चारित्रवान होते हैं, जब वे केवली-समुद्घात के चौथे समय में आत्म-प्रदेशों को संपूर्णलोक में परिव्याप्त करते हैं, तब वह चारित्रलोक कहलाता है, अथवा औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक इन पांच भावों को भी भावलोक कहते हैं। इनमें से ज्ञान क्षायिक एवं क्षायोपशमिक ही होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र ये दो गुण औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव में होते हैं। इस दृष्टि से भी ज्ञानलोक, दर्शनलोक और चारित्रलोक का विश्लेषण किया गया है।

क्षेत्र की दृष्टि से लोकः—

लोकाकाश को क्षेत्र कहते हैं। क्षेत्रलोक तीन प्रकार का होता है, जैसे कि—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक। मेरुपर्वत के समतल भूमि भाग से ऊपर ज्योतिष-चक्र तक नौ सौ योजन भाग को और इसी प्रकार नौ सौ योजन नीचे तक के भाग को अर्थात् अठारह सौ योजन के अंतराल को तिर्यग्लोक या मध्यलोक माना जाता है। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा, इन सबका अस्तित्व तिर्यग्लोक में है, ऊर्ध्वलोक में नहीं। ऐसा शास्त्रकारों का अभिमत है।

ऊर्ध्वलोकः—ज्योतिष-चक्र से ऊपर के आकाश-विभाग को ऊर्ध्वलोक कहा जाता है। क्षेत्र के प्रभाव से ऊर्ध्वलोक शुभकर्मों के भोगने का लोक है। उसमें शुभ पुद्गलों की बहुलता है। वैमानिक देवों का निवासस्थान ऊर्ध्वलोक में है।

अधोलोकः—मेरु पर्वत के समतल भूमिभाग से नौ सौ योजन नीचे के भाग से लेकर

सातवीं तमतमा प्रभा पृथिवी पर्यन्त अधोलोक है। वह लोक अशुभ कर्मों के भोगने के लिए है। उसमें अशुभ पुद्गलों की बहुलता है।

तिर्यग्लोकः—मध्यलोक का दूसरा नाम तिर्यग्लोक है। इसमें जीव शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का फल भोगते हैं। जिस लोक में न उत्कृष्टतम सुख प्राप्त हो सके और न निकृष्टतम दुःख भोगा जा सके, मध्यम रूप से सुख-दुःख का अनुभव किया जा सके, उसे मध्यलोक कहा जाता है। इसमें शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के पुद्गल पाए जाते हैं।

लोक स्वरूप को समझने और समझाने के लिए जो शास्त्रकार ने तीन-तीन करके नौ भेदों का वर्णन किया है, यह विधि विषय को हृदयंगम करने के लिए प्रशस्त है।

देवलोक की परिषदें

मूल—चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो तओ परिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—समिया, चंडा, जाया। अब्भिंतरिया समिया, मज्झिमिया चंडा, बाहिरिया जाया।

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो सामाणियाणं देवाणं तओ परिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—समिया जहेव चमरस्स। एवं तायत्ती-सगाणवि। लोगपालाणं तुंबा, तुडिया, पव्वा। एवं अग्गमहिसीणवि। बलिस्सवि एवं चेव, जाव अग्गमहिसीणं।

धरणस्स य सामाणियतायत्तीसगाणं च समिया, चंडा, जाया। लोग-पालाणं अग्गमहिसीणं ईसा, तुडिया, दढरहा। जहा धरणस्स तहा सेसाणं भवणवासीणं।

कालस्स णं पिसाइंदस्स पिसायरण्णो तओ परिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—ईसा, तुडिया, दढरहा। एवं सामाणिय-अग्गमहिसीणं। एवं जाव गीयरइ-गीयजसाणं।

चंदस्स णं जोइसिंदस्स जोइसरन्नो तओ परिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—तुंबा, तुडिया, पव्वा। एवं सामाणिय—अग्गमहिसीणं। एवं जाव सूरस्सवि।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो तओ परिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—समिया, चंडा, जाया। एवं जहा चमरस्स जाव अग्गमहिसीणं। एवं जाव

अच्चुयस्स लोगपालाणं ॥३६॥

छाया—चमरस्य खलु असुरेन्द्रस्य असुरकुमारराज्ञस्तिस्त्रः परिषदः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—समिता, चण्डा, जाता। आभ्यन्तरिका समिता, मध्यमिका चण्डा, बाह्यका जाता।

चमरस्य खल्वसुरेन्द्रस्यासुरकुमारराज्ञः सामानिकानां देवानां तिस्त्रः परिषदः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—समिता, यथैव चमरस्य। एवं त्रयस्त्रिंशकानामपि। लोकपालानां तुम्बा, त्रुटिता, पर्वा। एवमग्रमहिषीणामपि। बलेरप्येवं चैव, यावदग्रमहिषीणाम्। धरणस्य च सामानिक-त्रयस्त्रिंशकानां च समिता, चण्डा, जाता। लोकपालानामग्रमहिषीणामीशा, त्रुटिता, दृढरथा। यथा धरणस्य तथा शेषाणां भवनवासिनाम्। कालस्य खलु पिशाचेन्द्रस्य पिशाचराज्ञस्तिस्त्रः परिषदः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ईशा, त्रुटिता, दृढरथा। एवं सामानिका-ग्रमहिषीणाम्। एवं यावत् गीतरति-गीतयशसाम्।

चन्द्रस्य खलु ज्योतिष्केन्द्रस्य ज्योतिष्कराज्ञस्तिस्त्रः परिषदः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—तुम्बा, त्रुटिता, पर्वा। एवं सामानिकाग्रमहिषीणाम्। एवं यावत् सूर्यस्यापि।

शक्रस्य खलु देवेन्द्रस्य देवराज्ञस्तिस्त्रः परिषदः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—समिता, चण्डा, जाता। एवं यथा चमरस्य यावदग्रमहिषीणाम्। एवं यावदच्युतस्य लोकपालानाम्।

शब्दार्थ—**णं**—यह पद मात्र वाक्यालंकारार्थ है, **चमरस्स**—चमर, **असुरिंदस्स**—असुरकुमारेन्द्र, **असुरकुमाररन्नो**—असुरकुमारों के राजा की, **तओ परिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा**—तीन परिषद् कही गई हैं, जैसे, **समिया, चंडा, जाया**—समिता, चण्डा और जाता, **अब्भिंतरिया समिया**—आभ्यन्तर परिषद् का नाम समिता है, **मज्झिमिया चंडा**—मध्यमिका परिषद् का नाम चण्डा है, **बाहिरिया जाया**—बाह्य परिषद् का नाम जाता है।

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो—असुरकुमारेन्द्र, असुरकुमार राजा चमरेन्द्र के, **सामाणियाणं देवाणं**—सामानिक देवों की, **तओ परिसाओ पण्णत्ताओ तं जहा**—तीन परिषत् कथन की गई हैं, जैसे, **समिया**—समितादि, **जहेव चमरस्स**—जैसे चमरेन्द्र की बताई गई हैं, **एवं**—इसी प्रकार, **तायत्तीसगाणंवि**—सामानिक और त्रयस्त्रिंशक देवों की परिषत् भी जाननी चाहिए, **लोगपालाणं तुंबा, तुडिया, पव्वा**—लोकपालों की भी तुम्बा, त्रुटिता और पर्वा नामक परिषद् हैं, **एवं अग्गमहिसीणंवि**—इसी प्रकार अग्रमहिषियों की भी तीन परिषद् हैं, **बलिस्सवि एवं चेव**—बलीन्द्र की भी इसी प्रकार तीन परिषत् जाननी चाहिएं, **जाव अग्गमहिसीणं**—यावत् अग्रमहिषियों की भी जाननी चाहिएं, **य**—और, **धरणस्स**—धरणेन्द्र तथा, **सामाणियतायत्तीसगाणं च**—सामानिक और त्रयस्त्रिंशक देवों की, **समिता, चंडा, जाया**—समिता, चण्डा और जाता परिषद् होती हैं, **लोगपालाण अग्गमहिसीणं ईसा, तुडिया, दढरहा**—लोकपाल और अग्रमहिषियों की ईशा, त्रुटिता और दृढ़रथा नामक परिषत् हैं, **जहा धरणस्स तहा सेसाणं भवणवासीणं**—जिस तरह

धरणेन्द्र की हैं, उसी तरह शेष भवनवासी देवों की परिषदें भी जाननी चाहिएं।

कालस्स णं पिसाइंदस्स पिसायरण्णो—पिशाचेन्द्र पिशाचराज काल के, **तओ परिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—ईसा, तुडिया, दढरहा**—तीन परिषद् ईशा, त्रुटिता और दृढरथा कथन की गई हैं, **एवं सामाणिय-अग्गमहिसीणं**—इसी प्रकार सामानिक और अग्रमहिषियों की भी परिषद् हैं, **एवं जाव गीयरइ-गीयजसाणं**—इसी प्रकार यावत् गीतरति और गीत-यशों की परिषदें भी होती हैं।

चंदस्स णं जोइसिंदस्स जोइसरन्नो—ज्योतिष्केन्द्र, ज्योतिष्कराज चन्द्र की, **तओ परिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा**—तीन परिषद् हैं जैसे, **समिया, चंडा, जाया**—समिता, चण्डा और जाता, **एवं सामाणिय-अग्गमहिसीणं**—इसी तरह सामानिक देवों और उनकी अग्रमहिषियों की भी, **एवं सूरस्सवि**—इसी प्रकार सूर्य देव की भी परिषद् जाननी चाहिए।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो—शक्र देवेन्द्र देवराज की, **तओ परिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा**—तीन परिषद् हैं जैसे—**समिया, चण्डा, जाया**—समिता, चण्डा और जाता, **एवं जहा चमरस्स जाव अग्गमहिसीणं**—इसी तरह जैसे चमरेन्द्र से लेकर अग्रमहिषियों तक की तीन परिषत् हैं, **एवं जाव अच्चुतस्स लोगपालाणं**—ऐसे ही अच्युतेन्द्र और उसके लोकपालों की भी तीन परिषद् हैं।

मूलार्थ—असुरकुमारेन्द्र असुरराज चमर की तीन परिषत् बतलाई गई हैं, जैसे—समिता, चण्डा और जाता। आभ्यन्तर परिषत् समिता, माध्यमिक परिषत् चण्डा और बाह्य परिषद् जाता नाम से प्रसिद्ध हैं।

असुरकुमारेन्द्र असुरकुमार राजा चमर के सामानिक देवों की परिषदें भी चमरेन्द्र के समान समिता, चण्डा और जाता नाम की तीन ही हैं। इसी प्रकार उसके त्रयस्त्रिंशक देवों और लोकपालों की तुम्बा, त्रुटिता और पर्वा नामक परिषत् हैं। बलीन्द्र से लेकर उसकी अग्रमहिषियों तक देव और देवियों की भी तीन-तीन परिषदें हैं। धरणेन्द्र और उसके सामानिक एवं त्रयस्त्रिंशक देवों की भी समिता, चण्डा और जाता नामक तीन-तीन परिषदें हैं। उसके लोकपाल और अग्रमहिषियों की ईशा, त्रुटिता और दृढरथा नामक तीन-तीन परिषदें हैं। जैसे धरणेन्द्र की परिषदों का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार शेष भवनपतियों और उनके सामानिक देवों आदि की भी तीन-तीन परिषदें होती हैं।

पिशाचेन्द्र पिशाचराज काल की ईशा, त्रुटिता और दृढरथा तीन परिषद् हैं। ऐसे ही सामानिक देवों और अग्रमहिषियों की परिषदें भी होती हैं। ऐसे ही गीतरति और गीतयश की परिषदें भी जान लेनी चाहिएं।

ज्योतिष्केन्द्र ज्योतिष्कराज चन्द्र की भी तुम्बा, त्रुटिता और पर्वा तीन परिषद् हैं। ऐसे ही उसके सामानिक देवों और अग्रमहिषियों की भी हैं। इसी तरह सूर्यदेव की परिषदें भी हैं।

देवेन्द्र देवराज शक्र के भी समिता, चण्डा और जाता नामक तीन परिषद् हैं। ऐसे ही जैसे चमरेन्द्र का वर्णन है, उसी प्रकार अग्रमहिषियों तक देवों तथा देवियों की परिषदें भी जाननी चाहिएं। ऐसे ही अच्युतेन्द्र और उसके लोकपालों की परिषदें भी हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में सूत्रकार ने अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक का वर्णन किया है। इन लोकों की व्यवस्था एवं शासन-प्रणाली का वर्णन भी प्रसंगत: आवश्यक था। लोक-व्यवस्था एवं शासन-के दो रूप हैं—वैयक्तिक और सामाजिक। वैयक्तिक व्यवस्था-प्रणाली को ही राज-तंत्र कहा जाता है और सामाजिक-व्यवस्था एवं शासन-प्रणाली को प्रजातंत्र, गणतन्त्र एवं जनतंत्र कहा जाता है। इनमें जनतंत्र ही देव-प्रणाली है।

जनतंत्र में शासन-व्यवस्था के लिए परिषदें हुआ करती हैं। देवों की शासन-व्यवस्था में भी परिषदों का प्रमुख स्थान है। प्रस्तुत सूत्र में उन्हीं परिषदों का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है।

देवों का विभागीय परिचय—

देवों की शासन-व्यवस्था में कार्य-विभाग एवं पद-विभाग के अनुसार विभाजन है। इस विभाजन के प्रमुख भाग और उनके अधिकारी इस प्रकार हैं—

इन्द्र—अधिकार की दृष्टि से देवलोकों में सर्वोच्च अधिकार सम्पन्न प्रमुख तेजस्वी देव को इन्द्र कहा जाता है। यह इन्द्र ही सर्वोच्च शासक होता है। इसे देवों का राष्ट्रपति कहा जा सकता है।

सामानिक देव—ये देव इन्द्र तो नहीं, किन्तु इन्द्र के समान ही अन्य देव और देवियों के माननीय एवं पूज्य होते हैं।

त्रायस्त्रिंशक—इन्द्र के मंत्री-पदों पर नियुक्त देव एवं पुरोहित आदि की तरह पूज्य देव त्रायस्त्रिंशक देव कहलाते हैं।

लोकपाल—जो प्रबल शक्ति सम्पन्न देवलोकों की सीमाओं के रक्षक प्रमुख सैनिक अधिकारी के रूप में नियुक्त हैं वे लोकपाल देव कहलाते हैं।

पारिषद्य देव—जो देव एवं देवियां परिषदों के सदस्य होते हैं, उन्हें पारिषद्य देव कहा जाता है।

अग्रमहिषी देवियां—इन्द्र, सामानिक देव, त्रायस्त्रिंशक देव और लोकपाल देवों की पटरानियां अग्रमहिषी देवियां कहलाती हैं।

व्यवस्था—इन देवों की शासन-व्यवस्था में यह सबसे बड़ी विशेषता है कि किसी भी प्रशासकीय व्यवस्था पर विचार करने के लिए इन्द्र की प्रमुख परिषद् के अतिरिक्त सामानिक, त्रायस्त्रिंशक, लोकपाल और अग्रमहिषियों की भी पृथक् परिषदें हैं। प्रत्येक परिषद् में प्रशासकीय विचार के अनन्तर उसे प्रमुख सभा में प्रस्तुत किया जाता है।

देव-विभाग—

देवों की परिषदों के परिचय से पूर्व देव विभाग पर भी एक विहंगम दृष्टिपात करना आवश्यक होगा।

अधोलोक—अधोलोक के अत:पाति रत्नप्रभा पृथ्वी में १३ प्रस्तट हैं, इन तेरह प्रस्तटों के बीच १२ अन्तराल हैं। इनमें से ऊपर एवं नीचे के दो प्रस्तटों को छोड़कर शेष दस प्रस्तटों के अन्तरालों मे ऊपर से गोल और अन्दर से समचतुष्कोण विशाल भवन हैं, इन भवनो में रहने वाले देवता भवनपति कहलाते है।

प्रत्येक अन्तराल के उत्तर-दक्षिण दो-दो भाग हैं। दोनों भागों के इन्द्र आदि देव भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार दस भवनपति देवों के २० इन्द्र हैं।

इन २० इन्द्रों में से चमरेन्द्र और बलीन्द्र नामक इन्द्र असुर जाति के इन्द्र हैं, जो कि अन्य भवनपति देवों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हैं। इन दोनों इन्द्रों की तीन-तीन परिषदें हैं, जिनके क्रमशः नाम हैं—समिता, चण्डा और जाता।

इनके सामानिक और त्रायस्त्रिंशक देवों की परिषदें भी समिता, चण्डा और जाता ही कहलाती है।

इनके लोकपालों और अग्रमहिषियों की परिषदें तुम्बा, त्रुटिता और पर्वा कहलाती हैं।

शेष १८ धरणेन्द्र आदि इन्द्रों और उनके सामानिक और त्रायस्त्रिंशक देवों की परिषदों के नाम भी समिता, चण्डा और जाता हैं, किन्तु इनके लोकपालों और अग्रमहिषियों की परिषदें ईशा, त्रुटिता और दृढ़रथा कहलाती हैं।

मध्यलोक—मध्यलोक के उत्तर-दक्षिण भागों में वानव्यन्तर नामक देव निवास करते हैं। इन वानव्यन्तर देवों के ३२ विभाग हैं। प्रत्येक विभाग का एक-एक इन्द्र है। इन वानव्यन्तर देवों के प्रशासकीय विभाग में त्रायस्त्रिंशक और लोकपाल नहीं हैं। इसलिए इनके तीन ही विभाग हैं—इन्द्र, सामानिक और अग्रमहिषियां। इनकी परिषदों के नाम इस प्रकार हैं—

बत्तीस इन्द्रों की परिषदे—ईशा, त्रुटिता और दृढ़रथा।

सामानिक देवों की परिषदें—ईशा, त्रुटिता और दृढ़रथा।

अग्रमहिषियों की परिषदें—ईशा, त्रुटिता और दृढ़रथा।

मध्यलोकवर्ती ज्योतिष्क देवों के दो इन्द्र हैं—चन्द्र और सूर्य। इन इन्द्रों के भी लोकपाल और त्रायस्त्रिंशक देव नहीं होते। इनकी परिषदें इस प्रकार हैं—

इन्द्र, सामानिक देव और अग्रमहिषियों की परिषदें—तुम्बा, त्रुटिता और पर्वा हैं।

ऊर्ध्व-लोक—इस लोक के अन्तर्गत १२ कल्पदेवलोक हैं। इनमें आठ देवलोकों के भिन्न-भिन्न इन्द्र हैं। नौवें और दसवें दो देवलोकों का एक इन्द्र है और ग्यारहवें एवं बारहवें देवलोक का प्रशासक एक इन्द्र है। इस प्रकार १२ कल्पदेवलोकों के १० इन्द्र हैं। इन इन्द्रों की परिषदें इस प्रकार हैं—

प्रत्येक इन्द्र की तीन परिषदें हैं—समिता, चण्डा और जाता।

प्रत्येक इन्द्र के सामानिक देवों की तीन परिषदें हैं—समिता, चण्डा और जाता।

प्रत्येक इन्द्र के त्रायस्त्रिंशक देवों की तीन परिषदें हैं—समिता, चण्डा और जाता।

प्रत्येक इन्द्र के लोकपाल की तीन परिषदें हैं—तुम्बा, त्रुटिता और पर्वा।

प्रत्येक देव एवं इन्द्र की अग्रमहिषी की तीन परिषदें हैं—तुम्बा, त्रुटिता और पर्वा।

परिषद्-व्यवस्था—

समिता—यह देवों की आभ्यन्तर परिषद् है।

चण्डा—यह देवों की मध्यम परिषद् है।

जाता—यह देवों की बाह्य परिषद् है।

इनमें देव-परिषदों के सदस्य देव और देवियां दोनों हैं, किन्तु अग्रमहिषियों की परिषद् की सदस्या केवल देवियां ही हो सकती हैं।

आभ्यन्तर परिषद् के सदस्य परम सम्माननीय सदस्य होते हैं और वे इन्द्र के विशेष निमन्त्रण पर ही परिषद् में उपस्थित होते हैं।

मध्यम परिषदों के देव निमन्त्रण पर भी परिषद् में जाते हैं, किन्तु विशेष परिस्थितियों में बिना निमन्त्रण के भी वे परिषद् में उपस्थित हो जाते हैं।

बाह्य परिषदों के सदस्य देव परिषद् के निर्धारित समय पर स्वत: ही परिषद् में उपस्थित हो जाते हैं।

देवों की इस परिषद्-व्यवस्था से यह निष्कर्ष निकलता है कि देवों के राज्य प्रजातन्त्र राज्य हैं और प्रजातन्त्र ही दैवी प्रशासकीय व्यवस्था है। इस व्यवस्था में इन्द्र सर्वोच्च सत्ता-सम्पन्न होते हुए भी स्वतन्त्र नहीं हैं, उसे देव-देवियों की अनुमति से ही सम्पूर्ण व्यवस्था का संचालन करना पड़ता है।

सुख-सुविधा के प्रत्येक विषय पर उच्चस्तरीय विचार इन्द्र की अध्यक्षता में आभ्यन्तर परिषद् में किया जाता है। वहां पर निर्णीत विषय पर मध्यम परिषद् पुन: विचार करती है और उसमें सर्वहित के अनुकूल संशोधन एवं परिवर्धन करती है। इसके अनन्तर वह विषय बाह्य परिषद् में उपस्थित कर जनता के सामान्य प्रतिनिधियों का समर्थन प्राप्त किया जाता

है और उसे क्रियान्वित करने के लिए अधिकारी वर्ग को दे दिया जाता है।

देवों में देवी (स्त्री) को भी विशेष महत्त्व दिया गया है, अग्रमहिषियों की स्वतन्त्र परिषदें इसी ओर संकेत करती हैं। स्त्रियों से सम्बद्ध प्रत्येक व्यवस्था पर अग्रमहिषियों की परिषदें स्वतन्त्र विचार करती हैं और अपनी विशेष व्यवस्था प्रदान करती हैं। **''न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति''** के सिद्धान्त को जैनागम मान्यता नहीं देते हैं, बल्कि स्त्री-पुरुष को समान जीवन-अधिकार प्रदान करते हैं।

धर्मलाभार्थ समय और अवस्था

मूल—तओ जामा पण्णत्ता, तं जहा—पढमे जामे, मज्झिमे जामे, पच्छिमे जामे। तिहिं जामेहिं आया केवलि-पण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए—पढमे जामे, मज्झिमे जामे, पच्छिमे जामे। एवं जाव केवलनाणं उप्पाडेज्जा—पढमे जामे, मज्झिमे जामे, पच्छिमे जामे।

तओ वया पण्णत्ता, तं जहा—पढमे वए, मज्झिमे वए, पच्छिमे वए। तिहिं वएहिं आया केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए तं जहा—पढमे वए, मज्झिमे वए, पच्छिमे वए। एसो चेव गमो णेयव्वो, जाव केवल-नाणंति ॥ ३७॥

छाया—त्रयो यामाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—प्रथमो यामः, मध्यमको यामः, पश्चिमो यामः। त्रिभिर्यामैरात्मा केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं लभेत् श्रवणतया—प्रथमे यामे, मध्यमे यामे, पश्चिमे यामे। एवं यावत् केवलज्ञानमुत्पादयेत्—प्रथमे यामे, मध्यमे यामे, पश्चिमे यामे।

त्रीणि वयांसि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—प्रथमं वयः, मध्यमं वयः, पश्चिमं वयः। त्रिभिर्वयोभिरात्मा केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं लभेत् श्रवणतया, तद्यथा—प्रथमे वयसि, मध्यमे वयसि, पश्चिमे वयसि। एष चैव गमो नेतव्यो यावत् केवलज्ञानमिति।

शब्दार्थ—तओ जामा पण्णत्ता, तं जहा—तीन याम प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—**पढमे जामे**—प्रथम याम, **मज्झिमे जामे**—मध्यम याम, **पच्छिमे जामे**—पश्चिम याम, **तिहिं जामेहिं**—तीन यामों में, **आया**—आत्मा, **केवलिपण्णत्तं धम्मं**—केवलिप्ररूपित धर्म को, **सवणयाए**—सुनकर, **लभेज्ज**—प्राप्त करे, **तं जहा**—जैसे कि, **पढमे जामे**—प्रथम प्रहर में, **मज्झिमे जामे**—मध्यम प्रहर में, **पच्छिमे जामे**—पश्चिम प्रहर में, **एवं जाव**—इसी प्रकार यावत्, **केवलनाणं**—केवल ज्ञान को, **उप्पाडेज्जा**—उत्पादन करे, **पढमे जामे**—प्रथम याम में, **मज्झिमे जामे**—मध्यम याम में, **पच्छिमे जामे**—पश्चिम याम में।

तओ वया पण्णत्ता, तं जहा—तीन वय प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—**पढमे वए, मज्झिमे वए, पच्छिमे वए**—प्रथमवय, मध्यमवय और पश्चिम वय, **तिहिं वएहिं आया**—तीनों में आत्मा, **केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए**—केवलिभाषित धर्म को सुनकर प्राप्त करे, **तं जहा**—जैसे, **पढमे वए, मज्झिमे वए, पच्छिमे वए**—प्रथम, मध्यम और पश्चिम वय में, **एसो चेव गमो णेयव्वो**—यही गम आगे तक जानना चाहिए, **जाव**—जब तक, **केवलनाणंति**—केवल ज्ञान की प्राप्ति करे।

मूलार्थ—तीन याम प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—प्रथम, मध्यम और पश्चिम। प्रथम, मध्यम और पश्चिम यामों में सुनकर ही केवलिभाषित धर्म की प्राप्ति हो सकती है। इसी प्रकार आत्मा प्रथम, मध्यम और पश्चिम याम में केवलज्ञान को उत्पादन करता है। तीन वय प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—प्रथम वय, मध्यम वय और पश्चिम वय। आत्मा तीन अवस्थाओं में ही केवलिभाषित धर्म को सुनकर प्राप्त करता है, जैसे—प्रथमवय, मध्यमवय, और पश्चिम वय में। इसी गम को आगे भी ले जाना चाहिए यावत् केवलज्ञान की प्राप्ति भी तीन वयों में ही होती है।

विवेचनिका—समुन्नत देवभव, अभ्युदय और आठ कर्मों से मुक्ति ये सब धर्म के ही सुपरिणाम हैं। धर्म किस समय प्राप्त हो सकता है और किस आयु में प्राप्त हो सकता है, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

यद्यपि याम शब्द प्रहर का पर्यायवाची है तदपि दिन या रात्रि के तीसरे भाग को भी याम कहा जाता है, जैसे कि पूर्वाह्न और अपराह्न। इसी प्रकार रात्रि को भी त्रियामा कहा गया है। त्रिस्थानक के अनुरोध से यहां चतुर्थ भाग की विवेचना नहीं की गई। तीन यामों में से किसी भी याम में केवलिभाषित धर्म श्रवण करने का आत्मा को लाभ मिल सकता है। इसी प्रकार आत्मा को सम्यग्दर्शन-लाभ, चारित्र-लाभ, मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान, अवधि-ज्ञान, मन:पर्यव-ज्ञान तथा केवलज्ञान किसी भी याम में प्राप्त हो सकता है।

वय का अर्थ है—अवस्था। जैसे कि बाल्यवय, यौवनवय और वार्द्धक्यवय। आत्मोन्नति के लिए तीनों वय स्वर्णिम हैं। सोलह वर्ष पर्यन्त बाल वय, सत्रह वर्ष से लेकर ७० वर्ष पर्यन्त मध्यम वय कहलाता है और शेष अवस्था वार्द्धक्य कहलाती है। तीनों वयों में आत्मा केवली-भाषित धर्म सुनने की, दीक्षा ग्रहण करने की, ब्रह्मचर्य एवं संयम पालन करने की क्षमता रखता है। इसी प्रकार मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान की उपलब्धि भी कर सकता है।

इस सूत्र से यह सिद्ध होता है कि जीव किसी भी समय और किसी भी अवस्था में कर्मों के क्षय, उपशम एवं क्षयोपशम के अनुसार केवली-भाषित धर्म की प्राप्ति, भागवती-दीक्षा और केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। मनुष्य-जीवन का सफल समय और सफल क्षण

वही है, जिसमें आत्मा अपना उद्धार कर सके। आत्मोद्धार का कोई निश्चित समय नहीं है। जिस समय और जिस आयु में आत्मोद्धार का अवसर मिले, उसी समय मनुष्य को इस सत्प्रयत्न में लग जाना चाहिए। **उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मनमवसादयेत्**—अपनी आत्मा से अपनी आत्मा का उद्धार करते चलो, आत्मा को किसी भी समय कुपथगामी मत बनने दो।

बोधि और बुद्ध

मूल—तिविहा बोही पण्णत्ता, तं जहा—णाणबोही, दंसणबोही, चरित्तबोही। तिविहा बुद्धा पण्णत्ता, तं जहा—णाणबुद्धा, दंसणबुद्धा, चरित्तबुद्धा। एवं मोहे, मूढा॥३८॥

छाया—त्रिविधा बोधिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—ज्ञानबोधिः, दर्शनबोधिः, चारित्रबोधिः।

त्रिविधाः बुद्धाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ज्ञानबुद्धाः, दर्शनबुद्धा, चारित्रबुद्धा। एवं मोहः, मूढाः।

शब्दार्थ—तिविहा बोही पण्णत्ता, तं जहा—तीन प्रकार की बोधि प्रतिपादन की गई है, जैसे—**णाणबोही**—ज्ञानबोधि, **दंसणबोही**—दर्शनबोधि और, **चरित्तबोही**—चारित्रबोधि, **तिविहा बुद्धा पण्णत्ता, तं जहा**—तीन प्रकार के बुद्ध प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—**णाणबुद्धा**—ज्ञानबुद्ध, **दंसणबुद्धा**—दर्शनबुद्ध, **चरित्तबुद्धा**—चारित्रबुद्ध, **एवं मोहे**—इसी प्रकार तीन प्रकार से मोह और, **मूढा**—मूढ़ हैं।

मूलार्थ—तीन प्रकार की बोधि प्रतिपादन की गई है, जैसे ज्ञानबोधि, दर्शनबोधि और चारित्र बोधि।

तीन प्रकार के बुद्ध कहे गए हैं, जैसे—ज्ञान-बुद्ध, दर्शन-बुद्ध और चारित्र-बुद्ध। इसी प्रकार तीन प्रकार के मोह और मूढ भी होते हैं।

विवेचनिका—विगत सूत्र में किसी भी समय और किसी भी आयु में ज्ञान प्राप्ति की बात कही गई है, उस ज्ञान अर्थात् बोधि के कितने रूप हैं और ज्ञान-प्राप्त बुद्ध के कितने रूप हैं? अब इस जिज्ञासा की पूर्ति करते हुए सूत्रकार कहते हैं:—

सम्यग् बोध को बोधि कहा जाता है। चारित्र का अच्छी प्रकार से आराधन करना ही बोधि का अन्तिम लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में रत्नत्रय की आराधना ही बोधि है। आत्मस्वरूप को पहचानने का यत्न ज्ञानबोधि है, आत्म-तत्त्व का पूर्ण निश्चय दर्शनबोधि है और आत्मस्वरूप में अवस्थित रहना चारित्र-बोधि कहलाता है।

रत्नत्रय के जो आराधक हैं उन्हे बुद्ध कहा जाता है। ज्ञान-बोधि प्राप्त साधक ज्ञानबुद्ध कहलाते हैं, दर्शनबोधि प्राप्त साधकों को दर्शन-बुद्ध और चारित्र-बोधि प्राप्त महोन्नत आत्मा को चारित्रबुद्ध कहा जाता है। जीव के भाव जब मोह से आच्छन्न हो जाते हैं तब

वे तीन भागों में विभक्त हो जाते हैं, जैसे कि—मिथ्या-ज्ञान, मिथ्या-दर्शन और मिथ्या-चारित्र। जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र बन्धन एवं सासारिक प्रवृत्ति के कारण बन जाएं उन्हें क्रमशः ज्ञान-मोह, दर्शन-मोह और चारित्र- मोह कहा जाता है। जो जीव मोह से युक्त हैं उन्हें ज्ञानमूढ़, दर्शनमूढ़ और चारित्रमूढ़ कहते हैं। यह मूढ़ता ही जीव को नाना योनियों में धकेलती और महान् कष्ट देती है।

प्रव्रज्या-विश्लेषण

मूल—तिविहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—इहलोगपडिबद्धा, परलोग-पडिबद्धा, दुहओ पडिबद्धा।

तिविहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—पुरओ पडिबद्धा, मग्गओ पडि-बद्धा, दुहओ पडिबद्धा।

तिविहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—तुयावइत्ता, पुयावइत्ता, बुआवइत्ता। तिविहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—उवायपव्वज्जा, अक्खायपव्वज्जा, संगारपव्वज्जा ॥ ३९ ॥

छाया—त्रिविधा प्रव्रज्या प्रज्ञप्ता, तद्यथा—इहलोकप्रतिबद्धा, परलोकप्रतिबद्धा, द्विधाप्रतिबद्धा।

त्रिविधा प्रव्रज्या प्रज्ञप्ता, तद्यथा—पुरतःप्रतिबद्धा, मार्गतःप्रतिबद्धा, द्विधा प्रतिबद्धा।

त्रिविधा प्रव्रज्या प्रज्ञप्ता, तद्यथा—तोदयित्वा, प्लावयित्वा, उक्त्वा।

त्रिविधा प्रव्रज्या प्रज्ञप्ता, तद्यथा—अवपातप्रव्रज्या, आख्यातप्रव्रज्या, सङ्गार-प्रव्रज्या।

शब्दार्थ—तिविहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—तीन प्रकार से प्रव्रज्या प्रतिपादन की गई है, जैसे—**इहलोगपडिबद्धा**—इस लोक की स्तुति आदि से प्रतिबद्ध, **परलोग-पडिबद्धा**—परलोक से प्रतिबद्ध, जैसे देवलोक के काम-भोगों से प्रतिबद्ध और, **दुहओपडिबद्धा**—उभयलोकों से प्रतिबद्ध।

तिविहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—तीन प्रकार की प्रव्रज्या प्रतिपादन की गई है, जैसे—**पुरओ पडिबद्धा**—आगे शिष्यादि की आशा से दीक्षा ग्रहण करना, **मग्गओ पडिबद्धा**—किसी के स्नेह से दीक्षा ग्रहण करना, **दुहओ पडिबद्धा**—दोनों से प्रतिबद्ध होकर दीक्षा ग्रहण करना।

तिविहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—तीन प्रकार की प्रव्रज्या कही गई है। जैसे—**तुयावइत्ता**—किसी को पीड़ित कर प्रव्रज्या देना, **पुयावइत्ता**—अन्यत्र ले जाकर दीक्षा

देना, **बुआवइत्ता**—वार्तालाप से समझा-बुझाकर दीक्षा देना।

तिविहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—तीन प्रकार की प्रव्रज्या कही गई है, जैसे—**उवायपव्वज्जा**—गुरु आदि की सेवा से दीक्षा ग्रहण करना, **अक्खायपव्वज्जा**—उपदेश सुनकर दीक्षा ग्रहण करना, **संगारपव्वज्जा**—संकेत से दीक्षा लेना अर्थात् यदि तू दीक्षा ग्रहण करेगा तो मैं भी ग्रहण करूंगा।

मूलार्थ—तीन प्रकार की प्रव्रज्या प्रतिपादन की गई है, जैसे-इस लोक से प्रतिबद्ध, परलोक से प्रतिबद्ध और उभयलोक-प्रतिबद्ध।

तीन प्रकार की प्रव्रज्या कथन की गई है, जैसे—भविष्य में शिष्य आदि की आशा से प्रव्रजित होना, स्वजन-स्नेह के वशीभूत होकर तथा उभय रूप से।

तीन प्रकार की प्रव्रज्या प्रतिपादन की गई है, जैसे किसी को पीड़ित करके दीक्षा देना, अन्यत्र ले जाकर दीक्षा देना और समझा-बुझाकर दीक्षा देना।

तीन प्रकार की प्रव्रज्या कही गई है, जैसे—गुरु की सेवा के कारण दीक्षा ग्रहण करना, उपदेश सुनकर दीक्षा ग्रहण करना और संकेत से दीक्षा ग्रहण करना अर्थात् यदि तू दीक्षा ग्रहण करेगा तो मैं भी दीक्षा ग्रहण करूंगा।

विवेचनिका—बोधि-लाभ होने पर ही दीक्षा ग्रहण की जाती है और दीक्षा को ही दूसरे शब्दों में प्रव्रज्या कहा जाता है। प्रव्रज्या का अर्थ है—गमन करना अर्थात् सांसारिक दुःखों एवं दुष्कर्मों को त्यागकर संन्यास-मार्ग एवं मोक्ष-साधना की ओर गमन करना। ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय की आराधना करते हुए प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले साधक निश्चय ही सांसारिक दुःखों से मुक्त हो जाते हैं। यदि यह कहा जाए कि प्रव्रज्या ही मोक्ष है तो कोई अत्युक्ति न होगी, क्योंकि कभी-कभी कारण को ही कार्य मान लिया जाता है। जैसे उचित समय पर बरसते हुए बादल को देखकर कृषकवर्ग कह उठता है—आज तो बादल से सोना ही सोना बरस रहा है, ये पानी की बूंदें नहीं बल्कि अन्न के दाने बरस रहे हैं। इसी प्रकार प्रव्रज्या ग्रहण करते हुए साधक को देखकर विचारशील गुणग्राही व्यक्ति कहने लगते हैं कि—यह साधक प्रव्रज्या के रूप में मोक्ष-ग्रहण कर रहा है, क्योंकि प्रव्रज्या मोक्ष का निश्चयात्मक कारण है। इसी आशय को वृत्तिकार इन शब्दों में कहते हैं—

केवलं प्रव्रजनं—गमनं पापाच्चरणव्यापारेष्विति प्रव्रज्या, एतच्च चरणयोगगमनं मोक्षगमनमेव कारणे कार्योपचारात्, तन्दुलान् वर्षति पर्जन्य इत्यादिवदिति। उक्तञ्च-

पव्वयणं पव्वज्जा, पावाओ सुद्धचरणजोगेसु।
इय मोक्खं पइ गमणं, कारणकज्जोवयाराओ॥

(क) कभी-कभी साधक भी भटक जाता है, क्योंकि भ्रमित हो जाना मानव का सामान्य स्वभाव है। ऐसी दशा में वह प्रव्रज्या के मुख्य लक्ष्य को भूलकर प्रव्रज्या के अन्य

लक्ष्य ही निर्धारित कर लेता है, ऐसे ही लक्ष्य वाले साधकों की प्रव्रज्या के तीन-तीन रूप उपस्थित करते हुए सूत्रकार कहते हैं—प्रव्रज्या के तीन रूप हैं—

१. **इहलोगपडिबद्धा पव्वज्जा**—कुछ ऐसे साधक होते हैं जो इसलिए प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं कि वे प्रव्रजित होकर ऐसा तप करेंगे जिससे उन्हें अतुल वैभव और सुन्दर कामोप-भोगादि प्राप्त हो सकेंगे। ऐसे लोगों की प्रव्रज्या को इहलोक-प्रतिबद्धा कहा जाता है।

२. **परलोगपडिबद्धा पव्वज्जा**—कुछ ऐसे भी साधक होते हैं जो यह ज्ञात होते ही कि देवलोकों में जीव असंख्यात वर्षों तक सुख ही सुख भोगता है और रोग-शोकादि से मुक्त रहता है तो वे उन स्वर्गीय भोगों की इच्छा के वशीभूत होकर प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं और अपनी समस्त साधना का लक्ष्य उन्हीं अलौकिक सुखों को मान लेते हैं, ऐसे साधकों की ही प्रव्रज्या परलोक-प्रतिबद्धा कहलाती है।

३. **दुहओपडिबद्धा पव्वज्जा**—कुछ ऐसे भी साधक हैं जो यह चाहते हैं कि हमें प्रव्रज्या धारण कर ऐसा तप करना है जिससे यह लोक भी हमारे लिए सुखकारी बन जाये, हमारी ख्याति हो, सामाजिक सम्मान हो और समाज पर हमारा प्रभुत्व हो तथा मृत्यु के अनन्तर हमें देवलोकों का अनन्त विलासितामय ऐश्वर्य भी प्राप्त हो। इस प्रकार के साधकों की प्रव्रज्या द्विधा-प्रतिबद्धा कहलाती है।

(ख) अपेक्षावादी विशेषज्ञ शास्त्रकार ने देखा कि कुछ लोग अन्य वैयक्तिक कारणों से भी प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं, अतः उन कारणों के आधार पर पुनः प्रव्रज्या के तीन रूप उपस्थित करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

१. **पुरओ पडिबद्धा पव्वज्जा**—कुछ साधक इसलिए भी प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं कि उनकी सेवा के लिए शिष्य आदि बन जायेंगे और वे वृद्धावस्था तक सेवा प्राप्त करते रहेंगे। इस प्रकार की सकाम प्रव्रज्या पुरतः-प्रतिबद्धा कहलाती है।

२. **मग्गओ पडिबद्धा पव्वज्जा**—मार्ग का अर्थ है—अनुगमन। कभी-कभी ऐसे साधक भी प्रव्रज्या ग्रहण करते देखे गए हैं जो अपने किसी ऐसे बन्धु-बान्धव एवं इष्टमित्र को प्रव्रज्या ग्रहण करते देखते हैं जिसके बिना वे एक क्षण भी रह नहीं सकते, तो वे भी उसका अनुगमन करते हुए प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं। ऐसे लोगों की प्रव्रज्या को मार्गतः-प्रतिबद्धा कहा जाता है।

३. **दुहओ पडिबद्धा पव्वज्जा**—यदि उपर्युक्त दोनों कारणों से प्रेरित होकर कोई साधक प्रव्रज्या ग्रहण करता है तो उसकी प्रव्रज्या को शास्त्रकार ने द्विधा-प्रतिबद्धा कहा है।

(ग) यदि प्रव्रज्या ग्रहण की जाती है तो प्रव्रज्या ग्रहण करवाई भी जाती है। शास्त्रकार प्रव्रज्या के समय प्रव्रज्या देने वाले की भावनाओं का भी विश्लेषण करते हुए उसके आधार पर प्रव्रज्या के पुनः तीन भेद उपस्थित करते हैं—

१. तुयावइत्ता पव्वज्जा—ऐसा भी देखा जाता है कि कभी-कभी परिव्रजित गुरु किसी व्यक्ति को प्रव्रज्या देना चाहते हैं, किन्तु उस व्यक्ति की प्रव्रज्या ग्रहण की इच्छा नहीं होती, ऐसी दशा में उसे डरा-धमकाकर एवं भयभीत करके उसे प्रव्रज्या के लिए विवश कर दिया जाता है। ऐसे साधक की प्रव्रज्या को तोदयित्वा देया प्रव्रज्या कहा जा सकता है।

२.पुयावइत्ता पव्वज्जा—कभी-कभी लोक में ऐसा भी देखा जाता है कि किसी साधक में प्रव्रज्या ग्रहण की कामना है, किन्तु उसकी पारिवारिक परिस्थितियां एवं पारिवारिक सदस्य प्रव्रज्या के अनुकूल नहीं हैं, या वह अनाथ है, या वह स्वतन्त्र है, ऐसी दशा में उसे अन्यत्र ले जाकर प्रव्रज्या दी जाती है, इस प्रकार की प्रव्रज्या को 'प्लावयित्वा देया प्रव्रज्या' कहा जायेगा।

३.बुआवइत्ता-पव्वज्जा—यदि किसी साधना-योग्य व्यक्ति को समझा-बुझाकर और उसकी वैराग्य-भावना को उद्‌बुद्ध कर उसे प्रव्रज्या दी जायेगी तो वह 'उक्त्वा देया प्रव्रज्या' कहलायेगी।

(घ) प्रव्रज्या के अन्य तीन रूप भी हैं—

१. उवाय-पव्वज्जा—यदि किसी श्रद्धेय परिव्रजित गुरु की सेवा करने के उद्देश्य से कोई प्रव्रज्या ग्रहण करता है तो उसकी प्रव्रज्या को 'अवपात-प्रव्रज्या' कहा जायेगा।

२. अक्खाय-पव्वज्जा—यदि किसी वैराग्यनिष्ठ आगम-निष्णात महात्मा के मुख से शास्त्रों का श्रवण करने पर उत्पन्न निर्वेद से प्रेरित होकर कोई दीक्षा ग्रहण करता है तो उसकी प्रव्रज्या को 'आख्यात-प्रव्रज्या' कहा जाता है।

३. संगार-पव्वज्जा—यदि कोई साधक इस शर्त पर प्रव्रज्या ग्रहण करता है कि यदि अमुक व्यक्ति पहले प्रव्रज्या ग्रहण करे, तब मैं भी प्रव्रज्या ग्रहण कर लूंगा तो उसकी प्रव्रज्या संगार प्रव्रज्या कहलाएगी।

सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में प्रव्रज्या का विश्लेषण किया है। जो प्रव्रज्या भाव-चारित्र का कारण या उद्दीपक है, ऐसी द्रव्य-प्रव्रज्या का शास्त्रकार भी कथंचित् आदर करते हैं, किन्तु केवल द्रव्यप्रव्रज्या को तो दुष्प्रव्रज्या ही कहा जा सकता है जो कि शास्त्रकार को अभीष्ट नहीं है, क्योंकि वह संवरपूर्वक निर्जरा का कारण नहीं है। सूत्रकार का आशय यह है कि भौतिक कामना लेकर प्रव्रज्या लेनी भी व्यर्थ है और देनी भी व्यर्थ है, क्योंकि इन सभी प्रव्रज्या-रूपों में साधक का लक्ष्य संसार से विरक्ति, कर्म-क्षय एवं मोक्ष का कारण नहीं होता, अतः प्रव्रज्या वही सफल होती है जो आत्म-प्रेरणा-से प्रेरित होकर ग्रहण की जाए और जो साधक को मोक्ष-मार्ग पर चलने के योग्य बना देने के लिए दी जाए। इस प्रकार सूत्रकार ने प्रव्रज्या के इच्छुक साधक और प्रव्रज्या देने वाले गुरु दोनों का मार्ग प्रशस्त किया है।

निर्ग्रन्थ-रूप

मूल—तओ णियंठा, णोसण्णोवउत्ता पण्णत्ता, तं जहा—पुलाए, णियंठे, सिणाए। तओ णियंठा, सन्नणोसण्णोवउत्ता पण्णत्ता, तं जहा—बउसे, पडिसेवणकुसीले, कसायकुसीले ॥४०॥

छाया—त्रयो निर्ग्रन्था नोसंज्ञोपयुक्ताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पुलाकः, निर्ग्रन्थः, स्नातकः। त्रयो निर्ग्रन्थाः संज्ञानोसंज्ञोपयुक्ताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—बकुशः, प्रतिषेवणकुशीलः कषायकुशीलः।

शब्दार्थ—तओ णियंठा—तीन निर्ग्रन्थ, **णोसण्णोवउत्ता पण्णत्ता, तं जहा**—आहार आदि संज्ञारहित प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे, **पुलाए**—पुलाक लब्धियुक्त साधुः, **णियंठे**—निर्ग्रन्थ साधु, **सिणाए**—स्नातक-केवलज्ञानी। **तओ णियंठा**—तीन निर्ग्रन्थ, **सन्नणोसण्णोवउत्ता पण्णत्ता, तं जहा**—संज्ञा और नोसंज्ञा उपयुक्त प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे, **बउसे**—बकुश, **पडिसेवणकुसीले**—प्रतिषेवणा-कुशील और **कसायकुसीले**—कषाय-कुशील।

मूलार्थ—तीन निर्ग्रन्थ नोसंज्ञोपयुक्त प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—पुलाक, निर्ग्रन्थ और स्नातक। तीन निर्ग्रन्थ संज्ञा और नोसंज्ञोपयुक्त कथन किए गए हैं, जैसे—बकुश, प्रतिषेवणाकुशील और कषायकुशील।

विवेचनिका—प्रव्रज्या ग्रहण करने के अनन्तर ही साधक निर्ग्रन्थ कहलाता है। निर्ग्रन्थ शब्द जैन मुनियों के लिए ही प्रयुक्त होता है। जो ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह से सर्वथा मुक्त हैं, उन्हीं को निर्ग्रन्थ कहा जाता है। जैनागमों में ग्रंथ शब्द परिग्रह के लिए रूढ़ है। ग्रंथ दो प्रकार का होता है—मिथ्यात्व आदि आभ्यन्तर ग्रन्थ और धन-धान्यादि बाह्य ग्रन्थ। इन दोनों प्रकार के ग्रन्थों से मुक्त हुए मुनि को ही निर्ग्रन्थ कहा जाता है। वे दो-दो प्रकार के होते हैं—नोसंज्ञा-उपयुक्त और संज्ञा-नोसंज्ञा-उपयुक्त।

मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले विकार को संज्ञा कहते हैं। सचित्त आधाकर्मी एवं सदोष आहार ग्रहण करने के संकल्प को आहार संज्ञा कहा जाता है। धर्म-पथ से भटकाने वाले भय को भयसंज्ञा कहते हैं। दुराचार की ओर प्रवृत्ति कराने वाले भावों को मैथुनसंज्ञा कहा जाता है। ममत्व एवं आसक्ति बढ़ाने वाले भाव को परिग्रहसंज्ञा कहते हैं। जो निर्ग्रन्थ सभी प्रकार की संज्ञाओं से अछूते हैं, वे निर्ग्रन्थ नोसंज्ञा-उपयुक्त कहलाते हैं अथवा मतिज्ञान के अतिरिक्त शेष चार ज्ञान में से किसी एक में जिनका उपयोग लगा हुआ है, उन्हें भी नोसंज्ञा-उपयुक्त ही कहा जाता है, क्योंकि पूर्वानुभूति की स्मृति और अनागत की चिन्ता ये दोनों मतिज्ञान के अवान्तर भेद हैं। अतः नोसंज्ञा-उपयुक्त निर्ग्रन्थ तीन प्रकार के होते हैं—पुलाक, निर्ग्रन्थ और स्नातक।

(क) पुलाक—कणरहित धान्य की भूसी को पुलाक कहते हैं, वह भूसी जैसे निःसार होती है, उसी प्रकार अतिचारों के द्वारा संयम एवं ज्ञानादि को पुलाक की तरह निःसार करने वाले मुनि भी पुलाक कहलाते हैं। अथवा चतुर्विध श्रीसंघ की रक्षा के निमित्त चतुरंगिणी सेना सहित आततायी राजा का मानमर्दन करने वाली पुलाक-लब्धि अर्थात् सिद्धि का प्रयोग करने वाले मुनि को पुलाक कहा जाता है।

(ख) निर्ग्रन्थ—उपशान्त एवं क्षीण-मोहनीय-गुणस्थानवर्ती साधक निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। उन गुणस्थानों का कालमान अंतर्मुहूर्त ही होता है। जिस साधक का मोहनीय कर्म सर्वथा उपशान्त हो गया हो, वह भी निर्ग्रन्थ है और जिसका मोहनीयकर्म सर्वथा क्षय हो गया है, केवल तीन घाती कर्म (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय) शेष रहते हैं, वह भी निर्ग्रन्थ कहलाता है।

(ग) स्नातक—जिसके घाति कर्मों की सत्ता भी नष्ट हो गई हो, वह निर्ग्रन्थ स्नातक कहलाता है। सयोगी केवली गुणस्थान और अयोगी-केवली-गुणस्थान वर्ती सभी जीव स्नातक माने जाते हैं।

प्रश्न होना संभव है कि "**पुलाकनियंठा**" तो मोहरहित नहीं होता, उसे नोसंज्ञा-उपयुक्त क्यों कहा गया है? उत्तर में कहा जा सकता है कि जिस समय वह पुलाक-लब्धि का प्रयोग करता है, उस समय में उसमें कोई भी संज्ञा उदीयमान नहीं होती, अतः उसी समय में उसे पुलाक-नियंठा कहा जाता है। प्रायश्चित्त करने के अनन्तर वह पुलाक-नियंठा नहीं कहलाता है।

दूसरे प्रकार के निर्ग्रन्थ संज्ञा-नोसंज्ञा-उपयुक्त कहलाते हैं। जब साधक में आहारसंज्ञा भयसज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा कुछ अंशों में ही उत्पन्न होती है और साधक का मन उन संज्ञाओं में से किसी एक संज्ञा से प्रभावित होने लग जाता है, तब वह संज्ञा-उपयुक्त कहलाता है और जब शुद्ध संयम में समस्त चित्तवृत्तियों को केन्द्रित कर लेता है, तब वह साधक नोसंज्ञा-उपयुक्त कहलाता है। इस प्रकार कभी संज्ञा में और कभी शुद्ध संयम में लीन रहने वाला साधक संज्ञा-नोसंज्ञा-उपयुक्त कहलाएगा। अथवा जब पूर्वानुभूत संज्ञा का स्मरण और अनागत संज्ञा की चिन्ता चल रही हो तब वे साधक संज्ञा वाले होते हैं और जब साधक की चित्तवृत्तियां श्रुतज्ञान में एवं आत्मध्यान में ही केन्द्रित हो जाती हैं, तब साधक नोसंज्ञा वाले होते हैं। इस रूप में भी वह संज्ञा-नोसंज्ञा-उपयुक्त ही कहलाता है। संज्ञा-नोसंज्ञा वाले निर्ग्रन्थ तीन प्रकार के होते हैं, जैसे कि—बकुश, प्रतिसेवनकुशील और कषाय-कुशील। इन निर्ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है—

बकुश—संयम और तप में समय का सदुपयोग न कर शरीर और उपकरण के विभूषा निमित्त तरह-तरह के दोषों का सेवन करने वाले मुनि बकुश माने जाते हैं। दोषों से दूषित

होने के कारण उनका चारित्र शुद्ध नहीं होता, वे उत्तरगुणों को दूषित करने वाले होते हैं, मूल गुणों को नहीं।

प्रतिसेवनकुशील—चारित्र के अभिमुख होते हुए भी अजितेन्द्रिय परिस्थितिवश मूलगुणों तथा उत्तरगुणों की विराधना करने वाले मुनि प्रतिसेवनकुशील माने जाते हैं।

कषायकुशील—जो मुनि मूलगुण एवं उत्तरगुणों की रक्षा करते हुए भी केवल कषाय-वश चारित्र की आराधना पूर्णतया नहीं करने पाते, वे कषायकुशील कहे जाते हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में निर्ग्रन्थ कहलाने वाले मुनियों को आत्म-निरीक्षण की प्रेरणा दी गई है और सांकेतिक भाषा में उन्हें नोसंज्ञा-उपयुक्त और सच्चे निर्ग्रन्थ बनने का आदेश दिया गया है।

शैक्ष भूमि और स्थविर-भूमि

मूल—तओ सेहभूमीओ पण्णत्ताओ तं जहा—उक्कोसा, मज्झिमा, जहन्ना। उक्कोसा छम्मासा, मज्झिमा चउमासा, जहन्ना सत्तराइंदिया।

तओ थेरभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—जाइथेरे, सुयथेरे, परियायथेरे। सट्ठिवासजाए समणे णिग्गंथे जाइथेरे, ठाणंगसमवायधरे णं समणे णिग्गंथे सुयथेरे, वीसवासपरियाए णं समणे णिग्गंथे परियायथेरे॥४१॥

छाया—तिस्रः शैक्षभूमयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—उत्कृष्टा, मध्यमा, जघन्या। उत्कृष्टा षण्मासा, मध्यमा चतुर्मासा, जघन्या सप्तरात्रिंदिवा।

तिस्रः स्थविरभूमयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जातिस्थविरः, श्रुतस्थविरः, पर्यायस्थविरः। षष्ठिवर्षजातः श्रमणो निर्ग्रन्थो जातिस्थविरः, स्थानांगसमवायांगधरः खलु श्रमणो निर्ग्रन्थः श्रुतस्थविरः, विंशतिवर्षपर्यायः खलु श्रमणो निर्ग्रन्थः पर्यायस्थविरः।

शब्दार्थ—तओ सेहभूमीओ पण्णत्ताओ तं जहा—तीन शैक्ष भूमियां प्रतिपादन की गई हैं, जैसे—**उक्कोसा**—उत्कृष्ट, **मज्झिमा**—मध्यमा और, **जहन्ना**—जघन्य। **उक्कोसा छम्मासा**—उत्कृष्ट छह मास के अनन्तर पांच महाव्रत आरोपण किए जाते हैं, **मज्झिमा चउमासा**—मध्यम चार मास के अनन्तर, **जहन्ना सत्तराइंदिया**—जघन्य सात रात्रि दिन के पश्चात् महाव्रत आरोपित किए जाते हैं।

तओ थेरभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—तीन स्थविर भूमियां प्रतिपादन की गई हैं, जैसे—**जाइथेरे**—जाति-स्थविर, **सुयथेरे**—श्रुत-स्थविर और, **परियायथेरे**—दीक्षा-स्थविर। **सट्ठिवासजाए**—साठ वर्ष की आयु वाला, **समणे णिग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रन्थः **जाइथेरे**—जाति-स्थविर होता है, **ठाणंगसमवायधरे**—स्थानांगसूत्र और समवायांगसूत्र का अध्ययन-अध्यापन करने-कराने वाला, **समणे णिग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रन्थ, **सुयथेरे**—श्रुत-

स्थविर और, **वीसवासपरियाए णं**—बीस वर्ष की संयम पर्याय को धरने वाला, **समणे णिग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रन्थ, **परियायथेरे**—पर्याय स्थविर कहलाता है।

मूलार्थ—नवदीक्षित शिष्य की तीन शैक्ष भूमियां कथन की गई हैं, जैसे—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। उत्कृष्ट छह मास की, मध्यम चार मास की और जघन्य सात रात्रि-दिवस की।

तीन स्थविर भूमियां कथन की गई हैं, जैसे—जाति-स्थविर, श्रुत-स्थविर और पर्याय-स्थविर। साठ वर्ष की आयु वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जाति-स्थविर, स्थानांग-समवायांग सूत्रों का अध्ययन और अध्यापन करने-कराने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ श्रुतस्थविर तथा बीस वर्ष की संयम-पर्याय-युक्त श्रमण निर्ग्रन्थ पर्याय-स्थविर कहलाता है।

विवेचनिका—निर्ग्रन्थों का वर्णन करने के अनन्तर सूत्रकार शैक्ष की तीन भूमियां प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—नवदीक्षित निर्ग्रन्थ को शैक्ष कहा जाता है। पहले शैक्ष सामायिक चारित्र ग्रहण करता है। कुछ दिन के अनन्तर उस मुनि की दीक्षा-पर्याय परिपक्व हो जाने पर उस नवदीक्षित को छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण करवाया जाता है। छेदोपस्थापनीय चारित्र के ग्रहण करने योग्य वही हो सकता है जिसने पहले सामायिक चारित्र ग्रहण कर लिया हो।

सामायिक चारित्र के दो रूप हैं—एक यावत्कथिक जो जीवनभर के लिए ग्रहण किया जाता है और दूसरा इत्वरिक—जिसे कुछ काल के लिए ग्रहण किया जाता है।

मध्यवर्ती २२ तीर्थंकरों के शासन-काल में सामायिक चारित्र यावत्कथिक ही होता था। उनके युग में छेदोपस्थापनीय और परिहार-विशुद्धि चारित्र नहीं होता था, क्योंकि इनकी आवश्यकता ही नहीं थी। इसी प्रकार पांच महाविदेह क्षेत्रों में भी उक्त दो चारित्र नहीं पाए जाते। केवल पांच भरत और पांच ऐरवत क्षेत्रों के अन्तर्गत आदि और अन्तिम तीर्थंकर के शासनकाल में ही उपर्युक्त दो चारित्र हुआ करते हैं।

इत्वरिक सामायिक चारित्र श्री ऋषभ देव जी तथा श्री महावीर जी के शासनकाल में पाया जाता है। इत्वरिक सामायिक छेदोपस्थापनीय चारित्र की भूमिका है। छेदोपस्थापनीय चारित्र में प्रतिक्रमण करना अनिवार्य होता है, ज्येष्ठ कनिष्ठ का व्यवहार भी वस्तुतः इसी चारित्र में होता है। सामायिक की अपेक्षा छेदोपस्थापनीय चारित्र का विधि-विधान विलक्षण ही है। जो छूटें सामायिक चारित्र में हो सकती हैं, वे छेदोपस्थापनीय में सर्वथा निषिद्ध हैं। यदि प्रतिक्रमण कण्ठस्थ हो तो आठवें दिन, यदि कण्ठस्थ न हो तो चार महीने के अनन्तर और फिर भी कण्ठस्थ नहीं हुआ तो अधिक से अधिक छः महीने के बाद छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण करवाया जा सकता है। सामायिक चारित्र छेदोपस्थापनीय का पूर्वाभ्यास है,

अतः पूर्वाभ्यास के सफल होने पर ही छेदोपस्थापनीय चारित्र का ग्रहण कराना उपयुक्त माना गया है।

सामायिक चारित्र के सात दिन बाद यदि छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण कराया जाए तो उसे आगम उत्तम मानते हैं, यदि चार मास बाद ग्रहण कराया जाए तो उसे मध्यम कहा गया है और छः मास बीतते ही यदि छेदोपस्थापनीय चारित्र का ग्रहण कराया जाए तो उसे निकृष्ट कहा गया है।

शास्त्रकार का इस व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण रहस्य है। जैसे कि यदि कभी पिता पुत्र ने एक साथ दीक्षा ली। पुत्र ने प्रतिक्रमण सूत्र कण्ठस्थ कर लिया और पिता बुद्धि की मन्दता से कण्ठस्थ न कर सका तो लोक-व्यवहार को लक्ष्य में रखकर पुत्र को पहले छेदोपस्थापनीय न दे, जब तक कि पिता को आवश्यक सूत्र कण्ठस्थ न हो जाए। इसी प्रकार छोटे भाई और बड़े भाई, सेवक और सेठ, मन्त्री और राजा के विषय में भी जानना चाहिए, अथवा जिसकी चित्तवृत्ति डावांडोल है, संयम-निष्ठ नहीं हुई है अथवा विशेष रोगादि के कारण जो शैक्ष अभी छेदोपस्थापनीय चारित्र के लिए उपयोगी न हो पाया है, उसे भी इसी व्यवस्था के अनुसार छेदोपस्थापनीय चारित्र का ग्रहण कराना चाहिए। यदि बिना ही कारण के या नियत समय की विस्मृति होने पर छेदोपस्थापनीय चारित्र न दे, तो आचार्य एवं उपाध्याय को प्रायश्चित्त करना पडता है।[१]

इस प्रकार की समय व्यवस्था से शैक्ष की परीक्षा भी हो जाती है कि वह महाव्रतों के पालन करने योग्य भी है या नहीं, उसकी प्रकृति, अभिरुचि एवं निष्ठा आदि छेदोपस्थापनीय चारित्र के अनुरूप है या नहीं, इन सब बातों को देखने के अनन्तर ही उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण कराना चाहिए।

छेदोपस्थापनीय चारित्र का ग्रहण स्थविर ही करा सकते हैं। अतः सूत्रकार ने तीन प्रकार के स्थविर कथन किए हैं—वयःस्थविर, श्रुत-स्थविर और पर्याय-स्थविर। जो धर्म में स्वयं स्थिर हैं और दूसरों को भी स्थिर करते हैं, वे स्थविर कहलाते हैं। जो गुणों से वृद्ध हैं, उन्हीं को स्थविर की कोटि में समाविष्ट किया जाता है। गुणरहित को स्थविर नहीं कहा जाता, फिर भले ही वह आयु से कितना ही वृद्ध क्यों न हो जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और तप हैं, वही स्थविर है।[२] अतः गुणसहित स्थविरों की सेवा, भक्ति एवं उपासना करनी सबके लिए योग्य है। वय-स्थविर, श्रुत-स्थविर और पर्याय स्थविरों की सेवा कैसे करनी चाहिए, इसके विषय में वृत्तिकार ने व्यवहार भाष्य की तीन गाथाएं दी हैं जो कि विशेष मननीय हैं, जैसे कि—

---

१. देखो व्यवहार सूत्र उ० ४, सू. १५-१६-१७-१८।

२. देखो धम्मपद ग्रन्थ का धम्मट्ठवग्ग।

वय-स्थविरों की सेवा—

आहारे उवही सेज्जा, संथारे खेत्त संकमे।
किइच्छंदाणुवत्तीहिं, अणुकंपइ थेरगं ॥

वय-स्थविर की सेवा आहार लाकर देना, ज्ञान और संयम के उपयोगी उपकरण देना, मकान की व्यवस्था करना, शय्या के लिए निर्दोष फूस आदि लाकर देना, क्षेत्र संक्रमण करना, वन्दन करना और उनकी इच्छा अनुसार आचरण करना आदि विधियों से वय-स्थविरों की सेवा तथा अनुकम्पा करनी चाहिए।

श्रुत-स्थविरों की सेवा—

उट्ठाणासण दाणाइं, जोगाहारप्पसंसणा।
नीय सेज्जाइ निद्देसवत्तिए पूयए सुयं॥

श्रुतस्थविरों की उपासना कैसे करनी चाहिए इसके विषय में उक्त गाथा में निर्देश किया गया है कि—स्वागतार्थ खड़े होना, आसन प्रदान करना, उनके योग्य आहार देना, उनके गुणों की प्रशंसा करना, उनकी अपेक्षा से अपना आसन और शयन नीचा रखना, उनकी आज्ञा शिरोधार्य करना, उनकी पूजा करना, ये सब विधियां श्रुत-स्थविरों की भक्ति एवं सेवा करने की हैं।

पर्याय-स्थविरों की सेवा—

उट्ठाणं वंदणं चेव, गहणं दंडगस्स य।
अगुरुणोऽविय णिद्देसे, तईयाए पवत्तए॥

पर्याय-स्थविरो की सेवा-भक्ति किस प्रकार होनी चाहिए उसका विधि-विधान इस गाथा में विहित है, जैसे—गुरु न होने पर भी जो दीक्षा में अपने से वृद्ध हैं, उनका खड़े होकर सम्मान, अभ्युत्थान वन्दन आदि से विनय करना, विधिरूप आज्ञा पालन और निषेधरूप निर्देश का पालन करना इत्यादि दीक्षास्थविरों की सेवा और पूजा है।

जैन-दर्शन गुणो का पुजारी है, व्यक्ति का नहीं। जिनकी सेवा, भक्ति और सम्मान करने से पूज्य और पूजक दोनों की गुणवृद्धि हो, उत्थान एव समुन्नति हो, वैसी प्रवृत्ति करने के लिए जैन-दर्शन सदाकाल से आज्ञा दे रहे है।

प्रस्तुत सूत्र में वर्णित शैक्ष-भूमियों और तीन प्रकार के स्थविरों के विषयों का अनुभव करने से ध्वनित होता है कि श्रुत-स्थविर किस प्रकार अध्ययन करने से होता है। सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से कहा है—**ठाणंगसमवायधरे णं समणे णिग्गंथे सुयथेरे**—इससे सिद्ध होता है कि स्थानांग और समवायांग सूत्र विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, गम्भीर अर्थ से युक्त हैं तथा देवाधिष्ठित हैं, इनका स्वाध्याय करने से ही इनकी महत्ता का ज्ञान हो सकता है।

मनोवृत्ति के अनुरूप मानव

मूल—तओ पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—सुमणे, दुम्मणे, णोसुमणे-णोदुम्मणे। तओ पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—गंता णामेगे सुमणे भवइ, गंताणामेगे दुम्मणे भवइ, गंता णामेगे णोसुमणे-णोदुम्मणे भवइ।

तओ पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जामीतेगे सुमणे भवइ, जामीतेगे दुम्मणे भवइ, जामीतेगे णोसुमणे-णोदुम्मणे भवइ। एवं जाइस्सामीतेगे सुमणे भवइ०।

तओ पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—अगंता णामेगे सुमणे भवइ।

तओ पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—ण जामि एगे सुमणे भवइ।

तओ पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—ण जाइस्सामि एगे सुमणे भवइ।

एवं आगंता णामेगे सुमणे भवइ। एमीतेगे सुमणे भवइ। एस्सामीति एगे सुमणे भवइ। एवं एएणं अभिलाभेणं—

गंता य अगंता (य) (१), आगंता खलु तहा अणागंता (२)।
चिट्ठित्तमचिट्ठित्ता (३), णिसिइत्ता चेव नो चेव (४)॥
हंता य अहंता य (५), छिंदित्ता खलु तहा अच्छिंदित्ता (६)।
बूइत्ता अबूइत्ता (७), भासित्ता चेव णो चेव (८)॥
दच्चा य अदच्चा य (९), भुंजित्ता खलु तहा अभुंजित्ता (१०)।
लंभित्ता अलंभित्ता (११), पिइत्ता चेव णो चेव (१२)॥
सुइत्ता असुइत्ता (१३), जुज्झित्ता खलु तहा अजुज्झित्ता (१४)।
जइत्ता अजयित्ता य (१५), पराजिणित्ता य (चेव) नो चेव (१६)॥
सद्दा (१७), रूवा (१८), गंधा (१९), रसा य (२०),
फासा २१ (२१ × ६ = १२६ + १ = १२७) तहेव ठाणा य।
निस्सीलस्स गरहिता, पसत्था पुण सीलवंतस्स॥

एवमिक्केक्के तिन्नि उ तिन्नि उ आलावगा भाणियव्वा।

सद्दं सुणेत्ता णामेगे सुमणे भवइ। एवं सुणेमीति, सुणिस्सामीति।

एवं असुणेत्ता णामेगे सुमणे भवइ। न सुणेमीति। न सुणिस्सामीति।

एवं रूवाइं, गंधाइं, रसाइं, फासाइं, एक्केक्के छ-छ आलावगा भाणियव्वा। १२७ आलावगा भवंति ॥४२॥

छाया—त्रीणि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—सुमनाः, दुर्म्मनाः, नोसुमना-नोदुर्मनाः। त्रीणि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—गत्वा नामैकः सुमना भवति, गत्वा नामैको दुर्मना भवति। गत्वा नामैको नोसुमना-नोदुर्मना भवति।

त्रीणि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—यामीत्येकः सुमना भवति, यामीत्येको दुर्मना भवति, यामीत्येको नोसुमना-नोदुर्मना भवति। एवं यास्यामीत्येकः सुमना भवति।

त्रीणि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आगत्य नामैकः सुमना भवति।

त्रीणि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—न यामीत्येकः सुमना भवति।

त्रीणि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—न यास्यामीत्येकः सुमना भवति। एवमागत्य नामैकः सुमना भवति। एमीत्येकः सुमना भवति। एष्यामीत्येकः सुमना भवति।

एवमेतेनाभिलापेन—

गत्वा च अगत्वा (च) (१), आगत्य खलु तथा अनागत्य (२)।

स्थित्वा अस्थित्वा (३), निषद्य चैव नो चैव (४)॥

हत्वा च अहत्वा च (५), छित्वा खलु तथा अच्छित्वा (६)।

उक्त्वा अनुक्त्वा (७), भाषित्वा चैव नो चैव (८)॥

दत्वा च अदत्वा च (९), भुक्त्वा खलु तथा अभुक्त्वा (१०)।

लब्ध्वा अलब्ध्वा (११), पीत्वा चैव नो चैव (१२)॥

सुप्त्वा असुप्त्वा (१३), युद्ध्वा खलु तथा अयुद्ध्वा (१४)।

जित्वा अजित्वा च (१५), पराजित्य च (चैव) नो चैव (१६)॥

शब्दाः (१७), रूपाणि (१८), गन्धाः (१९), रसाश्च (२०), स्पर्शाः २१ (२१ × ६ = १२६ + १ = १२७) तथैव स्थानानि चैव। निश्शीलस्य गर्हिताः, प्रशस्ताः पुनः शीलवतः॥

एवमेकैकस्मिन् त्रयस्तु त्रयस्तु आलापका भणितव्याः। शब्दं श्रुत्वा नामैकः सुमना भवति। एवं शृणोमीति, श्रोष्यामीति। एवमश्रुत्वा नामैकः सुमना भवति। न शृणोमीति, न श्रोष्यामीति। एवं रूपाणि, गन्धाः, रसाः, स्पर्शाः, एकैकस्मिन् षड्-षड् आलापकाः भणितव्याः। सप्तविंशत्युत्तरशतानि आलापकाः भवन्ति।

शब्दार्थ—तओ पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—तीन प्रकार के पुरुष प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—**सुमणे**—श्रेष्ठ मन वाले, **दुम्मणे**—दुष्ट मन वाले और, **णो सुमणे णो दुम्मणे**—न श्रेष्ठ न दुष्ट अपितु मध्यस्थ वृत्ति वाले। **तओ पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—

तीन तरह के पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे—**गंता णामेगे सुमणे भवइ**—कोई व्यक्ति अन्य स्थान पर जाने से प्रसन्न होता है, **गंता णामेगे दुम्मणे भवइ**—कोई अन्य स्थान पर जाने से दुर्मना होता है, **गंता णामेगे णोसुमणे णोदुम्मणे भवइ**—कोई अन्य स्थान पर जाने से न प्रसन्न और न ही अप्रसन्न होता है।

तओ पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—तीन पुरुष और कथन किए गए हैं, जैसे—**जामीतेगे सुमणे भवइ**—एक किसी स्थान पर जाता हूं कहकर सुमन होता है, **जामीतेगे दुम्मणे भवइ**—कोई अमुक स्थान पर जाता हूं यह कहकर दुर्मना होता है, **जामीतेगे णोसुमणे णोदुम्मणे भवइ**—कोई जाता हूं, ऐसा भाव होने पर न प्रसन्न होता है और न अप्रसन्न, ऐसे ही, **जाइस्सामीतेगे सुमणे भवइ**—कोई व्यक्ति अमुक स्थान पर जाऊंगा ऐसा विचारकर सुमन होता है, एक दुर्मन वाला और एक मध्यस्थ भाव वाला होता है।

तओ पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—तीन पुरुष और हैं, जैसे—**ण जामि एगे सुमणे भवइ**—कोई अमुक स्थान पर नहीं जाता हूं, ऐसा विचारने पर सुमन होता है, कोई दुर्मना और कोई मध्यस्थ वृत्ति वाला हो जाता है।

तओ पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—तीन पुरुष और कथन किए गए हैं, जैसे—**ण जाइस्सामि एगे सुमणे भवइ**—कोई मैं अमुक स्थान पर न जाऊंगा ऐसा विचारकर सुमना होता है, एक दुर्मना और एक मध्यस्थ भाव का हो जाता है, **एवं**—इसी प्रकार, **आगंता णामेगे सुमणे भवइ**—कोई व्यक्ति अमुक स्थान पर आया था, ऐसा विचार कर सुमना, एक दुर्मना और एक मध्यस्थ भाव वाला होता है, **एमीतेगे सुमणे भवइ**—इसी तरह अमुक स्थान पर आया हूं ऐसा विचार कर सुमन, एक दुर्मन और एक मध्यस्थ होता है, **एसामीति एगे सुमणे भवइ**—ऐसे ही अमुक स्थान पर आऊंगा यह विचार कर कोई सुमन, कोई दुर्मन और कोई मध्यस्थ होता है, **एवं एएणं अभिलावेणं**—ऐसे ही इस अभिलाप से जैसे कि—

गंता य—गया, **अगंता य**—नहीं गया, **आगंता खलु तहा**—तथा निश्चय ही आया, **अणागंता**—नहीं आया, **चिट्ठित्तमचिट्ठित्ता**—खड़ा हुआ, न खड़ा हुआ, **णिसिइत्ता चेव**—बैठा, **च**—और, एव अवधारणार्थ में, **नो चेव**—नहीं बैठा, **हंता य**—मारकर और, **अहंता य**—न मारकर, **छिंदित्ता**—छेदनकर, **खलु**—निश्चयार्थ में, **तहा**—तथा, **अच्छिंदित्ता**—न छेदनकर, **बूइत्ता**—बोलकर, **अबूइत्ता**—न बोलकर, **भासित्ता चेव**—भाषण करके, **णो चेव**—और भाषण न करके, **दच्चा य**—देकर और, **अदच्चा य**—न देकर, **भुंजित्ता खलु**—खाकर, **तहा**—तथा, **अभुंजित्ता**—न खाकर, **लंभित्ता**—प्राप्त कर, **अलंभित्ता**—अप्राप्त कर, **पिइत्ता चेव**—पीकर और, **नो चेव**—न पीकर, **सुइत्ता**—सोकर, **असुइत्ता**—न सोकर, **जुज्झित्ता खलु**—युद्ध कर, **तहा**—तथा, **अजुज्झित्ता**—न युद्ध कर, **जइत्ता**—जीतकर, **अजयित्ता य**—और न जीतकर, **पराजिणित्ता य चेव**—पराजित कर और, **णो चेव**—और

न पराजित कर, **सद्दा**—शब्द, **रूवा**—रूप, **गंधा**—गन्ध, **रसा**—रस, **य**—और, **फासा**—स्पर्शः, **तहेव**—उसी प्रकार, **ठाणा य**—ये स्थानक, **निस्सीलस्स**—शील रहित व्यक्ति के, **गरहिता**—निन्दा के कारण बनते हैं, **पुण य**—परन्तु, **सीलवंतस्स**—शीलवान व्यक्ति के लिए, **पसत्था**—प्रशस्त होते हैं।

एवमिक्केक्के—इसी प्रकार एक एक अंक के, **तिन्नि उ तिन्नि उ**—तीन-तीन, **आलावगा**—आलापक, **भाणियव्वा**—कहने चाहिएं, अर्थात् तीन काल की अपेक्षा से सुमन और दुर्मना आदि के तीन-तीन भंग जानने चाहिएं, जैसे—**सद्दं सुणेत्ता णामेगे सुमणे भवइ**—कोई व्यक्ति शब्द सुनकर प्रसन्न होता है, एक दुर्मना और एक मध्यस्थ होता है। **सुणेमीति**—एक व्यक्ति शब्द सुनता हूं यह कहकर सुमन, नहीं सुनता हूं कहकर दुर्मन और मध्यस्थ भाव वाला होता है। **एवं**—इसी प्रकार, **सुणिस्सामीति**—एक व्यक्ति शब्द सुनूंगा, ऐसा विचारकर सुमन, न सुनूंगा यह विचार कर दुर्मन और सुना-अनसुना करके मध्यस्थ होता है। **असुणेत्ता णामेगे सुमणे भवइ**—न सुनकर एक व्यक्ति प्रसन्न होता है, एक न सुनकर दुर्मन और एक मध्यस्थ होता है, **न सुणेमीति**—नहीं सुनता हूं, ऐसा विचारकर सुमन, एक दुर्मना और एक मध्यस्थ रहता है, **ण सुणिस्सामीति**—नहीं सुनूंगा ऐसा विचार कर सुमन और एक दुर्मन तथा एक मध्यस्थ होता है। **एवं रूवाइं, गंधाइं, रसाइं, फासाइं**—इसी प्रकार रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इनके, **एक्केक्के-छ-छ**—एक-एक के छ-छ, **आलावगा**—आलापक, **भाणियव्वा**—कहने चाहिएं, अर्थात् तीन काल की अपेक्षा से सुमना और दुर्मना आदि के तीन-तीन रूप जानने चाहिएं।

मूलार्थ—तीन तरह के पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे—सुन्दर मन वाले, असुन्दर मन वाले और न सुन्दर न असुन्दर मन वाले।

तीन पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे—कोई पुरुष कहीं विहार आदि क्षेत्र में जाकर हर्षित होता है, कोई जाकर दुःखित होता है और कोई न हर्षित होता है न दुःखित ।

तीन पुरुष प्रतिपादन किए गए हैं जैसे—कोई व्यक्ति जाता हूं, इससे प्रसन्न होता है, कोई जाता हूं, इस विचार से दुःखित होता है, कोई व्यक्ति जाता हूं, इससे न सुमन और न दुर्मन होता है। इसी प्रकार कोई पुरुष भविष्यत् काल में किसी स्थान पर जाऊंगा ऐसा विचार करने पर सुमन, दुर्मन और समभाव युक्त होता है।

तीन पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे—कोई व्यक्ति अमुक स्थान पर नहीं गया ऐसा विचार कर सुमन, एक दुर्मन और दूसरा समभाव वाला होता है।

तीन पुरुष प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—कोई पुरुष नहीं जाता हूं, ऐसा विचारने से सुमन और कोई दुर्मन तथा कोई सुमना-दुर्मना होता है।

तीन पुरुष प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—एक व्यक्ति नहीं जाऊंगा ऐसा विचारने से सुमन, कोई दुर्मन और कोई न सुमन और न दुर्मना होता है। इसी प्रकार कोई पुरुष भूतकाल में अमुक स्थान पर आया था, यह विचार कर सुमन, कोई दुर्मन और कोई समभाव वाला होता है। कोई व्यक्ति अमुक स्थान पर आया हूं, यह विचार कर सुमन, कोई दुर्मन और कोई मध्यस्थ भाव युक्त होता है। इसी तरह कोई व्यक्ति अमुक स्थान पर आऊंगा ऐसा विचारने से सुमन होता है, कोई दुःखित और कोई हर्षवान् होता है। इसी अभिलाप से निम्नलिखित गाथाओं को जानना चाहिए, जैसे—

अमुक स्थान पर जाकर और न जाकर।
अमुक स्थान पर आकर और न आकर।
अमुक स्थान पर ठहर कर और न ठहर कर।
अमुक स्थान में बैठकर और न बैठकर।
अमुक व्यक्ति को मार कर और न मार कर।
अमुक को छेदन कर और न छेदन कर।
अमुक पद-वाक्यादि कहकर और न कहकर।
अमुक से संभाषण कर और न भाषण कर।
अमुक वस्तु देकर और न देकर।
अमुक वस्तु प्राप्त कर और न प्राप्त कर।
अमुक पदार्थ पीकर और न पीकर।
सोकर और न सोकर।
अमुक से युद्ध करके और न करके।
अमुक से जीत कर और न जीत कर।
पराजय प्राप्त कर और न पराजय प्राप्त कर।

शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इनके भी उक्त प्रकार से तीन-तीन रूप जान लेने चाहिएं। ऊपर कथन किए गए स्थान शील-व्रत-विहीन के लिए गर्हित होते हैं और शीलवान व्यक्ति के लिए प्रशस्त होते हैं, इसी प्रकार एक-एक पद के तीन-तीन आलापक जानने चाहिएं। जैसे कि—

एक पुरुष शब्द को सुनकर सुमना, एक दुर्मना और एक मध्यस्थ वृत्ति होता है।

एक शब्द को सुनता हूं, इस पर हर्षित, एक अप्रसन्न और एक मध्यस्थ भाव

वाला होता है।

एक शब्द को सुनूंगा, ऐसा विचारने पर सुमन, एक दुर्मन और एक मध्यस्थ होता है।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति शब्द न सुनकर सुमन, कोई दुर्मन और कोई समभाव हुआ करता है।

कोई व्यक्ति शब्द नहीं सुनता हूं इस पर सुमन, एक दुर्मन और एक समभाव होता है।

एक शब्द सुनूंगा ऐसा विचारने पर सुमन, एक दुर्मन और एक मध्यस्थ होता है।

इसी प्रकार रूप, गन्ध, रस और स्पर्श के भी एक-एक के छ-छ आलापक कथन करने चाहिएं। इसी तरह कुल १२७ आलापक हो जाते हैं।

विवेचनिका—श्रुतज्ञान और चारित्र-सम्पन्न व्यक्ति ही स्थविर कहलाते हैं, उनके अन्तर हृदय में सदैव विवेक की अखंड ज्योति जगमगाती है। उनकी सभी क्रियाएं प्रशस्त एवं अनुकरणीय होती हैं, किन्तु अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और असंयमियों की प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप, विषादरूप, एवं सुमना-दुर्मना रूप सभी क्रियाएं अप्रशस्त ही हुआ करती हैं। इतना ही नहीं नोसुमना-नोदुर्मना रूप आन्तरिक भाव भी उनके अप्रशस्त ही होते हैं। इसी अभिप्राय का प्रारूप प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है और पुरुषों के शुभ, अशुभ एवं अनुभव परिणामो का तथा सुखान्त, दुःखान्त एवं तटस्थता रूप भावों का उल्लेख हुआ है। शील-रहित व्यक्ति के प्रत्येक भाव निन्दनीय, गर्हित तथा कर्म-बन्ध के कारण होने से अप्रशस्त होते हैं, किन्तु शीलवान एवं चारित्रवान के सभी भाव आदर्श और प्रशंसनीय होते हैं। सूत्रकर्त्ता ने काल और क्षेत्र को लक्ष्य में रखकर तीन-तीन भेद बताए हैं जैसे कि—एक व्यक्ति प्रसन्न मन वाला होता है तो दूसरा विकृत एवं दुःखी मन वाला और तीसरा मध्यस्थ वृत्ति वाला हो जाया करता है। ये तीन प्रकार के आन्तरिक भाव प्रत्येक क्रिया करते समय हुआ करते हैं। सूत्रकार इन्हीं आन्तरिक भावों का विश्लेषण करते हैं :—

पुरिसजाया—अर्थात् पुरुषजात। यह शब्द जातिवाचक है, अतः यह मनुष्यमात्र का बोधक है, चाहे वह स्त्री हो और चाहे पुरुष।

सुमनाः—सुमना का अर्थ है प्रसन्न, प्रमुदित एवं हर्षोल्लास युक्त व्यक्ति। यह मानव-मात्र का सामान्य स्वभाव है कि वह मनोनुकूल वातावरण, स्थान, पदार्थ एवं व्यक्तियों को पाकर, उनसे मिलकर और उनके पास जाकर प्रसन्न होता है। मनुष्य की प्रत्येक क्रिया-प्रवृत्ति का मूल कारण उसकी मानसिक प्रसन्नता ही मानी गई है, मानव की इसी प्रवृत्ति को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने सुमना व्यक्तियों का विश्लेषण किया है।

परन्तु इस विश्व में अनुकूल एवं प्रतिकूल अर्थात् सुखकारी एवं दुखकारी पदार्थ का निर्णय नहीं किया जा सकता, क्योंकि "**भिन्नरुचिर्हि लोकः**" प्रत्येक व्यक्ति की रुचि भिन्न-भिन्न हुआ करती है, अतः एक व्यक्ति के लिए जो स्थान सुखकारी प्रतीत होता है वही स्थान रुचि-भिन्नता के कारण दूसरे के लिए दुखकारी हुआ करता है। यही कारण है कि त्यागी मुनीश्वर प्रत्येक सांसारिक पदार्थ को दुखकारी समझकर उसे त्याज्य ही मानते हैं।

दुर्मनाः—दुर्मना का अर्थ है प्रमोद-रहित एवं दुःख के आवेश से दुःखित मन वाला व्यक्ति। यह भी मनुष्य स्वभाव है कि मन के लिए प्रतिकूल एवं अनिष्टकारी पदार्थों, व्यक्तियों एवं स्थान आदि को प्राप्त करते ही उसका मन विक्षुब्ध एवं विकृत हो उठता है। ऐसे विक्षुब्ध एवं विकृत मन वाले व्यक्ति को ही दुर्मना कहा जाता है। ऐसे व्यक्तियों को वेदना, असूया, द्वेष, निन्दा आदि दुर्गुण घेर लेते हैं और उसे अशान्त कर देते हैं। अपने में कमी या दोष देखकर आत्मग्लानि का होना भी दुर्मना कहा जाता है। सूत्रकार साधक को दुर्मनस्कता की ओर से भी जागरूक कर देना चाहते हैं।

नोसुमना-नोदुर्मनाः—इस संसार में ऐसे भी व्यक्ति हैं जो उदासीन प्रकृति के हुआ करते हैं। जो काम के लिए काम करते हैं फल के लिए नहीं। वीतराग समदर्शी मुनि इसी प्रकृति के हुआ करते हैं। ऐसी प्रवृत्ति का उदय ज्ञानचेतना की निरन्तर जागृति के कारण हुआ करता है।

कुछ ऐसे अबोध व्यक्ति भी हुआ करते हैं जिनके मन सुखकारिता एवं दुःखकारिता के निर्णय में असमर्थ हुआ करते हैं, अत्यन्त मूढ़ व्यक्ति एवं बालक इसी श्रेणी के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

इस प्रकार वीतराग, एषणा-मुक्त, उदासीन एवं संबुद्ध समदर्शी मुनियों को एवं बालक आदि को 'नोसुमना-नोदुर्मना' कहा गया है।

मानव का जीवन-चक्र निरन्तर चल रहा है भावना की सुदृढ़ धुरी पर। धुरी पर घूमते हुए चक्र के अरों के समान विभिन्न प्रवृत्तियों के लोग भावना के बल पर उत्थान और पतन तथा पतन एवं उत्थान के मार्ग पर चल रहे हैं, परन्तु उन्हें अपनी गति का ज्ञान नहीं है। सूत्रकार भाव की धुरी पर भटकते मानव को उसकी गति का ज्ञान कराना चाहते हैं, अतः उसके विभिन्न क्रिया-कलापों के आधार पर उसका मनोविश्लेषण करते हुए उसके अनेक रूपों का उसे परिचय कराकर उद्बुद्ध कर रहे हैं।

जीव द्वारा की जाने वाली प्रत्येक क्रिया के तीन ही परिणाम हैं—

जीव कार्य करके प्रसन्न होता है, जीव कार्य करके दुखी होता है और कभी-कभी न प्रसन्न होता है और न दुखी होता है। जैसे—'जाना' क्रिया को ही देखा जाए तो कहा

जाएगा कि एक व्यक्ति कहता है—

वर्तमान क्रिया

१. मैं वहां जाता हूं और प्रसन्न होता हूं (सुमना)।

२. मैं वहां जाता हूं और दुःखी होता हूं (दुर्मना)।

३. मैं वहां जाता हूं और न प्रसन्न होता हूं और न दुखी ही हुआ करता हूं (नोसुमना-नोदुर्मना)।

भविष्यत् क्रिया

४. मैं वहां जाऊंगा तो प्रसन्न होऊंगा (सुमना)।

५. मैं वहां जाऊंगा तो दुखी होऊंगा (दुर्मना)।

६. मैं वहां जाऊंगा तो न प्रसन्न होऊंगा और न दुखी (नोसुमना-नोदुर्मना)।

पूरक क्रिया

७. मैं वहां जाकर प्रसन्न होऊंगा (सुमना)।

८. मैं वहां जाकर दुःखी होऊंगा (दुर्मना)।

९. मैं वहां जाकर न प्रसन्न होऊंगा और न दुःखी (नासुमना-नादुर्मना)।

इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति—मारना, छेदना, ठहरना, बैठना, कहना, भाषण करना, देना, खाना, पीना, सोना, प्राप्त करना, युद्ध करना, जीतना, पराजित होना और सुनना आदि क्रियाओं को वर्तमान रूप में करते हुए प्रसन्न भी होता है, दुखी भी होता है और कभी-कभी न प्रसन्न होता है, न दुखी होता है।

इसी तरह भविष्य में भी किसी कार्य को करूंगा तो प्रसन्नता का अनुभव करूंगा (सुमना), इस कार्य को करूंगा तो दुख का अनुभव करूंगा (दुर्मना) और इस कार्य को करूंगा तो सुख-दुख से उदासीन रहूंगा (नोसुमना-नोदुर्मना), इस प्रकार की त्रिविध अनुभूति से जीव सुमना, दुर्मना और नोसुमना-नोदुर्मना की अनुभूति करता है।

इसी प्रकार पूरक क्रिया (जाकर, खाकर आदि करने पर भी जीव को सुमना, दुर्मना एवं नोसुमना-नोदुर्मना की त्रिविध अनुभूति ही हुआ करती है।

रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श—

रूप, रस आदि की अनुभूति से भी मनुष्य सुमना, दुर्मना और नोसुमना-नोदुर्मना होने की ही अनुभूति किया करता है, जैसे—

वर्तमान क्रिया

१. मैं इस रूप को देखता हूं तो प्रसन्न होता हूं (सुमना)।

२. मैं इस रूप को देखता हूं तो दुखी होता हूं (दुर्मना)।

३. मैं इस रूप को देखता हूं तो सुख-दुख से परे ही रहता हूं (नोसुमना-नोदुर्मना)।

भविष्यत् क्रिया

१. मैं इस रूप को देखूंगा तो हर्षित होऊंगा (सुमना)।

२. मैं इस रूप को देखूंगा तो दुखी होऊंगा (दुर्मना)।

३. मैं इस रूप को देखूंगा तो सुख-दुख से दूर ही रहूंगा। (नोसुमना-नोदुर्मना)।

पूरक क्रिया

१. मैं इस रूप को देखकर हर्षित होऊंगा (सुमना)।

२. मैं इस रूप को देखकर दुखी होऊंगा (दुर्मना)।

३. मैं इस रूप को देखकर सुख-दुख से मुक्त रहूंगा। (नोसुमना-नोदुर्मना)।

इसी प्रकार रस के आस्वादन की, गन्ध को सूंघने की, शब्द को सुनने की और स्पर्श करने की क्रियाओं के वर्तमान कालिक तीन रूपों से, भविष्यकालिक तीन रूपों से और पूरक क्रिया के तीनों रूपों से जीव सुमना, दुर्मना और नोसुमना-नोदुर्मना की अनुभूतियां किया करता है।

निषेधात्मक क्रियाओं से त्रिविध अनुभूति—

जिस प्रकार जीव किसी क्रिया को करके सुमना, दुर्मना और नोसुमना-नोदुर्मना की स्थिति प्राप्त करता है, इसी प्रकार क्रियाओं को न करके भी इन्हीं तीनों स्थितियों की उसे अनुभूति हुआ करती है, जैसे—

वर्तमान-कालिक निषेधात्मक क्रिया

१. मैं नहीं सुनता हूं तो प्रसन्न होता हूं (सुमना)।

२. मैं नहीं सुनता हूं तो दुखी होता हूं (दुर्मना)।

३. मैं नहीं सुनता हूं तो सुख-दुख से मुक्त रहता हूं। (नोसुमना-नोदुर्मना)।

भविष्य-कालिक निषेधात्मक क्रिया

१. मै नहीं सुनूगा तो प्रसन्न रहूंगा (सुमना)।

२. मैं नहीं सुनूंगा तो दुखी रहूंगा (दुर्मना)।

३. मैं नहीं सुनूंगा तो सुख-दुख से मुक्त रहूंगा। (नोसुमना-नोदुर्मना)।

पूरक निषेधात्मक क्रिया

१. मैं न सुनकर हर्षित होऊंगा (सुमना)।

२. मैं न सुनकर दुखी होऊंगा (दुर्मना)।

३. मैं न सुनकर सुख-दुख से दूर रहूंगा (नोसुमना-नोदुर्मना)।

प्रश्न है कि जो क्रिया कुछ व्यक्तियों के लिए सुखकारी है, वही क्रिया कुछ अन्य लोगों के लिए दुखकारी क्यों बन जाती है और कुछ व्यक्तियों के लिए एक पदार्थ दुखकारी होते हुए भी अन्य व्यक्तियों के लिए सुखकारी क्यों बन जाता है?

सूत्रकार ने इस प्रश्न का समाधान दो गम्भीर शब्दों के द्वारा कर दिया है कि शीलवान के लिए जो क्रिया निन्दनीय होने से त्याज्य है वही कुशील व्यक्ति के लिए प्रशंसनीय एवं ग्राह्य हो जाती है। उदाहरण के लिए—

अपनी रंग-बिरंगी छटा से, अपनी कलात्मक अभिव्यक्तियों से नारी के नग्न सौन्दर्य को प्रदर्शित करने वाला सुन्दर अश्लील चित्र एक शीलवान् श्रमण के लिए दुखदायी प्रतीत होता है और वह कहता है कि 'मैं उस चित्र के पास न जाकर प्रसन्न होता हूं (सुमना) और मैं उस चित्र के पास जाऊंगा तो दुखी होऊंगा (दुर्मना)।

इसके विपरीत दुश्शील कामुक व्यक्ति उसी चित्र के पास जाकर एवं उसे देखकर प्रसन्न होता है (सुमना) और उस चित्र के पास न जाकर दुखी एवं उसे न देखकर व्याकुल एवं व्यग्र होता है। (दुर्मना)।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मनुष्य की सुख-दुखमयी अनुभूति का मूल उसका शील है। जब मनुष्य समुन्नतशील को प्राप्त कर सांसारिकता से ऊपर उठ जाता है तब वह नोसुमना-नोदुर्मना की स्थिति को प्राप्त कर लेता है और इसी स्थिति में पहुंचकर वह समदर्शिता के उच्च आदर्श के उस उच्चतम शिखर पर पहुंच जाता है जहां से वह कैवल्य के शीतल अमर सरोवर में कूदकर पूर्ण आनन्द एवं परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है, जहां उसके कर्म-बन्ध का मल धुल जाता है जहां वह शुद्ध-बुद्ध एवं केवली-पद को प्राप्त कर चिरमुक्त हो जाता है।

निन्दनीय और स्तुत्य त्रैकालिक जीवन

मूल—तओ ठाणा णिस्सीलस्स, णिव्वयस्स, निग्गुणस्स, णिम्मेरस्स, णिप्पच्चक्खाण-पोसहोववासस्स गरहिता भवंति, तं जहा—अस्सिं लोगे गरहिए भवइ, उववाए गरहिए भवइ, आयाइ गरहिया भवइ।

तओ ठाणा सुसीलस्स, सुव्वयस्स, सगुणस्स, सुम्मेरस्स, सप्पच्च-क्खाण-पोसहोववासस्स पसत्था भवंति, तं जहा—अस्सिं लोगे पसत्थे भवइ, उववाए पसत्थे भवइ, आयाइ पसत्था भवइ ॥ ४३ ॥

छाया—त्रीणि स्थानानि निश्शीलस्य, निर्व्रतस्य, निर्गुणस्य, निर्मर्यादस्य, निष्प्रत्याख्यान-पौषधोपवासस्य गर्हितानि भवन्ति, तद्यथा—अस्मिँल्लोके (अयं लोकः) गर्हितो भवति, उपपातो गर्हितो भवति, आयातिर्गर्हितो भवति। त्रीणि स्थानानि सुशीलस्य,

सुव्रतस्य, सगुणस्य, समर्यादस्य सप्रत्याख्यान-पौषधोपवासस्य प्रशस्तानि भवन्ति तद्यथा—अस्मिल्लोके (अयंलोक:) प्रशस्तो भवति, उपपातो प्रशस्तो भवति, आयाति: प्रशस्ता भवति।

शब्दार्थ—**तओ ठाणा**—तीन स्थान, **णिस्सीलस्स**—शीलरहित के, **निव्वयस्स**—व्रत रहित के, **णिग्गुणस्स**—निर्गुण के, **णिम्मेरस्स**—निर्मर्याद के, **णिप्पच्चक्खाण-पोसहोववासस्स**—प्रत्याख्यान और पौषध आदि व्रत रहित के, **गरहिता भवंति** —निन्दित होते हैं, **तं जहा**—जैसे, **अस्सिं लोए गरहिए भवइ**—यह लोक निन्दित होता है, **उववाए गरहिए भवइ**—उपपात-स्थान गर्हित होता है, **आयाइ गरहिया भवति**—यहां से मृत्यु प्राप्त कर दु:ख रूप गति में पैदा होता है और वह निन्दित होता है।

तओ ठाणा—तीन स्थान, **सुसीलस्स**—सुशील के, **सुव्वयस्स**—सुव्रती के, **सगुणस्स**—सद्‌गुणयुक्त के, **सुम्मेरस्स**—सुमर्यादा के, **सप्पच्चक्खाण-पोसहोववासस्स**—प्रत्याख्यान-पौषधोपवास सहित के, **पसत्था भवंति**—प्रशस्त होते हैं, **तं जहा**—जैसे, **अस्सिं लोगे**—यह लोक, **पसत्थे भवइ**—प्रशस्त होता है, **उववाए पसत्थे भवइ**—देव आदि स्थानों में उत्पन्न होने पर वह लोक प्रशस्त होता है, **आयाइ पसत्था भवइ**—वहां से पुन: संसार में आकर मनुष्य गति में प्रशस्त होता है।

मूलार्थ—तीन स्थान नि:शील, निर्व्रत, निर्गुण, अमर्यादित, प्रत्याख्यान-पौषधो-पवास रहित व्यक्ति के लिए निन्दित होते हैं, जैसे कि—ऐसे व्यक्ति का यह लोक गर्हित हो जाता है, परलोक नरकादि जहां पर जाकर उत्पन्न होता है, वह दु:ख रूप होने से गर्हित होता है और नरकों में दु:ख भोगकर पुन: वह जिस योनि में पैदा होता है वह भी गर्हित होती है।

तीन स्थान सुशील, सुव्रती, सद्‌गुणी, समर्यादित और प्रत्याख्यान-पौषधोपवास युक्त व्यक्ति के प्रशंसनीय होते हैं, जैसे—वह सुशील व्यक्ति इस लोक में प्रशंसनीय होता है, यहां से मृत्यु प्राप्त कर देवलोक आदि शुभ गति में उत्पन्न होकर प्रशस्त होता है और देव-गति से लौटकर प्रशस्त कुल में उत्पन्न होकर प्रशंसित होता है।

विवेचनिका—विगत सूत्र में सूत्रकार ने मानव की सुख-दु:खमयी मानसिक स्थिति का विस्तृत विवेचन किया है और साथ ही सुख-दु:ख को मानव की सुशीलता और दु:शीलता का फल होने का संकेत दिया है। प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार स्पष्ट शब्दों में सुशील एवं दु:शील व्यक्ति के जीवन का विश्लेषण करते हुए कहते हैं :—

मुक्तावस्था की प्राप्ति न होने तक जीव चार गतियों में भटकता रहता है—(क) जन्म लेकर इसी संसार में रहता है, (ख) मृत्यु को प्राप्त कर स्वर्ग अथवा नरक में जाता है, (ग) स्वर्ग अथवा नरक में पुण्य एवं पापों का फल पाकर पुन: इस संसार में लौटता है। शास्त्रीय

भाषा में—इन्हें लोक-जीवन, उपपात—(स्वर्गादि लोकों में वास) और आयाति (स्वर्ग एवं नरक से पुनः इस संसार में आगमन) कहा जाता है।

शील-रहित, व्रत-हीन, सद्‌गुणो से विमुख, मर्यादा-हीन, प्रत्याख्यान-पौषधोपवास से रहित व्यक्ति के लिए लोक तो दुखकारी बन ही जाता है, उसके लिए परलोक—नरकादि भी अत्यन्त कष्टदायक ही होते हैं और वह फल-भोग के अनन्तर इस ससार में पुनः लौटने पर उसके लिए यह लोक भी दुःखमय हो जाता है, ऐसे लोगो को निन्दनीय एवं समाज-घातक कहकर दुत्कारा जाता है।

इसके विपरीत शीलवान् दृढ़व्रती, सद्‌गुणो से युक्त, शास्त्र-मर्यादाओं के अनुसार आचरण करने वाले, प्रत्याख्यान-पौषधोपवास का पालन करने वाले साधक के लिए यह संसार तो सुखकारी एव प्रशस्त जीवन-युक्त बन ही जाता है, उसके लिए देवलोक का जीवन भी आनन्द युक्त होता है और आयाति अर्थात् सौधर्मादि देवलोकों से आने पर उस शीलवान् साधक के लिए यह लोक पुनः मंगलमय बन जाता है।

"**अस्सिं लोगे गरहिए भवइ**"—**अस्मिंल्लोके गर्हितो भवति**—यह सप्तमी का प्रयोग प्रथमा के लिए किया गया है। वृत्तिकार का कथन है—**अस्सिं ति, विभक्तिपरिणामादयं लोकः-इदं जन्म गर्हितो भवति।**

जीवों की त्रिविधता

मूल—तिविहा संसारसमावन्नगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा—इत्थी, पुरिसा, नपुंसगा।

तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी य।

अहवा तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—पज्जत्तगा, अपज्जत्तगा, णोपज्जत्तगा-णोअपज्जत्तगा। एंव सम्मदिट्ठिपरित्तपज्जत्तगा, सुहुमसन्नि-भविया य॥४४॥

छाया—त्रिविधाः संसारसम्पन्नकाः जीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—स्त्रियः, पुरुषाः, नपुंसकाः। त्रिविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सम्यग्दृष्टयः, मिथ्यादृष्टयः, सम्यङ्मिथ्यादृष्टयश्च। अथवा त्रिविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पर्याप्तकाः, अपर्याप्तकाः, नोपर्याप्तका- नोऽपर्याप्तकाः। एवं सम्यग्दृष्टिपरित्तः पर्याप्तकः सूक्ष्म-संज्ञि-भव्याश्च।

शब्दार्थ—**तिविहा**—तीन प्रकार के, **संसारसमावन्नगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा**—संसार समापन्न जीव प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे, **इत्थी**—स्त्री, **पुरिसा**—पुरुष, और

नपुंसगा—नपुंसक। **तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा**—तीन प्रकार के सर्वजीव प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे, **सम्मदिट्ठी**—सम्यग्दृष्टि, **मिच्छादिट्ठी**—मिथ्यादृष्टि, **सम्मा-मिच्छा दिट्ठी य**—सम्यक्मिथ्यादृष्टि अर्थात् मिश्रदृष्टि। **अहवा**—अथवा, **तिविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा**—तीन तरह के सर्वजीव प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—**पज्जत्तगा**—पर्याप्त, **अपज्जत्तगा**—अपर्याप्त और, **णोपज्जत्तगा-णोअपज्जत्तगा**—नो पर्याप्त-नोअपर्याप्त अर्थात् सिद्ध भगवान्।

एवं—इस प्रकार, **सम्मदिट्ठी**-सम्यग्दृष्टि की भांति, **परित्ता**—परित्त, अपरित्त, नोपरित्त-नोअपरित्त, **पज्जत्तग**-पर्याप्त, अपर्याप्त और, नोपर्याप्त-नोअपर्याप्त, **सुहुम**—सूक्ष्म, बादर, नोसूक्ष्म-नोबादर, **सन्नि**—संज्ञी, असंज्ञी, नोसंज्ञी, नोअसंज्ञी और, **भविया**—भव्य, अभव्य और नोभव्य-नोअभव्य।

मूलार्थ—तीन तरह के संसार-समापन्न जीव प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—स्त्रियां, पुरुष और नपुंसक।

तीन प्रकार के सर्व जीव प्रतिपादन किए गए हैं—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यक्-मिथ्यादृष्टि अर्थात् मिश्रदृष्टि।

अथवा—तीन प्रकार के सर्व जीव प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—पर्याप्त, अपर्याप्त और नोपर्याप्त-नो अपर्याप्त। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की तरह परित्त, अपरित्त और नोपरित्त,-नोअपरित्त। पर्याप्त, अपर्याप्त और नोपर्याप्त-नोअपर्याप्त। सूक्ष्म, बादर और नोसूक्ष्म-नोबादर। संज्ञी, असंज्ञी और नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी और भव्य, अभव्य, नोभव्य-नोअभव्य जीव हुआ करते हैं।

विवेचनिका—नरक और स्वर्ग संसारी जीवो को ही प्राप्त होते हैं, अतः सूत्रकार संसारी जीवों का वर्णन करते हुए कहते हैं—संसारी जीव तीन प्रकार के हैं—स्त्री, पुरुष और नपुंसक। वेद-मोहनीय कर्म के उदय से जीवों में तीन प्रकार की कामनायें उत्पन्न होती हैं। स्त्री वेद के उदय से स्त्री, पुरुष वेद के उदय से पुरुष और नपुंसक वेद के उदय से जीव नपुंसक बनता है। वेद-मोहनीय कर्म के क्षय या उपशम होने पर यह जीव अवेदी बन जाता है।

सूत्रकार जब संसारी और मुक्तात्माओ का वर्णन करना चाहते हैं तो सब जीवो का समावेश अलग-अलग भेदो में किया करते हैं।

इसी प्रकार के भेद प्रस्तुत सूत्र में उपस्थित किए गए हैं जो कि विशेष मननीय है।

जीवों के तीन भेद हैं—

(क) १. **सम्यग्दृष्टि**—पदार्थों के यथार्थ भावों को जानने वाले जीव सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं।

२. **मिथ्यादृष्टि**—पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को विपरीत जानने वाले मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं।

३. **मिश्रदृष्टि**—पदार्थों के यथार्थ एवं अयथार्थ स्वरूप को समानरूप से जानने वाले जीव मिश्रदृष्टि माने जाते हैं। इन तीन दृष्टियों में सभी जीवों का समावेश हो जाता है। सिद्ध भगवान एकान्त सम्यग्दृष्टि होते हैं, शेष संसारी जीव तीन दृष्टियों से संयुक्त पाए जाते हैं।

(ख) १. **पर्याप्त**—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन, इन छः प्रकार की पर्याप्तियों में से जिन संसारी जीवों में जितनी पर्याप्तियां निश्चित रूप से पाई जानी चाहियें, यदि वे सब किसी जीव को प्राप्त हो जायें तो वह जीव पर्याप्त कहलाता है।

२. **अपर्याप्त**—जिन जीवों में ये उपर्युक्त निश्चित पर्याप्तियां नहीं पाई जाती हैं, वे जीव अपर्याप्त कहे जाते हैं।

३. **नोपर्याप्त—नोअपर्याप्त**—पर्याप्त एवं अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं से जो ऊपर उठे हुए हों, वे नोपर्याप्त-नोअपर्याप्त कहलाते हैं।

इस कोटि में अरिहंत और सिद्ध ही होते हैं। पहले दो भेद संसारी जीवों के हैं।

(ग) १. **परित्त**—जिस एक शरीर में एक ही जीव पाया जाए, इस प्रकार की जीवराशि को परित्त कहा जाता है।

२. **अपरित्त**—जब एक शरीर में अनन्त जीवों का अस्तित्व पाया जाए तब इस प्रकार की जीवराशि को अपरित्त कहा जाता है। इन दोनों को क्रमशः प्रत्येक-शरीरी और अनन्त-शरीरी भी कहते हैं। निगोद (काई आदि) इसी प्रकार के शरीर हैं, जिनमें एक साथ अनंत जीव निवास करते हैं।

३. **नोपरित्त-नोअपरित्त**—जो जीव इन दोनों से भिन्न हैं, उनकी गणना इसी कोटि में होती है। इस भेद में सिद्ध भगवान एवं अरिहन्त समाविष्ट हैं। संसारी जीवों में पहले दो भेद ही पाए जाते हैं।

(घ) १. **सूक्ष्म**—जिन स्थावर जीवों के सूक्ष्म नामकर्म का उदय है, वे सूक्ष्म कहे जाते हैं।

२. **बादर**—जिन त्रस और स्थावर जीवों के बादर नाम-कर्म का उदय है, वे जीव बादर कहलाते हैं।

३. **नोसूक्ष्म-नोबादर**—जो सूक्ष्म और बादर की परिभाषाओं से अलग हैं, वे जीव सिद्ध भगवान कहलाते हैं। जबकि पहले दो भेद संसारी जीवों में ही पाए जाते हैं।

(ङ) १. **संज्ञी**—समनस्क पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी कहलाते हैं।

२. **असंज्ञी**—स्थावर, विकलेन्द्रिय और संमूर्छिम पंचेन्द्रिय जीवों को असंज्ञी कहते हैं, क्योंकि वे अमनस्क होते हैं।

३. **नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी**—जो मन, वाणी और काय से सर्वथा मुक्त हो गए हैं, वे जीव नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी कहलाते हैं, जैसे कि मुक्तात्मा।

(च) १. **भव्य**—मोक्षगमन के योग्य जीवों को भव्य कहा जाता है।

२. **अभव्य**—मोक्ष होने के सर्वथा अयोग्य जीवों को अभव्य कहा जाता है।

३. **नोभव्य-नोअभव्य**—सिद्ध भगवान इसी कोटि के जीव कहलाते हैं। प्रत्येक जीवराशि में पहले दो भेद संसारी जीवों में पाए जाते हैं और तीसरा भेद सिद्ध भगवान में पाया जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने इस ज्ञातव्य सिद्धान्त का उल्लेख किया है कि जीवास्तिकाय न हेय है और न उपादेय, वह तो केवल ज्ञेय है। इस पाठ से विश्वमैत्री और भगवद्-भक्ति का संकेत मिलता है। यह संकेत जीवों के लिए अवश्य उपादेय है।

लोक-स्थिति

मूल—तिविहा लोगठिती पण्णत्ता, तं जहा—आगासपइट्ठिए वाए, वायपइट्ठिए उदही, उदहिपइट्ठिया पुढवी।

तओ दिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—उड्ढा, अहा, तिरिया।

तिहिं दिसाहिं जीवाणं गई पवत्तइ—उड्ढाए, अहाए, तिरियाए। एवं आगई, वक्कंती, आहारे, वुड्ढी, णिवुड्ढी, गइपरियाए, समुग्घाए, कालसंजोगे, दंसणाभिगमे, णाणाभिगमे, जीवाभिगमे।

तिहिं दिसाहिं जीवाणं अजीवाभिगमे पण्णत्ते, तं जहा—उड्ढाए, अहाए, तिरियाए। एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं। एवं मणुस्साण वि ॥४५॥

छाया—त्रिविधा लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—आकाशप्रतिष्ठितो वातः, वात-प्रतिष्ठितः उदधिः, उदधि-प्रतिष्ठिता पृथिवी।

तिस्रो दिशः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ऊर्ध्वा, अधः, तिर्यक्।

तिसृभिर्दिग्भिर्जीवानां गतिः प्रवर्तते—ऊर्ध्वया, अधस्तया, तिरश्च्या। एवमागतिः, व्युत्क्रान्तिः, आहारः, वृद्धिः, निर्वृद्धिः, गतिपर्यायः, समुद्घातः, कालसंयोगः, दर्शनाभिगमः, ज्ञानाभिगमः, जीवाभिगमः, तिसृभिर्दिग्भिर्जीवानामजीवाभिगमः,

प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ऊर्ध्वया, अधस्तया, तिरश्च्या। एवं पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानाम्। एवं मनुष्याणामपि।

शब्दार्थ—तिविहा लोगठिती पण्णत्ता, तं जहा—तीन प्रकार से लोक की स्थिति प्रतिपादन की गई है, जैसे—**आगासपइट्ठिए वाए**—आकाश प्रतिष्ठित वायु, **वाय पइट्ठिए उदही**—वायु-प्रतिष्ठित उदधि, **उदहिपइट्ठिया पुढवी**—उदधि-प्रतिष्ठित पृथ्वी है, **तओ दिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा**—तीन दिशाए प्रतिपादन की गई हैं, जैसे, **उड्ढा**—ऊर्ध्वदिशा, **अहा**—अधोदिशा, **तिरिया**—तिरछी दिशा।

तिहिं दिसाहिं—तीन दिशाओं में, **जीवाणं गई पवत्तइ**—जीवों की गति होती है, **उड्ढाए**—ऊर्ध्वदिशा मे, **अहाए**—अधोदिशा में, **तिरियाए**—तिरछी दिशा में, **एवं**—इसी तरह, **आगई**—तीन ही दिशाओं से जीवों की आगति होती है, **वक्कंती**—उक्त तीन दिशाओं में उत्पत्ति होती है, **आहारे**—तीनों में आहार करते हैं। **वुड्ढी**—शरीर की वृद्धि करते हैं, **निवुड्ढी**—शरीर की हानि होती है, **गइपरियाए**—गति-पर्याय अर्थात् जीवों का गमन होता है, **समुग्घाए**—वेदना आदि समुद्घात होता है, **कालसंजोगे**—वर्तमान आदि काल लक्षणानुभूति अथवा मरण-योग, **दंसणाभिगमे**—अवधि आदि प्रत्यक्ष प्रमाणभूत के द्वारा बोध की प्राप्ति, **णाणाभिगमे**—ज्ञान द्वारा जीवादि पदार्थों का ज्ञान, **जीवाभिगमे**—जीवो का ज्ञान होता है। **तिहिं दिसाहिं**—तीन दिशाओं मे, **जीवाणं**—जीवो को, **अजीवाभिगमे**—अजीव का ज्ञान प्रतिपादित किया है, जैसे—**उड्ढाए**—ऊर्ध्व, **अहाए**—अध: और, **तिरियाए**—तिरछी दिशाओं मे, **एवं**—ऐसे ही, **पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं**—पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चो को, **एवं**—इसी तरह, **मणुस्साणं वि**—मनुष्यों को भी अजीवों का ज्ञान होता है।

मूलार्थ—तीन प्रकार से लोक की स्थिति प्रतिपादन की गई है, जैसे—आकाश पर वायु, वायु पर उदधि और उदधि पर पृथ्वी।

तीन दिशाएं हैं, जैसे—ऊंची, नीची और तिरछी। तीन दिशाओं में ही जीवों की गति, उत्पत्ति, आहार, शरीर की वृद्धि, हानि, गतिपर्याय, काल-संयोग, दर्शनाभिगम—बोध, ज्ञानाभिगम—ज्ञान की प्राप्ति होती है। अजीव तत्त्व का ज्ञान होता है। तीन दिशाओं में ही जीवों को अजीव का अभिगम होता है। इसी तरह पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च और मनुष्यों के विषय में भी जान लेना चाहिए।

विवेचनिका—सभी जीव लोक में स्थित हैं, इसलिए लोक-स्थिति का वर्णन किया गया है। लोकस्थिति का आशय लोक-व्यवस्था से है। आकाश सब द्रव्यों का आधार है, उस पर तनुवात, उस पर घनवात, घनवात पर घनोदधि प्रतिष्ठित है, घनोदधि पर पृथिवी प्रतिष्ठित है। इस विषय का विस्तृत विवेचन इसी शास्त्र के आठवें स्थानक में तथा—भगवती सूत्र के श० १, उ० ६ में किया गया है।

जीवों की गति और आगति अर्थात् गमन और आगमन तीन दिशाओं में ही हो सकता है, कारण कि दिक् शब्द का अर्थ इस प्रकार किया जाता है, जैसे कि—**दिश्यते-व्यपदिश्यते पूर्वादितया वस्तु अनयेति दिक्**—अर्थात् जिसके द्वारा पूर्व आदि रूपों में वस्तुओं का निर्देश किया जाता है, उसे दिशा कहते हैं। दिशा की व्याख्या सात प्रकार से की जाती है, जैसे कि—नामदिक्, स्थापनादिक्, द्रव्यदिक्, क्षेत्रदिक्, तापदिक्, प्रज्ञापकदिक् और भावदिक्।

संकेतवश किसी जीव या अजीव का नाम दिक् रख देना नामदिक् कहलाता है। दिशाओं का चित्र या नक्शा स्थापना-दिक् कहलाता है। पुद्गल स्कन्ध के निमित्त से जो दिशाओं की कल्पना की जाती है, वह द्रव्य-दिक् है। क्षेत्र आकाश के लिए रूढ़ है। आकाश के आठ रुचक प्रदेशों से दिशायें प्रवृत्त होती हैं। आठ रुचक प्रदेश गोस्तनाकार हैं, उनसे चार दिशायें, चार विदिशायें, ऊंची और नीची ये दस दिशायें प्रारंभ होती हैं। उनके नाम निम्नलिखित हैं, जैसे कि १. ऐन्द्री—पूर्व, २. आग्नेयी—पूर्वदक्षिणकोण, ३. यमा—दक्षिण, ४. नैऋती—दक्षिण और पश्चिम का कोण, ५. वारुणी—पश्चिम, ६. वायव्य—पश्चिम उत्तर कोण, ७. कौबेरी—उत्तर, ८. ईशान—उत्तरपूर्व कोण, ९. विमला—ऊपर, १०. तमा—नीचे, ये सब क्षेत्रदिक् कहलाती हैं। सूर्य के प्रकाश द्वारा जो दिशायें प्रकाशित होती हैं, उन्हें तापक्षेत्रदिक् कहते हैं। जिधर से सूर्य उदय होता है वह पूर्व, जिस दिशा में अस्त होता है वह पश्चिम, दाईं ओर दक्षिण दिशा और बाईं ओर उत्तर दिशा मानी जाती है। कहा भी है—

जेसिं जत्तो सूरो उदेइ, तेसिं तई हवइ पुव्वा।
तावक्खेत्त दिसाओ, पयाहिणं सेसियाओ सिं॥

दूसरे शब्दों में जिस ज्ञानी से अध्ययन किया जाए उसके सम्मुख बैठने को पूर्वदिक् कहते हैं, शेष उसकी अपेक्षा अन्य दिशाओं की कल्पना स्वयं करनी चाहिये। जिस प्रकार पूर्व दिशा से सूर्य उदय होकर जगती-तल में प्रकाश करता है, ठीक उसी प्रकार आचार्य आदि प्रज्ञापक दिक् कहे जाते हैं, जैसे कि कहा भी है—

पन्नवओ जमभिमुहो, सा पुव्वा सेसिया पयाहिणओ।
तस्सेवऽणुगंतव्वा, अग्गेयाइ दिसा नियमा॥

जिसमें जीव जन्म लेता है, वह पूर्व, मरण होना पश्चिम दिशा, उसकी हानि व ह्रास दक्षिण दिशा, लाभ और विकास, यह उसकी उत्तर दिशा है, इसी को भाव दिशा भी कहते हैं। यह अठारह प्रकार की होती है, जैसे कि—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, मूल, स्कन्ध, अग्रबीज, पर्वबीज, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिंद्रिय, तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय, नारकी, देव, सम्मूर्च्छिम-मनुष्य, कर्मभूमिज-मनुष्य, अकर्मभूमिज मनुष्य, अन्तरद्वीपज-मनुष्य ये १८ संसारी जीवों की भाव दिशाएं कही जाती हैं, इनमें जीवों का गमना-गमन होता है। उक्त

सात प्रकार की दिशाओं के क्षेत्रदिक्, तापदिक् और प्रज्ञापक दिशाओं का यहां अधिकार है, अन्य दिशाओं का नहीं।

ऊर्ध्व और अधोदिशा तो स्पष्ट ही हैं, किन्तु तिर्यक् दिशा से तात्पर्य है पूर्वादि चार दिशायें और अग्निकोण आदि चार विदिशाएं। प्रज्ञापक की अपेक्षा से दूर जाना गति कहलाती है और प्रज्ञापक की ओर आना आगति। उत्पन्न होना, व्युत्क्रान्ति, आहार करना, शरीर की वृद्धि, शरीर की हानि, चलना-फिरना गतिपर्याय, वेदनादि सात प्रकार का समुद्घात, वर्तनादिकाल या मरणकाल को काल-संयोग कहते हैं।

अवधि आदि दर्शन के द्वारा जीवों का अवबोध करना, ज्ञान के द्वारा जीवों का विशेष अवबोध करना, इसी प्रकार अजीव आदि पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण ज्ञान—दर्शन के द्वारा तीन दिशाओं में ही किया जाता है। यह कथन संज्ञी-तिर्यञ्च और मनुष्यों की अपेक्षा से जानना चाहिए, क्योंकि नारकियों को ऊंची दिशा का ज्ञान नहीं होता और न अपनी अपेक्षा नीची दिशा का। ज्योतिष्क देवों के ज्ञान-दर्शन का विस्तार तिर्यग् दिशा में होता है, ऊर्ध्व और अधोदिशा में नहीं। भवनपति और वान-व्यन्तरों का अवधि का उपयोग अधोदिशा में नहीं होता तथा वैमानिकों का अवधिज्ञान-दर्शन अधोदिशा और तिर्यग्दिशा में अधिक व्याप्त होता है, अत: वे तीन दिशाओं में रहते हुए जीव और अजीव पदार्थों के स्वरूप को अधिगत नहीं करते। इससे सिद्ध होता है कि जिन्हें गुण-प्रत्ययिक ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो रहा है, वे ही तीन दिशाओं में रहे हुए पदार्थों को जानते व देखते हैं।

तिहिं दिसाहिं—सूत्रकर्ता ने जो यह पद दिया है, इसका अर्थ सप्तमी, तृतीया और पंचमी में यथासंभव करना चाहिए। एकेन्द्रिय और असंज्ञी तिर्यंच में अवधिज्ञान—दर्शन नहीं होता। जो सूत्रकर्ता ने उत्पत्ति, आहार, वृद्धि, हानि आदि पद कथन किए हैं, इनका यह भाव है कि जब जीव किसी योनि में उत्पन्न होता है तब वह उस स्थान से आहार ग्रहण करता है, फिर उस ग्रहण किए हुए आहार के द्वारा शरीर की वृद्धि और हानि होती रहती है। इससे सिद्ध होता है कि जीव उत्पत्ति स्थान में आकर ही आहार आदि ग्रहण कर शरीरादि की रचना करता है, न कि पहले से ही बने बनाए शरीर में प्रवेश करता है। जिस दिशा में और जिस दण्डक में उक्त तेरह पद जितने घट सकते हैं, उतने उनमें से घटाकर वस्तु-तत्त्व को समझने का प्रयास करना चाहिए।

त्रस और स्थावर जीव

मूल—तिविहा तसा पण्णत्ता, तं जहा—तेउकाइया, वाउकाइया, उराला-तसा-पाणा। तिविहा थावरा पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइया, आउकाइया, वणस्सइकाइया ॥ ४६ ॥

छाया—त्रिविधास्त्रसाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—तेजस्कायिकाः, वायुकायिकाः, उदाराः-त्रसाः-प्राणाः। त्रिविधाः स्थावराः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिकाः, अप्कायिकाः, वनस्पति-कायिकाः।

शब्दार्थ—तिविहा तसा पण्णत्ता, तं जहा—तीन प्रकार के त्रस कथन किए गए हैं, जैसे—**तेउकाइया**—तेजस्काय त्रस, **वाउकाइया**—वायु-काय त्रस और, **उराला-तसा-पाणा**—द्वीन्द्रिय आदि प्रधान त्रस काय जीव। **तिविहा थावरा पण्णत्ता, तं जहा**—तीन प्रकार के स्थावर प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—**पुढवीकाइया**—पृथ्वी-काय स्थावर, **आउकाइया**—अप्कायस्थावर, **वणस्सइकाइया**—वनस्पतिकाय स्थावर।

मूलार्थ—त्रस तीन प्रकार के हैं, जैसे—तेजस्कायिक, वायुकायिक और द्वीन्द्रिय आदि प्रधान त्रस। स्थावर तीन तरह के प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—पृथ्वीकाय स्थावर, अप्काय स्थावर और वनस्पतिकाय स्थावर।

विवेचनिका—लोक-स्थिति त्रस और स्थावर जीवों पर आधारित है। विगत सूत्र में कहा गया है कि गति आदि तेरह बातें प्रायः त्रस जीवों में पाई जाती हैं, अतः गमनागमनादि क्रिया करने वाले जीव त्रस कहलाते हैं। त्रस जीव भी दो प्रकार के होते हैं—लब्धि-त्रस और गति-त्रस। इच्छापूर्वक गति करने वाले जीव लब्धि-त्रस कहे जाते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये सब लब्धि-त्रस वाले जीव हैं। जिन स्थावरों में गति करने का स्वभाव है, वे स्थावर जीव गति की अपेक्षा से गति-त्रस कहलाते हैं। तेजस्काय और वायुकाय ये दोनों स्थावर होते हुए भी गति-त्रस कहे जाते हैं। इनकी गति इच्छापूर्वक नहीं होती। तेजस्काय में विभिन्न प्रकार की अग्नि और विद्युत दोनों का समावेश हो जाता है तथा अग्नि और विद्युत दोनो में गति पाई जाती है। वायुकाय की गति अनुभव-सिद्ध है।

स्थावर नाम-कर्म के उदय से जीव स्थावर कहलाते हैं। जिन स्थावरों में स्वतः गति नहीं है, वे तीन प्रकार के होते है—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक। ये दुःख से व्याकुल होकर भी जीवन-भर एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर नहीं जा सकते हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय इनमें कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत-लेश्या और तेजोलेश्या वाले देव भी उत्पन्न होते हैं और इनसे निकला हुआ जीव मनुष्य गति में भी उत्पन्न हो सकता है। इसके विपरीत तेजस्काय और वायुकाय में न कोई देव उत्पन्न हो सकता है और न ही तेजस्काय और वायुकाय के जीव मनुष्यगति को ही प्राप्त कर सकते हैं। इस दृष्टि से भी पांच स्थावरों को शास्त्रकारों ने दो भेदों में विभाजित किया है।

जीवाभिगम की दूसरी प्रतिपत्ति में, उत्तराध्ययन के छत्तीसवें अध्ययन में और तत्त्वार्थ सूत्र के दूसरे अध्याय में तेजस्काय और वायुकाय को त्रस कहा गया है और पृथिवी, अप् एवं वनस्पति इनको स्थावर संज्ञा दी गई है।

समय, प्रदेश और परमाणु

मूल—तओ अच्छेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—समए, पदेसे, परमाणू। एवमभेज्जा २, अडज्झा ३, अगिज्झा ४, अणड्ढा ५, अमज्झा ६, अपएसा ७।

तओ अविभाइमा पण्णत्ता, तं जहा—समए, पएसे, परमाणू ॥४७॥

छाया—त्रयोऽछेद्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—समयः, प्रदेशः, परमाणुः। एवमभेद्याः, अदाह्याः, अग्राह्याः, अनर्द्धाः, अमध्याः, अप्रदेशाः।

त्रयोऽविभाज्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—समयः, प्रदेशः, परमाणुः।

शब्दार्थ—तओ अच्छेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—तीन पदार्थ अच्छेद्य कथन किए गए हैं, जैसे—**समए**—समय, **पदेसे**—प्रदेश और, **परमाणू**—परमाणु-पुद्गल। **एवमभेज्जा**—इसी प्रकार ये तीन पदार्थ अभेद्य, **अडज्झा**—अदाह्य, **अगिज्झा**—अग्राह्य, **अणड्ढा**—दो भागों में विभक्त न हो सकने वाला, **अमज्झा**—मध्यरहित, **अपएसा**—अप्रदेश हैं। **तओ**—तीन, **अविभाइमा पण्णत्ता, तं जहा**—विभाग रहित कहे गए हैं, जैसे, **समए, पएसे, परमाणू**—समय, प्रदेश और परमाणु।

मूलार्थ—तीन पदार्थों का छेदन नहीं किया जा सकता, न भेदन किया जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न हाथ आदि से ग्रहण किया जा सकता है, न इनके दो भाग किए जा सकते हैं, न इनका अर्धभाग है, न मध्यभाग है और न ही इनके प्रदेश हैं, वे तीन पदार्थ हैं—समय, प्रदेश और परमाणु-पुद्गल।

विवेचनिका—पृथिवीकाय आदि की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग की है, व्यवहारदृष्टि से वह भी अच्छेद्य ही होती है। प्रस्तुत सूत्र में जो निश्चयदृष्टि से भी अछेद्य हैं, उनका उल्लेख किया गया है।

काल के अविभाज्य अंश को समय कहते हैं, अरूपी द्रव्यों के निरवयव अंश प्रदेश कहलाते हैं और रूपी द्रव्य में निरवयव अंश को परमाणु कहा जाता है। समय, प्रदेश और परमाणु—ये तीन सर्वथा अच्छेद्य हैं। सुतीक्ष्ण शस्त्र के द्वारा तो क्या, बुद्धि की कल्पना से भी इनका छेदन नहीं किया जा सकता, अतः वे **अच्छेद्य** हैं, उनका सूची आदि के द्वारा भेदन नहीं हो सकता, इसलिए वे **अभेद्य** हैं। किसी तेज के द्वारा उन्हें जलाया नहीं जा सकता, इस कारण वे **अदाह्य** हैं, उनका किसी भी बाह्य साधनों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है, अतः **वे अग्राह्य** हैं, उनके दो भाग न होने से वे **अनर्ध** हैं। तीन भाग न होने से वे **अमध्य** हैं, निरवयवांश होने से वे **अप्रदेश** कहे जाते हैं। निर्विभाग होने से उन्हें **अविभाज्य** भी कहा गया है।

काल का सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप समय है, असंख्येय समयों के समूह से एक मुहूर्त बनता है जो लगभग ४८ पल (मिनट) का होता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये असंख्यात प्रदेशात्मक हैं और अरूपी हैं। यदि लोका-लोक के आकाश प्रदेशों को ग्रहण किया जाए तो आकाशास्तिकाय के अनन्त प्रदेश हैं। पंचास्तिकाय में जो अरूपी द्रव्य हैं उन्हें सप्रदेशी कहते हैं, उनमें जो अविभाज्य अंश है, वही प्रदेश कहलाता है। इस प्रकार के प्रदेश चाहे किसी भी अस्तिकाय के हों, उन्हीं की गणना उक्त सूत्र में की गई है। परमाणु के विषय में अनुयोगद्वार सूत्र में लिखा है।

सत्थेण सुतिक्खेण वि, छेत्तुं, भेत्तुं च जं किर न सक्का।
तं परमाणु सिद्धा वयंति, आइ पमाणाणं॥

अर्थात् जिसका सुतीक्ष्ण शस्त्र के द्वारा भी छेदन-भेदन न किया जा सके, जो कि सभी स्कन्ध या परमाणुओं का आदि कारण है, उसे तीर्थंकर भगवान परमाणु कहते हैं। दो से लेकर अनन्त परमाणुओं के समूह को स्कन्ध कहा जाता है। द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि, ये सब स्कन्ध कहलाते हैं। समय, प्रदेश और परमाणु इनका प्रत्यक्ष सर्वज्ञ सर्वदर्शी ही कर सकते हैं। परमाणु का प्रत्यक्ष तो परमावधि ज्ञानी भी कर सकते हैं, क्योंकि सभी परमाणु वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले होते हैं। परमावधिज्ञानी भी रूपी द्रव्य का ही प्रत्यक्ष कर सकते हैं, अरूपी समय या प्रदेश का नहीं।

आज के परमाणु युग में परमाणु को विभाज्य स्वीकार किया गया है और परमाणु-विभाजन के द्वारा ही अनन्त शक्ति-स्रोतों को प्राप्त किया जा रहा है, परन्तु इस विषय में यह जान लेना आवश्यक होगा कि न्यूट्रन, प्रोटोन और इलैक्ट्रोन नामक पदार्थ-त्रय का समूह परमाणु नहीं, वह तो परमाणु स्कन्ध है। वैज्ञानिकों की परमाणु-विभाजन प्रणाली का जो अन्तिमतम भाग शक्ति के रूप में व्यक्त होता है, उसी शक्ति के मूलरूप को शास्त्रीय परिभाषा में भाव परमाणु भी कहा जाता है। वह अविभाज्य ही रहेगा।

प्राणियों को किससे भय है?

मूल—अज्जोति! समणे भगवं महावीरे गोयमादी समणे णिग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासी—किं भया पाणा? समणाउसो! गोयमादी समणा निग्गंथा समणं भगवं महावीरं उवसंकमंति, उवसंकमित्ता वंदंति, नमंसंति, वंदित्ता, नमंसित्ता एवं वयासी—णो खलु वयं देवाणुप्पिया! एयमट्ठं जाणामो वा, पासामो वा। तं जइ णं देवाणुप्पिया! एयमट्ठं णो गिलायंति परिकहित्तए, तमिच्छामो णं देवाणुप्पियाणं अंतिए एयमट्ठं जाणित्तए। अज्जोत्ति! समणे भगवं महावीरे, गोयमादी समणे निग्गंथे आमंतेत्ता एवं

वयासी—दुक्खभया पाणा समणाउसो! से णं भंते! दुक्खे केण कडे? जीवेणं कडे पमादेण, से णं भंते! दुक्खे कहं वेइज्जति? अप्पमाएणं ॥ ४८॥

छाया—आर्याः! इति श्रमणो भगवान् महावीरः गौतमादीन् श्रमणान् निर्ग्रन्था-नामन्त्र्यैवमवादीत्—किं भयाः प्राणाः? श्रमणाः! आयुष्मन्तः!! गौतमादयः श्रमणा निर्ग्रन्थाः श्रमणं भगवन्तं महावीरमुपसंक्रामन्तिः, उपसंक्रम्य वन्दन्ते, नमस्यन्ति, वन्दित्वा नमस्यित्वैवमवादिषुः—नो खलु वयं देवानुप्रियाः! एतमर्थं जानीमो वा पश्यामो वा। तद्यदि खलु देवानुप्रियाः! एतमर्थं नो ग्लायन्ति परिकथयितुं तदिच्छामः खलु देवानुप्रियाणामन्तिके एतमर्थं ज्ञातुम्। आर्याः! इति श्रमणो भगवान् महावीरः गौतमादीन् श्रमणान् निर्ग्रन्थानामन्त्र्यैवमवादीत्—दुःखभयाः प्राणाः, श्रमणाः! आयुष्मन्तः!! तद् खलु भदन्त! दुःखं केन कृतम्? जीवेन कृतं प्रमादेन। तद् खलु भदन्त! दुःखं कथं वेद्यते? अप्रमादेन।

शब्दार्थ—अज्जोति—हे आर्यो! इस प्रकार, **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर, **समणे णिग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रन्थों को, **आमंतेत्ता**—आमन्त्रित करके, **एवं**—इस प्रकार, **वयासी**—बोले, **समणाउसो**—हे श्रमण आयुष्मन्तो, **पाणा**—प्राणियों को, **किं भया**—किस से भय है?, **गोयमादि समणा णिग्गंथा**—गौतमादि श्रमण निर्ग्रन्थ, **समणं भगवं महावीरं**—श्रमण भगवान् महावीर के, **उवसंकमंति**—पास जाते हैं, **उवसंकमित्ता**—समीप जाकर, **वंदंति**—वन्दन, **नमंसंति**—नमस्कार करते हैं, **वंदित्ता**—वन्दन कर, **नमंसित्ता**—नमस्कार कर, **एवं वयासी**—इस प्रकार बोले, **खलु**—निश्चय ही, **देवाणुप्पिया**—हे देवानुप्रिय!, **वयं**—हम, **एयमट्ठं**—इस अर्थ को, **णो जाणामो पासामो**—नहीं जानते, नहीं देखते, **तं**—तो, **जइ**—यदि, **णं**—वाक्यालंकारार्थ में, **देवाणुप्पिया**—आप देवानुप्रिय, **एयमट्ठं**—इस अर्थ को, **परिकहित्तए**—कहने में, **णो गिलायंति**—ग्लानि नहीं मानते हैं तो कहने की कृपा करें, **तमिच्छामो णं**—इस विषय को हम चाहते हैं, **देवाणुप्पियाणं**—आप देवानुप्रिय के, **अंतिए**—समीप, **एयमट्ठं**—इस अर्थ को, **जाणित्तए**—जानना। तब श्री भगवान् कहने लगे, **अज्जोति**—हे आर्यो!, **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर, **गोयमादी समणे णिग्गंथे आमंतेत्ता**—गौतमादि श्रमण निर्ग्रन्थों को सम्बोधित कर, **एवं वयासी**—ऐसे कहने लगे, **समणाउसो**—हे श्रमणो! आयुष्मन्तो! **दुक्खभया पाणा**—प्राणी दुःख से भय मानते हैं, **भंते**—हे भदन्त! **से णं दुक्खे**—वह दुःख, **केण कडे**—किस ने किया? भगवान ने फरमाया—हे श्रमणो!, **जीवेण कडे पमाएण**—जीव ने प्रमाद से किया, **भंते!**—हे भगवन्!, **से णं दुक्खे**—वह दुःख, **कहं वेइज्जति?**—किस प्रकार से भोगा जाता है? भगवान बोले, **अप्पमाएणं**—अप्रमाद से।

मूलार्थ—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने गौतमादि श्रमण निर्ग्रन्थों को आमन्त्रित कर कहा—हे आयुष्मान् श्रमणो! अथवा हे आर्यो! क्या तुम जानते हो कि प्राणियों को किस से भय है? भगवान् के द्वारा संबोधन करने पर श्रमण निर्ग्रन्थ भगवान् महावीर स्वामी के समीप आते हैं। समीप आकर भगवान् को वन्दन-नमस्कार किया और कहने लगे—हे देवानुप्रिय! हम इस अर्थ को नहीं जानते हैं और न सम्यक्तया देखते हैं। यदि आपके सर्व प्रकार से साता है तो आप ही कहने की कृपा करें। हम आपके समीप आपके मुखारविन्द से इस अर्थ को जानना चाहते हैं। तब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने गौतमादि श्रमणों को सम्बोधित करके कहा—हे आर्यो! प्राणी दुःख से भय मानते हैं। यह सुनकर श्रमण कहने लगे—भगवन्! वह दुःख किसने किया? भगवान् उत्तर में बोले—जीवों ने प्रमाद से किया। श्रमण फिर कहने लगे—भगवन्! वह दुख किस तरह भोगा जाता है? उत्तर में भगवान् ने कहा—हे श्रमणो! दुःख अप्रमत्तता से ही भोगा जाता है और क्षय किया जा सकता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में त्रस एवं स्थावर जीवों का वर्णन किया गया है, त्रस वे ही प्राणी हैं जो त्रस्त होते हैं, भयभीत होते हैं। यह सत्य है कि कुछ ऐसे जीव भी हैं जो वाणी द्वारा अपने भय को व्यक्त कर देते हैं और कुछ ऐसे भी जीव हैं जो वाणी के अभाव में उसे व्यक्त नहीं कर पाते हैं, किन्तु भयभीत सभी हैं। भगवान् ने देखा कि गौतमादि श्रमण भय का मूल कारण क्या है इस प्रश्न पर मौन हैं, अतः भगवान् ने उनकी जिज्ञासा को जागृत करने के लिए उन्हें निमन्त्रित कर स्वयं ही उनसे पूछा—

'आयुष्मन् आर्य श्रमणवृन्द! ये समस्त प्राणी भयभीत क्यों हैं? किससे भयभीत हैं? आखिर इन त्रस जीवों के त्रस्त होने का कारण क्या है? कौन इन्हें त्रस्त कर रहा है?

वह गुरु क्या जो शिष्य का हित न चाहे? गुरु का गुरुत्व तो इसी में है कि वह शिष्य को गौरव प्रदान करे। भगवान् ने शिष्यों की हित-इच्छा से जो उनके लिए प्रष्टव्य था वह पूछने के लिए उन्हें स्वयं प्रेरित किया। गुरु ने शिष्यों के लिए तीन सम्बोधन वाक्य कहे, केवल इसलिए कि उन्हें प्रश्न का महत्व ज्ञात हो जाए। सबसे पहले कहा—

आर्यो!—आर्य वह है जो पापों से दूर रहने का यत्न करता है—**आरात् पापकर्मभ्यो याताः आर्याः**। पाप ही भय का कारण है। अतः आर्य कहकर भय के कारण का ज्ञान कराते हुए भगवान ने शिष्यों को संबुद्ध किया है।

आयुष्मन्तः!—आयुवाले। पर यहां आयु वाला कौन है? आयु का तो सभी त्याग कर रहे हैं, मरणाक्रान्त जीवन वाले आयुष्मान् कहां? तो सबके जीवन भयभीत हैं मृत्यु से। मृत्यु भी तो भय का मूल है। भगवान ने शिष्य वर्ग को प्रबुद्ध किया कि मरणाक्रान्त जीवन को और बातों में लगाकर जीवन के अमूल्य क्षणों को क्यों खो रहे हो! उठो और जानो कि भय

का मूल कारण क्या है ? और जानकर भयमुक्त बनो तथा वह जीवन प्राप्त करो जो मृत्यु के भय से मुक्त है। अमर जीवन की प्राप्ति ही तो जीवन-लक्ष्य है, उसे क्यों विस्मृत किए बैठे हो ?

भगवान् ने तीसरा सम्बोधन श्रमण दिया। भगवान् का आशय है कि अब आप 'श्रमण' नाम से प्रसिद्ध हैं और श्रमण वह है जो राग-द्वेष से मुक्त होकर तप में लीन है। राग और द्वेष ही तो भय के कारण है। इन भय-कारणो पर तपस्या द्वारा विजय प्राप्त करके ही आप सच्चे अर्थों में श्रमण कहला सकते हैं, अतः भय का कारण जानने के प्रति आपको उदासीन न होना चाहिए।

भगवान् का यह भी आशय है कि पूर्वगत श्रुत ज्ञान के द्वारा यदि आप लोग भय के कारण को जान चुके हैं तो मैं परीक्षा के रूप मे आपसे पूछना चाहता हूं कि बतलाइए कि प्राणी किससे भयभीत हैं ?

गुरु के प्रेरणात्मक सम्बोधनों से शिष्य उद्‌बुद्ध हुए, प्रभु के पास पहुंचे, वन्दना की और संकेतात्मक भाषा मे बोले—

देवानुप्रिय! आपके सम्बोधन शब्दों एवं अहैतुकी कृपा से ही हम भय के मूल कारण का संकेतात्मक ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, फिर भी पूर्ण गुरु के सामने शिष्य की श्रद्धामयी वाणी कैसे कह सकती है कि हम भय का कारण जानते हैं? अतः गुरुदेव ही भय का मूल कारण बताने की कृपा करें। अब भगवान् ने शिष्यो के माध्यम से समस्त जगत् को भय-मुक्त करने के लिए अपनी अभय वाणी में कहा—

'श्रमणवृन्द! मनुष्य सदा भय-भीत रहता है, प्राप्त-अप्राप्त दुःखो से। प्राप्त दुःखों को भोगते हुए वह दुःखी होता है और अप्राप्त दुःखों की सम्भावना भी उसे दुःखी बना देती है। इस प्रकार दुःखों के आगमन-भय से ही समस्त जीव संत्रस्त हो रहे है।'

प्रश्न है कि दुःखों की उत्पत्ति का क्या कारण है? क्यों न उस स्रोत को जानकर अवरुद्ध किया जाए जहां से दुःखों का प्रवाह निरन्तर फूट रहा है। प्रभु ने इस स्रोत का ज्ञान कराते हुए कहा—

'दुखों का मूल कारण है जीव का प्रमाद।' यहां 'प्रमाद' शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है, केवल असावधानी ही प्रमाद का अर्थ नहीं है। प्रमाद के व्यापक अर्थ पर प्रकाश डालते हुए आचार्य कहते हैं—

पमाओ य मुणिंदेहिं, भणिओ अट्‌ठभेयओ।
अन्नाणं संसओ चेव, मिच्छाणाणं तहेव य॥
रागो दोसो मइब्भंसो, धम्मंमि य अणायरो।
जोगाण दुप्पणिहाणं, अट्‌ठहा वज्जियव्वओ॥

मुनिवृन्द ने प्रमाद के आठ रूप माने हैं—

(१) **अज्ञान**—सांसारिक यथार्थता से अपरिचित व्यक्ति ही जीवन के उत्थान के प्रति असावधान रहता है और वह असावधानी उसके दु:ख का कारण बन जाती है।

(२) **संशय**, (३) **मिथ्याज्ञान**—जब तक मनुष्य के हृदय में किसी भी वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता, तब तक वह दुविधा में पड़ा रहता है और 'दुविधा में दोनों गए, माया मिली न राम' की कहावत प्रसिद्ध है और प्रसिद्ध है **"संशयात्मा विनश्यति"** यह विनाश ही तो दु:ख है।

कभी-कभी मनुष्य असत्य को सत्य मान लेता है, संयमहीनता असत्य का ही एक रूप है, परन्तु समस्त सामान्य जीव असंयम को ही जीवन का सत्य-ध्येय मानकर सांसारिकता के जाल-जंजाल में उलझे हुए हैं।

(४) **राग** (५) **द्वेष**—राग आकर्षण है, मोह है, एवं आसक्ति है। यह नियम है कि यदि एक में राग केन्द्रित होता है तो उस राग के बाधक व्यक्तियों एवं वस्तुओं के प्रति द्वेष होता है। राग और द्वेष मनुष्य को पतंग के समान झकझोरे देकर सांसारिकता के आकाश में उड़ाते रहते हैं। यह उड़ान ही मनुष्य के दु:ख का स्रोत है।

(६) **मतिभ्रंश**—मतिभ्रंश का अर्थ है बुद्धि का विनाश और यह सिद्धान्त है—**'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'** बुद्धि का नाश ही जीवन के समस्त सुख-स्रोतों को अवरुद्ध कर देता है। जब मनुष्य में चिन्तन-शक्ति ही न होगी तो वह दुखी न होगा तो क्या होगा?

(७) **धर्म में अनादर**—कर्त्तव्य ही धर्म है और कर्त्तव्य-मार्ग का परित्याग ही अधर्म है। जब मनुष्य कर्त्तव्य-विमुख हो जाता है तो वह धर्म से विमुख हो जाता है और अपने पापों का समर्थन करने के अनेक प्रकार के उपाय सोचने लगता है। मकड़ी अपने जाले में आप ही फंसती है और मरती है, इसी प्रकार कर्त्तव्य की उपेक्षा करने वाले स्वयं ही विनष्ट होते हैं।

(८) **अकुशल योग**—दुष्प्रवृत्तियों में मन, वचन और इन्द्रियों को लगाने से भी मानव दु:खों के जाल में फंस जाता है।

उसके अतिरिक्त मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा—अकथनीय का कथन भी प्रमाद ही हैं। ये प्रमाद आदि ही दु:ख के स्रोत हैं।

अब प्रश्न है कि इन दु:खों का अवरोध कैसे हो? इसी का समाधान प्रस्तुत करते हुए प्रभु-वाणी ने समझाया—अप्रमाद अर्थात् शुद्ध संयम ही वह साधन है जो भयकारी दु:खों के स्रोत को अवरुद्ध कर सकता है, क्योंकि शुद्ध संयम ही वह महान् शक्ति है जो कर्मक्षय के चक्र को तीव्र गति प्रदान करती है और साथ ही संयमी की कर्मभोग-जन्य दु:ख से रक्षा करती है। शुद्ध संयम कर्मों की तीव्र गति से निर्जरा कर देता है और संयमी को निर्जरा की

अवस्था में दुखानुभूति भी नहीं होने देता है, अतः शुद्ध संयम अर्थात् अप्रमाद ही दुःखों का विनाश कर सकता है।

अप्रमाद से दुःखों का नाश और दुख-नाश से भय-मुक्ति होती है। भय-मुक्त ही शुद्ध अहिंसा का पालन कर सकता है, क्योंकि हिंसा वही करता है जो भयभीत है और उसी की हिंसा पर उतारू होता है जिससे भयभीत होता है।

दुःख भी कृतकर्म का फल है

मूल—अन्नउत्थिया णं भंते! एवं आइक्खंति, एवं भासंति, एवं पन्नवेंति, एवं परूवेंति—कहन्नं समणाणं निग्गंथाणं किरिया कज्जति?

तत्थ जा सा कडा कज्जइ, नो तं पुच्छंति।

तत्थ जा सा कडा नो कज्जति, नो तं पुच्छंति।

तत्थ जा सा अकडा, नो कज्जति, नो तं पुच्छंति।

तत्थ जा अकडा कज्जति, से एवं वत्तव्वं सिया?—

अकिच्चं दुक्खं, अफुसं दुक्खं, अकज्जमाणकडं दुक्खं, अकट्टु-अकट्टु पाणा भूया-जीवा-सत्ता वेयणं वेदेंति त्ति वत्तव्वं। जे ते एवमाहंसु, मिच्छा ते एवमाहंसु।

अहं पुण एवमाइक्खामि, एवं भासामि, एवं पन्नवेमि, एवं परूवेमि—किच्चं दुक्खं, फुस्सं दुक्खं, कज्जमाणकडं दुक्खं, कट्टु-कट्टु पाणा, भूया, जीवा, सत्ता, वेदणं वेदेंति त्ति वत्तव्वं सिया॥ ४९॥

छाया—अन्ययूथिकाः खलु भदन्त! एवमाख्यान्ति, एवं भाषन्ते, एवं प्रज्ञापयन्ति, एवं प्ररूपयन्ति—कथं श्रमणानां निर्ग्रन्थानां क्रिया क्रियते? तत्र या सा कृता क्रियते, नो तत्पृच्छन्ति। तत्र याऽसौ कृता नो क्रियन्ते, नो तत्पृच्छन्ति। तत्र याऽसावकृता नो क्रियते, नो तत्पृच्छन्ति। तत्र याऽसावकृता क्रियते, तत्पृच्छन्ति। तदेवं वक्तव्यं स्यात्? अकृत्यं दुःखम्, अस्पृश्यं दुःखम्, अक्रियमाणकृतं दुःखम्, अकृत्वा-अकृत्वा प्राणाः, भूताः, जीवाः, सत्त्वा, वेदनां वेदयन्ति इति वक्तव्यम्। ये ते एवमाहुः, मिथ्या ते एवमाहुः।

अहं पुनरेवमाख्यामि, एवं प्रज्ञापयामि, एवं प्ररूपयामि—कृत्यं दुःखम्, स्पृश्यं दुःखम्, क्रियमाणकृतं दुखम्, कृत्वा-कृत्वा प्राणाः, भूताः, जीवाः, सत्त्वाः वेदनां वेदयन्ति, इति वक्तव्यं स्यात्।

शब्दार्थ—भंते!—भदन्त!, **अन्नउत्थिया णं**—अन्य दार्शनिक, **एवं**—इस प्रकार,

आइक्खंति—कहते हैं, **एवं भासंति**—ऐसा भाषण करते हैं, **एवं पन्नवेंति**—ऐसे प्रज्ञापित करते हैं, **एवं परूवेंति**—ऐसी प्ररूपणा करते हैं, **कहन्नं**—किस प्रकार, **समणाणं णिग्गंथाणं**—श्रमण-निर्ग्रन्थों के मत में, **किरिया**—किया हुआ कर्म, **कज्जति**—किए हुए कर्म का फल किस प्रकार दुःख रूप में भोगते हैं। इसमें चार भंग कहे गए हैं, जैसे—**तत्थ**—उनमें से, **जा**—जो, **सा**—वह क्रिया रूप कर्म, **कडा**—किया हुआ, **कज्जइ**—भोगा जाता है, **तं**—उसको, **नो पुच्छंति**—नहीं पूछते हैं, **तत्थ**—उनमें, **जा**—जो, **सा**—वह क्रिया रूप कर्म, **कडा**—किया हुआ, **नो कज्जति**—दुःख रूप नहीं होता अर्थात् किया हुआ कर्म भोगने में नहीं आता, **तं**—उसे, **नो पुच्छंति**—नहीं पूछते हैं, **तत्थ**—उनमें, **जा**—जो, **सा**—वह क्रिया रूप कर्म, **अकडा**—न किया हुआ, **नो कज्जति**—भोगने में नहीं आता है, **तं**—उसे, **नो पुच्छंति**—नहीं पूछते हैं, **तत्थ**—उनमें से, **जा**—जो, **सा**—वह क्रिया रूप कर्म, **अकडा कज्जति**—पूर्वकाल में नहीं किया, किन्तु भोगने में आता है, **तं**—उसे **पुच्छंति**—पूछते हैं, **से**—वह, **एवं**—इस प्रकार, **वत्तव्वं सिया?**—कहना चाहिए? अर्थात् क्या ऐसा मानना चाहिए? अतः, **अकिच्चं दुक्खं**—बिना किया हुआ दुःख, **अफुसं दुक्खं**—अस्पृश्य दुःख, **अकज्जमाणं कडं दुक्खं**—अक्रियमाण किया हुआ दुःख, **अकट्टु-अकट्टु**—नहीं करके-नहीं करके, **पाणा**—द्वीन्द्रियादि प्राणी, **भूया**—वनस्पति, **जीवा**—पञ्चेन्द्रिय जीव, **सत्ता**—पृथ्व्यादि स्थावर जीव, **वेयणं**—वेदना, **वेदेंति त्ति**—भोगते हैं, इस प्रकार, **वत्तव्वं सिया**—कहना चाहिए, **जे**—जो, **ते**—वे, **एवमाहंसु**—ऐसा कहते हैं, **ते**—वे, **मिच्छा एवमाहंसु**—मिथ्या भाषण करते हैं, **पुण**—पुनः, **अहं**—मैं, **एवमाइक्खामि**—ऐसा कहता हूं, **एवं भासामि**—ऐसा भाषण करता हूं, **एवं पन्नवेमि**—ऐसा प्रज्ञापित करता हूं, **एवं परूवेमि**—ऐसा प्ररूपण करता हूं, **किच्चं दुक्खं**—किया हुआ दुःख, **फुसं दुक्खं**—स्पृष्ट दुःख, **कज्जमाण कडं दुक्खं**—किया हुआ कर्म रूप दुःख, **कट्टु-कट्टु**—कर-कर के, **पाणा**—प्राणी, **भूया**—भूत, **जीवा**—जीव, **सत्ता**—सत्त्व, **वेयणं**—वेदना, **वेदेंति त्ति**—भोगते हैं, ऐसा, **वत्तव्वं सिया**—कहना चाहिए।

मूलार्थ—भगवन! अन्य दार्शनिक लोग ऐसा कहते हैं, ऐसा भाषण करते हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं और ऐसी प्ररूपणा करते हैं, कि किस प्रकार श्रमण निर्ग्रन्थों के मत में कर्म दुःखरूप होते हैं। जिस किए हुए कर्म के फल रूप दुःख को भोगा जाता है, उसको हम नहीं पूछते। जिस किए हुए कर्म का फल नहीं भोगा जाता, उसको भी हम नहीं पूछते। जो किया नहीं और उसका फल भी भोगने में नहीं आता, उसको भी नहीं पूछते। जो किया नहीं, उसके फल को भोगा जाता है, उसको पूछते हैं, क्या ऐसा मानना चाहिए। बिना किए हुए कर्म का फल रूप दुःख, अस्पृश्य दुःख, अक्रियमाण कृत दुःख, बिना किए प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व

वेदना भोगते हैं, ऐसा कहना चाहिए? जो ऐसा कहते हैं, वे मिथ्या कहते हैं। पुनः मैं इस प्रकार कहता हूं, भाषण करता हूं, प्रज्ञापित करता हूं, प्ररूपण करता हूं कि किया हुआ दुःख, स्पृश्य दुःख, क्रियमाण कृत दुःख को पुनः-पुनः करके प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व वेदना भोगते हैं। इस तरह कहना चाहिए, अर्थात् जीव किए हुए कर्म का फल दुःख रूप में भोगते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में भगवान् ने मनुष्य को भयभीत करने वाले दुःखों का मूल कारण प्रमाद माना है। प्रमाद मानव के कृतकर्मों का ही एक रूप है, अतः कृतकर्म ही दुःख के कारण हैं।

भगवान् श्री महावीर के समय कर्मवाद का विश्लेषण करने वाले अनेक मत-मतान्तर प्रचलित थे और कर्मफल-भोग के विषय में भी उनकी भिन्न-भिन्न मान्यताएं प्रसिद्ध थीं। जैन-परिभाषा में जैन-संघ से भिन्न मान्यता रखने वालों को अन्ययूथिक कहा जाता है। भगवान् के शिष्यों ने उन अन्ययूथिकों की अनेक मान्यताएं पढीं और सुनीं, अतः उनके हृदय में कर्मफल-भोग के विषय में कुछ संशयात्मक वृत्तियां जाग उठीं। संशय प्रमाद का ही एक रूप है और प्रमाद को दुःख का कारण बताया गया है, अतः संशयरूप प्रमाद का निवारण आवश्यक था। उसी प्रमाद के निवारण के लिए श्री गौतम गणधर जी ने प्रश्न किया—भगवन्! आज के विचारक वृन्द में एक ऐसा विचारक समुदाय है जिसकी धारणा है कि "**पूर्वकृत कर्म ही जीवों के दुःख के कारण हैं।**" और वे इस धारणा का समाज में प्रचार कर रहे हैं। उनकी यह मान्यता जैन-सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है, क्योंकि सभी जीव अपने द्वारा किए हुए कर्म-फल का ही तो भोग कर रहे हैं।

गुरुदेव! कुछ विचारक इन शब्दों में जनता के समक्ष कर्मवाद की स्थापना दूसरे प्रकार से कर रहे हैं कि '**कुछ ऐसे भी जीव होते हैं जो कृतकर्मों का फल नहीं भोगते।**' यह सिद्धान्त भी निर्ग्रन्थ श्रमणों द्वारा मान्य है, क्योंकि तप एवं संयमरूप अग्नि में कर्म-बीजों के दग्ध हो जाने पर उनमें फल-दान की शक्ति ही नहीं रह जाती है।

प्रभो! ऐसे अन्ययूथिक विचारक भी हैं जिनका यह सिद्धान्त है कि "**जो कर्म जीव के द्वारा नहीं किए गए वे कर्म जीव के लिए दुःखमूल भी नहीं हो सकते।**" यह सिद्धान्त भी आपके उपदेश के अनुकूल है, क्योंकि जो करेगा नहीं, वह भरेगा क्यों—जो करता है, वही तो भरता है, अतः यह सिद्धान्त भी हमारे लिए संशय का कारण नहीं हो सकता, अतः इस सिद्धान्त के विषय में भी हमारा कोई प्रश्न नहीं है।

भगवन्! आज एक ऐसा दार्शनिक समूह भी है जिसका यह विश्वास है कि—"**कभी-कभी मनुष्य उन कर्मों का फल भी भोगता है जो उसने नहीं किए हैं।**"

यह सिद्धान्त ही हमारे संशय का मूल है, अन्ययूथिक विद्वान इस सिद्धान्त का अनेक-

विध युक्तियों द्वारा प्रतिपादन करते हैं, भाषणों द्वारा जनता को इस सिद्धान्त का ज्ञान कराते हैं। वे इस प्रकार की युक्तियां देते हैं—

एक तपस्वी कहीं पर वर्षों से तप कर रहा है, वह पाप कर्मों से सर्वथा दूर है, परन्तु किसी शिकारी द्वारा छोड़ा गया बाण अचानक उसे लगता है और उसका प्राणान्त हो जाता है। इस दृष्टान्त से यह ध्वनित होता है कि जन्म-भर तप करने वाले तपस्वी को बाण- वेध की वेदना कर्मफल से नहीं, अचानक प्राप्त हुई है, अतः उसने अकृत कर्म का ही तो फल भोगा है।

इसी सिद्धान्त की हम स्पष्टता चाहते हैं और जानना चाहते हैं कि यह सिद्धान्त सत्यता की कसौटी पर कितना खरा उतरेगा?

श्री भगवान् ने अनुगामी वर्ग की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा—**मिथ्या ते एवमाहु**—इस सिद्धान्त के प्रचारक जो कुछ कहते हैं, वह सत्य नहीं माना जा सकता। मेरा यही कथन है, मेरे भाषण का सार यही है और कर्म-विवेचना की प्रणाली का तत्त्व भी यही है कि प्राणी अर्थात् विकलेन्द्रिय जीव चींटी आदि, भूत अर्थात् वनस्पतिकायिक जीव, सत्व अर्थात् पृथ्वीकाय आदि स्थावर जीव और जीव नाम से प्रसिद्ध पंचेन्द्रिय जीव, उसी कर्म का फल पाते हैं जो उनके द्वारा किया जा रहा है। किए हुए कर्म ही जीव के दुखों के मूल कारण हैं और किए हुए दुख ही जीव के लिए कर्मबन्ध का कारण बनते हैं।

यदि जीव को अकृतकर्मों के फल भी भोगने पड़ें तो इस संसार का कोई भी जीव कर्मबन्ध से मुक्त होकर भी दुःखों से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकेगा, क्योंकि हो सकता है कि उसे भी अकृत कर्म का फल भोगना पड़ जाये।

जिस प्रकार मूल का जल प्रत्येक शाखा एवं पत्र को पहुंच जाता है, मनुष्य की खाई हुई औषधि पेट में जाने पर शरीर के समस्त रोगों को दूर कर देती है, इसी प्रकार जीव द्वारा किए जाते हुए कर्म जन्म-जन्मान्तरों तक प्राणी को भोगने पड़ते हैं, अतः आकस्मिक दुख भी पूर्व जन्म के कर्म का ही फल होते हैं।

श्री 'कबीर' ने जैन सिद्धान्त का खुली भाषा में समर्थन करते हुए ठीक ही कहा है—

"कबिरा तेरी झोंपड़ी, गलकटियन के पास।
करमगे सो भरनगे, तू क्यों भया उदास॥"

इस प्रकरण में यह जानना भी अत्यावश्यक होगा कि जीव द्वारा की जाने वाली क्रिया अर्थात् कर्म को ही क्रियमाण कर्म कहा जाता है। क्रियमाण कर्मबन्ध योग्य बनकर आत्म-प्रदेशों में संचित होते जाते हैं, इस प्रकार क्रियमाण कर्म कृतकर्म का रूप धारण कर फल के योग्य हो जाते हैं।

कभी-कभी क्रियमाण कर्म इतनी तीव्र गति से आत्मप्रदेशों के साथ संबद्ध हो जाता

है कि वह पूर्व-कृत कर्मों के साथ मिलकर तत्काल फल दे देता है।

मान लीजिए कि एक दुष्प्रकृति व्यक्ति पूर्व-जन्मकृत कर्म-बन्ध से प्रेरित होकर चोरी करता है, चोरी जैसे दुष्कर्म में उसकी प्रवृत्ति पूर्व जन्मार्जित कर्म का यदि फल है, तो चोरी करते हुए पकड़े जाने पर उसे तुरन्त लोग मारने लग जाते हैं, इस प्रकार उसे उस समय किए गए कर्म-फल का भोग भोगना पड़ता है।

जैन-दर्शन कर्म-सिद्धान्त के इस त्रिक को ही स्वीकार करता है, कर्म के इस त्रिभंगात्मक रूप को लक्ष्य में रखकर ही उसे इस तृतीय स्थान में स्थान दिया गया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कृतकर्म और क्रियमाण कर्म—दोनों का ही जीव को फल भोगना पडता है।

॥ तृतीय स्थान का द्वितीय उद्देशक पूर्ण ॥
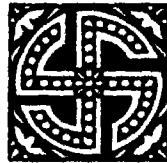
तृतीय-स्थान

तृतीय उद्देशक

इस तृतीय उद्देशक में आलोचना के कारण, पुरुष-भेद, साधूचित वस्त्र-पात्र, आत्मरक्षा, ग्रहणीय जल, साम्भोगिक, विसाम्भोगिक, अनुज्ञा, उपसम्पत्, वचन-अवचन, मन-अमन, अल्पवृष्टि-महावृष्टि, पृथ्वी पर देवों के आगमन-अनागमन के कारण, देवों की इच्छा, च्यवन-ज्ञान, एवं उद्वेग, देव-विमान, नारकजीव, ऊनोदरी तप, कर्म भूमि, दर्शन, रुचि, प्रयोग, व्यवसाय, पुद्गल नरक और मिथ्यात्व आदि का वर्णन किया गया है।

आलोचना न करने और करने के कारण

मूल—तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु णो आलोएज्जा, णो पडिक्कमेज्जा, णो णिंदिज्जा, णो विउट्टेज्जा, णो विसोहेज्जा, णो अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा, णो अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जेज्जा, तं जहा—अकरिसुं वाऽहं, करेमि वाऽहं, करिस्सामि वाऽहं।

तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु णो आलोएज्जा, णो पडिक्कमिज्जा, जाव णो पडिवज्जेज्जा, अकित्ती वा मे सिया, अवण्णे वा मे सिया, अविणए वा मे सिया।

तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु णो आलोएज्जा, जाव नो पडिवज्जेज्जा, तं जहा—कित्ती वा मे परिहाइस्सइ, जसो वा मे परिहाइस्सइ, पूयासक्कारे वा मे परिहाइस्सइ।

तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु आलोएज्जा, पडिक्कमेज्जा जाव

पडिवज्जेज्जा, तं जहा—मायिस्स णं अस्सिं लोगे गरहिते भवइ, उववाए गरहिते भवइ, आयाती गरहिता भवइ।

तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा, तं जहा—अमायिस्स णं अस्सिं लोगे पसत्थे भवइ, उववाए पसत्थे भवइ, आयाई पसत्था भवइ।

तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा, तं जहा—णाणट्ठयाए, दंसणट्ठयाए, चरित्तट्ठयाए ॥ ५० ॥

छाया—त्रिभिः स्थानैर्मायावी मायां कृत्वा नो आलोचयति, नो प्रतिक्रामयति, नो निन्दयति, नो वित्रुटयति, नो विशोधयति, नोऽकरणतयाऽभ्युत्तिष्ठति, नो यथार्हं प्रायश्चित्तं तपःकर्म प्रतिपद्यते तद्यथा—अकार्षं वाऽहम्, करोमि वाऽहम्, करिष्यामि वाहम्।

त्रिभिः स्थानैर्मायी मायां कृत्वा नो आलोचयति, नो प्रतिक्रामयति, यावन्नो प्रतिपद्यते, अकीर्त्तिर्वा मे स्यात्, अवर्णो वा मे स्यात् अविनयो वा मे स्यात्।

त्रिभिः स्थानैर्वा मायी मायां कृत्वा नो आलोचयति, यावन्नो प्रतिपद्यते तद्यथा—कीर्त्तिर्वा मे परिहास्यति, यशो वा मे परिहास्यति, पूजासत्कारो वा मे परिहास्यति।

त्रिभिः स्थानैर्मायी मायां कृत्वा आलोचयति, प्रतिक्रामयति यावत् प्रतिपद्यते, तद्यथा—मायिनः खलु अयं लोको गर्हितो भवति, उपपातो गर्हितो भवति, आयाति-गर्हिता भवति।

त्रिभिः स्थानैर्मायी मायां कृत्वा आलोचयति, यावत् प्रतिपद्यते, तद्यथा—अमायिनः खल्वयं लोकः प्रशस्तो भवति, उपपातो प्रशस्तो भवति, आयातिः प्रशस्ता भवति। त्रिभिः स्थनैर्मायी मायां कृत्वा आलोचयति, यावत्प्रतिपद्यते, तद्यथा—ज्ञानार्थतया, दर्शनार्थतया, चारित्रार्थतया।

शब्दार्थ—तिहिं ठाणेहिं—तीन स्थानों से, **मायी**—मायावी, **मायं कट्टु**—माया करके, **णो आलोएज्जा**—आलोचना नहीं करता, **णो पडिक्कमेज्जा**—उस पाप से पीछे नहीं हटता, **णो णिंदिज्जा**—आत्म-साक्षी से निन्दा नहीं करता, **णो गरहिज्जा**—गुरु साक्षी से गर्हा नहीं करता, **णो विउट्टेजा**—अध्यवसाय को त्रुटित नहीं करता, **णो विसोहेज्जा**—अतिचार लगने से आत्मा की विशुद्धि भी नहीं करता, **णो अकरणयाए**—पुनः न करने के लिए, **णो अब्भुट्ठेज्जा**—उद्यत नहीं होता, **अहारिहं**—यथायोग्य, **पायच्छित्तं**—प्रायश्चित्त, **तवोकम्मं**—तपः कर्म, **णो पडिवज्जेज्जा**—ग्रहण नहीं करता, **तं जहा**—जैसे कि, **अकरिंसु वाऽहं**—मैंने पूर्वकाल में कर्म किया है, **करेमि वाऽहं**—वर्तमान में करता हूं, और **करिस्सामि वाऽहं**—भविष्य में भी करता ही रहूंगा।

तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु—तीन स्थानों से मायावान माया करके, **णो आलोएज्जा**—आलोचना नहीं करता, **णो पडिक्कमेज्जा**—पीछे नहीं हटता, **जाव**—यावत्, **णो पडिवज्जेज्जा**—प्रायश्चित्त आदि ग्रहण नहीं करता, **तं जहा**—जैसे, **अकित्ती वा मे सिया**—मेरी अकीर्ति होगी, अथवा **अवण्णे वा मे सिया**—मेरा अवर्णवाद होगा, **अविणए वा मे सिया**—मेरी अविनय होगी।

तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु—तीन स्थानों से मायावान् माया करके, **णो आलोएज्जा**—आलोचना नहीं करता, **जाव**—यावत्, **नो पडिवज्जेज्जा**—प्रायश्चित्त ग्रहण नहीं करता, **तं जहा**—जैसे, **कित्ती वा मे परिहाइस्सइ**—मेरी कीर्त्ति की हानि होगी, **जसो वा मे परिहाइस्सइ**—मेरे यश की हानि होगी, **पूयासक्कारे वा मे परिहाइस्सइ**—मेरे पूजा सत्कार को हानि पहुंचेगी।

तिहिं ठाणेहिं—तीन स्थानों से, **मायी मायं कट्टु**—मायावी माया करके, **आलोएज्जा**—आलोचना करता है, **तं जहा**—जैसे, **मायिस्स णं**—मायावी की, **अस्सिं लोगे गरहिए भवइ**—इस लोक में गर्हित होता है, **उववाए गरहिए भवइ**—उपपात गर्हित होता है, **आयाती गरहिता भवइ**—मनुष्य गति भी गर्हित होती है।

तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु—तीन स्थानों से मायावान माया करके, **आलोएज्जा**—आलोचना करता है, **जाव**—यावत्, **पडिवज्जेज्जा**—प्रायश्चित्त ग्रहण करता है, **तं जहा**—जैसे, **अमायिस्स णं**—माया रहित व्यक्ति का, **अस्सिं लोगे पसत्थे भवति**—यह लोक प्रशस्त होता है, **उववाए पसत्थे भवति**—उपपात प्रशस्त होता है, **आयाइ पसत्था भवति**—मनुष्य गति भी प्रशस्त होती है।

तिहिं ठाणेहिं—तीन स्थानों से, **मायी मायं कट्टु**—मायावी माया करके, **आलोएज्जा**—आलोचना करता है, **जाव**—यावत्, **पडिवज्जेज्जा**—प्रायश्चित्त स्वीकार करता है, **तं जहा**—जैसे, **णाणट्ठयाए**—ज्ञान की प्राप्ति के लिए, **दंसणट्ठयाए**—दर्शन की प्राप्ति के लिए, **चरित्तट्ठयाए**—चारित्र की शुद्धि के लिए।

मूलार्थ—तीन कारणों से कपटी मनुष्य कपटपूर्ण कार्य करके अपनी आलोचना आप नहीं करता, न उन कपट-कार्यों से पीछे हटता है, न ही अपने कपटाचरणों की निन्दा करता है, न ही गुरु-साक्षी से अपनी भूलों को स्वीकार करता है, न ही अपनी अन्तर्भावनाओं का कपटाचरण से सम्बन्धविच्छेद करता है, न ही अपने चारित्र की शुद्धि करता है, कपटाचरण को पुनः न करने की प्रतिज्ञा भी नहीं करता और पापाचरण के फल की निवृत्ति के लिए उचित तपःकर्म रूप प्रायश्चित्त भी ग्रहण नहीं करता, (क्योंकि वह सोचता है कि—) मैं पहिले जो कपटाचरण करता रहा हूं, वही अब भी कर रहा हूं और आगे भी मैंने ये ही कपटाचरण करने हैं, (तो प्रायश्चित्तादि से लाभ ही क्या है?)।

तीन अन्य कारणों से भी कपटी मनुष्य अपने पापाचरणों की आलोचना नहीं करता, उनकी निन्दा नहीं करता, उनसे दूर नहीं हटता, अपनी भूल स्वीकार नहीं करता, अपनी भावनाओं का पापाचरणों से सम्बन्ध नहीं तोड़ता, चारित्र-शुद्धि नहीं करता, पुनः पापाचरण न करने की प्रतिज्ञा भी नहीं करता, और उचित प्रायश्चित्त भी नहीं करता, (क्योंकि वह जानता है कि ऐसा करने से समाज में) मेरा अपयश होगा, अप्रतिष्ठा होगी और मेरा अविनय होगा।

अन्य तीन कारणों से भी मायी अपने पापों की आलोचना नहीं करता, निंदा नहीं करता, उनसे दूर नहीं हटता, भूल स्वीकार नहीं करता, पापों से भावनाओं को विमुख नहीं करता, चारित्र शुद्धि के लिए यत्न नहीं करता, पुनः पाप कर्म न करने की प्रतिज्ञा नहीं करता और कृतपापाचरणों का प्रायश्चित्त नहीं करता (क्योंकि वह यह समझता है कि ऐसा करने से आज तक समाज में जो मेरी कीर्ति फैल चुकी है) वह कीर्ति नष्ट हो जाएगी, चारों ओर फैला मेरा यश समाप्त हो जाएगा और (समाज में जो मेरा पूजा-सत्कार होता आया है वह) पूजा-सत्कार भी बन्द हो जाएगा।

तीन कारण ऐसे हैं जिनसे प्रेरित होकर कपटी व्यक्ति अपने कपटाचरणों की स्वयं सबके समक्ष आलोचना करता है, अपने कपटाचरणों से पीछे हट जाता है, अपने पापों की आप ही निन्दा करता है, अपनी भूलों को स्वयं ही स्वीकार कर लेता है, अपनी भावनाओं का पापों से सम्बन्ध तोड़ लेता है, अपने चारित्र की शुद्धि के लिए यत्नशील हो जाता है, पुनः पाप न करने की प्रतिज्ञा करता है और पूर्वकृत पापों से मुक्त होने के लिए उचित प्रायश्चित्त ग्रहण करता है, (क्योंकि वह जानता है कि पापाचरण करने वाले व्यक्ति के लिए) न यह लोक सुखकारी होता है, न परलोक सुखकारी होता है और पुनः जन्म लेने पर भी उसके लिए यह लोक सुखकारी नहीं हो सकता।

अन्य तीन कारणों से भी मायाचारी व्यक्ति अपने पापाचरणों की आलोचना एवं निन्दा करता है,पापाचरणों से दूर हटता एवं अपनी भूल स्वीकार करता है, अपनी भावनाओं को पाप-विमुख कर लेता है, पुनः न करने की प्रतिज्ञा करता है, चारित्र-शुद्धि के लिए यत्नशील होकर प्रायश्चित करता है, (क्योंकि वह समझता है कि ऐसा करने से मेरे लिए) यह लोक मंगलकारी हो जाएगा, देवलोक भी मेरे लिए मंगलमय हो जाएगा और देवलोक से पुनः धरती पर आगमन भी मेरे लिए कल्याणकारी बन जाएगा।

तीन अन्य प्रयोजनों से भी मायी पापाचरणों की आलोचना एवं निन्दा करते हुए उनसे दूर हटता है, भूल स्वीकार कर अपनी मनोवृत्तियों को पापों से हटाता है, पुनः न करने की प्रतिज्ञा करता है, चित्त-शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त करता है, (क्योंकि वह जानता है कि ऐसा करने पर ही) वह ज्ञान प्राप्त कर सकता है, सम्यग्-दर्शन की उसे प्राप्ति हो सकती है और उसका चारित्र निर्मल हो सकता है।

विवेचनिका—द्वितीय उद्देशक में नाना रूपों में जीव-धर्म का प्रतिपादन किया गया है, इस तृतीय उद्देशक में भी जीव-धर्म विवेचना को ही प्रमुखता दी जाएगी। जीवों में सामान्यरूप से दो प्रकार के धर्म प्राप्त होते हैः—स्वाभाविक धर्म और वैभाविक धर्म। प्रत्येक धर्म के अनन्त-अनन्त भेद हैं। प्रस्तुत सूत्र में मुख्यतया उन्हीं भेदों का उल्लेख किया गया है। अपने दोषों की स्वयं आलोचना करना ऋजुता है और आलोचना न करना वक्रता है। माया वह दोष है जो जीवन की गन्दगी को छिपाती है और ऋजुता जीवन में व्याप्त दोषरूपी सड़ांध को नष्ट कर देती है। जीव प्रमाद से दोषों का स्वागत करता है और अप्रमाद से उन्हें निकाल देता है। जो पाप ज्ञात या अज्ञात कारण से हो जाए तो उस पाप की गुरु के समक्ष सम्यक्तया आलोचना करनी चाहिए, अर्थात् जिन-जिन कारणों के उपस्थित होने पर कुकृत्य बन पडा हो, वे सब गुरु के आगे निवेदन कर देने चाहिएं, इसी को आलोचना कहा जाता है। इसके द्वारा आत्मा व चारित्र की विशुद्धि होती है। आत्म-साक्षी से कृतपाप कर्म की निन्दा और पाप की निवृत्ति के लिए किया गया प्रायश्चित्त और गुरु के समक्ष की गई गर्हा अर्थात् भूलों की स्वीकृति जन्म-जन्मान्तरों के बन्धन काट देती है तथा आत्मा और चारित्र को विशुद्ध, स्वच्छ एवं मंगलकारी बना देती है। अतः आलोचना, निन्दना और गर्हा, ये तीन साधक के लिए साधनापथ की सुन्दर कल्याणमयी पगडंडियां हैं।

जब साधक पाप-कर्म करता है तो वह माया के वश होकर ही करता है। माया के बिना कोई भी दोष मनुष्य से नहीं होता है। माया ही ऐसा पर्दा है जिससे पापी अपने पापों को छुपाता है। जब तक साधक दोषों को छिपाता रहता है तब तक उस साधक को मायी कहा जाता है। अपने पापों को छिपाने के क्या भयंकर परिणाम होते हैं, उनका निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

माया करने वाले साधकों के लिए यह लोक गर्हित हो जाता है, उपपात अर्थात् इस लोक से मृत्यु पाकर जब किसी देवलोक में उत्पन्न होता है तो उसका वह स्थान या जन्म गर्हित हो जाता है। अन्य किसी देव-लोक की आयु पूर्णकर जब वह पुनः मनुष्य-जन्म धारण करता है तब वह जन्म या स्थान भी गर्हित, निन्दनीय एवं दुःखरूप हो जाता है।

अपने दोषों को न छिपाने वाले एवं उनकी निन्दा, गर्हणा तथा प्रायश्चित्त करने वाले साधक के लिए यह लोक भी प्रशस्त होता है, उपपात भी प्रशस्त होता है—अर्थात् परलोक में भी वह सुख-मय देवलोक में निवास करता है और देवलोक से लौटकर पुनः वह

मनुष्यभव भी पुण्य-कार्य करने का अवसर देने वाला, प्रशंसनीय एवं आनन्दकारी ही प्राप्त करता है।

किए हुए पापों की आलोचना, निन्दा और गर्हा अर्थात् भूल हो जाने की स्वीकृति से ज्ञान की वृद्धि होती है, दर्शन की विशुद्धि होती है और चारित्र की भी शुद्धि होती है। आलोचना, निन्दा और गर्हा के पथ पर चलने वाला साधक अपने हृदय-कुण्ड में प्रायश्चित्त एवं तप की जो ज्वाला प्रज्वलित करता है, उसमें उसके समस्त पापकर्म जलकर राख हो जाते हैं।

सामान्यतया कीर्ति और यश—दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, परन्तु कीर्ति और यश में सूक्ष्म अन्तर अवश्य है, यही कारण है कि सूत्रकार ने कीर्ति और यश दोनों की पृथक्-पृथक् स्थापना की है। कीर्ति उसे कहा जाता है—जो केवल क्षेत्र विशेष तक सीमित रहती है और जो पूर्वार्जित पुण्य-फल के रूप में ही उपलब्ध होती है। यश वह है—जो दूर-दूर तक फैल जाता है और जिसको मनुष्य पुरुषार्थ-बल से संचित करता है।

सूत्रकार ने मायी द्वारा निन्दा आदि न करने के दो कारण उपस्थित किए हैं। प्रथम कारण में कहा गया है—मायी यह समझता है कि मेरी अकीर्ति होगी, अपयश होगा और अविनय होगी। इस कारण से वह यह समझता है कि यदि मैंने अपने पापों का समाज के समक्ष भण्डा फोड़ कर दिया तो मुझे समाज में जो कीर्ति, यश और विनय प्राप्त होने वाले हैं वे मुझे प्राप्त न हो सकेंगे, यह भविष्य की सम्भावना की दृष्टि से कहा जा रहा है।

दूसरे कारण में वह यह समझता है कि—यदि मैंने अपने पापों की पोल खोल दी तो आज तक जो कीर्ति, यश और सत्कार आदि मुझे प्राप्त हो चुके हैं, वे सब नष्ट हो जाएंगे। अत: यह प्राप्त के विनाश की सम्भावना से कहा गया है, अत: दोनों की भेद-रेखा अत्यन्त स्पष्ट है।

पाप-पंक साफ करना ही श्रेयस्कर है—

पाप-कर्म हृदय-मन्दिर का कूड़ा है, इस कूड़े को साफ किए बिना हृदय-मन्दिर पवित्र नहीं हो सकता और हृदय-मन्दिर की पवित्रता के बिना उसमें कैवल्य की ज्योति जागृत नहीं हो सकेगी।

यदि एक गृह-स्वामी घर का कूड़ा साफ करके लोकभय से उसे बाहर नहीं फैंकता तो वह कूड़ा गृह-स्वामी के लिए अस्वास्थ्यकारी एवं विनाशकारी हो जाता है, ठीक इसी प्रकार अपकीर्ति एव अपयश आदि के भय से यदि कर्मों को बाहर नहीं फैंका जाता तो वह साधक के लिए भयकारी बन जाता है, क्योंकि वह उसके लोक और परलोक दोनों के लिए हानिकारक होता है। इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए भगवती सूत्र का एक पाठ अत्यन्त उपयोगी है—

भिक्खू य अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता, से णं तस्स ठाणस्स अणालोइय,

अपडिक्कंते कालं करेइ, णत्थि तस्स आराहणा। से णं तस्स ठाणस्स आलोइय, पडिक्कंते कालं करेइ अत्थि तस्स आराहणा।

भिक्खू अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता तस्स णं एवं भवइ—पच्छावि णं अहं चरिमकालसमयंसि एयस्स ठाणस्स आलोइस्सामि जाव पडिक्कमिस्सामि, से णं तस्स ठाणस्स अणालोइय, अपडिक्कन्ते कालं करेइ णत्थि तस्स आराहणा। से णं तस्स ठाणस्स आलोइय पडिक्कंते कालं करेइ अत्थि तस्स आराहणा।

भिक्खू य अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता तस्स णं एवं भवइ—जइ ताव समणोवासया वि कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए भवन्ति उववत्ताए, किमंग पुण अणवण्णियदेवत्तणं पि णो लभिस्सामि? त्ति कट्टु से णं तस्स ठाणस्स अणालोइय, अपडिक्कंते कालं करेइ, णत्थि तस्स आराहणा। से णं तस्स ठाणस्स आलोइय पडिक्कंते कालं करेइ, अत्थि तस्स आराहणा, सेवं भंते! सेवं भंते त्ति।

इस पाठ का भाव यह है कि—यदि कोई भिक्षु पापकर्म करके उसकी आलोचना निन्दना एवं गर्हणा आदि न करके तथा प्रायश्चित्त किए बिना मृत्यु को प्राप्त होता है तो उसे संयमी नहीं कहा जा सकता और यदि आलोचना एवं प्रायश्चित्त आदि से आत्म-शुद्धि कर लेता है तब ही उस सयमी को आराधक कहा जाता है। ऐसे सोचने वाले को भी संयमी आराधक नहीं कहा जा सकता जो यह सोचता है कि वृद्धावस्था मे मृत्युवेला निकट आने पर प्रायश्चित्त आदि कर लूंगा।

यदि कोई श्रमण यह विचार करता है कि जबकि श्रमणोपासक गृहस्थ भी देवलोक प्राप्त कर लेते हैं तो क्या मै अनगार-भिक्षु वृद्धावस्था में प्रायश्चित्त करके उत्तम देवलोकों को प्राप्त न कर लूंगा? यदि वह आलोचना किए बिना और प्रायश्चित्त आदि का अनुष्ठान किए बिना प्राणों का त्याग कर देता है तो वह संयमी को प्राप्त होने वाले देवलोकों को प्राप्त नहीं कर सकता। वह संयमी आलोचना, निन्दना एवं प्रायश्चित्त करके ही आराधक बनकर उत्तम देवलोकों को प्राप्त कर सकता है।

इस सूत्र द्वारा यह भी स्पष्ट घोषणा की गई है कि समस्त पापों की जननी माया है और माया का अर्थ है—पूर्वकृत पापों पर छल-पूर्वक पर्दा डालना, उन्हें छिपाना। मानव-जीवन का सबसे बड़ा दोष यह माया ही है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य यही चाहता है कि मेरे गुणों की चर्चा सर्वत्र हो और मेरे अवगुणों पर ऐसा पर्दा पड़ा रहे कि उसे कोई युग-युगान्तरों तक भी जान न पाए, परन्तु कोई जाने या न जाने, किन्तु उसकी कर्म-गति उसे कभी क्षमा नहीं कर सकती। उसे यहां, वहां कहीं भी अपने किए कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा और उस स्वर्णिम अवसर के निकल जाने पर उसे पछताना ही पड़ेगा। क्योंकि यह निश्चित सिद्धान्त है—

"तीन दबाए न दबें, पाप पुण्य अरु रोग।"

अत: जैन धर्म पाप-निवृत्ति का यही सुन्दर एवं सरल उपाय बताता है कि अपने पाप को गुरु आदि के समक्ष स्वयं कह दो। लोक में देखा जाता है कि यदि कोई महान से महान व्यक्ति भी झूठ बोलकर उसे छिपाए तो लोग प्राय: उसे "झूठा-झूठा" कहने लग जाते हैं और यदि वह सबके सामने यह कह दे कि उस समय मुझे झूठ बोलना पड़ा था, अत: क्षमा चाहता हूं, तो पुन: उसे लोग झूठा न कहकर कठोर सत्योपासक कहने लग जाते हैं। अत: लोक-व्यवहार एवं धर्म-मर्यादा दोनों दृष्टियों से किए हुए पापों की आलोचना आदि श्रेयस्कारी ही है।

पूया-सक्कारे—वृत्तिकार ने इस पाठ की व्याख्या करते हुए 'पूया' शब्द की व्याख्या की है-**पूजा-पुष्पादिभि:**—पुष्प आदि से पूजन, यह व्याख्या उचित प्रतीत नहीं होती, क्योंकि त्यागी मुनि सचित्त पुष्पादि का स्पर्श नहीं करते हैं, अत: कोई भी श्रावक श्रमणों का पुष्पादि से पूजन नहीं करता है।

उववाए गरहिए—इस वाक्य का विशेष अभिप्राय यह है कि स्वीकृत पाप की आलोचना आदि न करने वाले को यदि किसी प्रबल पूर्वार्जित पुण्य से देवलोक की प्राप्ति हो भी जाती है तो उसे वहां देवों का दासत्व ही प्राप्त होता है और वह अत्यन्त समृद्ध एवं आनन्दमय जीवन नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिए किए हुए पापों की आलोचना आदि न करने वाले के लिए देवत्व भी दुखकारी ही होता है, सुखकारी नहीं।

पुरुष-भेद

मूल—तओ पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—सुत्तधरे, अत्थधरे, तदुभयधरे ॥ ५१ ॥

छाया—त्रीणि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—सूत्रधर:, अर्थधर:, तदुभयधर:॥

शब्दार्थ—तओ पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—तीन पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे—**सुत्तधरे**—केवल सूत्र को धारण करने वाले, **अत्थधरे**—सूत्र के अर्थ को धारण करने वाले, **तदुभयधरे**—सूत्र और अर्थ दोनों को धारण करने वाले।

मूलार्थ—तीन प्रकार के पुरुष कहे गए हैं—जैसे केवल सूत्र को धारण करने वाले, केवल अर्थ को धारण करने वाले और सूत्र एवं अर्थ दोनों को धारण करने वाले।

विवेचनिका—आराधक मुनिवर ही शास्त्रज्ञ हो सकते हैं, जैनागम विद्वत्ता एवं अध्ययनशीलता को विशेष महत्त्व देते हैं, प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रवेत्ताओं के भेदों का उल्लेख किया गया है।

आलोचना, निन्दा और गर्हा आदि के अनन्तर प्रायश्चित्त आदि के द्वारा अन्त:करण को विशुद्ध करने के अनन्तर पवित्र मन-मन्दिर में ज्ञान की दिव्य ज्योति भी जागृत होनी

चाहिए, जिसके प्रकाश में रहकर आत्मा विशुद्ध संयम की आराधना कर सके।

ज्ञान-ज्योति की जागृति आगमों के अध्ययन एवं स्वाध्याय से ही हो सकती है, क्योंकि **'शास्त्रं सर्वत्रगं चक्षुः'** शास्त्र ही वे दिव्य चक्षु हैं जो सार्वकालिक, सार्वजनीन, एवं सार्वभौम दर्शन कराने की दिव्य शक्ति रखते हैं।

अध्ययन के भी तीन रूप हैं—कुछ साधक ऐसे हैं जिनकी स्मृति-शक्ति अत्यन्त तीव्र होती है, अतः वे आगमों को कण्ठस्थ कर लेते हैं, और बारम्बार श्रद्धापूर्वक उनका पाठ करते रहते हैं, ऐसे साधकों को सूत्रधर साधक कहा जाता है, किन्तु ऐसे साधक स्वाध्यायशील होते हुए भी मननशील नहीं होते।

कुछ साधक ऐसे भी होते हैं जो सूत्रों को कण्ठस्थ तो नहीं कर पाते, किन्तु श्रुत-ज्ञान के बल पर शास्त्रों के अर्थ का मनन करते रहते हैं और उसके अनुरूप आचरण करने के लिए यत्नशील रहते हैं। ऐसे साधक अर्थधर कहलाते हैं।

परन्तु उत्तम साधक उसी को कहा जाता है जो आगमों को कण्ठस्थ भी करता है, उनके अर्थ का मनन भी करता है और उसी के अनुरूप आचरण भी करता है। ऐसे महान् साधकों को उभयधर कहा जाता है।

सूत्रधर ज्ञान की सीढ़ी तक ही पहुंच सकता है, अर्थधर दर्शन की मञ्जिल तक आ जाता है और उभयधर ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय की उपलब्धि कर कृत-कृत्य हो जाता है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में साधना के पथ पर आगम-प्रकाश की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है।

मुनियों के योग्य वस्त्र-पात्र

मूल—कप्पइ णिग्गंथाण वा, णिग्गंथीण वा तओ वत्थाइं धारित्तए वा, परिहरित्तए वा, तं जहा—जंगिए, भंगिए, खोमिए।

कप्पइ णिग्गंथाण वा, णिग्गंथीण वा तओ पायाइं धारित्तए वा, परिहरित्तए वा, तं जहा—लाउयपाए वा, दारुयपाए वा, मट्टियापाए वा ॥ ५२ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा, निर्ग्रन्थीनां वा त्रीणि वस्त्राणि धारयितुं वा, परिहर्त्तुं वा, तद्यथा—जाङ्गमिकं, भांगिकं, क्षौमिकम्।

कल्पते निर्ग्रन्थानां वा, निर्ग्रन्थीनां वा त्रीणि पात्राणि धारयितुं वा, परिहर्त्तुं वा, तद्यथा—अलाबुपात्रं वा, दारुकपात्रं वा, मृत्तिकापात्रं वा।

शब्दार्थ—णिग्गंथाण वा—निर्ग्रन्थों को अथवा, **णिग्गंथीण वा**—निर्ग्रन्थियों को, **तओ वत्थाइं**—तीन तरह के वस्त्र, **धारित्तए वा**—धारण करना और, **परिहरित्तए वा**—

परिभोग करना, **कप्पइ**—कल्पता है, **तं जहा**—जैसे, **जंगिए**—जंगम जीवों की ऊन से निर्मित, **भंगिए**—सन अथवा अत्सी से निर्मित वस्त्र और, **खोमिए**—कार्पास के वस्त्र।

णिग्गंथाण वा, णिग्गंथीण वा—निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को, **तओ**—तीन प्रकार के, **पायाइं**—पात्र, **धारित्तए**—धारण करना और, **परिहरित्तए वा**—परिभोग करना, **कप्पइ**—कल्पता है, **तं जहा**—जैसे, **लाउयपाए वा**—तुम्बी का पात्र, **दारुयपाए वा**—काष्ठ का पात्र और **मट्टियापाए वा**—मिट्टी का पात्र।

मूलार्थ—साधु और साध्वियों को तीन प्रकार के वस्त्रों को ग्रहण करना और उनका परिभोग करना कल्पता है, जैसे—जंगम जीवों से उत्पन्न ऊर्णादि के वस्त्र, अथवा अत्सी आदि से निर्मित वस्त्र तथा कपास से बने हुए वस्त्र। साधु और साध्वियों को तुम्बी के, काष्ठ के और मिट्टी के बने हुए, ऐसे तीन प्रकार के पात्रों को ही ग्रहण करना और उनका उपभोग करना कल्पता है।

विवेचनिका—शास्त्रीय ज्ञान आभ्यन्तर-सम्पत्ति है। उसके वर्णन के अनन्तर बाह्य उपधि का उल्लेख किया जाना भी आवश्यक था। प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने साधु और साध्वियों के लिए तीन प्रकार के वस्त्र और तीन प्रकार के पात्रों का रखना बतलाया है।

जांगमिक—ऊनी वस्त्रों को जांगमिक कहते है।

भांगिक—अलसी या सणी आदि के बने हुए वस्त्रों को भांगिक कहा जाता है।

क्षौमिक—रूई से बने हुए वस्त्र क्षौमिक कहलाते है।

ये तीन प्रकार के वस्त्र साधु और साध्वी अपने काम मे ला सकते हैं।

कीडों की लारों से बने हुए वस्त्र भी भांगिक कहलाते हैं, जिन्हे रेशमी वस्त्र भी कहा जाता है। इस प्रकार का वस्त्र रखना संयमियों के लिए योग्य नहीं है, क्योंकि सहस्त्रों कीड़ों का विध्वंस होने पर ही रेशमी तन्तुओं से वस्त्र का निर्माण होता है। अतः धर्म-दृष्टि से और लोक-दृष्टि से रेशमी वस्त्र रखना त्यागी वर्ग के लिए सर्वथा निषिद्ध है।

साधु और साध्वियों के लिए तीन प्रकार के पात्र रखने का विधान है जैसे कि तुम्बे का पात्र, काष्ठ-पात्र और मिट्टी का पात्र। इनके अतिरिक्त शेष सभी प्रकार के पात्र रखने का स्वतः निषेध हो जाता है। स्थविर कल्पी संयमी उपर्युक्त निर्दोष एवं परिमाण-युक्त पात्र ही रख सकता है। 'मनुस्मृति' में भी संन्यासी के लिए उक्त तीन प्रकार के पात्र ही रखने का विधान है।[१]

---

१ अलाबु दारुपात्रञ्च, मृण्मयं वैदलं तथा।
एतानि यति-पात्राणि, मनुस्वायम्भुवोऽब्रवीत्।।

—मनु. ६/५४

पात्रों की उपयोगिता—

१. रुग्ण के लिए औषधि और उसका अनुपान पात्र में ही लाया जा सकता है।

२. नवदीक्षित एवं स्थविरों के लिए आहार पानी पात्र में लाकर ही दिया जा सकता है।

३. अभ्यागत मुनिवरों को आहार-पानी लाकर देने की सेवा पात्रों के होने पर ही सुगमतया हो सकती है।

४. आचार्य और उपाध्याय आदि धर्मगुरु की सेवा भी पात्रों के होने पर ही हो सकती है।

५. राजकुमार आदि के प्रव्रजित होने पर पात्र रखना वैधानिक है, क्योंकि वह पात्र के बिना कभी असमंजस में न पड़ जाए। उस होनहार व्यक्ति की रक्षा के हेतु उपर्युक्त तीन प्रकार के पात्र रखने का निषेध नहीं है। गृहस्थ के बर्तनों में आहार-पानी ग्रहण करना पूर्णतया निषिद्ध है।

गौतम स्वामी जी भी बेले के पारणे के दिन पात्र में ही आहार लाया करते थे। अरिष्टनेमि भगवान के शिष्य अनीकसेन आदि छः अनगार पारणे के दिन पात्र में ही भिक्षा ग्रहण करते थे। पांच पांडव मुनिव्रत ग्रहण करने के अनन्तर पारणे वाले दिन पात्र में भिक्षा ग्रहण करते थे। इत्यादि अनेक उदाहरण आगमों में प्रसिद्ध हैं।

जिनकल्पी और कल्पातीत मुनि पूर्ण समर्थ होते हैं, वे पात्र नहीं रखते। पात्र न रखना श्रेष्ठ है। स्थविरकल्पियों के लिए मर्यादापूर्वक अनेक दृष्टियों से पात्र रखना उपयोगी है। मर्यादापूर्वक अनासक्त भाव से पात्र रखना परिग्रह नहीं माना जाता है। आसक्तिपूर्वक कोई भी छोटी-बड़ी वस्तु रखना अवश्य परिग्रह कहलाता है। संयम या संयमियों की सेवा के निमित्त पात्र रखना आगमविहित है।

प्रस्तुत सूत्र में **'धारित्तए वा परिहरित्तए वा'** ये दो क्रियापद विशेष मननीय हैं। जिस वस्त्र या पात्र को अपने पास रखा जाता है, उस अर्थ में **'धारित्तए'** क्रियापद सार्थक होता है और जिसका उपयोग करना प्रारंभ कर दिया गया है, और जो पहरा जा रहा है उसके लिए **'परिहरित्तए'** क्रिया का प्रयोग सार्थक है। किसी भी वस्त्र या पात्र को बिना काम लिए डेढ़ महीने तक रखा जा सकता है, इससे अधिक काल के लिए रखना निषिद्ध है। रखने वाला प्रायश्चित्त का भागी बनता है।[1] जिसका मूल्य भी स्वल्प हो, चिरस्थायी एवं निर्दोष हो इस प्रकार का एषणीय पात्र आवश्यकता होने पर किसी गृहस्थ से मिलता हो तब साधु या साध्वी उक्त तीन प्रकार के पात्रों में से उपयोगी पात्र ले सकता है।

इस सूत्र से साधु-जीवन की सादगी और निष्परिग्रहिता आवश्यक सिद्ध होती है। इस

१. निशीथ सूत्र।

प्रकार के साधु-जीवन के समीप लोभ और तृष्णा से अनुरंजित इच्छाएं नहीं मंडराती हैं और ऐसे अपरिग्रही मुनि का जीवन सुख एवं शान्ति से व्यतीत होता है।

बहुमूल्य पात्र एवं वस्त्र रखने की छूट होने पर संचय की प्रवृत्ति जागृत हो सकती है, फिर संचित की रक्षा के प्रयत्नों में मोह एवं आसक्ति का उद्‌भव स्वाभाविक है, संचित का विनाश होने पर मन का दुःखी होना अनिवार्य है। इस प्रकार मुनि-जीवन के भ्रष्ट होने का भय उत्पन्न हो सकता है। इसलिए शास्त्र मुनियों को उपर्युक्त आदेश देकर उनकी इस भय से रक्षा करते हैं।

संयमी वस्त्र क्यों रखें?

मूल—तिहिं ठाणेहिं वत्थं धरेज्जा, तं जहा—हिरिवत्तियं, दुगुंछावत्तियं, परीसहवत्तियं ॥ ५३ ॥

छाया—त्रिभिः स्थानैर्वस्त्रं धारयेत्, तद्यथा—ह्रीप्रत्ययिकं, जुगुप्साप्रत्ययिकं, परीषहप्रत्ययिकम्।

शब्दार्थ—तिहिं ठाणेहिं—तीन कारणों से, **वत्थं धरेज्जा**—वस्त्र को धारण करे, **तं जहा**—जैसे, **हिरिवत्तियं**—ह्री अर्थात् लज्जा के कारण, **दुगुंछावत्तियं**—लोग जुगुप्सा न करें इसलिए, **परीसहवत्तियं**—शीत आदि परीषहों के कारण।

मूलार्थ—तीन कारणों से साधु-साध्वी वस्त्र को धारण करें, जैसे—लज्जा और संयम के निमित्त, जनता में जुगुप्सा भाव न पैदा हो और शीत आदि परीषहों को रोकने के लिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में तीन प्रकार के वस्त्र एवं पात्र रखने का साधु और साध्वी के लिए निर्देश किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में निर्देश किया गया है कि साधु या साध्वी तीन कारणों से ही वस्त्रों का उपयोग करे।

लज्जा के निमित्त वस्त्र धारण किया जा सकता है। शरीर मे कुछ ऐसे अवयव भी है जिनके खुले रहने से लज्जा का अनुभव होता है, उन अवयवों को ढकने के लिए वस्त्र धारण किया जाता है।

नग्न रहने से यदि धर्म की हीनता, प्रवचन की निन्दा तथा लोगों में घृणा उत्पन्न हो तो भी वस्त्र धारण किया जा सकता है। यदि किसी साधक ने वन या पर्वतों की गुफाओं में समाज से अलग-थलग रहना हो तो वस्त्राभाव भी उचित है।

जब नग्न रहने से शीत और गरमी आदि परीषह सहन शक्ति से बाहर हो जाए और धर्मध्यान में मन न लगता हो तो आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान से संयम की रक्षा के लिए साधक वस्त्र धारण कर सकता है। इन तीन कारणों में से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर त्यागी वर्ग के लिए वस्त्र रखने का शास्त्रीय विधान है। विभूषा के लिए अर्थात् बनाव-शृंगार

के लिए या वस्त्र-विशेष की आसक्ति के लिए जैन मुनि वस्त्र धारण नहीं कर सकते— यह विधान उपर्युक्त शब्दों से स्वत: ध्वनित हो रहा है।

सभी साधकों की शक्ति एक समान नहीं होती, अत: मर्यादापूर्वक वस्त्र रखना **'स्थविरकल्प'** है, उससे भी कम वस्त्र रखना त्याग एवं **'ऊनोदरी तप'** है और मर्यादा से अधिक वस्त्र रखना **'मूर्छा एवं परिग्रह'** है। वस्त्र का उपयोग करना न केवल अपवादमार्ग ही है, प्रत्युत उत्सर्गमार्ग भी है। जैन दर्शन अनेकान्तवाद का प्रयोग न केवल विचार तक ही सीमित रखता है, बल्कि उसका प्रयोग व्यवहार में भी करता है। इसी लक्ष्य-बिन्दु का ध्यान रखते हुए सूत्रकार ने लज्जालु, लोकापवाद भीरु और डांस-मच्छर आदि परीषहों को न सह सकने वाले साधक के लिए वस्त्र-विधान किया है।

यद्यपि अनगार मुनि निर्वस्त्र रह सकता है, किन्तु मुनि लोक-मर्यादा की उपेक्षा नहीं करते। लोकमर्यादा नग्नत्व का समर्थन नहीं करती है, अत: निर्वस्त्रता श्वेताम्बर-परम्परा में स्वीकृत नहीं।

फिर जैन-धर्म में नारी के लिए भी साधुत्व का प्रशस्त पथ खुला हुआ है, नारी और साधुत्व का संगम यद्यपि नारी को जगदम्बा के पावन पद पर प्रतिष्ठित करता है, तथापि उसका लज्जावृत रहना अनिवार्य है, इसीलिए शास्त्रों ने मुनिजीवन के लिए वस्त्र-मर्यादा की स्थापना की है।

आत्म-रक्षक और दत्तियां

मूल—तओ आयरक्खा पण्णत्ता, तं जहा—धम्मियाए पडिचोयणयाए पडिचोएत्ता भवइ, तुसिणीओ वा सिया, उट्ठित्ता वा आयाए एगंतमंत-मवक्कमेज्जा। णिग्गंथस्स णं गिलायमाणस्स कप्पंति तओ वियडदत्तीओ पडिग्गाहित्तए, तं जहा—उक्कोसा, मज्झिमा, जहन्ना ॥५४ ॥

छाया—त्रयः आत्मरक्षकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—धार्मिकया वा प्रतिचोदनया प्रतिचोदयिता भवति, तूष्णीको वा स्यात्, उत्थाय वाऽऽत्मनैकान्तमवक्रामेत्।

निर्ग्रन्थस्य खलु ग्लायतः कल्पन्ते तिस्रो विकृतदत्तयः प्रतिग्रहीतुम्, तद्यथा— उत्कर्षा, मध्यमा, जघन्या।

शब्दार्थ—तओ आयरक्खा पण्णत्ता, तं जहा—तीन आत्मरक्षक कहे गए हैं, जैसे, **धम्मियाए पडिचोयणयाए पडिचोएत्ता भवइ**—धार्मिक उपदेश से प्रेरणा करना, **तुसिणीओ वा सिया**—उपदेश से न समझे तो मौन धारण करना, **उट्ठित्ता वा आयाए एगंतमंत-मवक्कमेज्जा**—उठकर अपनी आत्मा द्वारा अर्थात् आप उठकर एकान्त स्थान पर चले जाना।

गिलायमाणस्स—तृषा आदि से पीड़ित, **णिग्गंथस्स णं**—निर्ग्रन्थ को, **तओ**—तीन, **वियडदत्तीओ**—प्रासुक जल की दत्तियें, **पडिग्गाहित्तए**—प्रतिग्रह करना, **कप्पंति**—उचित

हैं, तं जहा—जैसे, उक्कोसा—उत्कृष्ट, मज्झिमा—मध्यम और, जहन्ना—जघन्य।

मूलार्थ—तीन प्रकार से आत्म-रक्षा होती है, जैसे—धार्मिक बुद्धि द्वारा अन्य को प्रेरित करने से। यदि वह पापिष्ठ न माने तो स्वयं मौन धारण करने से। यदि फिर भी आक्रमणकारी शान्त न हो तो स्वयं अपने आप एकान्त स्थान पर चले जाने से। तृषा आदि से पीड़ित निर्ग्रन्थ को प्रासुक जल की तीन दत्तियां ग्रहण करनी उचित हैं, जैसे—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य।

विवेचनिका—पूर्व सूत्रों में साधु-धर्म का उल्लेख किया गया है। साधु की आत्मिक-समाधि कैसे सुरक्षित रह सकती है इसके उपाय प्रस्तुत सूत्र में बतलाए गए हैं। संयम-रक्षा में ही आत्मरक्षा निहित है। विषय और कषाय से आत्मरक्षा करना ही संयम है। विषय-कषाय का वातावरण तैयार करना सुगम है और उससे अपने को बचाना सुदुष्कर है। शान्ति एवं समाधि को यदि कोई साधक चिरस्थायी बनाना चाहता है तो उसे तीन बातों का सदैव ध्यान रखना चाहिए, जैसे कि—यदि कोई कलह-प्रिय, मूढ़ या धर्मविमुख व्यक्ति अनुचित कार्य करता हो या अनुचित वाणी बोलता हो तो उसे शान्तचित्त से तथा प्रेमपूर्वक समझाना चाहिए कि आप जैसे कुलीन एवं सुशील व्यक्तियों को ऐसा अनुचित कार्य करना या बोलना उचित नहीं है। जिससे उसके मानसिक विकार शान्त हों, वैसी धर्मदेशना देनी चाहिए।

सामने वाला व्यक्ति यदि स्वर्णिम शिक्षाओं को पाकर भी नहीं मानता है तो मौन ही कर लेना चाहिए। 'एक चुप्पी सौ को हरावे' मौन रहने से सामने वाला व्यक्ति बोल-बोल कर स्वयं शान्त हो जाएगा। मौन धारण करने से सभी प्रकार के क्लेश शान्त हो जाते हैं, क्योंकि **'मौनं सर्वार्थसाधनम्'**—मौन हर तरह से कल्याणकारी है।

सामने वाला व्यक्ति यदि फिर भी ऊटपटांग बोलता ही जा रहा है और मौन रहने में भी बाधा आ रही हो तो साधक उठकर अन्य स्थान में चला जाए, इस प्रक्रिया में भी दोनों का हित है।

शान्ति-भंग करना, दूसरे से कलह करना, क्रोध करना इत्यादि सभी कारण संयम के घातक हैं। जिससे स्वयं या दूसरा व्यक्ति राग-द्वेष के वशीभूत हो जाए वैसा वचन नहीं बोलना और वैसी क्रिया भी न करना धर्म एव संयम है। संयम ही आत्मरक्षा है।

पानक-दत्ति[१]-परिमाण

साधु का जीवन तप और त्यागमय होता है। उसकी प्रत्येक क्रिया धर्मानुकूल होती है। उसकी कोई भी क्रिया अनावश्यक नहीं होनी चाहिए। शरीर भी धर्म का एक साधनमात्र

---

१. दत्ति—(क) किसी भी श्रावक-श्राविका द्वारा अविच्छिन्न धारा के रूप में जल आदि पदार्थ जितना एक बार पात्र में डाला जाए उसे 'दत्ति' कहा जाता है।

(ख) एक ही बार में जितना पदार्थ पिया या खाया जाए उसे भी 'दत्ति' ही कहा जाता है।

है। धर्म की रक्षा के लिए शरीर की रक्षा करना और धर्म की रक्षा के लिए शरीर का परित्याग करना ही साधु का धर्म है। साधु छः कारणों से आहार करता है, जैसे कि क्षुधा निवृत्ति के लिए, वैयावृत्य अर्थात् संयम के अनुकूल सेवा के लिए, ईर्यासमिति का सम्यक् पालन करने के लिए, संयम की रक्षा के लिए, प्राणों के बचाव के लिए और धर्म-चिन्तन के लिए। इन छः कारणों में से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर ही निर्दोष आहार ग्रहण किया जाना चाहिए।

दूसरे छः कारण ऐसे बतलाए गए हैं जिनके उपस्थित होने पर त्यागी वर्ग के लिए आहार करने का सर्वथा निषेध है, जैसे कि अकस्मात् भयंकर व्याधि उत्पन्न हो जाए, प्राणनाशक उपसर्ग का कारण बन जाए, ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए, प्राणी वर्ग पर दया के निमित्त, तपस्या के लिए और संथारा—अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना करने पर आहार ग्रहण करना निषिद्ध है।

संयमी साधक के लिए शास्त्रकार जहां आहार की ग्राह्यता और अग्राह्यता के आदेश देते हैं, वहां उन्होंने जल-ग्रहण का भी विशेष विधान स्थापित किया है, क्योंकि भूख का सहना उतना कठिन नहीं है जितना कि प्यास का सहना। अतः प्यास से तड़पते एवं व्याकुल होते हुए साधक के मन में धर्मध्यान के बदले कहीं आर्त्तध्यान उत्पन्न न हो जाए, इस दृष्टि को लक्ष्य में रखकर आगमकार तीन प्रकार की जल-ग्रहण व्यवस्था का विधान करते हैं।

उत्कृष्टदत्ति—साधक गन्ने का रस आदि उत्कृष्ट पदार्थ प्यास की शान्ति के लिए ग्रहण कर सकता है, जिससे अधिक से अधिक काल तक तृषा-जनित कष्ट से मुक्त रहे।

मध्यमदत्ति—प्रासुक शीतल जल को भी ग्रहण किया जा सकता है जिससे कुछ घण्टों के लिए तृषा शान्त हो सके।

जघन्यदत्ति—सामान्य प्रासुक जल को भी तृषा-शान्ति के लिए ग्रहण किया जा सकता है जिससे गले का सूखना आदि बन्द हो जाए और तात्कालिक तृषा शान्त हो सके।

यह उत्कृष्टता, मध्यमता और जघन्यता की बात पदार्थ के गुणों की दृष्टि से कही गई है। यदि कठोर तपश्चर्यादिक के समय प्राणों में आकुलता उत्पन्न करने वाली तीव्र प्यास को शान्त करने की दृष्टि से देखा जाए तो उत्कृष्ट जल-ग्रहण वह होगा जो खूब छककर पिया जाए।

मुनि-जीवन के कठोर तपोबन्धन की मर्यादा एवं विधान के अन्तर्गत जलग्रहण-व्यवस्था भी आपवादिक स्थिति में एक आवश्यक अंग है।

साम्भोगिक-विसाम्भोगिक कब और क्यों?

मूल—तिहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे साहम्मियं संभोगियं विसंभोगियं करेमाणे णाइक्कमइ, तं जहा—सयं वा दट्ठुं, सड्ढस्स वा निसम्म, तच्चं

मोसं आउट्टइ, चउत्थं नो आउट्टेइ ॥५५॥

छाया—त्रिभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थः साधर्मिकं साम्भोगिकं विसाम्भोगिकं कुर्वन् नातिक्रामति, तद्यथा—स्वयं वा दृष्ट्वा, श्राद्धस्य वा निशम्य, तृतीयां मृषामावर्त्तते, चतुर्थं नो आवर्त्तते।

शब्दार्थ—तिहिं ठाणेहिं—तीन स्थानों से, **समणे णिग्गंथे**—श्रमण निर्ग्रंथ, **साहम्मियं**—साधर्मिक, **संभोगियं**—जिसके साथ आहारादि का मिलवर्तन है, उसे, **विसंभोगियं**—विसंभोगी, **करेमाणे**—करता हुआ, **णाइक्कमइ**—भगवान की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता, **तं जहा**—जैसे, **सयं वा दट्ठुं**—साक्षात् देखकर अथवा, **सड्ढस्स वा निसम्म**—श्रावक के मुख से सुनकर तथा, **तच्चं मोसं आउट्टइ**—तृतीय बार मृषावाद आलोचनादि प्रायश्चित्त के द्वारा क्षम्य हो सकता है, **चउत्थं नो आउट्टइ**—चतुर्थ बार असत्य बोलकर आलोचना नहीं करता और न ही प्रायश्चित्त लेता है—वह अक्षम्य है।

मूलार्थ—तीन कारणों से श्रमण निर्ग्रन्थ साधर्मिक संभोगी साधु को विसंभोगी करते हुए भगवान् की आज्ञा का अतिक्रमण—उल्लंघन नहीं करता, जैसे कि—असंभोगिक के साथ संभोग करते हुए को स्वयं देखकर, अन्य साधु अथवा श्रावक से सुनकर, तृतीय बार मृषावाद की आलोचना कर शुद्ध हो चुकने के पश्चात् अहंकारवश जो चतुर्थ बार की आलोचना नहीं करता वह अक्षम्य है।

विवेचनिका—संयम की रक्षा तभी हो सकती है जबकि सहयोगी एवं साथी भी पूर्ण संयमी हों, उनका आचार-विचार भी सर्वथा शुद्ध हो और वे अपने समान ही धार्मिक आस्था रखने वाले हों। शास्त्रीय भाषा में ऐसे साथियों को साधर्मिक कहा जाता है। साधर्मिक तीन प्रकार के होते हैं—सांभोगिक, असांभोगिक और विसंभोगिक। परस्पर एक पंक्ति में बैठकर आहार-पानी ग्रहण करने को सम्भोग कहा जाता है और संभोग के साथी सांभोगिक कहलाते हैं। निर्ग्रन्थों के पारस्परिक व्यवहार के बारह रूप कहे गए हैं—

जैसे कि संयमोपयोगी बाह्य उपकरणों का आदान-प्रदान, आहार और श्रुतज्ञान का आदान-प्रदान, हाथ जोड़ना, शिष्यों का लेन-देन, निमन्त्रित करना, खड़े होकर स्वागत करना, वन्दना करना और कराना, सेवा करना, एक स्थान में ठहरना, बैठने के लिए आसन प्रदान करना, एक आसन पर बैठकर व्याख्यान आदि करना, सूत्र-वाचना का लेना-देना।

संयमी साधु के लिए वस्त्र, पात्र एवं आहारादि की व्यवस्था का विधान करके संयम में बाधक बाहरी व्यक्तियों से बचने के अनन्तर साथ में रहने वाले संयमी साथियों के साथ भी किस प्रकार रहा जाए? प्रस्तुत सूत्र में प्रसंगवश इस विषय पर विचार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

साम्भोगिक—संयमी साधु के संयम की रक्षा तभी हो सकती है जबकि उसके

संगी-साथी भी संयमी हों। समान धर्म-मर्यादाओं एवं समान धार्मिक सिद्धान्तों में आस्था रखने वाले व्यक्तियों को साधर्मिक कहा जाता है। साधर्मिकों में भी वे मुनि साम्भोगिक कहलाते हैं जिनके साथ मांडले पर बैठकर एक साथ आहार-पानी ग्रहण किया जाता है, जिनके साथ बाह्य उपकरणों—पात्रों आदि का आदान-प्रदान हो सकता है, जिनके साथ श्रुत-ज्ञान का लेन-देन हो सकता है, शिष्यों की अदला-बदली हो सकती है, जिनको पारस्परिक आमन्त्रण-निमन्त्रण दिए जाते हैं, जो परस्पर एक दूसरे का स्वागत करते हैं, वन्दना करते-कराते हैं, एक स्थान पर ठहरते हैं, बैठने के लिए एक-दूसरे को आसन देते हैं, एक स्थान पर बैठकर प्रवचन आदि करते हैं और एक दूसरे से पठन-पाठन करते हैं।

असाम्भोगिक—वे कहलाते हैं जिनके साथ इस प्रकार के साधनोचित व्यवहार नहीं किए जा सकते। जैसे कि अन्ययूथिक एवं विभिन्न संप्रदायों के संत असाम्भोगिक कहलाते हैं।

विसाम्भोगिक—यदि किसी कारणवशात् किसी साम्भोगिक मुनि के साथ उपर्युक्त व्यवहार बन्द करके उसे पंक्ति-बहिष्कृत कर दिया जाए तो उसे विसाम्भोगिक कहा जाता है।

प्रश्न है कि किस साम्भोगिक को विसांभोगिक घोषित किया जाए और किन कारणों से उसे सम्भोग के अयोग्य ठहराया जाए? क्षमा को ही विशेष महत्व देने वाले मुनि संयम एवं संघ की मर्यादाओं का अतिक्रमण करने वाले मुनि को क्यों विसाम्भोगिक किया जाए? भगवान् श्री महावीर भी जब कि "**खामेमि सव्वे जीवे सव्वे जीवा खमन्तु मे**" कहकर सबको क्षमा करने के और सबसे क्षमा मांगने के सिद्धांत की घोषणा करते हैं तो क्या कारण है कि मुनि अपने साथी मुनि को क्षमा न करें? क्या यह भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं है?

सूत्रकार इसी प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि—यदि अविहित आहार ग्रहण करने पर, अनुचित स्थान में ठहरने पर, अनुचित जीवन-साधन (उपधि) अपनाने पर, आहार-पानी के अयोग्य व्यक्तियों के साथ आहार-पानी ग्रहण करने पर, अकल्पनीय पदार्थों का सेवन करने पर, पूज्य जनों का अपमान करने पर, किसी महाव्रत में विशेष प्रकार का दोष कर देने पर, अनुशासन का उल्लंघन कर देने पर और किसी अन्य अकृत्य कार्य का सेवन करने पर यदि किसी साधर्मिक साम्भोगिक को विसाम्भोगिक बनाकर उसके साथ सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया जाए तो वह दोषपूर्ण नहीं माना जाता, क्योंकि धर्मपथ के आदर्श मुनि भी यदि अमर्यादित हो जाएंगे तो वे किसी को मर्यादा का उपदेश कैसे दे सकते हैं? बाड़ ही खेत खाने लगे तो खेत की रक्षा कैसे हो सकती है?

जैनागमकार क्षमाधर्मी हैं, इसलिए उन्होंने यह विधान अवश्य निर्धारित किया है कि यदि कोई साम्भोगिक साधु भूल से अपराध कर बैठे और वह अपनी भूल को स्वीकार करते

हुए उसकी आलोचना कर ले, निन्दा कर ले, गर्हणा कर ले और उचित प्रायश्चित्त ग्रहण कर पुनः उस अपराध को न करने की प्रतिज्ञा ग्रहण कर ले तो उसे एक बार नहीं तीन बार तक क्षमा किया जा सकता है।

यदि चौथी बार भी कोई साम्भोगिक ऐसा करता है तो उसकी वाणी में सत्य का अभाव होने से उसकी वृत्तियों का अपराधी स्वभाव बन जाने के कारण उसे पुनः प्रायश्चित्त आदि करने पर भी साम्भोगिक रूप में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर, अन्य साधकों पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है और वे भी पथ-विचलित हो सकते हैं—सबको खराब होने से बचाने के लिए एक खराब का परित्याग करना ही श्रेयस्कारी होता है।

अपराध का निर्धारण:—

यह नियम है कि यदि कोई अपराधी अपराध करके भी अपने को अपराधी नहीं मानता, अपितु अपने पापों पर पर्दा डालने के लिए अनेक प्रकार के उचित-अनुचित प्रमाण एकत्रित करने लग जाया करता है। ऐसी दशा में दोषी के दोष को कैसे प्रमाणित किया जाए? इस प्रश्न के समाधान के लिए शास्त्रकार कहते हैं—दोषी को दोषी तभी माना जाए—

(क) यदि उसे दोष करते हुए किसी संयमी मुनि ने स्वयं देखा हो या किसी संयमी द्वारा उसके संयमहीन होने की शिकायत की गई हो।

(ख) किसी प्रमाणित निष्पक्ष धर्मशील श्रावक द्वारा देखे जाने पर।

(ग) स्वयं अपराध स्वीकार करने पर।

शास्त्रकारों ने प्रायश्चित्त उसी के लिए बताए हैं—जो उपवास आदि का कष्ट इसलिए सहन करता है कि वह पुनः अपराध न करने की शक्ति प्राप्त करे। दण्ड तो उसे तभी दिया जाता है जब वह स्वेच्छा से प्रायश्चित का दुरुपयोग करता है—अनिच्छापूर्वक कष्ट सहना ही तो दण्ड है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में संयम की रक्षा के लिए साथियों के परित्याग तक का आदेश देकर शास्त्रकार ने मुनि-जीवन की कठोर मर्यादाओं पर प्रकाश डाला है और मुनियों को धर्म के प्रहरी रूप सदा सावधान रहने के लिए जागरूक किया है।

अधिकारी और अधिकार

मूल—तिविहा अणुन्ना पण्णत्ता, तं जहा—आयरियत्ताए, उवज्झायत्ताए, गणियत्ताए। तिविहा समणुण्णा पण्णत्ता, तं जहा—आयरियत्ताए, उवज्झायत्ताए, गणियत्ताए। एवं उवसंपया, एवं विजहणा ॥ ५६॥

छाया—त्रिविधा अनुज्ञा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—आचार्यतया, उपाध्यायतया, गणितया।

त्रिविधा समनुज्ञा प्रज्ञप्ता तद्यथा—आचार्यतया, उपाध्यायतया, गणितया। एवमुपसम्पत् एवं विहानम्।

शब्दार्थ—तिविहा—तीन प्रकार की, **अणुन्ना पण्णत्ता, तं जहा**—अनुज्ञा प्रतिपादन की गई है, जैसे, **आयरियत्ताए**—आचार्य से, **उवज्झायत्ताए**—उपाध्याय से और, **गणियत्ताए**—गणी से अथवा आचार्य, उपाध्याय और गणी पद देना।

तिविहा समणुन्ना पण्णत्ता, तं जहा—तीन प्रकार की समनुज्ञा कथन की गयी है, जैसे, **आयरियत्ताए**—आचार्य-पद पर योग्य मुनि को स्थापित करना, **उवज्झायत्ताए**—सूत्रज्ञ मुनि को उपाध्याय पद पर स्थापित करना, **गणियत्ताए**—अधिकार योग्य मुनि को गणी पद पर स्थापित करना, **एवं**—इसी प्रकार, **उवसंपया**—उपसम्पत् भी तीन प्रकार की है, **एवं**—इसी तरह, **विजहणा**—परित्याग भी तीन प्रकार का है

मूलार्थ—अनुज्ञा तीन प्रकार की है, जैसे—आचार्य पद देना, उपाध्याय पद देना तथा गणीपद देना। तीन प्रकार से समनुज्ञा प्रतिपादन की गयी है, जैसे—गुणयुक्त और प्रेम-पूर्वक योग्य मुनि को आचार्य पद पर स्थापित करना, इसी तरह उपाध्याय तथा गणी के विषय में भी जान लेना चाहिए।

इसी तरह उपसम्पत् और परित्याग के विषय में भी जान लेना चाहिए।

विवेचनिका—किसी साधर्मिक एवं साम्भोगिक मुनि के द्वारा अपना आचरण दूषित करने पर उसे कौन विसाम्भोगिक घोषित करे, कौन उसे श्रीसंघ से निकालने का अधिकार रखता है—इन प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है।

शास्त्रकारों ने शासक दो तरह के माने हैं—एक लौकिक और दूसरा लोकोत्तरिक। जो कौटिल्यादि के अर्थ-शास्त्र के अनुसार शासन करने वाले हैं, वे लौकिक शासक होते हैं, तथा जो सर्व-विरति एवं देशविरति जनवृन्द पर अनुशासन करने वाले हैं, वे लोकोत्तरिक शासक कहलाते हैं। प्रस्तुत सूत्र में लोकोत्तरिक शासकों का ही उल्लेख किया गया है। वे तीन प्रकार के होते हैं—आचार्य, उपाध्याय और गणी।

पांच प्रकार के आचार का पालन करने वाले, चतुर्विध श्रीसंघ के संचालन में समर्थ, पंचाचार के प्रकाशक, धर्म-नीति एवं शान्ति के संस्थापक, छत्तीस गुणों के धारक मुनि-पुङ्गव ही आचार्य-पद के योग्य समझे जाते हैं। धर्म का प्रतिबोध देने वाले, विधिपूर्वक दीक्षा देने वाले, शास्त्रीय ज्ञान देने वाले मुनिसत्तम भी आचार्य माने जाते हैं।

जो मुनिराज मनोवैज्ञानिक पद्धति से आगमों का एवं तत्सम्बन्धित धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन में अभिरुचि रखते हैं, उन्हें उपाध्याय माना जाता है।

जो सूत्र एवं अर्थ के ज्ञाता, प्रत्येक शुभ क्रिया में कुशल, जाति एवं कुल से सम्पन्न, प्रवचन अनुरागी, श्रीसंघ उपयोगी शिष्य एवं संयम उपयोगी उपकरण के संग्रह करने में तथा

उपकार करने में कुशल, प्रियधर्मी, दृढ़धर्मी इत्यादि अनेक गुण सम्पन्न अनगार हैं, वे ही गणी-पद के योग्य समझे जाते हैं। ये तीन पद चतुर्विध श्रीसंघ के मुख्य-स्तम्भ माने जाते हैं।

जिस-जिस मुनिसत्तम को जिस-जिस पद के लिए चतुर्विध श्रीसंघ ने निर्वाचित किया है, उसे चार प्रकार के अधिकार समर्पित किए जाते हैं, जैसे कि—अनुज्ञा, समनुज्ञा, उपसम्पद् और विहाना—बहिष्कार। ये चार अधिकार अपने आपमें विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उक्त पदाधिकारी इन्हीं अधिकारों का प्रयोग करते हैं, इनका संक्षिप्त विवरण निम्न-लिखित है—

अनुज्ञा—आज्ञा का पर्यायवाची और अनुमोदना का पर्यायवाची शब्द अनुज्ञा है। अनुज्ञा दो प्रकार की होती है—एक सामान्य और दूसरी विशेष। जो सार्वकालिक, सार्वजनीन आदेश हैं, उन्हें सामान्य अनुज्ञा कहते हैं, जैसे कि—दीक्षा के लिए आज्ञा देना, इसी प्रकार चातुर्मास-विहार आदि के लिए आज्ञा देना अनुज्ञा है। निरवद्य शुभ क्रिया का समर्थन करना भी उक्त अर्थ को चरितार्थ करता है। सर्वविरति और देशविरति का हित आज्ञा में विहित होता है। पूज्यजनों का आशीर्वाद और समर्थन सफलता का परिचायक तथा उत्साहवर्द्धक होता है।

समनुज्ञा—विशेष कार्यों के लिए विशेष प्रकार की आज्ञा को समनुज्ञा कहा जाता है। अध्ययन तथा वैयावृत्य के लिए आज्ञा देना, प्रायश्चित्तावहन तथा तप: कर्म करने के लिए आज्ञा देना, संथारा करने के लिए आज्ञा देना, संकटकालीन परिस्थिति के अनुसार श्रीसंघ की रक्षा के लिए किसी समर्थ व्यक्ति को आज्ञा देना, विशेष कारण से दी हुई पहली आज्ञा का पुन: संशोधन करना इत्यादि कार्य समनुज्ञा के ही विविध रूप हैं।

उपसम्पदा—आज्ञापूर्वक दूसरी संप्रदाय से आकर आध्यात्मिक समृद्धि से समृद्ध होने के लिए जिनके समीप ठहरा जाए, उन्हें उप-सम्पदा कहते हैं। आचार्य, उपाध्याय और गणी इनमें से किसी एक के पास जाकर सविनय कहे कि "मैं आपका हूं" ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र की प्राप्ति तथा वृद्धि के लिए आपके पास आया हूं, आगमज्ञान की प्राप्ति के लिए, विस्मृत अर्थ की स्मृति के लिए, संयम में स्थिर होने के लिए तथा वैयावृत्य के लिए नेतृत्व के रूप में आपको स्वीकार करता हूं और आपकी आज्ञा में रहूंगा। इस प्रकार विनय-सम्पन्न साधक गुणों से उद्दीप्त, प्रकाशित एवं विकसित होता है।

विहाना—जुहोत्यादिगण के अन्तर्गत **"ओ हाक् त्यागे"** धातु से 'विजहण्णा' शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका संस्कृत रूप 'विहाना' बनता है। इसका अर्थ होता है—परित्याग। जो जो उपसम्पदासंपन्न हो गए हैं, उन्हें सम्मानपूर्वक विसर्जित करना, जो आलस्य एवं प्रमाद के वशीभूत हो समुन्नति करने में असमर्थ रहा, उसे यथास्थान जाने के लिए विसर्जित करना विहाना है। तथा इसी प्रकार प्रबलदोषी को विसांभोगिक बनाना, अपनी आज्ञा से बाहिर कर देना भी विहाना का ही एक रूप है।

मुनिराजों में आचार्य, उपाध्याय और गणी ये उच्चपदधारी मुनिराज कहलाते हैं, श्रीसंघ के द्वारा दिए हुए अधिकारों का उपयोग यदि वे सही अर्थों में करें तो अपना भी कल्याण करते हैं और श्रीसंघ की सेवा करते हुए भगवान की आज्ञा के भी आराधक होते हैं। यदि वे अधिकारों को पाकर अपनी मान-पोषणा करते हों, यदि वे अपने कर्त्तव्य के पालन में असमर्थ प्रमाणित हों, तो श्रीसंघ के हाथ में सत्ता है उनसे अधिकार हथियाने की।

आगमों के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि सर्वविरति को आचार्य, उपाध्याय या गणी की आज्ञा में रहना आवश्यक है, अन्यथा मृषावाद, प्रवचन-निन्दा, गुण-हानि तीर्थोच्छेद इत्यादि दोषों का होना अवश्यम्भावी है। जैसे शासक के बिना जनपद अराजकता से नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है वैसे ही उच्च मुनित्रय के अभाव में श्रीसंघ की दशा अस्तव्यस्त हो जाती है, स्वच्छन्दता बढ़ जाती है। सफल शासक होने पर ही शासन-व्यवस्था ठीक रह सकती है।

वचन और मन के तीन-तीन रूप

मूल—तिविहे वयणे पण्णत्ते, तं जहा—तव्वयणे, तदन्नवयणे, णो अवयणे। तिविहे अवयणे पण्णत्ते, तं जहा—णोतव्वयणे, णो तदन्नवयणे, अवयणे। तिविहे मणे पण्णत्ते, तं जहा—तम्मणे, तयन्नमणे, णोअमणे। तिविहे अमणे पण्णत्ते, तं जहा—णो तम्मणे, णो तयन्नमणे, अमणे ॥ ५७ ॥

छाया—त्रिविधं वचनं प्रज्ञप्तं तद्यथा—तद्वचनम्, तदन्यवचनम्, नोऽवचनम्।
त्रिविधं वचनं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—नो तद्वचनम्, नोतदन्यवचनम्, अवचनम्।
त्रिविधं मनः प्रज्ञप्तं तद्यथा—तन्मनः, तदन्यमनः, नोऽमनः।
त्रिविधममनः प्रज्ञप्तं, तद्यथा—नो तन्मनः, नो तदन्यमनः, अमनः।

शब्दार्थ—तिविहे वयणे पण्णत्ते, तं जहा—वचन तीन प्रकार के प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—**तव्वयणे**—घट को घट कहना तद्वचन है, **तदन्नवयणे**—घट को पट कहना तदन्यवचन है, **णो अवयणे**—दोनों से भिन्न निरर्थक वचन अवचन कहलाता है।

तिविहे अवयणे पण्णत्ते, तं जहा—तीन प्रकार के अवचन हैं, जैसे—**णोतव्वयणे**—तद्वचन नहीं, जैसे घट को पट कहना, **णो तदन्नवयणे**—यथार्थ कहना, जैसे घट में घट वचनवत्, **अवयणे**—वचन निवृत्तिमात्र अर्थात् निरर्थक वचन, **तिविहे मणे पण्णत्ते, तं जहा**—मन तीन प्रकार से प्रतिपादन किया गया है, जैसे—**तम्मणे**—देव आदि का मन अथवा घटादि पदार्थों में मन, **तयन्नमणे**—देवादि से भिन्न जिनदत्त आदि का मन अथवा घट की अपेक्षा से पटादि में मन, **णोअमणे**—किसी पदार्थ में जो मन नहीं है, केवल मनः-पर्याप्त दशा को प्राप्त, **तिविहे अमणे पण्णत्ते, तं जहा**—अमन तीन प्रकार का है, जैसे—

णो तम्मणे—किसी पदार्थ में तन्मय नहीं है, **णो तयन्नमणे**—अन्य किसी पदार्थ में मन नहीं है, **अमणे**—शून्य मन।

मूलार्थ—वचन तीन प्रकार के कथन किए गए हैं, जैसे—तद्वचन, तदन्यवचन और नो अवचन।

अवचन भी तीन प्रकार के कथन किए गए हैं, जैसे—नोतद्वचन, नो तदन्यवचन और अवचन।

तीन प्रकार का मन कहा गया है, जैसे—तन्मन, तदन्यमन और अमन।

तीन प्रकार का अमन कहा गया है, जैसे—नोतन्मन, नो तदन्यमन और अमन।

विवेचनिका—अधिकारों का सदुपयोग मन एवं वचन से होता है, अतः सूत्रकार वचन के विषय में निरूपण करते हैं।

सभी वचन विधि-निषेध परक होते है। उनमें से वक्ता एक समय में किसी एक का प्रयोग अवश्य करता है। तद्वचन उसे कहते हैं जो घट आदि विवक्षित अर्थ का द्योतक हो। **सः—शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तधर्मविशिष्टोऽर्थोऽनेनोच्यते इति तद्वचनम् यथार्थनामेत्यर्थः**—अर्थात् जिसके द्वारा विशिष्ट अर्थ कहा जाए वह तद्वचन—जो जैसा पदार्थ है उसको उसी रूप में कहने वाला वचन, जो शब्द जिसके लिए प्रयुक्त होता है वह तद्वचन, शास्त्रपूत एवं सत्यपूत वाक्य का प्रयोग करना तथा सम्यग्दृष्टि विधिरूप में जिस वचन का प्रयोग करता है वह तद्वचन कहलाता है। इसमें यौगिक, रूढ़ एवं योगारूढ तीनों प्रकार के वचनों का अन्तर्भाव हो जाता है।

उक्त लक्षणों से विपरीत वचन को तदन्यवचन कहते हैं, कहा भी है—**तस्मा-दन्योऽर्थोऽनेनोच्यत इति तदन्यवचनम्**—अर्थात् सीप को चादी कहना, दूर होने से हिरण को बकरी, बकरी को हिरण इस तरह विपर्ययवचन को तथा असत्य वचन को तदन्यवचन कहते हैं। मिथ्यात्व के उदय से या अविद्या के कारण जो कुछ वचन बोला जाता है, उन सबका अन्तर्भाव उक्त वचन में हो जाता है।

निरर्थक असंबद्ध वचन—स्वप्न में, ज्वर में, उन्मत्तदशा में बड़बड़ाना, अबोध बच्चे की तरह तुतलाकर बोलना, इन सबका समावेश नो अवचन में हो जाता है।

नो तद्वचन—'यह वचन वह नहीं है जो उसने कहा था, ये हस्ताक्षर उसके नहीं हैं', 'यह ध्वनि उसकी नहीं है, यह वाणी अमुक व्यक्ति की नहीं है'। इस प्रकार के कथन को नो तद्वचन कहते हैं।

यह वचन, यह हस्ताक्षर, यह ध्वनि उसी की है, अन्य की नहीं। इस प्रकार जो कहा जाता है उसे नोतदन्यवचन कहते हैं।

जो बोलने योग्य नहीं है, जैसे कि गाली देना, निन्दा करना, अव्यक्त शब्द एवं असभ्य

वचन आदि का अन्तर्भाव अवचन में हो जाता है।

नो तद्वचन, नोतदन्यवचन और अवचन ये तीन पद प्रतिषेध प्रधान हैं अथवा सद्भूत का निषेध करना, असद्भूत का उद्भावन करना तथा अप्रमाणिक का कहा हुआ वचन ये सब अवचन ही माने जाते हैं। इस तरह क्रमशः तीन पदों के अर्थ जानने चाहिएं। सावद्य वचन भी अवचन ही होता है।

मन की दशाएं भी तीन प्रकार की होती हैं—जब मन अभीष्ट सिद्धि की ओर लगा रहता है तब वह तन्मन, उससे विपरीत मन को तदन्यमन, व्यर्थ के संकल्प-विकल्प करने वाला मन नोअमन कहलाता है।

जो मन अभीष्ट सिद्धि के योग्य नहीं वह नो तन्मन, जो अनभीष्ट सिद्धि के योग्य भी नहीं, वह नोतदन्यमन, सुषुप्ति उन्मत्त एवं मूर्च्छित दशा में मन की जो अवस्था होती है उस अवस्था में मन अमन कहलाता है।

प्रस्तुत सूत्र में वचन और मन के भावों का बड़ी सुन्दर रीति से दिग्दर्शन कराया गया है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि जब मन और वचन का योग ज्ञानपूर्वक होता है, तभी वह तद्वचन है। पदार्थों के स्वरूप का जब मन से ही निश्चय नहीं हो रहा तब वचन भी असत्य रूप में परिणत हो जाता है। पदार्थों की द्रव्यपर्याय और भावपर्याय को लक्षण, प्रमाण, नय, निक्षेप, अनुयोग और सप्तभंगी के द्वारा सम्यक् प्रकार से परखना, उनका अनुसंधान करना, स्वयं पदार्थों का यथार्थ स्वरूप समझना और दूसरों को वचन के द्वारा समझाना ही तन्मन और तद्वचन है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य ही ज्ञान-दर्शन के द्वारा उपादेय, हेय और ज्ञेय वचनों को समझ सकता है, मिथ्या-दृष्टि एवं अज्ञानी नहीं।

अल्पवृष्टि और महावृष्टि

मूल—तिहिं ठाणेहिं अप्पवुट्ठिकाए सिया, तं जहा—तस्सिं च णं देसंसि वा, पदेसंसि वा णो बहवे उदगजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ताए वक्कमंति, विउक्कमंति, चयंति, उववज्जंति। देवा, णागा, जक्खा, भूता णो सम्ममाराहिता भवंति। तत्थ समुट्ठियं उदगपोग्गलं परिणतं वासिउकामं अन्नं देसं साहरंति। अब्भवद्दलगं च णं समुट्ठियं परिणयं वासिउकामं वाउकाए विधुणति। इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं अप्पवुट्ठिकाए सिया।

तिहिं ठाणेहिं महावुट्ठिकाए सिया, तं जहा—तंसि च णं देसंसि वा, पदेसंसि वा बहवे उदगजोणिया जीवा य, पोग्गला य उदगत्ताए वक्कमंति, विउक्कमंति, चयंति, उववज्जंति। देवा, जक्खा, नागा, भूता सम्ममाराहिया भवंति, अन्नत्थ सम्मुटिठ्यं उदगपोग्गलं परिणयं वासिउकामं तं देसं साहरंति।

अब्भवद्दलगं च णं समुट्ठियं परिणयं वासिउकामं णो वाउकाओ विधुणति। इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं महावुट्ठिकाए सिया ॥ ५८ ॥

छाया—त्रिभिः स्थानैरल्पवृष्टिकायः स्यात्, तद्यथा—तस्मिंश्च खलु देशे वा, प्रदेशे वा नो बहवः उदकयोनिकाः जीवाश्च, पुद्गलाश्चोदकतया व्युत्क्रामन्ति, व्यपक्रामन्ति, च्यवन्ते, उत्पद्यन्ते। देवाः, नागाः यक्षाः, भूताः नो सम्यगाराधिताः भवन्ति, तत्र समुत्थितमुदकपुद्गलं परिणतं वर्षितुकामं तमन्यदेशं संहरन्ति। अभ्रवर्द्दलकञ्च खलु समुत्थितं परिणतं वर्षितुकामं वायुकायो विधुनोति। इत्येतैस्त्रिभिः स्थानैरल्प-वृष्टिकायः स्यात्।

त्रिभिः स्थानैर्महावृष्टिकायः स्यात्, तद्यथा—तस्मिंश्च खलु देशे वा, प्रदेशे वा बहवः उदकयोनिकाः जीवाश्च पुद्गलाश्चोदकतयाऽवक्रामन्ति, व्युत्क्रामन्ति, च्यवन्ते, उत्पद्यन्ते। देवाः, यक्षाः, नागाः, भूताः सम्यगाराधिता भवन्ति, अन्यत्र समुत्थित-मुदकपुद्गलं परिणतं वर्षितुकामं तद्देशं साहरन्ति। अभ्रवर्द्दलकञ्च खलु समुत्थितं परिणतं वर्षितुकामं नो वायुकायो विधुनोति। इत्येतैस्त्रिभिः स्थानैर्महावृष्टिकायः स्यात्।

शब्दार्थ—**तिहिं ठाणेहिं**—तीन कारणों से, **अप्पवुट्ठिकाए सिया**—अल्प वृष्टि हो, **तं जहा**—जैसे—**तस्सिं च णं**—उस, **देसंसि वा**—देश में अथवा, **पदेसंसि वा**—देश के भाग में, **वा**—समुच्चयार्थ में, **बहवे उदगजोणिया**—बहुत से उदक योनिक **जीवा य**—जीव और, **पोग्गला य**—पुद्गल, **उदगत्ताए**—उदकपने में, **णो**—नहीं, **वक्कमंति**—अप्काय योनि में जन्म के लिए प्रस्तुत होते हैं, **विउक्कमंति**—अन्य योनियों में शरीर त्यागते, **चयंति**—अप्काय योनि की ओर आते, **उववज्जंति**—और अप्काय में उत्पन्न होते। **देवा**—ज्योतिष्क और वैमानिक देव, **णागा**—भवनपति, **जक्खा**—यक्ष और, **भूया**—भूत—व्यन्तर देव, **सम्मं**—सम्यक् प्रकार से, **णो**—नहीं, **आराहिया भवंति**—आराधित किए होते। **तत्थ**—उस देश में, **समुट्ठियं**—समुत्थित, **उदगपोग्गलं**—उदक् पुद्गल, **परिणयं**—परिणत हुए को, **वासिउकामं**—वर्षा के कामी हुए को, **अन्नं देसं**—अन्य देश में, **साहरंति**—ले जाते हैं, **समुट्ठियं**—उठे हुए, **अब्भवद्दलगं च णं**—बादल को, **परिणयं**—जो परिणत हो रहा है और, **वासिउकामं**—बरसने का कामी है उसे, **वाउकाय विधुणति**—वायु उड़ाकर ले जाती है, **इच्चेतेहिं**—इन, **तिहिं ठाणेहिं**—तीन स्थानों से, **अप्पवुट्ठिकाए सिया**—अल्पवृष्टि हो।

तिहिं ठाणेहिं—तीन कारणों से, **महावुट्ठिकाए सिया**—महावृष्टि हो, **तं जहा**—जैसे, **तंसि च णं देसंसि वा**—उस देश अथवा, **पदेसंसि वा**—प्रदेश में, **बहवे**—बहुत से, **उदगजोणिया**—उदकयोनिक, **जीवा य**—जीव और, **पोग्गला य**—पुद्गल, **उदगत्ताए**—उदक रूप में, **वक्कमंति**—अप्काय में आने के लिए प्रस्तुत होते हैं, **विउक्कमंति**—अन्य योनियों में मृत्यु को प्राप्त होते हैं, **चयंति**—अन्य योनियों से च्युत होते हैं, **उववज्जंति**—

अप्काय में उत्पन्न होते हैं, **देवा**—देव, **जक्खा**—यक्ष, **नागा**—नाग और **भूया**—भूत, **सम्ममाराहिया भवंति**—सम्यक्तया आराधना किए हुए होते हैं, वे, **अन्नत्थ**—अन्यत्र, **समुट्ठियं**—उठे हुए, **उदगपोग्गलं**—उदक पुद्गल, **परिणयं**—परिणत, **वासिउकामं**—वर्षा के कामी बादल को, **तं देसं**—उस देश में, **साहरंति**—संहरण कर लेते हैं, **समुट्ठियं**—उठे हुए, **अब्भवद्दलगं च णं**—अभ्र को जो, **परिणयं**—परिणत हो रहा है और , **वासिउकामं**—जो बरसने का कामी है, उसे, **वाउआओ**—वायुकाय, **णो विधुणति**—इधर-उधर नहीं बिखेरती, **इच्चेतेहिं**—इन, **तिहिं ठाणेहिं**—तीन कारणों से, **महावुट्ठिकाए सिया**—महावृष्टिकाय होवे।

मूलार्थ—तीन कारणों से अल्पवृष्टि होती है, जैसे—जब उस देश या प्रदेश में बहुत से उदक-योनिक जीव और पुद्गल उदक रूप में पैदा नहीं हुए।

जब देव, नाग, यक्ष और भूत सम्यक् प्रकार से आराधित न किए गए हों तब वे उस देश में उत्पन्न उदक-पुद्गलों को जो बरसने को परिणत हो रहे हैं, उन्हें अन्य देश में संहरण कर लेते हैं। जब बरसने को तैयार हुए बादलों को वायुकाय छिन्न-भिन्न कर देता है।

इन तीन कारणों से महावृष्टि होती है, जैसे—जब उस देश व प्रदेश में बहुत से उदक-योनिक जीव और पुद्गल अप्काय योनि में उत्पन्न होते हैं। जब उस देश व प्रदेश में देव, यक्ष, नाग और भूत सम्यक् रूप से आराधित होते हैं, वे अन्य देश में उठे हुए, बरसने को उद्यत बादलों को उस देश में संहरण कर लेते हैं।

बरसने के लिए परिणत बादलों को वायुकाय विध्वंस नहीं करता।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में मन और वचन का विवेचन किया गया है। परन्तु अप्काय आदि पांच स्थावर जीवों में मन और वचन का अभाव होता है, अतः अब मन रहित जीवों की गति का विवेचन भी अपेक्षित था, इसलिए सर्वप्रथम मन रहित अप्काय जीवों पर आश्रित अनावृष्टि एवं अल्पवृष्टि तथा सुवृष्टि एवं महावृष्टि के कारणों पर प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं—

अल्पवृष्टि—

किसी भी प्रान्त या प्रदेश में अल्पवृष्टि एवं अनावृष्टि के तीन कारण होते हैं—

(१) जब अन्य योनियों में कर्म फल का उपभोग करते हुए जीव अधिकतर ऐसे होते हैं जिन्होंने अप्काय योनि में जन्म धारण नहीं किया है, अतः वे अप्काय में आने के लिए प्रस्तुत नहीं होते हैं, अथवा कर्म फल भोगों को भोगते हुए जीवों का फल भोग काल समाप्त न होने के कारण अभी उन योनियों में उनकी मृत्यु नहीं होती है, अतएव उनका अप्काय में आगमन भी नहीं होता और इसीलिए जब वे जल-पुद्गल को ग्रहण कर जन्म नहीं लेते

हैं, तब किसी भी देश एवं प्रदेश में अल्पवृष्टि एवं अनावृष्टि हुआ करती है।

(२) जब किसी देश के निवासी देवों, नागों एवं यक्षों आदि का विधिवत् आराधन नहीं करते हैं, तब वे रुष्ट हो जाते हैं और उस देश पर बरसने के लिए प्रस्तुत बादलों का संहरण कर उन्हें अन्य देशों में ले जाते हैं, तब भी वर्षा का अभाव हो जाया करता है।

(३) जब वायुकाय अर्थात् पवन वर्षा के लिए प्रस्तुत बादलों को छिन्न-भिन्न कर देता है, तब भी वर्षा का न होना प्रकृति सिद्ध कारण हो जाता है।

महावृष्टि—

जब किसी प्रदेश में महावृष्टि एवं सुवृष्टि होती है तो उसके भी तीन कारण होते हैं—

(१) जब अन्य योनियों में कर्मफल का उपभोग करते हुए जीव अधिकतर ऐसे होते हैं जिन्हें अप्काय में जन्म धारण करना है, अत: वे अप्काय में जन्म लेने के लिए प्रस्तुत होते हैं, जब अनेकानेक योनियों से अप्काय में आने के लिए जीव उन योनियों के शरीर त्याग कर मर रहे होते हैं, अत: उनका अप्काय में आगमन होता है और वे जलीय पुद्गलों को ग्रहण कर अप्काय में जन्म लेते हैं, तब उस देश एवं प्रदेश में महावृष्टि होती है।

(२) जब किसी देश-विशेष के निवासी देवों आदि की विधिवत् आराधना करते हैं तब वे देव प्रसन्न होकर अन्य देशों में बरसने के लिए उद्यत बादलों का संहरण कर उस देश में ले आते हैं और उन्हें बरसने के लिए बाध्य करते हैं तब भी यथेष्ट वर्षा होती है।

(३) जब वर्षा करने के लिए प्रस्तुत मेघों को जनता के पुण्योदय के कारण वायु छिन्न-भिन्न नहीं करता है, तब भी सुवृष्टि का एवं महावृष्टि का अवसर आ जाया करता है।

प्रश्न है कि अध्यात्मचेता मुनियों को शाँतिवर्षा की चर्चा को छोडकर जल-वर्षा के विवेचन की आवश्यकता किसलिए प्रतीत हुई?

उत्तर में कहा जा सकता है कि इस परिभ्रमणशील संसार चक्र की धुरी हैं मानव के कृत कर्म, अपने कृत कर्मों का फल भोगने के लिए ही जीव नाना-योनियों में जन्म लेते हैं, संवर्धित होते और क्षीण होते हुए मृत्यु को प्राप्त कर पुन: अन्य योनियों में जन्म धारण करते हैं।

प्राणी ही संसार हैं, प्राणियों के बिना आखिर संसार का अस्तित्व ही क्या है? प्राणी-जीवन निर्भर है जल पर और जल निर्भर है अप्काय जीवों के रूप में जन्म लेने वाले जीवों पर, परन्तु उनमें जीवन की संचालिका शक्ति भी तो कर्म ही है, अत: 'कर्म-निर्जरा के बिना मोक्ष नहीं हो सकता' के सिद्धान्त को मानने वाले अध्यात्मचेता महर्षि को भी वृष्टि एवं अनावृष्टि के रूप में अप्काय जीवों की कर्म गति का विवेचन करना पड़ा।

साथ ही हमारा पावन भारतवर्ष दैवी शक्तियों पर आस्था रखने वाला है, जब बादलों के लाने और भगाने में निमित्त कारण देवादि होते हैं तब वायु के बिना भी रोष या तोष से

प्रकट हुई दिव्य शक्ति से उक्त क्रियाएं हो जाया करती हैं, अतः शास्त्रकार यह भी संकेत करना चाहते हैं कि आस्थाशील पुण्यात्माओं के सुकृत्यों से प्रसन्न देव मानवीय विपत्तियां दूर करने में सहायक होते हैं, अतः सुवृष्टि के लिए दैवी प्रसन्नता की आवश्यकता पर भी प्रस्तुत सूत्र द्वारा प्रकाश डाला गया है।

सर्वज्ञदेव के दिव्यनेत्रों ने यह भी देखा कि कभी-कभी वायु के झक-झोरों द्वारा भी मेघराज तितर-बितर कर दिए जाते हैं, इस कथन से चक्षु से दृश्यमान न होते हुए भी वायु की अपरिमित शक्ति का परिचय सूत्रकार ने दिया है। इन तीन कारणों में पहला तो मौलिक कारण है और शेष निमित्त कारण।

भूलोक में देव के आगमन और अनागमन के कारण

मूल—तिहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए, तं जहा—अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए, गिद्धे, गढिए, अज्झोववन्ने। से णं माणुस्सए कामभोगे णो आढाइ, णो परियाणाति, णो अट्ठं बंधति, णो णियाणं पगरेति, णो ठिइप्पकप्पं पकरेति।

अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए, गिद्धे, गढिए, अज्झोववन्ने, तस्स णं माणुस्सए पेम्मे वोच्छिण्णे, दिव्वे संकंते भवइ। अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए जाव अज्झोववन्ने, तस्स णं एवं भवइ—इयण्हिं न गच्छं, मुहुत्तं गच्छं। तेणं कालेणमप्पाउया मणुस्सा कालधम्मुणा संजुत्ता भवंति। इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो संचाएति हव्वमागच्छित्तए।

तिहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, संचाएइ हव्वमागच्छित्तए—अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु अमुच्छिए, अगिद्धे, अगढिए, अणज्झोववन्ने। तस्स णमेवं भवइ, अत्थि णं मम माणुस्सए भवे आयरिएइ वा, उवज्झाएइ वा, पवत्तीइ वा, थेरेइ वा, गणीइ वा, गणधरेइ वा, गणावच्छेदेइ वा, जेसिं पभावेणं मए इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी, दिव्वा देवजुई, दिव्वे देवाणुभावे लद्धे, पत्ते, अभिसमन्नागए, तं गच्छामि णं ते भगवंते वंदामि, नमंस्सामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं पज्जुवासामि।

अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु अमुच्छिए जाव अणज्झोववन्ने। तस्स णं एवं भवइ—एस णं माणुस्सए भवे णाणीइ वा, तवस्सीइ वा अइदुक्कर-दुक्करकारगे, तं गच्छामि णं भगवंतं वंदामि णमंस्सामि जाव पज्जुवासामि।

अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु जाव अणज्झोववन्ने। तस्स णमेवं भवइ—अत्थि णं मम माणुस्सए भवे मायाइ वा जाव सुण्हाइ वा, तं गच्छामि णं तेसिमंतियं पाउब्भवामि, पासंतु ता मे इमं एयारूवं दिव्वं देविड्ढिं, दिव्वं देवजुतिं, दिव्वं देवाणुभावं लद्धं, पत्तं, अभिसमन्नागयं। इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्ज माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, संचाएति हव्वमागच्छित्तए॥५९॥

छाया—त्रिभिः स्थानैरधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु इच्छेद् मानुष्यलोकं शीघ्रमागन्तुं, नो चैव खलु शक्नोति शीघ्रमागन्तुम्, तद्यथा—अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु दिव्येषु काभोगेषु मूर्छितः, गृद्धः, ग्रथितः, अध्युपपन्नः। स खलु मानुष्यकान् कामभोगान् नो आद्रियते, नो परिजानाति, नो अर्थं बध्नाति, नो निदानं प्रकरोति, नो स्थितिप्रकल्पं प्रकरोति।

अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु, दिव्येषु कामभोगेषु मूर्छितो, गृद्धो, ग्रथितोऽध्युपपन्नः। तस्य खलु मानुष्यकं प्रेम व्यवच्छिन्नं, दिव्यं संक्रान्तं भवति।

अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु दिव्येषु कामभोगेषु मूर्छितो यावदध्युपपन्नः। तस्य खलु एवं भवति—इदानीं न गच्छामि, मुहूर्त्तेन गच्छामि, तस्मिन् कालेऽल्पायुष्यका मनुष्याः कालधर्मेण संयुक्ता भवन्ति। इत्येतैस्त्रिभिः स्थानैरधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु इच्छेत् मानुष्यं लोकं शीघ्रमागन्तुं, नो चैव खलु शक्नोति शीघ्रमागन्तुम्।

त्रिभिः स्थानैर्देवोऽधुनोपपन्नो देवलोकेषु इच्छेत् मानुष्यं लोकं हव्यमागन्तुम्, शक्नोति शीघ्रमागन्तुं, अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु दिव्येषु कामभोगेषु अमूर्छितः, अगृद्धः, अग्रथितोऽनध्युपपन्नः। तस्य खलु एवं भवति—अस्ति खलु मम मानुष्यके भवे आचार्य इति वा, उपाध्याय इति वा, प्रवर्त्तीति वा, स्थविर इति वा, गणीति वा, गणधर इति वा, गणावच्छेदक इति वा येषां प्रभावेण मयेयमेतद्रूपा दिव्या देवर्द्धिः, दिव्या देवद्युतिः, दिव्यो देवानुभावो लब्धः, प्राप्तः अभिसमन्वागतः। (तद्) तस्माद्गच्छामि खलु तान् भगवतो वन्दे, नमस्यामि, सत्करोमि, सम्मानयामि, कल्याणं, मंगलं, दैवतं, चैत्यं, पर्युपासे।

अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु दिव्येषु कामभोगेष्वमूर्छितो यावदनध्युपपन्नः। तस्य

खल्वेवं भवति—एष खलु मानुष्यके भवे ज्ञानीति वा, तपस्वीति वा, अतिदुष्कर-दुष्करकारकः, तद्गच्छामि खलु भगवन्तं वन्दे, नमस्यामि यावत् पर्युपासे।

अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु यावदनध्युपपन्नः। तस्य खल्वेवं भवति—अस्ति खलु मम मानुष्यके भवे मातेति वा, यावद् स्नुषेति वा, तद् गच्छामि खलु तेषामन्तिकं प्रादुर्भवामि, पश्यन्तु तावत् मे इमामेतद्रूपां दिव्यां देवर्द्धिं, दिव्यां देवद्युतिं, दिव्यं देवानुभावं लब्धं, प्राप्तमभिसमन्वागतम्। इत्येतैस्त्रिभिः स्थानैरधुनोपपन्नो देवो देवलोकेष्विच्छेत् मानुष्यं लोकं (हव्यम्) शीघ्रमागन्तुं, शक्नोति शीघ्रमागन्तुम्।

शब्दार्थ—तिहिं ठाणेहिं—तीन कारणों से, **अहुणोववन्ने देवे**—तत्काल का उत्पन्न हुआ देव, **देवलोगेसु**—देव लोक के विषय में, **इच्छेज्जा**—इच्छा करे, **माणुस्सं लोगं**—मनुष्य लोक में, **हव्वमागच्छित्तए**—शीघ्र आना, किन्तु, **च**—पुनः, **एव**—निश्चय, **णं**—वाक्य-सौन्दर्य के लिए, **णो संचाएति हव्वमागच्छित्तए**—शीघ्र आने में समर्थ नहीं होता, **तं जहा**—जैसे, **देवलोगेसु**—देव लोक में, **अहुणोववन्ने देवे**—तत्काल उत्पन्न देव, **दिव्वेसु कामभोगेसु**—देव सम्बन्धी प्रधान काम-भोगों में, **मुच्छिए**—मूर्च्छित, **गिद्धे**—गृद्ध-अतृप्त, **गढिए**—ग्रथित अर्थात् तद्विषयक स्नेहरूप रज्जुओं से सम्बद्ध **अज्झोववन्ने**—अत्यन्त आसक्त, **णं**—पूर्ववत्, **से**—वह देव, **माणुस्सए कामभोगे**—मानुष्यक काम-भोगों को, **णो आढाइ**—आदर नहीं देता, **णो परिजाणाति**—अच्छा नहीं समझता, **णो अट्ठं बंधति**—उनके लिए मेरा प्रयोजन है, ऐसा नहीं करता, **णो नियाणं पगरेति**—अनागत काल में मानुष्यक काम-भोग मुझे प्राप्त हों, ऐसा निदान नहीं करता है, **णो ठिइप्पकप्पं पगरेइ**—ये विषय मेरे पास रहें, ऐसी इच्छा भी नहीं करता है।

देवलोगेसु—देव लोक में, **अहुणोववन्ने देवे**—तत्काल उत्पन्न देव, **दिव्वेसु कामभोगेसु**—दैविक काम भोगों में, **मुच्छित्ते**—मूर्च्छित, **गिद्धे**—अतृप्त, **गढिए**—स्नेह-रज्जुओं से बंधा हुआ, **अज्झोववन्ने**—अत्यन्त आसक्त, **तस्स णं**—उसका, **माणुस्सए**—मानुष्यक, **पेम्मे**—प्रेम, **वोच्छिण्णे**—विच्छिन्न होता और, **दिव्वे संकंते भवति**—स्वर्गगत वस्तु विषयक प्रेम संक्रान्त हो जाता है इस कारण से नहीं आ सकता।

देवलोगेसु—देव लोक में, **अहुणोववन्ने देवे**—तत्काल का उत्पन्न देव, **दिव्वेसु कामभोगेसु**—दिव्य काम-भोगों में, **मुच्छिए**—मूर्च्छित, जाव—यावत्, **अज्झोववन्ने**—अत्यन्त आसक्त, **तस्स णं एवं भवति**—उसे यह विचार होता है कि, **इयणिंह न गच्छं**—अभी मैं यहां से नहीं जाता, किन्तु, **मुहुत्तं गच्छं**—एक मुहूर्त के पश्चात् जाता हूं, **तेणं कालेणं**—उस काल के विषय, **अप्पाउया मणुस्सा**—अल्पायु मनुष्य, **कालधम्मुणा संजुत्ता भवंति**—काल धर्म को प्राप्त हो जाते हैं, **इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं**—इन तीन स्थानों से, **देवलोगेसु**—देवलोक विषय, **अहुणोववन्ने देवे**—तत्काल का उत्पन्न देव, **माणुस्सं लोगं**—मनुष्य लोक में, **हव्वमागच्छित्तए**—शीघ्र आना, **इच्छेज्जा**—चाहता है किन्तु, **च**—पुनः,

एव—निश्चयार्थ, **णं**—पूर्ववत्, **णो संचाएइ हव्वमागच्छित्तए**—आने में समर्थ नहीं होता।

तिहिं ठाणेहिं—तीन स्थानों से, **देवलोगेसु**—देव लोक में, **अहुणोववन्ने देवे**—तत्काल उत्पन्न देव, **इच्छेज्जा**—इच्छा करे, **माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छित्तए**—मनुष्य लोक में शीघ्र आने की, **संचाएइ हव्वमागच्छित्तए**—शीघ्र आ सकता है, जैसे-**देव लोगेसु**—देवलोक में, **अहुणोववन्ने देवे**—तत्काल का उत्पन्न देव, **दिव्वेसु कामभोगेसु**—दिव्य काम भोगों में, **अमुच्छिए**—अमूर्च्छित, **अगिद्धे**—अगृद्ध, **अगढिए**—स्नेह रहित, **अणज्झोववन्ने**—आसक्ति रहित होने से, **तस्स णं एवं भवति**—उसका इस प्रकार भाव होता है, **माणुस्सए भवे**—मानुष्यक भव में, **मे**—मेरे, **आयरिएइ वा**—आचार्य अथवा, **उवज्झाएइ वा**—उपाध्याय-सूत्र दाता अथवा, **पवत्तीइ वा**—प्रवर्त्ती, **थेरेइ वा**—स्थविर अथवा, **गणीइ वा**—गणाचार्य अथवा, **गणधरेइ वा**—गणधर, **गणावच्छेएइ वा**—गणावच्छेदक, **अत्थि णं**—हैं, **जेसिं णं पभावेण**—जिन के प्रभाव से, **मए**—मैंने, **इमा**—यह प्रत्यक्ष रूप, **एयारूवा**—एतद्रूप, **दिव्वा**—प्रधान, **देविड्ढी**—देव की ऋद्धि, **दिव्वा देवजुती**—दिव्य द्युति, **दिव्वे देवाणुभावे**—प्रधान वैक्रियकरणादि शक्ति, **लद्धे**—उपार्जित की, **पत्ते**—इस समय प्राप्त हुई, **अभिसमन्नागए**—भोगपने में प्राप्त हुई, **तं**—इसलिए, **गच्छामि णं**—मैं जाता हूं, और, **ते भगवंते**—उन भगवन्तों की, **वंदामि**—वन्दन करूं, **नमंस्सामि**—नमस्कार करूं, **सक्कारेमि**— आदरपूर्वक सत्कार करूं, **सम्माणेमि**—उचित सम्मान करूं, **कल्लाणं**—वे कल्याणकारी हैं, **मंगलं**—वे मंगल रूप हैं, **देवयं**—वे धर्मदेव हैं, **चेइयं**—वे ज्ञानस्वरूप हैं अत:, **पज्जु- वासामि**—उन पूज्यों की पर्युपासना करता हूं।

देवलोएसु—देवलोक में, **अहुणोववन्ने देवे**—तत्काल उत्पन्न देव, **दिव्वेसु काम-भोगेसु**—दिव्य काम-भोगों में, **अमुच्छिए**—अमूर्च्छित, **जाव**—यावत्, **अणज्झोववन्ने**—अनासक्त होने से, **तस्स णं**—उसे, **एवं भवति**—यह भाव होता है कि, **एस णं**—अवधि-ज्ञान द्वारा प्रत्यक्षीकृत, **माणुस्सए भवे**—मानुष्य भव में, **णाणीइ वा**—ज्ञानी अथवा, **तवस्सीइ वा**—तपस्वी, **अइदुक्करदुक्करकारगे**—अति दुष्कर से भी दुष्कर कार्य के करने वाले और ब्रह्मचर्य पालन करने वाले हैं, **तं**—इसलिए, **गच्छामि णं**—मैं जाता हूं, **ते भगवंते**—उन भगवन्तों को, **वंदामि**—वन्दन, **नमंस्सामि**—नमस्कार करता हूं, **जाव**—यावत्, **पज्जुवासामि**—पर्युपासना करता हूं।

देवलोगेसु—देवलोक में, **अहुणोववन्ने देवे**—तत्काल का उत्पन्न देव, **जाव**—यावत्, **अणज्झोववन्ने**—काम भोगों में अनासक्त, **तस्स णं**—उसे, **एवं भवति**—यह भावना होती है, **माणुस्सए भवे**—मानुष्यक भव में, **मे**—मेरे, **मायाइ वा**—माता, **जाव**—यावत्, **सुण्हाइ वा**—पुत्रवधू आदि, **अत्थि णं**—हैं, **तं**—अत:, **गच्छामि णं**—मैं जाता हूं और, **तेसिमंतिए पाउब्भवामि**—उन के समीप प्रकट होता हूं कि, **इमं**—यह प्रत्यक्ष, **एतारूवा**—एतद्रूप,

दिव्वं देविड्ढिं—प्रधान दैविक ऋद्धि, **दिव्वं देवजुइं**—प्रधान देवद्युति, **दिव्वं देवाणुभावं**—प्रधान देवानुभाव, **लद्धं**—पूर्व-जन्मोपार्जित, **पत्तं**—अब प्राप्त, **अभिसमन्नागयं**—सभी प्रकार से सम्मुख हुए को, **पासंतु ता**—तावत् देखें, **इच्चेतेहिं**—इस प्रकार इन, **तिहिं ठाणेहिं**—तीन स्थानों से, **अहुणोववन्ने देवे**—तत्काल का पैदा हुआ देव, **देवलोगेसु**—देवलोक में, **इच्छेज्जा**—इच्छा करता है, **माणुस्सं लोगे**—मानुष्यक लोक में, **हव्वमागच्छित्तए**—शीघ्र आने के लिए और, **संचाएति हव्वमागच्छित्तए**—शीघ्र आने में समर्थ होता है।

मूलार्थ—तीन कारणों से तत्काल का उत्पन्न देव देवलोक से मनुष्य लोक में शीघ्र आने की इच्छा करता है, किन्तु शीघ्र आ नहीं सकता, जैसे—देवलोक में तत्काल का उत्पन्न हुआ देव, देव संबंधी काम-भोगों में मूर्च्छित, गृद्ध—अतृप्तग्रथित अर्थात् तद्विषयक स्नेह रूप रज्जुओं से बंधा हुआ अत्यन्त आसक्त वह देव मनुष्य सम्बन्धी काम-भोगों का आदर नहीं करता है, उन्हें अच्छा नहीं समझता है अर्थात् उनको सार नहीं समझता है, उन भोगों से मेरा प्रयोजन है ऐसा निदान नहीं कर पाता है। भविष्य में मुझे मानवीय काम-भोग प्राप्त हों ऐसा निदान नहीं करता। ये विषय मेरे पास ही रहें, ऐसी स्थिति नहीं करता अथवा मैं इनके पास सदैव रहूं ऐसी आशा नहीं करता है। देवलोक में तत्काल का उत्पन्न हुआ देव दैविक प्रधान काम-भोगों में मूर्च्छित, अत्यन्त आसक्त होता है। उसका मनुष्यलोक से प्रेम विच्छिन्न हो जाता है और स्वर्गगत वस्तुओं में प्रेम जुड़ जाता है अर्थात् देवलोक और देव-देवियों से प्रेम हो जाता है। इस कारण वह मनुष्यलोक में नहीं आ सकता है।

देवलोक में तत्काल उत्पन्न हुआ देव दिव्य काम-भोगों में मूर्च्छित, अतृप्त एवं स्नेहासक्त हो जाने से उसके मन में यह विचार होता है कि मैं अभी यहां से नहीं जाता, परन्तु एक मुहूर्त के पश्चात् जाऊंगा। इतने में अर्थात् उस देव के नृत्यादि की असमाप्ति में ही अल्प आयु वाले मृत्युलोकवासी उसके सगे-सम्बन्धी समाप्त हो जाते हैं। इसलिये इन तीन कारणों से देवलोक में तत्कालिक उत्पन्न देव मनुष्य लोक में शीघ्र आना चाहता है, किन्तु वह नहीं आ सकता।

तीन कारणों से देवलोक में तत्काल का उत्पन्न देव मनुष्यलोक में शीघ्र आने की इच्छा करता है और वह शीघ्र आने में समर्थ होता है, जैसे—देवलोक में तत्काल का उत्पन्न हुआ देव दिव्य काम-भोगों में आसक्ति रहित, अमूर्च्छित, अगृद्ध एवं स्नेहविहीन होने से उसके मन में यह विचार होता है कि मनुष्य भव में मेरे प्रतिबोधक प्रव्राजक—आचार्य अथवा अनुयोगाचार्य एवं उपाध्याय—सूत्रदाता अथवा आचार्य के उपदेशानुसार साधु की संयम के अनुकूल सेवा-वैयावृत्ति में प्रवृत्ति कराने वाले,

प्रवर्तक, स्थविर, गणाचार्य अथवा तीर्थंकर के मुख्य शिष्य गणधर और साधुओं को साथ लेकर गच्छ-साधुसमूह की रक्षार्थ उपधि—संयमोपयोगी उपकरण आदि एकत्र करने वाले गणावच्छेदक हैं, जिनके प्रभाव से मैंने यह प्रत्यक्ष एतद्रूप प्रधानदेव की ऋद्धि, प्रधान शरीराभरण आदि देवद्युति और प्रधान वैक्रियकरणादि की शक्ति प्राप्त की है तथा वर्त्तमान में वह ऋद्धि भोग रूप में प्राप्त हुई है। इसलिये मैं जाता हूं और उन भगवन्तों को वन्दना करता हूं, नमस्कार करता हूं, आदर-सत्कार करता हूं, उचित प्रतिपत्ति से सम्मान करता हूं, कल्याणरूप, मंगलरूप धर्मदेव और ज्ञानस्वरूप गुणसम्पन्न गुरुदेवों की सेवा करता हूं।

देवलोक में तत्कालिक उत्पन्न हुआ देव प्रधान देव सम्बन्धी काम-भोगों में अमूर्च्छित एवं अनासक्त होने से उसके अवधि आदि प्रत्यक्ष ज्ञान से उसे ऐसा विचार होता है कि मनुष्य भव में ज्ञानी अथवा तपस्वी एवं अतिदुष्कर क्रिया के करने वाले मेरे गुरुजन हैं अतः मैं जाता हूं और उन भगवन्तों को वन्दन-नमस्कार आदि यावत् पर्युपासना करता हूं।

देवलोक में तत्काल का उत्पन्न हुआ देव काम-भोगों में अनासक्त होने से उसे यह विचार होता है कि मनुष्य भव में मेरे माता-पिता, भार्या, भ्राता, पुत्र, पुत्रवधू आदि अनेक सगे-सम्बन्धी हैं। उनके समीप जाकर मैं प्रकट होता हूं और उन्हें कहूंगा कि तुम मेरी प्रधान देवर्द्धि, देवद्युति और देवानुभाव जो सर्व प्रकार से प्राप्त हुए है उन्हें देखो।

इन तीन कारणों से देवलोक में उत्पन्न हुआ तत्काल का देव मनुष्यलोक में शीघ्र आने की अभिलाषा करता है और शीघ्र आने में समर्थ होता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में देव का निर्देश किया गया है। चारित्र ग्रहण करने के अतिरिक्त शेष सब प्रकार की क्रिया करने में देव समर्थ होते हैं। प्रस्तुत सूत्र में निर्देश किया गया है कि सद्योजात देव तीन कारणों से मनुष्य लोक में नहीं आ सकता और तीन कारणों से प्रेरित हुआ मनुष्य लोक में आ सकता है। वे कारण निम्नलिखित हैं—

१. देवलोक में उत्पन्न होते ही देव शरीर धारी जीव दिव्य काम भोगों में लीन हो जाता है, दिव्य सुखों में अतृप्त रहने से आकांक्षावान होता है, दिव्य काम भोगों में स्नेह-रज्जू से बन्ध जाता है, अत्यन्त आसक्त होने से मनुष्य लोक में आने की कल्पना भी नहीं करता। मनुष्य सम्बन्धी काम भोगों का आदर भी नहीं करता, मन से अच्छा भी नहीं समझता, उनसे मेरा यह प्रयोजन सिद्ध होगा ऐसी कल्पना भी नहीं करता, उन्हें पाने के लिए निदान भी नहीं करता, मनुष्य सम्बंधी काम भोग मेरे हैं और मैं उन्हीं सुखों में 'ही रहूं' ऐसी कल्पना भी नहीं करता इस कारण वह तत्काल जन्मा हुआ देव मनुष्य लोक में नहीं आता।

२. स्वर्गादि लोकों में उत्पन्न होते ही देव जब अलौकिक सुखों में मग्न हो जाता है, विषयों का फलस्वरूप न जानते हुए मूर्च्छित होता है, दिव्य सुखों में उत्तरोत्तर आकांक्षावान रहता है स्नेह-रज्जू से बंध जाता है, अतीव आसक्त हो जाता है, तब उसका मनुष्य सम्बन्धी प्रेम टूट जाता है और दिव्य सुखों के साथ जुड़ जाता है, इस कारण चाहते हुए भी मनुष्य लोक में नहीं आता।

३. देवलोकों में उत्पन्न होते ही देव शरीरधारी जीव में यह संकल्प पैदा होते हैं कि कुछ क्षण देव लोक के दृश्य देख लूं उसके बाद मैं मनुष्यलोक में अपने स्नेही सम्बन्धियों को मिलने के लिए जाऊंगा। इधर-उधर के दिव्य दृश्यों को तथा वहां होने वाले नृत्य एवं नाटकों को देखते हुए उसके जीवन का बहुत बड़ा भाग बीत जाता है परन्तु उसे ऐसा लगता है कि मानो मुहूर्तमात्र ही बीता है। जब मनुष्यलोक में आने की स्मृति उसके मन में पुनः उठती है तब वह अवधिज्ञान से देखता है कि जिन सगे-संबंधियों को दर्शन देने के लिए जाना था वे तो सबके सब मृत्यु को पाकर अन्य गति में चले गये हैं। इन तीन कारणों में से कोई सा भी कारण हो तो देवलोक को छोड़कर देव मनुष्यलोक में नहीं आता।

प्रस्तुत सूत्र में तीन कारण ऐसे भी बतलाए हैं जिनके उपस्थित होने पर देवलोक में जन्म लेते ही जीव पुनः मनुष्यलोक में आए बिना नहीं रहता। वे तीन कारण इस प्रकार हैं—

१. देवलोक में उत्पन्न होते ही देव के हृदय में ऐसे संकल्प उत्पन्न होते हैं कि जिनकी अपार कृपादृष्टि से मैं देव बना हूं, जिन्होंने मुझे प्रतिबोध दिया है उन गुरुदेव के मैं दर्शन करूं, उन्हें वन्दना एवं नमस्कार करूं, उनका सत्कार-सम्मान करूं, मेरे लिए वे कल्याण रूप हैं, मंगलकारी हैं, धर्मदेव हैं, और स्मरणमात्र से आनन्द दायक हैं। मैं उनकी उपासना करूं जिनके अनुग्रह से मैंने यह दिव्य-ऋद्धि, दिव्य-द्युति, देवानुभाव सामान्य रूप से और विशेष रूप से प्राप्त किया है। इस तीव्र शुभ भावना से प्रेरित होकर कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए देव पुनः मनुष्यलोक में आता है।

२. देवलोक में उत्पन्न होते ही देव के सुसंस्कृत हृदय में भाव उत्पन्न होते हैं कि मनुष्यलोक में अमुक स्थान में परमज्ञानी, परमतपस्वी विराजित हैं, मैं मनुष्यलोक में जाकर उनके दर्शन करूं, वन्दना-नमस्कार करके उनका सत्कार-सम्मान करूं, वे मेरे लिये कल्याण-रूप, मंगलरूप, धर्मदेव एवं परमानन्द रूप हैं, वे असाध्य से भी असाध्य कार्य करने की शक्ति रखने वाले हैं। उनकी भक्ति से प्रेरित होकर वह देव मनुष्यलोक में आता है।

३. तत्क्षण उत्पन्न हुए देव में ऐसे संकल्प उत्पन्न होते हैं कि मेरे पूर्वजन्म के सम्बन्धी शोक से व्याकुल हो रहे हैं, मैं उन्हें पहले देव ऋद्धि दिखाकर समझाऊंगा कि तुम मेरे पीछे इतने शोकाकुल क्यों हो रहे हो, शोक एवं आर्त्तध्यान छोड़कर धर्म में संलग्न हो जाओ, इसी में तुम्हारा हित है। इस प्रकार का देव धर्म से प्रेरित होकर मनुष्यलोक में आता है। इन तीन कारणों में से कोई सा भी कारण उपस्थित हो जाए तो वह तुरन्त मनुष्य लोक में आता है।

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने सात पदवीधरों का भी उल्लेख किया है, जैसे—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर, गणी, गणधर और गणावच्छेदक।

आचार्य—भव्य जीवों को दिव्य ज्ञान देना प्रव्रज्या एवं उपस्थापना देना, ज्ञान आदि पांच आचार का स्वयं पालन करना, दूसरों से पालन कराना इत्यादि छत्तीस गुणों से सम्पन्न संघ नायक को आचार्य कहा जाता है।

उपाध्याय—आगम एवं दर्शनशास्त्र के अध्यापन कराने वाले, पच्चीस गुणों से सम्पन्न अनगार को उपाध्याय कहते है।

प्रवर्त्तक—आचार्य उपदिष्ट विनय एवं सयम आदि शुभानुष्ठानों में प्रवृत्ति कराने वाले अनगार प्रवर्त्तक कहलाते हैं।

स्थविर—जिन साधकों के सयम की भावना डावाडोल हो रही है जिनके मन में स्थिरता नहीं इस प्रकार के साधको को धर्म मे पुन: स्थिर करने वाले अनगार स्थविर माने जाते हैं।

गणी—जो अनगार-गण के स्वामी हैं वे गणी कहलाते हैं। अनेक कुल, समुदाय को गण कहा जाता है। गणाचार्य मुनिराज को ही गणी कहते हैं।

गणधर—तीर्थंकर के प्रमुख एवं अग्रणी शिष्यों को गणधर कहते हैं, जैसे कि इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधर भगवान् महावीर के हुए हैं।

गणावच्छेदक—संघाडापति तथा गच्छ की रक्षा के लिये वस्त्र-पात्र आदि बाह्य उपधि का प्रबन्ध करने के लिए ग्राम, नगर आदि में विचरने वाले मुनिराज गणावच्छेदक कहलाते है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र मे प्रसंगवश संघ-व्यवस्था का भी सूत्रकार ने निर्देश कर दिया है और आचार्य से गणावच्छेदक तक का क्रम प्रदर्शित कर सघ में किस का कितना महत्त्व है यह भी स्पष्ट कर दिया है।

सूत्रकार का यह निर्देश है कि देवता भी यह स्वीकार करते हैं कि आचार्य एवं उपाध्याय आदि की कृपा से, उनके द्वारा दिए गए आध्यात्मिक साधनों से ही मैंने देवत्व प्राप्त किया है, अत: आचार्य आदि मुनिराज देवों के भी सम्मान्य हैं, फिर मनुष्य के तो सम्माननीय होते ही हैं। देव यहां आना चाहते हैं केवल आचार्य आदि के दर्शनों के लिए।

देव जीवन से भी जीव की सन्तुष्टि नहीं हो सकती अत: उच्च साधक का लक्ष्य देवत्व नहीं है, उसका परम लक्ष्य तो देवत्व से भी ऊपर उठकर उस सिद्ध, बुद्ध, चैतन्य आनन्दमय अवस्था को प्राप्त करना है जहां पहुंच कर आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है।

देवों की इच्छा एवं पश्चात्ताप

मूल—तओ ठाणाइं देवे पीहेज्जा, तं जहा—माणुस्सं भवं, आरिये खेत्ते जम्मं, सुकुलपच्चायातिं।

तिहिं ठाणेहिं देवे परितप्पेज्जा, तं जहा—अहो णं मए संते बले, संते वीरिए, संते पुरिसक्कारपरक्कमे, खेमंसि सुभिक्खंसि, आयरियउवज्झाएहिं विज्जमाणेहिं कल्लसरीरेणं णो बहुए सुए अहीए।

अहो णं ! मए इहलोगपडिबद्धेणं परलोगपरंमुहेणं, विसयतिसिएणं णो दीहे सामन्नपरियाए अणुपालिए।

अहो णं! मए इड्ढिरससायगरुएणं, भोगामिसगिद्धेणं णो विसुद्धे चरित्ते फासिए। इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं देवे परितप्पेज्जा॥ ६०॥

छाया—त्रीणि स्थानानि देवः स्पृहयेत्, तद्यथा—मानुष्यं भवम्, आर्यक्षेत्रे जन्म, सुकुलप्रत्यायातिम्।

त्रिभिः स्थानैर्देवः परितपेत्, तद्यथा—अहो ! खलु मया सति बले, सति वीर्ये, सति पुरुषकारपराक्रमे, क्षेमे, सुभिक्षे, आचार्योपाध्यायेषु विद्यमानेषु, कल्यशरीरेण नो बहुकं श्रुतमधीतम्।

अहो ! खलु मयेहलोकप्रतिबद्धेन परलोकपराङ्मुखेन विषयतृषितेन नो दीर्घश्रामण्य-पर्यायोऽनुपालितः।

अहो ! खलु मया ऋद्धि-रस-सातगरुकेण, भोगामिषगृद्धेण नो विशुद्धं चारित्रं स्पृष्टम्। इत्येतैस्त्रिभिः स्थानैर्देवः परितपेत्।

शब्दार्थ—**तओ ठाणाइं देवे पीहेज्जा**—तीन स्थानों को पाने के लिए देवलोक में देव स्पृहा करता है, **तं जहा**—जैसे, **माणुस्सं भवं**—मनुष्यजन्म की प्राप्ति, **आरिये खेत्ते जम्मं**—आर्यक्षेत्र में जन्म, **सुकुलपच्चायातिं**—उत्तम कुल में आगमन। **तिहिं ठाणेहिं**—तीन कारणों से, **देवे परितप्पेज्जा**—देव पश्चात्ताप करता है, **तं जहा**—जैसे, **अहो णं**—बड़ा आश्चर्य है, **मए**—मैंने, **संते बले**—बल होने पर, **संते वीरिए**—वीर्य अर्थात् शक्ति होने पर, **संते पुरिसक्कारपरक्कमे**—पौरुष और पराक्रम के होने पर, **खेमंसि**—उपद्रवों का अभाव होने पर, **सुभिक्खंसि**—सुकाल होने पर, **आयरियउवज्झाएहिं विज्जमाणेहिं**—आचार्य और उपाध्याय के विद्यमान होते हुए, **कल्लसरीरेणं**—नीरोग शरीर होने पर, **बहुए**—बहुत, **सुए**—श्रुत-शास्त्र, **णो अहीए**—अध्ययन नहीं किया।

अहो णं—आश्चर्य है, **मए**—मैंने, **इहलोगपडिबद्धेणं**—इस लोक के विषयादिक में प्रतिबद्ध होने से और, **परलोगपरंमुहेणं**—परलोक से परांमुख होने से तथा, **विसयतिसिएणं**—विषयों की अत्यन्त तृष्णा के कारण, **दीहे**—दीर्घकाल पर्यन्त, **सामन्नपरियाए**—श्रमण-पर्याय का, **णो अणुपालिए**—अनुपालन नहीं किया।

अहो णं—आश्चर्य है, **मए**—मैंने, **इड्ढि-रस-सायगरुएणं**—ऋद्धि, रस और साता के गौरव से, **भोगामिसगिद्धेणं**—भोगों की आशा में गृद्ध होने से, **विसुद्धे**—विशुद्ध,

चरित्ते—चारित्र का, **णो फासिए**—स्पर्श नहीं किया, **इच्चेतेहिं**—इन तीन कारणों से देव पश्चात्ताप करता है।

मूलार्थ—तीन कारणों से देवलोक में रहने वाला देव स्पृहा—अभिलाषा करता है अर्थात् तीन स्थानों की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करता है, जैसे—मनुष्य जन्म की प्राप्ति, आर्यक्षेत्र में जन्म, और उत्तम कुल में उत्पन्न होना।

तीन स्थानों से देव पश्चात्ताप करता है जैसे—अहो! आश्चर्य है कि अपना बल विद्यमान होने पर, वीर्य अर्थात् शक्ति के विद्यमान होते हुए, और पुरुष एवं पराक्रम के विद्यमान होते हुए तथा उपद्रव के अभाव एवं सुकाल होते हुए, आचार्य एवं उपाध्यायों के विद्यमान होने पर और नीरोग शरीर के होने पर भी मैंने बहुत श्रुत का अध्ययन नहीं किया। अहो! आश्चर्य है कि इस लोक के विषयों में प्रतिबद्ध और परलोक से पराङ्मुख तथा विषयों की अत्यन्त तृष्णावश मैंने दीर्घकालिक संयम-पर्याय का अनुपालन नहीं किया।

अहो! ऋद्धि, रस और साता के गौरव से तथा भोग-अभिलाषा में गृद्ध होने से मैंने विशुद्ध चारित्र को स्पर्श नहीं किया।

इन तीन कारणों से देवलोक में रहा हुआ देव पश्चात्ताप करता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में सूत्रकार ने देवलोकों में उत्पन्न होते ही देव के हृदय में पुनः पृथ्वी पर आने की जो इच्छा जागृत होती है उसका वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में वे यह वर्णन करना चाहते हैं कि देवलोक की आयु पूर्ण होने के दिन निकट आने पर उन देवों के हृदय में क्या-क्या भाव जागृत होते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में २१वें देवलोक तक के देवों का ही वर्णन किया गया है, क्योंकि २२वें से लेकर २६वें देवलोक तक के देव आयु की पूर्णता कर आर्य-क्षेत्र में तथा उच्चकुल मे मानव के रूप में ही जन्म लेते हैं। यह नियम है कि इच्छा उसी वस्तु की होती है, जिसकी प्राप्ति में संदेह हुआ करता है, निश्चयात्मक रूप से प्राप्त होने वाली वस्तु की इच्छा जीव में उत्पन्न ही नहीं होती; इसीलिए २२वें से २६वें देवलोक तक के जीवों में मनुष्य-जन्म की एवं आर्य-क्षेत्र के श्रेष्ठ कुल में जन्म लेने की इच्छा नहीं हो सकती है।

आठवें देवलोक तक के देव तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों में भी जन्म ले सकते हैं, अतः उनकी यह हार्दिक स्पृहा होती है कि हम तिर्यंच जीवों में जन्म न लेकर मनुष्य जन्म ही प्राप्त करें। नौवें देवलोक से २१वें देवलोक तक के देव आर्य या अनार्य किसी भी मनुष्यकुल में जन्म ले सकते हैं, अतः उनके हृदय में यह तीव्र इच्छा होती है कि वे आर्य क्षेत्र के किसी उच्च आर्यकुल में ही जन्म धारण करें।

जैनागमों की निर्माण-वेला में भारतक्षेत्र ३२ हजार प्रदेशों में विभक्त था, उनमें से

केवल साढ़े पच्चीस प्रदेशों में ही आर्य जाति के श्रेष्ठ लोग निवास किया करते थे। आर्य जाति के लोग धर्मनिष्ठ एवं तप-संयम आदि के द्वारा मोक्ष-साधना के लिए यत्नशील रहते हैं, इसलिए देवता भी आर्य जाति के श्रेष्ठ कुल में मनुष्य जन्म प्राप्त करना चाहते हैं, क्योंकि यहां जन्म लेकर वे पुनः धर्मसाधना के द्वारा उच्च देवगति एवं मोक्ष आदि की उपलब्धि कर सकते हैं।

जैनागमों में उच्च राष्ट्रीयता के भाव विशाल परिमाण में विद्यमान हैं, उन्होंने जन-मन में यह भावना जागृत कर दी थी कि हमारा देश वह महान् देश है जहां देवता भी जन्म लेने के लिये तरसा करते हैं। कहा भी गया है—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते ये भारतभूमिभागे।

देवता भी यही गीत गाते रहते हैं कि धन्य हैं वे मानव जो भारत के किसी भी प्रदेश में उत्पन्न हुए हैं। प्रस्तुत सूत्र भी उसी महान् राष्ट्रीयता का उद्घोष कर रहा है, परन्तु इस उद्घोष की पृष्ठभूमि है धर्म, और धर्म के कारण ही भारत की श्रेष्ठता है। भौतिक दृष्टि से इससे भी सम्पन्न अनेक प्रदेश हो सकते हैं, किन्तु धार्मिकता की दृष्टि से भारत की समता करने वाला कोई भी देश नहीं है। इसलिए जैनागम धार्मिकता और राष्ट्रीयता का तादात्म्य उपस्थित करते हैं।

देवता बनकर भी पश्चात्ताप—

भारतीय संस्कृति मनुष्यत्व को देवत्व से भी श्रेष्ठ मानती है, क्योंकि देवता कृत-कर्मों का फल भोग सकते हैं, परन्तु देवत्व से भी ऊपर उठकर सिद्धत्व प्राप्त नहीं कर सकते। मनुष्य कृत कर्मों का फल भी भोगता है, कर्मों की निर्जरा भी कर सकता है और सुदृढ़ एव सतत की जाने वाली साधना के द्वारा वह मोक्ष की उपलब्धि भी कर सकता है, इसीलिये प्रस्तुत सूत्र में देव का भी पश्चात्ताप प्रदर्शित किया गया है।

देवों में भी उच्च, मध्यम और हीन श्रेणी के देव होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे मनुष्यलोक में उच्च श्रीसम्पन्न वर्ग भी हैं, मध्यम श्रेणी के लोग भी हैं और हीन-स्तर के लोगों की भी यहां कोई कमी नहीं है। जैसे यहां श्रीसम्पन्न आनन्दमय जीवन व्यतीत करने वाले लोगों को देख कर निम्न स्तर के लोगों के हृदय में हीनता के भाव जागृत होते हैं, ठीक उसी प्रकार हीनस्तर के देव भी अपने से अधिक सुखोपभोगों में लीन देवों को देख कर पश्चात्ताप करते हैं। उनके पश्चात्ताप के भी तीन रूप होते हैं—

१. कुछ देव यह सोचते हुए पश्चात्ताप करते हैं कि श्रेष्ठ आचार्य, आगम-निष्णात उपाध्याय, शारीरिक एवं बौद्धिक शक्ति, इष्ट-सिद्धि की क्षमता, पुरुषार्थ और उपद्रवों से रहित समय एवं शान्त वातावरण इन सबके होते हुए भी मैंने शास्त्रों का अध्ययन क्यों नहीं किया?

यहां यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि इस लोक में किया हुआ अध्ययन मृत्यु के अनन्तर उस लोक में कैसे स्मृत रह सकता है? और स्मृति के अभाव में पश्चात्ताप कैसा? उत्तर में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार जागृत अवस्था में अध्ययन की हुई विद्या शयन-काल में और उसके अनन्तर विस्मृत नहीं होती उसी प्रकार इस लोक का अध्ययन मृत्यु के अनन्तर उस लोक में भी विस्मृत नहीं होता।

२. कुछ देव यह सोचते हुए पश्चात्ताप करते हैं कि मैंने मनुष्य-जीवन के अमूल्य क्षणों को सांसारिक भोगों में खो दिया और साधुत्व को प्राप्त करने का सुअवसर होते हुए भी साधुत्व से वंचित रहा, यदि मैंने साधुत्व का आचरण किया होता तो आज मेरी यह दशा न होती।

३. कुछ देव इसलिये पश्चात्ताप करते हैं कि मैंने श्रमणत्व स्वीकार करके भी विशुद्ध चारित्र का पालन नहीं किया, आचार्य-पद प्राप्त होने पर, राज-सम्मान की उपलब्धि पर, स्वादिष्ट भोज्यों की प्राप्ति और शारीरिक स्वास्थ्य की प्राप्ति पर मैंने अभिमान क्यों किया? और बाह्य सुखों की प्राप्ति न होने पर मैं उनकी प्राप्ति-कामनाओं में आसक्त क्यों हुआ? इस प्रकार हीनदेवत्व को प्राप्त कर देव पश्चात्ताप करते हैं।

प्रस्तुत प्रकरण में देव-पश्चात्ताप एक माध्यम है जिसके द्वारा आगमकार साधक को सावधान होकर संयमनिष्ठा के प्रति जागरूक करना चाहते हैं कि यदि सयमशीलता का सुअवसर प्राप्त होने पर भी कोई साधक आगमाध्ययन के प्रति प्रमाद करता है, धर्म के प्रति उदासीनता व्यक्त करता है, विषय-वासनाओं तथा विकथाओं में दत्तचित्त रहता है तो उसे स्वर्णावसर को खोने का पश्चात्ताप करना ही पड़ेगा, अतः संयमी जीवन की पूर्णता के लिये पद-पद पर सावधानी आवश्यक है।

देवों का च्यवन ज्ञान और उद्वेग

मूल—तिहिं ठाणेहिं देवे चइस्सामित्ति जाणाइ, तं जहा—विमाणाभरणाइं णिप्पभाइं पासित्ता, २. कप्परुक्खगं मिलायमाणं पासित्ता, ३. अप्पणो तेयलेस्सं परिहायमाणिं जाणित्ता, इच्चेतेहिं०।

तिहिं ठाणेहिं देवे उव्वेगमागच्छेज्जा, तं जहा—१. अहो णं! मए इमाओ एयारूवाओ देविड्ढीओ, दिव्वाओ देवजुईओ, दिव्वाओ देवाणुभावाओ पत्ताओ, लद्धाओ, अभिसमण्णागयाओ चइयव्वं भविस्सति।

२. अहो णं! मए माउ-ओयं पिउ-सुक्कं तं तदुभयसंसट्ठं तप्पढमयाए आहारो आहारेयव्वो भविस्सइ।

३. अहो णं! मए कलमलजंबालाए असुईए उव्वेयणियाए भीमाए

गब्भवसहीए वसियव्वं भविस्सइ, इच्चेएहिं०॥६१॥

छाया—त्रिभिः स्थानैर्देवश्च्यविष्ये इति जानाति, तद्यथा—१. विमानाभरणानि निष्प्रभाणि दृष्ट्वा, २. कल्पवृक्षकं म्लायन्तं दृष्ट्वा, ३. आत्मनस्तेजोलेश्यां परिहीयमाणां ज्ञात्वा, इत्येतै०।

त्रिभिः स्थानैर्देव उद्वेगं गच्छेत्, तद्यथा—१. अहो! खलु मया इमा एतद्रूपा देवर्द्धयः, दिव्याः, देवद्युतयः, दिव्या देवानुभावाः प्राप्ताः, लब्धाः, अभिसमन्वागताश्च्यवितव्यं भविष्यति।

२. अहो! खलु मया मातुरोजः पितुः शुक्रं तत्तदुभयसंसृष्टं तत्प्रथमतायामाहार आहर्त्तव्यो भविष्यति।

३. अहो खलु मया कलमलजंबालायामशुच्यामुद्वेजनीयायां भीमायां गर्भवसत्यां वस्तव्यं भविष्यति, इत्येतैः०।

शब्दार्थ—**तिहिं ठाणेहिं**—तीन कारणों से, **देवे**—देव, **चइस्सामित्ति जाणाइ**—मैं देवलोक से मृत्युलोक में जाऊंगा यह जानता है, **तं जहा**—जैसे, **विमाणाभरणाइं**—विमान और आभूषणों को, **णिप्पभाइं**—निष्प्रभ—कान्तिरहित, **पासित्ता**—देखकर, **कप्परुक्खगं मिलायमाणं**—कल्पवृक्ष को कुम्हलाया हुआ, **पासित्ता**—देख कर, **अप्पणो तेयलेस्सं**—अपनी तेजोलेश्या अर्थात् शरीर की कान्ति, **परिहायमाणिं**—हीन होती हुई को, **जाणित्ता**—जान कर, **इच्चेतेहिं०**—इन तीन कारणों से देव अपने मृत्यु समय को निकट आया हुआ जान लेता है।

तिहिं ठाणेहिं—तीन स्थानों से, **देवे**—देव, **उव्वेगमागच्छेज्जा**—उद्वेग को प्राप्त होता है, **तं जहा**—जैसे, **अहो णं**—विस्मय है, **मए**—मैंने, **इमाओ**—ये, **एयारूवाओ**—एतद्-रूप, **दिव्वाओ**—दिव्य, **देविड्ढीओ**—देव समृद्धियां, **दिव्वाओ देवजुईओ**—दिव्यदेवद्युति, **दिव्वाओ देवाणुभावाओ**—दिव्य देवानुभाव, **पत्ताओ**—प्राप्त किए, **लद्धाओ**—मुझे उपलब्ध हुए, **अभिसमण्णागयाओ**—सर्व प्रकार से मेरे सन्मुख हुए हैं मुझे ये सब, **चइयव्वं भविस्सइ**—छोड़ जाने होंगे।

अहो णं—अहो! **मए**—मुझे, **कलमलजंबालाए**—मातृ-गर्भ के द्रव्यसमूह मलकर्दम में जो, **असुईए**—अशुचि रूप है, **उव्वेयणियाए**—जो उद्वेग उत्पन्न करने वाली है। ऐसी, **भीमाए**—भयंकर, **गब्भवसहीए**—गर्भ वसती में, **वसियव्वं भविस्सइ**—रहना होगा, **इच्चेतेहिं तिहिं०**—इन तीन कारणों से देव उद्वेग को प्राप्त होता है।

मूलार्थ—तीन कारणों से देव "मैं इस स्थान से च्यव कर अन्य मृत्यु आदि लोकों में जाऊंगा," यह जानता है। जैसे कि—विमान और आभरणों की कान्ति को निष्प्रभ देख कर, कल्पवृक्ष को कुम्हलाया हुआ देख कर और अपनी तेजोलेश्या

अर्थात् शरीर की दीप्ति को क्षीण होती हुई देख कर। इन तीन कारणों से देव अपने मृत्यु समय को निकट आया हुआ जान लेता है।

तीन स्थानों से देव उद्वेग को प्राप्त होता है, जैसे—अहो! इस प्रकार की दिव्य देवसमृद्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देवानुभाव जो मुझे उपलब्ध हैं और सर्व प्रकार से मेरे सन्मुख हैं, वे मुझ से छूट जाएंगे अर्थात् इन्हें छोड़ कर मुझे देवलोक से चलना पड़ेगा।

ओह! मुझे अन्य लोकों में माता के ओज और पिता के शुक्र, इन दोनों के मिश्रण का प्रथम समय में ही आहार करना होगा।

ओह! मुझे कर्दमलिप्त माता के पेट के अशुचि एवं अपवित्र और उद्वेग-उत्पन्न करने वाले पदार्थों से युक्त गर्भरूप वस्ती में वास करना होगा। इन तीन कारणों से देव उद्विग्न (उदास) होता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में देवों के पश्चात्तापमय जीवन का चित्र प्रदर्शित करके अब सूत्रकार यह बताना चाहते हैं कि देवों की भी मृत्यु होती है और वे भी मनुष्य के समान उद्विग्नता से मुक्त नहीं हैं।

सर्व प्रथम वे तीन लक्षण बताए गए हैं जिन से देवता को यह आभास हो जाता है कि अब मेरा जीवन-काल समाप्त हो चुका है और अब मुझे यहां से चलना ही पड़ेगा—

१. उसे अपने विमान अर्थात् निवास स्थान रहने के अयोग्य और यान उड़ान की शक्ति से रहित प्रतीत होने लगते हैं तथा शरीर पर धारण किए हुए आभूषणों की चमक-दमक नष्ट होती प्रतीत होने लगती है।

२. उसकी समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला कल्पवृक्ष उसे ऐसे प्रतीत होने लगता है कि मानो उसकी कामनापूर्ति की शक्ति अब नष्ट हो चुकी है।

३. उसे अपना दिव्य शरीर भी कान्तिहीन जान पड़ने लगता है।

सूत्र के इस अंश में देवत्व और मानवता का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, जिस प्रकार वृद्धत्व के आते ही मनुष्य की शक्तियां क्षीण होने लगती हैं और वे यान जिन्हें वह यौवन में उन्मत्तता के साथ चलाया करता था जब उसमें उनके चलाने की शक्ति नहीं रह जाती है तो उसे वे यान अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं, वे आभूषण जिन्हें वह यौवन में चाव से धारण करता था अब वह स्वयं उन्हें उतारने लगता है और कहता है "अब घुन खाई लकडी पर पालिश का क्या काम," ठीक इसी प्रकार देवों पर भी जब वृद्धत्व की छाया पड़ जाती है तो वे भी अपने निस्तेज शरीर, कान्तिहीन आभूषणों और दीप्तिहीन विमान को देखकर खेदखिन्न हो जाते हैं।

वे जीवन-साधन, परिवार, व्यापार, संगी-साथी जो कल्पवृक्ष के समान मानव की

आज्ञा पाते ही उसकी कामनाओं को पूर्ण किया करते थे, वृद्धत्व को देखते ही वे सब उसकी आज्ञा-पालन में आनाकानी करने लगते हैं—मानो उसके पुण्यरूप कल्पवृक्ष मुर्झा जाते हैं, इसी प्रकार देवों के भी जीवन-पूर्ति के समस्त साधनों का प्रतीक कल्पवृक्ष उनके लिये भी मुरझाया सा जान पड़ता है।

बुढ़ापे के कारण आने वाली कुरूपता से कौन अपरिचित है, उस कुरूपता में मानव अपने को निस्तेज पाता है—यौवन की लाली उसके चेहरे से उड़ जाती है, देव भी इसके अपवाद नहीं हैं, मृत्यु-वेला निकट आने पर उन्हें भी अपना दिव्य शरीर कान्तिहीन प्रतीत होने लगता है।

इतना ही नहीं बल्कि बुढ़ापे में पुष्पमालाएं भी अरुचिकर हो जाती हैं, कल्पवृक्ष के समान मनोरथों का पूरक मन कांपने लगता है, शरीर श्रीहीन हो जाता है, लज्जा नष्ट हो जाती है, वस्त्रों के प्रति आसक्ति नहीं रह जाती, वाणी में दीनता आ जाती है, शरीर में आलस्य भर जाता है, समस्त आसक्तियों के तार टूट जाते हैं, दृष्टि में भ्रान्ति होने लगती है, शरीर कांपने लगता है और धीरे-धीरे समस्त वस्तुओं से मन उदासीन हो जाता है, ठीक इसी प्रकार देवों की भी स्थिति होती है, अतएव वृत्तिकार ने कहा है—

माल्यम्लानिः कल्पवृक्षप्रकम्पः, श्रीह्रीनाशो वाससां चोपरागः।
दैन्यं तन्द्रा कामरागांगभंगौ, दृष्टिभ्रान्तिर्वेपथुश्चारतिश्च॥

अतः मानव जीवन का लक्ष्य देवत्व-प्राप्ति नहीं होना चाहिए, क्योंकि देवत्व मानवता से अधिक श्रेष्ठ एवं मंगलकारी नहीं हो सकता है।

योग वसिष्ठ नामक वैदिक परम्परा के ग्रन्थ में एक स्थान पर देवराज इन्द्र से एक तपस्वी मुनिराज ने यह कह कर स्वर्ग जाने में आपत्ति की है कि 'मुझे पहले यह बता दो कि धरती से स्वर्ग में आखिर क्या श्रेष्ठ है?' जिन कारणों से हम पृथ्वी का परित्याग कर मुक्त होना चाहते हैं, वे सब कारण तो देवलोक में भी विद्यमान हैं।

देवों की उद्विग्नता—

"पुनरपि जननं पुनरपि मरणं, पुनरपि जननीजठरे शयनम्।"

'जन्म लेकर मरण, और मरण लेकर जन्म, यह एक ऐसा खेल है जिस खेल को सभी खेल रहे हैं, पर इस खेल के खेलने वाले बडे-बडे खिलाडी हारे ही हैं, जीतने वाले कुछ हैं, पर वे ऐसे ही हैं जैसे करोड़ों तारों में एक चांद। निर्वाण की ज्योति के दर्शन करोड़ों में एक-आध ही कर पाता है।

जन्म और मृत्यु के बीच एक माध्यम है और वह है माता का गर्भ, जहां पर होते हैं—मांस, रक्त, मल, उन्हीं के बीच जीव जन्म लेता है। माता के रज और पिता के वीर्य जैसे अपवित्र पदार्थों का आहार करके अर्थात् उनके मिश्रण के आधार पर निर्मित शरीर वाला जीव उस गर्भ में वास करता है। यह वास भी एक-आध दिन का नहीं बल्कि लगभग नौ

मास का होता है, पड़े रहना पड़ता है कुम्भीपाक नरक में। इस संसार में आने वाले प्रत्येक प्राणी के लिए यह सजा आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

देवयोनि के परित्याग के समय देवात्मा के समक्ष यह समस्त स्थिति प्रत्यक्ष सी हो उठती है, फांसी का कैदी जब फांसी के तख्ते की ओर जा रहा होता है उस समय उसके मन में जो उद्विग्नता होती है ठीक वही उद्विग्नता उस देव के हृदय में होती है जिसे देवलोक से माता के गर्भ रूप कुम्भीपाक की वेदना प्रत्यक्ष दिखाई दे रही होती है।

इसी प्रकार वैभव से परिपूर्ण कोष, सुन्दर पत्नी, आज्ञाकारी पुत्र और जीवन के लिए सभी उपयोगी साधनों से सम्पन्न घर सबका स्वच्छन्द रूप से उपयोग करने वाले व्यक्ति को यदि एक दम सब कुछ छोड़ कर चले जाने का अनायास राजकीय आदेश प्राप्त हो जाए तो उस व्यक्ति के हृदय में जो उद्विग्नता होती है उससे कहीं अधिक उद्विग्नता देवलोक का परित्याग करते समय देवात्मा को हुआ करती है।

उद्विग्नता एक मानसिक रोग है जो जीव को अन्दर ही अन्दर घुन के समान खोखला बना देता है, यदि मनुष्य इस रोग से मुक्त नहीं है तो देवता भी इसी रोग से पीडित हैं।

सूत्रकार देवता की उद्विग्नता और मृत्यु का वर्णन करके यह सिद्ध कर देना चाहते हैं कि मानवता को देवत्व के लिए तरसना नहीं चाहिए, देवत्व मानवता के समान ही उद्विग्नता और आवागमन के भय से आच्छन्न है, अत: हमें तप की तीव्र ज्वाला से कर्मों के आवरण को नष्ट-भ्रष्ट करके मानवत्व एवं देवत्व से ऊपर उठकर उस निर्वाण को प्राप्त करना है जिस निर्वाण की ज्योति के प्रकाश में पहुंचकर न कहीं जाना है, न आना है, न खिन्नता है और न उद्विग्नता है—जहां अखड शान्ति है—अनन्त एवं असीमित आनन्द है।

देवों के विमान

मूल—तिसंठिया विमाणा पण्णत्ता, तं जहा—वट्टा, तंसा, चउरंसा। तत्थ णं जे ते वट्टा विमाणा, ते णं पुक्खरकन्निया संठाणसंठिया, सव्वओ समंता पागारपरिक्खित्ता, एगदुवारा पन्नत्ता।

तत्थ णं जे ते तंसा विमाणा, ते णं सिंघाडगसंठाणसंठिया, दुहतो पागार-परिक्खित्ता, एगओ वेइयापरिक्खित्ता, तिदुवारा पन्नत्ता।

तत्थ णं जे ते चउरंसविमाणा, ते णं अक्खाडगसंठाणसंठिया। सव्वओ समंता वेइयापरिक्खित्ता, चउदुवारा पन्नत्ता।

तिपइट्ठिया विमाणा पण्णत्ता, तं जहा—घणोदधिपइट्ठिया, घणवाय-पइट्ठिया, ओवासंतरपइट्ठिया।

तिविधा विमाणा पण्णत्ता, तं जहा—अवट्ठिया, वेउव्विया, परिजाणिया ॥६२ ॥

छाया—त्रिसंस्थितानि विमानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—वृत्तानि, त्र्यस्राणि, चतुरस्राणि। तत्र खलु यानि वृत्तानि विमानानि, तानि खलु पुष्करकर्णिकासंस्थान-संस्थितानि, सर्वतः समन्तात् प्राकारपरिक्षिप्तानि, एकद्वाराणि प्रज्ञप्तानि।

तत्र खलु यानि त्र्यस्राणि विमानानि, तानि खलु शृंगाटकसंस्थानसंस्थितानि, द्विधातः प्राकारपरिक्षिप्तानि, एकतो वेदिका परिक्षिप्तानि, त्रिद्वाराणि प्रज्ञप्तानि।

तत्र खलु यानि चतुरस्राणि विमानानि, तानि खलु अक्षाटकसंस्थानसंस्थितानि, सर्वतः समन्ताद् वेदिका परिक्षिप्तानि चतुर्द्वाराणि प्रज्ञप्तानि।

त्रिप्रतिष्ठितानि विमानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—घनोदधिप्रतिष्ठितानि, घनवात-प्रतिष्ठितानि, अवकाशप्रतिष्ठितानि।

त्रिविधानि विमानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा-अवस्थितानि, वैक्रियाणि, पारियाणि-कानि।

शब्दार्थ—**तिसंठिया विमाणा पण्णत्ता, तं जहा**—तीन संस्थान अर्थात् आकारों के विमान कथन किए गए हैं, जैसे—**वट्टा**—वृत्ताकार, **तंसा**—त्रिकोण और, **चउरंसा**—चतुरस्र। **तत्थ णं जे ते**—उनमें जो, **वट्टा विमाणा**—वृत्ताकार विमान हैं, **ते णं**—वे, **पुक्खरकन्निया-संठाणसंठिया**—पुष्कर कर्णिका के संस्थान से संस्थित हैं, **सव्वओ**—सर्व दिशाओं में, **समंता**—सर्व प्रकार से, **पागारपरिक्खित्ता**—प्राकार से परिक्षिप्त हैं और, **एगदुवारा पन्नत्ता**—एक द्वार वाले हैं।

तत्थ णं जे ते—उनमें से जो **तंसा विमाणा**—त्रिकोण विमान हैं, **ते णं**—वे, **सिंघाडग संठाणसंठिया**—शृंगाटक संस्थान संस्थित हैं और, **दुहओ**—दोनों ओर से, **पागारपरि-क्खित्ता**—प्राकार से परिक्षिप्त हैं, तथा, **तिदुवारा पन्नत्ता**—वे तीन द्वारों वाले हैं।

तत्थ णं जे ते—उनमें जो वे, **चउरंसविमाणा**—चतुष्कोण विमान हैं, **ते णं**—वे, **अक्खाडगसंठाणसंठिया**—अक्षाटक संस्थान से संस्थित हैं और, **सव्वओ**—सब ओर, **समंता**—सर्व प्रकार से, **वेइयापरिक्खित्ता**—वेदिका से परिक्षिप्त हैं तथा, **चउदुवारा पन्नत्ता**—चार द्वारों वाले कहे गए हैं।

तिपइट्ठिया विमाणा पण्णत्ता, तं जहा—तीन के आधार पर विमान प्रतिष्ठित हैं, जैसे, **घणोदधिपइट्ठिया**—घनोदधि के आधार पर प्रतिष्ठित, **घणवायपइट्ठिया**—घनवात के आधार पर और, **ओवासंतरपइट्ठिया**—आकाश के आधार पर प्रतिष्ठित। **तिविहा विमाणा पण्णत्ता, तं जहा**—तीन प्रकार के विमान हैं, जैसे—**अवट्ठिया**—शाश्वत विमान, **वेउव्विया**—विषयक्रीड़ा के लिए वैक्रिय शक्ति द्वारा नूतन रचे हुए और, **परिजाणिया**—मनुष्य लोक में आने के लिए वैक्रिय शक्ति द्वारा रचित पारियानिक विमान।

मूलार्थ—तीन संस्थान संस्थित विमान प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—वृत्ताकार, त्रिकोण और चतुष्कोण।

उनमें से जो वृत्ताकार विमान हैं, वे पुष्करकर्णिका संस्थान संस्थित हैं और सर्व दिशाओं में सर्व प्राकार से परिक्षिप्त हैं। वे सब एक द्वार वाले हैं।

उन विमानों में जो त्रिकोण आकार युक्त विमान हैं, वे श्रृंगाटक संस्थान से संस्थित हैं और दोनों ओर से प्राकार से परिक्षिप्त हैं तथा उनके तीन द्वार हैं।

उन विमानों में जो चतुष्कोण विमान हैं, वे अक्षाटक संस्थान-संस्थित हैं और सब ओर सर्व प्रकार से वेदिका-परिक्षिप्त हैं। उन सब के चार द्वार हैं।

तीन के आधार पर विमान प्रतिष्ठित हैं, जैसे घनोदधि के आधार पर प्रतिष्ठित, घनवात के आधार पर प्रतिष्ठित और आकाश के आधार पर प्रतिष्ठित। तीन तरह के विमान प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—शाश्वत विमान, विषय आदि क्रीड़ा के लिए वैक्रिय शक्ति द्वारा रचित और मध्यलोक में आने के लिए वैक्रिय शक्ति से नवनिर्मित पारियानिक विमान।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में देवलोकों के परित्याग-काल में देवों के हृदय की मानसिक स्थिति का चित्रण किया गया है, प्रस्तुत सूत्र में देवों द्वारा परित्यज्यमान विमानों की रूपरेखा स्पष्ट की गई है।

विमानों के प्रकार—

त्रिकालज्ञ योगिराज मुनीश्वरों के पास एक ऐसी दर्शन-शक्ति होती है जिसके द्वारा वे पृथ्वी पर बैठे हुए ही अदृष्ट लोकों की स्थिति का भी इस प्रकार दर्शन करते हैं जैसे सामान्य जन पूर्वदृष्ट वस्तु का लाखों मीलों की दूरी पर बैठे हुए भी ध्यान मात्र से क्षण भर में दर्शन कर लिया करता है। इस सूत्र का वर्णन मुनीश्वरों की उसी दिव्य दर्शन-शक्ति का परिचायक है।

देवों के निवास-भूमियों को शास्त्रीय भाषा में विमान कहा जाता है। देवों के उड़ने वाले विशेष प्रकार के यान भी विमान ही कहलाते हैं।

इन विमानों के तीन प्रकार बताए गए हैं—अधिकतर ऐसे विमान अर्थात् देवभूमियां हैं जिन की स्थिति सर्वकालीन है, दिव्यात्माएं कृतकर्मों का फल भोगने के लिए इन्हीं देवलोकों में जाया करती हैं, इन्हीं विमानों को **अवस्थित** विमान कहा जाता है।

देवों को एक विशेष प्रकार की निर्माण-शक्ति प्राप्त होती है जिसे शास्त्रीय शब्दों में उत्तर-वैक्रिय शक्ति कहा जाता है, कामकामी देव इच्छानुकूल भोग भोगने के लिए विशेष प्रकार के अस्थायी भवनों का भी निर्माण कर लिया करते हैं, ये अस्थायी भवन ही **वैक्रिय विमान** कहलाते हैं।

अपनी इसी वैक्रिय शक्ति के द्वारा देव यातायात के लिए जो विशेष प्रकार के विमान निर्माण करते हैं उन विमानों को **पारियानिक विमान** कहा जाता है।

विमानों की आकृतियां—

अतीन्द्रिय पदार्थों के द्रष्टा शास्त्रकार ने बताया है कि उपर्युक्त तीन प्रकार के विमानों में से अवस्थित विमानों की तीन प्रकार की आकृतियां हैं—वृत्त विमान, त्र्यस्र विमान और चतुरस्र विमान।

वृत्त विमान—

इन विमानों की आकृति खिले हुए कमल के समान मानी गई है, इनके चारों ओर एक विशेष प्रकार की रक्षाभित्ति होती है जिसे प्राकार कहा जाता है, इसमें आवागमन के लिये एक ही द्वार होता है।

त्र्यस्र विमान—

इन विमानों का आकार सिंघाड़े के समान त्रिकोणाकृति वाला होता है, इसीलिए इन्हें 'शृंगाटक-संस्थान-संस्थित' कहा गया है। इन विमानों के दोनों ओर रक्षाभित्तियां तथा तीन ओर वेदिकाएं हैं और आवागमन के लिए तीन द्वार होते हैं।

चतुरस्र विमान—

इन विमानों की आकृति चौपड़ के समान होती है, अतएव इन्हें 'अक्षाटक-संस्थान-संस्थित' कहा गया है। रक्षाभित्ति के बिना इन विमानों के भी चारों ओर वेदिकाएं कही गई हैं और आवागमन के लिए चारों ओर चार द्वार बताए गए हैं।

ऊर्ध्व-लोकों में विमान-स्थिति—

सौधर्म और ईशान नामक प्रथम और द्वितीय देवलोकों के विमान घनोदधि पर स्थित हैं।

तीसरे, चौथे और पांचवें देवलोकों के विमानों का अवस्थान घनवात पर बताया गया है।

छठे, सातवें और आठवें देवलोकों के विमानों का आधार भी घनोदधि और घनवात ही हैं।

नौवें देवलोक से आगे के सभी देवलोकों के विमान अवकाशान्तर में स्थित हैं।

धर्माचरण और पुण्यकर्मों के प्रभाव से आत्म में ऊर्ध्वगमन की शक्ति का निरन्तर विकास होता रहता है, जिस आत्मा ने जितनी शक्ति अर्जित की है, उसी के अनुरूप वह ऊर्ध्व देवलोकों में गमन करता है। ऊर्ध्व-ऊर्ध्व लोकों में अपेक्षाकृत निवास-काल की अवधि और सुख-साधनों की प्रचुरता का शास्त्रकारों ने निर्देश किया है।

आज के युग का सन्देहशील मानव इस समस्त वर्णन को कल्पनाश्रित कह सकता है, किन्तु जो विचारशील मानव तपोजन्य दिव्य आध्यात्मिक शक्तियों के प्रभाव से परिचित

हैं, उन्हें यह कल्पना भी दृष्ट पूर्व वस्तु के दर्शन के समान सत्य पर आधारित प्रतीत होती है।

"ये विमान हैं", इसके लिए तो यह शास्त्र-प्रमाण विद्यमान है और शास्त्रनिर्माताओं का वर्णन आध्यात्मिक बल पर स्थित है, अध्यात्मवेत्ताओं के अतीन्द्रिय ज्ञान के लौकिक प्रमाण भी अनेक बार जन-मानस के समक्ष प्रस्तुत हो चुके हैं, परन्तु इनकी सत्ता के अभाव के लिए प्रत्यक्षवादी कोई प्रमाण नहीं दे सकते, अतः प्रमाणाभाव में विमान-वर्णन ही सत्य की कसौटी पर खरा उतरता है।

थोड़ी देर के लिए इस प्रकार के वर्णन काल्पनिक मान भी लिए जाएं तो इस सत्य को कौन बुद्धिमान अस्वीकार करेगा कि मानव के सुखलोभी मन को पुण्यकार्यों की ओर लगाने वाला यह वर्णन समाज के लिए उपकारी है और मरणोत्तर सुखों की प्राप्ति के उद्देश्य से इच्छा न होते हुए भी मनुष्य की उन शुभ कर्मों में प्रवृत्तियां होंगी जो समाज के लिए सुखकारी हों और मानवता के उत्थान में सहायक हों।

अतः पारलौकिक एवं लौकिक दोनों दृष्टियों से यह वर्णन सर्वजन-हिताय है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता है। उन विमानों के आकार उक्त प्रकार के भी हैं और अन्य आकार-प्रकार के भी हैं। चतुष्कोण विमान केवल वेदिका से परिक्षिप्त हैं उनमें प्राकार नहीं हैं। सूत्रकार ने जो तीन आकार वाले विमानों का वर्णन किया है, वे किस प्रकार पंक्तिबद्ध हैं इसके विषय में वृत्ति के अन्तर्गत प्राचीन सात गाथाओं में विषय स्पष्ट किया गया है। जिज्ञासुओं की जानकारी के लिए वे गाथाएं यहां उद्धृत की जाती हैं, जैसे कि—

सव्वेसु पत्थडेसु मज्झे वट्टं अणंतरे तंसं।
एयंतर चउरंसं पुणोवि वट्टं पुणो तंसं॥
वट्टं वट्टस्सुवरिं, तंसं तंसस्स उवरिं होइ।
चउरंसे चउरंसं उड्ढं तु विमाण सेढीओ॥
वट्टं च वलयगंपिव तंसं सिंघाडगंपिव विमाणं।
चउरंसविमाणं पिय अक्खाडग संठियं भणियं॥
सव्वे वट्ट विमाणा एग दुवारा हवंति विन्नेया।
तिन्नि य तंस विमाणे चत्तारि य होंति चउरंसे॥
पागार परिक्खित्ता वट्टविमाण हवंति सव्वे वि।
चउरंस विमाणाणं चउद्दिसिं वेइया होइ॥
जत्तो वट्टविमाणं तत्तो तंसस्स वेइया होइ।
पागारो बोद्धव्वो अवसेसेहिं तु पासेहिं॥
आवलियासु विमाणा वट्टा तंसा तहेव चउरंसा।
पुप्फावगिन्नया पुण अणेगविहरूव संठाणा॥

देव विमान तीन पर अवस्थित हैं—घनोदधि, घनवात और अवकाशान्तर। इनमें सौधर्म

और ईशान देवलोक के विमान घनोदधि पर आधारित हैं, तीसरे, चौथे तथा पांचवें देवलोक के विमान घनवात पर, छठे, सातवें और आठवें देवलोक के विमान घनोदधि और घनवात पर अवस्थित हैं, शेष देवलोकों के विमान अवकाशान्तर पर आधारित हैं। कहा भी है—

घण उदहि पइट्ठाणा, सुरभवणा होंति दोसु कप्पेसु।
तिसु वाउपइट्ठाणा, तदुभय सुपइट्ठिया तिसु॥
तेण परं उवरिमगा, आगासंतर पइट्ठिया सव्वेत्ति।

नारक जीव

मूल—तिविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी। एवं विगलिंदियवज्जं जाव वेमाणियाणं।

तओ दुग्गईओ, पण्णत्ताओ, तं जहा—णेरइय-दुग्गई, तिरिक्ख-जोणिय-दुग्गई, मणुस्स-दुग्गई।

तओ सुगईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—सिद्धि-सोगई, देव-सोगई, मणुस्स-सोगई।

तओ दुग्गया पण्णत्ता, तं जहा—णेरइय-दुग्गया, तिरिक्खजोणिय-दुग्गया, मणुस्स-दुग्गया।

तओ सुगया पण्णत्ता, तं जहा—सिद्ध-सोग्गया, देव-सोग्गया, मणुस्स-सोग्गया ॥६३॥

छाया—त्रिविधा नैरयिकाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सम्यग्-दृष्टयः, मिथ्यादृष्टयः, सम्यग्मिथ्या-दृष्टयः। एवं विकलेन्द्रियवर्जं यावद् वैमानिकानाम्।

तिस्रो दुर्गतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नैरयिक-दुर्गतिः, तिर्यग्योनिक-दुर्गतिः, मनुज-दुर्गतिः।

तिस्रः सुगतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सिद्ध-सुगतिः, देव-सुगतिः, मनुष्य-सुगतिः।

त्रयो दुर्गताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नैरयिक-दुर्गताः, तिर्यग्योनिजदुर्गताः, मनुष्य-दुर्गताः।

त्रयः सुगताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सिद्ध-सुगताः, देव-सुगताः, मनुष्य-सुगताः।

शब्दार्थ—तिविहा नेरइया पण्णत्ता, तं जहा—तीन प्रकार के नारकीय जीव प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे, **सम्मदिट्ठी**—सम्यग्दृष्टि, **मिच्छादिट्ठी**—मिथ्यादृष्टि और, **सम्मामिच्छा-दिट्ठी**—मिश्रदृष्टि, **एवं**—इसी तरह, **विगलिंदियवज्जं**—विकलेन्द्रियों को छोड़कर, **जाव**—यावत्, **वेमाणियाणं**—वैमानिक देवों पर्यन्त तीन दृष्टियों वाले जीव जानने चाहिएं, **तओ दुग्गईओ पण्णत्ताओ, तं जहा**—तीन दुर्गतियां कथन की गई हैं, जैसे, **णेरइयदुग्गई**—नैरयिक दुर्गति, **तिरिक्खजोणियदुग्गई**—तिर्यञ्चयोनि दुर्गति, **मणुस्स-दुग्गई**—मनुष्य-दुर्गति।

तओ सुगईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—तीन सुगति प्रतिपादन की गई हैं, जैसे, **सिद्धसोगई**—सिद्ध-सुगति, **देवसोगई**—देव-सुगति, **मणुस्ससोगई**—मनुष्य-सुगति।

तओ दुग्गया पण्णत्ता, तं जहा—तीन दुर्गतियों में प्राप्त हुए जीव हैं, जैसे—**णेरइय-दुग्गया**—नरक गति में गए जीवों को नरक-दुर्गति को प्राप्त हुए कहते हैं, **तिरिक्खजोणिय-दुग्गया**—तिर्यग्गति में गए हुए जीवों को तिर्यक्-दुर्गत जीव कहा जाता है, **मणुस्स-दुग्गया**—मनुष्य-दुर्गति में गए हुए जीव मनुष्यदुर्गति वाले कहे जाते हैं।

तओ सुग्गया पण्णत्ता, तं जहा—तीन सद्गति गए जीव हैं, जैसे—**सिद्ध-सोग्गया**—सिद्धगति में गए जीव सिद्ध सुगत कहे गए हैं, **देव-सोग्गया**—देव सुगति में गए जीव देव सुगत और, **मणुस्स-सोग्गया**—मनुष्य गति में गए जीव मनुष्य सुगत।

मूलार्थ—नारक जीव तीन प्रकार के प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यक्-मिथ्या अर्थात् मिश्रदृष्टि। इसी तरह विकलेन्द्रियों को छोड़कर यावत् वैमानिक देवों पर्यन्त तीन दृष्टियां जाननी चाहिएं।

तीन दुर्गतियां प्रतिपादन की गई हैं, जैसे—नरक-दुर्गति, तिर्यञ्च-दुर्गति और मनुष्य-दुर्गति।

तीन सुगतियां कही गई हैं—सिद्ध-सुगति, देव-सुगति और मनुष्य-सुगति। तीन दुर्गतियों को प्राप्त जीव भी तीन प्रकार के कहे गए हैं—नरक दुर्गति-गत, तिर्यंच दुर्गति-गत और मनुष्य दुर्गति-गत।

इसी प्रकार सुगति-प्राप्त जीव भी तीन प्रकार के कहे गए हैं, सिद्धसुगतिगत, देवसुगतिगत और मनुष्य-सुगतिगत।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में सूत्रकार ने देवलोकों के विमानादिकों की विविधता का वर्णन किया है। प्रस्तुत सूत्र में त्रिकालदर्शी महर्षि सूत्रकार ने उन नारकियों की ओर देखने का प्रयास किया है जो पाप कर्मों के फल भोग के लिए नरक-भूमियों में निवास कर रहे हैं।

जिस प्रकार पुण्य कर्मों के फल भोग के लिए इस विशाल लोकाकाश के ऊर्ध्व-ऊर्ध्व भागों में सुन्दर देवलोक अवस्थित हैं, इसी प्रकार पाप कर्मों के फल-भोग के लिए इस पृथ्वी के अधोभागों में अत्यन्त भयंकर और लोमहर्षक भूमियां भी हैं, जिन्हें नरक कहा जाता है। सूत्रकार का कथन है कि वे नारकीय जीव तीन भागों में विभक्त हैं—सम्यक्-दृष्टि, मिथ्या-दृष्टि और मिश्र-दृष्टि।

साथ ही शास्त्रकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावर जीवों को एवं पर्याप्त विकलेन्द्रिय जीवों को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती, शेष सभी जीवों को चाहे वे नारकी हों, चाहे मनुष्य हों, चाहे देव हों सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो

सकती है, अतः पांच स्थावर और विकलेन्द्रिय जीवों को छोड़कर शेष सभी जीव सम्यग्दृष्टि, मिथ्या-दृष्टि और मिश्र-दृष्टि होते हैं। विकलेन्द्रिय जीव मिश्र-दृष्टि नहीं होते।

सम्यग्-दृष्टि—

सम्यक्-दर्शन-प्राप्त जीव सम्यग्-दृष्टि कहलाते हैं। सम्यग्दर्शन का अर्थ है—**तत्त्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग् दर्शनम्**—तत्त्वज्ञान के प्रति श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है, दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि विश्व के प्रत्येक पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को जानने की तीव्र अभिलाषा ही सम्यक्त्व है।

यद्यपि पदार्थों की यथार्थता को सांसारिक प्राणी भी जानने की तीव्र अभिलाषा रखते हैं। किन्तु उनकी अभिलाषा के पीछे काम-भोगों की प्रवृत्ति रूप प्रेरणा होती है, अतः उसे सम्यक्त्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सम्यग्दर्शन को आसक्ति का नहीं, मोक्ष का मार्ग बताया गया है—"**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।**" अतः मोक्ष की अभिलाषा से जीव-अजीव, पाप-पुण्य, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष रूप तत्त्वों को श्रद्धा पूर्वक जानने की साधना ही सम्यग्दर्शन है। इसी सत्य को उत्तराध्ययन सूत्र की एक गाथा में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

तहियाणं तु भावाणं, सव्वभावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं। (२८।१५)

भावों के वास्तविक अस्तित्व का उपदेश देने और उन भावों को ज्ञान के प्रति सच्ची श्रद्धा को ही सम्यक्त्व कहा जाता है।

सम्यग्ज्ञान से जब कर्म की वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है तो मनुष्य भविष्य में पापकर्म नहीं करता है, अतः सम्यग्ज्ञान भावी कर्मों का अवरोध करने वाला माना जाता है, सम्यक्चारित्र द्वारा अर्थात् तप एवं संयम के द्वारा कृतकर्मों का नाश हो जाता है। कर्मों की निर्जरा ज्ञान और चारित्र के द्वारा ही होती है, किन्तु इन दोनों की पुष्टि सम्यग् दर्शन के बिना नहीं हो सकती[1]।

इसलिए भव-सागर को पार करने के लिए सम्यक् चारित्र की नौका पर बैठ कर सम्यग् ज्ञान और सम्यग्दर्शन के डांडों के द्वारा उस नौका को खेते हुए ही मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है।

सम्यग्-दर्शन प्राप्त होने पर आत्मा में प्रशम—कषायों का शमन, संवेग—सांसारिक बन्धनों से भय, निर्वेद—विषयों के प्रति अनासक्ति, अनुकम्पा—प्राणीमात्र को दुखों से मुक्त देखने की एवं करने की भावना और आस्तिक्य—आत्मा आदि परोक्ष पदार्थों का

---

१. सद्ज्ञानमत्र क्षतभाविकर्म, सद्वृत्तमस्तार्जितकृत्स्नकर्म।
सम्यक्त्वमेतद्द्वयपुष्टिहेतुरिति त्रयं स्यात् सफलं तदेव।।

निश्चयात्मक ज्ञान एवं उसमें श्रद्धा आदि गुण स्वयं ही प्रकट हो जाते हैं, जैसे बछड़े को देखते ही गौ के स्तनों में दूध स्वयं उतर आता है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के दो निमित्त माने गए हैं—स्वभावतः और बाह्य निमित्त। नारकीय जीव जब नरक वेदना की अनुभूति करते हैं तो उस समय कुछ एक नारकियों को स्वभावतः शुद्ध ध्यान आता है कि मैंने शास्त्र के वचनों पर श्रद्धा नहीं की, अतएव आज मेरी यह दुर्दशा है। शुद्ध ध्यान के निमित्त से नारकियों में भी कभी-कभी सम्यक्त्व की जागृति हो जाती है, अतः सम्यग्दृष्टि नारकीय भी कहे गए हैं।

मिथ्यात्व और अविरति के कारण ही तो जीव नरकादि गतियों को प्राप्त होते हैं, अतः नारकीय जीव मिथ्यादृष्टि भी होते हैं।

कभी-कभी नारकियों में भी मिश्रमोहनीय कर्म का उदय होता है, उस दशा में न तो उनके हृदय में तत्त्वार्थ के प्रति श्रद्धा होती है और न ही तीव्र वेदना के कारण उनमें अतत्त्व पदार्थों के प्रति विरक्ति ही होती है, ऐसी स्थिति में उन्हें मिश्र-दृष्टि कहा जाता है।

इसी प्रकार मनुष्यों और देवादिकों में भी जीव सम्यग्-दृष्टि, मिथ्या-दृष्टि और मिश्र-दृष्टि हुआ करते हैं।

दुर्गति—दुर्गति का अर्थ है, बुरी गति अर्थात् कष्टमय जीवन। कष्ट अशुभ कर्मों का परिणाम है, अतः अशुभ-कर्मानुबन्धी जीव जब नारकीय जीवन प्राप्त कर कष्टमय जीवन प्राप्त कर रहे होते हैं तो उन्हें नारकीय दुर्गति के जीव कहा जाता है। जब जीव तिर्यञ्च जीवों के रूप में इसी पृथ्वी पर कष्टमय जीवन का बोझा ढो रहे होते हैं तो उन्हें तिर्यञ्च-दुर्गति के जीव कहा जाता है और जब मानवीय जीवन प्राप्त करके दुःखाग्नि में जल रहे होते हैं, दरिद्रता में तरस रहे होते हैं, रोगों से तड़प रहे होते हैं, शोक से बिलख रहे होते हैं और तत्त्वज्ञान से विमुख होकर भटक रहे होते हैं तब उन्हें मानुष-दुर्गति के जीव कहा जाता है।

दुखविपाक सूत्र के प्रथम अध्ययन में मृगापुत्र को आजीवन कष्ट पाते हुए प्रदर्शित कर कुमानुषदुर्गति का निदर्शन उपस्थित किया गया है।

सुगति—सुन्दर एवं आनन्ददायिनी गति को सुगति कहा जाता है। पुण्य कर्मों के उदय से जीव मनुष्य-सुगति प्राप्त कर आनन्दमय एवं अध्यात्ममय जीवन की उपलब्धि करता है, श्रेष्ठतम दीर्घकाल परिणामी पुण्यों के फल भोग के लिए देवसुगति प्राप्त कर देवलोकों के भोगों का आनन्द लेता है। अन्ततः कर्म-क्षय की अवस्था प्राप्त कर अखण्ड आनन्द रूप होकर सिद्ध सुगति को भी जीव प्राप्त कर लिया करते हैं।

इस प्रकार जैनागमों ने सिद्ध किया है कि सुगति और दुर्गति, बन्ध और मोक्ष सब पर मनुष्य का अपना अधिकार है, उसे केवल सम्यग्दृष्टि होकर सजग रहना है। यदि सजग रहेगा तो सुगति क मार्ग पर चलता हुआ मोक्षरूपी लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा और यदि कहीं मिथ्यादृष्टि हो कर कुपथ पर चल पड़ा तो वह दुर्गति के बीहड़ वनों में भटक जाएगा।

ग्रहणीय प्रासुकजल और ऊनोदरी तप

मूल—चउत्थभत्तियस्स णं भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए, तं जहा—उस्सेइमे, संसेइमे, चाउलधोवणे।

छट्ठभत्तियस्स णं भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए, तं जहा— तिलोदए, तुसोदए, जवोदए।

अट्ठमभत्तियस्स णं भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए, तं जहा—आयामए, सोवीरए, सुद्धवियडे।

तिविहे उवहडे पण्णत्ते, तं जहा—फलिओवहडे, सुद्धोवहडे, संसट्ठोवहडे।

तिविहे उग्गहिए पण्णत्ते, तं जहा— जं च ओगिण्हइ, जं च साहरइ, जं च आसगंसि पक्खिवइ।

तिविहा ओमोयरिया पण्णत्ता, तं जहा—उवगरणोमोयरिया, भत्तपाणोमोयरिया, भावोमोयरिया।

उवगरणोमोयरिया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—एगे वत्थे, एगे पाए, चियत्तोवहिसाइज्जणता।

तओ ठाणा णिग्गंथाण वा, णिग्गंथीण वा अहियाए, असुभाए, अक्खमाए, अणिस्सेयसाए, अणाणुगामियत्ताए भवंति, तं जहा—कूअणया, कक्करणया, अवज्झाणया।

तओ ठाणा णिग्गंथाण वा, णिग्गंथीण वा हियाए, सुहाए, खमाए, णिस्सेयसाए, आणुगामिअत्ताए भवंति, तं जहा—अकूअणया, अकक्करणया, अणवज्झाणया।

तओ सल्ला पण्णत्ता, तं जहा—मायासल्ले, णियाणसल्ले, मिच्छादंसणसल्ले। तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे संखित्तविउलतेउलेस्से भवइ, तं जहा—आयावणयाए, खंतिखमाए, अपाणगेणं तवोकम्मेणं।

तिमासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पंति तओ दत्तीओ भोअणस्स पडिगाहेत्तए, तओ पाणगस्स।

एगराइयं भिक्खुपडिमं सम्मं अणणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे तओ ठाणा अहियाए, असुभाए, अक्खमाए, अणिस्सेयसाए, अणाणुगामित्ताए

भवंति, तं जहा—उम्मायं वा लभिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं पाउणेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा।

एगराइयं भिक्खुपडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स अणगारस्स तओ ठाणा हियाए, सुभाए, खमाए, णिस्सेयसाए, आणुगामियत्ताए भवंति, तं जहा—ओहिणाणे वा से समुप्पज्जेज्जा, मणपज्जवणाणे वा से समुप्पज्जेज्जा, केवलणाणे वा से समुप्पज्जेज्जा॥६४॥

छाया—चतुर्थभक्तिकस्य खलु भिक्षोः कल्पन्ते त्रीणि पानकानि प्रतिग्रहीतुम्, तद्यथा—उत्स्वेदिमं, संसेकिमं, तन्दुलधावनम्।

षष्ठभक्तिकस्य खलु भिक्षोः कल्पन्ते त्रीणि पानकानि प्रतिग्रहीतुम्, तद्यथा—तिलोदकम्, तुषोदकम्, यवोदकम्।

अष्टमभक्तिकस्य खलु भिक्षोः कल्पन्ते त्रीणि पानकानि प्रतिग्रहीतुम्, तद्यथा—आयामकम्, सौवीरकम्, शुद्धविकटम्।

त्रिविधमुपहृतं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—फलिकोपहृतम्, शुद्धोपहृतम्, संसृष्टोपहृतम्।

त्रिविधमवगृहीतं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—यच्चावगृह्णाति, यच्च संहरति, यच्चास्यके प्रक्षिपति।

त्रिविधा अवमोदरिका प्रज्ञप्ता, तद्यथा—उपकरणावमोदरिका, भक्त-पानावमोदरिका, भावावमोदरिका।

अवमोदरिका त्रिविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—एकं वस्त्रम्, एकं पात्रम्, त्यक्तोपधिस्वादनता।

त्रीणि स्थानानि निर्ग्रन्थानां वा, निर्ग्रन्थीनां वाऽहिताय, अशुभाय, अक्षमाय, अनिः-श्रेयसाय, अनानुगामिकत्वाय भवन्ति, तद्यथा—कूजनता, कर्करणता, अपध्यानता।

त्रीणि स्थानानि निर्ग्रन्थानां वा, निर्ग्रन्थीनां वा हिताय, शुभाय, क्षमाय, निःश्रेयसाय, आनुगामिकत्वाय भवन्ति, तद्यथा—अकूजनता, अकर्करणता, अनपध्यानता।

त्रीणि शल्यानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—मायाशल्यम्, निदानशल्यम्, मिथ्यादर्शन-शल्यम्। त्रिभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थः संक्षिप्तविपुलतेजोलेश्यो भवति, तद्यथा—आतापनया, क्षान्तिक्षमया, अपानकेन तपःकर्मणा।

त्रैमासिकीं खलु भिक्षुप्रतिमां प्रतिपन्नस्यानगारस्य कल्पन्ते तिस्रो दत्तयो भोजनस्य प्रतिग्रहीतुम्, तिस्रः पानकस्य।

एकरात्रिकीं भिक्षुप्रतिमां सम्यगननुपालयतोऽनगारस्य इमानि त्रीणि स्थानानि अहिताय, असुखाय, अक्षमाय, अनिःश्रेयसाय, अननुगामिकत्वाय भवन्ति, तद्यथा—उन्मादं वा लभेत्, दीर्घकालिकं वा रोगातंकं प्राप्नुयात्, केवलिप्रज्ञप्ताद् वा धर्माद्

भ्रश्येत्। एकरात्रिकीं भिक्षुप्रतिमां सम्यगनुपालयमानस्य अनगारस्य त्रीणि स्थानानि, हिताय, शुभाय, क्षमाय, निःश्रेयसाय, आनुगामिकत्वाय भवन्ति, तद्यथा—अवधिज्ञानं वा तस्य समुत्पद्येत्, मनःपर्यवज्ञानं वा तस्य समुत्पद्येत्, केवलज्ञानं वा तस्य समुत्पद्येत्।

शब्दार्थ—चउत्थभत्तियस्स णं—एक उपवास करने वाले, **भिक्खुस्स**—भिक्षु के लिए, **तओ पाणगाइं**—तीन प्रकार के पानी, **पडिगाहित्तए**—ग्रहण करने, **कप्पंति**—उचित हैं। **तं जहा**—जैसे, **उस्सेइमे**—चून का धोवन, **संसेइमे**—उष्ण पत्र-शाक सिक्त, **चाउल-धोवणे**—चावलों का धोवन।

छट्ठभत्तियस्स णं—षष्ठ भक्त वाले, **भिक्खुस्स**—भिक्षु के लिए, **तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए**—तीन प्रकार के पानक ग्रहण करने, **कप्पंति**—उचित हैं, **तं जहा**—जैसे, **तिलोदए**—तिलों का पानी, **तुसोदए**—तुषोदक और, **जवोदए**—जौ का धोवन।

अट्ठमभत्तियस्स णं भिक्खुस्स—अष्टम-भक्तिक भिक्षु के लिए, **तओ पाणगाइं**—तीन तरह के पानक, **पडिगाहित्तए**—ग्रहण करने, **कप्पंति**—उचित होते हैं, **तं जहा**—जैसे, **आयामए**—दाल का धोवन, **सोवीरए**—कांजी का पानी, **सुद्धवियडे**—उष्ण पानी।

तिविहे उवहडे पण्णत्ते, तं जहा—उपहृत अर्थात् भोजन स्थान से लाया हुआ भोजन तीन प्रकार का है, जैसे, **फलिओवहडे**—काष्ठ आदि के पात्र में भोजन करने के लिए रखा हुआ, उसे साधु को देवे, **सुद्धोवहडे**—लेप से रहित शुद्ध ओदन आदि आहार, और **संसट्ठोवहडे**—खरड़े हाथों से आहार ग्रहण करना।

तिविहे उग्गहिए पण्णत्ते, तं जहा—अवग्रहीत आहार पानी तीन प्रकार का है, जैसे, **जं च ओगिण्हति**—दातार ने जो देने के लिए ग्रहण किया है, **च**—समुच्चयार्थ में, **जं च साहरइ**—जिसे एक भाजन से दूसरे भाजन में डालता है, **जं च आसगंसि पक्खिवइ**—जो भाजन के मुख में डालता है, "वह आहार लूंगा" ये तीन प्रकार के अभिग्रह विशेष कहे हैं।

तिविहा ओमोयरिया पण्णत्ता, तं जहा—तीन प्रकार से ऊनोदरी तप कहा गया है जैसे, **उवगरणोमोयरिया**—उपकरण ऊनोदरी, **भत्तपाणोमोयरिया**—अन्न-पानी की ऊनोदरी और, **भावोमोयरिया**—कषायादि न करना।

उवगरणोमोयरिया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—उपकरणोनोदरी तीन तरह की है, जैसे, **एगे वत्थे**—एक वस्त्र रखना, **एगे पाए**—एक पात्र और, **चियत्तोवहिसाइज्जणया**—रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि उपकरण प्रतीतकारी ही रखना।

तओ ठाणा—तीन कारण, **णिग्गंथाण वा, णिग्गंथीण वा**—निर्ग्रन्थों अथवा निर्ग्रन्थियों को, **अहियाए**—अहित के लिए, **असुभाए**—असुख के लिए, **अक्खमाए**—अक्षमता के लिए, **अणिस्सेयसाए**—अमोक्ष के लिए, **अणाणुगामियत्ताए**—अशुभानुबन्ध के लिए, **भवंति**—होते हैं, **तं जहा**—जैसे, **कूअणया**—आर्त्त स्वर से रुदन करना, **कक्करणया**—

शय्या और उपधि आदि का दोष निकालते रहना, **अवज्झाणया**—आर्त्त और रौद्रध्यान को ध्याते रहना।

तओ ठाणा—तीन कारण, **णिग्गंथाण वा, णिग्गंथीण वा**—निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के लिए, **हियाए**—हित के लिए, **सुहाए**—सुख के लिए, **खमाए**—सहन शक्ति के लिए, **णिस्सेयसाए**—मोक्ष के लिए, **आणुगामियत्ताए**—संसार में शुभानुबन्ध के लिए, **भवंति**—होते हैं, **तं जहा**—जैसे, **अकूअणया**—आर्त्त-स्वर से रुदन न करना, **अकक्करणया**—शय्या और वसति आदि के दोष न निकालना और, **अणवज्झाणया**—आर्त्त व रौद्र ध्यान न करना।

तओ सल्ला पण्णत्ता, तं जहा—तीन शल्य प्रतिपादन किए हैं, जैसे, **मायासल्ले**—माया शल्य, **णियाणसल्ले**—निदान शल्य और, **मिच्छादंसणसल्ले**—मिथ्यादर्शन-विपरीत दर्शन धारण रूप शल्य।

तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे—तीन कारणों से श्रमण-निर्ग्रन्थों को, **संक्खित्त-विउलतेउलेसे भवइ**—संक्षिप्त-विपुल-तेजोलेश्या पैदा होती है, **तं जहा**—जैसे, **आयावणयाए**—शीत (उष्णादि) की आतापना सहन करने से, **खंतिखमाए**—शक्ति होने पर क्षमा धारण करने से, **अपाणगेणं तवोकम्मेणं**—बिना पानी का तप करने से।

तिमासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स—तीन मास की भिक्षुप्रतिमा प्रतिपन्न साधु को, **तओ दत्तीओ**—तीन दत्तियां, **भोअणस्स**—भोजन की और, **तओ दत्तीओ**—तीन दत्तियां, **पाणगस्स**—पानी की, **पडिगाहेत्तए**—ग्रहण करना, **कप्पंति**—उचित होती हैं।

एगराइयं भिक्खुपडिमं—एक रात्रि की भिक्षुप्रतिमा को, **सम्मं**—सम्यक् प्रकार से, **अणणुपालेमाणस्स**—न पालन करने से, **अणगारस्स**—अनगार को, **इमे**—ये आगे बताए जाने वाले, **तओ ठाणा**—तीन स्थान, **अहियाए**—अहित के लिए, **असुभाए**—असुख के लिए, **अखमाए**—अयुक्त के लिए, **अणिस्सेयसाए**—अमोक्ष के लिए, **अणाणुगामित्ताए**—भवान्तर में शुभानुबन्धन के लिए नहीं, **भवंति**—होते, **तं जहा**—जैसे, **उम्मायं वा लभिज्जा**—उन्माद को प्राप्त करे, **दीहकालियं वा रोगायंके पाउणेज्जा**—दीर्घ काल तक रहने वाले रोगातंक को प्राप्त करे और, **केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ**—केवलिभाषित धर्म से, **भंसेज्जा**—भ्रष्ट हो जावे।

एगराइयं भिक्खुपडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स अणगारस्स—एक रात्रि की भिक्षुप्रतिमा का सम्यक् अनुपालन करने वाले अनगार को, **तओ ठाणा**—तीन स्थान, **हियाए**—हित के लिए, **सुभाए**—सुख के लिए, **खमाए**—सामर्थ्य के लिए, **णिस्सेयसाए**—मोक्ष के लिए, **आणुगामियत्ताए भवंति**—भवान्तर में शुभानुबन्ध के लिए होते हैं, **तं जहा**—जैसे, **ओहिणाणे वा से समुप्पज्जेज्जा**—उस अणगार को अवधिज्ञान की समुत्पत्ति हो, अथवा, **मणपज्जवणाणे वा से समुप्पज्जेज्जा**—मन:पर्याय ज्ञान उत्पन्न हो, अथवा, **केवलणाणे वा से समुप्पज्जेज्जा**—केवल ज्ञान की प्राप्ति हो।

मूलार्थ—एक उपवास करने वाले भिक्षु को तीन प्रकार के पानी ग्रहण करने उचित होते हैं, जैसे कि—चून का धोवन, अरणिक आदि पत्र-शाक जो गर्म हैं, उन्हें जिस शीतल जल से सिक्त किया गया हो वह पानी और चावलों का धोवन।

षष्ठभक्त उपवास करने वाले भिक्षु को तीन प्रकार के पानक ग्रहण करने उचित होते हैं, जैसे—तिलों का धोवन, तुषों का धोवन और जौ का धोवन।

अष्टमभक्त करने वाला भिक्षु तीन प्रकार के पानी का ग्रहण कर सकता है; जैसे—दाल का धोवन, कांजी का पानी और उष्ण जल।

तीन प्रकार का उपहृत अर्थात् भोजन स्थान में रखा हुआ भोजन होता है, जैसे—फलक उपहृत (देने के लिये किसी बरतन में रखा हुआ भोजन)। शुद्धोपहृत (बिना लेप के भाजन में रखा हुआ भोजन), संसृष्ट उपहृत (हाथ में लिया हुआ भोजन)।

अवग्रहीत तीन प्रकार का है, जैसे—हाथ से ग्रहण करता है, एक भाजन से दूसरे भाजन में सहारता है और भाजन के मुख पर डालता है।

ऊनोदरी तप तीन प्रकार का है, जैसे—उपकरण-ऊनोदरी, भक्त-पान-ऊनोदरी और भाव-ऊनोदरी।

उपकरण-ऊनोदरी तीन प्रकार की है, जैसे-एक वस्त्र, एक पात्र और जिस से जनता में अप्रतीति उत्पन्न न हो, ऐसा उपकरण मात्र धारण करना।

तीन स्थान निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को अहित, असुख, अयुक्त, अमोक्ष और भवान्तर में अशुभानुबन्ध के लिये होते हैं, जैसे—आर्त्त स्वर करना, शय्या और उपधि के दोष प्रकट करना और आर्त्त तथा रौद्रध्यान करना।

तीन स्थान निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के लिये हित, सुख, क्षम-युक्त मोक्ष और शुभानुबन्ध करने वाले हैं, जैसे—आर्त्त स्वर न करना, शय्या एवं उपधि आदि के दोष न निकालना तथा आर्त्त और रौद्रध्यान का न करना। तीन शल्य हैं, जैसे—मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य। ये तीनों शल्य त्याज्य हैं।

तीन कारणों से श्रमण-निर्ग्रन्थ को संक्षिप्त-विपुल-तेजोलेश्या उत्पन्न होती है, जैसे—शीत (उष्ण) के आताप को सहन करने से, परमक्षमा धारण करने से और बिना पानी का तप करने से।

त्रैमासिकी भिक्षु प्रतिमा धारण करने वाला अनगार तीन भोजन की और तीन पानी की दत्तियां ग्रहण कर सकता है।

एक रात्रि की भिक्षुप्रतिमा का सम्यक् प्रकार से पालन न करने से अनगार को ये आगे बताये जाने वाले तीन कारण अहितादि के लिये होते हैं, जैसे—उन्माद की प्राप्ति हो जाए, दीर्घकालिक रोगातंक की प्राप्ति हो जाए, केवलिभाषित धर्म से भ्रष्ट हो जाये।

एक मास की भिक्षु-प्रतिमा का सम्यक् अनुपालन करते हुए अनगार को तीन कारण हितादि के लिये होते हैं, जैसे—अवधिज्ञान की प्राप्ति, मनःपर्यवज्ञान की प्राप्ति और केवलज्ञान की प्राप्ति। इन तीनों में से कोई एक ज्ञान उत्पन्न हो जाए।

विवेचनिका—सिद्धि आदि सुगति का अधिकारी प्रायः संयमी एवं तपोधनी भिक्षु ही हो सकता है, अतः इस सूत्र में भिक्षु की तपस्या के विषय में वर्णन किया गया है। आगमों में एक उपवास की चउत्थभत्त संज्ञा दी गई है, जिसने उपवास किया हुआ है उसे 'चउत्थभत्तिय', जिसने बेला किया हुआ है उसे 'छट्ठभत्तिय' तथा जिसने तेला किया हुआ है उसे 'अट्ठम-भत्तिय' कहते हैं। इसी प्रकार 'दसमभत्तिय' बारसभत्तिय' आदि के विषय में भी जानना चाहिए। वृत्तिकार ने **चउत्थभत्तं**—चतुर्थभक्त के विषय में लिखा है—

"केवलं एकं पूर्वदिने, द्वे उपवासदिने, चतुर्थं पारणकदिने भक्तं—भोजनं परिहरति यत्र तपसि, तत् चतुर्थभक्तं, तद्यस्यास्ति स चतुर्थभक्तिकस्तस्य, एवमन्यत्रापि, शब्दव्युत्पत्तिमात्रमेतत्, प्रवृत्तिस्तु चतुर्थभक्तादि शब्दानामेकादि-उपवासादिष्विति।"

वृत्तिकार का आशय इतना ही है—विवेकशील मनुष्य प्रायः दिन मे दो बार आहार करते हैं, इससे अधिक नहीं। इस सूत्र से ऐसा फलित होता है। अर्थद्योतक शब्द दो तरह के होते हैं—व्युत्पत्तिनिमित्तक और प्रवृत्तिनिमित्तक। उपवास करने से एक दिन पहले एक समय भोजन करना, दूसरी बार भोजन का त्याग, उपवास के दिन दोनों बार भोजन का त्याग, पारणे के दिन एक बार भोजन करके दूसरी बार भोजन का त्याग करना, इस प्रकार जिस तप मे चार बार भोजन का त्याग किया जाए उस तप को चतुर्थभक्त कहते हैं, ऐसा अर्थ करना व्युत्पत्तिनिमित्तक है। उपवास को चतुर्थभक्त की सज्ञा देना, यह अर्थ प्रवृत्ति-निमित्तक है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से आगमकार को उपर्युक्त दोनों अर्थ अभीष्ट हैं।

ज्ञानावरणीय आदि अष्ट कर्मों का छेदन-भेदन करने वाले निर्दोष भिक्षाजीवी मुनिराज को भिक्षु कहा जाता है। यह भिक्षु उपवास में तीन तरह का पानी पीने के लिये उपयोग में ला सकता है। जैसे कि—**उस्सेइमे**—चून या दाल आदि का धोवन, **संसेइमे**—पत्र-शाक आदि का धोवन, चावलों का धोवन। इन मे से यदि कोई सा पानी भिक्षा में मिले तो चतुर्थभक्तिक मुनि के लिये उसका ग्रहण करना उचित होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि भिक्षु उपवास में उक्त तीन तरह का पानी ही ले सकता है अन्य नहीं, शास्त्रकार का आशय यह है कि चतुर्थभक्त में भिक्षु तीन प्रकार का जल ग्रहण कर सकता है।

षष्ठभक्तिक अर्थात् जिसने बेला किया हुआ हो, उसे कौन-कौन सा पानी पीना उचित है इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—उस भिक्षु को तिलों का धोवन, तुषधोवन और जवधोवन का पानी पीना भी उचित हुआ करता है, किन्तु जो उपवास में पानी लेना उचित है उसका उपयोग बेले में नहीं किया जा सकता, जो तेले में पानी पी सकता है वह बेले में भी लिया जा सकता है।

यहां यह विशेष ज्ञातव्य है कि तेले की तपस्या करने वाला भिक्षु तीन तरह का पानी पी सकता है, जैसे कि **आयामए**—छाछ के नीचे बैठने पर जो ऊपर पानी होता है उसे वह ले सकता है, या जिस पानी से छाछ का बर्तन धोया गया है वह पानी भी तेले में लिया जा सकता है। **सोवीरए**—कांजी के बर्तन का धोवन तथा शुद्ध गर्म जल, इन का उपयोग करने का भी उसे अधिकार है। उपवास, बेले आदि में जो धोवन लिखे हैं उन का उपयोग तेले में नहीं किया जा सकता। चौले से लेकर आगे की तपस्या में केवल गर्म जल का उपयोग ही किया जाना चाहिए। गर्म जल का उपयोग किसी भी छोटी-बड़ी तपस्या में करना निषिद्ध नहीं है।

उपहृत-अभिग्रह—

निर्दोष आहार-पानी मिलने पर भी उसे धारण की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार ही ग्रहण करना अभिग्रह कहलाता है। उसके अनेक-अनेक भेद होने पर भी यहां तीन प्रकार के अभिग्रहों का प्रतिपादन किया गया है। सूत्र में **उवहडे** पद आया है, जिसका अर्थ है—जिस जगह पर गृहस्थ भोजन करते हैं, वहां पर लाया हुआ भोजन ही साधु को ग्रहण करना उचित है अन्य नहीं अथवा जो आहार भोजन स्थान में लाया हुआ है, वह खाने वालों को परोसा जा रहा हो उस में से अपने किए हुए अभिग्रह के अनुसार आहार ग्रहण करना उसी का नाम 'उवहडे' उपहृत अभिग्रह है। **"उपहृतमुपहितं भोजनस्थाने ढौकितं भक्तमिति"**। वह भी तीन तरह का होता है, जैसे कि—

फलिहोवहडे—थाली आदि बर्तन में डाल कर किसी को देने के लिये भोजन लाया गया हो, देने वाला भी उसी को देने के लिए तैयार हो जाए तो ग्रहण करे, अन्यथा नहीं।

सुद्धोवहडे—साधु ऐसा भोजन ग्रहण करे जिससे न हाथ में लेप लगे और न बर्तन या पात्र में, जैसे कि भुने हुए दाने, शुद्ध ओदन, अनचुपड़ी रोटी आदि।

संसट्ठोवहडे—साधु को ऐसा आहार लेना जिस में अनेक द्रव्य मिले हों, जैसे कि खाने वाले ने चावल और दाल एकत्र किए हों, उस प्रकार का आहार यदि कहीं से निर्दोष मिले तो ग्रहण करना।

अवगृहीत-अभिग्रह—

जिस प्रकार उपहृत का वर्णन किया गया है, ठीक उसी प्रकार अवगृहीत का वर्णन भी किया गया है। अवगृहीत भी अभिग्रह विशेष ही है। अभिग्रह धारण करना वृत्तिसंक्षेप तप

है। यदि अभिग्रह फल गया तो भी तप है और न फला तो भी तप है। संयमी की प्रत्येक क्रिया तप रूप ही होती है। अवगृहीत-अभिग्रह भी तीन तरह का होता है, जैसे कि—

जं च ओगिण्हइ—गृहस्थ किसी को परोसने के लिए जिस आहार को ग्रहण करता है, उसमें से लूंगा, यदि वह देना चाहे तो, अन्यथा नहीं।

जं च साहरइ—यदि कोई गृहस्थ एक भाजन से निकाल कर दूसरे भाजन में डाल रहा हो ऐसा आहार मिले तो उसमें से लूंगा।

जं च आसगंसि पक्खिवइ—भोजन करने के पश्चात् शेष बचा हुआ भोजन पिठर या कटोरदान आदि भाजन में या घट आदि के मुख में यदि कोई गृहस्थ देयवस्तु डाल रहा हो और वही वस्तु गृहस्थ देना चाहता हो तो उस में से लूंगा, इस प्रकार अभिग्रह किया जाता है। कुछ विद्वान् इस पद का यह अर्थ करते हैं कि जो गृहस्थ अपने मुख में ग्रास डालता हो वह लूंगा, यह अर्थ शास्त्र और वृत्ति सम्मत नहीं है। जैसे कि वृत्तिकार लिखते हैं—

''ननु आस्ये मुखे यत् प्रक्षिपतीति मुख्यार्थे सति किं पिठरकादि मुखे इति व्याख्यायत इति? उच्यते—आस्यप्रक्षेपव्याख्यानमयुक्तं, जुगुप्साभावादिति, आह च पक्खेवए दुगुंच्छा, आएसो कुडमुहाईसु।

इसका आशय यह है जो आस्य का मुख अर्थ करते हैं वह अयुक्त है घृणास्पद होने से। किन्तु 'पिठर' टोकनी आदि भाजन के मुख में डाले जाने वाले खाद्य-पदार्थ को यदि कोई दे तो ग्रहण करूंगा' यह अर्थ युक्तिसंगत है। इसी अर्थ को सिद्ध करने के लिए एक वृद्धव्याख्या का अंश देना भी अनिवार्य हो जाता है—**''एवं चात्र वृद्धव्याख्या—कूरमवह्वादन निमित्तं कलिंजादि भाजने विशालोत्तानरूपे क्षिप्तं, ततो भाक्तिकेभ्यो दत्तं, ततो भुक्तशेषं यद् भूयः पिठरके प्रकाशमुखे क्षिपन्ती दद्यात् परिवेषयन्ती वा प्रकाशमुखे भाजने ततः तृतीयमवगृहीतम्।''** इस वृद्धव्याख्या से भी यह सिद्ध होता है कि भाजन के मुख में डाला जाने वाला भोजन ग्रहण करना।

ऊनोदरी तप—

अभिग्रह का अन्तर्भाव ऊनोदरी तप में पाया जाता है जिसको दूसरे शब्दों में अवमौदर्य भी कहते हैं। पर्याप्त भोजन मिलने पर भी उदर को भोजन से ऊना रखना अर्थात् कम खाना, वस्त्र-पात्र आदि उपकरण कम रखना और कषायवृत्ति को कम करना इस तरह का तप कोई भी धारण कर सकता है। चाहे वह गृहस्थ हो या साधु, इस तप से बहुत सी बुराइयां स्वतः कम हो जाती हैं।

सूत्रकार ने जो एक वस्त्र, एक पात्र के विषय में लिखा है वह जिनकल्पी की अपेक्षा से कथन किया गया है न कि स्थविरकल्पी की अपेक्षा से। जो सूत्रकर्त्ता ने **''चियत्तो-वहिसातिज्जणता''** पद दिया है इस सन्दर्भ में वृत्तिकार के शब्द हैं—**चियत्तस्स वा**

संयमिनां सम्मतस्य उपधेः रजोहरणादिकस्य सातिज्जणता त्ति सेवा चियत्तोवहि-सातिज्जणतत्ति"।

जो उपकरण संयम एवं ब्रह्मचर्य का उपकारक हो और देखने वालों को घृणा उत्पन्न करने का कारण भी न हो इस प्रकार का सादा और वह भी अत्यन्त स्वल्प ग्रहण करना तप है। साधु का जीवन उपकरणों के लिए नहीं होता, बल्कि उपकरण साधु के लिए हैं, अतः संयम की रक्षा के लिए वस्त्र-पात्र आदि उपकरण मर्यादा में ही रखने चाहिएं और जितने मर्यादोचित हैं उनसे भी कम रखना तप है।

साधु एवं साध्वियों के लिए—

साधु तथा साध्वियों के लिए तीन बातें हितकर नहीं हैं, शुभ एवं सुखकर नहीं हैं, सहनशीलता बढ़ाने वाली नहीं हैं, कल्याणकर नहीं हैं और कालान्तर में भी वे सुखकर नहीं हैं, जैसे कि—

कूअणता—आर्त्त स्वर में रोना, चिल्लाना, हाय-हाय करना। ऐसा करने से सहनशीलता की दरिद्रता सिद्ध होती है, दूसरों पर बुरा प्रभाव पड़ता है, जीवन पर अधैर्य का साम्राज्य छा जाता है।

कक्करणता—इच्छानुकूल मकान, उपधि के न मिलने पर शोकाकुल होकर भाषा-समिति का उल्लंघन कर तरह-तरह के वचन बोलना, ऐसा करने से धैर्य एवं शान्ति स्थिर नहीं रहती, क्रोध उत्पन्न हो जाता है और दूसरा महाव्रत अतिचार से दूषित हो जाता है।

अवज्झाणता—मन में आर्त्त एवं रौद्र ध्यान करना। जिससे मानसिक शान्ति एवं समाधि भंग हो, वैसे संकल्प-विकल्प करना, स्व-पर विषयक अशुभ चिन्तन करना। अपध्यानता तो श्रावकों के लिए भी वर्जित है, साधु-साध्वियों के लिए तो विशेषकर वर्जित है ही।

तीन बातें साधु और आर्याओं के लिये हितकर, शुभ एवं सुखकर, आत्म-शक्तिवर्धक, परमकल्याणकारक तथा कालान्तर या परभव मे भी सुखकर हैं, जैसे कि—शारीरिक तथा मानसिक दुःखों से परिपीडित होकर रोना नही, समता और धैर्य रखना, शय्या या उपधि के दोषों को प्रकट न करना, आर्त्त एव रौद्र ध्यान न करना। इससे सयम जीवन अधिक फूलता-फलता है।

सूत्रकर्त्ता ने **आणुगामियत्ताए**—पद दिया है। इस कथन से परलोक की सिद्धि और भवान्तर में कर्मों का साथ जाना और उनके फलो का होना सिद्ध होता है।

शल्य—

शल्य दो तरह के होते हैं—द्रव्य शल्य और भावशल्य। शल्य—तोमर-भाला आदि की तीखी अणी या कांटा, बांस की फांस आदि तीखी नोक के पदार्थ किसी भी अंग में चुभने से पीड़ा देते हैं। जिसके द्वारा पीड़ा हो वह शल्य कहलाता है। कांटा चुभा हुआ हर समय

पाओं आदि में रड़कता ही रहता है, उसके निकाल देने में ही लाभ एवं सुख है। द्रव्य शल्य तो इस भव में कुछ काल तक पीड़ा देता है, किन्तु भावशल्य अनेक जन्मों तक पीड़ा देता रहता है।

वह भाव शल्य तीन तरह का होता है—माया, निदान और मिथ्यादर्शन शल्य।

दूसरों को ठगना, धोखे में डालना तथा अपने दोषों को छुपाना, माया के पर्दे के पीछे रह कर दोष लगाना और छुपाना ये सब माया शल्य हैं।

तप और संयम के अक्षय निधान को दैविक तथा भौतिक सुख के लिए बेच देना निदान है। निदान करने से साधक मोक्ष का अधिकारी नहीं रह जाता, उस निदान का अन्तिम परिणाम दु:ख है।

अविद्या एवं अज्ञान का सद्भाव मिथ्यात्व के साथ है। मिथ्यात्व आत्मविकास का बाधक, शुभ गत्यवरोधक, और दुर्गति में धकेलने वाला है। जब तक मिथ्यात्व की सत्ता विद्यमान रहती है तब तक साधक का प्रत्येक दृष्टिकोण सचाई से दूर ही रहता है, अत: मिथ्यादर्शनशल्य भी जीव के लिए अत्यन्त हानिकारक है। ये तीन शल्य जब तक जीव में हैं, तब तक वह सर्वविरति नहीं बन सकता। कहा भी है—**नि:शल्यो व्रती**[1]। अत: तीन शल्य सर्वविरति के लिए त्याज्य हैं।

आत्मा में अनन्त शक्तियां विद्यमान हैं, परन्तु वे तभी प्रकट हो सकती हैं जब आत्मा शल्यरहित हो। कुछ लब्धियां कर्मों के उपशम से होती हैं, कुछ क्षयोपशम से, कुछ क्षय से तथा कुछ उदय और क्षयोपशम दोनों से होती हैं। उनमें जो संक्षिप्तविपुलतेजोलेश्या है वह तप से समुत्पन्न होती है। जैसे शान्तिकाल में परमाणु बम की महाज्वाला उसी में बन्द होकर रहती है वैसे ही तेजोलेश्या भी एक महान संहारक शक्ति है, उस लब्धि से समृद्ध होने के तीन कारण बतलाए गए हैं। ग्रीष्म ऋतु में धूप की आतापना लेने से, शीतकाल में अनावरण रहने से, सब तरह से समर्थ होते हुए भी पीड़ा पहुंचाने वाले पर पूर्ण क्षमा रखने से, तथा निरंतर निर्जल बेले-बेले तप: कर्म करने से तेजोलेश्या उत्पन्न होती है। श्री भगवती सूत्र में इस विषय में कहा गया है—

जे णं गोसाला! एगाए सणहाए कुम्मास-पिंडियाए एगेण य वियडासणेणं छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय २ सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे विहरइ, से णं अंतो छण्हं मासाणं संखित्तविउलतेयलेसे भवइ, त्ति।[2] सूत्र के इस पाठ से भी सिद्ध होता है कि तेजोलेश्या तपकर्म से ही उत्पन्न होती है।

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र अ ७वां।

२ व्या प्र श. १५।

भिक्षु प्रतिमा—

भिक्षु की बारह प्रतिमाएं होती हैं जिनका विस्तृत वर्णन दशाश्रुतस्कन्धसूत्र में मिलता है। उनकी आराधना, पालना सब दृष्टियों से सशक्त मुनिवर ही कर सकते हैं। पहली एक मासिकी, दूसरी द्वैमासिकी और तीसरी त्रैमासिकी भिक्षु प्रतिमा है। जिसने त्रैमासिकी भिक्षु प्रतिमा अंगीकार की हुई हो, उसको तीन दत्ति आहार की और तीन दत्ति पानी की ग्रहण करनी उचित होती हैं। एक बार अखंड धारा पूर्वक पात्र में द्रव्य डालने का नाम दत्ति या दात है। इस प्रकार त्रैमासिकी प्रतिमा ग्रहण करने वाले साधु को भात-पानी की तीन-तीन दत्तियां ग्रहण करनी उचित हैं, इनसे अधिक नहीं।

भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा तेले के साथ मात्र एक रात ही करने का विधान है। वह भी श्मशान भूमि में, अन्यत्र नहीं। इस प्रतिमा में खड़े होकर मन, वचन और काय को स्थिर करके तब तक ध्यान में ही रहना होता है जब तक सूर्योदय न हो जाए। उसमें तीन तरह के उपसर्ग अर्थात् विघ्न हो जाने की संभावना होती है, जैसे कि—देवजाति के द्वारा दिये जाने वाले कष्ट, किसी मनुष्य के द्वारा किए गए विघ्न तथा पशु-पक्षियों आदि के द्वारा उत्पन्न संकट। जो भिक्षु उन उपसर्गों से विचलित हो जाता है उसे तीन प्रकार की हानि उठानी पड़ती है। उन्माद—पागलपन का होना, कुष्ट आदि सोलह प्रकार का दीर्घरोग, सद्योघातक आतंक का होना, केवलि-भाषित धर्म से भ्रष्ट होना। इनमें से कोई न कोई हानि उसे अवश्य उठानी पड़ती है।

केवलीपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा—सूत्र के इस पाठ से यह सिद्ध होता है कि धर्म शब्द से पूर्व जो केवली प्रज्ञप्त विशेषण जोड़ा है इस कथन से अन्य धर्मों का निराकरण हो जाता है, क्योंकि सम्यक्त्व से पतित होकर जीव मिथ्यात्व में ही प्रविष्ट हो जाता है। सम्यक्त्वपूर्वक सभी शुभ क्रियाएं केवलीभाषित धर्म ही हैं।

जो मुनिराज बारहवीं प्रतिमा—एक रात में पूर्ण होने वाले अनुष्ठान की आराधना, साधना एवं पालना सम्यक्तया करते हैं उन्हें तीन प्रकार के लाभों में से एक महालाभ अवश्य होता है, जैसे कि—अवधि-ज्ञान का उत्पन्न होना, मनःपर्यवज्ञान होना एवं केवलज्ञान का उत्पन्न होना। यह है उस अनुष्ठान की पूर्णता का शुभ परिणाम तथा आध्यात्मिक सिद्धि। इस प्रकार की साधना करने वालों का भविष्य उज्ज्वल, समुज्ज्वल एवं अत्युज्ज्वल होता है।

कर्मभूमि

मूल—जम्बुद्दीवे दीवे तओ कम्मभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—भरहे एरवए, महाविदेहे। एव धायइसंडे दीवे पुरच्छिमद्धे जाव पुक्खरवर-दीवद्धपच्चत्थिमद्धे ॥६५॥

छाया—जम्बुद्वीपे द्वीपे तिस्रः कर्मभूमयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—भरतम्, ऐरवतम्, महाविदेहः। एव धातकीखण्डे द्वीपे पौरस्त्यार्द्धे यावत् पुष्करवरद्वीपार्द्धपाश्चात्यार्द्धे।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप में तीन कर्मभूमियां प्रतिपादन की गई हैं, जैसे—भरत, ऐरवत और महाविदेह। इसी तरह धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वार्द्ध में यावत् पुष्करवरद्वीपार्द्ध के पश्चिम तक जान लेना चाहिए।

विवेचनिका—साधु-जीवन का निर्वाह और शुभानुष्ठान कर्मभूमि में ही हो सकता है, अतः इस सूत्र में कर्मभूमियों का वर्णन किया गया है। जम्बूद्वीप में भरत, ऐरवत और महाविदेह ये तीन कर्मभूमि-क्षेत्र कहलाते हैं।

धातकीखण्ड में ६ क्षेत्र हैं, तीन क्षेत्र पूर्वार्द्ध में और तीन क्षेत्र पश्चिमार्द्ध में हैं। इसी प्रकार अर्द्धपुष्करवरद्वीप में पूर्व भाग तथा पश्चिम भाग में तीन-तीन क्षेत्र हैं उनके नाम भी भरत, ऐरवत और महाविदेह ही हैं।

निष्कर्ष यह कि ढाईद्वीप में १५ क्षेत्र कर्मभूमियों के हैं। जिनमें रहकर जीव पुण्य-पाप, उत्थान-पतन, ह्रास-विकास, सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष, वाणिज्य, सेवा इत्यादि लौकिक एवं लोकोत्तरिक क्रियाएं और उनकी अनुभूति कर सकता है। इन्हीं भूमियों को कर्मभूमि कहा जाता है। कर्मभूमि में जन्म लेकर उत्तम कर्म करते हुए सद्गति प्राप्त करना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। इस लक्ष्य-पूर्ति के लिए यत्नशील रहना हमारा कर्त्तव्य है।

दर्शनरुचि और प्रयोग

मूल—तिविहे दंसणे पण्णत्ते, तं जहा—सम्मद्दंसणे, मिच्छद्दंसणे, सम्मामिच्छद्दंसणे।

तिविहा रुई पण्णत्ता, तं जहा—सम्मरुई, मिच्छरुई, सम्मामिच्छरुई।

तिविहे पओगे पण्णत्ते, तं जहा—सम्मप्पओगे, मिच्छप्पओगे, सम्मा-मिच्छप्पओगे ॥ ६६ ॥

छाया—त्रिविधं दर्शनं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—सम्यग्दर्शनम्, मिथ्यादर्शनम्, सम्यङ्-मिथ्यादर्शनम्।

त्रिविधा रुचिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—सम्यग्रुचिः, मिथ्यारुचिः, सम्यङ्मिथ्यारुचिः।

त्रिविधः प्रयोगः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—सम्यक्-प्रयोगः, मिथ्या-प्रयोगः, सम्यङ्-मिथ्याप्रयोगः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—दर्शन के तीन रूप कहे गए हैं, जैसे कि सम्यग्-दर्शन, मिथ्या-दर्शन

और मिश्र-दर्शन।

तीन प्रकार की रुचियां कही गई हैं, जैसे कि—सम्यग्-रुचि, मिथ्या-रुचि और मिश्ररुचि।

तीन प्रकार के प्रयोग कहे गए हैं, जैसे कि—सम्यक्-प्रयोग, मिथ्याप्रयोग और मिश्रप्रयोग।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में तीन कर्म-भूमियों का वर्णन किया गया है। कर्म की प्रेरक शक्ति है—मनुष्य का दर्शन, उसकी रुचि और उसका प्रयोग। अतः दर्शन, रुचि और प्रयोग के रूपों का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

दर्शन का अभिप्राय है मनुष्य का दृष्टिकोण, उसकी मान्यता एवं श्रद्धा। इसके अनुसार दर्शन के यद्यपि अनेक रूप हो सकते हैं, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से सभी प्रकार के दर्शनों का समावेश दर्शन के तीन रूपों में हो जाता है। वे रूप हैं—सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन और मिश्रदर्शन।

संसार की वास्तविकता को उसके यथार्थ रूप को देखना ही सम्यग्-दर्शन है, यह दर्शन दुराग्रहों के प्रशम से, सांसारिक बन्धनों के भयरूप संवेग से, विषयों में अनासक्ति रूप निर्वेद से, दुखी प्राणियों के दुख दूर करने की इच्छा रूप अनुकम्पा से एवं आत्मा आदि परोक्ष किन्तु प्रमाणसिद्ध तत्त्वों की स्वीकृतिरूप आस्तिक्य के द्वारा प्राप्त होता है।

इसके विपरीत हेय को उपादेय और उपादेय को हेय, असत्य को सत्य और सत्य को असत्य समझना ही मिथ्यादर्शन है। इसी को दूसरे शब्दों में अविद्या भी कहा जाता है।

कुछ जीव ऐसे भी होते हैं जो अभी ज्ञान के मार्ग पर चलने का प्रयोग कर रहे हैं, परन्तु अज्ञान का परित्याग नहीं कर पाए हैं, उनकी श्रद्धा को मिश्र-दर्शन कहा जाता है। जिस दृष्टि में सत्य में प्रवृत्ति और असत्य से निवृत्ति दोनों ही न हों उसे भी मिश्र दृष्टि ही कहा जाता है।

मनुष्य का जैसा दर्शन-क्रम होता है उसकी रुचि भी उसी के अनुरूप ढलती जाती है। ज्ञानमार्ग की ओर अग्रसर होने के दृष्टिकोण के उत्पन्न होते ही मनुष्य की रुचि भी आध्यात्मिक हो जाएगी और सांसारिक हेय पदार्थों के प्रति आकर्षण जागृत होते ही मनुष्य की रुचि भी ममतामयी हो जानी स्वाभाविक है, अतः सूत्रकार कहते हैं कि मनुष्य की रुचि भी तीन प्रकार की होती है—सम्यक्-रुचि, मिथ्या-रुचि और मिश्र-रुचि।

अनित्य संसार को जानने की एवं जानकर उसके बन्धनों से मुक्त होने की इच्छा ही सम्यक् रुचि है। सांसारिक प्रलोभनों में, माया-ममता के बन्धनों में रस लेने की इच्छा ही मिथ्या रुचि है। मिथ्या रुचि की विद्यमानता में धीरे-धीरे जब सम्यक् रुचि भी जागृत सी रहती है ऐसी दशा में बादलों में से निकलते-छिपते चन्द्र की सी रुचि को मिश्ररुचि कहा जाता है। जैसे शर्करा मिश्रित दही खाने वाला व्यक्ति खटास और मिठास दोनों की एक

साथ अनुभूति करता है उसी प्रकार सत्य और असत्य दोनों में एक साथ रहने वाली रुचि मिश्ररुचि कहलाती है।

मनुष्य की जैसी रुचि होती है उसी के अनुरूप उसके मन का चिन्तन हो जाता है, उसी के अनुरूप मनुष्य की वाणी हो जाती है और उसी के अनुरूप मनुष्य की शारीरिक चेष्टाएं हो जाया करती हैं। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को ही प्रयोग कहा जाता है। यदि मनुष्य का मन आध्यात्मिक चिन्तन में लीन है, यदि उसकी वाणी के प्रत्येक शब्द से सत् ज्ञान की अनुभूति व्यक्त हो रही है और यदि उसका शरीर सत्कर्म में लीन है तो मनुष्य के ऐसे प्रयोग को सम्यक् प्रयोग कहा जाता है। यदि मनुष्य का मन विषयानुरागी है, उसकी वाणी सांसारिकता की प्रशंसा में लीन है, उसका शरीर भौतिकता की ओर ही भागता चला जा रहा है तो मनुष्य के ऐसे प्रयोग को अर्थात् प्रवृत्ति को मिथ्याप्रयोग कहा जाता है। यदि मनुष्य की प्रवृत्ति असत् से सत् की ओर बढ़ने का प्रयास करती हुई दोनों के मध्य की स्थिति को ग्रहण कर लेती है तो उस प्रवृत्ति को मिश्रप्रयोग कहा जाता है।

इस प्रकार सूत्रकार ने मनुष्य को अपना दृष्टिकोण उच्च एवं महान् बनाने का संकेत देते हुए कहा है कि सम्यग्-दर्शन के द्वारा सम्यग्रुचि का निर्माण कर सम्यक्-प्रयोग की प्राप्ति के लिए उसे सदा यत्नशील रहना चाहिए।

करण-व्यवसाय और ज्ञान-व्यवसाय

मूल—तिविहे ववसाए पण्णत्ते, तं जहा—धम्मिए ववसाए, अधम्मिए ववसाए, धम्मियाधम्मिए ववसाए।

अहवा तिविहे ववसाए पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे, पच्चइए, आणुगामिए। अहवा तिविहे ववसाए पण्णत्ते, तं जहा—इहलोइए, परलोइए, इहलोइयपरलोइए।

इहलोइए ववसाए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—लोइए, वेइए सामइए।

लोइए ववसाए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—अत्थे, धम्मे, कामे।

वेइए ववसाए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—रिउव्वेए, जउव्वेए, सामवेए।

सामइए ववसाए तिविहे पणणत्ते, तं जहा—णाणे, दंसणे, चरित्ते।

तिविहा अत्थजोणी पण्णत्ता, तं जहा—सामे, दंडे भेए॥ ६७ ॥

छाया—त्रिविधो व्यवसायः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—धार्मिको व्यवसायः, अधार्मिको-व्यवसायः, धार्मिकाधार्मिको व्यवसायः।

अथवा त्रिविधो व्यवसायः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रत्यक्षः प्रात्ययिकः, आनुगामिकः

अथवा त्रिविधो व्यवसायः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ऐहलौकिकः, पारलौकिकः, ऐहलौकिक-पारलौकिकः।

ऐहलौकिको व्यवसायस्त्रिविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—लौकिकः, वैदिकः, सामयिकः।

लौकिको व्यवसायस्त्रिविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अर्थः, धर्मः, कामः।

वैदिको व्यवसायस्त्रिविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः।

सामयिको व्यवसायस्त्रिविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ज्ञानम्, दर्शनम्, चारित्रम्।

त्रिविधा अर्थयोनिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—सामः, दण्डः, भेदः।

शब्दार्थ—**तिविहे ववसाए पण्णत्ते, तं जहा**—तीन प्रकार का व्यवसाय—निर्णय अथवा कार्य सिद्धि के लिए क्रिया रूप व्यापार प्रतिपादन किया गया है, जैसे, **धम्मिए ववसाए**—साधु की क्रिया रूप व्यापार, **अधम्मिए ववसाए**—असंयत व्यक्ति का व्यवसाय, जैसे मिथ्यादृष्टि का व्यापार, **धम्मियाधम्मिए ववसाए**—देशवृत्ति का व्यवसाय।

अहवा तिविहे ववसाए पण्णत्ते, तं जहा—अथवा तीन प्रकार का व्यवसाय और भी प्रतिपादन किया गया है, जैसे, **पच्चक्खे**—अवधिज्ञान, मनः पर्यवज्ञान और केवलज्ञान रूप प्रत्यक्ष व्यवसाय, **पच्चइए**—इन्द्रिय और अनिन्द्रिय निमित्तक ज्ञान रूप व्यवसाय, **आणुगामिए**—अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान रूप व्यवसाय।

अहवा तिविहे ववसाए पण्णत्ते, तं जहा—अथवा व्यवसाय तीन प्रकार का है, जैसे, **इहलोइए**—इस लोक में पदार्थों का निर्णय, **परलोइए**—पारलौकिक वस्तुस्थिति का निर्णय, **इहलोइयपरलोइए**—दोनों लोकों का निर्णय।

इहलोइए ववसाए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—ऐहलौकिक व्यवसाय तीन प्रकार का है, जैसे—**लोइए**—लौकिक निर्णय, **वेइए**—वैदिक निर्णय, **सामइए**—सामयिक निर्णय। **लोइए ववसाए तिविहे, पण्णत्ते, तं जहा**—लौकिक व्यवसाय तीन प्रकार का होता है, जैसे, **अत्थे**—अर्थ, **धम्मे**—धर्म और, **कामे**—काम।

वेइए ववसाए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—वैदिक व्यवसाय तीन प्रकार का है, जैसे—**रिउव्वेए**—ऋग्वेद, **जउव्वेए**—यजुर्वेद और, **सामवेए**—सामवेद।

सामइए ववसाए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—सामयिक व्यवसाय तीन प्रकार का माना जाता है, जैसे, **णाणे**—ज्ञान, **दंसणे**—दर्शन और, **चरित्ते**—चारित्र रूप।

तिविहा अत्थजोणी पण्णत्ता, तं जहा—अर्थ योनि तीन प्रकार की है जैसे, **सामे**—साम, **दंडे**—दंड और, **भेए**—भेद।

मूलार्थ—तीन प्रकार का व्यवसाय अर्थात् वस्तु-निर्णय अथवा कार्यसिद्धि के लिए पुरुषार्थ प्रतिपादन किया गया है, जैसे—धार्मिक व्यवसाय, अधार्मिक व्यवसाय और धार्मिका-धार्मिक व्यवसाय।

अथवा व्यवसाय-निर्णय तीन प्रकार का है, जैसे—प्रत्यक्ष, प्रात्ययिक और आनुगामिक अर्थात् जैसे अग्नि होने पर ही धूम्र की सिद्धि होती है। तीन प्रकार का निर्णय और भी कहा है, जैसे—ऐहलौकिक, पारलौकिक और ऐहलौकिक-पारलौकिक।

ऐहलौकिक निर्णय तीन प्रकार का है, जैसे—लौकिक, वैदिक और सामयिक।

लौकिक निर्णय तीन प्रकार का है, जैसे—अर्थ, धर्म और काम।

वैदिक निर्णय तीन प्रकार का है, जैसे—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद।

सामयिक निर्णय तीन प्रकार का है, जैसे—ज्ञान, दर्शन और चारित्र।

धन की उत्पत्ति के तीन कारण प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—साम, दण्ड और भेद ।

विवेचनिका—व्यवसाय शब्द के अनेक अर्थ हैं, जैसे कि—निर्णय, निश्चय, अनुष्ठान, उद्यम, प्रयत्न, व्यापार इत्यादि। वस्तु का निर्णय एवं निश्चय करना और अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिये पुरुषार्थ करना ही व्यवसाय है। वह तीन तरह का होता है, जैसे कि—संयत-मुनिजन धार्मिक व्यवसाय करते हैं, अंसयत-धर्मविमुख लोगों का व्यवसाय अधार्मिक होता है। तथा श्रावक—आदर्श गृहस्थ का व्यवसाय धार्मिका-धार्मिक उभयात्मक होता है। व्यवसाय के इन्हीं तीन रूपों को संयम-व्यवसाय, असंयम-व्यवसाय और संयमा-संयम व्यवसाय भी कहा जाता है।

प्रत्यक्ष व्यवसाय—

न्यायशास्त्र के अनुसार प्रत्येक वस्तु का निर्णय प्रमाणों द्वारा किया जाता है। प्रमाणों द्वारा निर्णीत पदार्थ ही सम्यग् ज्ञान का मूल होता है। अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान के द्वारा जो पदार्थों का ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष व्यवसाय कहलाता है।

प्रात्ययिक व्यवसाय—

प्रात्ययिक निमित्त को कहते हैं। पांच ज्ञान इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाला यथार्थ ज्ञान प्रात्ययिक व्यवसाय कहलाता है, क्योंकि जब आत्मा इन्द्रियों और मन के माध्यम से पदार्थों का ज्ञान करता है, तब इन्द्रियां और मन ये पदार्थ-ज्ञान में निमित्त होते हैं, जैसे कि सूक्ष्म एवं दूरवर्ती पदार्थों को जानने व देखने के लिये अणुवीक्षण यंत्र-दूरबीन आदि निमित्त कारण माने जाते हैं, वैसे ही पौद्गलिक होने से इन्द्रियां एवं मन भी ज्ञान में निमित्त कारण हैं, निमित्त से होने वाला ज्ञान नैमित्तिक या प्रात्ययिक ज्ञान कहलाता है।

आनुगामिक व्यवसायः—

साध्य-साधन में परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध होता है। जिसे सिद्ध करना है वह साध्य और जिसके द्वारा उसे सिद्ध किया जाता है, वह साधन कहलाता है।

साध्य का अनुसरण करने वाला एवं साध्य के बिना न होने वाला कारण आनुगामिक

व्यवसाय कहलाता है, जैसे अग्नि के होने पर ही धूम हो सकता है। अग्नि के बिना धूम हो नहीं सकता। अग्नि धूम का अनुगमन नहीं करती, बल्कि धूम अग्नि का अनुगमन करता है। विश्व में जितने भी साध्य हैं जिनका निश्चय अनुमान के द्वारा हो, उसे आनुगामिक व्यवसाय कहा जाता है। अथवा स्वयं प्रत्यक्ष करना प्रत्यक्ष व्यवसाय है और आप्त वचन से उत्पन्न ज्ञान प्रात्ययिक व्यवसाय कहलाता है।

इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—

"**व्यवसायो-निश्चयः, स च प्रत्यक्षोऽवधिमनःपर्यायकेवलाख्यः, प्रत्ययात्—इन्द्रियानिन्द्रिय-लक्षणान्निमित्ताज्जातः प्रात्ययिकः साध्यम्—अग्न्यादिकमनुगच्छति, साध्याभावे न भवति यो धूमहेतुः सो अनुगामी ततो जातमनुगामिकम्—अनुमानं तद्रूपो व्यवसाय आनुगामिक एवेति अथवा प्रत्यक्षः स्वयंदर्शन लक्षणः प्रात्ययिकः आप्तवचनप्रभवः, तृतीयस्तथैवेति**" इस तरह तीन प्रकार से वस्तु का निर्णय रूप ज्ञान होता है।

पुरुषार्थ-सिद्धि के लिये जो व्यवसाय अर्थात् अनुष्ठान किया जाता है वह व्यवसाय भी तीन प्रकार का होता है। इस लोक से सम्बन्ध रखने वाला व्यवसाय, परलोक से सम्बन्धित व्यवसाय और दोनों लोकों से सम्बन्ध रखने वाला व्यवसाय। मनुष्य जो कुछ भी क्रियाएं करता है, उनमें से किसी का सम्बन्ध केवल इस लोक से होता है, किसी का केवल परलोक से और किसी का दोनों लोकों से सम्बन्ध जुड़ा रहता है।

ऐहलौकिक व्यवसाय के तीन रूप माने गये हैं—लौकिक, वैदिक और सामयिक। इन में से लौकिक व्यवसाय के तीन रूप हैं—अर्थ, धर्म और काम। धन उपार्जन करने के विविध उपायों एवं साधनों का निर्णय करना और फिर उनकी प्राप्ति के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करना अर्थ-व्यवसाय कहलाता है। जिस कार्य की सिद्धि या प्राप्ति अर्थसाध्य नहीं हो सकती उसके लिये धर्म की आराधना करना धर्म-व्यवसाय कहलाता है। ऐन्द्रिय एवं वैषयिक सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इस विषय का निर्णय करना और विषय-सुखों की प्राप्ति के लिये यत्न करना काम-व्यवसाय कहलाता है। सांसारिक लोग प्रायः त्रिवर्ग-सिद्धि की प्राप्ति के लिये ही यत्नशील रहा करते हैं। वृत्तिकार ने एक श्लोक में ही चार पुरुषार्थों का बड़ी ही सुन्दर शैली से निरूपण करते हुए लिखा है—**अर्थधर्मकामविषयो निर्णयो यथा—**

अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च, धर्मस्य दानं च दया दमश्च ।
कामस्य वित्तं च वपुर्वयश्च, मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियासु ॥

अर्थात् अर्थ का मूल छल और क्षमा है, धर्म का मूल दया, दान और दम है, काम का मूल धन, स्वास्थ्य शरीर की अवस्था है, किन्तु मोक्ष का मूल सब क्रियाओं से उपराम हो जाना ही माना जाता है।

वैदिक-व्यवसाय—

वैदिकव्यवसाय तीन प्रकार का होता है, जैसे कि—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद। इनके द्वारा किसी वस्तु का निर्णय करना या वेदानुकूल आचरण तथा अनुष्ठान करना वैदिक व्यवसाय कहलाता है। वेदों में जो यज्ञीय-विभाग है उसे ब्राह्मण कहते हैं, जो ज्ञान-विभाग है उसे उपनिषद् कहा जाता है।

सामयिक-व्यवसाय—

समय का अर्थ है सिद्धान्त। सांख्य आदि सिद्धान्तों के अनुयायियों को सामयिक कहा जाता है—**समयः—सांख्यादीनां सिद्धान्तस्तदाश्रितस्तु सामयिकः।"**

जिन्होंने यह निश्चय किया हुआ है कि ज्ञानमात्र से ही अभीष्ट सिद्धि हो सकती है दर्शन और चारित्र से नहीं, उन्हें ज्ञान-सामयिक कहा जाता है। जो श्रद्धा की प्रधानता से अभीष्ट-सिद्धि मानने वाले हैं, ज्ञान और चारित्र से नहीं, उन्हें दर्शन-सामयिक कहा जाता है। जिन्होंने एकान्त चारित्र से अभीष्ट सिद्धि मानी है, ज्ञान और श्रद्धा से नहीं, उन्हें चारित्र-सामयिक कहा जाता है।

अथवा प्राणी-विज्ञान, चिकित्सा-विज्ञान, राजनीति, भाषा-विज्ञान, ७२ पुरुष कलाएं तथा ६४ नारी कलाएं, १०० प्रकार का शिल्प इत्यादि सभी प्रकार के ज्ञान व कला का समावेश ज्ञान-व्यवसाय में हो जाता है। किसी दल, सम्प्रदाय, ग्रन्थ व मजहब पर श्रद्धा एवं विश्वास रखना दर्शन-व्यवसाय है। हठयोग से, ईश्वर के भय से, राजनीति के भय से, समाज के भय से, यमराज के भय से, साथियों के भय से पाप न करना व्यावहारिक चारित्र है, इसी को दूसरे शब्दों में मिथ्या-चारित्र भी कहते हैं। एकान्तवाद को लक्ष्य में रखकर चारित्र विषयक निश्चय एवं उद्यम करना चारित्र सामयिक है। जैन दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को प्रश्रय देता है, मिथ्या-ज्ञान, दर्शन और चारित्र को नहीं।

जिन ज्ञान, दर्शन और चारित्र का सम्बन्ध केवल लोक से ही है, उन सबका समावेश सामयिक में हो जाता है। लौकिक, वैदिक तथा सामयिक इन तीनों का सम्बन्ध लौकिक व्यवसाय से है। जिसके द्वारा भौतिक पदार्थों का ज्ञान हो, केवल सांप्रदायिक श्रृद्धान हो और केवल बाह्य क्रिया काण्ड का ही आचरण हो उसे ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र व्यवसाय कहते हैं।

अर्थ-उपाय—

जो कषायात्मा है वे धन आदि बाह्य पदार्थों में ही अहंभाव मानकर विविध उपायो के द्वारा अर्थ-उपार्जन मे निमग्न रहते हैं। अर्थ-प्राप्ति के उपाय सूत्रकार ने तीन बतलाए हैं—साम, दण्ड और भेद। अर्थोपार्जन के सभी विषयों का समावेश साम, दण्ड और भेद में ही हो जाता है। अर्थ उपाय के विषय में वृत्तिकार का कथन है—

परस्परोपकाराणां दर्शनं, गुणकीर्तनम्।
सम्बन्धस्य समाख्यानमायत्यः संप्रकाशनम्॥

सामनीति से अर्थ उपार्जन की चार पद्धतियां हैं—जैसे कि अपने स्वामी या ग्राहक के समक्ष परस्पर उपकारों का प्रदर्शन करना, उसके गुणकीर्तन करना, परस्पर प्राचीन सम्बन्ध प्रकाशित करना, एक दूसरे के आधीन हो जाना, साम नीतियां हैं। तथा वध, परिक्लेश और द्रव्यहरण इन तीन प्रकार की दण्ड नीतियों से भी अर्थ-लाभ होता है। किसी अपराधी को पकड़ कर लाना, जुर्माना लगाना, अर्थ हरण करने वाले को दण्डित करना, इस प्रकार से भी अर्थ-प्राप्ति होती है। भेद-नीति से भी अर्थ-प्राप्ति होती है, परस्पर स्नेह दूर करके परस्पर फूट डालना भेद कहलाता है। यदि भेद करने से अर्थ लाभ होता हो तो वह भी अर्थ-प्राप्ति का एक उपाय है।

किसी-किसी प्रति में दण्ड शब्द के स्थान पर पयाणं—प्रदान का उल्लेख मिलता है। जिसको कुछ देने से अधिक लाभ हो, उसे प्रदान अर्थयोनि कहते हैं। वह भी अनेक प्रकार का है। अर्थ की रक्षा के लिये किसी को रिश्वत देना, कर्मचारियों के उत्साह बढाने के लिये पारितोषिक या इनाम देना, जिसकी कृपादृष्टि से अर्थ-लाभ हो रहा हो उसे अदृष्टपूर्व, अश्रुतपूर्व वस्तु का दान करना, यदि कोई देता है तो उसे प्रसन्न रखने के लिये स्वयं बिना हिचकिचाहट के ग्रहण करना, जो अर्थ-उपार्जन में सहायक है, उसे ऋण-मुक्त करना, दिए हुए का मुक्तकण्ठ से समर्थन करना आदि अर्थोपार्जन के सभी रूप 'प्रदान' के अन्तर्गत ही माने जाते हैं। प्रदान-नीति पर विशेष प्रकाश डालते हुए कहा गया है:—

''उत्तमं प्रणिपातेन, शूरं भेदेन योजयेत्।
नीचमल्पप्रदानेन, समं तुल्यपराक्रमैः॥''

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में लोक-परलोक मर्मज्ञ सूत्रकार ने लोकनीति और परलोक-साधना दोनों का थोड़े से शब्दों में विशद विवेचन प्रस्तुत किया है।

पुद्गल और नरक

मूल—तिविहा पोग्गला पण्णत्ता, तं जहा—पओग-परिणया, मीसा-परिणया, विस्ससा-परिणया।

तिपइट्ठिया णरगा पण्णत्ता, तं जहा—पुढवि-पइट्ठिया, आगास-पइट्ठिया, आय-पइट्ठिया। णेगमसंगहववहाराणं पुढवि-पइट्ठिया, उज्जुसुयस्स आगास-पइट्ठिया, तिण्हं सद्दणयाणं आय-पइट्ठिया ॥ ६८ ॥

छाया—त्रिविधाः पुद्गलाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्रयोग-परिणताः, मिश्रपरिणताः, विस्रसापरिणताः। त्रिप्रतिष्ठिताः नरकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवी-प्रतिष्ठिताः,

आकाश-प्रतिष्ठिताः, आत्म-प्रतिष्ठिताः। नेगमसंग्रह-व्यवहाराणां पृथिवी- प्रतिष्ठिताः, ऋजुसूत्रस्य आकाश-प्रतिष्ठिताः, त्रयाणां शब्दनयानामात्म-प्रतिष्ठिताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पुद्गल के तीन रूप कहे गए हैं, जैसे—प्रयोग-परिणत, मिश्र-परिणत और विस्रसा-परिणत।

नरक तीन आधारों पर अवस्थित रहने वाले हैं, जैसे—पृथ्वी-प्रतिष्ठित, आकाश-प्रतिष्ठित और आत्म-प्रतिष्ठित। नैगम, संग्रह और व्यवहार नयों के अनुसार नरक पृथिवी के आधार पर स्थित हैं, ऋजुसूत्र नय के अनुसार नरक आकाश में स्थित माने जाते हैं और तीन शब्द-नयों के अनुसार नरक आत्म-प्रतिष्ठित ही हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में अर्थ का वर्णन किया गया है, वह अर्थ पुद्गल रूप है और साथ ही पाप एवं नरक मूलक भी है, अतः प्रस्तुत सूत्र में पुद्गल और नरक के रूपों का वर्णन किया गया है—

पुद्गल क्या है ?

पुद्गल शब्द के दो अवयव हैं—'पुद्' और 'गल'। पुद् शब्द का अर्थ है पूर्णता अर्थात् वृद्धि और 'गल' शब्द का अर्थ है 'गलना' अर्थात् ह्रास को प्राप्त होना, अतः पूर्णता और विकास तथा गलना एवं ह्रास पुद्गल के स्वाभाविक धर्म हैं, अतः स्वाभाविक रूप से वृद्धि-शील एवं ह्रास-शील जड़ तत्व ही पुद्गल है। पुद्गल की इसी विशेषता के आधार पर सूत्रकार ने पुद्गल को तीन रूपों में विभक्त कर दिया है—

प्रयोग-परिणत पुद्गल—प्रयोग का अर्थ है काय-व्यापार। जीव के द्वारा शरीर, मन एवं इन्द्रियों से की जाने वाली समस्त-चेष्टाओं के द्वारा नाना द्रव्यों के रूप में परिणत होने वाले पुद्गलों को प्रयोग-परिणत पुद्गल कहा जाता है।

पदार्थों के पारस्परिक संयोग करने पर वे पुद्गल नव-नव रूप धारण कर लेते हैं, इस प्रकार नाना प्रयोगों के द्वारा नवीन रूप धारण किए हुए पुद्गल भी प्रयोग-परिणत-पुद्गल ही कहलाते हैं।

मिश्र-परिणत-पुद्गल—जीव के द्वारा केश, नख, मल-मूत्र एवं मृत शरीर आदि के रूप में परित्यक्त पुद्गलों को मिश्र-परिणत पुद्गल नाम दिया जाता है। प्रयोग-परिणत और विस्रसा-पुद्गलों के योग से पुद्गल जो रूप धारण करता है उसे भी मिश्र-परिणत-पुद्गल ही नाम दिया जाता है।

विस्रसा-परिणत-पुद्गल—विस्रसा शब्द का अर्थ है स्वभाव, अतः स्वाभाविक रूप से नव-नव रूपों में परिणत होने वाले पुद्गल विस्रसा पुद्गल अथवा वैस्रसिक पुद्गल कहलाते हैं। इस प्रकार के पुद्गल स्वभावतः ही नाना रूप धारण करते रहते हैं—आकाश

में छाए बादलों के समूह को देखते ही देखते वे नाना आकृतियां धारण करते हैं। विस्रसा पुद्गलों के द्वारा रचित होने के कारण, इन्द्र-धनुष और गन्धर्व नगर आदि की रचना के मूल में भी विस्रसा पुद्गलों का कार्य-व्यापार ही विद्यमान रहता है।

नरक कहां हैं?

अब प्रश्न है कि जीवन का दुरुपयोग करने के कारण जीव जिन नरकों में जाता है वे नरक कहां हैं—उनका आधार क्या है? वे किस पर प्रतिष्ठित हैं? इन प्रश्नों का समाधान दार्शनिक पृष्ठ-भूमि पर करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

नरक पृथ्वी-प्रतिष्ठित भी हैं, आकाश-प्रतिष्ठित भी हैं और आत्म-प्रतिष्ठित भी हैं, परन्तु एक ही नरक तीन स्थानों पर प्रतिष्ठित कैसे हो सकती है? इस प्रश्न का समाधान सूत्रकार ने नयवाद का आधार लेकर उपस्थित किया है, इसलिये नयवाद का कुछ रूप जान लेना आवश्यक होगा।

नयवाद क्या है?

इस संसार में अनेक जीव हैं और अनेक पदार्थ हैं। प्रत्येक जीव प्रत्येक पदार्थ को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखता है, यह दृष्टि-कोण की भिन्नता, विचार-भिन्नता को जन्म देती है। यही कारण है कि एक ही पदार्थ के सम्बन्ध में अनेक व्यक्तियों के अनेक विचार हुआ करते हैं और वे विचार कभी-कभी परस्पर अविरोधी होते हुए भी विरोधी प्रतीत होने लगते हैं। नयवाद जैन-दर्शन की वह विचार-पद्धति है जिसके द्वारा विरोध के आवरण में छिपे हुए समन्वयात्मक दृष्टिकोण का अन्वेषण किया जाता है, अतः नयवाद को समन्वयवाद भी कहा जा सकता है। विरोध में हिंसा है और समन्वय में अहिंसा है। अहिंसा-प्रधान जैन-दर्शन समन्वय की ही प्रतिष्ठा करता है।

मनुष्य का 'दर्शन' अपेक्षा-मूलक होता है, एक ही व्यक्ति जन्म देने की अपेक्षा से यदि पिता है तो जन्म लेने की अपेक्षा पुत्र है। जन्म देने वाले का भाई होने के नाते वही चाचा है। अतः एक ही व्यक्ति के सम्बन्ध में यदि 'यह पिता है, 'यह पुत्र है' और 'यह चाचा है' ये तीनों बातें कहीं जायें तो अपनी-अपनी अपेक्षा से ये तीनों बातें ही यथार्थ हैं। इसीलिये नयवाद की संक्षिप्त परिभाषा करते हुए कहा जाता है—'किसी वस्तु एवं विषय का सापेक्ष शैली से निरूपण ही नयवाद है।'

यद्यपि आगमों में नयवाद का विविध रूपों से वर्गीकरण किया गया है, किन्तु नयवाद के प्रधानतः दो रूप हैं और उन रूपों के सात भेद ही सामान्यतः स्वीकृत किए गए हैं—

दो रूप—अर्थ-नय और शब्द-नय।

अर्थ-नय के चार रूप हैं—नैगम-नय, संग्रह-नय, व्यवहार-नय और ऋजुसूत्र-नय।

शब्द-नय के तीन रूप हैं—शब्दनय, समभिरूढ़ नय और एवंभूतनय।

नैगम-नय, संग्रह-नय और व्यवहार-नय—हम जब किसी भी वस्तु के दर्शन करते

हैं तो हमारे दो दृष्टिकोण होते हैं—'यह मकान है' इस रूप में हम मकान के समग्र रूप के दर्शन करते हैं और जब यह पहली और वह दूसरी मंजिल है, यह कमरा है, यह बरामदा और यह छज्जा है—इस रूप में मकान के अंग-प्रत्यंग को देखते हैं तो हमारे दर्शन का यह दूसरा रूप है। यदि कमरे में बैठा हुआ व्यक्ति कहता है कि 'मैं कमरे में बैठा हूं' यह जितना सत्य है उतना ही यह भी सत्य है कि 'मैं मकान में बैठा हूं।' क्योंकि मकान आधार है और कमरा, छज्जा आदि आधेय हैं।

आधार और आधेय में दो प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता है—तादात्म्य सम्बन्ध वस्तु और उसके अंगों में होता है। मकान और कमरों का सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध नित्य-सम्बन्ध माना जाता है। अतः इसमें अभेद-वृत्ति की प्रधानता रहती है।

दूसरे सम्बन्ध को संयोग सम्बन्ध कहा जाता है, व्यक्ति और मकान का पारस्परिक सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध ही होता है। इसमें दर्शक को यह स्पष्ट ज्ञान रहता है कि व्यक्ति और मकान परस्पर भिन्न हैं, अतः संयोग-सम्बन्ध में भेद-वृत्ति की प्रधानता रहती है।

संग्रहनय अभेद-वृत्ति को लक्ष्य में रखकर चलता है और व्यवहारनय का लक्ष्य भेद-वृत्ति होती है।

नैगमनय संग्रह और व्यवहार इन दोनों को एक साथ लक्ष्य में रखता है, अतः इसमें अपेक्षाकृत भेद और अभेद दोनों दृष्टिकोणों की प्रधानता रहती है। इस प्रकार इन तीनों नयों में आधार और आधेय को लक्ष्य में रखने की प्रवृत्ति ही प्रमुख रहती है।

सूत्रकार का कथन है अभेद वृत्ति से देखने पर संग्रहनय के द्वारा और भेद वृत्ति से देखने पर व्यवहार नय के द्वारा और दोनों दृष्टियों से देखने पर नैगमनय के द्वारा यही प्रमाणित होता है कि नरक पृथ्वी पर प्रतिष्ठित हैं।

ऋजुसूत्र-नय—कभी-कभी मानवीय चेतना जब इस निश्चय पर पहुंचती है कि प्रत्येक वस्तु के रूप में दृष्ट या अदृष्ट परिवर्तन होता रहता है तो वह दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रत्येक वस्तु का भूतकाल, वर्तमान काल और भविष्यत काल में भिन्न रूप स्वीकार करते हुए इस निश्चय पर पहुंचती है कि किसी भी द्रव्य का वर्तमान में जो रूप है वह उसका केवल वर्तमान में ही है, अतः वर्तमान काल की दृष्टि से ही किसी वस्तु के रूप को स्वीकार करना ऋजुसूत्र नय का अभिमत है। आगमकारों ने आकाश को छः द्रव्यों का आधार ऋजुसूत्र नय से ही स्वीकार किया है।

भायणं सव्व दव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं (उत्तराध्ययन २८।९) की इस गाथा को लक्ष्य में रख कर ऋजुसूत्र नय का कथन है कि प्रत्येक पदार्थ आकाश में अवस्थित है अतः नरक को भी आकाश प्रतिष्ठित ही कहा जा सकता है।

शब्दनय, समभिरूढ नय और एवंभूत नय—इन तीनों दार्शनिक दृष्टिकोणों के अनुसार संसार के सभी पदार्थ अपने स्वरूप में ही अवस्थित हैं, अतः नरक स्व-स्वरूप

में ही अवस्थित हैं। नरक के स्वरूप पर विचार करने के लिए उसके व्युत्पत्ति जन्य अर्थ को जब देखते हैं तो कह सकते हैं—**नरान् कायन्ति शब्दयन्ति अनतिक्रमेण आकारयन्ति जन्तून स्व-स्वस्थाने वेदनानुभूत्यै ते नरकाः**—अर्थात् जो प्रत्येक प्राणी को अशुभ कर्मों के फल भोग के लिए अपने पास बुलाया करते हैं, उन्हें नरक कहा जाता है, अतः नारकीय का नारकीयत्व उसकी आत्मा में ही है, क्योंकि अनिष्टतम कर्म-प्रकृतियों की सत्ता अनिष्टतम कर्म-प्रकृतियों का उदय और अनिष्टतम दुःखानुभूति आत्मा को ही होती है, अतः नरक की सत्ता भी आत्म प्रतिष्ठित ही मानी जानी चाहिए।

आधार और आधेय के सम्बन्ध में उपर्युक्त सात नयों के तीन ही अभिमत हैं, अतः इस विषय को तृतीय स्थान में रखा गया है।

मिथ्यात्व के विविध रूप

मूल—तिविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते, तं जहा—अकिरिया, अविणए, अन्नाणे।

अकिरिया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—पओगकिरिया, समुदाणकिरिया, अन्नाणकिरिया।

पओगकिरिया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—मणपओगकिरिया, वइपओगकिरिया, कायपओगकिरिया।

समुदाणकिरिया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—अणंतरसमुदाणकिरिया, परंपरसमुदाणकिरिया, तदुभयसमुदाणकिरिया।

अन्नाणकिरिया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—मइअन्नाणकिरिया, सुयअन्नाणकिरिया, विभंगअन्नाणकिरिया।

अविणए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—देसच्चाई, निरालंबणया, नाणापेज्जदोसे।

अन्नाणे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—देसण्णाणे, सव्वण्णाणे, भावन्नाणे ॥६९॥

छाया—त्रिविधं मिथ्यात्वं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—अक्रिया, अविनयः, अज्ञानम्।

अक्रिया त्रिविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—प्रयोगक्रिया, समुदानक्रिया, अज्ञानक्रिया।

प्रयोगक्रिया त्रिविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—मनःप्रयोगक्रिया, वाक्प्रयोगक्रिया, कायप्रयोगक्रिया।

समुदानक्रिया त्रिविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—अनन्तरसमुदानक्रिया, परम्परसमुदान-क्रिया, तदुभयसमुदानक्रिया।

अज्ञानक्रिया त्रिविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—मत्यज्ञानक्रिया, श्रुताज्ञानक्रिया, विभंग-ज्ञानक्रिया।

अविनयस्त्रिविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—देशत्यागी, निरालम्बनता, नानाप्रेमद्वेषम्।

अज्ञानं त्रिविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—देशाज्ञानम्, सर्वाज्ञानम्, भावाज्ञानम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तीन प्रकार का मिथ्यात्व प्रतिपादन किया गया है, जैसे—अक्रिया, अविनय और अज्ञान।

अक्रिया तीन प्रकार की है, जैसे—प्रयोग-क्रिया, समुदान-क्रिया और अज्ञान-क्रिया।

प्रयोग-क्रिया के भी तीन रूप हैं, जैसे—मनःप्रयोग क्रिया, वाक्-प्रयोग क्रिया और काय-प्रयोग-क्रिया।

समुदान क्रिया भी तीन प्रकार की है, जैसे—अनन्तर-समुदान-क्रिया, परम्पर-समुदान-क्रिया और तदुभयसमुदान-क्रिया।

अज्ञानक्रिया तीन प्रकार की है, जैसे—मत्यज्ञानक्रिया, श्रुताज्ञानक्रिया और विभंग-अज्ञानक्रिया।

अविनय तीन प्रकार का है, जैसे—देशत्यागी, निरालम्बनता और नाना-प्रेम-द्वेष।

अज्ञान तीन प्रकार का है, जैसे—देश-अज्ञान, सर्व-अज्ञान और भाव-अज्ञान।

विवेचनिका—अर्थ के दुरुपयोग में प्रवृत्ति और नरक में गमन का मुख्य कारण है मानव-मस्तिष्क पर छाया हुआ मिथ्यात्व, अतः प्रस्तुत सूत्र में मिथ्यात्व का वर्णन किया गया है।

१. अक्रियामिथ्यात्व

सत्य को आवृत करने वाले विरुद्ध ज्ञान को अर्थात् तात्त्विक ज्ञान के प्रति अश्रद्धान को मिथ्यात्व कहा जाता है, दूसरे शब्दों में सम्यग् ज्ञान को विरोधी ज्ञान के मिथ्यात्व कहा जा सकता है। जब मानव-मस्तिष्क पर मिथ्यात्व का आवरण छा जाता है तो मनुष्य अकृत्य को कृत्य समझने लगता है, वह अज्ञान के गर्त में जा पड़ता है और अविनयी हो जाता है। जिस दशा में कर्म प्रकृतियों के उदय से कर्मों से मुक्त होने के लिए कोई क्रिया नहीं की जा सकती और शेष सभी क्रियाएं की जाती हैं उस दशा को अक्रियामिथ्यात्व कहा जाता है। इसके मूल भेद तीन हैं जैसे कि प्रयोगक्रिया, समुदान क्रिया और अज्ञान क्रिया।

(क) प्रयोग क्रिया—स्थूल रूप से एव प्रत्यक्ष रूप से मन, वचन और शरीर को प्रमत्त योग के कारण हिंसा आदि पापों में प्रवृत्ति करना और इसी प्रकार अन्य को कुकृत्यों में प्रवृत्ति कराना ही प्रयोग क्रिया है।

(ख) समुदान क्रिया—जिस क्रिया के उत्कृष्ट रूप से जीव स्थितिबन्ध और अनुभाग-बन्ध बांधता है अर्थात् प्रयोग-गृहीत कर्मों को प्रकृति-स्थिति आदि के अनुरूप व्यवस्थित करने वाली क्रिया को समुदान क्रिया कहा जाता है। यही क्रिया जीव के अनन्त जन्म-मरणों की परम्परा को संवृद्ध करती है। समुदान क्रिया के प्रमुख तीन भेद हैं—अनन्तर-समुदान-क्रिया, परम्पर-समुदान-क्रिया और तदुभय-समुदान क्रिया।

अनन्तर-समुदान-क्रिया—बिना किसी व्यवधान के निरंतर तत्सदृश अशुभ एवं दुष्ट क्रिया में प्रवृत्त होना अनन्तर समुदान क्रिया कहलाती है।

परम्परसमुदान-क्रिया—काल का व्यवधान पाकर पुनः उसी दुष्ट क्रिया में प्रवृत्त होना परम्पर-समुदान क्रिया है।

तदुभयसमुदान-क्रिया—कभी व्यवधान देकर और कभी बिना व्यवधान के अशुभ कार्यों में प्रवृत्ति ही तदुभय समुदान क्रिया कहलाती है। अनादि-अनन्त तथा अनादिसान्त मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तर समुदान क्रिया करते हैं और सादिसान्त मिथ्यादृष्टि परम्पर एवं तदुभय समुदान क्रिया किया करते हैं।

(ग) अज्ञान-क्रिया—अज्ञान क्रिया उसे कहते हैं—जब जीव स्वयं कुमार्ग पर चलता हुआ दूसरों को भी उस पर चलने की प्रेरणा देता है, अथवा धर्म-कार्यों तथा मोक्ष-साधनों से विमुख होकर जिस क्रिया से अनन्त संसार की वृद्धि हो उस क्रिया को अज्ञानक्रिया कहा जाता है।

अज्ञान के तीन भेद हैं, जैसे कि मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान एवं विभंगज्ञान। इनमें से जिस अज्ञान से जीव क्रिया करता है, वह अज्ञान-क्रिया है। जो अवधिज्ञान सम्यग्दृष्टि को उत्पन्न होता है, उससे विपरीत मिथ्यादृष्टि को तत्सदृश-तद्विपरीत जो अज्ञान होता है उसे विभंगज्ञान कहते हैं।

२. अविनय मिथ्यात्व—

गुणीजनों का जिस प्रकार से भी सम्मान हो सकता है उसे विनय कहते हैं, किन्तु जान बूझकर उनकी आशातना करना, विनय, भक्ति, सेवा आदि न करना, उनसे विपरीत एवं विरोधी होकर रहना अविनय है। जिसके मन में इष्टदेव के प्रति श्रद्धा भक्ति नहीं है, इतना ही नहीं जितना उससे हो सके अवहेलना करने में पीछे नहीं रहता उसे अविनीत कहते हैं। विनयाभाव से इन्सान मिथ्यादृष्टि होकर तीन तरह की क्रिया करता है, जैसे कि—

देसच्चाई—विनय-भक्ति करने के भय से जन्मभूमि या देश का ही त्याग कर देना, जिस क्षेत्र में सद्गुरु या धार्मिक लोग रहते हैं उसे छोड़ देना, कारण कि यदि मैं किसी के समीप रहा तो उसकी आज्ञा का पालन करना होगा, इस भय से पृथक् रहने के भाव रखना देशत्यागी अविनय है।

निरालंबनता—किसी गुणी जन के आश्रय की इच्छा न रखते हुए उचित विनय का नाश करना, गुणी जन के अंकुश में न रहना, स्वच्छन्द होकर रहना निरालम्बनता है।

नाणापेज्जदोसे—आराध्य गुरुदेव से द्वेष, जो आराधने योग्य नहीं है उसके साथ प्रेम, अथवा गुरु-भक्तों पर द्वेष, इतर जनों से प्रेम, अथवा विषय और कषाय के उत्तेजक ग्रन्थों से या पदार्थों से प्रेम और श्रुत एवं चारित्र धर्म के प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों से द्वेष अथवा सन्मार्ग में चलने वाले पवित्रात्माओं से घृणा और कुमार्ग में चलने वाले व्यक्तियों पर प्रेम इस तरह की विपरीत प्रक्रिया को नाना-प्रेम-द्वेष अविनय कहते हैं।

३. अज्ञान-मिथ्यात्व

ज्ञान उसे कहते हैं, जिसके द्वारा द्रव्य, गुण और पर्याय का पूर्णतया बोध हो सके, जो बोध कराने में समर्थ न हो, उसे अज्ञान कहते हैं। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय इन से होने वाला ज्ञान भी अज्ञान है। जिससे साधक की अवनति हो वह विद्या या ज्ञान भी अज्ञान रूप है। आत्मलक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो ज्ञान सहायक है उसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ अज्ञान है अथवा जिस ज्ञान से छोड़ने योग्य को ग्रहण करता है और ग्रहण करने योग्य को छोड़ता है उसे अज्ञान ही कहते हैं। वीतराग अवस्था में जो केवलज्ञान होता है उसमें मात्र ज्ञेय ही रह जाता है हेय और उपादेय की बुद्धि समाप्त होकर केवल उदासीनता ही शेष रह जाती है। छद्मस्थावस्था में यथातथ्य रूप में हेय और उपादेय को समझना ज्ञान है और विपरीत समझना अज्ञान है, बिल्कुल न जानना या विपरीत जानना अज्ञान है।

देसण्णाणे—जिस जीव को शरीर से सम्बन्धित आहार, मैथुन आदि क्रिया करना, किसी से भयभीत होना, स्वसंतति की रक्षा करना, सम या हीन प्राणी को दबाना, भगाना, चलना-फिरना, उठना, बैठना, सोना इत्यादि व्यावहारिक ज्ञान ही है, इस प्रकार का ज्ञान जीव को भले ही किसी भी गति में तथा मिश्रगुण स्थान में हो वह देशाज्ञान होता है।

सव्वण्णाणे—सूक्ष्मनिगोद में चेतना का विकास अतिस्वल्प होता है। चेतना का पूर्ण विकास तो हो जाता है, किन्तु पूर्णतया ह्रास नहीं होता, यदि चेतना का सर्वथा ह्रास हो जाए तो जीव और अजीव में कोई अन्तर नहीं रहेगा, अतः ऐसा होता नहीं है। स्वल्प मात्रा में चेतना का विकास रहता ही है। इस दृष्टि से वह ज्ञान सर्वप्रकार से नहीं जानता इसे सर्वाज्ञान कहते हैं अथवा जो ज्ञान व्यावहारिक धर्म को भी नहीं जानता वह देशाज्ञान। जो आत्मा संसाराभिमुख हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, उनमें सर्वाज्ञान पाया जाता है।

भावाज्ञान—जो आत्मा अनेक भाषाओं का वेत्ता होते हुए भी और अनेक शास्त्र-ग्रन्थों का अध्येता होते हुए भी मिथ्यादृष्टि है उनमें जो ज्ञान पाया जाता है, उसे भावाज्ञान कहते हैं। सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान होने पर भी वस्तुतः अज्ञान ही है, क्योंकि वह अज्ञान नैश्चयिक एव आत्म-धर्म को ग्रहण नहीं कर सकता है। सम्यग्दर्शन होने पर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

भावाज्ञान क्रियावादी मिथ्या-दृष्टियों में पाया जाता है। सम्यग्दृष्टि क्रियावादियों में भावज्ञान होता है। मिथ्यात्व अवस्था में जीव किस-किस प्रकार की प्रवृत्ति करता है उन प्रवृत्तियों का सूत्रकार ने इस सूत्र में विशद रूप में दिग्दर्शन कराया है।

धर्म और उपक्रम

मूल—तिविहे धम्मे पण्णत्ते, तं जहा—सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे।

तिविहे उवक्कमे पण्णत्ते, तं जहा—धम्मिए उवक्कमे, अधम्मिए उवक्कमे, धम्मियाधम्मिए उवक्कमे।

अहवा तिविहे उवक्कमे पण्णत्ते, तं जहा—आओवक्कमे, परोवक्कमे, तदुभयोवक्कमे। एवं वेयावच्चे, अणुग्गहे, अणुसट्ठी, उवालंभं, एवमेक्केके तिन्नि२ आलावगा, जहेव उवक्कमे ॥७०॥

छाया—त्रिविधो धर्मः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—श्रुतधर्मः, चारित्रधर्मः, अस्तिकायधर्मः। त्रिविध उपक्रमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—धार्मिक-उपक्रमः, अधार्मिक-उपक्रमः, धार्मिकाधार्मिक-उपक्रमः।

अथवा—त्रिविध उपक्रमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—आत्म-उपक्रमः, पर-उपक्रमः, तदुभय-उपक्रमः। एवं वैयावृत्त्यम्, अनुग्रहः, अनुशिष्टिः, उपालम्भः, एवमेकैकस्मिन्, त्रयस्त्रय आलापकाः यथैवोपक्रमः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तीन प्रकार से धर्म प्रतिपादन किया गया है, जैसे—श्रुतधर्म, चारित्रधर्म और अस्तिकायधर्म।

तीन प्रकार से उपक्रम कहा गया है, जैसे—आत्मोपक्रम, परोपक्रम और तदुभयोपक्रम।

इसी प्रकार वैयावृत्य, अनुग्रह, अनुशिष्टि, उपालम्भ इन सबके एक-एक के तीन-तीन आलापक उसी प्रकार समझ लेने चाहिएं, जैसे उपक्रम के बताए गए हैं।

विवेचनिका—धर्म में प्रवृत्ति के अभाव का मूल कारण मिथ्यात्व है। उसकी निवृत्ति हो जाने पर धर्म में प्रवृत्ति स्वतः ही होने लगती है, अतः मिथ्यात्व के अनन्तर धर्म का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—धर्म दो तरह का होता है, जैसे कि द्रव्यधर्म और भावधर्म। द्रव्य के गुण और स्वभाव को द्रव्य धर्म कहते हैं। भाव धर्म के दो भेद माने गए हैं—श्रुतधर्म और चारित्र धर्म। उस आध्यात्मिक साहित्य को भी श्रुत कहा जाता है जिसका स्वाध्याय करने से साधक धर्मध्यान के शिखर पर पहुंच सकता है। आगमों का यथाकाल

विधिवत् अध्ययन करना ही श्रुतधर्म है।

सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात इन पांच चारित्रों में से किसी का भी पालन करना चारित्र-धर्म है। दूसरे शब्दों में पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, दस प्रकार का श्रमण धर्म, बारह प्रकार का तप, बत्तीस प्रकार का योग-संग्रह इन सब की आराधना पालना करना चारित्र धर्म है।

धर्मास्तिकाय को भी द्रव्यधर्म कहा जाता है। छः द्रव्यों में द्रव्य भी एक धर्म है। यहां अस्ति शब्द क्रियावाचक न होकर 'प्रदेश' का बोधक है और काय शब्द 'प्रदेश राशि' का ज्ञापक है। इस प्रकार 'धर्मास्तिकाय' इस नाम से यह सूचित किया गया है कि धर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशात्मक है एवं लोकव्यापी है। वह जीव और पुद्‌गल को गति में सहायता देता है, अतः धर्मास्तिकाय का प्रमुख लक्षण है गति, परन्तु धर्म स्वयं गति नहीं करता वह तो गतिशील पदार्थों की गति में सहायक होता है।

उपायपूर्वक आरम्भ करने को उपक्रम कहा जाता है। श्रुत और चारित्ररूप धर्म का आरम्भ करना अथवा उसका पालन करने के लिए प्रयत्नशील होना धार्मिक उपक्रम है। श्रुतधर्म एवं चारित्र धर्म से विपरीत आचरण के लिए यत्नशील होना अधार्मिक उपक्रम है, कुछ त्याग और कुछ भोग के साथ जीवन व्यतीत करना धार्मिक-अधार्मिक उपक्रम कहलाता है। धार्मिक उपक्रम के लिए यत्नशील साधक को संयत, अधार्मिक उपक्रम में प्रवृत्त जीव को असंयत और भोग एवं त्याग दोनों के लिए यत्नशील जीव को संयतासंयत कहा जाता है।

उपक्रम के ६ भेद हैं—जैसे कि नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इनका विस्तृत वर्णन अनुयोगद्वार सूत्र में प्राप्त होता है। पुनः प्रत्येक उपक्रम के दो-दो भेद किए गए हैं, जैसे परिकर्म और वस्तुविनाश। नाम और स्थापना का विषय प्रसिद्ध है। जिस द्रव्य को सुसंस्कृत और गुणनिष्पन्न किया जाए उसे द्रव्य परिकर्म कहते हैं, जैसे अनुकूल पदार्थों के नित्यप्रति सेवन करने से सभी जीव रंग-रूप एवं बल-स्फूर्ति आदि से देदीप्यमान हो जाते हैं। इसी प्रकार अनेक औषधियों के सुसंयोग से औषधि की शक्ति बढ़ जाती है, यही द्रव्य का परिकर्म कहलाता है और प्रतिकूल पदार्थों के सेवन करने से या योग करने से रंग, रूप एवं शक्ति क्षीण हो जाती है, जैसे तेजाब के द्वारा सींचने से गुलाब का पौधा सूख जाता है, इसी को वस्तु-विनाश उपक्रम कहा जाता है। इसी प्रकार क्षेत्र, काल और भाव का भी परिकर्म-उपक्रम और विनाश-उपक्रम हुआ करता है।

आत्म-उपक्रम—

व्यावहारिक एवं धार्मिक रीति-नीति से अपनी शक्ति की वृद्धि के लिए जो कुछ आरम्भ किया जाता है, वह उपक्रम उन्नति रूप होने से उपादेय है। जिस से हानि हो, वह उपक्रम वस्तुविनाश रूप है। अनुकूल उपसर्ग आदि के होने पर शीलरक्षा के निमित्त फांसी

आदि द्वारा मृत्यु को प्राप्त हो जाना अथवा अपने लिए अन्य वस्तु का उपक्रम करना भी आत्मोपक्रम है। दूसरों के लिए उत्थान एवं पतन आदि करने का प्रयास करना परोपक्रम और कुछ अपने लिए एवं कुछ अन्य के लिए वृद्धि-हानि आदि का उपक्रम करना तदुभयोपक्रम कहलाता है।[१]

वैयावृत्य-उपक्रम—

जो श्रमण निर्ग्रन्थ उग्रविहारी, जिनकल्पी, प्रतिमाप्रतिपन्न तथा अप्रमत्त संयत हैं, वे आहार-पानी आदि के द्वारा केवल अपनी ही वैयावृत्य-सेवा करते हैं। जो रोगी, स्थविर, नवदीक्षित आदि की सेवा करते हैं वे परवैयावृत्य करने वाले कहलाते हैं। जो सेवा करते भी हैं और करवाते भी हैं उन्हें तदुभय-वैयावृत्य करने वाले कहा जाता है। यह विधान स्थविरकल्पियों का है। जैन परिभाषा में वैयावृत्य शब्द सेवा के लिए रूढ़ है। अन्न-पान आदि द्वारा सेवा करने को वैयावृत्य कहते हैं। (**व्यावृत्तस्य भावः कर्म वा वैयावृत्यं भक्तादिभिरुपष्टम्भः**)।

अनुग्रह-उपक्रम—

ज्ञानादि द्वारा उपकार करने को अनुग्रह कहते हैं। स्वयं स्वाध्याय करने में प्रवृत्त रहना तथा तप, संयम एवं समाधि में संलग्न रहना ही आत्मानुग्रह है। वाचना आदि द्वारा दूसरों पर अनुग्रह करना परानुग्रह है। शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन, प्रवचन, उपदेश एवं शिष्य परम्परा में वृद्धि आदि को स्व-परानुग्रह कहा जाता है।

अनुशिष्टि-उपक्रम—

दोषों से बचने के लिए अपने आप को उद्बोधन देना, जैसे—"हे आत्मन् ! यह कृत्य तेरे करने योग्य नहीं है, इस का परिणाम तेरे लिए हितकर नहीं है।" इस प्रकार के आत्मबोध द्वारा अपने पर अनुशासन करना, आत्म-अनुशिष्टि है। दूसरों को कुकृत्यों से बचाने के लिए शिक्षा देना परानुशिष्टि है। जब अपने तथा दूसरे को समान रूप से शिक्षा दी जाती है तो उसे उभयानुशिष्टि कहा जाता है।

उपालंभ-उपक्रम—

अपने को उपालंभ देना, जैसे कि—"हे आत्मन् ! यदि तू इस दुर्लभ मनुष्य-जन्म को पाकर जिन-धर्म की आराधना सम्यक् प्रकार से नहीं करता तो तू अपना वैरी आप ही है।" इस प्रकार का आत्मबोध "स्वोपालम्भ" है तथा पर को उपालम्भ देना, जैसे कि "हे शिष्य! तू उत्तम कुल में जन्मा हुआ है और उत्तम गुरु से दीक्षित हुआ है तथा उत्तम ज्ञान गुण आदि से युक्त है फिर तुझे मर्यादा का उल्लंघन करना उचित नहीं था।" इस प्रकार पर को

---

१ तत्रात्मनोऽनुकूलोपसर्गादौ शीलरक्षणनिमित्तमुपक्रमो वैहानसादिना विनाशः परिकर्म वा आत्मार्थं वा उपक्रमोऽन्यस्य वस्तुनः आत्मोपक्रम इति, तथा परस्य परार्थं वोपक्रमः परोपक्रम इति तदुभयस्य- आत्मपर-लक्षणस्य तदुभयार्थं वोपक्रमस्तदुभयोपक्रम इति वृत्तिकारः।

उपालम्भ देना ''परोपालम्भ'' कहलाता है। इसी प्रकार स्व-पर दोनों को लक्ष्य में रखकर उपालम्भ देना उभयोपालम्भ माना जाता है।

इन के भी लौकिक और लोकोत्तरिक भेद से दो-दो भेद हो जाते हैं, जैसे कोई व्यक्ति व्यवहार पक्ष में सर्व प्रकार से अपनी ही वृद्धि करता है और कोई दूसरे की तथा कोई दोनों की। इसी प्रकार वैयावृत्य सेवा के विषय में भी जानना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक विषय अनेकान्त सिद्धान्त पर ही अवलम्बित है, एकान्त सिद्धान्त पर नहीं।

कथा और विनिश्चय

मूल—तिविहा कहा पण्णत्ता, तं जहा—अत्थकहा, धम्मकहा, काम-कहा।

तिविहे विणिच्छए पण्णत्ते, तं जहा—अत्थविणिच्छए, धम्मविणिच्छए, कामविणिच्छए ॥७१॥

छाया—त्रिविधा कथा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—अर्थकथाः, धर्मकथाः, कामकथाः।

त्रिविधो विनिश्चयः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अर्थविनिश्चयः, धर्मविनिश्चयः, काम-विनिश्चयः।

शब्दार्थ—तिविहा कहा पण्णत्ता, तं जहा—तीन प्रकार की कथा प्रतिपादन की गई है, जैसे—**अत्थकहा**—धन की कथा, **धम्मकहा**—दान, शील, तप और भावरूप धर्मकथा और, **कामकहा**—स्त्रीविलास आदि से सम्बन्धित काम-कथा।

तिविहे विणिच्छए पण्णत्ते, तं जहा—निश्चय तीन प्रकार का है, जैसे—**अत्थविणिच्छए**—धन के परिणाम का फल, **धम्मविणिच्छए**—धर्म के परिणाम का फल, और **कामविणिच्छए**—विषय के परिणाम का फल।

मूलार्थ—अर्थ, धर्म और काम के भेद से कथा तीन प्रकार की प्रतिपादन की गई है।

अर्थ, धर्म और काम का विनिश्चय—परिज्ञान भी तीन प्रकार का प्रतिपादन किया गया है।

विवेचनिका—पूर्वसूत्र में धर्म का विवेचन करते हुए सर्वप्रथम श्रुतधर्म प्रदर्शित किया गया है। इस सूत्र में उसी श्रुतधर्म के भेदों का परिचय देते हुए सूत्रकार ने निर्देश किया है कि विश्व में जितनी भी कथाएं प्रचलित हैं उन सबका समावेश श्रुत-साहित्य में हो जाता है। उन कथा रूपों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—अर्थकथा, धर्मकथा और कामकथा।

अर्थकथा—धन के उत्पादन और उपार्जन के विषय में जो कुछ भी कहा या सुना

जाता है, उसे अर्थ-कथा कहते हैं। जिनका जीवन धन प्रधान बना हुआ है उनकी प्रत्येक चेष्टा धन के अभिमुख ही होती है। धन-उपार्जन करने की पद्धतियां सैकड़ों ही नहीं, बल्कि हजारों हैं, जैसे कि कहा भी है—

"सामादि-धातुवादादि-कृष्यादि-प्रतिपादिका।
अर्थोपादानपरमा कथा अर्थस्य प्रकीर्तिता॥
अर्थाख्यः पुरुषार्थोऽयं प्रधानः प्रतिभासते।
तृणादपि लघुं लोके धिगर्थरहितं नरम्॥"

अर्थात् साम आदि नीतियों के द्वारा, धातुवाद आदि के द्वारा, खेती-बाड़ी आदि के द्वारा जो धन उपार्जन किया जाता है इसी का नाम अर्थ-कथा है। अर्थवृत्ति-प्रधान पुरुषों का कहना है कि अर्थ पुरुषार्थ ही सर्वश्रेष्ठ है, धनहीन मनुष्य तृण से भी हीन हो जाता है, अतः उसका जीवन लोक व्यवहार में नगण्य होने से वृथा है। अर्थकथा कहने और सुनने से परिग्रह की भावना बढ़ती है।

धर्म-कथा—जिसके कहने और सुनने से धर्म की भावना बढ़े वह धर्मकथा कहलाती है। धर्म के अंग भी अगणित हैं, प्रत्येक अंग के विषय में धर्म कथा कही जा सकती है, धर्मशास्त्र धर्मकथाओं के दिव्य भण्डार हैं।

धर्म के दो रूप हैं—व्यावहारिक और नैश्चयिक। जिससे पुण्योपार्जन और भौतिक सुख की प्राप्ति हो उसे व्यावहारिक धर्म कहा जाता है और जिस से परमशान्ति, परमानन्द, सदाकाल भावी एक रस सुख एवं आत्मा और मन की स्वच्छता एवं निर्मलता प्राप्त हो उसे नैश्चयिक धर्म कहा जाता है, कहा भी है—

"दयादानक्षमाद्येषु धर्माङ्गेषु प्रतिष्ठिता।
धर्मोपादेयता गर्भा बुधैर्धर्मकथोच्यते॥
धर्माख्यः पुरुषार्थोऽयं प्रधान इति गीयते।
पापासक्तं पशोस्तुल्यं धिग्धर्मरहितं नरम्॥"

अर्थात् दया, दान, क्षमा, सन्तोष, शील, तप इत्यादि धर्मरूप की व्याख्या करने वाली कथाओं को धर्म-कथा कहा जाता है। सब पुरुषार्थों में धर्म पुरुषार्थ श्रेष्ठ है। पाप में आसक्त व्यक्ति तो पशु तुल्य है।

कामकथा—जिस कथा के श्रवण करने से विषय-वासना उत्पन्न हो, उद्दीप्त एवं उत्तेजित हो उसे काम-कथा कहते हैं। इसका विशेष वर्णन वात्स्यायन आदि के काम-शास्त्रों में किया गया है। फिर भी विषय स्पष्ट करने के लिए दो श्लोक दिए जाते हैं, जैसे कि—

"कामोपादानगर्भा वयो-दाक्षिण्य - सूचिका।
अनुरागेङ्गिताद्युत्था कथा कामस्य वर्णिता॥

स्मितं न लक्षेण, वचो न कोटिभिर्न कोटिलक्षैः सविलासमीक्षितम्।
अवाप्यतेऽन्यैर्हृदयोपगूहनं न कोटिकोट्यापि तदस्तिकामिनाम्॥

अर्थात् जिस कथा में कामोद्दीपन के साधन विद्यमान हों, यौवन चातुर्य की व्याख्या हो, प्रेम एवं प्रेम-चेष्टाओं का वर्णन हो, उसे काम-कथा कहा जाता है। सचाई यह है कि लाखों प्रयत्नों से कामुकों की मुस्कान का, करोड़ों यत्नों से वाणी का, अरबों यत्नों से भ्रूविलासों का और खरबों यत्नों से दिल की गहराइयों का अन्त नहीं पाया जा सकता है।

इन तीन कथाओं के अन्तिम परिणाम पर जो विचार किया जाता है उसे विनिश्चय कहते हैं। कारण कि जब तक अंतिम परिणाम की अनुभूति न हो जाए तब तक सम्यक् विनिश्चय नहीं हो सकता है। क्योंकि विशेषरूप से निश्चय करने को ही विनिश्चय कहते हैं।

अर्थ-विनिश्चय—

जब कोई सुविचारक व्यक्ति अर्थ के विषय में विनिश्चय करता है, तब उसकी अन्तरात्मा यह कह उठती है :—

"अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानाञ्च रक्षणे।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखकारणम्॥"

अर्थात् धन के उपार्जन करने में दुःख, उपार्जित किए हुए धन की रक्षा करने में दुःख, अग्नि-चौर आदि के द्वारा नाश होने पर दुःख, खर्च होने पर दुःख, धिक्कार है अर्थ को जो कि प्रत्येक अवस्था में दुःख का कारण है, इसी को अर्थ-विनिश्चय कहते हैं।

धर्म-विनिश्चय—

जब मनुष्य धर्म का विनिश्चय करता है तब वह इस शुभ परिणाम पर पहुंच जाता है कि चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु, कामकुम्भ इन सबसे बढकर धर्म है, क्योंकि धर्म सुगति, शुभभाव, स्वर्ग और मोक्ष फलदायी है, कहा भी है—

"धनदो धनार्थिनां धर्मः कामदः सर्वकामिनाम्।
धर्म एवापवर्गस्य पारम्पर्येण साधकः॥"

अर्थात् धर्म धनार्थियों को धन देने वाला है, कामार्थियों को काम देने वाला है, इतना ही नहीं परम्परा से स्वर्ग और मोक्ष का साधन भी धर्म ही है, इसी दृढ़ निश्चय का नाम धर्म-विनिश्चय है।

कामविनिश्चय—

भौतिक एवं वैषयिक सुख को काम कहते हैं। उस सुख का अन्तिम परिणाम क्या है, इस पर विचार करना काम विनिश्चय है। जिन्होंने प्रिय एवं अभीष्ट तथा सुखकारी प्रतीत होने वाले काम-भोगों का परित्याग किया है, वह काम-विनिश्चय होने पर ही किया है। इसके विषय में उन्होंने विचार किया है, कि—

"शल्यं कामाः विषं कामाः कामाः आशीविषोपमाः।
कामानभिलषन्तोऽपि निष्कामा यान्ति दुर्गतिम्॥"

अर्थात् कामभोग शल्य के समान हैं, हलाहल तथा कालकूट या तालपुट विष के तुल्य हैं, या आशीविष सर्प के समान हैं। यदि यह कहा जाए कि काम से ही अनिष्ट होता है तो अनुचित न होगा, क्योंकि विष तो खाने से, लगने से या छूने से अनिष्ट फल देता है, किन्तु काम-भोग के स्मरण एवं इच्छा करने मात्र से ही जीव दुर्गति का अतिथि बन जाता है, इसी का नाम काम-विनिश्चय है।

निष्कर्ष यह है कि तीन कथाओं में धर्मकथा ही श्रेष्ठ है। जिस के श्रवण एवं कथन से अर्थ और काम तथा मोक्षपद की प्राप्ति हो सकती है, अतः धर्मकथा और धर्म-विनिश्चय ये दोनों सबके लिए हितकर एवं कल्याणकारी हैं।

धर्म श्रवण से कल्याण

मूल—तहारूवं णं भंते! समणं वा माहणं वा पज्जुवासमाणस्स किं फला पज्जुवासणया? सवणफला।

से णं भंते! सवणे किं फले? णाणफले।

से णं भंते! णाणे किं फले? विण्णाणफले। एवमेएणं अभिलावेणं इमा गाहा अणुगंतव्वा—

सवणे णाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिय निव्वाणे॥

जाव से णं भंते! अकिरिया किं फला? निव्वाण फला। से णं भंते! निव्वाणे किं फले? सिद्धिगइगमणपज्जवसाणफले पण्णत्ते, समणाउसो ॥७२॥

छाया—तथारूपं खलु भदन्त ! श्रमणं वा, माहनं वा पर्युपासीनस्य किं फला पर्युपासना श्रवणफला।

तत् खलु भदन्त ! श्रवणं किं फलम्? ज्ञानफलम्।

तत् खलु भदन्त ! ज्ञानं किं फलम्? विज्ञानफलम्। एवमेतेनाभिलापेनेयं गाथा अनुगन्तव्या—

श्रवणं ज्ञानं च विज्ञानं, प्रत्याख्यानञ्च संयमः।
अनाश्रवस्तपश्चैव, व्यवदानमक्रिया निर्वाणम्॥

यावत् तत्खलु भदन्त! अक्रिया किं फला? निर्वाणफला।

तत्खलु भदन्त! निर्वाणं किं फलम्? सिद्धिगतिगमनपर्यवसानं फलं प्रज्ञप्तं श्रमणायुष्मन्!

शब्दार्थ—भंते—हे भगवन्!, **तहारूवं**—तथारूप गुणों से युक्त, **समणं वा**—श्रमण अथवा, **माहणं वा**—देशवृत्ति धारी श्रावक की, **पज्जुवासमाणस्स**—पर्युपासना करने का, **किं फला?**—क्या फल प्रतिपादन किया गया है? (हे शिष्य), **पज्जुवासणया**—पर्युपासना करने से, **सवणफला**—श्रुतज्ञान का श्रवण रूप फल होता है।

से णं भंते!—हे भगवन्!,**'णं'**—वाक्यालंकार अर्थ में पुनः-पुनः आया है, **सवणे किं फले**—श्रुतज्ञान के श्रवण का क्या फल है?, **णाणफले**—ज्ञान की प्राप्ति।

से णं भंते—हे भगवन्!, **णाणे किं फले**—ज्ञान से क्या फल मिलता है?, **विण्णाण-फले**—विज्ञान फल प्राप्त होता है, **एवमेएणं अभिलावेणं**—इसी तरह इस अभिलाप से, **इमा गाहा**—निष्कर्ष रूप में यह गाथा, **अणुगंतव्वा**—कहनी चाहिए।

सवणे य—श्रवण और, **णाणे**—ज्ञान, **य**—पुनः, **विन्नाणे**—विज्ञान और, **पच्चक्खाणे**—प्रत्याख्यान, **य**—और, **संजमे**—संयम, **अणण्हए**—आश्रव से रहित होना, **च**—पुनः (एव) अवधारणार्थ में है, **तवे**—तप, **वोदाणे**—पूर्वकृतकर्म वन का काटना, **अकिरिय**—योगों का निरोध पुनः, **निव्वाणे**—निर्वाण-पद की प्राप्ति। **जाव—यावत्, से णं भंते!**—हे भगवन्!, **अकिरिय किं फले**—अक्रिय होने का क्या **फल है?, निव्वाणफले?**—निर्वाण फल है।

से णं भंते!—हे भगवन्!, **निव्वाणे किं फले?**—निर्वाण का क्या फल है?, **समणाउसो!**—हे आयुष्मन् श्रमण!, **सिद्धिगइगमणपज्जवसाणफले पण्णत्ते**—सिद्ध गति में गमन रूप अन्तिम फल प्रतिपादन किया गया है।

मूलार्थ—हे भगवन्! धर्मोपदेश सुनने से किस फल की प्राप्ति होती है? ज्ञान की प्राप्ति।

हे भगवन्! ज्ञान से किस फल की प्राप्ति होती है? हे शिष्य! ज्ञान से पदार्थों के हेय, ज्ञेय और उपादेय रूप विज्ञान फल की प्राप्ति होती है।

हे भगवन्! विज्ञान से क्या लाभ होता है? हे शिष्य! विज्ञान से प्रत्याख्यान रूप फल प्राप्त होता है।

हे भगवन्! प्रत्याख्यान से क्या लाभ होता है? हे शिष्य! प्रत्याख्यान से संयम प्राप्त होता है।

हे भगवन्! संयम से क्या लाभ होता है? हे शिष्य! संयम से आश्रव का निरोध होता है।

हे भगवन्! आश्रव-निरोध से क्या फल प्राप्त होता है? हे शिष्य! आश्रवों का निरोध करने से तप रूप फल प्राप्त होता है।

हे भगवन्! तपश्चर्या से क्या फल मिलता है? हे शिष्य! तप करने से पूर्वकृत कर्म रूप वन भस्म हो जाता है।

हे भगवन्! कर्म रूप वन के दहन करने से क्या फल मिलता है?

हे शिष्य! कर्म-वन को भस्म करने से योगों का निरोध होता है।

हे भगवन्! योग-निरोध से क्या फल होता है? हे शिष्य! योग-निरोध से अक्रिया रूप फल प्राप्त होता है।

हे भगवन्! अक्रिया (कर्म-बंधक सभी क्रियाओं का निरोध) से क्या फल मिलता है? हे शिष्य! अक्रिया से निर्वाण-पद की प्राप्ति होती है। हे भगवन्! निर्वाण से क्या लाभ होता है? हे शिष्य! निर्वाण से जीवात्मा सिद्ध गति गमन रूप अन्तिम फल का लाभ प्राप्त करता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में धर्मकथा, अर्थकथा और काम-कथा की विवेचना एवं इनके विनिश्चय का वर्णन करने के अनन्तर अब सूत्रकार श्रुतज्ञान आदि के फल का वर्णन करते हुए कहते हैं–

मूलगुण एवं उत्तरगुण सम्पन्न श्रमण और माहन ही कल्याण-परम्परा के अधिकारी एवं जनक होते हैं। उनकी सेवा, विनय-भक्ति और सत्संगति करने को पर्युपासना कहा जाता है। श्रमण का अर्थ है–साधु और माहन का अर्थ है–वह श्रावक जिसने ग्यारह पडिमाओं को धारण किया है अथवा मूलगुण एवं उत्तरगुण सम्पन्न साधकों को ही क्रमश: श्रमण एवं माहन कहा जाता है। इनकी उपासना करने से ही धर्म-श्रवण-लाभ होता है। जो स्वयं धर्म-निष्ठ है, महापुरुष है, वही धर्म-उपदेश सुना सकता है और ऐसे महापुरुषों के सत्संग से ही धर्म-मार्ग का परिज्ञान प्राप्त हो सकता है। धर्ममार्ग का परिज्ञान ही तो श्रुतज्ञान है।

श्रुतज्ञान के परिपक्व होने पर विज्ञान की प्राप्ति होती है। जिस ज्ञान से हेय और उपादेय का विशेषज्ञान हो उसे विज्ञान कहते हैं।

त्यागने योग्य को त्यागना ही पचक्खाण अर्थात् प्रत्याख्यान है। पांच आस्रवों से मुक्त होना, पांच इन्द्रियों का निग्रह करना, चार कषायों का जीतना और तीन योगों का निरोध करना यह सत्रह प्रकार का संयम माना जाता है।[१] प्रत्याख्यान से ही जीवन की भूमि पर संयम के पुष्प विकसित होते हैं। आश्रव अर्थात् कर्माशय में कर्मों के संचय का सम्यग् निरोध करना संवर कहलाता है। संवरपूर्वक किया हुआ तप ही वास्तव मे तप है। तप से निर्जरा अर्थात् कर्मक्षय होता है, जिसको दूसरे शब्दों में व्यवदान भी कहते हैं। आश्रवों के

---

१ पञ्चाश्रवाद्विरमणं पञ्चेन्द्रिय निग्रहः कषायजयः।
दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः॥

निरोध करने से ही कर्मवन को दग्ध करने में तथा कर्म-बन्धन काटने में तप सहायक हो सकता है अन्यथा तप भी बन्ध का कारण होता है।

वृत्तिकार ने "वोदाणं" शब्द की व्युत्पत्ति दाप् तथा दैप् धातु से की है जिसका संस्कृत रूप व्यवदान बनता है, जैसे कि—**"व्यवदानं—पूर्वकृतकर्मवनलवनं" 'दाप् लवने' इति वचनात् कर्मकचवरशोधनं वा "दैप् शोधने" इति वचनात्"।**

क्रिया दो प्रकार की होती है—जीव-क्रिया और अजीव क्रिया। इनमें योगों के सर्वथा निरोध होने पर ही आत्मा अजीव क्रिया की अपेक्षा से अक्रिय माना जाता है। चौदहवें गुणस्थान में योगों का निरोध होता है। योगों के निरुद्ध होने से आत्मा ईर्यापथिक क्रिया से भी रहित हो जाता है, अक्रिय होते ही निर्वाण-पद की प्राप्ति होती है।

तहारूवं—इस पद से यह सिद्ध होता है कि जो वेष और शास्त्र दोनों के अनुरूप चारित्र का पालन करने वाले हैं वे ही श्रमण-माहन तथा साधु-श्रावक कहला सकते हैं और उन्हीं की यथोचित उपासना करने से ही उपासक धर्म एव ज्ञान आदि की प्राप्ति कर सकता है और साथ ही इस सूत्र द्वारा यह भी निर्देश किया गया है कि साधना-पथ के पथिक के लिए प्रमुख सम्बल श्रवणभक्ति द्वारा प्राप्त होने वाला श्रुतज्ञान ही है, अतः श्रुतज्ञान के विकास से ही जीवन का विकास हो सकता है, परन्तु दुःख है कि आज का समाज श्रुतज्ञान के प्रति उदासीन होता जाता है। इस उदासीनता के निवारण की आवश्यकता अपरिहार्य है।

॥ तृतीय स्थान का तृतीय उद्देशक पूर्ण ॥
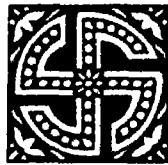
तृतीय-स्थान

चतुर्थ उद्देशक

[तृतीय स्थान के इस चतुर्थ उद्देशक में साधूचित उपाश्रय एवं संस्तरण, कालभेद, समयभेद, पुद्गल-परावर्तनकारण, वचन-भेद, प्रज्ञापना, सम्यक्त्व, उपघात, आराधना, संक्लेश, प्रायश्चित्त, कर्मभूमि, भूकम्प-कारण, किल्विषिका देव, देव-स्थिति, अनुद्घातिम, पाराञ्चिक, अनवस्थाप्य, दीक्षा के अयोग्य व्यक्ति, अवाचनीय, वाचनीय, दुःसंज्ञाप्य, माण्डलिकपर्वत, कल्पस्थिति, नारक-शरीर, प्रत्यनीक, मातृ-पितृ-अंग, महानिर्जरास्थान, महापर्यवसानस्थान, पुद्गल-प्रतिघात, एक चक्षु आदि अभिसमागम, ऋद्धिभेद, गौरव-भेद, करण-भेद, धर्मभेद, व्यावृत्ति-भेद, अन्त-भेद, जिन, केवली, अर्हन्, लेश्याभेद, मरणभेद, पृथ्वी-वलय, त्रिसामयिकविग्रह, प्रकृति-त्रय के क्षय, त्रितारक अभिजित् नक्षत्र, श्री धर्मनाथ और श्री शान्तिनाथ की उत्पत्ति के अन्तर, निर्वाण-पद प्राप्ति, भगवान् महावीर के तीन सौ चतुर्दश पूर्वधर मुनि, चक्रवर्ती तीर्थंकर, ग्रैवेयकविमानों के प्रस्तट, जीवों द्वारा पुद्गलार्जन इत्यादि विषयों का विस्तृत वर्णन किया गया है।]

साधु के लिए उपाश्रय और संस्तरण

मूल—पडिमा-पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पंति तओ उवस्सया पडिलेहित्तए, तं जहा—अहे आगमण-गिहंसि वा, अहे वियड-गिहंसि वा, अहे रुक्खमूल-गिहंसि वा। एवमणुन्नवित्तए, उवाइणित्तए।

पडिमा-पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पंति तओ संथारगा पडिलेहित्तए, तं जहा—पुढवि-सिला, कट्ठ-सिला, अहासंथडमेव। एवं अणुण्णवित्तए, उवाइणित्तए ॥७३॥

छाया—प्रतिमा-प्रतिपन्नस्य अनगारस्य कल्पन्ते त्रय उपाश्रयाः प्रतिलेखयितुम्,

तद्यथा—अथ आगमनगृहे वा, अथ विवृत्तगृहे वा, अथ वृक्षमूलगृहे वा। एवम्‌नु...पयितुम्, उपादातुम्। प्रतिमा-प्रतिपन्नस्य अनगारस्य कल्पन्ते त्रयः संस्तारकाः प्रतिलेखयितुम्, तद्यथा—पृथ्वीशिला, काष्ठशिला, यथासंस्तृतमेव। एवमनुज्ञापयितुम्, उपादातुम्।

शब्दार्थ—पडिमापडिवन्नस्स—प्रतिमाधारी, **अणगारस्स**—साधु के लिए, **तओ**—तीन, **उवस्सया**—उपाश्रय, **पडिलेहित्तए**—प्रतिलेखन के लिए, **कप्पंति**—कल्पते हैं, प्रयोग में लाने उचित हैं, **तं जहा**—जैसे, **अहे आगमणगिहंसि वा**—जो पथिकों के ठहरने के लिए बस्तियां बनाई गई हैं, **अहे वियडगिहंसि वा**—जो चारों ओर से अनावृत हैं, अर्थात् अनाच्छादित हैं, किन्तु एक ओर से छादित हैं अथवा, **अहे रुक्खमूलंसि वा**—जो वृक्ष के मूल में गृह है अथवा वृक्ष के मूल में, **एवं**—इसी तरह उक्त तीन उपाश्रयों की, **अणुन्नवित्तए**—आज्ञा की याचना करना एवं उनका, **उवाइणित्तए**—ग्रहण करना।

पडिमापडिवन्नस्स अणगारस्स—प्रतिमाप्रतिपन्न अनगार को, **तओ संथारगा**—तीन संस्तारक, **पडिलेहित्तए**—प्रतिलेखन करना, **कप्पंति**—कल्पते हैं, **तं जहा**—जैसे, **पुढविसिला**—पृथ्वी शिला, अथवा, **कट्ठसिला**—काष्ठ के पीठ आदि और, **अहासंथडमेव**—तृण आदि का संस्तारक, **एवं**—इसी प्रकार उक्त तीनों का, **अणुण्णवित्तए**—आज्ञा मांगना और फिर, **उवाइणित्तए**—उक्त तीनों को ग्रहण करना कल्पता है।

मूलार्थ—प्रतिमा-प्रतिपन्न अर्थात् अभिग्रहविशेष के धारण करने वाले अनगार को तीन प्रकार के उपाश्रयों की गवेषणा करना कल्पता है, प्रयोग में लाना उचित है, जैसे—जो स्थान पथिकों के लिए निर्मित हैं यथा सभा आदि। ऐसे स्थान जो अनाच्छादित हैं, किन्तु एक ओर से छादित हैं और वृक्षों के नीचे बने घर अथवा जिन वृक्षों का अधोभाग ही गृहरूप हो। ऊपर कथित तीन स्थानों की गवेषणा करके फिर गृहस्थ से आज्ञा लेना और तदनन्तर उसमें प्रवेश करना-रहना उचित होता है।

प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को तीन प्रकार के संस्तारक की गवेषणा करके फिर उनकी गृहस्थों से आज्ञा लेकर पुनः उनको ग्रहण करना कल्पता है, अर्थात् प्रयोग में लाना उचित है, जैसे—पृथ्वी की शिला अर्थात् कोई चट्टान एवं पत्थर की पट्टी आदि काष्ठ के पीठ-फलक आदि और तृण आदि का संस्तारक।

विवेचनिका—तीसरे उद्देशक में विषय का आरम्भ जीव-धर्म से किया गया था और समाप्ति भी जीव-धर्म की विवेचना के ही रूप में हुई थी, किन्तु मध्य में जीव-धर्म और अजीव धर्म का प्रसंगानुसार वर्णन किया गया है। प्रस्तुत चतुर्थ उद्देशक में विषय का आरम्भ जीव-धर्म से किया गया है और समाप्ति अजीव-धर्म के रूप में हुई है।

इस सूत्र में विशिष्ट श्रमण की कल्पविधि का वर्णन किया गया है। जिस मुनि ने मासिकी आदि भिक्षु की पडिमा अंगीकार की हुई है वह किस प्रकार के उपाश्रय का सेवन

कर सकता है? इस के विषय में सूत्रकार कहते हैं, उसे तीन प्रकार के उपाश्रयों की अन्वेषणा करनी चाहिए, जैसे कि—

आगमनगृह—पथिकों के ठहरने के लिये बनी हुई सराय, धर्मशाला, मुसाफिरखाना आदि मिलने पर गृहस्थ की आज्ञा लेकर उसमें ठहर सकता है। किसी-किसी प्रति में "**आगमणगिहंसि**" के स्थान पर "**आरामगिहंसि**" पाठ मिलता है। इसका अर्थ होता है बाग-बगीचे में बने हुए मकान के अन्तर्गत किसी एक भाग की आज्ञा लेकर उसमें प्रतिमा-धारी साधु को ठहरना चाहिए।

विवृतगृह—जो स्थान ऊपर से ढका हुआ हो और चारों ओर से खुला हो ऐसा स्थान मिलने पर ढके हुए भाग में ठहरने के लिए उसके स्वामी आदि से आज्ञा लेकर ही पडिमाधारी मुनि को ठहरना चाहिए।

वृक्षमूलगृह—वृक्ष के मूल भाग में बने हुये कोठों में कुटीर या पर्णशाला में तथा चबूतरे पर ही प्रतिमा प्रतिपन्न मुनि के लिए ठहरना उचित माना गया है, मुनिवृत्ति के अनुकूल किसी भी स्थान पर ठहरने के लिए स्थानाधिपति की आज्ञा को इसलिए आवश्यक माना गया है क्योंकि आज्ञा के बिना किसी की वस्तु का उपयोग करना चोरी है और साधु के लिए चोरी के दोष से बचना अनिवार्य है।

सूत्र में **उवस्सय** पद आया है जिसका अर्थ है—उपाश्रय। उपाश्रय का अर्थ है—"**उपाश्रीयन्ते भज्यन्ते शीतादि त्राणार्थं ये ते उपाश्रयाः**" अर्थात् जिस स्थान का सर्दी-गर्मी आदि से बचने के लिए उपयोग किया जाता है उसे उपाश्रय कहते हैं और "**उपाश्रीयन्ते-भज्यन्ते धर्मध्यानादि अर्थं ये ते उपाश्रयाः**" अर्थात् जिस स्थान या शून्यगृह आदि का धर्म-ध्यान के लिए आश्रय लिया जाता है ऐसे स्थान-विशेष को भी उपाश्रय कहा जाता है।

जैसे विभिन्न सम्प्रदायों के लोग धर्मस्थानों को मन्दिर, गुरुद्वारा, मस्जिद, गिरजाघर—चर्च, विहार, सभा, धर्मशाला, सत्संग भवन, आश्रम आदि कहते हैं, वैसे ही जैनों की सांस्कृतिक भाषा में जहां पर साधु और साध्वी, श्रावक या श्राविकाएं धर्म-ध्यान करते हों उसे उपाश्रय कहा जाता है।

भगवती सूत्र के आठवें शतक के पांचवें उद्देशक में उपाश्रय के साथ एक और विशेषण लगाया गया है—"**समणोवस्सए**" इस का संस्कृत रूप है "**श्रमणोपाश्रये**"। इस प्रसंग में यह कहा गया है कि श्रावक लोग प्रायः श्रमणों के उपाश्रय में ही सामायिक करते हैं अतः प्रतिमाधारी मुनि तीन प्रकार के उपाश्रय का ही अन्वेषण कर सकता है।

अणुन्नवित्तए, उवाइणित्तए—सूत्र के इन पदों से यह सिद्ध होता है कि आज्ञा लेने के पश्चात् ही मकान या वस्तु का ग्रहण किया जाना चाहिए। अतः प्रत्येक मुनि का कर्त्तव्य है कि किसी भी पदार्थ को ग्रहण करने से पहले उसके स्वामी की आज्ञा अवश्य प्राप्त करे।

अचित्त पृथ्वीशिला, भूशय्या, तखतपोश, चौकी, पट्टा वगैरा, बिछा हुआ फूस—शुष्कतृण आदि, बैठने और शयन के लिए मुनि अपने काम में ला सकता है।[1]

काल, समय एवं पुद्गल-परावर्तन विभाग

मूल—तिविहे काले पण्णत्ते, तं जहा—तीए, पडुप्पण्णे, अणागए।

तिविहे समए पण्णत्ते, तं जहा—तीए, पडुप्पन्ने, अणागए। एवं आवलिया, आणापाणू, थोवे, लवे, मुहुत्ते, अहोरत्ते, जाव वाससयसहस्से, पुव्वंगे, पुव्वे, जाव ओसप्पिणी।

तिविहे पोग्गलपरियट्टे पण्णत्ते तं जहा—तीए, पडुप्पन्ने, अणागए ॥७४॥

छाया—त्रिविधः कालः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अतीतः, प्रत्युत्पन्नः, अनागतः।

त्रिविधः समयः प्रज्ञप्तस्तद्यथा— अतीतः, प्रत्युत्पन्नः, अनागतः। एवमावलिका, आनप्राणाः स्तोकः, लवः, मुहूर्त्तः, अहोरात्रं यावद् वर्षशतसहस्रं, पूर्वांगं, पूर्वं यावद् अवसर्पिणी।

त्रिविधः पुद्गलपरिवर्त्तः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अतीतः, प्रत्युत्पन्नः, अनागतः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तीन प्रकार का काल प्रतिपादन किया गया है, जैसे—भूत, वर्तमान और भविष्यत्।

इसी प्रकार समय भी तीन प्रकार का है, जैसे—भूत, वर्त्तमान और भविष्यत्। इसी प्रकार आवलिका, आनप्राण—श्वासोच्छ्वास, स्तोक,क्षण, लव, मुहूर्त्त, अहोरात्र आदि वर्षशतसहस्र, पूर्वांग, पूर्व आदि अवसर्पिणी काल तक के विषय में भी जानना चाहिए।

तीन प्रकार का पुद्गल परावर्तन प्रतिपादित किया गया है, जैसे—अतीत पुद्गलपरावर्तन, वर्त्तमान पुद्गलपरावर्तन और भविष्यत् पुद्गलपरावर्तन।

विवेचनिका—प्रतिमा नियत काल में ही ग्रहण की जाती है, अतः प्रतिमा-सम्पन्न साधुचर्या के अनन्तर इस सूत्र मे काल का वर्णन किया गया है। जो काल व्यतीत हो चुका है उसे अतीत काल, जो वर्त रहा है वह वर्तमान काल और जो काल अभी आया नहीं है—प्रवर्तित नहीं हुआ है उसे अनागत या भविष्यत् काल कहा जाता है। निम्नलिखित श्लोक में तीनों कालों के लक्षण प्रदर्शित किए गए हैं—

---

१ इस विषय का विस्तृत विवेचन दशाश्रुतस्कन्ध की सातवी दशा मे किया गया है।

भवति स नामातीतः प्राप्तो, यो नाम वर्तमानत्वम्।
एष्यश्च नाम स भवति, यः प्राप्स्यति वर्तमानत्वम्॥

सब से छोटा वर्तमान काल समयमात्र का है और सब से बड़ा वर्तमान काल पुद्गल-परावर्तन प्रमाण है। शेष सब भेद मध्यम वर्तमान काल के हैं।

जघन्य युक्तासंख्यात समयो के समुदाय से एक आवलिका बनती है। संख्यात आवलिकाओं का एक आणापाणु होता है। सात आणापाणु का एक स्तोक, सात स्तोकों का एक लव, सतत्तर लवों का एक मुहूर्त, तीस मुहूर्तों का एक अहोरात्र, पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष, दो पक्षों का एक मास, दो मासों की एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक अयन, दो अयनों का एक वर्ष, पांच वर्षों का एक युग, बीस युगों की एक शती, दस शतियों की एक सहस्राब्दी होती है।

इसी प्रकार चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वांग, चौरासी लाख पूर्वांगों का एक पूर्व, चौरासी लाख पूर्वों का एक त्रुटिताग, चौरासी लाख त्रुटितागो का एक त्रुटित, चौरासी लाख त्रुटित का एक अड्डाग, चौरासी लाख अड्डांग का एक अड्ड, इसी प्रकार क्रमशः अववांग, अवव, हुहुअग, हुहु, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थ-निपूराग, अर्थनिपूर, अयुतांग, अयुत, प्रयुताग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत,चूलिकांग, चूलिका, शीर्ष प्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका, ये उत्तर-उत्तर चौरासी लाख गुणप्रमाण के होते हैं। शीर्ष-प्रहेलिका तक गुणा करने से १९४ अंक प्रमाण जो राशि बनती है, गणित की अवधि वहीं तक है। उतनी ही राशि गणित का विषय है। आगमों में जहां कहीं संख्यात वर्षों का या संख्यात वर्ष की आयु का उल्लेख मिलता है वहां उपर्युक्त रीति से काल-मान समझना चाहिए। यदि इससे भी अधिक किसी की आयु हो या कायस्थिति, भवस्थिति, कर्मस्थिति, बधस्थान, अध्यवसायस्थान, सयम-स्थान, इत्यादि का उल्लेख[१] हो वहां उपमा प्रमाण के द्वारा काल-मान का स्पष्टीकरण किया जाता है।

जैसे लोक व्यवहार मे जो वस्तुएं सरलता से गिनी जा सकती हैं उनकी तो गणना की जाती है और तिल-सरसों आदि जो वस्तुएं गिनी नहीं जा सकतीं, उन्हें तोल या माप से आंक लिया जाता है। इसी प्रकार, समय की अवधि जहां इतनी लम्बी हो कि उसे वर्ष आदि की गणना-सीमा में बांधना कठिन हो जाए, वहां उपमा के द्वारा ही काल-मान की गणना जाननी चाहिए। उपमा प्रमाण के दो भेद हैं—पल्योपम और सागरोपम। अनाज वगैरह भरने के गोलाकार स्थान को पल्य कहते हैं। उसकी उपमा से निर्दिष्ट काल को पल्योपम कहा जाता है, इसका विस्तृत वर्णन द्वितीय स्थान में किया जा चुका है।

आज के युग में व्यवहारिक काल की गणना सैकिण्डों से की जाती है। साठ सैकिण्डों

१ जिस प्रकार पिधानपद में अपि उपसर्ग के अकार का लोप हो जाता है उसी प्रकार 'तीए' पद में भी अकार का लोप किया गया है।

का एक मिनट और साठ मिनटों का एक घण्टा माना जाता है। जब तक साठ सैकिण्डों की गणना पूर्ण नहीं हो जाती तब तक मिनट की अपेक्षा से वर्तमान काल चलता रहता है। जब तक साठ मिनट पूर्ण नहीं हो जाते तब तक घंटे की अपेक्षा से वर्तमान काल की सत्ता रहती है। इसी प्रकार अन्य काल-मानों के विषय में भी जानना चाहिए। जो शताब्दी बीत रही है वह वर्तमान है, उसके पूर्ण होते ही वह अतीत में चली जाती है और भविष्य काल के रूप में व्यवहृत होने वाली शताब्दी वर्तमान का रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार पल्योपम, सागरोपम, पुद्गल-परावर्तन आदि काल-मानों की व्यवस्था भी मानी जाती है। तीन काल किसी एक विवक्षित व्यक्ति की अपेक्षा से ही कहे जाते हैं, जैसे कि वर्तमान में जो व्यक्ति है वह अपने पूर्वजों को भूतकाल में रखता है, होने वाले कार्यों को भविष्यत् में रखता है, किन्तु स्वयं वर्तमान काल में होता है। इसी सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर किसी विचारक ने कहा है कि ''जब से कोई क्रिया आरम्भ होती है तब से लेकर उस क्रिया की पूर्णता तक के काल को वर्तमान काल कहा जाता है। यही कारण है कि कोई भी व्यक्ति जन्म दिन से लेकर मृत्यु-क्षणों तक 'मैं जीवित हूं' इसी वर्तमान काल की क्रिया का प्रयोग करता है।

अब प्रश्न है कि पुद्गल परावर्तन किसे कहते हैं ? संसार परिभ्रमण का मूल कारण एक तरह से पुद्गल द्रव्य ही है। संसार दशा में उसके बिना जीवित नहीं रहा जा सकता। परावर्तन का अर्थ होता है परिणमन। कहावत है यह संसार परिवर्तनशील एवं परिणमनशील है। जैनवाङ्मय में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का बडा महत्त्व है। किसी भी विषय की चर्चा तब तक पूर्ण नहीं समझी जाती, जब तक उसमें उस विषय का वर्णन द्रव्य, क्षेत्र आदि की अपेक्षा से न किया गया हो। इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर परमज्ञानियों ने पुद्गल-परावर्तन के चार रूप निर्धारित किए हैं, प्रत्येक पुद्गल परावर्तन में अनन्तकाल लगता है, अधिक क्या कहें, केवल औदारिक पुद्गल-परावर्तन में ही अनन्त काल लग जाता है। काल को नापने का सबसे बड़ा मानदण्ड पुद्गल-परावर्तन है। वह परिमाण में एक प्रकार का होता हुआ भी काल की अपेक्षा से अतीत, वर्तमान और अनागत तीन तरह का है। अनन्तकाल एक पुद्गल-परावर्तन में बीत जाते हैं। इसका विशेष वर्णन भगवती सूत्र (शतक १२, उद्देशक ७) में मिलता है। वहां कहा गया है—

कइविहे णं भंते! पोग्गलपरियट्टे पन्नत्ते ? गोयमा! सत्तविहे पन्नत्ते, तं जहा-ओरालिय-पोग्गलपरियट्टे, वेउव्वियपोग्गलपरियट्टे, एवं तेया-कम्मा-मण-वइ-आणापाणूपोग्गलपरियट्टे।

अर्थात् जीव जब औदारिक, वैक्रिय, तैजस, कार्मण, मन, वचन और श्वासोच्छ्वास के रूप में सभी परमाणु पुद्गलों को ग्रहण कर उन्हें परिणमा कर छोड़ देता है तब उसे पुद्गल-परावर्तन कहा जाता है। यह चार प्रकार का होता है, जैसे कि द्रव्य पुद्गल-परावर्तन, क्षेत्र पुद्गल परावर्तन, काल पुद्गल परावर्तन और भाव पुद्गल परावर्तन। इन में से प्रत्येक

के दो-दो भेद होते हैं—बादर और सूक्ष्म।

द्रव्य पुद्गलपरावर्तन—

जितने समय में एक जीव समस्त परमाणुओं को अपने औदारिक, वैक्रिय, तैजस, भाषा, आनपाण, मन और कार्मण शरीर रूप में परिणमा कर उन्हें भोगकर छोड़ देता है उसे 'बादर द्रव्य-पुद्गल-परावर्तन' कहते हैं। यहां आहारक शरीर का ग्रहण नहीं किया गया। क्योंकि वह शरीर एक जीव को अधिक से अधिक चार बार ही प्राप्त हो सकता है, अतः वह पुद्गल परावर्तन के योग्य नहीं है। जितने समय में समस्त परमाणुओं को औदारिक आदि सात वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा रूप में एक जीव क्रमशः सबको परिणमा कर उन्हें छोड़ देता है, उतने समय को "सूक्ष्म पुद्गल-परावर्तन" कहा जाता है। सारांश यह है कि बादर द्रव्य पुद्गल परावर्तन में तो समस्त परमाणुओं को समुच्चय सात में परिणमाकर छोड़ता है और सूक्ष्म में उन्हें केवल एक रूप में क्रमशः सबको ग्रहण करके छोड़ता है। यहां पर इतना ध्यान अवश्य रखने योग्य है कि समस्त परमाणुओं को एक औदारिक शरीर परिणमाते समय मध्य में कुछ परमाणुओं को वैक्रिय आदि शरीर रूप ग्रहण करके छोड़ दे या समस्त परमाणुओं को वैक्रिय शरीर रूप में परिणमाते समय बीच-बीच में कुछ परमाणुओं को औदारिक आदि शरीर रूप में ग्रहण करके छोड़ दे तो वे गणना में नहीं लिए जाते। इस प्रकार एक 'औदारिक पुद्गल परावर्तन में अनन्त भव धारण करने पड़ते हैं। बीच में दूसरे परमाणुओं की परिणति को न गिनते हुए जब जीव सारे लोक के परमाणुओं को औदारिक रूप में परिणत कर लेता है तब 'औदारिक सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्तन' कहलाता है। इसी क्रम से शेष वैक्रिय आदि पुद्गल-परावर्तनों के विषय में भी जानना चाहिए।

क्षेत्रपुद्गल-परावर्तन—

जब जीव अपनी मृत्यु के द्वारा लोकाकाश के समस्त प्रदेशों को क्रम से या बिना क्रम से जैसे बने वैसे जितने समय में स्पर्श कर लेता है अर्थात् कोई जीव संसार में जन्म-मरण रूप भ्रमण करता-करता आकाश के किसी एक प्रदेश में मरा, वही जीव पुनः आकाश के किसी दूसरे प्रदेश में मरा, फिर तीसरे में, इस प्रकार जब वह लोकाकाश के समस्त प्रदेशों में मर चुकता है तो उतने काल को "बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्तन" कहा जाता है। किन्तु जब वह जीव एक प्रदेश की श्रेणी के ही साथ लगते दूसरे प्रदेश में मरण करता हुआ जब समस्त लोक-आकाश को पूरा कर लेता है तो उसे 'सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्तन' कहा जाता है। यदि जीव एक श्रेणी को छोड़कर दूसरी श्रेणी के किसी प्रदेश में मरण प्राप्त करता है तो वह इसमें नहीं गिना जाता, चाहे वह प्रदेश बिल्कुल नया ही हो, किन्तु बादर में वह गिन लिया जाता है। जब उसी श्रेणी के दूसरे प्रदेश में मृत्यु प्राप्त करे तभी वह गिना जाता है। एक अंगुल परिमाण आकाश में इतने आकाश प्रदेश हैं कि प्रत्येक समय में एक-एक आकाश प्रदेश को स्पर्श करने से असंख्यात काल-चक्र बीत जाते हैं। यद्यपि एक जीव लोकाकाश के

एक प्रदेश में नहीं रह सकता तदपि किसी देश में मरण करने पर उस देश का कोई एक प्रदेश आधार मान लिया जाता है। अतः यदि उस विवक्षित प्रदेश से दूरवर्ती किन्हीं प्रदेशों में मरण करता है तो वे गणना में नहीं लिये जाते, किन्तु अनन्तकाल बीत जाने पर भी जब कभी विवक्षित प्रदेश के अनन्तर जो प्रदेश है उसी में मरण करता है तो वह गणना में लिया जाता है।

काल पुद्गल-परावर्तन—

दस करोड़ा-करोड़ सागरोपम का एक उत्सर्पिणीकाल होता है और इतने ही परिमाण का अवसर्पिणीकाल माना जाता है। दोनों को मिलाकर एक कालचक्र होता है। जितने समय एक जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में क्रमशः या बिना क्रम के मरण कर चुकता है तब उतने काल को 'बादर काल पुद्गल-परावर्तन' कहते हैं। कोई जीव उत्सर्पिणी काल के पहले समय में मरा, उसके बाद एक समय कम बीस करोड़ा-करोड़ सागर के बीत जाने पर, जब पुनः उत्सर्पिणी काल प्रारम्भ हो उस समय यदि वही जीव उसके दूसरे समय में मरे तो वह द्वितीय समय गणना में लिया जाता है, मध्य के शेष समयों में उसकी मृत्यु होने पर भी वे गणना में नहीं लिये जाते। अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के बीतने पर भी जब कभी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में मरण करे तो वह गणना में लिया जाता है। इसी प्रकार चौथे, पांचवें आदि समयों में मरण करके जितने समय में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के समस्त समयों में मरण कर चुकता है, तो उसे ''सूक्ष्म काल पुद्गल परावर्तन'' कहते हैं।

भावपुद्गल-परावर्तन—

तारतम्य भेद को लिये हुए अनुभाग-बन्ध-स्थान असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के तुल्य हैं। उनमें से एक-एक अनुभाग—बन्धस्थान में क्रमशः या बिना ही क्रम से मरण करते-करते जितने समय में जीव समस्त अनुभाग बन्धस्थानों में मरण कर चुकता है उतने लम्बे काल के 'बादरभावपुद्गल परावर्तन' करते ऊपर लिखे हुए सभी भावों को जीव जब क्रमशः स्पर्शकर मरण करता है अर्थात् सब से जघन्य अनुभाग बंध स्थान में वर्तमान कोई जीव मरा, उसके बाद उस स्थान के साथ वाले दूसरे अनुभाग बंध स्थान में मरा। इसी प्रकार जब वह क्रमशः समस्त अनुभाग बंध स्थान में मरण कर लेता है तो 'सूक्ष्मभावपुद्गल परावर्तन' कहलाता है। यहां पर भी कोई जीव सबसे जघन्य अनुभाग बंध स्थान में मरण करके उसके बाद अनन्तकाल बीतने पर जब पहले बन्ध स्थान के अनन्तर वही जीव जब दूसरे अनुभागबन्ध स्थान में मरण करता है तभी वह मरण गणना में लिया जाता है, किन्तु अक्रम से होने वाले अनन्तानंत मरण भी गणना में नहीं लिये जाते हैं। इसी तरह कालान्तर में दूसरे अनुभाग बन्ध स्थान के साथ वाले तीसरे अनुभाग बंध स्थान में मरण करता है तो वह मरण गणना में लिया जाता है।

बादर पुद्गल परावर्तन का केवल इतना ही उपयोग है कि बादर का स्वरूप सूक्ष्म को अच्छी तरह समझने के लिये दिया गया है। शास्त्रों में जहां कहीं पुद्गल-परावर्तन काल का निर्देश किया है वहां सूक्ष्मपुद्गल परावर्तन ही लेना चाहिये। सास्वादन आदि गुणस्थानों का उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम 'अर्धपुद्गल-परावर्तन' बतलाया है वह सूक्ष्म ही समझना चाहिए, बादर तो केवल प्ररूपणा मात्र है। जैसे सूक्ष्म पल्य को समझने और समझाने के लिये व्यवहार पल्योपम का अनुयोगद्वार सूत्र में निर्देश किया गया है। क्योंकि स्थूल उदाहरण से ही सूक्ष्म विषय को समझा जा सकता है। प्रत्येक जीव ने औदारिक के रूप में, वैक्रिय के रूप में एवं तैजस, कार्मण, भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास के रूप में अतीत काल में अनन्त बार पुद्गलपरावर्तन किया है। कितने एक कृष्णपक्षी जीव तथा अभव्य जीव भविष्य में भी अनन्त बार करेंगे, इस से आत्मा का तथा ससार का अस्तित्व अनादि सिद्ध होता है।

वचन भेद

मूल—तिविहे वयणे पण्णत्ते, तं जहा—एगवयणे, दुवयणे, बहुवयणे। अहवा—तिविहे वयणे पण्णत्ते, तं जहा—इत्थिवयणे, पुंवयणे, नपुंसगवयणे। अहवा—तिविहे वयणे पण्णत्ते, तं जहा—तीएवयणे, पडुप्पन्नवयणे, अणागयवयणे ॥७५॥

छाया—त्रिविधं वचनं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—एकवचनं, द्विवचनं, बहुवचनम्। अथवा—त्रिविधं वचनं प्रज्ञप्तं तद्यथा—स्त्रीवचनं, पुंवचनं, नपुंसकवचनम्। त्रिविधं वचनं, प्रज्ञप्तं, तद्यथा—अतीतवचनं, प्रत्युत्पन्नवचनं, अनागतवचनम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—वचन तीन प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे-एकवचन, द्विवचन और बहुवचन। अथवा वचन तीन प्रकार का है, जैसे—स्त्रीवचन, पुरुषवचन और नपुंसकवचन। अथवा वचन तीन प्रकार का है, जैसे—अतीतवचन, वर्तमान वचन और अनागतवचन।

विवेचनिका—प्रतिमाधारी साधु की प्रतिमाएं काल विशेष पर निर्भर होती हैं, अतः काल का वर्णन किया गया था, परन्तु प्रतिमाधारी साधु के लिये वचन का विवेक भी आवश्यक होता है, अतः इस सूत्र में शास्त्रकार वचन-ज्ञान उपस्थित करते हुए कहते हैं—

(क) **वचन के तीन भेद हैं**—एक वचन, द्विवचन और बहुवचन। प्रतिमाधारी साधु को सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से सत्य-व्रत का पालन करना चाहिए, पर वाणी की सत्यता यथार्थ पर निर्भर होती है, यथार्थ का प्रतिपादन वस्तु-तत्त्व की यथार्थता एवं उसके एक-अनेकादिरूपों के ज्ञान पर निर्भर होती है, अतः साधु को एक के लिये एक वचन का, दो की विवक्षा में

द्विवचन का और तीन या उससे अधिक की विवक्षा में बहुवचन का प्रयोग करना चाहिए। श्रेष्ठ-श्रद्धेय एवं आदरणीय महानुभावों के लिये एक होने पर भी बहुवचन का प्रयोग ही उचित माना जाता है, क्योंकि 'आदर-सूचक बहुवचन' व्याकरण शास्त्रियों की एक प्रणाली है। यद्यपि प्राकृत भाषा में द्विवचन का प्रयोग नहीं होता, परन्तु शास्त्रकार की वाणी व्यापक होती है, अतः वे एक भाषा की सीमा में रहकर नहीं सोचते, प्राकृत में नहीं तो संस्कृत में तो द्विवचन का प्रयोग होता ही है, साधक ने यथोचित अवसर पर संस्कृत का भी व्यवहार करना होता है, अतः उसके लिये द्विवचन का ज्ञान भी आवश्यक है।

(ख) **स्त्रीवचन, पुरुषवचन और नपुंसकवचन**—ये तीन भेद भी वचन के प्रसिद्ध हैं। व्याकरण की दृष्टि से स्त्री-वाचक वस्तु के लिये स्त्रीलिंग का, पुरुषत्व-बोधक वस्तु के लिये पुल्लिंग का और नपुंसकत्व विशिष्ट पदार्थ के लिये नपुंसकलिंग का प्रयोग किया जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त प्रतिमाधारी साधु को स्त्री-वचन और नपुंसक-वचन का विवेक पूर्वक श्रवण एवं अनुसरण करना होता है, जहां स्त्री की आवाज हो अथवा नपुंसक की वाणी सुनाई दे वहां उसे रात्रि-निवास सावधानी से करना चाहिए, इस दृष्टि से भी स्त्री-वचन, नपुंसक-वचन और पुरुष-वचन का परिज्ञान साधक के लिये अनिवार्य है।

काल के तीन भेद अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, अतीत अर्थात् भूतकाल, प्रत्युत्पन्न अर्थात् वर्तमान काल और अनागत काल अर्थात् भविष्यत् काल। साधक के लिये इन कालों का ज्ञान और भी आवश्यक हो जाता है। वह भूतकाल का चिन्तन करता हुआ भूतकाल के अरिहन्तों, सिद्धों एवं आचार्यों आदि का चिन्तन करता है, प्राचीनकाल के साधकों के जीवन से प्रेरणाएं लेता है और अपने जीवन में भूतकाल में कृत कर्मों की आलोचना, गर्हा आदि करता हुआ वर्तमान में उनका प्रायश्चित्त करता है।

वह वर्तमान को सुधारता है और अपने निष्कलुष भविष्य के निर्माण के लिये यत्नशील रहता है, अतः काल-विभाग प्रस्तुत करके सूत्रकार ने साधक के साधना-पथ को प्रशस्त किया है।

प्रज्ञापना और उपघात

मूल—तिविहा पन्नवणा पण्णत्ता, तं जहा—णाणपन्नवणा, दंसण-पन्नवणा, चरित्तपन्नवणा।

तिविहे सम्मे पण्णत्ते, तं जहा—नाणसम्मे, दंसणसम्मे, चरित्तसम्मे।

तिविहे उवघाए पण्णत्ते, तं जहा—उग्गमोवघाए, उप्पायणोवघाए, एसणोवघाए। एवं विसोही ॥७६॥

छाया—त्रिविधा प्रज्ञापना प्रज्ञप्ता, तद्यथा—ज्ञानप्रज्ञापना, दर्शनप्रज्ञापना, चारित्र-प्रज्ञापना।

त्रिविधं सम्यक् प्रज्ञप्तं तद्यथा—ज्ञानसम्यक्, दर्शनसम्यक्, चारित्रसम्यक्।

त्रिविध उपघात: प्रज्ञप्तस्तद्यथा—उद्गमोपघात:, उत्पादनोपघात:, एषणोपघात:। एवं विशुद्धि:।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—प्रज्ञापना तीन प्रकार की है, जैसे—ज्ञान-प्रज्ञापना, दर्शन-प्रज्ञापना और चारित्र-प्रज्ञापना।

सम्यक् तीन प्रकार का है, जैसे—ज्ञान-सम्यक्, दर्शन-सम्यक् और चारित्र-सम्यक्।

उपघात भी तीन प्रकार का है, जैसे—उद्गमोपघात, उत्पादनोपघात और एषणोपघात। इसी प्रकार विशुद्धि भी तीन प्रकार की है।

विवेचनिका—समस्त शास्त्र वचनरूप हैं और समस्त कथनीय वचनों द्वारा ही व्यक्त होता है, अत: वचन द्वारा होने वाली प्रज्ञापना अर्थात् विवेचना का निरूपण प्रस्तुत किया जा रहा है। किसी विषय को भेद-प्रभेद-अनुभेदों के द्वारा विवेचन करना या कहना ही प्रज्ञापना है। आत्म-निष्ठ साधक जब भी कुछ कहते हैं तब ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के विषय में ही कहा करते हैं, अत: ज्ञान-प्रज्ञापना, दर्शन-प्रज्ञापना और चारित्र-प्रज्ञापना के रूप में प्रज्ञापना के तीन रूप कहे गए हैं।

ज्ञान-प्रज्ञापना—मति आदि ज्ञान के पांच भेदों में से किसी एक भेद का विवेचन करना ही ज्ञान-प्रज्ञापना है। यही सब प्रज्ञापनाओं का मूल है। ज्ञान के बिना दर्शन और चारित्र की प्रज्ञापना नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान से ही दर्शन और चारित्र पर प्रकाश डाला जाता है, अत: प्रस्तुत सूत्र में सर्व प्रथम ज्ञान-प्रज्ञापना का वर्णन किया गया है।

दर्शन-प्रज्ञापना—श्रद्धा के विषय में जो कुछ भी कहा जाता है, वह दर्शन प्रज्ञापना है। उसके मूलत: तीन भेद हैं—सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन और मिश्रदर्शन। इनमें से मुमुक्षुओं के लिये सम्यग्दर्शन ही उपादेय है। सम्यग्दर्शन के मुख्यतया तीन भेद हैं, जैसे कि औपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्र्शन और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन। इस प्रकार दर्शन के विषय में विवेचन करना दर्शन-प्रज्ञापना कहलाती है।

चारित्र-प्रज्ञापना—ज्ञान और दर्शन के बिना चारित्र में प्रगति नहीं हो सकती। चारित्र का अर्थ है जीवन में किये जाने वाले कार्य या आचरण। आगमों में चारित्र के पांच भेद बताए गए हैं, जैसे कि सामायिक-चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र, परिहार-विशुद्धि चारित्र, सूक्ष्म-संपराय चारित्र और यथाख्यातचारित्र इनका विवेचन करना चारित्र-प्रज्ञापना है।

सम्यग्ज्ञान—आत्मस्वरूप का, मोक्ष के उपायों का, विषय कषायों से मुक्त होने का, संसार और संसार के हेतुओं से निवृत्त होने का विज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शन—सम्यक् श्रद्धा की प्रतिबंधक कर्मप्रकृतियों के सर्वथा क्षय होने से या सर्वथा उपशम अथवा क्षयोपशम होने से जो श्रद्धा की अभिव्यक्ति होती है वही सम्यग्दर्शन है। इस के होने पर ही साधक साधना-पथ पर दृढनिश्चयी हो कर अग्रसर हो सकता है। सम्यक्श्रद्धा के बिना आध्यात्मिक क्षेत्र में कभी भी सफलता नहीं मिल सकती। आत्मा और परमात्मा के लक्ष्य से विचलित न होना ही सम्यग्दर्शन की पृष्ठभूमिका है।

सम्यक्चारित्र—व्यावहारिक धर्म से तथा देह भाव से ऊपर उठ कर संयम और तप की आराधना करना, सब प्राणियों से मैत्री स्थापित करना, परीषह देने वाले को भी अन्तःकरण से क्षमा देना, अनन्त गुण होने पर भी निरभिमानी रहना, धर्म-क्रिया में भी मायाचारिता न करना, भौतिक पदार्थों से निस्पृह होकर विचरण करना, मोह-ममत्व से अलग रह कर आत्माभिमुख होना सम्यक्-चारित्र है।

प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अन्त में 'सम्मं' शब्द का प्रयोग किया है, इसका अभिप्राय है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीनों मिथ्या भी हुआ करते हैं। ऐसी स्थिति में तीनों अलग-अलग अथवा तीनों मिलकर भी मोक्ष के साधन नहीं हैं। वास्तव में यदि देखा जाए तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र भी तभी मोक्ष के साधक हो सकते हैं, जबकि वे सम्यक् एवं यथार्थ हों, तीनों का समुदाय ही मोक्ष मार्ग है, अलग-अलग नहीं।

चारित्रवान साधक सदैव वृत्तिसंक्षेप तप करता है, वह संयम-विरुद्ध आहार-पानी वस्त्र-पात्र एवं मकान आदि वस्तुओं का उपयोग कभी नहीं करता, वह बयालीस दोषों को वर्जकर ही आहार-पानी ग्रहण करता है। उन दोषों का विवरण इस प्रकार है—

जिससे ज्ञान आदि सद्गुणों का नाश हो उसे उपघात कहते हैं। पिंड-आहार, शय्या—मकान आदि अकल्पनीय पदार्थों के ग्रहण करने से संयम का उपघात होता है। सूत्रकार ने रत्नत्रय के विनाशक कारणों में से एक कारण अपघात भी बताया है। उपघात के मुख्यतया तीन भेद हैं—उद्गम, उत्पादन और ग्रहण-एषणा।

उद्गम-उपघात—

जिस स्थान में आहार आदि वस्तु उत्पन्न हों उस स्थान की अपेक्षा उद्गम दोष माना जाता है, क्योंकि आधाकर्म आदि आहार के ग्रहण करने से ज्ञान आदि गुणों का घात हो जाता है। १६ उद्गम दोष इस प्रकार हैं—

आहाकम्मुद्देसिय पूइकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओयर कीय पामिच्चे ॥
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे इय।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे ॥

१. **आधाकर्म-दोष**—विशेषतया किसी साधु को देने के उद्देश्य से सचित्त वस्तु को अचित्त बनाने, एवं अचित्त को पकाने का दोष प्रायः चार प्रकार से लगता है— आधाकर्मी आहार का सेवन करना, आधाकर्मी आहार के लिए निमंत्रण स्वीकार करना, आधाकर्मी आहार सेवन करने वालों के साथ रहना, आधाकर्मी आहार भोगने वालों का समर्थन या प्रशंसा करना, ये क्रमशः प्रतिसेवन, प्रतिश्रवण, संवसन और अनुमोदन **आधाकर्मी** कहलाते हैं।

२. **औद्देशिक दोष**—जिस के लिए आहार बनाया गया है यदि वही साधु ले तो उस को आधाकर्मी दोष लगता है। उसी आहार को यदि दूसरा कोई साधु ले तो उसे औद्देशिक दोष का भागी बनना पड़ता है।

३. **पूतिकर्म दोष**—शुद्ध एवं निर्दोष आहार में आधाकर्म आदि का अंशमात्र मिल जाना, वह थोड़ा होते हुए भी निर्दोष आहार को सदोष बना देता है। शुद्ध चारित्र पालन करने वाले को वह भी अकल्पनीय है। जिस कड़छी आदि बर्तन में उसका अंश भी लगा हो उससे भी यदि शुद्ध आहार ग्रहण करे तो पूतिकर्म दोष कहलाता है।

४. **मिश्रजात दोष**—अपने लिये और साधु के लिए एक साथ पकाया हुआ आहार मिश्रजात कहलाता है।

५. **स्थापना दोष**—साधुओं को देने की इच्छा से कुछ काल के लिए आहार को अलग रख देना, किसी अन्य को न देना स्थापना दोष होता है।

६. **प्राभृतिका दोष**—साधु को विशिष्ट आहार बहराने के लिए जीमनवार या निमंत्रण के समय को आगे पीछे करना प्राभृतिका दोष कहलाता है।

७. **प्रादुष्कृत दोष**—अंधेरे में प्रकाश करके दे तो प्रादुष्कृत दोष माना जाता है।

८. **क्रीत दोष**—साधु के निमित्त आहार, वस्त्र, पात्र मकान आदि मोल लेना क्रीत दोष है।

९. **प्रामित्य दोष**—साधु के लिए उधार लिया हुआ आहार प्रामित्य दोष माना जाता है।

१०. **परिवर्तित दोष**—साधु के निमित्त अपनी वस्तु देकर बदले में दूसरी वस्तु लाकर देना परिवर्तित दोष है।

११. **अभ्याहृत दोष**—साधु के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाया हुआ आहार या साधु के उपाश्रय में गृहस्थ के द्वारा आहार ग्रहण करना अभिहृत दोष माना गया है।

१२. **उद्भिन्न दोष**—साधु के निमित्त गृहस्थ लेपन आदि छांदा खोलकर दे तो आहार ग्रहण करना उद्भिन्न दोष है।

१३. **मालाहृत दोष**—बांस आदि की सीढ़ी लगाकर ऊंची-नीची-तिरछी जगह पर रखी हुई वस्तु यदि गृहस्थ लाकर दे तो उसे ग्रहण करना मालाहृत दोष माना जाता है। इस दोष

में अचानक पैर या सीढ़ी के फिसलने से देहपात या अन्य जीवों की विराधना की संभावना रहती है।

१४. **आच्छेद्य दोष**—यदि किसी निर्बल व्यक्ति से छीनकर अन्न-वस्त्र आदि साधु को बहराया जाए तो आच्छेद्य दोष लगता है, क्योंकि साधु के लिए किसी की अन्तरात्मा को दुखित करना भयंकर पाप है।

१५. **अनिसृष्ट दोष**—यदि किसी वस्तु के स्वामी अनेक हैं, सबकी इच्छा के बिना गृहस्थ उस वस्तु को साधु के लिए यदि देता है और साधु उसे ग्रहण करता है तो उसे अनिसृष्ट दोष लगता है, क्योंकि दूसरे की सहमति के बिना आहार आदि ग्रहण करना चोरी है।

१६. **अध्यवपूरक दोष**—अपने लिए बनते हुए भोजन में से साधुओं का आगमन सुनकर उनके निमित्त से और मिला देना, आटे में आटा, दाल में दाल मिलाना, अध्यवपूरक दोष है। इससे छः काय की विराधना का दोष लगता है। ये सोलह उद्‌गमन दोष हैं जो गृहस्थ के निमित्त से आहार आदि ग्रहण करने पर साधु को लगते हैं, यदि साधु इस प्रकार के सदोष-अकल्पनीय पदार्थ नहीं ग्रहण करता तो साधु को दोष नहीं लगता।

उत्पादन उपघात—

अपनी बुद्धि से दोष-युक्त आहार आदि का ग्रहण करना उत्पादन उपघात कहलाता है। जिससे साधु को स्वयं दोष लगाता है उसे उत्पादन दोष कहते हैं। उत्पादन दोष भी सोलह तरह का होता है जैसे कि—

धाई दूई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एए॥
पुव्विं पच्छा संथव विज्जा मंते य चुण्ण जोगे य।
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य॥

१. **धाई**—(धात्री) किसी के बच्चे को खिलाना-पिलाना आदि धाय का काम करके आहार आदि ग्रहण करना धात्री दोष है।

२. **दूई**—(दूती) एक दूसरे का सन्देशा गुप्त या प्रकट रूप से पहुंचा कर दूत का काम करके आहार आदि ग्रहण करना दूती दोष कहलाता है।

३. **निमित्ते**—ज्योतिष या सामुद्रिक विद्या के द्वारा गृहस्थ को लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि फलादेश बता कर आहार आदि ग्रहण करना निमित्त दोष कहलाता है।

४. **आजीव**—(आजीविका) अपनी जाति, कुल आदि बतलाकर आहार ग्रहण करना, आजीव दोष माना जाता है।

५. **वणीमगे**—(वनीपक) दीनता प्रदर्शित कर या जो जिसका सेवक है उसके आगे उसी की प्रशंसा करके आहार ग्रहण करना वनीपक दोष है।

६. **तिगिच्छा**—(चिकित्सा) किसी का इलाज करके या औषध आदि का योग बताकर आहार आदि ग्रहण करना चिकित्सा दोष है।

७. **कोहे**—(क्रोध) गृहस्थ को क्रोध प्रदर्शित करके या शाप आदि का भय दिखाकर आहारादि ग्रहण करना क्रोध है।

८. **माणे**—(मान) गृहस्थ को अभिमान प्रदर्शित कर "मैं कितना प्रतापी हूं, तेजस्वी हूं, बहुश्रुत हूं," इस प्रकार अपना प्रभाव जमाकर आहार आदि ग्रहण करना मानदोष है।

९. **माया**—गृहस्थ को छल कर आहार आदि ग्रहण करना माया दोष है।

१०. **लोभे**—लोभ के वश होकर या गृहस्थ को प्रलोभन देकर आहार आदि ग्रहण करना लोभ दोष है।

११. **पुव्विं पच्छासंथव**—(पूर्व-पश्चात्-संस्तवन) आहार लेने से पहले या पीछे देने वाले गृहस्थ की प्रशंसा करना पूर्व-पश्चात्-संस्तव दोष है।

१२. **विज्जा**—(विद्या) किसी देवी की सिद्धि को विद्या कहा जाता है। ऐसी विद्या का प्रयोग करके आहार आदि वस्तु लेना विद्यादोष कहलाता है।

१३. **मंते**—(मंत्र) मन्त्रों के प्रयोग से आहार आदि लेना मंत्रपिण्ड दोष है।

१४. **चुण्ण**—(चूर्ण) एक वस्तु के साथ दूसरी वस्तु मिलाने से अनेक तरह की सिद्धि हो, अदृश्य करने वाले सुरमे आदि का प्रयोग या चमत्कार दिखाकर आहार लेना चूर्णपिण्ड दोष है।

१५. **जोगे**—(योग) पांव लेप आदि सिद्धियां बताकर आहार लेना योगपिण्ड दोष कहलाता है।

१६. **मूलकम्मे**—(मूल कर्म) गर्भपात आदि औषध बताकर, गर्भ-निरोध, गर्भाधान आदि प्रयोग बताकर आहार लेना मूल-कर्म दोष कहलाता है। इन सोलह दोषों का निमित्त साधु स्वयं है, अतः सर्वविरति को चाहिए कि ऐसे दोषों से संयम एवं चारित्र को दूषित न करे। इसी में आत्मलाभ है।

एषणा दोष—

दस एषणा दोष माने गए हैं जिनका सेवन गृहस्थ और साधु दोनों से होता है। साधु ने तो निर्दोष आहार ग्रहण करना ही है, किन्तु जिस गृहस्थ ने अतिथि संविभाग व्रत ग्रहण किया हुआ है उसे साधु-साध्वी को निर्दोष आहार-पानी ही देना चाहिए। फिर भी कुछ ऐसे दोष हैं जो विवेक की कमी से या अनजाने में लग ही जाते हैं। विवेकपूर्ण श्रावक या साधु को दोष नहीं लगने पाता, क्योंकि वह पहले से ही निर्दोष आहार ग्रहण करता है या प्रतिलाभता है। इससे दोनों को ही परम लाभ होता है—

एषणा के दस दोष निम्नलिखित हैं, जैसे कि—

संकिय मक्खिय निक्खित्त पिहिय साहरिय दायगुम्मीसे।
अपरिणय लित्त छड्डिय एसणादोसा दस हवंति॥

१. **संकिय**—(शंकित) गृहस्थ या साधु को शंका पड़ जाने पर आहार आदि दे या ले तो शंकित दोष माना जाता है। शंका-निवृत्ति किये बिना ही ग्रहण करना दोष है।

२. **मक्खिय**—(म्रक्षित) सचित्त पानी से बाल भीगे हों या हाथ की रेखाएं कुछ गीली हों, हाथ, चम्मच या आहार सचित्त के साथ लग रहा हो फिर भी आहार देना या लेना म्रक्षित दोष कहा जाता है।

३. **निक्खित्त**—(निक्षिप्त) देने वाली वस्तु सचित्त पर रखी हुई हो ऐसी वस्तु का देना और लेना निक्षिप्त दोष कहलाता है।

४. **पिहिय**—(पिहित) देय वस्तु सचित्त से ढांकी हो उसे देना और लेना पिहित दोष है।

५. **साहरिय**—(संहृत) जिस बर्तन में अदेय वस्तु भी पड़ी हो उसमें से अदेय वस्तु निकाल कर फिर आहार देने से देने और लेने वाले दोनों को उक्त दोष लगता है। इससे पूर्वकर्म या पश्चात् दोष लगता है।

६. **दायग**—(दायक) अयत्नशील व्यक्ति, जिसके मुंह से लार गिरती हो, शरीर कांपता हो, अंधा, लंगड़ा, लूला, गर्भवती, बालवत्सा, इत्यादि यदि देने वाले हों तो दोनों को दोष लगता है, क्योंकि दायक भी यतना एवं विवेकशील होना चाहिए।

७. **उम्मीसे**—(उन्मिश्र) जिस अचित्त वस्तु में सचित्त पानी की बूंदें पडी हों या बीज फल-फूल या पत्तों से मिश्रित हो वैसा आहार देने व लेने वाले दोनों को उन्मिश्र दोष लगता है।

८. **अपरिणय**—(अपरिणत) जो देय वस्तु अभी अच्छी तरह शस्त्र परिणत नहीं हुई उसे देना या लेना अपरिणत दोष है।

९. **लित्त**—(लिप्त) जो वस्तु हाथ या भाजन को लिप्त करने वाली है उसे लिप्त कहते हैं। वैसा आहार लेने से पश्चात्कर्म हो जाने की पूरी-पूरी संभावना रहती है, अथवा तुरन्त लिपी हुई जगह पर आ या जा कर आहार देना या लेना लिप्त दोष है।

१०. **छड्डिय**—(छर्दित) जिसके छींटें पड़ रहे हों ऐसा आहार लेना छर्दित दोष है। इसमें कारण यह है कि नीचे चलते हुए कीड़े आदि जीवों की हिंसा होती है, इसलिये वैसा आहार लेना अकल्पनीय है। ये सभी दोष साधु और गृहस्थ दोनों के निमित्त से लगते हैं। यह दोष समूह ही उपघात है और इसका परित्याग करने से ही आहार की विशुद्धि होती है, जैसे कि उद्गम-विशुद्धि, उत्पादन विशुद्धि और एषणा-विशुद्धि। विशुद्धि द्वारा ही ज्ञान-दर्शन और चारित्र की उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य आराधना होती है,

क्योंकि उक्त तीनों की निरतिचार क्रिया होने से ही संयम की सम्यक्तया आराधना की जा सकती है।

आराधना, संक्लेश और प्रायश्चित्त आदि

मूल—तिविहा आराहणा पण्णत्ता, तं जहा—णाणाराहणा, दंसणाराहणा, चरित्ताराहणा।

णाणाराहणा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—उक्कोसा, मज्झिमा, जहन्ना। एवं दंसणाराहणावि, चरित्ताराहणावि।

तिविहे संकिलेसे पण्णत्ते तं जहा—नाणसंकिलेसे, दंसणसंकिलेसे, चरित्तसंकिलेसे। एवं असंकिलेसे वि। एवमइक्कमे वि। वइक्कमे वि, अइयारे वि, अणायारे वि।

तिण्हमइक्कमाणं आलोएज्जा, पडिक्कमेज्जा, गरहिज्जा जाव पडिवज्जिज्जा तं जहा—णाणाइक्कमस्स, दंसणाइक्कमस्स,चरित्ताइक्कमस्स। एवं वइक्कमाणवि, अइयाराणं, अणायाराणं ॥७७॥

छाया—त्रिविधा आराधना प्रज्ञप्ता, तद्यथा—ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना, चारित्राराधना। ज्ञानाराधना त्रिविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—उत्कर्षा, मध्यमा, जघन्या, एवं दर्शनाराधनाऽपि, चारित्राराधनाऽपि।

त्रिविधः संक्लेशः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ज्ञानसंक्लेशः, दर्शनसंक्लेशः, चारित्रसंक्लेशः। एवमसंक्लेशोऽपि, एवमतिक्रमोऽपि, एवं व्यतिक्रमोऽपि, अतिचारोऽपि, अनाचारोऽपि। त्रीनतिक्रमानालोचयेत्, प्रतिक्रमेत्, गर्हेत् यावत् प्रतिपद्येत्, तद्यथा—ज्ञानातिक्रमं, दर्शनातिक्रमं, चारित्रातिक्रमम्। एवं व्यतिक्रममपि, अतिचारमपि, अनाचारमपि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आराधना तीन प्रकार की प्रतिपादन की गई है, जैसे—ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना और चारित्राराधना।

ज्ञानाराधना तीन प्रकार की है, जैसे—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। इसी प्रकार दर्शनाराधना और चारित्राराधना भी जान लेनी चाहिए। संक्लेश भी तीन प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—ज्ञान-संक्लेश, दर्शन-संक्लेश और चारित्र-संक्लेश। इसी तरह असंक्लेश, अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार के विषय में भी जान लेना चाहिए।

ज्ञानादि तीनों के अतिक्रमों की आलोचना, प्रतिक्रमण, गर्हा अवश्य होनी चाहिए।

जैसे—ज्ञानातिक्रम, दर्शनातिक्रम और चारित्रातिक्रम की। इसी तरह व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार की आलोचना आदि होनी चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में उपघात के रूप में साधक के लिए भोजन, वस्त्र एवं स्थानादि की मर्यादाओं का वर्णन किया गया है। इस प्रकार की मर्यादाओं का पालन करते हुए साधक को किन सेवा-भक्ति आदि साधनाओं का अनुसरण करना चाहिए और किसका अनुसरण नहीं करना चाहिए, उसका वर्णन प्रस्तुत सूत्र में किया गया है—

साधक के लिए आराधना का पालन आवश्यक है। आराधना का अर्थ होता है—सेवा, भक्ति परिपालन अथवा मोक्षमार्ग के अनुकूल आचरण—ये सभी अर्थ यहां अभीष्ट हैं।

आराधना तीन तरह ही होती है, जैसे कि ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना और चारित्राराधना। इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन रूप हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। जैसे परीक्षा में उत्तीर्ण विद्यार्थियों की तीन श्रेणियां बनती हैं—प्रथम श्रेणि, द्वितीय श्रेणि और तृतीय श्रेणि, इसी प्रकार रत्नत्रय के आराधकों की भी तीन श्रेणियां होती हैं। उत्कृष्ट रूप में रत्नत्रय की आराधना करने वाले साधक अपने वर्तमान जीवन में ही कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। मध्यम स्तर की साधना करने वाले तीसरे भव का अतिक्रमण नहीं करते और जघन्यस्तर की साधना के साधक पंद्रह भव को अतिक्रम नहीं करते अर्थात् पन्द्रह जन्मों में ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। जब तक आराधना का स्तर उत्कृष्ट नहीं हो जाता, तब तक जीव सर्व दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता।[१]

संक्लेश के कारण

जिस साधक की वृत्ति अन्तर्मुखी नहीं है—साधना-परायण नहीं है, उसके लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीनों केवल क्लेशमात्र ही हैं। वह इनको क्लेश का कारण ही समझता है, क्योंकि जिस कार्य के करने में अभिरुचि नहीं होती उसे करने में जीव क्लेश ही मानता है।

शान्ति के कारण

जिनकी चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी हो गई है, उनके लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीनों समाधि के कारण बन जाते हैं। जिसने भी आत्मशान्ति या परमानन्द प्राप्त किया है वह रत्नत्रय की आराधना द्वारा ही किया है, इनके अतिरिक्त परमशान्ति का अन्य कोई साधन नहीं है अथवा संसारी जीवों के लिए रत्नत्रय क्लेश के कारण हैं और मुमुक्षुओं के लिए परमशान्ति के कारण हैं।

दोषों से साधना दूषित एवं नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। जैसे शरीर-प्रकृति के विषम होने से अपथ्य एवं कुपथ्य के सेवन करने से या क्षत-विक्षत होने से तथा अन्य किसी कारण

---

१ विशेष विवेचन के लिए देखिए भगवती सूत्र शतक आठ।

से जीव स्वस्थ होता हुआ भी अस्वस्थ हो जाता है। अस्वस्थ शरीर में कितनी पीड़ा होती है, वह पीड़ा साध्य है या दु:साध्य, कुशल चिकित्सक इन सब बातों का चिन्तन करके ही तदनुरूप उपचार प्रारंभ करता है, ठीक इसी प्रकार साधक की साधना सदोष चल रही है या निर्दोष, यदि सदोष है तो कहां, कितने अंश में सदोष है, इन बातों को जानने के लिए साधना क्षेत्र में भी दोष के चार स्तर हैं, जैसे कि—अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार।

अतिक्रम—ग्रहण किए हुए व्रत, किए हुए पच्चक्खाण, और स्वीकार की हुई प्रतिज्ञा को भंग करने के मन में जो संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं या लक्ष्य के प्रतिकूल कार्य का अनुमोदन करने पर जो विचार साधक-हृदय में जागृत होते हैं, उन्हें अतिक्रम कहा जाता है। बाह्य जीवन में बुराई करने से पूर्व मन में बुराई अवश्य होती है। वह बुराई ही तो अतिक्रम है अथवा साधना से प्रतिकूल जो भी मन, वाणी और काय के द्वारा यत्किंचित प्रवृत्ति की जाती है उसे अतिक्रम ही कहा जाता है।

व्यतिक्रम—व्रत-भंग या साधना-भंग करने के लिए मन, वाणी और काय के द्वारा समुद्यत होना और अपनी सत्य प्रतिज्ञा तोड़ने के लिए तैयार होना व्यतिक्रम है।

अतिचार—लिए हुए व्रत या पच्चक्खाण के भंग के लिए उपाय और सामग्री जुटाना या आंशिक रूप से व्रत या प्रतिज्ञा को भंग कर देना अतिचार है।

अनाचार—व्रत को या शुभ प्रतिज्ञा को सर्वथा भंग कर देना अनाचार है।

इनमें पहले की अपेक्षा उत्तर-उत्तर अधिक दोष के परिचायक हैं, क्योंकि एक से दूसरे का प्रायश्चित्त अधिक है। साधना दो तरह की होती है—मूलगुण-साधना और उत्तरगुण-साधना। इनमें चारित्र मूल-गुण साधना है और तप उत्तर-गुण साधना है। अप्रमत्त भाव में उक्त दोनों साधनाएं स्वस्थ एवं निर्दोष होती हैं, प्रमत्तभाव में साधनाएं सदोष, विकृत एवं सर्वथा भंग हो जाती हैं।

निर्दोष साधना को ही आराधना कहते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इनमें प्रमत्तभाव से अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार तथा अनाचार हो जाने की संभावना रहती है, अत: साधक को चाहिए कि साधना में दत्तचित्त होकर रहे, साधना से विचलित करने वाले परीषह-उपसर्गों को समता से सहन करे।

''**तिण्हमतिक्कम्माणं**'' इस पद में द्वितीया के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग किया गया है, जैसे—**त्रीनतिक्रमानालोचयेत्**।

प्रायश्चित्त-विधान

मूल—तिविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते, तं जहा—आलोयणारिहे, पडिक्क-मणारिहे, तदुभयारिहे ॥७८॥

छाया—त्रिविधं प्रायश्चित्तं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आलोचनार्हं, प्रतिक्रमणार्हम्, तदुभयार्हम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आलोचना-योग्य, प्रतिक्रमण-योग्य और उभय-योग्य भेद से प्रायश्चित्त तीन प्रकार का प्रतिपादन किया गया है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में आराधना एवं उसके अतिक्रम आदि दोषों का वर्णन किया गया है। साधनामय जीवन में कभी-कभी इच्छा न होते हुए भी परिस्थिति-वश दोष हो जाया करते हैं। ऐसे दोष हो जाने पर साधक को क्या करना चाहिए? इसी प्रश्न के समाधान के रूप में प्रायश्चित्त का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने कहा है—

किए गए अपराध एवं दूषित चित्त को शुद्ध करने वाले सभी सुकृत्य प्रायश्चित्त हैं। यद्यपि प्रायश्चित्त के दस भेद सूत्र में वर्णित हैं, तदपि त्रिस्थान के अनुरोध से प्रायश्चित्त के प्रमुख तीन भेद प्रतिपादन किए गए हैं। प्रायश्चित्त के विषय में वृत्तिकार लिखते हैं :—

पापच्छेदकत्वात् प्रायश्चित्तविशोधकत्वाद्वा प्राकृते पायच्छित्तमिति शुद्धिरुच्यते, तद्विषयः शोधनीयातिचारोऽपि प्रायश्चित्तमिति।

अर्थात् पापों का छेदक होने से अथवा आत्मा को दोषमुक्त करने वाला होने से शुद्धिकरण की प्रक्रिया को प्रायश्चित्त कहा जाता है, प्राकृत भाषा में इसे **''पायच्छित्त''** कहते हैं। निष्कर्ष यह है कि जिन-जिन क्रियाओं से आत्म-शुद्धि होती है उन्हें प्रायश्चित्त कहा जाता है।

''मिच्छा मि दुक्कडं'' इत्यादि पदों का उच्चारण करते हुए किए हुए अपराध या दोष को गुरु के समक्ष निष्कपटता से निवेदन करना आलोचना कहलाती है। भटकने के बाद पुनः सन्मार्ग पर आना प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है, जिसमें आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो किए जाएं उसे तदुभय प्रायश्चित्त कहते है।

वैसा दोष या भूल फिर न कभी होने पाए इसलिये प्रायश्चित्त किया जाता है। जैसे वस्त्र के किसी भाग में धब्बा लग जाने पर वह बुरा लगता है, साफ करने से वही वस्त्र पहले की तरह स्वच्छ हो जाता है वैसे ही साधना पर लगा हुआ दोष दिल में खटकता रहता है—हृदय को शकित एव मलिन किए रहता है। प्रायश्चित्त करने से हृदय शुद्ध हो जाता है और साधना में प्रगति होने लगती है। अतः दोष का हो जाना उतना बुरा नही, जितना कि दोष के हो जाने पर उसका प्रायश्चित्त न करना बुरा है।

जम्बूद्वीप में क्षेत्र और जलाशयादि

मूल—जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं तओ अकम्मभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—हेमवए, हरिवासे, देवकुरा।

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं तओ अकम्मभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—उत्तरकुरा, रम्मगवासे, एरण्णवए।

जंबूमंदरस्स दाहिणेणं तओ वासा पण्णत्ता, तं जहा—भरहे, हेमवए, हरिवासे।

जंबूमंदरस्स उत्तरेणं तओ वासा पण्णत्ता, तं जहा—रम्मगवासे, हेरन्नवए, एरवए।

जंबूमंदरदाहिणेणं तओ वासहरपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—चुल्ल-हिमवंते, महाहिमवंते, णिसढे।

जंबूमंदरउत्तरेणं तओ वासहरपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—णीलवंते, रुप्पी सिहरी।

जम्बूमंदरदाहिणेणं तओ महादहा पण्णत्ता, तं जहा—पउमदहे, महापउमदहे, तिगिंच्छदहे। तत्थ णं तओ देवयाओ महिड्ढियाओ जाव पलिओवमट्ठितीयाओ परिवसंति, तं जहा—सिरी, हिरी, धिई। एवं उत्तरेण वि। णवरं—केसरिदहे, महापोंडरीयदहे, पोंडरीयदहे। देवयाओ कित्ती, बुद्धी, लच्छी।

जम्बूमंदरदाहिणेणं चुल्लहिमवंताओ वासहरपव्वयाओ पउमदहाओ महादहाओ तओ महाणईओ पवहंति, तं जहा—गंगा, सिंधू, रोहियंसा।

जम्बूमंदरउत्तरेणं सिहरीओ वासहरपव्वयाओ पोंडरीयद्दहाओ महादहाओ तओ महानईओ पवहंति, तं जहा—सुवन्नकूला, रत्ता, रत्तवई। जम्बूमंदर-पुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेण तओ अन्तरणईओ पवहंति, तं जहा—गाहावई, दहवई, पंकवई।

जम्बूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए दाहिणेणं तओ अन्तरणईओ पवहंति, तं जहा—तत्तजला, मत्तजला, उम्मत्तजला।

जम्बूमंदरपच्चत्थिमेणं सीओयाए महाणईए दाहिणेणं तओ अंतरणईओ पवहंति, तं जहा—खीरोया, सीयसोया, अंतोवाहिणी।

जम्बूमंदरपच्चत्थिमेणं सीओयाए महाणईए उत्तरेणं तओ अंतरणईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—उम्मिमालिणी, फेणमालिणी, गम्भीरमालिणी। एवं धायइसंडे दीवे पुरच्छिमद्धेवि, अकम्मभूमीओ आढवेत्ता जाव अंतरणईओत्ति

णिरवसेसं भाणियव्वं, जाव पुक्खरवरदीवड्ढपच्चत्थिमद्धे तहेव निरवसेसं भाणियव्वं ॥ ७९ ॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणेन (दक्षिणस्यां) तिस्रोऽकर्मभूमयः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—हैमवतं, हरिवर्षं, देवकुरवः (देवकुरू)।

जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरेण (उत्तरस्यां) तिस्रोऽकर्मभूमयः प्रज्ञप्ता-स्तद्यथा—उत्तरकुरवः, रम्यकवर्षम्, ऐरण्यवतम्।

जम्बूमन्दरस्य दक्षिणस्यां त्रीणि वर्षाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—रम्यकवर्षं, हैरण्यवतं, ऐरवतम्।

जम्बूमन्दरदक्षिणस्यां त्रयो वर्षधरपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चुल्लहिमवान्, महाहिमवान्, निषधः।

जम्बूमन्दरोत्तरस्यां त्रयो वर्षधरपर्वताः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—नीलवान्, रुक्मी, शिखरी। जम्बूमन्दरदक्षिणस्यां त्रयो महाह्रदाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—पद्मह्रदः, महापद्मह्रदः, तिगिंच्छह्रदः। तत्र खलु तिस्रो देवताः महर्द्धिकाः यावत् पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति, तद्यथा—श्रीः, ह्रीः, धृतिः। एवमुत्तरस्यामपि। नवरं—केसरिह्रदः, महापुण्डरीकह्रदः, पुण्डरीकह्रदः। देवताः—कीर्तिः, बुद्धिः, लक्ष्मीः।

जम्बूमन्दरदक्षिणस्यां चुल्लहिमवतो वर्षधरपर्वतात् पद्मह्रदात् महाह्रदात् तिस्रो महानद्यः प्रवहन्ति, तद्यथा—गंगा, सिन्धू, रोहितांशा।

जम्बूमन्दरोत्तरस्यां शिखरितो वर्षधरपर्वतात् पुण्डरीकह्रदान्महाह्रदात् तिस्रो महानद्यः प्रवहन्ति, तद्यथा—सुवर्णकूला, रक्ता, रक्तवती।

जम्बूमन्दरपूर्वस्यां शीतायाः महानद्या उत्तरस्यां तिस्रोऽन्तर्नद्यः प्रवहन्ति, तद्यथा—ग्राहवती, ह्रदवती, पंकवती।

जम्बूमन्दरपूर्वस्यां तिस्रो नद्यः प्रवहन्ति, तद्यथा—तप्तजला, मत्तजला, उन्मत्तजला।

जम्बूमन्दरपश्चिमायां शीतोदाया महानद्या दक्षिणस्यां तिस्रोऽन्तर्नद्यः प्रवहन्ति, तद्यथा—क्षीरोदा, शीतस्रोता, अन्तर्वाहिनी।

जम्बूमन्दरपश्चिमायां शीतोदायाः महानद्या उत्तरस्यां तिस्रोऽन्तर्नद्यः प्रवहन्ति, तद्यथा—ऊर्मिमालिनी, फेनमालिनी, गम्भीरमालिनी। एवं धातकीखण्डे द्वीपे पौरस्त्यार्द्धेऽपि, अकर्मभूमित आरभ्य यावदन्तर्नद्य इति, निरवशेषं भणितव्यं, यावत् पुष्करवरद्वीपार्द्धपाश्चात्यार्द्धे तथैव निरवशेषं भणितव्यम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मन्दर पर्वत के दक्षिण दिशा में तीन अकर्म-भूमियां प्रतिपादन की गई हैं, जैसे—हैमवत, हरिवर्ष और देवकुरु।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मन्दर पर्वत की उत्तर दिशा में तीन अकर्मभूमियां प्रतिपादन की गई हैं, जैसे—उत्तरकुरु, रम्यकवर्ष और ऐरण्यवत।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मन्दर पर्वत से दक्षिण में तीन क्षेत्र प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—भरत, हैमवत और हरिवर्ष।

जम्बूद्वीप के मन्दर नामक पर्वत से उत्तर दिशा में तीन वर्ष प्रतिपादन किए हैं, जैसे—रम्यकवर्ष, हैरण्यवत और ऐरवत।

जम्बूद्वीपस्थ मन्दर पर्वत के दक्षिण में तीन वर्षधर पर्वत प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—चुल्लहिमवान्, महाहिमवान् और निषध।

जम्बूद्वीपस्थ मन्दर के उत्तर में तीन वर्षधर पर्वत प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे नीलवान्, रुक्मी और शिखरी।

जम्बूमन्दर के दक्षिण में तीन महाह्रद प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—पद्मह्रद, महापद्मह्रद और तिगिंच्छह्रद। उन ह्रदों में महर्द्धिक यावत् पल्योपम स्थिति वाली तीन देवियां रहती हैं, जैसे—श्रीदेवी, ह्रीदेवी और धृतिदेवी। इसी प्रकार उत्तर में भी जानना चाहिए, परन्तु इतना विशेष है कि वहा केसरीह्रद, महापुण्डरीकह्रद और पुण्डरीक ह्रद समझने चाहिएं। वहां कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी तीन महर्द्धिक देवियां निवास करती हैं। जम्बूद्वीप के मन्दर पर्वत के दक्षिण में चुल्लहिमवान् वर्षधर पर्वत के पद्मह्रद नामक महाह्रद से तीन महानदियां निकलती हैं, जैसे—गंगा, सिन्धु और रोहितांशा।

जम्बू मन्दर के उत्तर में शिखरी वर्षधर पर्वत के पुण्डरीक नामक महाह्रद से तीन महानदियां निकलती हैं, जो इस प्रकार है—सुवर्णकूला, रक्ता और रक्तवती।

जम्बूमन्दर पर्वत के पूर्व की ओर शीता महानदी के उत्तर की तरफ तीन अन्तर-नदियां बहती हैं, जो इस प्रकार हैं—तप्तजला, मत्तजला और उन्मत्तजला।

जम्बूमन्दर पर्वत के पूर्व की ओर शीता महानदी के दक्षिण में तीन अन्तर-नदियां हैं, जैसे—क्षीरोदा, शीतस्रोता और अन्तर्वाहिनी।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मन्दर पर्वत से पश्चिम में और शीतोदा महानदी के उत्तर की ओर तीन अन्तर-नदियां हैं, जैसे—ऊर्मिमालिनी, फेनमालिनी और गम्भीर-मालिनी। इसी प्रकार धातकी-खण्ड द्वीप के पूर्वार्द्ध और पश्चिमार्द्ध में भी अकर्म-भूमियों से लेकर यावत् अन्तर-नदियों पर्यंत निरवशेष जानना चाहिए यावत् पुष्करवरद्वीपार्द्ध के पूर्व और पश्चिम में उसी प्रकार निरवशेष कहना चाहिए।

विवेचनिका—रत्नत्रय की आराधना एवं आराधना के भंग होने पर प्रायश्चित्त करना

मनुष्य का ही कार्य है अन्य जीवों का नहीं, अतः आराधना एवं प्रायश्चित्त के अनन्तर सूत्रकार ने मनुष्य-क्षेत्र का भौगोलिक परिचय प्रस्तुत किया है। आगमों में जहां कहीं भी भौगोलिक वर्णन प्राप्त है, वह सदाकाल भावी है, उसमें परिवर्तन असम्भाव्य है। परिवर्तन-शील क्षेत्रों का वर्णन प्रायः आगमों में उपलब्ध नहीं होता है। प्रस्तुत सूत्र में जो विषय वर्णित है वह सर्वकालीन ही है। जैसे कि जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से दक्षिण की ओर तीन अकर्मभूमियां हैं—हेमवत, हरिवर्ष और देवकुरु। उत्तर की ओर उत्तरकुरु, रम्यकवर्ष और ऐरण्यवत ये तीन क्रमशः अकर्मभूमि क्षेत्र हैं।

जम्बूद्वीप के अन्तर्गत मेरु पर्वत के दक्षिण की ओर चुल्लहिमवान, महाहिमवान और निषध ये तीन तथा उत्तर की ओर क्रमशः नीलवान, रुक्मी और शिखरी ये तीन वर्षधर पर्वत हैं। जो वर्षधर पर्वत दक्षिण की ओर हैं उन पर तीन महाह्रद हैं जिनके नाम हैं—पद्मह्रद, महापद्मह्रद और तिगिंछीह्रद, उन पर क्रमशः तीन महाऋद्धि वाली देवियां निवास करती हैं—जैसे कि श्री, ह्री और धृति। इसी प्रकार जो उत्तर दिशा की ओर तीन वर्षधर पर्वत हैं उन पर भी क्रमशः तीन महाह्रद हैं—केसरी ह्रद, महापौंडरिकह्रद और पौंडरिकह्रद, उन पर तीन महाऋद्धि वाली देवियां रहती हैं—कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी। उक्त सभी देवियां पल्योपम स्थिति वाली हैं।

पद्म महाह्रद से तीन महानदियां निकलती हैं—गंगा, सिंधु और रोहितांसा। पौंडरीक महाह्रद से तीन महानदियां निकलती हैं—सुवर्णकूला, रक्ता और रक्तवती।

शीता महानदी के उत्तर की ओर तीन अन्तरनदियां बहती हैं—ग्राहावती, ह्रदवती और पंकवती। शीता महानदी के दक्षिण की ओर तीन अन्तरनदियां बहती हैं—तप्तजला, मत्तजला और उन्मत्तजला।

पश्चिम महाविदेह के मध्य में शीतोदा महानदी बहती है। उससे दक्षिण की ओर तीन अन्तर-नदियां बहती हैं—क्षीरोदा, शीतस्रोता और अन्तरवाहिनी। शीतोदा के उत्तर की ओर तीन अन्तर-नदियां बहती हैं—ऊर्मिमालिनी, फेनमालिनी और गंभीरमालिनी।

धातकीखंड और अर्धपुष्कर द्वीप में क्षेत्र, वर्षधर पर्वत, ह्रद, नदियां और ह्रदवासिनी देवियां इन सबका वर्णन और नाम समान हैं किन्तु संख्या में दुगुणे हैं।

ह्रद उन बड़ी झीलों को कहा जाता है जिनसे महानदियां निकलती हैं और जो अक्षय-स्रोता होती हैं।

इस प्रकरण में वर्ष क्षेत्र को कहा जाता है और वर्षधरपर्वत वे माने गए हैं जो किसी क्षेत्र विशेष की सीमा बांधा करते हैं।

पृथ्वी के अन्दर ही अन्दर बहने वाली अन्तः-सलिला नदियों को आगमों की भाषा में अन्तर-नदी कहा जाता है।[१]

१. विस्तृत परिज्ञान के लिए देखिए जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति।

भू-कम्प के मुख्य कारण

मूल—तिहिं ठाणेहिं देसे पुढवीए चलेज्जा, तं जहा—अहे णमिमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उराला पोग्गला णिवएज्जा, तए णं ते उराला पोग्गला णिवयमाणा देसं पुढवीए चलेज्जा।

महोरए वा महिड्ढिए जाव महेसक्खे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे उम्मज्जणिमज्जियं करेमाणे देसं पुढवीए चलेज्जा।

णागसुवन्नाण वा संगामंसि वट्टमाणंसि देसं पुढवीए चलेज्जा। इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं देसं पुढवीए चलेज्जा।

तिहिं ठाणेहिं केवलकप्पा पुढवी चलेज्जा, तं जहा—अहे णं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए घणवाए गुप्पेज्जा, तए णं से घणवाए गुविए समाणे घणोदहिमेएज्जा, तए णं से घणोदही एइए समाणे केवलकप्पं पुढविं चालेज्जा।

देवे वा महिड्ढिए जाव महेसक्खे तहारूवस्स समणस्स माहणस्स वा इड्ढिं, जसं, बलं, वीरियं, पुरिसक्कारपरक्कमं उवदंसेमाणे केवलकप्पं पुढविं चालेज्जा।

देवासुरसंगामंसि वा वट्टमाणंसि केवलकप्पा पुढवी चलेज्जा। इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं केवलकप्पा पुढवी चलेज्जा॥ ८०॥

छाया—त्रिभिः स्थानैर्देशः पृथिव्याश्चलति, तद्यथा—अधः खलु अस्या रत्न-प्रभायाः पृथिव्या उदाराः पुद्गला निपतेयुः, ततः खलु ते उदारा पुद्गला निपतन्तो देशं पृथिव्याः चालयन्ति।

महोरगो वा महर्द्धिको यावत् महेशाख्योऽस्या रत्न-प्रभायाः पृथिव्या अध उन्मग्ननिमग्निकां कुर्वन् देशं पृथिव्याश्चालयेत्।

नाग-सुपर्णानां वा संग्रामे वर्तमाने देशःपृथिव्याश्चलति। इत्येतैस्त्रिभिः स्थानैर्देशः पृथिव्याश्चलति।

त्रिभिः स्थानैः केवलकल्पा पृथिवी चलति, तद्यथा—अधः खलु अस्याः रत्नप्रभायाः पृथिव्या घनवातो गुप्येत्, ततः खलु स घनवातो गुप्तः सन् घनोदधिमेजयेत्, ततः खलु स घनोदधिरेजितः सन् केवलकल्पां पृथिवीं चालयति।

देवो वा महर्द्धिको यावत् महेशाख्यस्तथारूपाय श्रमणाय वा माहनाय वा ऋद्धिं,

द्युतिं, बलं, वीर्यं, पुरुषकारं पराक्रममुपदर्शयन् केवलकल्पां पृथिवीं चालयति।

देवासुर-संग्रामे वा वर्तमाने केवलकल्पा पृथिवी चलति। इत्येतैस्त्रिभिः स्थानैः केवलकल्पा पृथिवी चलति।

शब्दार्थ—**तिहिं ठाणेहिं**—तीन स्थानों से, **देसे पुढवीए चलेज्जा**—देश से रत्नप्रभा पृथिवी कम्पायमान होती है अर्थात् एकदेशीय भूमिकम्प होता है, **तं जहा**—जैसे, **अहे णं**—नीचे, **इमीसे**—इस, **रयणप्पभाए पुढवीए**—रत्नप्रभा पृथिवी पर, **उराला**—प्रधान, **पोग्गला**—पुद्‌गल, **णिवएज्जा**—गिरें, **तए णं**—तब, **ते**—वे, **उराला पोग्गला**—उदार पुद्‌गल, **णिवयमाणा**—गिरते हुए, **देसं पुढवीए चलेज्जा**—देश से पृथिवी को कम्पित करते हैं।

महिड्ढीए—महाऋद्धिक, **जाव**—यावत्, **महेसक्खे**—कोई महेशाख्य, **महोरगे वा**—व्यन्तर देव विशेष, **इमीसे**—इस, **रयणप्पभाए पुढवीए**—रत्नप्रभा नामक पृथ्वी के, **अहे**—नीचे जब, **उम्मग्जणिमग्जियं करेमाणे**—ऊपर और नीचे उत्पतन और निपतन करता है, तब, **देसं पुढवीए चलेज्जा**—देशरूप में पृथ्वी चलायमान होती है, अथवा, **णागसुवन्नाण वा**—नागकुमारों और सुपर्णकुमारों के परस्पर, **संगामंसि**—संग्राम, **वट्टमाणंसि**—होने पर, **देसं पुढवीए चलेज्जा**—देशरूप में पृथ्वी चलायमान होती है, **इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं देसं पुढवीए चलेज्जा**—इन तीन कारणों से देश पृथ्वी चलती है।

तिहिं ठाणेहिं—तीन स्थानों से, **केवलकप्पा**—परिपूर्ण, **पुढवी चलेज्जा**—पृथ्वी चलती है, **तं जहा**—यथा, **इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए**—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के, **अहे णं**—नीचे, **घणवाए**—घनवात, **गुप्पेज्जा**—क्षुब्ध होता है, **तए णं**—तब, **से**—वह, **घणवाए**—घनवात, **गुविए समाणे**—क्षुब्ध होने पर, **घणोदहिमेएज्जा**—घनोदधि को कम्पित करता है, **तए णं**—तत्पश्चात्, **से**—वह, **घणोदही एइए समाणे**—घनोदधि कम्पित होता हुआ, **केवलकप्पं**—सम्पूर्ण, **पुढविं चालेज्जा**—पृथ्वी को चलायमान करता है।

वा—अथवा कोई, **महिड्ढिए**—महर्द्धिक, **जाव**—यावत्, **महेसक्खे**—महेशाख्य, **देवे**—देव, **तहारूवस्स**—तथा रूप गुण-युक्त, **समणस्स वा**—श्रमण को अथवा, **माहणस्स वा**—देशवृत्ति श्रावक को स्वकीय, **इड्ढिं**—ऋद्धि, **जुइं**—द्युति, **जसं**—यश, **बलं**—बल, **वीरियं**—वीर्य और, **पुरिसक्कारपरक्कमं**—पुरुषकार पराक्रम, **उवदंसेमाणे**—दिखाता हुआ, **केवलकप्पं**—सम्पूर्ण, **पुढविं चालेज्जा**—भूमि को चलायमान करता है।

वा—अथवा, **देवासुरसंगामंसि**—वैमानिक, असुरकुमार और भवनपति इनका परस्पर संग्राम, **वट्टमाणंसि**—प्रवृत्त होने पर, **केवलकप्पा पुढवी चलेज्जा**—संपूर्ण पृथ्वी कम्पित होती है, **इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं केवलकप्पा पुढवी चलेज्जा**—इन तीन कारणों से सम्पूर्ण पृथ्वी चलायमान होती है।

मूलार्थ—तीन कारणों से देशरूप में पृथ्वी अर्थात् पृथ्वी का कोई एक भाग

कम्पित होता है।

प्रथम कारण है—जिस समय भूमि पर कोई प्रधान पुद्गल गिरता है, उसके गिरने से पृथ्वी का कोई भाग कांप उठता है।

दूसरा कारण है—कोई महर्द्धिक ऐश्वर्य-सम्पन्न व्यन्तर देव-विशेष जिस समय रत्नप्रभा पृथ्वी पर दर्प से बार-बार ऊपर नीचे गमन करता है, तब पृथ्वी का कोई भाग कांपने लगता है।

तीसरा कारण है—जब नागकुमार और सुपर्णकुमार देवों का परस्पर युद्ध होता है तब भी एकदेशीय भूकम्प होता है। इन तीन कारणों से एकदेशीय भूमि का कम्पन होता है।

तीन कारणों से सम्पूर्ण पृथ्वी चलायमान होती है, जैसे—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे जिस समय घनवात व्याकुल होता है और उससे घनोदधि कम्पित होता है उससे सम्पूर्ण पृथ्वी प्रकम्पित हो जाती है।

जिस समय कोई महर्द्धिक यावत् महेश वा महासुख वाला कोई देव तथारूप साधु अथवा श्रावक को अपनी ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम दिखाता है, उस समय सम्पूर्ण पृथ्वी कम्पित होती है।

अथवा जब देव और असुरों का आपस में युद्ध होता है, तब भी सम्पूर्ण पृथ्वी चलायमान होती है। इन कारणों से भूचाल हुआ करता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में मनुष्य-क्षेत्र का वर्णन किया गया है, वह मनुष्य-क्षेत्र अर्थात् यह पृथ्वी कभी-कभी प्रकम्पित भी हो जाती है, अत: स्वभावत: जिज्ञासा होती है कि इसके प्रकम्प का अर्थात् भूकम्प का कारण क्या है? प्रस्तुत सूत्र में इसी प्रश्न का समाधान किया गया है।

भूकम्प प्राकृतिक जगत का प्रसिद्ध भौतिक संकट है और युग-युगान्तरों से भूकम्प के कारणों के विषय में मानव-मस्तिष्क सोचता आ रहा है। विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं में इसके विभिन्न कारण प्रदर्शित किए गए हैं। जैसे कि "शेषनाग द्वारा फण-भार का बदला जाना, किसी विशालकाय बैल द्वारा पृथ्वी को एक सींग से दूसरे सींग पर धरना आदि।" परन्तु जैनागमों ने भूकम्प के आधिभौतिक और आधिदैविक दोनों कारणों पर सांकेतिक प्रकाश डाला है।

भूकम्प के दो रूप हैं—आंशिक भूकम्प और सार्वदेशिक भूकम्प। जिस प्रकार शरीर के नेत्र, भुजा आदि अंगों का स्फुरण होता है उसी प्रकार किसी सीमित भू-भाग का भी प्रकम्प होता है, इस प्रकम्प को आंशिक भूकम्प कहा गया है और जिस प्रकार शीत एवं

भय आदि के कारण सारा शरीर एक साथ प्रकम्पित हो जाता है उसी प्रकार समस्त भूमण्डल का एक साथ प्रकम्पन सार्वदेशिक भूकम्प कहा गया है। प्रस्तुत सूत्र दोनों के कारणों का विश्लेषण करता है।

वर्तमान विज्ञान प्रदेश विशेष के भूकम्प का कारण पृथ्वी के भाग-विशेष का अन्तः-स्खलन मानता है और इस स्खलन के कई कारण स्वीकार किए गए हैं, ज्वालामुखियों द्वारा पार्थिव चट्टानों का पिघलना, विशेष जल-प्रवेश के कारण अन्तः भू-भागों का विगलन, और एटम बम आदि के कारण तीव्र शक्ति द्वारा प्रकम्पन आदि।

आगमकार भी यही कारण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जब सशक्त पार्थिव पुद्‌गल घात-प्रतिघात के रूप में इस पृथ्वी से टकराते हैं तब पृथ्वी के किसी भाग-विशेष में प्रकम्प होता है उसे ही आंशिक भूकम्प कहते हैं। इस प्रकरण में पुद्‌गल का विशेषण "उदाराः" दिया गया है जिसका अर्थ है अनन्त शक्तिमान पुद्‌गल या टूटती एवं पिघलती चट्टानें एवं आर्द्रता के कारण गलते मृत्पिण्ड। इसी प्रकार के परमाणु-पुद्‌गल-पिण्ड ही तो हैं जिनके गिरने एवं टकराने आदि से भौतिक शास्त्र भूकम्प का आना स्वीकार करते हैं। इस प्रकार आज से दो हजार वर्ष पूर्व भौतिक सत्य को जैनागमों ने ही व्यक्त किया है।

उपर्युक्त कारण भौतिक विज्ञान सम्मत हैं। इनके अतिरिक्त भूकम्प का आधिदैविक कारण भी होता है, आज का विज्ञान चाहे इसे स्वीकार न करे, किन्तु सामाजिक जीवन में आधिदैविक घटनाएं प्रायः घटित होती रहती हैं, पत्थरों की वर्षा, अनाज का बरसना और घरों की खाटों का उलटना आदि अनेकशः दैवी घटनाओं के कारणों का मूल आज तक भौतिक विज्ञान नहीं सोच पाया है। शास्त्रकार कहते हैं कि जब सशक्त महोरगदेव आदि अपना प्रभाव प्रकट करते हैं तो कभी-कभी पृथ्वी में कम्पन हो जाता है। भूकम्प का यह आधिदैविक कारण भी स्वीकार करना पड़ता है।

आधिदैविक का एक दूसरा रूप भी प्रदर्शित किया गया है कि नाग एवं सुपर्ण आदि भवनपति देवों का परस्पर युद्ध होने पर उनके पदचापों से पृथ्वी का प्रदेश-विशेष कम्पित हो उठता है। नागकुमार सुपर्ण कुमार आदि भवनपति देवता भौतिक उत्पातकारिणी शक्तियों के ही प्रतिरूप हैं, भौतिक शक्तियों के टकराव पर पृथ्वी का प्रकम्पन स्वाभाविक ही है।

यहां तक पृथ्वी के प्रदेश-विशेष के कम्पन की चर्चा की गई है। अब सम्पूर्ण पृथ्वी के प्रकम्प के कारणों की विवेचना प्रस्तुत करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि सम्पूर्ण पृथ्वी भी कभी-कभी कांप उठती है, आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि ऐसा प्रायः चार-पांच हजार वर्ष बाद हो जाया करता है, इसे वैज्ञानिक भाषा में खण्ड प्रलय कहा जाता है। खण्ड प्रलय का प्रमुख रूप भूकम्प को ही माना गया है, परन्तु यह भूकम्प क्यों होता है? इसका कोई स्पष्ट एवं निश्चित कारण नहीं बताया गया। शास्त्रकार कहते हैं कि पृथ्वी के बाह्य मण्डल में घनवात नामक वायु का वलय है, जब इस घनवात में किसी भी प्रकार का

भौतिक विकार उत्पन्न होता है तो उसमें हलचल पैदा हो जाती है। उस हलचल से पृथ्वी के बाह्य मण्डल का घनोदधि (सम्भवतः वाष्पाकार जलीय भाग जो पृथ्वी के बाह्य मण्डल में विद्यमान रहता है) विकृत होकर कांपने लगता है, वह कम्प इतना तीव्र होता है कि उससे समस्त भूमण्डल कम्पित हो उठता है। यह समस्त पृथ्वी के कम्प का भौतिक कारण है।

भू-कम्प के आधिदैविक कारणों पर प्रकाश डालते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जब कोई महान् शक्तिशाली देव किसी तपस्वी महापुरुष के तप-प्रभाव से प्रभावित होकर अपना तेज एवं पराक्रम आदि प्रदर्शित करता है तो उसके पराक्रम से समस्त भूमण्डल कम्पित हो जाता है।

दैवी शक्तियों और आसुरी शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष से भी भूमण्डल का कम्पित हो जाना शास्त्रकार ने स्वीकार किया है।

यद्यपि आज का तथाकथित शिक्षित समाज आधिदैविक कारणों की स्वीकृति में आना-कानी करता है, किन्तु समय-समय पर मानव-जाति दैवी शक्तियों के समक्ष घुटने टेकती रही है यह एक ऐतिहासिक सत्य है।

किल्विषिक देवों की स्थिति

मूल—तिविहा देवकिव्विसिया पण्णत्ता, तं जहा—तिपलिओवमट्ठिइया, तिसागरोवमट्ठिइया, तेरससागरोवमट्ठिइया।

कहि णं भंते! तिपलिओवमट्ठिइया देवकिव्विसिया परिवसंति? उप्पिं जोइसियाणं हिट्ठिं सोहम्मीसाणेसु एत्थ णं तिपलिओवमट्ठिइया देव-किव्विसिया परिवसंति।

कहि णं भंते! तिसागरोवमट्ठिइया देवकिव्विसिया परिवसंति? उप्पिं सोहम्मीसाणाणं कप्पाणं हेट्ठिं सणंकुमारमाहिंदे कप्पे एत्थ णं तिसागरो-वमट्ठिइया देवकिव्विसिया परिवसंति।

कहि णं भंते! तेरससागरोवमट्ठिइया देवकिव्विसिया परिवसंति? उप्पिं बंभलोगस्स कप्पस्स हिट्ठिं लंतगे कप्पे एत्थ णं तेरससागरोव-मट्ठिइया देवकिव्विसिया परिवसंति ॥८१॥

छाया—त्रिविधा देवकिल्विषिकाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—त्रिपल्योपमस्थितिकाः, त्रिसागरोपमस्थितिकाः, त्रयोदशसागरोपमस्थितिकाः।

कुत्र खलु भदन्त! त्रिपल्योपमस्थितिकाः देवकिल्विषिका परिवसन्ति? उपरिज्यो-तिष्कानामधः सौधर्मेशानकल्पयोरत्र खलु त्रिपल्योपमस्थितिकाः देवकिल्विषिकाः परिवसन्ति।

कुत्र खलु भदन्त! त्रिसागरोपमस्थितिकाः देवकिल्विषिकाः परिवसन्ति? उपरिसौधर्मेशानयोः कल्पयोरधः सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोरत्र खलु त्रिसागरोपम-स्थितिकाः देवकिल्विषिकाः परिवसन्ति।

कुत्र खलु भदन्त! त्रयोदशसागरोपमस्थितिकाः देवकिल्विषिकाः परिवसन्ति? उपरिब्रह्मलोकस्य कल्पस्याधोलान्तकस्य कल्पेऽत्र खलु त्रयोदश सागरोपमस्थितिकाः देवकिल्विषिकाः परिवसन्ति।

शब्दार्थ—**तिविहा देवकिव्विसिया पण्णत्ता, तं जहा**—तीन प्रकार के किल्विषिक देव प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—**तिपलिओवमट्ठिइया**—तीन पल्योपमस्थिति वाले, **तिसागरोवमट्ठिइया**—तीन सागरोपम स्थिति वाले, **तेरससागरोवमट्ठिइया**—तेरह सागरोपम स्थिति वाले।

भंते—हे भगवन्, **तिपलिओवमट्ठिइया**—तीन पल्योपम स्थिति वाले, **देवकिव्वि-सिया**—किल्विषिक देव, **कहि णं**—किस जगह, **परिवसंति**—निवास करते हैं, **जोइसियाणं**—ज्योतिष्क देवों से, **उप्पिं**—ऊपर और, **सोहम्मीसाणेसु**—सौधर्म और ईशान, **कप्पेसु**—कल्पों के, **हिट्ठिं**—नीचे, **एत्थ णं**—यहां, **तिपलिओवमट्ठिइया**—तीन पल्योपम स्थिति वाले, **देवकिव्विसिया**—किल्विषिक देव, **परिवसंति**—निवास करते हैं।

भंते—हे भगवन्!, **तिसागरोवमट्ठिइया**—तीन सागरोपमस्थितिवाले, **देवकिव्वि-सिया**—किल्विषिक देव, **कहि णं**—कहां, **परिवसंति**—निवास करते हैं ?, **सोहम्मीसाणाणं कप्पाणं**—सौधर्म और ईशान कल्पों के, **उप्पिं**—ऊपर और, **सणंकुमारमाहिंदे कप्पे**—सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पों के, **हिट्ठिं**—नीचे, **एत्थ णं**—यहां, **तिसागरोवमट्ठिइया**—तीन सागरोपम स्थिति वाले, **देवकिव्विसिया**—किल्विषिक देव, **परिवसंति**—निवास करते हैं।

भंते—हे भगवन्!, **तेरससागरोवमट्ठिइया**—तेरह सागरोपम स्थिति वाले, **देवकिव्वि-सिया**—किल्विषिक देव, **कहि णं**—कहां, **परिवसंति**—निवास करते हैं, **बंभलोगस्स कप्पस्स**—ब्रह्मलोक कल्प के, **उप्पिं**—ऊपर और, **लंतगे कप्पे**—लान्तक कल्प के, **हिट्ठिं**—नीचे, **एत्थ णं**—यहां पर, **तेरससागरोवमट्ठिइया**—त्रयोदश सागरोपम स्थिति वाले, **देवकिव्विसिया**—किल्विषिक देव, **परिवसंति**—निवास करते हैं।

मूलार्थ—तीन पल्योपम स्थितिवाले, तीन सागरोपम स्थिति वाले और तेरह सागरोपम स्थिति वाले, ये तीन प्रकार के किल्विषिक देव प्रतिपादित किए गए हैं। हे भगवन्! तीन पल्योपमस्थितिक किल्विषिक देव किस स्थान पर रहते हैं? हे शिष्य! ज्योतिष्क मण्डल से ऊपर और सौधर्म तथा ईशान कल्पों के नीचे तीन पल्योपम स्थिति वाले किल्विषिक देव रहते हैं।

हे भगवन्! तीन सागरोपम स्थितिक किल्विषिक देव कहां रहते हैं?

हे शिष्य! सौधर्म तथा ईशान कल्पों के ऊपर और सनत्कुमार एवं माहेन्द्रकल्पों के नीचे तीन सागरोपम स्थितिक किल्विषिक देव निवास करते हैं।

हे भगवन्! तेरह सागरोपम स्थितिक किल्विषिक देव कहां रहते हैं? हे शिष्य! ब्रह्मलोक कल्प के ऊपर और लान्तक कल्प देवलोक के नीचे तेरह सागरोपम स्थितिक किल्विषिक देव निवास करते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में भूकम्प के कारणों पर प्रकाश डालते हुए देवों के संग्राम आदि का संकेत किया गया है। इनमें संग्रामादि की वृत्ति निम्नकोटि के देवों की वृत्ति है, अतः अब निम्नकोटि के देवों एवं उनके स्थितिकाल का वर्णन उपस्थित किया गया है।

जो देव वैमानिक देवों में चाण्डाल की तरह अस्पृश्य माने जाते हैं और एकान्त मिथ्या-दृष्टि हैं, वे किल्विषिक देव कहलाते हैं। जो मनुष्य साधना मार्ग पर चलते हुए भी निन्दाशील होते हैं, वे देवलोक में किल्विषिक देवों के रूप में ही जन्म लेते हैं।

किल्विषिक देव बनने के पांच कारण हैं—जो श्रुतज्ञान की, केवली भगवान् की, धर्मगुरु की, संघ और उत्तम साधुओं की निन्दा-अवर्णवाद और अशातना करता है वह जीव किल्विषी देव बनता है। जो मायावी साधक एक ओर तो धर्म करता है और दूसरी ओर धर्म-उपासकों की निन्दा एवं अवहेलना करता है उसकी उत्पत्ति किल्विषी विमानों में होती है।

लोगों को रिझाने के लिए कपट करने वाले, बात-बात में अप्रसन्न व खुश होने वाले, गृहस्थों की चापलूसी एवं खुशामद करने वाले, अपनी शक्ति को तप-संयम में न लगाने वाले तथा दूसरों के गुणों को ढकने वाले साधु या श्रावक मायावी कहलाते हैं। मायावी सम्यक्त्व और चारित्र के पावन पथ से पतित होकर किल्विषी देवों में जन्म लेते हैं।

किल्विषी देव तीन तरह के होते हैं—तीन पल्योपम आयु वाले, तीन सागरोपम आयु वाले और तेरह सागरोपम की आयु वाले।

पहले और दूसरे देवलोक से नीचे और ज्योतिष्क देवों के ऊपर तीन पल्योपम की स्थिति वाले किल्विषी देव रहते हैं।

पहले और दूसरे देवलोक से ऊपर और तीसरे एवं चौथे देवलोक से नीचे तीन सागरोपम की आयु वाले किल्विषी देव निवास करते हैं।

तेरह सागरोपम की स्थिति वाले किल्विषी देव पांचवें और छठे देवलोक के अन्तराल में निवास करते हैं।

ये तीन प्रकार के किल्विषी देव एकान्त मिथ्यादृष्टि होते हैं। इनका भावी जन्म प्रायः तिर्यंचों में होता है, यदि मनुष्य गति में जन्म लेते भी हैं तो दरिद्र, दीर्घ-रोगी एवं निन्दनीय कुल में जन्म लेते हैं।

इस प्रकार शास्त्रकार ने साधक को लौकिक और पारलौकिक दुर्गति का परिचय देकर सावधान किया है और उसे किल्विषिकत्व से मुक्त रहने के लिए सचेत किया है। किल्विषिकत्व से मुक्त साधना ही तो साधना है।

देव-स्थिति

मूल—सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो बाहिरपरिसाए देवाणं तिन्नि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो अब्भिंतरपरिसाए देवीणं तिन्नि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता।

ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरण्णो बाहिरपरिसाए देवीणं तिन्नि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ॥ ८२ ॥

छाया—शक्रस्य खलु देवेन्द्रस्य देवराजस्य बाह्यपरिषदो देवानां त्रीणि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

शक्रस्य खलु देवेन्द्रस्य देवराजस्य आभ्यन्तरपरिषदो देवीनां त्रीणि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

ईशानस्य खलु देवेन्द्रस्य देवराजस्य बाह्यपरिषदो देवीनां त्रीणि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—देवराज देवेन्द्र शक्र की बाह्य-परिषद् के देवों की तीन पल्योपम की स्थिति है।

देवराज देवेन्द्र शक्र की आभ्यन्तर-परिषद् की देवियों की स्थिति भी तीन पल्योपम की है।

देवराज देवेन्द्र ईशान की बाह्य-परिषद् की देवियों की भी तीन पल्योपम स्थिति प्रतिपादन की गई है।

विवेचनिका—किल्विषिक देवों की चर्चा के समय अन्य देवों की आयु-स्थिति जानने की स्वाभाविक जिज्ञासा को शान्त करते हुए सूत्रकार पार्षद् देव-देवियों की स्थिति का वर्णन प्रस्तुत करते हैं। सौधर्मेन्द्र की जो बाहर की देव-परिषदें हैं उनमें स्थित देवों की स्थिति भी तीन पल्योपम की है। आभ्यन्तर-परिषद् की सदस्या देवियों की स्थिति भी तीन पल्योपम की है। ईशानेन्द्र की जो बाह्य परिषद् की देवियां हैं उनकी भी तीन पल्योपम की आयु-स्थिति है।

इससे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि इन्द्र भी आभ्यन्तर परिषद् में किए हुए निर्णयानुसार क्रिया करते हैं। जिस प्रकार राजनीति में देवों को अधिकार प्राप्त है उसी प्रकार देवियों को भी पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। इससे स्त्री जाति की विशिष्टता सिद्ध की गई है, इतना ही नहीं उनके अधिकार भी देवों के समान कथन किए गए हैं।[१]

सामान्य प्रायश्चित्त और कठोर प्रायश्चित्त

मूल—तिविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते, तं जहा—णाणपायच्छित्ते, दंसण-पायच्छित्ते, चरित्तपायच्छित्ते।

तओ अणुग्घाइमा पण्णत्ता, तं जहा— हत्थकम्मं करेमाणे, मेहुणं सेवमाणे, राईभोयणं भुंजमाणे।

तओ पारंचिआ पण्णत्ता, तं जहा—दुट्ठंपारंचिए, पमत्तपारंचिए, अन्न-मन्नं करेमाणे पारंचिए।

तओ अणवट्ठप्पा पण्णत्ता, तं जहा—साहम्मियाणं तेणं करेमाणे, अन्नधम्मियाणं तेणं करेमाणे, हत्थतालं दलयमाणे॥८३॥

छाया—त्रिविधं प्रायश्चित्तं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—ज्ञान-प्रायश्चित्तं, दर्शन-प्रायश्चित्तं, चारित्र-प्रायश्चित्तम्।

त्रयोऽनुद्घातिमाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हस्तकर्म कुर्वन्, मैथुनं सेवमानः, रात्रि-भोजनं भुञ्जानः।

त्रयः पाराञ्चिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—दुष्ट-पाराञ्चिकः, प्रमत्त-पाराञ्चिकः, अन्योऽन्यं कुर्वन् पाराञ्चिकः।

त्रयोऽनवस्थाप्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—साधर्मिकाणां स्तैन्यं कुर्वन्, अन्यधार्मिकाणां स्तैन्यं कुर्वन्, हस्ततालं ददत्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—प्रायश्चित्त तीन प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—ज्ञानप्रायश्चित्त, दर्शन-प्रायश्चित्त और चारित्र-प्रायश्चित्त।

तीन अनुद्घातिम कथन किए गए हैं, जैसे—हस्तकर्म करने वाला, मैथुन सेवन करने वाला और रात्रिभोजन करने वाला।

पाराञ्चिक तीन प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—अत्यन्त क्रोध करने वाला, अत्यन्त प्रेम करने वाला और परस्पर मैथुन सेवन करने वाले।

---

१. विशेष वर्णन के लिए देखिए जीवाभिगम सूत्र।

तीन प्रकार का अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्रतिपादन किया गया है। जैसे—साधर्मिकों की चोरी करने वाले को, अन्यधर्मियों की चोरी करने वाले को और हस्तताल अर्थात् चपेट आदि मारने वाले को।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में देवलोकों के उच्च अधिकार-सम्पन्न देवों एवं देवियों का वर्णन किया गया है। उच्च अधिकार-सम्पन्न देवत्व को प्राप्त करने के लिए चारित्र की परिशुद्धि अनिवार्य है। यद्यपि चारित्र का दोषमुक्त होना ही उसका शुद्धित्व है, परन्तु कभी-कभी परिस्थिति वश दोष हो ही जाते हैं, उनसे मुक्ति का उपाय है प्रायश्चित्त, अतः अब प्रायश्चित्त का वर्णन किया जाता है।

श्रुतज्ञान में लगे हुए दोषों की निवृत्ति करना ज्ञान-प्रायश्चित्त है, सम्यग्दर्शन में लगे हुए दोषों की निवृत्ति करना दर्शनप्रायश्चित्त है और चारित्र में लगे हुए दोषों की निवृत्ति करना चारित्र प्रायश्चित्त है। मूलगुण और उत्तरगुण की विराधना करना चारित्र अतिचार है, इन सबकी शुद्धि प्रायश्चित्त से होती है, इसी कारण सूत्रकर्त्ता ने प्रायश्चित्त के तीन भेद कथन किए हैं।

निशीथ सूत्र में प्रायश्चित्त के अनेक भेद कथन किए गए हैं, जैसे कि—लघुमासिक, गुरुमासिक, लघुचौमासी और गुरुचौमासी। प्रायश्चित्त के सूत्रकार ने उद्घातिम और अनुद्घातिम दो रूप बताए हैं। वृत्तिकार के शब्दों में—

"अणुग्घाइय" ति, उद्घातो—भागपातस्तेन निर्वृत्तमुद्घातिमं, लघ्वित्यर्थः, यत उक्तम्—

अद्धेण छिन्नसेसं, पुव्वद्धेण तु संजुयं काउं।
देज्जाहि बहुयदाणं, गुरुदाणं तत्तियं चेव॥

इति भावना, मासोऽर्द्धेन छिन्नो जातानि पञ्चदशदिनानि, ततो मासापेक्षया पूर्वतपः पञ्चविंशतितमं तदर्द्धं सार्द्धद्वादशकं तेन संयुतं मासार्द्धं, जातानि सप्तविंशतिदिनानि सार्द्धानीत्येवं कृत्वा यद्दीयते तल्लघुमासदानम्, एवमन्यान्यपि एतन्निषेधादनुद्घातिमं तपो गुर्व्वित्यर्थः, तद्योगात्साधवोऽपि वा तथोच्यन्ते।

वृत्तिकार का भाव यह है कि लघु प्रायश्चित्त को उद्घातिम और गुरुप्रायश्चित्त को अनुद्घातिम कहते हैं जिस प्रायश्चित्त का वहन २७ दिनों में किया जाए, उसे लघुमासिक कहते हैं। नक्षत्र मास क्योंकि २७ दिन का होता है इससे कम दिनों का कोई मास नहीं है, इसलिए सबसे लघुमास २७ दिनों का होता है। जिस प्रायश्चित्त का वहन ३० दिनों में किया जाए उसे गुरुमासिक कहते हैं। इसी प्रकार अन्य-अन्य के विषय में जानना चाहिए। प्रबल दोषों की निवृत्ति के लिए प्रबल प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। जिससे साधक की आत्मा पूर्ण शुद्ध होकर पुनः दोषों में प्रवृत्त न हो सके।

अनुद्घातिम प्रायश्चित्त—इसका अर्थ है कठोर प्रायश्चित। शास्त्रकार ने इसके तीन रूप प्रस्तुत किये हैं—हस्तकर्म, मैथुन-सेवन और रात्रि-भोजन। ये तीन दोष मूलगुण के घातक होने के कारण सर्वविरति साधक इनसे अनुद्घातिम् प्रायश्चित्त का भागी बनता है, उक्त क्रियाएं आत्मविराधना और सयम-विराधना करने वाली हैं।

जो व्यक्ति हस्तकर्म करते हैं वे आत्मशक्तियों और शारीरिक शक्तियों का स्वयमेव नाश तो कर ही बैठते हैं साथ ही संयम-मार्ग से भ्रष्ट भी हो जाते हैं। रोग-शोक आदि नाना प्रकार की असाध्य व्याधियों को आमंत्रित कर अधम गतियों में जाने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

मैथुन सेवन करने से ब्रह्मचर्य रूपी अचिन्त्य-चिन्तामणि को गंवाना बुद्धिमत्ता नहीं है। ब्रह्मचर्य से बढ़कर संसार मे अन्य कोई उत्तम तप नहीं है, यथा **'तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं।'** इस तप की आराधना के लिए अनेक प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों का दमन करना पड़ता है, तभी यह अमूल्य महानिधि सुरक्षित रह सकती है। पांच इन्द्रियां और मन ये छः इस निधि के लुटेरे हैं, इन्हें वश करना ही ब्रह्मचर्य है। जिन प्रतिकूल साधनों में इसका विनाश होता है, उनसे साधक को सावधान रहना चाहिए।

रात्रि-भोजन—सर्वविरति के सभी मूलगुणों को दूषित करने वाला दोष है। यत् किंचित् हिंसा होने से अहिंसा महाव्रत, इसी प्रकार प्रतिज्ञा भंग होने से सत्य महाव्रत, भगवान् की आज्ञा भंग होने से अस्तेय महाव्रत, रात्रि भोजन करने से ब्रह्मचर्य महाव्रत भी खतरे से खाली नही है। रात को भोजन आदि सग्रह करके रखने से अपरिग्रहव्रत दूषित हो जाता है, अतः सर्वविरति के लिए रात्रि-भोजन सर्वथा निषिद्ध है, इसी कारण आगमों में अनुद्घातिम प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

पारांचिक प्रायश्चित्त—

पारांचिक का अर्थ होता है—जिस अपराध को तपस्या के द्वारा नष्ट किया जाता है, उसे पारांची कहा जाता है और इस प्रकार की तप-प्रक्रिया करने वाले साधु को पारांचिक कहते है। प्रायश्चित्त की गणना मे इसका स्थान दसवां है। इसमें अपराधी का लिग, क्षेत्र, काल, तप आदि से निष्कासन होता है। सघ से या वेष से बाहर करना लिंगतः निष्कासन होता है, किसी क्षेत्र विशेष से, ग्राम या प्रान्त आदि से निष्कासन क्षेत्रतः निष्कासन होता है, निश्चित काल के लिए निष्कासन कालतः निष्कासन माना जाता है और तप-विशेष की पूर्णता तक किसी का निष्कासन तपोनिष्कासन माना गया है।[१] यही प्रायश्चित्त का उत्कृष्टतम रूप है।

यह दो प्रकार का होता है "**आशातना पारांचिक** और **प्रतिसेवना पारांचिक**"।

१ इस विषय के विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखिए कल्पभाष्य।

प्रत्येक के पुनः दो-दो भेद होते हैं—**"सचारित्र आशातना पारांचिक"** और **"अचारित्र आशातना पारांचिक"** इसी प्रकार **"सचारित्र प्रतिसेवना पारांचिक"** और **"अचारित्र प्रतिसेवना पारांचिक।"**

आशातना पाराञ्चिक—

आशातना पारांचिक वह प्रायश्चित्त है जिसका तीर्थंकर भगवान्, प्रवचन, श्रुताचार्य, गणधर और महाऋद्धि वाले मुनियों की आशातना करने पर विधान किया गया है, कहा भी है—

तित्थयर पवयण सुए, आयरिए गणहरे महिड्ढीए।
एते आसायंते, पच्छित्ते-मग्गणा होइ ॥

प्रतिसेवना पाराञ्चिक—

प्रतिसेवना पारांचिक के तीन भेद वर्णित किए गए हैं, जैसे कि—**दुष्टपारांचिक, प्रमत्त पारांचिक** और **अन्योन्य पारांचिक**। दुष्ट पारांचिक के दो भेद हैं—कषायदुष्ट और विषयदुष्ट, ये दोनों स्वपक्ष और परपक्ष के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। जो उत्कट क्रोधवश मृत आचार्य के दांतों को उखाड़ने वाला मुनि है वह स्वपक्ष कषायदुष्ट कहलाता है और अपने पक्ष से भिन्न लोगों को क्रोधादि के वश होकर कष्ट पहुचाने वाला परपक्ष कषाय दुष्ट कहलाता है। जो स्वपक्ष की साध्वी पर या अन्यगण की साध्वी पर विषयासक्त हो जाता है वह स्वपक्ष विषयदुष्ट कहलाता है अथवा जो मुनि राजा की रानी के साथ विषय-भोग का अभिलाषी होता है वह परपक्ष विषयदुष्ट कहलाता है।

प्रमत्त शब्द के ग्रहण करने से पाचवी स्त्यानर्द्धि निद्रा निद्रित होकर मोटी हिंसा करने वाला या मास आदि का सेवन करने वाला मुनि प्रमत्त पाराचिक कहलाता है।

परस्पर अप्राकृतिक कुचेष्टा करना अन्योन्य दोष कहलाता है, ऐसे दोषी को पारांचिक प्रायश्चित्त दिया जाता है। मानसिक परिणाम और अपराध की अपेक्षा के अनुसार प्रायश्चित्त देना आचार्य का कर्त्तव्य है।

अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त—जो तप करने के बाद जब तक पुनः दीक्षा के योग्य न हो जाए तब तक अमुक प्रकार की तपश्चर्या में ही लीन रहे, तप के अनन्तर दोबारा दीक्षा लेने पर ही उसे प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध माना जाता है। तीन प्रकार के ऐसे दोष है, जिनके कारण सर्वविरति को उक्त प्रायश्चित्त करना पड़ता है। वृत्तिकार के शब्दों में—

आसेवितातिचारविशेषः सन्ननाचरिततपो विशेषः तद्दोषोपरतोऽपि महाव्रतेषु नावस्थाप्यते—नाधिक्रियते इत्यनवस्थाप्यस्तदतिचारजातं तच्छुद्धिरपि वाऽनवस्थाप्य-मुच्यत इति नवमं प्रायश्चित्तमिति।

अर्थात् दोषों के सेवन करने से जो अतिचार युक्त हो रहा है और वह आचार्य के पास रहकर पुनः गृहस्थ वेश में तप कर रहा है और उसे प्रायश्चित्त की पूर्णता तक महाव्रतों में स्थापित नहीं किया जा रहा है, उस प्रायश्चित्त का नाम अनवस्थाप्य है। इस प्रकार का प्रायश्चित्त तीन कारणों से आता है—साधर्मियों की उपधि तथा शिष्यादि की चोरी करने से, अन्यधार्मिक शाक्यादि भिक्षुओं की तथा गृहस्थों की चोरी करने से। किसी को हाथ द्वारा चपेटा मारने से, यष्टि, मुष्टि, लकुट आदि के द्वारा मारने से मारने वाले मुनि को नवम प्रायश्चित्त आता है। किसी प्रति में '**हत्थतालं**' के स्थान पर "**अत्थायाणं दलमाणे**"—ऐसा पाठ मिलता है, इसका भाव यह हुआ—धन के उपार्जन के लिए अष्टांग निमित्तों का प्रयोग करना। अन्य किसी प्रति में पाठ मिलता है "**हत्थालंबं दलमाणे**"—इसका यह भाव है—कष्टों को शान्त करने के लिए मंत्र आदि सावद्य विद्याओं का प्रयोग करना, क्योंकि हिंसक क्रियाओं में प्रवृत्ति करने से मुनि को उक्त प्रायश्चित्त आता है, अतः आत्मविकास के लिये उत्तम संयम का पालन करना मुमुक्षु का मुख्य कर्त्तव्य है, संयम के विरुद्ध किसी भी प्रकार की चेष्टा न करना यही मार्ग साधकों के लिए सुप्रशस्त है।

दीक्षा के अयोग्य व्यक्ति

मूल—तओ णो कप्पंति पव्वावेत्तए, तं जहा—पंडए, वाइए, कीवे। एवं मुण्डावित्तए, सिक्खावित्तए, उवट्ठावित्तए, संभुंजित्तए, संवासित्तए ॥ ८४ ॥

छाया—त्रयो नो कल्पन्ते प्रव्राजयितुं, तद्यथा—पण्डकः, वातिकः, क्लीवः। एवं मुण्डयितुं, शिक्षयितुं, उपस्थापयितुं, संभोक्तुं, संवासितुम्।

शब्दार्थ—तओ णो कप्पंति—तीन प्रकार के व्यक्ति प्रव्रज्या अर्थात् दीक्षा के योग्य नहीं माने जाते, **तं जहा**—जैसे कि, **पंडए**—पण्डक अर्थात् जन्मजात नपुंसक, **वाइए**—पागल एवं व्याधिग्रस्त, **कीवे**—क्लीव अर्थात् नपुंसक। **एवं**—इसी प्रकार इन तीन को, **मुण्डावित्तए**—मुण्डित करने योग्य, **सिक्खावित्तए**—शिक्षित करने के योग्य, **उवट्ठा-वित्तए**—व्रतों में स्थापित करने योग्य, **संभुंजित्तए**—आहार-पानी करने योग्य, और, **संवासित्तए**—साथ रखने योग्य भी नहीं माना जाता।

मूलार्थ—तीन प्रकार के व्यक्ति प्रव्रज्या अर्थात् दीक्षा के योग्य नहीं माने गए हैं, जैसे कि—जन्म-जात नपुंसक, पागल एवं रोगी तथा नपुंसक। इसी प्रकार इन तीनों को मुण्डित करने योग्य, शिक्षित करने योग्य, व्रतों में स्थापित करने योग्य, साथ बिठलाकर आहार-पानी करने योग्य और साथ रहने योग्य भी नहीं माना गया है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में उन प्रायश्चित्तों का वर्णन किया गया है जो कि संयम-मार्ग से भ्रष्ट हो जाने वालों के लिये करने आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हैं, परन्तु इस सूत्र में सूत्रकार यह कहना चाहते हैं कि ऐसे व्यक्तियों को संयम के पावन मार्ग पर लाया ही नहीं जाना चाहिए जिनसे कदम-कदम पर संयम से विचलित होने की सम्भावना हो, ऐसे व्यक्तियों का निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पण्डक—इस शब्द का अर्थ है—जन्मजात नपुंसक अर्थात् हिजड़ा। हिजड़ों में मोहनीय कर्म का उदय रहने से उनकी प्रत्येक चेष्टा में कामुकता भरी रहती है। उनसे संयम पालने की आशा नहीं की जा सकती, परन्तु साथ ही अन्य संयम-साधकों के भ्रष्ट होने की नित्य आशंका का बना रहना स्वाभाविक होगा, इसलिए इन्हें संयम-साधकों के सम्पर्क में आने के अयोग्य ठहराया गया है।

वातिक—सामान्यत: वातिक शब्द का अर्थ है, वात-रोगी। वातरोगों के अन्तर्गत सब से भयंकर रोग है पागलपन। जिन व्यक्तियों को पागलपन का दौरा पड़ता हो, जो वात-रोगों के कारण मूर्छित हो जाते हों, जिन्हें मिरगी आदि वात-जन्य रोग हों—ऐसे व्यक्तियों को भी दीक्षा के पावन मार्ग पर लाकर अन्य संयम-पथ के पथिकों को मुसीबत में नहीं डालना चाहिए।

कुछ प्रतियों में 'वाइए' के स्थान पर 'वाहिय' पाठ प्राप्त होता है जिसका अर्थ है 'व्याधित' अर्थात् रोग-ग्रस्त। जो व्यक्ति सर्वदा रोगाक्रान्त रहता हो वह भला संयम-पथ के कठिन मार्ग पर कैसे चल सकता है? इसलिए व्याधिग्रस्त को भी दीक्षा आदि के अयोग्य ठहराया गया है।

क्लीव—यद्यपि क्लीव शब्द का सामान्य अर्थ नपुंसक ही है, परन्तु नपुंसक के लिए पण्डक शब्द द्वारा निषेध कर दिया गया है, अत· यहां क्लीव शब्द के लाक्षणिक अर्थ कायर, बुजदिल, भीरु, छिछोरा, पौरुषहीन एवं स्खलितवीर्य आदि ग्रहण किये जाते हैं।

साधना के मार्ग पर चलने के लिए वीरता की आवश्यकता है, दिल की दिलेरी चाहिए, गम्भीरता अपेक्षित होती है। जो साधारण सी विपत्ति के आने पर घबरा जाने वाले व्यक्ति होते हैं, उनके लिए साधना के पथ पर एक कदम चलना भी कठिन हो जाया करता है।

साधक के सम्पर्क में सभी प्रकार के लोग आते हैं—पुरुष, स्त्रियां एवं बच्चे। जो व्यक्ति सौन्दर्य-दर्शन मात्र से स्खलित होने वाला हो, उसे संयम के पथ पर लाकर संयम के भी बदनाम करने जैसा हो जाता है, अत: दीक्षा देने वाले गुरुओं को साधकों का चयन करते समय अत्यन्त सावधान होकर विभिन्न स्रोतों से दीक्षार्थी के जीवन को परख लेना चाहिए। क्लीवता आदि दोषों से युक्त व्यक्तियों को यदि संयम-मार्ग पर न लाया जाएगा

तो संयम-मार्ग पवित्र रह सकेगा, "न होगा बांस न बजेगी बांसुरी" न दोष की सम्भावना वाला व्यक्ति होगा, न संयम-भ्रष्टता का अवसर आएगा और न ही प्रायश्चित्त देने की नौबत आयेगी। इसलिए प्रथमचयन में ही सावधानी आवश्यक है।

वृत्तिकार तो सावधानी के मार्ग पर कुछ और आगे बढ़ते हुए कहते हैं कि—बालक, वृद्ध, नपुंसक, जड़, दुष्ट, क्लीव, रोगी, चोर, राज-अपराधी, पागल, नेत्रहीन, ऋणी, अंगहीन, भृतक, अपहृत, गर्भवती स्त्री एवं बाल-वत्सा स्त्री को भी दीक्षा के अयोग्य समझना चाहिए।

शास्त्रकारों का अभिप्राय यही है कि संयम-मार्ग को झंझटों से मुक्त एवं दूषित व्यक्तियों के सम्पर्क से दूर ही रखना चाहिए जिससे उन साधकों का जीवन विकृत न हो जाए जो पहले से कठिन साधना द्वारा आत्मोत्थान के लिए सतत यत्नशील हों।

पंडक, वातिक और क्लीव को संयम मार्ग के अनुपयुक्त बताने में शास्त्रकार का प्रमुख आशय यही ध्वनित होता है कि संयम-मार्ग के लिय सतत जागरूकता, निर्भीकता और अखण्ड ब्रह्मचर्य की नितान्त आवश्यकता है। इस कसौटी पर परखे हुए व्यक्ति को ही संयम-पथ का पथिक बनाना चाहिए।

अत्यन्त सावधान रहने पर भी कभी-कभी भूल का हो जाना स्वाभाविक होता है। यदि असावधानी से किसी अयोग्य व्यक्ति को दीक्षित कर भी लिया जाए, फिर भी उसकी अपरिहार्य दोषता को देखते ही उससे सम्पर्कसूत्र तोड़ दिए जाने चाहिएं। फिर उसका केशलोच न किया जाए, उसे दस प्रकार की समाचारी द्वारा शिक्षित न किया जाए। उसे पांच महाव्रतों में स्थापित न किया जाए, उसके साथ आहार-पानी न किया जाए और उसके साथ का भी परित्याग कर दिया जाना चाहिए, क्योंकि मदिरा-पात्र में पड़ा दूध भी त्याज्य हो जाता है। एक के त्याग से यदि अन्य साधकों का साधना-पथ सुरक्षित रहता हो तो एक का त्याग ही उचित कहा जाएगा। एक गन्दी मछली सारे तालाब को ही गन्दा कर देती है, अतः साधना-सरोवर की पावनता को सुरक्षित रखने की दृष्टि से कीचड को दूर कर देना ही श्रेयस्कर होता है।

श्रुतज्ञान के अधिकारी और अनधिकारी

मूल—तओ अवायणिज्जा पण्णत्ता, तं जहा—अविणीए, विगइपडिबद्धे, अविओसियपाहुडे।

तओ कप्पंति वाइत्तए, तं जहा—विणीए, अविगइपडिबद्धे, विउसिय-पाहुडे।

तओ दुसन्नप्पा पण्णत्ता, तं जहा—दुट्ठे, मूढे, वुग्गाहिए।

तओ सुसन्नप्पा पण्णत्ता, तं जहा—अदुट्ठे, अमूढे, अवुग्गाहिए ॥ ८५ ॥

छाया—त्रयोऽवाचनीयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अविनीतः, विकृतिप्रतिबद्धः, अव्यवसितप्राभृतः।

त्रयः कल्पन्ते वाचयितुं, तद्यथा—विनीतः, अविकृतिप्रतिबद्ध, व्यवसितप्राभृतः।

त्रयः दुःसंज्ञाप्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—द्विष्टः, मूढः, व्युद्ग्राहितः।

त्रयो सुसंज्ञाप्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अद्विष्टः, अमूढः, अव्युद्ग्राहितः।

शब्दार्थ—तओ अवायणिज्जा पण्णत्ता, तं जहा—तीन व्यक्ति श्रुत पढ़ने के अयोग्य प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे, **अविणीए**—गुरु आदि की विनय से रहित, **विगइपडिबद्धे**—दुग्ध आदि रसों का लालची और, **अविओसियपाहुडे**—महाक्रोधी।

तओ कप्पंति वाइत्तए, तं जहा—तीन व्यक्ति सूत्र वाचना के योग्य प्रतिपादन किये गए हैं, जैसे, **विणीए**—गुरु आदि की विनय करने वाला, **अविगइपडिबद्धे**—दुग्ध आदि रसों में अनासक्त और, **विउसियपाहुडे**—क्रोध न करने वाला।

तओ दुसन्नप्पा पण्णत्ता, तं जहा—तीन व्यक्ति दुःखपूर्वक शिक्षित होने वाले कहे गये हैं, जैसे, **दुट्ठे**—दुष्ट, **मूढे**—मूढ और, **वुग्गाहिए**—आग्रही।

तओ सुसन्नप्पा पण्णत्ता, तं जहा—तीन व्यक्ति सुखपूर्वक शिक्षित किए जा सकते हैं। जैसे, **अदुट्ठे**—अदुष्ट, **अमूढे**—जो मूर्ख नहीं और जिसे किसी, **अवुग्गाहिए**—मिथ्यादृष्टि द्वारा तत्त्वों में अतत्त्वरुचि नहीं करायी गई है।

मूलार्थ—तीन व्यक्ति श्रुताध्ययन के अयोग्य प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—अविनीत, दुग्धादि रसों का लोलुपी और क्रोधी।

तीन श्रुताध्ययन के योग्य बतलाए गए हैं, जैसे—विनीत, रसों में अनासक्त और क्षमाशील।

तीन व्यक्ति दुःखपूर्वक शिक्षित किए जा सकते हैं, जैसे—दुष्ट, मूर्ख और किसी मिथ्यादृष्टि के द्वारा बहकाया हुआ दुराग्रही।

तीन व्यक्ति सुखपूर्वक बोध प्राप्त कर सकते हैं, जैसे—अदुष्ट, विवेकशील और जो दुराग्रह से रहित हो।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में अनुद्घातिम आदि प्रायश्चित्तों से बचने के लिए दीक्षा के अयोग्य व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत सूत्र ज्ञान-प्रायश्चित्त विधान से पूर्व प्रायश्चित्त करने का अवसर ही न आए इसलिये ज्ञान देने योग्य साधकों की विवेचना की गई है। शास्त्रों का अध्ययन योग्य व्यक्ति को ही कराना चाहिए अयोग्य को नहीं। अध्ययन के अयोग्य तीन व्यक्ति माने गये हैं, जैसे—

अविणीए—जो सूत्र और अर्थ का अध्ययन कराने वाले हैं अथवा जो अपेक्षाकृत ज्ञान, दर्शन और चारित्र की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं फिर भी जो अभिमान के कारण उन का सम्मान, वन्दन-नमस्कार नहीं करता उसे अविनीत कहते हैं। ऐसे अविनीतों को दी गई विद्या फलप्रद नहीं होती, जिस प्रकार जलहीन खेती फलित नहीं होती उसी प्रकार अविनय से संग्रहीत विद्या भी फलित नहीं होती। कहा भी है—

''विणयाहीया विज्जा देइ फलं इह परे य लोयम्मि।
न फलंतऽविणयगहिया, सस्साणि य तोयहीणाइं॥''

यदि अविनीत व्यक्ति अध्ययन करेंगे तो उनकी वही दशा होगी जो कच्चे घट में डाले हुए जल की और घट की होती है। विनय-रहित व्यक्ति न तो स्वयं आत्म-विकास कर सकता है और न अन्य व्यक्तियों पर अधीत ज्ञान का प्रभाव डाल सकता है। विनय से विद्या आती है और विद्या विनय देती है—''**विद्या ददाति विनयम्।**''

विगइपडिबद्धे—जो विद्यार्थी दुग्ध-दही, घी-मक्खन और मिठाई आदि स्वादु पदार्थों का लालची है, जिसका चित्त रसास्वाद में ही मग्न रहता है, अतः वह ध्यान-पूर्वक अध्ययन नहीं करता है, इसलिए ऐसे शिष्य वाचना देने के अयोग्य होते हैं। उनकी विद्या भी सफलीभूत नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि विद्या रस-परित्याग-तप से फलवती होती है, तप के बिना अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती और न ही उसकी विद्या सफल हो सकती है। जिस प्रकार साधना किए बिना मंत्र शक्ति सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार रस में आसक्ति रखने वाले विद्यार्थी की विद्या फलवती नहीं हो सकती। कहा भी है—

अतवो न होइ जोगो, न य फलए इच्छियं फलं विज्जा।
अवि फलति विउलमगुणं, साहणहीणा जहा विज्जा॥

अतः विद्यार्थियों को रसों में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। विद्यार्थियों को सादा भोजन ही लाभदायक होता है। दुग्ध आदि के पदार्थ खाने से पाचन-शक्ति दब जाती है, शरीर भारी हो जाता है, अतः आलस्य बढ़ जाता है और ''**अलसस्य कुतो विद्या**'' आलसी को विद्या कहां प्राप्त हो सकती है?

अविओसितपाहुडे—अव्यवसित शब्द का अर्थ होता है—अपने आपे से बाहर, क्रोधी व्यक्ति अपने आपे से बाहर हो जाया करता है। प्राभृत अर्थात् यमराज की तरह जो क्रोधी हो, जो सिखाने पढ़ाने वाले गुरुओं पर तथा अन्य पूज्य-जनों पर भी कुपित हो जाता हो, जिसका क्रोध शीघ्र ही भड़क उठता हो और जल्दी शान्त न होता हो, जो क्षमा-याचना पर भी शान्त न होता हो ऐसा क्रोधी व्यक्ति वाचना के सर्वथा अयोग्य होता है। वृत्तिकार कहते हैं—**अव्यवसितम्—अनुपशांतं प्राभृतमिव प्राभृतं नरकपालकौशलिकं परमक्रोधो यस्य सोऽव्यवसितप्राभृतः, उक्तं च—**

अप्पेवि पारमणिं अवराहे वयइ खामियं, तं च।
बहुसो उदीरयंतो, अविओसिय पाहुडो स खलु॥

पारमणि परमक्रोध का पर्यायवाची शब्द है। जिसकी प्रकृति परमक्रोधी हो वह वाचना के योग्य नहीं होता है। उसका किया हुआ श्रुत अध्ययन उपशम को नहीं बल्कि कलह को उत्पन्न करता है। देव आदि द्वारा छलने से व्यामोह का कारण होता है तथा परलोक में भी वह विद्या फलदायिनी नहीं हो सकती, जैसे ऊसर-भूमि में डाला हुआ बीज व्यर्थ जाता है वैसे ही परमक्रोधी को दी हुई विद्या और विद्यादाता का परिश्रम व्यर्थ जाता है। अतः जो विनीत हैं, रसों में अनासक्त हैं और शान्त प्रकृति के हैं वे ही श्रुतज्ञान के पात्र हो सकते हैं। उन्हें दिया हुआ श्रुतज्ञान पढ़ने और पढ़ाने वाले के लिए कल्याणकारी हो सकता है।

दुःसंज्ञाप्य—जो सम्यक्त्व प्राप्त करने के सर्वथा अयोग्य है, जिसे समझाना कठिन ही नहीं बल्कि कठिनतम है, उन्हें दुसन्नप्पा—दुःसंज्ञाप्य कहते हैं। वे तीन तरह के होते हैं, जैसे कि—**दुट्ठे**—जो तत्त्व एवं तत्त्व व्याख्याता के प्रति द्वेष रखता है, उनके उपदेश का तथा दी हुई शिक्षा का सम्मान नहीं करता, उनके वचनों को नहीं मानता अर्थात् जिसमें द्वेष या दुष्टता पाई जाए उसे दुट्ठे कहते हैं। ऐसा दुष्ट विद्या के सर्वथा अयोग्य होता है।

मूढे—जो गुण-दोष अनभिज्ञ है, अविवेकी है, वह तत्त्व या तत्त्वव्याख्याता के भाव—आशय को यथार्थ रूप में न समझने के कारण मूढ़ कहलाता है, ऐसा व्यक्ति, किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर कर्त्तव्य का निर्णय नहीं करने पाता है। ऐसे मूढ़ व्यक्ति को भी विद्या देने से कोई लाभ नहीं हो सकता।

वुग्गाहिए—जो व्यक्ति ऐसे लोगों के पास रह चुका है जो केवल भौतिकतावादी है एवं सासारिक सुखो को ही जीवन का ध्येय मान चुके हैं और उनके द्वारा पड़े कुसंस्कारो से जो आध्यात्मिकता के प्रति सन्देहशील हो चुका है, और जो शास्त्र ज्ञान के प्रति विश्वास-हीन हो चुका है उसे व्युद्ग्राहित दुःसंज्ञाप्य कहा जाता है। ऐसे लोग भी श्रुतज्ञान प्राप्त करने के योग्य नहीं होते है।

सूत्रकर्त्ता ने जो 'सुसन्नप्पा' पद दिया है इसका आशय है कि तीन तरह के व्यक्ति सुसज्ञाप्य कहे जाते है, अर्थात् उनको सुखपूर्वक तत्त्वज्ञान दिया जा सकता है, जैसे कि अदुष्ट, अद्विष्ट-प्रशान्तचित्त, अमूढ़—विवेकशील और दुराग्रह-रहित। सम्यक्त्व-लाभ भी उन्हें ही सुलभ हो सकता है, अतः शिष्य को कसौटी पर परखकर ही ज्ञान दिया जाना चाहिए।

माण्डलिक पर्वत

मूल—तओ मंडलिया पव्वया पण्णत्ता, तं जहा—माणुसुत्तरे, कुंडलवरे, रुअगवरे ॥ ८६ ॥

छाया—त्रयो माण्डलिकाः पर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मानुषोत्तरः, कुण्डलवरः, रुचकवरः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तीन माण्डलिक पर्वत प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—मानुषोत्तर पर्वत, कुण्डलवर पर्वत और रुचकवर पर्वत।

विवेचनिका—पूर्व सूत्रों में प्रज्ञापना-योग्य साधकों का वर्णन किया गया है। अब प्रज्ञापनास्थलों का वर्णन करते हुए त्रिस्थान के अनुरोध से माण्डलिक पर्वतों का परिचय देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

जो पर्वत चक्र या कंकण की तरह गोल हों उन्हे मांडलिक पर्वत कहा जाता है। इस प्रकार के पर्वत विश्वभर मे तीन है—

माणुसुत्तरे—मानुषोत्तर पर्वत, यह पर्वत मनुष्य-लोक की सीमा करने वाला है और पुष्करवर द्वीप के ठीक मध्य भाग में प्राकार की तरह चारों ओर अवस्थित है। इसकी ऊंचाई १७२१ योजन, गहराई ४३० योजन और एक कोस भूमि मे अवगाढ़ है। भूमि पर इसका विस्तार १०२२ योजन, मध्य में ७२३ योजन और ऊपरी भाग में ४२४ योजन विस्तार वाला है, वह ढाई द्वीप और दो समुद्रों को वेष्टित करता हुआ अवस्थित है। उस मानुषोत्तर पर्वत से परे मनुष्यलोक नहीं है, अतः मनुष्य-लोक की सीमा निर्धारित करने वाला होने के कारण ही इसे मानुषोत्तर पर्वत कहा जाता है।

कुंडलवरे—कुण्डलवर द्वीप के ठीक मध्य भाग मे कुण्डलवर पर्वत है, वह भी कंकण की तरह ही गोल है। यदि द्वीपों की गणना जम्बूद्वीप से की जाए तो कुण्डलवर द्वीप का ग्यारहवां स्थान है, जैसे कि १. जम्बूद्वीप, २. धातकी खंड, ३. पुष्करवर, ४. वारुणिवर, ५. क्षीरवर, ६. घृतवर, ७. क्षोदवर, ८. नंदीश्वर, ९. अरुणद्वीप, १०. अरुणावपात, ११ कुण्डलवर, १२. शंखद्वीप, १३. रुचकद्वीप, १४. भुजवर द्वीप, १५ कुशद्वीप, १६. क्रौंचवर द्वीप इत्यादि द्वीपों की संख्या में कुण्डलवर द्वीप ग्यारहवां है।

रुयगवरे—तेरहवें रुचकवर द्वीप के मध्य में रुचकवर नामक पर्वत है वह भी कंकणाकृति प्राकार सदृश गोल है। वह ८४००० योजन ऊंचा और १००० योजन भूमि तल में अवगाढ़ है। उसकी मूल में चौड़ाई दस हजार बाईस योजन से कुछ अधिक है, मध्य में सात हजार बाईस योजन चौडा है और ऊपरी भाग मे चार हजार चौबीस योजन विस्तार वाला है।[1] उक्त तीन पर्वत सभी दृष्टियों से उत्तरोत्तर महान हैं।

---

१ इन पर्वतों का विस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र और क्षेत्र-समास आदि ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक देखा जा सकता है।

विश्व में सबसे महान

मूल—तओ महतिमहालया पण्णत्ता, तं जहा—जंबुद्दीवे मंदरे मंदरेसु, सयंभुरमणे समुद्दे समुद्देसु, बंभलोए कप्पे कप्पेसु॥८७॥

छाया—त्रयो महातिमहालयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जम्बूद्वीपे मन्दरो मन्दरेषु, स्वयम्भुरमणः समुद्रः समुद्रेषु, ब्रह्मलोकः कल्पः कल्पेषु।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तीन महा—अत्यन्त विस्तार वाले कथन किए गए हैं, जैसे—मन्दर पर्वतों में जम्बूद्वीप का मन्दर पर्वत, समुद्रों मे स्वयंभूरमण समुद्र और कल्पों में ब्रह्मदेवलोक-कल्प अति विस्तार वाला है।

विवेचनिका—विश्व मे तीन पदार्थ सब से महान् हैं—जम्बूद्वीप के मध्यवर्ती जो मन्दर-मेरु पर्वत है वह अन्य चार मेरुपर्वतों में से महान है। उस की ऊंचाई आमूलचूल एक लाख योजन की है जबकि अन्य मेरुपर्वतों की ऊंचाई ८४ हजार योजन की है।

सब समुद्रों में स्वयंभूरमण समुद्र सब से महान है उसकी लम्बाई-चौड़ाई लगभग एक रज्जू परिमाण की है। बारह कल्प देवलोकों में सब से महान ब्रह्मकल्प है, उसकी लम्बाई-चौड़ाई चारों ओर पांच रज्जू परिमाण है। उक्त तीनों पदार्थ अपने आप में अन्य पर्वतों, समुद्रों तथा कल्पों से महान हैं।

कल्प-स्थिति

मूल—तिविहा कप्पट्ठिई पण्णत्ता, तं जहा—सामाइय-कप्पट्ठिई, छेदोवट्ठावणियकप्पट्ठिई, णिव्विसमाणकप्पट्ठिई।

अहवा तिविहा कप्पट्ठिई पण्णत्ता, तं जहा—णिव्विट्ठकप्पट्ठिई, जिणकप्पट्ठिई, थेरकप्पट्ठिई ॥८८॥

छाया—त्रिविधा कल्पस्थितिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—सामायिककल्पस्थितिः, छेदोपस्थापनीयकल्पस्थितिः, निर्विशमानकल्पस्थितिः।

अथवा त्रिविधा कल्पस्थितिः प्रज्ञप्ता तद्यथा—निर्विष्टकल्पस्थितिः, जिनकल्पस्थितिः,स्थविरकल्पस्थितिः।

शब्दार्थ—तिविहा कप्पट्ठिई पण्णत्ता, तं जहा—तीन प्रकार की कल्पस्थिति प्रतिपादन की गयी है, जैसे, **सामाइयकप्पट्ठिई**—सामायिक चारित्र की कल्पस्थिति, **छेदोवट्ठा- वणियकप्पट्ठिई**—छेदोपस्थापनीय चारित्र की कल्पस्थिति और, **णिव्विसमाणकप्प- ट्ठिई**—निर्विशमान अर्थात् परिहार-विशुद्धि चारित्र की कल्पस्थिति।

अहवा—अथवा, **तिविहा कप्पट्ठिई पण्णत्ता, तं जहा**—तीन प्रकार की कल्पस्थिति

कही गई है, जैसे, **णिव्विट्ठकप्पट्ठिई**—निर्विष्ट कल्पस्थिति, यह भी परिहार विशुद्धि चारित्र का एक भेद है, **जिणकप्पट्ठिई**—जिन कल्पस्थिति और, **थेरकप्पट्ठिई**—स्थविर कल्पस्थिति।

मूलार्थ—तीन प्रकार की कल्पस्थिति कही गई है, जैसे—सामायिक चारित्र की कल्पस्थिति। छेदोपस्थापनीय चारित्र की कल्पस्थिति और निर्विशमान अर्थात् परिहारविशुद्धि चारित्र की कल्पस्थिति।

अथवा तीन प्रकार की कल्पस्थिति प्रतिपादन की गई है, जैसे—निर्विष्ट-कल्पस्थिति, यह भी परिहारविशुद्धि चारित्र का एक भेद है, जिनकल्पस्थिति और स्थविर कल्पस्थिति।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वर्णित कल्प शब्द की समानता से सूत्रकर्त्ता ने इस सूत्र में तीन प्रकार की कल्पस्थिति का वर्णन किया है। प्रस्तुत सूत्र में कल्प शब्द का प्रयोग आचार व सामर्थ्य अर्थ में किया गया है और स्थिति शब्द मर्यादा का बोधक है। सामर्थ्य अनुसार आचार की मर्यादा के पालन को कल्पस्थिति कहा जाता है। वह तीन प्रकार की होती है, सामायिक कल्पस्थिति, छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति और निर्विशमान कल्पस्थिति।

सामायिक कल्पस्थिति—

राग-द्वेष से मुक्त होकर प्रतिक्षण अपूर्व—निर्जरा से होने वाली आत्मविशुद्धि का प्राप्त होना सामायिक है अथवा सावद्य व्यापार अर्थात् दोषपूर्ण व्यवहार का सर्वथा परित्याग करते हुए एव निरवद्य व्यापार का सेवन करना सामायिक है या जिसके द्वारा रत्नत्रय का लाभ हो उसे सामायिक कहते हैं। सामायिक चारित्र का यथाविधि पालन करना सामायिक कल्प कहलाता है।

सामायिक कल्प के दो भेद हैं—इत्वरकालिक अर्थात् स्वल्पकाल के लिए और यावत्कथित काल—जीवन भर के लिए, प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के युग में सामायिक कल्पस्थिति अल्पकाल के लिए होती है, क्योंकि उस समय छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति का सद्भाव होता है। मध्य के २२ तीर्थंकरों के युग में तथा महाविदेहों में सामायिक कल्पस्थिति जीवन-भर के लिए होती है। क्योंकि वहां छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति का सद्भाव नहीं होता। कल्पस्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए एक प्राचीन गाथा में कहा गया है—

सिज्जायरपिंडे य चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य।
किइकम्मस्स य करणे, चत्तारि अवट्ठिया कप्पा॥

शय्यातरपिण्डवर्जन, चातुर्यामपालन, पुरुषधर्म को ज्येष्ठ स्वीकार करना, दीक्षावृद्ध को वन्दना करना इत्यादि के रूप में चतुर्विध कल्पस्थिति है जो सदाकाल भावी है इसी कारण इसको अवस्थित कहा गया है।

पुरिसजेट्ठे—इस पद से ध्वनित होता है कि सभी कालों और सभी क्षेत्रों में पुरुष को ज्येष्ठ माना गया है और यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से चलती आ रही है कि साध्वी साधु को ज्येष्ठ मानकर चले और साध्वी ही साधु को वन्दन करे, फिर भले ही वह आज का ही दीक्षित क्यों न हो।

यह है सामायिक कल्पस्थिति, किन्तु छेदोपस्थापनीय चारित्र में इन चार कल्पों के अतिरिक्त छः कल्प और हैं जिनका पालन करना प्रत्येक श्रमण और श्रमणी का परमकर्त्तव्य है।

छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति

जिस चारित्र में पूर्वपर्याय का छेद एवं पांच महाव्रतों का उपस्थापन-आरोपण हो, उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं। वह चारित्र पांच भरत और पांच ऐरवत क्षेत्र के पहले और चौबीसवें तीर्थंकरों के तीर्थ में ही होता है, शेष तीर्थंकरों के तीर्थ में नहीं होता। इत्वर सामायिक वाले शिष्य पर एवं एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में प्रवेश करने वाले साधुओं पर पांच महाव्रतों का आरोपण होता है, वह निरतिचार छेदोपस्थापनिक चारित्र है। मूल गुणों का घात करने वाले साधुओं के व्रतों की जो आरोपणा होती है वह सातिचार छेदोपस्थापनिक चारित्र कहलाता है। छेदोपस्थापनिक चारित्र की कल्पस्थिति दस प्रकार की होती है। चतुर्विध कल्पस्थिति पहले की है, उसमें अन्तर इतना ही है कि चातुर्याम के स्थान पर, पांच महाव्रत या पंच याम हो जाता है। अन्य षड्विध कल्पस्थिति इस प्रकार है—

आचेलुक्कुद्देसिय, सपडिक्कमणे य रायपिंडे य।
मासं पज्जोसवणा, छप्पे अणवट्ठिया कप्पा॥

१. जिनकल्पी की तरह वस्त्र न रखना या सफेद रंग का सादा परिमाणोपेत वस्त्र रखना, इन दोनों में से किसी एक तरह की अवस्था में रहना अचेलक कहलाता है। वस्त्रों में ममत्व न होने से सचेलक भी अचेलक ही माना जाता है।[१] २. आधाकर्मी तथा औद्देशिक आहार न ग्रहण करना, ३. राजपिण्ड को स्वीकार न करना, ४. दोनों समय प्रतिक्रमण करना, ५. मासकल्प करना, ६. पर्युषणकल्प करना। ये षड्विध कल्प अनवस्थित हैं, क्योंकि इनका सद्भाव सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक नहीं है। केवल प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकरों के युग में ही इनका सद्भाव पाया जाता है। उपर्युक्त दस कल्पों का पालन करना ही छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति कही जाती है।[२]

---

१ दुविहो होई अचेलो असतचेलो सचेल चेलो य।
तत्थ असतेहिं जिणा सताऽचेला भवे सेसा॥

२ दस ठाण ठिओ कप्पो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
एसो धुयरय कप्पो दसट्ठाण पइट्ठिओ होइ॥

परिहार विशुद्धि चारित्र—

सामायिक चारित्र ग्रहण किए बिना छेदोपस्थापनीय चारित्र का ग्रहण और पालन नहीं किया जा सकता, क्योंकि सामायिक चारित्र छेदोपस्थापनीय चारित्र की भूमिका है और परिहारविशुद्धि चारित्र की भूमिका है छेदोपस्थापनीय चारित्र। सामायिक और छेदोपस्थापनीय इन दो चारित्रों के साथ तपश्चर्या अपेक्षित अवश्य है, किन्तु अनिवार्य नहीं, जबकि परिहारविशुद्धि चारित्र के साथ विशिष्ट तपश्चर्या अनिवार्य है अपेक्षित नहीं। आदि के दो चारित्र जीवन भर के लिए धारण किए जाते हैं जबकि परिहारविशुद्धि चारित्र अठारह महीनों के लिए ही धारण किया जाता है, जीवनभर के लिए नहीं। अतः इस चारित्र का कालमान अठारह मास है। इसे ग्रहण करने वाले साधु कम से कम नवपूर्वधर और उत्कृष्ट दस पूर्वधर होने आवश्यक हैं। इस चारित्र की आराधना एकाकी साधु नहीं कर सकता। इस अनुष्ठान की आराधना नौ साधु मिलकर करते हैं। तीर्थंकर भगवान् की तथा गणधर की आज्ञा लेकर अपने गण से पृथक् होकर वे नौ साधु इस प्रकार से तप करते हैं—

उन नौ साधुओं में से चार साधु छः महीने पर्यन्त तप करते हैं, चार साधु उनकी सेवा में नियुक्त होते हैं और एक साधु आलोचना, निन्दना, पच्चक्खाण, वाचना तथा व्याख्यानादि कार्यों में नियुक्त होता है। छः महीने बीतने के बाद सेवा करने वाले चार साधु छः महीने तप करने में संलग्न हो जाते है और पहले चारों तपस्वी साधु-सेवा के कार्य में संलग्न हो जाते हैं और जो वाचना देने वाला गुरु स्थानीय है वह उसी तरह अपने कर्त्तव्य में संलग्न रहता है। जब उन चार तपस्वी मुनिवरों के भी तपविशिष्ट छः मास पूरे हो जाते हैं तब गुरुस्थानीय मुनिवर छः मास तक तप करने लग जाता है और शेष आठ साधुओं में से एक विशिष्ट साधु गुरुस्थान पर नियुक्त किया जाता है और सात साधु सेवा में नियुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार नौ साधु अठारह मास पर्यंत तप करते हैं।

तपश्चर्या का क्रम और विधि—

तप करने वाले साधु किस प्रकार तप करते हैं, उसका उल्लेख शास्त्रकारों ने इस प्रकार किया है—

> **बारस दस अट्ठ, दस अट्ठ छट्ठ, अट्ठेव छट्ठ चउरो य।**
> **अक्कोस मज्झिम जहन्नगाउ वासा सिसिरगिम्हे॥**

पारिहारिक वर्षा-काल में उत्कृष्ट पंचौला, मध्यम चौला और जघन्य तेला तप करते हैं। शिशिर काल में उत्कृष्ट चौला, मध्यम तेला और जघन्य बेला तप करते हैं और ग्रीष्म-काल में उत्कृष्ट तेला, मध्यम बेला और जघन्य उपवास, इस विधि से तप करते हैं। पारणे वाले दिन उनका आयंबिल ही होता है, वह भी अभिग्रह सहित, शेष चार तपस्वियों की सेवा में लीन साधु और कल्पस्थित गुरु, इन पांच मुनिवरों का नित्य आयंबिल ही होता है, कहा भी है—"**कप्पट्ठिया वि पइदिणं करेंति एमेव चायामंति**"।

निर्विशमान कल्पस्थिति—

अदम्य उत्साह के साथ जब चार साधु छः महीने तक विविध प्रकार की तपस्या करते हैं तब उसे निर्विशमान कल्प कहा जाता है। वे गृहीत चारित्र को आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की तपस्या से विशुद्ध करते हैं। उनके जीवन में प्रमाद और आलस्य की छाया भी नहीं पड़ती। उनके परिणाम छट्ठे और सातवे गुणस्थान में ही आरोह-अवरोह करते रहते है। उन में प्रशस्त तीन ही लेश्याएं होती हैं।

निर्विष्ट कल्पस्थिति—

परिहार विशुद्धि चारित्र वाले जिन मुनिवरों की विंशिष्ट तपश्चर्या छः महीने में पूर्ण हो जाती है इसके अतिरिक्त शेष बारह महीनों में निरंतर आयंबिल करके परिहार विशुद्धि चारित्र की पूर्णता ही निर्विष्ट कल्पस्थिति है। इसमें से भी साधक के परिणाम विशुद्ध रहते हैं और उन में भी तीन प्रशस्त लेश्याएं होती हैं।

परिहार विशुद्धि चारित्र में जीव उपशम श्रेणि या क्षपक श्रेणि आरोहण नहीं कर सकता तथाविध परिणाम विचित्र होने से परिहारविशुद्धि चारित्र का अनुष्ठान पूर्ण होने पर वे नौ मुनिवर वापिस उन्हीं के पास आते है जिनसे आज्ञा लेकर गण से अलग हुए थे, पुनः स्थविरकल्प को अगीकार कर लेते हैं। जब वे साधना में संलग्न होते हैं तब वे गण से कोई सम्बन्ध नहीं रखते।

परिहारविशुद्धि चारित्र का सद्भाव मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के शासन-काल में तथा महाविदेह क्षेत्र में नहीं होता, भरत और ऐरवत क्षेत्र के पहले और चौबीसवें तीर्थंकर के शासन-काल में ही इसका सद्भाव पाया जाता है।

जिन-कल्पस्थिति—

जो आठ गुणो से सम्पन्न हैं, वज्रऋषभ नाराच संहननी हैं, सभी प्रकार के घोर, अतिघोर उपसर्ग सहने में समर्थ है, तीसरे पहर मे भिक्षा ग्रहण करने वाले शूरवीर, धीर, जघन्य नवम पूर्व की तीसरी वस्तु के अध्येता और उत्कृष्ट दस पूर्वधर हैं, वे जिन-कल्पस्थिति मे प्रवेश कर सकते है।[१]

स्थविर-कल्पस्थिति—

जो गच्छ में रहने वाले त्यागीवर्ग आचार्य आदि द्वारा निर्माण की हुई गणस्थिति एव सघमर्यादा का पालन करते हैं वे स्थविरकल्पी कहलाते हैं। यह स्थविरकल्पस्थिति छः प्रकार की होती है—

पव्वज्जा—सुयोग्य दीक्षार्थियो को दीक्षा देना। **सिक्खा**—शिक्षा दो प्रकार की होती है, ग्रहण-शिक्षा और आसेवन-शिक्षा। संयम एवं मोक्ष के लिए उपयोगी सभी शिक्षाओं का

---

१ विशेष परिज्ञान के लिए देखिए आचाराग सूत्र।

अन्तर्भाव इन दो शिक्षाओं में हो जाता है। **वयं**—व्रत चातुर्याम या पांच महाव्रतों का उपस्थापन करना। **अत्थ-गहणं**—अर्थग्रहण शास्त्रों का मूल और अर्थों का अध्ययन-अध्यापन करना। **अनियओवासो**—अनियतवास, बिना कारण किसी भी क्षेत्र में नियत रूप से निवास न करना, **निप्फत्ती**—निष्पत्ति—संघ की वृद्धि एवं संयम उपयोगी शिष्यादि तथा वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों को जुटाना, दस प्रकार की आगम समाचारी और गण-समाचारी की व्यवस्था करके स्वयं पालन करना और दूसरों से पालन कराना ये सब स्थविरकल्पस्थिति है। स्थविर-कल्पी ही जिनकल्प आदि कल्पस्थितियों में प्रवेश कर सकते हैं। कल्पस्थिति आदि के तीन चारित्रों में पाई जाती है, शेष दो में नहीं।

तीन शरीर वाले प्राणी

मूल—नेरइयाणं तओ सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा—वेउव्विए, तेयए, कम्मए।

असुरकुमाराणं तओ सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा—एवं चेव। एवं सव्वेसिं देवाणं।

पुढविकाइयाणं तओ सरीरगा पण्णत्ता, तं जहा—ओरालिए, तेयए, कम्मए। एवं वाउकाइयवज्जाणं जाव चउरिंदियाणं॥ ८९॥

छाया—नैरयिकाणां त्रीणि शरीराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—वैक्रियं, तैजसं, कार्मणम्।

असुरकुमाराणां त्रीणि शरीराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—एवञ्चैव। एवं सर्वेषां देवानाम्।

पृथिवीकायिकानां त्रीणि शरीराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—औदारिकं, तैजसं, कार्मणम्। एवं वायुकायिकवर्जं यावच्चतुरिन्द्रियाणाम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नारकों के तीन शरीर प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे— वैक्रिय, तैजस, और कार्मण।

असुरकुमारों के तीन शरीर हैं, उसी प्रकार जैसे नारकों के। इसी प्रकार सभी देवों के शरीर भी वर्णन किए गए हैं।

पृथ्वीकायिकों के तीन शरीर कहे गए हैं, जैसे—औदारिक, तैजस और कार्मण। इसी प्रकार वायुकायिक जीवों को छोड़कर यावत् चतुरिन्द्रिय जीवों पर्यंत तीन शरीर कथन किए गए हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वर्णित कल्पस्थिति की विराधना एवं उसे खण्डित करने से नारकी तथा उस की आराधना-पालना से जीव देवगति को प्राप्त करता है, अतः इस सूत्र

में नारकी और देवों में तीन शरीरों का वर्णन किया गया है। जैसे कि वैक्रिय, तैजस और कार्मण। वायुकायिक जीवों के अतिरिक्त शेष चार स्थावर और विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में तीन शरीर पाए जाते हैं, जैसे कि औदारिक, तैजस और कार्मण। जिन में एकान्त तीन शरीर पाए जाते हैं, उन्हीं जीवों का इस सूत्र में उल्लेख किया गया है, इन दण्डकों में उपर्युक्त सभी कल्पस्थितियों का प्रभाव है।

प्रत्यनीक-वर्णन

मूल—गुरुं पडुच्च तओ पडिणीया पण्णत्ता, तं जहा—आयरियपडिणीए, उवज्झायपडिणीए, थेरपडिणीए।

गइं पडुच्च तओ पडिणीया पण्णत्ता, तं जहा—इहलोगपडिणीए, परलोगपडिणीए, दुहओ लोगपडिणीए।

समूहं पडुच्च तओ पडिणीया पण्णत्ता, तं जहा—कुलपडिणीए, गणपडिणीए, संघपडिणीए।

अणुकंपं पडुच्च तओ पडिणीया पण्णत्ता, तं जहा—तवस्सिपडिणीए, गिलाणपडिणीए, सेहपडिणीए।

भावं पडुच्च तओ पडिणीया पण्णत्ता, तं जहा—णाणपडिणीए, दंसणपडिणीए, चरित्तपडिणीए।

सुयं पडुच्च तओ पडिणीया पण्णत्ता, तं जहा—सुत्तपडिणीए, अत्थपडिणीए, तदुभयपडिणीए ॥९०॥

छाया—गुरुं प्रतीत्य त्रयः प्रत्यनीकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आचार्य-प्रत्यनीकः, उपाध्याय-प्रत्यनीकः, स्थविर-प्रत्यनीकः।

गतिं प्रतीत्य त्रयः प्रत्यनीकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—इहलोक-प्रत्यनीकः, परलोक-प्रत्यनीकः, द्विधातो लोक-प्रत्यनीकः।

समूहं प्रतीत्य त्रयः प्रत्यनीकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कुलप्रत्यनीकः, गण-प्रत्यनीकः, संघप्रत्यनीकः।

अनुकम्पां प्रतीत्य त्रयः प्रत्यनीकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—तपस्वि-प्रत्यनीकः, ग्लानप्रत्यनीकः, शैक्ष-प्रत्यनीकः।

भावं प्रतीत्य त्रयः प्रत्यनीकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ज्ञान-प्रत्यनीकः, दर्शन-प्रत्यनीकः, चारित्र-प्रत्यनीकः।

श्रुतं प्रतीत्य त्रयः प्रत्यनीकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सूत्र-प्रत्यनीकः, अर्थ-प्रत्यनीकः, तदुभयप्रत्यनीकः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—गुरु की अपेक्षा से तीन प्रत्यनीक प्रतिपादन किए गये हैं, जैसे—आचार्य-प्रत्यनीक, उपाध्याय-प्रत्यनीक, स्थविर-प्रत्यनीक।

गति की अपेक्षा से तीन प्रत्यनीक कहे गए हैं, जैसे—इहलोक-प्रत्यनीक, परलोक-प्रत्यनीक और उभयलोक—प्रत्यनीक।

समूह की अपेक्षा से तीन प्रत्यनीक हैं, जैसे—कुल-प्रत्यनीक, गण-प्रत्यनीक, और संघ-प्रत्यनीक।

अनुकम्पा की अपेक्षा से तीन प्रत्यनीक हैं, जैसे—तपस्वी-प्रत्यनीक, ग्लान-प्रत्यनीक और शैक्ष-प्रत्यनीक।

भाव की अपेक्षा से तीन प्रत्यनीक कहे गए हैं, जैसे—ज्ञान-प्रत्यनीक, दर्शन-प्रत्यनीक और चारित्र-प्रत्यनीक।

श्रुत की अपेक्षा तीन प्रत्यनीक कहे गए हैं, जैसे कि—सूत्र-प्रत्यनीक, अर्थ-प्रत्यनीक और उभय-प्रत्यनीक।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में नारकीयों, असुर कुमारों और देवों आदि के त्रिविध शरीरों का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में नारकीय शरीर की कारणीभूत प्रत्यनीकता का वर्णन उपस्थित किया गया है।

गुरु-प्रत्यनीक—

"गृणाति—अभिधत्ते तत्त्वमिति गुरुः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार धर्मोपदेश या तत्त्व-बोध कराने वाले को गुरु कहा जाता है। गुरु तीन प्रकार के होते हैं—आचार्य, उपाध्याय और स्थविर। सन्मार्ग पर लगाने वाले तथा कुमार्ग से हटाने वाले आचार्य, आगमों का अध्ययन एवं ज्ञान प्रदान करने वाले उपाध्याय और धर्म में स्थिर एवं दृढ़ करने वाले स्थविर ये सब गुरु स्थानीय ही माने जाते हैं। इन की सेवा, भक्ति और विनय करना शिष्य का परम कर्त्तव्य है। इन की अवहेलना, अपमान एवं आशातना करना प्रत्यनीकता है। जो इन महापुरुषों के विरुद्ध चलता है, उन्हें अपमानित एवं तिरस्कृत करता है, दूसरों के सम्मुख उनकी निन्दा चुगली करता है और उनका अहित-चिन्तन करता है, ऐसा शिष्य गुरु-प्रत्यनीक माना जाता है। आचार्य की आशातना करने पर आचार्य-प्रत्यनीक, उपाध्याय की अवमानना करने पर उपाध्याय-प्रत्यनीक और दीक्षावृद्धों की अवहेलना करने वाला स्थविर-प्रत्यनीक कहलाता है।

गति-प्रत्यनीक—

गति चार हैं, जैसे कि—नरक-गति, तिर्यञ्च-गति, मनुष्य-गति और देवगति। इन में से जो जीव जिस गति में जीवित है वह उस के लिए इहलोक कहलाता है और जिस गति में स्थूल शरीर छोड़कर जाता है उसे उसके लिए परलोक कहते हैं। इहलोक और परलोक दोनों लोकों को उभय लोक कहते हैं। जब जीव किसी भी लोक में रह कर उस लोक की मर्यादाओं के विरुद्ध आचरण करता है तो उस जीव को उस गति की अपेक्षा प्रत्यनीक कहा जाता है। पंचाग्नि तापस की तरह इन्द्रियार्थ प्रतिकूल कार्य करने पर या जिनका इस लोक में सद्भाव है उसकी सत्ता को स्वीकार न करने पर, जैसे कि माता-पिता, ऋषि-मुनि, अरिहंत, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती आदि का सद्भाव न मानने पर जीव इहलोक प्रत्यनीक कहलाता है। नरक-स्वर्ग, देव-नारकी या परभव में जाने वाली आत्मा की सत्ता को स्वीकार न करना परलोक-प्रत्यनीकता है और आत्मा की सत्ता को सर्वथा अस्वीकार करते हुए लोक-परलोक दोनों के अस्तित्व को न मानने वाले मूढ़ जीव को उभयलोक-प्रत्यनीक कहा जाता है। जीव जो कुछ भी क्रियाएं करते हैं यदि उनके विभाग बनाए जाएं तो वे क्रियाएं तीन तरह की होती हैं, जो क्रिया इस लोक में निन्दनीय तथा अपवादार्ह होती है उसे करने वाला जीव इहलोक प्रत्यनीक है, जो क्रिया परलोक की प्राप्ति में बाधा पहुंचाने वाली है एवं दुःखप्रद है ऐसी क्रिया करने वाला परलोक-प्रत्यनीक और जो क्रिया दोनो लोकों में निन्दनीय तथा दुःखदायिनी है उस क्रिया को करने वाला जीव उभयलोक-प्रत्यनीक कहलाता है।

समूह-प्रत्यनीक—

जो व्यक्ति समूह के विरुद्ध आचरण करता है उसे समूह की अपेक्षा से प्रत्यनीक माना जाता है। एक आचार्य के शिष्य परिवार को कुल, दो या तीन कुलों के समूह को गण, अनेक गणों के समूह को संघ कहते हैं। कुल, गण और संघ ये सब आत्मकल्याण में परमसहायक हैं। इन्हें व्यवस्थित, सुदृढ़ तथा सुगठित बनाने के लिए जितना प्रयास किया जाए उतना ही कम है। ज्ञान-दर्शन और चारित्र आदि सद्‌गुणों से विभूषित कुल, गण एवं संघ के अंगीभूत सन्तों की सेवा, रक्षा, एवं विनय-भक्ति करना निर्जरा का कारण है, संघ की सेवा भगवान की सेवा है। संघ का अपमान करना भगवान का अपमान है। इसलिए संघ-सेवा करना साधक का परम कर्तव्य है। इस कर्त्तव्य से विमुख होकर कुल के विपरीत आचरण करने वाले को कुल प्रत्यनीक, गण के अनुकूल न चलने वाले को गण-प्रत्यनीक और संघ की मर्यादाओं के विरुद्ध आचरण करने वाले को संघ-प्रत्यनीक कहा जाता है।

अनुकम्पा-प्रत्यनीक—

तपस्वी, रोगी और नवदीक्षित ये तीन दया के पात्र होते हैं। इन पर दया होनी ही चाहिए। उनकी सेवा करने से शुभ-प्रकृतियों का बन्ध होता है, अशुभ प्रकृतियों का क्षय

होता है और जीव बाहुबली की तरह अप्रतिम बलवान बनता है। नवदीक्षित की भोजन-पानी से रक्षा एवं उसकी संयम प्रवृत्ति में सहायता महानिर्जरा का कारण है। जो व्यक्ति तपस्वी, रोगी और नवदीक्षित पर अनुकम्पा के स्थान पर दुर्व्यवहार करता है उसे अनुकम्पा-प्रत्यनीक कहा जाता है। उसे सेवनीय तपस्वी की सेवा न करने पर तपस्वी-प्रत्यनीक, रुग्ण की सेवा न करने पर ग्लान-प्रत्यनीक और शिक्षा योग्य नवदीक्षित की सहायता न करने पर शैक्ष-प्रत्यनीक कहा जाता है।

भाव-प्रत्यनीक—

स्वभाव में अवस्थित होना जीव की प्रशस्त भाव पर्याय है और विभाव में परिणमन होना जीव की अप्रशस्त भाव पर्याय है, किन्तु ज्ञान, दर्शन और चारित्र क्षायिक आदि भाव में होते हैं, औदयिक भाव में नहीं। पांच ज्ञान में से अवधि, मनःपर्यव या केवलज्ञान आदि का प्रतिषेध करना ज्ञान प्रत्यनीकता है, सम्यग्-दर्शन का अपलाप करना दर्शन-प्रत्यनीकता है। ज्ञान के बिना चारित्र से क्या लाभ ? या विश्व में न चारित्र है और कोई चारित्रवान् है इस प्रकार चारित्र की सर्वथा अवहेलना करना चारित्र प्रत्यनीकता है। रत्नत्रय में से किसी एक, दो या तीनों के विरुद्ध आचरण करने वाला साधक भाव-प्रत्यनीक कहलाता है।

श्रुत-प्रत्यनीक—

आगम साहित्य को श्रुत कहते हैं, वह तीन तरह का है—सूत्र रूप, अर्थ रूप और तदुभयरूप। श्रुत-ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है। आत्मविकास में जितना श्रुतज्ञान सहायक है उतना अन्य कोई ज्ञान नहीं, श्रुतज्ञान अभ्यास-साध्य है। इसका अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए अन्यथा वह विस्मृत हो जाता है। यह ज्ञान क्षायोपशमिक है, इसकी प्रत्यनीकता तब होती है जबकि गुरु-परम्परा के बिना ही अध्ययन करके उसकी प्ररूपणा की जाए, वह अत्यन्त हानिकारक है। श्रुतसाहित्य का सब से पहला नियम है कि आगमों का अध्ययन श्रद्धापूर्वक किया जाए। तर्क-वितर्क के द्वारा चिन्तन-मनन करते हुए उसे सुदृढ़ करना चाहिए। कोरी तर्क आस्तिकता को नहीं, बल्कि नास्तिकता को जगाती है, अतः श्रद्धागम्य को श्रद्धा से ग्रहण करे और तर्क गम्य को तर्क से ग्रहण करे, जैन-दर्शन तर्क का निराकरण नहीं अपितु सम्मान करता है। तर्क यदि बुद्धि है तो श्रद्धा हृदय है, दोनों के होने पर ही जीवन है। बुद्धि का अभाव होने पर साधक उन्मत्त की तरह विवेकहीन हो जाता है। जैसे हृदय-गति रुक जाने से मनुष्य का मरण हो जाता है, उसी प्रकार श्रद्धा-विहीन साधक की साधना समाप्त हो जाती है। जैसे बुद्धि के बिना मनुष्य का जीवन दूभर हो जाता है, उसी प्रकार तर्क के बिना भी साधक मूढ़ हो जाता है, अतः दोनों का समन्वय करना ही अनेकान्तवाद का मुख्य लक्ष्य है। श्रद्धापूर्वक तर्क के लिए अनेकान्तवाद कभी आनाकानी नहीं करता, किन्तु श्रद्धा-विहीन तर्क आत्मोत्थान में सहायक नहीं होता, ऐसी तर्कणाएं तो जीव अनादिकाल से करता ही आ रहा है। अतः श्रुतसाहित्य के तीन भेदों को श्रद्धा से ही ग्रहण करना चाहिए,

इससे विपरीत ग्रहण करने वाला श्रुत की अपेक्षा से प्रत्यनीक माना जाता है।

गुरुं पडुच्च—शब्द से गुरु भक्ति, **गतिं पडुच्च**—पद से आस्तिकता, **समूहं पडुच्च**—शब्द से संगठन, **अणुकंपं पडुच्च**—शब्द से दयालुता, **भावं पडुच्च**—इस पद से सम्यक् चारित्रता, **सुयं पडुच्च**—शब्द से श्रुतज्ञान की विशिष्टता सिद्ध की गई है।

मातृ-पितृ-अंग

मूल—तओ पिइयंगा पण्णत्ता, तं जहा—अट्ठी, अट्ठिमिंजा, केस-मंसुरोमनहे।

तओ माउयंगा पण्णत्ता, तं जहा—मंसे, सोणिए, मत्थुलिंगे॥ ११॥

छाया—त्रीणि पित्रङ्गानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—अस्थि, अस्थिमिंजा, केश-श्मश्रु-रोम-नखम्। त्रीणि मात्रङ्गानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—मांसं, शोणितं, मस्तुलिंगम्।

शब्दार्थ—तओ पिइयंगा पण्णत्ता, तं जहा—तीन पितृ-अंग कथन किए गए हैं, जैसे—**अट्ठी**—अस्थियां, **अट्ठिमिंजा**—अस्थियों के मध्य का रस अर्थात् मज्जा, **केस-मंसुरोमनहे**—केश, दाढ़ी, मूंछ के बाल, रोम और नख।

तओ माउयंगा—तीन मातृ अंग कथन किए गए हैं, जैसे—**मंसे**—मांस, **सोणिए**—शोणित और, **मत्थुलिंगे**—मेधा-फुफ्फुस फेफडे आदि।

मूलार्थ—हड्डियां, अस्थिमज्जा, केश-दाढी-मूंछ तथा रोम और नख ये पिता के तीन अंग प्रतिपादन किए गए हैं।

मांस, रक्त, मेधा अर्थात् भेजा ये सब माता के अंग प्रतिपादन किए गए हैं

विवेचनिका—कल्पस्थिति गर्भज मनुष्यों की होती है और उनके शरीर की निष्पत्ति माता-पिता के आधार पर आधारित है। मैथुन-क्रीडा के पश्चात् एकत्रित होने वाले शुक्र और आर्तव का परस्पर जो योग होता है वही योग शरीर निष्पत्ति का मूल कारण माना जाता है। दोनों तत्त्व यदि शुद्ध और परिपक्व हों तो वे शरीर-निष्पत्ति में समर्थ हो जाते हैं। दोनों में से यदि एक भी विकृत होता है तो वे दोनों शरीर का निर्माण नहीं कर पाते। दोनों के विकृत होने पर भी सन्तान नहीं हो सकती है। बारह मुहूर्त के अनन्तर दोनों शुद्ध होते हुए भी अशुद्ध हो जाते हैं। संमिश्रण होने से लेकर बारह मुहूर्त के अन्दर-अन्दर ही वे शरीर-निष्पत्ति कर सकते हैं, वह भी तब, जबकि शरीर धारण करने के लिए कोई जीव पहुंच जाए अन्यथा नहीं। किसी जीव के पहुंचने पर सब से पहले वह जीव रजोवीर्य का आहार करता है, उसके बाद शरीर, इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन बनकर तैयार होते हैं। शरीर में दोनों तत्त्व विभिन्न प्रकार से विकसित होते हैं। शरीर के जो अंश स्पर्श में कठोर, रंग में काले या सफेद हैं वे सब पिता के अंश हैं जैसे कि हड्डी, मज्जा, केश, दाढी-मूंछ, रोम और नख आदि। किन्तु जो अवयव स्पर्श में सुकोमल, स्निग्ध, रंग में लाल और कुछ श्वेत हैं,

वे सब माता के अंश हैं, जैसे कि मांस, रक्त, फेफड़े और कपाल के अन्तर्वर्ती दिमाग आदि।

माता-पिता यदि सदाचारी धर्मात्मा एवं शक्तिशाली होंगे तो उनकी सन्तति भी सौन्दर्य, तेजस्विता और सशक्तता से परिपूर्ण होगी, अतः इन्सान जैसी संतति चाहता है, तदनुरूप अपने आपको वैसा बनाने का प्रयास करे।[१]

वृत्तिकार ने '**मत्थुलिंग**' शब्द के विषय में लिखा है—"**मस्तुलिंगं शेषं मेदः फिप्फिसादि, कपालमध्यवर्ती भेज्जकमित्येके**"—अर्थात् मस्तुलिंग शब्द मेदा 'फिप्फिस' फेफड़े आदि अवयवों का वाचक है, किन्तु कुछ विद्वान् इसका अर्थ कपाल का मध्यवर्ती भेजक मानते हैं। ये सब माता के रज की परिणति का फल है। जीव आयु स्वयं लेकर आता है। इस शरीर को आयु के परिमाण के अनुसार ही जीव धारण कर सकता है।

महानिर्जरा और महापर्यवसान

मूल—तिहिं ठाणेहिं णिग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवति, तं जहा—कया णं अहं अप्पं वा, बहुयं वा सुयं अहिज्जिस्सामि।

कयाणमहमेकल्लविहार-पडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरिस्सामि।

कया णमहमपच्छिममारणंतिय-संलेहणा-झूसणा झूसिए, भत्तपाण-पडियाइक्खिए, पाओवगए कालं अणवकंखमाणे विहरिस्सामि।

एवं स-मणसा, स-वयसा, स-कायसा पागडेमाणे (पहारेमाणे) निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

तिहिं ठाणेहिं समणोवासए महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवति, तं जहा—कया णमहमप्पं वा, बहुयं वा परिग्गहं परिचइस्सामि।

कया णं अहं मुंडे भवित्ता, अगाराओ अणगारियं पव्वइस्सामि।

कया णं अहं अपच्छिममारणंतिय-संलेहणा-झूसणा-झूसिए, भत्त-पाण पडियाइक्खिए, पाओवगए कालं अणवकंखमाणे विहरिस्सामि। एवं स-मणसा, स-वयसा, स-कायसा पागडेमाणे (जागरेमाणे) समणोवासए महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ॥१२॥

छाया—त्रिभिः स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति, तद्यथा—कदा खलु अहमल्पं वा, बहुकं श्रुतमध्येष्ये।

कदा खलु अहमेकाकिविहार-प्रतिमामुपसम्पद्य विहरिष्यामि?

---

१ विशेष विवरण के लिए देखिए "तण्डुल वैचारिक" नामक ग्रन्थ।

कदा खलु अहमपश्चिममारणान्तिक-संलेखना-जोषणाजोषितो भक्तपान-प्रत्याख्यातः, पादपोपगतः कालमनवकांक्षन् विहरिष्यामि। एवं स्वमनसा, स्व-वचसा, स्व-कायेन प्रकटयन् (प्रधारयन्) निर्ग्रन्थो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति।

त्रिभिः-स्थानैः श्रमणोपासको महानिर्जरो, महापर्यवसानो भवति, तद्यथा—कदा खलु अहमल्पं वा, बहुकं वा परिग्रहं परित्यक्ष्यामि।

कदा खलु अहं मुण्डो भूत्वा अगाराद् अनगारितां प्रव्रजिष्यामि।

कदा खलु अहमपश्चिममारणान्तिक-संलेखना-जोषणाजोषितो भक्त-पानप्रत्याख्यातः पादपोपगतः कालमनवकांक्षन् विहरिष्यामि। एवं स्वमनसा, स्ववचसा, स्वकायेन प्रकटयन् (जागरयन्) श्रमणोपासको महानिर्जरो, महापर्यवसानो भवति।

शब्दार्थ—तिहिं ठाणेहिं—तीन स्थानों से, **समणे णिग्गंथे**—श्रमण-निर्ग्रन्थ, **महा-निज्जरे**—महाकर्मक्षय करता हुआ, **महापज्जवसाणे**—संसार का अन्त करने वाला, **भवति**—होता है, **तं जहा**—जैसे, **कया णं**—'णं'—वाक्यालंकारार्थ में, कब, **अहं**—मैं, **अप्पं वा**—अल्प अथवा, **बहुं वा**—बहुत 'वा' समुच्चयार्थ में है, **सुयं अहिज्जिस्सामि**—श्रुत का अध्ययन करूंगा।

कया णं—कब, **अहं**—मैं, **एकल्लविहारपडिमं**—एकाकी विहार प्रतिमा को, **उवसंपज्जित्ता**—ग्रहण करके, **विहरिस्सामि**—विचरण करूंगा।

कया णं अहं—मैं कब, **अपच्छिममारणंतिय**—अपश्चिम मारणान्तिक, **संलेहणा**—संलेखना के, **झूसणा**—सेवन से, **झूसिए**—सेवित होकर, **भत्त-पाण**—अन्न-पानी, **पडियाइक्खिए**—पच्चक्खान कर, **पाओवगए**—पादपोपगमन अनशन धारण कर, **कालं**—काल की, **अणवकंखमाणे**—आकांक्षा न करता हुआ, **विहरिस्सामि**—विचरण करूंगा।

एवं—इस तरह, **स-मणसा**—अपने मन, **स-वयसा**—स्ववचन और, **स-कायसा**—अपने शरीर से, **पागडेमाणे**—प्रकट करता हुआ, **पहारेमाणे**—परिधारण करता हुआ, **महानिज्जरे**—महाकर्मों का क्षय करने वाला और, **महापज्जवसाणे भवइ**—जन्म-मरण का अन्त करने वाला होता है।

तिहिं ठाणेहिं—तीन स्थानों से, **समणोवासए**—श्रमणोपासक श्रावक, **महानिज्जरे**—महाकर्मों का क्षय कर, **महापज्जवसाणे**—महापर्यवसान वाला होता है, **तं जहा**—जैसे, **कया णं अहं**—कब मैं, **अप्पं वा**—अल्प अथवा, **बहुयं**—बहुत, **परिग्गहं**—परिग्रह का, **परिचइस्सामि**—परित्याग करूंगा।

कया णं अहं—कब मैं, **मुंडे भवित्ता**—मुण्डित होकर, **अगाराओ**—गृहस्थ से, **अणगारियं**—अनगारिता को प्राप्त होकर, **पव्वइस्सामि**—प्रव्रजित होऊंगा।

कया णं अहं—मैं कब, **अपच्छिममारणंतिय**—अपश्चिममारणान्तिक, **संलेहणा**—संलेखना, **झूसणा**—सेवा से, **झूसिए**—सेवित होकर फिर, **भत्त-पाण**—अन्न-पानी,

पडियाइक्खिए—छोड़कर, **पाओवगए**—पादपोपगमन अनशन वृत्ति धारण करके, **कालं**—काल को, **अणवकंखमाणे**—न चाहता हुआ, **विहरिस्सामि**—विचरूंगा। **एवं**—इस प्रकार, **स-मणसा**—मन, **स-वयसा**—वचन और, **स-कायसा**—स्वकाया से, **पागडेमाणे**—प्रकट करता हुआ, **जागरेमाणे**—जागता हुआ, **समणोवासए**—श्रमण-उपासक, **महानिज्जरे**—महाकर्मक्षय करता हुआ, **महापज्जवसाणे**—महापर्यवसान-संसार का अन्त करने वाला, **भवइ**—होता है।

मूलार्थ—तीन कारणों से अर्थात् तीन प्रकार की भावनाओं को मन में लाने से श्रमण निर्ग्रन्थ महाकर्मों का क्षय और संसार का अन्त करने वाला होता है, जैसे—

१. कब मैं थोड़े अथवा बहुत श्रुत का अध्ययन करूंगा।

२. कब मैं एकाकी-विहार-प्रतिमा को ग्रहण करके विचरण करूंगा।

३. कब मैं अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना, झूसणा से सेवित हो कर आहार-पानी का त्याग कर, पादपोपगमन नामक अनशन व्रत को धारण करके एवं मृत्यु को न चाहता हुआ विचरण करूंगा।

इस प्रकार अपने मन, वचन और काया से युक्त, प्रकटरूप से भावना करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ कर्मों का क्षय और संसार का अन्त करने वाला होता है।

तीन कारणों से अर्थात् तीन भावनाओं को जीवन में लाने से श्रमणोपासक महाकर्मक्षय तथा संसार का अन्त करने वाला होता है, जैसे—

१. कब मैं अल्प अथवा बहुत परिग्रह का परित्याग अर्थात् दान करूंगा।

२. कब मैं मुण्डित होकर एवं गृहस्थ का परित्याग कर अनगार वृत्ति को धारण कर प्रव्रजित होऊंगा।

३. कब मैं अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना झूसणा से झूसित होकर, अन्न-पानी का परित्याग करते हुए पादपोपगमन अनशन धारण करके काल को न चाहता हुआ विचरण करूंगा।

इस प्रकार मन, वचन और काय से युक्त और प्रकट रूप से भावना करता हुआ श्रमणोपासक कर्मों का क्षय करने और संसार का अन्त करने वाला होता है।

विवेचनिका—माता पिता के अंश रूप रज-वीर्य से उत्पन्न हुए मनुष्यों में कुछ व्यक्ति पशु तुल्य अज्ञानी एवं भीरु होते हैं, कुछ दयाविहीन दानव, कुछ मानवता से परिपूर्ण मानव, कुछ दैवीसंपत्ति से देदीप्यमान देव-तुल्य और कुछ भगवद्-गुणों से परिपूर्ण भगवान होते हैं। इन में जो दैवी संपत्ति से देदीप्यमान हैं, ऐसे धर्मदेव को श्रमण-निर्ग्रन्थ कहा जाता है। जब वे श्रमण तीन प्रकार की भावनाओं से भावित होते हैं तब उनके कर्मों की

महानिर्जरा और आत्मा की परमविशुद्धि होती है। वे तीन भावनाएं लक्ष्य-सिद्धि में परम सहायक हैं, जैसे कि—

पहली भावना—"कब मैं स्वल्प या बहुत आगमों का अध्ययन करूंगा।" इस कथन से सूत्रकार ने श्रुत ज्ञान की विशिष्टता एवं उपयोगिता बतलाई है। साधु के मन में सदैव श्रुत अध्ययन की अभिरुचि बनी रहनी चाहिए, क्योंकि साधक को साधना के लिए साधन श्रुत-साहित्य से ही मिल सकते हैं। जो श्रुत-अध्ययन की अभिरुचि रखता है, वह उस भावना को कार्यरूप में परिणत करने का प्रयास भी अवश्य करता है।

दूसरी भावना—"कब मैं आठ गुणों से सम्पन्न होकर एकल्ल विहार पडिमा को अंगीकार कर विचरूंगा।" राग और द्वेष ये दो सदैव जीव के साथ रहते हैं, इनसे अलग होना ही एकल्ल विहार पडिमा है। जिस वातावरण में राग-द्वेष का उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है उस वातावरण से दूर रहना ही उसका मुख्य लक्ष्य होता है। स्थविर कल्पस्थिति में राग-द्वेष का यत् किंचित् वातावरण बना ही रहता है, क्योंकि वह समाज में रहता है। समाज को बुराइयों से बचाते हुए सन्मार्ग में ले जाने वाले साधु को स्थविर-कल्पी कहते हैं। जब तक वह समाज के ऋण से उऋणी नहीं हो जाता तब तक वह एकल्ल विहार पडिमा को अंगीकार नहीं कर सकता। स्वयं सब प्रकार से समर्थ होने पर और समाज के ऋण से उऋणी होने पर उक्त-पडिमा अंगीकार की जाती है। स्थविरकल्पी साधु को इस स्वर्णावसर की प्रतीक्षा भावना के द्वारा अवश्य करनी चाहिए।

तीसरी भावना—वह समय मेरे लिए परम कल्याणकारी होगा जब "मैं जीवन की अन्तिम घड़ी को भी सफल करूंगा, चार प्रकार के आहारों का, अठारह तरह के पापों का, जीवन के बाह्य उपकरणों का तथा शरीर का परित्याग कर पादपोपगमन संथारा करके काल की प्रतीक्षा न करता हुआ समाधिपूर्वक आयु के अन्तिम क्षणों का यापन करूंगा।" इन्हीं भावनाओं के प्रभाव से साधक आत्म-प्रकाश के मार्ग में प्रविष्ट हो सकता है। साधक इन भावनाओं को अपने मन से, अपनी वाणी से और अपनी काय से सफल बनाने का प्रयत्न करे अर्थात् मन से भावना भाए, वाणी से उन शब्दों का प्रयोग करे और काय से यथासमय यथाशक्ति प्रतिक्षण वैसा करने के लिए प्रयास करे। यही क्रम है—ज्ञानी, संयमी और जीवन एवं मरण कला के पूर्वाभ्यास का।

श्रमणोपासक—आदर्श गृहस्थ के भी तीन मनोरथ हैं। भावना, मनोरथ, अनुप्रेक्षा और निदिध्यासन ये शब्द प्राय: एक अर्थ वाची हैं। "**यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी**" जिसकी जैसी भावना होती है उसको सिद्धि भी वैसी ही प्राप्त होती है। साधक को लक्ष्य पर पहुंचाने वाली अगर कोई शक्ति है तो वह भावना ही है। उसके अनुसार साधन भी वैसा ही जुट जाता है। अत: सिद्धि का मूल कारण हृदय की प्रबल भावना को ही माना जाता है।

श्रमणोपासक की पहली भावना है—वह अवसर मेरे लिए स्वर्णिम होगा जब कि मैं उपार्जित किए हुए परिग्रह का परित्याग करूंगा। अर्थात् दान करूंगा, चतुर्विध श्री संघ की भलाई में तथा श्रुत-सेवा में स्वल्प या बहुत खर्च करूंगा, यदि श्रमणोपासक साधक यह भावना भाता हुआ विनाशी परिग्रह को शासनहित में लगाता है, तो उसके लिए यह भावना परमकल्याण-कारिणी बन जाती है।

सूत्र में आए हुए **परिग्गहं परिचइस्सामि**—पदों का भाव जैन-आम्नाय में इस प्रकार से प्रचलित हो रहा है कि "कब मैं आरम्भ और परिग्रह का परित्याग करूंगा।" यह अर्थ सूत्र विहित न होने से प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि आरंभ शब्द मूल पाठ में नहीं है। और त्याग का अर्थ भी छोड़ना या फैंक देना नहीं है, यहां त्याग शब्द दान का वाचक है, जैसे कि—**दानमुत्सर्जनं त्यागः**[१], दान के १३ नाम वर्णन करते हुए त्याग शब्द को दानार्थक भी माना है। अतः इच्छा रूप परिग्रह को संतोष से और उपार्जित किए हुए परिग्रह को उदारता से शुभ काम में दान देकर जीवन सफल करना ही पहला मनोरथ है।

श्रमणोपासक की दूसरी भावना है—"वह दिन मेरे लिए परम कल्याणकारी होगा जबकि मैं गृहवास का परित्याग कर साधु वृत्ति ग्रहण करूंगा।" इससे सिद्ध होता है कि साधक को साधना में आगे बढ़ने की भावना नहीं छोड़नी चाहिए। परिस्थितिवश यदि आगे न बढ़ सके तो भावना में दीन वृत्ति भी नहीं होनी चाहिए। क्योंकि भावना-प्रेरित प्रगति में ही जीवन है।

श्रमणोपासक की तीसरी भावना है—"वह दिन मेरे लिए परमकल्याणकारी होगा जब मैं पादपोपगमन संथारा करके समाधिपूर्वक अपनी आयु के अन्तिम क्षणों को सफल बनाता हुआ तथा काल की आकांक्षा न करता हुआ विचरण करूंगा।" संथारा किए जाने पर भी मृत्यु की इच्छा न रखना यह जैन-संस्कृति की महती विशेषता है। ये तीन प्रक्रियाएं मानव-जीवन को सफल बनाने वाली हैं। इन को नित्यप्रति मन, वचन और काया से पल्लवित, पुष्पित एवं फलित करने के लिए उद्यमशील बने रहने में ही श्रावक-जीवन की सार्थकता है।

महानिज्जरे—इस शब्द का अर्थ है कि "उक्त प्रक्रिया से निर्जरा ही नहीं प्रत्युत महानिर्जरा होती है।" वृत्तिकार ने "**महती निर्जरा कर्मक्षपणा**" अर्थ किया है। "**एगा निज्जरा**" सूत्र की वृत्ति लिखते हुए वृत्तिकार ने लिखा है—"**निर्जरणं निर्जरा विशरणं परिशटनमित्यर्थः सा चाष्टविधं, कर्मापेक्षयाऽष्टविधापि द्वादशविधतपोजन्यत्वेन द्वादशविधापि अकामक्षुत्पिपासा-शीतातपदंशमशक-मलसहन-ब्रह्मचर्य- धारणाद्यनेकविधकारणजनितत्वेनानेकविधापि द्रव्यतो वस्त्रादेर्भावतः कर्मणामेवं द्विविधाऽपि**

१ हेमकोष अभिधान चिन्तामणि, मर्त्यकाण्ड श्लोक ३८६।

वा निर्जरा सामान्यादेकैवेति। ननु निर्जरा मोक्षयोः कः प्रति विशेषः? उच्यते—देशतः कर्मक्षयो निर्जरा, सर्वतस्तु मोक्ष इति। इस कथन से यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि कर्मक्षय ही निर्जरा है, जब कर्मों का क्षपण अधिकतर होता है, तब उसे महानिर्जरा कहते हैं।

महापज्जवसाणे—इस पद का विशेष अर्थ है वह साधक संसार एवं भव-परंपरा का, अशुभ कर्मों की महाराशि का या कार्मण शरीर का अन्त करने वाला होता है। कर्मों से सर्वथा विलग हो जाना ही महापर्यवसान कहलाता है। जब तक अनन्त गुणा निर्जरा नहीं होती तब तक महापर्यवसान नहीं हो सकता। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उक्त तीन-तीन प्रक्रियाओं से न केवल संख्यात गुणा या असंख्यात गुणा निर्जरा होती है बल्कि अनन्त गुणा निर्जरा भी होती है।

समणोवासए—इस पद से जो श्रमणों के उपासक हैं उन्हीं को श्रमणोपासक कहा जाता है। इस कथन से अन्य सभी प्रकार के उपासकों का निषेध किया गया है। जो साधुओं का उपासक होगा, वह अरिहंत एवं सिद्धों का उपासक तो अवश्यमेव होगा, किन्तु वह अन्य किसी देव-देवी आदि का उपासक नहीं हो सकता।

पुद्गल-प्रतिघात

मूल—तिविहे पोग्गलपडिघाए पण्णत्ते, तं जहा—परमाणुपोग्गले परमाणुपोग्गलं पप्प पडिहण्णिज्जा। लुक्खत्ताए वा पडिहण्णिज्जा। लोगंते वा पडिहण्णिज्जा ॥ ९३ ॥

छाया—त्रिविधः पुद्गलप्रतिघातः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—परमाणुपुद्गलः परमाणुपुद्गलं प्राप्य प्रतिहन्येत्। रूक्षतया वा प्रतिहन्येत्। लोकान्ते वा प्रतिहन्येत्।

शब्दार्थ—तिविहे—तीन प्रकार से, **पोग्गलपडिघाए पण्णत्ते, तं जहा**—पुद्गलप्रतिघात प्रतिपादित किया गया है, जैसे—**परमाणुपोग्गले**—परमाणुपुद्गल, **परमाणुपोग्गलं**—परमाणुपुद्गल को, **पप्प**—प्राप्त करके, **पडिहण्णिज्जा**—प्रतिहनन करे, **लुक्खत्ताए वा**—रूक्षता से, **पडिहण्णिज्जा**—प्रतिहनन करे, **लोगंते वा पडिहण्णिज्जा**—लोकान्त में गया हुआ पुद्गल धर्मास्तिकाय के अभाव से प्रतिहनन करे।

मूलार्थ—तीन कारणों से पुद्गलों का परस्पर प्रतिघात होता है। जैसे-परमाणु पुद्गल, परमाणुपुद्गल को प्राप्त करके प्रतिघात करे, रूक्ष भाव होने से प्रतिघात करे और लोकान्त में जाकर प्रतिहनन क्रिया को प्राप्त करे।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में कर्म-निर्जरा का वर्णन किया गया है। वह कर्म-निर्जरा पुद्गल-परिणाम का ही एक रूप है, अतः अब सूत्रकार पुद्गल-प्रतिघात का वर्णन करते हैं।

जब परमाणु-पुद्गल आत्मा के साथ संबद्ध हो जाते हैं तब वे कर्म-पुद्गल कहलाते हैं। उनके विपाक की स्थिति समाप्त होने पर वे नोकर्म कहलाने लगते हैं। निर्जरा चलित कर्मपुद्गलों की होती है, अचलित की नहीं, आत्मा से अलग होने पर वे कर्म परमाणु गति-शील हो जाते हैं। परमाणुपुद्गल प्रयोग से नहीं, अपनी ही विश्रसा गति से गमन करते हैं। गति-अवरोध को ही प्रतिघात कहा जाता है। वह प्रतिघात-गतिस्खलन तीन कारणों से होता है, उन कारणों को बताना ही सूत्रकार का मुख्य लक्ष्य है। किन्तु परमाणु स्वयं न लघु है और न ही गुरु है। वह एक स्थान से गति करता हुआ लोकान्त तक भी पहुंच सकता है। जीव और परमाणु की जितनी शीघ्र गति हो सकती है, उतनी अन्य बाहरी अर्थात्—स्थूल पुद्गलों—पवन, शब्द, प्रकाश, विद्युत, भाषा, मन आदि की गति नहीं है। एक आकाश प्रदेश से साथ वाले दूसरे आकाश प्रदेश पर पहुंचना यह परमाणु की स्वल्पतम गति है और लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुंचना यह परमाणु की विशाल गति है। तीन कारणों से उस की गति रुकती है, जैसे कि—

१. परस्पर विरोधी गतिशील दो परमाणुओं के आमने-सामने टकराव होने से उनका गत्यवरोध हो जाता है, स्निग्ध और रूक्ष के योग से वे परमाणु पर्याय बदलकर एक द्विप्रदेशी-द्व्यणुक बन जाता है, परमाणु नहीं रह जाता।

२. कोई भी गतिशील परमाणु जब रूक्षता की चरमसीमा में पहुंच जाता है तब उसकी गति स्वतः अवरुद्ध हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि परमाणु स्नेहगुण से ही गति कर सकता है, रूक्षता से नहीं। स्नेहगुण गति में सहायक होता है और रूक्षगुण अवस्थिति में, स्निग्ध और रूक्षगुण परमाणु में स्वतः बदलते रहते हैं। जब परमाणु जिस रूप में परिणत होता है तब वह तदनुरूप ही क्रिया करता है।

३. कोई भी परमाणु जब अपनी विश्रसा गति से गमन कर रहा है यदि उसका अन्तराल में किसी परमाणु से प्रतिघात न हो और स्नेहगुण की मात्रा भी कुछ न्यून न तो तब उसे रोकने वाली तीसरी शक्ति धर्मास्तिकाय का अभाव है। परमाणु धर्मास्तिकाय के अन्तिम प्रदेश तक ही जा सकता है। जैसे रेलगाड़ी लाइन के अन्तिम भाग तक ही जा सकती है उससे आगे नहीं, इसी प्रकार परमाणु भी लोक के अन्त तक ही जा सकता है, आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से वह गतिशील परमाणु स्वयं लोकांत में रुक जाता है, क्योंकि लोक का ऐसा ही स्वभाव है।

चक्षु और चक्षुमान के भेद

मूल—तिविहे चक्खू पण्णत्ते, तं जहा—एगचक्खू, बिचक्खू, तिचक्खू। छउमत्थे णं मणुस्से एगचक्खू। देवे बिचक्खू। तहारूवे समणे वा, माहणे वा, उप्पन्ननाणदंसणधरे से णं तिचक्खुत्ति वत्तव्वं सिया॥९४॥

छाया—त्रिविधश्चक्षुः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—एकचक्षुः, द्विचक्षुः, त्रिचक्षुः। छद्मस्थो वै मनुष्य एकचक्षुः। देवो द्विचक्षुः। तथारूपः श्रमणो वा, माहनो वा, उत्पन्नज्ञान-दर्शनधरः स खलु त्रिचक्षुरिति वक्तव्यं स्यात्।

शब्दार्थ—तिविहे चक्खू पण्णत्ते, तं जहा—चक्षु तीन प्रकार के कथन किए गए हैं, जैसे—**एगचक्खू**—एक चक्षु, **बिचक्खू**—दो चक्षु और, **तिचक्खू**—तीन चक्षु, **छउमत्थे णं**—छद्मस्थ, **मणुस्से**—मनुष्य, **एगचक्खू**—श्रुतादि विशिष्ट ज्ञान रहित होने से एक चक्षु वाला होता है, **देवे बिचक्खू**—श्रुतज्ञान तथा अवधिज्ञान और द्रव्यचक्षु होने से देव द्विचक्षु है तथा, **तहारूवे**—तथारूप, **समणे वा**—श्रमण अथवा, **माहणे वा**—माहन—श्रावक, **उप्पन्ननाणदंसणधरे**—उत्पन्न ज्ञान और दर्शन का धर्त्ता, **से णं**—उसे, **तिचक्खू वत्तव्वं सिया**—तीन चक्षुओं वाला कहा जाता है।

मूलार्थ—चक्षु तीन प्रकार के प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—एक-चक्षु, द्विचक्षु और त्रिचक्षु।

छद्मस्थ प्राणी एक चक्षु वाला होता है, देव द्विचक्षु होता है और उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक संयमी अवधिज्ञान युक्त तीन चक्षु वाले कथन किए गए हैं।

विवेचनिका—पुद्गल की प्रत्यक्ष या परोक्ष क्रियाओं का ज्ञान दिव्य ज्ञाननेत्रों के द्वारा ही हो सकता है, अतः सूत्रकार ने पुद्गल प्रतिघात के अनन्तर तीन प्रकार के चक्षुओ का उल्लेख किया है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवों के तो चक्षु का अभाव ही होता है। पृथ्वी पर रहने वाले वे सभी प्राणी जिनकी आखे हैं वे एक-चक्षु कहलाते हैं, क्योंकि वे केवल चर्म-चक्षुओ के द्वारा ही प्रत्यक्षीकरण करते हैं। सम्यग्दृष्टि सभी देव द्विचक्षु कहलाते हैं। वे द्रव्य चक्षुओ से भी पदार्थों का प्रत्यक्ष करते हैं और अवधिज्ञान द्वारा भी, क्योंकि देवों में अवधिज्ञान अवश्यंभावी होता है। जो उच्चस्तरीय श्रमण माहन है वे त्रिचक्षु कहलाते हैं क्योंकि जो अवधि या मनःपर्यवज्ञानी हैं ऐसे मुनि आगमचक्षु भी होते हैं, द्रव्यचक्षु भी और विकल प्रत्यक्ष पारमार्थिक ज्ञानचक्षु भी, ये तीन चक्षु श्रमण माहन को ही होते हैं। केवलज्ञान को अनन्त चक्षु कहा जाता है। अतः उसका समावेश त्रिचक्षु में नही किया गया।

अभिसमागम-विवेचन

मूल—तिविहे अभिसमागमे पण्णत्ते, तं जहा—उड्ढं, अहं, तिरियं। जया णं तहारूवस्स समणस्स वा, माहणस्स वा अइसेसे नाण-दंसणे समुप्पज्जइ, से णं तप्पढमयाए उड्ढमभिसमेइ, तओ तिरियं, तओ पच्छा अहे। अहोलोगे णं दुरभिगमे पण्णत्ते समणाउसो॥९५॥

छाया—त्रिविधोऽभिसमागमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—ऊर्ध्वं, अधः, तिर्यक्। यदा हि तथारूपस्य श्रमणस्य वा, माहनस्य वा अतिशेषे ज्ञान-दर्शने समुत्पद्येते, स तत्प्रथमायामूर्ध्वमभिसमेति, ततस्तिर्यक्, तत्पश्चादधः। अधोलोकः खलु दुरभिगमः प्रज्ञप्तः श्रमणायुष्मन्।

शब्दार्थ—तिविहे अभिसमागमे पण्णत्ते, तं जहा—तीन प्रकार से पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का जानना कथन किया गया है, जैसे—**उड्ढं**—ऊर्ध्वलोक, **अहे**—अधोलोक और, **तिरियं**—तिरछा लोक, **जया णं**—जब, **तहारूवस्स**—तथारूप, **समणस्स वा**—श्रमण को अथवा, **माहणस्स वा**—माहन को, **अइसेसे**—अतिशेष, **णाणदंसणे समुप्पज्जइ**—परम अवधि आदि ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होते हैं तो, **से णं**—वह, **तप्पढमयाए**—सर्वप्रथम **उड्ढमभिसमेइ**—ऊर्ध्व लोक को देखता है, **तओ पच्छा**—तत्पश्चात्, **अहे**—अधो लोक को देखता है, **समणाउसो**—हे श्रमणायुष्मन्, **अहोलोगे णं**—नीचे लोक के पदार्थों का, **दुरभिगमे पण्णत्ते**—दुर्गम अर्थात् जानना अत्यन्त कठिन प्रतिपादन किया गया है।

मूलार्थ—तीन प्रकार से पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान होता है, जैसे—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक। जब तथारूप श्रमण और माहन को अवधि आदि विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है, तब वह सर्व प्रथम ऊंचे लोक को, पुनः तिर्यग् लोक को फिर अधोलोक को देखता है। भगवान् कहते हैं कि हे श्रमणायुष्मन् शिष्य! अधोलोक के पदार्थों का जानना दुर्गम प्रतिपादन किया गया है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में चाक्षुष ज्ञान का वर्णन किया गया है। छद्मस्थ आत्मा को वह ज्ञान क्रमपूर्वक ही होता है, अतः सूत्रकार ने इस सूत्र में यह सिद्ध किया है कि जब किसी श्रमण अथवा माहन को अतिशयी ज्ञान एवं दर्शन उत्पन्न होता है तो वह सबसे पहले ऊर्ध्व दिशा का प्रत्यक्ष करता है, उसके बाद तिर्यग्दिशा को और फिर अधोदिशा को जानता एवं देखता है। यह क्रम क्षायोपशमिक का है, केवलज्ञान का नहीं, क्योंकि केवलज्ञानी तो सभी दिशाओं को एक साथ प्रत्यक्ष करता है। वृत्तिकार का भी यही अभिमत है, जैसे कि—"**अइसेस 'त्ति' शेषाणि—छद्मस्थज्ञानान्यतिक्रान्तमतिशेषं—ज्ञान-दर्शनं, तच्च परमाव-धिरूपमिति संभाव्यते, केवलस्य न क्रमेणोपयोगो येन तत्प्रथमतयेत्यादि सूत्रमनवद्यंस्या- दिति।**" सूत्रकर्त्ता ने जो **अभिसमागमे** पद दिया है इसका भाव सम्यग्ज्ञान से है मिथ्याज्ञान से नहीं, जैसे कि—

"**अभीत्यर्थाभिमुख्येन नतु विपर्यासरूपतया, सम् इति सम्यक् न संशयतया, तथा आ—मर्यादया गमनमभिसमागमो—वस्तुपरिच्छेदः।**"

अर्थात् अभि, सम्, आ, पूर्वक गम् धातु से अभिसमागम शब्द निष्पन्न होता है। अभि—जो ज्ञान विषय के अभिमुख है, सम्—सम्यग्ज्ञान का बोधक है मिथ्याज्ञान का नहीं,

इससे संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय तीनों का निषेध हो जाता है। आ-मर्यादा का बोधक है। सारांश यह कि जो सम्यग्ज्ञान मर्यादापूर्वक अपने विषय को ग्रहण करने वाला है उसे अभिसमागम कहते हैं।

अइसेसे नाणदंसणे समुप्पज्जइ—यह पद अप्रतिपाति अवधिज्ञान और परमावधिज्ञान का सूचक है। दोनों तरह के अवधिज्ञान अन्य सभी प्रकार के अवधिज्ञान की अपेक्षा से अतिशयपूर्ण हैं। **तहारूवे समणे वा माहणे वा** इन पदों से निश्चित किया गया है कि मूलगुण एवं उत्तरगुण युक्त श्रमण और माहन को ही अतिशय पूर्ण सम्यग-ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो सकता है, अन्य को नहीं।

ऋद्धि-भेद

मूल—तिविहा इड्ढी पण्णत्ता, तं जहा—देविड्ढी, राइड्ढी, गणिड्ढी।

देविड्ढी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—विमाणिड्ढी, विगुव्वणिड्ढी, परियारणिड्ढी।

अहवा—देविड्ढी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—सचित्ता, अचित्ता, मीसिया।

राइड्ढी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—रन्नो अइयाणिड्ढी, रन्नो निज्जाणिड्ढी, रण्णो बलवाहणकोस-कोट्ठागारिड्ढी।

अहवा—राइड्ढी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा— सचित्ता, अचित्ता, मीसिया।

गणिड्ढी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—णाणिड्ढी, दंसणिड्ढी, चारित्तिड्ढी।

अहवा—गणिड्ढी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—सचित्ता, अचित्ता, मीसिया ॥९६॥

छाया—त्रिविधा ऋद्धिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—देवर्द्धिः, राजर्द्धि, गणर्द्धिः।

देवर्द्धिस्त्रिविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—विमानर्द्धिः, विकुर्वणर्द्धिः, परिचारणर्द्धिः।

अथवा—देवर्द्धिस्त्रिविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—सचित्ता, अचित्ता, मिश्रिता।

राजर्द्धिस्त्रिविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—राज्ञोऽतियानर्द्धिः, राज्ञोनिर्याणर्द्धि, राज्ञो बलवाहन-कोष-कोष्ठागारर्द्धिः।

अथवा राजर्द्धिस्त्रिविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—सचित्ता, अचित्ता, मिश्रिता।

गणि-ऋद्धिस्त्रिविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—ज्ञानर्द्धिः, दर्शनर्द्धिः, चारित्रर्द्धिः।

अथवा—गणि-ऋद्धिस्त्रिविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—सचित्ता, अचित्ता, मिश्रिता।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—ऋद्धि तीन तरह की प्रतिपादन की गई है, जैसे—देव-ऋद्धि, राज-ऋद्धि और गण-ऋद्धि।

देवर्द्धि तीन तरह की है, जैसे विमानर्द्धि, विकुर्वणर्द्धि और परिचारणर्द्धि। अथवा तीन प्रकार की देव-ऋद्धि होती है, जैसे—सचित्त, अचित्त और मिश्रित। राजर्द्धि तीन प्रकार की है, जैसे—राजा की अतियानर्द्धि, निर्याणर्द्धि और सेना, वाहन, कोष और कोष्ठागार-ऋद्धि।

अथवा राजर्द्धि तीन तरह की है, जैसे—सचित्त, अचित्त और मिश्रित।

गणि-ऋद्धि तीन तरह की है, जैसे—ज्ञानर्द्धि, दर्शनर्द्धि, चारित्रर्द्धि।

अथवा गणि-ऋद्धि तीन तरह की है, जैसे—सचित्त, अचित्त और मिश्रित।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में जिस ज्ञान-क्रम का वर्णन किया गया है, उस अतिशायी ज्ञान से सम्पन्न चारित्रवान साधक के कर्म शेष रहने पर वह भवान्तर में ऋद्धिमान बनता है, अतः इस सूत्र में ऋद्धि का उल्लेख किया गया है। ऋद्धि का अर्थ है—ऐश्वर्य। जिस ऐश्वर्य से जीव अपेक्षाकृत प्रसिद्ध हो जाए, आदरणीय एवं वन्दनीय बन जाए या प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके, वही ऐश्वर्य ऋद्धि कहलाता है। वह ऋद्धि लौकिक तथा लोकोत्तरिक इस प्रकार से दो तरह की होती है, इनमें देव-ऋद्धि और राज-ऋद्धि प्रायः अभ्युदय से प्राप्त होती है, इसलिए अभ्युदय से प्राप्त ऋद्धि को लौकिक ऋद्धि कहते हैं, किन्तु जो अशुभ कर्मों के उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय से और शुभकर्मों के उदय से प्राप्त होती है वह गणी-ऋद्धि अर्थात्—आचार्य-ऋद्धि कहलाती है।

देवों की ऋद्धि तीन प्रकार की होती है विमान-ऋद्धि, वैक्रिय-ऋद्धि और परिचारणा-ऋद्धि। देव-ऋद्धि पद से भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक इन चार प्रकार के देवों की ऋद्धि का वर्णन किया गया है। विमान ऋद्धि का वर्णन संग्रहणी गाथाओं में इस प्रकार से वर्णित है, जैसे कि—

बत्तीस अट्ठवीसा बारस अट्ठ चउरो सयसहस्सा।
आरेण बंभलोगा विमाणसंखा भवे एसा॥
पंचास चत्त छच्चेव सहस्सा लंतगसुक्कसहस्सारे।
सय चउरो आणय पाणएसु तिन्नारणच्चुयए॥
एक्कारसुत्तर हेट्ठिमेसु सत्तुत्तरं च मज्झिमए।
सयमेगं उवरिमए पंचेव अणुत्तर विमाणा॥

अर्थात् सौधर्म देवलोक में बत्तीस लाख विमान हैं, ईशान देवलोक में २८ लाख, सनत्कुमार देवलोक में १२ लाख, माहेन्द्र देवलोक में ८ लाख, ब्रह्म देवलोक में ४ लाख

विमान हैं। लांतक में ५० हजार, महाशुक्र में ४० हजार, सहस्रार देवलोक में ६ हजार विमान हैं। आनत और प्राणत देवलोकों में चार-चार सौ और आरण एवं अच्युत देवलोक में तीन-तीन सौ विमान हैं। नवग्रैवेयकों के अधस्तन में १११, मध्यम ग्रैवेयक में १०७ और उपरितन ग्रैवेयक में १०० विमान हैं। अनुत्तरों में पांच अनुत्तर विमान हैं। इस तरह विमानों की कुल संख्या ८४९७७२३ होती है। व्यन्तरों के नगरावास हैं और भवनपति देवों के भवन हैं तथा ज्योतिष्कों के असंख्यात विमान हैं, उपलक्षण से उनका भी ग्रहण करना चाहिए। अधिक संख्या में विमानों का होना भी ऋद्धि ही है। जहां संख्या में विमान स्वल्प हैं वहां उत्तरोत्तर एवं श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम के कारण विमान ऋद्धि कहलाती है।

दूसरी ऋद्धि वैक्रिय करने की है। सब देवों में वैक्रियकरण शक्ति समान नहीं होती है। जिन को अधिक से अधिक वैक्रिय करने की शक्ति प्राप्त है वे अधिक ऋद्धिमान माने जाते हैं। उनमें भी अतिप्रिय और आश्चर्य चकित करने वाली वैक्रिय ऋद्धि सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है।

वैक्रिय ऋद्धि के विषय में चमरेन्द्र और शक्रेन्द्र के नामों का उल्लेख करके श्री गौतम गणधर जी ने भगवान महावीर से कुछ प्रश्न किये थे और सर्वज्ञ प्रभु ने उनका समाधान किया था। वे प्रश्नोत्तर इस प्रकार हैं—

चमरे णं भंते! के महिड्ढिए जाव केवतियं च णं पभू विउव्वित्तए? गोयमा! चमरे णं जाव पभू णं केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं य देवीहिं य आइन्नं जाव करेत्तए, अदुत्तरं च णं गोयमा! पभू चमरे जाव तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे बहूहिं असुरकुमारेहिं आइन्ने जाव करेत्तए, एस णं गोयमा! चमरस्स अयमेयारूवे विसयमेत्ते बुइए, नो चेव णं संपत्तीए विउव्विसु ३, एवं सक्के वि दो केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे जाव आइन्ने करेज्ज त्ति। —भगवती सूत्र श० ३

अर्थात्—चमरेन्द्र वैक्रिय ऋद्धि द्वारा जम्बूद्वीप परिमाणद्वीप को बहुत से असुरकुमार देव और देवियों से व्याप्त कर सकता है, उस मे तिर्यग् लोक के असंख्यात द्वीप और समुद्रो प्रमाण क्षेत्र को देव और देवियो से व्याप्त करने की शक्ति है, परन्तु इतने परिमाण में उसने व्याप्त न किया, न करता है और न करेगा। शक्रेन्द्र दो जम्बूद्वीप परिमाण क्षेत्र को देव और देवियों से व्याप्त कर सकता है। इसी को देवों की वैक्रिय ऋद्धि कहते हैं।

देवों की कामक्रीडा के लिए यहा परिचारणा शब्द आया है। परिचारणा करने की शक्ति भी सब देवों में समान रूप से नही होती । परिचारणा शक्ति का अधिक प्राप्त होना परिचारणा ऋद्धि कहलाती है। वृत्तिकार भी लिखते हैं—**कामासेवा तद् ऋद्धिः, अन्यान् देवान् अन्यसत्का देवीः, स्वकीया देवीरभियुज्य-आत्मानं च विकृत्य परिचारयतीत्येवमुक्तलक्षणेति।**

दूसरे प्रकार से भी देव ऋद्धि का वर्णन किया गया है। अपने अधिकार में रहने वाले देव और देवियां सचित्त ऋद्धि हैं, वस्त्र, अलंकार आदि अचित्त ऋद्धि और वस्त्र और अलंकारों से सम्पन्न देव और देवियां मिश्रित देवऋद्धि हैं।

राजऋद्धि भी तीन प्रकार की होती है जैसे कि:—

चक्रवर्ती आदि महाराजा जब दिग्-विजय कर वापिस राजधानी में प्रवेश करता है तब नगरी को नववधू की तरह सजाया जाता है इसी को अतियान-राज ऋद्धि कहते हैं। वह सवारी विशेष समारोह से निकलती है, जन-समूह का लक्ष्य भी उसी ओर होता है। राजा जिस समय नगर से बाहर कहीं जाता है उस समय जो उसके साथ हाथी-घोड़े, रथ और पदाति इस प्रकार चतुरंगिणी सेना और बड़े-बड़े राजकर्मचारी होते हैं, उस विशेष समारोह को निर्याण-राज ऋद्धि कहते हैं। सेना, यान, वाहन-खच्चर, कोश और अपार धान्य संग्रह ये सब राजा की ऋद्धि हैं। इसी प्रकार सचेतन, अचेतन और मिश्रित ऋद्धि का वर्णन भी जानना चाहिए। यह सब द्रव्य ऋद्धि का ही वर्णन किया गया है।

गण के अधिपति को गणी या आचार्य कहते हैं। उनके शासन में जो शिष्य, साधु-साध्वी हैं वे श्रुतज्ञान के पारगामी पूर्वधर, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी अधिक से अधिक हैं, अध्ययन और अध्यापन की रीति-नीति बहुत सुन्दर है तथा ज्ञान के बाह्य साधन भी अनुपम हैं इसे ज्ञान ऋद्धि कहते हैं। निर्ग्रन्थ प्रवचन में निःशंकित आदि होना, प्रवचन-प्रभावक होना, दर्शन शास्त्रों का होना, उनके अध्ययन और अध्यापन का होना, दर्शन ऋद्धि है। जिस गणी के शासन में उग्रविहारी विभिन्न प्रकार के संयमी तपस्वी विनीत आज्ञाकारी निर्दोष चारित्र के पालने वाले त्यागीवर्ग हैं यह सब चारित्र ऋद्धि है। ज्ञान-दर्शन और चरित्र का उत्तरोत्तर विकास और इनकी विशुद्धि औदयिक भाव में नहीं होती प्रत्युत उपशम, क्षय और क्षयोपशम से होती है। सुयोग्य एवं श्रेष्ठ शिष्य परिवार पुण्यानुबंधी पुण्य से प्राप्त होता है, अतः इसे सचित्त ऋद्धि कहते हैं। वस्त्र-पात्र, पुस्तक आदि अचित्त ऋद्धि और उपकरण सहित शिष्य मिश्र ऋद्धि मानी जाती है। द्रव्य ऋद्धि औदयिक भाव से सम्बन्धित है और भाव ऋद्धि क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव से सम्बन्धित है। किन्तु '**गणिड्ढी**'-पद से द्रव्य और भाव दोनों ऋद्धियों का दिग्दर्शन कराया गया है।

त्रिविध-गौरव

मूल—तओ गारवा पण्णत्ता, तं जहा—इड्ढीगारवे, रसगारवे, सायागारवे ॥ १७ ॥

छाया—त्रीणि गौरवाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—ऋद्धिगौरवं, रसगौरवं, सातागौरवम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तीन गौरव प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—ऋद्धि गौरव, रस गौरव और साता-सुख गौरव।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में ऋद्धियों का वर्णन किया गया है। ऋद्धि होने पर मनुष्य को अभिमान हो ही जाता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में तीन तरह के गौरवों अर्थात् अभिमान-रूपों का वर्णन किया गया है। गौरव शब्द प्रतिष्ठा और भारीपन का बोधक है, क्योंकि गौरव शब्द गुरु शब्द से बना है जिसका अर्थ है लुभावना भारीपन। वह दो तरह का होता है— द्रव्य-गौरव और भाव-गौरव। जो पदार्थ वजन से और मूल्य से भारी हो वह द्रव्य गौरव-युक्त कहलाता है जैसे रत्नों में हीरा और धातुओं में सोना भारी होता है।

अशुभ भावो से, लोभ आदि कषायों से या अभिमान के कारण अपने को जिस भारीपन का अनुभव होता है उसे शास्त्रीय भाषा मे गौरव कहा जाता है। वह तीन प्रकार का होता है, जैसे कि—ऋद्धि, रस और भौतिक सुख।

ऋद्धि-गौरव—जब किसी को राजा, मत्री, सेठ, सेनापति आदि लौकिक पद अथवा आचार्य, उपाध्याय, गणी आदि लोकोत्तरिक पद प्राप्त होता है या छोटे से बड़ा पद प्राप्त होता है, तब उस लुभावने पद की प्राप्ति से उसमें एक प्रकार की अहंवृत्ति जागृत हो जाती है, अथवा जनता के द्वारा वंदनीय एवं पूजनीय होने पर भी अभिमान-गौरव प्रायः हो ही जाया करता है वही ऋद्धि गौरव है। इससे अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की एवं अधिकाधिक समृद्धि-शाली बनने की कामनाएं जागृत हो जाती है और साधक लोकैषणा में फंस जाता है।

रस-गौरव—रसानुभूति करने वाली सभी इन्द्रियो के विषय ही रस गौरव हैं तथा रसनेन्द्रिय के जितने सर्वोच्च विषय हैं उनका जब कोई व्यक्ति अनुभव करता है तब उसमे अभिमान या गौरव का होना स्वाभाविक है क्योंकि वह सोचता है कि मेरे जैसा रसानुभवी अन्य कोई नहीं है, ऐसे परिणामों को ही रस-गौरव कहा जाता है।

साता-गौरव—जीवन मे जितना भौतिक सुख मुझे मिला हुआ है उतना अन्य किसी को प्राप्त नहीं है। विभिन्न प्रकार के रोगों, दुःखों एवं चिन्ताओं से लोग ग्रस्त हैं उनमें से एक मैं ही हूं जो शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से सर्वथा मुक्त हूं, अभिमान युक्त इस प्रकार का अनुभव करना साता गौरव है।

अभिमान से मनुष्य मे कठोरता एवं भारीपन स्वतः ही आ जाया करता है। अभिमान से नीच गोत्र का बंध होता है। गौरव मनुष्य को एक बार ऊचा चढ़ा देता है और कालान्तर में नीचे गिरा देता है, अर्थात् नीच गतियों मे परिभ्रमण कराता है और वहां से जीव को छुटकारा पाना अति कठिन हो जाता है। क्योंकि साधक ऋद्धि-गौरव से लोकैषणा, रस-गौरव से निरणुकंपी और साता-गौरव से साधना हीन बन जाता है अतः इन से बचकर ही साधक की साधना निर्विघ्नता से सफल हो सकती है।

करण-विवरण

मूल—तिविहे करणे पण्णत्ते, तं जहा—धम्मिए करणे, अधम्मिए करणे, धम्मियाधम्मिए करणे ॥९८॥

छाया—त्रिविधं करणं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—धार्मिकं करणं, अधार्मिकं करणं, धार्मिका-धार्मिकं करणम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—क्रियानुष्ठान तीन प्रकार का है, जैसे—धार्मिक, अधार्मिक और उभयात्मक।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में गौरव का वर्णन किया गया है। गौरव अर्थात् अहंकार धर्म प्रधान एवं अधर्म प्रधान क्रियाओं के करने से ही होता है अत: इस सूत्र में करण का वर्णन किया गया है।

जीव किसी न किसी विचारधारा के अनुसार ही क्रिया करता है। उस के द्वारा की जाने वाली क्रिया को ही करण कहा जाता है। वह करण तीन प्रकार का होता है, जैसे कि—धार्मिक, अधार्मिक, धार्मिकाधार्मिक।

धार्मिक-करण—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन को धर्म कहा जाता है। धर्म को लक्ष्य में रख कर जो क्रिया की जाती है, उसे धार्मिक-करण कहा जाता है।

अधार्मिक-करण—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह—शोषणवृति इन को अधर्म—पाप कहते हैं। अधर्म को लक्ष्य में रखकर जो एकान्तरूप से प्रवृत्ति की जाती है वह अधार्मिक-करण माना जाता है।

धार्मिकाधार्मिक-करण—जो प्रवृत्ति धर्म और अधर्म दोनों को लक्ष्य में रखकर की जाती है वह धार्मिकाधार्मिक करण है। श्रावकवृत्ति का पालन इसी करण में होता है।

मन, वचन और काय के द्वारा जो क्रिया की जाती है, वह किसी शुभ-अशुभ लक्ष्य को सामने रख कर ही की जाती है। संयमी महापुरुषों की सभी क्रियाएं धार्मिक होती हैं, असंयमी व्यक्तियों की अधार्मिक तथा श्रावकों की क्रियाएं धर्म और अधर्म दोनों से मिश्रित होती हैं।

उपर्युक्त तीन व्यक्तियों की इन्द्रियां और मन भी वैसे ही कार्य करते हैं, जैसे कि उन का लक्ष्य हुआ करता है। जिन इन्द्रियों और मन आदि से असंयत मनुष्य पाप क्रियाएं करता है, उन्हीं से संयत मनुष्य धर्म क्रियाएं भी किया करता है, अत: मन, वाणी, इन्द्रियां और देह ये सब शुभ-अशुभ क्रिया करने के साधन हैं। इन साधनों का प्रयोग करने वाला है आत्मा। गुण दोष का उत्तरदायी आत्मा ही है, किसी भी साधन से जो भी क्रिया की जाती है, वह आत्मा के संकेत से होती है, स्वत: नहीं। इसीलिए सूत्रकार ने तीन कारणों का

उल्लेख किया है। इनमें चारित्र ऋद्धि संपन्न संयमी व्यक्ति ही एकान्तरूप से धार्मिक क्रिया करते हैं, शेष नहीं।

धर्म-स्वरूप

मूल—तिविहे भगवया धम्मे पण्णत्ते, तं जहा—सुअहिज्झिए, सुज्झाइए, सुतवस्सिए। जया सुअहिज्झियं भवति, तदा सुज्झाइयं भवति। जया सुज्झाइयं भवति, तया सुतवस्सियं भवति। से सुअहिज्झिए, सुज्झाइए, सुतवस्सिए सुयक्खाए णं भगवया धम्मे पण्णत्ते॥९९॥

छाया—त्रिविधो भगवता धर्मः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—स्वधीतः, सुध्यातः, सुतपस्यितः। यदा स्वधीतं भवति, तदा सुध्यातं भवति, यदा सुध्यातं भवति, तदा सुतपस्यितं भवति। स्वधीतः, सुध्यातः, सुतपस्यितः स्वाख्यातो भगवता धर्मः प्रज्ञप्तः।

शब्दार्थ—तिविहे भगवया धम्मे पण्णत्ते, तं जहा—तीन प्रकार से भगवान ने धर्म कहा है, जैसे—**सुअहिज्झिए**—अच्छी तरह से अध्ययन किया हुआ, **सुज्झाइए**—अच्छी तरह से अनुप्रेक्षित और, **सुतवस्सिए**—भली प्रकार से तप किया हुआ। इन तीनों का अभिन्न भाव दिखाते हुए कहते हैं, **जया सुअहिज्झियं भवति**—जब भली भांति पठित किया होता है, **तदा सुज्झाइयं भवति**—तब सुध्यात होता है, **जया सुज्झाइयं भवति**—जब सुध्यात होता है, **तदा सुतवस्सियं भवति**—तब भली प्रकार से तप किया जाता है, **से सुअहिज्झिए**—ऐसा वह सु-अधीत, **सुज्झाइए**—सु-ध्यात और, **सुतवस्सिए**—सुतपस्यित धर्म, **भगवया**—भगवान ने, **सुयक्खाए णं धम्मे पण्णत्ते**—स्वाख्यात धर्म प्रतिपादन किया है।

मूलार्थ—भगवान ने तीन प्रकार से धर्म का वर्णन किया है, जैसे—भली भांति सूत्र का पठन करना, फिर ध्यान करना और पुनः तप करना। भली भांति पठन किये बिना ध्यान नहीं किया जा सकता है, भली प्रकार ध्यान किये बिना तप नहीं किया जा सकता है। सम्यक्-अध्ययन, सम्यक्-ध्यान और सम्यक्-तप ये तीनों परस्पर अभिन्न हैं। सो इस प्रकार भगवान ने सम्यक्-अधीत, सम्यक्-ध्यान और सम्यक्-तप को स्वाख्यात धर्म कहा है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में करणों का वर्णन किया गया है। उनमें धार्मिक करण को प्रमुखता देते हुए प्रस्तुत सूत्र में उसी का स्पष्टीकरण किया गया है। विधिपूर्वक गुरु से अध्ययन करने पर ही स्वाध्याय चरितार्थ होता है, वह भी अनुप्रेक्षापूर्वक ही होना चाहिए। जो अध्ययन अनुप्रेक्षापूर्वक किया जाता है, वस्तुतः वही स्वाध्याय है। यद्यपि वाचना, पृच्छना, पर्यटना और धर्मकथा ये सब स्वाध्याय के ही रूप हैं, किन्तु अनुप्रेक्षा से किया हुआ अध्ययन ही आत्मसाधना में विशेष महत्व रखता है। अनुप्रेक्षा के बिना किया हुआ

अध्ययन केवल द्रव्य-श्रुत ही कहलाता है, जब तक अध्येता भगवान के आशय को पूर्णतया नहीं समझता, तब तक उसे तत्त्वज्ञान नहीं होने पाता, अनुप्रेक्षा पूर्वक अध्ययन किया हुआ श्रुतज्ञान ही भावश्रुत कहलाता है, वही भगवान की वाणी है। अनुप्रेक्षा को दूसरे शब्दों में निदिध्यासन भी कहते हैं।

अध्ययन लौकिक साहित्य का भी हो सकता है परन्तु उसे स्वाध्याय नहीं कहा जा सकता और स्वाध्याय के बिना भी वह श्रुत ज्ञान धर्म की कोटि में नहीं गिना जा सकता।

अनुप्रेक्षा करने से ही धर्म एवं शुक्लध्यान में प्रवेश किया जा सकता है। ध्यान तो आर्त्त और रौद्र भी होता है उनका अन्तर्भाव भी इसमें न हो जाए, इसलिये सूत्रकार ने **सुज्झाइयं**— सुध्यातं पद दिया है। मंगलमय धर्म एवं शुक्ल ध्यान ही कर्मक्षय में सहायक हो सकता है।

सब प्रकार की स्पृहा से रहित या इस लोक तथा परलोक से सम्बन्धित सभी भौतिक सुखों से निःस्पृह होकर जो तप किया जाता है उसे ही सुतपस्या कहते हैं। अज्ञानियों के द्वारा जो तप किया जाता है, वह तप होते हुए भी सुतप नहीं कहलाता, भले ही कोई कठोर से कठोर कितना ही तप करता हो, फिर भी वह सुतप नहीं है। जो सुतप नहीं है वह कर्मक्षय करने में समर्थ नहीं, अतः उस तप को सुतप नहीं कह सकते, इसी कारण वह स्वाख्यात धर्म नहीं कहला सकता।

श्रुत ज्ञान के बिना सुध्यान नहीं, सुध्यान के बिना सुतप नहीं, ये तीनों एक दूसरे के पूरक एवं पोषक हैं। तीनों का परस्पर अविनाभाव या साहचर्य संबन्ध है। तीनों पदों के आदि में जो ''सु'' शब्द जोड़ा है, वह सम्यक् का पर्यायवाची है। सम्यग् ज्ञान, सम्यग्ध्यान और सम्यक्तप इन तीनों का समन्वयात्मक रूप ही आत्मा को परमात्मा बनाने वाला है, कहा भी है—

नाणं पयासयं सोहओ, तवो संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हं पि समाओगे, मोक्खो जिणसासणे भणिओ॥

अर्थात ज्ञान प्रकाश करने वाला, आत्मा को शुद्ध करने वाला तप और कवच स्वरूप सयम इनके सन्तुलित योग से ही जैन धर्म में मोक्ष कथन किया गया है। अतः इनकी आराधना सम्यक् प्रकार ही करनी चाहिये, भगवान महावीर ने इन्हीं की समन्वयात्मक साधना को स्वाख्यात धर्म कहा है।

व्यावृत्ति-विवरण

मूल—तिविहा वावत्ती पण्णत्ता, तं जहा—जाणू, अजाणू, वितिगिच्छा। एवमज्झोववज्जणा, परियावज्जणा ॥१००॥

छाया—त्रिविधा व्यावृत्तिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—ज्ञा, अज्ञा, विचिकित्सा। एवमध्युपपादना, पर्यापादना।

शब्दार्थ—**तिविहा वावत्ती पण्णत्ता, तं जहा**—तीन प्रकार की व्यावृत्ति—हिंसादि विषयों की निवृत्ति बतलाई गई है, जैसे—**जाणू**—ज्ञानपूर्वक-निवृत्ति, **अजाणू**—अज्ञानपूर्वक निवृत्ति और, **वितिगिच्छा**—संशयात्मक निवृत्ति। **एवं**—इसी प्रकार, **अज्झोववज्जणा**—अध्युपपादना—इन्द्रिय-अर्थों में आसक्ति और, **परियावज्जणा**—विषय सेवन के संदर्भ में भी जानना चाहिए।

मूलार्थ—व्यावृत्ति तीन प्रकार की कही गई है, जैसे—ज्ञानपूर्वक निवृत्ति, अज्ञान-पूर्वक निवृत्ति और संशयात्मक निवृत्ति। इसी तरह इन्द्रिय-अर्थों में आसक्ति और विषय-सेवन भी जानना चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में शास्त्र पठन और पठित विषय को ध्यानपूर्वक तप करने में धर्म का विवेचन किया गया है। अब शास्त्रकार व्यावृत्ति का वर्णन प्रस्तुत करते हैं।

जो प्रक्रिया आत्म-कल्याण में बाधक होती है उससे निवृत्ति पाना ही व्यावृत्ति है। व्यावृत्ति के यद्यपि अनेकरूप हो सकते हैं तथापि अन्य सभी रूपों का समावेश शास्त्र प्रतिपादित इन तीन रूपों में हो जाता है, जैसे कि ज्ञानपूर्वक किसी क्रिया से निवृत्त होना, अज्ञानपूर्वक किसी क्रिया से निवृत्त होना और संशयपूर्वक किसी क्रिया से निवृत्त होना।

जब कोई साधक अमर्यादित वस्तुओं का या पाप का परित्याग जानकर करता है कि इसका अनिष्ट परिणाम मुझे इस भव में भोगना पड़ेगा और परभव में भी, ऐसा समझकर व्यावृत्ति करता है, तब यह कहा जाता है कि यह ज्ञानपूर्वक अशुभ क्रिया से निवृत्त हुआ है। कभी वही साधक जब किसी दोष या अशुभ क्रिया के दुष्परिणाम को बिना ही जाने परित्याग कर देता है, तब व्यावृत्ति अज्ञात भाव में की जाती है वह इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं होती और न चिरस्थायी रहती है क्योंकि वह किसी भी समय पुनः प्रवृत्ति का रूप धारण कर सकती है। किसी वस्तु या दोष की निवृत्ति शंका होने पर भी की जाती है, ऐसा करना उचित है या अनुचित इसका निर्णय किए बिना ही निवृत्त होना तीसरी व्यावृत्ति है। एक ही साधक में तीन प्रकार की व्यावृत्तियां विभिन्न क्षेत्र और विभिन्न समय में पाई जाती हैं।

सूत्र में आए हुए **'अज्झोववज्जणा'** और **'परियावज्जणा'** ये दो पद भी प्रसंगानुसार बड़े महत्त्वपूर्ण हैं, इनका संस्कृत रूप अध्युपपादना और पर्यापादना बनता है। इन्द्रिय पोषक पदार्थों पर आसक्ति एवं ममत्व को अध्युपपादना कहा जाता है। इस पदार्थासक्ति का भी ज्ञान पूर्वक परित्याग करना चाहिए, क्योंकि पदार्थों की अनित्यता एवं रागात्मक बंधनों की प्रेरणा देने की प्रवृत्ति का विवेक होने पर ही उन पर रही हुई आसक्ति से निवृत्त हुआ जा सकता है। कोई आसक्ति से समझपूर्वक व्यावृत्त होता है, कोई अनजान अवस्था में और कोई शंकाशील हो कर आसक्ति से व्यावृत्त होता है। लोक-परलोक है या नहीं, कर्म का फल मिलेगा या नहीं, जिस आसक्ति का मैंने त्याग किया यह फलदायक है या नहीं, बिना

ही निर्णय किए व्यावृत्ति करना, इस प्रकार आसक्ति की व्यावृत्ति भी तीन प्रकार से की जाती है।

जीवन उपयोगी पदार्थों के उपभोग या ग्रहण करने को पर्यापादना कहा जाता है। कौन-सा पदार्थ सेवन करना उचित है और कौन-सा अनुचित, किस पदार्थ का सेवन मानसिक विकृतियों को जगाने वाला है और किस पदार्थ के सेवन से मनोबल बढ़ता है। इन सब बातों को जानकर जिससे संयम की पुष्टि न हो उसका उपयोग न करना ही श्रेष्ठ व्यावृत्ति है। बिना जाने ही देखा-देखी त्याग कर देना अज्ञा व्यावृत्ति है और संशयात्मक होकर उनका परित्याग करना विचिकित्सा व्यावृत्ति कहलाती है। संयमियों के लिए सभी व्यावृतियां श्रेयस्कर हैं किन्तु असंयमियों के लिए कोई भी व्यावृत्ति श्रेयस्कर नहीं है।

अंत-विवेचन

मूल—तिविहे अंते पण्णत्ते, तं जहा—लोगंते, वेयंते, समयंते ॥ १०१॥

छाया—त्रिविधोऽन्तः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—लोकान्तः, वेदान्तः, समयान्तः।

शब्दार्थ—तिविहे अंते पण्णत्ते, तं जहा—अन्त तीन प्रकार का कथन किया गया है, **जैसे—लोगंते**—लोकान्त (चतुर्दश रज्जुप्रमाण लोकान्त है), **वेयंते**—वेदान्त (ऋग्वेदादि चारों वेदों का रहस्य) और, **समयान्त**—स्याद्वाद सिद्धान्त का रहस्य।

मूलार्थ—अन्त के तीन रूप वर्णित किए गए हैं, जैसे—लोकान्त—लौकिक अर्थ-शास्त्रादि के द्वारा निर्णय। वेदान्त—ऋग्वेद आदि का रहस्य और समयान्त—जैन सिद्धान्त का रहस्य।

विवेचनिका—ज्ञानपूर्वक की हुई व्यावृत्ति ही वस्तुतः व्यावृत्ति है। वह ज्ञान आगमों से ही प्राप्त होता है, अतः अब अन्त का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में अंत शब्द परिच्छेद और निर्णय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यावन्मात्र धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय पूर्वक आकाश है उसी में जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य अवस्थित हैं। सारे लोक में छः द्रव्यों के अणु या प्रदेश विद्यमान हैं। इस अपेक्षा से लोकान्त कहा जाता है। अथवा क्षेत्र की अपेक्षा से अलोक का अंत नहीं, किन्तु लोक का अन्त है इस अर्थ में भी लोकान्त का प्रयोग हुआ है अथवा जितने भी लौकिक अर्थशास्त्रादि हैं, उनके द्वारा अर्थ निष्पादन के विषय को अवगत करना लोकान्त कहलाता है।

ऋग्वेदादि चारों वेदों के रहस्य को जानना वेदान्त है। ब्राह्मण संस्कृति का मूल स्रोत वेद हैं। वेदों के द्वारा किसी विषय का निर्णय करना वेदान्त है अथवा वेद के अंतिम अध्यायों में वेद के निष्कर्ष रूप वेदान्त का उल्लेख पाये जाने के कारण भी उसे वेदान्त कहा जाता है, अथवा जिस विषय का अन्तिम निर्णय वेद से हो सके उस निर्णय को भी वेदान्त कहते हैं।

समय शब्द काल और मान्यता का पर्यायवाची है। समय शब्द से यहां जैन आदि सभी दर्शनों का ग्रहण किया गया है। समयान्त और सिद्धान्त एक ही अर्थ के द्योतक हैं। उन सिद्धान्तों का तत्त्व अधिगत करना ही समयान्त है। कर्म मल से वियुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करना ही वास्तव में समयान्त है। जिन भवोपग्रहिक कर्मों की स्थिति कुल एक समय की रह गई है उसे भी समयान्त कहते हैं अथवा किसी भी काल के और आयु के अन्तिम समय को भी समयान्त कहा जाता है।

जिन, केवली और अर्हन्

मूल—तओ जिणा पण्णत्ता, तं जहा—ओहिणाणजिणे, मणपज्जवणाणजिणे, केवलणाणजिणे। तओ केवली पण्णत्ता, तं जहा—ओहिनाणकेवली, मणपज्जवनाणकेवली, केवलनाणकेवली।

तओ अरहा पण्णत्ता, तं जहा—ओहिनाण-अरहा, मणपज्जवनाण-अरहा, केवलनाण-अरहा॥ १०२॥

छाया—त्रयो जिना प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अवधिज्ञानजिनः, मनःपर्य्यवज्ञान-जिनः, केवलज्ञान-जिनः। त्रयः केवलिनः प्रज्ञप्तास्तद्यथा अवधिज्ञान-केवली, मनःपर्य्यवज्ञान-केवली, केवलज्ञानकेवली। त्रयोऽर्हन्तः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अवधिज्ञानार्हन्, मनःपर्यवज्ञानार्हन्, केवलज्ञानार्हन्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तीन प्रकार के जिन कहे गए हैं, जैसे—अवधिज्ञानी-जिन, मनःपर्यवज्ञानी-जिन और केवलज्ञानी-जिन।

तीन प्रकार के केवली कहे गए हैं, जैसे—अवधिज्ञान-केवली, मनःपर्यवज्ञान-केवली और केवलज्ञान-केवली।

तीन प्रकार के अर्हन्त प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—अवधिज्ञान-अर्हन्त, मनःपर्यवज्ञान-अर्हन्त और केवलज्ञान-अर्हन्त।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में व्यावृत्ति का वर्णन किया गया है। ज्ञानपूर्वक होने वाली व्यावृत्ति साधक को महत्ता प्रदान करती है, प्रस्तुत सूत्र में उसी महत्ता को प्रदर्शित किया गया है। सभी प्रकार के पापों से व्यावृत्ति करने पर या अनेकान्तवाद को जीवन में पूर्णतया उतारने पर मनुष्य जिन, केवली और अर्हन् बन सकता है। जिस महान आत्मा ने राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मद-मोह आदि आंतरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है, वह जिन कहलाता है। जिन होने का बाह्य लक्षण है जो अपने पास स्त्री, शस्त्र, अक्षमाला, यान-वाहन आदि नहीं रखता और न ही उनका प्रयोग करता है वह जिन है। क्योंकि स्त्री वह अपने साथ

रखता है जिसने कामदेव पर विजय नहीं पाई, शस्त्र वह रखता है जो परमदयालु नहीं है, वह शत्रुओं से भयभीत है, अक्षमाला वह रखता है जो ध्यान और समाधि में संलग्न नहीं अथवा जिसको गणना नहीं आती है, यान-वाहन आदि का उपयोग वह करता है जो प्रमत्त है। वस्तुतः देखा जाए तो स्त्री, शस्त्र, अक्षमाला, यान-वाहन आदि रखने वाले गृहस्थ होते हैं और गृहस्थ वृत्ति से जीव जिनत्व प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः अप्रमत्त गुणस्थानों के स्वामी जो भी हैं वे ही जिन कहलाते हैं। कहा भी है—

रागो द्वेषस्ततो मोहो, जितो येन जिनोह्यसौ।
अस्त्री शस्त्राक्षमालत्वादर्हन्नेवानुमीयते॥

जिन को अप्रतिपाति या परम अवधिज्ञान हो रहा है अथवा विपुलमति-मनःपर्यव ज्ञान हो रहा है या केवलज्ञानी हैं उन्हें जिन कहते हैं।

जो केवलज्ञान सम्पन्न हैं उन्हें तो केवली कहते ही हैं किन्तु जिसने इसी भव में केवलज्ञान प्राप्त करना है इस प्रकार के कोई भी अवधिज्ञानी या मनःपर्यवज्ञानी हो उसे भी केवली कह सकते हैं। संपूर्णलोक व्याप्त अवधिज्ञान जिनको हो रहा है और मनुष्य लोक परिमाण जिस को मनःपर्यवज्ञान हो रहा है, वे भी केवली माने जाते हैं। कहा भी है—

कसिणं केवलकप्पं लोगं, जाणंति तह य पासंति।
केवल चरित्तणाणी, तम्हा ते केवली होंति॥

जो देवों के भी पूज्य हैं, जिन के ज्ञान से कोई पदार्थ प्रच्छन्न नहीं है उन्हें अर्हन् कहते हैं, वे भी तीन तरह के होते हैं—अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी। जिन्होंने तीर्थंकर बनना है वे गतभव से अवधिज्ञान को साथ लेकर जन्म लेते हैं, प्रव्रज्या-ग्रहण करते ही उन्हें मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। घनघाति कर्मों के सर्वथा क्षय होने पर ही उन्हें केवल्य उत्पन्न होता है, फिर वे साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इस प्रकार चार भावतीर्थों की स्थापना करने से ही तीर्थंकर पद प्राप्त कर लेते हैं। जब वे चौथे, छट्ठे और अप्रमत्त गुणस्थानों में होते हैं तब उन्हें द्रव्य तीर्थंकर या भावी तीर्थंकर कहा जाता है, किन्तु १३वें गुणस्थान में प्रविष्ट होते ही वे केवलज्ञानी कहलाते हैं, उनके प्रवचनों से प्रभावित होकर जब भावतीर्थ स्थापित हो जाता है तब उन्हें भाव-तीर्थंकर कहा जाता है। उनका जीवन आमूल-चूल आदर्श होता है, इसलिये उन्हें अरहंत कहते हैं, किन्तु सूत्र में अरहा शब्द प्रयुक्त है, "अर्हंत और अरहसः' ये उसके संस्कृत रूप हैं इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—**अर्हन्ति देवादिकृतां पूजामित्यर्हन्तः अथवा नास्ति रहः—प्रच्छन्नं किञ्चिदपि येषां प्रत्यक्षज्ञानित्वात्ते अरहसः, शेषं प्राग्वत्।**

अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान ये तीन ज्ञान जैन दर्शनकारों ने पारमार्थिक प्रत्यक्ष माने हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—एक सकल प्रत्यक्ष और दूसरा विकलप्रत्यक्ष।

इनमें केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है और अवधि तथा मनःपर्यवज्ञान विकल प्रत्यक्ष हैं। विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष क्षयोपशम जन्य होता है और सकल प्रत्यक्ष समस्त आवरणों के सर्वथा क्षय होने पर ही उत्पन्न होता है। इसी कारण इसे क्षायिक ज्ञान भी कहते हैं अर्थात् क्षयजन्य ज्ञान। स्मरण रहे अवधिज्ञान देव और नारकियों को भी होता है तथा देशव्रति निर्यञ्च और मनुष्य को भी होता है, किन्तु उस ज्ञान के निमित्त से वे जिन केवली और अर्हन् नहीं माने जाते हैं। बल्कि जो चारित्रवान हैं उन्हें ही जिन, केवली एवं अर्हन् कहा जाता है। केवलज्ञान उत्पन्न होने तक जिस अवधिज्ञान की स्थिति है उस ज्ञान से संपन्न भावी तीर्थंकर को जन्मकाल में भी अरहंत कहा जा सकता है ऐसा आगमों से ज्ञात होता है।

दुरभिगन्धा एवं सुरभिगन्धा लेश्या

मूल—तओ लेसाओ दुब्भिगंधाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—कण्हलेसा, णीललेसा, काउलेसा।

तओ लेसाओ सुब्भिगंधाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—तेऊ, पम्हा, सुक्कलेसा। एवं दोग्गइगामिणीओ, सोग्गइगामिणीओ, संकिलिट्ठाओ, असंकिलिट्ठाओ अमणुन्नाओ, मणुन्नाओ, अविसुद्धाओ, विसुद्धाओ, अप्पसत्थाओ, पसत्थाओ, सीतलुक्खाओ, णिद्धुण्हाओ ॥ १०३॥

छाया—तिस्रो लेश्या दुरभिगन्धाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या। तिस्रो लेश्याः सुरभिगन्धा प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्लेश्या। एवं दुर्गतिगामिन्यः, सुगतिगामिन्यः, संक्लिष्टाः, असंक्लिष्टाः, अमनोज्ञाः, मनोज्ञाः, अविशुद्धाः, विशुद्धाः, अप्रशस्ताः, प्रशस्ताः शीत-रूक्षाः, स्निग्धोष्णाः।

शब्दार्थ—तओ लेसाओ—तीन लेश्याएं, **दुब्भिगंधाओ पण्णत्ताओ**—दुर्गन्धि युक्त प्रतिपादन की गई हैं, **तं जहा**—जैसे, **कण्हलेसा**—कृष्ण लेश्या, **णीललेसा**—नील लेश्या, **काउलेसा**—कापोत लेश्या।

तओ लेसाओ—तीन लेश्याएं, **सुब्भिगंधाओ पण्णत्ताओ**—सुगन्धि युक्त कही गई हैं, **तं जहा**—जैसे, **तेऊलेसा**—तेजो लेश्या, **पम्हलेसा**—पद्मलेश्या, **सुक्कलेसा**—शुक्ल लेश्या, **एवं**—इसी प्रकार, **दोग्गइगामिणीओ**—दुर्गति गामिनी, **सोग्गइगामिणीओ**—सुगति-गामिनी, (पहली तीन दुर्गति गामिनी हैं और पिछली तीन सुगति देने वाली हैं।) **संकिलिट्ठाओ**—पहली तीन क्लेशकर हैं (और पिछली तीन), **असंकिलिट्ठाओ**—क्लेश रहित हैं, **अमणुन्नाओ**—पहली तीन अमनोज्ञ हैं, और पिछली तीन, **मणुन्नाओ**—मनोज्ञ हैं, **अविसुद्धाओ**—तीन अविशुद्ध हैं, **विसुद्धाओ**—तीन विशुद्ध हैं, **अप्पसत्थाओ**—

तीन अप्रशस्त हैं, **पसत्थाओ**—प्रशस्त, तीन, **सीअलुक्खाओ**—ठंडी और रूक्ष हैं, और पिछली तीन, **णिद्धुण्हाओ**—स्निग्ध-उष्ण हैं।

मूलार्थ—तीन लेश्याओं के पुद्गल दुर्गन्धयुक्त प्रतिपादन किए गए हैं, वे हैं—कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या।

तीन लेश्याओं के पुद्गल सुगन्धित प्रतिपादन किए हैं, वे हैं—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या। इसी प्रकार प्रथम तीन लेश्याएं दुर्गति की ओर ले जाने वाली हैं और पिछली तीन सुगति में ले जाने वाली हैं। इसी प्रकार तीन लेश्याएं क्लेशयुक्त हैं और तीन क्लेशरहित। तीन अमनोज्ञ हैं और तीन मनोज्ञ। तीन अविशुद्ध हैं और तीन विशुद्ध। तीन अप्रशस्त हैं और तीन प्रशस्त। पहली तीन लेश्याओं के पुद्गल शीत-रूक्ष हैं और पिछली तीन लेश्याओं के पुद्गल स्निग्ध-उष्ण हैं।

विवेचनिका—भवस्थ जिन, केवली और अरहंत लेश्या युक्त भी होते हैं इसीलिए प्रस्तुत सूत्र में लेश्या विषयक वर्णन किया गया है। लेश्या कोई कर्म-प्रकृति नहीं है। कषाय और योग के निमित्त से लेश्या की प्रवृत्ति होती है। कषाय के होते हुए योग का होना अनिवार्य है और योग के होते हुए कषाय की भजना है। कषाय-युक्त योग में छः लेश्याएं पाई जाती हैं और कषाय-मुक्त योग में केवल परम-शुक्ल लेश्या ही पाई जाती है। आश्रव युक्त आत्मा में जो भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें लेश्या कहते हैं। द्रव्य-लेश्या पुद्गलात्मक होने से उसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि सभी गुण पाये जाते हैं। इसी सिद्धांत को लेकर सूत्रकार ने छः लेश्याओं के दो भाग किए हैं। पहली तीन लेश्याएं अशुभ और पिछली तीन लेश्याएं शुभ होती हैं। अशुभ लेश्याएं दुर्गन्धपूर्ण होती हैं। इसके विषय में आगम प्रमाण निम्नलिखित हैं—

जह गोमडस्स गंधो, सुणगमडस्स व जहा अहिमडस्स।
एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं॥

अर्थात्—जैसे मरे हुए गौ, कुत्ते, और सांप के कलेवर दुर्गन्धपूर्ण होते हैं, उससे भी अनन्तगुण अधिक दुर्गंधपूर्ण अशुभ लेश्याओं के परमाणु हैं, किन्तु तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या के पुद्गल सुरभित होते हैं, जैसे कि—

जह सुरभि कुसुमगंधो, गंधवासाणं पिस्समाणाणं।
एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि॥

अर्थात्—जैसे सुरभित पुष्पों का गन्ध होता है, जैसे सुगंधित द्रव्यों के पीसने से, घिसने से सुगंधि का प्रसार होता है, उससे भी अनन्त गुणा सुंगधि प्रशस्त लेश्याओं की होती है। पहली तीन लेश्याओं के परमाणु शीत और रूक्ष स्पर्श वाले होते हैं और पिछली तीन लेश्याओं के परमाणु स्निग्ध और उष्ण स्पर्श वाले होते हैं। पहली तीन संक्लिष्ट, अमनोज्ञ,

अप्रिय, अविशुद्ध और अप्रशस्त लेश्याएं हैं, ये तीन अशुभ लेश्याएं जीव को दुर्गति में ले जाने वाली हैं और पिछली तीन शुभ, असंक्लिष्ट, मनोज्ञ, विशुद्ध एवं प्रशस्त लेश्याएं सुगति में ले जाने वाली हैं। अतः सुखार्थी एवं साधकों को शुभलेश्याओं में ही वर्तना चाहिए।

लेश्यायुक्त त्रिविध-मरण

मूल—तिविहे मरणे पण्णत्ते, तं जहा—बालमरणे, पंडियमरणे, बालपंडिय-मरणे।

बालमरणे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—ठियलेसे, संकिलिट्ठलेसे, पज्जवजातलेसे।

पंडियमरणे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—ठियलेसे, असंकिलिट्ठलेसे, पज्जवजातलेसे।

बालपंडियमरणे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—ठियलेसे, असंकिलिट्ठलेसे, अपज्जवजातलेसे ॥१०४॥

छाया—त्रिविधं मरणं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—बालमरणं, पण्डितमरणं, बालपण्डितमरणं।

बालमरणं त्रिविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—स्थितलेश्यः, संक्लिष्टलेश्यः, पर्यवजातलेश्यः।

पण्डितमरणं त्रिविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—स्थितलेश्यः, असंक्लिष्टलेश्यः, पर्यवजातलेश्यः।

बालपण्डितमरणं त्रिविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—स्थितलेश्यः, असंक्लिष्टलेश्यः, अपर्यवजातलेश्यः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—मरण तीन प्रकार का होता है,जैसे कि—बालमरण, पण्डितमरण और बालपण्डितमरण। बालमरण तीन प्रकार का होता है, जो जीव जिस लेश्या में जन्मा है उसी में मरण, संक्लिष्ट लेश्या में मरण और पर्यवजात लेश्या में मरण। पण्डित मरण तीन प्रकार का कहा गया है, जैसे कि—स्थितलेश्या में मरण, शुभ लेश्या में मरण और पर्यवजात में मरण। बालपण्डित-मरण तीन प्रकार का कहा गया है, जैसे कि—स्थितलेश्यायुक्त मरण, असंक्लिष्ट लेश्यायुक्त मरण और अपर्यवजात लेश्या में मरण।

विवेचनिका—मरण सलेश्यी जीव का ही होता है, अर्थात्, लेश्यावान् जीव ही भवान्तर में गमन करता है अलेश्यी आत्मा तो परमात्म पद को ही प्राप्त करता है। प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने लेश्यायुक्त मरण का दिग्दर्शन कराया है। मरण तीन प्रकार का होता है—

बालमरण, पण्डितमरण और बालपण्डितमरण। इन पदों का विश्लेषण इस प्रकार है—

बाल-मरण—जो दुधमुंहें बालक की तरह हित-अहित एवं विवेक से रहित है, अपच्चक्खाणी एवं अविरति है, जिसने हिंसा आदि किसी भी पाप का परित्याग नहीं किया वह बाल कहलाता है। कहा भी है "**अविरइं पडुच्च बाले आहिज्जइ**" अविरति की अपेक्षा से जीव को बाल कहा जाता है एवं उसकी मृत्यु को ही बाल-मरण कहते हैं। लेश्या की अपेक्षा से बालमरण तीन प्रकार का होता है।

बाल जीव जब किसी एक लेश्या में स्थित होकर काल करता है और उसी लेश्या में रहता हुआ भवान्तर में जन्म लेता है, तब उसे स्थितलेश्य-मरण कहा जाता है। उस बाल जीव का अप्रशस्त लेश्या में काल करना एवं निकृष्ट से निकृष्टतर परिणामों में काल करना संक्लिष्ट लेश्या-मरण है अथवा कपोत से नील लेश्या में नील से कृष्णलेश्या में काल करना भी इसी भेद में गर्भित हो जाता है। कृष्णलेश्या से नीललेश्या में काल करना, नील लेश्या से कापोत लेश्या में वर्तते हुए काल करना पर्यवजातलेश्य मरण कहलाता है।

पण्डित-मरण—जो ज्ञानवान है, सत्-असत् का विवेकी है, चारित्र संपन्न एवं सर्वथा विरक्त है उस संयमी को पंडित कहा जाता है। कहा भी है—"**विरइं पडुच्च पंडिए**" अर्थात् महाव्रती ही पंडित कहलाता है। लेश्या की अपेक्षा पण्डितमरण भी तीन प्रकार का होता है।

जिस प्रशस्त लेश्या में मृत्यु प्राप्त की जाती है उसी लेश्या में उत्पन्न होना अथवा जो जीवन भर एक ही लेश्या रहती है, उस द्रव्य लेश्या में उत्पन्न होना भी स्थितलेश्या मानी जाती है। प्रशस्त लेश्या में स्थित होकर मरना स्थित-लेश्या-मरण कहलाता है। प्रशस्त लेश्या में भी उत्तरोत्तर विशुद्ध विशुद्धतर लेश्या में मरना असंक्लिष्ट लेश्या मरण कहलाता है अर्थात् समाधिपूर्वक मरण को प्राप्त होना पंडित-मरण है। तेजो लेश्या में वर्तते हुए पद्मलेश्या में काल करना, पद्मलेश्या में वर्तते हुए शुक्ललेश्या में काल करना पर्यवजात-लेश्य-मरण कहा जाता है।

बालपंडित-मरण—जो साधक न पूर्णतया भौतिक समृद्धि एवं ऐन्द्रियक भोग-विलास में फंसता है और न उनका पूर्णतया त्याग ही कर सकता है, न पूरा असंयमी है और न पूरा संयमी, वह श्रावक या आदर्श गृहस्थ कहलाता है। जितने अंश में वह विरक्त है उतने अंश में पण्डित और जितने अंश में वह त्याग नहीं कर सकता है उतने अंश में बाल है। कहा भी है—"**विरयाविरइं पडुच्च बालपंडिए आहिज्जइ**"।[१]

श्रावकवृत्ति की आराधना करते हुए जब उसका मरण होता है तब उसे बालपंडित-मरण कहा जाता है, लेश्या की अपेक्षा से उसका मरण भी तीन तरह का होता है।

---

१ सूयगडांग स्कन्ध २, ०२।

प्रशस्त लेश्याओं में से किसी एक में स्थित होकर मरना, अथवा जिस प्रशस्त लेश्या में अवस्थित है उसी में काल करना स्थित-लेश्य-मरण है। जिस प्रशस्त लेश्या में वह जीव काल करने के समय वर्त रहा है उसमें भी हीन परिणामी न होना अथवा शुक्ललेश्या से पद्मलेश्या में और पद्मलेश्या से तेजोलेश्या में न उतरना ही अंसक्लिष्ट-लेश्य-मरण कहा जाता है। तेजोलेश्या के, पद्मलेश्या के या शुक्ललेश्या के जिन लेश्या-स्थानों में परिणाम पूर्णतया समुज्ज्वल नहीं हो पाते अथवा शुक्ललेश्या के अन्तिम भाग में श्रावकवृत्ति के परिणाम नहीं पहुंचने पाते इसी कारण उस मरण को अपर्यवजातलेश्य कहा जाता है, क्योंकि उसके भाव या लेश्या न संक्लिश्यमान होती है और न विशुध्यमान ही, इसीलिए उसे अपर्यवजात लेश्य मरण कहा है। श्रमणोपासक या आदर्श गृहस्थ के परिणाम अशुद्ध कभी नहीं होने पाते और न कभी शुद्ध ही होने पाते, अतः उस व्यक्ति का मरण अपर्यवजात-लेश्य मरण कहा जाता है।

जिस की लेश्या अशुद्धतर की ओर बढती जाए वह पर्यवजात लेश्यी है और जिसकी लेश्या शुद्धतर की ओर बढ़ती जाए उसे पर्यवजात लेश्यी कहा जाता है। किन्तु जिसकी लेश्या अशुद्ध और शुद्ध के मध्य में रहने वाली होती है उससे संपन्न व्यक्ति अपर्यवजात लेश्यी कहा जाता है उसका मरण भी अपर्यवजात-लेश्य-मरण कहलाता है।

अस्थितप्रज्ञ और स्थितप्रज्ञ का जीवन-परिचय

मूल—तओ ठाणा अव्ववसियस्स अहियाए, असुहाए, अखमाए, अणिस्सेसाए, अणाणुगामियत्ताए भवंति, तं जहा—से णं मुण्डे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए णिग्गंथे पावयणे संकिए, कंखिए, वितिगिच्छिए, भेदसमावन्ने, कलुससमावन्ने, णिग्गंथं पावयणं णो सद्दहइ, णो पत्तियइ, णो रोएइ, तं परिस्सहा अभिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवंति, णो से परिस्सहे अभिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवइ।

से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए पंचहिं महव्वएहिं संकिए जाव कलुससमावन्ने पंच महव्वयाइं नो सद्दहइ जाव णो से परिस्सहे अभिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवंति।

से णं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए छहिं जीवनिकाएहिं जाव अभिभवइ।

तओ ठाणा ववसियस्स हियाए जाव आणुगामियत्ताए भवंति, तं जहा—से णं मुण्डे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए णिग्गंथे पावयणे

णिस्संकिए, णिक्कंखिए जाव नो कलुससमावन्ने णिग्गंथं पावयणं सद्दहइ, पत्तियइ, रोएइ। से परिस्सहे, अभिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवइ, नो तं परिस्सहा अभिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवंति।

से णं मुण्डे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए समाणे पंचहिं महव्वएहिं णिस्संकिए, णिक्कंखिए जाव परिसहे अभिजुंजिय अभिभवइ, नो तं परिस्सहा अभिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवंति।

से णं मुण्डे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए छहिं जीवनिकाएहिं णिस्संकिए जाव परिस्सहे अभिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवइ, नो तं परिस्सहा अभिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवंति ॥१०५॥

छाया—त्रीणि स्थानानि अव्यवसितस्य अहिताय, असुखाय, अक्षमाय, अनिः-श्रेयसाय अननुगामिकत्वाय भवन्ति, तद्यथा—सः मुण्डो भूत्वा अगाराद् अनगारितां प्रव्रजितो नैर्ग्रन्थे प्रवचने शङ्कितः, काङ्क्षितः, विचिकित्सितः, भेदसमापन्नः, कलुषसमापन्नो नैर्ग्रन्थं प्रवचनं न श्रद्धत्ते, न प्रत्येति न रोचयति। तं परीषहा अभियुज्य अभियुज्य अभिभवन्ति, न सः परीषहान् अभियुज्य अभियुज्य अभिभवति।

स मुण्डो भूत्वा अगारतोऽनगारितां प्रव्रजितः, पञ्चसु महाव्रतेषु शङ्कितो यावत् कलुषसमापन्नः पञ्चमहाव्रतान् न श्रद्धत्ते यावत् नो सः परीषहान् अभियुज्य अभियुज्य अभिभवति। स मुण्डो भूत्वा अगारतोऽनगारितां प्रव्रजितः षट्सु जीवनिकायेषु यावद् अभिभवति।

त्रीणि स्थानानि व्यवसितस्य हिताय, यावद् आनुगामिकत्वाय भवन्ति, तं जहा—स मुण्डो भूत्वा अगारतोऽनगारितां प्रव्रजितो नैर्ग्रन्थे प्रवचने निःशङ्कितो निष्काङ्क्षितो यावत् नो कलुषसमापन्नो नैर्ग्रन्थं प्रवचनं श्रद्धत्ते, प्रत्येति, रोचयति। सः परीषहान् अभियुज्य अभियुज्य अभिभवति, नो तं परीषहा अभियुज्य अभियुज्य अभिभवन्ति। सः मुण्डो भूत्वा अगारतोऽनगारितां प्रव्रजितः सन् पञ्चसु महाव्रतेषु निःशङ्कितो निष्काङ्क्षितो यावत् परीषहान् अभियुज्य अभियुज्य अभिभवति, न तं परीषहा अभियुज्य अभियुज्य अभिभवन्ति।

स मुण्डो भूत्वा अगारात् अनगारितां प्रव्रजितः षट्सु जीवनिकायेषु निःशङ्कितो यावत् परीषहान् अभियुज्य अभियुज्य अभिभवति, न तं परीषहा अभियुज्य अभियुज्य अभिभवन्ति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तीन स्थान अनिश्चयवान् व्यक्तियों के अहित, अशुभ, अयोग्यता और अननुगामिकता के लिए होते हैं, जैसे—

वह व्यक्ति मुण्डित होकर, घर से अभिनिष्क्रमण पूर्वक प्रव्रजित हुआ। प्रव्रजित होने पर भी निर्ग्रन्थ प्रवचन में शङ्कित, साकांक्ष—संशयान्वित,बुद्धिभेद-ग्रस्त और कलुषित होकर निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर श्रद्धा नहीं करता, उस पर विश्वास नहीं करता और उस प्रव्रजित को वह संयम भाता नहीं। इस तरह के व्यक्ति को क्षुधा, पिपासा आदि कष्ट अपने आधीन करके दुःख देते हैं। वह व्यक्ति उन कष्टों को न तो आधीन कर पाता है और न ही उन्हें पराभूत ही कर सकता है।

वह व्यक्ति मुण्डित होकर घर से अभिनिष्क्रमणपूर्वक प्रव्रज्या ग्रहण कर पांचों महाव्रतों के सम्बन्ध में शङ्कित यावत् कलुषित होकर पांचों महाव्रतों को नहीं मानता यावत् वह कष्टों को अपने अधीन कर उन पर विजय प्राप्त नहीं करता, अपितु वह स्वयं ही पराभूत हो जाता है। वह व्यक्ति मुण्डित होकर, गृहत्यागपूर्वक, घर से निकल प्रव्रजित होकर छः जीवनिकायों में विश्वास नहीं करता यावत् परीषहों से पराभूत हो जाता है।

तीन स्थान—बातें निश्चयवान् व्यक्तियों के हित, शुभ आदि के लिये होते हैं, जैसे—वह व्यक्ति मुण्डित होकर घर से अभिनिष्क्रमणपूर्वक प्रव्रजित हो कर निर्ग्रन्थ प्रवचन में शंकारहित, निराकांक्ष और अपापबुद्धि आदि होकर निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा करता है, उस पर विश्वास करता है और उसमें मन लगाता है तो वह व्यक्ति कष्टों को अपने अधीन कर उन्हें अभिभूत करता है, अतएव वे कष्ट उसे अपने आधीन करके अभिभूत नहीं करते। वह मुण्डित होकर घर से निष्क्रमणपूर्वक प्रव्रजित होकर पांच महाव्रतों के सम्बन्ध में शंकारहित, निराकांक्ष आदि होकर कष्टों को अपने वश कर उन्हें पराभूत करता है, किन्तु कष्ट उसे पराभूत नहीं कर सकते।

वह व्यक्ति मुण्डित होकर गृहस्थ भाव को त्यागकर प्रव्रजित होकर छः जीवनिकायों के सम्बन्ध में निःशंकित आदि होकर परीषहों को अपने अधीन करके उन्हें पराजित करता है, इसीलिये वे कष्ट उसे पराभूत नहीं कर सकते।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में संक्लिष्ट लेश्या का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में संक्लिष्ट लेश्या के परिणाम पर प्रकाश डाला गया है।

जिस साधक की साधना संक्लिष्ट लेश्या में हो रही है वह अपनी साधना में कभी भी सफल नहीं हो सकता। इस सूत्र के दो भाग हैं, पहले भाग में श्रद्धाहीन साधक का जीवन परिचय और उसके दुष्परिणाम का उल्लेख किया गया है। दूसरे भाग में श्रद्धावान जीवन का परिचय और उसका सुपरिणाम दोनों वर्णित हैं।

श्रद्धाहीन साधक का जीवन सुखों से दूर होता है और दुखों से घिरा हुआ। जिस साधक के मन में आत्म-निश्चय एवं सत्यनिष्ठा नहीं है, उसके द्वारा किए गये सभी प्रयत्न असत्य एवं विपरीत होते हैं। जिस साधक के मन में मोक्ष के उपायों के प्रति श्रद्धा हट जाती है वह साधक अव्यवसितचित्त या अस्थितप्रज्ञ कहलाता है। उसके लिये तीन कारण कुपथ्य आहार की तरह हितकर नहीं हैं, विष की तरह सुखकर नहीं हैं, बिल्कुल अनुचित हैं, जन्म-मरण रूप चक्र को विस्तृत करने वाले हैं, दुखों से मुक्त कराने वाले नहीं हैं।

जिस आत्मा ने घर और परिवार को छोड़कर साधुवृत्ति ग्रहण की है यदि वह निर्ग्रन्थ प्रवचन, जिन धर्म या जिनवाणी पर, अहिंसादि सार्वभौम पांच महाव्रतों पर और पृथ्वीकायादि छः काय पर देशतः शंकाशील बना रहता है, इस कारण उन पर वह श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि नहीं रखता, देश और सर्व से कांक्षित है, तप और संयम के फल के प्रति संशयवान है, द्वैधीभाव होने से भेद समापन्न है, उनका अपलाप करने से कलुष समापन्न है ऐसा जिज्ञासु श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि से युक्त नहीं बन सकता। वह परीषह—उपसर्गों से स्वयं पराजित होता है, उन्हें जीत नहीं पाता है। शत्रु राजा से पराजित हुए राजा की जो दुर्दशा होती है उससे भी बढ़कर अस्थिर मन वाले साधक की दुर्दशा होती है।

जिस राजा को अपने संविधान पर विश्वास नहीं, राष्ट्र को समुन्नत करने के उपायों पर निश्चय नहीं और प्रजा के रक्षण, शिक्षण एवं पोषण की ओर उपेक्षा है वह राजा चिरकाल तक स्थायी नहीं होता, बल्कि शीघ्र ही उसका पतन होता है, वैसे ही जो साधु-संघ का नायक है यदि वह निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा नहीं रखता है, न पांच महाव्रतों पर उसका निश्चय है और न उसके मन में पृथिवीकाय आदि छः काय के अस्तित्व पर विश्वास है, उसका भ्रष्टाचारी राजा की तरह पतन होना निश्चित है।

असंक्लिष्ट लेश्या वाला साधु स्थितप्रज्ञ होता है, वह अपने ध्येय से कभी भी विचलित नहीं होता, वह तो जिन-धर्म को आत्म-धर्म, पांच महाव्रतों को भगवान और छः काय को दया-पात्र समझता है।

जो व्यवसित आत्मा है, जिसके चित्त में जिन-धर्म एवं जिन-वाणी पर तथा पांच महाव्रतों पर दृढ़निश्चय है और छः जीवनिकाय पर अहिंसात्मक परम-प्रीति है, तदनुसार अनुष्ठान करने की रुचि है, जिसका यह निश्चय है कि जब कल्याण होगा तब इन्हीं से होगा, इसलिये निःशंकित है, इन से बढ़कर अन्य कोई साधन नही है, अतः निःकांक्षित है, दृढ़निष्ठा से किए हुए तप- संयम नियमेन सफलीभूत होते हैं, अतः विचिकित्सित नहीं है, वीतरागदेव ने जो प्रतिपादन किया है वह पूर्णतया सत्य है, अतः भेदसमापन्न नहीं है, तीन साधनों के प्रति मन में कलुषता नहीं, अतः कलुषसमपन्न नहीं, इस प्रकार के व्यवसित आत्मा के लिये उक्त तीन अमोघ साधन सुपथ्य आहार की तरह अदोषकर हैं, ग्रीष्मऋतु में सुस्वादु शीतलपानक की तरह आनन्ददायक हैं, व्याधि-विनाशक औषधपान की तरह

हितकर हैं, नवकार महामंत्र की तरह कल्याणकारी हैं, चमकीले द्रव्य जनित छाया की तरह अनुगमनीय हैं। इस प्रकार का साधक परीषहों को जीतता है, किन्तु परीषहों से वह कभी भी पराजित नहीं होता। विजयी की जो शोभा होती है उससे भी बढ़कर इस भव और परभव में आत्म-सम्पत्ति से वह समुन्नत होता है। अमोघ-साधनों का मूल स्रोत जिन-धर्म एवं जिन-वाणी है, परम पद को प्राप्त करने का उपाय पांच महाव्रत हैं, आत्मशान्ति और विश्वशांति का मूल मंत्र छः जीवनिकायों पर अहिंसा भाव है, अतः तीनों साधनों पर मुमुक्षुओं को सर्वोपरि श्रद्धान रखना चाहिए, फिर अभीष्ट-सिद्धि में कोई विलंब नहीं।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन ज्ञान और दर्शन का वाचक है, पांच महाव्रत तथा षड्जीव-निकाय ये दो पद चारित्र के सूचक हैं, अतः इस सूत्र में ज्ञान, दर्शन और चारित्र का वर्णन किया गया है। यदि ज्ञान और दर्शन को विद्या में ग्रहण किया जाए तथा चारित्र शब्द चरण का वाचक माना जाए तो सूत्रकार ने संक्षेप में ही विद्या और चारित्र का वर्णन किया है और हित-अहित आदि पदों से विद्या और चारित्र पालन के सुपरिणाम और न पालन करने के दुष्परिणाम वर्णित किए हैं।

पृथ्वी-वलय

मूल—एगमेगा णं पुढवी तिहिं वलएहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता, तं जहा—घणोदधिवलएणं, घणवायवलएणं, तणुवायवलएणं॥१०६॥

छाया—एकैका खलु पृथिवी त्रिभिर्वलयैः सर्वतः समन्तात् सम्परिक्षिप्ता, तद्यथा—धनोदधिवलयेन, घनवातवलयेन तनुवातवलयेन।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—रत्नप्रभा आदि प्रत्येक पृथ्वी चारों दिशा और विदिशा में तीन वेष्टनों द्वारा सम्यक् प्रकार से वेष्टित हैं, जैसे—घनोदधि के वेष्टन से, घनवात के वेष्टन से और तनुवात के वेष्टन से।

विवेचनिका—सुश्रमण और श्रमणाभास इसी पृथ्वी पर विचरते हैं, अतः इस संबध से प्रस्तुत सूत्र में पृथिवी के वलयों का वर्णन किया गया है। रत्नप्रभा आदि सात पृथ्वियां घनोदधि, घनवात और तनुवात इन तीन वलयों से चारों दिशाओं में अच्छी तरह वेष्टित हैं। पृथिवी को घनोदधि ने, घनोदधि को घनवात ने और घनवात को तनुवात ने वेष्टित किया हुआ है। जिसमें उदधि-जल-निचय हिमशिला के समान घनरूप में जमा हुआ रहता है वह घनोदधि है, वही वलय-कंकन आकार से पृथिवी को चारों ओर से वेष्टित किए हुए है। इसी प्रकार ठोस वायु को घनवात और घन की अपेक्षा से पतली हवा को तनुवात कहते है। किसी भी पृथिवी का छोर अलोक को स्पर्श नहीं कर रहा और न घनोदधि तथा घनवात अलोक को स्पर्श कर रहा। घनोदधि की चौडाई वलयाकार में छः योजन परिमाण है, घनवात वलय

की चौड़ाई साढ़े चार योजन की है और तनुवात वलय की चौड़ाई डेढ़ योजन की है, यह विष्कम्भ-प्रमाण रत्नप्रभा के विषय में जानना चाहिए।[1]

नैरयिक आदि के त्रिसामयिक विग्रह

मूल—णेरइया णं उक्कोसेणं तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जंति, एगिंदियवज्जं जाव वेमाणियाणं॥ १०७॥

छाया—नैरयिकाः उत्कर्षेण त्रिसामयिकेन विग्रहेण उपपद्यन्ते, एकेन्द्रियवर्जं यावद् वैमानिकानाम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नैरयिक उत्कृष्ट त्रिसामयिक विग्रह से उत्पन्न होते हैं। एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिक देवों तक इसी प्रकार जानना चाहिए।

विवेचनिका—रत्नप्रभा आदि सात पृथ्वियों में सात नरक हैं, उनमें नारकियों का निवास है। मनुष्य और तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव ही नैरयिक हो सकते हैं, अन्यगतिक जीव नहीं। जो जीव नैरयिकपन में उत्पन्न होते हैं उनमें कुछ ऋजुगति से उत्पन्न होते हैं और कुछ वक्रगति से। जो ऋजु गति से उत्पन्न होते हैं, वे एक समय में ही जन्मस्थान में पहुंच जाते हैं, किन्तु जो विग्रह अर्थात् वक्र-गति से उत्पन्न होते हैं, उन्हें उत्कृष्ट तीन घुमाव करने पड़ते हैं। एक घुमाव—मोड़ हो तो दो समय लगते हैं, दो घुमाव हों तो तीन समय लगते हैं और तीन घुमाव हों तो चार समय लगते हैं। त्रस जीव यदि त्रस नाड़ी में उत्पन्न होता है तो उत्कृष्ट त्रिसामयिक विग्रह गति से उत्पन्न होता है, किन्तु एकेन्द्रियजीव एकेन्द्रियपने में यदि उत्पन्न हो तो उत्कृष्ट चतुःसामयिक विग्रह से भी उत्पन्न होते हैं। उनको जन्मस्थान में पहुंचने के लिए उत्कृष्ट पांच समय लगते हैं। व्याख्या-प्रज्ञप्ति में कहा भी है—

"अपज्जत्तग सुहुम पुढविकाइएणं भंते! अहेलोगखेत्तनालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहए समोहणित्ता जे भविए उड्ढलोयखेत्तनालिए बहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्तसुहुम पुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते! कतिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा? गोयमा! तिसमइएणं वा, चतुसमइएणं वा विग्गहेण उववज्जेज्जा।"

एकेन्द्रिय आत्मा तीन या चार समय की विग्रह गति वाला भी होता है, किन्तु त्रस जीव उत्कृष्ट तीन समय की विग्रह गति वाला होता है। ऋजुगति और विग्रह गति कर्मानुसार ही होती है।

प्रकृति-त्रय का युगपत क्षय

मूल—खीणमोहस्स णं अरहओ तओ कम्मंसा जुगवं खिज्जंति, तं

---

१ इस विषय का विस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र में प्राप्त होता है।

जहा—नाणावरणिज्जं, दंसणावरणिज्जं, अन्तराइयं ॥ १०८ ॥

छाया—क्षीणमोहस्य अर्हतस्त्रयः कर्मांशाः युगपत् क्षीयन्ते, तद्यथा—ज्ञानावरणीयं, दर्शनावरणीयं, आन्तरायिकम्।

शब्दार्थ—खीणमोहस्स णं अरहओ—क्षीणमोह अर्हन्त के, **तओ**—तीन, **कम्मंसा**—कर्मांश, **जुगवं**—युगपत् अर्थात् एक साथ, **खिज्जंति**—क्षय हो जाते हैं, **तं जहा**—जैसे कि, **नाणावरणिज्जं**—ज्ञानावरणीय, **दंसणावरणिज्जं**—दर्शनावरणीय और, **अन्तराइयं**—अन्तराय।

मूलार्थ—क्षीण-मोह बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव अर्हन्त के तीन कर्म-प्रकृतियां एक साथ क्षय होती हैं, वे कर्म हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्म।

विवेचनिका—विग्रह-शरीर के लिए गति अथवा वक्रगति मोहयुक्त संसारी जीव की ही होती है, अतः इस सूत्र में बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव की आंतरिक प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराया गया है। जैन-दर्शन मे चौदह गुणस्थानों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सिद्ध भगवान के अतिरिक्त जितने भी जीव हैं, वे चौदह मे से किसी न किसी गुणस्थान में अवश्य पाए जाते हैं। चेतना आत्मा का विशेष गुण है। उसके ह्रास-विकास का जो स्थान है उसे गुणस्थान कहते हैं। जितना-जितना मोहकर्म का ह्रास होता जाता है उतना-उतना आत्मा में उन सभी गुणों का विकास एक साथ होता जाता है। जब जीव क्षपक श्रेणि आरोहण करता हुआ दसवें गुणस्थान में पहुंच जाता है तब वह मोहकर्म का क्षपण करता हुआ उस गुणस्थान के अंतिम समय में मोहनीय कर्म का सर्वनाश करके सीधा बारहवे क्षीण-मोहनीय गुणस्थान में पहुंच जाता है। वहां पर प्रचण्ड शुक्ल ध्यान के द्वारा पांच प्रकृतियां ज्ञानावरण कर्म की, नवप्रकृतियां दर्शनावरणकर्म की और पाच प्रकृतियां अन्तरायकर्म की इन १९ प्रकृतियों सहित तीन कर्मों को बारहवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे सर्वथा क्षयकर तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही केवल ज्ञान प्राप्त कर आत्मा सदा के लिए आलोकित हो जाता है। उसी को अर्हन्, जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी इत्यादि नामों से स्मरण किया जाता है। सूत्रकार ने **नाणावर-णिज्जं, दंसणावरणिज्जं**—लिखा है, इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय ये कर्म आत्मा के साथ आवरणरूप से ठहरे हुए है, तादात्म्य सम्बन्ध से नहीं।

त्रितारक नक्षत्र

मूल—अभिईणक्खत्ते तितारे पण्णत्ते, एवं सवणे, अस्सिणी, भरणी, मिगसिरे, पूसे, जेट्ठा ॥ १०९ ॥

छाया—अभिजिन्नक्षत्रं त्रितारकं प्रज्ञप्तम्, एवं श्रवणः, अश्विनी, भरणी, मृगशिरः, पुष्यं, ज्येष्ठा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—१. अभिजित्, २. श्रवण, ३. अश्विनी, ४. भरणी, ५. मृगशीर्ष, ६. पुष्य और ७. ज्येष्ठा इन सात नक्षत्रों के तीन-तीन तारक कथन किए गए हैं।

विवेचनिका—क्षीण-मोह गुणस्थान अशाश्वत है, क्योंकि उसमें जीव सदा-सर्वदा नहीं पाए जाते। प्रस्तुत सूत्र में उन शाश्वत नक्षत्रों का उल्लेख किया गया है, जिनके तीन-तीन तारे उन नक्षत्रों के साथ सदा काल भावी होने से शाश्वत हैं। जैसे कि अभिजित्, श्रवण, अश्विनी, भरणी, मृगशिरा, पुष्य और ज्येष्ठा। उक्त सात नक्षत्रों के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा नक्षत्र नहीं है, जिस के तीन तारे हों।

पन्द्रहवें और सोलहवें तीर्थंकर का अन्तर

मूल—धम्माओ णं अरहाओ संती अरहा तिहिं सागरोवमेहिं तिचउब्भाग-पलिओवमऊणएहिं वीइक्कंतेहिं समुप्पन्ने ॥११०॥

छाया—धर्मतोऽर्हतः शान्तिरर्हन् त्रिषु सागरोपमेषु त्रिचतुर्भागपल्योपमोनेषु व्यतिक्रान्तेषु समुत्पन्नः।

शब्दार्थ—**धम्माओ**—धर्म नामक, अर्हन् से, **संती अरहा**—शान्तिनाथ अर्हन्, **तिहिं**—तीन, **सागरोवमेहिं**—सागरोपम और, **तिचउब्भागपलिओवमऊणेहिं**—पल्योपम का तीन—चौथाई ३/४ भाग, **वीइक्कंतेहिं**—व्यतीत होने पर, **समुप्पन्ने**—समुत्पन्न हुए।

मूलार्थ—पन्द्रहवें धर्मनाथ अर्हन्त से सोलहवें शान्तिनाथ अर्हन्त तीन सागर और पल्योपम का चौथा भाग कम अर्थात् तीन भाग पल्योपम के व्यतीत होने के पश्चात् उत्पन्न हुए।

विवेचनिका—इस अवसर्पिणीकाल में २४ तीर्थंकर हुए हैं। उनमें १५वें तीर्थंकर धर्मनाथ जी के सभी कल्याणक पुष्य नक्षत्र में हुए हैं और १६ वें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ जी के पांच कल्याणक भरणी नक्षत्र में निष्पन्न हुए हैं। इसी कारण प्रस्तुत सूत्र में धर्मनाथ और शान्तिनाथ का और साथ ही उनका अन्तर काल भी बतलाया है। त्रिस्थान के अनुरोध से एक दूसरे का अन्तर तीन सागरोपम और पल्योपम के ३/४ अर्थात् पौन पल्योपम का कथन किया गया है।

भगवान महावीर के पुरुषयुग और युगान्तकरभूमि

मूल—समणस्स णं भगवओ महावीरस्स जाव तच्चाओ पुरिसजुगाओ जुगंतकरभूमी। मल्ली णं अरहा तिहिं पुरिससएहिं सद्धिं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए। एवं पासेवि ॥१११॥

छाया—श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य यावत् तृतीयं पुरुषयुगं युगान्तकरभूमिः।

मल्ली खलु अर्हन् त्रिभिः पुरुषशतैः सार्द्धं मुण्डो भूत्वा यावत् प्रव्रजितः। एवं पार्श्वोऽपि।

शब्दार्थ—समणस्स णं भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर से, **जाव**—यावत्, **तच्चाओ पुरिसजुगाओ**—तृतीय पुरुषयुग तक, **जुगंतकरभूमी**—युगान्तकर भूमि है, **मल्ली णं अरहा**—मल्ली नामक अर्हन्त, **तिहिं पुरिससएहिं**—तीन सौ पुरुषों के, **सद्धिं**—साथ, **मुंडे भवित्ता**—मुण्डित होकर, **जाव**—यावत्, **पव्वइए**—प्रव्रजित हुए, **एवं**—इसी प्रकार, **पासेवि**—पार्श्वनाथ भी प्रव्रजित हुए।

मूलार्थ—श्रमण भगवान् महावीर के तीर्थ में यावत् उनसे लेकर तृतीय पुरुषयुग जम्बूस्वामी पर्यन्त निर्वाण होने की परम्परा रही है। मल्लिनाथ अर्हन्त तीन सौ पुरुषों के साथ मुण्डित होकर यावत् प्रव्रजित हुए। इसी प्रकार पार्श्वनाथ भगवान् भी तीन सौ पुरुषों के साथ मुण्डित होकर प्रव्रजित हुए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में निर्वाणपद प्राप्त करने वाले तीर्थंकरों का वर्णन किया गया है, प्रस्तुत सूत्र में पुरुष-युग और युगान्तकर-भूमि का परिचय देते हुए प्रव्रज्या सम्बन्धित विशेष तीर्थंकरों का वर्णन है। श्रमण भगवान महावीर स्वामी के तीर्थ में गुरु-शिष्य-परंपरा के अनुसार तीसरे पट्टधर युगप्रवर्तक जम्बूस्वामी के शासन तक विशेष तपस्वी साधक केवलज्ञान और निर्वाणपद की प्राप्ति कर सकते थे, परन्तु उनके अनन्तर के साधकों में केवलज्ञान और निर्वाण-पद की प्राप्ति की योग्यता नहीं रही, अतएव प्रभव स्वामी के युग में कोई भी केवलज्ञानी नहीं हुआ, केवलज्ञान हुए बिना निर्वाण नहीं हो सकता। जम्बू-स्वामी के बाद किसी भी जीव ने भरतक्षेत्र से निर्वाण-पद प्राप्त नहीं किया।

तच्चाओ पुरिस जुगाओ जुगंतकरभूमी—सूत्र के इस पद से प्रमाणकाल और निर्वाण-पद प्राप्त करने का समय वर्णन किया गया है। इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए वृत्तिकार भी कहते हैं—

"युगानि पंचवर्षमानानि कालविशेषाः लोकप्रसिद्धानि वा कृतयुगादीनि तानि च क्रमव्यवस्थितानि ततश्च पुरुषाः गुरुशिष्यक्रमिणः पितृ-पुत्र-क्रमवन्तो वा युगानीव पुरुष-युगानि पुरुषसिंहवत्समासः। ततश्च पंचम्या द्वितीयार्थत्वात् तृतीयं पुरुषयुगं यावत्, जम्बूस्वामिन यावदित्यर्थः। "युग" त्ति पुरुषयुगं तदपेक्षयाऽन्तकराणां—भवान्तकारिणां निर्वाणगामिनामित्यर्थः भूमिः—कालो युगान्तकरभूमिः, इदमुक्तं भवति भगवतो वर्द्धमान स्वामिनस्तीर्थे तस्मादेवावधेस्तृतीयं पुरुषं जम्बूस्वामिनं यावन्नि-र्वाणमभूत् तत उत्तरं तद्व्यवच्छेद इति"।

वृत्तिकार का कथन है कि पांच वर्ष के काल-प्रमाण को युग कहते हैं। कृत, त्रेता, द्वापर और कलि इनको भी युग कहा जाता है, किन्तु जैन-परिभाषा के अनुसार भवान्तकर

या निर्वाण-प्राप्त करने वाली गुरुशिष्य-परंपरा को पुरुषयुग कहा जाता है। गुरु शिष्य की परंपरा तीर्थंकर भगवान से प्रारंभ होती है। जब तक उस परम्परा में साधक मोक्ष प्राप्त करते रहते हैं, तब तक उन्हें पुरुषयुग कहा जाता है, जिसके अनन्तर कोई भी निर्वाण प्राप्त नहीं करता, उस काल को युगान्तकर-भूमि कहते हैं। इस दृष्टि से पुरुषयुग और युगान्तकर जम्बूस्वामी हुए हैं।

मल्लिनाथ भगवान तीन सौ पुरुषों के साथ प्रव्रजित हुए, इसी प्रकार पार्श्वनाथ भगवान भी तीन सौ पुरुषों के साथ प्रव्रजित हुए। स्मरण रहे कि मल्लिनाथ जी १९वें तीर्थंकर और पार्श्वनाथ जी २३वें तीर्थंकर हुए हैं। उन्होंने जब प्रव्रज्या ग्रहण की तो उनके साथ तीन-तीन सौ राजकुमार या सेठ एवं सेनापति आदि भी दीक्षित हुए थे।

भगवान महावीर के चौदह पूर्वविद् मुनिवर

मूल—समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तिन्नि सया चउद्दसपुव्वीणं अजिणाणं जिणसंकासाणं सव्वक्खरसन्निवाईणं जिण इव अवितहवागर-माणाणं उक्कोसिया चउद्दसपुव्विसंपया हुत्था ॥ ११२ ॥

छाया—श्रमणस्य खलु भगवतो महावीरस्य त्रीणि शतानि चतुर्दशपूर्वीणामजि-नानां जिनसंकाशानां सर्वाक्षरसन्निपातिनां जिन इव अवितथव्यागृणतामुत्कर्षिका चतुर्दशपूर्वी सम्पदासीत्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर स्वामी के तीन सौ मुनिवर चतुर्दश पूर्वों के ज्ञाता हुए जो कि जिनतुल्य सर्वाक्षर (विद्या) सन्निपाति, जिन-तुल्य यथार्थ-भाषी, उत्कृष्ट चतुर्दश पूर्वों के पाठी थे, ऐसे विज्ञ मुनियों की सम्पत्ति थी।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में भगवान मल्लिनाथ और भगवान पार्श्वनाथ का वर्णन करते हुए उनके साथ दीक्षा-ग्रहण करने वाले तीन-तीन सौ मुनियों का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में क्रमप्राप्त भगवान् महावीर के युग में तीन सौ सर्वोच्च श्रुतकेवली मुनिवरों की संख्या निर्दिष्ट की गई है।

चौबीसवें तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर स्वामी के १४००० शिष्यों में ३०० ऐसे मुनीश्वर हुए हैं, जोकि १४ पूर्वधर थे, जिन भगवान की तरह यथार्थवक्ता, सकल वाङ्मय के वेत्ता, सभी प्रकार के संशयों का उच्छेदन करने वाले एवं श्रुतकेवली थे।

उनके विषय में सूत्रकार ने **"सव्वक्खर संनिवातीणं"**—पद दिया है। इससे ध्वनित होता है कि मोक्षार्थी के लिए शब्दागम का अध्ययन करना आवश्यक है। उसके बिना किसी भाषा का शब्दज्ञान नहीं हो सकता। कहा भी है—

"सर्वे—सकला अक्षरसंनिपाताः अकारादिसंयोगा विद्यन्ते येषां ते तथा स्वार्थिकेन प्रत्ययोपादानात् तेषां विदितवाङ्मयानामित्यर्थः।"

चौदह पूर्वों में सभी प्रकार के विषय और भाषाओं का ज्ञान हो जाता है। उनका कथन किया हुआ भी सर्वज्ञ की तरह सर्वथा मान्य एवं प्रामाणिक होता है।

श्रुतज्ञान के बल पर 'केवलीपद' पाने वाले मुनीश्वर श्रुतकेवली कहलाते हैं और निजी सर्वज्ञता के आधार पर केवली पद पाने वाले केवलज्ञानी कहलाते हैं। मोक्ष-सिद्धि दोनों ही प्राप्त करते हैं।

अन्तर दोनों में इतना ही है कि श्रुतकेवली श्रुतज्ञान के आधार से उपदेश करते हैं और केवलज्ञानी केवलज्ञान के आधार से। एक श्रुतकेवली होते हुए भी सर्वज्ञ नहीं और केवल-ज्ञानी सर्वज्ञ ही होते हैं। श्रुतकेवली भी निकट भविष्य में केवलज्ञानी हो जाते हैं।

चक्रवर्ती तीर्थंकर

मूल—तओ तित्थयरा चक्कवट्टी होत्था, तं जहा—संती, कुंथू, अरो ॥ ११३ ॥

छाया—त्रयस्तीर्थङ्कराश्चक्रवर्तिनोऽभवन्, तद्यथा—शान्तिः, कुन्थुः, अरः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—श्री शान्तिनाथ, श्री कुन्थुनाथ और श्री अरनाथ ये तीन तीर्थंकर चक्रवर्ती हुए हैं।

विवेचनिका—तीर्थंकरों के वर्णन-प्रकरण के अनुरोध से भगवान महावीर के शासन-काल के श्रुत-केवलियों के वर्णन के अनन्तर तीन तीर्थंकरों की केवली होने से पूर्व की समृद्धि का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि २४ तीर्थंकरों में से श्री शान्तिनाथ जी, श्री कुन्थुनाथ जी और श्री अरनाथ जी ये तीन चक्रवर्ती सम्राट् थे और वे चक्रवर्ती-समृद्धि का परित्याग करके केवल ज्ञानी हुए।

मानव-समाज में सर्वोच्च शासक चक्रवर्ती होता है, इस पद से बढ़कर अन्य पद मानव-संसार में नहीं है। लौकिक दृष्टि से चक्रवर्ती पद और लोकोत्तरिक दृष्टि से तीर्थंकर पद सर्वोच्च माने गए हैं। चौबीस तीर्थंकरों में १६वें, १७वें और १८वें तीर्थंकरों ने जीवन के पहले भाग में चक्रवर्ती पद को अलंकृत किया और जीवन के उत्तरार्ध में तीर्थंकर बने। उनके पवित्र नाम हैं—श्री शान्तिनाथ जी, श्री कुन्थुनाथ जी और श्री अरनाथ जी। शेष २१ तीर्थंकर मांडलिक राजा हुए हैं।[१]

---

१ संती कुंथू अ अरो अरहंता चेव चक्कवट्टी य।
अवसेसा तित्थयरा, मंडलिया आसि रायाणो ॥

ग्रैवेयक विमानों के प्रस्तट

मूल—तओ गेविज्जविमाणपत्थडा पण्णत्ता, तं जहा—हिट्ठिमगेविज्जविमाण पत्थडे, मज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे, उवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे।

हिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—हेट्ठिमहेट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे, हेट्ठिममज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे, हेट्ठिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे।

मज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—मज्झिमहेट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे, मज्झिममज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे, मज्झिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे।

उवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—उवरिमहेट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे, उवरिममज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे, उवरिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे॥११४॥

छाया—त्रयो ग्रैवेयकविमानप्रस्तटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अधस्तनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, मध्यमग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, उपरितनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः।

अधस्तनग्रैवेयकविमानप्रस्तटस्त्रिविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अधस्तनाधस्तनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, अधस्तनमध्यमग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, अधस्तनोपरितनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः। मध्यमग्रैवेयकविमानप्रस्तटस्त्रिविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—मध्यमाधस्तनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, मध्यममध्यमग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, मध्यमोपरितनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः।

उपरितनग्रैवेयकविमानप्रस्तटस्त्रिविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—उपरितनाधस्तनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, उपरितनमध्यमग्रैवेयकविमानप्रस्तटः, उपरितनोपरितनग्रैवेयकविमानप्रस्तटः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तीन ग्रैवेयक विमान प्रस्तट कथन किए गए हैं, जैसे—अधस्तन-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट, मध्यम-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट और उपरितन-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट।

अधस्तन-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट तीन प्रकार का है, जैसे—अधस्तनअधस्तन ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट, अधस्तनमध्यम-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट और अधस्तन-उपरितन-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट।

मध्यम-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट तीन प्रकार का है, जैसे—मध्यम-अधस्तन-ग्रैवेयक-विमान प्रस्तट, मध्यम-मध्यम-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट और मध्यम-उपरितन-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट।

उपरितन-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट तीन प्रकार का है, जैसे—उपरितन-अधस्तन-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट, उपरितन-मध्यम-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट और उपरितन-उपरितन-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट।

विवेचनिका—चक्रवर्ती बनने वाले जीव प्राय: वैमानिक देवलोकों से ही भूतल पर आकर मनुष्य के रूप में जन्म लिया करते हैं। इसलिए चक्रवर्ती का परिचय देने के अनन्तर वैमानिकों के अन्तर्गत उच्चतर-ग्रैवेयक-देवलोक-विमान-प्रस्तटों का परिचय देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—बारह देवलोकों से ऊपर नौ ग्रैवेयक देवलोक हैं, क्योंकि ये देवलोक लोक-पुरुष के ग्रीवास्थानीय हैं, अतएव इन्हें ग्रैवेयक देव-लोक कहा जाता है। इन ग्रैवेयक देवलोकों के तीन समूह है और एक-एक समूह में तीन-तीन भाग हैं। जैसे कि—

१. अधस्तन-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट—

(क) अधस्तनअधस्तन-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट।

(ख) अधस्तन-मध्यम-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट।

(ग) अधस्तन-उपरितन-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट।

अधस्तन का अर्थ है सबसे नीचे का ग्रैवेयक प्रस्तट। इसके तीन भाग हो जाते हैं, सबसे नीचे का भाग, मध्य का भाग और ऊपर का भाग।

२. मध्यम-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट।

(क) मध्यम-अधस्तन-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट।

(ख) मध्यम-मध्यम-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट।

(ग) मध्यम-उपरितन-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट।

इस प्रकार इसके भी नीचे का भाग, मध्य का भाग और ऊपर का भाग ये तीन विभाग हैं।

३. उपरितन-ग्रैवेयक-विमान प्रस्तट।

(क) उपरितन-अधस्तन-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट।

(ख) उपरितन-मध्यम-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट।

(ग) उपरितन-उपरितन-ग्रैवेयक-विमान-प्रस्तट।

इस प्रकार इस प्रस्तट के भी सबसे नीचे का, मध्य का और सबसे ऊपर का—ये तीन विभाग हैं।

अधस्तन-ग्रैवेयक विमान के तीनों भागों में मिलाकर कुल १११ विमान हैं। मध्यम ग्रैवेयक विमान के तीनों भागों में मिलाकर कुल १०७ विमान हैं और उपरितन ग्रैवेयक विमान के तीनों भागों में मिलाकर कुल १०० विमान हैं। प्रत्येक ग्रवैयक विमान प्रस्तट के प्रत्येक भाग में कितने-कितने विमान हैं, इसका स्पष्ट उल्लेख आगमकार ने प्रस्तुत नहीं किया है।

जीवों द्वारा कर्म पुद्गलार्जन

मूल—जीवा णं तिट्ठाणणिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा, तं जहा—इत्थिणिव्वत्तिए, पुरिसणिव्वत्तिए, णपुंसगणिव्वत्तिए। एवं चिण-उवचिण-बंध-उदीर-वेद तह णिज्जरा चेव ॥११५॥

छाया—जीवाः त्रिस्थाननिर्वर्त्तितान् पुद्गलान् पापकर्मतया अचिन्वन् वा, चिन्वन्ति वा, चेष्यन्ति वा, तद्यथा—स्त्रीनिर्वर्त्तितान्, पुरुषनिर्वर्त्तितान्, नपुंसकनिर्वर्त्तितान्। एवं चयोपचयबन्धोदीरण-वेदास्तथा निर्ज्जरा चैव।

शब्दार्थ—जीवा—जीवों ने, **णं**—वाक्यालंकार में, **तिट्ठाणणिव्वत्तिए**—तीन स्थानों से उपार्जित, **पोग्गले**—पुद्गलों को, **पावकम्मत्ताए**—पाप कर्मपने के रूप में, **चिणिंसु वा**— संग्रहीत किया, **चिणंति वा**—संग्रह करते हैं, **चिणिस्संति वा**—संग्रह करेंगे, **तं जहा**—जैसे, **इत्थिणिव्वत्तिए**—स्त्री रूप में, **पुरिसणिव्वत्तिए**—पुरुष रूप में और, **णपुंसगणिव्वत्तिए**— नपुंसक रूप में, **एवं**—इसी प्रकार, **चिण, उवचिण, बंध, उदीर, वेद**—चय, उपचय, बन्ध, उदीरणा और वेदना, **तह**—तथा, **णिज्जरा चेव**—निर्जरा के विषय में भी जान लेना चाहिए।

मूलार्थ—जीवों ने तीन स्थानों में उत्पन्न होकर पुद्गलों को पाप कर्म के रूप में पूर्वकाल में अर्जित किया, इस समय कर रहे हैं और भविष्यत् काल में अर्जित करेंगे, जैसे कि—स्त्रीपने में, पुरुषपने में और नपुंसकपने में। इसी तरह पुद्गलों का पाप-कर्म रूप में चय, उपचय, बन्ध, उदीरण, वेदन तथा निर्जरण अर्थात् कर्मभोग कर क्षय किया जाना भी समझना चाहिए।

विवेचनिका—जीवों द्वारा कर्म-पुद्गलों का ग्रहण ग्रैवेयक विमानों में भी होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में सभी संसारी जीव तीन भागों में विभक्त किए गए हैं, जैसे कि स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। भोग-वासना की प्रवृत्ति तीनों लिंगों में पाई जाती है। वेद के उदय से जीवों ने अतीत काल में कर्म-वर्गणा के पुद्गलों को पापकर्म के रूप में संचित किया, वर्तमान में संचित कर रहे हैं और भविष्य में भी संचित करेंगे। इसी प्रकार कर्मों का उपचय, कर्मों का बन्ध, कर्मों की उदीरणा, कर्मों का वेदन और नोकर्म की निर्जरा पहले की है,

वर्तमान में कर रहे हैं और भविष्य में भी करेंगे। इससे सिद्ध होता है कि वेद-रहित आत्मा पाप-कर्मों का संचय नहीं करता। सूत्रकर्ता ने 'जीवा णं' पद दिया है, इससे जीव का सक्रियत्व सिद्ध किया है। जब कर्त्ता सक्रिय होता है तब कर्मों की निष्पत्ति होती है। इस कथन से सांख्य-दर्शन का प्रकृति-कर्त्रीवाद स्वतः खण्डित हो जाता है।

पुद्गल-वर्णन

मूल—तिपएसिया खंधा अणंता पण्णत्ता, एवं जाव तिगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता ॥११६॥

छाया—त्रिप्रदेशिकाः स्कन्धा अनन्ताः प्रज्ञप्ताः, एवं यावत् त्रिगुणरूक्षाः पुद्गलाः अनन्ताः प्रज्ञप्ताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—त्रिप्रदेशिक स्कन्ध अनन्त प्रतिपादन किए गए हैं। इसी प्रकार यावत् तीन गुणा रूक्ष पुद्गल भी अनन्त प्रतिपादन किए गए हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में पुद्गलों का ग्रहण कर जन्म लेने वाले जीवों का वर्णन किया गया है, अतः प्रस्तुत सूत्र में क्रम-प्राप्त पुद्गल का परिचय दिया गया है। कर्म पुद्गलरूप होते हैं और ये पुद्गल दो तरह के होते हैं—परमाणु रूप और स्कन्धरूप। स्कन्ध-पुद्गल के अनेक भेद हैं, द्व्यणुक—द्विप्रदेशी, त्र्यणुक—त्रिप्रदेशी और अनन्त प्रदेशी आदि। इन में त्रिप्रदेशी स्कन्ध हैं। अनन्तपुद्गल आकाश के तीन-तीन प्रदेशों पर अवगाहित हैं। तीन समय तक स्थित रहने वाले पुद्गल भी अनन्त हैं और त्रिगुण उष्ण, त्रिगुण स्निग्ध और त्रिगुण रूक्ष पुद्गल भी अनन्त हैं। इसी प्रकार त्रिगुण वर्ण, गन्ध और रस के विषय में भी जानना चाहिए।

॥ इति तृतीयं स्थानम् ॥

श्री स्थानाङ्ग-सूत्रम्

स्थान चतुर्थ

४ उद्देशक

प्रथम उद्देशक

इस उद्देशक में

सामान्य-परिचय—

पिछले तीन स्थानों में सूत्रकार ने जीव-अजीव आदि का सामान्य परिचय प्रदान किया है। अब सूत्रकार उन्हीं पदार्थों का निरूपण करते हुए मानव के चरित्र का विश्लेषण एवं उसके लिए मार्ग-दर्शन करते हैं।

चतुर्थ-स्थान

प्रथम उद्देशक

अन्तक्रिया

मूल—चत्तारि अंतकिरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—तत्थ खलु पढमा इमा अंतकिरिया—

अप्पकम्मपच्चायाए यावि भवति। से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए। संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले, लूहे, तीरट्ठी, उवहाणवं, दुक्खक्खवे, तवस्सी। तस्स णं णो तहप्पगारे तवे भवइ, णो तहप्पगारा वेयणा भवइ। तहप्पगारे पुरिसज्जाए दीहेणं परियाएणं सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिणिव्वाइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ, जहा से भरहे राया चाउरंतचक्कवट्टी। पढमा अंतकिरिया।

अहावरा दोच्चा अंतकिरिया—महाकम्मे पच्चायाए यावि भवइ। से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए। संजमबहुले, संवरबहुले जाव उवहाणवं दुक्खक्खवे, तवस्सी। तस्स णं तहप्पगारे तवे भवइ, तहप्पगारा वेयणा भवइ। तहप्पगारे पुरिसजाए निरुद्धेणं परियाएणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ, जहा से गयसूमाले अणगारे। दोच्चा अंतकिरिया।

अहावरा तच्चा अंतकिरिया—महाकम्मे पच्चायाए यावि। से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए। जहा दोच्चा, नवरं दीहेणं परियाएणं सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ, जहा से सणंकुमारे राया चाउरंतचक्कवट्टी। तच्चा अंतकिरिया।

अहावरा चउत्था अंतकिरिया—अप्पकम्मपच्चायाए यावि भवइ। से णं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए। संजमबहुले जाव तस्स णं णो तहप्पगारे तवे भवइ, णो तहप्पगारा वेयणा भवइ। तहप्पगारे पुरिसजाए णिरुद्धेणं परियाएणं सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ, जहा सा मरुदेवा भगवती। चउत्था अंतकिरिया॥१॥

छाया—चतस्रोऽन्तक्रियाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—तत्र खलु प्रथमेयमन्तक्रिया—अल्पकर्मप्रत्यायातश्चापि भवति। असौ मुण्डो भूत्वा अगारतोऽनगारितां प्रव्रजितः। संयमबहुलः, संवरबहुलः, समाधिबहुलः, रूक्षः, तीरार्थी, उपधानवान्, दुःखक्षपः तपस्वी। तस्य नो तथाप्रकारं तपो भवति, नो तथाप्रकारा वेदना भवति। तथाप्रकारं पुरुषजातं दीर्घेण पर्यायेण सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति, यथा असौ भरतो राजा चातुरन्तचक्रवर्त्ती। प्रथमाऽन्तक्रिया।

अथापरा द्वितीया अन्तक्रिया—महाकर्मप्रत्यायातश्चापि भवति। असौ मुण्डो भूत्वा अगारादनगारितां प्रव्रजितः। संयमबहुलः, संवरबहुलो यावदुपधानवान्, दुःखक्षपः तपस्वी। तस्य तथाप्रकारं तपो भवति, तथाप्रकारा वेदना भवति। तथाप्रकारं पुरुषजातं निरुद्धेन पर्यायेण सिध्यति, यावदन्तं करोति, यथा असौ गजसुकुमारोऽनगारः, द्वितीया अन्तक्रिया।

अथापरा तृतीयाऽन्तक्रिया—महाकर्म प्रत्यायातश्चापि भवति। असौ मुण्डो भूत्वा अगारादनगारितां प्रव्रजितः, यथा द्वितीय, नवरं दीर्घेण पर्यायेण सिध्यति यावत् सर्वदुः-खानामन्तं करोति, यथाऽसौ सनत्कुमारो राजा चातुरन्तचक्रवर्ती तृतीयाऽन्तक्रिया। अथापरा चतुर्थी अन्तक्रियाऽल्पकर्मप्रत्यायातश्चापि भवति। असौ मुण्डो भूत्वा यावत् प्रव्रजितः संयमबहुलो यावत् तस्य नो तथाप्रकारं तपो भवति, नो तथाप्रकारा वेदना भवति। तथाप्रकारं पुरुषजातं निरुद्धेन पर्यायेण सिध्यति यावत् सर्वदुःखानामन्तं करोति, यथा सा मरुदेवी भगवती। चतुर्थी अन्तक्रिया।

शब्दार्थ—**चत्तारि**—चार, **अंतकिरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा**—अन्तक्रियाएं प्रतिपादन की गयी हैं, जैसे, **तत्थ**—उन चारों में से, **खलु**—निश्चय ही, **पढमा**—पहली, **इमा**—यह, **अंतकिरिया**—अन्तक्रिया है।

अप्पकम्मपच्चायाए—कोई अल्पकर्म युक्त उत्पन्न हुआ मोक्ष-प्राप्ति के समर्थ, **यावि**—भी, **भवइ**—होता है, **से णं**—वह, **मुंडे भवित्ता**—मुण्डित होकर, **अगाराओ**—घर से, **अणगारियं**—गृह-त्यागकर, **पव्वइए**—प्रव्रजित हुआ, **संजमबहुले**—बहुत संयमी—समस्त जीवों की रक्षा करने वाला, **संवरबहुले**—आस्रव-द्वारों का निरोध करने वाला, **समाहिबहुले**— समाधि-युक्त, **लूहे**—स्नेह-रहित, **तीरट्ठी**—तीरार्थी (संसार से पार होने की इच्छा रखने वाला), **उवहाणवं**—उपधानवान—श्रुतज्ञान पूर्वक तप करने वाला,

दुक्खक्खवे—दुःख रूप कर्म का क्षय करने वाला, **तवस्सी**—तप करनेवाला, **भवइ**—होता है। **तस्स णं**—उसका, **तहप्पगारे**—तथा प्रकार, **तवे**—तप, **णो भवइ**—नहीं होता, अर्थात् उसे उत्कृष्ट तप नहीं करना होता, **तहप्पगारा**—तथा प्रकार की, **वेयणा**—वेदना, **णो भवइ**—नहीं होती, **तहप्पगारे**—तथा प्रकार, **पुरिसज्जाए**—पुरुष, **दीहेणं**—दीर्घ, **परियाएणं**—पर्याय से, **सिज्झइ**—सिद्धि प्राप्त करता है, **बुज्झइ**—बोध प्राप्त करता है, **मुच्चइ**—कर्मों से मोक्ष प्राप्त करता है, **परिणिव्वाइ**—परिनिर्वाण प्राप्त करता है, **सव्वदुक्खाणमंतं**—सभी दुःखों का अन्त, **करेइ**—करता है, **जहा**—जैसे, **से**—वह, **भरहे राया**—भरत राजा, **चाउरंत-चक्कवट्टी**—चारों दिशाओं की दिग्विजय करने वाला चक्रवर्ती। यह, **पढमा**—प्रथमा, **अंतकिरिया**—अन्तक्रिया है।

अहावरा—इसके बाद, **दोच्चा**—दूसरी, **अंतकिरिया**—अन्त क्रिया आरम्भ होती है, **महाकम्मे**—महाकर्मों वाला, **पच्चायाए**—मनुष्य जन्म में उत्पन्न, **यावि**—भी, **भवइ**—होता है, **से णं**—वह, **मुंडे भवित्ता**—मुण्डित होकर, **अगाराओ**—घर से, **अणगारियं**—गृहत्याग कर, **पव्वइए**—प्रव्रजित हुआ, **संजमबहुले**—बहुत संयमी, **संवरबहुले**—आस्त्रवद्वारों का निरोध करने वाला, **जाव**—यावत्, **उवहाणवं**—उपधान तप करने वाला, **दुक्खक्खवे**—दुःखों का क्षय करने वाला, **तवस्सी**—तपस्या करनेवाला होता है, **तस्स णं**—उसका, **तहप्पगारे**—तथा प्रकार—उत्कृष्ट, **तवे भवइ**—तप होता है, **तहप्पगारा**—उत्कृष्ट, **वेयणा भवइ**—वेदना होती है, **तहप्पगारे पुरिसजाए**—उस प्रकार का पुरुष, **निरुद्धेणं परियाएणं**—स्वल्पकाल के संयमपर्याय से, **सिज्झइ**—सिद्धि प्राप्त करता है, **जाव**—यावत्, **अंतं करेइ**—अन्त करता है, **जहा से**—जैसे वह, **गयसूमाले अणगारे**—गजसुकुमार भिक्षु। यह, **दोच्चा**—दूसरी, **अंतकिरिया**— अन्तक्रिया है।

अहावरा—इसके बाद, **तच्चा**—तीसरी, **अंतकिरिया**—अन्तक्रिया आरम्भ होती है, **महाकम्मे**—महाकर्मों वाला, **पच्चायाए**—मनुष्य जन्म में उत्पन्न, **यावि**—भी, **भवइ**—होता है, **से णं**—वह, **मुंडे भवित्ता**—मुण्डित होकर, **जहा दोच्चा**—जैसे दूसरी अन्तक्रिया है, उसी तरह, **नवरं**—केवल इतना विशेष है कि, **दीहेणं**—दीर्घ, **परियाएणं**—पर्याय से, **सिज्झइ**— सिद्धि प्राप्त करता है, **जाव**—यावत्, **सव्वदुक्खाणं**—सब दुःखों का, **अंतं**—अंत, **करेइ**—करता है, **जहा**—जैसे, **से**—वह, **सणंकुमारे**—सनत्कुमार, **राया**—राजा, **चाउरंतचक्कवट्टी**—चारों दिशाओं को विजय करने वाला चक्रवर्ती। यह, **तच्चा अंतकिरिया**—तीसरी अन्तक्रिया है।

अहावरा—इसके बाद, **चउत्था अंतकिरिया**—चौथी अन्तक्रिया कहते हैं, **अप्पकम्म-पच्चायाए**—अल्पकर्मों वाला मनुष्य जन्म में उत्पन्न, **यावि भवइ**—भी होता है, **से णं**—वह, **मुंडे**—मुण्डित होकर, **जाव**—यावत्, **पव्वइए**—प्रव्रजित, **संजमबहुले**—पृथ्वी आदि कायों में संयम रखने वाला, **जाव**—यावत्, **तस्स णं**—उसके, **तहप्पगारे**—तथा प्रकार का, **तवे**—तप, **णो**—नहीं होता, **तहप्पगारा**—तथा प्रकार उत्कृष्ट, **वेयणा**—वेदना, **णो भवइ**—

नहीं होती, **तहप्पगारे**—तथा प्रकार का, **पुरिसजाए**—पुरुष, **णिरुद्धेणं**—अल्प, **परियाएणं**—दीक्षा से, **सिज्झइ**—सिद्धि प्राप्त करता है, **जाव**—यावत्, **सव्वदुक्खाणं**—सभी दुःखों का, **अंतं करेइ**—क्षय करता है, **जहा**—जैसे, **सा**—वह, **मरुदेवा भगवती**—मरुदेवी भगवती, यह, **चउत्था**—चौथी, **अंतकिरिया**—अन्तक्रिया है।

मूलार्थ—संसार का अन्त करके मोक्ष प्रदान करने वाली अन्तक्रियाएं चार प्रकार की प्रतिपादन की गयी हैं, जैसे कि—

पहली अन्तक्रिया—अल्प-कर्म-युक्त एवं मोक्ष के योग्य जो व्यक्ति मनुष्य जन्म प्राप्त करता है और मुण्डित होकर ज्ञान-पूर्वक घर-बार को छोड़ते हुए अनगार वृत्ति से प्रव्रजित होकर संयमयुक्त, संवरयुक्त और समाधियुक्त तथा मन को वश में रखने वाला, संसार समुद्र से पार होने की इच्छा वाला, श्रुतज्ञान के उपष्टम्भ के लिए तप करने वाला, **सब** प्रकार के दुःखों का क्षय करने वाला जो तपस्वी है उसका उत्कृष्ट तप नहीं होता, न ही उसे तथाप्रकार की उत्कृष्ट वेदना होती है। इस प्रकार का पुरुष संयम की दीर्घ पर्याय पालने पर सिद्ध होता है, केवलज्ञान होने पर सब पदार्थों को जान लेता है। भवोपग्राही कर्मों से मुक्त हो जाता है। सकल कर्मक्षय होने से शीतलीभूत होकर शारीरिक और मानसिक दुःखों का अन्त कर देता है, जिस प्रकार चक्रवर्ती महाराज भरत। यही प्रथमा अन्तक्रिया है।

दूसरी अन्तक्रिया इस प्रकार है:—

जो व्यक्ति महाकर्म-युक्त मनुष्य जन्म में आता है और मुण्डित हो, ज्ञानपूर्वक घर-बार त्याग कर प्रव्रजित होकर संयमयुक्त, संवरयुक्त, यावत् श्रुतज्ञान के उपष्टम्भ के लिए तप करता है। दुःखक्षय करने वाले उस तपस्वी का तथाप्रकार का उत्कृष्ट तप होता है और उसे उत्कृष्ट वेदना भी होती है। इस प्रकार का पुरुष स्वल्प दीक्षा-पर्याय से सिद्ध होता है और वह सब प्रकार के दुःखों का अन्त कर देता है। जैसे गजसुकुमार अनगार। यही द्वितीया अन्तक्रिया है।

तीसरी अन्तक्रिया इस प्रकार है—

जब कोई जीव महाकर्मयुक्त मनुष्य जन्म को धारण करके ज्ञानपूर्वक गृहवास छोड़कर अनगार वृत्ति में आता है और द्वितीया अन्तक्रिया के साधक के ही समान संवर आदि की साधना करता है वह दीर्घ संयम-पर्याय से सिद्ध होता है और सभी प्रकार के दुःखों का अन्त कर देता है। जैसे चक्रवर्ती महाराज सनत्कुमार। यही तृतीया अन्तक्रिया है।

इसके पश्चात् चतुर्थी अन्तक्रिया इस प्रकार है—

जब कोई अल्पकर्म युक्त जीव मनुष्य जन्म को धारण करके मुण्डित हो कर प्रव्रज्या आदि धारण कर संयम आदि की साधना करता है, परन्तु न तो उसका तथाप्रकार का उत्कृष्ट तप ही होता है और न ही उसे तथाप्रकार की उत्कृष्ट वेदना होती है। इस प्रकार का पुरुष स्वल्प दीक्षा-पर्याय से सिद्ध होता है और सभी प्रकार के दुःखों का अन्त करता है। जैसे भगवती मरुदेवी। यही चतुर्थी अन्तक्रिया है।

विवेचनिका—तीसरे स्थान में विविध रूपों में जीव और अजीव द्रव्यों का निरूपण किया गया है। चौथे स्थान में सूत्रकार उन्हीं द्रव्यों का वर्णन चौथी पद्धति से करते हैं। जीव के गुण दो तरह के होते हैं—वैभाविक और स्वाभाविक। जिन गुणों का सम्बन्ध औदयिक भाव से है वे वैभाविक गुण कहलाते हैं और वे संसारी जीवों में ही पाए जाते हैं, किन्तु जो गुण सादि अनन्त हैं वे सब स्वाभाविक गुण कहलाते हैं, उन्हीं गुणों की पूर्णता से ही जीव सिद्धत्व को प्राप्त करता है।

अंतक्रिया—

जिस शुद्ध क्रिया से सभी बद्धकर्मों का अन्त हो जाए और जिससे संसार-चक्र में भ्रमित जीव के जन्म-मरण का अन्त होकर उसे उसी जन्म में निर्वाणपद की प्राप्ति हो सके उस क्रिया को अन्तक्रिया कहा जाता है। क्रिया की समानता होने पर भी कर्मों की अपेक्षा से चतुर्भंगी कथन की गई है। यद्यपि अन्तक्रिया करने वाले जीव अतीत काल में अनन्त हुए हैं और भविष्यत्काल में भी अनन्त ही होंगे तथापि उन सबका समवतार इस चतुर्भंगी में हो जाता है, जैसे कि—

१. एक वह व्यक्ति है—जिसे न तो उत्कृष्ट तप करना पड़े और न ही विविध-विध परीषहों और उपसर्गों आदि की महावेदना का अनुभव करना पड़े, किन्तु दीर्घकाल पर्यन्त विशुद्ध प्रव्रज्या पालकर निर्वाण-पद प्राप्त कर लेता है। ऐसे साधक की क्रिया पहली अन्तक्रिया है। इस प्रकार के मुमुक्षु कर्मों के भार से मुक्त होकर मनुष्य भव में आते हैं, वे इस कोटि के भगवान माने जाते हैं जैसे भगवान ऋषभदेव के सुपुत्र भरत चक्रवर्ती ने शीशमहल में ही केवलज्ञान प्राप्त कर दीर्घकाल पर्यन्त संयम की साधना करते हुए निर्वाण पद प्राप्त किया।

२. अन्तक्रिया करने वाले दूसरी तरह के वे व्यक्ति होते हैं जिनके लिए महाकर्मों का क्षय करना तो सैंकड़ों जन्मों में भी दुःशक्य होता है, परन्तु ऐसे महाकर्मा जीव अन्य किसी देवलोक से च्यवकर अर्थात् धरती पर मनुष्य रूप में उत्पन्न होते हैं और प्रव्रज्या ग्रहण कर मुण्डितावस्था में अनेक प्रकार के दुःसह्य देव, मनुष्य एवं तिर्यंचों द्वारा दिए गए भयंकर उपसर्गों को समभाव से सहन करते हुए महावेदना की अनुभूति पूर्वक अति स्वल्पकाल में ही घनघाति कर्मों पर विजयी होकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं और साथ ही सभी कर्मों का क्षयकर सिद्ध हो जाते हैं। जैसे कि मुनिवर गजसुकुमार पंचम देवलोक से च्यवकर आए और

देवकीदेवी की कुक्षि से उत्पन्न होकर कृष्ण वासुदेव जी के लघु भ्राता बने। यौवन अवस्था के प्रथम चरण में ही संसार से विरक्त होकर भगवान अरिष्टनेमि के करकमलों से दीक्षित हुए। उसी दिन वे अपराह्नकाल में भगवान से आज्ञा प्राप्त कर श्मशान भूमि में बारहवीं एक-रात्रि-भिक्षुप्रतिमा धारण कर कायोत्सर्ग में स्थित हो गए। सांय संध्या के समय उनके पूर्वभव का एक वैरी उनके मस्तक पर आर्द्र मिट्टी से पाल बांध कर जलते हुए खैर के अंगारे उसमें रखकर स्वय शीघ्र चंपत हो गया। उस महावेदना को वेदते हुए गजसुकुमार जी ने अपनी प्रतिज्ञा मे अटल रहकर निन्यानवें लाख भव के बंधे हुए कठोर कर्मों को शुक्ल ध्यान की प्रचण्ड अग्नि से भस्मसात् किया और स्वल्पकाल में ही मोक्ष पद प्राप्त कर गए।

३ तीसरी अंतक्रिया करने वाले वे जीव होते हैं जोकि महाकर्मों का भार लेकर अन्य किसी देवलोक से धरती पर मनुष्य रूप में जन्म लेते हैं और जीवन के किसी भी चरण में जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण कर महाकर्मों को महावेदना की अनुभूति से एवं महातप से क्षय करते हुए, आत्मलक्ष्य की ओर बढते हैं, सयम बाधक परीषह-उपसर्गों को समता से सहन करते हुए अनेक वर्षो की साधना द्वारा कर्मों पर विजय प्राप्त करके सिद्धत्व प्राप्त करने में सफल होते है। जैसे कि सनत्कुमार चक्रवर्ती। बारह चक्रवर्तियों में सनत्कुमार चौथे चक्रवर्ती हुए हैं। एक बार उनके वज्रतुल्य स्वर्णाभ शरीर मे सोलह रोग उत्पन्न हुए, उन्हे शान्त करने के लिए उन्होंने भरसक प्रयत्न किए, किन्तु उन रोगो मे से एक रोग भी शान्त न हो सका। सब ओर से हताश होकर उन्होने धर्म की शरण ग्रहण की। राजपाट ज्येष्ठ पुत्र को सौंप कर प्रव्रजित हुए, संयम और महातप का तथा सोलह रोगो का परस्पर सात सौ वर्ष तक बराबर संघर्ष चलता रहा। उन्होंने अपने तप द्वारा कर्म-जन्य रोगो पर विजय प्राप्त कर ही ली और साथ ही केवलज्ञान एवं अन्त में सिद्धत्व प्राप्त कर लिया।

४. चौथी अतक्रिया करने वाले वे व्यक्ति होते है जो कर्मों के भार से कुछ मुक्त होकर मनुष्य जीवन धारण करते हैं और सुखपूर्वक जीवन-यापन करते हुए आयु की समाप्ति से अन्तर्मुहूर्त पूर्व द्रव्य और भाव से प्रव्रजित एव मुण्डित हो जाते हैं या केवल भाव से ही साधुत्व ग्रहण कर बढते हुए विशुद्ध परिणामो से समस्त अवशिष्ट बद्धकर्मों का परिक्षय करके सिद्धत्व प्राप्त कर लेते हैं, जिन्हे न तो दीर्घकालिक तपश्चर्या करनी पडती है, न किसी परीषह एव उपसर्ग का ही सामना करना पड़ता है एवं न दीर्घकाल पर्यन्त प्रव्रज्या पर्याय को ही धारण करना पडता है। ऐसे साधक स्वल्पकाल में ही कृत-कृत्य हो जाते हैं। इस प्रकार के महासाधक चौथी अन्तक्रिया के आराधक माने जाते हैं। जैसे कि भगवान ऋषभदेव की जननी भगवती मरुदेवी ने स्थविरावस्था में हाथी के हौदे पर बैठे हुए भगवान ऋषभदेव के दर्शन करते ही भाव-संयम से क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होकर सर्वकर्मों का और सब दुःखों का अन्त कर निर्वाण पद प्राप्त किया। उन्होंने केवल अन्तर्मुहूर्त में ही चारित्र पालन किया था।

सूत्रकार ने जो "**संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले, लूहे, तीरट्ठी, उवहाणवं, दुक्खक्खवे, तवस्सी,** ये आठ पद दिए हैं। इनका चारित्र से घनिष्ट सम्बन्ध है। इनके बिना चारित्र अकिंचित्कर है ये आठों ही कर्मक्षय करने के मुख्य साधन हैं। दूसरे शब्दों में इस साधन-समुदाय को ही चारित्र कहते हैं। इनका विश्लेषण इस प्रकार है—

१. **संजमबहुले**—सत्रह प्रकार का संयम अथवा पृथ्वीकाय आदि छः काय पर अनु-कम्पा, दया, रक्षा एवं यतना में सावधान रहना।

२. **संवरबहुले**—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद और अशुभयोगों से पूर्णतया निवृत्त होना संवर कहलाता है।

३. **समाहिबहुले**—मन, वचन और काय के द्वारा निर्विघ्नता से आत्म-लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होना, अथवा राग-द्वेष आदि विकारों से तटस्थ होकर रहना समाधि है।

संयम, संवर और समाधि ये कर्मक्षय के लिए अमोघ साधन हैं, इनके बिना अन्य साधन विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं, ये क्रियाएं ही निर्वाण पद प्राप्त कराने में समर्थ हैं।

४. **लूहे**—काम आदि विकारों से रहित होना ही रूक्ष कहलाता है।

५. **तीरट्ठी**—तीरार्थी-भवसागर से पार होने की कामना वाला अथवा तीर-स्थायी—भवसागर के तट पर साधना के लिए डटकर खड़ा होने वाला।

६. **उवहाणवं**—आयंबिल आदि तपपूर्वक आगमों का अध्ययन करना उपधान कहलाता है, उससे संपन्न साधक को उपधानवान कहते हैं।

७. **दुक्खक्खवे**—**दुःखक्षपः**—दुःख का मूल कारण कर्म है, कर्म के होने पर ही दुःख भोगा जाता है, कर्मों का विलय करना ही दुःखक्षप कहलाता है।

८. **तवस्सी**—बाह्य एवं आभ्यन्तर तप करने वाले को तपस्वी कहा जाता है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान करने वाले ही तपस्वी कहलाते हैं। जब अशुभ कर्म अधिक होते हैं, तब तप आदि भी उत्कृष्ट ही करने पड़ते हैं। सिद्ध, बुद्ध एव मुक्त होकर सब दुःखों का अन्त करना ये उक्त आठ साधनो का अन्तिम-परिणाम है। जिन्होंने निर्वाणपद प्राप्त किया है उन्हीं को अतक्रिया का साधक माना जाता है और अन्तक्रिया के प्रकरण में उन्हीं के उदाहरण दिए जाते हैं, किन्तु जिन्होंने देवलोक प्राप्त किया है उन के लिए अन्तक्रिया का प्रयोग नहीं किया जाता।

तीसरी अन्तक्रिया का वर्णन करते हुए सूत्रकर्त्ता ने निम्नलिखित सूत्र दिया है—**तच्चा अन्तकिरिया...जहा दोच्चा...नवरं दीहेणं परियाएणं सिज्झइ, बुज्झइ जाव सव्व-दुक्खाणमंतं करेइ, जहा से सणंकुमारे राया चाउरंतचक्कवट्टी।** इस सूत्र की वृत्ति करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं—

"**अहावरेत्यादि कण्ठ्यं, यथाऽसौ सनत्कुमार इति चतुर्थचक्रवर्ती स हि महातपा महावेदनश्च सरोगत्वाद् दीर्घतरपर्यायेण सिद्धः, तद्भवे सिद्ध्यभावेन भवान्तरे**

सेत्स्यमानत्वादिति" यहां पर पहले तो दीर्घतर पर्यायेण सिद्धः अर्थात् दीर्घकाल तक प्रव्रज्या का पालन करते हुए सिद्ध हो गए। यह पद आगम के साथ देकर फिर **"तद्भवे सिद्ध्यभावेन भवान्तरे सेत्स्यमानत्वादिति"** अर्थात् इस जन्म में सिद्धि प्राप्त न होने से जन्मान्तर में सिद्धि प्राप्त करने के कारण इन पंक्तियों के आगम विहित न होने से एवं परस्पर विरोध होने से इन्हें प्रमाणित नहीं कहा जा सकता और इसके स्पष्टीकरण में अन्य आगमों का उद्धरण भी नहीं दिया गया है। अतः वृत्तिकार की ये पंक्तियां प्रमाण योग्य नहीं हैं।

"अणगारियं" पद से यह सूचित किया गया है कि गृहत्याग से ही साधु वृत्ति प्राप्त की जा सकती है, उसी के पाने से साधक सफल मनोरथ हो सकता है।

वृक्ष-मनुष्य

मूल—चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता, तं जहा—उन्नए नामेगे उन्नए, उन्नए नामेगे पणए, पणए नाममेगे उन्नए, पणए नाममेगे पणए। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—उन्नए नामेगे उन्नए, तहेव जाव पणए नामेगे पणए। चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता, तं जहा—उन्नए नाममेगे उन्नयपरिणए, उण्णए नाममेगे पणयपरिणए, पणए णाममेगे उन्नयपरिणए, पणए नाममेगे पणयपरिणए। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—उन्नए नाममेगे उन्नयपरिणए चउभंगो।

चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता, तं जहा—उन्नए नाममेगे उन्नयरूवे, तहेव चउभंगो। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—उन्नए नाममेगे उन्नयरूवे। चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—उन्नए नाममेगे उन्नयमणे उन्न०। एवं संकप्पे, पन्ने, दिट्ठी, सीलायारे, ववहारे, परक्कमे, एगे पुरिसजाए पडिवक्खो नत्थि।

चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता, तं जहा—उज्जूनाममेगे उज्जू, उज्जूनाममेगे वंके, चउभंगो। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—उज्जूनाम-मेगे, एवं जहा उन्नयपणएहिं गमो तहा उज्जूवंकेहिंवि भाणियव्वो, जाव परक्कमे ॥२॥

छाया—चत्वारो वृक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—उन्नतो नामैक उन्नतः, उन्नतो नामैकः प्रणतः, प्रणतो नामैक उन्नतः, प्रणतो नामैकः प्रणतः।

एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—उन्नतो नामैक उन्नतः, तथैव यावत् प्रणतो नामैकः प्रणतः।

चत्वारो वृक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—उन्नतो नामैक उन्नतपरिणतः, उन्नतो नामैकः प्रणत-परिणतः, प्रणतो नामैक उन्नतपरिणतः, प्रणतो नामैकः प्रणतपरिणतः। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—उन्नतो नामैक उन्नतपरिणतः, चतुर्भङ्गः।

चत्वारो वृक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—उन्नतो नामैक उन्नतरूपस्तथैव, चतुर्भङ्गः।

एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—उन्नतो नामैकः उन्नतरूपः।

चत्तारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—उन्नतो नामैक उन्नतमना, उन्नतः०।

एवं संकल्पः, प्रज्ञः, दृष्टिः, शीलाऽऽचारः, व्यवहारः, पराक्रमः, एकं पुरुषजातं प्रतिपक्षो नास्ति।

चत्वारो वृक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ऋजुर्नामैको ऋजुः, ऋजुर्नामैको वक्रः चतुर्भङ्गः। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—ऋजुर्नामैको ऋजुः। एवं यथा उन्नतप्रणताभ्यां गमः, तथा ऋजुवक्राभ्यामपि भणितव्यः यावत् पराक्रमः।

शब्दार्थ—चत्तारि—चार प्रकार के, **रुक्खा**—वृक्ष, **पण्णत्ता, तं जहा**—प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे, (नाम शब्द सम्भावनार्थ में अथवा वाक्यालंकारार्थ में प्रयुक्त है), **एगे**—कुछ वृक्ष, **उन्नए**—द्रव्य से उन्नत और भाव से भी, **उन्नए**—उन्नत होते हैं जैसे चंदनादि, **उन्नए नाममेगे पणए**—कुछ वृक्ष द्रव्य से ऊंचे और भाव से नीचे होते हैं, जैसे—निम्ब आदि, **पणए नाममेगे उन्नए**—कुछ वृक्ष द्रव्य से नीचे और भाव से ऊंचे होते हैं जैसे लवंगादि, **पणए नाममेगे पणए**—कुछ वृक्ष द्रव्य से और भाव से भी नीचे होते हैं जैसे कांटों की झाड़ियां, **एवामेव**—इसी तरह, **चत्तारि**—चार प्रकार के, **पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**— पुरुष भी प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे कि, **उन्नए नाममेगे उन्नए**—कुछ पुरुष द्रव्य से भी उन्नत और भाव से भी उन्नत होते हैं जैसे—साधु और श्रावक। जो द्रव्य से अर्थात् जाति आदि के गुणों से युक्त और भाव से ज्ञान आदि गुणों से युक्त होते हैं, **तहेव**—उसी तरह, **जाव**— यावत्, **पणए नाममेगे पणए**—प्रणत में प्रणत, (जैसे कोई जात्यादि से हीन और ज्ञानादि से भी हीन हुआ करता है।)

चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के वृक्ष कहे गए हैं, जैसे—, **उन्नए नाममेगे उन्नयपरिणए**—कुछ वृक्ष द्रव्य से उन्नत और भाव से भी उन्नत रूप में परिणत होते हैं, **उन्नए नाममेगे पणयपरिणए**—कुछ वृक्ष द्रव्य से ऊंचे पर भाव से हीन रूप में परिणत होते हैं, **पणए णाममेगे उन्नयपरिणए**—कुछ वृक्ष द्रव्य से नीचे पर भाव से उन्नत रूप में परिणत हुआ करते हैं, जैसे द्राक्षा आदि, तथा, **पणए नाममेगे पणयपरिणए**—कुछ वृक्ष द्रव्य से नीचे और भाव से भी हीन परिणत हुआ करते हैं।

एवामेव—इसी प्रकार, **चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार के पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे, **उन्नए नाममेगे उन्नयपरिणए**—कुछ पुरुष द्रव्य से, धनादि से उन्नत हैं और भाव—ज्ञानादि से भी उन्नत परिणाम वाले होते हैं, **चउभंगो**—चतुर्भंगी जाननी चाहिए।

चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के वृक्ष कहे गए हैं, जैसे, **उन्नए नाममेगे उन्नयरूवे**—कुछ वृक्ष द्रव्य से उन्नत रूप और गुण से उन्नत रूप होते हैं जैसे आम्रादि, **तहेव**—उसी प्रकार, **चउभंगो**—चतुर्भंग जानना चाहिए, **एवामेव**—इसी प्रकार, **चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार के पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे, **उन्नए नाममेगे उन्नयरूवे**—कुछ व्यक्ति द्रव्य से ऊंचे और भाव से भी उन्नत रूप (वैराग्य युक्त भिक्षु जो भाव से भी ऊंचा—ज्ञानादि से युक्त एवं साधु वेश में रहने वाला होता है) इस तरह चतुर्भंग जानने चाहिएं। **चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार के पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे, **उन्नए नाममेगे उन्नयमणे**—कुछ व्यक्ति द्रव्य से ऊंचे और भाव से औदार्यादि गुणयुक्त मन वाले होते हैं, इसी तरह चतुर्भंग जानने चाहिएं, **एवं**—इसी तरह, **संकप्पे**—संकल्प के चतुर्भंग जानने चाहिएं, **पन्ने**—प्रज्ञा के चतुर्भंग, **दिट्ठी**—दृष्टि के चतुर्भंग, **सीलायारे**—शीलाचार, **ववहारे**—व्यवहार और, **परक्कमे**—पराक्रम के भी चतुर्भंग समझने चाहिएं, **एगे पुरिसजाए**—एक पुरुष है, **पडिवक्खो**—प्रतिपक्ष, **नत्थि**—नहीं है।

चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के वृक्ष कहे गए हैं, जैसे, **उज्जूनाममेगे उज्जू**—कुछ वृक्ष द्रव्य से ऋजु और भाव से सरल होते हैं जैसे केला आदि, **उज्जूनाममेगे वंके**—कुछ वृक्ष द्रव्य से ऋजु जाति के और भाव से वक्र, (विपरीत समय में फल देने वाले होते हैं)। **चउभंगो**—चतुर्भंग जानने चाहिएं, **एवामेव**—इसी तरह, **चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार के व्यक्ति कहे गए हैं, जैसे, **उज्जूनाममेगे**—कुछ पुरुष द्रव्य अर्थात् जाति से सरल होते हैं, **एवं**—इसी तरह, **जहा**—जैसे, **उन्नयपणएहिं गमो**—उन्नत और प्रणत के सम्बन्ध से कहा गया है, **तहा**—उसी तरह, **उज्जूवंकेहिंवि भाणियव्वो**—ऋजु और वक्र के साथ भी कहना चाहिए, **जाव**—यावत्, **परक्कमे**—पराक्रम पर्यंत।

मूलार्थ—वृक्ष चार प्रकार के कथन किए गए हैं, जैसे—कुछ वृक्ष द्रव्य से ऊंचे और गुण से भी ऊंचे होते हैं, जैसे आम्रादि वृक्ष। कुछ वृक्ष द्रव्य से ऊंचे और गुण से नीचे हुआ करते हैं जैसे नीम आदि। कुछ वृक्ष द्रव्य से नीचे और भाव से ऊंचे होते हैं, जैसे लवंग आदि। कुछ वृक्ष द्रव्य से भी नीचे और गुण से भी नीचे हुआ करते हैं, जैसे बेरों की झाड़ियां।

इसी प्रकार चार तरह के पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे—एक द्रव्य से अर्थात् ऐश्वर्यादि से युक्त और ज्ञानादि गुणों से युक्त होते हैं। कुछ पुरुष द्रव्य अर्थात् ऐश्वर्यादि युक्त और ज्ञानादि गुणों से हीन होते हैं। कुछ पुरुष द्रव्य अर्थात् ऐश्वर्यादि से हीन और गुणों से (ज्ञानादि से) भी हीन हुआ करते हैं।

चार प्रकार के वृक्ष प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—एक द्रव्य से उच्च और गुण से भी उच्च रसादि में परिणत होने वाले होते हैं। कुछ वृक्ष द्रव्य से उच्च और गुणों

से नीच रसादि से परिणत होने वाले हुआ करते हैं। कुछ वृक्ष द्रव्य से नीच और गुण से उच्चरसादि में परिणत होते हैं और कुछ वृक्ष द्रव्य से नीच और गुण से भी नीच रसादि में परिणत होने वाले होते हैं।

इसी प्रकार चार तरह के पुरुष कहे गए हैं, जैसे कुछ व्यक्ति ऐश्वर्य आदि द्रव्य से और ज्ञानादि गुण से भी समुन्नत होते हैं। इसी तरह चतुर्भंग कर लेना चाहिए।

चार प्रकार के वृक्ष और कहे गए हैं, जैसे द्रव्य से भी उच्च और गुण से भी उच्च, जैसे छत्राकार आम्रादि। इसी तरह इसके भी चार भंग जान लेने चाहिएं।

इसी तरह चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे—द्रव्य से (जात्यादि से) उच्च और गुणों से भी उच्च अर्थात् महान् होते हैं।

इसी प्रकार संकल्प के चतुर्भंग, प्रज्ञा के चतुर्भंग, दृष्टि के चतुर्भंग, शीलाचार के चतुर्भंग, व्यवहार के चतुर्भंग, पराक्रम के चतुर्भंग, मन से लेकर पराक्रम पर्यन्त सभी के चतुर्भंग होते हैं। इसके प्रतिपक्ष वृक्षादि नहीं हैं, क्योंकि वृक्षों के मन आदि नहीं होते हैं।

चार तरह के वृक्ष प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—कुछ वृक्ष द्रव्य से ऋजु और गुण से भी ऋजु और कुछ द्रव्य से ऋजु और गुण से वक्र होते हैं। इसी तरह चार भंग जानने चाहिएं। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष होते हैं, एक द्रव्य से ऋजु और भाव से भी ऋजु। इसके भी चतुर्भंग जानने चाहिएं। इसी प्रकार जैसे उन्नत प्रणत के सम्बन्ध से सूत्र कथन किए हैं, उसी प्रकार ऋजु और वक्र के बारे में भी जानना चाहिए, पराक्रम पर्यन्त चार-चार भंगों का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।

विवेचनिका—पूर्वसूत्र में अन्तक्रिया के द्वारा जन्म-मरण के चक्र को समाप्त करने वाले विशिष्ट महापुरुषों का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में वृक्ष के दृष्टान्त द्वारा महापुरुषों के स्वरूप की विवेचना की गई है। जैन-धर्म के स्याद्वाद का दृष्टिकोण अत्यन्त विशाल है। वह प्रत्येक पदार्थ को अनेक दृष्टियों से देखता है। द्विभंगी, त्रिभंगी, चतुर्भंगी, सप्तभंगी आदि सब स्याद्वाद सिद्धान्त के आश्रित होकर निष्पन्न होती हैं। अनेकान्तवाद, सापेक्षवाद और विभज्यवाद ये सब स्याद्वाद के ही पर्यायवाची नाम हैं, किन्तु प्रस्तुत सूत्र में चतुर्भंगी द्वारा दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक भाव से विषय का वर्णन किया गया है। वृक्षों का प्राणिमात्र से विशेष सम्बन्ध है, इसलिए इन्हें वृक्ष कहा जाता है। वृक्ष शब्द का अर्थ है—**वृक्षन्ते समाच्छादयन्ति रक्षन्ति छायादिना प्राणिन इति वृक्षाः** जो प्राणियों को छाया से आच्छादित करते हैं और पत्र-पुष्प एवं फल आदि देकर उनकी रक्षा करते हैं उन्हें वृक्ष कहा जाता है। ये वृक्ष चार प्रकार के होते हैं—

वृक्ष

(क) १. कुछ वृक्ष द्रव्य से ऊंचे और भाव से भी ऊंचे होते हैं, जैसे अशोक आदि वृक्ष।

२. कुछ वृक्ष द्रव्य से तो ऊंचे होते हैं, परन्तु भाव आदि से नीचे होते हैं, जैसे नीम आदि वृक्ष।

३. कुछ वृक्ष द्रव्य से छोटे और भाव से उच्च होते हैं, जैसे इलायची का वृक्ष।

४. कुछ वृक्ष द्रव्य से भी नीचे और भाव से भी नीचे होते हैं, जैसे कीकर आदि।

(ख) काल की अपेक्षा से भी वृक्ष के चतुर्भंग बनते हैं, जैसे कि—

१. कोई वृक्ष पहले भी उच्च था और अब भी उच्च है।

२. कोई वृक्ष पहले उच्च था और अब विकृत हो जाने से नीच हो गया है।

३. कोई वृक्ष पहले नीच था, किन्तु सुसंस्कृत करने पर अब उच्च हो गया है।

४. कोई वृक्ष पहले भी नीच था और अब भी नीच है।

मनुष्य

(क) वृक्ष की तरह मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं—

१. कुछ मनुष्य द्रव्य अर्थात् जाति, कुल, शरीर और ऐश्वर्य आदि से समुन्नत होते हैं तथा रत्नत्रय आदि आन्तरिक वैभव से भी समुन्नत हुआ करते हैं।

२. कुछ व्यक्ति आन्तरिक वैभव से तो समुन्नत होते हैं, किन्तु बाह्य वैभव से हीन हुआ करते हैं।

३. कुछ व्यक्ति बाह्य वैभव से उन्नत होते हैं, किन्तु आन्तरिक वैभव से हीन होते हैं।

४. कुछ व्यक्ति बाह्य और आन्तरिक दोनों वैभवों से हीन देखे जाते हैं।

(ख) एक अन्य प्रकार से भी मनुष्य के चार रूप हैं, जैसे कि—

१. एक वे मनुष्य हैं जो जीवन के पूर्वार्द्ध में भी समुन्नत रहते हैं और उत्तरार्द्ध में भी।

२. दूसरे वे मनुष्य हैं जो जीवन के पूर्वार्द्ध में ही समुन्नत रहते हैं, उत्तरार्द्ध में नहीं।

३. तीसरी श्रेणी के वे मनुष्य हैं जो पूर्वार्द्ध में नहीं, उत्तरार्द्ध में समुन्नत हुआ करते हैं।

४. चौथी श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं जो किसी भी दृष्टि से न पहले समुन्नत हो सके और न पीछे ही।

(ग) इसी चतुर्भंगी को दूसरे रूप में भी कहा जा सकता है, जैसे कि—

१. कुछ व्यक्ति गृहस्थ में भी उन्नत रहते हैं और साधु रूप में भी उन्नत होते हैं।

२. कुछ व्यक्ति गृहस्थ में तो उन्नत रहते हैं, परन्तु साधु रूप में अवनत हो जाते हैं।

३. कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो गृहस्थ में तो अवनत दशा में रहते हैं, किन्तु साधु रूप में उन्नत हो जाते हैं।

४. कुछ ऐसे हीन प्रकृति वाले व्यक्ति भी हुआ करते हैं जो गृहस्थ में भी अवनत रहते हैं और साधु रूप में भी उन्नत नहीं हो पाते।

वृक्ष

एक अन्य दृष्टि से भी वृक्ष चार प्रकार के होते हैं—

(क) १. कुछ वृक्ष उन्नत हैं और उन्नतरूप में ही परिणत हो रहे हैं।

२. कुछ वृक्ष उन्नत अवश्य हैं, किन्तु उन्नतरूप में परिणत नहीं हो रहे।

३. कुछ ऐसे भी वृक्ष हैं जो उन्नत तो नहीं, किन्तु उन्नतरूप में परिणत हो रहे हैं।

४. कुछ ऐसे वृक्ष हैं जो न उन्नत ही हैं और न उन्नतरूप में परिणत ही हो रहे हैं।

जिस वृक्ष पर ऋतु-वैभव छाया हुआ हो और जो निरन्तर विकसित हो रहा हो उसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में उन्नतपरिणत कहा जाता है और जिस पर पतझड़ छाया हुआ हो और जिसकी प्रगति अवरुद्ध हो चुकी हो वह उन्नत-परिणत नहीं होता है।

मनुष्य

(क) इसी प्रकार से मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

१. कुछ व्यक्ति द्रव्य-दृष्टि से बड़े होते हैं और औदार्य आदि की दृष्टि से भी बड़े होते हैं।

२. कुछ व्यक्ति द्रव्य से बड़े अवश्य होते हैं, किन्तु उनमें मानवीय गौरव नहीं होता है।

३. कुछ व्यक्ति द्रव्य से हीन होते हुए भी मानवीय गरिमा से मण्डित होते हैं।

४. कुछ व्यक्ति द्रव्य से भी हीन होते हैं और मानवीय गरिमा से भी रहित होते हैं।

वृक्ष

(क) उन्नति और रूप के योग से भी वृक्ष चार तरह के होते हैं, जैसे कि—

१. कुछ वृक्ष ऊंचे भी होते हैं और साथ ही सौम्य एवं मनोहर भी हुआ करते हैं।

२. कुछ वृक्ष ऊंचे तो अवश्य होते हैं, किन्तु सुन्दरता से वंचित रह जाते हैं।

३. कुछ वृक्ष उन्नत तो नहीं होते, परन्तु सौन्दर्य-सम्पन्न होते हैं।

४. कुछ वृक्ष ऊंचाई और सुन्दरता दोनों से ही हीन हुआ करते हैं।

मनुष्य

(क) इसी प्रकार मनुष्य के भी चार रूप हैं, जैसे कि—

१. कुछ व्यक्ति द्रव्य आदि से उन्नत और रूप एवं वेषभूषा से भी समुन्नत होते हैं।

२. कुछ व्यक्ति द्रव्य आदि से उन्नत अवश्य होते हैं, किन्तु रूप से वंचित ही रह जाते हैं।

३. कुछ व्यक्ति द्रव्य आदि से उन्नत नहीं, किन्तु रूप की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध होते हैं।

४. कुछ व्यक्ति द्रव्य और रूप दोनों से ही वंचित हुआ करते हैं।

अब सूत्रकार एक अन्य दृष्टिकोण से मानवीय गरिमा का विश्लेषण करते हैं। वृक्षों में मन आदि का अभाव होने से वृक्षोपमान को त्याग दिया गया है। अब बाह्य वैभव एवं मानसिक समुन्नति के आधार पर विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है, जैसे कि—

मनुष्य

(क) १. कुछ मनुष्य बाह्य दृष्टि से महान होते हैं और साथ ही आन्तरिक दृष्टि से महामना भी।

२. कुछ व्यक्ति लोक-दृष्टि से महान अवश्य होते हैं, किन्तु मानसिक दृष्टि से हीन हुआ करते हैं।

३. कुछ मनुष्य बाह्यरूप में हीन होने पर भी समुन्नत मन वाले हुआ करते हैं।

४. कुछ व्यक्ति लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से गिरे हुए होते हैं।

(ख) १. कुछ मनुष्य बाह्य वैभव से भी उन्नत होते हैं और मंगलमय संकल्प से भी उन्नत हुआ करते हैं।

२. कुछ व्यक्ति बाह्य वैभव से उन्नत तो होते हैं, परन्तु पापमय संकल्प होने से नीच हुआ करते हैं।

३. कुछ व्यक्ति लौकिक वैभव से हीन होते हुए भी संकल्प की दृष्टि से महान् हुआ करते हैं।

४. कुछ व्यक्ति सांसारिक वैभव और मंगलमय संकल्प दोनों से ही वंचित होते हैं।

सूक्ष्म-अर्थ-ग्राहिणी बुद्धि को प्रज्ञा कहा जाता है। उन्नत के साथ प्रज्ञा जोडने से भी चतुर्भंगी बनती है जो कि मानवता का बौद्धिक विश्लेषण प्रस्तुत करती है, जैसे—

(ग) १. कुछ बाह्य वैभव से उन्नत होते हैं और प्रज्ञा से भी सम्पन्न होते हैं।

२. कुछ वैभव से उन्नत अवश्य होते हैं, किन्तु प्रज्ञा से वंचित रहते हैं।

३. कुछ वैभव से उन्नत न होते हुए भी प्रज्ञावान होने से समुन्नत माने जाते हैं।

४. कुछ वैभव और प्रज्ञा दोनों से वंचित हुआ करते हैं।

उन्नत के साथ दृष्टि जोड़ने से भी एक चतुर्भंगी बनती है। दृष्टि का अर्थ चक्षुदर्शन, श्रद्धा, नय और दृष्टिकोण होता है।

(घ) १. कुछ व्यक्ति भौतिक ऋद्धि से उन्नत होते हैं और उनकी दृष्टि भी उन्नत हुआ करती है।

२. कुछ व्यक्ति भौतिक ऋद्धि से तो उन्नत होते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि उन्नत नहीं होती।
३. कुछ व्यक्ति भौतिक ऋद्धि से समृद्ध न होते हुए भी दृष्टि से समुन्नत होते हैं।
४. कुछ व्यक्ति न तो भौतिक ऋद्धि से समृद्ध होते हैं और न ही उनका दृष्टिकोण समुन्नत हुआ करता है।

शील का अर्थ स्वभाव या समाधि है, आचार शब्द अनुष्ठान का द्योतक है, समाधि और स्वभाव के अनुरूप अनुष्ठान विशेष को शीलाचार कहा जाता है। स्वभाव से ही जिसका आचार उन्नत है अथवा जिसका समाधि-जनक अनुष्ठान उन्नत है उसे उन्नत शीलाचार कहते हैं। इसकी भी एक चतुर्भंगी बनती है।

(ङ) १. कुछ व्यक्ति द्रव्य से भी उन्नत और शीलाचार से भी उन्नत हैं।
२. कुछ व्यक्ति द्रव्य से तो उन्नत हैं, किन्तु शीलाचार से उन्नत नहीं हैं।
३. कुछ व्यक्ति द्रव्य से तो उन्नत नहीं होते हैं, किन्तु शीलाचार की दृष्टि से समुन्नत होते हैं।
४. कुछ व्यक्ति द्रव्य और शीलाचार दोनों से ही हीन होते हैं।

वस्तुओं के आदान-प्रदान को व्यवहार कहते हैं। वह भी दो तरह का होता है—हीन व्यवहार और उन्नत व्यवहार। जिसका व्यवहार प्रत्येक दृष्टि से सच्चा एवं मधुर है उसे 'उन्नत-व्यवहार' कहते हैं। व्यवहार की दृष्टि से चतुर्भंगी की कल्पना इस प्रकार की जा सकती है—

(च) १. कोई वैभवादि से भी समुन्नत और व्यवहार की दृष्टि से भी समुन्नत।
२. कोई वैभव से समुन्नत, परन्तु व्यवहार से हीन।
३. कोई वैभव से हीन, किन्तु सत्य व्यवहार की दृष्टि से समुन्नत।
४. कोई वैभव और व्यवहार दोनों से ही वंचित।

किसी भी कार्य के लिए पुरुषार्थ करना पराक्रम कहलाता है। संयम-पूर्वक पराक्रम, असंयमपूर्वक पराक्रम, संयमासंयमपूर्वक पराक्रम इस प्रकार पराक्रम के तीन भेद होते हैं। दूसरे शब्दों में ऐसे पराक्रमशीलों को क्रमशः पण्डितवीर्य, बालवीर्य और बालपण्डितवीर्य भी कहते हैं। संयम में पराक्रम करना उन्नत पराक्रम कहलाता है और असंयम में पराक्रम करना प्रणत पराक्रम कहलाता है अथवा कर्म, कषाय, इन्द्रिय, मन आदि पर विजय प्राप्त करना उन्नत पराक्रम कहलाता है।

सूत्रकार ने **"एगे पुरिसजाए पडिवक्खो नत्थि"** इन शब्दों द्वारा यह भाव व्यक्त किया है कि मन आदि विशेष द्रव्य वृक्षों के नहीं होते, अतः इनका सम्बन्ध पुरुष मात्र से है, इसलिए इन दृष्टियों से मानवीय विश्लेषण के लिए प्रतिपक्ष रूप में वृक्ष को नहीं रखा जाना चाहिए।

उन्नत और प्रणत की चतुर्भंगी जिस प्रकार कथन की गई है ठीक उसी प्रकार ऋजु और वक्र के साथ चतुर्भंगी की भी योजना की जा सकती है। ऋजु शब्द का अर्थ सरल एवं सीधा होता है, उचित समय पर फल आदि का प्रादुर्भाव या अनुकूल स्वभाव भी ऋजु शब्द का अर्थ माना जा सकता है। वक्र का अर्थ टेढ़ा-मेढ़ा, कुटिल एवं विपरीत स्वभाव होता है। काल की अपेक्षा से या आदि अंत की अवस्था की अपेक्षा से ऋजु और वक्र की चतुर्भंगी बनती है। जैसे कि वृक्ष चार प्रकार के होते हैं—

वृक्ष

(क) १. एक वृक्ष पहले ऋजु होता है और पीछे भी ऋजु ही रहता है।

२. एक वृक्ष पहले ऋजु रहता है और पीछे वक्र हो जाता है।

३. एक वृक्ष पहले वक्र होता है और पीछे ऋजु हो जाता है।

४. एक वृक्ष पहले भी वक्र और पीछे भी वक्र ही रहता है।

अथवा

१. एक मूल में ऋजु और अंत में भी ऋजु होता है।

२. एक मूल में ऋजु और अंत में वक्र होता है।

३. एक मूल में वक्र और अंत में ऋजु होता है।

४. एक मूल में भी वक्र और अन्त में भी वक्र ही हुआ करता है।

मनुष्य

वृक्ष की तरह मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

(ख) १. एक मनुष्य गति, वाणी, शरीर, चेष्टा आदि बाह्य दृष्टिकोण से ऋजु है और अन्तःकरण से भी ऋजु है, मुमुक्षु निर्ग्रन्थ की तरह।

२. एक बाह्य दृष्टिकोण से ऋजु है, किन्तु उसका अन्तःकरण कपट पूर्ण होता है, धूर्तवत्।

३. एक बाहर से वक्र प्रतीत होता है, परन्तु मानसिक दृष्टि से सरल स्वभाव होता है, शासकवत्।

४. एक बाहर और अन्दर दोनों तरह से वक्र होता है, दुर्जन की तरह।

एक अन्य दृष्टिकोण से भी वृक्ष चार प्रकार के होते हैं—

वृक्ष

(क) १. कुछ वृक्ष मूल में सरल और सरलता में ही परिणत हो रहे हैं।

२. कुछ वृक्ष मूल में तो सरल होते हैं, किन्तु ऊपर वक्रता में परिणत हो रहे हैं।

३. कुछ वृक्ष मूल में वक्र होते हैं, किन्तु ऊपर सरलता में परिणत हो जाते हैं।

४. कुछ वृक्ष मूल में भी वक्र और ऊपर से भी वक्र होते हैं।

मनुष्य

वृक्ष की तरह मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं जैसे कि—

(क) १. कुछ मनुष्य बाहर से तो सरल होते हैं और मानसिक दृष्टि से भी सरलता के लिए यत्नशील रहते हैं।

२. कुछ व्यक्ति बाहर से सरल होते हैं, पर अन्दर से वक्र हुआ करते हैं।

३. कुछ व्यक्ति बाहर से वक्र दीखते हैं, परन्तु अन्दर से, सरल स्वभाव वाले हुआ करते हैं।

४. कुछ व्यक्ति बाहर से भी वक्र होते हैं और अन्दर से भी वक्र हुआ करते हैं।

आकार, बोध और क्रिया जिनकी सरल एवं शुभ हैं उन्हें सरल-परिणत कहते हैं, किन्तु जिन की विपरीत एवं अशुभ हैं उन्हें वक्रपरिणत कहते हैं।

वृक्ष

पुनः वृक्ष के चार रूपों की कल्पना की जा सकती है, जैसे कि—

(क) १. कुछ वृक्ष सरल और रूप से सुन्दर होते हैं।

२. कुछ वृक्ष सरल होते हुए भी रूप से बदसूरत होते हैं।

३. कुछ वृक्ष वक्र होते हुए भी अति सुन्दर होते हैं।

४. कुछ वृक्ष वक्र भी होते हैं और बदसूरत भी।

मनुष्य

इसी प्रकार मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

(ख) १. कुछ पुरुष ऋजु नहीं, अपितु ऋजुरूप आर्जव के प्रतीक होते हैं।

२. कुछ पुरुष दीखने में ऋजु होते हैं, वास्तव में वक्र हुआ करते हैं।

३. कुछ व्यक्ति दीखने में वक्र प्रतीत होते हैं, किन्तु होते हैं सरलता के प्रतीक।

४. कुछ व्यक्ति प्रत्येक दृष्टि से वक्र और वक्ररूप ही होते हैं।

यहां रूप से तात्पर्य आकार, अवयव सौन्दर्य और प्रतीक से है। शेष सात चतुर्भंगियां दृष्टान्त विहीन हैं, क्योंकि उनका दृष्टान्त से साम्य नहीं है, मन, संकल्प, प्रज्ञा, दृष्टि, शीलाचार, व्यवहार और पराक्रम इन पदों को ऋजु और वक्र के साथ जोड़ने से सात चतुर्भंगियां बन जाती हैं। १३ चतुर्भंगियां उन्नत और प्रणत तथा १३ चतुर्भंगियां ऋजु और वक्र के साथ जोड़ने से बनती हैं। इस सूत्र में कुल २६ चतुर्भंगियां बनती हैं।

सूत्रकार चतुर्भंगियों के रूप में बौद्धिक चमत्कार का प्रदर्शन नहीं कर रहे, उनका लक्ष्य है मानवता का विश्लेषण, जिससे मानवता को समझाया जा सके और मानव सभी प्रकार से व्यवहारकुशलता एवं आध्यात्मिक पथ का ज्ञान प्राप्त करके जीवन का उत्थान कर सके।

भिक्षु-भाषा

मूल—पडिमापडिवन्नस्स णं अणगारस्स कप्पंति चत्तारि भासाओ भासित्तए, तं जहा—जायणी, पुच्छणी, अणुन्नवणी, पुट्ठस्स वागरणी ॥३॥

छाया—प्रतिमाप्रतिपन्नस्य खलु अनगारस्य कल्पन्ते चतस्रो भाषा भाषितुम्, तद्यथा—याचनी, प्रच्छनी, अनुज्ञापनी, पृष्ठस्यव्याकरणी।

शब्दार्थ—पडिमापडिवन्नस्स—प्रतिमा—अभिग्रह विशेष, प्रतिपन्न, **अणगारस्स**—अणगार भिक्षु को, **चत्तारि**—चार, **भासाओ**—भाषाएं, **भासित्तए**—भाषण करना, **कप्पंति**—कल्पती हैं, अर्थात् चार भाषाएं वह बोल सकता है, **तं जहा**—जैसे, **जायणी**— आहार आदि की याचना करने के लिए याचनी भाषा, **पुच्छणी**—मार्ग आदि का पूछना, **अणुन्नवणी**—उपाश्रय आदि में वास की आज्ञा लेने की और, **पुट्ठस्सवागरणी**—पूछने पर उत्तर देने वाली।

मूलार्थ—प्रतिमाधारी भिक्षु को चार प्रकार की भाषाएं बोलनी चाहिएं, जैसे कि—१. आहार आदि की याचना करना, २. मार्ग आदि का पूछना, ३. उपाश्रय आदि की आज्ञा प्राप्त करना और ४. किसी से पूछे जाने पर उत्तर देना।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वृक्ष के दृष्टान्त द्वारा मानवता के जिस समुन्नतरूप की ओर संकेत किया गया है, उस समुन्नत रूप की प्राप्ति साधनाशील भिक्षु ही कर सकता है। भिक्षु अन्तर से पवित्र है या नहीं यह उसकी भाषा ही बतला सकती है, अब सूत्रकार भिक्षुभाषा की विवेचना प्रस्तुत करते हैं।

जो साधक प्रत्येक दृष्टि से ऋजु है वही साधना में सफल हो सकता है, भिक्षु की १२ प्रतिमाएं (अभिग्रह विशेष) होती हैं।[१] उनमें से किसी एक प्रतिमा को जिस भिक्षु ने धारण किया हुआ है उसे प्रतिमाप्रतिपन्न भिक्षु कहते हैं। वे प्राय: मौनावलंबी एवं ध्यानस्थ ही रहते हैं। ध्यान-तप के द्वारा उन्हें सभी प्रकार की सिद्धियां हस्तगत हो जाती हैं। ध्यानावस्था में मौन तो होता ही है, परन्तु मौन अवस्था में ध्यान हो और न भी हो। क्योंकि समय-समय पर वे आहार-विहार आदि क्रियाएं भी करते हैं। उनका मौन चार कारणों से खुलता है, जैसे कि—

१. **याचनी**—संयमपूर्वक शरीर की रक्षा के लिए कल्पनीय आहार एवं स्थान की याचना के निमित्त वे याचनी भाषा बोलते हैं।

२. **प्रच्छनी**—सूत्र-अर्थ के विषय में कुछ पूछना हो या मार्ग-निर्धारण करने के लिए पूछना हो तो वे प्रच्छनी भाषा का प्रयोग करते हैं।

---

१. विस्तृत वर्णन के लिए देखिए दशाश्रुतस्कंध की सातवी दशा।

३. अनुज्ञापनी—जिस भाषा के द्वारा वसति आदि का अवग्रह ग्रहण किया जाता है, उसे अनुज्ञापनी कहते हैं। यह भाषा भी अनगार बोल सकता है।

४. पृष्ठव्याकरणी—यदि कोई पूछे तुम कौन हो तो उसके उत्तर में कहे 'मैं भिक्षु हूं।' पूछने पर संक्षिप्त उत्तर देने वाली भाषा को पृष्ठव्याकरणी कहते हैं। उपर्युक्त चार कारणों के अतिरिक्त समय में भिक्षु को मौन ही रहना चाहिए। मौन तप-संयम और आत्मसमाधि का साधक है।

भाषा-भेद

मूल—चत्तारि भासाजाया पण्णत्ता, तं जहा—सच्चमेगं भासज्जायं, बीयं मोसं, तइयं सच्चमोसं, चउत्थं असच्चमोसं ॥ ४ ॥

छाया—चत्वारि भाषाजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—सत्यमेकं भाषाजातं, द्वितीयं मृषा, तृतीयं सत्यमृषा, चतुर्थमसत्यमृषा।

शब्दार्थ—चत्तारि—चार, **भासाजाया**—भाषाएं, **पण्णत्ता, तं जहा**—प्रतिपादन की गई हैं, जैसे, **सच्चमेगं भासज्जायं**—एक सत्य भाषा, **बीयं मोसं**—दूसरी मृषा भाषा, **तइयं सच्चमोसं**—तीसरी सत्य-मृषा भाषा अर्थात् मिश्रित भाषा और, **चउत्थं असच्चमोसं**—चौथी असत्य-अमृषा-व्यवहार-भाषा।

मूलार्थ—भाषा चार प्रकार की होती हैं, जैसे—१. सत्य भाषा। २. असत्य भाषा, ३. सत्यासत्य अर्थात् मिश्रित भाषा और ४. असत्य-अमृषा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में प्रतिमा-सम्पन्न मुनिवृन्द के लिए प्रयोक्तव्य भाषा-भेद का उल्लेख किया गया है, प्रस्तुत सूत्र में भाषाप्रकरण की अपेक्षा से भाषा के सामान्य रूपो पर प्रकाश डाला गया है।

मानवता कभी मूक नहीं रही, अतः मानवता और भाषा का शाश्वत सम्बन्ध है। यद्यपि विभिन्न प्रदेशों के लोग विभिन्न भाषाएं बोलते हैं, तदपि उनका सामान्यतः चतुर्विध वर्गीकरण स्वीकार किया गया है—सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

१ **सत्यभाषा**—जो भाषा ज्ञानियों एवं सन्तों को प्रिय है, जो अनुसंधान और परीक्षण में सही उतरने वाली है, जिसमें मन, वचन और काया का सामंजस्य होता है उसे सत्यभाषा कहते हैं।

२. **असत्यभाषा**—जो अनुसंधान एवं परीक्षण से प्रमाणित नहीं होती, जिसे उत्तमपुरुष एवं महात्मा पसन्द नहीं करते, जो सत्य से सर्वथा विपरीत है उसे असत्य भाषा कहते हैं, जैसे कि ''आत्मा, परमात्मा, धर्म, कर्म, लोक, परलोक आदि कोई वस्तु नहीं है। यह सत्य से विपरीत असत्य भाषा है।

३. **मिश्रभाषा**—जिस भाषा में सत्य और असत्य दोनों का मिला-जुला सा प्रयोग होता है उसे मिश्रभाषा कहते हैं, जैसे कि आत्मा तो है पर वह कर्त्ता-भोक्ता नहीं, यह मिश्र भाषा है, क्योंकि एक ओर उसका अस्तित्व मानना और दूसरी ओर उसके गुण स्वभाव से विपरीत बात कहना मिश्र भाषा का प्रयोग कहा जा सकता है। राजनैतिक मस्तिष्क के व्यक्ति प्रायः इसी भाषा का प्रयोग किया करते हैं।

४. **असत्य-मृषा भाषा**—जो भाषा न सत्य की कोटि में हो और असत्य की कोटि में भी न हो अर्थात् दोनों से विलक्षण हो, उसी भाषा को असत्यामृषा या व्यवहार भाषा कहा जाता है। शास्त्रकारो ने इसके बारह रूपो का वर्णन किया है।[१] इनमें से महापुरुष सत्यभाषा और व्यवहार भाषा का ही उपयोग करते हैं, शेष भाषाओं का नहीं।

वस्त्र और मनुष्य

मूल—चत्तारि वत्था पण्णत्ता, तं जहा—सुद्धेणामं एगे सुद्धे, सुद्धे णामं एगे असुद्धे, असुद्धे णामं एगे सुद्धे, असुद्धे णामं एगे असुद्धे।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—सुद्धे णामं एगे सुद्धे, चउभंगो। एवं परिणयरूवे, वत्था सपडिवक्खा।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—सुद्धे णामं एगे सुद्धमणे, चउभंगो। एवं संकप्पे जाव परक्कमे ॥५॥

छाया—चत्वारि वस्त्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—शुद्धं नामैकं शुद्धं, शुद्धं नामैकमशुद्धंः, अशुद्धं नामैकं शुद्धं, अशुद्धं नामैकमशुद्धम्।

एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा शुद्धोनामैकः शुद्धः, चतुर्भङ्गः। एवं परिणतरूपः वस्त्राणि सप्रतिपक्षाणि।

चत्तारि पुरुष जातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—शुद्धोनामैकः, शुद्धमनाः चतुर्भङ्गः। एवं संकल्पो यावत् पराक्रमः।

शब्दार्थ—चत्तारि—चार प्रकार के, **वत्था पण्णत्ता, तं जहा**—वस्त्र प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे, **सुद्धेणामं एगे सुद्धे**—एक वस्त्र तन्त्वादि से शुद्ध है और मल से रहित है, **सुद्धे णामं एगे असुद्धे**—एक वस्त्र तन्त्वादि से शुद्ध है, पर मलयुक्त है, **असुद्धे णामं एगे सुद्धे**—एक वस्त्र तन्त्वादि से अशुद्ध है पर मल से रहित है, **असुद्धे णामं एगे असुद्धे**—एक वस्त्र तन्त्वादि से भी अशुद्ध है और मलयुक्त भी है।

एवामेव—इसी तरह, **चत्तारि**—चार प्रकार के, **पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—पुरुष भी कथन किए गए हैं, जैसे, **सुद्धे णामं एगे सुद्धे**—एक पुरुष जात्यादि से भी शुद्ध

१ विशेष विवरण के लिए देखिए प्रज्ञापना सूत्र, ग्यारहवा पद।

है और निर्मल ज्ञानादि से भी शुद्ध है, **चउभंगो**—इसी तरह पुरुष का चतुर्भंग जानना चाहिए, **एवं**— इसी प्रकार, **परिणय-रूवे**—परिणत और रूप की भी चतुर्भंगी जाननी चाहिए, **वत्था सपडिवक्खा**—वस्त्र के प्रतिपक्ष सहित अर्थात् उसकी वस्त्र से समता करते हुए।

चत्तारि—चार तरह के, **पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे, **सुद्धे णामं एगे सुद्धमणे**—एक पुरुष जात्यादि से भी शुद्ध है और मन से भी शुद्ध है, **चउभंगो**—इसी तरह चतुर्भंगी जाननी चाहिए, **एवं**—इसी तरह, **संकप्पे जाव परक्कमे**—संकल्प से लेकर पराक्रम तक जान लेना चाहिए।

मूलार्थ—वस्त्र चार प्रकार के होते हैं, जैसे—१. एक वस्त्र तन्तु आदि से शुद्ध है और मल-रहित भी है। २. एक वस्त्र तन्तु आदि से शुद्ध है, किन्तु मल-युक्त है। ३. एक वस्त्र तन्तु आदि से अशुद्ध है, किन्तु मल-रहित है। ४. एक वस्त्र तन्तु आदि से भी अशुद्ध है और मैल से भी भरा हुआ है।

इसी प्रकार पुरुष भी चार तरह के होते हैं, जैसे—एक पुरुष जात्यादि से भी शुद्ध और निर्मल ज्ञान से भी शुद्ध होते हैं। इसी प्रकार पुरुष का भी चतुर्भंग जानना चाहिए। इसी तरह परिणत और रूप के चतुर्भंग भी जानने चाहिएं। वस्त्र को उपमान मानकर उपमेयरूप पुरुष की उससे चारों रूपों में तुलना करनी चाहिए।

पुरुष चार तरह के होते हैं, जैसे—शुद्ध जाति और शुद्ध मन वाले। यहां पर भी चतुर्भंग कर लेना चाहिए। इसी प्रकार संकल्प से लेकर पराक्रम पर्यन्त चतुर्भंग जानने चाहिएं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में भाषा का वर्णन किया गया है। सार्थक, स्पष्ट, सोद्देश्य सत्य एवं असत्य भाषा का प्रयोग मानव ही करता है और मानवता का विश्लेषण ही सूत्रकार का प्रधान विषय है, अत: अब सूत्रकार पुन: वस्त्र को उपमान मानकर उपमेयरूप व्यक्ति के विविध रूप उपस्थित करते हैं।

यद्यपि वस्त्रों के अनेक प्रकार हैं, तथापि मिलावट और मैल की दृष्टि से वस्त्रों के चार ही प्रकार माने जा सकते हैं। वस्त्र भले ही सूती हों, ऊनी हों, पशमीनी या रेशमी हों, किन्तु जिसमें विजातीय तन्तु की मिलावट न हो, वही वस्त्र शुद्ध कहलाता है, अथवा स्वजातिगत उत्तम तन्तुओं में हीन तन्तुओं की मिलावट से जो रहित है वह वस्त्र शुद्ध कहलाता है। शुद्ध से यह भी तात्पर्य हो सकता है कि जिस वस्त्र को आज तक किसी ने पहना नहीं, जिस पर किसी तरह का दाग या धब्बा नहीं, कीड़ा भी नहीं लगा, जैसा बनकर आया था वैसा ही है वह शुद्ध कहलाता है। इससे विपरीत वस्त्र अशुद्ध माने जाते हैं। शव-चीवर (कफन) भी मंगल कार्य में अशुद्ध माना जाता है, फिर भले ही वह नवीन ही क्यों न हो। शुद्ध और अशुद्ध पदों को वस्त्र के साथ जोड़ने से वस्त्र की चतुर्भंगी बन जाती है, जैसे कि—

वस्त्र

१. एक वस्त्र तन्तु आदि की अपेक्षा से भी शुद्ध है और स्वच्छता की दृष्टि से भी शुद्ध है।

२. एक वस्त्र तन्तु आदि की अपेक्षा से तो शुद्ध है, किन्तु मैल आदि की अपेक्षा से अशुद्ध है।

३. एक वस्त्र तन्तु आदि की अपेक्षा से अशुद्ध है, परन्तु मलरहित होने से शुद्ध है।

४. एक वस्त्र तन्तु और मल आदि दोनों की अपेक्षा से अशुद्ध है।

मनुष्य

इसी प्रकार मनुष्य के भी चार रूप माने जा सकते हैं, जैसे कि—

१. कुछ व्यक्ति कुल एवं जाति आदि के गौरव तथा ज्ञान आदि गुण दोनों दृष्टियों से शुद्ध होते हैं।

२. कुछ व्यक्ति अच्छे कुल में जन्म-आदि की दृष्टि से शुद्ध होते हुए भी दुर्व्यसन रूप मैल से भरे होने के कारण अशुद्ध होते हैं।

३. कुछ व्यक्ति अच्छे कुल एवं जाति में जन्म न लेकर भी तप, वैराग्य एवं अपरिग्रह आदि गुणों की दृष्टि से पावन चरित्र होते हैं।

४. कुछ व्यक्ति कुल एवं जाति आदि के गौरव से भी हीन होते हैं, और चरित्र की पावनता की दृष्टि से भी अशुद्ध होते हैं।

यह विश्लेषण एक अन्य रूप में भी किया जा सकता है—

व्यक्ति

१. एक पुरुष जीवन के पूर्वकाल में शुद्ध था और अब भी शुद्ध है।

२. एक व्यक्ति जीवन के पूर्वकाल में तो शुद्ध था, परन्तु अब चरित्र के दूषण से अशुद्ध हो गया है।

३. एक व्यक्ति पूर्वकाल में तो अशुद्ध था, किन्तु अब शुद्ध चरित्र के कारण शुद्ध हो गया है।

४. एक व्यक्ति पहले भी अशुद्ध था और अब भी अशुद्ध ही है।

बाह्य और अन्तर शुद्धि की दृष्टि से विश्लेषण करने पर भी मनुष्य के चार रूप हमारे सामने इसी तरह आते हैं, जैसे कि—

अथवा

१. कोई पुरुष बाहर से शुद्ध है और अन्दर से भी शुद्ध है।

२. कोई पुरुष बाहर से तो शुद्ध है, परन्तु अन्दर से अशुद्ध है।

३. कोई पुरुष बाहर से तो अशुद्ध है, किन्तु अन्दर से शुद्ध है।

४. कोई पुरुष बाहर से भी अशुद्ध है और अन्दर से भी अशुद्ध ही है।

जो वस्त्र अशुद्धता से शुद्धता में परिणत हो चुका है, उसे शुद्ध-परिणत कहते हैं। जो वस्त्र शुद्धता से अशुद्धता में परिणत हो गया है, उसे अशुद्ध-परिणत कहते हैं। इसकी भी चतुर्भंगी बनती है, जैसे कि—

वस्त्र

(क) १. एक वस्त्र शुद्ध है, और शुद्धता में ही परिणत हो रहा है, अर्थात् अधिकाधिक निर्मल होता जाता है।

२. एक वस्त्र शुद्ध तो है, किन्तु अशुद्धता में परिणत हो रहा है, अर्थात् दिन-प्रतिदिन गंदा होता जाता है।

३. एक वस्त्र अशुद्ध है, परन्तु शुद्धता में परिणत होता जाता है—निरन्तर साफ होता जाता है।

४. एक वस्त्र मिलावट होने से अशुद्ध है और अब अशुद्धता में परिणत होकर और अशुद्ध हो रहा है।

मनुष्य

इसी प्रकार मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) १. कुछ व्यक्ति जाति आदि से शुद्ध हैं और ज्ञान-क्रिया से एवं चारित्र से भी शुद्ध-परिणत हैं।

२. कुछ व्यक्ति जाति आदि से तो शुद्ध हैं, किन्तु ज्ञान-क्रिया में शुद्ध परिणत नहीं हैं।

३. कुछ व्यक्ति जाति आदि से अशुद्ध हैं, किन्तु ज्ञान-क्रिया में शुद्ध परिणत हैं।

४. कुछ व्यक्ति जाति एवं कुल से भी अशुद्ध हैं और अशुद्धपने में ही परिणत हो रहे हैं।

जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सम्पन्न हो जाता है उसे शुद्ध परिणत कहते हैं और अज्ञान, मिथ्यात्व तथा चारित्रिक हीनता की ओर जाना अशुद्ध-परिणति का लक्षण है।

जिस वस्त्र की सुन्दरता अनुपम हो उसे शुद्ध-रूप कहते हैं और जिसका रूप निकृष्ट-स्तर का हो उसे अशुद्ध रूप कहते हैं।

वस्त्र के समान मनुष्य के भी चतुर्विध रूप हैं—सर्वांगपूर्णदेह, उसमें भी सुन्दर रूप को शुद्ध रूप कहते हैं, विकृत एवं भौंडे रूप-रंग वाले व्यक्ति को अशुद्ध रूप कहते हैं। ये चार प्रकार के होते हैं—

व्यक्ति

१. कुछ व्यक्ति रूप-रंग से सुन्दर एवं चारित्रिक दृष्टि से भी सुन्दर होते हैं।

२. कुछ व्यक्ति रूप-रंग से सुन्दर, परन्तु चारित्रिक दृष्टि से असुन्दर होते हैं।

३. कुछ व्यक्ति रूप-रंग से असुन्दर, परन्तु चारित्रिक दृष्टि से सुन्दर होते हैं।

४. कुछ ऐसे गए बीते व्यक्ति भी होते हैं, जो रूप-रंग की दृष्टि से तो हीन होते ही हैं, चारित्र की दृष्टि से भी शून्य हुआ करते हैं।

इसी तरह जिस व्यक्ति का मन सभी प्रकार के पापों से रहित है वह व्यक्ति शुद्ध-मन है और जिसका मन पापों से कलंकित है उसे अशुद्ध मन कहा जाता है। जिसके संकल्प एवं विचार विशुद्ध हैं वह विशुद्ध-संकल्प होता है। (निर्जरा के समय ऐसी अवस्था होती है) और अप्रशस्त लेश्या में मनुष्य के अशुद्ध संकल्प होते हैं। जिसकी प्रज्ञा सूक्ष्म विषय-ग्राहिणी हो उसे शुद्धप्रज्ञ कहते हैं और जिसकी बुद्धि अवगुण-ग्राहिणी हो या स्थूल विषय-ग्राहिणी हो उसे अशुद्ध प्रज्ञा कहा जाता है। जिसकी दृष्टि सम्यग्दर्शन से पूर्ण हो उसे शुद्ध-दृष्टि और जिसकी दृष्टि मिथ्यात्व से युक्त हो उसे अशुद्ध-दृष्टि कहते हैं। जिसका स्वभाव और चारित्र विशुद्ध है, उसे शुद्धशीलाचार कहते हैं और जो ओछे स्वभाव वाला और सातिचार चारित्री है उसे अशुद्धशीलाचार कहते हैं। निष्कपट व्यवहार को शुद्ध व्यवहार कहा जाता है और कलह-प्रिय कपटी लोगों का व्यवहार अशुद्ध व्यवहार है। संयम-तप-सेवा-भक्ति, स्वाध्याय एवं परोपकार आदि क्रिया में पराक्रम करना शुद्ध पराक्रम है, और हिंसा आदि अशुभ क्रियाओं में प्रयत्न करना अशुद्ध पराक्रम कहलाता है।

पुरुष

१. एक पुरुष जाति-कुल से शुद्ध है और उसका पराक्रम भी शुद्ध है।

२. एक पुरुष जाति-कुल से शुद्ध है, परन्तु उसका पराक्रम अशुद्ध है।

३. एक पुरुष जाति-कुल से तो अशुद्ध है, किन्तु उसका पराक्रम शुद्ध है।

४. एक पुरुष जाति-कुल से भी अशुद्ध है और उसका पराक्रम भी अशुद्ध है।

तेरह भंगों की स्वरूप जाति आदि से और ज्ञान आदि से तथा कालापेक्षया-देशापेक्षया और भावापेक्षया कल्पना कर लेनी चाहिए।

सूत्रकार ने जो **'सुद्धे नामेगे सुद्धे'** पद दिया है, उसका भाव स्याद्वाद के आश्रित होकर ही हृदयंगम हो सकता है, जैसे कि—

शुद्ध मन और शुद्ध ज्ञान, शुद्ध मन और मिथ्या ज्ञान।

अशुद्ध मन और शुद्ध ज्ञान, अशुद्ध मन और मिथ्या ज्ञान।

इस प्रकार स्याद्वाद का आश्रय लेकर प्रत्येक पदार्थ चतुर्भंग के रूप में आ जाता है और उसकी स्वरूप-स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रकार सूत्रकार ने मानवता के विविध रूपों का विश्लेषण करके साधक के लिए कदम-कदम पर सावधान रहकर सभी दिशाओं में पवित्र मार्ग की ओर अग्रसर होने का मार्ग प्रशस्त किया है।

पुत्र-भेद

मूल—चत्तारि सुया पण्णत्ता, तं जहा—अइजाए, अणुजाए, अवजाए, कुलिंगाले ॥६॥

छाया—चत्वारः सुताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अतिजातः, अनुजातः, अवजातः, कुलांगारः।

शब्दार्थ—चत्तारि—चार तरह के, **सुया पण्णत्ता, तं जहा**—पुत्र प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे, **अइजाए**—पिता से अधिक सम्पद् युक्त, **अणुजाए**—पिता के तुल्य, **अवजाए**—पिता से निर्बल और, **कुलिंगाले**—कुलांगार—कुल को कलंकित करने वाला।

मूलार्थ—पुत्र चार तरह के वर्णन किए गए हैं, जैसे—एक पुत्र ऐसा होता है जो सम्पत्ति आदि में पिता से बढ़ा हुआ होता है। दूसरा पुत्र वह है जो सम्पत्ति की दृष्टि से पिता के समान होता है। तीसरा पुत्र सम्पद् में पिता से न्यून तथा चौथा पुत्र कुल को कलंकित करने वाला कुलांगार हुआ करता है।

विवेचनिका—पूर्वसूत्र में मानव के शुद्ध-अशुद्ध रूपों का वर्णन किया गया है। शुद्ध-प्रकृति एवं अशुद्ध-प्रकृति मानव पुत्र रूप में उत्पन्न होते हैं, पुत्रत्व ही मानवता के विकास का मूल है, अतः अब सूत्रकार चार प्रकार के पुत्रों का वर्णन प्रस्तुत करते हैं। पुण्य की न्यूनाधिकता से, योग्यता और विनीतता की न्यूनाधिकता से और गुण-अवगुण की न्यूनाधिकता से पुत्र चार प्रकार के होते हैं। "**कुलं पुनातीति पुत्रः**" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो कुल को पवित्र करता है वही पुत्र है तथा जो दोनों कुलों को पवित्र करती है वह पुत्री कहलाती है।

पहले प्रकार के वे पुत्र हैं जो पिता की अपेक्षा प्रत्येक दृष्टि से प्रगतिशील होते हैं, दूसरे वे पुत्र हैं जो पिता की समानता रखने वाले होते हैं, अर्थात् उन्हीं के चरणचिन्हों पर चलते हैं। तीसरे वे पुत्र हैं जो पिता से पीछे रहने वाले होते हैं, इन्हें क्रमशः अतिजात, अनुजात तथा अवजात कहते हैं, किन्तु जो क्रूर, हिंसक, अयोग्य तथा सर्वनाश करने वाले हैं उन्हें कुलांगार कहा जाता है। जैसे अग्निमय अंगारा स्पर्श करने वाले को जला देता है और बुझा हुआ कोयला सबको अपने समान काला—कलंकित कर देता है, इसी प्रकार कुलांगार पुत्र चल-अचल संपत्ति का भी सर्वनाश कर देते हैं और कुल की समुज्ज्वल यशःकीर्ति को भी कलंकित कर देते हैं, वास्तव में ऐसे पुत्र पाप के उदय से ही उत्पन्न होते हैं।

लौकिक पक्ष की तरह लोकोत्तर पक्ष में गुरु के शिष्य भी चार प्रकार के होते हैं, विद्या और चारित्र में गुरु से भी आगे बढ़ने वाला शिष्य अतिजात, गुरु के समान प्रतिष्ठा पाने वाला शिष्य अनुजात, विद्या, चारित्र और प्रतिष्ठा से गुरु की अपेक्षा पीछे रहने वाला या गुरु से हीन गुणवाला शिष्य अवजात कहलाता है और गुरु को क्लेश पहुंचाने वाला, पीड़ा

पहुंचाने वाला गुरु की प्रतिष्ठा को कलंकित करने वाला शिष्य कुलांगार कहलाता है, उसे दूसरे शब्दो में कुशिष्य भी कहते हैं। इन्हीं को क्रमशः शिष्यरत्न, सुशिष्य, शिष्य और कुशिष्य भी कहा जाता है।

सत्य और मनुष्य

मूल—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—सच्चे नामं एगे सच्चे, सच्चे नामं एगे असच्चे ४। एवं परिणए जाव परक्कमे।

चत्तारि वत्था पण्णत्ता, तं जहा—सुई नामं एगे असुई, चउभङ्गो। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—सुईणामं एगे सुई, चउभङ्गो। एवं जहेव सुद्धेणं वत्थेणं भणियं तहेव सुइणावि, जाव परक्कमे ॥७॥

छाया—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—सत्यो नामैकः सत्यः, सत्योनामैकोऽसत्यः ४। एवं परिणतो यावत् पराक्रमः।

चत्वारि वस्त्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—शुचिनामैकं शुचि, शुचिनामैकमशुचि, चतुर्भङ्गः। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि—शुचिर्नामैकः, शुचिः, चतुर्भङ्गः। एवं यथैव शुद्धेन वस्त्रेण भणितं तथैव शुचिनापि, यावत् पराक्रमः।

शब्दार्थ—चत्तारि—चार प्रकार के, **पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—पुरुष कहे गए हैं, जैसे, **सच्चे नामं एगे सच्चे**—एक पुरुष द्रव्य से लौकिक विषयों में सच्चा और भाव से ज्ञानादि विषयों में भी सच्चा, **सच्चे नामं एगे असच्चे**—एक द्रव्य से सच्चा और भाव से झूठा। इसी प्रकार चतुर्भंग जानना, **एवं**—इसी तरह, **परिणए**—परिणत से लेकर, **जाव**—यावत्, **परक्कमे**—पराक्रम पर्यन्त चतुर्भंग जानने चाहिएं।

चत्तारि वत्था पण्णत्ता, तं जहा—चार तरह के वस्त्र कहे गए हैं, जैसे, **सुई नामं एगे सुई**—एक वस्त्र तन्तु आदि से शुचि—पवित्र और मल-रहित होने के कारण शुचि होता है, **सुई नामं एगे असुई**—एक वस्त्र तन्तु आदि से शुचि पर मलयुक्त होने से अशुचि—अपवित्र होता है। इसके भी चार भंग जानने चाहिएं, **एवामेव**—इसी भांति, **चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे, **सुईणामं एगे सुई**—एक पुरुष जात्यादि से शुचि होता है और ज्ञानादि से भी शुचि होता है। यहां भी चार भंग जानने चाहिएं, **एवं**— इसी तरह, **जहेव**—जैसे, **सुद्धेणं वत्थेणं भणियं**—शुद्ध वस्त्र से कहा गया है, **तहेव**—उसी तरह, **सुइणावि**—शुचि के दृष्टान्त से चतुर्भंग बनाना चाहिए, **जाव**—यावत्, **परक्कमे**—पराक्रम पर्यन्त इसी तरह चतुर्भंग समझने चाहिएं।

मूलार्थ—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—१. एक व्यक्ति यथार्थ कहने वाला प्रतिज्ञापालक तथा भाव से संयमी होता है। २. दूसरा द्रव्य से सत्यवादी और भाव से असत्यवादी। इसी तरह चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए। ऐसे ही

परिणत से लेकर यावत् पराक्रम पर्यन्त चतुर्भंग जानने चाहिएं।

चार प्रकार से वस्त्र के भेद कहे गए हैं, जैसे—१. एक वस्त्र स्वभाव से शुचि अर्थात् पवित्र है और संस्कार से भी शुचि है। २. एक भाव से शुचि और संस्कार से अशुचि, इसी तरह चतुर्भंग जानने चाहिएं।

इसी तरह चार प्रकार के पुरुष हैं, जैसे—एक पुरुष द्रव्य से शुचि और संस्कार से भी शुचि है। इसका भी चतुर्भंग जानना चाहिए। इसी तरह जैसे शुद्ध वस्त्र के चतुर्भंग बनाए उसी तरह शुचि के भी चतुर्भंग जान लेने चाहिएं, इसी प्रकार पराक्रम पर्यन्त चतुर्भंग की कल्पना करनी चाहिए।

विवेचनिका—पूर्वसूत्र में सूत्रकार ने चार प्रकार के पुत्रों का वर्णन किया है। उन्हीं को लक्ष्य में रखकर अब सूत्रकार सत्य के साथ पुरुष की तुलना करते हुए, पुनः मनुष्य-प्रकृति का वर्णन करते हैं।

सर्वप्रथम सत्य को लक्ष्य में रखकर द्रव्य और भाव की अपेक्षा पुरुष की चतुर्भंगी निर्दिष्ट की गई है। जो प्राणिमात्र का हितकारी हो वही सत्य है, संयम को भी सत्य कहा जाता है, शुभ प्रतिज्ञा में दृढ रहना भी सत्य है, तत्त्वों पर श्रद्धान रखने को भी सत्य कहा जाता है, मोक्ष-मार्ग में प्रगति करना भी सत्य का ही श्रेष्ठतम रूप है, लोकोत्तरिक नैश्चयिक तथा पारमार्थिक सत्य ही भाव-सत्य कहलाता है। इन्द्रियों के द्वारा जिस वस्तु का प्रत्यक्ष किया गया है उसको ठीक उसी रूप में कहना व्यावहारिक सत्य है, उसी को दूसरे शब्दों में द्रव्य-सत्य भी कहते हैं।

जिस असत्य का सम्बन्ध भौतिक पदार्थों से है, स्वार्थपूर्ति से है तथा जीव-हिंसा से है वह द्रव्य असत्य है और मिथ्यात्व के उदय से नव तत्त्वों को न मानना या मोक्ष एवं मोक्ष के उपायों को न मानना भाव-असत्य है। सत्य या असत्य ये जीव की शुभ और अशुभ पर्याय होती हैं, अतः जीव के अतिरिक्त अन्य किसी में सत्य या असत्य नहीं पाया जाता है। अन्य जीवों की अपेक्षा से पूर्ण सत्यवादी या पूर्णतया असत्यवादी मनुष्य ही हो सकता है। इस विषय का चतुर्भंगी द्वारा स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पुरुष

(क) १. एक पुरुष द्रव्य से भी सत्यवादी है और भाव से भी।
२. दूसरा पुरुष द्रव्य से तो सत्यवादी है, किन्तु भाव से असत्यवादी है।
३. तीसरा पुरुष द्रव्य से तो असत्यवादी है, किन्तु भाव से सत्यवादी है।
४. चौथा पुरुष द्रव्य और भाव दोनों की अपेक्षा असत्यवादी है।

काल की अपेक्षा से इस चतुर्भंगी का रूप इस प्रकार माना जा सकता है—

(ख) १. एक पुरुष पहले भी सत्यवादी था और अब भी सत्यवादी है।

२. एक पुरुष पहले तो सत्यवादी था, परन्तु अब सत्यवादी नहीं है।

३. एक पुरुष पहले तो असत्यवादी था, किन्तु अब सत्यवादी है।

४. एक पुरुष पहले भी असत्यवादी था और अब भी असत्यवादी है।

इसी प्रकार सत्यपरिणत-असत्यपरिणत, सत्यरूप-असत्यरूप, सत्यमन-असत्यमन, सत्य-संकल्प-असत्यसंकल्प, सत्यप्रज्ञ-असत्यप्रज्ञ, सत्यदृष्टि-असत्यदृष्टि, सत्यशीलाचार-असत्यशीलाचार, सत्यव्यवहार-असत्य व्यवहार, सत्यपराक्रम-असत्यपराक्रम इन पदों के साथ सत्य और असत्य पद जोड़ने से नौ चतुर्भंगियां बन जाती हैं।

शुचि शब्द का अर्थ है पवित्रता, वह दो प्रकार की होती है—स्वभाव से शुचि और संस्कार से शुचि। धुला हुआ वस्त्र स्वभाव से पवित्र है, उसे प्रैस करना एवं सुगन्धित बनाना यह उसकी संस्कार-जन्य पवित्रता है। जिस वस्त्र की मलिनता या अपवित्रता कभी भी दूर नहीं हो सकती और दुर्गन्धपूर्ण भी है वह स्वभाव से और संस्कार से अशुचि है—अपवित्र है। मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

मनुष्य

१. कुछ मनुष्य बाहर से पवित्र होते हैं और अन्त:करण से भी पवित्र होते हैं, जैसे महापुरुष।

२. कुछ मनुष्य बाहर से तो पवित्र होते हैं, किन्तु अन्त:करण से पवित्र नहीं होते, जैसे धूर्त्त एवं ठग।

३ कुछ मनुष्य अन्त:करण से तो पवित्र होते हैं, किन्तु बाहर से पवित्र नही होते, जैसे शासक।

४. कुछ मनुष्य न अन्त:करण से पवित्र होते हैं और न बाहर से ही पवित्र होते हैं, जैसे चण्डाल।

वस्त्र के साथ दूसरी चतुर्भंगी शुचि-शुचिपरिणत, शुचि-अशुचिपरिणत इस प्रकार बनती है, तीसरी चतुर्भंगी शुचि-शुचिरूप, शुचि-अशुचिरूप इस प्रकार वस्त्र के साथ बनती है। इसी तरह पुरुष के साथ भी दूसरी और तीसरी चतुर्भंगी जान लेनी चाहिए। शेष मन आदि सात पदों की चतुर्भंगियां केवल पुरुष के संयोग से बनती हैं, क्योंकि वस्त्र मे मन आदि सात पद नहीं पाए जाते।

इन चतुर्भंगियों से सिद्ध होता है कि जैन दर्शन प्रत्येक पदार्थ का और उसकी प्रत्येक पर्याय का ज्ञान करा कर विभिन्न दृष्टिकोणों से मनुष्य को वस्तुस्थिति का परिज्ञान कराता है। उदार दृष्टि ही मानवता को ऊंचा उठाती है और अनन्त शान्ति को स्थिर रखती है।

कोरक और मनुष्य

मूल—चत्तारि कोरवा पण्णत्ता, तं जहा—अंबपलंबकोरवे, तालपलंब-

कोरवे, वल्लिपलंबकोरवे, मेंढविसाणकोरवे।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—अंबपलंब-कोरवसमाणे, तालपलंब-कोरवसमाणे, वल्लिपलंब-कोरवसमाणे, मेंढविसाण-कोरव-समाणे ॥८॥

छाया—चत्वारः कोरकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आम्रप्रलंब-कोरकः, तालप्रलम्ब-कोरकः, वल्लीप्रलम्ब-कोरकः, मेषविषाणकोरकः।

एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आम्रप्रलम्बकोरकसमानः, ताड-प्रलम्बकोरकसमानः, वल्लीप्रलम्बकोरकसमानः, मेषविषाणकोरकसमानः।

शब्दार्थ—**चत्तारि**—चार प्रकार के, **कोरवा**—कोरक—कलियां कही गई हैं, जैसे, **अंबपलंबकोरवे**—आम के फल का निष्पादक कोरक अर्थात् मंजरी, **तालपलंबकोरवे**—ताड़ फल की निष्पादक कलिका, **वल्लिपलंबकोरवे**—लता के फल का निष्पादक कोरक और, **मेंढविसाणकोरवे**—मेषविषाण के फल का निष्पादक कोरक।

एवामेव—इसी प्रकार, **चत्तारि**—चार प्रकार के, **पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—पुरुष कहे गए हैं जैसे, **अंबपलंबकोरवसमाणे**—एक पुरुष आम्र फल कोरक समान अर्थात् सेवित होने पर यथाकाल उचित फल देने वाला होता है, **तालपलंबकोरवसमाणे**—एक पुरुष ताड़ फल कोरक समान अर्थात् लंबी सेवा के अनन्तर सेवक को फल देता है, **वल्लिपलंबकोरवसमाणे**—एक पुरुष वल्ली-फल कोरक समान अर्थात् बिना क्लेश और बिना विलम्ब के फल देता है और, **मेंढविसाणकोरवसमाणे**—एक पुरुष मेंढविषाण कोरक समान अर्थात् सेवित होने पर केवल मनोहर वचन बोलता है, किन्तु कुछ फल नहीं देता है।

मूलार्थ—चार प्रकार के कोरक प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—१. आम का मुकुल, २. ताड़ का मुकुल, ३. लता का मुकुल और ४. मेषविषाण अर्थात् अज-शृंगी नामक लता का मुकुल।

इसी तरह चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—१. आम्र फल के मुकुल समान उचित समय पर उपकार करने वाले। २. ताड़फल के मुकुल के समान विलम्ब और कठिनता से उपकार करने वाले। ३. लता के फल के मुकुल समान बिना विलम्ब और बिना कष्ट के उपकार करने वाले और ४. अजशृंगी फल के समान केवल मीठे वचनों से फुसलाने वाले—उपकार न करने वाले।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में सूत्रकार ने सत्य एवं पवित्रता की दृष्टि से मानव-स्वभाव का विश्लेषण किया है, अब सूत्रकार सेवा का फल देने की दृष्टि से मानव-स्वभाव का विश्लेषण करते हैं।

शीघ्र एवं अल्प-सेवा द्वारा फल-प्रदान की दृष्टि से वृक्ष चार प्रकार के होते हैं, जैसे—

१. पहले प्रकार के वे वृक्ष हैं जिनकी देखभाल, रक्षा एवं सेवा की अधिक आवश्यकता नहीं रहती, जो अपनी ऋतु में बहुत काल तक फल देते रहते हैं तथा फल-प्राप्ति में भी अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता, जैसे कि आम्रफल। आम्रफल सब फलों में प्रधान है, क्योंकि सर्वप्रथम स्थान इसी को मिला है और इसके फल प्रायः उचित समय पर ही लगते हैं।

२. दूसरी तरह के वे वृक्ष होते हैं जिनकी पहले बहुत काल तक सेवा करनी पड़ती है, फिर वे चिरकाल के बाद बड़े परिश्रम से फल देते हैं, जैसे कि ताड़फल। यह फल प्रायः समुद्रतटीय प्रान्तों में ही सुलभ है और देर से फल देता है। इसके फलों का रस भी नशीला होता है।

३. तीसरी तरह के वे फल होते हैं, जो बेलों में लगते हैं, बेलों की सेवा भी अधिक नहीं करनी पड़ती और अनायास ही फल प्राप्त हो जाते हैं, जैसे कि खीरा, लौकी, ककड़ी, खरबूजा इत्यादि।

४. चौथी तरह की वे बेलें हैं, जिनमें फल लगते हैं, किन्तु वे दर्शनीय मात्र ही होते हैं, उनसे अभीष्ट कार्य की सिद्धि नहीं होती, न क्षुधा-निवृत्ति और न पिपासा-निवृत्ति। इस प्रकार के फलों को मेष विषाण फल कहते हैं, वे फल मेंढे के सींग के आकार के होते हैं, कुछ औषधियों में अवश्य प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार लाभ की आशा रखकर जिनकी सेवा या उपासना की जाती है वे मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

मनुष्य

(क) १. कुछ ऐसे मनुष्य होते हैं जो कुछ वर्षों तक सेवा करने पर बहुत-काल तक लाभ देते रहते हैं।

२. कुछ ऐसे भी होते हैं जो वर्षों तक सेवा करने पर ही कंजूसी से चिरकाल तक, पर थोड़ा लाभ देते हैं।

३. कुछ ऐसे मनुष्य होते हैं जो यथाशीघ्र और अनायास ही उदारता से स्वल्पकाल में सेवक को लाभ देते हैं।

४. कुछ ऐसे होते हैं जो अधिक सेवा और अधिक परिश्रम करने पर भी केवल मधुर वचन के अतिरिक्त अन्य कुछ लाभ नहीं देते।

घुन और भिक्षु

मूल—चत्तारि घुणा पण्णत्ता, तं जहा—तयक्खाए, छल्लिक्खाए, कट्ठक्खाए, सारक्खाए।

एवामेव चत्तारि भिक्खागा पण्णत्ता, तं जहा—तयक्खायसमाणे जाव

सारक्खायसमाणे। तयक्खायसमाणस्स णं भिक्खागस्स सारक्खायसमाणे तवे पण्णत्ते। सारक्खायसमाणस्स णं भिक्खागस्स तयक्खायसमाणे तवे पण्णत्ते। छल्लिक्खायसमाणस्स णं भिक्खागस्स कट्ठक्खायसमाणे तवे पण्णत्ते। कट्ठक्खायसमाणस्स णं भिक्खागस्स छल्लिक्खायसमाणे तवे पण्णत्ते ॥ १ ॥

छाया—चत्वारो घुणाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—त्वक्खादः, छल्लिखादः, काष्ठखादः, सारखादः। एवमेव चत्वारो भिक्षाकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—त्वक्खादसमानो यावत् सारखादसमानः। त्वक्खादसमानस्य खलु भिक्षाकस्य सारखादसमानं तपः प्रज्ञप्तम्। सारखादसमानस्य खलु भिक्षाकस्य काष्ठखादसमानं तपः प्रज्ञप्तम्। छल्लिखादसमानस्य खलु भिक्षाकस्य काष्ठखादसमानं तपः प्रज्ञप्तम्। काष्ठखादसमानस्य खलु भिक्षाकस्य छल्लिखादसमानं तपः प्रज्ञप्तम्।

शब्दार्थ—चत्तारि घुणा पण्णत्ता, तं जहा—चार तरह के घुन प्रतिपादन किए गए है, जैसे, **तयक्खाए**—वृक्ष के बाहर की छाल खाने वाले, **छल्लिक्खाए**—वृक्ष की भीतरी त्वचा खाने वाले। **कट्ठक्खाए**—वृक्ष का काष्ठ खाने वाले और, **सारक्खाए**—वृक्ष का सार अंश खाने वाले।

एवामेव—इसी तरह, **चत्तारि भिक्खागा पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार के साधु कहे गए हैं, जैसे, **तयक्खायसमाणे**—त्वक् खाद के समान, **जाव**—यावत्—से लेकर, **सारक्खायासमाणे**—सार खाद के तुल्य, **तयक्खायसमाणस्स णं भिक्खागस्स**—त्वक् खाद समान भिक्षु के लिए, **सारक्खायसमाणे**—सार खाद तुल्य, **तवे पण्णत्ते**—तप प्रतिपादन किया गया है, **सारक्खायसमाणस्स णं भिक्खागस्स**—सारखाद के तुल्य भिक्षु के लिए, **तयक्खायसमाणे**—त्वक्-खाद तुल्य, **तवे पण्णत्ते**—तप प्रतिपादन किया गया है। **छल्लिक्खायसमाणस्स णं भिक्खागस्स**—छल्लिखाद के तुल्य भिक्षु के लिए, **कट्ठ-क्खायसमाणे**—काष्ठखाद तुल्य, **तवे पण्णत्ते**—तप प्रतिपादन किया गया है। **कट्ठक्खाय-समाणस्स णं भिक्खागस्स**—काष्ठखाद के तुल्य भिक्षु के लिए, **छल्लिक्खायसमाणे**—छल्लिखाद तुल्य, **तवे पण्णत्ते**—तप कहा गया है।

मूलार्थ—चार प्रकार के घुन कहे हैं, जैसे—१. कुछ घुन बाहरी त्वचा अर्थात् छाल को खाने वाले होते हैं। २. कुछ घुन भीतरी छाल को खाने वाले होते हैं। ३ कुछ घुन काठ खाने वाले होते हैं। ४. कुछ घुन सार-अश खाने वाले होते है। ऐसे ही चार प्रकार के भिक्षु कहे गये हैं, जैसे कि—

१. कुछ भिक्षु त्वक्खाद-तुल्य अर्थात् तप-पूर्वक निस्सार आहार करने वाले होते हैं।

२. कुछ भिक्षु छल्लिखाद-तुल्य अर्थात् तप-पूर्वक स्नेह-रहित आहार करने वाले होते हैं।

३. कुछ भिक्षु काष्ठखाद-तुल्य अर्थात् दूध, दही, घी आदि रहित आहार करने वाले होते हैं।

४. कुछ भिक्षु सारखाद-तुल्य अर्थात् चिकनी-चुपड़ी वस्तुएं खाने वाले होते हैं। त्वक्‌खाद समान साधु के लिए सारखाद समान तप कथन किया गया है। सारखाद समान साधु के लिए त्वक्‌खाद समान तप कथन किया गया है। छल्लिखाद समान साधु के लिए काष्ठखाद समान तप कथन किया गया है। काष्ठखाद समान साधु के लिए छल्लिखाद समान तप कहा गया है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में परोपकार को लक्ष्य में रखकर सामान्य रूप से मनुष्य-चरित्र का विश्लेषण किया गया है, प्रस्तुत सूत्र में घुन को उपमान रूप में सामने रखकर साधु के आहार-सम्बन्धी चारित्र का विश्लेषण किया गया है। घुन एक प्रकार का कीट विशेष होता है, जोकि काष्ठ को चार प्रकार से खाता है। कोई काष्ठ की बाह्य त्वचा खाने वाला, कोई भीतरी त्वचा अर्थात् छाल खाने वाला, कोई काठ खाने वाला और कोई काठ का सार-सार खाने वाला होता है।

इसी प्रकार भिक्षु भी चार प्रकार के होते हैं। कोई भिक्षु अत्यन्त संतोषी होने से नीरस आहार-पानी ग्रहण करता है, वह त्वक्-खाद घुन के समान होता है। आयंबिल की पद्धति से आहार ग्रहण करने वाला भिक्षु इसी त्वक्‌खाद घुन के समान माना गया है।

जो विगय अर्थात् घी-दूध आदि से रहित आहार ग्रहण करता है, ऐसा भिक्षु छाल-भक्षक घुन के समान होता है। ऐसे भिक्षु दूसरी कोटि के माने जाते हैं।

तीसरी कोटि का भिक्षु वह कहलाता है—जिस भैक्ष पदार्थ में घी-दूध आदि का अंश होता है उसे तो ग्रहण कर लेता है, किन्तु धार-विगय का ग्रहण नहीं करता। निर्विकृति आहार ग्रहण करना ही उस का मुख्य लक्ष्य होता है।

चौथी कोटि का भिक्षु वह है जो सार-सार पदार्थों का आहार ग्रहण करता है। जो आहार सर्वकाम-गुण-संपन्न एवं बल-वर्द्धक है उसे सार-सार भोजनपानक कहते हैं। इस तरह का आहार पारणे में ग्रहण करनेवाले भिक्षु को सारखाद घुन समान कहा है।

विवेकी एवं संयमी की प्रत्येक क्रिया में तप एव निर्जरा है, क्योंकि उसके त्याग, तप तथा कल्पनीय वस्तुओं के भोग, दोनों अवस्थाओं में धर्म और जीवन का निर्वाह निहित है। इसी कारण सूत्रकार ने कहा है कि **"तयक्खायसमाणस्स णं भिक्खागस्स सारक्खायसमाणे तवे"** जिस साधु की तपस्या निरन्तर चालू है, जैसे कि एकान्तर तप, बेले-बेले पारणा, तेले-तेले पारणा चल रहा है वह यदि पारणे के दिन सर्व कामगुण आहार

का उपयोग करता है तो उसका वह पारणा भी तप रूप है, क्योंकि उसने पारणे के अनन्तर पुन: तप में ही प्रवृत्त हो जाना है और उसका वह सर्वकाम-गुण-सम्पन्न आहार तप के लिए नई शक्ति प्रदान करता है, अत: इस आहार का लक्ष्य पवित्र होने से वह भी तप मूलक ही हो जाता है। एकाशन तप में और एकल्लठाण तप में सर्वकामगुण का आहार करता हुआ भी भिक्षु तपस्वी ही है।

जिस पेय या खाद्य पदार्थ के ग्रहण करने से हाथ या पात्र में लेप न लगे, जिसे विशेष प्रकार से पानी से धोने की आवश्यकता न पड़े या जिस में दूध-घी आदि का लेप न लगा हो, उसे भी अलेप-आहार कहते हैं। जो भिक्षु अलेपाहार ग्रहण करता है और पारणे में निर्विकृति आहार ग्रहण करता है उसके लिए सूत्रकार ने "**कट्ठखायसमाणे तवे**" तप कहा है और जो निर्विकृति तप करने वाला है वह यदि अलेपाहार करता है तो उसे "**छल्लि-खायसमाणे तवे**" तप कहा है।

केवल घी-दूध आदि विगयों के आधार पर तप करना साधारण तप है, निर्विकृति तप श्रेष्ठ है, उससे अलेप आहार तप श्रेष्ठतर है, उससे भी अरस-विरस एवं नीरस आहार ग्रहण करना श्रेष्ठतम तप है। जितना-जितना श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर तप होता है उसी के अनुसार कर्मों का अधिक-अधिकतर विलय होता है। कर्मों के सर्वथा पर्यवसान होने पर ही आत्मा परमात्म-पद को प्राप्त करता है। जिस प्रकार अल्पाहारी भिक्षु निद्रा को जीत सकता है, उसी प्रकार अल्पाहारी कर्मों को भी भेदन कर सकता है। जैसे लौह-पिण्ड को गलाने के लिए उग्र एवं प्रचण्ड अग्नि की आवश्यकता है वैसे ही कर्मपिण्ड को गलाने के लिए भी उग्रतप की आवश्यकता है, क्योंकि अल्पाहार होने पर ही आत्मा ध्यान तप के द्वारा कृत-कृत्य हो सकता है।

सूत्रकार ने जो **भिक्खागा** पद दिया है उसका आशय वृत्तिकार के शब्दों में यही है कि—"**भिक्षणशीलाः भिक्षणधर्माणो भिक्षणे साधवो वा भिक्षाकाः**" जो भिक्षा करने वाले हों, भिक्षा ही जिनके शरीर धारण का एक मात्र उपाय हो, उन्हें भिक्षाक कहते हैं। यद्यपि भिक्षु शब्द लोकदृष्टि से याचक या भिखमंगे के लिए रूढ है, किन्तु आगमों में भिक्षु शब्द की व्याख्या निम्नलिखित है—

"**एत्थ वि भिक्खू अणुन्नए, विणीयनामए, दंते, दविए, वोसट्ठकाए, संविधुणिय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे, अज्झप्पजोगसुद्धादाणे, उवट्ठिए ठिअप्पा संखाए परदत्तभोई भिक्खू त्ति वच्चे**"। ॥ सूयगड अध्ययन १६ ॥

अर्थात् जो अहंकार से रहित, विनीत, जितेन्द्रिय, निर्वाणयोग्य, ममत्वरहित, कर्मों को तथा परीषह-उपसर्गों को जीतने वाला अध्यात्मयोग में निमग्न, स्थितप्रज्ञ, ज्ञानयुक्त, परदत्त-भोजी इत्यादि गुण समन्वित मुनि है उसी को भिक्षु कहा जाता है। इस सूत्र में द्रव्य-भिक्षु और भाव-भिक्षु दोनों का वर्णन किया गया है।

बादर वनस्पति-भेद

मूल—चउव्विहा तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता, तं जहा—अग्गबीया, मूलबीया, पोरबीया, खंधबीया॥१०॥

छाया—चतुर्विधाः वनस्पतिकायिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अग्रबीजाः, मूलबीजाः, पर्वबीजाः, स्कन्धबीजाः।

शब्दार्थ—चउव्विहा—चार प्रकार के, **तणवणस्सइकाइया पण्णत्ता, तं जहा**—बादर वनस्पति काय वाले प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे, **अग्गबीया**—अग्रबीज से होने वाले व्रीहि आदि, **मूलबीया**—मूल बीज कन्दादि, **पोरबीया**—पर्वबीज—इक्षु आदि और, **खंधबीया**— स्कन्ध बीज—चमेली, केला आदि।

मूलार्थ—चार प्रकार के बादर वनस्पति कथन किए गए हैं, जैसे—अग्रबीज-गेहूं आदि, मूलबीज—कन्दादि, पर्वबीज—इक्षु आदि और स्कन्धबीज—चमेली आदि।

विवेचनिका—घुन वनस्पति के अवयव को खाता है, अतः सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में बादर वनस्पति-काय का वर्णन किया है। उसके प्रकार अनेक-अनेक होते हुए भी इस प्रसंग में केवल तृण-वनस्पतिकाय का ही उल्लेख किया गया है। वह चार प्रकार की होती है। जिन वनस्पतियों के बीज अग्रभाग मे लगते हैं उन्हें अग्रबीज कहते हैं। जिनका मूल अर्थात् जड़ ही बीज रूप है उन्हें मूलबीज कहा जाता है। जिनका बीज पर्व—पोरी में होता है उन्हें पर्वबीज, जिनका स्कन्ध ही बीज होता है उसे स्कन्ध बीज कहते हैं। गुलाब, चमेली आदि की डाली को ही रोपा जाता है और वही पौधे का रूप धारण कर लेती है, अतः इस प्रकार के पौधे 'स्कन्ध-बीज' कहलाते हैं। जिनसे चौबीस प्रकार के धान्य उत्पन्न होते हैं, वे सब तृणवनस्पतिकाय हैं, इन्हें औषधिवनस्पति भी कहते हैं और कुछ इनके अतिरिक्त अन्य भी तृण-वनस्पतिकाय हैं जिनकी विस्तृत व्याख्या प्रज्ञापना सूत्र के पहले पद मे मिलती है।

नारकीय की मनुष्य लोक में आगमनेच्छा

मूल—चउहिं ठाणेहिं अहुणोववण्णे णेरइए निरयलोगंसि इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव संचाएइ हव्वमागच्छित्तए।

अहुणोववण्णे नेरइए णिरयलोगंसि समुब्भूयं वेयणं वेयमाणे इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए। अहुणोववन्ने णेरइए निरयलोगंसि णिरयपालेहिं भुज्जो-भुज्जो अहिट्ठिज्जमाणे इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए।

अहुणोववन्ने णेरइए णिरयवेयणिज्जंसि कम्मंसि अक्खीणंसि, अवेइयंसि, अणिज्जिन्नंसि इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ। एवं णिरयाउअंसि कम्मंसि अक्खीणंसि जाव णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए। इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने नेरइए जाव नो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥११॥

छाया—चतुर्भिः स्थानैरधुनोपपन्नो नैरयिको निरयलोके इच्छति मानुषं लोकं शीघ्रमागच्छेत् नो चैव शक्नोति शीघ्रमागन्तुम्।

अधुनोपपन्नो नैरयिको निरयलोके समुद्भूतां वेदनां वेदयमानः इच्छेद् मानुषं लोकं शीघ्रमागन्तुं नो चैव शक्नोति शीघ्रमागन्तुम्।

अधुनोपपन्नो नैरयिको निरयलोके निरयपालैः भूयो-भूयोऽधिष्ठीयमानः इच्छेत् मानुषं लोकं शीघ्रमागन्तुं नो चैव शक्नोति शीघ्रमागन्तुम्।

अधुनोपपन्नो नैरयिको निरयवेदनीयकर्मणि अक्षीणे, अवेदिते, अनिर्जीर्णे इच्छेद् मानुषं लोकं शीघ्रमागन्तुं नो चैव शक्नोति शीघ्रमागन्तुम्।

एवं निरयायुष्यके कर्मणि अक्षीणे यावत् नो चैव शक्नोति शीघ्रमागन्तुम्। इत्येतैश्चतुर्भिः स्थानैरधुनोपपन्नो नैरयिकः यावत् नो चैव शक्नोति शीघ्रमागन्तुम्।

शब्दार्थ—चउहिं ठाणेहिं—चार कारणों से, **अहुणोववण्णे**—उसी समय उत्पन्न, **णेरइए**— नैरयिक, **णेरइयलोगंसि**—नरक लोक मे, **इच्छेज्जा**—चाहता है, **माणुसं लोगं**—मनुष्यलोक को, **हव्वं**—शीघ्र, **आगच्छित्तए**—आने के लिए, **चेव णं**—च-पुनः और एव अवधारण तथा ण वाक्यालंकारार्थ में, परन्तु वह, **हव्वमागच्छित्तए**—शीघ्र आने के लिए, **णो संचाएइ**— समर्थ नही होता।

अहुणोववण्णे नेरइए—तत्काल का उत्पन्न नारकीय, **णिरयलोगंसि**—नरक लोक में, **समुब्भूयं**—जायमान, **वेयणं**—वेदना को, **वेयमाणे**—भोगता हुआ, **माणुसं लोगं**—मनुष्य लोक को, **हव्वमागच्छित्तए**—शीघ्र आने के लिए, **इच्छेज्जा**—चाहता है, परन्तु, **हव्वमागच्छित्तए**—शीघ्र आने के लिए, **णो चेव णं संचाएइ**—समर्थ नहीं हो पाता है।

अहुणोववन्ने णेरइए—तत्काल का उत्पन्न नैरयिक, **निरयलोगंसि**—नरक लोक में, **णिरयपालेहिं**—नरकपालो द्वारा, **भुज्जो-भुज्जो**—बारम्बार, **अहिट्ठिज्जमाणे**—पुनः-पुनः आक्रान्त किए जाने पर, **माणुसं लोगं**—मनुष्यलोक को, **हव्वमागच्छित्तए**—शीघ्र आने के लिए, **इच्छेज्जा**—इच्छा करता है, परन्तु, **हव्वमागच्छित्तए**—शीघ्र आने मे, **णो चेव संचाएइ**—वह समर्थ नहीं हो पाता है।

अहुणोववन्ने णेरइए—तत्कालिक उत्पन्न नैरयिक, **णिरयवेयणिज्जंसि**—नरक मे भोगे जाने के योग्य, **कम्मंसि**—कर्म के, **अक्खीणंसि**—बिना क्षीण हुए, **अवेइयंसि**—

बिना वेदे, **अणिज्जिन्नंसि**—बिना निर्जरा हुए, **माणुसं लोगं**—मनुष्य लोक को, **हव्वमाग-च्छित्तए**—शीघ्र आने के लिए, **इच्छेज्जा**—चाहता है, किन्तु, **णो चेव संचाएइ**—समर्थ नहीं हो पाता है।

एवं—इसी प्रकार, **णिरयाउअंसि कम्मंसि**—निरयायुष्य कर्म के, **अक्खीणंसि**—क्षीण हुए बिना, **जाव**—यावत्, **हव्वमागच्छित्तए**—शीघ्र आने के लिए, **णो चेव संचाएइ**—समर्थ नहीं हो पाता है, **इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं**—इन चार कारणों से, **अहुणोववन्ने नेरइए**—तत्काल का उत्पन्न नारकी, **जाव**—यावत्, **हव्वमागच्छित्तए**—शीघ्र आने के लिए, **णो चेव संचाएइ**—मनुष्यलोक मे नहीं आ पाता है।

मूलार्थ—चार कारणों से नरक में उत्पन्न होते ही नारकीय जीव नरक-लोक से मनुष्य-लोक मे आना चाहता है, परन्तु आ नहीं सकता, यथा—

तत्काल का उत्पन्न नारकीय नरकलोक में अत्यन्त कठिन वेदना को भोगता हुआ शीघ्र ही मनुष्य-लोक मे आना चाहता है, परन्तु नहीं आ सकता है।

तत्काल का नारकीय नरकलोक में उत्पन्न होने पर नरकपालों से पुनः-पुनः आक्रान्त होता हुआ शीघ्र ही मनुष्य लोक में आना चाहता है, परन्तु आ नहीं सकता।

तत्काल का उत्पन्न नारकीय कर्म-भोग किए बिना और निर्जरा किए बिना मनुष्यलोक में आना चाहता है, परन्तु नही आ सकता।

तत्काल का उत्पन्न नारकीय निरयायुष्य कर्म के क्षीण हुए बिना और उसका फल भोगे बिना तथा कर्म-निर्जरा के बिना मनुष्यलोक में आना चाहता है, परन्तु आ नहीं सकता।

इन चार कारणों से तात्कालिक उत्पन्न नारकीय नरक लोक में से मनुष्य लोक को आना चाहता है, पर आ नहीं सकता।

विवेचनिका—जीवों का जीवन साधन और आश्रयरूप बादर तृण वनस्पति काय है, उसकी अनावश्यक हिंसा करना जैसे कि जंगल को आग लगाना या जंगल को काटकर उजाडना महाकर्मादान अर्थात् महारभ है। महारम्भी मनुष्य और तिर्यंच निरयगति को प्राप्त होते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में नैरयिकों का वर्णन किया गया है।

जो स्थान शुभ पुद्गलों से रहित है अथवा जिस स्थान मे जीवो के शुभ कर्मों का उदय नहीं होता, उसे निरय कहा जाता है—वृत्तिकार भी लिखते हैं "**निर्गतमयं शुभमस्मादिति निरयो-नरकस्तत्रभवो नैरयिकः**" निरयस्थान में उत्पन्न होने वाला जीव नैरयिक कहलाता है। सूत्र मे आए हुए **नेरइयलोगंसि** पद का अभिप्राय है कि जैसे मर्त्यलोक में मनुष्य रहते हैं, वैसे ही नारकियों का निवास-स्थान निरयलोक है। वह लोक केवल अशुभ एवं दुःखरूप

है, उस नरक से प्रत्येक नारकी निकलना चाहता है और मनुष्यलोक में आना चाहता है, परन्तु चार कारणों से वह आ नहीं सकता है। वे कारण इस प्रकार कहे गए हैं, जैसे कि—

१. अत्यन्त वेदना के उत्पन्न हो जाने पर।

२. नरकपालो के द्वारा बलात् रोकने पर।

३. नरक में वेदने योग्य कर्मों के क्षय न होने से पहले।

४. नरकायु पूर्ण न होने से पहले।

इन चार कारणों से नैरयिक मनुष्यलोक में आना चाहता है, किन्तु वह आ नहीं सकता।

सूत्र में आए हुए "**समुब्भूयं**" पद के तीन संस्कृतरूप बनते हैं और तीनों पदों के अर्थ भी अलग-अलग हैं, जैसे कि—**सुमहद्भूताम्**—आकाश की तरह महावेदना, **सम्मुखभूताम्**—अतिप्रबलता से सामने आई हुई वेदना, **समुद्भूताम्**—एक साथ उत्पन्न वेदना। नारकियों का जन्म-काल, जीवन-काल और मरण-काल तीनों काल महावेदना से आक्रान्त होते हैं। **णिरय वेइयंसि कम्मंसि**—इस पद का आशय है—नरक में भोगने योग्य कर्म-प्रकृति का क्षय हुए बिना कोई भी आत्मा नरक से निकलकर मनुष्यलोक मे नहीं आ सकती। **णिरयाउअंसि कम्मंसि**—इस पद का अभिप्राय है—कोई भी नारकी अपनी आयु पूर्ण किए बिना मनुष्यलोक में नहीं आ सकता। **अणिज्जिन्नंसि**—इस पद का सारांश है जब तक अशुभ कर्म आत्म-प्रदेशों से अलग नहीं हो जाते तब तक आत्मा दु:खों का अनुभव करती ही रहती है। जिन अशुभ कर्मों का फल नरक गति के अतिरिक्त अन्य किसी गति में भोगना अशक्य है, उन्हें नरक में ही भोगा जा सकता है, क्योंकि वहां पर अशुभ कर्मों का उदय और वेदना दोनों की पराकाष्ठा होती है। असीम दु:ख की अनुभूति केवल नरक में ही होती है, अत: नरक-वेदना प्रदान करने वाले दुर्व्यसनों से बचना चाहिए, सयम और तप के द्वारा उन्हें यहीं समाप्त कर देना चाहिए, अन्यथा नरक मे पश्चात्ताप ही करना पडेगा।

भिक्षुणी-संघाटी

मूल—कप्पंति णिग्गंथीणं चत्तारि संघाडीओ धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तं जहा—एगं दुहत्थवित्थारं, दो तिहत्थवित्थारा, एगं चउहत्थवित्थारं ॥१२॥

छाया—कल्पन्ते निर्ग्रन्थीनां चतस्त्र: संघाट्य: धारयितुं वा परिधातुं वा, तद्यथा—एका द्विहस्तविस्तारा, द्वे त्रिहस्तविस्तारे, एका चतुर्हस्तविस्तारा।

शब्दार्थ—णिग्गंथीणं—निर्ग्रन्थियों—भिक्षुणियों के लिए, **चत्तारि संघाडीओ**—चार उत्तरीयों अर्थात् चादरों का, **धारित्तए**—रखना, **वा**—या, **परिहरित्तए वा**—पहनना, **कप्पंति**—विहित है, **तं जहा**—जैसे, **एगं**—एक, **दुहत्थवित्थारं**—दो हस्त विस्तार वाली, **दो**—दो,

तिहत्थवित्थारा—तीन हस्त विस्तार की, **एगं**—एक, **चउहत्थवित्थारं**—चार हाथ विस्तार वाली।

मूलार्थ—निर्ग्रन्थियों—भिक्षुणियों के लिए चार संघाटियां-पछेवड़ियां अथवा चादरें रखना या पहनना उचित है, जैसे कि—एक दो हाथ विस्तार वाली, दो तीन-तीन हाथ विस्तार वाली और एक चार हाथ विस्तार वाली।

विवेचनिका—असंयम-मूलक परिग्रह के कारण ही जीव दुर्गतियों में भ्रमण करता है, किन्तु इसके विपरीत जो साधक परिग्रह-रहित है वह शुभ गति अर्थात् स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करता है। परिग्रह का त्याग किए बिना कोई भी पुरुष साधु और कोई भी स्त्री साध्वी नहीं बन सकती। मर्यादित धर्मोपकरणों के बिना सब कुछ परिग्रह है, अथवा जिस उपकरण को रखने के लिए भगवान ने निषेध नहीं किया, बल्कि रखने के लिए विधान किया है वह परिग्रह नहीं माना जाता। यह है व्यावहारिक दृष्टि, निश्चय में तो शरीर एवं कर्म भी परिग्रह ही हैं। इस सूत्र में व्यवहार नय से जिसको निष्परिग्रही कहते हैं उसका उल्लेख किया गया है।

हिरण्य-सुवर्ण आदि बाह्य परिग्रह से तथा मिथ्यात्वादि आभ्यन्तर परिग्रहों से जो स्त्री मुक्त हो गई है, उसे निर्ग्रन्थी कहते हैं, अथवा जो कर्मबन्ध के कारणों से मुक्त हो चुकी है, उसे निर्ग्रन्थी कहा जाता है। वृत्तिकार भी लिखते हैं, **''निर्गता ग्रन्थाद् बन्धहेतोः हिरण्यादेर्मिथ्यात्वादेश्चेति निर्ग्रन्थ्यः''**। यहां ग्रन्थ शब्द परिग्रह के अर्थ में ग्रहण किया गया है। वह परिग्रह आन्तरिक हो या बाह्य दोनों रूपों में कर्म-बन्ध का कारण है। संघाटी चादर के अर्थ में रूढ़ है। निर्ग्रन्थी को चार तरह की चादरें रखनी और पहननी विहित हैं।

एक चादर दो हाथ चौडी, दो चादरें तीन-तीन हाथ चौडी और एक चादर चार हाथ चौड़ी। दो हाथ की चादर उपाश्रय मे ही पहनी जाती है, दूसरी भिक्षा के समय पहनी जाती है, तीसरी मैदान मे दिशा-पंचमी जाते समय पहनी जाती है, चौथी चादर का उपयोग साधुओं के उपाश्रय में प्रवचन आदि सुनने के समय किया जाता है। यह विषय निम्नलिखित गाथा से और भी स्पष्ट हो जाता है—

''संघाडीओ चउरो तत्थ दुहत्था उवस्सयंमि।
दुन्नि तिहत्थायामा भिक्खट्ठा एग एग उच्चारे।
ओसरणे चउहत्था निसन्न-पच्छायणी मसिणा।''

उक्त सूत्र में इन्द्रिय-गुप्ति और शरीर-गुप्ति का विधि-विधान प्रस्तुत किया गया है। धर्म की रक्षा तभी हो सकती है जबकि पहले व्यवहार-शुद्धि का पालन किया जाए और नारी के लिए व्यवहार-शुद्धि शरीर-गोपन में ही निहित है।

सूत्रकार ने **''धारित्तए''** और **''परिहरित्तए''** ये दो पद दिए हैं, इनका स्पष्टीकरण करते हुए वृत्तिकार कहते हैं—**''धारयितुं वा परिग्रहे, परिहर्त्तुं वा परिभोक्तुमिति''** जिस

वस्त्र को पहना गया है उसकी व्यवस्था के लिए '**परिहरित्तए**' कहा गया है और जो वस्त्र पास रक्खा हुआ है और जिसे समय-विशेष में धारण किया जाना है उसके लिए धारित्तए कहा गया है। इस प्रकार सूत्रकार ने साध्वियों के लिए पहनने योग्य एवं धारण करने योग्य दोनों प्रकार के वस्त्रों की मर्यादा का संकेत किया है।

"**दुहत्थवित्थारं**" इस प्रयोग में प्रथमा के अर्थ में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है, जो प्राकृत भाषा की सामान्य प्रवृत्ति है।

"**कप्पंति**" यह जैन संस्कृति का विशेष पारिभाषिक शब्द है, जिसका अभिप्राय है—धार्मिक मर्यादा के अनुरूप अथवा उचित।

ध्यान-विश्लेषण

मूल—चत्तारि झाणा पण्णत्ता, तं जहा—अट्टे झाणे, रोद्दे झाणे, धम्मे झाणे, सुक्के झाणे। अट्टे झाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—अमणुन्न-संपओगसंपउत्ते, तस्स विप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ।

मणुन्नसंपओगसंपउत्ते, तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ।

आयंकसंपओगसंपउत्ते, तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ।

परिजुसियकामभोगसंपओगसंपउत्ते, तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ।

अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा—कंदणया, सोयणया, तिप्पणया, परिदेवणया।

रोद्दे झाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—हिंसाणुबंधी, मोसाणुबंधी, तेणाणुबंधी, सारक्खणाणुबंधी।

रुद्दस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा—ओसण्णदोसे, बहुदोसे, अन्नाणदोसे, आमरणंतदोसे।

धम्मे झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते, तं जहा—आणाविजए, अवायविजए, विवागविजए, संठाणविजए।

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा—आणारुई, णिसग्गरुई, सुत्तरुई, ओगाढरुई।

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता, तं जहा—वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा।

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—एगाणुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा।

सुक्के झाणे चउव्विहे चउप्पडोआरे पण्णत्ते, तं जहा—पुहुत्तवियक्के सवियारी, एगत्तवियक्के अवियारी, सुहुमकिरिए अणियट्टी, समुच्छिन्नकिरिए अप्पडिवाई।

सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा—अव्वहे, असम्मोहे, विवेगे, विउस्सग्गे।

सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता, तं जहा—खंती, मुत्ती, मद्दवे, अज्जवे।

सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता, तं जहा—अणंतवत्तियाणुप्पेहा, विप्परिणामाणुप्पेहा, असुभाणुप्पेहा, अवायाणुप्पेहा ॥ १३ ॥

छाया—चत्वारि ध्यानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आर्त्तं ध्यानं, रौद्रं ध्यानं, धर्म्यं ध्यानं, शुक्लं ध्यानम्। आर्त्तं ध्यानं चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—अमनोज्ञसम्प्रयोगसम्प्रयुक्तः, तस्य विप्रयोगस्मृतिसमन्वागतञ्चापि भवति।

मनोज्ञसम्प्रयोगसम्प्रयुक्तः, तस्य अविप्रयोगस्मृतिसमन्वागतञ्चापि भवति।

आतंकसम्प्रयोगसम्प्रयुक्तः, तस्य विप्रयोगस्मृतिसमन्वागतञ्चापि भवति।

परिजुष्टकामभोगसम्प्रयोगसम्प्रयुक्तं तस्य अविप्रयोगस्मृतिसमन्वागतञ्चापि भवति।

आर्त्तस्य ध्यानस्य चत्वारि लक्षणानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—क्रन्दनता, शोचनता, तेपनता, परिदेवनता।

रौद्रं ध्यानं चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—हिंसाऽनुबन्धि, मृषानुबन्धि, स्तेनाऽनुबन्धि, संरक्षणाऽनुबन्धि।

रौद्रस्य ध्यानस्य चत्वारि लक्षणानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—अवसन्नदोषं, बहुदोषं, अज्ञानदोषं, आमरणांतदोषम्।

धर्म्यं ध्यानं चतुर्विधं चतुष्प्रत्यावतारं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आज्ञाविचयं, अपायविचयं, विपाकविचयं, संस्थानविचयम्।

धर्म्यस्य खलु ध्यानस्य चत्वारि लक्षणानि, प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आज्ञारुचिः, निसर्गरुचिः, सूत्ररुचिः, अवगाढरुचिः।

धर्म्यस्य ध्यानस्य चत्वारि आलम्बनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—वाचना, परिपृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा।

धर्म्यस्य ध्यानस्य चतस्त्रोऽनुप्रेक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एकानुप्रेक्षा, अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, संसारानुप्रेक्षा।

शुक्लं ध्यानं चतुर्विधं, चतुष्पदावतारं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—पृथक्त्ववितर्कसविचारि, एकत्ववितर्कऽविचारि, सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्ति, समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाति।

शुक्लस्य ध्यानस्य चत्वारि लक्षणानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—अव्यथम्, असम्मोहं, विवेकः, व्युत्सर्गः।

शुक्लस्य ध्यानस्य चत्वारि आलम्बनानि, प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—क्षान्तिः, मुक्तिः, मार्द्दवम्, आर्जवम्।

शुक्लस्य ध्यानस्य चतस्त्रोऽनुप्रेक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अनन्तवर्त्तितानुप्रेक्षा, विपरिणामानुप्रेक्षा, अशुभानुप्रेक्षा, अपायानुप्रेक्षा।

शब्दार्थ—चत्तारि झाणा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के ध्यान कथन किए गए हैं, जैसे, **अट्टे झाणे**—आर्त्तध्यान, **रोद्दे झाणे**—रौद्रध्यान—हिंसा और क्रोधादि युक्त ध्यान, **धम्मे झाणे**—धर्म्य ध्यान, **सुक्के झाणे**—शुक्ल ध्यान—कर्मों से आत्म-शुद्धि करने वाला ध्यान।

अट्टे झाणे—आर्त्त ध्यान, **चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा**—चार प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे, **अमणुन्नसंपओगसंपउत्ते**—अप्रिय पदार्थ का सम्बन्ध होने पर, **तस्स**—उसका, **अविप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ**—विप्रयोग स्मृति युक्त होने पर आर्त्तध्यान होता है, **मणुन्नसंपओगसंपउत्ते**—प्रिय पदार्थ का सम्बन्ध होने पर, **तस्स**—उसका, **विप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ**—अविप्रयोग स्मृति होने पर आर्त्तध्यान होता है, **आयंकसंपओगसंपउत्ते**—आतंक रोग से युक्त होने पर, **तस्स**—उसका, **विप्पओगसति-समण्णागए यावि भवइ**—विप्रयोग-स्मृति-युक्त होने पर आर्त्तध्यान होता है, **परिजुसिय-कामभोगसंपओगसंपउत्ते**—भोगे हुए काम-भोगों से युक्त होने पर, **तस्स**—उसका, **अविप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ**—अविप्रयोग-स्मृति-युक्त होने पर आर्त्तध्यान होता है।

अट्टस्स णं झाणस्स—आर्त्तध्यान के, **चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा**—चार लक्षण कहे गए हैं, जैसे कि, **कंदणया**—रोना, **सोयणया**—शोक करना, **तिप्पणया**—आंसू बहाना और, **परिदेवणया**—विलाप करना।

रोद्दे झाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—रौद्रध्यान चार प्रकार का कहा गया है, जैसे कि, **हिंसाणुबंधी**—हिंसा में प्रवृत्ति, **मोसाणुबंधी**—असत्य भाषण में प्रवृत्ति, **तेणाणुबंधी**—चौर्य में प्रवृत्ति, **सारक्खणाणुबंधी**—सभी उपायों से विषय-साधनभूत धन में प्रवृत्ति।

रुद्दस्स णं झाणस्स—रौद्र ध्यान के, **चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा**— चार लक्षण कहे गए हैं, जैसे, **ओसण्णदोसे**—हिंसादि में अन्यतम रूप से प्रवृत्तियों का प्राचुर्य,

बहुदोसे—हिंसादि में प्रवृत्तियों का प्राचुर्य, **अन्नाणदोसे**—अज्ञानमूलक प्रवृत्ति, **आमरणंत-दोसे**—किए हुए पापों का मरण-पर्यन्त पश्चात्ताप न करना।

धम्मे झाणे—धर्म्यध्यान, **चउव्विहे**—चार प्रकार के, **चउप्पडोयारे**—चार प्रत्यवतार, **पण्णत्ते, तं जहा**—कहे गए हैं, जैसे, **आणाविजए**—प्रवचन द्वारा पदार्थों का स्वरूप जानना, **अवायविजए**—रागादि से उत्पन्न कष्टादि का विचारना, **विवागविजए**—कर्मों के शुभाशुभ फल पर विचार करना, **संठाणविजए**—लोक के आकार का या भगवान के आकार का चिन्तन करना।

धम्मस्स णं झाणस्स—धर्म्यध्यान के, **चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा**—चार लक्षण कहे गए हैं, जैसे कि, **आणारुई**—भगवान की आज्ञा पर रुचि रखना, **णिसग्गरुई**—स्वाभाविक रुचि, **सुत्तरुई**—सूत्र-रुचि, **ओगाढरुई**—द्वादशांगी आगम मे अवगाहन करने की रुचि।

धम्मस्स णं झाणस्स—धर्म ध्यान के, **चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता, तं जहा**—चार आलम्बन कहे गए है, जैसे कि, **वायणा**—वाचना, **पडिपुच्छणा**—परिप्रश्न करना, **परियट्टणा**—अनुवृत्ति करना और, **अणुप्पेहा**—अनुप्रेक्षा करना।

धम्मस्स णं झाणस्स—धर्म-ध्यान की, **चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा**—चार अनुप्रेक्षाए कही गई हैं, जैसे, **एगाणुप्पेहा**—एकत्व-भावना, **अणिच्चाणुप्पेहा**—अनित्य-भावना, **असरणाणुप्पेहा**—अशरण-भावना और, **संसाराणुप्पेहा**—संसार-भावना।

सुक्के झाणे चउव्विहे चउप्पडोआरे पण्णत्ते, तं जहा—शुक्लध्यान के चार प्रत्यवतार कथन किए गए हैं जैसे, **पुहुत्तवियक्के सवियारी**—एक द्रव्याश्रित गुण-पर्यायों पर पृथक् रूप में विचार करना, **एगत्तवियक्के अवियारी**—द्रव्याश्रित किसी एक गुण या पर्याय में अवस्थित रहना, उससे पृथक् रूप में विचार न करना, **सुहुमकिरिए**—सूक्ष्म क्रिया से, **अणियट्टी**—अनिवृत्ति, केवली हो जाना, **समुच्छिन्नकिरिए**—क्रिया का छेदन कर, **अप्पडिवाई**—उससे न गिरने वाला, निर्वाण गमन करना। **सुक्कस्स णं झाणस्स**—शुक्लध्यान के, **चत्तारि लक्खणा**—चार लक्षण, **पण्णत्ता, तं जहा**—प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे, **अव्वहे**—अ-पीडित, **असम्मोहे**—मोह-रहित, **विवेगे**—विवेक-युक्त और, **विउस्सग्गे**—शरीर की ममता का त्याग।

सुक्कस्स णं झाणस्स—शुक्लध्यान के, **चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता, तं जहा**—चार आलम्बन प्रतिपादित किए गए है, जैसे, **खंती**—क्षमा, **मुत्ती**—निःस्पृहता, **मद्दवे**—मृदुता, **अज्जवे**—सरलता।

सुक्कस्स णं झाणस्स—शुक्लध्यान की, **चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ, तं, जहा**— चार अनुप्रेक्षाएं प्रतिपादित की गई हैं, जैसे, **अणंतवत्तियाणुप्पेहा**—आत्मा अनन्त बार संसार-चक्र में जन्म-मरण कर चुका है, इस पर विचार करना, **विप्परिणामाणुप्पेहा**—

संसार के विपरिणमन अर्थात् अनित्यत्व की अनुप्रेक्षा, **असुभाणुप्पेहा**—अशुभ से अशुभ और शुभ से शुभ की अनुप्रेक्षा और, **अवायाणुप्पेहा**—कष्टों के मूल कारण क्रोध आदि कषायों की अनुप्रेक्षा करना।

मूलार्थ—चार प्रकार के ध्यान प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान—इनमें से आदि के दो ध्यान परित्याज्य हैं और शेष दो ध्यान उपादेय हैं।

आर्त्तध्यान चार प्रकार का है, जैसे—१. अप्रिय पदार्थ के साथ सम्बन्ध हो जाने पर विप्रयोग-स्मृति-युक्त आर्त्तध्यान। २. प्रिय पदार्थ से सम्बन्ध हो जाने पर उसका विप्रयोग- स्मृति-युक्त आर्त्त-ध्यान। ३. आतंक (रोगादि) से युक्त होने पर उसका विप्रयोग-स्मृति- युक्त आर्त्तध्यान। ४. भोगे हुए काम-भोगों से युक्त होने पर उनका अविप्रयोग-स्मृति-पूर्वक-आर्त्तध्यान। आर्त्तध्यान के चार लक्षण हैं, जैसे—१. रोना, २. सोचना, ३. आंसू बहाना और ४. विलाप करना।

रौद्र ध्यान चार प्रकार से वर्णन किया गया है, जैसे—१. हिंसा में प्रवृत्ति, २. असत्य भाषण में प्रवृत्ति, ३. चौर्य में प्रवृत्ति और ४. सभी प्रकार से विषय-साधनभूत धन में प्रवृत्ति।

रौद्र ध्यान के चार लक्षण कहे गए हैं, जैसे—१. हिंसा आदि में अन्यतम रूप से प्रवृत्तियों का प्राचुर्य। २. हिंसादि में निखिल रूप से प्रवृत्तियों का प्राचुर्य। ३. हिंसादि दोषों में धार्मिक बुद्धि की प्रवृत्तियों का प्राचुर्य। ४. मरण-पर्यन्त किए हुए पापों का प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप न होना।

धर्म-ध्यान मूल चार भेदों में और उत्तर सोलह भेदों में रहने वाला प्रतिपादन किया गया है, जैसे—१. प्रवचन द्वारा पदार्थों का स्वरूप जानना, २. रागादि से सम्पन्न कष्टादि पर विचार करना, ३. कर्मों के शुभाशुभ फल पर विचार करना और ४. लोक के विभिन्न आकारों पर विचार करना।

धर्मध्यान के चार लक्षण प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे १. भगवान की आज्ञा पर रुचि रखना, २. स्वाभाविक धर्म-रुचि, ३. सूत्र-रुचि और ४. द्वादशांग रूप आगमों में अवगाहन करने की रुचि।

धर्मध्यान के चार आलम्बन प्रतिपादन किए गए हैं जैसे—१. वाचना, २. परिप्रश्न करना, ३. अनुवृत्ति करना और ४. अनुप्रेक्षा करना। धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं कही गई हैं, जैसे—१. एकत्वानुप्रेक्षा—एकत्व-भावना, २. अनित्य-भावना, ३. अशरण-भावना और ४. संसार-भावना।

शुक्लध्यान चार प्रकार से और चारों विशेष सूत्रों में प्रतिपादन किया गया है, जैसे—१. एक द्रव्याश्रित गुण-पर्यायों पर पृथक् रूप में विचार करना। २. जो एक द्रव्याश्रित गुण-पर्याय द्रव्य में और भेद रूप में अवस्थित हैं, उनसे पृथक् अन्य किसी का विचार न करना। ३. सूक्ष्म क्रिया से अनिवृत्ति अर्थात् केवली हो जाना। ४. क्रिया को छेदन करके निर्वाण प्राप्त करना।

शुक्ल-ध्यान के चार लक्षण कहे गए हैं, जैसे—१. अपीड़ित, २. अमोह, ३. विवेकयुक्त और ४. शरीर की ममता का त्याग।

शुक्ल ध्यान के चार अवलम्बन कहे गए हैं, जैसे—१. क्षमा, २. निस्पृहता, ३. मृदुता और ४. सरलता।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं हैं, जैसे—१. जन्म-मरण के सम्बन्ध में अनन्तकालीन अनुप्रेक्षा करना। २. संसार के विपरिणाम अर्थात् अनित्यत्व की अनुप्रेक्षा। अशुभ से अशुभ और शुभ से शुभ की अनुप्रेक्षा और ४. कष्टों के मूल कारण क्रोधादि कषायों से होने वाले अनर्थों की अनुप्रेक्षा करना।

विवेचनिका—नैरयिक आदि दुर्गतियों का मूलकारक अशुद्ध ध्यान है और मोक्ष का मूल कारण शुद्ध ध्यान है। संघाटी आदि बाह्य उपकरण भी दुर्ध्यान और सुध्यान में निमित्त कारण हैं, अतः अब सूत्रकार 'ध्यान' का विशद विश्लेषण करते हैं। चित्त की स्थिरता एव एकाग्रता ही ध्यान है, अथवा चित्त को किसी एक लक्ष्य पर एकाग्र करना ही ध्यान है। यह भी कहा जा सकता है कि विचारधारा को अनेक विषयगामिनी बनने से रोक कर, एक विषयगामिनी बना देना ही ध्यान है। ध्यान की यह पद्धति छद्मस्थ में ही सम्भव है। ध्यान की एकतानता पहले गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यन्त रहती है और दो क्षणों से लेकर अन्तर्मुहूर्त तक किसी एक विषय में वह निरन्तर रह सकती है। एक ध्येय से हटकर सजातीय दूसरे ध्येय में ध्यान का संक्रमण होने पर ध्यान-प्रवाह चिरकाल तक भी चल सकता है, किन्तु एक ध्येय पर अधिक से अधिक चित्त की एकाग्रता अन्तर्मुहूर्त तक ही हो सकती है। जिन भगवान् के द्वारा योगों का निरोध करना ही ध्यान कहा जाता है। कहा भी है—

अंतोमुहुत्तमेत्तं चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि ।
छउमत्थाणं झाणं जोग निरोह जिणाणं तु ॥

ध्यान के मूलभेद चार हैं जैसे कि—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इन में आदि के दो ध्यान कर्म-बन्ध एवं दुर्गति के कारण हैं और अन्तिम दो ध्यान मोक्ष के साधक हैं। प्राणी अधिकतर आर्त्तध्यानी ही होते हैं। मनुष्य का जितना समय आर्त्तध्यान में व्यतीत होता है, उतना अन्य किसी ध्यान में नहीं, क्योंकि दुःखों से छुटकारा पाने की

सहज अभिलाषा प्रत्येक प्राणी में है, इसलिए सूत्रकार सर्वप्रथम आर्त्तध्यान का विवरण प्रस्तुत करते हैं।

१. आर्त्तध्यान का स्वरूप और लक्षण

आर्त्त का अर्थ है दुःख। दुःख के निमित्त से उत्पन्न चिन्ता अथवा दुःखजन्य ध्यान ही आर्त्तध्यान है। शारीरिक एवं मानसिक दुख से दुखित होकर प्राणी आर्त्तध्यानी बन जाता है। आर्त्तध्यान के मूल भेद चार ही हैं—जैसे अप्रिय वस्तु का संयोग, इष्ट वस्तु का वियोग, शारीरिक पीड़ा और भोग-लालसा।

(क) प्राणी अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति स्वप्न में भी नहीं चाहता, यदि अनिच्छा से प्राप्त हो जाए तो उस दुःख से व्याकुल हुआ प्राणी चिन्ता करता है कि यह अनिष्ट जड़ या चेतन मेरे पास से कब दूर होगा, इस तरह की चिन्ता करना 'अनिष्ट-संयोग-आर्त्तध्यान' है। अप्रिय काम-भोगों में अरुचि ही इसका मूल कारण है। इस ध्यान में अप्रिय—अनिष्ट वस्तु के प्रति द्वेष की प्रधानता रहती है।

(ख) पांचों इन्द्रियों के अनुकूल, इष्ट एवं प्रिय पदार्थों की प्राप्ति के लिए छटपटाना, उन पदार्थों के साधन रूप चल-अचल संपत्ति, अभीष्ट माता-पिता, भाई-बन्धु, मित्र, स्त्री, पुत्र-पुत्री, दास-दासी आदि के प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा, भौतिक सुखों का संयोग सदा बने रहने के लिए सोचना और उनके वियोग-जन्य दुख से भविष्य में भी दुखी न होने की चिंता करना, आर्त्तध्यान का दूसरा रूप है। इसमें राग की मुख्यता रहती है।

(ग) अपने तथा अपने प्रिय व्यक्ति के शरीर में सोलह महारोगों में से किसी एक रोग के उत्पन्न हो जाने पर, अस्त्र-शस्त्र से घायल हो जाने पर, असह्य वेदना से चित्त के व्याकुल हो जाने पर और किसी भी व्यथा से व्यथित होने पर, मोहासक्त जीव खिन्न होकर जो भी चिन्ता करता है वह आर्त्तध्यान का तीसरा रूप है। इसमें मोह की मुख्यता रहती है।

(घ) इस लोक में एवं परलोक में वासना-जन्य क्षणिक सुखों की कामना करना, भोगों की लालसा करना, संयम-तप-ब्रह्मचर्य आदि शुभ क्रियाओं के बदले में नाशवान पौद्गलिक सुखों को प्राप्त करने के लिए निदान करना आर्त्तध्यान का चौथा प्रकार है। इस में अज्ञान की प्रधानता रहती है, क्योंकि अज्ञानियों के अतिरिक्त अन्य कोई मतिमान अविनाशी सुखों को छोड़कर क्षणभंगुर सुखों के पीछे नहीं भागता। इस प्रकार आर्त्तध्यान में राग-द्वेष, मोह और अज्ञान की मुख्यता रहती है, इसीलिए इस ध्यान को जीवन के लिए श्रेयस्कारी नहीं माना गया है।

आर्त्तध्यान के चार लक्षण वर्णन किए गए हैं। जिस व्यक्ति में ये चार लक्षण दिखाई दें उसे आर्त्तध्यानी समझना चाहिए।

मन में आर्त्तध्यान रूप चिन्ता के जागृत होते ही निम्नलिखित चार चेष्टाएं ही आर्त्तध्यान के लक्षण हैं, इन्हीं से इस ध्यान की पहचान होती है।

आक्रन्दन—ऊंचे स्वर से रोना, **शोचनता**—शोक मग्न होना, **तेपनता**—चुपचाप आंसू टपकाना और **परिदेवनता**—स्वयं रोते हुए दूसरों को भी रुलाना।

गाथाकार ने आर्त्तध्यान उत्पन्न करने वाले निमित्तों और लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा है—

"तस्सक्कंदणसोयणपरिदेवणताडणाइं लिंगाइं।
इट्ठाणिट्ठवियोगावियोग-वियणा-निमित्ताइं॥"

अत्यन्त सुखावह काम-भोगों के मिलने पर उनसे वियोग न होने की कामना करते हुए उनकी प्राप्ति के उपायों का चिन्तन करना रूप जो आर्त्तध्यान है उसे ही 'निदान' भी कहा जाता है।

निंदइ निययकयाइं, पसंसइ सविम्हओ विभूईओ।
पत्थेइ तासु रज्जइ, तयज्जणपरायणो होइ॥

अर्थात् ऐसी अवस्था में साधक अपने किए हुए कर्मों की निन्दा करता है, दृश्यमान पदार्थों को सुखकारक मान कर उनकी प्रशंसा करता है, सांसारिक पदार्थों में आसक्त होता है और उनको प्राप्त करने के लिए यत्नशील भी होता है।

रौद्र ध्यान के निमित्त और लक्षण—

जिस व्यक्ति का चित्त क्रूर और कठोर होता है, जिस में क्रोध का प्राधान्य होता है, हिंसा, असत्य, चोरी एवं परिग्रह में जो लीन है उसका एकाग्र मन ही रौद्र ध्यान है। इस ध्यान में स्वार्थपूर्ति की वृत्ति और दूसरों के विनाश की भावना प्रबल रहती है। इसके भी चार रूप हैं—

(क) प्रथम रूप को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

"सत्तवहवेहबंधणडहणंकणमारणाइपणिहाणं।
अइकोहग्गहगत्थं णिग्घिणमणसोऽहमविवागं॥"

जीवों को वध-बन्धन आदि द्वारा पीड़ित करने की भावना करना, उनको दागना, हिंसा की प्रवृत्ति में सतत प्रयत्नशील रहना, उन्हें लाठी, चाबुक आदि से मारना, तीर, भाला, गोली आदि से बींधना, जंजीरों आदि से बांधना, अत्यन्त क्रोधावेश में आना, प्राणों का वध करना आदि कार्य बाह्य दृष्टि से न करता हुआ भी इन कार्यों के होने की कामना करते हुए जो ध्यान किया जाता है, ऐसे हिंसानुबंधी ध्यान को रौद्रध्यान कहा जाता है।

(ख) दूसरों को ठगने वाले मायावी, छिपकर पापाचरण करने वाले, पिशुन—चुगलखोर, झूठा कलंक चढ़ाने वाले, हिंसाकारी वचन बोलने वाले, असत्य भाषी, झूठी साक्षी देने वाले असत्य से सम्बन्धित जितने भी पाप हैं उनमें मन लगाकर यह सोचना कि "मैं किस प्रकार का झूठ बोलकर अपना स्वार्थ पूरा करूं और लोगों में निर्दोष भी कहलाऊं" इत्यादि रूपों वाला मृषानुबन्धी दूसरे प्रकार का रौद्र ध्यान कहलाता है।

जैसा कि शास्त्रकार कहते हैं—

"पिसुणासब्भासब्भूयभूयघायाइवयणपणिहाणं ।
मायाविणोऽतिसंधणपरस्स पच्छन्नपावस्स ॥"

(ग) तीसरे प्रकार के रौद्रध्यान को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

"तह तिव्वकोहलोहाउलस्स भूतोवघायणमणज्जं ।
परदव्वहरणचित्तं परलोगावायनिरवेक्खं ॥"

तीव्र क्रोध, द्वेष, लोभ आदि के वशीभूत होकर पर-द्रव्य हरण करने के लिए उपाय सोचना, चोरी के संकल्प से लेकर चोरी करने तक सब कुछ क्रिया-प्रक्रिया स्तेनानुबन्धी रौद्रध्यान है। किसी के अधिकार वाली वस्तु का अपहरण करना चोरी है, जो ध्यान चोरी से सम्बन्ध रखने वाला है उसी ध्यान को स्तेनानुबन्धी रौद्रध्यान कहा जाता है।

देवों के नाम पर जीवों की बलि चढ़ाना, शिकार खेलना, प्राणों को लूटना भी उक्त ध्यान में ही समाविष्ट हो जाता है।

(घ) चौथे प्रकार के रौद्र ध्यान का स्वरूप बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

"सद्दाइविसयसाहणं धणसंरक्खणपरायणमणिट्ठं ।
सव्वाभिसंकणपरोवघायकलुसाउलं चित्तं ॥"

इन्द्रियों की लालसाओं को पूर्ण करने के लिए भोग्य पदार्थों को जुटाना, उन्हें सुरक्षित रखने के लिए भोगों के प्रधान साधनरूप धन की रक्षा करना, परिग्रह में लीन रहना, नीति-अनीति, न्याय-अन्याय, गम्य-अगम्य की उपेक्षा करके धन संग्रह करने की चिन्ता करना, सभी को शंका की दृष्टि से देखना, जो-जो उस धन के भागीदार हैं उनसे द्वेष करना इत्यादि रूपों में किया गया ध्यान संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है। उपार्जित धन पर सदा शंकाशील बने रहना, अपने महत्त्व को सुरक्षित रखने के लिए अन्य की उन्नति में विघ्न उपस्थित करने की बात सोचना आदि भी इसी ध्यान के ही रूप हैं।

रौद्रध्यान की परख—

रौद्रध्यानी की परख चार तरह से की जाती है—

(क) जिस की प्रवृत्ति हिंसा आदि पांच आस्रवों में पाई जाती है अथवा जिसकी प्रवृत्ति दोषों के सेवन में लगी हुई है और जिसमें प्रायः द्वेष की सत्ता भी पाई जाती है, वह आसन्नदोष रौद्रध्यानी है। यह रौद्रध्यानी का पहला लक्षण है। यह लक्षण प्रायः देशव्रती में भी पाया जाता है।

(ख) जिसकी प्रवृत्ति विविध हिंसा आदि पापों में लगी हुई हो, जिसमें अपेक्षाकृत अधिक दोष एवं अधिक द्वेष पाया जाए वह बहुलदोषी होता है और बहुलदोषता ही रौद्रध्यान का दूसरा लक्षण है। यह लक्षण प्रायः अविरति सम्यग्दृष्टि में भी यत्किंचित पाया जाता है।

(ग) हिंसासमर्थक कुशास्त्रों के संस्कारों से जिसकी प्रवृत्ति अज्ञानवश हिंसा आदि पापों में संलग्न है, मिथ्यात्व एवं अज्ञान के कारण से जो प्रवृत्ति होती है वह अज्ञान दोष माना जाता है, रौद्रध्यान का यह तीसरा लक्षण अज्ञानदोष प्रायः मिथ्यादृष्टि व्यक्ति में पाया जाता है। इस विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—"**अज्ञानात् कुशास्त्रसंस्कारात् हिंसादिषु अधर्मस्वरूपेषु नरकादिकारणेषु धर्मबुद्ध्याऽभ्युदयार्थं वा प्रवृत्तिस्तल्लक्षणो दोषोऽज्ञानदोषः अथवा उक्तलक्षणमज्ञानमेव दोषोऽज्ञानदोष इति**" किसी-किसी प्रति में अज्ञानदोष के स्थान में **नानाविध दोष** लिखा है, उसका भाव यह है कि हिंसा आदि उपायों में अनेक बार जिस की प्रवृत्ति हो रही है वह रौद्रध्यानी है।

(घ) जीवन भर जो हिंसा आदि दोष या द्वेष मन में लिए रहता है, किन्तु उसके लिए कभी भी पश्चात्ताप नहीं करता, उसमें प्रायः मरणान्तदोष रौद्रध्यान पाया जाता है। यह लक्षण उसमें पाया जाता है जिसके अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होता है। रौद्रध्यान करने वाले जीव पहले गुणस्थान से लेकर पांचवें गुणस्थानवर्ती हुआ करते हैं। रौद्रध्यान से जीव नरकगति का अतिथि बनता है। आर्त्तध्यान से तिर्यंचगति का बन्ध करता है अतः ये दोनों ध्यान हेय एवं परित्याज्य हैं।

धर्मध्यान के चार भेद—

धर्मध्यान यह साधना-पथ की ऊंचाइयों पर पहुंचाने वाला सोपान है। स्वरूप, लक्षण, आलंबन और अनुप्रेक्षा के माध्यम से धर्मध्यान का सुन्दर विश्लेषण किया गया है। इसीलिए सूत्रकार ने धर्मध्यान के लिए "**चउप्पडोयारं**" विशेषण दिया है जिसका अर्थ है—चतुष्पदावतार, अर्थात् स्वरूप आदि चार पदों द्वारा अवतरित होने वाला ध्यान[१]।

(क) **आज्ञाविचय-धर्मध्यान**—प्रमाणपूर्वक बोध कराने वाले प्रवचन को आज्ञा कहते हैं और अर्थों का निर्णय करना विचय कहलाता है। आज्ञा द्वारा पदार्थों के स्वरूप से परिचित होना और अरिहंत भगवान की आज्ञा को सत्य मानकर दृढ़ श्रद्धा से तत्त्वों के चिन्तन-मनन करने के लिए मनोयोग देना आज्ञा-विचय धर्मध्यान है।

(ख) **अपायविचय-धर्मध्यान**—संसार में जितने भी अनर्थ होते हैं उन सबका मूल कारण राग, द्वेष, कषाय, प्रमाद, आसक्ति एवं मिथ्यात्व है। इन रागद्वेषादि दोषों से छुटकारा पाने के लिए मनोयोग लगाना अपाय-विचय धर्मध्यान है।

(ग) **विपाकविचय धर्म-ध्यान**—निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा का स्वरूप विशुद्ध निर्मल सत्, चित् और आनन्द रूप है, किन्तु कर्मों के कारण आत्मा के वे गुण दब जाते हैं। कर्म-फल का अवसर आने पर उसके विषय में शास्त्र-निर्दिष्ट सिद्धान्तों के अनुरूप

१ वृत्तिकार लिखते हैं—अथ धर्म्यं चतुर्विधमिति, स्वरूपेण चतुर्षु पदेषु स्वरूपलक्षणालम्बनानुप्रेक्षालक्षणेष्ववतारो विचारणीयत्वेन यस्य तच्चतुष्पदावतार चतुर्विधस्यैव पर्यायो वाऽयमिति, क्वचित चउप्पडोयारमिति पाठस्तत्र चतुर्षु पदेषु प्रत्यवतारो यस्येति विग्रह इति।"

चिन्तन करना, कर्म-सिद्धान्त में उपयोग लगाना एवं जिस समय, जिस रूप में विपाकोदय हो रहा हो उसके मूल कारण की अन्वेषणा करना विपाक-विचय धर्मध्यान है।

(घ) **संस्थान-विचय धर्मध्यान**—लोक, द्वीप, समुद्र, द्रव्य, गुण, पर्याय, जीव आदि सभी पदार्थ किसी न किसी संस्थान अर्थात् आकार को लिए हुए हैं। संस्थान रहित अर्थात् निराकार कुछ भी नहीं है, लोक के अन्तर्वर्ती सभी पदार्थ संस्थान वाले हैं, उनका चिन्तन करना अथवा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ इनमें से किसी एक में मनोयोग देना संस्थान-विचय धर्मध्यान है।

धर्मध्यान के चार लक्षण—

जिस आत्मा में धर्मध्यान का अवतरण हो जाता है, उसमें स्वाभाविक रूप से चार प्रकार की रुचि उत्पन्न होती है, उसी रुचि से मालूम हो जाता है कि साधक के मन में धर्म-ध्यान अंकुरित हो गया है। वे लक्षण इस प्रकार हैं—

१. आज्ञा-रुचि—सूत्रों की व्याख्या को आज्ञा कहते हैं अथवा आप्तवचन ही आज्ञा है। अरिहन्त भगवान् ही सर्वोत्कृष्ट आप्त हैं, उनके वचन अर्थात् शास्त्र ही आज्ञा है। इस आज्ञा के अनुकूल जीवन-यापन करने वाले सन्तजन भी आप्त हैं, अतः उनके वचन भी साधक के लिए आज्ञा है, उस आज्ञा में रुचि का जागृत होना ही धर्मध्यान का प्रथम लक्षण है।

२. निसर्गरुचि—बिना ही किसी उपदेश के स्वभावतः ही जाति-स्मरण के रूप में देव अरिहंत, गुरु निर्ग्रन्थ, अहिंसा, संयम, तप आदि केवलिभाषित धर्म में रुचि का होना ही निसर्गरुचि है। यह रुचि चारों गति के जीवों में उत्पन्न हो सकती है।

३. सूत्र-रुचि—सूत्रों के अध्ययन व सुनने में प्रगाढ़ रुचि का होना ही सूत्र-रुचि है। सूत्रों में भगवान के द्वारा व्यक्त किए गए भाव संग्रहीत हैं, अतः भगवान की वाणी का सम्मान करना भगवान का ही सम्मान है। सूत्र आध्यात्मिक शास्त्र हैं, उन में आत्मोत्थान के विशिष्ट साधन हैं, उनके अध्ययन करने की रुचि उसी में हो सकती है, जिसमें धर्मध्यान प्रारम्भ हो गया हो, क्योंकि धर्मध्यानी में सूत्ररुचि का होना अवश्यंभावी है।

४. अवगाढ़रुचि—द्वादशांग गणिपिटक का विस्तारपूर्वक ज्ञान प्राप्त करके जो श्रद्धा जागृत होती है अथवा निर्ग्रन्थ मुनिराजों के समीप धर्मोपदेश सुनने से जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह अवगाढ़रुचि कहलाती है। जिनेश्वर देव एवं साधुजनों के गुणों का कथन करना, उनकी भक्ति करना, स्तुति एवं विनय करना, जिनवाणी, शील एवं संयम में अनुराग रखना, सुपात्र दान देना, सहधर्मियों की सेवा करना ये सब धर्मध्यान के ही लक्षण हैं।

धर्मध्यान के चार आलम्बन—

धर्मध्यान रूपी सौध पर आरोहण करने के लिए भगवान ने चार आलम्बन कथन किए हैं। वे चार आलम्बन हैं—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा।

१. विनय, संवर और निर्जरा पूर्वक सूत्रों का पठन-पाठन करना वाचना है।

२. शंका होने पर गुरुओं से पूछना एवं मन को समाहित करना पृच्छना है।

३. अध्ययन किए हुए शास्त्रों की पुनरावृत्ति करते रहना परिवर्तना है।

४. सूत्र में वर्णित भावों का विशेष चिंतन-मनन करना, अनुसंधानपूर्वक अध्ययन करना, भूले हुए सूत्र एवं अर्थों पर पुनः-पुनः उपयोग लगाकर उन्हें स्मरण में लाना अनुप्रेक्षा है। इन चार आलंबनों से धर्मध्यान में अनायास ही प्रगति होने लगती है।

धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाएं—

अनुप्रेक्षा की प्रमुखरूप से दो धाराएं हैं—प्रथम धारा शास्त्रों के अध्ययन-मनन-चिन्तन की प्रवृत्ति को जागृत करती है और दूसरी धारा जगत और कार्य के स्वभाव एवं अनित्यता का ज्ञान कराकर वैराग्य की भावना को जगाती है। इनमें से पहली अनुप्रेक्षा ज्ञान का परिपक्वांश एवं विज्ञानरूप है और दूसरी अनुप्रेक्षा संयम और तप में दृढ़ता लाने वाली वैराग्य की जननी है। धर्मध्यान की परिपक्व अवस्था ही अनुप्रेक्षा है। कहा भी है—"**अनु इति ध्यानस्य पश्चात् प्रेक्षणानि पर्यालोचनान्यनुप्रेक्षा**" अर्थात् ध्यान के पश्चात् ध्यानगम्य विषय का पर्यालोचन ही अनुप्रेक्षा है।

१. एकत्वानुप्रेक्षा—

एकत्व भावना से भावित होना एकत्व अनुप्रेक्षा है, जैसे कि—

"एकोऽहं न च मे कश्चिद् नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
न तं पश्यामि यस्याहं नासौ भावीति यो मम ॥"

अर्थात् मैं एक हूं, न कोई मेरा है और न मैं किसी का हूं, जिसका मैं हूं या जो मेरा है तीनों लोकों में भी मुझे ऐसा कोई व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होता, मैं अकेला ही आया हूं और अकेला ही जाऊंगा। इस प्रकार की भावना को एकत्व अनुप्रेक्षा कहा जाता है।

२. अनित्यानुप्रेक्षा—

सांसारिक विषयों की अनित्यता के सम्बन्ध में चिन्तनशील महापुरुषों ने कहा है—

"कायः सन्निहितापायः, सम्पदः पदमापदाम् ।
समागमाः सापगमाः, सर्वमेतद्धि भंगुरम् ॥"

जो भी उत्पन्न होने वाले हैं वे सब अनित्य हैं जैसे कि शरीर अनेक विघ्न-बाधाओं का तथा रोग-शोक का भाजन है, संपत्ति को विपत्ति ने घेरा हुआ है, इष्ट संयोग के पीछे वियोग लगा हुआ है, अतः उत्पन्न होने वाला प्रत्येक पदार्थ क्षणभंगुर है, द्रव्य और गुण की कोई भी पर्याय नित्य नहीं है। इस प्रकार के चिन्तन-मनन को या भावना को अनित्यानुप्रेक्षा कहा जाता है।

टिप्पणी— आगमउवएसेणं निसग्गओ य जिणपणीयाणं।
भावाण सद्दहण धम्मज्झाणस्स त लिंगं॥

३. अशरणानुप्रेक्षा—

शरण-रहित आत्मा द्वारा शरण्य का चिन्तन ही अशरणानुप्रेक्षा है, इस प्रकार की अनुप्रेक्षा करता हुआ साधक सोचता है—

"जन्मजरा मरणभयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते।
जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके॥"

जीव को कोई भी जड़ या चेतन शरण नहीं दे सकता, अशुभ कर्मों का उदय होने पर जन्म, जरा, मरण, आधि, व्याधि, अनिष्ट-संयोग, इष्ट-वियोग, रोग-शोक आदि से ग्रस्त प्राणी के लिए यदि कोई शरण्य है तो वह जिनवाणी और जिनधर्म है, अन्य नहीं।

४. संसारानुप्रेक्षा—

"चतसृषु गतिषु सर्वावस्थासु संसरणलक्षणस्य अनुप्रेक्षा संसारानुप्रेक्षा—अर्थात् चारों गतियों और सभी अवस्थाओं में होनेवाले आवागमन का चिन्तन ही संसारानुप्रेक्षा है। इस अवस्था में साधक सोचता है—

"माता भूत्वा दुहिता भगिनी भार्या च भवति संसारे।
व्रजति सुतः पितृतां भ्रातृतां पुनः शत्रुताञ्चैव॥"

यह जीव कभी तो किसी की माता, कभी उसी की भगिनी, कभी उसी की पुत्री और कभी उसी की भार्या के रूप में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार वही जीव पुत्र, भाई, पिता और शत्रु बनकर भी उत्पन्न हुआ करता है, इसी तरह एक ही जीव अनेक प्रकार के सम्बन्ध लेकर संसार में आता-जाता रहता है।

इस प्रकार संसार के स्वरूप का पर्यालोचन करना ही संसारानुप्रेक्षा है, इसी को संसार-भावना भी कहते हैं। इस प्रकार एकत्व, अनित्य, अशरण और संसरण रूप भावनाओं का चिन्तन ही धर्म है। इस चिन्तन से आत्मा को परम शान्ति की अनुभूति होती है, कर्म-बन्धन शिथिल होते हैं, टूटते हैं, आवागमन से छुटकारा मिलता है और आत्म-निष्ठता की उपलब्धि होती है। यही धर्मध्यान का मुख्य उद्देश्य है।

धर्मध्यान का प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से आरम्भ होता है। सम्यक्त्व, देशव्रत और चारित्र ये बिना धर्मध्यान के उपलब्ध नहीं हो सकते, किन्तु अप्रमत्त गुणस्थानों में ध्यान में एकान्त शुद्ध भावों से ही कर्मो की महानिर्जरा होती है और जीव कर्म-भार से मुक्त होकर ऊर्ध्वगति प्राप्त करने के योग्य हो जाता है। जो बद्ध एवं संचित कर्म धर्मध्यान से भी अलग नहीं हो सकते, उन्हें क्षय करने के लिए शुक्ल ध्यान की आवश्यकता होती है। अतः अब सूत्रकार शुक्लध्यान की विवेचना करते हैं—

शुक्ल ध्यान और उसके भेद—

परम विशुद्ध एवं अत्युज्ज्वल प्रकाशमान ध्यान ही शुक्ल ध्यान है। शुक्लध्यान से बढ़कर अन्य कोई ध्यान नहीं है, यथाख्यात चारित्र में वीतरागता जागृत होती है, वीतरागदशा

में ही शुक्लध्यान होता है। इस ध्यान में मोहनीयकर्म की प्रकृतियां सर्वथा प्रशान्त होती हैं या सर्वथा क्षीण हो जाती हैं। इसके स्वामी ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में रहे हुए जीव होते हैं। शुक्लध्यान के चार पाए हैं। पहला भेद ग्यारहवें में, दूसरा बारहवें में, तीसरा तेरहवें में और चौथा चौदहवें में पाया जाता है। शुक्लध्यान के चार पाए निम्नलिखित हैं—

(क) पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी—यह पद तीन शब्दों के योग से बना हुआ है—पृथक्त्व का अर्थ है एक द्रव्य के आश्रित उत्पाद आदि पर्यायों का पृथक्-पृथक् भाव से चिन्तन करना। वितर्क शब्द श्रुतज्ञान का परिचायक है, सविचारी का अर्थ है—शब्द से अर्थ में, अर्थ से शब्द में तथा एक योग से दूसरे योग में संक्रमण करना। जब कोई ध्यान करने वाला पूर्वधर हो तब पूर्वगत श्रुत के आधार पर और पूर्वधर न हो तब अपने में संभवित श्रुत के आधार पर किसी भी जड़ या चेतन द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति और द्रव्य, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि पर्यायों का नैगम आदि विविध नयों के द्वारा भेद प्रधान चिन्तन करना और यथासम्भवित श्रुतज्ञान के आधार पर किसी एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य पर, किसी एक पर्याय से दूसरी पर्याय पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर, एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक योग से दूसरे योग पर विचारधारा को प्रवाहित करना रूप विचार सहित ध्यान को ही सविचारी कहा जाता है।[१]

सभी शुक्लध्यानियों का ध्येय एक होना संभव नहीं है, क्योंकि किसी एक गुणी के अनेक गुणों में संक्रमण होते रहना स्वाभाविक है, अरिहंत एवं सिद्ध भगवान के गुणों में भी विचारों का संक्रमण होता है। इसका अस्तित्व उपशान्त-मोह गुणस्थान में पाया जाता है। इस भेदप्रधान ध्यान में यदि किसी ध्यानी की मृत्यु हो जाए तो वह अनुत्तर वैमानिक देव बनता है। इस ध्यान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

शुक्लध्यान के इस रूप में भेद की प्रधानता और विचारों का संक्रमण होना नियमेन माना जाता है—

---

१. इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—

पुहुत्तवियक्केत्ति पृथक्त्वेन—एक द्रव्याश्रितानामुत्पादादिपर्यायाणा भेदेन, पृथुत्वेन वा विस्तीर्णभावेनेत्यन्ये, वितर्को—विकल्प पूर्वगतश्रुतालम्बनो नानानयानुसरणो यस्मिंस्तत्तथा, पूज्यैस्तु वितर्क्कः श्रुतालम्बनतया श्रुतमित्युपचारादधीत इति, तथा विचरणम् अर्थाद् व्यञ्जने व्यञ्जनादर्थे तथा मन प्रभृतीनां योगानामन्यतरस्मिन्निति "विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रांति" रिति (तत्त्वार्थ अ ९ सू. ४६) वचनात्, सह विचारेण सविचारि सर्वधनादित्यादिन् समासान्तः, उक्तं च

उप्पायठिति भंगाइ पज्जयाणं जमेगदव्वम्मि।
नाणानयाणुसरणं पुव्वगयसुयाणुसारेण ॥
सवियारमत्थवंजणाजोगंतरओ तय पढमसुक्कं ।
होति पुहुत्तवियक्कं सवियारमरागभावस्स ॥

इत्येको भेदः।

(ख) एकत्व-वितर्क-अविचारी—शुक्लध्यान का दूसरा रूप है—एकत्व-वितर्क-अविचारी। यह भी तीन शब्दों से बना हुआ है। संभावित श्रुत का आधार लेकर उत्पादादि पर्यायों के एकत्व—अभेद वृत्ति से किसी एक पर्याय का स्थिर चित्त से चिन्तन करना एकत्व-वितर्क है। इस ध्यान में अर्थ-व्यञ्जन एवं योगों का संक्रमण नहीं होता। निर्वात स्थान में रहा हुआ दीपक जैसे स्पंदन आदि क्रियाओं से रहित होकर प्रकाश करता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा योग आदि में संक्रमण न करता हुआ ध्यान में अवस्थित रहता है। इस ध्यान के द्वारा मोहकर्म सर्वथा क्षय हो जाता है। यह ध्यान बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव में पाया जाता है, इस ध्यान से घातिकर्मों का सर्वथा विलय हो जाता है। इस ध्यान में कोई भी साधक मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत कैवल्य के अभिमुख अवश्य होता है। उक्त दोनों में से भेद-प्रधान का अभ्यास दृढ़ हो जाने पर ही दूसरे अभेदप्रधान ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। जैसे सर्वांगीण शरीर में परिव्याप्त सर्प आदि के विष को मंत्र आदि उपायों के द्वारा केवल दंशित स्थान में लाकर उसे शान्त किया जाता है वैसे ही विभिन्न विषयों में अस्थिर रूप से भटकते हुए मन को ध्यान के द्वारा किसी भी एक विषय पर लाकर शान्त एवं स्थिर किया जाता है तब वह चंचलता का परित्याग करके एकाग्र हो जाता है। परिणामस्वरूप ज्ञान के द्वारा सभी आवरणों के क्षय हो जाने पर कैवल्य प्रकट होता है। इस ध्यान में ध्येय के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय का चिन्तन नहीं किया जाता इसी कारण इस ध्यान को एकत्व- वितर्क-अविचारी कहते हैं।[१]

(ग) सूक्ष्मक्रिया अनिवर्ती—शुक्लध्यान का तीसरा चरण है। चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करने से पहले आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर जब केवली भगवान मन और वचन इन दो योगों का सर्वथा निरोध कर लेते हैं और काययोग का भी निरोध कर लेते हैं उस समय केवली भगवान की कायिकी उच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रिया ही रहती है। उनके योग निरोध का क्रम इस प्रकार है—पहले स्थूलकाय योग के आश्रय से मन और वचन के स्थूल योग को सूक्ष्म बनाया जाता है। उसके बाद मन और वचन के सूक्ष्म योग को अवलंबित करके शरीर का स्थूलयोग सूक्ष्म बनाया जाता है। उसके अनन्तर काय के सूक्ष्मयोग को अवलंबित करके मन और वचन के सूक्ष्मयोग का भी निरोध किया जाता है। यह प्रक्रिया तेरहवें गुणस्थान में ही होती है।

(घ) समुच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाती—शुक्लध्यान का चौथा रूप है। यह ध्यान चौदहवें गुणस्थान में होता है। अयोगी अवस्था में मन, वचन और काय तीनों मेरुवत् स्थिर हो जाते हैं। उनकी सभी सूक्ष्म क्रियाएं बंद हो जाती हैं, आत्मप्रदेश सर्वथा निःस्पन्द हो जाते हैं।

---

१ जं पुण सुनिप्पकंप निवायसरण पईवमिव चित्तं।
उप्पाय ठिति भंगाइयाणमेगम्मि पज्जाए ।।
अवियारमत्थ वंजण जोगंतराओ तयं बिइयं सुक्कं।
पुव्वगत-सुयालंबाणमेगत्त-वियक्कमविचारं।।

वस्तुतः देखा जाए तो 'सर्वसंवर परिपूर्ण संयम' अयोगी अवस्था में ही होता है और इसी अवस्था में मोक्ष की उपलब्धि भी होती है। तीसरे और चौथे शुक्लध्यान में किसी तरह भी श्रुतज्ञान का आलंबन नहीं होता।

ध्यान के विषय में दो मत—

जैन-परम्परा मुख्यतया दो धाराओं में विभक्त है दिगम्बर और श्वेताम्बर। इनमें दिगम्बर परम्परा के अनुसार धर्मध्यान का आरम्भ चौथे गुणस्थान से स्वीकार किया गया है। उसके बाद आठवें गुणस्थान से लेकर सभी गुणस्थानों में शुक्ल ध्यान ही रहता है। उन का कथन है कि जब तक श्रेणी आरंभ नहीं होता, तब तक ही धर्मध्यान संभव है। उपशम या क्षपक इन दो श्रेणियों का आरंभ शुक्लध्यान से ही होता है।

दूसरी परंपरा श्वेताम्बरों की है, इस विषय में उनकी मान्यता है कि यत् किंचिद् रूप से धर्मध्यान चौथे, पांचवें और छठे गुणस्थान में भी होता है किन्तु विशुद्ध धर्मध्यान अप्रमत्त गुणस्थानों में ही पाया जाता है। अतः सातवें से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यन्त धर्मध्यान की सत्ता पाई जा सकती है, अर्थात् उपशान्त-मोह और क्षीण-मोह में भी धर्मध्यान का होना संभव है। उमास्वातिकृत तत्त्वार्थ सूत्र के अ० ९वां, सूत्र ३८ में लिखा है—"**उपशान्तमोह-क्षीणकषाययोश्च**" इससे उक्त मान्यता स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि यथाख्यात चारित्र में भी धर्मध्यान की स्थिति होती है। जो अल्पकर्मी एवं हलुकर्मी मुमुक्षु जीव हैं, वे धर्मध्यान के द्वारा भी केवलज्ञान उत्पन्न कर लेते हैं, जैसे कि भरत चक्रवर्ती, मरुदेवी माता और माषतुष इत्यादि। जिन कर्मों का क्षय धर्मध्यान से नहीं हो सकता उन्हें जलाने के लिए शुक्लध्यान की महाज्वाला प्रज्वलित करनी पडती है।

जो साधक पूर्वधर हैं, वे श्रेणी का प्रारम्भ शुक्लध्यान से ही करते हैं। जो शुक्लध्यान का पहला चरण है वह ८वें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक रहता है और जो दूसरा चरण है वह क्षपकश्रेणी में होता है उसकी पूर्णता बारहवें गुणस्थान में होती है।

कुछ आचार्यों का यह भी अभिमत है कि जहां भी यथाख्यात चारित्र है वहां शुक्ल-ध्यान है, जहां शुक्लध्यान है वहां नियमेन वीतरागता है, क्योंकि यथाख्यात-चारित्र ११वें, १२वें, १३वें और १४वें गुणस्थानों में होता है। इसी क्रम से शुक्लध्यान के चरण वर्णित किए गए हैं, शेष गुणस्थानों में धर्मध्यान ही होता है, धर्मध्यान में वीतरागता का होना विकल्प है तथा वीतरागता में धर्मध्यान हो और न भी हो, परन्तु शुक्लध्यान का होना निश्चित है।

शुक्लध्यान और उसके लक्षण—

जो मुमुक्षु शुक्लध्यान में अवस्थित है, उसकी पहचान कैसे हो सकती है? इसकी जानकारी के लिए आगमकारों ने चार लक्षण बतलाए हैं।

१. वह भयंकर परीषह और घोर उपसर्गों से विचलित नहीं होता, वह किसी प्रलोभन में भी नहीं फंसता, वह किसी भी समय व्याकुल नहीं होता, विश्व की कोई भी शक्ति

उसको ध्यान से विचलित नहीं कर सकती और वह व्यथित होता ही नहीं है। इसी कारण सूत्रकार ने उसका पहला लक्षण "**अव्वहे**" कहा है जिसका अर्थ है व्यथा का अनुभव न करना, ऐसी ज्ञानदशा शुक्लध्यान में ही हो सकती है।

२. शुक्लध्यान का दूसरा लक्षण है "**असंमोहे**"। वह देवादिक की माया से मोहित नहीं होता, मोह की २८ प्रकृतियां उसमें उदित ही नहीं हो पाती हैं, मोह जनक निमित्त कितने ही मिलें वह अपने ध्येय में स्थिर रहता है, ममता भी उसका स्पर्श करने से झिझकती है।

३. शुक्लध्यान का तीसरा लक्षण है "**विवेक**"। जब ध्यानी को यह निश्चय हो जाता है कि मैं देह नहीं, आत्मा हूं तो वह देहनाशक कष्ट होने पर भी खेद नहीं मानता, क्योंकि उसे ज्ञात है कि कष्ट की अनुभूति देह को होती है आत्मा को नहीं, वह तो शुद्ध है, व्यथा-मुक्त है और आनन्दरूप है।

४. शुक्लध्यान का चौथा लक्षण है "**विउसग्ग**"। व्युत्सर्ग, निरासक्ति पूर्वक देह और उपधि का परित्याग करना। जिसको अपनी देह पर भी ममत्व नहीं है वह बाह्य उपकरणों पर क्या ममत्व कर सकता है? इस प्रकार शुक्लध्यानी में उक्त चारों लक्षण पाए जाते हैं।[१]

शुक्लध्यान और उसके आलंबन—

कोई भी आत्मा उन्नति के शिखर पर किसी न किसी आलंबन से ही पहुंच सकती है, जब तक पूर्ण विकास नहीं हो जाता तब तक साधक को आलंबन की आवश्यकता रहती है। शुक्लध्यानी के आलम्बन चार हैं—क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष, इनका विवरण निम्नलिखित है—

१. क्रोध के अभाव से उत्पन्न होने वाले गुण को क्षमा कहते हैं। किसी के द्वारा प्राणान्तकारी व्यथा देने पर भी उस पर क्रोध न करना, अपितु उसका हित चाहना, उसे उपकारी समझकर कृतज्ञता प्रकट करना, उससे मैत्री भाव स्थापित करना, परमशान्त रह कर आत्मा में रमण करना ही क्षमा है।

२. मान के अभाव से उत्पन्न हुए गुण को मार्दव कहते हैं। आत्मा में कठोरता अभिमान से ही उत्पन्न होती है, अभिमान के होने पर सभी प्रकार की बुराइयों के लिए प्रवेशद्वार खुल जाता है और गुणों की उपज बंद हो जाती है। सभी गुणों का मूल कारण विनय अर्थात् मार्दव है। जिसके जीवन में सुकोमलता एवं मृदुता उत्पन्न हो जाती है, वही शुक्लध्यान का ध्याता हो सकता है।

---

१. चालिज्जइ बीहेइ व धीरो न परीसहोवसग्गेहिं।
सुहुमेसु न संमुज्झइ भावेसु न देवमायासु॥
देह विवित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह य सव्व संजोगे।
देहोवहि वुसग्गं निस्संगो सव्वहा कुणइ॥

३. आत्मवंचना तथा परवंचना को माया कहते हैं। अपने में रहे हुए दोषों को ढांकना या माया के पर्दे में रहकर दोषों का सेवन करना आत्मवंचना है और दूसरे को ठगना परवंचना कहलाती है। जब माया को क्षय किया जाता है, उसके बीज को भी विकसित नहीं होने दिया जाता और उदय में हुए माया संस्कारों को विफल कर दिया जाता है, उस अवस्था को आर्जव कहते हैं। आर्जव भी आत्मा का परमगुण है। जिसके होने पर ही शुक्लध्यान हो सकता है। आर्जव भी सर्वतोमुखी होना चाहिए।

४. शुक्लध्यान का चौथा आलंबन सन्तोष है। लोभ से मुक्ति पाना ही सन्तोष है। आत्मस्वरूप में अवस्थित होने के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को पाने की इच्छा न करना ही सन्तोष है। जब जीव में ऐसी परिणति हो जाती है, तब शुक्लध्यान के सौध पर आरोहण के लिए संतोष सोपान की तरह आलंबन बन जाता है।

शुक्लध्यान और उसकी अनुप्रेक्षाएं—

शुक्लध्यानी की सार्थकता अनुप्रेक्षा के साथ है। जिसको वैदिक परंपरा में निदिध्यासन कहते हैं उसी को जैन भाषा में अनुप्रेक्षा कहा जाता है। अनुप्रेक्षा से श्रुतज्ञान विज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है और परमानन्द की अनुभूति होने लगती है तथा कर्मों की महा निर्जरा होती है। घनघाति कर्मों का विलय भी अनुप्रेक्षा से ही होता है, किन्तु इतना स्मरणीय है कि शुक्लध्यान के पहले दो चरणों में ही अनुप्रेक्षा का सद्भाव पाया जाता है, क्योंकि अनुप्रेक्षा श्रुतज्ञान के द्वारा की जाती है केवलज्ञान होने पर अनुप्रेक्षा नहीं होती।

१. शुक्लध्यान की पहली भावना या अनुप्रेक्षा है—इस संसार चक्र में आत्मा ने अनन्त बार जन्म-मरण किए हैं, क्योंकि संसार भी अनादि है और आत्मा भी। इस भव-सागर से पार पहुंचना दुष्कर ही नहीं अपितु अत्यन्त दुष्कर है। अतः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चार गतियों में जीव अनादि काल से भटक रहा है। आत्मा अनन्त बार भवभ्रमण कर चुका है इस प्रकार की गई भावना को अनन्त-वर्तितानुप्रेक्षा कहते हैं। जैसे कि कहा भी है—

"एस अणाइ जीवो संसारो सागरोव्व दुत्तारो ।
नारय तिरिय नरामरभवेसु परिहिंडए जीवो॥"

२. वस्तुओं के परिणमन पर विचार करना, जैसे कि—संसार और देवलोक के सभी स्थान विनाशशील हैं। उत्तम से उत्तम भौतिक ऋद्धि और भौतिक सुख सभी शाश्वत नहीं हैं इस प्रकार की अनुप्रेक्षा को विपरिणामानुप्रेक्षा कहते हैं, जैसे कि—

"सव्वट्ठाणाइं असासयाइं इह चेव देवलोगे य।
सुर असुर नराईणं रिद्धि विसेसा सुहाइं च ॥"

३. संसार के अशुभ स्वरूप पर विचार करना, जैसे कि—इस संसार को धिक्कार है जिसमें एक सर्वांग सुन्दर रूपगर्वित मनुष्य मरकर अपने ही कलेवर में कृमि के रूप में उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार की भावना को अशुभानुप्रेक्षा कहते हैं, जैसे कि कहा भी है—

**"श्री संसारो अम्मि जुवाणओ परमरूवगव्विओ ।
मरिऊण जायइ किमी तत्थेव कडेवरे नियए ॥"**

४. शुक्लध्यान की चौथी अनुप्रेक्षा है—आश्रवों से होने वाली हानि, जीवों को दुःख देने वाले घोर अति घोर संकट में डालने वाले अपायों का चिन्तन करना अपाय-अनुप्रेक्षा है, जैसे कि—वश में नहीं किए हुए क्रोध और मान, बढ़ती हुई माया और लोभ ये चार कषाय संसार एवं पुनर्जन्म के मूल को सींचने वाले हैं। इनसे ही जन्म-मरण रूप संसार की वृद्धि होती है। इस प्रकार की एकाग्र विचारधारा को अपाय-अनुप्रेक्षा कहते हैं। जैसे कि कहा भी है—

**"कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोहो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥"**

इस प्रकार शुक्लध्यान का स्वरूप, लक्षण, आलंबन और अनुप्रेक्षा का विश्लेषण किया गया है।[१]

शुक्लध्यान के पहले और दूसरे चरण में श्रुतज्ञान का यथासंभव आलंबन लेना ही होता है। तीसरा और चौथा चरण क्रमशः योग संक्रम और योगनिरोध पर अवलंबित है। शुक्लध्यान का कोई भी चरण अंतर्मुहूर्त से अधिक काल पर्यन्त नहीं रहता, इसी नियम के अनुसार सयोगी केवली जब तेरहवें गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है तब जिस प्रक्रिया से काययोग को स्थूल से सूक्ष्म बनाया जाता है वही शुक्लध्यान का तीसरा चरण है। चौदहवें गुणस्थान की कुल स्थिति अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पांच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण प्रमाण है। उसमे काय की सूक्ष्मक्रिया का भी निरोध हो जाता है, योगनिरोध से अयोगी केवली के भवोपग्रही वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार कर्म एक साथ क्षय हो जाते है, क्षय होते ही आत्मा सर्व कर्मों से और सर्व दुःखों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। कृतकृत्य होकर वह अपुनर्गति नामक सिद्धिगति को प्राप्त कर जाता है। अतः स्व-स्वरूप मे अवस्थित होना ही ध्यान का मुख्य फल है।

देवस्थिति और संवास

मूल—चउव्विहा देवाण ठिई पण्णत्ता, तं जहा—देवेणाममेगे, देवसिणाए नाममेगे, देवपुरोहिए नाममेगे, देवपज्जलणे नाममेगे।

चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा—देवे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छेज्जा। देवे णाममेगे छवीए सद्धिं संवासं गच्छेज्जा। छवी णाममेगे

१ ध्यानों की व्याख्या भगवती सूत्र के पच्चीसवें शतक के सातवें उद्देशक से तथा औपपातिक सूत्र के तपोऽधिकार से जाननी चाहिए।

देवीए सद्धिं संवासं गच्छेज्जा। छवी णाममेगे छवीए सद्धिं संवासं गच्छेज्जा ॥१४॥

छाया—चतुर्विधा देवानां स्थितिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—१. देवो नामैकः, २. देवस्नातको नामैकः, ३. देवपुरोहितो नामैकः, ४. देवप्रज्वलणो नामैकः।

चतुर्विधः संवासः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—देवो नामैको देव्या सार्द्धं संवासं गच्छेत्। देवो नामैकश्छव्या (नार्या) सार्द्धं संवासं गच्छेत्। छविर्नामैको देव्या सार्द्धं संवासं गच्छेत् छविर्नामैकश्च्छव्या सार्द्धं संवासं गच्छेत्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है।)

मूलार्थ—चार प्रकार की देव स्थिति वर्णन की गई है, जैसे—सामान्य देवों की स्थिति। २. स्नातक (प्रधान) देवों की स्थिति। ३. शान्तिपाठ करने वाले पुरोहित देवों की स्थिति। ४. यशोगान करने वाले प्रज्वलन देवों की स्थिति।

चार प्रकार से मैथुनार्थ संवास का वर्णन किया गया है, जैसे कि—१. देव देवी के साथ मैथुनार्थ सहवास करता है। २. देव मानवी के साथ मैथुनार्थ संवास करता है। ३. मनुष्य या तिर्यंच देवी के साथ मैथुनार्थ सहवास करता है। ४. मनुष्य अथवा तिर्यंच मानवी या तिर्यक् योनिक स्त्रियों के साथ सहवास करता है।

विवेचनिका—शुभध्यान की विचित्रता से देवत्व प्राप्त होता है। प्रस्तुत सूत्र में उसी देवत्व की स्थिति का उल्लेख किया गया है। स्थिति शब्द यहां मर्यादा का वाचक है। मनुष्यों की तरह देवलोक में भी चार प्रकार की मर्यादाएं हैं—

१. जो सामान्य प्रजा की तरह हैं उन्हें देव कहते हैं।

२. जो विशेषज्ञ एवं विशिष्ट सम्मानीय देव हैं उन्हें स्नातक कहा जाता है।

३. जो शान्ति संस्थापक देव हैं वे पुरोहित देव कहलाते हैं।

४. जो मागधों की तरह यशोगान करने वाले स्तुति पाठक देव हैं उन्हें प्रज्वलन देव कहा जाता है।

इस प्रकार देवों का वर्गीकरण हुआ। कहीं मनुष्य देवत्व को महान् समझकर उसकी प्राप्ति ही को जीवन का महान् लक्ष्य न मान ले, इसलिए देवत्व मोहपाशबद्धता एवं काम-परायणता का परिचय कराते हुए सूत्रकार कहते हैं कि देव भी कामावेश में आकर अपने देवत्व को भूल जाते हैं, अथवा देवत्व को कलंकित कर देते हैं।

काम-परायणता होने से देव अपनी देवियों के साथ तो रमण करते ही हैं, कभी-कभी देव मानवी-सौन्दर्य पर भी मुग्ध हो जाते हैं और इस प्रकार देव मानवी सहवास भी कर लिया करते हैं। क्योंकि देवताओं के पास वैक्रिय शक्ति होती है उसी वैक्रिय शक्ति के द्वारा

वे मानव शरीर धारण कर मानवियों से कामेच्छा को तृप्त किया करते हैं।[1]

कभी-कभी देवों की देवियां भी कामातुरा होकर मानव-सहवास करने लगती हैं। ज्ञाताधर्म कथांगसूत्र में जिनरक्षित, जिन पालित नामक मानवों के साथ समुद्र की अधिष्ठात्री रत्ना देवी सहवास करती थी।[2]

कभी औदारिक शरीर धारी औदारिक शरीर धारिणी के साथ कामेच्छा को तृप्त किया करते हैं।

इस प्रकार शास्त्रकार ने देवत्व और मानवत्व को मोह की दृष्टि से समान स्तर पर प्रदर्शित करके यह प्रमाणित किया है कि देवत्व मानवता से अधिक समुन्नत नहीं है, अतः मनुष्य का यही प्रयत्न होना चाहिए कि वह वहां देवता बनने की अपेक्षा धरती का ही देवता बने और उसका लक्ष्य देवत्व नहीं मोक्ष होना चाहिए।

कषाय-वर्गीकरण

मूल—चत्तारि कसाया पण्णत्ता, तं जहा—कोहकसाए, माणकसाए, मायाकसाए, लोहकसाए। एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं।

चउपइट्ठिए कोहे पण्णत्ते, तं जहा—आयपइट्ठिए, परपइट्ठिए, तदुभयपइट्ठिए, अपइट्ठिए। एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। एवं जाव लोहे, वेमाणियाणं।

चउहिं ठाणेहिं कोहुप्पत्ती सिया, तं जहा—खेत्तं पडुच्च, वत्थुं पडुच्च, सरीरं पडुच्च, उवहिं पडुच्च। एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। एवं जाव लोहे० वेमाणियाणं।

चउव्विहे कोहे पण्णत्ते, तं जहा—अणंताणुबंधिकोहे, अपच्चक्खाण-कोहे, पच्चक्खाणावरणे कोहे, संजलणे कोहे। एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। एवं जाव लोहे वेमाणियाणं।

चउव्विहे कोहे पण्णत्ते, तं जहा—आभोगणिव्वत्तिए, अणाभोगणिव्व-त्तिए, उवसंते, अणुवसंते। एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। एवं जाव लोहे जाव वेमाणियाणं ॥१५॥

---

१. वैदिक परम्परा के अनुसार तो भीम-अर्जुन आदि देव-मानवी सहवास से उत्पन्न सन्तानें मानी जाती हैं। रम्भा मेनका आदि का विश्वामित्र के साथ सहवास भी इसी तथ्य की ओर सकेत करता है।

२. ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, अध्याय ९।

छाया—चत्वारः कषायाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्रोधकषायः, मानकषायः, माया-कषायः, लोभकषायः। एवं नैरयिकाणां यावत् वैमानिकानाम्।

चतुष्प्रतिष्ठितः क्रोधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—आत्मप्रतिष्ठितः, परप्रतिष्ठितः, तदुभय-प्रतिष्ठितः, अप्रतिष्ठितः। एवं नैरयिकाणां यावत् वैमानिकानाम्। यावल्लोभः, वैमानि-कानाम्। चतुर्भिः स्थानैः क्रोधोत्पत्तिः स्यात्, तद्यथा—क्षेत्रं प्रतीत्य, वास्तुप्रतीत्य, शरीरं प्रतीत्य, उपधिं प्रतीत्य। एवं नैरयिकाणां यावत् वैमानिकानाम्। एवं यावल्लोभः, वैमानिकानाम्।

चतुर्विधः क्रोधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा अनन्तानुबन्धिक्रोधः, अप्रत्याख्यानक्रोधः, प्रत्याख्या- नावरणः क्रोधः, संज्वलनः क्रोधः। एवं नैरयिकाणां यावत् वैमानिकानाम्। एवं याव- ल्लोभो वैमानिकानाम्।

चतुर्विधः क्रोधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—आभोगनिवर्तितः, अनाभोगनिवर्तितः, उपशान्तः, अनुपशान्तः। एवं नैरयिकाणां यावत् वैमानिकानाम्।

एवं यावल्लोभो यावत् वैमानिकानाम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है।)

मूलार्थ—कषाय चार प्रकार के कहे गए हैं, जैसे कि—क्रोध कषाय, मान कषाय, माया कषाय और लोभ कषाय। नारकियों से लेकर वैमानिक देवों तक सभी में ये चार कषाए पाए जाते हैं।

क्रोध की उत्पत्ति चार स्थानों से होती है, जैसे—अपने पर क्रोध आना, दूसरे पर क्रोध आना, अपने पर एवं दूसरे पर क्रोध आना और अकारण ही क्रोध आना। नारकियों से लेकर वैमानिकों पर्यन्त क्रोध की ये चारों स्थितियां पाई जाती हैं। इसी प्रकार लोभ आदि की स्थिति भी नारकियों से वैमानिकों तक जाननी चाहिए।

क्रोध की उत्पत्ति चार कारणों से होती है, जैसे—क्षेत्र की अपेक्षा से, वास्तु की अपेक्षा से, शरीर की अपेक्षा से और उपकरण की अपेक्षा से क्रोध उत्पन्न होता है। नारकियों से लेकर वैमानिकों पर्यन्त क्रोध की उत्पत्ति के ये ही चार कारण हैं। इसी प्रकार मान, माया और लोभ के सम्बन्ध में भी नारकियों से वैमानिकों पर्यन्त जानना चाहिए।

क्रोध के चार रूप बताए गए हैं, जैसे—सदा रहने वाला क्रोध, वर्ष पर्यन्त रहने वाला क्रोध, चार महीने तक रहने वाला क्रोध और पन्द्रह दिन तक रहने वाला क्रोध। नारकियों से वैमानिक देवों तक क्रोध के ये चार रूप पाए जाते हैं। इसी तरह मान, माया और लोभ के विषय में भी नारकियों से वैमानिकों पर्यन्त जानना चाहिए।

पुनः क्रोध के चार रूप कहे गए हैं, जैसे—क्रोध का परिणाम जानते हुए भी क्रोध करना, क्रोध का परिणाम न जानते हुए क्रोध करना, उपशान्त क्रोध और अनुपशान्त क्रोध। नारकियों से वैमानिक देवों तक क्रोध के ये चारों रूप पाए जाते हैं, इस प्रकार मान, माया और लोभ के सम्बन्ध में नारकियों से वैमानिकों पर्यन्त जानना चाहिए।

विवेचनिका—संवास अर्थात् वासना की तृप्ति के लिए नर-नारी का पारस्परिक सहवास कषायों के ही कारण होता है, अतः संवास के अनन्तर इस सूत्र में कषायों का वर्णन किया गया है। क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों को कषाय कहा जाता है।

वृत्तिकार के शब्दों में कषाय शब्द का अर्थ है—

"तत्र कृषन्ति—विलिखन्ति कर्मक्षेत्रं सुखदुःखफलयोग्यं कुर्वन्ति, कलुषयन्ति वा जीवमिति निरुक्तिविधिना कषायाः। अथवा कषति-हिनस्ति देहिन इति, कषं कर्म भवो वा तस्य आय लाभ हेतुत्वात् कषं वा आययन्ति—गमयन्ति देहिन इति कषायाः"।

जिसके द्वारा सुख-दुःख-जन्म-मरण रूप संसार की प्राप्ति हो, अथवा जो आत्मा के शुद्ध स्वभाव को मलिन एवं कलुषित करता है उसे कषाय कहा जाता है। अथवा जीव जिससे हिंसा आदि पापों में प्रवृत्त हों वह कषाय है, अथवा जिससे कर्मों का बन्ध हो, वह कषाय है। कष का अर्थ है—भव, कर्म या संसार का जिससे बन्धन हो वही कषाय है।

वीतराग भगवान् के अतिरिक्त अन्य सभी जीवों में कषाय होते ही हैं। कषाय की एक प्रकृति तो उदय में रहती है और शेष तीन प्रकृतियां सत्ता में अर्थात् सुप्तावस्था में रहती हैं। एक साथ दो, तीन या चार प्रकृतियों का उदय नहीं होता।

क्रोध प्रीति एवं शान्ति का विनाशक है। उस में क्रूरता का निवास है। मान में कठोरता रहती है, यह विनय एवं नम्रता का नाशक है। माया में धूर्तता का निवास होता है, यह मित्रता और विश्वास इन दोनों का घात करती है। लोभ के वशीभूत जीव सभी गुणों का नाश करता है, इसमें इच्छा एवं मूर्छा की प्रधानता रहती है।

जिस व्यक्ति में कषायों की उत्पत्ति होती है उस व्यक्ति को कषाय-आश्रय कहा जाता है। कषाय-आश्रय की दृष्टि से कषाय के चार रूप हो जाते हैं—आत्म-प्रतिष्ठित कषाय, पर-प्रतिष्ठित कषाय, उभय-प्रतिष्ठित कषाय और अनुभय-प्रतिष्ठित कषाय।

(१) अपने से ही भूल, प्रमाद या अपराध हो जाने पर अपने आप पर ही क्रोध करते हुए अपने आप को धिक्कारना, कोसना आत्मप्रतिष्ठित क्रोध है।

अपने शारीरिक एवं आध्यात्मिक वैभव, ऋद्धि-लब्धि पर अभिमान करना आत्म-प्रतिष्ठित मान है।

कपट-कला सीखने में मन लगाना आत्मप्रतिष्ठित माया है। किसी सत्ता पर आसीन होने की तपोजन्य या मन्त्रजन्य लब्धि की तथा अणिमा आदि सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा करना आत्म-प्रतिष्ठित लोभ है।

(२) जिस क्रोध का आविर्भाव किसी अन्य जड़-चेतन के आश्रय से उत्पन्न होता है और उस क्रोध को दूसरे पर उतारने की इच्छा होती है वह पर-प्रतिष्ठित क्रोध है। अभीष्ट जड़-चेतन के आश्रय से जो अभिमान उत्पन्न होता है, वह पर-प्रतिष्ठित मान है और जो दूसरों को ठगने के लिए कपटपूर्ण व्यवहार किया जाता है वह पर-प्रतिष्ठित माया है, किसी के जड़-चेतन रूप परिग्रह को हथियाने की इच्छा करना पर-प्रतिष्ठित लोभ है।

(३) जिस क्रोध का उद्भव स्व और पर दोनों को आलम्बन मान कर होता है वह उभय-प्रतिष्ठित क्रोध है, जो अभिमान अपने रूप, बल, वीर्य, विद्या एवं सत्ता होने पर और अभीष्ट जड़-चेतन, धन-परिवार आदि पर होता है वह उभय-प्रतिष्ठित मान है। जिसके द्वारा जीव स्वयं भी उलझे और दूसरों को भी कपट-जाल में उलझाए वह उभय-प्रतिष्ठित माया है और जो लोभ अपने तथा अपने साथियों के आश्रय से उत्पन्न होता है जैसे कि मुझे भी अमुक वस्तु का लाभ हो और मेरे साथियों को भी वह वस्तु मिलनी चाहिए, इस प्रकार की इच्छा को उभय-प्रतिष्ठित लोभ कहा जाता है। .

(४) जो क्रोध बिना किसी कारण के, बिना किसी आश्रय के उत्पन्न होता है और सफल होने वाला भी नहीं है वह अनुभय-प्रतिष्ठित क्रोध है, जो बिना किसी विशेष कारण के सूक्ष्म रूप से अभिमान होता है वह अनुभय-प्रतिष्ठित मान कहलाता है, निराधार एवं निष्प्रयोजन कपट करने को अनुभय-प्रतिष्ठित माया कहते हैं। जिस लोभ को सार्थक बनाने के लिए प्रयत्न नहीं किया जाता, केवल मन में ही होता है और मन में ही लुप्त हो जाता है उसे अनुभय-प्रतिष्ठित लोभ कहा जाता है।

ये चारों कषाय अपने उक्त चारों रूपों में नारकीय जीवों से लेकर वैमानिक देवों तक सभी जीवों में पाए जाते हैं, अर्थात् चौबीस दण्डकों में स्थित कोई भी जीव इन से मुक्त नहीं है। इन कषायों के कारण ही चौबीसों दण्डकों के जीवों का आवागमन बना हुआ है।

कषाय-उत्पत्ति के कारण—

चार कारणों से क्रोध, मान, माया और लोभ की उत्पत्ति होती है, जैसे कि—

१. किसी व्यक्ति में तो क्रोध खेत-जमीन या स्थान विशेष के कारण भड़कता है। अच्छा क्षेत्र या स्थान मिल जाने पर किसी को अभिमान हो जाता है। दूसरे की ज़मीन पर अधिकार पाने के लिए किसी व्यक्ति में माया की उत्पत्ति होती है तथा जो भूमि अपनी नहीं है उसे हथियाने के लिए इच्छा करना और जो अपने पास है उस पर आसक्ति रखना लोभ है। इन्हें क्षेत्र-प्रतिष्ठित क्रोधादि कहा जाता है।

२. मकान, दुकान, कोठी एवं महल आदि से ढकी हुई जमीन को 'वास्तु' कहा जाता

है और उसके निमित्त से किसी को क्रोध, किसी को मान, किसी को माया और किसी को लोभ उत्पन्न होता है इन्हें ही वास्तु-प्रतिष्ठित क्रोधादि कहा जाता है।

३. अपने या दूसरे के कुरूप एवं विकृत शरीर को देख कर जो क्रोध पैदा होता है या शरीर पर आक्रमण करने वाले पर क्रोध उत्पन्न होता है। अपने या बन्धु-बान्धवों तथा मित्रों के सुन्दर एवं शुभ लक्षण सहित शरीर पर किसी को मान होता है, अपने यौवन एवं सौन्दर्य के जाल में किसी को फंसाने की इच्छा रूप माया उत्पन्न होती है और कुछ लोगों में अपने शरीर के प्रति विशेष आसक्ति रूप लोभ होता है, इन्हें ही शरीर-प्रतिष्ठित क्रोधादि कहा जाता है।

४. जीवन के बाह्य साधनों को उपकरण कहते हैं। उपकरणों पर आसक्ति के कारण भी कषायों की उत्पत्ति होती है। इच्छा-विरुद्ध जीवन-साधनों के मिलने पर या अभिलषित जीवन-साधनों के छीने जाने पर या प्रयोग-विधि न जानने पर जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसे उपधि-निमित्तक क्रोध माना जाता है। कुछ लोगों को अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा जीवन साधन अधिक मिलने पर अभिमान हो जाता है। इसे ही उपधि-प्रतिष्ठित-मान माना जाता है।

किसी के उपकरणों को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए जो कपट-पूर्ण व्यवहार किया जाता है, उसे उपधि-प्रतिष्ठित माया कहा जाता है। किसी के मनभावने उपकरणों को हथियाने की कोशिश करना उपधि-प्रतिष्ठित-लोभ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षेत्र, वास्तु, शरीर और उपधि इन चारों के आलम्बन से चारों कषायों की उत्पत्ति होती है, अतः इन्हें कषायोत्पत्ति का कारण माना गया है।

कषाय के चार स्तर—

१. क्रोध आदि कषायों से कर्म-प्रकृतियां इतनी भयंकर फलदायिनी बन जाती हैं कि उनका उदय होने पर जीव को अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है, ऐसी कर्म-प्रकृतियों को अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। जीव अनन्त दुःखों का भोक्ता इसी कषाय के कारण बनता है, इस कषाय के उदय होने पर सम्यक्त्व का घात होता है और नरक-गति का बन्ध होता है। यह कषाय जीवन पर्यन्त रहता है। यह अनन्तानुबन्धी कषाय ही सबसे भयंकर एवं निकृष्ट माना जाता है।

२. जिस कषाय का उदय होने पर जीव स्वल्पमात्र भी त्याग नहीं कर सकता, विरताविरत रूप श्रावक व्रत भी धारण नहीं कर सकता, उसे अप्रत्याख्यान कषाय कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन का बाधक एवं घातक तो नहीं, किन्तु विरताविरत—श्रावक व्रत का घातक एवं बाधक अवश्य है। इसकी स्थिति एक वर्ष की है। यदि इस कषाय भाव में आयु का बन्ध हो जाए तो निश्चय ही तिर्यंच की आयु का बन्ध होता है। इस का स्तर अनन्तानुबन्धी कषाय की अपेक्षा ऊपर है, सामान्य रूप से इस कषाय का उदय किसी भी दंडक में रहे हुए जीव में हो सकता है।

३. जिस कषाय का उदय होने पर सर्वविरतित्व अर्थात् साधु-धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती, उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन और देशविरति का घातक नहीं होता। इसकी स्थिति चार मास की है। इसके उदय काल में यदि आयु का बंध हो तो निश्चय ही मनुष्य की आयु का बंध होता है, अन्य गति का नहीं। इसका स्तर अप्रत्याख्यान कषाय की अपेक्षा ऊंचा है। यह भी प्राय: सभी दंडकों में पाया जाता है।

४. जिस कषाय के उदय से वीतरागता की प्राप्ति नहीं होती वह संज्वलन-कषाय कहलाता है। यह कषाय यथाख्यात-चारित्र का घातक है, यथाख्यात-चारित्र के बिना केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता। संज्वलन-कषाय में यदि आयु का बन्ध हो जाए तो देवगति की आयु का बन्ध होता है। इस कषाय में क्रोध की स्थिति दो मास की, मान की एक मास की, माया की पंद्रह अहोरात्र की और लोभ की अंतर्मुहूर्त की कही गई है। यह कषाय अन्य तीन कषायों की अपेक्षा उच्चस्तरीय है। संज्वलन-कषाय के उदयकाल में चारित्र अतिक्रम आदि से दूषित एवं मलिन अवश्य हो जाता है, किन्तु वह चारित्र का घात नहीं करता, किन्तु यथाख्यात-चारित्र का बाधक अवश्य है। यह कषाय भी प्राय: सभी दंडकों में पाया जाता है।

संज्वलन कषाय के उदय होने पर जीव अवश्य ही सर्वविरतित्व ग्रहण करता है, यह कोई नियम नहीं है। इसी प्रकार प्रत्याख्यानावरण-कषाय के उदय-काल में श्रावक-वृत्ति का ग्रहण हो सकता है और नहीं भी हो सकता। सम्यग्दर्शन में पहला कषाय तो घातक है, अप्रत्याख्यानी कषाय न बाधक है और न घातक। श्रावक-वृत्ति में संज्वलन-कषाय बाधक नहीं है और पहले दो कषाय घातक हैं।

कषाय के चार प्रकार—

१. क्रोध के परिणाम को जानते हुए जो क्रोध किया जाता है तथा किसी विशेष कारण होने पर यह सोचना कि 'ऐसा किए बिना इसे शिक्षा नहीं मिलेगी' इस अपेक्षा से जो क्रोध किया जाता है, इसी तरह किसी शुभ लक्ष्य को लेकर मान, माया, लोभ भी किया जाता है वह **"आभोगनिवर्त्तितकषाय"** कहलाता है।

२. जो मनुष्य गुण एवं दोष का विचार किए बिना ही व्यर्थ ही क्रोध के आवेश में आ जाता है या क्रोध के दुष्परिणाम को न जानते हुए क्रोध करता है, इसी प्रकार मान, माया और लोभ के वशीभूत हो जाता है इसे **"अनाभोग-निवर्त्तित-कषाय"** कहते हैं।

३. जिसके कषायों का उदय नहीं हुआ है अथवा निमित्त मिलने पर भी जिसके कषाय व्यक्त नहीं होते—सर्वथा शान्त रहते हैं, उसे **"उपशान्त-कषाय"** कहते हैं, जैसे कि अहमिंद्रदेव या दुग्धपायी शिशु या किसी स्वाध्यायादि विशेष अवस्था में रहा हुआ मनुष्य।

४. जिसके क्रोध उदय में है, इसी प्रकार मान, माया और लोभ आदि कषाय उदय में हैं ऐसे भाव को अनुपशान्त-कषाय कहते हैं। इस विषय में वृत्तिकार का मंतव्य है—

"आभोगो ज्ञानं तेन निर्वर्तितो यज्जानन् कोपविपाकादिरुष्यति, इतरस्तु यदजानन्निति, उपशान्त—अनुदयावस्थः तत्प्रतिपक्षोऽनुपशान्तः, एकेन्द्रियादीनाभोग-निर्वर्तितः संज्ञिपूर्वभवापेक्षया, अनाभोगनिर्वर्तितस्तु तद्भवापेक्षयापि, उपशान्तो नारकादीनां विशिष्टोदयाभावात्, अनुपशान्तो निर्विचार एवेति, एवं मानादिरपि दण्डत्रयम्"।

धर्म-प्राप्ति उपशान्त कषाय में होती है, केवलज्ञान की प्राप्ति क्षीण-कषाय वालों को ही हो सकती है, जैसे कि—"केवलिय नाणलंभो नन्नत्थ खीणकसायाणं।"

प्रस्तुत सूत्र द्वारा निर्दिष्ट कषाय व्याख्या अध्यात्म-मार्ग के पथिकों के लिए यद्यपि प्रधान आधार है, परन्तु व्यावहारिक जीवन के लिए भी यह व्याख्या दिव्य आलोक-किरण है, जिसके प्रकाश में जीवन को क्रोध, मान, माया और लोभ से बचाकर सन्मार्ग में प्रवृत्त किया जा सकता है।

जीवों द्वारा कर्म-प्रकृति का चयन

मूल—जीवा णं चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिंसु, तं जहा—कोहेणं, माणेणं, मायाए, लोभेणं। एवं जाव वेमाणियाणं २४। एवं चिणंति, एस दंडओ। एवं चिणिस्संति, एस दंडओ। एवमेएणं तिन्नि दंडगा। एवं उवचिणिंसु, उवचिणिंति, उवचिणिस्संति। बंधिंसु ३, उदीरिंसु ३, वेदेंसु ३। निज्जरेंसु, णिज्जरेंति, णिज्जरिस्संति, जाव वेमाणियाणं। एवमेक्केक्के पदे तिन्नि तिन्नि दंडगा भाणियव्वा, जाव निज्जरिस्संति ॥१६॥

छाया—जीवाः खलु चतुर्भिः स्थानैः अष्टकर्मप्रकृतीः अचिन्वन्, तद्यथा—क्रोधेन मानेन, मायया, लोभेन। एवं यावत् वैमानिकानाम् २४। एवं चिन्वन्ति, एष दण्डकः। एवं चेष्यन्ति, एष दण्डकः। एवमेतेन त्रयो दण्डकाः। एवमुपाचिन्वन्, उपचिन्वन्ति, उपचेष्यन्ति। अबध्नन् ३। उदैरयन् ३। अवेदयन् ३। निर्जरयन्, निर्जरयन्ति, निर्जर-यिष्यन्ति यावत् वैमानिकानाम्। एवमेकैकस्मिन् पदे त्रयस्त्रयो दण्डका भणितव्याः यावत् निर्जरयिष्यन्ति।

शब्दार्थ—जीवा णं—जीवों ने, **चउहिं ठाणेहिं**—चार स्थानों से, **अट्ठ कम्मपगडीओ**—आठ कर्म-प्रकृतियों का, **चिणिंसु**—चयन किया, **तं जहा**—जैसे, **कोहेणं, माणेणं, मायाए, लोभेणं**—क्रोध से, मान से, माया से और लोभ से, **एवं जाव वेमाणियाणं**—इसी प्रकार वैमानिक देवों पर्यन्त जानना चाहिए, **एवं चिणंति**—चयन करते रहते हैं, **एस दंडओ**—यह दण्डक है, **एवं चिणिस्संति**—इसी तरह चयन करेंगे, **एस दंडओ**—यह दण्डक है, **एवमेएणं**—इस प्रकार इनके, **तिन्नि दंडगा**—तीन दण्डक हैं, **एवं उवचिणिंसु**—इसी प्रकार उपचयन किया, **उवचिणिंति**—उपचयन करते हैं, **उवचिणिस्संति**—उपचयन करेंगे, **बंधिंसु**—बान्धा,

उदीरिंसु—उदीरणा की, **वेदेंसु**—वेदन किया, **निज्जरेंसु**—क्षय किया, **णिज्जरेंति**— क्षय करते हैं, **णिज्जरिस्संति**—क्षय करेंगे, **जाव वेमाणियाणं**—वैमानिक देवों पर्यन्त ऐसा ही जानना चाहिए, **एवमेक्केक्के पदे**—इसी तरह एक-एक पद में, **तिन्नि-तिन्नि**—तीन-तीन, **दंडगा**—दंडक, **भाणियव्वा**—कहने चाहिएं, **जाव निज्जरिस्संति**—यावत् क्षय करेंगे।

मूलार्थ—जीवों ने चारों स्थानों के द्वारा आठ कर्म-प्रकृतियों का चयन किया है, जैसे कि १. क्रोध से, २. मान से, ३. माया से और ४. लोभ से। वैमानिक देवों पर्यन्त यही क्रम चलता रहता है। इसी प्रकार चयन करते हैं, चयन करेंगे, इसी प्रकार इन सभी के तीन-तीन दण्डक हैं। इसी प्रकार उपचयन किया, उपचयन करते हैं और उपचयन करेंगे। बन्धन किया, बन्धन करते हैं और बन्धन करेंगे। उदीरणा की, उदीरणा करते हैं और उदीरणा करेंगे। वेदन किया, वेदन करते हैं और वेदन करेंगे। क्षय किया, क्षय करते हैं और क्षय करेंगे। वैमानिकों पर्यन्त इसी प्रकार से एक-एक पद में तीन-तीन दण्डक जानने चाहिएं, क्षय करेंगे पर्यन्त।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में कषायों का विस्तृत वर्णन किया गया है और उनकी स्थिति चौबीसों दण्डकों में बताई गई है। अब उन कषायों के त्रिकालवर्ती परिणामों का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते हैं:—

जीव ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों का बन्ध कभी क्रोध से करता है, कभी मान से, कभी माया एवं कभी लोभ से करता है। अपुनर्बंधक विशिष्ट आत्माओं को छोड़कर शेष सभी संसारी जीवों ने चार कषायों के द्वारा आठ कर्मों का बन्ध अतीत काल में किया, वर्तमान में कर रहे हैं और भविष्य में बन्ध करेंगे। यद्यपि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और अशुभ योग से भी कर्म-बन्ध होता है, वस्तुत: देखा जाए तो ये चारों कारण कषायों के ही विशिष्ट रूप हैं, अत: सूत्रकार कषायों की प्रधानता को लक्ष्य में रख कर ही उनके द्वारा कर्म-बन्ध का निर्देश कर रहे हैं। यद्यपि चयन, उपचयन और बन्ध ये तीन क्रियाएं एक ही अर्थ की द्योतक हैं, फिर भी समभिरूढ नय से यदि विचार किया जाए तो तीनों क्रियाएं भिन्न-भिन्न अर्थ का बोध कराती हैं, जैसे कि—

चयन—कषाय से परिणत हुए जीव के द्वारा कर्म-दलिकों के ग्रहण करने मात्र को चयन कहा जाता है।

उपचयन—ग्रहण किए हुए कर्मदलिकों का अबाधा काल को छोड़ कर ज्ञानावरण आदि रूपों में परिणत होना **उपचयन** कहलाता है। इसी का दूसरा नाम **"निषेक"** है। कर्म-दलिकों का न्यून होना ही निषेक है।

बन्ध—ज्ञानावरण आदि रूप से निषिक्त हुए कर्म का पुन: कषाय विशेष से जो निकाचन होता है, वह बन्ध कहलाता है। जैसे यह बन्ध क्रोध से होता है वैसे ही मान, माया और लोभ से भी होता है।

उदय और उदीरणा—जो कर्म अभी उदय में नहीं आए, किन्तु उन्हें साधना-विशेष द्वारा उदय में लाना अर्थात् जो कर्म भोग के योग्य नहीं हैं, उन्हें भोग के योग्य बनाकर उदय में लाना उदीरणा है। जब कर्म-प्रकृति स्वतः परिपाक को प्राप्त होती है तब वह उदय कहलाता है और जब करणों के द्वारा कर्म-प्रकृति को उदय में लाया जाता है तो उसे—उदीरणा कहा जाता है, यही उदय और उदीरणा में अन्तर है। जैसे कषायों के द्वारा कर्मों का बन्ध होता है, वैसे ही कषायों के द्वारा तथा संयम और तप के द्वारा उनकी उदीरणा भी होती है।

वेदन—उदय या उदीरणा के द्वारा कर्मफल की अच्छी या बुरी अनुभूति को अर्थात् कर्म-फल भोग को ''वेदन'' कहते हैं। जीव कषायों के द्वारा अतीत में कर्मफल का वेदन करते रहे हैं, वर्तमान में कर रहे हैं, और भविष्य में भी करेंगे।

यहां यह स्मरणीय है कि संसारी जीव जिस समय वेदन अर्थात् कर्मफल का भोग भोग रहे होते हैं उस समय साथ-साथ क्रोध, मान, माया और लोभ के कारण नवीन कर्मों का बन्ध भी कर रहे होते हैं, अतः ''कर्म से भोग, भोग से कर्म, यह कर्मों का अटल विधान'' के सिद्धान्त ने जन्म लिया है।

निर्जरा—आत्म-प्रदेशों से कर्म का अंशतः पृथक् होना निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकार की होती है—देश-निर्जरा और सर्व-निर्जरा। यहां सूत्रकार को देश-निर्जरा ही अभिप्रेत है, क्योंकि चौबीस दंडकों में मिथ्यादृष्टि जीव देश-निर्जरा ही कर सकते हैं। जब कर्म अपना फल देकर स्वतः आत्मा से अलग हो जाते हैं, तब कर्मों की इसी निर्जरा को देश-निर्जरा कहा जाता है। इस निर्जरा की गणना धर्म-साधना में नहीं होती। ऐसी निर्जरा तो जीव चार कषायों के द्वारा अतीत काल में करते रहे हैं, वर्तमान में कर रहे हैं और भविष्य में भी करते रहेंगे।

मिथ्यादृष्टि जीव की उदीरणा, वेदना और निर्जरा ये सब कर्म-बन्ध के ही कारण हैं[१], किन्तु सम्यग्दृष्टि देशविरति और सर्व-विरति के लिए उक्त तीन कारण विशुद्धि के हैं, साधना के क्षेत्र में ऊंचा उठने के हैं, अध्यात्म-पथ पर अग्रसर होने के हैं।

प्रतिमा-विश्लेषण

मूल—चत्तारि पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—समाहिपडिमा, उवहाणपडिमा, विवेगपडिमा, विउसग्गपडिमा।

चत्तारि पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—भद्दा, सुभद्दा, महाभद्दा, सव्वओभद्दा।

---

१. सम्यग्दृष्टि जीव देश-निर्जरा भी करते हैं और सर्व-निर्जरा भी।

चत्तारि पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—खुड्डिया-मोयपडिमा, महल्लिया मोयपडिमा, जवमज्झा, वइरमज्झा॥१७॥

छाया—चतस्रः प्रतिमाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—समाधि-प्रतिमा, उपधान-प्रतिमा, विवेक-प्रतिमा, व्युत्सर्ग-प्रतिमा।

चतस्रः प्रतिमाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—भद्रा, सुभद्रा, महाभद्रा, सर्वतोभद्रा।

चतस्रः प्रतिमाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्षुद्रिका-मोकप्रतिमा, महल्लिका-मोकप्रतिमा, यवमध्या, वज्रमध्या।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रतिमाएं अर्थात् प्रतिज्ञाएं कही गई हैं, जैसे—समाधि-प्रतिमा, उपधान (तपः) प्रतिमा, विवेक-प्रतिमा और कायोत्सर्ग-प्रतिमा।

चार प्रतिमाएं कही गई हैं, जैसे—भद्रा प्रतिमा, सुभद्रा प्रतिमा, महाभद्रा प्रतिमा, सर्वतोभद्रा प्रतिमा।

चार प्रतिमाएं कही गई हैं, जैसे—छोटी मोकप्रतिमा, बड़ी मोकप्रतिमा, यवमध्या (स्थूलमध्या) प्रतिमा और वज्रमध्या (कृशमध्या) प्रतिमा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में जिस कर्म-निर्जरा का वर्णन किया गया है, वह प्रतिमा-अनुष्ठान आदि के द्वारा ही होती है, अतः प्रतिमा अर्थात् प्रतिज्ञा का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है—

जिन ज्ञान-सम्पन्न साधकों के कषाय शान्त हो जाते हैं वे ही कर्म-निर्जरा के योग्य हुआ करते हैं। कषाय-शान्ति का साधन है प्रतिमा। प्रतिमा का अर्थ है अभिग्रह—प्रतिज्ञा। जो प्रतिज्ञा संयम एवं तप के अभिमुख हो वही प्रतिमा कहलाती है।

१. जिस प्रतिज्ञा से श्रुत एवं चारित्र की वृद्धि हो उसे "**समाधिप्रतिमा**" कहते हैं।

२. जिस प्रतिज्ञा से घोरतप की आराधना की जाए वह "**उपधानप्रतिमा**" है।

३. जिस प्रतिज्ञा से जीवनोपयोगी शुद्ध एवं कल्पनीय वस्तु ही ग्रहण की जाए वह "**विवेक प्रतिमा**" है।

४. जिस प्रतिज्ञा से ममत्व को सर्वथा हटाया जाए वह "**व्युत्सर्ग-प्रतिमा**" कहलाती है।

१. पूर्व आदि दिशाओं की ओर यथाक्रम मुख करके प्रत्येक दिशा में चार-चार प्रहर तक कायोत्सर्ग करना (इसकी पूर्णता दो अहोरात्र में होती है) इस विशिष्ट अनुष्ठान को "**भद्रा-प्रतिमा**" कहते हैं।

२. जिस प्रतिमा की पद्धति तो भद्रा के समान हो तथा वर्द्धमान परिणामों से जिसकी

आराधना की जाए उसे "**सुभद्रा प्रतिमा**" कहते हैं। इसका आद्योपान्त विवरण लुप्त हो गया है, अतः इस विषय में वृत्तिकार भी मौन हैं।

३. पूर्व आदि चारों दिशाओं की ओर मुंह करने का और प्रत्येक दिशा में एक-एक अहोरात्र कायोत्सर्ग करने का विधान है, इसकी पूर्णता चार अहोरात्र में होती है। इस प्रतिमा को "**महाभद्रा प्रतिमा**" कहते हैं।

४. चार दिशाएं, चार विदिशाएं, ऊर्ध्व दिशा और अधोदिशा इन दस दिशाओं की ओर मुंह करके एक-एक दिशा में एक-एक अहोरात्र कायोत्सर्ग करना इस को "**सर्वतोभद्रा प्रतिमा**" कहते हैं। यह प्रतिमा दस अहोरात्र में पूर्ण होती है।

१. सात उपवासों से पूर्ण होने वाली प्रश्रवण प्रतिज्ञा को "**क्षुद्रिका मोकप्रतिमा**" कहते हैं।

२. आठ उपवासों से पूर्ण होने वाली प्रश्रवण प्रतिज्ञा को "**महती मोकप्रतिमा**" कहते हैं।

३. जो प्रतिमा यव के समान मध्य में स्थूल और आदि अन्तहीना हो वह "**यवमध्या चन्द्रप्रतिमा**" कहलाती है।

४. जो प्रतिमा आदि अन्त में स्थूला हो और मध्य में क्षीण हो वह "**वज्रमध्या चन्द्रप्रतिमा**" कहलाती है।

यद्यपि इन प्रतिमाओं का वर्णन द्वितीय स्थान के तृतीय उद्देशक के सूत्र ५१ में आ चुका है तथापि चतुर्थ स्थान के अनुरोध से इनकी चर्चा यहां केवल स्मृति के लिए की गई है। कर्मक्षय करने के लिए समाधि आदि प्रतिमाएं साधकों के लिए आवश्यक हैं।

अस्तिकाय और अजीवकाय

मूल—चत्तारि अत्थिकाया अजीवकाया पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए।

चत्तारि अत्थिकाया अरूविकाया पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए ॥१८॥

छाया—चत्वारोऽस्तिकाया अजीवकायाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः, आकाशास्तिकायः, पुद्गलास्तिकायः।

चत्वारोऽस्तिकाया अरूपिकायाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः, आकाशास्तिकायः, जीवास्तिकायः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार अस्तिकाय अजीवकाय कहे गए हैं, जैसे—धर्मास्तिकाय (गति-लक्षणरूप), अधर्मास्तिकाय (स्थिति लक्षणरूप), आकाशास्तिकाय (अवकाश-

लक्षणरूप) और पुद्गलास्तिकाय।

चार अस्तिकाय अरूपीकाय प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय।

विवेचनिका—पूर्वसूत्र में उन प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है जिनकी सत्ता जीवास्तिकाय में ही पाई जाती है। उससे विपरीत पदार्थ है अजीवास्तिकाय। अप्रस्तुत का ज्ञान प्रस्तुत के ज्ञान में सहायक होता है, अत: अप्रस्तुत अजीवास्तिकाय का सूत्रकार द्वारा विश्लेषण किया जाता है। "अजीवास्तिकाय" यह शब्द अजीव + अस्ति + काय—इन तीन शब्दों से बना हुआ समस्त पद है, जीव-रहित पदार्थ को अजीव कहा जाता है। अस्ति शब्द सत्ता वाचक अव्यय है। यहां अस्ति शब्द प्रदेशों का ही बोधक है। काय शब्द-समूह का द्योतक है। प्रदेशों के समूह को ही काय कहा जाता है। पंचास्तिकायों में ऐसे चार अस्तिकाय हैं जो अजीव होते हुए भी बहुप्रदेशी हैं। यद्यपि जीव भी अस्तिकाय है, तथापि वह अजीव नहीं है। सूत्रकार ने काल-द्रव्य को अजीवास्तिकाय में ग्रहण नहीं किया, क्योंकि कालद्रव्य के प्रदेश नहीं हैं।

पंचास्तिकायों में अरूपी अस्तिकाय चार ही ग्रहण किए गए हैं। पुद्गलास्तिकाय के अतिरिक्त शेष सब अरूपी हैं। इनमें जीवास्तिकाय भी है, क्योंकि वह भी अरूपी है। रूपी द्रव्य एक पुद्गलास्तिकाय ही है। जो वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाला है वही पुद्गल है, क्योंकि कहा भी है **"रूपं वर्णादिमत्त्वं तदस्ति येषां ते रूपिणः"** इससे प्रमाणित होता है कि जिसमें रूप है, उसमें गन्ध रस और स्पर्शादि गुण भी विद्यमान हैं। जिसमें गन्ध है उसमें रूप-रस और स्पर्श भी हैं। सभी सप्रदेशी द्रव्य संस्थानयुक्त होते हैं। काल द्रव्य अप्रदेशी है, अत: उसका कोई संस्थान नहीं है। रूपी और अरूपी पदार्थों के वर्णन से उनका अस्तित्व स्वयं सिद्ध है।[१]

फल और मनुष्य

मूल—चत्तारि फला पण्णत्ता, तं जहा—आमे णामं एगे आममहुरे, आमे णाममेगे पक्कमहुरे, पक्के णाममेगे आममहुरे, पक्के णाममेगे पक्कमहुरे। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—आमे णाममेगे आममहुर- फलसमाणे० ॥ १९ ॥

छाया—चत्वारि फलानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आमं नाम एकमामधुरम्, आमं नाम एकं पक्वमधुरम्, पक्वं नाम एकमाममधुरम्, पक्वं नाम एकं पक्वमधुरम्, एवामेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आमो नाम एक आममधुरफलसमानः।

---

१ इनकी विस्तृत व्याख्या पाचवें स्थान में की जाएगी।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के फल प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—एक फल कच्चा होने पर थोड़ा मीठा होता है, एक फल कच्चा होने पर अत्यन्त मीठा होता है, एक फल पक्का होने पर थोड़ा मीठा होता है, एक फल पक्का होने पर अत्यन्त'मीठा होता है।

इसी प्रकार चार प्रकार के पुरुष प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—१. एक पुरुष वय और श्रुत की अपेक्षा अपरिपक्व होता हुआ भी अपने में उपशमादि माधुर्य गुण थोड़ी मात्रा में रखता है, तब वह थोड़ा मीठा कच्चे फल के समान है। एक पुरुष वय की अपेक्षा अपरिपक्व है, तथापि श्रुतादि माधुर्य गुण पर्याप्त मात्रा में रखता है। एक पुरुष पक्व होता है, किन्तु उपशमादि माधुर्य गुण अल्प मात्रा में धारण करता है और एक पुरुष परिपक्व है, किन्तु उपशमादि माधुर्य गुण भी पर्याप्त मात्रा में रखता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में पुद्गलास्तिकाय का निर्देश किया गया है। फल भी पुद्गल रूप ही हैं, क्योंकि उसमें भी रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि गुण पाए जाते हैं। इस अपेक्षा से सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में उपमानरूप फल का दिग्दर्शन कराया है।

विश्व में जितने तरह के फल हैं उनमें कोई फल पक जाने पर खटरस होता है, कोई कटुरस, कोई कसैला होता है, परन्तु जो माधुर्यगुण-संपन्न हैं उन्हीं को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने कथन किया है। इस प्रकार के फल चार तरह के होते हैं, जैसे कि—

१. एक वह फल जो कच्चा होता हुआ भी किंचित् मधुर होता है।

२. एक वह फल जो कच्चा होता हुआ भी अति मधुर होता है।

३. एक वह फल जो पक्व होने पर भी किंचित् मधुर होता है।

४. एक वह फल जो परिपक्व होने पर अतीव मधुर होता है।

इस सूत्र में आम शब्द कच्चे अर्थ में प्रयुक्त है। यह कच्चापन मुख्यतया दो तरह का होता है, रंग से और रस से, जो फल रंगत देखने पर कच्चा लगता है और रस से भी कच्चा है वह पहला भंग है। जो देखने में कच्चा लगता है, किन्तु रस-परिपक्व अर्थात् मधुर है, वह दूसरे भंग में समाविष्ट है। जो फल देखने में परिपक्व लगता है, किन्तु रस की अपेक्षा से अभी परिपक्व नहीं हुआ, वह तीसरे भंग में अन्तर्भूत है। जो वर्ण एवं रस दोनों से ही परिपक्व है वह चौथे प्रकार का है।

फलों की तरह व्यक्ति भी चार प्रकार के होते हैं।

पुरुष

१. कुछ पुरुष अवस्था की अपेक्षा से तथा श्रुतज्ञान की अपेक्षा से परिपक्व नहीं होते

और उपशम आदि गुणों से तथा स्वभाव से उनमें माधुर्य भी स्वल्प ही होता है।

२. कुछ पुरुष वय और श्रुतज्ञान से तो परिपक्व नहीं होते, किन्तु उपशम आदि सद्गुणों से परिपक्व होने के कारण मधुर अवश्य होते हैं।

३. कुछ पुरुष वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध होते हुए भी उपशम आदि गुणों से या स्वभाव से इतने मधुर नहीं होते जितने होने चाहिएं।

४. कुछ पुरुष वय और श्रुत से भी वृद्ध होते हैं और उपशम आदि गुणों से तथा स्वभाव से भी अति मधुर हुआ करते हैं।

इनमें दूसरे और चौथे भंगवर्ती व्यक्ति श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर हैं। इस चतुर्भंगी से यह भी सिद्ध होता है कि जिस के वय, श्रुत तथा उपशमादि गुण परिपक्व हैं वह तो निःसंदेह सर्वोत्तम ही है, साथ ही जिसके उपशम आदि गुण वृद्धि को पा रहे हैं तथा शुद्ध एवं स्वच्छ हैं वह आत्मा भी कालान्तर में परमपद को प्राप्त कर सकती है। जो उपशम आदि गुणों से हीन हैं, स्वभाव से मधुर नहीं हैं वे भले ही वय और श्रुत से लघु या वृद्ध हों उनका जीवन साधु दृष्टि से नगण्य है। कषायों के उपशान्त होने पर ही चारित्र की विशुद्धि होती है। कषायों की तीव्रता जीवन को कटु बना देती है।

सत्य, मृषा एवं प्रणिधान विश्लेषण

मूल—चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते, तं जहा—काउज्जुयया, भासुज्जुयया, भावुज्जुयया, अविसंवायणाजोगे।

चउव्विहे मोसे पण्णत्ते, तं जहा—कायअणुज्जुयया, भासअणुज्जुयया, भावअणुज्जुयया, विसंवादणाजोगे।

चउव्विहे पणिहाणे पण्णत्ते, तं जहा—मणपणिहाणे, वइपणिहाणे, कायपणिहाणे, उवकरणपणिहाणे। एवं णेरइयाणं, पंचिंदियाणं जाव वेमाणियाणं।

चउव्विहे सुप्पणिहाणे पण्णत्ते, तं जहा—मणसुप्पणिहाणे जाव उवगरणसुप्पणिहाणे। एवं संजयमणुस्साणवि।

चउव्विहे दुप्पणिहाणे पण्णत्ते, तं जहा—मणदुप्पणिहाणे जाव उवकरणदुप्पणिहाणे। एवं पंचिंदियाणं जाव वेमाणियाणं ॥२०॥

छाया—चतुर्विधं सत्यं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—काय-ऋजुकता, भाष-ऋजुकता, भाव-ऋजुकता, अविसंवादनायोगः।

चतुर्विधं मृषा प्रज्ञप्तं तद्यथा—काय-अनृजुकता, भाष-अनृजुकता, भाव-अनृजुकता, विसंवादनायोगः।

चतुर्विधं प्रणिधानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—मनः प्रणिधानं, वचः-प्रणिधानं, काय-प्रणिधानं, उपकरण-प्रणिधानम्। एवं नैरयिकाणां, पंचेन्द्रियाणां यावत् वैमानिकानाम्।

चतुर्विधं सुप्रणिधानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—मनः सुप्रणिधानं यावत् उपकरणसुप्रणिधानम्। एवं संयतमनुष्याणामपि।

चतुर्विधं दुष्प्रणिधानं प्रज्ञप्तं तद्यथा—मनोदुष्प्रणिधानं, यावत् उपकरण-दुष्प्रणिधानम्। एवं पंचेन्द्रियाणां यावत् वैमानिकानाम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार का सत्य प्रतिपादन किया गया है, जैसे—काय की सरलता, भाषा की सरलता, भाव की सरलता और यथार्थ-प्रवृत्ति।

चार प्रकार का असत्य प्रतिपादन किया गया है, जैसे—काय की वक्रता, भाषा की वक्रता, भावों की वक्रता और अयथार्थ प्रवृत्ति।

चार प्रकार का प्रणिधान (मन-वचन और काय की प्रवृत्ति) प्रतिपादन किया गया है, जैसे—मनः-प्रणिधान, वचन-प्रणिधान, काय-प्रणिधान और उपकरण-प्रणिधान। इसी प्रकार नारकियों एवं पंचेन्द्रियों से लेकर वैमानिकों पर्यन्त कथन करना।

चार प्रकार का सुप्रणिधान प्रतिपादन किया गया है, जैसे—मनः-सुप्रणिधान यावत् उपकरण सुप्रणिधान। इसी तरह संयत मनुष्यों का भी जानना चाहिए।

चार प्रकार का दुष्प्रणिधान प्रतिपादन किया गया है, जैसे—मनोदुष्प्रणिधान यावत् उपकरणदुष्प्रणिधान। इसी प्रकार पञ्चेन्द्रियों से लेकर वैमानिकों पर्यन्त जानना चाहिए।

विवेचनिका—जो आत्मा उपशम आदि गुणयुक्त है, उसी में सत्य का विकास हो सकता है और सत्यनिष्ठा के परिपक्व हो जाने पर ही साधक मृषा का परित्याग और प्रणिधान अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है, अतः अब सूत्रकार सत्यादि का वर्णन प्रस्तुत करते हैं—

सत्य के चार रूप—

सन्मार्ग, मोक्ष-मार्ग, सरलता, निष्कपटता इत्यादि अर्थों में ऋजुता शब्द का प्रयोग होता है। सत्य और ऋजुता का परस्पर इतना घनिष्ट सम्बन्ध है जितना कि मिश्री और मधुरता में होता है। जो सरल है, वही सत्यवादी है और जो सत्यवादी है वही सरल है। इनका साहचर्य नित्य एवं शाश्वत है। जो ऋजु है वही सत्य है और जो सत्य है वही ऋजु है। यह सत्य चार प्रकार से व्यक्त होता है, जैसे कि—

१. **काय-ऋजुकता**—कुटिलमार्ग से काय अर्थात् शरीर को विमुख करना और उसे यथार्थ मार्ग में ले जाना, हिंसा आदि क्रियाओं से काय को हटाना, जिसमें भगवान की आज्ञा है उसी में प्रवृत्ति करना काय-सत्य है।

२. **भाषा-ऋजुकता**—विचार कर बोलना, हितावह और प्रिय बोलना, नम्रता एवं शांति से बोलना, निर्भय एवं निर्लोभता से बोलना, निर्विकार एवं शास्त्रपूत वचन बोलना भाषा-सत्य है।

३. **भाव-ऋजुकता**—सम्यग्दृष्टि तथा शल्यरहितव्रती, अप्रमत्त संयत और धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में जो भी संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं, वह भाव-सत्य कहलाता है। तत्त्वों पर शुद्ध श्रद्धान ही भाव-सत्य है।

४. **अविसंवादनायोग**—ग्रहण की हुई शुभ प्रतिज्ञा को तथा दिए हुए शुभ आश्वासन को पूरा करना, प्रवचन-प्रभावना करना, सुपात्र को दान देना, साहित्य-सेवा करना, गुरु की सुश्रूषा करना, योगों की यथार्थ-प्रवृत्ति करना अविसंवादना सत्य है। सत्य का सर्वतोमुखी साक्षात्कार करना ही भगवद्-दर्शन है।

असत्य के चार रूप

सत्य और असत्य में इतना अंतर है जितना सूर्य और अन्धकार में है, सत्य से सर्वथा विपरीत क्रिया को असत्य एवं मिथ्या कहते हैं।

सत्य स्व-पर प्रकाशक है, किन्तु असत्य स्वयं अभावात्मक है, अज्ञानात्मक तथा अप्रमाणात्मक है। असत्य विषमिश्रित भोजन की तरह परित्याज्य है। उसके भी चार रूप हैं, जैसे कि—

१. **काय-अनृजुकता**—हिंसा आदि पाप-क्रियाओं में काय के द्वारा प्रवृत्ति करना, दुर्व्यसनों का सेवन, संसार में प्रवृत्ति, मोक्ष के विमुख रहना और दुराचार में आसक्ति काय-असत्य है।

२. **भाषा-अनृजुकता**—बिना विचारे बोलना, असंबद्ध वचन बोलना, अहितकर एवं अप्रिय वचन बोलना, सकपट भाषा बोलना, गाली देना, निंदा करना, कलहकारी भाषा बोलना भाषा-असत्य है।

३. **भाव-अनृजुकता**—मन में सरलता का न होना, अप्रशस्त लेश्या में तथा मिथ्यात्व में वर्तना, निदान करना भाव-असत्य है।

४. **विसंवादना योग**—ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा तोड़ना, विश्वासघात करना, आश्वासन देकर बदल जाना, मन, वचन और काय की एकता का न होना विसंवादनायोग है, असत्य के द्वारा जीव अशुभकर्मों का उपार्जन करता है, दुर्गतियों में भटकता है।

बंध और मोक्ष प्रणिधान के द्वारा ही होता है। प्रणिधान शब्द समाधि या समाधान का

द्योतक है। वह दो तरह का होता है—शुभ और अशुभ। सामान्य रूप से इन में प्रवृत्त होना प्रणिधान कहलाता है।[1]

किसी एक विषय में मन आदि का एकाग्र होना प्रणिधान है। यह प्रणिधान संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के सभी दंडकों में पाया जाता है। इसका प्रयोग तीनों दृष्टियों के स्वामी करते हैं, किन्तु अप्रमत्त संयत के मन, वचन, काय और उपकरण इन सब में सुप्रणिधान ही होता है, क्योंकि संयत का मन धर्मध्यान से ओझल नहीं होता। वाणी सत्यमय होती है, काय और उपकरण में संयम तथा यतना सदैव रहती है। अतः सुप्रणिधान संयत मनुष्यों में ही पाया जाता है। शेष संज्ञी जीवों में सुप्रणिधान नहीं, अपितु प्रणिधान और दुष्प्रणिधान दोनों ही पाए जाते हैं। सुप्रणिधान एकान्त संयम और निर्जरा का कारण है और दुष्प्रणिधान एकान्त असंयम और बंध का कारण है। दोनों के मध्य में जो जीव की प्रवृत्ति होती है उसे प्रणिधान कहा जाता है।

पुरुष-विश्लेषण

मूल—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—आवायभद्दए णाममेगे णो संवासभद्दए, संवासभद्दए णाममेगे णो आवायभद्दए, एगे आवायभद्द-एवि संवासभद्दएवि, एगे णो आवायभद्दए नो वा संवासभद्दए।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—अप्पणो नाममेगे वज्जं पासइ णो परस्स, परस्स णाममेगे वज्जं पासइ०।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—अप्पणो णाममेगे वज्जं उदीरेइ, णो परस्स। अप्पणो नाममेगे वज्जं उवसामेइ, णो परस्स०।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—अब्भुट्ठेइ नाममेगे, णो अब्भुट्-ठावेइ। एवं वंदेइ णाममेगे णो वंदावेइ। एवं सक्कारेइ, सम्माणेइ, पूएइ, वाएइ, पडिपुच्छइ, पुच्छइ, वागरेइ।

सुत्तधरे णाममेगे, णो अत्थधरे, अत्थधरे नाममेगे णो सुत्तधरे ॥२१॥

छाया—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आपातभद्रको नामैको नो संवासभद्रकः, संवासभद्रको नामैको नो आपातभद्रकः, एक आपातभद्रकोऽपि, संवासभद्रकोऽपि, एको नो आपातभद्रको नो वा संवासभद्रकः।

---

१. इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—
"प्रणिधिः प्रणिधानं प्रयोगः, तत्र मनः प्रणिधानम्—आर्त्तरौद्रधर्मादिरूपतया प्रयोगो मनः-प्रणिधानम्। एवं वाक् काययोरपि। उपकरणस्य लौकिक लोकोत्तररूपस्य वस्त्रपात्रादेः संयमासंयमोपकाराय प्रणिधान प्रयोग उपकरण—प्रणिधानम्"।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आत्मनो नामैकोऽवद्यं पश्यति नो परस्य परस्य नामैकोऽवद्यं पश्यति०।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आत्मनोनामैकोऽवद्यमुदीरयति, नो परस्य। आत्मनो नामैकोऽवद्यमुपशमयति, नो परस्य।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—अभ्युत्तिष्ठते नामैको, नो अभ्युत्थापयति। एवं वन्दते नामैको, नो वन्दयति। एवं सत्करोति, सम्मानयति, पूजयति, वाचयति, प्रतिपृच्छति, पृच्छति, व्याकरोति।

सूत्रधरो नामैको नो अर्थधरः, अर्थधरो नामैको नो सूत्रधरः।

शब्दार्थ—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—, **आवायभद्दए णाममेगे**—कोई मिलने में अच्छा होता है, किन्तु, **णो संवासभद्दए**—सहवास में अच्छा नहीं होता, **संवासभद्दए णाममेगे**—कोई व्यक्ति साथ रहने में अच्छा होता है, किन्तु, **णो आवायभद्दए**—मिलने में अच्छा नहीं, **एगे आवायभद्दए वि**—एक पुरुष मिलने में भी अच्छा और, **संवासभद्दएवि**—सहवास में भी अच्छा, **एगे णो आवायभद्दए**—एक न तो मिलने में अच्छा और, **णो संवासभद्दए**—सहवास में अच्छा नहीं होता है।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—, **अप्पणो नाममेगे वज्जं पासइ**—एक व्यक्ति अपना दोष देखता है, **णो परस्स**—अन्य का नहीं, **परस्स णाममेगे वज्जं पासइ**—एक पुरुष दूसरे का दोष देखता है।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—, **अप्पणो णाममेगे वज्जं उदीरेइ**—एक व्यक्ति अपना अवद्य अर्थात् दोष कहता है, **णो परस्स**—दूसरे का नहीं।

अप्पणो नाममेगे वज्जं उवसामेइ—एक व्यक्ति अपना दोष उपशान्त करता है, **णो परस्स**—दूसरे का नहीं।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—**अब्भुट्ठेइ नाममेगे**—एक पुरुष उठकर अभ्युत्थान करता है, **णो अब्भुट्ठावेइ**—दूसरे से अभ्युत्थान नहीं करवाता, **एवं**—इसी प्रकार, **वंदइ णाममेगे णो वंदावेइ**—एक स्वयं वन्दना करता है, किन्तु वन्दना करवाता नहीं, **एवं**—इसी तरह, **सक्कारेइ**—सत्कार करता है, **सम्माणेइ**—सम्मान करता है, **पूएइ**—पूजा करता है, **वाएइ**—वाचन करता है, **पडिपुच्छइ**—प्रतिप्रश्न करता है, **पुच्छइ**—पूछता है, **वागरेइ**—कथन करता है।

सुत्तधरे णाममेगे—एक पुरुष सूत्रधर है, किन्तु, **णो अत्थधरे**—अर्थ जानने वाला नहीं, **अत्थधरे णाममेगे**—एक पुरुष अर्थज्ञ है, किन्तु, **णो सुत्तधरे**—सूत्रों को नहीं जानता।

मूलार्थ—चार प्रकार के पुरुष प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—एक पुरुष मिलने

में अच्छा होता है, किन्तु साथ रहने में अच्छा नहीं। एक पुरुष साथ रहने में अच्छा होता है, किन्तु मिलने में अच्छा नहीं। एक पुरुष मिलने में भी अच्छा और साथ रहने में भी अच्छा होता है। एक पुरुष न मिलने में अच्छा और न साथ रहने में ही अच्छा होता है।

चार प्रकार के पुरुष प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—एक अपना दोष देखता है, दूसरे का नहीं। एक दूसरे का दोष देखता है, अपना नहीं। एक अपना भी दोष देखता है, दूसरे का भी। एक न अपना दोष देखता है, न दूसरे का।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक अपना दोष प्रगट करता है, दूसरे का नहीं। एक दूसरे का दोष प्रकट करता है, अपना नहीं। एक अपना दोष भी प्रकट करता है और दूसरे का भी। एक न अपना दोष प्रकट करता है, न दूसरे का।

चार प्रकार पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक अपना दोष दूर करता है, दूसरे का नहीं। एक दूसरे के दोष को दूर करता है, अपना दोष नहीं। एक अपना दोष भी दूर करता है अन्य का भी, एक न अपना दोष दूर करता है और न ही दूसरे का।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं—कुछ गुरुजनों का अभ्युत्थान स्वयं करते हैं, किन्तु दूसरे से अभ्युत्थान नहीं करवाते, इसी तरह इसकी भी चतुर्भंगी जान लेनी चाहिए। इसी तरह कुछ व्यक्ति स्वयं वन्दन करते हैं, परन्तु वन्दन करवाते नहीं। इसी प्रकार कुछ व्यक्ति सत्कार करते हैं, करवाते नहीं। कुछ व्यक्ति सम्मान करते हैं, करवाते नहीं। पूजा करते हैं, करवाते नहीं। प्रतिप्रश्न करते हैं, करवाते नहीं। पूछते हैं, पुछवाते नहीं। व्याख्या करते हैं, करवाते नहीं। इन सभी की चतुर्भंगियां भी जान लेनी चाहिएं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र के समान इस सूत्र में भी चौदह चतुर्भंगियों के द्वारा मानव प्रकृति, चेष्टा, व्यवहार, विचार एवं शरीर लक्षण आदि अनेक कारणों से सभी व्यक्ति परस्पर विभिन्न होने से किसी भी एक भंग में समाविष्ट नहीं हो सकते, अतः उनका एक में नहीं, अपितु चतुर्भंगी में समावेश हो जाता है। जैसा कि मिलन और संवास के विषय में सूत्रकार ने निर्देश किया है।

१. कुछ व्यक्ति मिलने के समय तो अत्यन्त प्रेम दर्शाते हैं, किन्तु जब उनके साथ रहन-सहन का काम पड़ता है तो वे अच्छे सिद्ध नहीं होते। ठग, स्वार्थी, मक्कार, खुशामदी इस तरह के पुरुष उक्त भंग के द्वारा वर्णित हैं।

२. कुछ व्यक्ति हृदय से सरल और वाणी से कठोर होते हैं, उनसे जब पहली बार मिलन होता है तब वे इतने अच्छे सिद्ध नहीं होते, किन्तु जब उनके साथ कुछ दिन मेल-मिलाप रहता है, तब वे सदा के लिए हितैषी सिद्ध होते हैं।

३. कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जिनका दर्शन, संलाप और मिलन तो मधुर होते ही हैं, वे व्यावहारिक धरातल पर भी मधुर भाषी, हितकारी एवं शुभेच्छु सिद्ध होते हैं। जितने परोपकारी दाता, शान्तचेता, धर्मात्मा, सज्जन हैं, वे उक्त भंग के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

४. कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो दर्शन, मिलन, वार्तालाप आदि की दृष्टि से अनिष्टकर एवं अहितकर होते हैं और उनका साथ भी अहितकर प्रमाणित होता है। इस प्रकार के पुरुष सबसे निकृष्ट कोटि के होते हैं, इन्हीं को सूत्रकार ने चतुर्थ भंग में रखा है।

"**संवासभद्दए**" का आशय है—अत्यन्त उपकारी होना और "**नो संवासभद्दए**" का अभिप्राय है अपकारी होना जो कि प्रत्येक दृष्टि से हानिकारक हैं। उनके सम्पर्क में रहने वाले को हानि के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं होता।

२. दोष-निरीक्षण की दृष्टि से भी व्यक्ति के चार रूप है—

(क) कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो अपना दोष देखते या मानते हैं, परन्तु अन्य के दोष नहीं देखते।

(ख) कुछ व्यक्ति अन्य के दोष देखते हैं, अपने दोष नहीं देखते।

(ग) कुछ व्यक्ति अपने दोष भी देखते हैं और अन्य लोगों के दोष भी देखा करते हैं।

(घ) कुछ व्यक्ति ऐसे भी हुआ करते हैं, जो न अपने दोषों की ओर देखते हैं और न दूसरों के दोषों की ओर देखा करते हैं।

पहले भंग में सज्जनों की, दूसरे में दुर्जनों की, तीसरे में प्रमत्त संयत की और चौथे में मूर्ख, या धर्मविमुख की गणना की गई है। यहां "**वज्जं**" पद में प्राकृत होने के कारण 'अ' का लोप हो गया है, अत: इसकी संस्कृत छाया 'अवद्यं' हो सकती है। 'अवद्य' पाप को कहते हैं। **वज्जं** की संस्कृत छाया वर्ज्यं भी हो सकती है, **वर्जितुं योग्यं वर्ज्यं** इस निरुक्ति के अनुसार वर्ज्य का अर्थ त्याज्य अर्थात् पाप होता है। यदि "**वज्जं**" का संस्कृत रूप "**वज्रं**" करें तो इस का अर्थ होता है—प्रबल पाप, जो कि वज्र की तरह भारी प्रबल और अपरिमार्ज्य होता है। कलह कषाय आदि का "**वज्जं**" में अंतर्भाव हो जाता है।

३. अब कर्म-उदीरणा के माध्यम से मानव-व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(क) कुछ व्यक्ति अपने किए हुए कर्मों की उदीरणा करते हैं, दूसरे द्वारा किए हुए कर्मों की उदीरणा नहीं करते।

(ख) कुछ व्यक्ति दूसरों के किए हुए कलह आदि कर्मों की उदीरणा करते हैं, अपने कर्मों की नहीं।

(ग) कुछ व्यक्ति अपने और दूसरे दोनों के कलह आदि कर्मों की उदीरणा करते हैं।

(घ) कुछ व्यक्ति न अपने किए हुए कलह आदि की उदीरणा करते हैं और न दूसरों की।

जो कर्म उदय के योग्य तो है, परन्तु उदय में नहीं आया, उसे तप आदि द्वारा भोगने योग्य बना देना उदीरणा कहलाता है। अथवा उपशान्त हुए कलह को पुनः जगाना या पीड़ा उत्पादन से उदय में प्रवेश करना भी उदीरणा ही है। कलह आदि की उदीरणा करने से असमाधि पैदा होती है, भगवान ने ऐसी उदीरणा का निषेध किया है।

४. अब कषाय उपशमन की दृष्टि से मानवीय चरित्र का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(क) एक व्यक्ति अपने कषायों का उपशमन करता है, दूसरों का नहीं।

(ख) एक व्यक्ति दूसरे के कषायों का उपशमन करता है, अपने नहीं।

(ग) एक व्यक्ति अपने कषायों का भी उपशमन करता है और दूसरों के कषायों का भी।

(घ) एक न अपने कषायों का उपशमन करता है और न दूसरों के कषायों का। इनमें पहले भंग में वर्णित व्यक्ति श्रेष्ठ हैं और तीसरे भंग के श्रेष्ठतर हैं।

५. अब गुरुजनों के समादर की दृष्टि से मनुष्य का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(क) एक स्वयं गुरु आदि का अभ्युत्थान (खड़ा होना) करता है, परन्तु किसी से करवाता नहीं।

(ख) एक दूसरे से अभ्युत्थान करवाता है, परन्तु स्वयं नहीं करता।

(ग) एक स्वयं भी अभ्युत्थान करता है और दूसरे से भी करवाता है।

(घ) एक न स्वयं अभ्युत्थान करता है और न दूसरे से ही करवाता है।

पहले भंग में लघु पर्याय वाले साधु या लघु पदाधिकारी, दूसरे भंग में पर्याय-ज्येष्ठ गुरु आदि एवं उच्चतम पदाधिकारी, तीसरे भंग में गणधरादि एवं अन्य मान्य पदाधिकारी और चौथे भंग में जिनकल्पी मुनि या अविनीत साधु और गृहस्थ ग्रहण किए गए हैं।

६. वन्दन की दृष्टि से भी मानव-व्यक्तित्व के चार रूप हो जाते हैं—

(क) एक व्यक्ति स्वयं वन्दना करता है, किन्तु दूसरे से वन्दना नहीं करवाता।

(ख) एक व्यक्ति दूसरे से वन्दना करवाता है, पर स्वयं वन्दना नहीं करता।

(ग) एक स्वयं भी वन्दना करता है और दूसरों से भी करवाता है।

(घ) एक न स्वयं वन्दना करता है और न दूसरों से करवाता है।

७. सत्कार के आधार पर मानव के चतुर्विध व्यक्तित्व को व्यक्त करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(क) एक व्यक्ति वस्त्र आदि के द्वारा स्वयं किसी का सत्कार करता है, पर किसी

से सत्कार करवाता नहीं।

(ख) एक व्यक्ति दूसरे से सत्कार करवाता है, पर स्वयं किसी का सत्कार नहीं करता।

(ग) एक व्यक्ति स्वयं भी सत्कार करता है और दूसरों से भी करवाता है।

(घ) एक न स्वयं किसी का सत्कार करता है और न दूसरों से अपना सत्कार करवाता है।

८. सम्मान की दृष्टि से मानवता का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार चतुर्भंगी उपस्थित करते हैं—

(क) एक व्यक्ति स्तुति आदि के द्वारा दूसरे का सम्मान करता है पर दूसरे से अपना सम्मान नहीं करवाता।

(ख) एक दूसरे से अपना सम्मान करवाता है पर स्वयं किसी का नहीं करता।

(ग) एक स्वयं भी दूसरे का सम्मान करता है और दूसरे से भी अपना सम्मान करवाता है।

(घ) एक न स्वयं किसी का सम्मान करता और न दूसरे से करवाता है।

९. अब वाचना को लक्ष्य में रखकर मानव-व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जाता है—

(क) एक व्यक्ति दूसरे को वाचना देता है, पर स्वयं वाचना नहीं लेता।

(ख) एक व्यक्ति दूसरे से वाचना लेता है, पर किसी को वाचना नहीं देता।

(ग) एक जिज्ञासु की तरह वाचना देता भी है और दूसरों से लेता भी है।

(घ) एक व्यक्ति न वाचना देता है और न लेता है।

पहले भंग में आचार्य-उपाध्याय, दूसरे में नवीन शिष्य, तीसरे भंग में परोपकारी बहुश्रुत, चौथे भंग में जिनकल्पी, कल्पातीत या मूर्ख व्यक्तियों को रखा गया है।

१०. प्रश्न पूछने की दृष्टि से मानव-व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए चतुर्भंगी इस प्रकार उपस्थित की गई है—

(क) एक पुरुष सूत्र या अर्थ के विषय में शंका होने पर स्वयं पूछता है, किसी से पुछवाता नहीं।

(ख) एक व्यक्ति किसी दूसरे से पुछवाता है, किन्तु स्वयं नहीं पूछता।

(ग) एक स्वयं भी पूछता है और अन्य व्यक्तियों से भी पुछवाता है।

(घ) एक न स्वयं पूछता है और न अन्य के द्वारा पुछवाता है।

पहले भंग में निर्भीक तार्किक, दूसरे में लज्जालु एवं भीरु तर्कशील, तीसरे में जो किसी बात को पूछने के लिए सोत्साही हैं और किसी-किसी बात में लज्जालु एवं भीरु हैं उनकी गणना की गई है, चौथे भंग में जो पूर्ण श्रुतज्ञानी हैं या सर्वथा मूढ़ हैं वे समाविष्ट होते हैं।

११. अब परिप्रश्न अर्थात् पुनः-पुनः पूछने की दृष्टि से साधक व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए कहा गया है—

(क) एक पूछे हुए सूत्र या अर्थ को पुनः पूछता है, किन्तु पुछवाता नहीं।

(ख) एक व्यक्ति पूछे हुए विषय को किसी से पुछवाता है, स्वयं नहीं पूछता।

(ग) एक व्यक्ति पूछे हुए विषय को पुनः कुछ स्वयं पूछता है और कुछ अन्य से पूछवाता है।

(घ) एक न स्वयं पुनः पूछता है और न अन्य किसी से पुनः पुछवाता है।

इस चतुर्भंगी में भी पूर्ववत् पात्रों की कल्पना कर लेनी चाहिए। पूछे हुए विषय को पुनः पूछना ही प्रतिपृच्छना कहलाती है।

१२. अब निर्णयात्मिका बुद्धि की दृष्टि से मानवता का विश्लेषण करते हुए कहा गया है—

(क) एक व्यक्ति किसी विषय का निर्णय स्वयं करता है, अन्य से निर्णय नहीं करवाता।

(ख) एक दूसरे से निर्णय करवाता है, परन्तु स्वयं नहीं करता।

(ग) एक व्यक्ति कुछ निर्णय स्वयं करता है और कुछ दूसरों से करवाता है।

(घ) एक न स्वयं निर्णय करता है और न दूसरों से करवाता है।

इन में पहला समर्थज्ञानी, दूसरा असमर्थज्ञानी, तीसरा कुछ समर्थ और कुछ असमर्थज्ञानी, चौथा बिल्कुल असमर्थ अभिमान-ग्रस्त एवं निर्णय के प्रति रुचि न रखने वाले का ग्रहण किया जाता है। यहां **"वागरेइ"—व्याकरोति,** क्रियाएं निर्णय और कथन अर्थ की द्योतक हैं।

१३. अब सूत्र एवं उसके अर्थ को ग्रहण करने की दृष्टि से साधक व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया गया है—

(क) एक सूत्रधर होता है, अर्थधर नहीं।

(ख) एक अर्थधर होता है, पर सूत्रधर नहीं।

(ग) एक सूत्रधर भी होता है और अर्थधर भी।

(घ) एक न सूत्रधर है और न अर्थधर ही।

जिसे सूत्र का मूलपाठ कण्ठस्थ है वह सूत्रधर कहलाता है, जिसको अर्थ का तो स्मरण है पर सूत्र कण्ठस्थ नहीं, वह अर्थधर है, जिसके दोनो कण्ठस्थ हैं वह तीसरे भंग से अभिप्रेत है। जो सूत्र और अर्थ दोनों से ही अपरिचित एवं अनभिज्ञ है वह चौथे भंग से इष्ट है।

जो सूत्र को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है वह धर्म-कथा आदि द्वारा अर्थ-ग्रहण करे, थोकड़ों का ज्ञान अर्थ श्रुत होता है, जो दोनों को ग्रहण करने में समर्थ है उसे ही उभय श्रुतधर

कहा जाता है। शेष सब अनुभय कहलाते हैं। श्रुतसाहित्य सूत्र और अर्थ दोनों में व्याप्त है।

जैनागमों के निर्माताओं ने मानव-चरित्र को अनेक पहलुओं और दृष्टिकोणों से देखा है और उसका सूक्ष्म विश्लेषण किया है। प्रस्तुत सूत्र की विवेचनिका इस सत्य का साकार निदर्शन है।

इन्द्रों के लोकपाल

मूल—चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो चत्तारि लोगपाला पण्णत्ता, तं जहा—सोमे, जमे, वरुणे, वेसमणे। एवं बलिस्सवि—सोमे, जमे, वेसमणे, वरुणे। धरणस्स—कालपाले, कोलपाले, सेलपाले, संखपाले। वेणुदेवस्स—चित्ते, विचित्ते, चित्तपक्खे, विचित्तपक्खे। वेणुदालिस्स—चित्ते, विचित्ते, विचित्तपक्खे, चित्तपक्खे। हरिकंतस्स—पभे, सुप्पभे, पभकंते, सुप्पभकंते। हरिस्सहस्स—पभे, सुप्पभे, सुप्पभकंते, पभकंते। अग्गिसिहस्स— तेऊ, तेउसिहे, तेउकंते, तेउप्पभे। अग्गिमाणवस्स—तेऊ, तेउसिहे, तेउप्पभे, तेउकंते। पुन्नस्स—रूए, रूयंसे, रूयकंते, रूयप्पभे। एवं विसिट्ठस्स—रूए, रूयंसे, रूयप्पभे, रूयकंते। जलकंतस्स—जले, जलरूए, जलकंते, जलप्पभे, जलप्पहस्स—जले, जलरूए, जलप्पहे, जलकंते, अमियगइस्स—तुरियगई, खिप्पगई, सीहगई, सीहविक्कमगई, अमिय-वाहणस्स—तुरियगई, खिप्पगई, सीहविक्कमगई, सीहगई। वेलंबस्स—काले, महाकाले, अंजणे, रिट्ठे। पभंजणस्स—काले, महाकाले, रिट्ठे, अंजणे। घोसस्स—आवत्ते, वियावत्ते, णंदियावत्ते, महाणंदियावत्ते। महाघोसस्स—आवत्ते, वियावत्ते, महाणंदियावत्ते, णंदियावत्ते।

सक्कस्स—सोमे, जमे, वरुणे, वेसमणे। ईसाणस्स—सोमे, जमे, वेसमणे, वरुणे। एवं एगंतरिया जावच्चुतस्स।

चउव्विहा वाउकुमारा पण्णत्ता, तं जहा—काले, महाकाले, वेलंबे, पभंजणे॥२२॥

छाया—चमरस्य खलु असुरेन्द्रस्य असुरकुमारराजस्य चत्वारो लोकपालाः, प्रज्ञप्ता-स्तद्यथा—सोमः, यमः, वरुणः, वैश्रमणः। एवं बलेरपि—सोमः, यमः, वैश्रमणः, वरुणः। धरणस्य—कालपालः, कोलपालः, शैलपालः, शङ्खपालः। एवं भूतानन्दस्य चत्वारः कालपालः, कोलपालः, शङ्खपालः, शैलपालः वेणुदेवस्य—चित्रः, विचित्रः, चित्रपक्षः, विचित्रपक्षः। वेणुदालेः—चित्रः, विचित्रः, विचित्रपक्षः, चित्रपक्षः।

हरिकान्तस्य—प्रभः, सुप्रभः, प्रभकान्तः, सुप्रभकान्तः। हरिसहस्य—प्रभः, सुप्रभः, सुप्रभकान्तः, प्रभकान्तः। अग्निशिखस्य—तेजाः, तेजश्शिखः, तेजस्कान्तः, तेजस्प्रभः। अग्निमानवस्य—तेजाः, तेजश्शिखः, तेजस्प्रभः, तेजस्कान्तः। पूर्णस्य रूपः, रूपांशः, रूपकान्तः, रूपप्रभः। एवं विशिष्टस्य—रूपः, रूपांशः, रूपप्रभः, रूपकान्तः। जलकान्तस्य—जलः, जलरूपः, जलकान्तः, जलप्रभः। जलप्रभस्य—जलः, जलरूपः, जलप्रभः, जलकान्तः। अमितगतेः—त्वरितगतिः, क्षिप्रगतिः, सिंहगतिः, सिंहविक्रमगतिः। अमितवाहनस्य—त्वरितगतिः, क्षिप्रगतिः, सिंहविक्रमगतिः, सिंहगतिः। वेलम्बस्य—कालः, महाकाल, अञ्जनः, रिष्टः। प्रभञ्जनस्य—कालः, महाकालः, रिष्टः, अञ्जनः। घोषस्य—आवर्त्तः, व्यावर्त्तः, नन्दिकावर्त्तः, महानन्दिकावर्त्तः। महाघोषस्य—आवर्त्तः, व्यावर्त्तः, महानन्दिकावर्त्तः, नन्दिकावर्त्तः।

शक्रस्य—सोमः, यमः, वरुणः, वैश्रमणः। ईशानस्य—सोमः, यमः, वैश्रमणः, वरुणः। एवमेकान्तरिका यावत् अच्युतस्य।

चतुर्विधा वायुकुमाराः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कालः, महाकालः, वेलम्बः, प्रभञ्जनः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चमर नामक असुरेन्द्र, असुरेन्द्रकुमारराज के चार लोकपाल प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—सोम, यम, वरुण और वैश्रमण। इसी तरह बलि के भी सोम, यम, वैश्रमण और वरुण नामक चार लोकपाल हैं। धरण के कालपाल, कोलपाल, शैलपाल और शंखपाल चार लोकपाल हैं। इसी तरह भूतानन्द के कालपाल, कोलपाल, शंखपाल और शैलपाल ये चार लोकपाल हैं। वेणुदेव के चित्र, विचित्र, चित्रपक्ष और विचित्रपक्ष ये चार लोकपाल हैं।

वेणुदालि के चित्र, विचित्र, विचित्रपक्ष और चित्रपक्ष ये चार लोकपाल हैं। हरिकान्त के प्रभ, सुप्रभ, प्रभकान्त और सुप्रभकान्त ये चार लोकपाल हैं। हरिसह के प्रभ, सुप्रभ, सुप्रभकान्त और प्रभकांत ये चार लोकपाल हैं। अग्निशिख के तेज, तेजशिख, तेजस्कान्त और तेजस्प्रभ चार लोकपाल हैं। अग्निमानव के तेज, तेजशिख, तेजस्प्रभ और तेजस्कान्त चार लोकपाल हैं। पूर्ण के रूप, रूपांश, रूपकान्त और रूपप्रभ ये चार लोकपाल हैं। इसी प्रकार विशिष्ठ के रूप, रूपांश, रूपप्रभ और रूपकान्त ये चार लोकपाल हैं। जलकान्त के जल, जलरूप, जलकान्त और जलप्रभ चार लोकपाल हैं। जलप्रभ के जल, जलरूप, जलप्रभ और जलकान्त चार लोकपाल हैं। अमितगति के त्वरितगति, क्षिप्रगति, सिंहगति और सिंहविक्रमगति ये चार लोकपाल हैं। अमितवाहन के त्वरितगति, क्षिप्रगति, सिंहविक्रमगति और सिंहगति चार लोकपाल हैं। वेलम्ब के काल, महाकाल, अञ्जन और रिष्ट चार लोकपाल हैं। प्रभञ्जन के

काल, महाकाल, रिष्ट और अंजन चार लोकपाल हैं। घोष के आवर्त्त, व्यावर्त्त, नन्दिकावर्त्त और महानन्दिकावर्त्त चार लोकपाल हैं। महाघोष के आवर्त्त, व्यावर्त्त, महानन्दिकावर्त्त और नन्दिकावर्त्त चार लोकपाल हैं।

शक्रेन्द्र के—सोम, यम, वरुण और वैश्रमण चार लोकपाल हैं। ईशानेन्द्र के सोम, यम, वैश्रमण और वरुण ये चार लोकपाल हैं। इसी तरह एकान्तरित के यावत् अच्युत तक लोकपाल जानने चाहिएं।

चार प्रकार के वायुकुमार कथन किए गए हैं, जैसे—काल, महाकाल, वेलम्ब और प्रभञ्जन।

विवेचनिका—पूर्वसूत्र में पुरुष का विश्लेषण किया गया है। इन्द्र और उनके लोकपाल भी पुरुष विशेष ही होते हैं, अतः अब देवराजों और उनके लोकपालों का वर्णन प्रस्तुत करते हैं। व्यंतर और ज्योतिष्क देवों के लोकपाल नहीं होते, भवनपति और वैमानिक इन्द्रों के लोकपाल नियमेन होते हैं। प्रत्येक इन्द्र के चार-चार लोकपाल हैं। इस रत्नप्रभा पृथ्वी के दस अंतरों में दस भवन-पति देवों के भवन हैं। वे उत्तरार्द्ध और दक्षिणार्द्ध इस प्रकार दो भागों में विभक्त हैं। दक्षिणार्द्ध की अपेक्षा उत्तरार्द्ध के भवनपति विशेष सशक्त हैं। दस भवनपतियों के दस इन्द्र दक्षिणार्द्ध में हैं और दस उत्तरार्द्ध में। भवनपति इंद्रों की कुल संख्या बीस है। बीस इंद्रों के चार-चार लोकपाल हैं। उनके लोकपालों की कुल संख्या अस्सी है। जिनके नाम मूलार्थ में लिखे जा चुके हैं। समझने की विशेष बात इतनी ही है कि दक्षिण दिशा के तीसरे लोकपाल का जो नाम है वही नाम उत्तर दिशा के चौथे लोकपाल का है। जिस इंद्र का जितना विशाल साम्राज्य है उसकी रक्षा के लिए जिन महर्द्धिक देवों की नियुक्ति सीमा-रक्षक के रूप में की गई है उन्हें लोकपाल कहा जाता है। किस लोकपाल की किस दिशा में नियुक्ति है? इस शंका के समाधान में कहा जाता है कि लोकपालों के नाम जिस क्रम में दिए गए हैं, यही क्रम दिशाओं का है, जैसे कि पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में क्रमशः सोम, यम, वरुण और वैश्रमण हैं।

शक्रेन्द्र के सोम, यम, वरुण और वैश्रमण इस प्रकार चार लोकपाल हैं। इसी तरह तीसरे, पांचवें, सातवें और दसवें देवलोकवासी देवों के जो इंद्र हैं उनके लोकपालों की संज्ञा जान लेनी चाहिए। ईशानेंद्र के लोकपालों के जो नाम सूत्रकार ने निर्दिष्ट किए हैं, वे ही नाम चौथे, छट्ठे, आठवें और बारहवें देवलोकवासी लोकपालों के नाम हैं। प्रत्येक इन्द्र के चार-चार लोकपाल हैं, चारों दिशाओं में अपने-अपने कार्यों पर वे पूर्ण अधिकार रखते हैं।

इन लोकपालों का किन-किन कार्यों पर अधिकार है, इसका निर्देश व्याख्याप्रज्ञप्ति के तीसरे शतक के सातवें उद्देशक में इस प्रकार किया गया है—

शक्रेन्द्र के सोम नामक लोकपाल का विमान शक्रेन्द्र के विमान से पूर्व दिशा में है,

जो कि अति रमणीय और विशाल है। उस विमान का नाम संध्यापर्व है। सोमकायिकदेव, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, वायुकुमार, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा इत्यादि देव उसकी भक्ति में तत्पर तथा उसके पक्ष में रहते हैं। भार्या की तरह उसकी आज्ञा का पालन करने वाले हैं। जम्बूद्वीप के मध्यवर्ती मेरु-पर्वत से दक्षिण की ओर ग्रहों का अस्त होना, वक्र होना, ग्रहों का लम्बाई में दंड की तरह श्रेणीबद्ध होना, मूसल की तरह ऊर्ध्वदिशा में श्रेणिबद्ध होना, ग्रहों की गति, ग्रहों का युद्ध होना, इसी प्रकार उनका गर्जन, एवं एकत्र होना, त्रिकोण होना, सूर्य और चन्द्र को ग्रहण लगना, चन्द्र सूर्य का परिवेष अर्थात् गोलाकार मंडल हो जाना, इन्द्र-धनुष, बादलों का वृक्षाकार होना, बादलों का बरसना, आकाश में गंधर्व-नगर का होना, बादलों का गर्जना, बिजली का कड़कना, उल्कापात, दिग्दाह, रजोवृष्टि, आंधी-तूफान, भूकम्प, अच्छे-बुरे चिह्नों का होना, जनक्षय, धनक्षय, कुलक्षय, प्राणीक्षय इत्यादि अनेक उपद्रव जो कुछ भी होते हैं, उन सब बातों का ज्ञान सोम लोकपाल को है।

शक्रेन्द्र के सुधर्मा विमान से दक्षिण की ओर यमलोकपाल का एक परम सुंदर और विशाल वरशिष्ट नामा विमान है। मनुष्य-लोक में जो कलह-उपद्रव, वैर, युद्ध, नाना-प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं, महामारियां फैलती हैं, पशु-रोग, संक्रामक रोग, जनक्षय, धनक्षय, सभी प्रकार के व्यसनों का आ पड़ना इन सब बातों का ज्ञान यमलोकपाल को है। यम-कायिकदेव, प्रेत, असुरकुमारदेव और देवी परमाधार्मिक, आभियोगिक, दर्पिक इत्यादि देवजातियों पर उसका आधिपत्य है, ये सब यमलोकपाल के भक्त और आज्ञापालक हैं।

सुधर्मा विमान से पश्चिम दिशा की ओर वरुण नामक लोकपाल का एक परमरमणीक एवं विशाल स्वयंजल नामक महाविमान है। मनुष्यलोक में जो अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सुवृष्टि, कुवृष्टि, जलप्लावन, जल के द्वारा होने वाले उपद्रव, बाढ़ का आना, जल के द्वारा ग्राम एवं नगरों का बह जाना, धनक्षय, जनक्षय आदि जो कुछ भी होता है उन सब बातों का ज्ञान वरुण लोकपाल को है। वरुणकायिक देव नागकुमार, नागकुमारी, उदधिकुमार और उनकी देविया स्तनितकुमार इत्यादि देवजाति वरुणलोकपाल के परम-भक्त हैं।

सुधर्मा महाविमान से उत्तर दिशा की ओर वैश्रमण लोकपाल का वल्गु नामक अतीव रमणीय विशाल महाविमान है। उत्तर की ओर मनुष्यलोक में जो सुकाल, दुष्काल, सुकृत, दुष्कृत, क्रय-विक्रय, तेजी-मंदी, धातुओं की खानें, रत्नों की खानें, स्वर्ण आदि की वृष्टि, भूगर्भनिहित धन, निधान इन सब बातों को वैश्रमण-लोकपाल जानता है—ये उसके ज्ञानगोचर और इन्द्रियगोचर हैं। वैश्रवणकायिक देव, सुवर्णकुमार, दिशाकुमार, वानव्यन्तर देव और उनकी देवियों पर उसका पूर्णतया आधिपत्य है। यह सब उसकी आज्ञा पालन करने वाले तथा स्वामीभक्त हैं। जो-जो अधिकार जिस-जिस लोकपाल के अधीन हैं, तद्-तद् विषयक समाचारों से अवगत कराने वाले स्वामीभक्त देव हैं। उनसे सुनकर या जानकर फिर लोकपाल स्वयं इन्द्र के पास जाकर सब समाचारों से उन्हें अवगत कराते हैं। उस पर ध्यान देना या न

देना यह इन्द्र की इच्छा पर निर्भर है। इसी प्रकार उत्तर दिशावर्ती मनुष्यलोक में ईशान आदि इन्द्रों को उनके अपने-अपने लोकपाल संवाद पहुंचाते रहते हैं।

लवण-समुद्र मे चार पाताल कलश हैं, जोकि क्रमशः चार दिशाओं में हैं, उनके स्वामी वायुकुमार देव हैं, उनके शुभ नाम काल, महाकाल, वेलम्ब और प्रभजंन हैं। इनका सविस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र में विहित है।

इस प्रकार अतीन्द्रिय पदार्थों के दर्शक भगवान महावीर ने अपनी सर्वज्ञशक्ति के द्वारा जिस देव-व्यवस्था के दर्शन किए उसका वर्णन सूत्रकार ने अपनी भाषा में वर्णित कर दिया है, साथ ही लौकिक रूप से राज्य-व्यवस्था का भी संकेतात्मक मार्गदर्शन कराते हुए शासक को राज्य-व्यवस्था का चतुर्मुखी ज्ञान कैसे प्राप्त करना चाहिए इसका परिज्ञान भी उपस्थित किया गया है।

देव-प्रकार

मूल—चउव्विहा देवा पण्णत्ता, तं जहा—भवणवासी, वाणमंतरा, जोइसिया, विमाणवासी ॥२३॥

छाया—चतुर्विधाः देवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—भवनवासिनः, वानव्यन्तराः, ज्योतिष्काः, विमानवासिनः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के देव प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और विमानवासी।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे तीस इन्द्रों के एक सौ बीस लोकपालों के नामोल्लेख किए गए हैं और प्रस्तुत सूत्र में देव जाति के मौलिक भेदों का दिग्दर्शन कराया गया है।

मनुष्यो की तरह देव भी एक स्वतंत्र जाति है जोकि अन्य जीवों की अपेक्षा विशिष्टता रखते हैं, वे सब शुभ वैक्रिय शरीरी है। प्रकृति-स्वभाव, प्रभाव, स्थिति, द्युति, लेश्या-विशुद्धि, इन्द्रियविषय, अवधिज्ञान-विषय, आवास-स्थान, सुख इत्यादि कारणों की अपेक्षा वे देव चार भागो मे विभक्त है। जिन के नाम मूलार्थ मे लिखे जा चुके हैं।

जो देव भवनो में रहते हैं वे भवनवासी है, जो वनो मे, गुफाओं में, गिरि कंदराओ में, कूटों में, नगर एव आवासो मे रहने वाले राक्षस, भूत, पिशाच इत्यादि हैं उन्हें वानव्यन्तर कहते हैं। जो देव चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा विमानों में रहने वाले हैं, उन्हें ज्योतिष्क देव कहते हैं और जो सौधर्म आदि बारह कल्प देवलोकों में, नौ ग्रैवेयक देवलोकों में तथा पांच अनुत्तर विमानों में रहने वाले देव हैं उन्हें वैमानिक देव कहा जाता है।[१]

---

१ इस विषय के विस्तृत परिज्ञान के लिए देखिए प्रज्ञापनासूत्र, द्वितीय स्थानपद।

प्रमाण-विश्लेषण

मूल—चउव्विहे पमाणे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वप्पमाणे, खेत्तप्पमाणे, कालप्पमाणे, भावप्पमाणे॥२४॥

छाया—चतुर्विधं प्रमाणं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—द्रव्यप्रमाणं, क्षेत्रप्रमाणं, कालप्रमाणं, भावप्रमाणम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भाव प्रमाण के भेद से चार प्रकार के प्रमाण कहे गए हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में जो देवों की संख्या बतलाई गई है, वह संख्या प्रमाण स्वरूप है, अतः इस सूत्र में प्रमाणों का नाम निर्देश किया गया है। जिसके द्वारा जाना जाता है उसे प्रमाण कहा जाता है। अथवा वस्तु के सभी अंशों के ग्रहण करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। कहा भी है **"प्रमीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेति प्रमाणम्"** जिसके द्वारा पदार्थों का निश्चय किया जाए वही प्रमाण है। प्रमाण के द्वारा ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों का ज्ञान होता है। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. **द्रव्य प्रमाण**—जीव आदि द्रव्यों का जो प्रमाण है, उसे द्रव्य-प्रमाण कहते हैं। द्रव्य प्रमाण दो प्रकार का है, १. प्रदेश-निष्पन्न और २. विभाग-निष्पन्न। द्विप्रदेशी स्कंध से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कंध पर्यन्त सभी पुद्‌गलों के प्रमाण को प्रदेश-निष्पन्न द्रव्यप्रमाण कहा जाता है। विभाग-निष्पन्न द्रव्य प्रमाण के पांच भेद हैं—मान, उन्मान, अवमान, गणित और प्रतिमान। जिसके द्वारा धान्य का तथा रस आदि तरल पदार्थों का नाप किया जाए उसे **मान** कहते हैं। जिसके द्वारा केसर-कस्तूरी आदि बहुमूल्य पदार्थों का तोल किया जाए, उसे **उन्मान** कहते हैं। अंगुल, हाथ, मीटर, फीते आदि से जिसका नाप किया जाए उसको **अवमान** कहा जाता है। जिसका व्यवहार गणना के द्वारा किया जाए उसे **गणित कहते हैं**। जिसके द्वारा स्वर्ण-रत्न आदि का तोल किया जाए उसे **प्रतिमान** कहते हैं। ये सब विभाग निष्पन्न द्रव्य प्रमाण हैं।

२. **क्षेत्रप्रमाण**—यह भी दो प्रकार का है—प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न। आकाश के एक अविभाज्य प्रदेश से लेकर असंख्यात प्रदेशों में व्याप्त क्षेत्र को प्रदेशनिष्पन्न कहा जाता है। किसी की लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई, गहराई आदि का जो व्यवहार किया जाता है या जीवों की अवगाहना नापी जाती है उसे या उस ज्ञान को विभाग-निष्पन्न क्षेत्र प्रमाण कहते हैं।

३. **काल-प्रमाण**—इसके भी दो भेद हैं, प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न। एक समय की स्थिति से लेकर असंख्यात समयों की स्थिति पर्यन्त प्रदेश निष्पन्न कालप्रमाण कहलाता

है। विपल, पल, मुहूर्त, दिन, रात्र, सप्ताह, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, शती इत्यादि समय का विभाग करना विभाग निष्पन्न कालप्रमाण है।

प्रश्न हो सकता है कि द्रव्य के ग्रहण करने से क्षेत्र, आकाश का तथा काल का ग्रहण स्वतः हो ही जाएगा, फिर इनका निर्देश पृथक् क्यों किया गया है?

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि क्षेत्र और काल जीव आदि द्रव्यों के विशेषक होने से उनके पर्यायरूप होते हैं। द्रव्य से विशिष्टता दिखलाने के लिए ही इनका पृथक् निर्देश किया है। वृत्तिकार इस विषय में कहते हैं—

"क्षेत्रकालयोर्द्रव्यत्वे सत्यपि भेदनिर्देशो जीवादिद्रव्यविशेषकत्वेन अनयोस्तत्पर्यायताऽपीति द्रव्यात्तद्विशिष्टता ख्यापनार्थः"

४. **भावप्रमाण**—इसके तीन भेद किए गए हैं—गुण, नय और संख्या। जीव गुणप्रमाण के तीन भेद हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र, इन में ज्ञान गुण प्रमाण के चार भेद होते हैं—प्रत्यक्ष-प्रमाण, अनुमान, उपमान और आगम प्रमाण। नय के सात भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। संख्या एक आदि के रूप में प्रसिद्ध है।[१]

दिक्कुमारियां और विद्युत् कुमारियां

मूल—चत्तारि दिसाकुमारिमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—रूया, रूयंसा, सुरूवा, रूयावई।

चत्तारि विज्जुकुमारिमहत्तरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—चित्ता, चित्तकणगा, सतेरा, सोयामणी॥२५॥

छाया—चतस्रो दिक्कुमारीमहत्तरिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—रूपा, रूपांशा, सुरूपा, रूपावती।

चतस्रो विद्युत्कुमारीमहत्तरिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चित्रा, चित्रकनका, शतेरा, सौदामिनी।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार दिक्कुमारी महत्तरिकाएं प्रतिपादन की गई हैं, जैसे—रूपा, रूपांशा, सुरूपा और रूपावती।

चार विद्युत्कुमारी महत्तरिकाएं प्रतिपादित की गई हैं, जैसे—चित्रा, चित्रकनका, शतेरा और सौदामिनी।

---

१. इस विषय का विस्तृत वर्णन अनुयोगद्वार सूत्र में देखिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में कथन किया गया है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का ज्ञान प्रमाण से होता है। देव और देवियों का ज्ञान भी मनुष्य को प्रमाण के द्वारा ही प्राप्त होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में दिशाकुमारियों का उल्लेख किया गया है। दिशाकुमारियां कुल छप्पन होती हैं, और वे भी तीर्थंकरों के जन्मोत्सव के समय सेवा में उपस्थित होती हैं और अपने-अपने अधिकार के अनुसार सब सेवा में जुट जाती हैं। चार विद्युत् दिक्कुमारियां जो रूचक द्वीप की विदिशाओं में रहने वाली महत्तरिकाएं हैं वे दीपक हाथ में लिए चारों दिशाओं में खड़ी हो जाती हैं, किन्तु जो रूपा आदि चार महत्तरिकाएं हैं वे तीर्थंकरों के चार अंगुल प्रमाण नाभि-नाल को छोड़कर शेषांश का छेदन करती हैं, उसे गर्त्त में गाड़ती हैं और फिर उत्तम रत्नों से उस गड्ढे को भर देती हैं।[1]

इस सूत्र से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि जन्म-संस्कार की विधि तीर्थंकरों की सदाकाल से ऐसी ही चली आ रही है, उसी का अनुसरण मनुष्यलोक में प्रायः नारियों द्वारा किया जाता है। महत्तरिकाएं वे प्रधान देवियां हैं जिन्हें अपनी देव जाति में श्रेष्ठ एवं प्रमुख माना जाता है।

मध्यमपरिषद के देवों की स्थिति

मूल—सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो मज्झिमपरिसाए देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता।

ईसाणस्स देविंदस्स देवरन्नो मज्झिमपरिसाए देवीणं चत्तारि पलिओ-वमाइं ठिई पण्णत्ता॥२६॥

छाया—शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य मध्यमपरिषदि देवानां चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य मध्यमपरिषदि देवीनां चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—शक्र नामक देवेन्द्र देवराज की मध्यमपरिषद् में देवों की चार पल्योपम स्थिति है।

ईशान नामक देवराज की मध्यमपरिषद् में देवियों की चार पल्योपम स्थिति है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में विशिष्ट देवियों का उल्लेख करके प्रस्तुत सूत्र में शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के मध्यम परिषद् के देव और देवियों की स्थिति का निर्देश किया गया है। देवों की मध्यम परिषद् के इस वर्णन से यह सिद्ध होता है कि किसी भी विशिष्ट कार्य पर

---

१. इस विषय का विशेष वर्णन जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के जिन-जन्माभिषेक अधिकार में द्रष्टव्य है।

विचार करने के लिए परिषद् की अत्यन्त आवश्यकता होती है और उसमें देव और देवियों तथा मानव और मानवियों के यथोचित अधिकार होते हैं। न्याय-नीति एवं अनुशासन को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए परिषद् की आवश्यकता को समाज युग-युगान्तरों से समझता आ रहा है, परन्तु प्राचीन समाज ने परिषदों में नारी को उच्च एवं मान्य प्रतिनिधित्व नहीं दिया है। शास्त्र कहते हैं जबकि देव-परिषदों तक में नारी को सम्मान्य स्थान दिया गया है, फिर क्या कारण है कि मानव-समाज उसकी उपेक्षा करे?

कहा जाता है कि पश्चिम के विचारकों ने ही नारी को प्रगति एवं पुरुष के समान अधिकार प्रदान किए हैं, ऐसे लोगों को जैनागमों में वर्णित इस प्रकार के प्रकरणों का अध्ययन करके यह जान लेना चाहिए कि नारी को समाज में प्रतिष्ठित करने वाले जैनाचार्य ही हैं—उन्होंने ही नारी को सामाजिक प्रतिष्ठा एवं धार्मिक अधिकार प्रदान किए हैं।

संसार के प्रकार

मूल—चउव्विहे संसारे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वसंसारे, खेत्तसंसारे, कालसंसारे, भावसंसारे॥२७॥

छाया—चतुर्विधः संसारः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—द्रव्यसंसारः, क्षेत्रसंसारः, कालसंसारः, भावसंसारः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार और भावसंसार के भेद से चार संसार प्रतिपादित किए गए हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में देव और देवियों की स्थितियों का वर्णन किया गया है। जहां स्थिति है वहीं संसार है। प्रस्तुत सूत्र में संसार के चार भेदों का स्वरूप बतलाया गया है। संसार का अर्थ है—**"संसरणमितश्चेतश्च परिभ्रमणं संसारः"**—अर्थात् इधर-उधर चार गतियों में परिभ्रमण करना। जो जीव कर्मों से बद्ध हैं वे परिभ्रमण करते हैं, मुक्तात्मा तो अपने स्वरूप में सदैव अवस्थित रहते हैं। अतः वे संसरण नहीं करते। जो संसरण करते हैं उन्हें संसारी जीव कहा जाता है। निश्चयनय में संसार एक होता हुआ भी व्यवहार नय से चार प्रकार का है, जैसे कि—

१. **द्रव्य संसार**—छः द्रव्यों में जीव और पुद्गल ही इधर-उधर गमन करने वाले हैं, शेष चार द्रव्य नहीं। वास्तव में देखा जाए तो गमनागमन पुद्गल ही करता है। कर्म भी पौद्गलिक हैं। पुद्गल के योग से जीव इधर-उधर गति करता है, अतः जीव और पुद्गल ही द्रव्य संसार हैं। कर्म-रहित आत्मा की पहली बार ही एक समय की गति होती है, फिर सादि-अनंत काल के लिए आत्मा अवस्थित हो जाती है। द्रव्य संसार का दूसरा अर्थ यह भी होता है—जो संसार के अर्थ को भली-भांति जानता है, परन्तु उसमें आसक्त नहीं होता,

वह द्रव्यतः संसार में होता हुआ भी भावतः संसार से पृथक् हो जाता है।

२. **क्षेत्र-संसार**—जीव और पुद्गल की गति चौदह राजूलोक परिमाण है, असंख्याता-संख्यात योजन परिमाण एक राजू होती है, इसी को दूसरे शब्दों में लोक भी कहते हैं। गतिशील द्रव्य लोक तक ही गति कर सकते हैं, अलोक में नहीं, अतः लोकाकाश को ही क्षेत्र-संसार कहा जाता है।

३. **काल-संसार**—जब तक मोक्ष प्राप्त करने की काललब्धि समाप्त न हो जाए, या जब तक स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध सर्वथा क्षय एवं निःशेष न हो जाएं तब तक काल-संसार कहलाता है।

४. **भाव-संसार**—औदयिक-भाव को या मोहकर्म को या घनघाति कर्म को भावसंसार कहा जाता है। राग-द्वेष के साथ ही भावसंसार है अथवा जो संसार शब्द के सारांश को जानता है और उसमें उपयुक्त भी है, उस व्यक्ति को भी भावसंसार कहते हैं। यह कथन भावनिक्षेप से समझना चाहिए। जहां भाव संसार है, वहां चारों ही संसार हैं, भाव संसार के बिना द्रव्य, क्षेत्र और काल अकिंचित्कर हैं। जो इन चार प्रकार के संसार से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। वे ही महान साधक मुक्तात्मा अर्थात् सिद्ध भगवान् कहलाते हैं।

चतुर्विध दृष्टिवाद

मूल—चउव्विहे दिट्ठिवाए पण्णत्ते, तं जहा—परिकम्मं, सुत्ताइं, पुव्वगए, अणुजोगे ॥२८॥

छाया—चतुर्विधो दृष्टिवादः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—परिकर्म, सूत्राणि, पूर्वगतम्, अनुयोगः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार का दृष्टिवाद कथन किया गया है, जैसे—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत और अनुयोग।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में द्रव्य-संसार आदि का वर्णन किया गया है। इन संसार रूपों पर दृष्टिवाद के अन्तर्गत अनेक नयों से विचार किया जाता है। अतः सूत्रकार अब दृष्टिवाद का परिचय देते हैं। गणि-पिटक में बारह अंगों का ग्रहण हो जाता है। उनमें से बारहवें अंग का नाम दृष्टिवाद है। उसमें अनेक दृष्टियों से द्रव्यों का विचार किया गया है। '**दिट्ठिवाए**' का संस्कृत रूप दृष्टिवाद और दृष्टिपात दोनों ही बनते हैं। वृत्तिकार इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

'तत्र दृष्टयो दर्शनानि—नया उद्यन्ते—अभिधीयन्ते, पतन्ति वा अवतरन्ति यस्मिन्नसौ दृष्टिवादो दृष्टिपातो वा द्वादशाङ्गम्।''

विश्व भर में सभी दर्शनों का निरूपण करने वाला अथवा जिसमें सभी दर्शनों का समवतार हो वह दृष्टिवाद अथवा दृष्टिपात कहलाता है। यह सूत्र पांच भागों में विभाजित

है, जैसे कि—परिकर्म, सूत्र, पूर्व, अनुयोग और चूलिका। अभिधान चिंतामणि-कोष में आचार्य श्री हेमचन्द्र जी लिखते हैं—

"परिकर्मसूत्रपूर्वानुयोगपूर्वगत-चूलिकाः पञ्च स्युर्दृष्टिवादभेदाः"।

इससे भी दृष्टिवाद के पांच भेद स्पष्ट सिद्ध हैं। वस्तुतः यदि देखा जाए तो चूलिकाओं का समावेश पूर्वों में ही हो जाता है, क्योंकि आदि के चार पूर्वों की चूलिकाएं हैं। संभव है इसी कारण प्रस्तुत सूत्र में दृष्टिवाद को चार भागों में विभक्त किया गया हो। चतुःस्थान के अनुरोध से भी चूलिका को छोड़ दिया गया हो, यह भी हो सकता है।

परिकर्म के मूलभेद सात हैं और उत्तर भेद ८३। सूत्र के मूल भेद २२ हैं और उत्तर भेद ८८। पूर्व के १४, तथा अनुयोग के मूल प्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग इस प्रकार दो भेद होते हैं।[१]

चतुर्विध प्रायश्चित्त

मूल—चउव्विहे पायच्छित्ते पण्णत्ते, तं जहा—णाणपायच्छित्ते, दंसण-पायच्छित्ते, चरित्तपायच्छित्ते, चियत्तकिच्चपायच्छित्ते।

चउव्विहे पायच्छित्ते पण्णत्ते, तं जहा—पडिसेवणापायच्छित्ते, संजोयणापायच्छित्ते, आरोवणापायच्छित्ते, पलिउंचणापायच्छित्ते ॥२९॥

छाया—चतुर्विधं प्रायश्चित्तं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—ज्ञानप्रायश्चित्तं, दर्शनप्रायश्चित्तं, चारित्रप्रायश्चित्तं, व्यक्तकृत्यप्रायश्चित्तम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—प्रायश्चित्त के चार प्रकार कहे गए हैं, जैसे—ज्ञान-प्रायश्चित्त, दर्शन-प्रायश्चित्त, चारित्र-प्रायश्चित्त, व्यक्तकृत्य प्रायश्चित्त।

चार प्रकार का प्रायश्चित्त और भी प्रतिपादन किया गया है, जैसे—प्रतिषेवणा-प्रायश्चित्त, संयोजना-प्रायश्चित्त, आरोपणा-प्रायश्चित्त और परिकुञ्चना-प्रायश्चित्त।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में दृष्टिवाद का वर्णन किया गया है, दृष्टिवाद के अध्ययन के लिए मनःशुद्धि आवश्यक है और मनःशुद्धि का साधन है प्रायश्चित्त, अतः अब सूत्रकार प्रायश्चित्त का वर्णन करते हैं। पाप या अतिक्रम आदि दोष का क्षय करने वाले अनुष्ठान विशेष को प्रायश्चित्त कहा जाता है। दोष लगने पर ही प्रायश्चित्त की आवश्यकता पड़ती है। दोषों से साधना विकृत हो जाती है। किसी भी व्रत में दोष न लगने देना उत्सर्ग मार्ग है। संयम की रक्षा के लिए कुछ दोषों की उपेक्षा करना अपवाद मार्ग है। संयम-निरपेक्ष इन्द्रियों की पोषणा के लिए मर्यादा का उल्लंघन करना स्वच्छन्दता है। अपवाद में अतिक्रम,

---

१ इस विषय का विस्तृत वर्णन समवायांग सूत्र और नन्दीसूत्र में द्रष्टव्य है।

व्यतिक्रम, अतिचार दोष लगते हैं। स्वच्छन्दता में भयंकर अनाचार दोष लगता है। उत्सर्ग मार्ग सर्वथा निर्दोष है। जैसे किसी का अंग, उपांग तथा उपकरण को मलिन न करना बुद्धिमत्ता है, वैसे ही सावधानी रखते हुए भी यदि मन मलिन हो जाए तो उसे शुद्ध करना भी बुद्धिमत्ता है। इससे विपरीत आचरण जैसे बुद्धिमत्ता नहीं, वैसे ही दोष लग जाने पर उसे प्रायश्चित्त के द्वारा दूर न करना भी बुद्धिमत्ता के विपरीत है।

१. **ज्ञानप्रायश्चित्त**—ज्ञान या ज्ञानी का अपलाप करना, अवहेलना, आशातना करना, अशुद्ध एवं पदहीन उच्चारण करना, विनय एवं बहुमान न करना, अनध्याय में स्वाध्याय करना, श्रुत ज्ञान के १४ अतिचारों में कोई भी अतिचार लगाना इत्यादि अनेक प्रकार की कुचेष्टाएं करना दोष है, उसकी शुद्धि के लिए जो आलोचना आदि प्रायश्चित्त कहे गए हैं उन्हें ज्ञानप्रायश्चित्त कहा जाता है।

२. **दर्शन-प्रायश्चित्त**—परिस्थिति-वश यदि सम्यग्दर्शन से सम्बन्धित कोई दोष लगा हो या शंका आदि पांच प्रकार के अतिचारों में कोई अतिचार लगा हो, उसकी शुद्धीकरण के लिए गुरुजन जिस अनुष्ठान के लिए आज्ञा दें उसको दर्शन-प्रायश्चित्त कहते हैं।

३. **चारित्र-प्रायश्चित्त**—मूलगुण में या उत्तर गुण में या दोनों में यदि कोई दोष लगा हो तो उसका शुद्धीकरण जैसे भी हो सकता है, वैसा अनुष्ठान करना चारित्र-प्रायश्चित्त है।

४. **व्यक्तकृत्य प्रायश्चित्त**—इसका भाव यह है कि गीतार्थ गुरु जिस प्रकार प्रायश्चित्त की विशुद्धि अनुभव करें, उसी प्रकार गुरु या लघु के पर्यालोचन से प्रायश्चित्त हो सकता है। इस कथन से यह बात निश्चित हो जाती है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देखकर ही गुरु को प्रायश्चित्त देने का अधिकार है। जो मुनिराज वय से, श्रुत से तथा चारित्र से ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है उसे व्यक्त कहते हैं और गीतार्थ भी। गीतार्थ का जो कृत्य है उसे व्यक्तकृत्य कहते हैं। जो भी प्रायश्चित्त वे समुचित रूप से देते हैं उसी को व्यक्तकृत्य प्रायश्चित्त कहा जाता। पाठान्तर में "**चियकिच्च**" लिखा है। जिसका अभिप्राय प्रीतिकृत्य से है। प्रीति-पूर्वक जैसे भी शुद्धि हो सके, गीतार्थ गुरु को वैसे ही करना चाहिए। प्रायश्चित्त दस प्रकार का होता है, जैसे कि—

आलोयण, पडिक्कमणे, मीस, विवेगे, तहा विउस्सग्गे।
तव, छेय, मूल, अणवट्ठप्पा, पारंचिए चेव॥

इन की व्याख्या यथास्थान आगे की जाएगी।

प्रायश्चित्त के अन्य भी चार भेद कथन किए गए हैं, जैसे कि—

१. **प्रतिसेवना प्रायश्चित्त**—यह दो प्रकार का होता है, मूलगुण प्रतिसेवना और उत्तर गुण प्रतिसेवना। पांच महाव्रतों में तथा पांच अणुव्रतों में दोष लगाने वाले को मूलगुण की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त दिया जाता है।

२. **संयोजना प्रायश्चित्त**—एक जातीय जितने भी दोष हैं उन्हें एकत्र करके प्रायश्चित्त

देना—जैसे कि एक साधु शय्यातर-पिण्ड लाया है वह भी सचित्त जल से, गीले हाथों से, वह भी सामने लाया हुआ, वह भी आधाकर्मी इन सबको मिलाकर जो प्रायश्चित्त दिया जाता है वह संयोजना-प्रायश्चित्त है।

३. **आरोपणा-प्रायश्चित्त**—इसका अर्थ होता है—जो साधक आत्म-शुद्धि के लिए पहले किए हुए प्रायश्चित्त का वहन कर रहा है, यदि बीच में तथाप्रकार का या अन्य प्रकार का पुन: दोष लगा दिया हो तो उसे फिर प्रायश्चित्त से आरोपित करना, जैसे किसी अपराध के लिए पांच दिन का प्रायश्चित्त आया, उसी दोष को पुन: सेवन करने से दस दिन का प्रायश्चित्त, इसी प्रकार छ: मास तक पांच-पांच दिन का जो आरोप किया जाता है उसे आरोपणा-प्रायश्चित्त कहते हैं। तप रूप में प्रायश्चित्त देने का उत्कृष्ट छ: महीने तक ही शास्त्रीय विधान है।

४. **परिकुञ्चना-प्रायश्चित्त**—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा अपराध को छिपाना, जो गुरु के समक्ष मायापूर्वक आलोचना करता है और पूछने पर असत्य बोलता है उसे दोष सेवन का प्रायश्चित्त अलग, कपट करने का अलग और झूठ बोलने का प्रायश्चित्त अलग, इस प्रकार का प्रायश्चित्त विधान परिकुंचना कहलाता है।

प्रायश्चित्त देने वाले को निम्नलिखित बातों का निर्णय पहले करना चाहिए—इसने मूलगुण में दोष लगाया है या उत्तरगुण में, सुभिक्ष में लगाया है या दुर्भिक्ष में, नगर में लगाया है या मार्ग में, रुग्णावस्था में लगाया है या स्वस्थता में, जानकर लगाया है या अनजाने, स्ववश लगाया है या परवश, सचित्त का सेवन किया है या अकल्पनीय अचित्त का, भावुकता से दोष लगाया है अथवा कपटता से दोष लगाया है, इन सब बातों का ध्यान रखते हुए जितने-जितने अंश में दोष लगाया है उतने-उतने अंश में प्रायश्चित्त देना उचित है। इससे विपरीत दोष अधिक और प्रायश्चित्त कम, या दोष कम और प्रायश्चित्त अधिक ऐसा करना अन्याय है। दोष और प्रायश्चित्त का विधि-विधान सविस्तर निशीथ आदि छेद सूत्रों से जानना चाहिए।

चतुर्विध-काल

मूल—चउव्विहे काले पण्णत्ते, तं जहा—पमाणकाले, अहाउयनिव्वत्तिकाले, मरणकाले, अद्धाकाले॥ ३०॥

छाया—चतुर्विध: काल: प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रमाण-काल:, यथायुष्क-निर्वृत्ति-काल:, मरणकाल:, अद्धा-काल:।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—काल चार प्रकार का वर्णन किया गया है, जैसे—प्रमाण-काल, यथायु-निर्वृत्ति-काल, मरणकाल और अद्धाकाल।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में प्रायश्चित्त का वर्णन किया गया है, वह प्रायश्चित्त काल की अपेक्षा से दिया जाता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में काल विषयक वर्णन किया गया है। वस्तु की जो भी पर्याय बदलती है उस में मुख्य कारण काल है। यद्यपि काल वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान आदि से रहित है तदपि वस्तु की पर्याय से उसका कथंचित् प्रत्यक्ष या अनुमान किया जा सकता है। जैसे वृक्ष पर छः ऋतुओं का क्रमशः प्रभाव देखा जाता है, वैसे ही अन्य-अन्य वस्तुओं की पर्याय के विषय में भी जानना चाहिए।

१. जिसके द्वारा मुहूर्त, दिवस, रात्रि, अहोरात्र, पक्ष, मास, वर्ष, संवत्सर, शती, सहस्राब्द यावत् पल्योपम, सागरोपम जाना जाए उसे प्रमाणकाल कहते हैं। अर्थात् नपे-तुले समय को ही प्रमाणकाल माना जाता है। उदाहरण के रूप में यथा ६० सैकिण्ड का एक मिनट होता है, ६० मिनटों का एक घंटा होता है, २४ घंटे का एक अहोरात्र, इस प्रकार के मर्यादित काल को प्रमाणकाल माना जाता है।

२. जिस जीव ने जितनी आयु या स्थिति का बंध किया है, उदयकाल से लेकर उसे पूरी करना यथायुनिर्वृत्तिकाल कहते हैं। यह कथन भवस्थिति अथवा अनपवर्तनीय या निरुपक्रमी आयु की अपेक्षा से कथन किया गया है। देव, नारकी उत्तमपुरुष, चरमशरीरी, असंख्यात वर्ष आयुष्क प्राणी, इनकी आयु को यथायुनिर्वृत्तिकाल कहते हैं। जिसने निरुपक्रमी आयु का बंध किया है वह सोपक्रमी नहीं बन सकता, जिसने सोपक्रमी आयु का बंध किया है, वह निरुपक्रमी नहीं बन सकता, जिस आयु का जैसा बंध किया है उसे उसी रूप में वेदन करने को यथायुनिर्वृत्तिकाल कहा है।

३. जिस काल में जीव और शरीर का वियोग होता है, उसे मरणकाल कहते हैं। शरीर का मरण भी नहीं होता और आत्मा का भी मरण नहीं होता, प्राणों के वियुक्त होने को ही मरण कहते हैं, वह जिस समय में हो, वही मरणकाल माना जाता है।

४. जो काल सदैव वर्त रहा है उसे अद्धाकाल कहते हैं। वस्तुतः देखा जाए तो उक्त तीन भेद भी इसी में अंतर्भूत हो जाते हैं, कारण कि मनुष्यलोक में चन्द्र-सूर्य के परिभ्रमण से जो मुहूर्त, प्रहर आदि का प्रमाण किया जाता है, उस काल के द्वारा आयु और मरण ये दोनों काल सिद्ध होते हैं। मनुष्य क्षेत्र से बाहर व्यवहार काल का अभाव होने पर भी प्रदेश निष्पन्नकाल सब जगह रहता है। मनुष्यलोक के व्यवहार काल को लेकर ही सर्व जीवों की स्थिति का वर्णन किया गया है। काल-लब्धि, कर्मस्थिति, आयु-स्थिति इन सब में काल का व्यवहार होता है। अतीत, वर्तमान और भविष्यत इन सबको अद्धाकाल कहते हैं अथवा सामान्य काल को अद्धाकाल कहा जाता है। विशेष काल के तीन भेद होते हैं—प्रमाणकाल, यथायुनिर्वृत्ति काल और मरणकाल। संसार के सभी व्यवहार काल से चल रहे हैं। इस प्रकार जैन शास्त्रों में काल का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है।

पुद्‌गल-परिणाम

मूल—चउव्विहे पोग्गलपरिणामे पण्णत्ते, तं जहा—वन्नपरिणामे, गंध-परिणामे, रसपरिणामे, फासपरिणामे ॥ ३१ ॥

छाया—चतुर्विधः पुद्‌गलपरिणामः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—वर्णपरिणामः, गन्धपरिणामः, रसपरिणामः, स्पर्शपरिणामः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—पुद्‌गलों का परिणाम चार तरह से वर्णन किया गया है, जैसे—वर्ण-परिणाम, गन्धपरिणाम, रसपरिणाम और स्पर्शपरिणाम।

विवेचनिका—काल के कारण से ही पुद्‌गल में परिणमन होता है अतः कालवर्णन के अनन्तर प्रस्तुत सूत्र में पुद्‌गल, परिणाम का वर्णन किया गया है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था को धारण करना ही परिणाम कहलाता है। परमाणु से लेकर महास्कन्ध पर्यन्त जो पुद्‌गल हैं उनमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श विभिन्न रूप धारण करते रहते हैं, उन्हीं विभिन्न रूपों को वस्तु का परिणाम-भेद या पर्याय-भेद कहा जाता है। इस पर्याय विभिन्नता के चार रूप हैं—

१. **वर्णपरिणाम**—वर्ण पांच प्रकार का होता है, यथा काला, नीला, पीला, लाल और सफेद, ये पांच मुख्य रंग हैं। बादामी, गुलाबी, हरा, सलेटी आदि जितने भी वर्ण हैं, वे सभी संयोगज अर्थात् सम्मिश्रण-जन्य होते हैं। हल्के रंग का गहरे-रंग में बदल जाना अथवा एक रंग में परिवर्तित हो जाना वर्ण-परिणाम कहलाता है। इसी प्रकार शेष वर्णों के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

२. **गन्ध-परिणाम**—विश्व में जितने तरह के पदार्थ हैं, वे सब किसी न किसी गंध से युक्त हैं। गंध मुख्यतया दो तरह के होते हैं, सुगन्ध और दुर्गन्ध। ऐसा कोई भी पुद्‌गल नहीं है जिसमें कोई भी गंध न हो। इतना अवश्य है कि किसी में गंध व्यक्त होती है और किसी में अव्यक्त, किन्तु गंध सब में अवश्य होती है। सुगंध का अपने में ह्रास-विकास का होना अथवा सुगन्ध से दुर्गन्ध और दुर्गन्ध से सुगन्ध में बदलना गन्ध-परिणाम कहलाता है।

३. **रस-परिणाम**—विश्व में जितने भी पदार्थ हैं उनमें कोई न कोई रस अवश्य होता है। रस पांच तरह का होता है—तीखा, कड़ुआ, कसैला, खट्टा और मीठा। शेष रस संयोगज होते हैं। थोड़े रसमय पदार्थ का अधिक रसीला हो जाना तथा एक रस का दूसरे रस में बदलने को रस परिणाम कहा जाता है। जब दूध दही के रूप में बदल जाता है तो उसका मीठा रस खट्टे रस में परिणत हो जाता है, इसे ही रसपरिणाम कहा जाता है।

४. **स्पर्श-परिणाम**—स्पर्श गुण आठ प्रकार का होता है—कठोर, कोमल, हल्का, भारी, ठंडा, गरम, रूक्ष और स्निग्ध। जिस पदार्थ में जैसा स्पर्श पाया जाता है उसी स्पर्श

के अनुरूप उस पदार्थ को भी कठोर, कोमल एवं हल्का-भारी आदि कहा जाता है। एक परमाणु में दो स्पर्श पाए जाते हैं, जैसे कि शीत-रूक्ष, शीत-स्निग्ध, उष्ण-रूक्ष, उष्ण-स्निग्ध। प्रत्येक पदार्थ इन चार स्पर्शयुगलों में से एक स्पर्शयुगल वाला अवश्य होता है। परमाणु अनन्त हैं, सभी परमाणु स्पर्शगुण वाले होते हैं। अगुरु-लघु पुद्गल द्विस्पर्शी और चतुःस्पर्शी होते हैं, किन्तु गुरु-लघु पुद्गल आठ स्पर्शी होते हैं। स्पर्श गुण का अपने में उत्कर्ष-अपकर्ष होता रहता है इसे ही स्पर्श-परिणाम कहते हैं और एक स्पर्श का दूसरे स्पर्श में परिणमन होने को भी स्पर्श परिणाम कहा जाता है। वस्तुतः परिणाम शब्द का अर्थ एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिणत होना ही माना जाता है, सर्वथा विनाश नहीं, कहा भी है—

"परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं, न तु सर्वथा व्यवस्थानम्।
न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥"

परिणमनशील होते हुए भी पुद्गल द्रव्य ध्रुव स्थिति में रहता है। परिणमन अवस्था को पर्याय भी कहते हैं। जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है वह सत् है। कहा भी है— **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**[१]। जो सत् है, वही द्रव्य है, उत्पाद और व्यय की अपेक्षा से वस्तु अनित्य है और ध्रुवत्व की अपेक्षा से नित्य। एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य का जैन दर्शन में कोई स्थान नहीं है।

चतुर्विध महाव्रत निरूपण

मूल—भरहेरवएसु णं वासेसु पुरिम-पच्छिमवज्जा मज्झिमगा बावीसं अरहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पण्णवेंति, तं जहा—सव्वाओ पाणाइ-वायाओ वेरमणं, एवं मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ बहिद्धादाणा (परिग्गहा) ओ वेरमणं।

सव्वेसु णं महाविदेहेसु अरहंता भगवंतो चाउज्जामं धम्मं पण्णवयंति, तं जहा—सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, जाव सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं॥३२॥

छाया—भरतैरवतयोः खलु वर्षयोः पूर्व-पश्चिमवर्जा मध्यका द्वाविंशतिररहन्तो भगवन्तश्चातुर्यामं धर्मं प्रज्ञापयन्ति, तद्यथा—सर्वस्मात् प्राणातिपाताद् विरमणम्, एवं मृषावादाद् विरमणम्, सर्वस्माद् अदत्तादानाद् विरमणम्, सर्वस्मात् बहिद्धादानाद् (परिग्रहात्) विरमणम्।

सर्वेषु खलु महाविदेहेषु अरहन्तो भगवन्तश्चातुर्यामं धर्मं प्रज्ञापयन्ति, तद्यथा— सर्वस्मात् प्राणातिपाताद् विरमणम्, यावत् सर्वस्मात् बहिद्धादानाद् विरमणम्।

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र अ ५, सूत्र २९।

शब्दार्थ—भरहेरवएसु णं वासेसु—भरत और ऐरवत नामक वर्षों में, **पुरिम-पच्छिम-वज्जा**—प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों को छोड़कर, **मज्झिमगा**—मध्य के, **बावीसं**—बाईस, **अरहंता भगवंता**—अर्हंत भगवान्, तीर्थंकर, **चाउज्जामं धम्मं**—चार महाव्रत रूप धर्म, **पण्णवेंति**—प्रज्ञापन करते हैं, **तं जहा**—जैसे, **सव्वाओ**—सर्व प्रकार के, **पाणाइवायाओ**—प्राणातिपात से, **वेरमणं**—विरत होना, **एवं**—ऐसे ही, **मुसावायाओ वेरमणं**—समस्त मृषावाद से विरत होना, **सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं**—सब प्रकार के अदत्तादान से विरत होना और, **सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं**—सभी प्रकार के मैथुन और परिग्रह से विरत होना।

सव्वेसु णं महाविदेहेसु—सभी महाविदेहों में, **अरहंता भगवंतो**—अर्हन्त भगवान् तीर्थंकर, **चाउज्जामं धम्मं पण्णवयंति**—चार महाव्रत रूप धर्म प्रज्ञापित करते हैं, **तं जहा**—जैसे, **सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं**—समस्त प्राणातिपात से विरत होना, **जाव**—यावत्, **सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं**—सब तरह के मैथुन व परिग्रह से विरत होना।

मूलार्थ—भरत और ऐरावत नामक वर्षों (भूखण्डों) में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों को छोड़कर मध्य के बाईस तीर्थंकर भगवान चार महाव्रत रूप धर्म की प्रज्ञापना करते हैं, जैसे—सभी प्रकार के प्राणातिपात अर्थात् हिंसा से निवृत्त होना। सभी प्रकार के मृषावाद से विरत होना। सभी प्रकार के अदत्तादान से विरत होना। सभी प्रकार के बहिद्धादान—मैथुन और परिग्रह दोनों से विरत होना।

सभी महाविदेहों में अर्हन्त तीर्थंकर भगवान चार महाव्रत रूप धर्म की प्रज्ञापना करते हैं, जैसे—सभी तरह के प्राणातिपात से विरत होना, यावत् सभी तरह के बहिद्धादान से विरत होना, इस प्रकार चार याम के संदर्भ में जान लेना चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वर्णित परिणाम जीव और अजीव दोनों से सम्बन्ध रखता है, अत: प्रस्तुत सूत्र में प्रकारान्तर से जीव परिणाम का वर्णन किया गया है। भरत और ऐरावत क्षेत्रों में होने वाले चौबीस तीर्थंकरों में से आदिम और अंतिम को छोड़कर शेष बाईस तीर्थंकर एवं महाविदेह क्षेत्रों के सभी तीर्थंकर चार महाव्रतों की प्ररूपणा करते हैं। कारण कि उनके काल में शिष्य-प्रशिष्य सभी सरल हृदयी और बुद्धिमान होते हैं। अत: उन्हें धर्म के स्वरूप को समझने में और उसके पालन में कठिनाई नहीं आती, शुद्धधर्म को समझना बुद्धि का काम है और उसका पालन सरल हृदय से होता है इसी कारण वे चार महाव्रतों की प्ररूपणा करते हैं। उस युग के साधक चौथे और पांचवें महाव्रत को एक ही समझते हैं, उस महाव्रत का नाम सूत्र में बहिद्धादान बताया गया है। बहिद्धा मैथुन को कहते हैं और आदान परिग्रह को कहा जाता है। मैथुन और परिग्रह से सर्वथा विरक्त होने के कारण **सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं**, ऐसा पाठ दिया गया है, कारण कि परिगृहीत व्यक्ति से ही मैथुन

किया जाता है, अपरिगृहीत से नहीं। धर्म उपकरण के अतिरिक्त द्विपद, चतुष्पद सभी परिग्रह हैं। जो इच्छा, ममत्व तथा मोह का कारण हो, वही परिग्रह है। मैथुन में उक्त तीनों बातों का समावेश हो जाता है, अतः उसे भी परिग्रह का ही रूप माना गया है। सूत्र में आया हुआ याम शब्द महाव्रत का वाचक है, पहर का नहीं।

भरत और ऐरवत क्षेत्रों के आदिम और अन्तिम तीर्थंकरों के युग में जो शिष्य-प्रशिष्य होते हैं, तीर्थंकर भगवान उनके लिए पांच महाव्रत रूप धर्म का प्रतिपादन करते हैं, इसका कारण यह है कि पहले तीर्थंकर के शासनकाल में जो शिष्य होते हैं, उन्हें धर्म के स्वरूप को समझने में कठिनाई आती है, किन्तु पालने में दुष्करता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि वे सरल हृदय होते हैं। जिनके हृदय में जितनी ऋजुता अर्थात् सरलता होती है उनके लिए धर्म उतना ही सुकर होता है, उन्हें धर्म का स्वरूप समझने में कठिनाई हो सकती है उसके पालन करने में नहीं। अन्तिम तीर्थंकर के शासनकाल में धर्म तो सुबोध होता है किन्तु हृदय की वक्रता से साधकों को धर्म का पालन करना दुष्कर होता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए दो गाथाएं यहां उद्धृत की जाती हैं, जैसे कि—

पुरिमा उज्जुजडा उ, वंक-जडा य पच्छिमा ।
मज्झिमा उज्जुपन्ना उ, तेण धम्मे दुहाकए ॥
पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालओ ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ[1] ॥

अर्थात् पहले तीर्थंकर के समय साधक ऋजु एवं जड़ तथा अन्तिम तीर्थंकर के समय वक्र एवं जड़ होते हैं। मध्यमवर्ती बावीस तीर्थंकरों के समय में ऋजु और प्रज्ञावान होते हैं, इसी कारण भगवान् ने चारित्र धर्म के दो भेद किए हैं।

पहले तीर्थंकर के मुनियों को धर्म समझना कठिन था, तथा अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं के लिए व्रत पालना कठिन है और मध्य २२ तीर्थंकरों के मुनियों को चारित्र धर्म सुबोध और सुकर होता है इसी कारण चार या पाच महाव्रत रूप धर्म कथन किया गया है।

पाणाइवायाओ—इस पद का अर्थ जीव का नाश नहीं किन्तु प्राणों का अतिपात अभीष्ट है। **मुसावायाओ**—इस पद से सिद्ध होता है कि वाद मिथ्या हो सकता है, वस्तु मिथ्या नहीं। वाणी के व्यतिक्रम से वस्तु में मिथ्या का आभास होता है, किन्तु वस्तु है सद्रूप, असद्रूप तो मृषावाद ही है। प्रज्ञापना सूत्र के २२वें पद में कहा गया है **'अत्थि णं भंते! जीवाणं मुसावाएणं किरिया कज्जइ? गोयमा! सव्वदव्वेसु''**—अर्थात् द्रव्य के सद्भाव होने पर भी उसके विषय में मिथ्या प्रलाप करना मृषावाद है। **सव्वाओ**—इस पद से महाव्रतों में किसी भी प्रकार का आगार—अपवाद नहीं होता। उत्तर-गुणों में तो छूट रखी भी जा सकती है, किन्तु मूलगुण में कोई छूट नहीं होती।

---

१. उत्तराध्ययन अ० २३ वा।

दुर्गति एवं सुगति

मूल—चत्तारि दुग्गईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—णेरइयदुग्गई, तिरिक्ख-जोणियदुग्गई, मणुस्सदुग्गई, देवदुग्गई।

चत्तारि सोग्गईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—सिद्धसोगई, देवसोगई, मणुय-सोग्गई, सुकुलपच्चायाइ।

चत्तारि दुग्गया पण्णत्ता, तं जहा—नेरइयदुग्गया, तिरिक्खजोणिय-दुग्गया, मणुयदुग्गया, देवदुग्गया।

चत्तारि सुग्गया पण्णत्ता, तं जहा—सिद्धसुग्गया, जाव सुकुल-पच्चायाया ॥ ३३ ॥

छाया—चतस्रो दुर्गतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नैरयिकदुर्गतिः, तिर्यग्योनिक-दुर्गतिः, मनुष्य-दुर्गतिः, देव-दुर्गतिः।

चतस्रः सुगतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सिद्धसुगतिः, देव-सुगतिः, मनुज-सुगतिः, सुकुल-प्रत्यायातिः।

चत्वारो दुर्गताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नैरयिक-दुर्गतः, तिर्यग्योनिक-दुर्गतः, मनुज-दुर्गतः, देव-दुर्गतः।

चत्वारः सुगताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सिद्ध-सुगताः यावत् सुकुलप्रत्यायाताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार दुर्गतियां प्रतिपादन की गई हैं, जैसे—नैरयिकदुर्गति, तिर्यग्योनिक-दुर्गति, मनुष्यदुर्गति और देव-दुर्गति।

चार सुगतियां प्रतिपादन की गई हैं, जैसे—सिद्ध-सुगति, देव-सुगति, मनुज-सुगति और सुकुल में प्रत्यागमन।

चार दुर्गत प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—नैरयिक दुर्गत, तिर्यक्योनिक दुर्गत, मनुज-दुर्गत और देव-दुर्गत।

चार सुगत प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—सिद्ध-सुगत, यावत् सुकुल-प्रत्यायात (प्रत्यागमन)।

विवेचनिका—प्राणातिपात आदि की निवृत्ति से सुगति और उसमें प्रवृत्ति से दुर्गति प्राप्त होती है, अतः इस सूत्र में चार दुर्गतियों और चार सुगतियों का उल्लेख किया गया है। दुर्गति पाप कर्म के उदय से होती है। उसमें जो जीव अशुभ फल भोगते हैं, उन्हें दुर्गत कहा जाता है, किन्तु जो शुभ कर्म के उदय से या सर्वथा मुक्त होने पर गति होती है उसे सुगति

कहते हैं। सुगति प्राप्त जीवों को सुगत कहा जाता है। नरक, तिर्यंच ये दो तो दुर्गतियां हैं ही, किन्तु शारीरिक, मानसिक दुःखों से पीड़ित तथा लौकिक और लोकोत्तरिक वैभव हीन मनुष्यगति भी दुर्गति ही है। किल्विषी आभियोगिक और परमाधर्मी देव बनना देव दुर्गति है।

उच्चदेव बनना और मनुष्य बनना, वह भी सुकुल में जन्म लेना सुगति है। श्रेष्ठ धर्म प्रायः सुकुल में सुलभ होता है, इसी कारण सुकुल में उत्पन्न होने वाले मानव को सुगत माना गया है।

कर्मांश-क्षीणता

मूल—पढमसमयजिणस्स णं चत्तारि कम्मंसा खीणा भवंति, तं जहा—णाणावरणिज्जं, दंसणावरणिज्जं, मोहणिज्जं, अंतराइयं।

उप्पन्ननाण-दंसणधरे णं अरहा जिणे केवली चत्तारि कम्मंसे वेदेइ, तं जहा—वेदणिज्जं, आउयं, णामं, गोयं।

पढमसमयसिद्धस्स णं चत्तारि कम्मंसा जुगवं खिज्जंति, तं जहा—वेयणिज्जं, आउयं, णामं, गोयं॥३४॥

छाया—प्रथमसमयजिनस्य खलु चत्वारः कर्मांशाः क्षीणाः भवन्ति, तद्यथा—ज्ञानावरणीयं, दर्शनावरणीयं, मोहनीयम्, अन्तरायिकम्।

उत्पन्न-ज्ञानदर्शनधरो खलु अर्हन् जिनः केवली चतुरः कर्मांशान् वेदयति, तद्यथा—वेदनीयम्, आयुष्कं, नाम, गोत्रम्।

प्रथमसमयसिद्धस्य खलु चत्वारः कर्मांशाः युगपत् क्षीयन्ते, तद्यथा— वेदनीयम्, आयुष्यं, नाम, गोत्रम्।

शब्दार्थ—पढमसमयजिणस्स णं—प्रथम समय जिन के, **चत्तारि**—चार, **कम्मंसा**—कर्मांश, **खीणा भवंति, तं जहा**—क्षीण होते हैं, जैसे, **णाणावरणिज्जं**—ज्ञानावरणीय, **दंसणावरणिज्जं**—दर्शनावरणीय, **मोहणिज्जं**—मोहनीय और, **अंतराइयं**—अन्तरायिक। **उप्पन्ननाण-दंसणधरे णं**—उत्पन्न ज्ञान-दर्शन को धारण करने वाले, **अरहा**—अर्हन्त, **जिणे**— जिन और, **केवली**—केवली ये, **चत्तारि**—चार, **कम्मंसे वेदेइ, तं जहा**—कर्मांशों का वेदन करते हैं, जैसे, वेदणिज्जं, आउयं, णामं, गोयं—वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र।

पढमसमयसिद्धस्स णं—प्रथम समय सिद्ध के, **चत्तारि कम्मंसा**—चार कर्मांश, **जुगवं खिज्जंति, तं जहा**—एक साथ क्षीण होते हैं, जैसे, **वेयणिज्जं, आउयं, णामं, गोयं**—वेदनीय, आयुष्क, नाम और गोत्र।

मूलार्थ—प्रथम समय जिनदेव के चार कर्मांश क्षीण होते हैं, जैसे—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तरायिक।

उत्पन्न-ज्ञान-दर्शनधर अर्हन्त जिन केवली चार कर्मांशों का वेदन करते हैं, जैसे—वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र।

प्रथम-समय सिद्ध के चार कर्मांश एक साथ ही क्षीण हो जाते हैं, जैसे—वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में सिद्ध-सुगत का वर्णन किया गया है। सिद्ध-सुगत अष्ट कर्मों के क्षय करने पर ही होते हैं, अतः उनके कर्म-क्षय के क्रम पर प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं कि घनघाति कर्मों का क्षय पूर्णतया १३वें गुणस्थान में होता है, वह भी प्रथम समय में ही। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों को घातिकर्म कहते हैं, इनके सर्वथा क्षीण होने पर ही केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन उत्पन्न होता है।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में जीवन्मुक्त केवली चार कर्मों को वेदता है अर्थात् उनके परिणाम की अनुभूति करता है, जैसे कि वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में उक्त चार भवोपग्रही कर्मों का क्षय करता है। सिद्ध बनने से पूर्व प्रथम समय में ही जीव भवोपग्रही कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। सर्वघाति, देशघाति और अघाति इन कर्मों से विमुक्त होने पर ही केवली सिद्धत्व प्राप्त करता है।

उप्पन्ननाणदंसणधरे—इस विशेषण द्वारा सूत्रकार यह सिद्ध करना चाहते हैं कि केवलज्ञान और केवलदर्शन ये श्रुतविद्या की तरह अभ्यास साध्य नहीं हैं प्रत्युत आवरणों के सर्वथा हट जाने पर स्वयं उत्पन्न होते हैं। ज्ञानावरणीयादि कर्मों के आत्यंतिक क्षय हो जाने के अनन्तर ही आत्मा में दिव्यता आ जाती है और तभी उसमें केवलज्ञान का सूर्य उदय हो जाता है। केवल ज्ञान शाश्वत है, उत्पन्न होने के अनन्तर वह नष्ट नहीं होता, उसी समय आत्मा शाश्वत सर्वज्ञता प्राप्त करता है।

अरहा—इस पद से वह शुद्ध आत्मा अपेक्षित है जिसके लिए कोई वस्तु अप्रकट एवं अज्ञात नहीं है, वही आत्मा सिद्ध गति को प्राप्त होता है। देव आदि के द्वारा पूज्य होने से अथवा कर्म रूप शत्रुओं के क्षय होने से उत्तम पुरुष आत्मा को अरहन् या अर्हन् कहा जाता है।

जिणे—रागादिजेतृत्वाद् जिनः—राग-द्वेष आदि शत्रुओं के जीतने वाले दिव्य महापुरुषों को जिन कहा जाता है।

केवली—जिन का ज्ञान विशुद्ध, सन्देहरहित एवं परिपूर्ण है, वे केवली हैं। **पढमसमय-सिद्धस्स**—यह पद भावी नैगमनय मत से कहा गया है, क्योंकि अर्हन् वास्तव में सिद्ध ही है। **नाणावरणिज्जं, दंसणावरणिज्जं**—इन दो पदों से स्पष्ट है कि ज्ञान और दर्शन पर कर्मों

का आवरण तो होता है, किन्तु कर्मों के साथ उनका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है इसी कारण ज्ञान, दर्शन और चारित्र द्वारा आवरणों का क्षय करके निर्वाण पद प्राप्त किया जा सकता है। आत्मगुणों का आच्छादन करने वाले जो घनघाति कर्मांश हैं, उनके क्षय करने से ही आत्मा केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त हो जाता है। उसके बाद वेदनीय आदि कर्मों को भोगकर निर्वाणपद की प्राप्ति की जाती है। प्रस्तुत सूत्र यह संकेत करता है कि पाप और पुण्य दोनों से मुक्त होने पर ही आत्मा को सिद्धत्व प्राप्त होता है, पुण्योदय से नहीं। जितने सांसारिक सुख हैं वे सब पुण्य के उदय से ही प्राप्त होते हैं और वे सुख आदि-अंत वाले हैं, किन्तु कर्म-क्षयजन्य सुख की आदि तो है उसका अंत नहीं है। इस सादि-अनन्त सुख की अनुभूति सिद्ध भगवान ही करते हैं।

हास्योत्पत्ति-स्थान

मूल—चउहिं ठाणेहिं हासुप्पत्ती सिया, तं जहा—पासित्ता, भासेत्ता, सुणेत्ता, संभरेत्ता॥ ३५॥

छाया—चतुर्भिः स्थानैर्हास्योत्पत्तिः स्यात्, तद्यथा—दृष्ट्वा, भाषित्वा, श्रुत्वा, स्मृत्वा।

शब्दार्थ—चउहिं ठाणेहिं—चार कारणों से, **हासुप्पत्ती**—हास्य की उत्पत्ति, **सिया**—होती है, **तं जहा**—जैसे, **पासित्ता**—देखकर, **भासेत्ता**—भाषण कर, **सुणेत्ता**—सुनकर और, **संभरेत्ता**— संस्मरण से।

मूलार्थ—चार स्थानों से हास्य की उत्पत्ति होती है, जैसे—देखने से, बोलने से, सुनने से और स्मरण करने से।

विवेचनिका—केवली को हंसी नहीं आती, हास्य भी मोहनीय कर्म की एक प्रकृति है। संसारी आत्मा को भी मोह कर्म के उदय से ही हंसी आती है। वह चार कारणों से उदय में आती है, अर्थात् हंसी के चार कारण हैं—विदूषक आदि की वक्रचेष्टाएं देखकर हंसी आती है, उपहासजनक बातें करने से हंसी आती है, किसी से उपहासजनक बात सुनने से हंसी आती है, हास्यजनक बात याद आने से हंसी आती है। इनके अतिरिक्त पांचवां कोई कारण हंसी उत्पन्न होने का नहीं है। अन्य सभी कारणों का समावेश उक्त चार में ही हो जाता है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने हास्य का कारण किसी घटना का अचानक घटित होना माना है, परन्तु अचानक घटित घटना को देखने-सुनने आदि पर ही तो हंसी आती है, अतः इस कारण का समावेश 'दृष्ट्वा एवं श्रुत्वा' में हो जाता है।

आधुनिक मनोवेत्ता चिन्तन से विपरीत कार्य के होने को भी हास्य कारण मानते हैं, इसका समावेश भी उपर्युक्त चारों कारणों में हो जाता है। शास्त्रकार ने वस्तुतः हास्य-कारणों

की विवेचना नहीं की अपितु उन्होंने तो उन चार क्रियाओं का वर्णन किया है जिनके अनन्तर मुख पर हास्य की रेखाएं फूट पड़ती हैं।

चतुर्विध-अन्तर

मूल—चउव्विहे अंतरे पण्णत्ते, तं जहा—कट्ठंतरे, पम्हंतरे, लोहंतरे, पत्थरंतरे। एवामेव इत्थिए वा, पुरिसस्स वा चउव्विहे अंतरे पण्णत्ते, तं जहा—कट्ठंतरसमाणे, पम्हंतरसमाणे, लोहंतरसमाणे, पत्थरंतरसमाणे ॥३६॥

छाया—चतुर्विधमन्तरं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—काष्ठान्तरं, पक्ष्मान्तरं, लौहान्तरं, प्रस्तरान्तरम्। एवामेव स्त्रिया वा, पुरुषस्य वा चतुर्विधमन्तरं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—काष्ठा-न्तरसमानः, पक्ष्मान्तरसमानः, लौहान्तरसमानः, प्रस्तरान्तरसमानः।

शब्दार्थ—चउव्विहे अंतरे पण्णत्ते, तं जहा—चार तरह का अन्तर कथन किया गया है, जैसे, **कट्ठंतरे**—काष्ठ का अन्तर, **पम्हंतरे**—पक्ष्म का अन्तर, **लोहंतरे**—लोहे का अन्तर और, **पत्थरंतरे**—प्रस्तर का अन्तर। **एवामेव**—इसी तरह, **इत्थिए वा, पुरिसस्स वा**—स्त्री और पुरुष का भी, **चउव्विहे अंतरे पण्णत्ते, तं जहा**—चार प्रकार का अन्तर है, जैसे, **कट्ठंतरसमाणे**—काष्ठ अन्तर के समान, **पम्हंतरसमाणे**—पक्ष्म अन्तर के समान, **लोहंतरसमाणे**—लोहे के अन्तर समान और, **पत्थरंतरसमाणे**—प्रस्तर के अन्तर समान।

मूलार्थ—चार प्रकार का अन्तर प्रतिपादन किया गया है, जैसे—काष्ठ-अन्तर, पक्ष्म-अन्तर, लौह-अन्तर और प्रस्तर-अन्तर। इसी तरह पुरुष अथवा स्त्री के भी चार अन्तर कहे गए हैं, जैसे—काष्ठ-अन्तर समान, पक्ष्म-अन्तर समान, लौह-अन्तर समान और प्रस्तर-अन्तर समान।

विवेचनिका—हंसना स्त्री और पुरुष का ही स्वभाव है। मनुष्यता के नाते ये दो ही हंसते हैं अन्य नहीं, अतः हास्य के अनन्तर पुरुष और स्त्री भेद को शास्त्रकार ने अंतर के द्वारा स्पष्ट किया है। यद्यपि अन्तर अगणित प्रकार के हैं, तदपि चतुःस्थान के अनुरोध से सूत्रकार ने सर्वसाधारण-ग्राह्य चार अन्तरों का ही उल्लेख किया है। यहां अन्तर का अर्थ है—भेद। दो काष्ठों के बीच का जो परस्पर अन्तर है उसे काष्ठांतर कहते हैं, जैसे कि चन्दन और बबूल में अन्तर है वैसे ही जो स्त्री या पुरुष स्निग्ध, शीतल, सच्चरित्र-परोपकार-परायण और दूसरों को अपने तुल्य बनाने वाले हैं, वे चन्दन के तुल्य हैं। जो सब प्रकार से अहितकर एवं हानिकर हैं वे बबूल के समान हैं।

वस्त्र-वस्त्र में भी अन्तर है, एक वस्त्र सुकोमल तंतुओं से बना हुआ है और दूसरा कठोर एवं रूक्ष तन्तुओं से बना हुआ है। एक वह वस्त्र है जिस की सेवा-रक्षा इन्सान को प्रत्येक ऋतु में करनी पड़ती है और दूसरा वह वस्त्र है जो प्रत्येक ऋतु में इन्सान की रक्षा

करता है। इसी प्रकार स्त्री या पुरुषों में भी अन्तर है। एक वह है जिसके हृदय, वाणी और मस्तिष्क में सुकोमलता है, दूसरा वह है जिसके जीवन में कठोरता है। एक वह जो किसी के लिए भारभूत नहीं और दूसरा वह है जो अन्य के लिए भारभूत बना हुआ है। एक वह जो स्वयं दूसरों की सेवा एवं रक्षा करता है, एक वह है जिसकी अनेक कष्ट सहने पर भी सेवा करनी पड़ती है।

लोहे-लोहे में अन्तर है, एक वह लोहा है जिससे हिंसाकारी शस्त्र-अस्त्रों का निर्माण होता है तथा दूसरा वह लोहा है जिस से बने हुए शस्त्रों से शल्य चिकित्सा द्वारा रुग्ण व्यक्ति को स्वस्थ किया जाता है। इसी प्रकार स्त्री या पुरुषों में भी अन्तर है, एक वह व्यक्ति है जिसका जीवन सर्व साधारण के लिए घातक और भयप्रद बना हुआ है। दूसरा वह है जो जन-जन के लिए हितकर तथा सुखकर बना हुआ है अथवा इस्पात (फौलाद) के समान वह इन्सान है जो अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ तथा कर्मयोगी है, ऐसे पुरुष को आज की भाषा में लौह पुरुष कहते हैं। वह आत्मलक्ष्य से कभी विचलित नहीं होता। दूसरा व्यक्ति साधारण लोह के समान है जो कि अधिक कार्य करने में समर्थ नहीं तथा किसी भी समय अकिंचित्कर हो सकता है।

पत्थर-पत्थर में अन्तर—एक वह पत्थर है जो कि रत्न तथा उत्तम धातुओं से परिपूर्ण है। दूसरा वह जोकि बिल्कुल साधारण ही है, इसी प्रकार चिंतामणि, पारसमणि तथा संगमरमर भी पत्थर हैं और सड़कों पर कूटे जाने वाले भी पत्थर हैं। उत्तम स्त्री या पुरुष चिंतामणि तथा पारसमणि के समान परोपकारी हैं। जो दीनता एवं दारिद्रता से परिपूर्ण हैं वे साधारण पत्थर के समान हैं। "आदमी-आदमी में अन्तर कोई हीरा कोई कंकर" यह उक्ति भी उक्त उपमा को चरितार्थ करती है। इस प्रकार चार अन्तरों का वर्णन जिज्ञासु जन स्वयं समझने का प्रयास करें। मनन-चिंतन करने से सूत्र का एक-एक पद या भंग जीवन के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होते हैं। व्यावहारिक और धार्मिक अनेक प्रकार की शिक्षाएं आगम में भरी हुई हैं। इन शिक्षाओं से ही साधक का जीवन पनपता है।

भृतक-भेद

मूल—चत्तारि भयगा पण्णत्ता, तं जहा—दिवसभयए, जत्ताभयए, उच्चत्तभयए, कब्बालभयए॥३७॥

छाया—चत्वारो भृतकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—दिवसभृतकः, यात्रा-भृतकः, उच्चता-भृतकः, कब्बाडभृतकः।

शब्दार्थ—चत्तारि भयगा पण्णत्ता, तं जहा—चार भृतक (श्रमिक) कहे गए हैं, जैसे, **दिवसभयए**—दिनभर के लिए भृतक, **जत्ताभयए**—यात्रा पर्यन्त भृतक, **उच्चत्तभयए**—उच्चताभृतक और, **कब्बालभयए**—ठेका पर भूमि आदि खोदने वाला कब्बाड़भृतक।

मूलार्थ—भृतक—श्रमिक चार तरह के होते हैं, जैसे—दिवस-भृतक, यात्रा-भृतक, उच्चताभृतक और कब्बाड-भृतक।

विवेचनिका—जो पुरुष आत्म-निर्भर नहीं हैं, दूसरों का आलंबन लेकर चलते हैं उन्हें भृतक अर्थात् कर्मकर कहते हैं। जो भरण-पोषण के योग्य हो उसे भृतक कहा जाता है। वे भृतक चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

१. **दिवसभृतक**—प्रतिदिन श्रम करके श्रमिक—वेतन लेने वाले अर्थात् प्रतिदिवस नियत पारिश्रमिक से काम करने वाले स्त्री-पुरुष।

२. **यात्राभृतक**—यात्रा में नियत पारिश्रमिक देकर जिन से काम लिया जाए ऐसे कर्मकर जितनी तरह के हैं वे सब उक्त भृतक में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

३. **उच्चताभृतक**—वह कर्मकर कहलाता है जो वेतन और अमुक समय तक काम करने का निश्चय करके रखा जाए।

४. **कब्बाडभृतक**—वह कर्मकर कहलाता है जिससे ठेके पर काम कराया जाए। इतनी जमीन खोदने पर या इतना काम करने पर तुझे इतना पारिश्रमिक मिलेगा, ऐसा कहने पर जिसे काम पर नियुक्त किया जाए। इसी प्रकार अन्य-अन्य के विषय में भी जान लेना चाहिए। "**कब्बाड़**" शब्द देशीय भाषा का है, जो कि 'ठेका' अर्थ का बोधक है।

पुरुष-भेद

मूल—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—संपागडपडिसेवी णामेगे णो पच्छन्नपडिसेवी, पच्छन्नपडिसेवीणामेगे णो संपागडपडिसेवी, एगे संपागडपडिसेवीवि पच्छन्नपडिसेवीवि, एगे णो संपागडपडिसेवी णो पच्छन्नपडिसेवी॥ ३८॥

छाया—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—सम्प्रकटप्रतिसेवी नामैको नो प्रच्छन्नप्रतिसेवी, प्रच्छन्नप्रतिसेवी नामैको नो सम्प्रकटप्रतिसेवी, एकः सम्प्रकटप्रतिसेव्यपि प्रच्छन्नप्रतिसेव्यपि, एको नो सम्प्रकटप्रतिसेवी नो प्रच्छन्नप्रतिसेवी।

शब्दार्थ—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे, **संपागडपडिसेवी णामेगे णो पच्छन्नपडिसेवी**—कोई पुरुष प्रकट रूप से दोष का प्रतिसेवन करता है, प्रच्छन्न रूप से नहीं। **पच्छन्नपडिसेवी णामेगे णो संपागडपडिसेवी**—कुछ प्रच्छन्नरूप से दोष का प्रतिसेवन करते हैं, प्रकट रूप से नहीं। **एगे संपागडपडिसेवीवि पच्छन्नपडिसेवीवि**—कुछ प्रकट रूप से भी दोष का प्रतिसेवन करते हैं और प्रच्छन्न रूप से भी, **एगे णो संपागडपडिसेवी णो पच्छन्नपडिसेवी**—कुछ न प्रकट रूप से दोष का प्रतिसेवन करते हैं और न प्रच्छन्नरूप से।

मूलार्थ—पुरुष चार प्रकार के प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—कुछ व्यक्ति प्रकट रूप से दोषों का प्रतिसेवन करते हैं, छिपकर नहीं। कुछ व्यक्ति छिपकर दोषों का प्रतिसेवन करते हैं, प्रकटरूप से नहीं। कुछ व्यक्ति प्रकट रूप से भी और प्रछन्न रूप से भी दोषों का प्रतिसेवन करते हैं। कुछ न तो प्रकट रूप से ही दोषों का सेवन करते हैं और न छिप करके ही।

विवेचनिका—व्यक्ति-विश्लेषण के प्रकरण में अब दोष सेवन की दृष्टि से व्यक्ति-व्यक्ति का विश्लेषण किया गया है। संसार में जितने भी व्यक्ति हैं—भले ही वे गृहस्थ हैं अथवा गृहत्यागी, उन सब को दोष अर्थात् पाप कर्म करने की दृष्टि से चार भागों में विभक्त किया जा सकता है।

१. जो अविनीत, अनुशासनहीन, स्वच्छन्दाचारी और परलोकविमुख हैं कुव्यसनों का सेवन करते हैं तथा जो साधु समाज में हैं, वे दोषों का सेवन प्रकट रूप में करते हैं, छिपकर नहीं, ऐसे सभी व्यक्ति प्रथमभंग में गर्भित हो जाते हैं, ऐसे प्राणी न गुरुजनों से भय मानते हैं, न ही उन्हें समाज का भय होता है।

२. जिन को शास्त्रीय मर्यादाओं का तो भय नहीं है अपितु गुरुजनों का तथा समाज का अवश्य भय है वे कुव्यसनों का या दोषों का सेवन छिप कर करते हैं, किसी के सामने नहीं। छिपाने का यह भी कारण हो सकता है कि मुझे देखकर किसी और का पतन न हो जाए या मेरा अपयश न फैल जाए। दोष सेवन करना यह कोई वीरता नहीं, बल्कि कायरता या दुर्बलता है। इसी कारण मायावी लोग प्रकट में नहीं बल्कि छिपकर कुकर्म करते हैं अथवा दोषों का सेवन करते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति दूसरे भंग में ग्रहण किए गए हैं।

३ जो साधारण अपराधों का सेवन प्रकट रूप में भी करता है तथा प्रबल अपराध और दोषों का सेवन छिपकर भी करता है इस प्रकार के व्यक्तियों का समावेश तीसरे भंग में होता है।

४. जो आत्मार्थी अप्रमत्त संयत हैं वे किसी भी दोष का सेवन न प्रकट रूप से करते हैं और न छिपकर ही। चौथे भंग के स्वामी वे ही हो सकते हैं जिन के घट में विवेक का सूर्य जगमगा उठा हो, मन वाणी और काया में पूर्णतया संयम हो। वे दोषों से बचे ही रहते हैं।

पाप के भय से जो अकृत्यकर्म नहीं करता वह सर्वोत्तम है। गुरुजनों तथा समाज के भय से पाप का सेवन नही करता वह भी अपेक्षाकृत अच्छा है, किन्तु स्वच्छन्दाचारी, अविनीत, अनुशासनहीन व्यक्ति स्वयं भी डूबता है और दूसरों को भी ले डुबोता है। इस प्रकार के व्यक्तियों की संगति भी नहीं करनी चाहिए। न उन पर रागभाव रखे और न द्वेष करे। तटस्थ रहने में ही लाभ है।

लोकपालों की अग्रमहिषियां

मूल—चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो सोमस्स महारन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—कणगा, कणगलता, चित्तगुत्ता, वसुंधरा। एवं जमस्स, वरुणस्स, वेसमणस्स।

बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो सोमस्स महारन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—मित्तगा, सुभद्दा, विज्जुत्ता, असणी। एवं जमस्स, वेसमणस्स, वरुणस्स।

धरणस्स णं नागकुमारिंदस्स णागकुमाररन्नो कालवालस्स महारन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—असोगा, विमला, सुप्पभा, सुदंसणा। एवं जाव संखवालस्स।

भूताणंदस्स णं णागकुमारिंदस्स णागकुमाररन्नो कालवालस्स महारन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—सुणंदा, सुभद्दा, सुजाया, सुमणा। एवं जाव सेलवालस्स जहा धरणस्स। एवं सव्वेसिं दाहिणिंद-लोगपालाणं जाव घोसस्स जहा भूयाणंदस्स एवं जाव महाघोसस्स लोगपालाणं।

कालस्स णं पिसाइंदस्स पिसायरन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—कमला, कमलप्पभा, उप्पला, सुदंसणा। एवं महाकालस्सवि। सुरूवस्स णं भूइंदस्स भूयरन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—रूववई, बहुरूवा, सुरूवा, सुभगा। एवं पडिरूवस्सवि।

पुण्णभद्दस्स णं जक्खिदस्स जक्खरन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पुत्ता, बहुपुत्तिया, उत्तमा, तारगा। एवं माणिभद्दस्सवि।

भीमस्स णं रक्खसिंदस्स रक्खसरन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ता-ओ, तं जहा—पउमा, वसुमती, कणगा, रयणप्पभा। एवं महाभीमस्सवि। किंनरस्स णं किंनरिंदस्स चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—वडेंसा, केउमई, रइसेणा, रइप्पभा। एवं किंपुरिसस्सवि।

सप्पुरिसस्स णं किंपुरिसिंदस्स भूयरन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ता-ओ, तं जहा—रोहिणी, णवमिया, हिरी, पुप्फवई। एवं महापुरिसस्सवि।

अइकायस्स णं महोरगिंदस्स चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा-भुयगा, भुयगवई, महाकच्छा, फुडा। एवं महाकायस्सवि।

गीयरइस्स णं गंधव्विंदस्स चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—सुघोसा, विमला, सुस्सरा, सरस्सई। एवं गीयजसस्सवि।

चंदस्स णं जोइसिंदस्स जोइसरन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—चंदप्पभा, दोसिणाभा, अच्चिमाली, पभंकरा। एवं सूरस्सवि। णवरं सूरप्पभा, दोसिणाभा, अच्चिमाली, पभंकरा।

इंगालस्स णं महागहस्स चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—विजया, वेजयंती, जयंती, अपराजिया। एवं सव्वेसिं महग्गहाणं जाव भावकेउस्स।

सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—रोहिणी, मयणा, चित्ता, सोमा। एवं जाव वेसमणस्स।

ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ तं जहा—पुढवी, राई, रयणी, विज्जू। एवं जाव वरुणस्स॥३९॥

छाया—चमरस्य खलु, असुरेन्द्रस्य असुरकुमारराजस्य सोमस्य महाराजस्य चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कनका, कनकलता, चित्रगुप्ता, वसुन्धरा। एवं यमस्य, वरुणस्य, वैश्रवणस्य।

बलेः खलु वैरोचनेन्द्रस्य वैरोचनराजस्य सोमस्य महाराजस्य चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मित्रका, सुभद्रा विद्युत्का, अशनी। एवं यमस्य, वैश्रवणस्य, वरुणस्य।

धरणस्य खलु नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य कालपालस्य महाराजस्य चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अशोका, विमला, सुप्रभा, सुदर्शना। एवं यावत् शंखपालस्य।

भूतानन्दस्य खलु नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य कालपालस्य चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सुनन्दा, सुभद्रा, सुजाता, सुमना। एवं यावत् शैलपालस्य यथा धरणस्य। एवं सर्वेषां दक्षिणेन्द्रलोकपालानां यावत् घोषस्य यथा भूतानन्दस्य। एवं यावत् महाघोषस्य लोकपालानाम्।

कालस्य खलु पिशाचेन्द्रस्य पिशाचराजस्य चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कमला, कमलप्रभा, उत्पला, सुदर्शना। एवं महाकालस्यापि।

सुरूपस्य खलु भूतेन्द्रस्य भूतराजस्य चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—रूपवती, बहुरूपा, सुरूपा, सुभगा। एवं प्रतिरूपस्यापि।

पूर्णभद्रस्य खलु यक्षेन्द्रस्य यक्षराजस्य चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पुत्रा, बहुपुत्रिका, उत्तमा, तारका। एवं माणिभद्रस्यापि।

भीमस्य खलु राक्षसेन्द्रस्य राक्षसराजस्य चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पद्मा, वसुमती, कनका, रत्नप्रभा। एवं महाभीमस्यापि।

किन्नरस्य खलु किन्नरेन्द्रस्य चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अवतंसा, केतुमती, रतिसेना, रतिप्रभा। एवं किम्पुरुषस्यापि।

सत्पुरुषस्य खलु किम्पुरुषेन्द्रस्य किम्पुरुषराजस्य चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—रोहिणी, नवमिका, ह्री, पुष्पवती। एवं महापुरुषस्यापि।

अतिकायस्य खलु महोरगेन्द्रस्य चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा-भुजगा, भुजगवती, महाकच्छा, स्फुटा। एवं महाकायस्यापि।

गीतरतेः खलु गन्धर्वेन्द्रस्य चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा-सुघोषा, विमला, सुस्वरा, सरस्वती। एवं गीतयशसोऽपि।

चन्द्रस्य खलु ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चन्द्रप्रभा, ज्योत्स्नाभा, अर्चिमाली, प्रभंकरा। एवं सूर्यस्यापि। नवरं सूर्यप्रभा, ज्योत्स्नाभा, अर्चिमाली, प्रभंकरा।

अंगारस्य खलु महाग्रहस्य चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा-विजया, वैजयन्ती, जयन्ती, अपराजिता। एवं सर्वेषां महाग्रहाणां यावद् भावकेतोः।

शक्रस्य खलु देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोमस्य महाराजस्य चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—रोहिणी, मदना, चित्रा, सोमा। एवं यावद् वैश्रवणस्य।

ईशानस्य खलु देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोमस्य महाराजस्य चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा-पृथिवी, रात्रिः, रजनी, विद्युत्। एवं यावद् वरुणस्य।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—असुरकुमार राजा असुरेन्द्र चमर के लोकपाल महाराजा सोम की चार अग्रमहिषियां कही गई हैं, जैसे—कनका, कनकलता, चित्रगुप्ता और वसुन्धरा। इसी तरह यम, वरुण और वैश्रवण की भी चार-चार अग्रमहिषियां कथन की गई हैं।

वैरोचन राजा वैरोचनेन्द्र बलि के लोकपाल महाराज सोम की चार अग्रमहिषियां कथन की गई हैं, जैसे—मित्रका, सुभद्रा, विद्युत् और अशनी। इसी प्रकार यम, वैश्रवण और वरुण लोकपालों की अग्रमहिषियां भी जान लेनी चाहिएं।

नागकुमारराज नागकुमारेन्द्र धरण के लोकपाल महाराज कालपाल की चार अग्रमहिषियां कही गई हैं, जैसे—अशोका, विमला, सुप्रभा और सुदर्शना। इसी प्रकार शंखपाल पर्यन्त यही क्रम जानना चाहिए।

नागकुमारराज नागकुमारेन्द्र भूतानन्द के लोकपाल महाराज कालपाल की चार अग्रमहिषियां प्रतिपादित की गई हैं, जैसे—सुनन्दा, सुभद्रा, सुजाता और सुमना। इसी तरह धरण के समान शैलपाल पर्यन्त क्रम समझना चाहिए। इसी प्रकार भूतानन्द के समान घोष पर्यन्त सभी दाक्षिणात्य इन्द्र और उनके लोकपालों का क्रम भी जानना चाहिए। इसी प्रकार महाघोष पर्यन्त सभी उत्तरवर्ती लोकपालों का वर्णन जान लेना चाहिए।

पिशाचराज पिशाचेन्द्र काल की चार अग्रमहिषियां कही गई हैं, जैसे—कमला, कमलप्रभा, उत्पला और सुदर्शना। ऐसे ही महाकाल के विषय में भी जानना चाहिए।

भूतराज भूतेन्द्र सुरूप की चार अग्रमहिषियां कथन की गई हैं, जैसे—रूपवती, बहुरूपा, सुरूपा और सुभगा। ऐसे ही प्रतिरूप के विषय में जान लेना चाहिए।

यक्षराज यक्षेन्द्र पूर्णभद्र की चार अग्रमहिषियां कही गई हैं, जैसे—पुत्रा, बहुपुत्रिका, उत्तमा और तारका। इसी प्रकार माणिभद्र की अग्रमहिषियां भी समझ लेनी चाहिएं।

राक्षसेन्द्र राक्षसराज भीम की चार अग्रमहिषियां प्रतिपादित की गई हैं, जैसे—पद्मा, वसुमती, कनका और रत्नप्रभा। इसी तरह महाभीम इन्द्र की भी अग्रमहिषियां जान लेनी चाहिएं।

किन्नरेन्द्र किन्नर राजा की चार अग्रमहिषियां कही गई हैं, जैसे—अवतंसा, केतुमती, रतिसेना और रतिप्रभा। इसी प्रकार किम्पुरुष की अग्रमहिषियां भी जान लेनी चाहिएं।

किंपुरुषेन्द्र सत्पुरुष महाराजा की भी चार अग्रमहिषियां कही गई हैं, जैसे—रोहिणी, नवमिता, ह्री और पुष्पवती। इसी प्रकार महापुरुष इन्द्र की अग्रमहिषियां जाननी चाहिएं।

महोरगेन्द्र अतिकाय की चार अग्रमहिषियां हैं, जैसे—भुजगा, भुजगवती, महाकच्छा और स्फुटा। इसी प्रकार महाकाय की भी जाननी चाहिएं। गन्धर्वेन्द्र गीतरति की चार अग्रमहिषियां कही गई हैं, जैसे—सुघोषा, विमला, सुस्वरा और सरस्वती। इसी तरह गीतयश की अग्रमहिषियां भी समझनी चाहिएं।

ज्योतिष्केन्द्र ज्योतिषराज चन्द्र की चार अग्रमहिषियां प्रतिपादित की गई हैं, जैसे—चन्द्रप्रभा, ज्योत्स्नाभा, अर्चिमाली और प्रभाकरी। ऐसे ही सूर्य की भी चार अग्रमहिषियां हैं। इतनी विशेषता है कि चन्द्रप्रभा के स्थान में सूर्यप्रभा जाननी चाहिए।

महाग्रह अंगार की चार अग्रमहिषियां हैं, जैसे—विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता। इसी प्रकार भावकेतु पर्यन्त सभी महाग्रहों की चार-चार अग्रमहिषियां समझनी चाहिएं।

देवराज देवेन्द्र शक्र के लोकपाल महाराज सोम की चार अग्रमहिषियां कही हैं, जैसे— रोहिणी, मदना, चित्रा और सोमा। इसी प्रकार वैश्रवण पर्यन्त लोकपालों की अग्रमहिषियां कथन की गई हैं।

देवराज देवेन्द्र ईशान की चार अग्रमहिषियां हैं, जैसे—पृथ्वी, रात्रि, रजनी और विद्युत्। इसी तरह यावत् वरुण की भी अग्रमहिषियां हैं।

विवेचनिका—मनुष्य भव में जीवन जितना-जितना धर्मनीति से उन्नत होता जाता है और पुण्यकर्म बढ़ते जाते हैं, उतना ही मनुष्य देवत्व के निकट होता जाता है। केवल पुण्यकर्म शेष रहने पर देवत्व प्राप्त होता है। इस सूत्र में दस भवनपतियों के लोकपालों की तथा शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के लोकपालों की चार-चार अग्रमहिषियों के नामों का उल्लेख तथा व्यंतर देवों के इन्द्रों की, सूर्य, चन्द्र आदि महाग्रहों की चार-चार अग्रमहिषियों के नामों का उल्लेख किया गया है जिन के नाम मूलार्थ में दिए जा चुके हैं[१]। जैसे देवों में उच्च देव भी हैं वैसे ही देवियों में उच्च देवियां भी हैं। जोकि अन्य देवियों की अपेक्षा प्रत्येक दृष्टि से अधिक सशक्त हैं।

प्रश्न हो सकता है कि इन देवियों के नाम आगम में क्यों ग्रहण किए गए? सूत्रकार का इस में क्या उद्देश्य है? जबकि महर्द्धिक एवं सशक्त अन्य देवियां भी हैं उनका नामोल्लेख क्यों नहीं किया गया?

इन प्रश्नों के उत्तर में कहना यह है कि आगमकार कभी भी किसी का वर्णन व्यर्थ नहीं करते, वे जिसका नाम उल्लेख करते हैं किसी विशेष लक्ष्य को लेकर ही करते हैं। परिगृहीता देवियों में अग्रमहिषी देवियां प्रमुख हैं और वे सभी की सभी वहां की स्थिति पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य भव पाकर सिद्धगति को प्राप्त करने वाली हैं। अन्य प्रकार की देवियों में यह विशेषता नहीं है, इसलिए आगमों में उनके नामों का उल्लेख करना व्यर्थ है। परन्तु इनका उल्लेख इसीलिए किया गया है, क्योंकि ये पुण्यात्माएं हैं और सिद्धत्व की ओर उन्मुख हैं।

गोरस-विकार, स्नेह-विकार, महाविकार

मूल—चत्तारि गोरसविगईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—खीरं, दहिं, सप्पिं, णवणीयं।

---

१. इन अग्रमहिषियों की उत्पत्ति आदि का विस्तृत वर्णन ज्ञाताधर्मकथा अंग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध से अवश्य जान लेना चाहिए।

चत्तारि सिणेहविगईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—तेल्लं, घयं, वसा, णवणीयं।

चत्तारि महाविगईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—महुं, मंसं, मज्जं, णवणीयं ॥४०॥

छाया—चतस्रो गोरसविकृतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्षीरं, दधि, सर्पिः, नवनीतम्।

चतस्रः स्नेहविकृतयः, प्रज्ञप्तास्तद्यथा—तैलं, घृतं, वसा, नवनीतम्।

चतस्रो महाविकृतयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मधु, मांसं, मद्यं, नवनीतम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के गोरस-विकार हैं, जैसे—दूध, दही, घी और मक्खन।

चार प्रकार के स्नेह-विकार हैं, जैसे कि—तेल, घृत, वसा (चर्बी) और मक्खन।

चार प्रकार के महाविकार हैं, जैसे कि—मधु, मांस, मद्य और मक्खन।

विवेचनिका—देवत्व की प्राप्ति विकृतियों के त्याग से ही हो सकती है, अतः प्रस्तुत सूत्र में विकार-जनक रसों का विश्लेषण किया गया है। जिस हेतु से शरीर में तथा मन में प्रायः विकार उत्पन्न होते हैं उसे विकृति कहते हैं, कहा भी है—**विकृतयः शरीरमनसोः प्रायो विकारहेतुत्वाद्**—विगय को ही विकृति कहा जाता है। गोरस के चार विगय होते हैं, जैसे कि दूध, दही, घी और मक्खन। स्नेहमय चार विगय हैं, जैसे कि तेल, घृत, वसा (चर्बी) और मक्खन। महाविकार पैदा करने वाले चार महाविगय हैं, जैसे कि मधु, मद्य, मांस और मक्खन। मक्खन की गणना गोरस-विगय स्नेहमय-विगय और महाविगय तीनों में की गई है। मद्य और मांस महाविगय होने से श्रावक एवं आदर्श गृहस्थों के लिए भी वर्ज्य हैं, अतः ये दोनों सर्वथा अभक्ष्य कोटि में आ जाते हैं, किन्तु मधु और नवनीत कारणवश सूत्रविहित होने से कथंचित् भक्ष्य कोटि में माने गए हैं, जैसे कि—

"महुघयसंजुत्तेणं परमन्नेणं पडिलाभेस्सामीति"

—भगवती सूत्र श० १५, ६६३ पत्र।

भगवान महावीर स्वामी ने राजगृह नगर के कोल्लाक सन्निवेश (वसति) में बहुल नामक ब्राह्मण के घर कार्तिकमासोपवास के पारणे में मधु-घृत सहित खीर का उपयोग किया। यदि मधु-सेवन एकान्त अभक्ष्य होता तो भगवान मधु-मिश्रित खीर से पारणा न करते। नवनीत के विषय में बृहत्कल्प सूत्र में लिखा है—

"नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परियासिएणं तिल्लेण वा घएण वा नवणीएण वा वसाए वा गायं अब्भंगित्तए वा मक्खित्तए वा नन्नत्थ आगाढेहिं रोगायंकेहिं"।

—बृहत्कल्प सूत्र उ० ५, सू.४

इस सूत्र में नवनीत का ग्रहण स्वतः सिद्ध है। इस पाठ में साधक के लिए बासी नवनीत का निषेध किया गया है, विशेष कारण पड़ने पर वह भी निषिद्ध नहीं, अतः मद्य मांस को छोड़कर शेष विकृति—विगय यथोचित रूप में ग्रहण किए जा सकते हैं।

वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने इस प्रसंग में वृद्धगाथा का उल्लेख किया है—

"खीरं दहिं णवणीयं घयं तहा तेल्लमेव गुड मज्जं ।
महु मंसं चेव तहा ओगाहिमगं च दसमी उ ॥"

इस गाथा में कच्चा मीठा गुड़-शक्कर आदि तथा अन्य सब प्रकार की बनी हुई मिठाइयों का ग्रहण दसवीं विकृति में किया गया है। विकृतियों के त्याग करने से रस परित्याग तप की पुष्टि होती है और ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है। रसनेन्द्रिय के जीतने से शेष सभी इन्द्रियां स्वतः वश में हो जाती हैं।

यहां पर सूत्रकार का उद्देश्य केवल सामान्य विगय और महाविगय दर्शाने का ही है, वह भी चतुःस्थान के अनुरोध से ही निर्देश किया गया है। ब्रह्मचारी को सर्वप्रथम महाविगयों का त्याग करना चाहिए, फिर यथाशक्य अन्य-अन्य विगयों का भी। यदि व्यक्ति की दृष्टि से परित्यक्त वस्तु को अपेक्षाकृत अभक्ष्य माना जाए तो कोई आपत्ति नहीं। किन्तु मद्य-मांस के समान मधु और नवनीत को भी सर्वथा अभक्ष्य समझना उचित प्रतीत नहीं होता।

कूटागार और कूटागारशालाएं

मूल—चत्तारि कूडागारा पण्णत्ता, तं जहा—गुत्ते णामं एगे गुत्ते, गुत्ते णामं एगे अगुत्ते, अगुत्ते णामं एगे गुत्ते, अगुत्ते णामं एगे अगुत्ते। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—गुत्ते णाममेगे०।

चत्तारि कूडागारसालाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—गुत्ताणाममेगा गुत्त-दुवारा, गुत्ताणाममेगा अगुत्तदुवारा, अगुत्ता णाममेगा गुत्तदुवारा, अगुत्ता-णाममेगा अगुत्तदुवारा। एवामेव चत्तारि इत्थीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—गुत्ता नाममेगा गुत्तिंदिया, गुत्ता णाममेगा अगुत्तिंदिआ० ॥४१॥

छाया—चत्वारि कूटागाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—गुप्तं नामैकं गुप्तम्, गुप्तं नामैक-मगुप्तम्, अगुप्तं नामैकं गुप्तम्, अगुप्तं नामैकमगुप्तम्। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—गुप्तो नामैको०।

चतस्रः कूटागारशालाः, प्रज्ञप्तास्तद्यथा—गुप्ता नामैका गुप्तद्वारा, गुप्ता नामैका अगुप्तद्वारा, अगुप्ता नामैका गुप्तद्वारा, अगुप्ता नामैका अगुप्तद्वारा, एवमेव चतस्रः स्त्रियः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—गुप्ता नामैका गुप्तेन्द्रिया, गुप्ता नामैकाऽगुप्तेन्द्रिया०।

शब्दार्थ—चत्तारि कूडागारा पण्णत्ता, तं जहा—चार कूटागार कहे गए हैं, जैसे,

गुत्ते णामं एगे गुत्ते—एक बाहर से गुप्त है और भीतर से भी गुप्त, **गुत्ते णामं एगे अगुत्ते**—एक बाहर से तो गुप्त है किन्तु भीतर से अगुप्त, **अगुत्ते णामं एगे गुत्ते**—एक बाहर से तो अगुप्त है किन्तु भीतर से गुप्त और, **अगुत्ते णामं एगे अगुत्ते**—एक बाहर और भीतर दोनों से अगुप्त है। **एवामेव**—इसी तरह, **चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे, **गुत्ते णाममेगे**—एक बाहर और भीतर दोनों तरह से गुप्त है—इसका भी चतुर्भंग जान लेना।

चत्तारि कूडागारसालाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—चार प्रकार की कूटशालाएं कही गयी हैं, जैसे, **गुत्ताणाममेगा गुत्तदुवारा**—एक बाहर से गुप्त है और गुप्तद्वार वाली है, **गुत्ताणाममेगा अगुत्तदुवारा**—एक गुप्त है, किन्तु द्वार अगुप्त है, **अगुत्ता णाममेगा गुत्त-दुवारा**—एक अगुप्त है, किन्तु द्वार गुप्त है और, **अगुत्ता णाममेगा अगुत्तदुवारा**—एक अगुप्त है और द्वार भी अगुप्त, **एवामेव**—इसी तरह, **चत्तारि इत्थीओ पण्णत्ताओ, तं जहा**—चार तरह की स्त्रियां हैं, जैसे, **गुत्ता नाममेगा गुत्तिंदिया**—एक स्त्री गुप्त है और इन्द्रियां भी गुप्त हैं, **गुत्ता णाममेगा अगुत्तिंदिया**—एक बाहर से गुप्त है, किन्तु इंद्रियां अगुप्त हैं—इसकी भी चतुर्भंगी जाननी चाहिए।

मूलार्थ—चार कूटागार कहे गए हैं, जैसे—१. एक बाहर से भी गुप्त और भीतर से भी गुप्त है। २. एक बाहर से गुप्त, किन्तु अन्दर से गुप्त नहीं। ३. एक बाहर से अगुप्त और भीतर से गुप्त और ४. एक बाहर और भीतर दोनों से अगुप्त। इसी प्रकार चार प्रकार के पुरुषजात कहे गए हैं, जैसे—एक बाहर से गुप्त और भीतर से भी गुप्त, इसकी भी चतुर्भंगी जाननी चाहिए।

चार प्रकार की कूटागारशालाएं कही गई हैं, जैसे—एक बाहर से गुप्त है और उसका द्वार भी गुप्त है। एक बाहर से गुप्त और द्वार अगुप्त है। एक बाहर से अगुप्त है और द्वार गुप्त है। एक बाहर से अगुप्त और द्वार से भी अगुप्त है। इसी तरह चार प्रकार की स्त्रियां कही गई हैं, जैसे—एक बाहर से गुप्त है और भीतर से भी गुप्त है। इसका भी चतुर्भंग जानना चाहिए।

विवेचनिका—विकृति—रसों का सेवन और उनका परित्याग पुरुष करता है और स्त्री भी, अतः प्रस्तुत सूत्र में कूटागार और कूटागारशाला को दृष्टान्त रूप से तथा पुरुष और स्त्री को दार्ष्टान्तिक रूप से कथन किए गए हैं। कूट का अर्थ है—जिन प्रासादों पर शिखर स्तूप के समान आकार वाले शिखर बने होते हैं, वे कूटागार कहलाते हैं, अथवा पशु बांधने के स्थान और तद्विशिष्ट प्रासाद भी कूटागार ही कहलाते हैं। वे कूटागार चार प्रकार के होते हैं—एक कूटागार प्राकार, खाई, पहरा आदि से गुप्त है और उसका द्वार भी गुप्त है। एक कूटागार बाहर से तो सब प्रकार से गुप्त है, किन्तु उसके द्वार गुप्त नहीं हैं। एक कूटागार

बाहर से गुप्त नहीं है, किन्तु उसके द्वार गुप्त हैं। एक कूटागार न बाहर से ही गुप्त है और न अन्दर से ही गुप्त है।

१. कूटागार की तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

(क) कुछ पुरुष वस्त्र, लज्जा, कवच, पहरे आदि से गुप्त होते हैं और तीन गुप्ति एवं ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों से भी गुप्त हुआ करते हैं।

(ख) कुछ बाहर से तो गुप्त हैं, किन्तु भीतर तीन या नव गुप्तियों से गुप्त नहीं हैं।

(ग) कुछ बाहर से तो गुप्त नहीं हैं, किन्तु भीतर तीन या नव गुप्तियों से गुप्त हैं।

(घ) कुछ न बाहर से गुप्त हैं और न आंतरिक जीवन से ही गुप्त हैं।

अथवा

२. (क) एक पहले भी गुप्त था और अब भी गुप्त है।

(ख) एक पहले तो सब तरह से गुप्त था, किन्तु अब गुप्त नहीं रहा।

(ग) एक पहले तो इन्द्रियों से गुप्त नहीं था, अब पूर्णतया इन्द्रियों से गुप्त है।

(घ) एक ऐसा भी साधक होता है जो पहले भी इन्द्रियों से गुप्त नहीं था और अब भी गुप्त नहीं है।

कूटागारशाला स्त्रीलिंग है, इसलिए सूत्रकार ने स्त्रीलिंग की उपमा स्त्रियों में घटाई है, जैसे कि—

१ (क) एक स्त्री बाहरी दृष्टि से परिवार से घिरी हुई है, या गृह एवं महलों में रहने के कारण या वस्त्रों से आच्छादित होने के कारण या गम्भीर स्वभाव होने के कारण गुप्त है और लज्जा की दृष्टि से एवं संयम से भी गुप्त है।

(ख) एक ऐसी भी स्त्री होती है जो बाहर से तो सर्वथा गुप्त है, किन्तु लज्जा या संयम से गुप्त नहीं है।

(ग) एक स्त्री बाहर से तो गुप्त नहीं है, किन्तु सयम एवं लज्जा से सर्वथा गुप्त है।

(घ) एक न बाहर से गुप्त है और न संयम से ही गुप्त है, खुली एवं स्वच्छन्द प्रकृति वाली है।

अथवा

२. (क) एक स्त्री पहले भी गुप्त थी और अब भी सर्वथा गुप्त है।

(ख) एक स्त्री पहले तो गुप्त थी, किन्तु अब गुप्त नहीं रही।

(ग) कुछ स्त्रियां ऐसी भी होती हैं जो इन्द्रियों की गोपनीयता की दृष्टि से पहले गुप्त नहीं होती बाद में इन्द्रिय गोपनीयता को विशेष महत्त्व देने लगती हैं।

(घ) कुछ ऐसी भी होती हैं जो न पहले गुप्त थीं और न अब गुप्त हैं।

उक्त दो भागों में सभी स्त्रियों का समावेश हो जाता है। इसी प्रकार अन्य चतुर्भंगियों

की कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिए। तीन गुप्ति का तात्पर्य है मन, वाणी और काया का संयम। नवगुप्ति का अर्थ है, नववाड़ों सहित ब्रह्मचर्य का पालन करना। गुप्तेन्द्रिय से तात्पर्य है जितेन्द्रिय बनना।

चतुर्विध-अवगाहना

मूल—चउव्विहा ओगाहणा पण्णत्ता, तं जहा—दव्वोगाहणा, खेत्तोगाहणा, कालोगाहणा, भावोगाहणा ॥ ४२ ॥

छाया—चतुर्विधाः अवगाहनाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—द्रव्यावगाहना, क्षेत्रावगाहना, कालावगाहना, भावावगाहना।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—अवगाहना चार प्रकार की होती है, जैसे कि—द्रव्य-अवगाहना, क्षेत्र अवगाहना, काल-अवगाहना और भाव-अवगाहना।

विवेचनिका—स्त्री एवं पुरुष अवगाहना वाले होते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में अवगाहना का निरूपण किया गया है। अवगाहना का अर्थ है—आधारभूत आकाश-क्षेत्र, शरीर-परिमाण, शरीर-अवस्थान या अवस्थिति। वृत्तिकार इस विषय में लिखते हैं—"**अवगाहन्ते-आसते यस्यामाश्रयन्ति वा जीवाः साऽवगाहना शरीरम्**" अर्थात् जिसमें जीव अवस्थान करते हैं अथवा जिसका जीव आश्रय लेते हैं वह अवगाहना कहलाती है, जिसको दूसरे शब्दों में शरीर भी कहते हैं। संसारी जीव किसी न किसी शरीर में अवश्य निवास करते हैं, वह शरीर चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल, आन्तरिक हो या बाह्य, वे शरीर के बिना संसार में नहीं रह सकते। अवगाहना के भेद और उनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. **द्रव्य-अवगाहना**—द्रव्यों का अपने स्वरूप में अवस्थित रहना अथवा जीवों का पुद्‌गलमय द्रव्य शरीर में अवस्थान करना अथवा सिद्ध भगवन्तों का सिद्धत्वरूप में अवस्थित रहना भी द्रव्य अवगाहना है।

२. **क्षेत्र-अवगाहना**—आकाश सब द्रव्यों का आधार है इस कारण आकाश को क्षेत्र कहा जाता है, वह भी अपने स्वरूप में सदैव अवस्थित रहता है, अथवा शरीर द्रव्य आकाश के असंख्यात प्रदेशों को अवगाहन करता है, अथवा सिद्ध जिन आकाश-प्रदेशों को अवगाहन करके रहते हैं वह क्षेत्र अवगाहना है।

३. **काल-अवगाहना**—काल अपने स्वरूप में पहले था, अब है और भविष्यत् में भी रहने वाला है तथा जीव और पुद्‌गल की कोई भी द्रव्य पर्याय अधिक से अधिक असंख्यात समय पर्यन्त ही रहने वाली होती है, शुद्धात्मा का अवस्थान सादि-अनन्त है इसी अवस्थिति को काल-अवगाहना कहा जाता है।

४. **भाव-अवगाहना**—शरीर में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का होना तथा आत्मा में

प्रशस्त और अप्रशस्त भावों का होना इत्यादि सब भाव-अवगाहना का ही स्वरूप है।

जैन-दर्शन किसी भी गहन-विषय को समझने और समझाने के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आलंबन लेता है। जहां किसी एक की भी उपेक्षा की, वहीं असत्य का साम्राज्य छा जाता है, इसी लक्ष्य को लेकर अवगाहना का विषय स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप अनेकान्तवाद का आश्रय लिया है।

अंगबाह्य प्रज्ञप्तियां

मूल—चत्तारि पन्नत्तीओ अंगबाहिरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—चन्दपन्नत्ती, सूरपन्नती, जंबुद्दीवपन्नत्ती, दीवसागरपन्नत्ती ॥ ४३ ॥

छाया—चतस्त्रः प्रज्ञप्तयोऽङ्गबाह्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चन्द्रप्रज्ञप्तिः, सूर्यप्रज्ञप्तिः, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः, द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—अंगबाह्य चार प्रज्ञप्तियां प्रतिपादन की गई हैं, जैसे कि—चन्द्र-प्रज्ञप्ति, सूर्य-प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति और द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति।

विवेचनिका—अवगाहना ज्ञेय विषय है, अतः अब शास्त्रकार जिन अंगबाह्य प्रज्ञप्तियों में ज्ञेय विषय का वर्णन है उनके नामोल्लेख करते हुए कहते हैं—प्रज्ञप्तियां पांच हैं, उनमें व्याख्या-प्रज्ञप्ति ही अंगप्रविष्ट शास्त्र है, शेष सब अंगबाह्य प्रज्ञप्तियां हैं। प्रज्ञप्ति का अर्थ है—नाम के अनुसार विषय निर्देशन कराने वाली रीति। चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति ये दो शास्त्र खगोल और गणितानुयोग से सम्बंधित हैं। जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति ये दो शास्त्र भूगोल और गणितानुयोग से सम्बंधित हैं। इनका अध्ययन भी गुरुगमता से ही करना चाहिए।

॥ चतुर्थ स्थान का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

चतुर्थ-स्थान

द्वितीय उद्देशक

इस उद्देशक में प्रतिसंलीन, विविध दृष्टियों से मानवता का तुलनात्मक विश्लेषण, विकथा, धर्मकथा, स्वाध्याय-निबंध वेला, लोकस्थिति, गर्हा-कार, साधु-साध्वी का मार्ग-भाषण, तमस्काय-विवेचन, सेना प्रकार, केतन-विवेचन, संसार के चार रूप, चतुर्विध आहार, बन्ध के अनेक रूप, चतुर्विध एकत्व, कति-भेद, सर्व-विश्लेषण, मानुषोत्तर के चार कूट, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी अरों के सुषम-सुषमा समय का काल मान, जम्बूद्वीप की अकर्म भूमि आदि, धातकीखण्ड-परिमाण, नन्दीश्वर अधिकार आदि का चतुर्विधात्मक परिचय दिया गया है।

प्रतिसंलीन और अप्रतिसंलीन

मूल—चत्तारि पडिसंलीणा पण्णत्ता, तं जहा—कोहपडिसंलीणे, माण-पडिसंलीणे, मायापडिसंलीणे, लोभपडिसंलीणे।

चत्तारि अपडिसंलीणा पण्णत्ता, तं जहा—कोहअपडिसंलीणे, जाव लोभ अपडिसंलीणे॥

चत्तारि पडिसंलीणा पण्णत्ता, तं जहा—मणपडिसंलीणे, वइपडि-संलीणे, कायपडिसंलीणे, इंदियपडिसंलीणे।

चत्तारि अपडिसंलीणा पण्णत्ता, तं जहा—मणअपडिसंलीणे जाव इंदियअपडिसंलीणे॥ ४४॥

छाया—चत्वारः प्रतिसंलीना, प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्रोधप्रतिसंलीनः, मानप्रतिसंलीनः, मायाप्रतिसंलीनः, लोभप्रतिसंलीनः।

चत्वारोऽप्रतिसंलीनाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्रोधाप्रतिसंलीनः, यावत् लोभाप्रति-संलीनः।

चत्वारः प्रतिसंलीना प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मनःप्रतिसंलीनः, वाक्प्रतिसंलीनः, कायप्रतिसंलीनः, इन्द्रियप्रतिसंलीनः। चत्वारोऽप्रतिसंलीनाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मनोऽप्रतिसंलीनः यावत् इन्द्रियाप्रतिसंलीनः।

मूलार्थ—चार प्रतिसंलीन कथन किए गए हैं, जैसे—क्रोध-प्रतिसंलीन, मान-प्रतिसंलीन, माया-प्रतिसंलीन और लोभ-प्रतिसंलीन।

चार अप्रतिसंलीन कहे गए हैं, जैसे—क्रोध-अप्रतिसंलीन यावत् लोभ-अप्रतिसंलीन।

चार प्रतिसंलीन कहे गए हैं, जैसे—मन-प्रतिसंलीन, वचन-प्रतिसंलीन, काय-प्रतिसंलीन और इन्द्रिय-प्रतिसंलीन।

चार अप्रतिसंलीन कहे गए हैं, जैसे—मन-अप्रतिसंलीन यावत् इन्द्रिय-अप्रतिसंलीन।

विवेचनिका—इस स्थान के पहले उद्देशक में जीव आदि द्रव्य-पर्यायों के सम्बन्ध में कह आए हैं, अब दूसरे उद्देशक में भी जीव आदि पदार्थों का ही वर्णन किया जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रतिसंलीन और अप्रतिसंलीन का विवेचन किया गया है। प्रतिसंलीन का अर्थ होता है, अच्छी तरह तप में लीन होना, विरोधी तत्त्वों का निरोध करना, कषायों के उदय होने के निमित्त बनने पर भी उदय न होने देना, यदि उदय हो जाएं तो उन्हें विफल करना, यह दोनों बातें बड़ी कठिन हैं। बुद्धिमान, योगीजन तथा मुमुक्षु ही इस में सफल हो सकते हैं। वृत्तिकार ने भी प्रतिसंलीन का अर्थ बहुत सुंदर शैली से किया है—

"**क्रोधादिकं वस्तु-वस्तुप्रति सम्यग्लीनाः—निरोधवन्तः प्रतिसंलीनाः**"। अर्थात् जिस-जिस वस्तु के प्रति क्रोध, मान, माया, लोभ इन में से कोई भी कषाय उत्पन्न हो जाए उसका सम्यक् प्रकार से निरोध करना ही कषाय प्रतिसंलीन तप कहलाता है।

सूत्र में जो क्रोध आदि चार भेदों के साथ प्रतिसंलीन का प्रतिपादन किया है उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि क्रोध तथा मान द्वेष के अंतर्गत हैं एवं माया और लोभ राग के अंतर्गत हैं, अतः राग-द्वेष के निरोध से तथा सत्ता में रहे हुए कषायों के सर्वथा विलय करने से ही निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है।

मन, वचन और काय योग को प्रशस्त मार्ग में प्रवृत्त करना और अप्रशस्त मार्ग से निवृत्त करना भी प्रतिसंलीन तप कहलाता है। जब योगों की प्रवृत्ति उन्मार्ग की ओर लग रही हो, तब वहां से उन्हें हटाना बहुत ही कठिन है और उन्हें संयम तथा तप में लगाना तो और भी कठिन है। कठिन को आसान करना ही शूरवीरता है।

शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श ये इन्द्रियों के विषय हैं। प्रिय विषयों पर राग न करना और अप्रिय विषयों पर द्वेष न करना इसी को इन्द्रिय-प्रतिसंलीन कहा जाता है। मुमुक्षु

आत्माओं के लिए कषायजय, योगनिरोध और इन्द्रिय-निग्रह की परम आवश्यकता रहती है।

जो साधक क्रोध आदि चार कषायों के बहाव में बह जाता है, मन, वचन और काय के योगों में संयम नहीं रखता जिसकी सभी इन्द्रियां निरंकुश हैं वह सुगति और परम सुख का अधिकारी नहीं बन सकता। जितने-जितने अंश में प्रतिसंलीनता है उतने-उतने अंश में संयम और तप है। जितने अंश में संयम और तप है उतने अंश में शुद्धि-सुगति एवं सुख है और उनकी पूर्णता में मोक्ष। अप्रतिसंलीनता संसार का मूल कारण है। कषाय, योग और इन्द्रिय इन को निरंकुश रखना ही संसार है, वस्तुतः संसार व्यवहार इन से ही चलता है।

दीन और अदीन विश्लेषण

मूल—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—दीणे णाममेगे दीणे, दीणे णाममेगे अदीणे, अदीणे णाममेगे दीणे, अदीणे णाममेगे अदीणे।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—दीणे णाममेगे दीणपरिणए, दीणे णामं एगे अदीणपरिणए, अदीणे णामं एगे दीणपरिणए, अदीणे णाममेगे अदीणपरिणए।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—दीणे णाममेगे दीणरूवे ४। एवं दीणमणे ४। दीणसंकप्पे ४, दीणपन्ने ४, दीणदिट्ठी ४, दीण-सीलायारे ४, दीणववहारे ४। चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—दीणे णाममेगे दीणपरक्कमे, दीणे णाममेगे अदीणपरक्कमे०। एवं सव्वेसिं चउभंगो भाणियव्वो।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—दीणे णाममेगे दीणवित्ती ४। एवं दीणजाई ४, दीणभासी ४, दीणोभासी ४।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—दीणे णाममेगे दीणसेवी ४। एवं दीणे णाममेगे दीणपरियाए ४। दीणे णाममेगे दीणपरियाले ४, सव्वत्थ चउभंगो ॥ ४५ ॥

छाया—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—दीनो नामैको दीनः, दीनो नामैकोऽदीनः, अदीनो नामैको दीनः, अदीनो नामैकोऽदीनः।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—दीनो नामैको दीनपरिणतः, दीनो नामैकोऽदीनपरिणतः, अदीनो नामैको दीनपरिणतः, अदीनो नामैकोऽदीनपरिणतः।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—दीनो नामैको दीनरूपः। एवं दीनमनाः,

दीनसंकल्पः, दीनप्रज्ञः, दीनदृष्टिः, दीनशीलाचारः, दीनव्यवहारः।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—दीनो नामैको दीनपराक्रमः०, दीनो-नामैकोऽदीनपराक्रमः। एवं सर्वेषां चतुर्भंगो भणितव्यः।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—दीनो नामैको दीनवृत्तिः। एवं दीन-जातिः, दीनभाषी, दीनावभासी।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—दीनो नामैको दीनसेवी। एवं दीनो नामैको दीनपर्यायः, दीनो नामैको दीनपरिवारः। सर्वत्र चतुर्भंगः।

मूलार्थ—पुरुषजात अर्थात् मानव चार प्रकार के प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—कुछ मानव बाह्यवृत्ति से भी दीन हैं और अन्तःवृत्ति से भी दीन हैं। दूसरे बाह्यवृत्ति से दीन हैं और अन्तःवृत्ति से अदीन। कुछ मानव बाह्यवृत्ति से अदीन होते हैं और अन्तःवृत्ति से दीन हुआ करते हैं। एक अन्तःवृत्ति और बाह्यवृत्ति दोनों से अदीन होते हैं।

व्यक्ति चार प्रकार के प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—

१. कुछ व्यक्ति दीन हैं और दीन अवस्था में परिणत हो रहे हैं। २. कुछ व्यक्ति दीन हैं, किन्तु दीनावस्था में परिणत नहीं हैं। ३. कुछ व्यक्ति अदीन हैं, किन्तु दीनावस्था में परिणत हो रहे हैं। ४. कुछ व्यक्ति दीन भी नहीं और दीनावस्था में परिणत भी नहीं हो रहे हैं।

पुरुषजात चार प्रकार के प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—कुछ व्यक्ति दीन हैं और रूप से भी दीन हैं। इसी प्रकार कुछ दीन मनस्वी हैं, कुछ दीन संकल्पी हैं, कुछ दीनदृष्टि वाले हैं, कुछ दीन शीलाचार वाले हैं और कुछ दीन व्यवहार वाले हैं।

पराक्रम की दृष्टि से भी पुरुषजात चार प्रकार के प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—एक दीन हैं और दीन पराक्रम वाले हैं। एक दीन हैं, किन्तु अदीन पराक्रम वाले हैं। इसी प्रकार सब के चतुर्भंग बना लेने चाहिएं। पुरुषजात अर्थात् व्यक्ति चार प्रकार के प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—एक दीन हैं और दीन वृत्ति वाले हैं। इसी तरह दीन जाति, दीन भाषी, दीनावभासी भी चार-चार प्रकार के होते हैं।

पुरुषजात चार प्रकार से प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—एक दीन हैं और दीन सेवी हैं, इसी प्रकार एक दीन हैं और दीनपर्याय वाले हैं। एक दीन हैं और दीन परिवार हैं। सभी के चतुर्भंग बना लेने चाहिएं।

विवेचनिका—कषायों के न जीतने से मन, वचन, काय और इन्द्रियों को वश में न

करने से आत्मा दीन अवस्था को प्राप्त होती है। इस सूत्र में दीन के साथ सत्रह चतुर्भंगियों का वर्णन किया गया है। सब प्रकार के सुख एवं बल से विहीन, परमुख प्रेक्षी, निर्धन, असुरक्षित, अनाथ इन सभी अर्थों में दीन शब्द का प्रयोग होता है। दीन से विपरीत अवस्था-वाले अदीन कहलाते हैं।

दीनता और अदीनता की दृष्टि से व्यक्ति चार प्रकार के होते हैं—

१. एक व्यक्ति पहले भी दीन था और अब भी दीन है।
 एक जीवन के पहले भाग में दीन था, परन्तु वर्तमान में अदीन है।
 एक पुरुष पहले तो दीन नहीं था, किन्तु अब दीन बन गया है।
 एक पुरुष न तो पहले दीन था और न अब दीन है, वह पहले भी अदीन था, अब भी अदीन है।

अब बाह्य एवं आन्तरिक दीनता के आधार पर व्यक्ति का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

२. एक पुरुष बाहर से भी दीन दीखता है और दीनपने में परिणत भी हो रहा है।
 एक बाहर से दीन अवश्य दीखता है, किन्तु अन्दर से दीनपने में परिणत नहीं हो रहा।
 एक बाहर से तो अदीन दीखता है और अन्दर से दीनता में परिणत हो रहा है।
 एक बाहर से भी अदीन है और भीतर से भी अदीनता में परिणत हो रहा है।

आकृति एवं वेष-भूषा की दृष्टि से भी व्यक्ति चार प्रकार के होते हैं—

३. एक म्लान मुख होने से दीन है और फटे-पुराने वस्त्रों की अपेक्षा दीन रूप है।
 एक म्लानवदन से तो दीन है किन्तु श्रेष्ठ वेषभूषा से अदीन रूप है।
 एक प्रसन्न वदन से तो अदीन है किन्तु जीर्ण शीर्ण वेष में दीन रूप है।
 एक प्रसन्नवदन से भी अदीन है और वेषभूषा से भी अदीन रूप है।

पाप एवं पुण्य की दृष्टि से व्यक्ति की दीनता का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि—

४. एक व्यक्ति पुण्य की न्यूनता से दीन है, और तमोगुणी होने से दीनमना है।
 एक व्यक्ति पुण्य-हीनता से दीन है, पर सतोगुणी होने से अदीन मन है।
 एक व्यक्ति पुण्यवान होने से अदीन है, किन्तु तमोगुणी होने से दीनमना है।
 एक व्यक्ति पुण्यवान होने से भी अदीन है और सतोगुणी होने से भी अदीनमना है।

परिस्थिति की विवशता से व्यक्ति के दीनत्व की समीक्षा करते हुए कहा गया है कि—

५. एक व्यक्ति परिस्थिति की विवशता से दीन है, और हीन विचार होने से दीन-संकल्प भी है।
 एक व्यक्ति परिस्थिति की विवशता से दीन अवश्य है, किन्तु उच्च विचारों वाला होने से अदीन संकल्प है।

एक व्यक्ति तेजस्वी होने से अदीन है, किन्तु अशुभ विचार होने से दीन संकल्प है।

एक व्यक्ति तेजस्विता से भी अदीन है, पुन: उच्च विचारों से अदीन संकल्प भी है।

अब भाग्यवश होने वाली दीनता के कारण, व्यक्ति के चार रूपों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—

६. एक पुरुष भाग्यहीनता से दीन है, और स्थूल बुद्धि होने से दीनप्रज्ञ भी है।

एक पुरुष भाग्यहीनता से तो दीन है, किन्तु बुद्धि की विचक्षणता से अदीन-प्रज्ञ है।

एक पुरुष भाग्यशाली होने से अदीन है, किन्तु हीन बुद्धि होने से दीनप्रज्ञ है।

एक पुरुष पुण्यवान होने से अदीन है, परन्तु महाप्रज्ञ होने से अदीनप्रज्ञ है।

दृष्टि की विभिन्नता के कारण दीनत्व व्यक्तित्व के चार रूप हैं—

७. एक पुरुष सुख और वैभव हीन होने से दीन है और दृष्टि से हीन होने के कारण दीन-दृष्टि भी है।

एक पुरुष सुख और वैभव हीन होने से दीन है, किन्तु सम्यग्दृष्टि होने से अदीनदृष्टि है।

एक पुरुष पुण्यपुंज होने से तो अदीन है, किन्तु मिथ्यात्व या जन्मांधता से दीनदृष्टि है।

एक पुरुष पुण्यपुंज होने से भी अदीन है तथा दृष्टि और सम्यग्दृष्टि से भी अदीन है।

शील एवं आचार की दृष्टि से व्यक्ति के दैन्य भाव का विश्लेषण इस प्रकार है—

८. एक पुरुष दीन है, और शील-आचार—धर्मानुष्ठान की हीनता से दीन शीलाचार है।

एक पुरुष दीन तो है, किन्तु उच्चधर्मानुष्ठान के कारण अदीन शीलाचार है।

एक पुरुष बाह्य जीवन से दीन नहीं, किन्तु धर्मानुष्ठान की हीनता से दीन शीलाचार है।

एक पुरुष सुख और वैभव से भी दीन नहीं और शीलाचार से भी दीन नहीं है।

अब व्यावहारिकता के दृष्टिकोण से व्यक्ति-दैन्य का विश्लेषण करते हुए कहा गया है—

९. एक पुरुष दीन है, और लेन-देन के व्यवहार में अनुदार होने से दीन-व्यवहार है।

एक पुरुष दीन है, किन्तु लेन-देन के व्यवहार में उदारचेता होने से अदीन है।

एक पुरुष अदीन है, किन्तु लेन-देन के व्यवहार में कंजूस होने से दीन है।

एक पुरुष वैसे भी अदीन है, और लेन-देन के व्यवहार में भी अदीन-व्यवहारी है।

उद्यमादि की दृष्टि से दीनता एवं अदीनता—

१०. इसी प्रकार पापकार्य में उद्यम करना दीन पराक्रम कहलाता है। धर्म एवं परोपकार में उद्यम करना अदीन पराक्रम है।

११. दीनता से आजीविका उपार्जन करना दीनवृत्ति और न्याय-नीति एवं तेजस्विता से आजीविका उपार्जन करना अदीनवृत्ति कहलाता है।

१२. "दीन जाई" के संस्कृत रूप तीन बनते हैं, जैसे कि—दीन-याची, दीनयायी, दीन-जाति। जो दीन की तरह याचना करता है उसे दीन-याची, जो दीन की तरह गमन करता है उसे दीन यायी और जो हीन जाति का है उसे दीन-जाति कहा जाता है। इनके विपरीत व्यक्तियों को अदीनयाची, अदीनयायी तथा अदीन-जाति कहना चाहिए।

१३. जो दीन की तरह बोलता है वह दीनभाषी है और जो दीन की तरह नहीं बोलता वह अदीनभाषी है।

१४. जो दीन तो नहीं, परन्तु दीन जैसा लगता है वह दीन अवभासी है, जो अदीन न होने पर भी अदीन जैसा लगता है वह अदीनावभासी है।

१५. जो दीनों की सेवा करता है वह दीन-सेवी है और जो दीनों की नहीं, महापुरुषों की सेवा करता है वह अदीन-सेवी है।

१६. जिसका गार्हस्थ्य जीवन एवं संयमी जीवन अच्छी तरह व्यतीत नहीं हुआ वह दीन-पर्याय है और जिसका गृहस्थ जीवन आदर्शमय रहा है और संयम में भी आदर्श संयमी रहा है वह अदीन-पर्याय कहलाता है।

१७. जिसका पुत्र या शिष्य आदि परिवार दीन की तरह हो वह दीन-परिवार है और जो दीन की तरह नहीं वह अदीन परिवार कहलाता है।

उद्यम, आजीविका, जाति, भाषण, दीनावभास, दीन-सेवा, संयम-पर्याय और परिवार आदि की दृष्टि से भी दीनता एवं अदीनता का विश्लेषण कर लेना चाहिए।

आर्य और अनार्य विश्लेषण

मूल—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—अज्जे णाममेगे अज्जे ४।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—अज्जे णाममेगे अज्जपरिणए ४। एवं अज्जरूवे ४। अज्जमणे ४। अज्जसंकप्पे ४। अज्जपन्ने ४। अज्जदिट्ठी ४। अज्जसीलायारे ४। अज्जववहारे ४। अज्जपरक्कमे ४। अज्जवित्ती ४। अज्जजाई ४। अज्जभासी ४। अज्जोभासी ४। अज्जसेवी ४। एवं अज्ज-परियाए ४। अज्जपरियाले ४। एवं सत्तरस आलावगा। जहा दीणे णं भणिया तहा अज्जेणवि भाणियव्वा।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—अज्जे णाममेगे अज्जभावे, अज्जेनाममेगे अणज्जभावे, अणज्जे नाममेगे अज्जभावे, अणज्जे नाममेगे अणज्जभावे ॥४६॥

छाया—चत्तारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आर्यो नामैक आर्य:४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आर्यो नामैक आर्यपरिणतः४। एवं आर्यरूप:४। आर्यमनः४। आर्यसंकल्पः४। आर्य-प्रज्ञः४। आर्य-दृष्टि:४। आर्यशीला-चारः४। आर्य-व्यवहारः४। आर्य-पराक्रमः४। आर्यवृत्तिः४। आर्यजातिः४। आर्यभाषी४। आर्यावभासी४। आर्यसेवी४। एवमार्यपर्यायः४। आर्यपरिवारः४। एवं सप्तदशालापकाः। यथा दीनेन भणितास्तथाऽऽर्येणापि भणितव्याः।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आर्यो नामैक आर्यभावः, आर्योनामैक अनार्यभावः, अनार्यो नामैक आर्यभावः, अनार्यो नामैकोऽनार्यभावः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार तरह के पुरुषजात कथन किए गए हैं, जैसे—एक पुरुष क्षेत्र से भी आर्य है और पाप-रहित होने से भाव से भी आर्य है। एक पुरुष क्षेत्र से तो आर्य है, किन्तु भाव से अनार्य है। एक पुरुष क्षेत्र से अनार्य है, किन्तु भाव से आर्य है। एक पुरुष क्षेत्र और भाव दोनों से अनार्य है।

पुनः चार तरह के पुरुषजात कथन किए गए हैं, जैसे—एक पुरुष आर्य है और भाव से भी आर्य-परिणत है। इसी तरह आर्यरूप, आर्यमन, आर्यसंकल्प, आर्यप्रज्ञ, आर्यदृष्टि, आर्यशीलाचार, आर्य-व्यवहार, आर्यपराक्रम, आर्यवृत्ति, आर्य-जाति, आर्यभाषी, आर्य-अवभासी, आर्य-सेवी, इसी तरह आर्य-पर्याय, आर्य-परिवार इन सभी के चतुर्भंग जान लेने चाहिएं। इसी तरह १७ आलापक जैसे दीन शब्द के कहे गए हैं, वैसे ही आर्य शब्द के साथ भी जान लेने चाहिएं।

चार तरह के पुरुषजात कथन किए गए हैं, जैसे—एक पुरुष आर्य है और भाव से भी आर्यत्व रखता है। एक पुरुष आर्य है, किन्तु अनार्य भाव वाला है। एक पुरुष अनार्य है, किन्तु आर्य भाव वाला है। एक पुरुष अनार्य है और भाव से भी अनार्यत्व रखने वाला है।

विवेचनिका—जो सब प्रकार से अदीन है, वे ही आर्य माने जाते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में आर्य और अनार्य के विषय में प्रकाश डाला गया है। संसार में जितने भी प्राणी हैं उनमें कुछ आर्य हैं, शेष अनार्य। अनन्त-अनन्त प्राणी अनार्य हैं। उनकी अपेक्षा आर्य बहुत ही कम हैं। आर्य नौ प्रकार के होते हैं, जिन का वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के पहले पद में विस्तृत रूप से प्राप्त होता है। यहां उनकी व्याख्या संक्षेप से की जाती है।

१. जिसका जन्म आर्यावर्त में हुआ है वह क्षेत्रतः आर्य है।

२. आर्य जाति में उत्पन्न हुआ व्यक्ति जाति से आर्य है।

३. उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति कुल से आर्य माना जाता है।

४. जिसका व्यवसाय आर्यों जैसा है उसे कर्म-आर्य कहते हैं।

५. सौ प्रकार के शिल्प से आजीविका करने वाला शिल्प-आर्य है।

६. अर्धमागधी, संस्कृत, प्राकृत इत्यादि भाषाएं आर्य भाषाएं कहलाती हैं।

७. मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान ये पांच ज्ञान आर्य-ज्ञान कहलाते हैं।

८. सम्यग्दर्शन को आर्य-दर्शन कहते हैं।

९. सामायिक आदि पांच प्रकार के चारित्र को आर्य-चरित्र कहा जाता है।

किसी कवि ने आठ गुणों से संपन्न व्यक्ति को आर्य कहा है, जैसे कि—

शान्तस्तितिक्षुर्दान्तश्च सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
दाता दयालुर्नम्रश्च आर्यः स्यादष्टभिर्गुणैः॥

अर्थात् जो शान्त, सहनशील, मनोजयी, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, दाता, दयालु और विनीत है वह आर्य कहलाता है।

जो इन गुणों से विहीन है, वह अनार्य माना जाता है। आर्यत्व और अनार्यत्व को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने चतुर्भंगियों का निर्देश किया है। जैसे कि—

द्रव्य और भाव की दृष्टि से—

१. एक पुरुष द्रव्य से भी आर्य है और भाव से भी आर्य है।

एक पुरुष द्रव्य से तो आर्य है, किन्तु भाव से अनार्य है।

एक पुरुष द्रव्य से तो अनार्य है, किन्तु भाव से आर्य है।

एक पुरुष द्रव्य से भी अनार्य है और भाव से भी अनार्य ही है।

आर्य क्षेत्र, जाति, कुल, व्यवसाय, कर्म और शिल्प इनका समावेश द्रव्य आर्य में हो जाता है। जाति-विहीन, कुल-विहीन अनार्य क्षेत्र में उत्पन्न, अनार्य व्यवसाय में लीन, अनार्य कर्म करने वाला एवं अनार्यशिल्प में रुचि रखने वाला व्यक्ति द्रव्य से ही अनार्य माना जाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का समावेश भाव-आर्य में होता है। इससे विपरीत हिंसा आदि पाप-क्रियाओं में अनुरक्त रहने वाला भाव-अनार्य है।

द्रव्य और परिणमन की दृष्टि से—

२. एक पुरुष द्रव्य से आर्य है और आर्यत्व में ही परिणत हो रहा है।

एक पुरुष द्रव्य से आर्य होता हुआ भी, अनार्यत्व में ही परिणत हो रहा है।

एक पुरुष द्रव्य से अनार्य होता हुआ भी, आर्यत्व में परिणत हो रहा है।

एक पुरुष द्रव्य से अनार्य है और अनार्यत्व में ही परिणत हो रहा है।

द्रव्य और वेश-भूषा की दृष्टि से—

३. एक पुरुष द्रव्य से आर्य है और वेश-भूषा एवं रूप से आर्य रूप है।

एक पुरुष द्रव्य से आर्य है, किन्तु अनार्य वेश-भूषा की अपेक्षा से अनार्य रूप है।

एक पुरुष द्रव्य से अनार्य है, किन्तु वेश-भूषा की अपेक्षा से आर्य रूप है।

एक पुरुष द्रव्य से अनार्य है, और वेश-भूषा की अपेक्षा से भी अनार्य रूप है।

द्रव्य और मानसिक दृष्टि से—

४. एक पुरुष द्रव्य से आर्य है, पुनः सात्विक मन होने से आर्यमना है।

एक पुरुष द्रव्य से आर्य है, किन्तु तमोगुणी होने से अनार्यमना है।

एक पुरुष द्रव्य की अपेक्षा अनार्य है, किन्तु सात्विक मन होने से आर्यमना है।

एक पुरुष द्रव्य से भी अनार्य है, और तमोगुणी होने से अनार्यमना भी है।

द्रव्य और संकल्प की दृष्टि से—

५. एक पुरुष द्रव्य से आर्य है, और शुभ संकल्प होने से आर्य-संकल्प वाला है।

एक पुरुष द्रव्य से आर्य है, परन्तु अशुभ विचारों के कारण अनार्य-संकल्पी है।

एक पुरुष द्रव्य से अनार्य है, किन्तु शुभ विचारों के कारण आर्य-संकल्पी है।

एक पुरुष द्रव्य से अनार्य है, और अशुद्ध विचारों से अनार्य-संकल्पी भी है।

द्रव्य और प्रज्ञा की दृष्टि से—

६. एक पुरुष द्रव्य से भी आर्य है, और सूक्ष्म अर्थ-ग्राहिणी तथा गुण-ग्राहिणी बुद्धि से भी आर्य-प्रज्ञ है।

एक पुरुष द्रव्य से तो आर्य है, किन्तु अवगुण-ग्राहिणी बुद्धि से अनार्य-प्रज्ञ है।

एक पुरुष द्रव्य से अनार्य है, किन्तु बुद्धि की श्रेष्ठता से आर्य-प्रज्ञ है।

एक पुरुष द्रव्य से भी अनार्य है और दुर्गुण-ग्राहिणी बुद्धि होने से अनार्य-प्रज्ञ भी है।

द्रव्य और दर्शन की दृष्टि से—

७. एक पुरुष द्रव्य से तो आर्य है, और सम्यग्दर्शन संपन्न होने से आर्य-दृष्टि भी है।

एक पुरुष द्रव्य से तो आर्य है, किन्तु मिथ्यादर्शन के कारण अनार्य-दृष्टि है।

एक पुरुष द्रव्य से अनार्य है, किन्तु सम्यग्दर्शन-संपन्नता से आर्य-दृष्टि है।

एक पुरुष द्रव्य से भी अनार्य है और सम्यक्त्व के अभाव होने के कारण अनार्य-दृष्टि भी है।

द्रव्य और शीलाचार की दृष्टि से—

८. एक व्यक्ति द्रव्य से स्वयं आर्य है और वह शीलाचार की दृष्टि से भी आर्य है।

एक व्यक्ति द्रव्य से तो आर्य है, किन्तु सम्यक् चरित्र न होने से शीलाचार के अभाव के कारण अनार्य है।

एक व्यक्ति द्रव्य से अनार्य होता हुआ भी शुद्ध शीलाचार होने के कारण आर्य है।

एक व्यक्ति द्रव्य से भी अनार्य है और अपवित्र एवं भ्रष्ट शीलाचार होने से भी अनार्य है।

द्रव्य और व्यवहार की दृष्टि से—

९. एक पुरुष द्रव्य से आर्य है और उसका लेन-देन एवं व्यवहार भी आर्य है।

एक पुरुष द्रव्य से आर्य है, किन्तु अनुदार एवं अनार्यों जैसा दुर्व्यवहार करने से वह व्यवहार-अनार्य है।

एक पुरुष यद्यपि द्रव्य से अनार्य है, किन्तु आर्यों जैसा व्यवहार करने से वह व्यवहार-आर्य है।

एक पुरुष द्रव्य से भी अनार्य है और उसका लेन-देन अर्थात् व्यवहार भी अनार्य है।

द्रव्य और पराक्रम की दृष्टि से—

१०. जिसके पराक्रम का स्व तथा परकल्याण में उपयोग होता है, वह आर्यपराक्रम कहलाता है

जिसका पराक्रम हिंसा आदि पाप-क्रियाओं में प्रवृत्त होता है वह अनार्य-पराक्रम कहलाता है।

११. आर्यवृत्ति और अनार्यवृत्ति इन पदों का अर्थ है—जो हिंसा आदि पाप-क्रिया के बिना अहिंसक व्यापार से आजीविका की जाती है, वह आर्य-वृत्ति कहलाती है और जो हिंसक व्यापार से आजीविका की जाती है वह अनार्यवृत्ति कहलाती है।

१२. आर्ययाची और अनार्ययाची का अर्थ है—जो न्याय-नीति से किसी वस्तु की याचना करता है वह आर्ययाची है और जो अन्याय अनीति पूर्वक बलात् किसी से वस्तु की याचना करता है, वह अनार्ययाची कहलाता है।

१३. आर्यभाषी और अनार्यभाषी का अर्थ है—जो बातचीत में या प्रवचन में आर्य-भाषा का प्रयोग करता है वह आर्यभाषी है और जो अनार्य भाषा का प्रयोग करता है वह अनार्य भाषी कहलाता है अथवा सत्य और व्यवहार भाषा बोलने वाला आर्य-भाषी और असत्य और मिश्र-भाषा बोलने वाला अनार्य-भाषी कहलाता है।

१४. आर्य-अवभासी और अनार्य-अवभासी का अर्थ है—जो पुरुष आर्य होता हुआ भी जनता को आर्य ही प्रतीत होता है वह आर्य अवभासी है और जो अनार्य होता हुआ भी लोगों को अनार्य जैसा प्रतीत होता है वह अनार्य अवभासी है। अथवा अवभास का अर्थ चमकना भी होता है अर्थात् प्रसिद्ध होना, श्रेष्ठ गुणों से प्रसिद्ध होना आर्यावभास है और अवगुणों से प्रसिद्ध होना अनार्यावभास माना जाता है।

१५. आर्य-सेवी और अनार्य-सेवी इन पदों का अर्थ है—जो श्रेष्ठ पुरुषों की सेवा करता है वह आर्यसेवी और जो अधम पुरुषों की सेवा करता है वह अनार्य-सेवी कहलाता है।

१६. आर्य-पर्याय और अनार्य-पर्याय का अर्थ है—जिस गृहस्थ या साधु का जीवन धर्मनिष्ठ एवं निर्दोष रहा है वह आर्य-पर्याय और जिसका जीवन हिंसा, चोरी, दुराचार आदि पापों से व्यतीत हुआ है वह अनार्य-पर्याय कहलाता है।

१७. आर्य-परिवार और अनार्य-परिवार का अर्थ है—जिस गृहस्थ या साधु का परिवार श्रेष्ठ है वह आर्य-परिवार है और जिसका परिवार मर्यादा एवं चारित्रहीन है वह अनार्य-परिवार कहलाता है। इन पदों का सम्बन्ध आर्य और अनार्य शब्दों के साथ जोड़ने से प्रत्येक की चतुर्भंगी बन जाती है।

एक पुरुष द्रव्य से भी आर्य है और मंगलमय जीवन होने से भाव से भी आर्य है।

एक पुरुष द्रव्य से तो आर्य है, किन्तु भाव से अनार्य है।

एक द्रव्य से तो अनार्य है, किन्तु शुद्धचित्त होने के कारण भाव से आर्य है।

एक पुरुष द्रव्य से भी अनार्य है और अमंगलचित्त होने से भाव से भी अनार्य है।

इस प्रकार आर्य, आर्य-परिणत, आर्यरूप, आर्यमन, आर्यसंकल्प, आर्यप्रज्ञ, आर्य-दृष्टि, आर्य-शीलाचार, आर्यव्यवहार, आर्यपराक्रम, आर्यवृत्ति, आर्यजाति—आर्य-याची, आर्यभाषी, आर्य-अवभासी, आर्यसेवी, आर्य-दीक्षा, आर्यपरिवार, आर्यभाव इन सब के चार-चार भंग कथन किए गए हैं। इन चतुर्भंगियों के देखने से यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक पदार्थ की सिद्धि अनेकान्तवाद या स्याद्वाद से ही हो सकती है। कोई भी विचारक जब किसी वस्तु का निर्णय अनेक दृष्टिकोणों से करता है तब उसके उसी दृष्टिकोण को अनेकांतवाद कहते हैं। जैन-सिद्धान्त का मूल आधार अनेकान्तवाद या स्याद्वाद ही है।

अनेकान्तवाद के अनुरूप व्यवहार करने से कभी भी अन्याय होने की सम्भावना नहीं रह जाती, मानवता का सम्यक् विश्लेषण भी हो जाता है और साथ ही मनुष्य की चिन्तन-शक्ति का भी विकास होता है, अत: इन चतुर्भंगियों का महत्त्व विविध दृष्टियों से स्वीकार करना पडता है।

वृषभ और पुरुष-विश्लेषण

मूल—चत्तारि उसभा पण्णत्ता, तं जहा—जाइसंपन्ने, कुलसंपन्ने, बल-संपन्ने, रूवसंपन्ने।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जाइसंपन्ने जाव रूवसंपन्ने ४।

चत्तारि उसभा पण्णत्ता, तं जहा—जाइसंपन्ने णामं एगे नो कुलसंपण्णे, कुलसंपण्णे नामं एगे नो जाइसंपण्णे, एगे जाइसंपण्णेवि कुलसंपण्णेवि, एगे नो जाइसंपण्णे नो कुलसंपण्णे।

एवामेव—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जाइसंपन्ने नाममेगे४।

चत्तारि उसभा पण्णत्ता, तं जहा—जाइसंपन्ने नामं एगे नो बल-संपन्ने ४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जाइसंपन्ने ४।

चत्तारि उसभा पण्णत्ता, तं जहा—जाइसंपन्ने नामं एगे नो रूवसंपन्ने ४।

एवामेव चत्तारि पुरिसजायां पण्णत्ता, तं जहा—जाइसंपन्ने नामं एगे नो रूवसंपन्ने, रूवसंपन्ने नाममेगे ४।

चत्तारि उसभा पण्णत्ता, तं जहा—कुलसंपन्ने नामं एगे नो बलसंपन्ने ४।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—कुलसंपन्ने नाममेगे नो बलसंपन्ने ४।

चत्तारि उसभा पण्णत्ता, तं जहा—बलसंपन्ने णामं एगे नो रूव-संपन्ने ४।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—बलसंपन्ने नाममेगे४ ॥४७॥

छाया—चत्वार ऋषभाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जातिसम्पन्नः, कुलसम्पन्नः, बलसम्पन्नः, रूपसम्पन्नः। एवामेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—जातिसम्पन्नो यावत् रूपसम्पन्नः।

चत्वार ऋषभाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जातिसम्पन्नो नामैको नो कुलसम्पन्नः, कुलसम्पन्नो नामैको नो जातिसम्पन्नः, एको जातिसम्पन्नोऽपि कुलसम्पन्नोऽपि, एको नो जातिसम्पन्नो नो कुलसम्पन्नः। एवमेव—

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—जातिसम्पन्नो नामैकः०।

चत्वार ऋषभाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जातिसम्पन्नो नामैको नो बलसम्पन्नः। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—जातिसम्पन्नः०।

चत्वार ऋषभाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जातिसम्पन्नो नामैको नो रूपसम्पन्नः। एवमेव—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—जातिसम्पन्नो नामैको नो रूपसम्पन्नः, रूप-सम्पन्नो नामैकः०।

चत्वार ऋषभाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कुलसम्पन्नो नामैको नो बलसम्पन्नः। एवमेव—चत्वारि पुरुषजातानि, प्रज्ञप्तानि तद्यथा—कुलसम्पन्नो नामैको नो बलसम्पन्नः०।

चत्वार ऋषभाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—बलसम्पन्नो नामैको नो रूपसम्पन्नः। एवमेव—चत्वारि पुरुषजातानि, प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—बलसम्पन्नः०।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के बैल कहे गए हैं, जैसे—जाति-सम्पन्न, कुल-सम्पन्न, बल-सम्पन्न और रूप सम्पन्न। इसी तरह चार तरह के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—जाति-सम्पन्न, कुल-सम्पन्न, बलसम्पन्न और रूप-सम्पन्न।

चार प्रकार के बैल होते हैं, जैसे—एक जातिसम्पन्न है, पर कुलसम्पन्न नहीं, एक कुलसम्पन्न है पर जाति सम्पन्न नहीं। एक जाति सम्पन्न भी है और कुल सम्पन्न भी। एक न जाति सम्पन्न होते हैं, न कुल सम्पन्न ही। इसी तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते है।

चार प्रकार के बैल होते हैं, जैसे—एक जाति-सम्पन्न होते हुए भी बल-सम्पन्न नहीं होते। इसके भी चार भंग जानने चाहिएं।

चार प्रकार के बैल होते हैं, जैसे—एक जाति सम्पन्न होते हुए भी रूपवान नहीं होते। यहां पर भी चतुर्भंग जानना चाहिए। इसी प्रकार पुरुष भी चार प्रकार के जानने चाहिएं।

चार प्रकार के बैल होते हैं, जैसे—एक कुलसम्पन्न होते हुए भी बल-सम्पन्न नहीं होते। इसकी भी चतुर्भंगी बनती है। इसी तरह पुरुष भी चार प्रकार के हुआ करते हैं।

चार प्रकार के बैल होते हैं, जैसे—एक बलवान होते हुए भी रूपवान नहीं होते। इसके भी चतुर्भंग जानने चाहिएं। इसी तरह पुरुष भी चार प्रकार के हुआ करते हैं।

विवेचनिका—इस सूत्र में वृषभ अर्थात् बैलों का विभिन्न प्रकार से सूत्रकार ने परिचय दिया है। भारतीय सस्कृति मे बैल मगल रूप एव धर्मरूप माने गए हैं। धान्य की उपज में वृषभों का सब तरह से सर्वदा सहयोग रहा है और धान्य के लाने और भेजने में भी पूरा सहयोग रहा है। पशु-जाति में वृषभ सर्व-साधारण जन-उपयोगी प्रत्येक दृष्टि से सिद्ध है। अन्य पशुओ मे यह विशेषता नही है जो गो जाति मे है। यदि उसे शुभदृष्टि से देखा जाए तो उसका प्रत्येक अग महत्त्वपूर्ण है। जागृत अवस्था में तो वह मंगलरूप है ही, किन्तु वृषभ को स्वप्न में देखना भी महा-मगलकारी है। जो जाति, कुल, बल और रूप से सम्पन्न है, वह सर्वोत्तम वृषभ माना जाता है। मातृपक्ष निर्मल होने से जाति-सम्पन्न, पितृपक्ष निर्मल होने से कुल-सम्पन्न, भारवहन करने में समर्थ होने से बलसंपन्न और शरीर के डील-डौल एवं सौंदर्यपूर्ण होने से रूप-संपन्न कहा जाता है।

इसी प्रकार पुरुष भी उच्चगोत्र के उदय से शरीरगत चार तरह के फल भोगता है। जाति की शुद्धता से लज्जाशील, विचारशील, अच्छी प्रकृति इत्यादि गुण जातिमान पुरुष में होते हैं। उत्साह, गांभीर्य, धैर्य, शूरवीरता, उदारता इत्यादि गुण उनमें पाए जाते हैं जो कुलवान

हुआ करते हैं। जाति और कुल की विशुद्धता से मनुष्य बलवान और रूपवान बनता है। अत: जो व्यक्ति उक्त गुणों से संपन्न हैं वे लौकिक तथा लोकोत्तरिक दोनों अवस्थाओं में प्रतिष्ठित बनते हैं। यह लक्षण उत्तम वृषभ और उत्तम पुरुषों के सूत्रकार ने प्रदर्शित किए हैं।

जो मध्यम श्रेणी के वृषभ और पुरुष बतलाए गए हैं उनकी चतुर्भंगियां छ: बनती हैं, जैसे कि—

१. जाति का कुल के साथ
२. जाति का बल के साथ
३. जाति का रूप के साथ
४. कुल का बल के साथ
५. कुल का रूप के साथ
६. बल का रूप के साथ

इनका परस्पर सयोग मिलाकर चतुर्भंगियों की कल्पना पाठकों को स्वयं कर लेनी चाहिए।

सूत्रकार ने बैल के माध्यम से मानवता का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए चिन्तन की गंभीरता का सुन्दर निदर्शन उपस्थित किया है।

हस्ति और मानव

मूल—चत्तारि हत्थी पण्णत्ता, तं जहा—भद्दे, मंदे, मिए, संकिन्ने। एवामेव—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—भद्दे, मंदे, मिए, संकिन्ने।

चत्तारि हत्थी पण्णत्ता, तं जहा—भद्दे णाममेगे भद्दमणे, भद्दे णाममेगे मंदमणे, भद्दे णाममेगे मियमणे, भद्दे नाममेगे संकिन्नमणे। एवामेव—

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—भद्दे णाममेगे भद्दमणे, भद्दे णाममेगे मंदमणे, भद्दे णाममेगे मियमणे, भद्दे णाममेगे संकिन्नमणे।

चत्तारि हत्थी पण्णत्ता, तं जहा—मंदे णाममेगे भद्दमणे, मंदे नाममेगे मंदमणे, मंदे णाममेगे मियमणे, मंदे णाममेगे संकिन्नमणे। एवामेव—

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—मंदे णाममेगे भद्दमणे, तं चेव।

चत्तारि हत्थी पण्णत्ता, तं जहा—मिए, णाममेगे भद्दमणे, मिए णाममेगे मंदमणे, मिए णाममेगे मियमणे, मिए णाममेगे संकिन्नमणे। एवामेव—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—मिए णाममेगे भद्दमणे तं चेव।

चत्तारि हत्थी पण्णत्ता, तं जहा—संकिन्ने णाममेगे भद्दमणे, संकिन्ने नाममेगे मंदमणे, संकिन्ने णाममेगे मियमणे, संकिन्ने णाममेगे संकिन्न-मणे। एवामेव—

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—संकिन्ने नाममेगे भद्दमणे, तं चेव, जाव संकिन्ने नाममेगे संकिन्नमणे—

मधुगुलियपिंगलक्खो, अणुपुव्वसुजायदीहणंगूलो।
पुरओ उदग्गधीरो, सव्वंगसमाहिओ भद्दो ॥ १ ॥
चलवहलविसमचम्मो, थूलसिरो थूलएण पेएण ।
थूलणह-दंतबालो, हरिपिंगललोयणो मंदो ॥ २ ॥
तणुओ तणुयग्गीवो, तणुयतओ तणुयदंत-णह-बालो ।
भीरू तत्थुव्विग्गो, तासी य भवे मिए णाम ॥ ३ ॥
एतेसिं हत्थीणं, थोवं-थोवं तु जो हरति हत्थी ।
रूवेण व सीलेण व, सो संकिन्नत्ति नायव्वो ॥ ४ ॥
भद्दो मज्जइ सरए, मंदो उण मज्जए वसंतंमि ।
मिउ मज्जति हेमंते, संकिन्नो सव्वकालंमि ॥ ५ ॥ ॥ ४८ ॥

छाया—चत्वारो हस्तिनः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—भद्रः, मन्दः, मृगः, संकीर्णः। एवमेव—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि—भद्रः, मन्दः, मृगः, संकीर्णः।

चत्वारो हस्तिनः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—भद्रो नामैको भद्रमनाः, भद्रो नामैको मन्दमनाः, भद्रो नामैको मृगमनाः, भद्रो नामैकः संकीर्णमनाः। एवमेव—

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—भद्रो नामैको भद्रमनाः, भद्रो नामैको मन्दमनाः, भद्रोनामैको मृगमनाः, भद्रो नामैको संकीर्णमनाः।

चत्वारो हस्तिनः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मन्दो नामैको भद्रमनाः, मन्दो नामैको मन्दमनाः, मन्दो नामैको मृगमनाः, मन्दो नामैकः सकीर्णमनाः। एवमेव—

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—मन्दो नामैको भद्रमनाः, तदेव।

चत्वारो हस्तिनः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मृगो नामैको भद्रमनाः, मृगो नामैको मन्दमनाः, मृगो नामैको मृगमनाः, मृगो नामैकः संकीर्णमनाः। एवमेव—

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि—मृगो नामैको भद्रमनाः तदेव।

चत्वारो हस्तिनः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—संकीर्णो नामैको भद्रमनाः, संकीर्णो नामैको मन्दमनाः, संकीर्णो नामैको मृगमनाः, संकीर्णो नामैकः संकीर्णमनाः। एवमेव—

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—संकीर्णो नामैको भद्रमनाः, तदेव यावत् संकीर्णो नामैकः संकीर्णमनाः।

मधुगुटिकपिंगलाक्षः, अनुपूर्व्यसुजातदीर्घलांगूलः।
पुरत उदग्रधीरः, सर्वाङ्गसमाहितो भद्रः ॥ १ ॥

चलवहलविषमचर्मा, स्थूलशिरः स्थूलकेन पेचकेन।
स्थूलनख-दन्त-बालः, हरिपिंगललोचनो मन्दः ॥ २ ॥
तनुकस्तनुकग्रीवस्तनुकत्वक् तनुकदन्त-नख-बालः।
भीरुस्तत्रोद्विग्नस्त्रासी च भवेद् मृगो नाम ॥ ३ ॥
एतेषां च हस्तिनां, स्तोकं-स्तोकं तु यो हरति हस्ती ।
रूपेण वा शीलेन वा, संकीर्ण इति ज्ञातव्यः ॥ ४ ॥
भद्रो माद्यति शरदि, मन्दः पुनर्माद्यति वसन्ते।
मृगो माद्यति हेमन्ते संकीर्णः, सर्वकाले ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—चत्तारि हत्थी पण्णत्ता, तं जहा—हस्ती चार प्रकार के हैं, जैसे, **भद्दे, मंदे, मिए, संकिन्ने**—भद्र, मन्द, मृग और संकीर्ण जाति के। **एवामेव**—इसी तरह—

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार तरह के पुरुष भी होते हैं, जैसे, **भद्दे, मंदे, मिए, संकिन्ने**—भद्र, मन्द, मृग और संकीर्ण।

चत्तारि हत्थी पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के हाथी कहे गए हैं जैसे, **भद्दे णाममेगे भद्दमणे**—एक हाथी जाति से भद्र और भद्र मन वाला है, **भद्दे णाममेगे मंदमणे**—एक हाथी भद्र और मन्द मन वाला, **भद्दे णाममेगे मियमणे**—एक हाथी भद्र है और मृग मन वाला है, **भद्दे णाममेगे संकिन्नमणे**—एक हाथी भद्र, परन्तु संकीर्ण मन वाला होता है, **एवामेव**—इसी तरह—

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—पुरुष भी चार प्रकार के कहे गए हैं, जैसे, **भद्दे णाममेगे भद्दमणे**—एक पुरुष भद्र है और भद्र मन वाला है, **भद्दे णाममेगे मंदमणे**—एक पुरुष भद्र है, किन्तु मन्द मन वाला है, **भद्दे णाममेगे मियमणे**—एक पुरुष भद्र और मृग मन वाला होता है, **भद्दे णाममेगे संकिन्नमणे**—एक पुरुष भद्र होते हुए भी संकीर्ण मन वाला हुआ करता है।

चत्तारि हत्थी पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के हाथी कहे गए हैं, जैसे, **मंदे णाममेगे, भद्दमणे**—एक हाथी मन्द है और भद्र मन वाला है, **मंदे नाममेगे मंदमणे**—एक हाथी मन्द है और उसका मन भी मन्द है, **मंदे णाममेगे मियमणे**—एक हाथी मन्द है, परन्तु मृगमन है, **मंदे णाममेगे संकिन्नमणे**—एक हाथी मन्द जाति का है, किन्तु संकीर्ण मन वाला है। **एवामेव**—इसी तरह।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष हैं, जैसे, **मंदे णाममेगे भद्दमणे**—एक पुरुष मन्द होते हुए भी भद्र मन वाला होता है, **तं चेव**—इसी प्रकार इसके भी चतुर्भंग जान लेने चाहिएं।

चत्तारि हत्थी पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के हाथी कहे गए हैं, जैसे, **मिए णाममेगे भद्दमणे**—एक हाथी मृग है, परन्तु भद्र मन वाला है, **मिए णाममेगे मंदमणे**—एक

हाथी मृग होते हुए भी मन्द मन वाला होता है, **मिए णाममेगे मियमणे**—एक हाथी मृग है और मृग मन वाला भी है, **मिए णाममेगे संकिन्नमणे**—एक हाथी मृग है परन्तु मन से संकीर्ण है। **एवामेव**—इसी प्रकार—

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे, **मिए णाममेगे भद्दमणे**—एक पुरुष मृग जाति का होते हुए भी भद्र मन वाला है, **तं चेव**—इसके भी चतुर्भंग की कल्पना पूर्ववत् कर लेनी चाहिए।

चत्तारि हत्थी पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के हाथी कहे गए हैं, जैसे, **संकिन्ने णाममेगे भद्दमणे**—कुछ हाथी संकीर्ण होते हैं, किन्तु भद्र मन वाले होते हैं, **संकिन्ने णाममेगे मंदमणे**—कुछ हाथी संकीर्ण होते हैं, परन्तु मन्द मन हुआ करते हैं, **संकिन्ने णाममेगे मियमणे**— कुछ हाथी संकीर्ण होते हैं, परन्तु मृग मन होते हैं, **संकिन्ने णाममेगे संकिन्नमणे**—कुछ हाथी संकीर्ण जाति के होते हैं और मन से भी संकीर्ण होते हैं। एवामेव—ऐसे ही—

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे, **संकिन्ने णाममेगे भद्दमणे**—कुछ पुरुष संकीर्ण होते हैं, किन्तु भद्र मन वाले होते हैं, **तं चेव**—इसी प्रकार चतुर्भंगी जान लेनी चाहिए, **जाव**—यावत्, **संकिन्ने णाममेगे संकिन्नमणे**—संकीर्ण पुरुष और संकीर्ण मन की योजना कर लेनी चाहिए।

मधुगुलियपिंगलक्खो—जिस हाथी की मधु गुटिका समान पीली आंखें हैं और जिसकी, **अणुपुव्वसुजायदीहणंगूलो**—ऊपर से मोटी तथा नीचे से पतली के क्रम से सुजात-सुन्दर एवं दीर्घ पूंछ है तथा, **पुरओ**—आगे से जिसका कुम्भस्थल, **उदग्गधीरो**—जो ऊंचा एवं धीर है तथा जो, **सव्वंगसमाहिओ**—सर्वांग समाहित है, ऐसा हाथी, **भद्दो**—भद्र कहा गया है ॥ १ ॥

जिसका, **चलवहलविसमचम्मो**—चंचल, श्लथ तथा स्थूल बालों से युक्त चर्म है, **थूलसिरो**—जिसका सिर स्थूल है, जिसका, **थूलएण पेएण**—पूंछ का मूल भाग स्थूल है, जिसके, **थूलणह-दंतबालो**—नख, दांत और बाल भी स्थूल हैं तथा, **हरिपिंगललोयणो**—जिसकी आंखें सिंह के समान श्वेत और लाल रक्त युक्त होती हैं, वह, **मंदो**—मन्द हाथी कहलाता है ॥ २ ॥

जिसका **तणुओ तणुयग्गीवो**—शरीर कृश है और जिसकी ग्रीवा भी कृश है, **तणुयत्तओ तणुयदंतणहबालो**—त्वचा भी पतली होती है तथा नख, दन्त और बाल भी पतले हों और जो, **भीरू तत्थुव्विग्गो**—स्वभाव से भीरु एवं उद्विग्नचित्त है और जो, **तासी य भवे मिए णामं**—स्वयं त्रास पाता है और अन्य को भयभीत करता है, ऐसा हाथी मृग कहलाता है ॥ ३ ॥

एतेसिं हत्थीणं—इन उपरोक्त हाथियों के, **रूवेण व सीलेण वा**—रूप और शील

से, **थोवं-थोवं तु जो हत्थी**—स्वल्प-स्वल्प लक्षणों को जो हाथी, **हरति**—धारण करता है, **सो**—वह हाथी, **संकिन्नोत्ति**—संकीर्ण जाति का, **नायव्वो**—जानना चाहिए ।। ४ ।।

भद्दो मज्जइ सरए—भद्र जाति का हस्ती शरद ऋतु में मदोन्मत्त होता है, **उण**—पुनः, **मंदो**—मंद हस्ती, **वसंतंमि**—वसन्त ऋतु में, **मज्जइ**—मदोन्मत्त होता है, **मिउ**—मृग जाति वाला, **हेमंत**—हेमन्त में, **मज्जति**—मदोन्मत्त होता है तथा, **संकिन्नो**—संकीर्ण, **सव्वकालंमि**—सर्व ऋतुओं में मदयुक्त रहता है ।। ५ ।।

मूलार्थ—हाथी चार प्रकार के होते हैं—भद्र, मन्द, मृग और संकीर्ण। इसी प्रकार मनुष्य भी भद्र, मन्द, मृग और संकीर्ण इन चार जातियों के हुआ करते हैं। पुनः हाथियों के चार रूप कहे गए हैं, कुछ हाथी भद्र जाति के और भद्र मन वाले होते हैं, कुछ हाथी जाति से भद्र, किन्तु मन से मन्द मन वाले होते हैं, कुछ हाथी जाति से भद्र, किन्तु मन से मृग होते हैं और कुछ हाथी जाति से भद्र किन्तु मन से संकीर्ण हुआ करते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य भी चार ही प्रकार के हुआ करते हैं—कुछ पुरुष जाति से भद्र और मन से भी भद्र हुआ करते हैं, कुछ पुरुष भद्र होते हुए भी मन से मन्द होते हैं, कुछ पुरुष भद्र होते हुए भी मन से मृग जाति के समान होते हैं और कुछ पुरुष जाति से भद्र, किन्तु मन से संकीर्ण हुआ करते हैं।

चार प्रकार के हाथी हुआ करते हैं—कुछ हाथी जाति से मन्द होते हुए भी मन से भद्र होते हैं, कुछ हाथी जाति से मन्द और मन से भी मन्द होते हैं, कुछ हाथी जाति से मन्द और मन से मृग वर्ग के हुआ करते हैं और कुछ हाथी जाति से मन्द, किन्तु मन से संकीर्णवर्ग के होते हैं।

इसी प्रकार पुरुष अर्थात् व्यक्ति भी चार तरह के हुआ करते हैं—कुछ पुरुष जाति से मन्द होते हुए भी भद्र मन वाले होते हैं। हाथी के समान चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

पुनः हाथी चार प्रकार के हुआ करते हैं—कुछ हाथी जाति से मृग वर्ग के होते हैं, किन्तु भद्र मन वाले होते हैं, कुछ हाथी मृग जाति के होते हुए भी मन्द मन वाले हुआ करते हैं। कुछ हाथी जाति से भी मृग और मन से भी मृग होते हैं और कुछ हाथी जाति से मृग, किन्तु मन से संकीर्णवर्ग के होते हैं।

इसी प्रकार पुरुष अर्थात् व्यक्ति भी चार प्रकार के हुआ करते हैं—कुछ व्यक्ति वर्गतः मृग जाति के होते हुए भी भद्र मन वाले हुआ करते हैं, पूर्वोक्त हाथी की चतुर्भंगी के समान मृग जाति के पुरुष की भी चतुर्भंगी जान लेनी चाहिए।

पुनः हाथी चार प्रकार के कहे गए हैं—कुछ हाथी वर्गतः संकीर्ण होते हुए भी भद्र मन वाले होते हैं, कुछ हाथी संकीर्ण वर्ग के होते हुए भी मन्द मन वाले हुआ करते हैं, कुछ हाथी संकीर्ण वर्ग के होते हुए भी मन से मृग जाति में समाविष्ट होते हैं और कुछ हाथी जाति से भी संकीर्ण और मन से भी संकीर्ण हुआ करते हैं।

इसी प्रकार व्यक्ति के भी चार रूप हैं—कुछ व्यक्ति वर्गतः संकीर्ण होते हुए भी भद्र मन वाले होते हैं। संकीर्ण जाति के हाथी की चतुर्भंगी के समान व्यक्ति के शेष रूपों की चतुर्भंगी के रूपों की भी कल्पना कर लेनी चाहिए।

जिसके नेत्र मधु गुटिका सदृश पीले हैं, जिसके अंगोपांग अनुक्रम से उत्पन्न हुए हैं तथा जाति, काल क्रम से जो सुजात एवं जिसकी पूंछ क्रमशः दीर्घ और प्रधान है, तथा जिसका अग्रभाग उन्नत है और धैर्य सम्पन्न है, जो शरीर के सर्वांग लक्षणों से युक्त होता है, ऐसा हाथी भद्र कहा जाता है ।। १ ।।

श्लथ शरीर, स्थूल और विषम चर्म, स्थूल शिर, पूंछ का मूल भाग भी स्थूल, नख, दान्त और बाल भी स्थूल, सिंह के समान श्वेत-रक्त नेत्र जिसके हों, ऐसा हाथी मन्द जाति का कहलाता है ।। २ ।।

कृश शरीर, पतली गर्दन, त्वचा भी पतली, नख और दान्त तथा बाल भी जिसके पतले हैं, जो भीरु, त्रस्त, उद्विग्न-चित्त है तथा स्वयं त्रास पाता है और दूसरों को भी भयभीत करता है, इन लक्षणों से युक्त हाथी मृग जाति का हाथी कहा जाता है ।। ३ ।।

जो हाथी भद्र, मन्द और मृग हाथियों के थोड़े-थोड़े लक्षणों को धारण करता है तथा रूप और शील में जो संकीर्ण है, ऐसा हाथी संकीर्ण जाति का होता है ।। ४ ।।

भद्र शरद ऋतु में, मन्द वसन्त ऋतु में, मृग हेमन्त में और संकीर्ण सभी ऋतुओं में मदोन्मत्त हुआ करता है ।। ५ ।।

विवेचनिका—इस सूत्र में चार जातियों के हाथियों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। हाथी भी स्थलचर जीवों में सर्वतो महान मंगलकारी और श्रेष्ठ माना जाता है। स्वाभिमान और दीर्घदर्शिता ये दो विशेष गुण हाथी में पाए जाते हैं। वह युद्ध भूमि में रणकौशल दिखाता है एवं मंगलकारी भी माना जाता है। वह सर्कस में क्रीड़ा-कौशल दिखाकर जनता को आश्चर्यचकित कर देता है। जब किसी की शोभा-यात्रा निकलती है तब उस शोभा-यात्रा की शोभा बढ़ाने में भी हाथी सहायक होता है। स्वप्नशास्त्री स्वप्न में हाथी के दर्शन करना मंगलकारी मानते हैं और हाथी की सवारी करना महामंगलकारी प्रसिद्ध है। इत्यादि अनेक

दृष्टिकोणों से हाथी अपने आप में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

जैसे मनुष्य चार वर्णों में विभक्त हैं वैसे ही हाथी भी चार प्रकार के होते हैं। किसी अज्ञात रहस्य का अनायास अनावरण करना ही सूत्रकार को अभीष्ट है। शारीरिक लक्षण, प्रकृति, स्वभाव गुण-अवगुण हिंसा एवं कामचेष्टा करने के परस्पर अंतर के कारण हाथी चार तरह के कथन किए गए हैं, जैसे कि—भद्र, मंद, मृग और संकीर्ण। इनका परिचय इस प्रकार है—

भद्र-हस्ती—

१. जिसकी आंखें शहद के समान भूरे रंग की हों, जिसकी पूंछ क्रमशः लम्बी एवं सुंदर हो, जिसका अगला भाग ऊंचा हो, सभी अंग-उपांग, शरीर-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुरूप हों, जो धीर-वीर निर्भीक हो और शरद ऋतु में ही जिसे मद चढ़ता हो ऐसे हाथी को भद्र हस्ती कहा जाता है

मन्द-हस्ती—

२. जिस हाथी की चमड़ी विषम हो, शरीर पर मोटे-मोटे बाल हों, जिसका कुम्भस्थल विशाल हो, पूंछ मूल सहित स्थूल हो, नाक, दांत और बाल भी स्थूल हों, आंखें सिंह के समान भूरे रंग की हों, वसन्त ऋतु में जिसे मद चढ़ता हो ऐसी प्रकृति वाला हाथी मन्द जाति का हाथी कहा जाता है।

मृग-हस्ती—

३. जिसका शरीर पतला हो, कंठ कृश हो, चमड़ी भी पतली हो, दांत, नख और केश भी पतले हों, स्वभाव से डरपोक हो; शीघ्र डरने वाला हो तथा उद्विग्न होने वाला हो ऐसे हाथी को मृग जाति का हाथी कहा जाता है। वह हेमंत ऋतु में मदोन्मत्त होता है।

संकीर्ण-हस्ती—

४. जिस हाथी में कुछ लक्षण भद्र के हों कुछ मंद जाति के हों कुछ मृग जाति के लक्षण पाए जाएं, उसे संकीर्ण जाति वाला हाथी कहा जाता है। वह किसी भी ऋतु में मदोन्मत्त हो जाता है। उसमें मद चढ़ने का कोई निश्चित समय नहीं होता। भद्र जाति का हाथी अपने प्रतिद्वन्दी का सामना दांतों से करता है, मन्द गज शुंडादंड से करता है, मृग जाति का हाथी गात्र से और अधरोष्ठ से करता है, किन्तु संकीर्ण जाति का हाथी अपने समस्त अंगों से प्रहार करता है। इस प्रकार हाथियों के स्वभाव का विज्ञान प्रदर्शित किया गया है।

हाथियों की चार जातियां जो पहले लिखी जा चुकी हैं उनमें प्रत्येक के चार-चार भंग बनते हैं, जैसे कि भद्र हाथी चार प्रकार के होते हैं—

१. कुछ हाथी जाति से तो भद्र होते हैं और मन से भी भद्र हुआ करते हैं।

कुछ हाथी जाति से तो भद्र होते हैं, किन्तु मन से मंद हाथी की तरह मंदमन होते हैं।

कुछ हाथी जाति से तो भद्र होते हैं, किन्तु मन की दृष्टि से मृगहस्ती के समान हुआ करते हैं

कुछ हाथी जाति से तो भद्र होते हैं, किन्तु उनका मन संकीर्ण हाथी की तरह होता है।

शास्त्रों में वर्णित गन्ध हस्ती इन में से पहले भंग में समाविष्ट हो जाता है।

भद्र हाथी की तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं जैसे कि—

२. कुछ पुरुष भद्र जाति के होते हैं और भद्र मन वाले भी होते हैं।

कुछ पुरुष भद्र जाति के होते हुए भी मन में दुष्टता होने से मन्दमना हुआ करते हैं।

कुछ पुरुष भद्र जाति के होते हैं, किन्तु मन में भीरुता होने से मृगमना हुआ करते हैं।

कुछ पुरुष भद्र वर्ग के होते हुए भी मन से कभी श्रेष्ठ, कभी दुष्ट और कभी भीरु होने से संकीर्णमना होते हैं।

मंद हाथी भी चार प्रकार के होते हैं—

३. कुछ हाथी जाति से मंद होते हुए भी उदात्त मन होने से भद्रमना हुआ करते हैं।

कुछ हाथी जाति से भी मंद होते हैं और दुष्ट मन होने से मंदमना होते हैं।

कुछ हाथी जाति से मंद और भीरु मन होने से मृगमना हुआ करते हैं।

कुछ हाथी जाति से मंद होते हैं, किन्तु मन से समय-समय पर उदात्त, दुष्ट, एवं भीरु होने से संकीर्णमना होते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य भी चार तरह के होते हैं जैसे कि—

४. कुछ मनुष्य मंद जाति के होते हुए भी मन से श्रेष्ठ होने के कारण भद्रमना होते हैं।

कुछ मनुष्य मंद जाति के होते हैं और दुष्ट मन के कारण मंदमना कहलाते हैं।

कुछ मनुष्य मंद जाति के होते हैं, किन्तु पाशविक वृत्ति या भीरु मन होने से मृगमना हुआ करते हैं।

कुछ मनुष्य मंद जाति के होते हैं, किन्तु मन से संकुचित व अनुदार होने से संकीर्णमना होते हैं।

मृग जाति के हाथी भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

५. कुछ हाथी जाति से तो मृग होते हैं, किन्तु मन से श्रेष्ठ एवं उदात्त होने से भद्रमना होते हैं।

कुछ हाथी जाति से मृग होते हैं, किन्तु मन में दुष्टता एवं आलस्य होने से मंदमना होते हैं।

कुछ हाथी जाति से मृग और सशंक एवं भीरु होने से मृगमना हुआ करते हैं।

कुछ हाथी जाति से मृग होते हुए भी संकीर्णमना होते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

६. जो व्यक्ति मधुर-भाषी, बड़ी आंखों वाला, भीरु चपल, सुन्दर तथा प्रगतिशील पुरुष होता है, वह मृग-हाथी के समान माना जाता है। इस प्रकार के पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं। जिनका मन उदार, दाता, परोपकारी, शांत होता है, वह भद्रमना कहलाता है। क्रूर आलसी, दुष्ट मन वाला मन्दमना कहलाता है। जो अज्ञानी एवं भीरु है, वह मृगमना कहा जाता है। जो व्यक्ति भद्र, मंद एवं मृग के मिश्रित लक्षणों से युक्त है, उसे संकीर्णमना कहते हैं।

संकीर्ण हाथी भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

७. कुछ हाथी संकीर्ण जाति के होते हुए भी श्रेष्ठ एवं सात्विक मन होने से भद्रमना कहलाते हैं।

कुछ हाथी जाति से तो संकीर्ण होते हैं, किन्तु तामसी मन होने से मन्दमना माने जाते हैं।

कुछ हाथी जाति से संकीर्ण होते हैं और भीरु मन होने से मृगमना कहलाते हैं।

कुछ हाथी जाति से भी संकीर्ण होते हैं और मन से भी संकीर्ण होने से संकीर्णमना कहलाते हैं।

इसी प्रकार पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं जैसे, कि—

८. कुछ पुरुष तुच्छ कुल तथा तुच्छ जाति के होने से संकीर्ण होते हैं, फिर भी मानसिक श्रेष्ठता के कारण भद्रमना कहलाते हैं।

कुछ पुरुष जाति एवं कुल-विहीन होने से संकीर्ण होते हैं और तामसी मन होने से मंदमना भी होते हैं।

कुछ पुरुष संकीर्ण होते हैं और चंचल या भीरु मन होने से मृगमना कहलाते हैं।

कुछ पुरुष जाति कुल आदि से संकीर्ण होते हैं और मन से भी संकीर्णमना होते हैं।

सूक्ष्मद्रष्टा सूत्रकार ने इस प्रकरण में हाथी के साथ मानव का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। हाथी मंगलकारी है, मानव जन्म भी तो मंगल-मूलक ही है। परन्तु हाथी आकृति एवं मानसिक स्थिति से अनेक वर्गों में विभक्त हो जाता है, इसी प्रकार मनुष्य को भी उसकी आकृति अर्थात् शारीरिक लक्षण और मानसिक स्थितियां अनेक विभागों में विभक्त कर देती हैं, यहीं से मानव-मानव में पारस्परिक भेद आरम्भ हो जाते हैं। आत्मोद्धार के लिए मनुष्य को यह ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि 'मैं क्या हूं ?' किन अवगुणों के कारण मैं हीन अवस्था को प्राप्त हो रहा हूं, मैं भद्र हूं या मन्द हूं, मृग जाति के अथवा संकीर्ण जाति के हाथी के समान विशाल डील-डौल पाकर भी कहीं मेरा सामाजिक एवं आध्यात्मिक स्तर का मूल्यांकन निम्न कोटि का तो नहीं होता जा रहा ? मुझे अपनी आत्मा को अपने आपको किन अवगुणों से मुक्त करके उत्थान की ओर अग्रसर करना है ? यही तो मानव-जीवन का ज्ञातव्य है जिसे सूत्रकार ने गम्भीर दार्शनिक ऊहापोह से बचाकर ऐसी

सरलतम लोक शैली में उपस्थित किया है जिसे प्रत्येक व्यक्ति सुगमता से समझ सकता है। गम्भीरतम दार्शनिक प्रश्नों को सरल शैली में चिन्तना ही तो जैन-दर्शन की महती विशेषता है।

विकथा-विश्लेषण

मूल—चत्तारि विकहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—इत्थिकहा, भत्तकहा, देसकहा, रायकहा।

इत्थिकहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—इत्थीणं जाइकहा, इत्थीणं कुलकहा, इत्थीणं रूवकहा, इत्थीणं णेवत्थकहा।

भत्तकहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—भत्तस्स आवावकहा, भत्तस्स-णिव्वावकहा, भत्तस्स आरंभकहा, भत्तस्स निट्ठाणकहा।

देसकहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—देसविहिकहा, देसविकप्पकहा, देसच्छंदकहा, देसनेवत्थकहा।

रायकहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—रन्नो अइयाणकहा, रन्नो निज्जाणकहा, रन्नो बलवाहणकहा, रन्नो कोस-कोट्ठागारकहा॥४९॥

छाया—चतस्रो विकथाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा, राजकथा।

स्त्रीकथा चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—स्त्रीणां जाति-कथा, स्त्रीणां कुलकथा, स्त्रीणां रूपकथा, स्त्रीणां नेपथ्यकथा।

भक्तकथा चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—भक्तस्याऽऽवापकथा, भक्तस्य निर्वाप-कथा, भक्तस्य आरम्भकथा, भक्तस्य निष्ठानकथा।

देशकथा चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—देशविधिकथा, देशविकल्पकथा, देशछन्दकथा, देशनेपथ्यकथा।

राजकथा चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—राज्ञोऽतियानकथा, राज्ञोनिर्याणकथा, राज्ञो-बल-वाहनकथा, राज्ञः कोष-कोष्ठागारकथा।

शब्दार्थ—चत्तारि विकहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—विकथा के चार रूप कहे गए हैं, जैसे, इत्थिकहा—स्त्रीकथा, भत्तकहा—भक्तकथा, देसकहा—देशकथा और, रायकहा—राज-कथा।

इत्थिकहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—स्त्री-कथा चार प्रकार की है, जैसे, इत्थीणं जाइकहा—स्त्रियों की जाति की कथा, इत्थीणं कुलकहा—स्त्रियों के कुल की कथा,

इत्थीणं रूवकहा—स्त्रियों के रूप की कथा और, **इत्थीणं णेवत्थकहा**—स्त्रियों की वेश-भूषा की कथा।

भत्तकहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—भक्त कथा चार प्रकार की कही गई है, जैसे, **भत्तस्स आवावकहा**—भोजन से सम्बन्धित शाकादि की कथा, **भत्तस्स णिव्वावकहा**—भोज्य-सम्बन्धी मिष्ठान्न आदि के भेदों की कथा, **भत्तस्स आरंभकहा**—भोजन के व्यञ्जनादि की कथा, **भत्तस्स निट्ठाणकहा**—भोजन को रस युक्त बनाने की कथा।

देसकहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—देश कथा चार तरह की मानी गई है, जैसे, **देसविहिकहा**—देश-विधिकथा, **देसविकप्पकहा**—देश में धान्य आदि की उत्पत्ति से सम्बन्धित कथा, **देसच्छंदकहा**—देश के विवाह आदि की कथा और, **देसनेवत्थकहा**—देश के स्त्री-पुरुषों के वेश-भूषा आदि की कथा।

रायकहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—राजकथा चार प्रकार की है, जैसे, **रन्नो-अइयाणकहा**—राजा के नगर-प्रवेश की कथा, **रन्नो निज्जाणकहा**—राजा के नगर से महोत्सव-पूर्वक निकलने की कथा, **रन्नो बलवाहणकहा**—राजा की चतुरंगिणी सेना की कथा, **रन्नो कोसकोट्ठागारकहा**—राजा के कोष भाण्डागार आदि की कथा।

मूलार्थ—चार प्रकार की विकथाएं प्रतिपादित की गई हैं, जैसे—स्त्री-कथा, भत्त-कथा, देश-कथा, राज-कथा।

स्त्री-कथा चार प्रकार की प्रतिपादित की गई है, जैसे—स्त्रियों की जाति-कथा, स्त्रियों की कुल-कथा, स्त्रियों की रूप-कथा और स्त्रियों की नेपथ्य अर्थात् वेश-भूषा आदि की कथा।

भत्त-कथा चार प्रकार की प्रतिपादित की गई है, जैसे भोजन की आवाप कथा, भोजन की निर्वाप-कथा, भोजन की आरम्भ कथा और भोजन की निष्ठान-कथा।

देश-कथा चार प्रकार की प्रतिपादित की गई है, जैसे—देश-विधि-कथा, देश-विकल्प-कथा, देशछन्द-कथा और देश-नेपथ्य-कथा।

राजकथा चार प्रकार की प्रतिपादित की गई है, जैसे—राजा की अतियान-कथा, राजा की निर्याण-कथा, राजा की बलवाहन-कथा और राजा के कोष-कोष्ठागार की कथा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में भद्र मन्द आदि पुरुषों का वर्णन किया गया है, विकथा से दूर रहकर ही मनुष्य भद्रता प्राप्त कर सकता है और विकथा में प्रवृत्ति से ही मनुष्य में मन्दता आती है, अतः सूत्रकार अब विकथा की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकरण में विकथा का अर्थ है चर्चा। जिस चर्चा से धर्म-प्रवृत्ति-नष्ट होती है, जीवन के अमूल्य क्षण बरबाद होते हैं, संयमी साधक की साधना में बाधा उपस्थित होती

है, अध्ययन-अध्यापन में अरुचि हो जाती है, मन नाना प्रकार की विकृतियों से भर जाता है ऐसी चर्चा को ही विकथा कहा जाता है।

विकथा के चार रूप कहे गए हैं—स्त्री-कथा, भत्त-(भोजन)-कथा, देश-कथा और राज-कथा।

स्त्री-कथा :—

नारी के रूप-सौन्दर्य आदि की चर्चा को स्त्री-कथा कहा जाता है। ब्रह्मचर्य की साधना के अभिलाषी साधक को एवं संयमशील साधु को स्त्री-कथा से बचने का निरन्तर प्रयास करना चाहिए, क्योंकि स्त्री-चर्चा से, मन विकृत हो जाता है, ब्रह्मचर्य के खण्डित होने का अवसर आ जाता है, मानसिक विकृति के कारण उद्दीप्त वासना साधक को पथभ्रष्ट कर देती है, स्मृति विकृत हो जाती है और अन्ततोगत्वा शारीरिक शक्तियां भी क्षीण होने लगती हैं।

शास्त्रकार स्त्री-कथा के चार रूप बताते हैं:—

१. **स्त्री-जाति-कथा**—शंखिनी, हस्तिनी, चित्रणी और पद्मनी ये स्त्रियों की चार जातियां मानी गई हैं। इनकी चर्चा को स्त्री-जाति कथा कहा जाता है।

२. **स्त्री-कुल-कथा**—किसी स्त्री की इसलिए प्रशंसा करना कि वह किसी अच्छे कुल में जन्मी है, अत: सुशीला एवं रूपवती है, अथवा वह किसी नीच कुल में जन्मी है, अत: वह रूपवती नहीं हो सकती, इस प्रकार की चर्चा स्त्री-कुल-कथा कही जाती है।

३. **स्त्री-रूप-कथा**—स्त्री के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा अथवा निन्दा को स्त्री-रूप कथा कहा जाता है।

४. **स्त्री-नेपथ्य-कथा**—स्त्रियों के शृंगार-प्रसाधनों एवं वेश-भूषा की चर्चा को स्त्री-नेपथ्य-कथा कहा जाता है।

इन चारों प्रकार की चर्चाओं से जो साधक बचा रहता है वही भद्र मानवता को प्राप्त कर सकता है।

भत्तकथा :—

खाने-पीने के पदार्थों की चर्चा को भत्तकथा कहा जाता है। खाने-पीने की बातें करना भी संयमियों के लिए निषिद्ध ही है। यह कथा भी चार प्रकार की होती है—अवाप, निर्वाप, आरम्भ और निष्ठान।

१. **अवाप-भत्त-कथा**—भोजन बनाने के निमित्त लाई जाने वाली शाक-घृत आदि वस्तुओं को अवाप कहा जाता है। अमुक रसोई में इतने परिमाण की दाल-शाक भाजी बनती है, इतना घी लगता है, इस प्रकार खाद्य वस्तुओं के निर्माण की योजना पर विचार-विमर्श करना अवापभत्त-कथा है।

२. **निर्वाप-भत्त-कथा**—अमुक दावत में इतनी वस्तुएं बनी थीं, इतने प्रकार के रस और मेवे थे, इस प्रकार की बातें करना निर्वापभत्तकथा है।

३. **आरम्भ-भत्त-कथा**—अमुक खाद्य पदार्थ बनाने में इतना पानी, इतना अग्नि-ताप चाहिए, इस प्रकार की चर्चा को आरम्भ-भत्त-कथा कहते हैं।

४. **निष्ठान-भत्त-कथा**—जितनी सामग्री के परिमाण से खाने की चीजें तैयार होती हैं, उनके विषय में चर्चा करना, निष्ठान-भत्त-कथा है।

भत्त-कथा करने से सयमी में लालसाएं बढ़ती हैं, लालसाओं के बढ़ जाने से इंगाले धूमे आदि दोषों से अछूता रहना कठिन है, छः जीव-निकायों पर अनुकम्पा नहीं रहती, इन्द्रिय-संयम का पालना दु:शक्य हो जाता है, आहार-संज्ञा उत्पन्न हो जाती है। यदि कोई साधक भत्तकथा करता है तो लोग यही समझने लग जाते हैं कि इसने साधु-वेष केवल खाने-पीने के लिए ही ग्रहण किया है। इस कथा से दूसरों के मन में भी वैसी ही भोजन-लालसाएं उत्पन्न हो जाती है, अतः भगवान ने इस कथा को भी विकथा ही कहा है।

देशकथा :—

देश-विदेश के सम्बन्ध में साधना में बाधक बातों की चर्चा करना देश-कथा कहलाती है। संयमियों के लिए देश-विदेश के विषय में बातें करनी निषिद्ध हैं। इसके भी चार भेद हैं—देशविधि, देश-विकल्प, देशच्छन्द और देश-नेपथ्य।

१. **देश-विधि-कथा**—विभिन्न देशों के आचार-विचार, आहार-विहार, आमोद-प्रमोद, रहन-सहन, रीति-रिवाज, शादी-गमी की बातें करना देश-विधि-कथा है।

२. **देश-विकल्प-कथा**—विभिन्न देशों की कृषि-वाणिज्य, भवन-गृह आदि से संबंध रखने वाली बाते या कथाएं देश-विकल्प-कथा हैं।

३. **देशच्छन्द-कथा**—विभिन्न देशों में भक्ष्य-अभक्ष्य, गम्य-अगम्य के विषय में बातें करना जैसे अमुक देश में मामा की कन्या गम्य मानी जाती है, इस प्रकार की कथा करना देशच्छन्द-कथा कहलाती है।

४. **देश-नेपथ्य-कथा**—विभिन्न देशों की वेष-भूषा सिंगार आदि के विषय में बातें करना देश-नेपथ्य कथा है।

देश-कथा करने से किसी विशिष्ट देश के प्रति राग-भाव, वहां जाने की इच्छा एवं आसक्ति बढ़ सकती है, किसी के प्रति द्वेष भी हो सकता है। राग और द्वेष ये दोनों स्वाध्याय, ध्यान, समाधि में विघ्नकारक होते हैं, अतः साधक के लिए इन कथाओं का भी निषेध किया गया है।

राजकथा :—

राजनीति, राज-शोभा एवं राज-निन्दा आदि को राजकथा कहा जाता है। राज-कथा

भी चार प्रकार की होती है—अतियान, निर्याण, बलवाहन और कोष-कोठार।

१. **अतियान-कथा**—जब राजा का नगर में प्रवेश होता है, उस समय के वैभव का वर्णन करना अतियान-कथा है।

२. **निर्याण-कथा**—जब राजा को विदाई दी जाती है, उस समय का वर्णन करना निर्याण कथा है।

३. **बलवाहन-कथा**—राजा की सैनिक एवं वाहन-शक्ति का वर्णन करना बलवाहन-कथा है।

४. **कोष-कोष्ठागार-कथा**—राजा के खजाने एवं आय-व्यय इत्यादि बातों से सम्बंध रखने वाली कथा कोष-कोष्ठागार-कथा कहलाती है।

राजकथा करने से भी साधक को कोई लाभ नहीं है। इससे संयमियों का क्या प्रयोजन ? उस पर चोर या गुप्तचर होने का आरोप लग सकता है। राजकथा करने से सुनने वाले किसी संयमी के संकल्प नियाना—निदान करने के भी हो सकते हैं। इस प्रकार अनेक दोष लग जाने को पूरी-पूरी संभावना रहती है। स्त्रीकथा करने से चौथा महाव्रत दूषित होता है। देश और राजकथा से पहला, दूसरा और पांचवां ये तीन महाव्रत दूषित होते हैं, अतः संयमी को चाहिए कि विकथा में अभिरुचि न रखे। जो ज्ञान संयम में सहायक नहीं उसका ज्ञान होना भी अज्ञान ही है। जो ज्ञान कर्म-बन्धन से मुक्ति दिलाने वाला है वही वस्तुतः ज्ञान या विद्या है, शेष अज्ञान या अविद्या है। ज्ञान की पूर्णता में सब ज्ञान ही ज्ञान है, अज्ञान का अभाव तो ऐसा हो जाता है जैसे सूर्यलोक में अन्धकार का अभाव है, किन्तु साधक अवस्था में साधना-उपयोगी ज्ञान का होना जरूरी है, उसके विपरीत ज्ञातव्य का ज्ञान होना अनावश्यक है। अतः शास्त्रकारों ने साधक के मन की स्थिति में सुदृढ़ता लाने के लिए निषिद्ध बातों का परिचय कराकर उनसे दूर रहने का संकेतात्मक आदेश दिया है।

धर्मकथा-विवेचन

मूल—चउव्विहा धम्मकहा पण्णत्ता, तं जहा—अक्खेवणी, विक्खेवणी, संवेयणी, निव्वेयणी।

अक्खेवणीकहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—आयार-अक्खेवणी, ववहारअक्खेवणी, पण्णत्ति-अक्खेवणी, दिट्ठिवाय-अक्खेवणी।

विक्खेवणी कहा चउव्विहा, पण्णत्ता, तं जहा—ससमयं कहेइ, ससमयं कहेत्ता, परसमयं कहेइ। परसमयं कहेत्ता, ससमयं ठाइवत्ता भवइ। सम्मावायं कहेइ, सम्मावायं कहेत्ता मिच्छावायं कहेइ। मिच्छावायं कहेत्ता, सम्मावायं ठावइत्ता भवइ।

संवेयणी कहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—इहलोगसंवेयणी, परलोग-संवेयणी, आयसरीरसंवेयणी, परसरीरसंवेयणी।

णिव्वेयणी कहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—इहलोगे दुच्चिन्ना कम्मा, इहलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति, इहलोगे दुच्चिन्ना कम्मा परलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति, परलोगे दुच्चिन्ना कम्मा इहलोगे दुहफल-विवागसंजुत्ता भवंति, परलोगे दुच्चिन्ना कम्मा परलोगे दुहफलविवाग-संजुत्ता भवन्ति।

इइलोगे सुच्चिन्ना कम्मा इहलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति। इहलोगे सुच्चिन्ना कम्मा परलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति। एवं चउभंगो ॥५०॥

छाया—चतुर्विधा धर्मकथा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी, निर्वेदनी।

आक्षेपणीकथा चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—आचाराऽऽक्षेपणी, व्यवहाराक्षेपणी, प्रज्ञप्त्याक्षेपणी, दृष्टिवादाऽऽक्षेपणी।

विक्षेपणी कथा चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—स्वसमयं कथयति, स्वसमयं कथयित्वा परसमयं कथयति। परसमयं कथयित्वा स्वसमयं स्थापयिता भवति। सम्यग्वादं कथयति सम्यग्वादं कथयित्वा मिथ्यावादं कथयति। मिथ्यावादं कथयित्वा सम्यग्वादं स्थापयिता भवति।

संवेदनी कथा चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—इहलोकसंवेदनी, परलोक-संवेदनी, आत्मशरीरसंवेदनी, परशरीरसंवेदनी।

निर्वेदनीकथा चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—इहलोके दुश्चीर्णानि कर्माणि इहलोके दुःखफलविपाकसंयुक्तानि भवन्ति, इहलोके दुश्चीर्णानि कर्माणि परलोके दुःखफल-विपाकसंयुक्तानि भवन्ति, परलोके दुश्चीर्णानि कर्माणि इहलोके दुःखफलविपाक-संयुक्तानि भवन्ति, परलोके दुःश्चीर्णानि कर्माणि, परलोके दुःखफलविपाकसंयुक्तानि भवन्ति।

इहलोके सुचीर्णानि कर्माणि इहलोके सुखफलविपाक संयुक्तानि भवन्ति, इहलोके सुचीर्णानि परलोके सुखफलविपाकसंयुक्तानि भवन्ति। एवं चतुर्भंगः।

शब्दार्थ—चउव्विहा धम्मकहा पण्णत्ता, तं जहा—धर्मकथा चार प्रकार की कही गई है, जैसे, **अक्खेवणी**—जिसके सुनने से श्रोता का मोह और अज्ञान दूर हो, **विक्खेवणी**—जिसके सुनने से श्रोता सन्मार्ग से उन्मार्ग में और उन्मार्ग से सन्मार्ग में आ जावे, **संवेयणी**—

जिसके सुनने से संवेग अथवा सम्बोध तथा जिसके सुनने से श्रोता वैराग्य भाव को प्राप्त हो और, **निव्वेयणी**—जिसके सुनने से चित्त संसार से विरक्त हो जाए तथा आत्मा विकार रहित हो जाए।

अक्खेवणीकहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—आक्षेपणी कथा चार प्रकार की है, जैसे, **आयार-अक्खेवणी**—साध्वाचार तथा श्रावकाचार कथा, **ववहार-अक्खेवणी**—व्रतों में दोष लगने पर प्रायश्चित्त देने वाले सूत्रों की कथा, **पण्णत्ति-अक्खेवणी**—संशययुक्त श्रोताओं का मधुरवचनों से संशय दूर करने की कथा तथा जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि की कथा और, **दिट्ठिवाय-अक्खेवणी**—श्रोता की अपेक्षा से प्रमाण और नय के अनुसार सूक्ष्म जीवादि के भाव कथन करने की कथा।

विक्खेवणीकहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—विक्षेपणी कथा चार प्रकार की है, जैसे, **ससमयं कहेइ**—वक्ता प्रथम स्वसिद्धान्त को कहता है, फिर, **ससमयं कहेत्ता, परसमयं कहेइ**—अपना सिद्धान्त कह कर पर-सिद्धान्त का वर्णन करता है, **परसमयं कहेत्ता, ससमयं ठाइवत्ता भवइ**—पुन: पर-सिद्धान्त कहकर अपने सिद्धान्त के गुणों का स्थापक होता है, **सम्मावायं कहेइ**—पुन: सम्यग्वाद का कथन करता है, **सम्मावायं कहेत्ता**— सम्यग्वाद कथन करने के बाद, **मिच्छावायं कहेइ**—पुन: मिथ्यावाद का कथन करता है, **मिच्छावायं कहेत्ता**—मिथ्यावाद का कथन करने के पश्चात्, **सम्मावायं ठावइत्ता भवइ**—सम्यग्वाद का स्थापन करने वाला होता है।

संवेयणीकहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—संवेगनी कथा चार प्रकार की है, जैसे, **इहलोयसंवेयणी**—इस लोक में मनुष्य के भव की असारता और अनित्यता आदि की कथा, **परलोगसंवेयणी**—देवादि भवों में जो जीवादि दु:खों का अनुभव करते हैं, उनकी कथा, **आयसरीरसंवेयणी**—अपने शरीर की असारता व अशुचि आदि की कथा, इसी प्रकार, **परसरीरसंवेयणी**—पर के शरीर की असारता विषयक कथा। **णिव्वेयणी कहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा**—निर्वेदनी कथा चार प्रकार की है जैसे, **इहलोगे दुच्चिन्ना-कम्मा, इहलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति**—इस लोक में चोरी आदि दुष्कर्म इसी लोक में दु:ख रूप फल विपाक से युक्त होते हैं, **इहलोगे दुच्चिन्ना कम्मा परलोगे दुहफलविवाग संजुत्ता भवंति**—इस लोक मे किए हुए दुष्कर्म परलोक में दु:ख रूप फल देने वाले होते हैं, **परलोगे दुच्चिन्ना कम्मा**—परलोक में किए हुए दुष्कर्म, **इहलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति**— इस लोक में दु:ख रूप फल के देने वाले होते हैं, **परलोगे दुच्चिन्ना कम्मा**—परलोक में दुश्चरित कर्म, **परलोए दुहफलविवागसंजुत्ता भवन्ति**—परलोक मे ही दु:ख देने वाले होते हैं।

इहलोगे सुच्चिन्ना कम्मा—इहलोक मे किए हुए अहिंसा आदि शुभ कर्म, **इहलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति**—इस लोक में ही सुखरूप फल के देने वाले होते हैं,

इहलोगे सुचिन्ना कम्मा परलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति—इस लोक में की हुई अहिंसादि सत्क्रियायें परलोक में शुभ फल देने वाली होती हैं, **एवं**—इसी प्रकार, **चउभंगो**—चारों भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

मूलार्थ—चार तरह की धर्मकथा कही गई है, जैसे कि—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी।

आक्षेपणी कथा चार प्रकार की कही गई है जैसे—जिस कथा में साधु और श्रावक के आचार का वर्णन हो, वह आचार-आक्षेपणी कथा है। व्रतों में दोष लगने पर जिन प्रायश्चित्त देने वाले सूत्रों की कथा व्यवहार आक्षेपणी कथा है। संशययुक्त श्रोता को मधुर वचनों से उपदेश देकर संशय दूर करने वाली प्रज्ञप्ति-आक्षेपणी कथा है तथा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि की कथा भी प्रज्ञप्ति-आक्षेपणी कथा है। श्रोताओं की अपेक्षा से प्रमाण और नय के अनुसार सूक्ष्म जीवादि के भाव का कथन करने वाली कथा दृष्टिवाद आक्षेपणी कथा है।

विक्षेपणी कथा चार प्रकार की है, जैसे—वक्ता पहले स्वसिद्धान्त का कथन करता है, फिर अपना सिद्धान्त कहकर पर-सिद्धान्त का वर्णन करता है, अर्थात् स्वसिद्धान्त के गुण और पर-सिद्धान्त के दोष दिखाता है। फिर पर-सिद्धान्त कह कर स्वसिद्धान्त के गुणों की स्थापना करता है। वक्ता सम्यग्वाद को कहता है, सम्यग्वाद का कहकर मिथ्यावाद का वर्णन करता है, अर्थात् सम्यक्वाद आस्तिकवाद का नाम है और मिथ्यावाद नास्तिकवाद का नाम है, इन दोनों वादों का सम्यक्-रूप से वर्णन करता है। पुनः नास्तिकवाद का वर्णन करके आस्तिकवाद की स्थापना करने वाला होता है। अर्थात् नास्तिकवाद के दोष दिखलाकर आस्तिकवाद के गुणों की स्थापना करता है।

संवेदनी कथा चार प्रकार की है, जैसे—इस लोक में मनुष्यादि के भव की असारता और अनित्यता आदि की कथा करना। देवादि भवों में जो जीव नाना दुःखों का अनुभव करते हैं, उनकी कथा। अपने शरीर की असारता और अशुचि की कथा। इसी प्रकार पर के शरीर की असारता आदि का वर्णन करना तथा मृत शरीर की कथा करना।

निर्वेदनी कथा चार तरह की है, जैसे—इस लोक में किए हुए चौर्यादि दुष्कर्म इसी लोक में दुःखरूप फल देने वाले होते हैं। इस लोक में किए हुए पाप कर्म परलोक में दुःख रूप फल के देने वाले होते हैं। परलोक में किए हुए दुष्कर्म इस लोक में दुःख रूप फल देते हैं। परलोक में हिंसा आदि किए हुए दुष्कर्म परलोक

में ही दुःखरूप फल देते हैं, जैसे कोई जीव नरक के योग्य कर्मबन्धन कर के नरक में उत्पन्न होकर पुनः वहां से मृत्यु पाकर सिंह आदि हिंसक पशुओं में उत्पन्न होकर फिर नरक योग्य कर्मों का उपार्जन करता है और दुःख भोगता है।

इस लोक में किए हुए अहिंसा आदि शुभकर्म इस लोक में ही सुख रूप फल को देने वाले होते हैं, जैसे तीर्थंकर आदि को एवं सुपात्र को दान देने वाले के गृह में सुवर्ण की वृष्टि होती है। इस लोक में की हुई अहिंसादि क्रियाएं परलोक में शुभफल देने वाली होती हैं। इसी प्रकार यहां पर भी चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

विवेचनिका—विकथाओं के परित्याग के अनन्तर ही धर्मकथा का लाभ प्राप्त हो सकता है, अतः विकथा के अनन्तर सूत्रकार धर्मकथा के स्वरूप एवं भेदोपभेदों की अवतारणा करते हैं, जिसके कहने और सुनने से धर्म-जिज्ञासा उत्पन्न हो तथा कर्म-बन्धन से छूटकर निर्वाण-पद प्राप्त करने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हो, उसे धर्म-कथा कहते हैं। किसी वस्तु या व्यक्ति की वह वृत्ति जो उस में सदा रहे उस से कभी भी अलग न हो वह धर्म है। क्षमा, विनय, ऋजुता, अहिंसा, सत्य, संयम, तप, त्याग, सदाचार, संतोष, दान, समता, शान्ति इत्यादि सभी गुण धर्म के अंग हैं और आत्मा के अपने विशेष 'गुण' हैं। जब तक आत्मगुणों का पूर्ण विकास न हो जाए तब तक विकास-साधना के लिए निरन्तर यत्नशील रहना धर्म है, दूसरे शब्दों में वैभाविक गुणों से निवृत्त होकर स्वाभाविकगुणों में रमण करना ही धर्म है। जो प्रवचन धर्म-तत्त्व को जागृत करने वाले हैं उनके कहने और सुनने को धर्मकथा कहा जाता है। उसके मुख्यतया चार भेद हैं, जैसे कि आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेगनी और निर्वेदनी।

आक्षेपणी :—

वह धर्म-कथा जिसके कहने और सुनने से वक्ता और श्रोता मोह से हट कर तत्त्व की ओर आकृष्ट हो उसे आक्षेपणी धर्म-कथा कहा जाता है। इसके भी चार रूप हैं, जैसे कि आचार, व्यवहार, प्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद। इनकी संक्षिप्त विवेचना इस प्रकार है :—

१. आचार-आक्षेपणी कथा:—साधु और श्रावक के आचार को बतलाने वाली कथा अथवा आचार-प्रधान शास्त्रों की कथा या व्याख्या के द्वारा श्रोताओं को धर्म की ओर आकृष्ट करने वाली कथा 'आचार-आक्षेपणी' कथा है।

२. व्यवहार-आक्षेपणी कथा:—कोई भी दोष लग जाने पर उसकी विशुद्धि के लिए या प्रायश्चित्त करने के लिए जिस कथा से श्रोता उद्यत हो अथवा व्यवहार आदि सूत्रों की ऐसी विस्तृत व्याख्या करना जिस से प्रायश्चित्त आदि के द्वारा शिष्य या श्रोता विशुद्ध हो सके उस कथा को 'व्यवहार-आक्षेपणी' धर्म-कथा कहा जाता है।

३. प्रज्ञप्ति-आक्षेपणी कथा:—संशयापन्न श्रोताओं के संशयों को मधुर वचनों से दूर करने वाली कथा या प्रज्ञप्ति सूत्र के व्याख्यान द्वारा श्रोताओं को तत्त्वों की ओर आकृष्ट करने वाली कथा 'प्रज्ञप्ति-आक्षेपणी धर्म-कथा' कहलाती है।

४. दृष्टिवाद-आक्षेपणी कथा:—श्रोताओं को लक्ष्य में रखकर सात नयों से या प्रमाणों के अनुरूप अनुयोग या निक्षेपों के अनुसार जीव आदि तत्वों का सूक्ष्म विवेचन करने वाली अथवा दार्शनिक विषयों की ऐसी व्याख्या करने वाली कथा जिससे श्रोताओं में धर्म-तत्त्व के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो जाए उसे 'दृष्टिवाद-आक्षेपणी धर्म-कथा' कहते हैं।

विक्षेपणी कथा :—

श्रोताओं को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लगाने वाली कथा या सन्मार्ग के गुण या लाभ बताकर तथा उन्मार्ग के दोष एवं हानियां बतलाकर सन्मार्ग में रुचि जागृत करने वाली कथा विक्षेपणी धर्मकथा कहलाती है। इसके भी चार भेद हैं—स्वसमय, परसमय, सम्यग्वाद और मिथ्यावाद। इनका विवेचन इस प्रकार है—

१. स्वसमय का अर्थ है 'अपना-सिद्धान्त'। पहले अपने सिद्धान्त पर प्रकाश डालकर फिर दूसरों के सैद्धान्तिक दोषों को प्रदर्शित करने वाली कथा पहली विक्षेपणी कथा है।

२. पहले दूसरे के सैद्धान्तिक दोषों को प्रदर्शित कर फिर स्वसिद्धान्त की स्थापना करने वाली कथा दूसरी विक्षेपणी-कथा है।

३. दूसरे के सिद्धान्त में जितनी बातें घुणाक्षर न्याय से जिनागम सम्मत हों उन्हें कहकर जिनागम से विपरीत सिद्धान्त में दोष दिखाना अथवा आस्तिकवाद का अभिप्राय बताकर नास्तिकवाद में दोष प्रमाणित करने वाली कथा तीसरी विक्षेपणी-धर्मकथा है।

४. सम्यग्वाद का अर्थ है आस्तिकवाद और मिथ्यावाद का अर्थ है नास्तिकवाद। पहले मिथ्यावाद को कहकर फिर सम्यक्वाद की स्थापना करने वाली अथवा नास्तिकवाद का खंडन करके फिर आस्तिकवाद की स्थापना करने वाली चौथी विक्षेपणी-धर्मकथा है।

विक्षेपणी कथा कहने का अधिकार उसी वक्ता को है जो स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्त में निपुण है, व्याख्यान-लब्धि-संपन्न है, तथा प्रवचन-प्रभावना में कुशल और प्रभावशाली है, अन्यथा लाभ के बदले हानि ही उठानी पड़ती है।

संवेगनी कथा—

जिस धर्मकथा के द्वारा वक्ता और श्रोता के हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो, संसार से निवृत्ति की भावना जाग उठे और मोक्ष प्राप्त करने की उत्कट भावना जागृत हो, उसे संवेगनी-धर्मकथा कहा जाता है। इसके भी मुख्यतया चार भेद हैं—इहलोक-संवेगनी, परलोक-संवेगनी, स्वशरीर-संवेगनी और परशरीर-संवेगनी।

१. इहलोक संवेगनी कथा—जिससे दृश्यमान जगत् की असारता से विरक्ति हो वह

'इहलोक संवेगनी कथा' कहलाती है।

२. जिस कथा के सुनने से परलोक संबन्धी दु:खों का ज्ञान हो या परलोक का स्वरूप बताकर वैराग्य उत्पन्न हो जैसे कि परलोक में देवता भी भय, शोक, ईर्ष्या, विषाद, वियोग इत्यादि विविध दु:खों से दु:खी हैं, इत्यादि रूपों में परलोक का स्वरूप बताकर श्रोताओं के हृदय में संसार से विरक्ति जागृत करने वाली कथा 'परलोक-संवेगनी-कथा' कहलाती है।

३. जिसके सुनने से अपने शरीर से भी घृणा हो जाए, जैसे कि यह शरीर अपवित्र है, क्योंकि इसमें मांस, मेदा, अस्थियां और मलमूत्र जैसे गंदे पदार्थ भरे पड़े हैं, यह अपवित्र द्वार से निकला हुआ है, और अपवित्रता को जन्म देने की परम्परा का कारण है, इस प्रकार की भावनाओं को जागृत कर विरक्ति उत्पन्न करने वाली कथा को ''आत्म-शरीर-संवेगनी-कथा'' कहा जाता है।

४. जिस कथा का सम्बन्ध स्व-शरीर न होकर पर-शरीर हो, अर्थात् किसी अपाहिज ही दुर्दशा का, किसी कुष्ठी की वेदना का, किसी भयंकर रोग से ग्रस्त व्यक्ति की पीड़ाओं का ऐसा मार्मिक वर्णन करना कि उससे श्रोताओं में वैराग्य-वृत्ति जागृत हो जाए ऐसी कथा को 'परलोक-संवेगनी-कथा' कहा जाता है।

निर्वेदनी कथा :—

इस संसार में किए हुए कर्मों का फल जीव को यहीं भोगना पड़ता है, जो किसी पूर्वकृत महान् कर्म के उदित होने के कारण उन कर्मों का फल यहां नहीं भोग पाते उन्हें उन कर्मों का फल परलोक में भोगना पडता है। कृत कर्म का फल भोगे बिना जीव का छुटकारा नहीं है, 'कर्म-गति टारी नाहीं टरे' के सिद्धान्त का विवेचन कर विरक्ति जागृत करने वाली कथा को निर्वेदनी कथा कहा जाता है। इस कथा के दो भाग हैं, पाप और पुण्य। पाप से सम्बन्ध रखने वाले चार भंग और पुण्य से सम्बन्ध रखने वाले चार भंग होने से इसके आठ भंग बन जाते हैं।

१. कभी-कभी इस जन्म में किए हुए पाप-कर्म इसी जन्म में दु:ख देने वाले बन जाते हैं, जैसे चोरी करने वाले, पर-स्त्री गमन करने वाले एवं हत्यारे लोग यहीं पर जेलों में सड़ते, अपमानित होते और फांसी के फंदों पर लटकते देखे जाते हैं। यह 'प्रथम निर्वेदनी कथा' है।

२. कभी-कभी इस जन्म में किए हुए दुष्कर्म यहां फल नहीं दे पाते, क्योंकि पूर्वकृत् किसी महान् पुण्य के उदय होने के कारण उस पाप-कर्म को फल देने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता, तब वे कर्म इस लोक में अपना फल न देकर परलोक में अर्थात् नरक-यातना के रूप में फल दिया करते हैं। इस प्रकार के कर्मों की विवेचना करने वाली कथा 'द्वितीय निर्वेदनी कथा' कही जाती है।

३. जीवों को अन्य लोकों में किए हुए दुष्कर्मों का फल कभी-कभी यहां आकर

भुगतना पड़ता है, क्योंकि वहां पर कृत दुष्कर्मों को फल देने का अवसर प्राप्त नहीं हो पाता, इन्हीं कर्मों के कारण अनेक-जीव जन्म-जात रोगी, अन्धे, कुबड़े एवं अपंग होते हैं, कर्मों की इस प्रकार की कथा को 'तृतीय निर्वेदनी-कथा' कहा जाता है।

४. कभी-कभी जीव को परलोक में अर्थात् तिर्यंच आदि योनियों में एवं स्वर्गादि लोकों में कृत-कर्मों का फल भोगने का अवसर प्राप्त नहीं हो पाता, तब वह अन्य तिर्यंच आदि योनियों में एवं नरकादि में ही जाकर उन कर्मों का फल भोगता है। कर्म-गति का ऐसा वर्णन करना जिससे श्रोताओं में वैराग्य का उदय हो जाए उसे चतुर्थ 'निर्वेदनी-कथा' कहा जाता है।

इसी प्रकार शास्त्रकार ने पुण्यानुबन्धी कर्मों का भी चतुर्विध विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए कहा है:—

१. कभी-कभी जीव इस लोक में किए हुए उत्कृष्ट शुभ कर्मों के फल को यहीं भोगने का अवसर प्राप्त कर लेता है, जैसे तीर्थंकर का दिया हुआ वर्षी दान इस लोक में ही फलदायक होता है, इसे प्रथम 'पुण्यानुबन्धिनी निर्वेदनी-कथा' कहा जाता है।

२. कभी-कभी जीव अपने द्वारा कृत पुण्य कर्मों का फल यहां नहीं प्राप्त कर पाता है, क्योंकि पूर्व-जन्मों में किए गए पाप-पुण्य का उदय उन्हें साधना एवं तप में लीन रहने के कारण फल देने का अवसर नहीं आने देता है, तब जीव उन कर्मों का फल परलोक में जाकर प्राप्त करता है, जैसे सम्यक् साधना सम्पन्न सु-साधु इस लोक में सुख-भोग प्राप्त न करके परलोक में जाकर प्राप्त करता है। इस प्रकार के कर्मों का वैराग्य-साधक वर्णन करना 'पुण्यानुबन्धिनी निर्वेदनी-कथा' का द्वितीय रूप है।

३. कभी-कभी जीव अतीत भवों में कृत पुण्य कर्मों का फल इस संसार में मानव-रूप में जन्म लेकर प्राप्त करता है। जैसे तीर्थंकर बनने वाली दिव्य आत्माएं परलोक-कृत पुण्यों के उदय से तीर्थंकर पद प्राप्त कर लेती हैं। कर्म-परम्परा के वैराग्य के उदय में सहायक इस रूप को पुण्यानुबन्धिनी तृतीय निर्वेदनी-कथा कहा जाता है।

४. जब जीव अन्य जन्म में कृत कर्मों का फल मध्य के भव में न पाकर इस भव में आकर प्राप्त करता है, जैसे तीर्थंकर नाम गोत्र बांधकर आने वाली आत्माएं स्वर्गादि में फल न पाकर यहां आकर तीर्थंकर पद प्राप्त करती हैं, तब कर्म-गति के इस वैराग्य-साधक रूप के वर्णन को पुण्यानुबन्धिनी निर्वेदनी कथा का चतुर्थ रूप कहा जाता है।

धर्म-कथा का प्रवचन एवं विश्लेषण श्रोता और वक्ता दोनों के लिए कल्याणकारी है, क्योंकि प्रवचन समय में वक्ता की चित्त-वृत्तियां धर्म-सागर की चिन्तन लहरों में तैरने लगती हैं, चित्त धर्म-वृत्ति पर एकाग्र हो जाता है। धीरे-धीरे पाप से उपरति और धर्म के प्रति अनुरक्ति बढ़ने लगती है, यह धर्मानुरक्ति कर्म-निर्जरा में सहायक होती है।

श्रोता भी पाप और पुण्य के स्वरूप को समझता हुआ पाप से दूर और धर्म के निकट

होता जाता है, वह भी प्रवचन-काल में इतना एकाग्र हो जाता है कि कुछ क्षणों के लिए आत्म-प्रतिष्ठित होकर कर्मनिर्जरा करता हुआ शुद्ध-बुद्ध हो जाता है।

अत: यह धर्म-कथा-विश्लेषण वक्ता और श्रोता दोनों के लिए मंगलकारी है।

मानव-विश्लेषण

मूल—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—किसे णाममेगे किसे, किसे णाममेगे दढे, दढे णाममेगे किसे, दढे णाममेगे दढे।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—किसे णाममेगे किससरीरे, किसे णाममेगे दढसरीरे, दढे णाममेगे किससरीरे, दढे णाममेगे दढसरीरे।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—किससरीरस्स नाममेगस्स णाणदंसणे समुप्पज्जइ णो दढसरीरस्स, दढसरीरस्स णाम एगस्स णाणदंसणे समुप्पज्जइ, णो किससरीरस्स। एगस्स किससरीरस्स वि णाणदंसणे समुप्पज्जइ, दढसरीरस्सवि। एगस्स नो किससरीरस्स णाणदंसणे समुप्पज्जइ नो दढसरीरस्स ॥५१॥

छाया—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—कृशो नामैक: कृशो, कृशो नामैको दृढ:, दृढो नामैक: कृश:, दृढो नामैको दृढ:।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—कृशो नामैक: कृशशरीर:, कृशो नामैको दृढ शरीर:, दृढो नामैक: कृशशरीर:, दृढो नामैको दृढशरीर:।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—कृशशरीरस्य नामैकस्य ज्ञानदर्शनं समुत्पद्यते, नो दृढशरीरस्य। दृढशरीरस्य नामैकस्य ज्ञानदर्शनं समुत्पद्यते, नो कृश-शरीरस्य। एकस्य कृशशरीरस्यापि ज्ञानदर्शनं समुत्पद्यते, दृढशरीरस्यापि। एकस्य नो कृशशरीरस्य ज्ञानदर्शनं समुत्पद्यते नो दृढशरीरस्य।

शब्दार्थ—**चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार के पुरुष बताए गए है, जैसे, **किसे णाममेगे किसे**—कुछ व्यक्ति पहले भी कृश होते हैं और फिर जीवन भर कृश ही रहते है, **किसे णाममेगे दढे**—कुछ व्यक्ति पहले तो कृश होते हैं, किन्तु कालान्तर में दृढ हो जाया करते हैं, **दढे णाममेगे किसे**—कुछ व्यक्ति पहले तो दृढ़ होते हैं, किन्तु कालान्तर मे जाकर कृश हो जाया करते हैं, **दढे णाममेगे दढे**—कुछ व्यक्ति पहले भी दृढ़ होते हैं और कालान्तर में भी दृढ़ ही रहते हैं।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—पुन: मनुष्य चार प्रकार के हुआ करते हैं, जैसे, **किसे णाममेगे किससरीरे**—कुछ व्यक्ति मानसिक दृष्टि से कमजोर होते हैं और शारीरिक दृष्टि से भी कमजोर हुआ करते हैं, **किसे णाममेगे दढसरीरे**—कुछ व्यक्ति

मानसिक दृष्टि से दुर्बल, परन्तु शारीरिक दृष्टि से हृष्ट-पुष्ट होते हैं, **दढे णाममेगे किस-सरीरे**—कुछ व्यक्ति मन से बलवान, किन्तु शरीर से दुर्बल होते हैं, और, **दढे णाममेगे दढसरीरे**—कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो मानसिक एवं शारीरिक दोनों दृष्टियों से दृढ़ हुआ करते हैं।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—पुनः ज्ञान एवं दर्शन की उपलब्धि की दृष्टि से भी पुरुष चार प्रकार के होते हैं, जैसे, **किससरीरस्स नाममेगस्स णाणदंसणे समुप्पज्जइ**—कभी-कभी कृश शरीर वाले साधकों में भी ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो जाया करते हैं, **णो दढसरीरस्स**—किन्तु दृढ़-शरीर वाले साधकों में उत्पन्न नहीं होते, **दढसरीरस्स णाम एगस्स णाणदंसणे समुप्पज्जइ**—कभी-कभी दृढ शरीर साधक में ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होते हैं, **णो किससरीरस्स**—कृश-शरीर वाले साधक में उत्पन्न नहीं हुआ करते हैं, **एगस्स किससरीरस्स वि णाणदंसणे समुप्पज्जइ**—कभी-कभी कृश-शरीर साधक में भी ज्ञान-दर्शन होते हैं, **दढसरीरस्स वि**—और दृढ़ शरीर साधक में भी उत्पन्न हुआ करते हैं, **एगस्स नो किससरीरस्स णाणदंसणे समुप्पज्जइ नो दढसरीरस्स**—कभी-कभी न तो कृश शरीर वाले साधक में ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होते हैं और न दृढ शरीर साधक में ही।

मूलार्थ—पुरुष चार प्रकार के बताए गए हैं, जैसे—कुछ व्यक्ति पहले भी कृश होते हैं और फिर जीवन भर कृश ही रहते हैं। कुछ व्यक्ति पहले तो कृश होते हैं, किन्तु कालान्तर में दृढ़ हो जाया करते हैं। कुछ व्यक्ति पहले तो दृढ़ होते हैं, किन्तु कालान्तर में जाकर कृश हो जाया करते हैं, और कुछ व्यक्ति पहले भी दृढ़ होते हैं और कालान्तर में भी दृढ़ ही रहते हैं।

पुनः मनुष्य चार प्रकार के हुआ करते हैं, जैसे—कुछ व्यक्ति मानसिक दृष्टि से कमजोर होते हैं और शारीरिक दृष्टि से भी कमजोर हुआ करते हैं, कुछ व्यक्ति मानसिक दृष्टि से दुर्बल, परन्तु शारीरिक दृष्टि से हृष्ट-पुष्ट होते हैं, कुछ व्यक्ति मन से बलवान, किन्तु शरीर से निर्बल होते हैं, और कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो मानसिक एवं शारीरिक दोनों दृष्टियों से दृढ़ हुआ करते हैं।

पुनः ज्ञान एवं दर्शन की उपलब्धि की दृष्टि से भी पुरुष चार प्रकार के होते हैं, जैसे— कभी-कभी कृश शरीर साधकों में भी ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो जाया करते हैं, किन्तु दृढ़-शरीर साधक में उत्पन्न नहीं होते, कभी-कभी दृढ़ शरीर साधक में ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होते हैं, कृश शरीर साधक में उत्पन्न नहीं हुआ करते, कभी-कभी कृश शरीर साधक में भी ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होते हैं और दृढ़-शरीर साधक में भी उत्पन्न हुआ करते हैं और कभी-कभी न तो कृश-शरीर साधक में ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होते हैं और न दृढ़-शरीर साधक में ही।

विवेचनिका—विकथा से मानसिक एवं शारीरिक दृष्टि से मानवीय गुण क्षीण हो जाते हैं और धर्म-कथा से उन में शारीरिक एवं मानसिक सबलता जागृत होती है, अतः विकथा एवं धर्मकथा की विवेचना के अनन्तर शास्त्रकार कृशता एवं दृढ़ता के आधार पर मानवता का विश्लेषण करते हैं। यद्यपि मनुष्य के नाना रूप हैं, परन्तु शारीरिक एवं मानसिक दौर्बल्य की दृष्टि से उसके निम्नलिखित रूप ही हो सकते हैं। जैसे कि—

(क) एक पुरुष पहले भी कृश था और अब भी कृश है।

(ख) एक पुरुष पहले तो कृश था, परन्तु अब स्वस्थ होने से दृढ़ है।

(ग) एक पुरुष पहले तो स्वस्थ होने से दृढ़ था, अब रोगाक्रांत एवं तप आदि के कारण कृश है।

(घ) एक पुरुष पहले भी दृढ़ था और अब भी दृढ़ है।

कुछ व्यक्ति स्वभाव से ही कृश अर्थात् दुर्बल होते हैं, कुछ रोगादि कारणों से भी कृश होते हैं। चिंता भी कृशता का कारण हो सकती है और तपश्चर्या से भी मनुष्य कृश हो जाता है। इसी प्रकार कोई जन्मजात दृढ़ होता है, कोई व्यायाम करने से दृढ़ बन जाता है, कोई स्वस्थ होने से दृढ़ बनता है, कोई प्रतिज्ञा में दृढ़ होता है, इत्यादि कृशता एवं दृढ़ता के अनेक कारण हो सकते हैं। शारीरिक कृशता एवं दृढ़ता कारण-परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होती रहती हैं, उसी परिवर्तन के आधार पर प्रस्तुत विश्लेषण किया गया है। अब शारीरिक एवं मानसिक दोनों दृष्टियों से मानवता का वर्गीकरण प्रस्तुत करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

(क) कुछ पुरुष मन से भी कृश होते हैं और शरीर से भी कृश हुआ करते हैं।

(ख) कुछ पुरुष मन से कृश होते हुए भी शारीरिक दृष्टि से दृढ़ हुआ करते हैं।

(ग) कुछ पुरुष शरीर से दृढ़ होते हैं, किन्तु मन से कृश होते हैं।

(घ) कुछ पुरुष मन से भी दृढ़ होते हैं और शरीर से भी दृढ़ हुआ करते हैं।

इस संसार में बलवान को जीने का अधिकार है दुर्बल को नहीं, क्योंकि 'दैवो दुर्बल-घातकः' की उक्ति प्रसिद्ध है। यह बलवत्ता दो प्रकार की होती है, कुछ लोग शारीरिक दृष्टि से अत्यन्त दुर्बल होते हैं, परन्तु उनका मन अत्यन्त बलवान् होता है, उनकी मानसिक शक्तियां अत्यन्त विकसित होती हैं। इन्हीं शक्तियों के आधार पर वे ऐसे असम्भव कार्य कर डालते हैं जो बड़े-बड़े शक्तिशाली पहलवान भी नहीं कर सकते हैं। तपस्वियों के शरीर प्रायः तपः-कृश होते हैं, किन्तु वे अपनी मानसिक शक्तियों के आधार पर असम्भव कार्यों को भी सम्भव बना दिया करते हैं, स्वाध्याय, ध्यान, समाधि, दीर्घतम उपवास शारीरिक शक्तियों से नहीं मानसिक शक्तियों से ही सम्पन्न हुआ करते हैं।

शारीरिक बल आवश्यक है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु वह मानव का सर्वस्व एवं ध्येय नहीं है, क्योंकि मनुष्य की अपेक्षा पशु शारीरिक क्षमता में अधिक होते हुए भी जीवन का

उत्थान करने में असमर्थ होते हैं, अतः मनुष्य को शारीरिक शक्तियों की उपेक्षा न करते हुए मानसिक शक्तियों के विशेष विकास के लिए सतत यत्नशील रहना चाहिए। इसी लक्ष्य को सामने रखते हुए उपर्युक्त विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

अब ज्ञान और दर्शन की उपलब्धि की दृष्टि से कृशता एवं दृढ़ता के आधार पर मानव व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

३. किसी साधक के कृश शरीर में ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होते हैं, दृढ़ शरीर में नहीं।
कभी-कभी दृढ़ शरीर वाले साधक में ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होते हैं, कृश शरीर वाले में नहीं।

किसी कृश शरीरी साधक में भी ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होते हैं और दृढ़शरीरी में भी।

कुछ साधकों के न कृशकाय में ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होते हैं और न दृढ़ शरीर में ही।

तप करते-करते जिसका शरीर कृश हो गया है ऐसे साधक में ज्ञान और दर्शन उत्पन्न हो जाते हैं, दृढ़शरीरी में नहीं। जैसे कि आनन्द गाथापति तथा महाशतक श्रमणोपासक को अवधिज्ञान और अवधि-दर्शन कृशशरीरी होते हुए भी प्राप्त हो गए। इसी प्रकार अर्जुन मुनि में भी कृशशरीरी होते हुए भी केवल ज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुए। यह पहले भंग का सारांश है। दूसरे भंग में भरत-मरुदेवी आदि का समावेश होता है, उन्होंने केवलज्ञान-केवल-दर्शन कृशशरीर में नहीं दृढ़शरीर में प्राप्त किए थे। किसी के ज्ञान और दर्शन कृशशरीर में भी उत्पन्न हो जाते हैं और दृढ़शरीर में भी जैसे कि गौतम आदि गणधर। इस प्रकार के व्यक्ति तीसरे भंग में समाविष्ट हो जाते हैं। किसी को न कृश शरीर में ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होते हैं और न दृढ शरीर में ही। जैसे कि अचरम शरीरी साधक, मिथ्यादृष्टि और चरित्र-विहीन व्यक्ति ज्ञान-दर्शन की उपलब्धि से वंचित ही रहते हैं।

अवधिज्ञान, अवधिदर्शन तथा मनःपर्यव ज्ञान, जाति-स्मरण ज्ञान ये विशिष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं, किन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन ये आवरण के सर्वथा क्षय होने से उत्पन्न होते हैं।

कृश शरीर शब्द से तात्पर्य सूत्रकार का यह है कि जिसका शरीर वज्रऋषभ नाराच संहनन (शरीर का अस्थिबंध) के होते हुए भी तप के द्वारा कृश हो गया है, क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन उक्त संहनन के होने पर ही होता है। तीसरे भंग के प्रसंग में वृत्तिकार ने लिखा है **"तथा कृशस्य दृढस्य वा तदुत्पद्यते विशिष्टसंहननस्य अल्पमोहस्य उभयथापि शुभपरिणामभावात् कृशत्वदृढत्वे नापेक्षते इति तृतीयः।"** इससे यह प्रमाणित होता है कि जिस व्यक्ति का मनोबल दृढ़ है उसी में शुद्धभावना के द्वारा ज्ञानदर्शन उत्पन्न होते हैं। मोहकर्म का विलय होना और ज्ञान से पूर्णतया प्रकाशित होना शुभलेश्या और शुद्ध भावों पर निर्भर है, अतः साधक को चाहिए कि भावों को कभी भी मलिन न होने दे, अपितु विशुद्ध करने के लिए सतत प्रयास करे। यही भगवान की आज्ञा है।

ज्ञान-दर्शन के बाधक-साधक कारण

मूल—चउहिं ठाणेहिं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अस्सिं समयंसि अइसेसे नाणदंसणे समुप्पज्जिउकामेवि न समुप्पज्जेज्जा, तं जहा—अभिक्खणं-अभिक्खणमित्थिकहं, भत्तकहं, देसकहं, रायकहं कहेत्ता भवइ, विवेगेणं विउस्सग्गेणं णो सम्ममप्पाणं भवित्ता भवइ, पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि णो धम्मजागरियं जागरइत्ता भवइ, फासुयस्स एसणिज्जस्स उंछस्स सामुदाणियस्स णो सम्मं गवेसित्ता भवइ। इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा जाव नो समुप्पज्जेज्जा।

चउहिं ठाणेहिं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अइसेसे णाणदंसणे समुप्पज्जिउकामे समुप्पज्जेज्जा, तं जहा—इत्थीकहं, भत्तकहं, देसकहं, रायकहं नो कहेत्ता भवइ, विवेगेणं, विउस्सग्गेणं सम्ममप्पाणं भावेत्ता भवइ, पुव्वरत्ता-वरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरइत्ता भवइ, फासुयस्स, एसणिज्जस्स, उंछस्स, सामुदाणियस्स सम्मं गवेसिया भवइ। इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा जाव समुप्पज्जेज्जा ॥ ५२ ॥

छाया—चतुर्भिः स्थानैः निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा अस्मिन् समये अतिशेषं ज्ञान-दर्शनं समुत्पत्तुकाममपि न समुत्पद्यते, तद्यथा—अभीक्ष्णमभीक्ष्णं स्त्रीकथां, भक्तकथां, देशकथां, राजकथां कथयिता भवति, विवेकेन, व्युत्सर्गेण नो सम्यगात्मानं भावयिता भवति, पूर्वरात्रापररात्रकालसमये नो धर्मजागरिकां जागरिता भवति, प्रासुकस्य, एषणीयस्य, उञ्छस्य, सामुदानिकस्य नो सम्यग्गवेषयिता भवति। इत्येतैश्चतुर्भिः स्थानैः निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा यावत् नो समुत्पद्यते।

चतुर्भिः स्थानैः निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा अतिशेषं ज्ञान-दर्शनं समुत्पत्तुकामं समुत्पद्यते, तद्यथा—स्त्रीकथां, भक्तकथां, देशकथां, राजकथां नो कथयिता भवति, विवेकेन व्युत्सर्गेण सम्यगात्मानं भावयिता भवति, पूर्वरात्रापररात्रकालसमये धर्मजागरिकां जागरिता भवति, प्रासुकस्य, एषणीयस्य उञ्छस्य, सामुदानिकस्य सम्यग्गवेषयिता भवति। इत्येतैश्चतुर्भिः स्थानैः निर्ग्रन्थानां, निर्ग्रन्थीनां वा यावत् समुत्पद्यते।

शब्दार्थ—चउहिं ठाणेहिं—चार स्थानों से, **निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा**—निर्ग्रन्थ साधुओं अथवा निर्ग्रन्थियों अर्थात् साध्वियों को, **अस्सिं समयंसि**—इस समय में, **अइसेसे**—अतिशय, **णाणदंसणे**—ज्ञान-दर्शन, **समुप्पज्जिउकामेवि न समुप्पज्जेज्जा**—उत्पन्न होने

की स्थिति में रहते हुए भी उत्पन्न नहीं होते, **तं जहा**—जैसे, **अभिक्खणं- अभिक्खणं**—बारम्बार, **इत्थिकहं, भत्तकहं, देसकहं, रायकहं**—स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा और राजकथा, इन चार विकथाओं को, **कहेत्ता भवइ**—कहने वाला होता है, **विवेगेण**—विवेक से और, **विउस्सग्गेणं**—व्युत्सर्ग से, **अप्पाणं**—अपनी आत्मा को, **सम्मं**—सम्यक् प्रकार से, **णो भावेत्ता भवइ**—भावना करने वाला नहीं होता। **पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि**—पूर्व रात्रि और अपररात्रि के समय में, **धम्मजागरियं**—धर्म-जागरिका, **जागरइत्ता**—जागने वाला, **णो भवइ**—नहीं होता, **फासुयस्स**—प्रासुक, **एसणिज्जस्स**—एषणीय, **उंछस्स**—उञ्छ और, **सामुदाणियस्स**—सामुदानिक का, **सम्मं**—सम्यक् प्रकार से, **गवेसिया**—गवेषणा करने वाला, **णो भवइ**—नहीं होता, **इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं**—इन चार स्थानों से, **निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा**—निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थियों को, **जाव**—यावत्, **नो समुप्पज्जेज्जा**—ज्ञान-दर्शन उत्पन्न नहीं होते।

चउहिं ठाणेहिं—चार स्थानों से, **निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा**—निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को, **अइसेसे णाणदंसणे**—अतिशय ज्ञान-दर्शन, **समुप्पज्जिउकामे**—यदि उत्पन्न होने की स्थिति में हो तो, **समुप्पज्जेज्जा**—समुत्पन्न हो जाते हैं, **तं जहा**—जैसे, **इत्थीकहं, भत्तकहं, देसकहं, रायकहं**—स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा और राजकथा, **कहेत्ता**—कहने वाला, **नो भवइ**—नहीं होता, **विवेगेणं, विउस्सग्गेणं**—विवेक और व्युत्सर्ग से, **अप्पाणं**—अपने को, **सम्मं**—सम्यक् प्रकार से, **भावेत्ता भवइ**—भावित करने वाला होता है, **पुव्वरत्तावरत्त-कालसमयंसि**—पूर्वरात्रि और अपर रात्रि के समय, **धम्मजागरियं**—धर्म जागरिका, **जागरइत्ता भवइ**—जागने वाला होता है, **फासुयस्स, एसणिज्जस्स, उंछस्स, सामुदाणियस्स**—प्रासुक, एषणीय, उञ्छ और सामुदानिक का, **सम्मं**—सम्यक् प्रकार से, **गवेसिया भवइ**—गवेषणा करने वाला होता है। **इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं**—इन चार स्थानों से, **निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा**—निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को, **जाव समुप्पज्जेज्जा**—यावत् समुत्पन्न होवे।

मूलार्थ—चार कारणों से भिक्षुओं और भिक्षुणियों को उत्पन्न होने की स्थिति में रहते हुए भी अतिशेष ज्ञान-दर्शन उत्पन्न नहीं होते। वे चार कारण हैं १. (यदि वह) निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी प्रतिक्षण स्त्रीकथा, भत्तकथा, देश-कथा और राजकथा कहता है। २. यदि विवेक और व्युत्सर्ग द्वारा अपनी आत्मा को सम्यक् प्रकार से भावित नहीं करता। ३. रात्रि के पूर्व और पश्चात् भाग में धर्म-चिन्तनार्थ जागरण नहीं करता। ४. प्रासुक, एषणीय, उञ्छ और सामुदानिक (एक गृह से दूसरे गृह, दूसरे से तीसरे—इस क्रम से लगातार अव्यवहित रूप में जो भिक्षा मांगी जाती है, वह सामुदान है। सामुदान से प्राप्त भैक्ष्य द्रव्य सामुदानिक कहलाता है) की छान-बीन भली-भाँति नहीं करता है। इन चार कारणों से निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के अतिशय ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होते-होते रुक जाते हैं।

चार कारणों से निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को अतिशेष ज्ञान-दर्शन यदि उत्पन्न होने की स्थिति में हो तो समुत्पन्न हो जाता है, जैसे—स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा और राजकथा नहीं करता है। विवेक और व्युत्सर्ग के द्वारा आत्मा को सम्यक् प्रकार से भावित करता है। रात्रि के पूर्व और पश्चात् भाग में धर्मध्यानार्थ धर्म-जागरण करता है। प्रासुक, एषणीय, उञ्छ और सामुदानिक की गवेषणा भली-भाँति करता है। इन चार कारणों से निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को अतिशय ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होने की स्थिति में हों तो समुत्पन्न हो जाते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में ज्ञान-दर्शन की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र के प्रथम भाग में अतिशयशाली ज्ञान-दर्शन उत्पन्न न होने के तथा दूसरे भाग में उत्पन्न होने के कारणों का उल्लेख किया गया है। सर्वप्रथम ज्ञान-दर्शन की उत्पत्ति में बाधक चार कारणों का रूप प्रस्तुत करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

१. जो साधक बारम्बार स्त्रीकथा, भत्तकथा, देशकथा और राजकथा में अभिरुचि रखता है उसे यदि ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होने वाला हो तो नहीं होगा।

२. जो साधक आन्तरिक विवेक और व्युत्सर्ग अर्थात् सांसारिक उलझनों से दूर रहने की भावना के द्वारा अपने को प्रभावित नहीं करता एवं आत्मदर्शी नहीं होता उसे भी ज्ञान-दर्शन अपने विशिष्ट ज्ञानालोक से आलोकित नहीं कर पाते।

३. जो साधक पूर्वरात्र अर्थात् रात्रि के प्रथम प्रहर में तथा अपररात्र अर्थात् प्रभात-वेला में धर्म-जागरण नहीं करता, बल्कि निद्रा, विकथा, प्रमाद और कुटुम्ब-जागरण में लीन रहता है वह भी विशिष्ट ज्ञान-दर्शन से विहीन ही रह जाता है।

४. जो साधक प्रासुक और एषणीय आहार पानी की गवेषणा नहीं करता प्रत्युत सदोष, अकल्पनीय आहार-पानी ग्रहण करता है वह भी अतिशयशील ज्ञान-दर्शन से विहीन ही रह जाता है।

अस्सिं समयंसि—सूत्र के इस पद से यह ध्वनित होता है कि चौथे आरक के समय में या चौथे आरक में उत्पन्न मनुष्य पांचवें आरक के समय में भी अतिशयशाली केवल ज्ञान-दर्शन प्राप्त कर सकते हैं।

अइसेसे नाणदंसणे—इस पद का भाव यह है कि—उत्कृष्ट जातिस्मरण-ज्ञान, अपने युग में सर्वोपरि आगमज्ञान, परमावधिज्ञान, विपुलमति मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान एवं अवधिदर्शन और केवल दर्शन ये सब अतिशयशाली ज्ञान-दर्शन कहलाते हैं।

समुप्पज्जिउकामे वि न समुप्पज्जेज्जा—इस पद का अभिप्राय यह है कि जब जिस साधक को अतिशययुक्त ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होने वाला हो तब उक्त चार कारणों में से किसी एक के सद्भाव में भी वह उन्हें प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए मोक्षाभिलाषी साधक को इन चारों कारणों से अपने को बचाना चाहिए तभी वह साधक अपने लक्ष्य को

प्राप्त करने में सफल हो सकता है।

१. विशिष्ट ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होने में विकथा निवृत्ति भी एक कारण है, क्योंकि विकथा से संयमी साधक का अमूल्य समय व्यर्थ चला जाता है। विकथा भी एक प्रमाद एवं कर्त्तव्य-विस्मृति है और प्रमाद ही साधक को आत्मगुणों से वंचित रखने वाला है और आध्यात्मिक उन्नति में बाधक है, क्योंकि उससे चित्तवृत्तियों की एकाग्रता नष्ट हो जाती है।

२. आंतरिक विकारों से अलग होना विवेक है और बाह्य सांसारिक झंझटों से अपने को निर्लेप रखना व्युत्सर्ग है। जो संयमी विवेक और व्युत्सर्ग से अपने को भावित करता है, धर्मध्यान में संलग्न रहता है, चिंतन मनन करने में दत्तचित्त है वही ज्ञानालोक से आलोकित होता है।

३. रात्रि के तीन भाग करने पर पहले भाग को पूर्वरात्र और पिछले भाग को अपर रात्र कहा जाता है इन दोनों में संयमी को धर्म जागरणा करनी चाहिए, क्योंकि इन दोनों समयों में वातावरण शान्त होता है और शान्त वातावरण में की हुई धर्म-जागरणा ही जीवन में सच्ची शान्ति का आनन्द प्रदान कर सकती है। इस समय स्वाध्याय, ध्यान, धारणा, समाधि में मन संलग्न हो जाता है, अत: प्रत्येक साधक को चाहिए कि कुटुम्ब-जागरणा और प्रमाद का त्याग करके धर्मजागरणा में अपना अमूल्य समय लगाए।

४. अप्रासुक, सदोष एवं अकल्पनीय आहार-पानी ग्रहण करने से मन विकृत हो जाता है, क्योंकि "जैसा खाए अन्न वैसा होय मन" यह उक्ति प्रसिद्ध है। मानसिक विकृति होने पर आसक्ति बढ़ने लग जाती है, वासनाएं उभरने लगती हैं, प्रमाद का आवेश चढ़ने लगता है, उसकी साधना विकृत होने लगती है, इस प्रकार साधक पथ-भ्रष्ट हो जाता है।

निर्दोष गोचरी करना भिक्षाचरी तप है। तप निर्जरा का कारण है। निर्जरा से देशघाती और सर्वघाती कर्मों का क्षय होता है, बाधक आवरणों के क्षय होने से निरावरणज्ञान सादि-अनंत काल के लिए उदित हो जाता है और इस प्रकार साधक लक्ष्य को प्राप्त कर प्रमुदित हो उठता है।

'फासुय'—यह पद प्रासुक-निर्जीव खाद्य-पदार्थ का बोधक है। जो अचित्त पदार्थ है वही संयमी के ग्रहण करने के योग्य है। **एसणिज्जे**—शब्द ४२ दोषों से रहित पदार्थों का वाचक है। **उंछ**—शब्द अत्यल्प आहार का द्योतक है वह भी भिक्षा के द्वारा अनेक घरों से गृहीत हो, जीवन-निर्वाह के लिए वैसा आहार ग्रहण करना ही संयमी के लिए समुचित है।

"विवेगेणं विउस्सग्गेणं सम्ममप्पाणं भावित्ता भवइ"—सूत्र के इस अंश से तीन बातें प्रकट होती हैं—ज्ञान-पूर्वक समाधि, दृढ़ासन और स्व-स्वरूप की भावना वास्तव में इन तीन साधनों का समुदाय ही आत्म-दर्शन की कुंजी है।

स्वाध्याय-निषेध-वेला

मूल—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहपाडिवए, कत्तियपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पढमाए, पच्छिमाए, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते।

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे ॥ ५३ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां चतसृषु महाप्रतिपत्सु स्वाध्यायं कर्तुम्, तद्यथा—आषाढप्रतिपदि, इन्द्रमह (आश्विन-पूर्णिमा) प्रतिपदि, कार्त्तिक-प्रतिपदि, सुग्रीष्म (चैत्र-पूर्णिमा) प्रतिपदि।

नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा चतसृषु सन्ध्यासु स्वाध्यायं कर्त्तुम् तद्यथा—प्रथमायाम्, पश्चिमायाम्, मध्याह्ने, अर्धरात्रे।

कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा चातुष्कालं स्वाध्यायं कर्त्तुम्, तद्यथा—पूर्वाह्ने, अपराह्ने, प्रदोषे, प्रत्यूषे।

शब्दार्थ—**निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा**—निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को, **चउहिं महापाडिवएहिं**—चार महा-प्रतिपदाओं में, **सज्झायं करेत्तए**—स्वाध्याय करना, **नो कप्पइ**—नहीं कल्पता, **तं जहा**—जैसे, **आसाढपाडिवए**—आषाढ़ी पूर्णिमा की प्रतिपदा में, **इंदमहपाडिवए**—आश्विन की पूर्णिमा की प्रतिपदा में, **कत्तियपाडिवए**—कार्तिकी पूर्णिमा की प्रतिपदा में और, **सुगिम्हपाडिवए**—सुग्रीष्म—चैत्र की प्रतिपदा में।

निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को, **चउहिं संझाहिं**— चार संध्याओं में, **सज्झायं करेत्तए**—स्वाध्याय करना, **णो कप्पइ**—विहित नहीं है, **तं जहा**—जैसे, **पढमाए**—प्रथम संध्या में, **पच्छिमाए**—पश्चिम संध्या में, **मज्झण्हे**—मध्याह्न में और, **अड्ढरत्ते**—मध्यरात्रि में।

निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थियों को, **चाउक्कालं सज्झायं**—चार समयों में स्वाध्याय, **करेत्तए**—करना, **कप्पइ**—विहित है, **तं जहा**—जैसे, **पुव्वण्हे**—पूर्वाह्न में, **अवरण्हे**—अपराह्न में, **पओसे**—प्रदोष में और, **पच्चूसे**—प्रत्यूष में।

मूलार्थ—साधु और आर्यिकाओं को इन चार प्रतिपदाओं में स्वाध्याय करना उचित नहीं है जैसे—आषाढ़ी पूर्णिमा वाली प्रतिपदा में, आश्विनी पूर्णिमा वाली प्रतिपदा में, कार्तिकी पूर्णिमा वाली प्रतिपदा में और चैत्र पूर्णिमा वाली प्रतिपदा में।

साधुओं और साध्वियों को चार सन्ध्याओं में स्वाध्याय करना उचित नहीं है, जैसे—प्रथमरात्रि में, पश्चात्रात्रि में, दिन-मध्य में, और अर्द्धरात्रि में।

साधु और साध्वियों को चार समयों में स्वाध्याय करना उचित है, जैसे—पूर्वाह्न में, अपराह्न में, प्रदोष में (रात्रि का पहला पहर) और प्रातःकाल (रात्रि का चौथा प्रहर) में।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में साधु एवं साध्वी में ज्ञान एवं दर्शन की उत्पत्ति के विषय का विवेचन किया गया है, ज्ञान एवं दर्शन की उत्पत्ति समुचित स्वाध्याय से ही होती है और स्वाध्याय वही सफल होता है जो समय पर किया जाता है, जबकि असमय में किया गया कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता तो स्वाध्याय कैसे सफल हो सकता है, अतः अब सूत्रकार स्वाध्याय के लिए अनुपयोगी एवं उपयोगी समय का निर्देश करते हैं।

सम्यक् अध्ययन ही स्वाध्याय है, सम्यक् अध्ययन उसे कहा जाता है जिसके द्वारा पापों से निवृत्ति हो, धर्मकार्यों में प्रवृत्ति हो, तत्त्वज्ञान की उपलब्धि हो और सम्यक्त्व की प्राप्ति हो। इसीलिए स्वाध्याय को धर्म-ध्यान का आलम्बन और आत्म-शुद्धि के लिए किया जाने वाला आभ्यन्तर तप कहा जाता है। स्वाध्याय से मस्तिष्क परिष्कृत एवं विकसित होता है, मन पवित्र होता है और वाणी प्रभावशालिनी बन जाती है।

स्वाध्याय के आलम्बन अधीत तथा स्वानुभूतिजन्य सत्यज्ञान के अक्षयकोष आगम हैं। उन आगमों का अध्ययन कब नहीं करना चाहिए इसका विवेचन करते हुए शास्त्रकार ने चार दिनों का निर्देश किया है—

१. आषाढ़ की पूर्णिमा और उसके बाद आने वाली प्रतिपदा।

२. आश्विन की पूर्णिमा और उसके अनन्तर आने वाली प्रतिपदा।

३. कार्तिकी पूर्णिमा और उसके अनन्तर आने वाली प्रतिपदा।

४. चैत्र की पूर्णिमा और वैशाख कृष्ण प्रतिपदा।

वैसे तो वैदिक-परम्परा में स्वाध्याय के लिए सभी प्रतिपदाएं निषिद्ध कही गई हैं, क्योंकि वैज्ञानिक मान्यता के अनुसार पूर्णिमा के अनन्तर चन्द्र की नई पृथ्वी परिक्रमा आरम्भ होती है और गत्यारम्भ के समय प्रत्येक पदार्थ में विशेष प्रकार का कम्पन उत्पन्न होता है। स्वाध्याय के लिए मन की एकाग्रता आवश्यक है, मन का और चन्द्रमा का ऐसा ही सम्बन्ध है जैसा चन्द्र और समुद्र का। जब गत्यारम्भ के समय चन्द्रमा में कम्पन होता है तब मनःशक्ति में भी कुछ विकृति आनी स्वाभाविक है, अतः प्रतिपदा को अध्ययन निषिद्ध किया गया है। लंका से लौटने पर हनुमान से श्री राम ने सीता के स्वास्थ्य के विषय में पूछा तो हनुमान जी ने कहा—

"प्रतिपद्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता"

प्रतिपदा को पढ़ने वाले विद्यार्थी की विद्या जैसे क्षीण हो जाती है उसी प्रकार सीता भी दुर्बल हो गई है। आज के अध्ययन की विनयशून्यता के पीछे अनध्याय-काल में किया गया स्वाध्याय भी हो सकता है।

साधना जगत् में श्रावण कृष्ण प्रतिपदा, कार्तिक कृष्ण प्रतिपदा, मार्गशीर्ष कृष्ण प्रतिपदा और वैशाख कृष्ण प्रतिपदा का विशेष महत्त्व है, अतः इन्हें विशेष रूप से स्वाध्याय के लिए निषिद्ध माना गया है।

इन्हीं प्रतिपदाओं के योग से पूर्णिमाओं के अन्तिम भाग भी शास्त्रकार स्वाध्याय के लिए अनुपयोगी स्वीकार करते हैं।

आधिदैविक दृष्टि से उपर्युक्त दिवस देवोत्सवों के दिन हैं, उत्सववेला में स्वाध्याय कहां ? उन दिनों तो विशेष रूप से साधना करनी चाहिए।

वृत्तिकार ने अनध्ययन-काल में अध्ययन न करने के विषय में विशेष कारण बताते हुए कहा है—

सुयणाणंमि अभत्ती, लोगविरुद्ध पमत्तछलणा य।
विज्जासाहणवेगुण्णधम्मया इय मा कुणसु॥

अर्थात् अनध्याय में स्वाध्याय करना भक्ति-विरुद्ध है, लोकाचार के विपरीत है, अशुद्ध उच्चारण से विपरीतार्थ की भावना के कारण अभीष्ट-सिद्धि में बाधा पहुंचने की सम्भावना रहती है, अतः अनध्ययन-काल में आगमों का स्वाध्याय निषिद्ध है। अतः शुद्धकाल में ही अध्ययन करना चाहिए।

लोक-स्थिति

मूल—चउव्विहा लोगट्ठिई पण्णत्ता, तं जहा—आगासपइट्ठिए वाए, वायपइट्ठिए उदधी, उदधिपइट्ठिया पुढवी, पुढविपइट्ठिया तसा थावरा पाणा ॥५४॥

छाया—चतुर्विधा लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—आकाशप्रतिष्ठितो वातः, वात-प्रतिष्ठित उदधिः, उदधिप्रतिष्ठिता पृथ्वी, पृथ्वी प्रतिष्ठितास्त्रसाः स्थावराः प्राणाः।

शब्दार्थ—लोगट्ठिई—लोकस्थिति, **चउव्विहा**—चार प्रकार की, **पण्णत्ता, तं जहा**—प्रतिपादन की गई है, जैसे, **आगासपइट्ठिए वाए**—वायु आकाश में प्रतिष्ठित है, **वायपइट्ठिए उदधी**—उदधि वायु प्रतिष्ठित है, **उदधिपइट्ठिया पुढवी**—पृथ्वी उदधि-प्रतिष्ठित है और, **तसा थावरा पाणा**—त्रस स्थावर प्राणी, **पुढविपइट्ठिया**—पृथ्वी प्रतिष्ठित हैं।

मूलार्थ—लोक की स्थिति चार प्रकार से वर्णित की गई है, जैसे—वायु आकाश-प्रतिष्ठित है, घनोदधि वायु-प्रतिष्ठित है, पृथ्वी उदधि-प्रतिष्ठित है और त्रस स्थावर प्राणी पृथ्वी-प्रतिष्ठित हैं।

विवेचनिका—स्वाध्याय से ज्ञान का विस्तार होता है। मानवीय ज्ञान कितना विस्तृत हो सकता है इसकी कोई सीमा नहीं है, हां इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दृश्य-अदृश्य जगत में जो कुछ है वह सब मानवीय ज्ञान की सीमा में ही है, उससे बाहर कुछ नहीं। स्वाध्याय द्वारा ज्ञान के विस्तार की सीमा का एक सामान्य-सा निदर्शन प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार लोक-स्थिति का वर्णन करते हैं।

आधुनिक विज्ञान से पूर्व लोक-स्थिति के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की अटकलें लगाई गई थीं, किसी की मान्यता थी कि पृथ्वी शेषनाग के मस्तक पर स्थित है, अन्य धारणा के अनुसार पृथ्वी एक बैल के सींग पर टिकी हुई है, यह भी कथन सुनने को प्राप्त होता था कि पृथ्वी कछुए की पीठ पर स्थित है और किसी वराह देवता के दांत पर पृथ्वी का टिका होना भी प्रसिद्ध था। भगवान महावीर के द्वारा लोक-स्थिति की वास्तविकता को व्यक्त करते हुए कहा गया कि—

इस लोक-आकाश पर घनवात और तनुवात रूप पवनें प्रतिष्ठित हैं। घनवात पर घनोदधि प्रतिष्ठित है और घनोदधि पर यह पृथ्वी ठहरी हुई है और पृथ्वी को आधार बना कर ठहरे हुए हैं त्रस और बादर पांचों प्रकार के स्थावर जीव। इस प्रकार जीवों का आधार पृथ्वी, पृथ्वी का आधार घनोदधि, घनोदधि का आधार घनवात, घनवात का आधार तनुवात और तनुवात का आधार आकाश है।

यह सिद्धान्त विज्ञान-सम्मत है। आधुनिक विज्ञान भी पृथ्वी का आधार अनेक प्रकार के वायु-मण्डल ही मानता है। घनोदधि, घनवात और तनुवात यह वायु-मण्डलीय विश्लेषण ही तो हैं।

भगवान महावीर के द्वारा जब लोक की सदाकाल भावी विज्ञान-सम्मत स्थिति स्पष्ट की गई तो उसके अनन्तर ही शेषनाग के फन का अर्थ सूर्य किरणें करके कहा गया कि पृथ्वी सूर्य किरणों पर अवस्थित है। कूर्म (कछुवा) का अर्थ भी सूर्य ही किया गया और बैल को धर्म का प्रतीक मान कर पृथ्वी को 'धर्मणा धृता' बताया गया। ये सब समाधान सर्वज्ञ-पुरुष प्रभु महावीर के सत्य कथन के अनन्तर ही प्रस्तुत हुए। जैनागमों के ये वर्णन जैनागमों की महत्ता को प्रकाशित करनेवाले ज्वलन्त निदर्शन हैं।

पुरुष के विविध रूप

मूल—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—तहे नाममेगे, नोतहे नाममेगे, सोवत्थी नाममेगे, पहाणे नाममेगे।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—आयंतकरे नाममेगे णो परंतकरे, परंतकरे णाममेगे णो आयंतकरे, एगे आयंतकरेवि परंतकरेवि, एगे णो आयंतकरे णो परंतकरे।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—आयंतमे नाममेगे नो परंतमे नो०।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—आयंदमे नाममेगे णो परंदमे० ॥५५॥

छाया—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—तथो नामैकः, नोतथो नामैकः, सौवस्तिको नामैकः, प्रधानो नामैकः।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आत्मान्तकरो नामैको नो परान्तकरः, परान्तकरो नामैको नो आत्मान्तकरः एक आत्मान्तकरोऽपि परान्तकरोऽपि, एको नो आत्मान्तकरो नो परान्तकरः।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आत्मतमो नामैको नो परन्तमः, परन्तमो नाम४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आत्मदमो नामैको नो परन्दमः ४।

शब्दार्थ—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष हैं, जैसे, **तहे नाममेगे**—एक पुरुष 'तथा' अर्थात् जैसे कहा वैसे करने वाला अथवा सेवक होता है, **नो तहे नाममेगे**— एक 'न तथा' अर्थात् जैसे कहा वैसा न करने वाला अथवा आज्ञा-पालक नहीं होता, **सोवत्थी नाममेगे**—एक सौवस्तिक अर्थात् 'स्वस्ति' मंगल चाहने वाला और करनेवाला होता है, **पहाणे नाममेगे**—एक प्रधान अर्थात् प्रमुख पुरुष होता है, **चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे, **आयंतकरे नाममेगे णो परंतकरे**—एक अपने ही भव का अन्त करता है अन्य के भव का नहीं, **परंतकरे णाममेगे णो आयंतकरे**—एक पर-भवान्तकर अर्थात् दूसरों की जन्म-मरण परम्परा को समाप्त करने वाला होता है अपना नहीं, **एगे आयंतकरेवि परंतकरेवि**—एक अपना भी भवान्त करता है और दूसरों का भी, **एगे णो आयंतकरे णो परंतकरे**—एक न अपना भवान्त करता है और न पर का।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे, **आयंतमे नाममेगे नो परंतमे**—एक अपना सोच करने वाला होता है पर का नहीं। चतुर्भंगी की कल्पना करनी चाहिए।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे, **आयंदमे नाममेगे नो परंदमे**—एक अपना दमन करता है, पर का नहीं। यहां भी चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

मूलार्थ—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—आज्ञापालक, आज्ञाविरोधी, मांगलिक और प्रमुख।

चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे—एक अपने भव का अन्त करने वाला होता है, पर का नहीं। कोई पर के भव का अन्त करने वाला होता है, अपना नहीं, कोई अपने भव का भी और पर के भव का भी अन्त करने वाला होता है और कोई न अपने भव का अन्त करने वाला होता है और न पर के भव का अन्तकारक।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं—एक अपने शरीर को क्लेश पहुंचाते हैं पर के शरीर को नहीं, इस तरह चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे—एक अपना दमन करता है, पर का नहीं। यहां पर भी चतुर्भंगी की कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिए।

विवेचनिका—लोक स्थिति में पृथ्वी हमारे अत्यन्त निकट है, उस पर रहने वाले प्राणियों में मनुष्य ही प्रधान है, अत: लोक स्थिति के अनन्तर पुन: पुरुष-वर्णन करते हुए—चार प्रकार के पुरुष बतलाए गए हैं—

१. **तथापुरुष**—जो मनुष्य जैसी वस्तु है या जैसी परिस्थिति है वैसी बात कहता है, सत्यवादी अथवा स्वामी जैसी भी आज्ञा सेवक को देता है या गुरु शिष्य को जैसी भी आज्ञा देता है वैसा काम करता है उसे 'तथापुरुष' कहते हैं।

२. **नो तथापुरुष**—जो मनुष्य असत्यवादी है अथवा स्वामी या गुरु सेवक या शिष्य को जैसी-जैसी आज्ञा देता है वैसा-वैसा कार्य नहीं करता अपितु विपरीत कार्य करता है, आज्ञा से बाहर चलता है उसे 'नो तथा-पुरुष' कहते हैं।

३. **स्वस्तिक पुरुष**—एक पुरुष स्वामी की तथा गुरु की स्तुति करता है या चापलूसी एवं खुशामद करता है ऐसे सेवक या शिष्य को 'स्वस्तिक पुरुष' कहा जाता है।

४. **प्रधान पुरुष**—पुण्यवान और गुणीजन स्वामी या गुरु को प्रधान पुरुष कहते हैं। जो श्रद्धास्पद, विश्वसनीय, आराध्य एवं उपासनीय है वही 'प्रधान पुरुष' है।

आयंतकरे—इस पद में तीन अर्थ होते हैं—**'स्वभव-अंतकर'**, **'आत्मान्तकर'** और **'आत्मतन्त्रकर'** इन की तीन चतुर्भंगियां बनती हैं, जैसे कि—पुरुष चार तरह के होते हैं—

१. एक पुरुष अपने भव का अन्त करता है पर का नहीं, जैसे गजसुकुमार जी।
एक पुरुष पर के भव का अन्त करता है अपना नहीं, जैसे अचरम शरीरी आचार्य।
एक पुरुष अपना भवांत भी करता है और पर का भी, जैसे तीर्थंकर भगवान।
एक पुरुष न अपना भवांत करता है और न पर का, जैसे प्रभवस्वामी आदि।
प्रकारान्तर से पुरुष चार तरह के होते हैं—

२. एक पुरुष अपना ही घात करता है, दूसरे का नहीं।
एक पुरुष दूसरे का घात करता है, अपना नहीं।
एक पुरुष अपनी हत्या भी करता है और दूसरे की हत्या भी करता है।

एक पुरुष न अपना वध करता है और न दूसरे का वध करता है।

जैसे कि वृत्तिकार भी लिखते हैं—

''आत्मनः-अंतं-मरणं करोति इति आत्मांतकरः आत्मवधकः''

पहले भंग में क्रोधी, लज्जालु, रक्षक, हितैषी, दयालु इत्यादि का समावेश होता है।

दूसरे भंग में शिकारी, योद्धा, हिंसक, कसाई इत्यादि का समावेश होता है।

तीसरे भंग में लड़ते हुए दो पुरुष, चौथे में अप्रमत्त संयमी समाविष्ट होते हैं।

''आत्मतन्त्रकर''—इस पद की चतुर्भंगी निम्नलिखित है—

३. एक पुरुष स्वतन्त्र होकर काम करता है, परतंत्र नहीं।

एक पुरुष परतंत्र होकर काम करता है, स्वतंत्र होकर नहीं।

एक पुरुष स्वतंत्र होकर भी काम करता है, और परतंत्र होकर भी।

एक पुरुष न स्वतंत्र होकर काम करता है, न परतंत्र होकर भी।

इन में पहले भंग में तीर्थंकर, दूसरे में भिक्षु, तीसरे में आचार्य और चौथे में धूर्त एवं आलसियों का अंतर्भाव होता है।

तम शब्द खेद, शोक, अज्ञान और क्रोध का वाचक है, इसके भी स्व और पर के साथ संयोग करने से चतुर्भंगी बन जाती है, जैसे कि—

४. एक पुरुष अपने आपको खेद-खिन्न करता है, दूसरे को नहीं।

एक पुरुष दूसरे को खेद-खिन्न करता है, अपने को नहीं।

एक पुरुष स्वयं भी खेद-खिन्न होता है और दूसरे को भी खेद-खिन्न करता है।

एक पुरुष न स्वयं खेदखिन्न होता है और न दूसरों को ही खेद-खिन्न करता है।

इस चतुर्भंगी में सहिष्णु या दुर्बल, स्वार्थी या सबल, कलहप्रिय, शान्तात्मा का क्रमशः अन्तर्भाव हो जाता है।

दम शब्द यहां इन्द्रियों को वश में रखना, चित्त को बुरे कामों में प्रवृत्त न होने देना, वह दंड जिसे दमन करने के निमित्त दिया जाता है, दबाना, वश करना, इन अर्थों में रूढ़ है। इसकी भी आत्म-पर के साथ सम्बन्ध जोड़ने से चतुर्भंगी बन जाती है, जैसे कि—

५. एक पुरुष आत्म-दमन करता है, पर का नहीं।

एक पुरुष दूसरे का दमन करता है, अपना नहीं।

एक पुरुष अपना भी दमन करता है और पर का भी।

एक पुरुष न अपना दमन करता है और न पर का ही।

इन चतुर्भंगी के पहले भंग में संयमी, जिनकल्पी, शमप्रिय, ज्ञानी इत्यादि का समावेश होता है। दूसरे भंग में अध्यापक-छात्र को, गुरु-शिष्य को, राजपुरुष अपराधी को, घुड़सवार घोड़े को दमन करता है अपने को नहीं इनका अन्तर्भाव हो जाता है। तीसरे में आचार्य,

उपाध्याय गर्भित हो जाते हैं और चौथे भंग में स्वच्छंदाचारी समाविष्ट हैं। इस प्रकार इस सूत्र में मानव के उत्थानगामी एवं पतनगामी विविध रूप उपस्थित किए गए हैं। आज का मनोवैज्ञानिक भले ही डींगें हांक ले, परन्तु यह सत्य है कि मानव-मन एवं मनोवृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण पहले पहल जैनागमों ने ही प्रस्तुत किया है।

यह सत्य है कि जैनागम वैराग्य प्रधान हैं, परन्तु मनुष्य की वास्तविकता का ज्ञान भी तो वैराग्य-उत्पत्ति का ही एक अंग है। अतः वैराग्य प्रधान यह साहित्य मनोविज्ञान का प्रथम रूप है।

गर्हा-प्रकार

मूल—चउव्विहा गरहा पण्णत्ता, तं जहा—उवसंपज्जामित्तेगा गरहा, वितिगिच्छामित्तेगा गरहा, जंकिंचिमिच्छामीत्तेगा, एवंपि पन्नत्तेगा गरहा ॥५६॥

छाया—चतुर्विधा गर्हा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—उपसम्पद्ये इत्येका गर्हा, विचिकित्सामि इत्येका गर्हा, यत्किंचिन्मिथ्या मे इत्येका गर्हा, एवमपि प्रज्ञप्तैका गर्हा।

शब्दार्थ—चउव्विहा—चार प्रकार की, **गरहा**—गुरु के समक्ष अपने दोषों की निन्दा, **पण्णत्ता, तं जहा**—कही गई है, जैसे, **उवसंपज्जामित्तेगा गरहा**—'उपसम्पद्ये' मैं गुरु के आगे अपने को समर्पित करता हूं दोषों की स्वीकृति के लिए, इस प्रकार की एक गर्हा होती है, **वितिगिच्छामित्तेगा गरहा**—विशेष प्रकार से अपने दोषों की चिकित्सा प्रतिकार करता हूं, यह दूसरी गर्हा है, **जंकिंचिमिच्छामीत्तेगा गरहा**—जो कुछ मैंने अनुचित किया, वह सब मिथ्या हो जावे, यह तीसरे प्रकार की गर्हा है, **एवंपि पन्नत्तेगा गरहा**—अपने द्वारा कृत दुष्कार्य की दूसरे के दबाव से निन्दा करना यह चौथे प्रकार की गर्हा है।

मूलार्थ—गर्हा चार प्रकार की है, जैसे—दोषों को स्वीकार करने के लिए अपने को गुरु के समक्ष सौंपता हूं, यह पहली गर्हा है। अपने दोषों की विचिकित्सा (प्रतिकार विशेष) करता हूं यह दूसरी गर्हा है। जो कुछ मैंने संयम-विरुद्ध, अनुचित किया है वह मिथ्या हो जावे, यह तीसरे प्रकार की गर्हा है। गर्हा करने के संकल्प न होते हुए भी दूसरे के कहने पर गर्हा करना यह चौथे प्रकार की गर्हा कही गई है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में आत्म-नियन्त्रण और पर-नियन्त्रण का वर्णन किया गया है, परन्तु इस प्रकार का नियन्त्रण वही कर सकता है जो गर्हा करने की शक्ति रखता है, इसलिए अब सूत्रकार गर्हा का वर्णन करते हैं।

यद्यपि मनुष्य बुरे कार्य नहीं करना चाहता फिर भी इस संसार में रहते हुए मनुष्य से ऐसे कार्य हो ही जाते हैं जो समाज, राष्ट्र, धर्म की दृष्टि से निन्दनीय होते हैं। ऐसे निंदनीय

कार्य हो जाना स्वभाविक है, परन्तु किसी भी कार्य की बुराई का ज्ञान होने पर उस पर पश्चात्ताप न करना बुरी बात है। जब साधक माता-पिता की एवं किसी देवता की, एवं गुरु की साक्षी से जीवन में की गई भूलों और दोषों की निन्दा करता है—पश्चात्ताप करता है उसी निन्दा और पश्चात्ताप को शास्त्रीय भाषा में गर्हा कहा जाता है। गर्हा से आत्मा पवित्र होती है, उसमें सरलता एवं विनय का उदय होता है, पुनः भूल या दोष न करने की भावना जागृत होती है। गर्हा आत्म-शुद्धि का सर्वोत्तम उपाय है।

१. गर्हा के चार रूप हैं, जब भूल या दोष का ज्ञान होने पर साधक में यह भावना जागृत हो जाए कि मैं अपने पथ प्रदर्शक गुरु के सान्निध्य में जाता हूं, उनके समक्ष अपनी भूलें स्वीकार करते हुए उनसे प्रायश्चित्त देने की प्रार्थना करता हूं, तब इसी भाव को प्रथम गर्हा कहा जाता है।

२. जब साधक में यह भाव उत्पन्न हों कि मैं भूलों और पाप-कर्मों को विशेष रूप से और विविध साधनों द्वारा दूर करता हूं यह भावना जागृत होती है तब यह गर्हा का दूसरा रूप है।

३. जब साधक यह सोचता है कि मैंने संयम के विरुद्ध तीर्थंकर भगवान की आज्ञा के विरुद्ध जो कुछ किया है वह सब निष्फल हो, मैं इस प्रकार का निषिद्ध आचरण जीवन में फिर कभी नहीं करूंगा, फिर करना तो दूर रहा मैं उसका मन से समर्थन भी नहीं करूंगा, तब इस प्रकार की पवित्र विचारधारा को तीसरे प्रकार की गर्हा कहा जाता है।

४. मैंने देश, समाज, राष्ट्र एवं संयम विरुद्ध जो कुछ किया है उसे शास्त्रों में निषिद्ध प्रतिपादित किया हुआ है और महापुरुषों ने बुरा माना है, परन्तु इस सत्य को जब मनुष्य किसी दूसरे के दबाव में बुरा कहता है तब वह चौथे प्रकार की गर्हा है।

यद्यपि गर्हा कटु औषिध-पान के समान कठिन कार्य है तथापि यह निश्चित है कि गर्हा के अनन्तर आत्मा में अपूर्व शान्ति की अनुभूति होती है। जीवन निर्दोष बन जाता है निर्दोष जीवन का सा आनन्द अन्यत्र कहां प्राप्त हो सकता है ? अतः शास्त्रकार साधक में गर्हा की प्रवृति को जागृत करना चाहते हैं जिससे संयम जीवन में उत्तरोत्तर वृद्धि और शुद्धि हो।

पुरुष और स्त्रियों के नाना रूप

मूल—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—अप्पणो नाममेगे अलमंथू भवइ णो परस्स, परस्स नाममेगे अलमंथू भवइ णो अप्पणो, एगे अप्पणोवि अलमंथू भवइ परस्सवि, एगे नो अप्पणो अलमंथू भवइ णो परस्स।

चत्तारि मग्गा पण्णत्ता, तं जहा—उज्जू नाममेगे उज्जू, उज्जू नाममेगे वंके, वंके नाममेगे उज्जू, वंके नाममेगे वंके।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—उज्जू नाममेगे उज्जू४।
चत्तारि मग्गा पण्णत्ता, तं जहा—खेमे नाममेगे खेमे, खेमे णाममेगे अखेमे४।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—खेमे णाममेगे खेमे४।

चत्तारि मग्गा पण्णत्ता, तं जहा—खेमे णाममेगे खेमरूवे, खेमे णाममेगे अखेमरूवे४।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—खेमे नाममेगे खेमरूवे४।

चत्तारि संवुक्का पण्णत्ता, तं जहा—वामे नाममेगे वामावत्ते, वामे नाममेगे दाहिणावत्ते, दाहिणे नाममेगे वामावत्ते, दाहिणे नाममेगे दाहिणावत्ते।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—वामे नाममेगे वामावत्ते४।

चत्तारि धूमसिहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—वामा नाममेगा वामावत्ता४।

एवामेव चत्तारित्थीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—वामा णाममेगा वामावत्ता४।

चत्तारि अग्गिसिहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—वामा णाममेगा वामावत्ता४।

एवामेव चत्तारित्थीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—वामा णाममेगा वामावत्ता४।

चत्तारि वायमंडलिया पण्णत्ता, तं जहा—वामा णाममेगा वामावत्ता४।

एवामेव चत्तारित्थीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—वामा णाममेगा वामावत्ता४।

चत्तारि वणसंडा पण्णत्ता, तं जहा—वामे नाममेगे वामावत्ते४।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—वामे णाममेगे वामावत्ते४ ॥५७॥

छाया—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आत्मनो नामैकोऽलमस्तु भवति-नो परस्य, परस्य नामैकोऽलमस्तु भवति नो आत्मनः, एकः आत्मनोऽपि अलमस्तु भवति परस्यापि, एको नो आत्मनोऽलमस्तु भवति नो परस्य।

चत्वारो मार्गाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ऋजुर्नामैक ऋजुः ऋजुर्नामैको वक्रः, वक्रो नामैको

ऋजुः, वक्रो नामैको वक्रः।

एवामेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—ऋतुर्नामैकः ऋजुः४।

चत्वारो मार्गाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्षेमो नामैकः क्षेमः, क्षेमो नामैकोऽक्षेमः४।

एवामेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—क्षेमो नामैकः क्षेमः४।

चत्वारो मार्गाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्षेमो नामैकः क्षेमरूपः, क्षेमो नामैकोऽक्षेमरूपः४।

एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—क्षेमो नामैकः क्षेमरूपः४।

चत्वारः शम्बुकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वामो नामैको वामाऽऽवर्त्तः, वामो नामैको दक्षिणाऽऽवर्त्तः, दक्षिणो नामैको वामावर्त्तः दक्षिणो नामैको दक्षिणाऽऽवर्त्तः।

एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—वामो नामैको वामाऽऽवर्त्तः४।

चतस्त्रो धूमशिखाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वामा नामैका वामाऽऽवर्त्ता ४।

एवमेव चतस्त्रःस्त्रियः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वामा नामैका वामाऽऽवर्त्ता४।

चतस्त्रोऽग्निशिखाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वामा नामैका वामाऽऽवर्त्ता ४।

एवमेव चतस्त्रःस्त्रियः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वामा नामैका वामाऽऽवर्त्ता४।

चतस्त्रो वातमण्डलिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वामा नामैका वामाऽऽवर्त्ता ४।

एवमेव चतस्त्रः स्त्रियः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वामा नामैका वामाऽऽवर्त्ता ४।

चत्वारो वनखण्डाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वामो नामैको वामाऽऽवर्त्त ४।

एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—वामो नामैको वामाऽऽवर्त्तः४।

शब्दार्थ—**चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—पुरुष के चार रूप हैं, जैसे, **अप्पणो नाममेगे**—एक अपना ही, **अलमंथू भवइ णो परस्स**—निषेधक अथवा निग्रहसमर्थ होता है, पर का नहीं, **परस्स नाममेगे अलमंथू भवइ**—एक पर के लिए निषेधक अथवा निग्रहसमर्थ होता है, **णो अप्पणो**—अपने लिए नहीं, **एगे अप्पणोवि अलमंथू भवइ परस्सवि**—एक अपने लिए निषेधक अथवा निग्रहसमर्थ होता है और पर के लिए भी, **एगे नो अप्पणो अलमंथू भवइ णो परस्स**—एक न अपने लिए निषेधक अथवा निग्रह समर्थक होता है न पर के लिए।

चत्तारि मग्गा पण्णत्ता, तं जहा—चार मार्ग हैं, जैसे, **उज्जू नाममेगे उज्जू**—एक मार्ग आदि में भी ऋजु और अन्त में भी, **उज्जू नाममेगे वंके**—एक आदि में ऋजु और अंत में वक्र, **वंके नाममेगे उज्जू**—एक आदि में वक्र और अन्त में ऋजु, **वंके नाममेगे वंके**—एक आदि में भी वक्र और अन्त में भी वक्र।

एवामेव—इसी तरह, **चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार के पुरुष हैं, जैसे, **उज्जू नाममेगे उज्जू**—एक बाहर भी ऋजु और भीतर भी ऋजु, चतुर्भंगी। **चत्तारि मग्गा पण्णत्ता, तं जहा**—चार मार्ग कहे गए हैं, जैसे, **खेमे नाममेगे खेमे**—एक मार्ग आदि

में भी क्षेम कुशल और अंत में भी क्षेम, **खेमे णाममेगे अखेमे**—एक आदि में क्षेम और अन्त में अक्षेम, चतुर्भंग की कल्पना कर लेनी चाहिए।

एवामेव—ऐसे ही, **चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार के पुरुष हैं जैसे, **खेमे णाममेगे खेमे**—एक बाहर भी क्षेम और अन्तर में भी क्षेम, चतुर्भंग की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चत्तारि मग्गा पण्णत्ता, तं जहा—चार मार्ग हैं, जैसे, **खेमे णाममेगे खेमरूवे**—एक मार्ग आदि में भी क्षेम रूप है और अन्त में भी क्षेम रूप है, **खेमे णाममेगे अखेमरूवे**—एक मार्ग ऐसा भी होता है जो आदि में क्षेम रूप और अन्त में अक्षेम रूप हुआ करता है।

एवामेव—इसी प्रकार, **चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—पुरुष के भी चार रूप कहे गए हैं, जैसे, **खेमे नाममेगे खेमरूवे**—एक पुरुष क्षेम है और क्षेमरूप है, चतुर्भंग।

चत्तारि संवुक्का पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के शम्बूक (शंख या शंखजातीय सामुद्रिक जीव) प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे, **वामे नाममेगे वामावत्ते**—एक शंख गुणों में भी वाम—प्रतिकूल है और आकार में भी वामावर्त है, **वामे नाममेगे दाहिणावत्ते**—गुणों में वाम और आकृति में दक्षिणावर्त है, **दाहिणे नाममेगे वामावत्ते**—एक गुण में दक्षिण और आकृति में वामावर्त, **दाहिणे नाममेगे दाहिणावत्ते**—एक गुण में दक्षिण—अनुकूल और आकृति में भी दक्षिणावर्त।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—इसी प्रकार चार पुरुष हैं, जैसे, **वामे नाममेगे वामावत्ते**—एक पुरुष वाम—प्रतिकूल स्वभाव है और वामावर्त (बाईं ओर जिसका झुकाव है) भी है, चतुर्भंग की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चत्तारि धूमसिहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—चार प्रकार की धूमशिखाएं हैं, जैसे—**वामा नाममेगा वामावत्ता**—एक वाम है और वामावर्त्त भी है, चतुर्भंग की कल्पना कर लेनी चाहिए।

एवामेव चत्तारित्थीओ पण्णत्ता, तं जहा—इसी प्रकार चार प्रकार की स्त्रियां होती हैं, जैसे, **वामा णाममेगा वामावत्ता**—एक वामा है और वामावर्ता (वामाचरण की ओर रुचि वाली) है, चतुर्भंग की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चत्तारि अग्गिसिहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—चार अग्निशिखाएं कही गई हैं, जैसे, **वामा णाममेगा वामावत्ता**—एक वाम है और वामावर्त है, चतुर्भंग की कल्पना कर लेनी चाहिए।

एवामेव चत्तारित्थीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—इसी प्रकार चार स्त्रियां हैं, जैसे, **वामा णाममेगा वामावत्ता**—एक वाम है और वामावर्त है, चतुर्भंग की कल्पना कीजिए।

चत्तारि वायमंडलिया पण्णत्ता, तं जहा—चार वात (वायु) मंडलिकाएं कही गई हैं जैसे, **वामा णाममेगा वामावत्ता**—वाम है और वामावर्त है, चतुर्भंग की कल्पना कीजिए।

एवामेव चत्तारित्थीओ पण्णत्ता, तं जहा—इसी तरह चार प्रकार की स्त्रियां होती हैं, जैसे—एक वामा है और वामावर्त वाली भी है, चतुर्भंग की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चत्तारि वणसंडा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के वन खण्ड प्रतिपादन किए हैं, जैसे, **वामे नाममेगे वामावत्ते**—एक वाम है और वामावर्त भी है, चतुर्भंग की कल्पना कर लेनी चाहिए।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—इसी प्रकार चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे, **वामे णाममेगे वामावत्ते**—एक वाम है और वामावर्त भी है, चतुर्भंग की कल्पना कर लेनी चाहिए।

मूलार्थ—चार प्रकार के पुरुष प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—एक अपने लिए ही निषेधक अथवा निग्रहसमर्थ है, पर के लिए नहीं। एक पर के लिए निषेधक व निग्रहसमर्थ होता है अपने लिए नहीं। एक अपने लिए भी निषेधक व निग्रह-समर्थ है, पर के लिए भी। एक न अपने लिए निषेधक व निग्रह-समर्थ होता है और न पर के लिए।

मार्ग चार प्रकार के कहे गए हैं, जैसे—कोई आदि में सरल और अन्त में भी सरल। कोई आदि में सरल और अन्त में वक्र। कोई आदि में वक्र और अन्त में सरल। कोई आदि में भी वक्र और अन्त में भी वक्र।

ऐसे ही चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे—एक बाहर भी सरल और भीतर भी सरल अथवा पहले भी सरल और पश्चात् भी सरल, इस तरह चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

मार्ग चार हैं, जैसे—एक आदि में क्षेम और अन्त में भी क्षेम। एक आदि में क्षेम और अन्त में अक्षेम, इस प्रकार चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

ऐसे ही पुरुष भी चार हैं, जैसे—द्रव्यरूप में भी क्षेम और भावरूप में भी क्षेम, चतुर्भंगी की कल्पना कीजिए।

मार्ग चार हैं, जैसे—क्षेम और क्षेमरूप, क्षेम और अक्षेमरूप। चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

इसी प्रकार पुरुष भी चार हैं, जैसे—क्षेम और क्षेमरूप, चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के शंख कहे गए हैं, जैसे—एक गुण में वाम (प्रतिकूल) और आकृति में वामावर्त। एक गुण में वाम और आकृति में दक्षिणावर्त, एक गुण में दक्षिण—अनुकूल और आकृति में वामावर्त। एक गुण में भी दक्षिण और आकृति में भी दक्षिणावर्त।

इसी प्रकार पुरुष चार प्रकार के कहे गए हैं, जैसे—एक प्रकृति से वाम और आचरण से भी वामावर्त (जिसका झुकाव बाईं ओर—विपरीत प्रकृति की ओर हो) है। एक प्रकृति से वाम और आचरण से दक्षिणावर्त। एक प्रकृति से दक्षिण और आचरण से वामावर्त और एक प्रकृति से दक्षिण और आचरण से भी दक्षिणावर्त।

धूमशिखा चार हैं, जैसे—वामा और वामावर्त, चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

ऐसे ही स्त्रियां चार प्रकार की होती हैं, जैसे—एक स्वभाव से भी वाम और आचरण से भी वामावर्त्ता (विपरीतता की ओर प्रवृत्ति वाली) होती है। चतुर्भङ्गी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार अग्निशिखाएं होती हैं, जैसे—एक वामा और वामावर्त्ता भी। चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

ऐसे ही चार प्रकार की स्त्रियां होती हैं, जैसे—वामा और वामावर्त्ता। चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार वातमंडलिकाएं कही गई हैं, जैसे—वामा और वामावर्त्ता। चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

ऐसे ही चार प्रकार की स्त्रियां होती हैं, जैसे—वामा और वामावर्त्ता। चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के वनखण्ड होते हैं, जैसे—वाम और वामावर्त्त। चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—वाम और वामावर्त्त। चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में गर्हा का वर्णन किया गया है। गर्हा वही साधक कर सकता है जो मनोनियन्त्रण एवं इन्द्रिय-नियन्त्रण में समर्थ होता है। मनोविजयी एवं इन्द्रियविजयी व्यक्ति ही आदर्श माने जाते हैं। अत: अब सूत्रकार मनोविजयी पुरुष एवं स्त्रियों की महत्ता का प्रतिपादन करते हैं। इस सूत्र में सत्रह चतुर्भंगियों का वर्णन किया गया है। पहली चतुर्भंगी में सूत्रकार ने 'अलमस्तु' शब्द का प्रयोग किया है। संस्कृत में 'अलम्' का अर्थ है 'पर्याप्त' और 'अस्तु' का अर्थ है 'हो'। जो इन्द्रिय-निग्रह में पर्याप्त रूप से समर्थ हो उसे ही जैन संस्कृति 'अलमस्तु' कहती है। इस सामर्थ्य की दृष्टि से व्यक्ति के चार रूप बनते हैं:—

१. कुछ व्यक्ति अपने आपका निग्रह करने में समर्थ होते हैं, पर का निग्रह करने में नहीं। कुछ व्यक्ति पर के निग्रह में समर्थ होते हैं, अपने आप पर नियन्त्रण करने में समर्थ नहीं।

कुछ व्यक्ति आत्म-निग्रह में भी समर्थ होते हैं और पर के निग्रह में भी।

कुछ व्यक्ति न आत्म-निग्रह में समर्थ होते हैं और न पर के निग्रह करने में समर्थ हुआ करते हैं।

इसी प्रकार दुर्व्यवहार में प्रवृत्त अलमस्तु साधक अपने आप का निषेधक होता है पर का नहीं, कोई पर का निषेधक होता है अपने आपका नहीं। इस प्रकार चतुर्भङ्गी का स्वरूप जान लेना चाहिए।

मार्ग और पुरुष

जिस पर उद्देश्य पूर्वक चला जाए वह मार्ग है। मार्ग दो प्रकार के होते हैं—क्षेत्र-मार्ग और भाव-मार्ग। क्षेत्रमार्ग तीन तरह के होते हैं, जल-मार्ग, स्थल-मार्ग और आकाश-मार्ग। जो मार्ग ग्राम, नगर या प्रदेश तथा खेत की ओर जाता है, वह क्षेत्र-मार्ग कहलाता है। वह चार प्रकार का होता है, जैसे कि—

२. एक मार्ग पहले भी सरल एवं सुगम्य था और अब भी सरल एवं सीधा है।
एक मार्ग पहले तो सरल-सीधा नहीं था, किन्तु अब सरल-सीधा बन गया है।
एक मार्ग पहले सरल-सीधा था, किन्तु अब वक्र अर्थात् टेढ़ा-मेढ़ा बन गया है।
एक मार्ग पहले भी वक्र था और अब भी वक्र है।
मार्ग की तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं—

३. एक पुरुष पहले भी अन्त:करण से सरल था और अब भी सरल है।
एक पुरुष पहले तो अन्त:करण से वक्र था किन्तु अब सरल है।
एक पुरुष पहले तो अन्त:करण से सरल था किन्तु अब कपटी है।
एक पुरुष पहले भी अन्त:करण से वक्र था और अब भी वक्र है।

अथवा एक पुरुष द्रव्य से भी सरल है और भाव से भी सरल है—इस प्रकार भी पुरुष-पक्ष में चतुर्भंगी बनाई जा सकती है।

क्षेत्र-मार्ग का स्वरूप सूत्रकार अब दूसरी पद्धति से निर्दिष्ट करते हैं। जैसे कि—

४. एक मार्ग क्षेम अर्थात् कुशल-युक्त है, क्योंकि उसमें चोर, डाकू, सिंह और व्याघ्र आदि प्राणनाशक और धन-अपहर्ता प्राणी नहीं हैं और साथ ही वृक्ष, छाया, फल-फूल, जलाशयों से युक्त है अत: वह मार्ग क्षेमरूप भी है।
एक मार्ग चोर आदि न होने से क्षेम तो अवश्य है, किन्तु पर्वतीय, पथरीला, नदी, कंटक, कंकर, गर्त्त आदि के कारण विषम होने से क्षेमरूप नहीं है।
एक मार्ग चोर आदि से युक्त होने के कारण क्षेम तो नहीं है, किन्तु मार्ग सम होने से क्षेमरूप अवश्य है।
एक मार्ग चोर आदि के भय से भी ग्रस्त है और सब तरह से विषम होने के कारण न क्षेम है और न क्षेमरूप है।

भाव मार्ग के दो भेद हैं—अप्रशस्त और प्रशस्त। मिथ्यात्व, अविरति और अज्ञान ये तीन अप्रशस्त भावमार्ग हैं और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन प्रशस्त भाव-मार्ग हैं। इन में पहला दुर्गतियों में तथा संसार-कांतार में भटकाने वाला है और दूसरा सुगति में पहुंचाने वाला है। ३६३ मतानुयायी अप्रशस्त भाव-मार्ग के पथिक हैं और केवली भाषित धर्म के अनुयायी प्रशस्त भाव-मार्ग के पथिक हैं।

भाव-मार्ग के भी चार भंग बनते हैं, जैसे कि—

५. कुछ साधक रत्नत्रय से भी युक्त हैं और द्रव्यलिंग से भी युक्त हैं।

कुछ साधक रत्नत्रय से तो युक्त हैं किन्तु द्रव्यलिंग से रहित हैं।

कुछ साधक रत्नत्रय से तो हीन हैं, किन्तु द्रव्यलिंग से युक्त हैं।

कुछ साधक रत्नत्रय से भी हीन हैं और द्रव्यलिंग से भी हीन हैं।

उत्तम मुनीश्वर पहले भंग में, कारण पड़ने पर मुनि द्रव्य लिंग के बिना दूसरे भंग में, निह्नव, कुलिंगी, भ्रष्टाचारी तीसरे भंग में और गृहस्थ एवं अन्ययूथिकों का अंतर्भाव चौथे भंग में होता है।

शंख का ही अपर नाम शंबूक है। यद्यपि शंख के विविध प्रकार हैं तथापि मूलत: उनके भेद दो ही हैं। एक वाम और दूसरा दक्षिण। अनुकूल स्वभाव वाला दक्षिण शंख और प्रतिकूल स्वभाव वाला वाम शंख। मंगलकार्य में दक्षिण शंख का पूरना श्रेष्ठ माना जाता है और अमंगलकार्य में वाम शंख का पूरना श्रेष्ठ है। इससे विपरीत क्रिया करने से हानि-कारक होता है। वाम शंख दो तरह के होते हैं—वामावर्त्त और दक्षिणावर्त्त, इसी तरह दक्षिण शंख भी दो तरह के होते हैं—दक्षिणावर्त्त और वामावर्त्त। शेष सभी शंखों का समावेश उक्त चार भेदों में हो जाता है। इनसे अधिक शंखों का कोई भेद नहीं है। इनमें वाम और वामावर्त्त शंख सबसे निकृष्ट होता है और दक्षिण और दक्षिणावर्त्त शंख सर्वोत्तम होता है। शेष की गणना मध्यम श्रेणी में होती है।

जो आवर्त्त बाईं ओर घुमा हुआ है अथवा बाईं ओर से आरम्भ होने वाला आवर्त्त है वह वामावर्त्त कहलाता है। जिस आवर्त्त का घुमाव दाईं ओर हो उसे दक्षिणावर्त्त कहते हैं। वाम शंख और दक्षिण शंख के क्या-क्या लक्षण होते हैं, इस विषय में वृत्तिकार भी मौन ही हैं। इसकी चतुर्भङ्गी निम्नलिखित है।

६. एक शंख वाम जाति का है और उसमें आवर्त्त—घुमाव भी वाम ही है।

एक शंख वाम जाति का है किन्तु उसमें आवर्त्त दक्षिण की ओर है।

एक शंख दक्षिण जाति का है किन्तु आवर्त्त वाम होने से वामावर्त्त है।

एक शंख दक्षिण जाति का है और आवर्त्त दक्षिण की ओर होने से दक्षिणावर्त्त भी है।

शंख की तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

७. एक पुरुष मिथ्यादृष्टि है और आचरण की दृष्टि से भी विपरीत है।

एक पुरुष मिथ्यादृष्टि होते हुए भी मार्गानुसारी है और उस की प्रवृत्ति शुभ कार्य में संलग्न है।

एक पुरुष सम्यग्दृष्टि अवश्य है, किन्तु विशेष कारण से अशुभ प्रवृत्ति कर रहा है।

एक पुरुष सम्यग्दृष्टि भी है और उसकी प्रवृत्ति भी धर्माभिमुख है।

मिथ्यादृष्टि, नास्तिक और अनार्य ये सब एक कोटि के मनुष्य हैं। सम्यग्दृष्टि, आस्तिक और आर्य ये सब दूसरी कोटि के मनुष्य हैं, इन्हीं को क्रमशः वाम और दक्षिण कहते हैं। पुरुषों के मौलिक भेद दो ही हैं। अशुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति करना वामावर्त्त है, शुभ एवं शुद्ध क्रियाओं में प्रवृत्ति करना दक्षिणावर्त्त है।

धूमशिखा और स्त्री—

८. धूमशिखा या धूमलेखा जहां से उठती है, वह दो प्रकार की होती है वामा और दक्षिणा। अशुभ धूमलेखा वामा कहलाती है और शुभ धूमलेखा दक्षिणा मानी जाती है अथवा रोग-वर्द्धक, जीवन-नाशक और दुर्गन्ध पूर्ण धूमशिखा को वामा और रोगनाशक, मांगलिक तथा सौरभ्यपूर्ण धूम शिखा को दक्षिणा कहते हैं। बाईं ओर मुड़ने वाली धूमशिखा वामावर्त्ता है और दक्षिण की ओर मुड़ने वाली धूमशिखा दक्षिणावर्त्ता कहलाती है। इसकी चतुर्भंगी उपर्युक्त प्रकार से जान लेनी चाहिए।

धूमशिखा की तरह स्त्रियां भी चार प्रकार की होती हैं—

९. एक स्त्री प्रतिकूल स्वभाव से वामा है, पुनः आचरण से विपरीत होने से भी वामावर्त्ता है।

एक स्त्री प्रतिकूल स्वभाव होने से वामा अवश्य है, किन्तु आचरण ठीक होने से दक्षिणावर्त्ता है।

एक स्त्री कला-कौशल से अच्छी होने के कारण दक्षिणा है, किन्तु आचरण-रहित होने से वामावर्त्ता है।

एक स्त्री स्वभाव और आचरण दोनों से सम्पन्न होने के कारण दक्षिणा और दक्षिणावर्त्ता है।

धूमशिखा भित्ती और छत को मलिन कर देती है इसी प्रकार जो स्त्री दूसरे के स्वच्छ मन को भी मलिन कर देती है, वह स्त्री वामावर्त्ता धूमशिखा के समान है। अगरबत्ती की धूमशिखा जैसे आनन्द-विभोर कर देती है, वैसे ही जो स्त्री अपने कला-कौशल, विद्या और आचरण एवं यश- सौरभ को दिग्दिगान्तरों में फैला देती है वह स्त्री दक्षिणावर्त्ता धूमशिखा के समान है।

अग्निशिखा और स्त्री—अग्निशिखा भी मूलतः दो प्रकार की होती है, चिता से उठी हुई अग्निशिखा वामा कहलाती है और हवनकुण्ड से उठी हुई अग्निशिखा दक्षिणा होती

है। उसकी शिखा बाईं ओर तथा दाईं ओर मुड़ने वाली होने से वामावर्त्ता और दक्षिणावर्त्ता भी कहलाती है। अग्निशिखा प्रकाश देती है और ताप भी। इसकी चतुर्भंगी निम्नलिखित है—

१०. एक अग्निशिखा वामा है और साथ ही वामावर्त्ता भी है।
 एक अग्निशिखा वामा होती हुई भी दक्षिणावर्त्ता है।
 एक अग्निशिखा दक्षिणा होती हुई भी वामावर्त्ता है।
 एक अग्निशिखा दक्षिणा है और साथ ही दक्षिणावर्त्ता भी।
 अग्निशिखा की तरह स्त्रियां भी चार प्रकार की होती हैं, जैसे कि—

११. एक स्त्री दोनों कुलों को संताप देती है, अत: वामा है और साथ ही विपरीत आचरण वाली भी है। अत: वामावर्त्ता भी है।
 एक स्त्री कुस्वभाव एवं कुटिलता से ताप देती है अत: वामा है किन्तु आचरण से अच्छी होने से दक्षिणावर्त्ता है।
 एक स्त्री दोनों कुलो को प्रकाशित करती है, अत: दक्षिणा है किन्तु कटुवचनों से दूसरे को खेदखिन्न भी करती है अत: वामावर्त्ता भी है।
 एक स्त्री अपने देश एवं कुल को भी प्रकाशित करती है अत: दक्षिणा है और अपने आपको प्रकाशित करने के कारण दक्षिणावर्त्ता भी है।

जैसे ज्योति प्रकाश देती है और ज्वाला जला देती है, इसी प्रकार जो स्त्री स्व-पर को और पितृकुल तथा श्वसुरकुल को प्रकाशित करती है, वह ज्योति के समान है और जो जला देती है या संताप देती है या दूसरे मे रहे हुए विकारो को उत्तेजित करती है, शान्त मन मे भी क्रोध की आग भड़काती है वह ज्वाला के समान है। जो ज्योति के समान है वह श्रेष्ठ है और जो ज्वाला के समान है वह अनिष्ट है।

वातमंडलिका और स्त्री—

१२ जो वायु गोल रूप मे ऊपर की ओर मडलाकार उठती है उसे वातमंडलिका (बावरौला) कहते हैं। वह भी दो तरह की होती है—वामा और दक्षिणा। वामा वातमंडलिका भी दो प्रकार की होती है—वामावर्त्त वाली और दक्षिणावर्त्त वाली। इसी प्रकार दक्षिणा वातमंडलिका भी दो तरह की होती है—वामावर्त्ता और दक्षिणावर्त्ता अत: वातमंडलिका के भी चार भग बनते हैं।

जब वात-मंडलिका—बावरोला धन-जन को हानि पहुचाती है, तब वामा और जब मनमोहक एवं सुखद होती है तब वह दक्षिणा कहलाती है। शकुन की दृष्टि से वामावर्त्ता वातमंडलिका अशुभसूचक है और दक्षिणावर्त्ता वातमडलिका शुभसूचक होती है।

वात-मंडलिका के समान स्त्री चार प्रकार की होती है—जो स्त्री परपुरुष गामिनी है वह वामावर्त्ता और जो पतिव्रता है वह दक्षिणावर्त्ता मानी जाती है। इस की चतुर्भंगी के निम्नलिखित रूप हैं—

१३. एक स्त्री कुटिलहृदया है वह वामा, पुनः स्वैरिणी होने से वामावर्त्ता भी है।
एक स्त्री दुष्ट स्वभाव वाली है, किन्तु पतिव्रता होने से दक्षिणावर्त्ता है।
एक स्त्री कला-चातुर्य से तो सम्पन्न है, किन्तु स्वैरिणी होने से वामावर्त्ता है।
एक स्त्री चातुर्य आदि गुणों से भी दक्षिणा है और पतिव्रत आदि गुणों से दक्षिणावर्त्ता भी है।

वनखंड और पुरुष—

१४. वनखंड भी मूलतः दो प्रकार के होते हैं, जो वन हिंस्र जन्तुओं और चोर-डाकुओं से व्याप्त है, कंटकाकीर्ण तथा फूल एवं फलों से हीन है, उजड़ा हुआ है वह वनखंड वाम कहलाता है और जो पर्यटकों के लिए आकर्षक एव मनमोहक है, तपस्वी एवं योगीजनों का तपोवन है, वह वन दक्षिण वनखंड है। प्रत्येक वन के पुनः दो-दो भेद हैं—वामावर्त्त और दक्षिणावर्त्त।

पुरुष भी वनखंड की तरह चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

१५ कुछ वाममार्गी है और लोक-विरुद्ध क्रिया भी करते हैं वे वाम और वामावर्त्त हैं।
कुछ वाममार्गी हैं, परन्तु है मधुर व्यवहारी, वे वाम और दक्षिणावर्त्त माने जाते हैं।
कुछ आस्तिक होते हुए भी अशुभ क्रिया करते हैं वे दक्षिण और वामावर्त्त हैं।
कुछ आस्तिक भी हैं और शुभ क्रिया में प्रवृत्त भी, वे मनुष्य दक्षिण और दक्षिणावर्त्त कहलाते हैं।

इनमें आस्तिक और नास्तिक ये दो भेद मौलिक हैं, वे जब अशुभ क्रिया में प्रवृत्त होते हैं तब वामावर्त्त और जब शुभ क्रिया में प्रवृत्त है तब दक्षिणावर्त्त कहलाते हैं। इस प्रकार चतुर्भंगी का स्वरूप जान लेना चाहिए। प्रतिकूल तथा अनुकूल स्वभाव से ही दुर्जन और सज्जन की परीक्षा होती है। ये १७ चतुर्भंगिया स्याद्वाद के अंतर्गत ही संभव हैं, एकान्तवाद में नहीं। वाम शब्द का प्रयोग कही-कही पर सुन्दर अर्थ में भी होता है, किन्तु यहा पर यह प्रतिकूल अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

आपवादिक-विधान

मूल—चउहिं ठाणेहिं णिग्गंथे णिग्गंथिं आलवमाणे वा संलवमाणे वा णाइक्कमइ, तं जहा—पंथं पुच्छमाणे वा, पंथं देसमाणे वा, असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दलेमाणे वा, दलावेमाणे वा॥५८॥

छाया—चतुर्भिः स्थानैः निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थीम् आलपन् संलपन् वा न अतिक्राम्यति तद्यथा—पन्थानं पृच्छन्, पन्थानं दिशन्, अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा दीयमानः, दापयमानो वा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार कारणों से साधु यदि साध्वी से मार्ग में आलाप-संलाप करे तो वह मर्यादा का उल्लंघन नहीं माना जाता है, जैसे कि—साध्वी से मार्ग पूछते समय, साध्वी को मार्ग बतलाते समय, अशन-पानक-खाद्य-स्वाद्य दिए जाते समय और अन्य द्वारा दिलाते समय।

विवेचनिका—दक्षिण और दक्षिणावर्त्त पुरुष-स्त्री प्रायः साधु-साध्वी हुआ करते हैं। अकेले साधु का अकेली साध्वी से वार्तालाप न करना उत्सर्ग मार्ग है। विशिष्ट कारण पड़ने पर वार्तालाप करने का सूत्रकार ने निषेध नहीं किया। प्रस्तुत सूत्र में इसी आपवादिक स्थिति का स्पष्टीकरण किया गया है। यद्यपि मार्ग में अकेली साध्वी से आलाप-संलाप करना साधु के लिए निषिद्ध है। तदपि चार कारणों से बातचीत करता हुआ साधु भगवान की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। क्योंकि अपवाद मार्ग भी संयम का रक्षक है और लोक-मर्यादा का भी। आपवादिक स्थिति न होने पर भी अपवाद मानकर प्रवृत्ति करना स्वच्छन्दता है। वास्तव में साधक को स्वच्छन्दता ही पतन के अभिमुख ले जाने वाली होती है।

मर्यादा-सहित एक बार बातचीत करने को आलाप और अनेक बार बातचीत को संलाप कहते हैं। अथवा एक वाक्य की पूर्ति में जितने शब्दों का प्रयोग किया जाता है वह आलाप और अनेक वाक्यों में जितने शब्दों का प्रयोग होता है उसे संलाप कहते हैं।

ग्रामानुग्राम विचरते हुए जब एक मार्ग से अनेक शाखाएं निकलती हों, गृहस्थ कहीं आस-पास दीखता न हो, उधर से अकस्मात् यदि कोई साध्वी दीख जाए तो वह अकेला साधु उस अकेली आर्यिका से पूछ सकता है कि आर्ये! मुझे अमुक ग्राम में जाना है, अतः मैं किस मार्ग से होकर जाऊं? इस तरह से पूछता हुआ साधु जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता। साध्वी को मार्ग बताते हुए भी जिन आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है। साध्वी को आहार-पानी देते हुए और अन्य किसी गृहस्थ से साध्वी को आहार-पानी आदि दिलवाते हुए साधु-मर्यादा का अतिक्रम नहीं करता है।

जिसके लिए आगमों में स्पष्ट आज्ञा या विधान न हो और साथ ही अवश्य करणीय भी हो, वहां ''ऐसा करता हुआ जिन-आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता'' इस वाक्य को ''**णाइक्कमइ**'' में गर्भित किया जाता है। **दलेमाणे** और **दलावेमाणे** ये दो क्रियाएं विशेष कारण से कथन की गई हैं।

तमस्काय-विवेचना

मूल—तमुक्कायस्स णं चत्तारि नामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—तमेइ वा, तमुक्काएइ वा, अंधकारेइ वा, महंधकारेइ वा।

तमुक्कायस्स णं चत्तारि णामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—लोगंधगारेइ वा, लोगतमसेइ वा, देवंधगारेइ वा, देवतमसेइ वा।

तमुक्कायस्स णं चत्तारि णामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—वायफलिहेइ वा, वायफलिहखोभेइ वा, देवरन्नेइ वा, देववूहेइ वा।

तमुक्काए णं चत्तारि कप्पे आवरित्ता चिट्ठइ, तं जहा—सोहम्मीसाणं, सणंकुमारमाहिंदं ॥५९॥

छाया—तमस्कायस्य खलु चत्वारि नामधेयानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—तम इति वा, तमस्काय इति वा, अन्धकार इति वा, महान्धकार इति वा।

तमस्कायस्य खलु चत्वारि नामधेयानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—लोकान्धकार इति वा, लोकतम इति वा, देवान्धकार इति वा, देवतम इति वा।

तमस्कायस्य खलु चत्वारि नामधेयानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—वातपरिघ इति वा, वातपरिघक्षोभ इति वा, देवारण्य इति वा, देवव्यूह इति वा।

तमस्कायस्य खलु चतुरः, कल्पान् आवृत्य तिष्ठति, तद्यथा—सौधर्मेशानं, सनत्कुमारमाहेन्द्रम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—तमस्काय के चार नाम हैं, जैसे—तम, तमस्काय, अन्धकार और महान्धकार।

तमस्काय के चार नाम हैं, जैसे—लोकान्धकार, लोकतम, देवान्धकार और देवतम।

तमस्काय के चार नाम हैं, जैसे—वातपरिघ, वातपरिघक्षोभ, देवारण्य और देवव्यूह।

तमस्काय ऊपर चार कल्पों को आवृत्त किए हुए है, जैसे—सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार और माहेन्द्र।

विवेचनिका—साधु यदि तमस्काय को तम कहता है, तो वह भाषा समिति का उल्लंघन नहीं करता। प्रस्तुत सूत्र में तमस्काय का अस्तित्व, उसके सार्थक नाम और उसके फैलाव का वर्णन है। अप्काय के परिणाम रूप अंधकार को यहां तमस्काय कहा है। जम्बूद्वीप से पूर्व आदि किसी भी दिशा की ओर यदि गमन किया जाए तो असंख्यात द्वीपसमुद्र उल्लंघन करने पर अरुणवरद्वीप आता है, उसके चारों ओर अरुणोद समुद्र है। अरुणवरद्वीप की जगती से बयालिस हजार योजन अरुणोद समुद्र में जाकर तमस्काय का प्रारम्भ होता है। घन रूप से उठी हुई धुंध को तमस्काय कहते हैं। उसका व्यास असंख्यात योजन परिमाण है। यह १७२१ योजन परिमाण दीवार की तरह ऊपर जाकर तिरछी दिशा में विस्तृत होती हुई सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार और माहेन्द्र इन चार देवलोकों को बाहर से आवर्तन करती हुई पांचवें ब्रह्म देवलोक के रिष्ट विमान प्रस्तट तक विस्तृत हुई है।

सूत्रकार ने उसके सार्थक नामों का उल्लेख किया है। आठ नाम तो दो सूत्रांशों में तम

शब्द को लक्ष्य करके कहे गए हैं। तीसरे सूत्रांश में तमस्काय की विशेष शक्ति का परिचय दिया गया है। देवों की अपनी तथा उनके वस्त्र और आभूषणों की दिव्य-प्रभा भी उस तमस्काय में नष्ट हो जाती है। कहने को तो यहां तक भी कहा जाता है कि देव भी अपने से अधिक बलवान देव से भयभीत होकर उस अधंकार में छिप जाते हैं। कहा भी है "**ते बलवतो भयेन तत्र नश्यन्तीति श्रुतिः**"। लोकांधकार नाम इसलिए सार्थक माना गया है, कि उसमें जितना अंधेरा होता है, उतना अंधेरा अन्य किसी स्थान में नहीं होता।

बाहर की वायु उसमे प्रविष्ट नहीं होती, अतः उसे वातपरिघ कहा गया है। जिसके साथ वायु टकराती हुई सक्षोभ स्खलित हो जाती है उसे वातपरिघक्षोभ कहते हैं। इसको देवारण्य भी कहते हैं। यह महाटवी की भाँति अपराधी देवों के छिपने का स्थान है। सांग्रामिक व्यूहरचना की तरह वह दुर्गम है, इसलिए इसे देवव्यूह भी कहते हैं।

तमस्काय का आकार अधोभाग में जैसे मल्लक (मिट्टी का प्याला) के मूल का आकार होता है वैसा आकार मूल भाग में है और ऊर्ध्वभाग में वह कुक्कुट पंजराकार के तुल्य अतिविस्तार वाला है। इसका विस्तृत विवरण भगवती सूत्र के सप्तम शतक में देखना चाहिए।

प्रमत्त-साधक

मूल—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—संपागडपडिसेवी णाममेगे, पच्छन्नपडिसेवी नाममेगे, पडुप्पन्ननंदी नाममेगे, णिस्सरणणंदी णाममेगे ॥६०॥

छाया—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—सम्प्रकटप्रतिसेवी नामैकः, प्रच्छन्नप्रतिसेवी नामैकः, प्रत्युत्पन्ननंदी नामैकः निःसरणनन्दी नामैकः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के पुरुष हैं, जैसे—एक पुरुष प्रकाशरूप से दोष सेवन करने वाला होता है, एक पुरुष छिपकर दोष लगाने वाला होता है।। कोई प्रत्युत्पन्ननन्दी होता है और कोई निःसरणनन्दी हुआ करता है।

विवेचनिका—तमस्काय अप्काय का ही एक रूप है। सुखार्थी स्वच्छन्द यत्नरहित साधक दृश्यमान एवं अदृश्यमान सूक्ष्म और स्थूल किसी भी जीव-निकाय का हितचिंतक या हितकर नहीं हो सकता, अतः प्रस्तुत सूत्र में प्रमत्त साधकों के मूल भेद वर्णित किए गए हैं। जैसे कि—

१. एक पुरुष दोषों का सेवन या मर्यादा का उल्लंघन सब लोगों के सामने करता है। इससे दो प्रकार की हानि होनी अवश्यंभावी है, पहली हानि श्रद्धेय के प्रति श्रद्धा का अवसान और दूसरी हानि अनुयायियों का रत्नत्रय के प्रति हतोत्साही हो जाना।

२. एक पुरुष दोषों का सेवन या मर्यादा का उल्लंघन प्रच्छन्नरूप से करता है, सर्व-जन-प्रत्यक्ष नहीं। इससे उसमें रही हुई कपट-वृत्ति का सूत्रकार ने परिचय दिया है। संयम और तप में मायाशल्य नहीं चाहिए, अन्यथा साधक की प्रगति आध्यात्मिक क्षेत्र में सर्वथा रुक जाती है।

३. एक वह पुरुष है जो कि प्रत्युत्पन्ननंदी है, अर्थात् वर्तमानकालिक सुख, सम्मान, प्रतिष्ठा और लाभ होने में ही अपने को कृत-कृत्य मानता है। जबकि महामानव प्रत्येक कार्य के सुपरिणाम और दुष्परिणाम को देखकर ही प्रवृत्ति एवं निवृत्ति किया करते हैं, कहा भी है—

"दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं, परं पश्यत माऽपरं ।
धर्मं पश्यत माऽधर्मं, सत्यं पश्यत माऽनृतम् ॥"

इन सुवाक्यों का अभिप्राय है—दीर्घद्रष्टा बनो, तात्कालिक सुखों की ओर मत देखो, किसी क्रिया के अंतिम परिणाम को देखो, केवल लौकिक परिणाम की ओर ही मत देखो, धर्म को देखो, अधर्म को मत देखो, सत्य के दर्शन करो, असत्य को मत देखो। इस अपेक्षा से तीसरे प्रकार के पुरुष की प्रकृति का अनुसरण भी मत करो, क्योंकि तात्कालिक एवं विनश्वर सुखों में आसक्त रहना भी दोष है।

४. निःसरणनन्दी पुरुष वह कहलाता है जो गच्छ से बाहर किसी शिष्य के चले जाने पर या स्वयं गण से या गुरु-आज्ञा से बाहर हो जाने पर आनन्द मानता है। इससे दूसरे के प्रति द्वेष और स्वच्छन्दता सिद्ध होती है। इसका दूसरा अभिप्राय यह भी निकलता है "जैसी वस्तु मिली, वैसी ग्रहण कर ली" यह कल्पनीय है या अकल्पनीय ऐसा विवेक जिसमें नहीं है, वह भी निःसरणनन्दी है। जो अप्रमत्तसंयत है वह ऐसे पुरुषों का अनुसरण भूलकर भी नहीं करता है।

सेना और साधक

मूल—चत्तारि सेणाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—जइत्ता णाममेगे णो पराजिणित्ता, पराजिणित्ता णाममेगे णो जइत्ता, एगा जइत्तावि पराजिणित्तावि, एगा नो जइत्ता नो पराजिणित्ता।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जइत्ता नाममेगे नो पराजिणित्ता ४।

चत्तारि सेणाओ पण्णत्ताओ तं जहा—जइत्ता णामं एगा जयइ, जइत्ता णाममेगा पराजिणइ, पराजिणित्ता णाममेगा जयइ, पराजिणित्ता नाममेगा पराजिणइ।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जइत्ता नाममेगे जयइ० ४ ॥ ६१॥

छाया—चतस्त्र: सेना: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जेत्री नामैका नो पराजेत्री, पराजेत्री नामैका नो जेत्री, एका जेत्र्यपि पराजेत्र्यपि, एका नो जेत्री नो पराजेत्री। एवमेव चत्वारि पुरुष-जातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—जेता नामैको नो पराजेता।

चतस्त्र: सेना प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जेत्री नामैका जयति, जेत्री नामैका पराजयति, पराजेत्री नामैका जयति, पराजेत्री नामैका पराजयति।

एवमेव—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—जेता नामैको जयति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—सेनाएं चार प्रकार की कही गई हैं जैसे—एक जीतकर पुन: न हारने वाली, एक हारकर पुन: न जीतने वाली। एक जीतने वाली भी और हारने वाली भी, तथा एक न जीतने वाली और न हारने वाली।

इसी प्रकार पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं। जीतकर कभी न हारने वाले, शेष तीन भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

एक जीतने वाली होती है और जीतती भी है, दूसरी वह जो जीतने वाली कहलाकर भी हार जाती है, तीसरी पराजित होकर भी जीतने वाली बन जाती है और चौथी वह सेना होती है जो पराजयशील कहलाकर पुन: पराजित ही रहती है।

इसी प्रकार पुरुष भी चार प्रकार के कहे गए हैं, एक पुरुष जीतने वाला होकर कभी पराजय नहीं पाता, चतुर्भंगी की कल्पना कीजिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में प्रमत्त साधकों का उल्लेख किया गया है, जबकि अप्रमत्त साधक भी होते हैं। सेना की तरह सभी साधक एक समान नहीं हुआ करते हैं, जैसे सैनिकों का व्यवस्थित समूह ही सेना है वैसे ही साधकों का व्यवस्थित समूह ही श्रमण-संघ है। सेना में जैसे उच्च कोटि के कर्मवीर भी होते हैं और निम्नकोटि के योद्धा भी। इसी तरह श्रमण-संघ में भी कोई सुसंस्कृत धर्मवीर होते हैं तो कोई साधारण श्रेणी के साधक भी। अत: प्रस्तुत सूत्र में चतुर्भंगी के द्वारा सेना के उपमान से साधकों को उपमित किया गया है।

जिस सेना में सैनिक सुशिक्षित, सशक्त, सतर्क एवं उत्साह-सम्पन्न हैं, जिनके पास सामरिक सामग्री पर्याप्त है, खान-पान की व्यवस्था ठीक है, वह सेना सदैव जयशील होती है, हारने वाली नहीं। यह सेना चार तरह की होती है—

१. एक सेना जयशील होती है, और शत्रु से कभी भी पराजित नहीं होती।

एक सेना शत्रु से पराजित होने वाली होती है पर जयशील नहीं होती।

एक सेना कभी विजय पाती है और कभी शत्रुदल से पराजित हो जाती है।
एक सेना न जीतती है और न हारती है।

साधना के रणांगण में साधक भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

२. एक परीषहों को जीतता है, उनसे कभी पराजित नहीं होता, जैसे गजसुकुमार।
एक परीषहों से पराजित होता है, किन्तु उन्हें जीतता नहीं, जैसे कंडरीक।
एक कभी परीषहों को जीतता है और कभी पराजित हो जाता है, जैसे शेलक राजर्षि।
एक न परीषहों को जीतता है और न पराजित होता है, जैसे कि तत्काल का बना हुआ साधु।

दूसरे प्रकार से भी सेना का परिचय दिया गया है जैसे कि—

३. एक सेना वह है जो जीतने वाली कहलाकर पुनः जीतती ही है।
दूसरी सेना वह है जो शत्रुदल को एक बार जीतकर पुनः उससे पराजित हो जाती है।
तीसरी वह सेना है जो शत्रुदल से पराजित होकर पुनः विजय को प्राप्त करती है।
चौथी सेना वह है जो एक बार पराजित होकर पुनः भी पराजित ही होती है।

इसी प्रकार श्रमणसंघ भी भगवान की सेना है। इस सेना का मुख्य उद्देश्य है रत्नत्रय के बल से विषय-कषाय, इन्द्रिय-नोइन्द्रिय, परीषह-उपसर्ग, देशघाति-सर्वघाति कर्मों पर विजय पाना, मन के सभी विकारों को नष्ट करना, तप संयम में अडोल रहना, परमात्म-पद को प्राप्त करना, जीवन को आदर्श बनाना। यह निश्चित ही है कि जीवन के मुख्य लक्ष्य को पाने के लिए प्रायः विघ्न-बाधाओं का अवतरण हुआ ही करता है, परन्तु सच्चा साधक उन सब पर विजय प्राप्त कर ही लेता है। साधना-पथ की बाधाओं पर विजय पाने की दृष्टि से साधक भी चार प्रकार के होते हैं—

४. एक साधक काम क्रोध आदि को जीतकर पुनः मन के विकारों को जीतता ही रहता है, जैसे प्रसन्नचन्द्र राजर्षि।
दूसरा साधक परीषहों को जीतकर, पुनः मन के विकारों से हार जाता है, जैसे रथनेमि।
तीसरा साधक इन्द्रियों को जीतता हुआ कषायों से पराजित हो जाता है, जैसे ५०० शिष्यों के तारक स्कन्धक मुनि।
चौथा साधक विषयों से भी पराजित होता है और कषायों से भी पराजित हो जाता है, जैसे कंडरीक।

इस प्रकार चतुर्भंगी का सारांश जान लेना चाहिए।

केतन-विवेचन

मूल—चत्तारि केयणा पण्णत्ता, तं जहा—वंसीमूलकेयणए, मेंढविसाण-केयणए, गोमुत्तिकेयणए, अवलेहणियाकेयणए। एवामेव—चउव्विहा माया

पण्णत्ता, तं जहा—वंसीमूलकेयणासमाणा जाव अवलेहणियासमाणा।

वंसीमूलकेयणासमाणं मायं अणुपविट्ठे जीवे कालं करेइ, णेरइएसु उववज्जइ। मेंढविसाणकेयणसमाणं मायमणुपविट्ठे जीवे कालं करेइ, तिरिक्खजोणिएसु उववज्जइ। गोमुत्ति० जाव कालं करेइ मणुस्सेसु उववज्जइ। अवलेहणियासमाणं जाव देवेसु उववज्जइ।

चत्तारि थंभा पण्णत्ता, तं जहा—सेलथंभे, अट्ठिथंभे, दारुथंभे, तिणिसलयाथंभे। एवामेव चउव्विहे माणे पण्णत्ते, तं जहा—सेलथंभसमाणे जाव तिणिसलयाथंभसमाणे। सेलथंभसमाणं माणं अणुपविट्ठे जीवे कालं करेइ नेरइएसु उववज्जइ। एवं जाव तिणिसलयाथंभसमाणं माणं अणुपविट्ठे जीवे कालं करेइ, देवेसु उववज्जइ।

चत्तारि वत्था पण्णत्ता, तं जहा—किमिरागरत्ते, कद्दमरागरत्ते, खंजण-रागरत्ते, हलिद्दरागरत्ते। एवामेव—चउव्विहे लोभे पण्णत्ते, तं जहा—किमि-रागरत्तवत्थसमाणे, कद्दमरागरत्तवत्थसमाणे, खंजणरागरत्तवत्थ- समाणे, हलिद्दरागरत्तवत्थसमाणे। किमिरागरत्तवत्थसमाणं लोभमणुपविट्ठे जीवे कालं करेइ, नेरइएसु उववज्जइ, तहेव जाव हलिद्दरागरत्तवत्थ—समाणं लोभमणुपविट्ठे जीवे कालं करेइ, देवेसु उववज्जइ॥ ६२॥

छाया—चत्वारि केतनानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—वंशीमूलकेतनं, मेषविषाणकेतनं, गोमूत्रिकाकेतनम्, अवलेखनिकाकेतनम्। एवमेव चतुर्विधा माया प्रज्ञप्ता तद्यथा—वंशीमूलकेतनसमाना यावत् अवलेखनिकासमाना।

वंशीमूलकेतनसमानां मायामनुप्रविष्टो जीवः कालं करोति नैरयिकेषूपपद्यते। मेषविषाणकेतनसमानां मायामनुप्रविष्टो जीवः कालं करोति तिर्यग्योनिषूपपद्यते। गोमूत्रिका यावत् कालं करोति, मनुष्येषूपपद्यते। अवलेखनिकासमानां यावत् देवेषूपपद्यते। चत्वारः स्तम्भाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शैलस्तम्भः, अस्थिस्तम्भः, दारुस्तम्भः, तिनिशलता-स्तम्भः। एवमेव चतुर्विधो मानः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—शैलस्तम्भसमानो यावत् तिनिशलता-स्तम्भसमानः। शैलस्तम्भसमानं मानमनुप्रविष्टो जीवः कालं करोति, नैरयिकेषूपपद्यते। एवं यावत् तिनिशलतास्तम्भसमानं मानमनुप्रविष्टो जीवः कालं करोति देवेषूपपद्यते।

चत्वारि वस्त्राणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—कृमिरागरक्तं, कर्दमरागरक्तं, खंजनरागरक्तं, हरिद्रारागरक्तम्। एवमेव चतुर्विधो लोभः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—कृमिरागरक्तवस्त्रसमानः, कर्दमरागरक्तवस्त्रसमानः, खञ्जनरागरक्तवस्त्रसमानः, हरिद्रारागरक्तवस्त्रसमानः।

कृमिरागरक्तवस्त्रसमानं लोभमनुप्रविष्टो जीवः कालं करोति, नैरयिकेषूपपद्यते,

तथैव यावत् हरिद्रारागरक्तवस्त्रसमानं लोभमनुप्रविष्टो जीवः कालं करोति, देवेषूपपद्यते।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—केतन (वक्र वस्तु) चार प्रकार के हैं, जैसे—वंशीमूल केतन—बांस की जड़ जैसा वक्र, मेषविषाण केतन—भेड़े के सींग जैसा वक्र, गोमूत्रिका केतन गोमूत्रधारा जैसा वक्र, अवलेखनिका केतन—बांस की खपच्ची सदृश वक्र। इसी तरह चार प्रकार की माया कही गयी है, जैसे—वंशीमूल केतन तुल्य माया, मेषविषाण तुल्य माया, गोमूत्रिका तुल्य माया और अवलेखनिका तुल्य माया।

वंशीमूलकेतन के समान माया में अनुप्रविष्ट जीव यदि काल करता है तो नारकियों में उत्पन्न होता है, मेषविषाण केतन समान माया में अनुप्रविष्ट जीव जब मृत्यु को प्राप्त होता है तो तिर्यग्योनि में उत्पन्न होता ह, गोमूत्रिका केतन समान माया में अनुप्रविष्ट जीव यदि काल करता है तो मनुष्य योनि में और अवलेखनिका केतन समान माया में अनुप्रविष्ट जीव यदि मृत्यु को प्राप्त हो तो देवताओं में उत्पन्न होता है।

चार स्तम्भ प्रतिपादन किए गए हैं, शैल-स्तंभ, अस्थि-स्तंभ, काष्ठ-स्तंभ और तिनिशलतास्तंभ। इसी प्रकार चार प्रकार का मान कहा गया है, शैलस्तंभ समान, अस्थिस्तंभ समान, दारुस्तंभ समान और तिनिशलतास्तंभ समान।

शैलस्तंभ समान मान में अनुप्रविष्ट जीव यदि मृत्यु को प्राप्त होता है तो नारकियों में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार यावत् तिनिशलता सदृश मान में अनुप्रविष्ट जीव यदि काल करता है तो देवताओं में उत्पन्न होता है।

चार प्रकार के वस्त्र होते हैं—कृमिराग-रक्त, कर्दमराग-रक्त, खंजन राग-रक्त और हरिद्राराग-रक्त। इसी तरह चार प्रकार का लोभ होता है—कृमि-राग-रक्त वस्त्र-समान, कर्दमरागरक्तवस्त्रसमान, खंजनरागरक्तवस्त्रसमान और हरिद्रारागरंजित वस्त्रसमान।

कृमिरागरक्तवस्त्रसमान लोभ में अनुप्रविष्ट जीव यदि काल करता है तो नारकियों में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार हरिद्राराग में रक्तवस्त्र समान लोभ में अनुप्रविष्ट जीव काल करे तो देवों में उत्पन्न होता है।

विवेचनिका—जीव की वास्तविक विजय कषायों पर विजय पाने से ही हो सकती है, इसी कारण प्रस्तुत सूत्र में कषायों का स्वरूप कहा गया है, जैसे कि माया, मान और लोभ। सूत्रकार ने जिज्ञासुओं की सुगमता के लिए दृष्टान्त देकर विषय को स्पष्ट किया है।

उन कषायों का परस्पर तारतम्य दिखला कर उन्हीं के अनुसार सुगति और दुर्गति का भी संकेत कर दिया है।

केतन शब्द वक्रता का परिचायक है। यद्यपि वक्रता के अनगिनत भेद हैं, तदपि माया का अवतरण जिन में हो सकता है, यहां उन्हीं का नामोल्लेख किया गया है, जैसे कि बांस की कठिन जड़ का टेढ़ापन किसी भी उपाय से दूर नहीं किया जा सकता, उसी तरह जो माया किसी भी प्रकार से दूर न हो सके अर्थात् सरल रूप में परिणत न हो सके इस प्रकार की माया अनन्तानुबन्धिनी कहलाती है। दूसरी तरह की माया भेड़े के सींग के तुल्य होती है। भेड़े का टेढ़ा सींग अनेक उपाय करने पर बड़ी मुश्किल से कुछ सीधा हो सकता है, वैसे ही जो माया अति कठिनता से दूर हो सके वह माया भेड़े के सींग तुल्य होती है। तीसरे प्रकार की माया वृषभ-मूत्र के तुल्य होती है, जैसे चलते हुए बैल के मूत्र की टेढ़ी लकीर सूख जाने पर या वायु के चलने से मिट जाती है, वैसे ही जो माया समयान्तर में सरलतापूर्वक दूर हो सके, वह गोमूत्रिका तुल्य होती है। चौथे प्रकार की वह माया कहलाती है जो छिले हुए बांस के छिलके के समान होती है। जैसे छीले हुए बांस के छिलके का टेढ़ा पन स्वल्पप्रयास से ही मिट जाता है, वैसे ही जो माया अल्पतम परिश्रम से मिटकर आर्जव भाव को परिणत हो जाए वह माया अवलेखनिका के तुल्य होती है। इन को क्रमशः अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन माया भी कहते हैं। जीव के भावों में जो वक्रता होती है, उसी को माया कहा जाता है।

मनुष्य के जीवन में जो कठोरता पैदा करता है या जिससे जीव में कठोरता पाई जाती है उस को मान कहते हैं, उसके भी माया की तरह चार स्तर हैं, जैसे पत्थर का स्तंभ किसी भी उपाय से नहीं झुकता, मशीन से उस का चूरा तो हो सकता है, पर झुकता नहीं, वैसे ही जो मान किसी भी उपाय से दूर नहीं किया जा सकता वह शैलस्तंभ के तुल्य माना जाता है।

दूसरे प्रकार का मान वह होता है जो अति परिश्रम और अनेक उपायों से दूर किया जा सके, जैसे कि अस्थिस्तंभ का नमाना अशक्य तो नहीं दुःशक्य अवश्य है, वैसी प्रकृति जिस अभिमान की है वह अभिमान अस्थिस्तंभ के सदृश है।

तीसरे प्रकार का अभिमान वह है, जिसे उपायों के द्वारा या परिश्रम से दूर किया जा सकता है, इस अभिमान की प्रकृति काष्ठस्तंभ के समान होती है, तेल आदि लगाने से या अग्नि का सेक देने से उसे झुकाया जा सकता है, आसानी से नहीं।

चौथे प्रकार के अभिमान का स्वभाव तिनिशलता अर्थात् बैंत की तरह का है, जैसे बैंत की पतली छड़ी को सहज ही नमाया जा सकता है, वैसे ही जिस अभिमान को स्वल्प प्रयास से दूर किया जा सकता है, वह मान तिनिशलता से समान है।

जिससे जीव रंग जाता है वह लोभ कहलाता है। लोभ जब जीव में उत्पन्न होता है,

तब उस से वह अनुरंजित हो जाता है। लोभ का रंग भी चार प्रकार का होता है, जैसे किरमिची रंग से रंगे हुए वस्त्र से वह रंग किसी भी उपाय से दूर नहीं होता तथा जैसे काली कंबली का रंग नहीं उतरता वैसे ही जो लोभ किसी तरह से भी दूर नहीं हो सकता वह कृमिरागरक्त वस्त्र के समान होता है। सूत्रकार ने जो **"किमिरागरत्त"** पद दिया है उस के विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—

"कृमिरागे" वृद्धसंप्रदायोऽयं—मनुष्यादीनां रुधिरं गृहीत्वा केनापि योगेन युक्तं भाजने स्थाप्यते, ततस्तत्र कृमय उत्पद्यन्ते, ते च वाताभिलाषिणश्छिद्रनिर्गता आसन्ना भ्रमन्तो निर्हारलाला मुंचंति, ताः कृमिसूत्रं भण्यते, तच्च स्वपरिणामरागरञ्जितमेव भवति। अन्ये भणन्ति—ये रुधिरे कृमय उत्पद्यन्ते तान् तत्रैव मृदित्वा कचवरमुत्तार्य तद्रसे कञ्चिद् योगं प्रक्षिप्य पट्टसूत्रं रञ्जयन्ति स च रसः कृमिरागो भण्यते अनुत्तारीति।"

अर्थात् मनुष्य आदि के रक्त को किसी योग से मिश्रित करके एक बर्तन में रख दिया जाता है। उस बर्तन में जब कीड़े पड़ जाते हैं तब वे कीड़े वायु की अभिलाषा से उस रक्तपूर्ण पात्र में इधर-उधर घूमने लग जाते हैं। उनके मुँह से एक प्रकार की लार-तार जैसी टपकने लग जाती है। लार की उन्हीं तारों को कृमिसूत्र कहा जाता है—वह अपने स्वाभाविक रंग में ही रंगा होता है। इस विषय में दूसरे अनुभवी का कहना है कि रक्त में जो कीड़े पड़ जाते हैं उन्हें वहीं मसलकर सीठी निकालकर उस रस में कुछ अन्य मसाला डालकर मिला देते हैं और उसमें रेशम के सूत्र रंगे जाते हैं वह कपड़ा कृमिरागरक्त कहलाता है, क्योंकि उसका रंग कभी भी नहीं उतरता। रंगकाट मसाले से भी वह रंग नहीं उतरता और तो क्या? उस वस्त्र के जल जाने पर भी भस्म लालिमा को लिए रहती है। इस प्रकार का अमिट लोभ अनंतानुबंधी कहलाता है। जो लोभ बड़ी कठिनता से मिट सकता है वह दूसरे प्रकार का होता है। जैसे गन्दे और काले कीचड़ से भरे हुए वस्त्र का रंग अतिपरिश्रम और अनेक उपायों से उतर सकता है, साधारण तरीके से नहीं, ऐसा लोभ दूसरे स्तर का होता है। तीसरे प्रकार का लोभ का रंग खंजनरागरक्त वस्त्र के तुल्य बतलाया है। इस का तात्पर्य है गाड़ी के पहिए में घूमने-फिरने से जो मैल लग जाती है उस चीकने काले और मटमैले रंग को खंजन राग कहते हैं। दीप की शिखा से जो काजल इकट्ठा हो जाता है उसे भी खंजन-राग कहते हैं, उससे रंगा हुआ वस्त्र खंजन-रागरक्त-वस्त्र कहलाता है, वह रंग सत्प्रयत्न से शीघ्र उतर जाता है, वैसे ही लोभ का रंग वर्णित किया है। चौथे प्रकार का लोभ वह है जिसका रंग हल्दी की तरह अनायास और शीघ्र ही उतर जाता है।

जो माया, मान और लोभ पहले प्रकार का है उन में से किसी एक में भी यदि कोई जीव मृत्यु को प्राप्त होता है वह नरक गति का अतिथि बनता है। उस को अनंतानुबंधी कषाय कहा जाता है। दूसरे स्तर के कषाय में प्रविष्ट जीव तिर्यञ्चगति प्राप्त करता है, उस कषाय को अप्रत्याख्यान कहते हैं। जिस कषाय में प्रविष्ट जीव मनुष्य-गति को प्राप्त करता

है, वह प्रत्याख्यानावरण है। जो माया, मान और लोभ बिल्कुल पतले हैं, उन्हें संज्वलन कहते हैं। इस कषाय में प्रविष्ट जीव देव गति को प्राप्त करता है। क्रोध के स्वभाव और उसके परिणाम का वर्णन इसी स्थान के तीसरे उद्देशक के आदि में है।

संसार-आयु-भव का विश्लेषण

मूल—चउव्विहे संसारे पण्णत्ते, तं जहा—णेरइयसंसारे जाव देवसंसारे। चउव्विहे आउए पण्णत्ते, तं जहा—णेरइयआउए जाव देवाउए। चउव्विहे भवे पण्णत्ते, तं जहा—नेरइयभवे जाव देवभवे ॥६३॥

छाया—चतुर्विधः संसारः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—नैरयिकसंसारो यावत् देव संसारः। चतुर्विधः आयुः प्रज्ञप्तं, तद्यथा—नैरयिकायुः यावत् देवायुः। चतुर्विधो भवः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—नैरयिकभवो यावद् देवभवः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार का संसार है—नैरयिक-संसार, मानव-संसार, तिर्यग्योनिक संसार, देव-संसार।

चार प्रकार की आयु कही गई है, जैसे—नैरयिकायु, मानवायु, तिर्यग्जातीयायु और देवायु। भव चार प्रकार का होता है—नैरयिकभव, मानवभव, तिर्यग्जातीय भव और देव-भव।

विवेचनिका—कषायों पर ही संसार निर्भर है। संसार का अर्थ होता है, नरक आदि चार गतियों में परिभ्रमण करना। जैसे कि—**"संसरन्ति जीवा यस्मिन्नसौ संसारः"**—जिसमें जीव संसरण अर्थात् परिभ्रमण करते हैं, वही संसार है। कार्मणशरीर में निवास करने वाले जीवों की दृष्टि से यह संसार चार प्रकार का है—नैरयिक संसार, तिर्यग्योनिक संसार, मानव-संसार, देव संसार। दुःख-सुख, जन्म-मरण, गमना-गमन, उत्थान-पतन इत्यादि क्रियाएं जीव की जहां भी होती हैं वही उसका संसार है। कर्म बन्ध में बंधे हुए जीव ही संसार में परिभ्रमण किया करते हैं, कर्म-मुक्त नहीं। बन्धमुक्त आत्माएं संसार से ऊपर उठ जाती हैं।

जीव जब आयु का बन्ध करता है तब नरक आदि चार गतियों में से किसी एक गति की आयु का बंध किया करता है, यद्यपि वह वर्तमान में मनुष्य या तिर्यंच आयु का भोग कर रहा है तदपि उसे नैरयिक ही कहा जाता है, क्योंकि निश्चय ही उसने नरक रूप संसार में जाना है। उसे आगमकारों ने भविद्रव्य नैरयिक माना है, जैसे कि—**"नेरइएणं भंते! नेरइएसु उववज्जइ, अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ? गोयमा! नेरइए नेरइएसु उववज्जइ, नो अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ"**।

अर्थात् जिन जीवों ने नरक में भोगने योग्य आयु का बंध नहीं किया, वे नरक में उत्पन्न नहीं होते, जिन्होंने ऐसा बन्ध किया है, वे ही नरक में उत्पन्न होते हैं।

जीवन-क्रम के व्यतीत होते हुए क्षण, पल, घटी आदि का समूह ही आयु है। आयु का उपभोग चार गतियों में ही होता है। जो आयु जीव को नरक भव में रखती है वह नरकायु कहलाती है। इसी प्रकार तिर्यंच आयु का उपभोग करने वाला तिर्यग्योनिक संसार में, मनुष्य-आयु का उपभोग करने वाला मनुष्ययोनिक संसार में और देव-आयु का उपभोग करने वाला जीव देव-संसार में रहा करता है। जब तक उस भव में भोगने योग्य कर्म की पूर्णतया निर्जरा न हो जाए, तब तक आयु-कर्म जीव को उस भव में अवरुद्ध रखता है।

भव का अर्थ है उत्पत्ति, अर्थात् जन्म को ही भव कहा जाता है। दूसरे शब्दों में जिस गति में जीव शुभ-अशुभ कर्मों का फल भोगता है वह भव है, जहां भव है वहां आयु का सद्भाव निश्चत है। बाटेबहते विग्रह गति में आयु तो होती ही है, किन्तु उसे भव नहीं कहते, औदारिकमिश्र या वैक्रियमिश्रकाययोग से भव का प्रारम्भ होता है।

प्रस्तुत सूत्र से यह संकेत मिलता है कि संसार का मूलाधार मोह है, मोह की सहचारिणी है आयु, आयु के बिना भव—जन्म नहीं, भव के बिना शरीर नहीं, शरीर के बिना क्रिया नहीं और क्रिया के बिना दुख नहीं। मोह के नष्ट होने पर दुख का विनाश होना भी अवश्यंभावी है।

आहार और उसके भेद

मूल—चउव्विहे आहारे पण्णत्ते, तं जहा—असणे, पाणे, खाइमे, साइमे।

चउव्विहे आहारे पण्णत्ते, तं जहा—उवक्खरसंपन्ने, उवक्खडसंपन्ने, सभावसंपन्ने, परिजुसियसंपन्ने ॥६४॥

छाया—चतुर्विध आहारः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अशनं, पानं, खादिमं, स्वादिमम्।

चतुर्विध आहारः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—उपस्करसम्पन्नः, उपस्कृतसम्पन्नः, स्वभाव-सम्पन्नः, परियुषितसम्पन्नः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आहार के चार रूप हैं—भोज्य, पेय, खाद्य और स्वाद्य।

पुनः आहार के चार रूप हैं—हींग आदि से छौंका हुआ आहार, बिना छौंका हुआ आहार, अपने आप परिपक्व फल आदि और बासी आहार।

विवेचनिका—आयु और भव आहार के आश्रित हैं। आहार मुख्यतया दो प्रकार का होता है—आर्यभोज्य और अनार्यभोज्य। इनमें जो आहार आर्य है वह चार प्रकार का होता है, अशन—पके हुए चावल-रोटी आदि। पान—पानी या शर्बत आदि पेय पदार्थ। खादिम—गुड़-शक्कर, फल-मेवे आदि। स्वादिम—चूर्ण, चटनी, अचार, लौंग सुपारी आदि।

अब सूत्रकार एक दूसरे प्रकार से आहार के चार भेदों का वर्णन करते हैं—

जो हींग आदि अनेक मसाले और व्यंजनों से पकाया जाता है उसे उपस्करसंपन्न आहार कहते हैं, जैसे—दाल, शाक, खिचड़ी आदि।

जो भोजन विशुद्ध है, जिसमें नमक या मीठे का योग नहीं मिलाया गया उसे उपस्कृत-संपन्न आहार कहते हैं, जैसे—रोटी, चावल, शर्करा, मिश्री आदि।

जो भोजन स्वत: परिपक्व है उसे स्वभावसंपन्न आहार कहते हैं, जैसे—सूखे मेवे या पके हुए फल आदि। जिसके बासी हो जाने से उसमें विशेष प्रकार के रस आदि उत्पन्न होते हैं उसे पर्युषित सम्पन्न आहार कहते हैं, जैसे—कांजी, अचार, चटनी, औषधि, मुरब्बा, दूध, दही, घी आदि।

शरीर-शास्त्र का यह अटल नियम है कि 'जैसा खाए अन्न वैसा होवे मन।' अत: मनोवृत्तियों के नियन्त्रण के लिए आहार-शुद्धि अनिवार्य है। गीता में सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का आहार बताया गया है। आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रेमभाव का वर्धक एवं रस-युक्त चिकना, बहुत देर तक खराब न होने वाला एवं मानसिक शक्तियों का विकास करने वाला आहार सात्विक माना गया है।

कड़वे, खट्टे, नमकीन, चरपरे, रूखे, जलन उत्पन्न करने वाले, दु:ख एवं चिन्ता के उत्पादक आहार को राजस आहार कहा गया है।

बासी, अधपके, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त और उच्छिष्ट आहार को तामसी आहार बताया गया है।

प्रस्तुत आहार-विवेचन में आहार का सम्यक् विश्लेषण हुआ है और साथ ही भोज्य-पदार्थों का वैज्ञानिक विश्लेषण भी। इन दोनों विश्लेषणों का समन्वयात्मक अध्ययन करने से यह तथ्य सामने आता है कि भारतीय परम्परा में आहार-शुद्धि का विशेष ध्यान रक्खा गया है, क्योंकि **'आहारशुद्धौ सत्त्व-शुद्धि:'**—आहार की शुद्धि से ही सत्त्वशुद्धि अर्थात् प्राण-शुद्धि एवं स्वभावशुद्धि सुरक्षित रह सकती है। दोनों दृष्टियों से मांस आदि अभक्ष्य पदार्थ दुर्गन्ध युक्त होते हैं, आधुनिक विज्ञान का कथन है कि मांस में १५ मिनट के अन्दर ही अनेक प्रकार के कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं। फिर मांस केवल मांसवर्धक ही तो है, शक्ति, बुद्धि एवं चिन्तन शक्ति के विकास के लिए उसमें कोई तत्त्व नहीं है। यही कारण है कि मांसाहारी प्राय: विवेकहीन, निर्दयी, क्रूर एवं विचारहीन हुआ करते हैं।

भारतीय परम्परा में मांसाहारियों को 'असुर' कहा गया है। इतिहास साक्षी है कि देव सर्वदा विजयी हुए हैं और असुर विशालकाय होते हुए भी सर्वदा पराजित ही हुए हैं, क्योंकि विजय विशालकाय की नहीं, उन्नत ज्ञान की हुआ करती है। आचार्य हेमचन्द्र जी ने अपने योगशास्त्र में ठीक ही कहा है—

"मांसाशने न दोषोऽस्तीत्युच्यते यैर्दुरात्मभिः।
व्याध-गृद्ध-वृकव्याघ्र-श्रृगालास्तैर्गुरूकृताः॥"

व्याध, गीध, भेड़ियों, बाघों और गीदड़ों को ही अपना गुरु मानने वाले दुरात्मा लोग यह कहा करते हैं कि मांस-भक्षण में कोई दोष नहीं है। पेट को कबरें बनाने वाले ऐसे लोग मानवता के लिए अभिशाप ही होते हैं।

अतः अशन, पान, खादिम, और स्वादिम का सेवन भी विवेकपूर्वक करना चाहिए, वह भी राजसी और तामसी भोजन परिधि में नहीं होना चाहिए। सात्विक आहार ही बल-बुद्धि और विवेक को जन्म दे सकता है।

बन्ध-उपक्रम

मूल—चउव्विहे बंधे पण्णत्ते, तं जहा—पगइबंधे, ठिइबंधे, अणुभावबंधे, पदेसबंधे।

चउव्विहे उवक्कमे पण्णत्ते, तं जहा—बंधणोवक्कमे, उदीरणोवक्कमे, उवसमणोवक्कमे, विप्परिणामणोवक्कमे।

बंधणोवक्कमे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—पगइबंधणोवक्कमे, ठिइबंधणोवक्कमे, अणुभावबंधणोवक्कमे, पदेसबंधणोवक्कमे।

उदीरणोवक्कमे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—पगइउदीरणोवक्कमे, ठिइउदीरणोवक्कमे, अणुभावउदीरणोवक्कमे, पदेसउदीरणोवक्कमे।

उवसमणोवक्कमे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—पगइउवसमणोवक्कमे, ठिइउवसमणोवक्कमे, अणुभावउवसमणोवक्कमे, पदेस-उवसमणोवक्कमे।

विप्परिणामणोवक्कमे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—पगइविप्परिणामणोवक्कमे, ठिइविप्परिणामणोवक्कमे, अणुभावविप्परिणामणोवक्कमे, पदेसविप्परिणामणोवक्कमे।

चउव्विहे अप्पाबहुए पण्णत्ते, तं जहा—पगइअप्पाबहुए, ठिइअप्पाबहुए, अणुभावअप्पाबहुए, पदेसप्पाबहुए।

चउव्विहे संकमे पण्णत्ते, तं जहा—पगइसंकमे, ठिइसंकमे, अणुभावसंकमे, पएससंकमे।

चउव्विहे णिधत्ते पण्णत्ते, तं जहा—पगइणिधत्ते, ठिइणिधत्ते, अणुभावणिधत्ते, पएसणिधत्ते।

चउव्विहे णिकाइए पण्णत्ते, तं जहा—पगइणिकाइए, ठिइणिकाइए, अणुभावणिकाइए, पएसणिकाइए ॥६५॥

छाया—चतुर्विधो बन्धः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रकृतिबन्धः, स्थितिबन्धः, अनुभावबन्धः, प्रदेशबन्धः। चतुर्विध उपक्रमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—बन्धनोपक्रमः, उदीरणोपक्रमः, उपशमनोपक्रमः, विपरिणामनोपक्रमः।

बन्धनोपक्रमश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रकृतिबन्धनोपक्रमः, स्थितिबन्धनोपक्रमः, अनुभावबन्धनोपक्रमः, प्रदेशबन्धनोपक्रमः।

उदीरणोपक्रमश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रकृति-उदीरणोपक्रमः, स्थिति-उदीरणोपक्रमः, अनुभाव-उदीरणोपक्रमः, प्रदेश-उदीरणोपक्रमः।

उपशमनोपक्रमश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रकृति- उपशमनोपक्रमः, स्थिति-उपशमनोपक्रमः, अनुभावोपशमनोपक्रमः, प्रदेशो- पशमनोपक्रमः।

विपरिणामनोपक्रमश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रकृतिविपरिणामनोपक्रमः, स्थिति-विपरिणामनोपक्रमः, अनुभावविपरिणामनोपक्रमः, प्रदेशविपरिणामनोपक्रमः।

चतुर्विधमल्पबहुत्वं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—प्रकृति-अल्पबहुत्वं, स्थिति-अल्पबहुत्वम्, अनुभावअल्पबहुत्वम्, प्रदेशाल्पबहुत्वम्।

चतुर्विधः संक्रमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रकृतिसंक्रमः, स्थितिसंक्रमः, अनुभावसंक्रमः, प्रदेशसक्रमः।

चतुर्विधं निधत्तं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—प्रकृतिनिधत्तं, स्थितिनिधत्तम्, अनुभावनिधत्तम्, प्रदेशनिधत्तम्।

चतुर्विधं निकाचितं प्रज्ञप्तं तद्यथा—प्रकृतिनिकाचितं, स्थितिनिकाचितम्, अनुभावनिकाचितम्, प्रदेशनिकाचितम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—कर्म-बन्ध चार प्रकार का कहा गया है, जैसे—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभावबन्ध, और प्रदेशबन्ध।

उपक्रम चार प्रकार का कहा गया है, जैसे—बन्धनोपक्रम, उदीरणोपक्रम, उपशम-नोपक्रम और विपरिणामनोपक्रम।

बन्धनोपक्रम चार प्रकार का है, जैसे—प्रकृतिबन्धनोपक्रम, स्थितिबन्धनोपक्रम, अनुभावबन्धनोपक्रम और प्रदेशबन्धनोपक्रम।

उदीरणोपक्रम चार प्रकार का होता है, जैसे—प्रकृति-उदीरणोपक्रम, स्थिति-उदीरणोपक्रम, अनुभाव-उदीरणोपक्रम और प्रदेश-उदीरणोपक्रम।

उपशमनोपक्रम चार प्रकार का होता है, जैसे—प्रकृति-उपशमनोपक्रम, स्थिति-

उपशमनोपक्रम, अनुभाव-उपशमनोपक्रम और प्रदेश-उपशमनोपक्रम।

विपरिणामनोपक्रम चार प्रकार का कहा है, जैसे—प्रकृति-विपरिणामनोपक्रम, स्थिति-विपरिणामनोपक्रम, अनुभाव-विपरिणामनोपक्रम और प्रदेश-विपरिणाम-नोपक्रम।

अल्पबहुत्व चार प्रकार का कहा गया है, जैसे—प्रकृति-अल्पबहुत्व, स्थिति-अल्पबहुत्व, अनुभाव-अल्प-बहुत्व और प्रदेश-अल्प-बहुत्व।

संक्रम चार प्रकार का कहा गया है, जैसे—प्रकृतिसंक्रम, स्थितिसंक्रम, अनुभाव-संक्रम, प्रदेशसंक्रम।

निधत्त चार प्रकार का कहा गया है, जैसे—प्रकृतिनिधत्त, स्थितिनिधत्त, अनुभाव-निधत्त और प्रदेशनिधत्त।

निकाचित के चार भेद कहे गए हैं, जैसे—प्रकृतिनिकाचित, स्थितिनिकाचित, अनुभाव-निकाचित और प्रदेश-निकाचित।

विवेचनिका—आहार से परिपुष्ट एवं संवर्धित इन्द्रियां 'कर्म' उपार्जन करती हैं, अत: आहार के अनन्तर कर्म विवेचना प्रस्तुत करते हैं। कर्म क्रिया या प्रवृत्ति को कहते हैं। उस प्रवृत्ति के मूल में राग और द्वेष रहते हैं। उनसे आत्मा में संस्कारों का उद्भव होता है, संस्कारों से पुन: प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति से पुन: संस्कार। इस प्रकार की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। इसी परम्परा का नाम ही तो संसार है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं, एक द्रव्यकर्म और दूसरे भावकर्म। जैन-दर्शन में कर्म केवल संस्कार मात्र ही नहीं, अपितु एक वस्तुभूत पदार्थ है, जो रागी, द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ उसी तरह घुलमिल जाता है जैसे दूध में पानी। वह पदार्थ है तो पौद्गलिक ही, किन्तु उसकी कर्मसंज्ञा इसलिए पड़ गई है, क्योंकि जीव के कर्म अर्थात् सकषायी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जब वह जीव से बंध जाता है तब कर्म कहलाता है। कार्मण वर्गणा के पुद्गल परम-सूक्ष्म होने से समस्त लोक में व्याप्त हैं और वे ही पुद्गल जीव के साथ बंध को प्राप्त होते हैं। कर्म-वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करना ही बंध कहा जाता है। वह चार प्रकार का होता है, जैसे कि—प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबध। इनकी व्याख्या निम्नलिखित है—

प्रकृतिबंध—प्रकृति शब्द का अर्थ स्वभाव है उसके अनुसार अलग-अलग कर्मों में ज्ञान आदि गुणों का घात करने का जो स्वभाव उत्पन्न होता है, वह प्रकृतिबंध कहलाता है। यह बंध योग-निमित्त से होता है और योग का अर्थ है—मन, वचन और काया के समस्त व्यापार।

स्थितिबंध—जीव के द्वारा ग्रहण किए हुए कर्म-पुद्गलों की जीव के साथ रहने की

जो कालमर्यादा होती है उसे स्थितिबंध कहते हैं। यह बंध कषाय के निमित्त से होता है। कषाय का जितना तारतम्य होगा तदनुसार ही कर्मों का स्थितिबंध होता है।

अनुभागबंध—उन कर्म-पुद्गलों में फल देने की न्यून-अधिक शक्ति को अनुभाग बंध या अनुभावबंध या रसबन्ध भी कहते हैं। यह बंध भी कषायों के तारतम्य पर निर्भर है।

प्रदेशबन्ध—जीव के प्रत्येक प्रदेश पर न्यून-अधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धों का सम्बन्ध होने को प्रदेशबंध कहते हैं। यह बंध योग के निमित्त से होता है।

सारांश यह है कि जीव के योग-व्यापार और कषायरूप भावों का निमित्त पाकर जब कर्मवर्गणाएं कर्मरूप में परिणत होती हैं तो उनमें चार बातें पाई जाती हैं, एक उनका स्वभाव, दूसरी उनकी स्थिति, तीसरे फल देने की शक्ति और चौथी अमुक परिमाण में उन कर्म-प्रदेशों का जीव के साथ संबन्ध रहना।

उपर्युक्त बन्धों का स्वरूप समझने के लिए हम एक लड्डू का दृष्टान्त उपस्थित कर सकते हैं, जैसे कि वातनाशक वस्तुओं से बना हुआ लड्डू वायु को शान्त करता है, पित्तनाशक वस्तुओं से बना हुआ लड्डू पित्त को शांत करता है और कफनाशक वस्तुओं से बना हुआ मोदक कफनाशक होता है। इसी प्रकार जीव के द्वारा ग्रहण किए हुए कर्म-पुद्गलों में से किन्हीं का स्वभाव है ज्ञान को आवृत्त करने का, किन्हीं का दर्शन को आवरण करने का, किन्हीं का आत्मा के अनन्त गुणों का प्रछन्न करने का और कोई अनन्त शक्ति का घात करने वाले हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कर्म पुद्गलों में भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म प्रकृतियों के बन्ध होने को प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

कोई मोदक सप्ताह भर, कोई पक्ष तक, कोई महीने भर खराब नहीं होता, सड़ता नहीं, दुर्गन्ध नहीं छोड़ता, इसके अनन्तर वह विकृत हो जाता है, फिर वह खाने के योग्य नहीं रह जाता। इसी प्रकार कर्मों की भी काल-मर्यादा होती है, वही स्थिति-बन्ध है। स्थिति का क्षय हो जाने पर वे कर्म पुद्गल आत्मा से स्वयं पृथक् हो जाते हैं। काल-मर्यादा के बिना कोई भी कर्म नहीं है।

किसी मोदक में मीठे पदार्थों का स्वाद तीव्र होता है और किसी में बहुत ही कम, उनके माधुर्य और कटुता में न्यूनाधिकता पाई जाती है, इसी प्रकार कुछ कर्मदलिकों में शुभ फल अधिक होता है और कुछ में कम, कुछ में अशुभ फल अधिक और कुछ में न्यून। इसी प्रकार कर्मों में तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मंदतम शुभ-अशुभ रसों का बन्ध होना ही अनुभाव बन्ध कहलाता है।

कोई मोदक भार में तोला भर का होता है, कोई दो तोले भर का और कोई पाव भर का भी हुआ करता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कर्म-दलिकों में परमाणुओं की परिमाण-संख्या न्यूनाधिक होना प्रदेश-बन्ध कहलाता है। इस प्रकार चार बंधों का स्वरूप समझना चाहिए।

उपक्रम और उसके भेद—उपक्रम का अर्थ होता है—कार्यारंभ की पहली अवस्था, अनुष्ठान विशेष या किसी कार्य के आरंभ होने से पूर्व का आयोजन या तैयारी। आत्मा में जो परिणाम उत्पन्न होते हैं वे सब एक ही प्रकार के नहीं होते, इसलिए सूत्रकार ने यहां चार प्रकार के परिणामों का निर्देश किया है। वे परिणाम किसी विशेष लक्ष्य को लेकर प्रगति करते हैं। वे उपक्रम आध्यात्मिक दृष्टि से चार प्रकार के होते हैं जैसे कि बंधन-उपक्रम, उदीरणा-उपक्रम, उपशमन-उपक्रम और विपरिणामना-उपक्रम। इन की व्याख्या इस प्रकार है—

१. **बंधन-उपक्रम**—कर्म पुद्गलों का जीव प्रदेशों के साथ परस्पर सम्बन्ध होना ही बंधनोपक्रम है। जैसे कि एक सूत्र में मणियां परस्पर सम्बन्धित होती हैं। इसी प्रकार जो भी बंध होता है, वह एक साथ प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चारों का होता है एक दो तीन का नहीं, क्योंकि प्रकृति का बन्धन नहीं तो स्थिति, रस या प्रदेश के बन्धन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है, अतः जब जीव का उपक्रम-बन्धन उन्मुख होता है तब चारों का बंध एक ही साथ हुआ करता है।

२. **उदीरणा-उपक्रम**—कर्म को खींच कर उदयावलिका में लाना अर्थात् जो कर्म अभी फल देने को प्रस्तुत नहीं हुए, उन्हें फल देने के योग्य बनाना उदीरणा है। उसके लिए जो आंतरिक प्रयत्न किया जाता है, उसको उदीरणा-उपक्रम कहते हैं। बन्ध की तरह उदीरणा भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चारों की एक साथ होती है, आगे पीछे नहीं। उदीरणा आठ कर्मों की होती है। यह उपक्रम भी चौबीस दण्डकों में होता रहता है, किन्तु जिस विशिष्ट साधना से कर्म-प्रकृतियों की राशि समाप्त होती है वही उदीरणा महत्त्वपूर्ण है।

३. **उपशमना-उपक्रम**—कर्मों को उदय एवं उदीरणा के अयोग्य बना देना उपशमना कहलाता है। उपशमना के लिए जो प्रयत्न किया जाए उसे उपशमनोपक्रम कहते हैं। कर्मों को उदय उदीरणा, निधत्त और निकाचन के अयोग्य बनाना ही उपशमनोपक्रम कहलाता है। यह उपक्रम भी प्रकृति आदि चारों का एक साथ ही होता है, एक-एक का नहीं। उपशमना दो प्रकार की होती है—देशोपशमना और सर्वोपशमना। मोहकर्म की उपशमना दोनों तरह की होती है, किन्तु शेष कर्मों की देशोपशमना ही होती है। देशोपशमना में अपवर्तन, उद्वर्तन और संक्रमण ये तीन करण होते हैं। सर्वोपशमना में नहीं।

विपरिणामना-उपक्रम—पहाड़ी नदी के पाषाण की तरह स्वाभाविक रूप से अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से या करण विशेष से कर्मों का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिणमन हो जाना अथवा क्षय, क्षयोपशम, उदय, सत्ता, उद्वर्तना, आदि के द्वारा कर्मों के परिणाम का बदल जाना विपरिणामना है। उसके लिए प्रयत्न करना विपरिणामनोपक्रम कहलाता है। यह उपक्रम भी चार प्रकार का होता है, जैसे कि—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग

और प्रदेश। एक प्रकृति का दूसरी प्रकृति में, एक स्थिति का दूसरी स्थिति में, एक रस का दूसरे रस में और एक प्रदेश का प्रदेशान्तर में बदल देना विपरिणामनोपक्रम कहलाता है। ऐसा प्राय: सभी संसारी जीवों में पाया जाता है।

अल्पबहुत्व—अल्प और बहु का जो भाव है उसे अल्प-बहुत्व कहते हैं। कौन किस बंध से न्यून है और कौन अधिक? इस बात का स्पष्टीकरण अल्पबहुत्व करता है, वह भी चार प्रकार का होता है, जैसे कि प्रकृति-बंध का अल्पबहुत्व। इसी तरह स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध का अल्पबहुत्व जानना चाहिए।

उदाहरण के रूप में उपशान्त-मोहगुणस्थानवर्ती जीव प्रकृतिबंध सब से कम करता है, क्योंकि वहां केवल सातावेदनीय प्रकृति का ही बन्ध होता है। सूक्ष्म सम्परायगुणस्थान में आयु और मोह के अतिरिक्त छ: कर्म प्रकृतियों का बंध होता है। उससे अधिक नौवें में, उस से अधिक आठवें मे, उससे अधिक सातवें में। छट्ठे गुणस्थान में आठ कर्म प्रकृतियों का बन्ध हुआ करता है। आयु का बन्ध जीवन भर में एक बार ही होता है, अत: सात कर्मों का बन्ध बराबर होता रहता है नीचे-नीचे के गुणस्थानों में उत्तर प्रकृतियों का बन्ध अधिक होता है और ऊपर-ऊपर के गुणस्थानो मे जीव अल्प, अल्पतर रूप में बांधता है और मूलप्रकृतियों का बन्ध भी कम ही करता है।

स्थितिबध के विषय में अल्पबहुत्व का प्रकार निम्नलिखित है—**''सव्वत्थोवो संजयस्स जहन्नओ ठिइबंधो, एगेंदिय बायर पज्जत्तगस्स जहन्नओ ठिइबंधो असंखेज्जगुणो''** सबसे कम स्थितिबन्ध करने वाला सयत आत्मा है, उनसे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव जघन्यस्थिति बंधक असंख्यातगुणा अधिक है। इस प्रकार स्थिति के विषय में अल्पबहुत्व का सक्षेप से प्रकार जानना चाहिए।

अनुभाग का अल्पबहुत्व सक्षेप से इस प्रकार है।

''सव्वत्थोवाइं अणंतगुणवुड्ढिट्ठाणाणि, असंखेज्जगुणवुड्ढिट्ठाणाणि संखेज्जगुणाणि जाव अणंतभागवुड्ढिट्ठाणाणि असंखेज्जगुणाणि।''

इस शास्त्रीय वचन के अनुसार सबसे थोडे अनन्तगुणा वृद्धि स्थान हैं, उनसे असंख्यात-गुणा अधिक असंख्यातगुणा वृद्धि स्थान है, उनसे संख्यातगुणा वृद्धिस्थान असंख्यातगुणा अधिक हैं, यावत् उनसे अनन्त भाग वृद्धिस्थान असंख्यात गुणा अधिक हैं। यह हुआ संक्षेप से अनुभाग का अल्पबहुत्व। प्रदेशबंध का अल्पबहुत्व निम्नलिखित है, जैसे कि—

''अट्ठविह बंधगस्स आउयभागो थोवो, नामगोयाणं तुल्लो विसेसाहिओ, नाणदंसणंतरायाणं तुल्लो विसेसाहिओ, मोहस्स विसेसाहिओ, वेयणीयस्स विसे-साहिओ।''

प्रदेश-बंध का आठों कर्मों में इस प्रकार से विभाग होता है—आयुकर्म का भाग सबसे थोड़ा, उससे नाम और गोत्र का भाग परस्पर तुल्य विशेष-अधिक, ज्ञानावरण, दर्शनावरण

और अन्तराय इन का भाग परस्पर तुल्य विशेषाधिक भाग है, नाम और गोत्र कर्म के प्रदेश परस्पर तुल्य विशेष अधिक भाग मोहनीय कर्म का है। सबसे अधिक भाग वेदनीय कर्म का है, क्योंकि थोड़े पुद्गल द्रव्य के होने पर वेदनीय कर्म का अनुभव स्पष्ट रीति से नहीं हो सकता है। वेदनीय के अतिरिक्त शेष सात कर्मों को अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार भाग मिलता है। जिस कर्म की अधिक स्थिति है उसे अधिक भाग मिलता है और जिस कर्म की स्थिति कम है उसे हीन भाग मिलता है। जिस प्रकार भोजन उदर में जाने के बाद कालक्रम से खल-रस, रुधिर आदि धातु-उपधातु के रूप में परिणत हो जाता है, उसी तरह जीव प्रतिसमय जिन कर्म वर्गणाओं को ग्रहण करता है, वे कर्म-वर्गणाएं उसी समय उतने हिस्सों में बंट जाती हैं, जितने कर्मों का बंध उस समय उस जीव के होता है। यह है प्रदेशबंध के अल्प-बहुत्व का प्रकार।

संक्रम और उसके भेद—जीव जिस कर्म-प्रकृति को बांध रहा हो, उसी रूप में अन्य प्रकृति के दल में प्रयत्न द्वारा परिणमाना, बांधी जाने वाली कर्म-प्रकृति में अन्य कर्म-प्रकृति के दल डालकर उसे बंध होने वाली कर्म प्रकृति के रूप में परिणत करना संक्रम कहलाता है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चारों में संक्रम होता है।

जिस जीव के वर्तमान में जिन कर्मों का तथा जिन उत्तर-प्रकृतियों का बंध हो रहा है उनका पूर्व बंधी हुई सजातीय प्रकृति में संक्रमण हो जाना प्रकृति-संक्रम कहलाता है। जिस कर्म या उत्तरप्रकृतियों की जितनी कर्म-स्थिति वर्तमान में बंधी है, उनका सजातीय कर्मस्थिति में संक्रमण हो जाना स्थितिसंक्रमण है। जिस-जिस कर्म का तथा उनकी उत्तर प्रकृतियों का तीव्र या मंद अनुभाग बंध किया है, उनका अपने-अपने सजातीय रस में संक्रमण हो जाना अनुभाग संक्रमण कहलाता है। प्रदेशबंध करने पर जो-जो भाग जिस कर्म के हिस्से में आता है, उन भागों का सजातीय भागों में मिल जाना प्रदेश-संक्रमण कहलाता है। इस प्रकार चार बन्धों का संक्रमण समझना चाहिए।

अथवा जिस वीर्यविशेष से कर्म एक स्वरूप को छोडकर दूसरे स्वरूप को प्राप्त करता है, उस वीर्यविशेष का नाम संक्रम है। इसी तरह एक कर्म-प्रकृति का दूसरी सजातीय कर्मप्रकृति रूप बन जाना भी संक्रम है। जैसे साता का असाता में और असाता का साता में बदल जाना। इसी प्रकार मतिज्ञानावरण का श्रुतज्ञानावरण में एवं श्रुतज्ञानावरण का मतिज्ञानावरण में संक्रमण होना तथा उच्चगोत्र का नीचगोत्र में और नीचगोत्र का उच्चगोत्र में संक्रमण होना भी संक्रम कहलाता है। संक्रम के विषय में उपर्युक्त दो धारणाएं प्रचलित हैं। हमने यहां दोनों विचार-धाराओं का निर्देश कर दिया है।

निधत्त और उसके भेद—कर्म को निबिड़रूप से बांधना, बंधे हुए कर्मों के तप्त-सूची समूह की तरह अवस्थान को निधत्त कहते हैं। इसमें उद्वर्तन और अपवर्तन ये दो ही करण होते हैं। स्थिति और अनुभाग बढ़ाने को उद्वर्तन और उन्हें कम करने को उपवर्तन

कहते हैं। निधत्त कर्म के भी चार प्रकार हैं, जैसे कि प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध। जिन कर्मों का बंध मन्द परिणामों से होता है तथा जिनका बंध अतिस्निग्ध भावों से नहीं हुआ उन्हें निधत्त कहते हैं। इन्हें तप-संयम आदि क्रियाओं के द्वारा तथा रत्नत्रय के द्वारा क्षय किया जा सकता है। न्यूनाधिक होने वाले निधत्त कर्म ही होते हैं, निधत्त कर्म की उदीरणा भी नहीं होती।

निकाचित और उसके भेद—जिन कर्मों का बन्ध अतिनिबिड हो, अतिस्निग्ध भावों से हो, तीव्रकषायभाव से हो, या परभव की आयु बांधने के समय हो, वे निकाचित कर्म कहलाते हैं। निकाचित कर्म में उद्वर्तन-अपवर्तन के लिए कोई स्थान नहीं, शेष अन्य करणों के लिए भी कोई अवकाश नहीं। तपाकर निकाली हुई लोह शलाकाएं घन से कूटने पर जिस तरह एक हो जाती हैं, उसी तरह निकाचित कर्मों का भी आत्मा के साथ गाढ़ा संबंध हो जाता है। निकाचित कर्म शुभ भी होते हैं और अशुभ भी। उनका फल जीव को अवश्य भोगना पड़ता है। उनका फल उदय से भी भोगा जाता है और उदीरणा से भी। निकाचित कर्म के भी प्रकृति-बन्ध, स्थिति-बंध, अनुभाग बंध और प्रदेशबंध इस प्रकार चार भेद हैं।

कर्मों का बन्ध जिन-जिन कारणों से होता है उन-उन कारणों से अपने को अलग रखना, उदय होने पर समता एवं शान्ति रखना, जिन कर्मों की उदीरणा करने से जीव कर्मों से हल्का हो सके उनकी उदीरणा करना, सत्ता में पड़े हुए कर्मों का क्षय करना, ऐसी प्रक्रिया की साधना ही मानवजीवन का लक्ष्य है।

मनुष्य संसार में भटक रहा है, कर्म-बन्ध के कारण। प्रस्तुत सूत्र में कर्म-बन्ध क्या है, उसके भेदों के रूप क्या हैं और किस प्रकार से उस कर्म-बन्ध को तोड़ा जा सकता है, इत्यादि विषयों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। कर्म की इतनी सूक्ष्म व्याख्या जैनागम ही प्रस्तुत करते हैं।

एकत्व-भेद

मूल—चत्तारि एक्का पण्णत्ता, तं जहा—दविए एक्कए, माउयएक्कए, पज्जए एक्कए, संग्गहएक्कए ॥ ६६ ॥

छाया—चत्वारि एककानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—द्रव्यैककः, मातृकैककः, पर्यायैककः, संग्रहैककः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—एकत्व के चार रूप हैं, यथा—द्रव्य-एकत्व, मातृकापद-एकत्व, पर्याय-एकत्व और संग्रह-एकत्व।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में अल्पत्व और बहुत्व का विवेचन किया गया है, परन्तु एकत्व-बहुत्व सापेक्ष शब्द हैं, क्योंकि अनेक की अपेक्षा एक अल्प है और अल्परूप एक

की अपेक्षा दो या तीन और उससे अधिक बहुत्व है। किन्तु इस बहुत्व का मूल एकत्व ही है अतः एकत्व का प्रयोग कहां-कहां पर किसके लिए होता है इसका ज्ञान भी अनिवार्य है, इसलिए अब सूत्रकार एकत्व के चार रूप प्रदर्शित करते हैं।

द्रव्य-एकत्वः—इस विशाल संसार में द्रव्य मूलतत्त्व है जिसका सृष्टि में महत्त्वपूर्ण स्थान है। द्रव्य के तीन रूप हैं—जीवद्रव्य, अजीवद्रव्य और मिश्रितद्रव्य। जीवद्रव्य अर्थात् जीवास्तिकाय, इसमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का अन्तर्भाव हो जाता है। अजीवद्रव्य के चार रूप हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। वस्त्राभूषणों से युक्त जीव को मिश्रितद्रव्य कहा जाता है।

इस प्रकार यद्यपि द्रव्य के अनेकानेकरूप हैं, तथापि व्यवहार में कोई भी द्रव्य सामने आने पर उसे 'यह द्रव्य है' इस प्रकार एकत्वविशिष्ट रूप में ही उसका ज्ञान होता है और कराया जाता है। फिर द्रव्य का चाहे कोई भी रूप क्यों न हो, उसके प्रत्येक रूप में 'द्रव्यत्व' तो रहता ही है। इस प्रकार सूत्रकार ने व्यवहार और द्रव्यत्व रूप सामान्य धर्म को लक्ष्य में रखकर 'एक' का प्रथम रूप 'द्रव्यएकत्व' बताया है।

मातृका-पद-एकत्वः—जैन संस्कृति की पारिभाषिक शब्दावली में 'उप्पन्नेइ वा', 'विगमेइवा' 'धुवेइवा' इन तीन पदों को मातृका-पद कहा जाता है। इस संसार का प्रत्येक द्रव्य जिसे सत् भी कहा जाता है **'सद् द्रव्यलक्षणम्'** वह तीन मातृका-पदों से युक्त है, क्योंकि **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'** (तत्त्वार्थ०५।२९) के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक द्रव्य उत्पन्न भी होता रहता है और नष्ट भी तथा नित्य भी रहता है। यह जिनेश प्रभु द्वारा निर्दिष्ट त्रिपदी ही जैन संस्कृति की समन्वयात्मक विचार पद्धति का मूल है। यह वह अमृत-सिद्धान्त है जिसका पान करके वैचारिक संघर्ष से सन्तप्त मानव शान्ति प्राप्त कर सकता है।

द्रव्य अविनाशी तत्त्व है, वह सार्वकालिक है, अतः उसमें ध्रौव्य अर्थात् अविनाशित्व है, प्रत्येक क्षण में द्रव्य की पर्याय बदल जाती है, उसकी रूप-रचना में परिवर्तन होता ही रहता है, प्रथम रूप नष्ट होकर द्वितीय रूप बन जाता है, अतः द्रव्य में व्ययत्व भी है। द्रव्य यद्यपि उत्पन्न नहीं होता तथापि जब वह नए रूप और नये आकार में सामने आता है तो उसको 'उत्पत्ति' का व्यवहार मान लिया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य मातृका-पद से युक्त है, अतः द्रव्य का दूसरे प्रकार का एकत्व मातृका-पद एकत्व माना जाता है।

श्रुत साहित्य में वर्णमाला को भी मातृका पद कहा जाता है। समस्त श्रुत-साहित्य मातृका-पदरूप होने से उसमें भी एकत्व देखा जा सकता है, परन्तु प्रस्तुत सूत्र में द्रव्य-मातृका-पद-एकत्व ही अभीष्ट है।

पर्याय-एकत्वः—पर्याय अर्थात् परिवर्तन द्रव्य और गुण दोनों में होता है। नैरयिक,

तिर्यंच, मनुष्य और देव यह जीव की द्रव्य-पर्याय है। सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र में परिणमन होना यह जीव की भाव-पर्याय या गुण-पर्याय है। परमाणु त्रिप्रदेशी से लेकर अनंत प्रदेशी स्कन्ध तक का होना पुद्गल द्रव्य की द्रव्य-पर्याय है। अथवा पांच संठाणों—आकारों में से किसी एक रूप में परिवर्तित होना पुद्गल की द्रव्य-पर्याय है और वर्ण, गंध, रस और स्पर्श में परिवर्तन का होना गुण-पर्याय है। पर्याय चाहे कोई भी हो किन्तु एक द्रव्य में एक समय में एक ही पर्याय होती है इस दृष्टि से सूत्रकार ने पर्याय को एक कहा है।

संग्रह-एक:—संग्रहनय की दृष्टि से सभी पदार्थों में एक सामान्य धर्म रहता है, वह एक ही होता है। गेहूं, चावल आदि धान्यों का विशाल ढेर होने पर भी 'यह गेहूँ पडा है' 'यह चावल पड़ा है' आदि रूपों में समूह के लिए एक का ही प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार 'समाज' कहने से सभी मनुष्यों का बोध हो जाता है, क्योंकि मनुष्यों के समूह का नाम ही तो समाज है, अत: समाज आदि शब्द समूह के ही वाचक हैं और उनके समूह के लिए एक वचन का ही प्रयोग किया जाता है। चांदी, सोना, गेहूं, चावल इत्यादि शब्द भी समूह के ही बोधक हैं और उनके समूह के लिए भी एक वचन का ही प्रयोग किया जाता है। गणिपिटक एक वचन है, किन्तु वह बारह अंग सूत्रों का बोधक है। इस प्रकार के शब्दों को संग्रह-एक कहते हैं।

कति-भेद

मूल—चत्तारि कई पण्णत्ता, तं जहा—दवियकई, माउयकई, पज्जव-कई, संगहकई ॥ ६७ ॥

छाया—चत्वारि कति प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—द्रव्यकति, मातृकाकति, पर्यायकति, संग्रहकति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—कति (प्रश्न गर्भित वाक्य का एक प्रभेद है) चार हैं, जैसे—१. द्रव्य-कति, २. मातृकापद-कति, ३. पर्याय-कति और ४. संग्रह-कति।

विवेचनिका—पहले सूत्र में एकत्व का वर्णन किया गया है, अब इस सूत्र में कति शब्द का विवेचन करते हैं। कति शब्द का प्रयोग बहुवचन में होता है, क्योंकि कति शब्द बहुवचनांत है और साथ ही कति शब्द प्रश्न सूचक भी है। द्रव्य आदि पदार्थ कितने हैं? छ: मातृकापद कितने हैं? अनन्त। दंडक, वर्ग, राशि, स्कंध, काय, जाति इत्यादि शब्द संग्रह के पर्यायवाची हैं। प्रश्न किया जाता है—दंडक कितने हैं? चौबीस। राशि कितनी हैं? दो। काय कितने हैं? छ:। जाति कितनी हैं? पांच। इस प्रकार दो से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनंतपर्यन्त जितने भी पदार्थों के समूह हैं, उतने संग्रह होते हैं।

सर्व-विश्लेषण

मूल—चत्तारि सव्वा पण्णत्ता, तं जहा—नाम-सव्वए, ठवणा-सव्वए, आएस-सव्वए, निरवसेस-सव्वए॥६८॥

छाया—चत्वारि सर्वाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—नाम-सर्वं, स्थापना-सर्वं, आदेश-सर्वं, निरवशेष-सर्वम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार सर्व (साकल्यबोधक) कहे गए हैं, जैसे—१. नाम-सर्व, २. स्थापना-सर्व ३. आदेश-सर्व और ४. निरवशेष-सर्व।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में प्रकरण-प्राप्त 'एक' शब्द के प्रयोग की व्याख्या की गई थी। अब बहुत्व-बोधक सर्व शब्द का प्रयोग कहां-कहां होता है इस विषय का उल्लेख किया जा रहा है। सर्व शब्द का प्रयोग चार अर्थों में होता है, जैसे कि—

१. नाम-सर्व—किसी जीव या अजीव का नाम 'सर्व' रखना, जैसे कि नालंदा शब्दकोश में शिव और विष्णु नामक देवताओं का और पारा, रसौंत तथा शिलाजीत का नाम 'सर्व' लिखा गया है। इस प्रकार जब किसी प्राणी या पदार्थ का नाम सर्व रखा जाए तो ऐसे 'सर्व' शब्द के प्रयोग को नाम-सर्व कहते हैं।

२. स्थापना-सर्व—किसी स्थान विशेष पर अक्षर-विन्यास रूप में लिखे गए 'सर्व' शब्द को 'स्थापना-सर्व' कहा जाता है।

३. आदेश सर्व—यहां आदेश से तात्पर्य व्यवहार से है। व्यवहार में सर्व शब्द का प्रयोग दो तरह से किया जाता है, १. अधिकता की दृष्टि से और २. प्रधानता की दृष्टि से। भोज्यपंक्ति में जब अधिक व्यक्ति भोजन कर जाते हैं और थोड़े से रह जाते हैं, तब लोग कह दिया करते हैं कि सब ('सर्व') भोजन कर गए हैं, जो घट घी से भरा हुआ था उसमें से अधिकांश घी के खाए जाने के अनन्तर थोड़ा सा घी रहने पर भी यही कहा जाता है कि सर्व घी खा लिया गया है। (**सर्वं घृतं भुक्तम्।**) थोड़ा भोजन रहने पर भी सब खा लिया यही कहा जाता है। यही हुआ अधिक की अपेक्षा से सर्व शब्द का प्रयोग। ग्राम से प्रधान पुरुषों के चले जाने पर और अप्रधान पुरुषों के रह जाने पर भी **'सर्वो ग्रामगतः'** सारा गांव चला गया ऐसा कहा जाता है, यह हुआ प्रधान की अपेक्षा से सर्व शब्द का अर्थ। इस प्रकार व्यावहारिकता के धरातल पर जो सर्व शब्द का प्रयोग होता है उसे 'आदेशसर्व' कहा जाता है।

४. निरवशेष सर्व—जहां सर्व शब्द समस्त समूह का बोधक होता है उसे निरवशेष सर्व कहा जाता है। जैसे—**"सर्वे देवा अनिमिषाः"** सभी देव अनिमिष होते हैं अर्थात् पलकें नहीं झपका करते। यहां पर सर्व शब्द सम्पूर्ण देव-समूह का बोधक है। इसी प्रकार

'सर्वज्ञ' 'सर्वदर्शी' आदि शब्दों में विद्यमान सर्व शब्द सम्पूर्णता का बोधक होने से निरवशेष सर्व ही कहलाएगा।

भाष्यकार क्षमाश्रमण जिनभद्र गणी सर्व शब्द का चतुर्विध प्रयोग न मानकर सप्तविध प्रयोग मानते हैं। जैसे कि—

''नामं ठवणा दविए, आएसे चेव निरवसेसं च।
तह सव्वधत्ता सव्वं च, भावसव्वं च सत्तमयं॥''

—विशेषावश्यक भाष्य ३४/८५

अर्थात्—नाम-सर्व, स्थापना-सर्व, द्रव्य-सर्व, आदेश-सर्व, निरवशेष-सर्व, सर्वधत्ता-सर्व और भावसर्व इन रूपो मे सर्व शब्द के सात रूप है।

हम नाम-सर्व, स्थापना-सर्व, आदेश-सर्व और निरवशेष-सर्व, इन चार रूपों का परिचय प्राप्त कर चुके हैं। शेष तीन रूपो की परिचयात्मक व्याख्या इस प्रकार है—

१. द्रव्य-सर्व—प्रत्येक द्रव्य के अनेक अंग होते हैं, अंगों सहित अवयवी को द्रव्य-सर्व कहा जाता है। जैसे **'सर्वः संघः समायातः'** सारा संघ आ गया है। यहां पर सर्व शब्द साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका इन चारो अंगो सहित अवयवी—संघ का बोधक है, अतः इसे द्रव्य-सर्व कहा जाएगा।

२. सर्वधत्ता-सर्व—जब सर्व शब्द एक विशेष समूह का परिचय कराते हुए अन्य का निषेधक भी हो जाए तो उसे 'सर्वधत्ता सर्व' कहा जाता है। जैसे **'एषु सर्वेषु श्लोकेषु जीवाजीवा एव व्याख्याताः'** इन सभी श्लोको मे जीव-अजीव की ही व्याख्या की गई है, प्रस्तुत वाक्य मे 'अन्य की व्याख्या नहीं की गई' इस निषेधात्मकता की भी अभिव्यक्ति हो रही है, अतः यह सर्व शब्द 'सर्वधत्ता सर्व' कहलाएगा।

३. भाव-सर्व—भावात्मक पदार्थों की समष्टि बोध कराने वाले 'सर्व' शब्द को 'भावसर्व' कहा जाता है। औदयिक भाव, औपशमिक भाव, क्षायिकभाव, क्षायोपशमिक भाव और पारिणामिक भाव ये पाच भाव है। जब **'सर्वाणि कर्माणि औदयिकानि'** सभी कर्मों का स्वभाव औदयिक भाव है, यह कहा जाता है तब इस वाक्य का सर्व शब्द शुभाशुभ सभी कर्मों की समष्टि का बोधक होने से भाव-सर्व कहलाता है।

यद्यपि भाष्यकार ने 'सर्व' के सात रूप प्रतिपादित किए है, परन्तु द्रव्य-सर्व और सर्वधत्ता-सर्व का आदेश-सर्व मे और भाव-सर्व का निरवशेष सर्व मे समावेश हो जाने से सर्व के चार रूप ही विद्वज्जन मान्य हैं।

मानुषोत्तर के चार कूट

मूल—माणुसुत्तरस्स णं पव्वयस्स चउदिसिं चत्तारि कूडा पण्णत्ता, तं जहा—रयणे, रयणुच्चए, सव्वरयणे, रयणसंचए॥६१॥

छाया—मानुषोत्तरस्य खलु पर्वतस्य चतुर्दिशि चत्वारि कूटानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—रत्नं, रत्नोच्चयं, सर्वरत्नं, रत्नसञ्चयम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—मानुषोत्तर पर्वत की चारों दिशाओं में रत्न, रत्नोच्चय, सर्वरत्न और रत्नसंचय नामक ये चार कूट हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में सर्व शब्द की व्याख्या की गई है, अब सूत्रकार सर्व-मनुष्य-जाति-क्षेत्र के सीमावर्ती मानुषोत्तर पर्वत की चारों दिशाओं में विद्यमान कूटों का वर्णन करते हैं। मानुषोत्तर पर्वत पुष्कर द्वीप के ठीक मध्यभाग में चारों ओर कुंडलाकार में अवस्थित है। इसकी आकृति बैठे हुए सिंह के तुल्य है। पुष्कर द्वीप को इसने दो भागों में विभक्त किया हुआ है। इस पर्वत की सीमा से बाहर मनुष्यलोक नहीं है। इस मानुषोत्तर पर्वत पर चार कूट हैं जो कि चार विदिशाओं में हैं, जैसे कि आग्नेय कोण में रत्नकूट, नैऋत्य कोण में रत्नोच्चय, वायव्यकोण में सर्वरत्न और ईशानकोण में रत्नसंचय कूट है। इनमें पहला कूट वेणुदेव नामक सुपर्णकुमारेन्द्र का अधिष्ठान है, दूसरा कूट वायुकुमारेन्द्र वेलम्बदेव का अधिष्ठान है, तीसरे कूट का अधिष्ठाता प्रभंजन नामा वायुकुमारेन्द्र है तथा चौथे कूट का स्वामी वेणुदालिक नामा सुपर्णकुमारेन्द्र है।

पूर्व दिशा में तीन कूट हैं, तीन ही दक्षिण में, तीन ही पश्चिम में और तीन ही उत्तर दिशा में हैं। इस प्रकार मानुषोत्तर पर्वत पर कुल सोलह कूट हैं। द्वीप-सागर-प्रज्ञप्ति में उनका विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।[१]

यहां चतुर्थ स्थान के अनुरोध से उपर्युक्त चार कूटों का ही वर्णन किया गया है। चार दिशाओं में तीन-तीन के क्रम से शेष बारह कूटों का सूत्रकार ने उल्लेख नहीं किया।

सुषम-सुषमा समय का कालमान

मूल—जंबुद्दीवे दीवे भरहेरवतेसु वासेसु तीयाए उस्सप्पिणीए सुसम-सुसमाए समाए चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो हुत्था।

जंबुद्दीवे दीवे भरहेरवए इमीसे ओसप्पिणीए सुसमसुसमाए समाए जहण्णपएणं चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो हुत्था।

---

१ दक्खिणपुव्वेण रयणकूड, गरुलस्स वेणुदेवस्स।
सव्वरयणं च पुव्वुत्तरेण, तं वेणुदालिस्स।।
दक्खिणपच्छिमरयणुच्चयं च वेलंबदेवस्स।
पच्छिमउत्तररयणसंचयकूडं पभंजणस्स।।
पुव्वेण तिन्नि कूडा, दाहिणओ तिन्नि अवरेणं।
उत्तरओ तिन्नि भवे चउद्दिसिं माणुसनगस्स।। द्वीप-सागर प्रज्ञप्ति।

जंबुद्दीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु आगमेस्साए उस्सप्पिणीए सुसमसुसमाए समाए चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो भविस्सइ ॥७०॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतैरवतयोर्वर्षयोरतीतायामुत्सर्पिण्यां सुषमसुषमायां समायां चतस्रः सागरोपमकोटाकोट्यः कालोऽभूत्।

जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतैरवतयोर्वर्षयोरस्यामवसर्पिण्यां सुषमसुषमायां समायां जघन्यपदे खलु चतस्रः सागरोपमकोटाकोट्यः कालोऽभवत्।

जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतैरवतयोर्वर्षयोरागमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां सुषमसुषमायां समायां चतस्रः सागरोपमकोटाकोट्यः कालो भविष्यति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरत और ऐरावत इन दो क्षेत्रों में अतीत उत्सर्पिणी के सुषमसुषमा (आरक) में चार सागरोपमकोटाकोटी काल हुआ।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरत-ऐरावत इन दो क्षेत्रों में इस (वर्तमान) अवसर्पिणी काल के सुषमसुषमा नामक समय में जघन्यपद चार कोटाकोटी सागरोपम काल होता है। जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरत-ऐरावत इन क्षेत्रों में आगामी उत्सर्पिणी में भी उसकी स्थिति चार सागरोपम कोटाकोटी होगी।

विवेचनिका—जंबूद्वीप के अन्तर्गत भरत और ऐरवत क्षेत्र में सुषमसुषमा आरक की स्थिति चार करोड़ा-करोड़ सागरोपम की है। वह आरक चाहे उत्सर्पिणी काल का हो या अवसर्पिणी काल का, भूत, भविष्यत्, वर्तमान इन में से किसी भी काल में हो उसकी स्थिति उक्त काल परिमाण रूप ही सदा-सर्वदा रहती है। ऐसा कभी नहीं होता जबकि उसकी स्थिति न्यूनाधिक हो जाए। इतना अन्तर अवश्य है कि उत्सर्पिणी काल में जब वह आरक लगता है तब विकासोन्मुख होता है और अवसर्पिणी काल में ह्रासोन्मुख। यही क्रम सदा काल से चला आ रहा है। उस काल में इन क्षेत्रों मे जितने भी मनुष्य होते हैं वे सब देवगति के अतिथि होते हैं अन्य किसी गति के नहीं।

जम्बूद्वीप वर्त्ती अकर्मभूमि आदि का परिचय

मूल—जंबूदीवे दीवे देवकुरुउत्तरकुरुवज्जाओ चत्तारि अकम्मभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—हेमवए, हेरन्नवए, हरिवासे, रम्मगवासे।

चत्तारि वट्टवेयड्ढपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—सद्दावई, वियडावई, गंधावई, मालवंतपरियाए। तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठिइया परिवसंति, तं जहा—साती, पभासे, अरुणे, पउमे।

जंबूदीवे दीवे महाविदेहवासे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—पुव्वविदेहे, अवरविदेहे, देवकुरा, उत्तरकुरा। सव्वेऽवि णं णिसढ-णीलवंत-वासहर-पव्वया चत्तारि जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, चत्तारि गाउयसयाइं उव्वेहेणं पण्णत्ता।

जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं सीयाए महानईए उत्तरे कूले चत्तारि वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—चित्तकूडे, पम्हकूडे, णलिणकूडे, एगसेले।

जंबूदीवे दीवे मन्दरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं सीयाए महानईए दाहिणकूले चत्तारि वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—तिकूडे, वेसमणकूडे, अंजणे, मातंजणे।

जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पच्चत्थिमेणं सीओयाए महानईए दाहिणकूले चत्तारि वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—अंकावई, पम्हावई, आसीविसे, सुहावहे।

जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पच्चत्थिमेणं सीओयाए महाणईए उत्तरकूले चत्तारि वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—चंदपव्वए, सूरपव्वए, देवपव्वए, णागपव्वए।

जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स चउसु विदिसासु चत्तारि वक्खारपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—सोमणसे, विज्जुप्पभे, गंधमायणे, मालवंते।

जंबूदीवे दीवे महाविदेहे वासे जहण्णपए चत्तारि अरहंता, चत्तारि चक्कवट्टी, चत्तारि बलदेवा, चत्तारि वासुदेवा उप्पज्जिंसु वा, उप्पज्जंति वा, उप्पज्जिस्संति वा।

जंबूदीवे दीवे मंदरे पव्वए चत्तारि वणा पण्णत्ता, तं जहा—भद्दसालवणे, नंदणवणे, सोमणसवणे, पंडगवणे।

जंबूदीवे दीवे मंदरे पव्वए पंडगवणे चत्तारि अभिसेयसिलाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पंडुकंबलसिला, अइपंडुकंबलसिला, रत्तकंबलसिला, अतिरत्तकंबलसिला।

मंदरचूलियाणं उवरिं चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं पण्णत्ता। एवं धायइसंडदीवपुरच्छिमद्धेवि कालं आइं करेत्ता जाव मंदरचूलियत्ति। एवं जाव पुक्खरवरदीवपच्चच्छिमद्धे जाव मंदर चूलियत्ति—

जंबूदीवग-आवस्सगं तु, कालाओ चूलिया जाव।

धायइसंडे पुक्खरवरे य पुव्वावरे पासे॥७१॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे देवकुरूत्तरकुरुवर्जाश्चतस्रोऽकर्मभूमयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हैमवतः, ऐरण्यवतः, हरिवर्षः, रम्यकवर्षः।

चत्वारो वृत्तवैताढ्यपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शब्दपतिः, विकटपतिः, गन्धपतिः, माल्यवत्पर्यायः। तत्र खलु चत्वारो देवा महर्द्धिका यावत् पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति, तद्यथा—स्वातिः, प्रभासः, अरुणः, पद्मः।

जम्बूद्वीपे द्वीपे महाविदेहो वर्षश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पूर्वविदेहः, अपरविदेहः, देवकुरुः, उत्तरकुरुः। सर्वेऽपि खलु निषधनीलवद्वर्षधरपर्वताश्चत्वारि योजनशतानि ऊर्ध्वमुच्चत्वेन, चत्वारि गव्यूतिशतानि उद्वेधेन प्रज्ञप्ताः।

जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पौरस्त्येन शीताया महानद्या उत्तरे कूले चत्वारो वक्षस्कारपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चित्रकूटः, पद्मकूटः, नलिनकूटः, एकशैलः।

जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पाश्चात्ये शीताया महानद्या दक्षिणकूले चत्वारो वक्षस्कारपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—त्रिकूटः, वैश्रवणकूटः, अञ्जनः, मातञ्जनः।

जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पाश्चात्ये शीतोदाया महानद्या उत्तरे कूले चत्वारो वक्षस्कारपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अङ्कावती, पक्ष्मावती, आशीविषः, सुखावहः।

जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पश्चिमायां शीतोदाया महानद्या उत्तरे कूले चत्वारो वक्षस्कारपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चन्द्रपर्वतः, सूर्यपर्वतः, देवपर्वतः, नागपर्वतः।

जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य चतसृषु विदिक्षु चत्वारो वक्षस्कारपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सौमनसः, विद्युत्प्रभः, गन्धमादनः, माल्यवान्।

जम्बूद्वीपे द्वीपे महाविदेहे वर्षे जघन्यपदे चत्वारोऽर्हन्तः, चत्वारश्चक्रवर्तिनः, चत्वारो बलदेवाः, चत्वारो वासुदेवाः उत्पद्यन्त वा, उत्पद्यन्ते वा, उत्पत्स्यन्ते वा।

जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरपर्वते चत्वारि वनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—भद्रशालवनं, नन्दनवनं, सौमनसवनं, पण्डकवनम्।

जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरे पर्वते पण्डकवने चतस्रोऽभिषेकशिलाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पाण्डुकम्बलशिला, अतिपाण्डुकम्बलशिला, रक्तकम्बलशिला, अतिरक्तकम्बलशिला।

मन्दरचूलिका खलु उपरि चत्वारि योजनानि विष्कम्भेण प्रज्ञप्ता। एवं धातकीखण्डद्वीपपूर्वार्द्धेऽपि कालमादिं कृत्वा यावत् मन्दरचूलिकेति। एवं यावत् पुष्करवरद्वीपपश्चिमार्द्धे यावत् मन्दरचूलिकेति—

जम्बूद्वीपगावश्यकं तु, कालात् चूलिकां यावत्।
धातकीखण्डे पुष्करवरे च पूर्वापरे पार्श्वे ॥
(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप में देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़ कर चार अकर्म-भूमियां हैं, जैसे—हैमवत, ऐरण्यवत, हरिवर्ष और रम्यकवर्ष।

चार वृत्तवैताढ्य पर्वत हैं—शब्द-पति, विकट-पति, गन्ध-पति और माल्यवत्पर्याय। वहां पल्योपमस्थिति वाले चार महर्द्धिक देव निवास करते हैं—स्वाति, प्रभास, अरुण और पद्म।

जम्बूद्वीप में चार महाविदेह वर्ष हैं—पूर्वविदेह, अपरविदेह, देवकुरु और उत्तर-कुरु। सभी नील, निषध और वर्षधर पर्वत चार सौ योजन ऊपर ऊंचाई में और चार सौ गव्यूति (आठ सौ कोश) परिधि में हैं।

जम्बूद्वीप में मन्दर पर्वत के पूर्व शीता महानदी के उत्तर तट पर चार वक्षस्कार पर्वत हैं—चित्रकूट, पक्ष्मकूट, नलिनकूट और एकशैल।

जम्बूद्वीप में मन्दर पर्वत के पूर्व में शीता महानदी के दक्षिण तट पर चार वक्षस्कार पर्वत हैं—त्रिकूट, वैश्रमणकूट, अञ्जन और मातञ्जन।

जम्बूद्वीप में मन्दर पर्वत के पश्चिम में शीतोदा महानदी के दक्षिण तट पर चार वक्षस्कार पर्वत हैं—अंकावती, पक्ष्मवती, आशीविष और सुखावह।

जम्बूद्वीप में मन्दर पर्वत के पश्चिम में शीतोदका महानदी के उत्तर तट पर चार वक्षस्कार पर्वत हैं—चन्द्रपर्वत, सूर्यपर्वत, देवपर्वत और नागपर्वत।

जम्बूद्वीप में मन्दर पर्वत की चारों विदिशाओं में चार वक्षस्कार पर्वत हैं—सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन और माल्यवान्।

जम्बूद्वीप में महाविदेह वर्ष में जघन्य पद में चार अरिहन्त, चार चक्रवर्ती, चार बलदेव और चार वासुदेव उत्पन्न हुए, उत्पन्न होते हैं और आगे भी उत्पन्न होंगे।

जम्बूद्वीप के मन्दर पर्वत पर चार वन हैं, जैसे—भद्रशालवन, नन्दनवन, सौमनस्य-वन और पण्डकवन।

जम्बूद्वीप के मन्दर पर्वत पर पण्डकवन में चार अभिषेक शिलाएं हैं, जैसे—पाण्डुकम्बलशिला, अतिपाण्डुकम्बलशिला, रक्तकम्बलशिला और अतिरक्त-कम्बलशिला।

मन्दर की चूलिका (शिखर) ऊपर की ओर विस्तार में चार योजन है। इसी प्रकार धातकीखण्ड के पश्चिम वाले अर्द्ध भाग में भी काल से ले कर चूलिका

पर्यन्त समझना चाहिए। इसी प्रकार पुष्करवर द्वीप के भी पश्चिमार्ध में काल से लेकर चूलिका पर्यन्त समझना चाहिए।

विवेचनिका—इस सूत्र में जम्बूद्वीप के अन्तर्गत क्षेत्रों और पर्वतों का वर्णन किया गया है। जिन क्षेत्रों में राजनीति और धर्मनीति का व्यवहार नहीं है, उन क्षेत्रों को अकर्मभूमि कहते हैं। हेमवत और हैरण्यवत ये दो क्षेत्र लम्बाई-चौड़ाई और परिधि में परस्पर सम हैं। उनमें रहने वाले मनुष्य, तिर्यंचों की अवगाहना, आयु, सुख एवं प्रकृति आदि सम हैं, इसलिए इन नामों का उल्लेख साथ-साथ किया है। इसी प्रकार हरिवर्ष और रम्यकवर्ष के विषय में समझना। ये दो क्षेत्र पहले की अपेक्षा से बहुत बड़े विस्तार वाले हैं। उनमें रहने वालों की अवगाहना, आयु, सुख एवं प्रकृति आदि भी द्विगुणित हैं। मेरुपर्वत से हैमवत और हरिवर्ष ये क्षेत्र दक्षिण की ओर हैं तथा हैरण्यवत और रम्यकवर्ष ये दो क्षेत्र मेरुगिरि से उत्तर की ओर हैं।

वैताढयपर्वत दो प्रकार के हैं—वृत्तवैताढय और दीर्घवैताढय। यहां सूत्रकार ने वृत्त-वैताढय पर्वतों का उल्लेख किया है, ये पर्वत गोलाकार हैं। हैमवत क्षेत्र के ठीक मध्यभाग में एक हजार योजन का ऊंचा और उतना ही लम्बा-चौड़ा शब्दपति वृत्तवैताढय पर्वत है, यह पर्वत रोहिता महानदी से पश्चिम में और रोहितंसा महानदी से पूर्व में विद्यमान है। हरिवर्ष क्षेत्र के ठीक मध्य भाग में विकटपति वृत्तवैताढय पर्वत है। उसका वर्णन शब्दपति की तरह जानना चाहिए। वह हरी महानदी से पश्चिम में और हरिकांता महानदी से पूर्व में विद्यमान है। शब्दपति और विकटपति ये दो वृत्तवैताढय पर्वत मेरु से दक्षिण की ओर हैं। रम्यकवर्ष में गन्धपति वृत्तवैताढय पर्वत है और हैरण्यवत क्षेत्र में माल्यवंतपर्याय नामक वृत्तवैताढय पर्वत है। इनकी लम्बाई-चौड़ाई और ऊंचाई भी शब्दपति वैताढय पर्वत के ही समान है, परन्तु यह मेरु से उत्तर की ओर है।

निषध और नीलवंत पर्वत के अन्तराल में चार क्षेत्र हैं—पूर्व में पूर्वीय महाविदेह और पश्चिम में पश्चिमीय महाविदेह। दक्षिण की ओर देवकुरु और उत्तर की ओर उत्तरकुरु है। देवकुरु और उत्तरकुरु इन दो क्षेत्रों में मनुष्य-तिर्यंच अकर्म-भूमिज कहलाते हैं। उनकी अवगाहना, आयु, सुख और प्रकृति पहले की अपेक्षा अधिक और श्रेष्ठ हैं।

जो पर्वत गजदंताकार हैं उन्हें वक्खार— वक्षस्कार पर्वत कहते हैं। शीता महानदी पूर्व-महाविदेह क्षेत्र को दो भागों में विभक्त करती हुई समुद्र में प्रवेश करती है। उस महानदी के उत्तरकूल पर चार वक्खार पर्वत हैं, जैसे कि चित्रकूट, पक्ष्मकूट, नलिनकूट और एकशैल। उसके दक्षिणकूल पर भी चार वक्खार पर्वत हैं, उनके नाम हैं—त्रिकूट, वैश्रमण, अञ्जन और मातञ्जन।

शीतोदा महानदी पश्चिम महाविदेह क्षेत्र को दो भागों में विभाजित करती हुई समुद्र में प्रविष्ट होती है, उसके दक्षिणकूल पर चार वक्खार पर्वत हैं—अंकावती, पक्ष्मावती,

आशीविष और सुखावह, ये उनके शाश्वत नाम हैं। उस नदी के उत्तरकूल पर भी चार वक्खार पर्वत हैं—चन्द्रपर्वत, सूर्यपर्वत, देवपर्वत और नागपर्वत। ये भी उनके शाश्वत नाम हैं। इस प्रकार के कुल सोलह पर्वत हैं। चार वक्खार पर्वत मेरु के चार विदिशाओं में हैं, जिनके शाश्वत नाम सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन और मालवंत हैं।

जंबूद्वीप के महाविदेह में कम से कम चार अरिहंत, चार चक्रवर्ती, चार बलदेव और चार वासुदेव सदाकाल भावी हैं, इनसे कम नहीं पाए जाते। दो पूर्व महाविदेह में और दो पश्चिम महाविदेह में। एक विजय में एक तीर्थंकर हो सकते हैं दो नहीं, चक्रवर्ती भी एक और बलदेव, वासुदेव भी एक ही उत्पन्न होते हैं। जिस विजय में चक्रवर्ती है, उसमें बलदेव-वासुदेव नहीं होते, क्योंकि इनका साम्राज्य स्वतन्त्र होता है। हां जिस विजय में तीर्थंकर भगवान हैं, उसमें चक्रवर्ती भी हो सकता है तथा वासुदेव भी, दोनों में कोई सा एक, या दोनों में से कोई भी न हो।

मेरुपर्वत पर चार वन हैं, जैसे कि भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पण्डकवन। पंडकवन सर्वोपरि है। उसमें चार अभिषेक शिलाएं हैं, उन पर तीर्थंकरों का जन्मोत्सव होता है। उनके नाम हैं, पांडुकंबलाशिला, अतिपांडुकंबलाशिला, रक्तकम्बलाशिला, अतिरक्तकम्बलाशिला। पूर्व में पांडुकंबला, पश्चिम में रक्तकम्बला, दक्षिण में अतिपांडुकंबला और उत्तर में अतिरक्तकंबला है। इनमें से अतिपाण्डुकम्बला और अतिरक्तकम्बला इन दो शिलाओं पर एक-एक सिंहासन है। शेष दो शिलाओं पर दो-दो सिंहासन हैं। जिस दिशा में तीर्थंकर का जन्म हुआ उसी दिशा वाली शिला पर जन्माभिषेक होता है। पंडकवन के ठीक मध्यभाग में मेरुपर्वत की चूलिका है।

धातकीखण्ड के पूर्वार्द्ध और पश्चिमार्द्ध में तथा पुष्करार्द्ध के पूर्वार्द्ध और पश्चिमार्द्ध में उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल के वर्णन से लेकर सारा वर्णन जम्बूद्वीप के समान समझना चाहिए, **'यावत् चूलिका पर्यन्त'**। क्षेत्र, पर्वत और वन देवाधिष्ठित होने से सभी महत्वपूर्ण हैं।

जम्बूद्वीप के चार द्वार

मूल—जम्बुद्दीवस्स णं दीवस्स चत्तारि दारा पण्णत्ता, तं जहा—विजए, वेजयंते, जयंते, अपराजिते। ते णं दारा चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं, तावइयं चेव पवेसेणं पण्णत्ते। तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठिया परिवसंति—विजए, वेजयंते, जयंते, अपराजिते॥ ७२॥

छाया—जम्बूद्वीपस्य खलु द्वीपस्य चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—विजयः, वैजयन्तः, जयन्तः, अपराजितः। तत्र तानि द्वाराणि चत्वारि योजनानि विष्कम्भेण,

तावन्त्येव च प्रवेशेन प्रज्ञप्तानि। तत्र खलु चत्वारो देवाः महर्द्धिका यावत्पल्योपम-स्थितिकाः परिवसन्ति—विजयः, वैजयन्तः, जयन्तः, अपराजितः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के चार द्वार प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित। चौड़ाई की अपेक्षा से वे चार-चार योजन हैं और उनका विष्कम्भ (परिधि) भी उतना ही है। उन द्वारों पर महान् ऋद्धिमान् यावत् पल्योपम स्थिति वाले चार-चार देव रहते हैं, उनके नाम हैं—विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित।

विवेचनिका—इस सूत्र में जबूद्वीप के द्वारों की नामावली दी है, वे द्वार आठ योजन ऊंचे हैं, चार योजन चौड़े हैं और चार योजन परिवेश वाले हैं। पूर्व द्वार का नाम विजय है, दक्षिण द्वार का नाम वैजयंत, पश्चिम द्वार का नाम जयंत और उत्तर द्वार का नाम अपराजित है। जिस-जिस द्वार पर जिस-जिस देव का अधिकार है उसका नाम वही है जो द्वार का है। विजयद्वार पर विजय नामक महर्द्धिक महासुखी पल्योपम की स्थिति वाला देव अपने समस्त देव-देवियों के परिवार से परिवृत रहता है।[1]

जम्बूद्वीप-वर्णन

मूल—जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं तिन्नि-तिन्नि जोयणसयाइं ओगाहित्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पण्णत्ता, तं जहा—एगूरूयदीवे, आभासियदीवे, वेसाणियदीवे, णंगोलियदीवे। तेसु णं दीवेसु चउव्विहा मणुस्सा परिवसंति, तं जहा—एगूरूया, आभासिया, वेसाणिया, णंगोलिया।

तेसिणं दीवाणं चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं चत्तारि-चत्तारि जोयण सयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पण्णत्ता, तं जहा—हयकन्नदीवे, गयकन्नदीवे, गोकन्नदीवे, संकुलिकन्नदीवे। तेसु णं दीवेसु चउव्विहा मणुस्सा परिवसंति, तं जहा—हयकन्ना, गयकन्ना, गोकन्ना, संकुलिकन्ना।

तेसि णं दीवाणं चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं पंच-पंच जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पण्णत्ता, तं जहा—आयंसमुहदीवे, मेंढमुहदीवे, अओमुहदीवे, गोमुहदीवे। तेसु णं दीवेसु चउव्विहा मणुस्सा भाणियव्वा।

---

१. विशेष ज्ञान के लिए देखिए जीवाभिगम सूत्र की प्रतिपत्ति-३।

तेसि णं दीवाणं चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं छ-छ जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पण्णत्ता, तं जहा—आसमुहदीवे, हत्थिमुहदीवे, सीहमुहदीवे, वग्घमुहदीवे। तेसु णं दीवेसु मणुस्सा भाणियव्वा।

तेसि णं दीवाणं चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं सत्त-सत्त जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पण्णत्ता, तं जहा—आसकन्नदीवे, हत्थिकन्नदीवे, अकन्नदीवे, कन्नपाउरणदीवे। तेसु णं दीवेसु मणुया भाणियव्वा।

तेसि णं दीवाणं चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं अट्ठ-अट्ठ जोयण-सयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पण्णत्ता, तं जहा—उक्कामुहदीवे, मेहमुहदीवे, विज्जुमुहदीवे, विज्जुदंतमुहदीवे। तेसु णं दीवेसु मणुस्सा भाणियव्वा।

तेसि णं दीवाणं चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं णव-णव जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पण्णत्ता, तं जहा—घणदंतदीवे, लट्ठदंतदीवे, गूढदंतदीवे, सुद्धदंतदीवे। तेसु णं दीवेसु चउव्विहा मणुस्सा परिवसंति, तं जहा—घणदंता, लट्ठदंता, गूढदंता, सुद्धदंता।

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेण सिहरिस्स वासहरपव्वयस्स चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं तिन्नि तिन्नि जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पण्णत्ता, तं जहा—एगूरूयदीवे, सेसं तदेव निरवसेसं भाणियव्वं जाव सुद्धदंता ॥७३॥

छाया—जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणेन क्षुद्रहिमवतो वर्षधरपर्वतस्य चतसृषु विदिशासु (विदिक्षु) लवणसमुद्रं त्रीणि त्रीणि योजनशतान्यवगाह्य अत्र नु चत्वारोऽन्तरद्वीपाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एकोरूक-द्वीपः, आभाषिक-द्वीपः, वैषाणिक-द्वीपः, लांगूलिकद्वीपः। तेषु द्वीपेषु चतुर्विधा मनुष्याः परिवसन्ति, तद्यथा—एकोरूकाः, आभाषिकाः, वैषाणिकाः, लांगूलिकाः।

तेषां द्वीपानां चतसृषु विदिक्षु लवणसमुद्रं चत्वारि चत्वारि योजनशतान्यवगाह्य अत्र खलु चत्वारोऽन्तर्द्वीपाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हयकर्ण-द्वीपः, गजकर्ण-द्वीपः, गोकर्णद्वीपः, शष्कुलिकर्ण-द्वीपः। तेषु द्वीपेषु चतुर्विधा मनुष्याः परिवसन्ति, तद्यथा—हयकर्णाः, गजकर्णाः, गोकर्णाः, शष्कुलिकर्णाः।

तेषां द्वीपानां चतसृषु विदिक्षु लवणसमुद्रं पञ्च पञ्च योजनशतान्यवगाह्य अत्र

खलु चत्वारोऽन्तरद्वीपाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आदर्शमुखद्वीपः, मेण्ढमुखद्वीपः, अयोमुखद्वीपः, गोमुखद्वीपः। तेषु द्वीपेषु चतुर्विधा मनुष्या भणितव्याः।

तेषां द्वीपानां चतसृषु विदिक्षु लवणसमुद्रं षट्-षट् योजनशतान्यवगाह्य अत्र चत्वारोऽन्तर्द्वीपाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अश्वमुखद्वीपः, हस्तिमुखद्वीपः, सिंहमुखद्वीपः, व्याघ्रमुखद्वीपः। तेषु द्वीपेषु मनुष्या भणितव्याः।

तेषां द्वीपानां चतसृषु विदिक्षु लवणसमुद्रं सप्त-सप्त योजनशतान्यवगाह्य अत्र चत्वारोऽन्तर्द्वीपाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अश्वकर्णद्वीपः, हस्तिकर्णद्वीपः, अकर्णद्वीपः, कर्णप्रावरणद्वीपः। तेषु द्वीपेषु मनुष्या भणितव्याः।

तेषां द्वीपानां चतसृषु विदिक्षु लवणसमुद्रमष्टाष्टयोजनशतान्यवगाह्य अत्र चत्वारोऽन्तर्द्वीपाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—उल्कामुखद्वीपः, मेघमुखद्वीपः, विद्युन्मुखद्वीपः, विद्युद्दन्तमुखद्वीपः। तेषु द्वीपेषु मनुष्या भणितव्या।

तेषां द्वीपानां चतसृषु विदिक्षु लवणसमुद्रं नव-नव योजनशतान्यवगाह्य अत्र चत्वारोऽन्तर्द्वीपाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—घनदन्तद्वीपः, लष्टदन्तद्वीपः, गूढदन्तद्वीपः, शुद्धदन्तद्वीपः। तेषु द्वीपेषु चतुर्विधा मनुष्याः परिवसन्ति, तद्यथा—घनदन्ताः, लष्टदन्ताः, गूढदन्ताः, शुद्धदन्ताः।

जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरेणं शिखरिणो वर्षधरपर्वतस्य चतसृषु विदिक्षु लवणसमुद्रं त्रीणि-त्रीणि योजनशतान्यवगाह्य अत्र चत्वारोऽन्तर्द्वीपाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एकोरूकद्वीपः, शेषं तदेव निरवशेषं भणितव्यं यावत् शुद्धदन्ताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरु पर्वत की दक्षिण दिशा में चुल्लहिमवान् वर्षधर पर्वत है। उस पर्वत की चारों दिशाओं में लवणसमुद्र को तीन-तीन सौ योजन अवगाहन करके चार अन्तरद्वीप प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे कि—एकोरूकद्वीप, आभाषिक द्वीप, वैषाणिक द्वीप और लांगूलिक द्वीप। उन द्वीपों में चार प्रकार के मनुष्य निवास करते हैं, जैसे कि—एकोरूक, आभाषिक, वैषाणिक और लांगूलिक।

उन द्वीपों की चारों विदिशाओं में लवण समुद्र को चार-चार सौ योजन अवगाहित कर चार अन्तरद्वीप प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—हयकर्णद्वीप, गजकर्ण-द्वीप, गोकर्ण-द्वीप और शष्कुलिकर्ण-द्वीप। उन द्वीपों में चार तरह के मनुष्य निवास करते हैं, जैसे—हय-कर्ण, गज-कर्ण, गो-कर्ण और शष्कुलि-कर्ण।

उन द्वीपों की चारों विदिशाओं में लवण समुद्र को पांच-पांच सौ योजन अवगाहित कर वहां चार अन्तरद्वीप प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—आदर्शमुख-द्वीप, मेषमुख-द्वीप,

अयोमुख-द्वीप और गोमुख-द्वीप।

उन द्वीपों में भी इन्हीं नामों के चार प्रकार के मनुष्य निवास करते हैं।

उन द्वीपों की चारों विदिशाओं में लवण समुद्र को छः-छः सौ योजन तक अवगाहन करने पर वहां चार अन्तरद्वीप प्रतिपादन किए हैं, जैसे—अश्वमुख-द्वीप, हस्तिमुख-द्वीप, सिंहमुख-द्वीप और व्याघ्रमुख-द्वीप। उन द्वीपों में इन्हीं नामों वाले चार प्रकार के मनुष्य कहे गए हैं।

उन अन्तरद्वीपों की चारों विदिशाओं में लवणसमुद्र को सात-सात सौ योजन तक अवगाहित कर वहां चार अन्तरद्वीप प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे कि—अश्वकर्णद्वीप, हस्तिकर्णद्वीप, अकर्णद्वीप और करणप्रावरणद्वीप। उन द्वीपों में भी इन्हीं नामों वाले चार प्रकार के मनुष्य कहे गए हैं। उन चारों द्वीपों की चारों विदिशाओं में लवणसमुद्र को आठ-आठ सौ योजन परिमाण अवगाहन कर वहां चार अन्तरद्वीप हैं, जैसे—उल्कामुखद्वीप, मेघमुखद्वीप, विद्युत्मुखद्वीप और विद्युत्दन्तमुख-द्वीप। उन द्वीपों में भी द्वीपनामसम मनुष्य कहने चाहिएं।

उन द्वीपों की चारों विदिशाओं मे लवणसमुद्र को नव-नव सौ योजन तक अवगाहन कर वहां चार अन्तरद्वीप हैं, जैसे—घनदन्तद्वीप, लष्टदन्तद्वीप, गूढ़दन्तद्वीप और शुद्धदन्तद्वीप। उन द्वीपों में भी घनदन्त, लष्टदन्त, गूढ़दन्त और शुद्धदन्त इन्ही चार नामों वाले मनुष्य निवास करते हैं।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मेरुपर्वत की उत्तर दिशा में शिखरी नामक वर्षधर पर्वत है। उस शिखरी वर्षधर पर्वत की चारों विदिशाओं में लवणसमुद्र को तीन-तीन सौ योजन तक अवगाहित कर वहां पर भी एकोरुक द्वीप आदि चार अन्तरद्वीप कहे गए है। शेष सब उसी प्रकार यावत् शुद्धदंत तक वैसे ही समझ लेना चाहिए।

विवेचनिका—इस सूत्र में ५६ अन्तरद्वीपों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। ये सब द्वीप लवणसमुद्र की परिधि मे हैं। २८ अन्तरद्वीप दक्षिण में हैं और २८ उत्तर में। जम्बूद्वीप मे चुल्लहिमवान् पर्वत है जो कि पूर्व से पश्चिम की ओर लम्बाई में और दक्षिण से उत्तर की ओर चौड़ाई में फैला हुआ है। वह पूर्व और पश्चिम के लवण समुद्र को स्पर्श कर रहा है। यह १०० योजन ऊंचा है, और २५ योजन भूमि मे गहरा है। वह वर्षधर पर्वत १०५२$^{१२}/_{१९}$ योजन चौडा है। ३४९३२ योजन, तथा योजन के अर्ध भाग से कुछ कम उसकी लम्बाई है। उत्तर की ओर शिखरी पर्वत का परिमाण भी चुल्लहिमवान् पर्वत के समान ही है। चुल्लहिमवान् और शिखरी पर्वत की दो-दो दाढ़ें (शाखाएं) पूर्व लवणसमुद्र में और दो-दो दाढ़ें (शाखाएं) पश्चिम लवण समुद्र में निकली हुई है। इस प्रकार आठो छोर लवण समुद्र में फैले हुए हैं।

उनमें एक-एक छोर पर सात-सात अन्तरद्वीप हैं। तीन सौ योजन लवण समुद्र में जाकर ३०० योजन का लम्बा-चौड़ा द्वीप है, इसी प्रकार ४०० योजन का अन्तर और ४०० योजन का द्वीप। ५०० योजन का अन्तर और ५०० योजन का द्वीप। ६०० योजन का अन्तर और ६०० योजन का द्वीप। ७०० योजन का अन्तर और ७०० योजन का द्वीप। ८०० योजन का अन्तर और ८०० योजन का द्वीप। ९०० योजन का अन्तर और ९०० योजन का द्वीप। एक-एक दाढ पर योजनों की संख्या ८४०० होती है। इसी प्रकार शेष तीन दाढों के विषय में भी संख्या जान लेनी चाहिए। जितना अन्तर है, उतने ही विस्तार वाला द्वीप है। इसी कारण इन द्वीपों को अन्तर द्वीप कहते हैं। सूत्रकार ने जो चार-चार अन्तर द्वीपों के नाम निर्देश किए हैं, उन्हे चित्र से समझा जा सकता है।

चित्र में जिस क्रम से अंक दिए गए हैं, उसी क्रम से चार-चार अन्तरद्वीपों की नामावली समझनी चाहिए। एक से लेकर चार अंक तक जो द्वीप हैं वे ३०० योजन के आयामविष्कंभ वाले हैं। पांच अंक से लेकर आठ अक तक चार-चार सौ योजन के लम्बे-चौड़े द्वीप हैं। इसी क्रम से २५ अंक से लेकर २८ अक पर्यन्त ९००-९०० योजन की लम्बाई-चौड़ाई वाले द्वीप हैं। उनमें रहने वाले मनुष्यों के नाम वे ही हैं जो द्वीपों के नाम हैं। जैसे कि पजाब मे रहने वाले मनुष्य पंजाबी और मद्रास में रहने वाले मद्रासी कहलाते हैं।
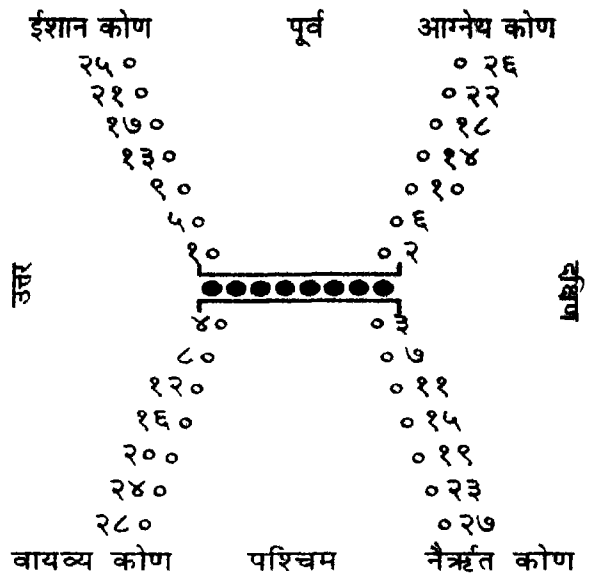
वहां के निवासी मनुष्य-तिर्यंच अकर्मभूमिज कहलाते है। असि, मसि, कृषि का वहा कोई प्रयोग नहीं होता। राजनीति और धर्मनीति का व्यवहार भी नही होता। उनकी आयु पल्योपम के असंख्यातवे भाग की होती है। अवगाहना आठ सौ धनुष की, एक दिन का अन्तर पा कर उन्हें क्षुधा लगती है, उनकी आवश्यकताएं दस प्रकार के कल्पवृक्षों से पूरी होती हैं। जब उन की आयु ७९ दिन की शेष रह जाती है तब उन से एक जोड़ा पैदा होता है, उसमें से एक पुत्र और एक पुत्री होती है, ७९ दिन उस युगल की सार-सभाल करके वे मनुष्य छींक और उबासी के द्वारा मर कर देवगति को ही प्राप्त करते हैं। ५६ अन्तरद्वीपों के मनुष्यों का विस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति में है।

चुल्लहिमवान् के समान ही शिखरी पर्वत की शाखाओं पर भी २८ अन्तरद्वीप हैं। उनके परिमाण और व्यवस्था भी चुल्लहिमवान् के अन्तर- द्वीपो के ही समान है।

इस प्रकार दोनों पर्वतों के अन्तरद्वीपों की संख्या २८+२८=५६ है। ये अन्तरद्वीप केवल लवणसमुद्र में ही पाए जाते हैं, अन्यत्र नहीं।

पातालकलश आवास-पर्वत आदि

मूल—जंबूदीवस्स णं दीवस्स बाहिरिल्लाओ वेइयंताओ चउदिसिं लवणसमुद्दं पंचाणउइ-पंचाणउइ जोयणसहस्साइं ओगाहेत्ता एत्थ णं महइमहालया महालंजर-संठाणसंठिया चत्तारि महापायाला पण्णत्ता, तं जहा—वलयामुहे, केउए, जूवए, ईसरे। एत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठिइया परिवसंति, तं जहा—काले, महाकाले, वेलंबे, पभंजणे।

जंबूदीवस्स णं दीवस्स बाहिरिल्लाओ वेइयंताओ चउद्दिसिं लवणसमुद्दं बायालीसं-बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चउण्हं वेलंधरनागराईणं चत्तारि आवासपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—गोथूभे, उदयभासे, संखे, दगसीमे। तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढिया जाव पलिओ-वमट्ठिइया परिवसंति, तं जहा—गोथूभे, सिवए, संखे, मणोसिलए।

जंबूदीवस्स णं दीवस्स बाहिरिल्लाओ वेइयंताओ चउसु विदिसासु लवणसमुद्दं बायालीसं-बायालीसं जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चउण्हं अणुवेलंधरणागराईणं चत्तारि आवासपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—कक्कोडए, विज्जुप्पभे, केलासे, अरुणप्पभे। तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठिइया परिवसंति, तं जहा—कक्कोडए, कद्दमए, केलासे, अरुणप्पभे।

लवणे णं समुद्दे चत्तारि चंदा पभासिंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा। चत्तारि सूरिया तविंसु वा, तवंति वा, तविस्संति वा। चत्तारि कत्तियाओ जाव चत्तारि भरणीओ। चत्तारि अग्गी जाव चत्तारि जमा। चत्तारि अंगारा जाव चत्तारि भावकेऊ।

लवणस्स णं समुद्दस्स चत्तारि दारा पण्णत्ता, तं जहा—विजए, वेजयंते, जयंते, अपराजिए। ते णं दारा चत्तारि जोयणाइं विक्खंभेणं तावइयं चेव पवेसेणं पण्णत्ता। तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठिइया परिवसंति—विजए, वेजयंते, जयंते, अपराजिए॥ ७४॥

छाया—जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य बाह्याद् वेदिकान्ताच्चतुर्दिशि लवणसमुद्रं पञ्चनवति-पञ्चनवति योजनसहस्राण्यवगाह्य अत्र खलु महातिमहान्तो महालञ्जर-संस्थानसंस्थिताश्चत्वारो महापातालाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वडवामुखः, केतुकः, यूपकः, ईश्वरः। अत्र खलु चत्वारो देवा महर्द्धिका यावत् पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति, तद्यथा—कालः, महाकालः, वेलम्बः, प्रभञ्जनः।

जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य बाह्याद् वेदिकान्ताच्चतुर्दिशि लवणसमुद्रं द्विचत्वारिंशत् द्विचत्वारिंशद् योजनसहस्राण्यवगाह्य अत्र खलु चतुर्णां वेलन्धरनागराजानां चत्वारः आवासपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—गोस्तूपः, उदकभासः, शङ्खः, उदकसीमः। तत्र खलु चत्वारो देवा महर्द्धिका यावत् पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति, तद्यथा—गोस्तूपः, शिवः, शङ्खः, मनःशिलः।

जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य बाह्याद् वेदिकान्ताच्चतसृषु विदिशासु लवणसमुद्रं द्विचत्वारिंशत् द्विचत्वारिंशद् योजनशतान्यवगाह्य अत्र खलु चतुर्णामनुवेलन्धरनागराजानां चत्वार आवासपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कर्कोटकः, विद्युत्प्रभः, कैलाशः, अरुणप्रभः। तत्र खलु चत्वारो देवा महर्द्धिका यावत् पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति, तद्यथा—कर्कोटकः, कर्दमकः, कैलाशः, अरुणप्रभः।

लवणे समुद्रे चत्वारश्चन्द्राः प्रभासितवन्तो वा, प्रभासन्ते वा, प्रभासिष्यन्ते वा। चत्वारः सूर्या अतपन् वा, तपन्ति वा, तप्स्यन्ति वा। चतस्रः कृत्तिका यावच्चतस्रो भरण्यः। चत्वारोऽग्नयो यावच्चत्वारो यमाः। चत्वारोऽङ्गाराः यावच्चत्वारो भावकेतवः। लवणस्य समुद्रस्य चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—विजयः, वैजयन्तः, जयन्तः, अपराजितः। तानि द्वाराणि चत्वारि योजनानि विष्कम्भेण, तावन्त्येव प्रवेशेन प्रज्ञप्तानि। तत्र खलु चत्वारो देवा महर्द्धिका यावत् पल्योपमस्थितिकाः परिवसन्ति-विजयः, वैजयन्तः, जयन्तः, अपराजितः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—जम्बूद्वीप नामक द्वीप की बहिर्वेदिका की चारों दिशाओं में लवणसमुद्र को पच्चानवें-पच्चानवें हजार योजन अवगाहन कर वहां अतिमहान् उदक कुम्भ के सदृश आकार वाले चार महान पातालकलश प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—वलयमुख, केतुक, यूपक और ईश्वर। उन कलशों पर महान ऋद्धि वाले यावत् पल्योपमस्थिति वाले काल, महाकाल, वेलम्ब और प्रभञ्जन नामक चार देव निवास करते हैं।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप की बाह्य वेदिका की चारों दिशाओं में लवणसमुद्र को बयालीस-बयालीस हजार योजन पर्यन्त अवगाहित कर वहां चार वेलन्धर नागराजाओं के गोस्तूभ, उदकभास, शंख और उदकसीम नाम वाले चार आवासपर्वत प्रतिपादन

किए गए हैं। उन पर्वतों पर महान ऋद्धिसम्पन्न यावत् पल्योपम स्थिति वाले गोस्तूप, शिवक, शंख और मनःशिल नामक चार देव निवास करते हैं।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप की बाह्य वेदिका की चारों विदिशाओं में लवणसमुद्र को बयालीस-बयालीस हजार योजन अवगाहन कर वहां कर्कोटक, कर्दमक, कैलाश और अरुणप्रभ नामक चार अनुवेलन्धर नागराजाओं के चार आवास पर्वत प्रतिपादन किए गए हैं।

लवणसमुद्र नामक समुद्र पर चार चन्द्र प्रभासित हुए, प्रभासित होते हैं और प्रभासित होंगे। चार सूर्य तपे, तपते हैं और भविष्यत् में तपेंगे। चार कृत्तिका यावत् चार भरणी। चार अग्नि यावत् चार यम। चार अङ्गार यावत् चार भावकेतु हुए हैं और होंगे।

लवण नामक समुद्र के चार द्वार प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित। उन द्वारों की चौड़ाई और लम्बाई चार-चार योजन है। उन द्वारों पर महाऋद्धि वाले यावत् पल्योपम स्थिति वाले विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित ये चार देव निवास करते हैं।

विवेचनिका—इस सूत्र में पातालकलशों का, वेलन्धर और अनुवेलन्धर नागराजाओं के आवास पर्वतों का, लवण समुद्र में सूर्य-चन्द्र आदि ग्रहों का और लवण समुद्र के चार द्वारों का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। जम्बूद्वीप की बाह्य वेदिका की चार दिशाओं की ओर लवणसमुद्र को ९५-९५ हजार योजन अवगाहन कर चार पाताल कलश आते हैं। घटाकार होने से उन्हें कलश और गहराई से पाताल को स्पर्श करने वाले होने से उन्हें पाताल-कलश कहा जाता है। वडवामुख, केतुक, यूपक और ईश्वर ये उनके नाम हैं और वे क्रमशः पूर्व आदि दिशाओं में विद्यमान हैं। सभी पाताल-कलश मूल भाग में और ऊपर के भाग में दस-दस हजार योजन के विस्तार वाले हैं। मध्यभाग में इनका विस्तार लाख-लाख योजन का है। इनकी दीवारें १०००-१००० योजन की मोटी हैं। इनके ऊपर के भाग में केवल जल ही जल है, मध्यभाग में वायु और जल दोनों हैं, किन्तु मूलभाग में केवल वायु ही वायु है। इन पर क्रमशः काल, महाकाल, वेलम्ब और प्रभंजन इन देवों का अधिकार है। उन सभी देवों की स्थिति एक-एक पल्योपम परिमाण की है।

प्रत्येक पाताल-कलश के आस-पास १९७१-१९७१ छोटे-छोटे पाताल-कलश हैं, उनकी कुल संख्या ७८८४ है। वे सौ-सौ योजन के गहरे हैं और उनकी दीवारें दस-दस योजन की मोटी हैं। छोटे-बड़े सभी पाताल-कलश वज्रमय हैं। समस्त पाताल-कलशों के तीन-तीन भाग हैं। नीचे के भाग में वायु, मध्यभाग में वायु और जल, तथा ऊपर के भाग में जल। नीचे के भाग में संक्षुभित वायु जल को ऊपर उछालती है, इस जल के उछलने

से क्षुब्ध समुद्र वृद्धि को प्राप्त होता है। जब वायु में क्षोभ नहीं होता तब वह शान्त हो जाता है, और जल भी अपनी पूर्वस्थिति में आ जाता है। इसी कारण समुद्र में ज्वारभाटा आता है।

जम्बूद्वीप की बाहिर की वेदिका से चार दिशाओं में लवणसमुद्र की ओर ४२०००-४२००० योजन जाकर वहां पर वेलन्धर नागराजाओं के चार आवासपर्वत हैं। पूर्वदिशा में गोस्तूप, दक्षिण दिशा में उदकभास, पश्चिम दिशा में शंख, उत्तर दिशा में उदकसीम ये आवास पर्वतों के नाम हैं। वे पर्वत अत्यन्त रमणीय हैं। उन पर क्रमशः गोस्तूप, शिवक, शंख और मनः शिलक नामक पल्योपम की स्थिति वाले महर्द्धिक चार देव रहते हैं।

जम्बूद्वीप की बाह्य वेदिका के चरमान्त से चार विदिशाओं में ४२०००-४२००० योजन लवणसमुद्र को उल्लंघन करके आगत स्थान पर चार अनुवेलन्धर नागराजाओं के आवास पर्वत हैं? उनके नाम कर्कोटक, विद्युत्प्रभ, कैलाश और अरुणप्रभ हैं। इन आवास पर्वतों पर पल्योपमस्थिति वाले महर्द्धिक कर्कोटक, कर्दमक, कैलाश और अरुणप्रभ नामक अनुवेलन्धर नागराज देव रहते हैं।

जो समुद्र की वेला को धारण करने वाले देव हैं उन्हें वेलन्धर कहते हैं, जो देव उनके अनुनायक हैं उन्हे अनुवेलन्धर कहा जाता है। लवण समुद्र के ठीक मध्यभाग में दगमाल है जो कि दस हजार योजन के विस्तार वाला है, वह प्रकोटे की तरह चारों ओर है। वहां समुद्र की गहराई हजार योजन की है और दगमाल की ऊंचाई सोलह हजार योजन है। बयालिस हजार नागकुमार देव आभ्यंतर वेला को, बहत्तर हजार नागकुमार देव बाह्यवेला को और साठ हजार नागकुमार देव जलशिखा के अग्रभाग को धारण करते हैं। इतना दैविक प्रभाव होते हुए भी अष्टमी और पूर्णमासी में वह जलशिखा सोलह हजार योजन तक ऊपर को जाती है।

धातकीखण्ड परिमाण

मूल—धायइसंडे दीवे चत्तारि जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं पण्णत्ते, जंबुद्दीवस्स णं दीवस्स बहिया चत्तारि भरहाइं, चत्तारि एरवयाइं, एवं जहा सद्दुद्देसए तहेव निरवसेसं भाणियव्वं जाव चत्तारि मंदरा, चत्तारि मंदरचूलिआओ ॥७५॥

छाया—धातकीखण्डो द्वीपः चत्वारि योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेण प्रज्ञप्तः। जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य बहिः चत्वारि भरतानि, चत्वारि ऐरवतानि, एवं यथा शब्दोद्देशके तथैव निरवशेषं भणितव्यं यावत् चत्वारो मन्दराः, चतस्रो मन्दरचूलिकाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—धातकीखण्ड नामक द्वीप चौड़ाई की अपेक्षा से चार लाख योजन परिमाण में विस्तृत कथन किया गया है।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप के बाहर चार भरत क्षेत्र, चार ऐरवत क्षेत्र हैं। इसी प्रकार जैसा कथन दूसरे स्थान के तीसरे उद्देशक में वर्णन किया गया है, वैसा ही निरवशेष रूप से यावत् चार मेरु, चार मेरु-चूलिका पर्यन्त कहना चाहिए।

विवेचनिका—इस सूत्र में जम्बूद्वीप से बाहर के द्वीप और क्षेत्रों के विषय में उल्लेख किया गया है। धातकीखंड द्वीप ने चारों ओर से लवण समुद्र को घेरा हुआ है। उस की चौड़ाई चारों ओर चार लाख योजन परिमाण है। धातकीखण्ड द्वीप और पुष्करार्द्ध द्वीप ये दोनों जम्बूद्वीप से बाहर हैं। बाहर के क्षेत्र और वर्षधर पर्वत सभी चार-चार हैं, जैसे कि चार भरत, चार ऐरवत और चार महाविदेह। इनका विस्तृत वर्णन द्वितीय स्थान के तीसरे उद्देशक में किया जा चुका है।[1]

नन्दीश्वर अधिकार

मूल—णंदीसरवरस्स णं दीवस्स चक्कवालविक्खंभस्स बहुमज्झदेसभागे चउद्दिसिं चत्तारि अंजणगपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—पुरत्थिमिल्ले अंजणगपव्वए, दाहिणिल्ले अंजणगपव्वए, पच्चत्थिमिल्ले अंजणगपव्वए, उत्तरिल्ले अंजणगपव्वए। ते णं अंजणगपव्वया चउरासीइ जोयणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं, एगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं, मूले दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं। तदणंतरं च णं मायाए-मायाए परिहायमाणए परिहायमाणए उवरिमेगं जोयणसहस्सं विक्खंभेणं पण्णत्ता। मूले इक्कतीसं जोयणसहस्साइं छच्च तेवीसे जोयणसए परिक्खेवेणं। उवरिं तिन्नि-तिन्नि जोयणसहस्साइं एगं च छावटठं जोयणसयं परिक्खेवेणं। मूले विच्छिन्ना, मज्झे संखित्ता, उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाणसंठिया, सव्वअंजणमया, अच्छा, सण्हा, घट्ठा, मट्ठा, नीरया, निप्पंका, निक्कंकडच्छाया, सप्पभा, समिरीया, सउज्जोया पासाईया, दरिसणिज्जा, अभिरूवा, पडिरूवा॥ ७६॥

छाया—नन्दीश्वरवरस्य द्वीपस्य चक्रवालविष्कम्भस्य बहुमध्यदेशभागे चतुर्दिशि चत्वारोऽञ्जनकपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पौरस्त्योऽञ्जनकपर्वतः, दाक्षिणात्योऽञ्जनकपर्वतः, पाश्चात्योऽञ्जनकपर्वतः, उत्तरीयोऽञ्जनकपर्वतः। ते खलु अञ्जनकपर्वताश्चतुरशीतियोजनसहस्राणि ऊर्ध्वमुच्चत्वेन, एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन, मूले दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण।

तदनन्तरं च मात्रया मात्रया परिहीयमानः परिहीयमानः उपरिमेकं योजनसहस्रं

१ विस्तृत रूपरेखा के परिज्ञान के लिए देखिए 'जीवाभिगम सूत्र, प्रतिपत्ति-३।

विष्कम्भेण प्रज्ञप्ताः। मूले एकत्रिंशद् योजनसहस्राणि षट्त्र्योविंशतियोजनशतं परिक्षेपेण, उपरि त्रीणि योजनसहस्राणि एकञ्च षट् षष्ट्यधिकं योजनशतं परिक्षेपेण। मूले विस्तीर्णा मध्ये संक्षिप्ताः, उपरि तनुकाः, गोपुच्छसंस्थानसंस्थिताः, सर्वाञ्जनमयाः, अच्छाः, श्लक्ष्णाः, (मसृणाः) घृष्टाः, मृष्टाः, नीरजसः, निष्पङ्काः, निष्कङ्कटच्छायाः, सप्रभाः, समरीचिकाः, सोद्योताः, प्रासादीयाः, दर्शनीयाः, अभिरूपाः, प्रतिरूपाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नन्दीश्वर नामक द्वीप की चक्रवालविष्कंभ के अत्यन्त मध्यदेशभाग की चारों दिशाओं में चार अञ्जनकपर्वत प्रतिपादित किए गए हैं—पूर्वदिशा का अञ्जनकपर्वत, दक्षिणदिशा का अञ्जनकपर्वत, पश्चिम दिशा का अञ्जनक पर्वत, और उत्तरदिशा का अञ्जनकपर्वत। वे अञ्जनकपर्वत ऊंचाई में चौरासी हजार योजन, गहराई की अपेक्षा से एक हजार योजन और मूल में दस हजार योजन परिधि वाले हैं।

तदनन्तर ये पर्वत परिमाण में हीन होते-होते ऊपर एक हजार योजन परिधिवाले हैं। मूल में इनकी परिधि इकत्तीस हजार छः सौ तेईस योजन है और ऊपर भाग में ये पर्वत तीन हजार एक सौ छयासठ योजन परिधि की अपेक्षा से हैं। ये पर्वत मूल भाग में विस्तीर्ण, मध्य में संक्षिप्त और ऊपर के भाग में पतले हैं। इनका आकार गौ की पूंछ के समान मूलभाग से मोटा और शिखर भाग से पतला है। वे सभी अञ्जनक पर्वत स्निग्ध, कोमल, घड़े हुए के सदृश, पालिश किए हुए के समान, धूलि से रहित, कीचड़ से रहित, निरावरण छाया वाले, प्रभामय, किरण-सम्पन्न एवं उद्योत-युक्त हैं। वे पर्वत मन को प्रसन्न करने वाले, दर्शनीय, सुन्दर तथा रमणीय रूप वाले हैं।

विवेचनिका—इस सूत्र में नन्दीश्वर द्वीप की अन्य द्वीपों से विलक्षणता प्रदर्शित की गई है। उसकी रमणीयता अनुपम है। यदि हम द्वीपों की गणना जम्बूद्वीप से प्रारम्भ करें तो नन्दीश्वर द्वीप आठवां है। जीवाभिगम सूत्र में और अनुयोगद्वार सूत्र में द्वीपों की गणना का जो उल्लेख प्राप्त होता है उस गणना के अनुसार भी आठवां द्वीप नन्दीश्वर ही सिद्ध होता है। उसका चक्रवाल विष्कम्भ एक अरब, तिरेसठ करोड़, चौरासी लाख योजन व्यास का है, जैसे कि कहा भी है—

तेसट्ठं कोडिसयं, चउरासीइं च सयसहस्साइं।
नन्दीसरवरदीवे, विक्खंभो चक्कवालेणं ॥

इस गाथा-प्रमाण से नन्दीश्वर द्वीप का व्यास १६३८४००००० सिद्ध होता है। चक्रवाल विष्कंभ के बहुमध्यभाग में चार अञ्जनक पर्वत हैं, एक पूर्व दिशा में, दूसरा दक्षिण दिशा

में, तीसरा पश्चिम दिशा में और चौथा उत्तर दिशा में अञ्जनक पर्वत है। प्रत्येक अञ्जनक पर्वत की ऊंचाई ८४-८४ हजार योजन है। ये पर्वत भूमि में एक-एक हजार योजन गहरे हैं। भूमि पर उनका व्यास दस-दस हजार योजन है। मात्रा परिमाण में हीन होते हुए अर्थात् ऊपर की ओर कम होते हुए उपरिभाग में उनका व्यास हजार-हजार योजन का है। उनकी परिधि मूल में ३१६२३ योजन की है और उपरिभाग की परिधि ३१६६ योजन परिमाण है। वे मूल में विस्तीर्ण, मध्य में संक्षिप्त और उपरिभाग में पतले हैं। उनका वर्ण अञ्जनरत्न सदृश या अञ्जनपुञ्ज के सदृश काला है, फिर भी उनका वर्ण अतिरमणीय है।

उन पर्वतों के लिए सूत्रकार ने अनेक विशेषण दिए हैं। इन विशेषणों से उन पर्वतों का स्वरूप भली-भाँति साकार हो उठता है। वे विशेषण निम्नलिखित हैं:—**अच्छा**—वे पर्वत आकाशस्फटिक के तुल्य स्वच्छ हैं, **सण्हा**—अतिसुकोमल तंतुओं से बने हुए वस्त्र के तुल्य मृदु हैं। **लण्हा**—चिकने हैं, **घट्ठा**—जैसे किसी वस्तु को घिसा-घिसा कर चिकना किया जाता है वैसे ही वे मृदु हैं, **मट्ठा**—मानो वे मंजे हुए हैं अर्थात् पालिश किए हुए से प्रतीत होते हैं। **नीरया**—रज से सर्वथा रहित हैं, **निप्पंका**—आर्द्रमल से रहित हैं अर्थात् कलंक रहित हैं, **निक्कंकडच्छाया**—निरावरण कांति वाले हैं, **सप्पभा**—स्वकीय प्रभा से भासमान हैं, **समरीइया**—जिन से प्रकाशमयी किरणें निकलती हैं अर्थात् किरणयुक्त हैं, **सउज्जोया**—वे अपने प्रकाश से दूसरों को भी प्रकाशित करने वाले हैं, **पासाईया**—दर्शकगण के चित्त को आह्लादित करने वाले हैं, **दरिसणिज्जा**—वे पर्वत नेत्रों को भी सुखदायी हैं जिन्हें देखने से नेत्र कभी नहीं थकते, नेत्रों को मोहित करने वाले हैं, **अभिरूवा**—मनोज्ञ आकृति वाले हैं, **पडिरूवा**—अपूर्व चमत्कारी बारम्बार देखने पर भी रमणीय ही लगते हैं, और तो क्या देखने के अनन्तर अन्यत्र बैठकर भी यदि उनका चिंतन किया जाए तो उससे भी मन आनन्दित हो जाता है। नेत्रों के द्वारा जंघाचरण तथा विद्याचरण लब्धि वाले मुनीश्वर और देवगणों को ही उन्हें देखने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है, अन्य मनुष्यों को नहीं।

अंजनक पर्वत का वैभव

मूल—तेसि णं अंजणगपव्वयाणं उवरिं बहुसम-रमणिज्ज-भूमिभागा पण्णत्ता, तं जहा—तेसि णं बहुसम-रमणिज्जभूमिभागाणं बहुमज्झदेसभागे चत्तारि सिद्धाययणा पण्णत्ता। ते णं सिद्धाययणा एगं जोयणसयं आयामेणं पण्णत्ता, पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं, बावत्तरि जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं। तेसिं सिद्धाययणाणं चउदिसिं चत्तारि दारा पण्णत्ता, तं जहा—देवदारे, असुरदारे, णागदारे, सुवन्नदारे। तेसु णं दारेसु चउव्विहा देवा परिवसंति, तं जहा—देवा, असुरा, नागा, सुवण्णा। तेसि णं दाराणं पुरओ चत्तारि मुहमंडवा पण्णत्ता, तेसिं णं मुहमंडवाणं पुरओ चत्तारि

पेच्छाघर-मंडवा पण्णत्ता। तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं बहुमज्झदेसभागे चत्तारि वइरामया अक्खाडगा पण्णत्ता। तेसिं णं वइरामयाणं अक्खाडगाणं बहुमज्झदेसभागे चत्तारि मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ॥७७॥

छाया—तेषामञ्जनकपर्वतानामुपरि बहु-सम-रमणीयभूमिभागाः प्रज्ञप्ताः। तेषां, बहु-सम-रमणीयभूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे चत्वारि सिद्धायतनानि प्रज्ञप्तानि। तानि सिद्धायतनानि एकं योजनशतमायामेन प्रज्ञप्तानि, पञ्चाशत् योजनानि विष्कम्भेण, द्वासप्तति योजनान्यूर्ध्वमुच्चत्वेन। तेषां सिद्धायतनानां चतुर्दिशि चत्वारि द्वाराणि, प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—देवद्वारम्, असुरद्वारं, नागद्वारं, सुपर्णद्वारम्। तेषु द्वारेषु चतुर्विधा देवाः परिवसन्ति, तद्यथा—देवाः, असुराः, नागाः, सुपर्णाः। तेषां द्वाराणां पुरतश्चत्वारो मुखमण्डपाः प्रज्ञप्ताः। तेषां मुखमण्डपानां पुरतश्चत्वारः प्रेक्षागृहमण्डपाः प्रज्ञप्ताः। तेषां प्रेक्षागृहमण्डपानां बहुमध्यदेशभागे चत्वारो वज्रमया अक्षवाटका प्रज्ञप्ताः, तेषां वज्रमयानामक्षवाटकानां बहुमध्यदेशभागे चतस्रो मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—उन अञ्जनक पर्वतों पर अत्यन्त समतल रमणीय भूमि-भाग हैं। उन अत्यन्त समतल, रमणीय भूमि भागों के अत्यन्त मध्यदेश भाग में चार सिद्धायतन हैं। वे सिद्धायतन लम्बाई में एक सौ योजन, चौड़ाई की अपेक्षा पचास योजन और ऊंचाई में बहत्तर योजन परिमाण वाले प्रतिपादित किए गए हैं। उन सिद्धायतनों की चारों दिशाओं में चार द्वार कहे हैं, जैसे कि देवद्वार, असुरद्वार, नागद्वार और सुपर्णद्वार। उन द्वारों पर देव, असुर, नाग और सुपर्ण चार प्रकार के देव निवास करते हैं। द्वारों के अग्रभाग में चार मुख-मण्डप हैं। उन मुखमण्डपों के अग्रभाग में चार प्रेक्षागृह-मण्डप हैं। उन प्रेक्षागृह-मण्डपों के अत्यन्त मध्यप्रदेश भाग में चार वज्रमय बैठने के स्थान हैं, उन वज्रमय बैठने के स्थानों के अत्यन्त मध्यप्रदेश भाग में चार-चार मणि-पीठिकाएं हैं।

विवेचनिका—इस सूत्र में भी अञ्जनक पर्वतों का वैभव प्रदर्शित किया गया है। नन्दीश्वर द्वीप की चारों दिशाओं में जो भी अञ्जनकपर्वत हैं उनके उपरि भाग का व्यास-प्रमाण हजार योजन है और वहां की भूमि समतल है। प्रत्येक पर्वत के ऊपर ठीक मध्यभाग में एक-एक सिद्धायतन है। प्रत्येक सिद्धायतन की लम्बाई सौ-सौ योजन की है, चौड़ाई पचास योजन की और ऊंचाई बहत्तर योजन की है। प्रत्येक सिद्धायतन की चार दिशाओं में चार-चार द्वार हैं। पूर्व दिशा में देवद्वार, दक्षिण में असुरद्वार, पश्चिम में नागद्वार और उत्तर में सुपर्णद्वार है। उन द्वारों पर क्रमशः देव, असुर, नाग और सुपर्ण नामक देवों का आधिपत्य है। प्रत्येक द्वार के समक्ष एक-एक मुखमण्डप है। प्रत्येक मुखमण्डप के सामने एक-एक प्रेक्षा-गृह

मण्डप है। प्रत्येक प्रेक्षागृहमण्डप के मध्यभाग में एक-एक अखाडग है। प्रत्येक अखाडग पर एक-एक मणिपीठिका है। ये सब वज्रमय, मणिमय, नित्य एवं शाश्वत हैं।

सिद्धायतन का अर्थ होता है "सिद्धानि नित्यानि च शाश्वतानि, तान्यायतनानि" इस विग्रह के अनुसार शाश्वत आयतन ही सिद्धायतन कहलाते हैं। न वहां सिद्ध भगवान विराजित हैं और न वहां से किसी ने सिद्धगति को प्राप्त किया है, अतः वे सिद्धायतन देवविशेषों के स्थान मात्र हैं। मुक्तात्मा रूप सिद्धों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रेक्षागृहमण्डप उसे कहते हैं जहा बैठकर दूर-दूर की वस्तुओं को देखा जाता है। ये मण्डप सुन्दरता में अनुपम होते हैं। इन पर बैठकर देव दृश्य-निरीक्षण करते हैं और अपने मन को प्रसन्न करते हैं।

अक्खाडग शब्द अखाड़ा का वाचक है। वह चार कोने वाला होता है, प्राकृत का यह शब्द अनेक अर्थों में रूढ़ है, जैसे कि मल्लयुद्ध करने का स्थान, सभा, दरबार, रंगशाला और मैदान। प्रस्तुत प्रकरण में इसका अर्थ सभा ही ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि सभा में ही मणिपीठिका की सम्भावना की जा सकती है।

अंजनक पर्वतों में मणिपीठिकाओं की समृद्धि

मूल—तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं चत्तारि सीहासणा पण्णत्ता। तेसि णं सीहासणाणं उवरिं चत्तारि विजयदूसा पण्णत्ता। तेसि णं विजयदूसगाणं बहुमज्झदेसभागे चत्तारि वइरामया अंकुसा पण्णत्ता, तेसु णं वइरामएसु अंकुसेसु चत्तारि कुंभिका मुत्तादामा पण्णत्ता। ते णं कुंभिका मुत्तादामा पत्तेयं-पत्तेयं अन्नेहिं तदद्धउच्चत्तपमाणमित्तेहिं चउहिं अद्धकुंभिकेहिं मुत्तादामेहिं सव्वओ समंता परिक्खित्ता।

तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं पुरओ चत्तारि मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ। तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं चत्तारि-चत्तारि चेइयथूभा पण्णत्ता। तासिणं चेइयथूभाणं पत्तेयं-पत्तेयं चउद्दिसिं चत्तारि मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ तासिणं मणिपेढियाणं उवरिं चत्तारि जिणपडिमाओ सव्वरयणामईओ संपलियंकणिसन्नाओ थूभाभिमुहाओ चिट्ठंति, तं जहा—रिसभा, वद्धमाणा, चंदाणणा, वारिसेणा ॥७८॥

छाया—तासां मणिपीठिकानामुपरि चत्वारि सिंहासनानि प्रज्ञप्तानि। तेषां सिंहासनानामुपरि चत्वारि विजयदूष्याणि प्रज्ञप्तानि। तेषां विजयदूष्याणां बहुमध्यदेशभागे वज्रमया अंकुशाः प्रज्ञप्ताः। तेषु वज्रमयेषु अंकुशेषु चत्वारि कुम्भिकानि मुक्तादामानि

प्रज्ञप्तानि, तानि कुम्भिकानि मुक्तादामानि प्रत्येकं प्रत्येकमन्यैस्तदर्द्धोच्चत्वपरिमाणमितैश्चतुर्भिरर्द्धकुम्भिकैः मुक्तादामभिः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तानि। तेषां खलु प्रेक्षागृहमण्डपानां पुरतश्चतस्रो मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः। तासां मणिपीठिकानामुपरि चत्वारश्चत्वारश्चैत्यस्तूपाः प्रज्ञप्ताः। तेषां चैत्यस्तूपानां प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्दिशि चतस्रो मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः। तासां मणिपीठिकानामुपरि चतस्रो जिनप्रतिमाः सर्वरत्नमयाः, संपल्यंक (संपर्यंक)-निषण्णाः स्तूपाभिमुखास्तिष्ठन्ति, तद्यथा—ऋषभा, वर्द्धमाना, चन्द्रानना, वारिषेणा।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—उन मणिपीठिकाओं के ऊपर चार सिंहासन प्रतिपादन किए गए हैं। उन सिंहासनों के ऊपर चार विजय-ध्वज हैं। उन विजय-ध्वजों के अत्यन्त मध्यदेश-भाग में चार वज्रमय अंकुश हैं। उन वज्रमय अंकुशों के ऊपर कुम्भ परिमाण मोतियों की चार मालायें हैं, वे कुम्भ परिमाण मौक्तिक मालायें अर्द्धउच्चत्व परिमाण से परिमित, चार अर्द्धकुम्भिक अन्य मालाओं से सब ओर से परिव्याप्त हैं। उन प्रेक्षागृह मण्डपों के अग्रभाग में चार मणिपीठिकायें हैं। उन मणिपीठिकाओं के ऊपर चार-चार चैत्यस्तूप हैं। प्रत्येक चैत्यस्तूप की चारों दिशाओं में चार मणिपीठिकायें हैं। उन मणिपीठिकाओं के ऊपर पर्यंकासनस्थित, स्तूपाभिमुख, ऋषभा, वर्द्धमाना, चन्द्रानना और वारिषेणा नामक ये चार जिन-प्रतिमायें हैं, जो कि सर्वरत्नमयी हैं।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र में पूर्व सूत्रवर्णित मणिपीठिकाओं से सम्बन्धित बातों का निर्देश किया गया है। प्रत्येक मणिपीठिका के ऊपर एक-एक सिंहासन है। प्रत्येक सिंहासन पर एक-एक विजयदूष्य (दिव्यवस्त्र) वितान रूप में तना हुआ है। प्रत्येक विजयदूष्य के ठीक मध्यभाग में वज्रमय अंकुश है। सिंहासन की पीठ के मध्यभाग से ऊपर उठकर सिंहासन के ठीक ऊपर एक बार नीचे की ओर मुड़कर पुनः ऊपर उठा हुआ स्तम्भ अंकुश कहलाता है जो कि सिंहासन का ही एक अवयव है। प्रत्येक अंकुश में कुंभिका परिमाण वाले[१] अर्थात् बड़े घड़े जैसे मोतियों की एक-एक माला लटक रही है। प्रत्येक माला अर्द्धकुंभिका परिमाण वाली अर्थात् छोटी मटकी जैसे मोतियों की चार-चार मालाओं से घिरी हुई है, जिन चार मालाओं ने एक बड़ी माला को चारों ओर से घेरा हुआ है वे मालाएं

१ वर्तमानकालीन मन, क्विटल और टन की तरह कुंभ भी एक माप विशेष का नाम है। कुभ-प्रमाण भी तीन प्रकार का होता है, जैसे जघन्य कुंभ-प्रमाण, मध्यम कुम-प्रमाण और उत्कृष्ट कुभ प्रमाण। इनमें से पहला छः मन का, दूसरा आठ मन का और तीसरा दस मन का कुंभ प्रमाण होता है। चार सेर का एक आढक होता है। साठ आढकों का एक जघन्य कुभ, अस्सी आढकों का एक मध्यम कुंभ और सौ आढकों का एक उत्कृष्ट कुंभ होता है। प्रत्येक बड़ी मुक्तकमाला का वजन एक कुंभ-प्रमाण होने के कारण उसे कुंभिकाप्रमाण मुक्तकमाला कहा जाता है।

ऊंचाई में अर्द्ध-परिमाण वाली हैं।

प्रत्येक प्रेक्षागृह मंडप के सामने एक-एक मणिपीठिका है। प्रत्येक मणिपीठिका के ऊपर एक-एक चैत्यस्तूप है। प्रत्येक चैत्यस्तूप की चारों दिशाओं में चार-चार मणिपीठिकाएं हैं। उनके ऊपर चार जिन-प्रतिमाएं हैं, वे सब रत्नमयी पर्यंकासन मुद्रा में स्तूप के अभिमुख आसीन हैं, जिनके नाम ऋषभा, वर्द्धमाना, चन्द्रानना, और वारिषेणा हैं। इस अवसर्पिणी काल में भरत और ऐरवत में होने वाले आदि और चरम तीर्थंकर के नाम सम इन प्रतिमाओं के नाम हैं।

अतीतकाल में जो चौबीस तीर्थंकर भरत क्षेत्र में हुए हैं उनके नाम तथा जो भविष्यत्काल में होने वाली चौबीसी है उन सब के नाम समवायांग आदि शास्त्रों में मिलते हैं, किन्तु यह कोई नियम नहीं है जो भी अवसर्पिणीकाल या उत्सर्पिणीकाल में तीर्थंकर होते हैं उनमें पहले और चरम तीर्थंकर का नाम ऋषभ और वर्द्धमान ही हो तथा ऐरवत क्षेत्र में चन्द्रानन और वारिषेण ही हो। इससे सिद्ध होता है, कि ये प्रतिमाएं जिन-संज्ञक अवश्य हैं, किन्तु तीर्थंकर या अरिहंत भगवान के नाम वाली नहीं हैं।

वृत्तिकार ने चैत्य शब्द की व्याख्या दो तरह से की है, जैसे कि "**चैत्यस्य सिद्धायतनस्य प्रत्यासन्नाः स्तूपाः प्रतीताश्चैत्यस्तूपाश्चित्ताल्हादकत्वाद्वा चैत्यः स्तूपा चैत्यस्तूपाः**" जो स्तूप सिद्धायतन के समीप हैं उन्हें भी चैत्यस्तूप कहते हैं और जो स्तूप चित्त को प्रसन्न करने वाले हैं उन्हें भी चैत्यस्तूप कहा जाता है।

मणिपीठिकाओं की सम्पदा

मूल—तेसिणं चेइयथूभाणं पुरओ चत्तारि मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ। तासिणं मणिपेढियाणं उवरिं चत्तारि चत्तारि चेइयरुक्खा पण्णत्ता। तेसिणं चेइयरुक्खाणं पुरओ चत्तारि मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ। तेसिणं मणिपेढियाणं उवरिं चत्तारि महिंदज्झया पण्णत्ता, तेसिणं महिंदज्झयाणं पुरओ चत्तारि णंदाओ पुक्खरणीओ पण्णत्ताओ। तासिणं पुक्खरणीणं पत्तेयं पत्तेयं चउदिसिं चत्तारि वणसंडा पण्णत्ता, तं जहा—पुरच्छिमेणं, दाहिणेणं, पच्चत्थिमेणं, उत्तरेणं—

पुव्वेणं असोगवणं, दाहिणओ होइ सत्तवण्णवणं।
अवरेणं चंपगवणं, चूयवणं उत्तरे पासे ॥७९॥

छाया—तेषां खलु चैत्यस्तूपानां पुरतश्चतस्रो मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः। तासां मणिपीठिकानामुपरि चत्वारश्चैत्यवृक्षाः प्रज्ञप्ताः। तेषां चैत्यवृक्षाणां पुरतश्चतस्रो मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः। तासां मणिपीठिकानामुपरि चत्वारो महेन्द्रध्वजाः प्रज्ञप्ताः।

तेषां महेन्द्रध्वजानां पुरतश्चतस्रो नन्दापुष्करिण्यः प्रज्ञप्ताः। तासां पुष्करणीनां प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्दिशि चत्वारो वनखण्डाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—पौरस्त्ये, दाक्षिणात्ये, पाश्चात्ये, उत्तरे—

पूर्वेण अशोकवनं, दक्षिणतो भवति सप्तपर्णवनम्।
पश्चिमतश्चम्पकवनं, चूतवनमुत्तरे पार्श्वे॥

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—उन चैत्यस्तूपों के अग्र भाग में चार मणिपीठिकाएं हैं। उन मणिपीठिकाओं के सामने चार चैत्यवृक्ष हैं। उन चैत्यवृक्षों के ऊपर चार मणिपीठिकायें हैं। उन मणिपीठिकाओं के ऊपर चार महेन्द्र-ध्वज हैं। उन महेन्द्रध्वजों के सामने चार नन्दा पुष्करणियां हैं। उन पुष्करणियों में से प्रत्येक पुष्करणी की चारों दिशाओं में चार वन-समूह हैं, जैसे—पूर्व का वन, दक्षिण का वन, पश्चिम का वन और उत्तर का वन। पूर्व दिशा में अशोक वन, दक्षिण में सप्तपर्ण-वन, पश्चिम में चम्पक-वन और उत्तर पार्श्व में आम्रवन प्रतिपादित किया गया है।

विवेचनिका—प्रस्तुत सूत्र मे मणिपीठिकाओं के अवशिष्ट का वर्णन किया गया है जो उपरोक्त कथनानुकूल चार स्तूप हैं। प्रत्येक स्तूप के सामने एक-एक मणिपीठिका है। प्रत्येक मणिपीठिका के सामने एक-एक चैत्यवृक्ष है। उन चैत्यवृक्षों के सामने एक-एक मणिपीठिका है, उन पर एक-एक महेंद्रध्वज है। उन महेन्द्रध्वजाओं के आगे एक-एक नंदापुष्करणी है। प्रत्येक नन्दापुष्करणी की चारों दिशाओं में एक-एक वन-खण्ड है। जो वनखण्ड पूर्वदिशा में है, उसकी संज्ञा अशोकवन है, जो वनखण्ड दक्षिणदिशा में है उसका नाम सप्तपर्णवन है, इसी प्रकार पश्चिम मे चम्पकवन और उत्तर की ओर आम्रवन है। सिद्धायतन से लेकर नन्दा पुष्करिणी तथा वनखण्ड पर्यन्त जितना भी वर्णन आया है वह सब अञ्जनक पर्वत के ऊपरी भाग का है।

जैसे एक पर्वत का वर्णन किया गया है, वैसे ही अन्य तीन अञ्जनक पर्वतों का वर्णन भी जान लेना चाहिए।

अंजनक पर्वत की पुष्करणियां एवं वन-वैभव

मूल—तत्थ णं जे से पुरच्छिमिल्ले अंजणगपव्वए तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि णंदाओ पुक्खरणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—णंदुत्तरा, णंदा, आणंदा, नंदिवद्धणा। ताओ णंदाओ पुक्खरिणीओ एगं जोयणसयसहस्सं आयामेणं, पन्नासं जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं, दस जोयणसयाइं उव्वेहेणं। तासि णं पुक्खरणीणं पत्तेयं पत्तेयं चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा। तेसि

णं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरओ चत्तारि तोरणा पण्णत्ता, तं जहा—पुरच्छिमेणं, दाहिणेणं, पच्चत्थिमेणं, उत्तरेणं। तासिणं पुक्खरणीणं पत्तेयं-पत्तेयं चउद्दिसिं चत्तारि वणसंडा पण्णत्ता, तं जहा—पुरओ, दाहिणेणं, पच्छिमेणं, उत्तरेणं। पुव्वेणं असोगवणं जाव चूयवणं उत्तरे पासे।

तासिणं पुक्खरिणीणं बहुमज्झदेसभागे चत्तारि दधिमुहगपव्वया पण्णत्ता, ते णं दधिमुहगपव्वया चउसट्ठिं जोयणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं, एगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं, सव्वत्थ समा, पल्लगसंठाणसंठिया, दसजोयणसहस्साइं विक्खंभेणं, एक्कतीसं जोयणसहस्साइं छच्च तेवीसे जोयणसए परिक्खेवेणं। सव्वरयणमया, अच्छा जाव पडिरूवा। तेसिणं दधिमुहगपव्वयाणं उवरिं बहु-सम-रमणिज्जा भूमिभागा पण्णत्ता। सेसं जहेव अंजणगपव्वयाणं तहेव निरवसेसं भाणियव्वं, जाव चूयवणं उत्तरे पासे ॥८०॥

छाया—तत्र खलु यः स पौरस्त्योऽञ्जनकपर्वतः तस्य चतुर्दिशि चतस्रो नन्दाः पुष्करण्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नन्दोत्तरा, नन्दा, आनन्दा, नन्दिवर्द्धना। ताः नन्दाः पुष्करण्य एकं योजनशतसहस्रमायामेन, पञ्चाशतयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण, दशयोजन-शतान्युद्वेधेन। तासां पुष्करणीनां प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्दिशि चत्वारः त्रिसोपानप्रतिरूपकाः। तेषां त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां पुरतश्चत्वारि तोरणानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—पौरस्त्ये, दाक्षिणात्ये, पाश्चात्ये, उत्तरे। तासां खलु पुष्करणीनां प्रत्येकं चतुर्दिशि चत्वारो वनखण्डाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पुरतः, दक्षिणतः, पश्चिमतः, उत्तरतः। पूर्वेणाशोकवनं यावच्चूतवनमुत्तरे पार्श्वे। तासां पुष्करणीनां बहुमध्यदेशभागे चत्वारो दधिमुखपर्वताः प्रज्ञप्ताः। ते दधिमुखपर्वताश्चतुःषष्टियोजनसहस्राण्यूर्ध्वमुच्चत्वेन, एकं योजन-सहस्रमुद्वेधेन, सर्वत्र समाः, पल्यंकसंस्थानसंस्थिताः, दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण, एकत्रिंशत्योजनसहस्राणि, त्रयोविंशत्यधिकषट्शतानि परिक्षेपेण। सर्वरत्नमयाः, अच्छाः यावत् प्रतिरूपाः। तेषां दधिमुखपर्वतानामुपरिं बहुसमरमणीया भूमिभागाः प्रज्ञप्ताः। शेषं यथैव अञ्जनकपर्वतानां तथैव निरवशेषं भणितव्यं यावच्चूतवनमुत्तरे पार्श्वे।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—उन अञ्जनक पर्वतों में से जो पूर्वदिशा का अञ्जनक पर्वत है, उसके चारों ओर नन्दोत्तरा, नन्दा, आनन्दा और नन्दिवर्धना नामक चार नन्दा पुष्करणियां हैं। वे पुष्करणियां एक हजार योजन लम्बाई में, पचास हजार योजन चौड़ाई में और उद्वेध में दस हजार योजन हैं। उन पुष्करणियों में से प्रत्येक की चारों दिशाओं में चार

त्रिसोपानप्रतिरूपक हैं। उन त्रिसोपान प्रतिरूपकों के आगे पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा के चार तोरण हैं। पुष्करणियों में से प्रत्येक की चारो दिशाओं मे पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, और उत्तर दिशा में चार अशोकवन यावत् उत्तर दिशा में आम्रवन हैं। पुष्करणियों के अत्यन्त मध्यदेश भाग में चार दधिमुख पर्वत हैं। वे सभी पर्वत चौंसठ हजार योजन ऊंचे, एक हजार योजन की गहराई अपेक्षा से समान हैं। सर्वत्र समरूप, पल्ल (लाट देश प्रसिद्ध धान्य नापने का पात्र विशेष) समान आकृति वाले, दस हजार योजन चौड़ाई और इकत्तीस हजार छः सौ तेईस योजन परिधि की अपेक्षा से हैं। वे पर्वत रत्नमय, स्वच्छ यावत् प्रतिरूप हैं। उन दधिमुख पर्वतों के ऊपर अत्यन्त समरूप तथा रमणीय भूमिभाग प्रतिपादित किए गए हैं। शेष सब वर्णन उसी प्रकार जानना चाहिए जैसे अञ्जनक पर्वत का है। उसी तरह दधिमुख पर्वत का वर्णन भी निरवशेष रूप से कहना चाहिए, यावत् उत्तर पार्श्व में आम्रवन है।

विवेचनिका—इस सूत्र मे अञ्जनक पर्वत के बाह्य वैभव का वर्णन किया गया है। उन चार अञ्जनक पर्वतो में जो अञ्जनकपर्वत पूर्वदिशा को सुशोभित कर रहा है उसकी चार दिशाओ मे चार नन्दा पुष्करणिया है। उनमे जो पुष्करणी पूर्व मे है उसकी संज्ञा है नन्दुत्तरा, जो दक्षिण दिशा मे है उसका नाम है नन्दा, पश्चिम दिशा मे आनन्दा और जो उत्तरदिशा मे है उसका नाम नन्दिवर्धना है। प्रत्येक नन्दा पुष्करणी की लम्बाई लाख-लाख योजन की है, उनकी चौडाई पचास-पचास हजार योजन की है, और उनकी गहराई एक-एक हजार योजन की है। प्रत्येक नन्दा पुष्करणी की चारो दिशाओं मे तीन-तीन सोपान हैं, वे सोपान-पंक्तिया अनुपम है। उन सोपानो से देवगण नन्दापुष्करिणियो में उतरते हैं। इसी कारण सूत्रकार ने पडिरूवग विशेषण दिया है अर्थात् वे त्रिसोपान बड़े चमत्कारी एव शिल्पकला से मण्डित है।

उन तीन सोपान प्रतिरूपकों के आगे एक-एक तोरण है। प्रत्येक तोरण के सामने एक-एक वन-खण्ड है। पूर्व मे अशोकवन, दक्षिण मे सप्तपर्णवन, पश्चिम मे चम्पकवन और उत्तर में आम्रवन है। प्रत्येक पुष्करणी के मध्यभाग मे एक-एक दधिमुख पर्वत है जो कि अत्युज्ज्वल एवं दधि या रजत की तरह श्वेत है। ये पर्वत ६४ हजार योजन ऊचे, एक हजार योजन गहरे और दस हजार योजन लम्बे-चौड़े हैं। प्रत्येक दधिमुख पर्वत की परिधि ३१६२३ योजन है। वे आमूल चूल सब रत्नमय, श्लक्ष्ण, घृष्ट, मृष्ट, नीरज, निष्पंक, निष्कटक-छाय, सप्रभ, समरीचिक, स-उद्योत, प्रासादीय, दर्शनीय, अभिरूप एवं प्रतिरूप हैं।

इन चार दधिमुख पर्वतों का शेष सारा-वर्णन अञ्जनक पर्वत की तरह समझ लेना चाहिए। अञ्जनक और दधिमुख पर्वतों की आतरिक एव बाह्य रमणीयता अनुपम तथा अद्वितीय है। ये स्वर्गीय देवों के लिए भी लुभावने एवं आकर्षक हैं।

दाक्षिणात्य अंजनक पर्वत

मूल—तत्थ णं जे से दाहिणिल्ले अंजणगपव्वए तस्स णं चउदिसिं चत्तारि णंदाओ पुक्खरणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—भद्दा, विसाला, कुमुदा, पोंडरीगिणी। ताओ णंदाओ पुक्खरणीओ एगं जोयणसयसहस्सं, तं चेव जाव दधिमुहगपव्वया जाव वणसंडा ॥८१॥

छाया—तत्र खलु यः स दाक्षिणात्योऽञ्जनकपर्वतस्य खलु चतुर्दिशि चतस्रो नन्दापुष्करण्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—भद्रा, विशाला, कुमुदा, पुण्डरीकिणी। ता नन्दापुष्करण्यः एकं योजनशतसहस्रं, शेषं तच्चैव यावत् दधिमुखपर्वता यावत् वनखण्डाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—उनमें से जो दक्षिण दिशा का अञ्जनक पर्वत है, उसकी चारों दिशाओं में चार नन्दा पुष्करणियां हैं—भद्रा, विशाला, कुमुदा और पुण्डरीकिणी। वे नन्दा पुष्करणियां एक लाख योजन लंबाई में हैं। शेष सभी वर्णन उसी तरह का है जैसा कि पूर्व वर्णित दधिमुखपर्वत से लेकर वन-समूह तक का किया गया है।

विवेचनिका—अब सूत्रकार क्रम-प्राप्त दक्षिण दिशा के अञ्जनक पर्वत का वर्णन करते हैं। अञ्जनक पर्वत का वर्णन आद्योपान्त पहले किए हुए वर्णन की भांति समझ लेना चाहिए। उसकी चारों दिशाओं में चार नन्दापुष्करणियां हैं। प्रत्येक पुष्करणी लाख-लाख योजन लम्बी है और पचास-पचास हजार योजन चौड़ी है। भद्रापुष्करणी पूर्व में है, विशाला दक्षिण में, कुमुदा पश्चिम में, पोंडरीकिणी उत्तर दिशा में है। प्रत्येक नन्दापुष्करणी के मध्यभाग में दधिमुख पर्वत है। उन चार दधिमुख पर्वतों की लम्बाई, चौड़ाई, गहराई और ऊंचाई का सब वर्णन पहले की तरह जान लेना चाहिए। प्रत्येक पुष्करणी की चार दिशाओं में चार वनखण्ड हैं, उनके नाम और क्रम भी पूर्व वर्णित अञ्जनक पर्वतों के समान समझ लेने चाहिएं।

पश्चिमी अंजनक की पुष्करणियां आदि

मूल—तत्थ णं जे से पच्चत्थिमिल्ले अंजणगपव्वए तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि णंदाओ पुक्खरणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—णंदिसेणा, अमोहा, गोथूभा, सुदंसणा। सेसं तं चेव। तहेव दधिमुहगपव्वया, तहेव सिद्धाययणा जाव वणसंडा ॥८२॥

छाया—तत्र यः सः पाश्चात्योऽञ्जनकपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि चतस्रो नन्दाः

पुष्करण्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नन्दिषेणा, अमोघा, गोस्तूपा, सुदर्शना। शेषं तच्चैव। तथैव दधिमुखपर्वताः, तथैव सिद्धायतनानि यावत् वनखण्डाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—उन पर्वतों में से जो पश्चिम दिशा का अञ्जनक पर्वत है उसकी चारों दिशाओं में नन्दिषेणा, अमोघा, गौस्तूपा और सुदर्शना नामक चार नन्दा पुष्करणियां हैं, शेष सब वर्णन पूर्ववत् ही है। उसी प्रकार दधिमुखपर्वतों का और सिद्धायतनों से लेकर वनखण्डों पर्यन्त सबका पूर्ववत् वर्णन जानना चाहिए।

विवेचनिका—जो अञ्जनक पर्वत पश्चिम दिशा में है उसकी भी चारों दिशाओं में चार नंदा पुष्करणियां हैं, उनके नाम नन्दिषेणा, अमोहा, गोस्तूपा और सुदर्शना हैं। प्रत्येक पुष्करणी के मध्यभाग में एक-एक दधिमुख पर्वत है। प्रत्येक पुष्करणी की चारों दिशाओं में चार-चार वन खंड हैं। शेष समस्त विवरण पूर्वोक्त अञ्जनक पर्वतों के समान ही समझ लेना चाहिए।

उत्तरीय अंजनक पुष्करणियां आदि

मूल—तत्थ णं जे से उत्तरिल्ले अंजणगपव्वए तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि णंदाओ पुक्खरणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—विजया, वेजयंती, जयंती, अपराजिया। ताओ णं पुक्खरणीओ एगं जोयणसयसहस्सं तं चेव पमाणं, तहेव दधिमुहगपव्वया, तहेव सिद्धाययणा जाव वणसंडा॥८३॥

छाया—तत्र यः स उत्तरीयोऽञ्जनकपर्वतः तस्य चतुर्दिशि चतस्रो नन्दाः पुष्करिण्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—विजया, वैजयन्ती, जयन्ती, अपराजिता। ताः पुष्करिण्य एकं योजनशतसहस्रं तच्चैव प्रमाणं, तथैव दधिमुखपर्वतास्तथैव सिद्धायतनानि यावत् वनखण्डाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—उन पर्वतों में जो उत्तर का अञ्जनक पर्वत है, उसकी चारों दिशाओं में विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता नामक एक-एक लाख योजन लम्बी चार नन्दा पुष्करणियां हैं। उसी प्रकार उनका परिमाण, दधिमुख पर्वतों का वर्णन सिद्धायतनों से लेकर वनखण्डों पर्यन्त सभी वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

विवेचनिका—मेरु पर्वत से उत्तर दिशा की ओर जो अञ्जनक पर्वत है उसकी चारों दिशाओं में चार नन्दापुष्करणियां हैं, वे चारों पुष्करणियां लाख-लाख योजन लम्बी हैं और पचास-पचास योजन चौड़ी हैं। उनकी गहराई हजार-हजार योजन की है। उनके शाश्वत नाम विजया, वैजयंती, जयंती और अपराजिता हैं। इनका क्रम भी पूर्ववत् ही जानना चाहिए।

प्रत्येक पुष्करणी के मध्यभाग में दधिमुख पर्वत है। प्रत्येक पुष्करणी चार-चार वनों से घिरी हुई है। दिशाओं के क्रम से चार अञ्जनक पर्वत हैं। प्रत्येक पर्वत चार-चार पुष्करणियों से घिरा हुआ है। प्रत्येक नन्दा पुष्करणी चार-चार तटीय वनों से सुशोभित है। शेष वर्णन पूर्व उल्लिखित पर्वतों के वर्णन सा जान लेना चाहिए।

रति-करक पर्वतों का परिचय

मूल—णंदीसरवरस्स णं दीवस्स चक्कवालविक्खंभस्स बहुमज्झ-देसभागे चउसु विदिसासु चत्तारि रइकरगपव्वया पण्णत्ता, तं जहा—उत्तर-पुरच्छिमिल्ले रइकरगपव्वए, दाहिणपुरच्छिमिल्ले रइकरगपव्वए, दाहिणपच्चत्थिमिल्ले रइकरगपव्वए, उत्तरपच्चत्थिमिल्ले रइकरगपव्वए। तेणं रइकरगपव्वया दस जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, दस गाउयसयाइं उव्वेहेणं, सव्वत्थ समा झल्लरिसंठाणसंठिया, दस जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं, एक्कतीसं जोयणसहस्साइं छच्च तेवीसे जोयणसए परिक्खेवेणं। सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा।

तत्थ णं जे से उत्तरपुरच्छिमिल्ले रइकरगपव्वए, तस्स णं चउदिसिं ईसाणस्स देविंदस्स देवरन्नो चउण्हमग्गमहिसीणं जंबूदीवप्पमाणाओ चत्तारि रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—णंदुत्तरा, णंदा, उत्तरकुरा, देवकुरा—कण्हाए, कण्हराईए, रामाए, रामरक्खियाए।

तत्थ णं जे से दाहिणपुरच्छिमिल्ले रइकरगपव्वए, तस्स णं चउद्दिसिं सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो चउण्हमग्गमहिसीणं जंबूदीवप्पमाणाओ चत्तारि रायहाणीओ, पण्णत्ताओ, तं जहा—सुमणा, सोमणसा, अच्चिमाली, मणोरमा—पउमाए, सिवाए, सईए, अंजूए।

तत्थ णं जे से दाहिणपच्चत्थिमिल्ले रइकरगपव्वए, तत्थ णं चउद्दिसिं सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो चउण्हमग्गमहिसीणं जंबूदीवप्पमाणमेत्ताओ चत्तारि रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—भूया, भूयवडेंसा, गोथूभा, सुदंसणा—अमलाए, अच्छराए, णवमियाए, रोहिणीए।

तत्थ णं जे से उत्तरपच्चत्थिमिल्ले रइकरगपव्वए, तत्थ णं चउदिसिं ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो चउण्हमग्गमहिसीणं जंबूदीवप्पमाणमित्ताओ

चत्तारि रायहाणीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—रयणा, रयणुच्चया, सव्वर-यणा, रयणसंचया—वसूए, वसुगुत्ताए, वसुमित्ताए वसुन्धराए॥८४॥

छाया—नन्दीश्वरवरस्य द्वीपस्य चक्कवालविष्कम्भस्य बहुमध्यदेशभागे चतसृषु विदिक्षु चत्वारो रतिकरकपर्वताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—उत्तरपौरस्त्यो रतिकरकपर्वतः, दक्षिणपौरस्त्यो रतिकरकपर्वतः, दक्षिणपाश्चात्यो रतिकरकपर्वतः, उत्तरपाश्चात्यो रतिकरकपर्वतः। दश योजनशतानि ऊर्ध्वमुच्चत्वेन, दश गव्यूतिशतान्युद्वेधेन, सर्वत्र समाः, झल्लरीसंस्थानसंस्थिता, दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेण, एकत्रिंशत् योजनसहस्राणि त्रयोविंशत्यधिकषट् योजनशतं परिक्षेपेण। सर्वरत्नमयाः अच्छा यावत् प्रतिरूपाः।

तत्र यः स उत्तरपौरस्त्यो रतिकरकपर्वतः तस्य चतुर्दिशि ईशानस्य देवस्य देवराजस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नन्दोत्तरा, नन्दा, उत्तरकुरुः, देवकुरुः, कृष्णायाः, कृष्णराज्याः, रामायाः, रामरक्षितायाः।

तत्र यः स दक्षिणपौरस्त्यो रतिकरकपर्वतः तस्य चतुर्दिशि शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सुमना, सौमनसा, अर्चिमाली, मनोरमा—पद्मायाः, शिवायाः, सत्यायाः, अञ्ज्वाः।

तत्र यः स दक्षिणपाश्चात्यो रतिकरकपर्वतः तस्य चतुर्दिशि शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—भूता, भूतावतंसा, गोस्तूपा, सुदर्शना—अम्लायाः, अप्सरायाः, नवमिकायाः, रोहिण्याः।

तत्र यः स उत्तरपाश्चात्यो रतिकरकपर्वतः, तस्य चतुर्दिशि ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणमात्राश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्ता-स्तद्यथा—रत्ना, रत्नोच्चया, सर्वरत्ना, रत्नसंचया—वस्वाः, वसुगुप्तायाः, वसुमित्रायाः, वसुन्धरायाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नन्दीश्वर नामक द्वीप की परिधिरूप चक्रवालविष्कम्भ के अत्यन्त मध्य देश भाग में चारों विदिशाओं में, उत्तर-पूर्व का रतिकरक, दक्षिण-पूर्व का रतिकरक, दक्षिण-पश्चिम का रतिकरक और उत्तर-पश्चिम का रतिकरक, ये चार रतिकरक पर्वत प्रतिपादन किए गए हैं। वे देव-क्रीड़ास्थान ऊंचाई में हजार योजन, गहराई की अपेक्षा से गव्यूति-परिमाण, सर्वत्र सम, झल्लरी नामक वाद्य के सदृश आकार वाले दस हजार योजन विष्कम्भ की अपेक्षा से और परिधि में इकतीस हजार छः सौ तेईस योजन परिमाण वाले हैं। वे सब रतिकरक पर्वत रत्नमय और स्वच्छ यावत् प्रतिरूप हैं।

उनमें जो रतिकरक पर्वत उत्तर-पूर्व कोण में है, उसकी चारों दिशाओं में ईशान देवेन्द्र देवराज की चार अग्रमहिषियों—कृष्णा, कृष्णराजी, रामा और रामरक्षिता की क्रमशः जम्बूद्वीप-परिमाण—नन्दोत्तरा, नन्दा, उत्तर-कुरु और देवकुरु नामक चार राजधानियां हैं।

उनमें दक्षिण-पूर्व कोण में जो रतिकरक पर्वत है, उसकी चारों दिशाओं में शक्र देवेन्द्र देवराज की चार अग्रमहिषियों—पद्मा, शिवा, सत्या और अञ्जु की जम्बूद्वीप परिमाण में—सुमना, सौमनसा, अर्चिमाली और मनोरमा ये चार राजधानियां हैं।

उनमें दक्षिण-पश्चिम कोण में जो रतिकरक पर्वत है, उसकी चारों दिशाओं में शक्र देवेन्द्र देवराज की चार अग्रमहिषियों—अमला, अप्सरा, नवमिका और रोहिणी की क्रमशः जम्बूद्वीप परिमाण में—भूता, भूतावतंसा, गोस्तूपा और सुदर्शना नामक ये चार राजधानियां हैं।

उनमें उत्तर-पश्चिम कोण में जो रतिकरक पर्वत है, उसकी चारों दिशाओं में ईशान देवेन्द्र देवराज की चार अग्रमहिषियों—वसु, वसुगुप्ता, वसुमित्रा और वसुन्धरा की क्रमशः जम्बूद्वीप परिमाण में—रत्ना, रत्नोच्चया, सर्वरत्ना और रत्नसंचया नामक ये चार राजधानियां हैं।

विवेचनिका—इस सूत्र में रतिकरक पर्वतों का वर्णन किया गया है। ये पर्वत देव-देवियो के रमणीय क्रीड़ास्थल हैं, अत: इन्हें 'रतिकर' कहा जाता है। नंदीश्वर द्वीप का वलयाकार विस्तार एक अरब, त्रेसठ करोड, चौरासी लाख योजन है। उसके मध्य भाग में चारों विदिशाओं में अर्थात् चारों कोनों में चार रतिकर पर्वत हैं। प्रत्येक रतिकर पर्वत की ऊचाई एक-एक हजार योजन है और एक-एक हजार योजन गहराई है, दस-दस हजार योजन चौड़ाई और ३१६२३ योजन परिमाण की परिधि है। उनमें जो ईशान कोण में रतिकर पर्वत है, उसके चारों ओर चारों दिशाओं में ईशानेन्द्र देवेन्द्र देवराज की चार अग्रमहिषियों की चार राजधानियां हैं। वे सब जबूद्वीप प्रमाण लाख-लाख योजन की लंबी-चौड़ी हैं। उन राजधानियों के नाम है—नदोत्तरा, नंदा, उत्तरकुरा और देवकुरा। उन पर क्रमशः, कृष्णा, कृष्णरात्रि, रामा और रामरक्षिता देवियों का आधिपत्य है।

जो आग्नेयकोण में रतिकर पर्वत है, उसके चारों ओर चारों दिशाओं में शक्रेन्द्र देवराज की चार अग्रमहिषियों की क्रमशः चार राजधानियां हैं, वे भी जंबूद्वीप-प्रमाण लंबाई-चौड़ाई वाली हैं। उनके नाम सुमना, सुमनसा, अर्चिमालि और मनोरमा हैं। उन पर पद्मा, शिवा, शक्ति और अंजू नामक देवियों का आधिपत्य है।

जो रतिकर पर्वत दक्षिण-पश्चिम में है उसके चारों ओर चारों दिशाओं में चार राजधानियां हैं, उनकी लम्बाई-चौड़ाई आदि भी पहले की तरह जाननी चाहिए, उनके शाश्वत नाम हैं

भूता, भूतावतंसका, गोस्तूपा और सुदर्शना। उन पर क्रमशः अमला, अप्सरा, नवमिका और रोहिणी नामक चार देवियों का आधिपत्य है।

जो रतिकर पर्वत वायव्यकोण में है उसके भी चारों ओर चारों दिशाओं में चार राजधानियां हैं—रत्ना, रत्नोच्चया, सर्वरत्ना और रत्नसंचया। उन पर वसु, वसुगुप्ता, वसुमित्रा और वसुंन्धरा नामक चार देवियों का आधिपत्य है।

इस प्रकार चारों विदिशाओं में चार रतिकर पर्वत है, वहां पर सोलह राजधानियां हैं। ईशान और वायव्यकोण के रतिकर पर्वतों के आस-पास जो आठ राजधानियां हैं उन पर ईशानेन्द्र की आठ अग्रमहिषियो का आधिपत्य है, उनकी पट्टदेवियों के नाम-निर्देश ऊपर किए जा चुके हैं तथा आग्नेयकोण तथा नैऋत्य कोण के रतिकर पर्वतों के चारों ओर जो आठ राजधानियां हैं, उन पर शक्रेन्द्र की आठ पट्टदेवियों का आधिपत्य है। इन पर्वतों का वातावरण सम्बन्धी शेष समृद्धि ठीक वैसी ही है जैसी कि अञ्जनक पर्वतों की वर्णित की गई है।

ढाई द्वीप से बाहर जितने भी द्वीप हैं उन में से नंदीश्वर द्वीप ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिस द्वीप पर देव-देविया चातुर्मासिक, सांवत्सरिक तथा जिन-जन्मकल्याणक आदि स्वर्ण-अवसरों पर अष्टाह्निक महोत्सव मनाते हैं वह द्वीप सभी जाति के देवों के लिए आकर्षक और मनमोहक है। वहां का प्राकृतिक सौंदर्य अपने आप में अद्वितीय है।[१]

इन द्वीपों के वैभव का परिचय इस लिए दिया गया है कि सुख भोगों की अभिलाषा रखने वाला साधक यह जान सके कि मैं जिस दुनिया में रहता हूँ यहां की समृद्धि तो तुच्छ ही है। अनन्त वैभव से सम्पन्न नन्दीश्वर आदि द्वीप के देवों की समृद्धि भी निश्चित कालावधि में समाप्त हो जाती है, अतः वह भी अनित्य है, अनित्य वैभवों को त्याग कर ऐसी निस्पृह साधना करनी चाहिए जिससे अक्षय आनन्द रूप मोक्ष-पद की उपलब्धि हो सके।

यह भी दृष्टिकोण हो सकता है कि इतने वैभव-सम्पन्न देव भी जब शाश्वत सुख का उपभोग नहीं कर सकते, उनको भी अन्त में भौतिकसुखमय लोकों को छोड़कर पुनः जन्म-मरण के चक्कर में फंसना पड़ता है तब उनकी भी कामना क्यों की जाए? क्यों न उस मोक्षधाम के लिए यत्नशील बना जाए जहां पहुँचकर आत्मा को केवल आनन्द की प्राप्ति ही नहीं होती, अपितु आत्मा आनन्दमय रूप धारण कर लेता है।

चतुर्विध सत्य

मूल—चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते, तं जहा—णामसच्चे, ठवणसच्चे, दव्वसच्चे, भावसच्चे ॥८५॥

---

१. इस द्वीप के विस्तृत-विवरण एवं वर्णन के लिए देखिए जीवाभिगम सूत्र।

छाया—चतुर्विधं सत्यं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—नामसत्यं, स्थापनासत्यं, द्रव्यसत्यं, भावसत्यं।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार का सत्य प्रतिपादित किया गया है, जैसे—नाम-सत्य, स्थापना-सत्य, द्रव्य-सत्य और भाव-सत्य।

विवेचनिका—उपर्युक्त देव-धामों की प्राप्ति एवं मोक्षधाम की ओर उन्मुखता सत्याचरण से ही हो सकती है, अतः इस सूत्र में सत्य का विवेचन किया गया है। सत्य के चार रूप हैं—नाम-सत्य, स्थापना-सत्य, द्रव्य-सत्य और भाव-सत्य।

१. नाम-सत्य—यदि किसी जीव का या अजीव का नाम सत्य है, तो ऐसा सत्य नामसत्य कहलाता है। जैसे कि सत्यदेव, सत्यपाल, पीपल वृक्ष को भी सत्य कहते हैं, एक युग का नाम भी सत्य है, एक दिव्य अस्त्र का नाम भी सत्य है। इस प्रकार किसी का नाम सत्य रखना नामसत्य कहलाता है। जिसका नामसत्य है वह भले ही असत्यभाषी हो फिर भी उसे सत्य कहना 'नामसत्य' है।

२. स्थापना-सत्य—यदि किसी स्थान विशेष पर सत्य शब्द लिखा हुआ है तो वह सत्य "स्थापना-सत्य" कहलाता है। सत्य की प्रतिकृति ही स्थापना-सत्य है।

३. द्रव्य-सत्य—असली और नकली वस्तुओं में जो असली है, वह द्रव्यसत्य है। अथवा जो सत्य के स्वरूप को भलीभाँति जानता है, किन्तु उपयोग सत्य में नहीं है, उसे भी 'द्रव्यसत्य' कहा जाता है, "**अणुवओगो दव्वं**" इस सूत्रांश में द्रव्यसत्य को व्यक्त किया गया है।

४. भाव-सत्य—आस्तिकता को या विशुद्धभावों को "भावसत्य" कहा जाता है, अथवा चारित्र के अन्तर्वर्ती परिणामों का अन्तर्भाव 'भावसत्य' में हो जाता है, अथवा अविसंवादी ज्ञान को भी भाव-सत्य कहते हैं। जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही समझना तथा यथार्थ ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र को 'भावसत्य' कहते हैं। वक्ता का अभिप्राय जिस सत्य से हो उसको वैसा समझना ही तो सत्य है।

सच्चा सत्यवक्ता वही है जो नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव सभी दृष्टियों से सत्य का अनुगामी है और सत्यानुगामी ही देव-लोकों को एवं मोक्ष-धाम को प्राप्त कर सकता है।

आजीविक मतानुसार तप-विधान

मूल—आजीवियाणं चउव्विहे तवे पण्णत्ते, तं जहा—उग्गतवे, घोरतवे, रसणिज्जूहणया, जिब्भिंदियपडिसंलीणया॥८६॥

छाया—आजीविकानां चतुर्विधं तपः प्रज्ञप्तं, तद्यथा—उग्रतपः, घोरतपः, रसनिर्यूहणता, जिह्वेन्द्रियप्रतिसंलीनता।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—आजीविक आचार्यों के मत में तप चार तरह का माना गया है, जैसे—उग्रतप, घोरतप, रसनिर्यूहणता तप और जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता तप।

विवेचनिका—सत्यवादी ही तप कर सकता है अथवा तपस्वी ही प्रत्येक दशा में सत्य को अपना सकता है, अतः सत्य के वर्णन के अनन्तर तप का वर्णन किया गया है। तप करने का विधान प्रायः सभी मत-मतान्तरों में है और तप को प्रायः सभी मतानुयायी श्रेष्ठ समझते हैं। तप करने में उन्हें स्वयं निष्ठा भी है, किन्तु तप के भेद-प्रभेदों का उन्हें परिज्ञान नहीं है। गोशालक के मत में[1] चार प्रकार का तप प्रचलित है, जैसे कि बेले-बेले, तेले-तेले, चौले-चौले, तपस्या करने को वे उग्रतप कहते हैं। अपनी शक्ति से भी अधिक कष्ट सहते हुए तप करना घोरतप है। रसमय पदार्थों का त्याग करना रसनिर्यूहणता और रसनेन्द्रिय को वश में करना जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता-तप है। सूत्रकार ने तप के ये चार भेद आजीविक मतानुयायिओं के बताए हैं। जैन आगमों में तो बारह प्रकार का तप बतलाया गया है। उग्रतप और घोरतप का अन्तर्भाव अनशन तप में हो जाता है। रसनिर्यूहणता का समावेश रस-परित्याग-तप में किया जाता है। पांच इन्द्रियों को अशुभ से हटाकर शुभ की ओर लगाना, इसी प्रकार मन को अकुशल से हटाकर कुशल में लगाना, कषायों को उदय में न लाना और उदय में आए हुओं को निष्फल करना प्रतिसंलीनता-तप है। जब कि प्रति-संलीनता-तप में आजीविकों ने एक जिह्वेन्द्रिय को ही ग्रहण किया है। गोशालक के सिद्धान्तों को आजीविक-सिद्धान्त और उस सिद्धान्त के उपासकों को भी आजीविक ही कहा जाता है।

संयम, त्याग और अकिंचनता की त्रिवेणी

मूल—चउव्विहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा—मणसंजमे, वइसंजमे, कायसंजमे, उवगरणसंजमे।

चउव्विहे चियाए पण्णत्ते, तं जहा—मणचियाए, वइचियाए, कायचियाए, उवगरणचियाए।

---

१ आज से ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व जैनेतर सप्रदायों में एक आजीविक संप्रदाय भी प्रचलित था। उसके अनुयायियों का विश्वास था कि सभी पदार्थ सत् हैं और कूटस्थ नित्य हैं। मंखलिपुत्र गोशालक इसी मत का युगप्रवर्तक हुआ, उसने इस मत को बहुत प्रोत्साहन दिया। गोशालक आजीविक मत का आद्य प्रवर्तक नहीं हुआ, बल्कि युग-प्रवर्तक अवश्य हुआ है।

चउव्विहा अकिंचणया पण्णत्ता, तं जहा—मणअकिंचणया, वइ-अकिंचणया, काय-अकिंचणया, उवगरण-अकिंचणया ॥८७॥

छाया—चतुर्विधः संयमः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—मनः-संयमः, वाक्-संयमः, काय-संयमः, उपकरणसंयमः।

चतुर्विधस्त्यागः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—मनस्त्यागः, वाक्-त्यागः, काय-त्यागः, उपकरणत्यागः।

चतुर्विधा अकिञ्चनता प्रज्ञप्ता, तद्यथा—मनोऽकिञ्चनता, वाग्-अकिञ्चनता, काय-अकिञ्चनता, उपकरण-अकिञ्चनता।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—संयम के चार रूप वर्णित किए गए हैं, जैसे—मनः संयम, वचन-संयम, काय-संयम और उपकरण-संयम।

त्याग चार प्रकार से वर्णित किया गया है, जैसे—मन-त्याग, वचन-त्याग, काय-त्याग और उपकरण-त्याग।

अकिञ्चनता चार प्रकार की वर्णित की गयी है, जैसे—मन-अकिञ्चनता, वचन-अकिञ्चनता, काय-अकिञ्चनता और उपकरण-अकिञ्चनता।

विवेचनिका—सत्याचरण और तप के द्वारा संयमनिष्ठा सुदृढ़ होती है, अतः अब सूत्रकार संयम, संयमजन्य त्याग एवं अकिञ्चनता का वर्णन करते हैं।

१. संयम

(१) **मनः-संयम**—मन और इन्द्रियों को वश में करना संयम है। वह चार प्रकार का होता है। प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—जब मन, हिंसा, असत्य, चोरी, विषय-कषायों की ओर प्रवृत्ति करने लग जाए तब उसे तुरन्त हटाकर विनय, सेवा, ध्यान, समाधि में लगाना ही मनः-संयम है।

(२) **वचन-संयम**—वाणी पर नियंत्रण करना वचन-संयम है, अर्थात् जिस वाणी से दूसरे लोग हिंसा में, असत्य में, चोरी में तथा दुराचार आदि में प्रवृत्त हों ऐसी वाणी न बोलना, असत्य न बोलना, कलहकारी, अप्रिय एवं कठोर भाषा न बोलना ही वचन-संयम है।

(३) **काय-संयम**—शरीर पर नियंत्रण रखना, किसी जीव की हिंसा न करना, किसी को बुरी भावना से मारना-पीटना नहीं, समस्त शारीरिक क्रियाओं पर नियन्त्रण रखना, कुसंगति में न पड़ना, दुराचार के बाजार में न जाना, ईर्यासमिति का पालन करना आदि क्रियाएं काय-संयम कहलाती हैं।

(४) **उपकरण-संयम**—संयमोपयोगी बाह्य साधनों के अतिरिक्त शेष सभी बहुमूल्य

वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों का परित्याग करना, मर्यादित उपकरणों की उभयकाल प्रतिलेखना करते रहना, उन्हें यतना से उठाना और रखना तथा उनसे विवेकपूर्वक काम लेना, जिस पर ममत्व बढ़े ऐसा उपकरण न रखना उपकरण-संयम है।

२. **त्याग**—आगमों में त्याग का माहात्म्य और त्याग के भेदों का विस्तृत एवं सुन्दर वर्णन किया गया है। किसी वस्तु पर से अपना स्वत्व हटा लेना, उस पर अपना अधिकार न समझना, वैराग्य के कारण सांसारिक भोगों या वस्तुओं को छोड़ना त्याग है। अथवा त्याग का अर्थ है दान और समर्पणता। किसी शुभ कार्य के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देना भी त्याग है। इस त्याग के भी चार रूप हैं:—

(१) **मनः-त्याग**—मन से किसी भोग्य वस्तु का त्याग करना।

(२) **वचन-त्याग**—संघ की साक्षी से बोलकर भोग्य वस्तु का त्याग करना।

(३) **काय-त्याग**—शरीर से त्याग करना। शरीर का त्याग संथारे में या कायोत्सर्ग में किया जाता है तथा परिवर्जनीय एवं निन्दनीय कुकर्म का या अभक्ष्य पदार्थों का त्याग करना, निंदनीय स्थान में जाने का त्याग करना भी काय-त्याग ही है।

(४) **उपकरण-त्याग**—अनावश्यक बाह्य उपकरणों का त्याग करना।

३. **अकिंचनता—निष्परिग्रहता—**

यद्यपि लोक-व्यवहार में अकिञ्चनता का अर्थ निर्धनता किया जाता है तथापि यहां वह अभिप्राय आगमकार को अभीष्ट नहीं है। जिस साधु का जीवन स्वाभाविक परिणति में विकसित हो रहा है, जो द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के परिग्रह से मुक्त है, उसे अकिञ्चनत्व कहते हैं। जिसके मन, वचन और काय में निर्लोभता है, ममत्व नहीं है वही सच्चा अकिञ्चन है। यह अकिञ्चनत्व संतोषमय साधु-जीवन में ही पाया जाता है।

संयम, त्याग और अकिञ्चनता ये तीनों अंग चारित्र के पूरक एवं पोषक हैं। इनकी आराधना ही चारित्र की आराधना है। मानव जीवन का उत्थान और विकास इन तीन गुणों पर ही निर्भर है, अतः सूत्रकार ने इन साधनों का उल्लेख इस उद्देशक के अंत में किया है।

॥ चतुर्थ स्थान का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

चतुर्थ-स्थान

तृतीय उद्देशक

[इस उद्देशक में राजी और क्रोध, उदक और भाव, पक्षी और जीव, वृक्ष और जीव, भारवाहक के विश्राम-स्थान और श्रावकत्व, पुरुष, युग्म, शूर, असुरकुमारों की लेश्याएं, यान, युग्म, सारथी, फलभेद और पुरुष, धर्म और व्यक्ति, निर्ग्रन्थ, निर्ग्रन्थी, श्रमणोपासक, श्रमणोपासिका, श्रमणोपासकों की अरुणाभविमान की स्थिति, देवों की मनुष्यलोक में आने की इच्छा और न आ सकने के कारण, लोकान्धकार, लोकोद्योत, देवों के मनुष्य लोक में आने के कारण, दुःख-शय्या, सुख-शय्या, वाचनीय, अवाचनीय, कन्थकोपम, प्रकन्थकोपम पुरुष, समान- पदार्थ, द्विशरीरी जीव, सत्त्व-दृष्टि से पुरुष-भेद, शय्या-प्रतिमा, जीव-स्पृष्ट शरीर, अस्तिकाय स्पृष्टलोक, समान-प्रदेश पदार्थ, कठिन-दृश्य शरीर, स्पर्श-वेद्य पदार्थ, अलोक में प्रवेश न हो सकने के कारण, ज्ञात आदि के भेद एवं संख्यान आदि विषयों का चतुर्विधात्मक विस्तृत वर्णन किया गया है]

राजि और क्रोध, उदक और भाव

मूल—चत्तारि राईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पव्वयराई, पुढविराई, बालुयराई, उदगराई। एवामेव चउव्विहे कोहे पण्णत्ते, तं जहा—पव्वयराइसमाणे, पुढविराइसमाणे, बालुयराइसमाणे, उदगराइसमाणे। पव्वयराइसमाणं कोहं अणुपविट्ठे जीवे कालं करेइ, णेरइएसु उववज्जइ। पुढविराइसमाणं कोहमणुपविट्ठे, तिरिक्खजोणिएसु उववज्जइ। बालुयराइसमाणं कोहं अणुपविट्ठे समाणे मणुस्सेसु उववज्जइ। उदगराइसमाणं कोहमणुपविट्ठे समाणे देवेसु उववज्जइ।

चत्तारि उदगा पण्णत्ता, तं जहा—कद्दमोदए, खंजणोदए, बालुओदए,

सेलोदए। एवामेव चउव्विहे भावे पण्णत्ते, तं जहा—कद्दमोदगसमाणे, खंजणोदगसमाणे, बालुओदगसमाणे, सेलोदगसमाणे। कद्दमोदगसमाणं भावमणुपविट्ठे जीवे कालं करेइ, णेरइएसु उववज्जइ। एवं जाव सेलोदगसमाणं भावमणुपविट्ठे जीवे कालं करेइ, देवेसु उववज्जइ॥ ८८॥

छाया—चतस्रो राजयः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—पर्वतराजिः, पृथ्वीराजिः, बालुकाराजिः, उदकराजिः। एवमेव चतुर्विधः क्रोधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पर्वतराजिसमानः, पृथ्वीराजिसमानः, बालुकाराजिसमानः, उदकराजिसमानः। पर्वतराजिसमानं क्रोधमनुप्रविष्टो जीवः कालं करोति नैरयिकेषूपपद्यते। पृथ्वीराजिसमानं क्रोधमनुप्रविष्टो (जीवः) तिर्यग्योनिषूपपद्यते। बालुकाराजिसमानं क्रोधमनुप्रविष्टः सन् मनुष्येषूपपद्यते। उदकराजिसमानं क्रोधमनुप्रविष्टः सन् देवेषूपपद्यते।

चत्वारि उदकानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—कर्दमोदकं, खञ्जनोदकं, बालुकोदकं, शैलोदकम्। एवमेव चतुर्विधो भावः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—कर्दमोदकसमानः, खञ्जनोदकसमानः, बालुकोदकसमानः, शैलोदकसमानः। कर्दमोदकसमानं भावमनुप्रविष्टो जीवः कालं करोति, नैरयिकेषूपपद्यते। एवं यावत् शैलोदकसमानं भावमनुप्रविष्टो जीवः कालं करोति, देवेषूपपद्यते।

शब्दार्थ—**चत्तारि राईओ पण्णत्ताओ, तं जहा**—चार रेखाएं कही गयी हैं, जैसे, **पव्वयराई**—पर्वत-रेखा, **पुढविराई**—पृथ्वी-रेखा, **बालुयराई**—बालुका-रेखा और, **उदगराई**—उदक-रेखा। **एवामेव**—इसी प्रकार, **चउव्विहे कोहे पण्णत्ते, तं जहा**—चार प्रकार का क्रोध कहा गया है, जैसे, **पव्वयराइसमाणे**—पर्वत-रेखा तुल्य, **पुढविराइसमाणे**—पृथ्वी-रेखा तुल्य, **बालुय-राइसमाणे**—बालुका-रेखा तुल्य और, **उदगराइसमाणे**—उदक-रेखा समान, **पव्वयराइसमाणं कोहं अणुपविट्ठे जीवे**—पर्वतराजि समान क्रोध में अनुप्रविष्ट जीव यदि, **कालं करेइ**—काल करता है तो, **णेरइएसु उववज्जइ**—नारकियों में उत्पन्न होता है, **पुढविराइसमाणं कोहमणुप्पविट्ठे समाणे**—पृथ्वी-राजि समान क्रोध में अनुप्रविष्ट जीव, **कालं करेइ**—काल करता है तो, **तिरिक्खजोणिएसु उववज्जइ**—तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है। **बालुयराइसमाणं कोहं अणुप्पविट्ठे जीवे**—बालुका-राजि समान क्रोध में अनुप्रविष्ट जीव यदि, **कालं करेइ**—काल करता है तो, **मणुस्सेसु उववज्जइ**—मनुष्यों में उत्पन्न होता है और, **उदगराइसमाणं कोहं अणुप्पविट्ठे जीवे**—उदक-राजि समान क्रोध में अनुप्रविष्ट जीव यदि, **कालं करेइ**—काल करता है तो, **देवेसु उववज्जइ**—देवों में उत्पन्न होता है।

चत्तारि उदगा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के उदक कहे गए हैं, जैसे, **कद्दमोदए**—कर्दम-उदक, **खंजणोदए**—खञ्जन-उदक, **बालुओदए**—बालुका-उदक और, **सेलोदए**—शैल-उदक। **एवामेव**—इसी तरह, **चउव्विहे भावे पण्णत्ते, तं जहा**—चार तरह के भाव हैं, जैसे, **कद्दमोदगसमाणे**—कर्दम-उदक समान, **खंजणोदगसमाणे**—खञ्जन-उदक समान।

बालुओदगसमाणे—बालुका-उदक समान और, **सेलोदगसमाणे**—शैल-उदक समान। **कद्दमोदगसमाणं भावमणुपविट्ठे जीवे**—कर्दमोदक समान भाव में अनुप्रविष्ट जीव यदि, **कालं करेइ**—मृत्यु प्राप्त करता है तो, **णेरइएसु उववज्जइ**—नारकियों में उत्पन्न होता है, **एवं जाव**—इसी प्रकार यावत्, **सेलोदगसमाणं भावमणुपविट्ठे जीवे**—शैल-उदक समान भाव में अनुप्रविष्ट जीव यदि, **कालं करेइ**—काल करता है तो, **देवेसु उववज्जइ**—देवों में उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—राजियें चार हैं—पर्वत-राजि, पृथ्वी-राजि, बालुका-राजि और उदक-राजि। इसी तरह चार प्रकार का क्रोध होता है—पर्वत-राजि समान, पृथ्वी-राजि समान, बालुका-राजि समान और उदक-राजि समान। पर्वत-राजि समान क्रोध में अनुप्रविष्ट जीव मरकर नरक में पैदा होता है। पृथ्वी-राजि समान क्रोध में प्रविष्ट जीव मर कर तिर्यंचों में पैदा होता है। बालुका-राजि समान क्रोध में प्रविष्ट जीव मर कर मनुष्य गति में जाता है और उदक-राजि समान क्रोध में प्रविष्ट जीव मर कर देवों में पैदा होता है।

चार प्रकार का उदक होता है—कर्दम-उदक, खञ्जन-उदक, बालुका-उदक और शैल उदक। इसी प्रकार चार भाव होते हैं—कर्दम-उदक समान, खञ्जन-उदक समान, बालुका-उदक समान और शैल-उदक समान। कर्दम-उदक समान भाव में प्रविष्ट जीव मर कर नारकिय जीवों में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार यावत् शैल-उदक समान भाव में अनुप्रविष्ट जीव मर कर देवों में पैदा होता है।

विवेचनिका—इस सूत्र में क्रोध और उसकी उपमाओं का वर्णन किया गया है। राजी का अर्थ है दरार, रेखा या लकीर। राजी चार तरह की होती हैं, जैसे कि—

ज्वालामुखी पर्वत के फट जाने से जो दरार पड़ जाती है उसका पुनः एकीकरण किसी भी समय में नहीं हो सकता। इसी प्रकार क्रोध का स्वभाव भी दरारें पैदा करने का है, यह प्रेम की एकता में दरारें पैदा करता है। जो क्रोध इस जीवन में मिटने वाला नहीं है, किसी भी उपाय से शांत होने वाला नहीं है ऐसा क्रोध सम्यक्त्व का घात करता है। इस क्रोध में यदि प्राणी परभव की आयु का बन्ध करता है तो एकमात्र नरक आयु का बन्ध होता है।

तालाब के सूख जाने पर जैसे पृथ्वी में दरारें पड़ जाती हैं उनका परस्पर पुनः मिल जाना असम्भव तो नहीं दुःशक्य अवश्य होता है। जब कभी वर्षा होगी तो वे दरारें पुनः मिल ही जाएंगी। इसी प्रकार जिस क्रोध का स्वभाव चिरकाल स्थायी हो और जो अधिक यत्न से ही शान्त हो सकता है, इस प्रकार के क्रोध को अप्रत्याख्यानी कहा जाता है और उसकी स्थिति लगभग एक वर्ष मानी गई है। उसका उदय देशविरति के लिए घातक है और उस काल में यदि आयु का बन्ध होता है तो जीव तिर्यञ्चगति में जाता है।

रेतीले मार्ग में गाड़ी के चलने से जो रेखा पड़ती है वह रेखा कुछ ही क्षणों में वायु के चलने से भर कर बराबर हो जाती है, फिर उसके चिह्न भी दिखाई नहीं देते।

इसी प्रकार जिस क्रोध की स्थिति चार महीने तक रहती है, जिसका उदय सर्वविरति का विनाशक है, वह ''प्रत्याख्यानावरण क्रोध है'' इस क्रोध में प्रविष्ट जीव मनुष्य आयु का बन्ध करता है। इस प्रकार का क्रोध चार महीने के बाद स्वयं ही शान्त हो जाता है।

पानी में खींची हुई लकीर जैसे साथ-साथ मिटती जाती है इसी प्रकार जो क्रोध उदय होने पर शीघ्र ही शान्त हो जाता है, परन्तु जिसके उदय होने से सर्वविरति का चारित्र दूषित अवश्य हो जाता है, नष्ट नहीं होता, किन्तु वह वीतरागता का बाधक अवश्य है। इस प्रकार के क्रोध को ''संज्वलन'' कहा जाता है। इसमें प्रविष्ट जीव देवायु का बन्ध करता है, परन्तु वह परमात्मपद को प्राप्त नहीं कर सकता।

चार प्रकार के भाव

भाव शब्द यद्यपि अनेक अर्थों का द्योतक है परन्तु इस प्रकरण में इसका अर्थ विशेष प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति ही है। उसके मुख्यतया चार भेद हैं जिन्हें सूत्रकार ने चार उपमाओं के द्वारा स्पष्ट किया है।

कर्दमोदक अर्थात् दुर्गन्ध पूर्ण कीचड़ में रहा हुआ पानी जैसे अतिमलिन होता है, वैसे ही जिस जीव के भाव अतिमलिन एवं दूषित होते हैं, वह यदि उस दूषित भाव की अवस्था में मरता है तो वह नरक में नारकीय जीव के रूप में उत्पन्न होता है। सूत्रकार ने इसी प्रकार के भाव को कर्दमोदक समान कहा है।

जिस पानी में काजल एवं स्याही आदि की मिलावट है उस पानी को खञ्जनोदक कहा जाता है। खञ्जनोदक तुल्य भाव रखने वाला जीव यदि उस भावावेश की अवस्था में मृत्यु को प्राप्त करता है तो वह तिर्यञ्चगति में उत्पन्न होता है।

बालू अर्थात् रेत में पड़ा हुआ पानी जैसे कुछ मलिन-सा होता है वैसे ही कुछ मलिन भाव रखने वाले जीव उस भावावेश में यदि मृत्यु को प्राप्त करते हैं तो वे निश्चय ही मनुष्य-गति को प्राप्त करते हैं।

पत्थर पर पड़ा हुआ पानी स्वच्छ तो होता है, किन्तु अतिस्वच्छ नहीं होता। इसी प्रकार जिस जीव के भाव सामान्य मलिनता लिए रहते हैं यदि वह जीव उस भाव की विद्यमानता में मरण को प्राप्त होता है तो वह देव गति को प्राप्त करता है भावों की स्वच्छता और दूषणता, कषायों की न्यूनाधिकता एवं अभाव पर निर्भर है। कषायों का अभाव भावों को शुद्धता एवं स्वच्छता प्रदान करता है। कषायों की अधिकता भावों को कर्दमोदक के समान बना देती है, कषायों की कुछ कमी होने पर भाव खञ्जनोदक के समान हो जाते हैं, कषायों में और भी कमी होने पर भाव रेतीले कुण्ड के जल के समान हो जाएंगे और कंकरीले कुण्ड में पड़ा जल जैसे पर्याप्त स्वच्छ होता है वैसे ही कषायों का अधिक अभाव भावों

को पर्याप्त स्वच्छता प्रदान कर देता है। अपने भावो के अनुरूप ही जीव कर्मों का उपार्जन करता है और कर्मानुरूप उसे पाप-पुण्य का फल भोगना पड़ता है। केवल पाप-कर्म भावों को इतना दूषित कर देते हैं कि जीव मर कर नरकादि गतियों को ही प्राप्त करता है। कषायों की सामान्य सत्ता रहने पर जीव मनुष्य-जन्म पाता है और कषायों का अत्यधिक अभाव भावों को इतना स्वच्छ कर देता है कि उससे जीव मर कर देव-गति प्राप्त किया करता है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में दूषित जल के माध्यम से कर्मों का एवं उनके फल-भोग का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है।

पक्षी और मनुष्य

मूल—चत्तारि पक्खी पण्णत्ता, तं जहा—रुय-संपन्ने नाममेगे नो रूव-संपन्ने, रूवसंपन्ने नाममेगे नो रुयसंपन्ने, एगे रूवसंपन्नेवि रुयसंपन्नेवि, एगे नो रुयसंपन्ने णो रूवसंपन्ने। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता तं जहा—रुयसंपन्ने नाममेगे णो रूवसंपन्ने ०४।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—पत्तियं करेमीतेगे पत्तियं करेइ, पत्तियं करेमीतेगे अपत्तियं करेइ, अप्पत्तियं करेमीतेगे पत्तियं करेइ, अप्पत्तियं करेमीतेगे अप्पत्तियं करेइ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—अप्पणो णाममेगे पत्तियं करेइ णो परस्स, परस्स नाममेगे पत्तियं करेइ णो अप्पणो०४ ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—पत्तियं पवेसामीतेगे पत्तियं पवेसेइ, पत्तियं पवेसामीतेगे अप्पत्तियं पवेसेइ०४।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—अप्पणो नाममेगे पत्तियं पवेसेइ णो परस्स, परस्स०४॥८९॥

छाया—चत्वारः पक्षिणः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—रुतसम्पन्नो नामैको नो रूपसम्पन्नः, रूपसम्पन्नो नामैको नो रुतसम्पन्नः, एको रूपसम्पन्नोऽपि रुतसम्पन्नोऽपि, एको नो रुतसम्पन्नो नो रूपसम्पन्नः। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—रुतसम्पन्नो नामैको नो रूपसम्पन्नः०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—प्रीतिकं करोमीत्येकः प्रीतिकं करोति, प्रीतिकं करोमीत्येकोऽप्रीतिकं करोति, अप्रीतिकं करोमीत्येकः प्रीतिकं करोति, अप्रीतिकं करोमीत्येकोऽप्रीतिकं करोति।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आत्मनो नामैकः प्रीतिकं करोति नो परस्य, परस्य नामैकः प्रीतिकं करोति नो आत्मनः०४ ॥

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—प्रीतिकं प्रविशामीत्येक: प्रीतिकं प्रवेशयति, प्रीतिकं प्रविशामीत्येकोऽप्रीतिकं प्रवेशयति०४ ॥

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आत्मनो नामैक: प्रीतिकं प्रवेशयति नो परस्य, परस्य नामैक:०४ ॥

शब्दार्थ—चत्तारि पक्खी पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पक्षी कहे गए हैं, जैसे, **रुय-संपन्ने नाममेगे नो रूवसंपन्ने**—एक पक्षी मधुर शब्द से युक्त होने पर भी रूप युक्त नहीं होते, **रूवसंपन्ने नाममेगे नो रुयसंपन्ने**—एक सुन्दर रूप होने पर भी मधुर शब्द युक्त नहीं होते, **एगे रूवसंपन्ने वि रुयसंपन्नेवि**—एक रूप सम्पन्न भी और मधुर शब्द युक्त भी होते हैं, **एगे नो रुयसंपन्ने णो रूवसंपन्ने**—एक न रूप सम्पन्न और न ही मधुर शब्द सम्पन्न होते हैं। **एवामेव**—इसी तरह, **चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार के पुरुष हैं, जैसे, **रुयसंपन्ने नाममेगे णो रूवसंपन्ने०४**—एक पुरुष मधुर शब्द युक्त होने पर भी रूप सम्पन्न नही होता, चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे, **पत्तियं करेमीतेगे पत्तियं करेइ**—एक पुरुष ''प्रीति करता हूं,'' ऐसा कहकर प्रीति करता है, **पत्तियं करेमीतेगे अप्पत्तियं करेइ**—एक 'प्रीति करता हूं', ऐसा कहकर अप्रीति करता है, **अप्पत्तियं करेमीतेगे पत्तियं करेइ**—एक 'अप्रीति करता हूं' ऐसा कहकर प्रीति करता है, **अप्पत्तियं करेमीतेगे अप्पत्तियं करेइ**—एक 'अप्रीति करता हू' ऐसा कह कर अप्रीति ही करता है।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार तरह के पुरुष हैं जैसे, **अप्पणो णाममेगे पत्तियं करेइ णो परस्स**—एक पुरुष स्वयं से प्रीति करता हुआ भी पर से प्रीति नहीं करता, **परस्स नाममेगे पत्तियं करेइ णो अप्पणो**—एक पुरुष अन्य के लिए प्रीतिसंपादक होता हुआ भी अपनी आत्मा का प्रिय नहीं करता ०४ ॥

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार तरह के पुरुष होते हैं, जैसे, **पत्तियं पवेसामीतेगे पत्तियं पवेसेइ**—एक पुरुष 'भलाई का विश्वास दिलाऊं' यह विचार करके भलाई का विश्वास दिलाते हैं, **पत्तियं पवेसामीतेगे अप्पत्तियं पवेसेइ०४**—एक भलाई का विश्वास देकर बुराई ही दिया करते हैं, चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष हुआ करते हैं, जैसे, **अप्पणो नाममेगे पत्तियं पवेसेइ णो परस्स०४**—एक अपने लिए प्रीति का विश्वास दिलाता है, पर के लिए नहीं, चतुर्भंगी समझ लेनी चाहिए।

मूलार्थ—चार प्रकार के पक्षी होते हैं, जैसे—प्रथम मधुर शब्द करने वाले होते हुए भी रूपसम्पन्न नहीं होते। दूसरे रूप-सम्पन्न होने पर भी मधुर शब्द करने वाले नहीं होते। तीसरे रूपसम्पन्न होने के साथ-साथ मधुर शब्द भी किया करते हैं।

चौथे न मधुर शब्द करते हैं और न ही रूपयुक्त होते हैं। इसी प्रकार चार तरह के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक पुरुष मधुर-शब्द-भाषी होने पर भी सुन्दर रूप वाला नहीं होता। चार भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के पुरुष हुआ करते हैं, जैसे—एक व्यक्ति 'प्रीति करता हूं', यह कहकर प्रीति ही करता है। दूसरा 'प्रीति करता हूं', यह कह कर अप्रीति करता है। तीसरा 'अप्रीति करता हूं', यह कह कर प्रीति करता है और चौथा 'अप्रीति करता हूँ', कह कर अप्रीति ही करता है।

चार प्रकार के पुरुष हुआ करते हैं—पहला स्वयं से प्रीति करता हुआ अन्य से नहीं करता, दूसरा अन्य से प्रीति करता है, स्वयं से प्रीति नहीं करता। चार भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के पुरुष हुआ करते हैं, जैसे—एक पुरुष सोचता है कि मैं भलाई का विश्वास दिलाता हूँ और यह कहकर भलाई ही करता है, एक भलाई का विश्वास दिलाकर बुराई किया करता है। चार भंगों को समझ लेना चाहिए।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक पुरुष स्वयं पर विश्वास करता है, दूसरे पर नहीं। चार भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

विवेचनिका—निर्मल भावों वाला जीव ही मधुर-भाषी एवं सत्य-वक्ता हो सकता है। अतः अब सूत्रकार रूप और मधुर भाषण की दृष्टि से मानवता का विश्लेषण करते हैं। विश्वभर के जितने भी पक्षी हैं उनके शब्द और रूप को लेकर सूत्रकार ने चतुर्भंगी का निर्माण किया है। जैसे कि पक्षी चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ पक्षी स्वर सम्पन्न होते हैं, रूप सम्पन्न नहीं, जैसे कोकिल।

(ख) कुछ पक्षी रूप सम्पन्न होते हैं, स्वर सम्पन्न नहीं, जैसे तोता।

(ग) कुछ पक्षी स्वर सम्पन्न और रूप सम्पन्न दोनों गुणों से युक्त होते हैं, जैसे बुलबुल या मयूर।

(घ) कुछ पक्षी स्वर और रूप दोनों से हीन होते हैं, जैसे कौआ।

इसी प्रकार मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

(क) कुछ पुरुष सत्यवादी एवं प्रिय भाषी होते हैं, किन्तु सौंदर्य से हीन होते हैं।

(ख) कुछ पुरुष सौंदर्य से परिपूर्ण होते हैं, किन्तु वाणी से मधुर नहीं होते।

(ग) कुछ पुरुष स्वर और रूप दोनों से सम्पन्न होते हैं।

(घ) कुछ पुरुष स्वर और रूप दोनों से हीन हुआ करते हैं।

स्वर में मधुरता और रूप में सुन्दरता का होना भाग्यशाली का लक्षण है। यह ठीक है

कि रूप-सौंदर्य पूर्व-जन्मार्जित पुण्य-कर्मों का ही फल है, परन्तु वाणी का माधुर्य तो अभ्यास-साध्य गुण है, अतः मनुष्य को वाणी में माधुर्य लाने का प्रयास अवश्य करना चाहिए। मीठी वाणी से अन्तःकरण प्रसन्न होता है और प्रसन्न चित्त व्यक्ति कुरूप होते हुए भी सुन्दर लगने लगता है। स्त्री हो या पुरुष, त्यागी हो या गृहस्थ सभी के चार ही रूप हैं। चार प्रकार के पुरुष हुआ करते हैं, जैसे कि—

(क) कुछ पुरुष किसी से प्रीति करने जाते हैं और प्रीति करके ही आते हैं।

(ख) कुछ पुरुष प्रीति करने जाते हैं और अप्रीति करके आते हैं।

(ग) कुछ पुरुष किसी से अप्रीति करने जाते हैं, किन्तु प्रीति करके आते हैं।

(घ) कुछ पुरुष अप्रीति करने जाते हैं और अप्रीति करके ही आया करते हैं।

जिनके साथ पहले कुछ शत्रुता चल रही थी, या मनमुटाव था, उनसे स्थायी सम्बन्ध जोड़ना पहले भंग का भाव है। प्रेम-व्यवहार बढ़ाने का निश्चय करके जाना और इससे विपरीत द्वेष बढ़ाकर आना दूसरे भंग का आशय है। कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि मनुष्य लड़ने-झगड़ने जाता है, परन्तु प्रतिद्वन्द्वी के स्नेह प्रदर्शित करने के कारण अथवा किसी के सदुपदेश से प्रभावित होकर लौटता है, यही तीसरे भंग का अभिप्राय है, चौथे भंग के अन्तर्गत वे व्यक्ति आते हैं जो भारी कर्मी हुआ करते हैं। पुनः चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे कि—

(क) एक अपनों के साथ प्रीति करता है, दूसरों के साथ नहीं।

(ख) एक दूसरों के साथ प्रीति करता है, अपनों के साथ नहीं।

(ग) एक आत्मीयजनो के साथ भी प्रीति करता है और दूसरों के साथ भी।

(घ) एक न आत्मीयजनों के साथ प्रीति करता है और न दूसरों के साथ।

इस चतुर्भंगी को दूसरी रीति से भी कहा जा सकता है—

(क) एक भोजन आदि पदार्थों से अपनों को सन्तुष्ट करता है, दूसरों को नहीं।

(ख) एक भोजन आदि पदार्थों से दूसरो को सन्तुष्ट करता है, अपनों को नहीं।

(ग) एक पुरुष अपनों को भी सन्तुष्ट करता है और दूसरों को भी।

(घ) एक पुरुष न अपनों को भोजन आदि से सन्तुष्ट करता है और न दूसरों को।

पहले भंग में स्वार्थी, दूसरे में दाता, तीसरे में उदार और चौथे भंग में उन व्यक्तियों को लिया गया है, जो 'चमड़ी जाए, पर दमड़ी न जाए' के सिद्धान्त को ही जीवन का सार समझते हैं।

पुनः चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे कि—

(क) एक पुरुष इस बात का निश्चय करके चलता है कि जिन व्यक्तियों से परस्पर मन-मुटाव या वैमनस्य हो रहा है, उनके वैमनस्य को समाप्त करके प्रेम-भाव की स्थापना करूंगा और वह इस पवित्र उद्देश्य में सफल भी हो जाता है।

(ख) कुछ पुरुष ऐसे भी होते हैं जो प्रीति स्थापना के उद्देश्य को लेकर चलते हैं, परन्तु अपने उद्देश्य से विपरीत, पहले से भी अधिक वैमनस्य बढ़ा देते हैं, आत्म-संयम-हीनता, सहन-शीलता का अभाव एवं अदूरदर्शिता के कारण।

(ग) कुछ पुरुष ऐसे भी होते हैं जिनका उद्देश्य तो दूसरों से प्रेम-सम्बन्ध को विच्छिन्न करना हुआ करता है, किन्तु संयोग-वशात् अथवा किसी सन्त-उपदेश आदि के कारण इस प्रकार का व्यवहार करने लगते हैं कि दूसरों का विद्वेष मिट कर सौहार्द की स्थापना हो जाती है।

(घ) कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जिनका जीवनोद्देश्य विद्वेष बढ़ाना होता है और वे अपने उद्देश्य में सफल भी हो जाते हैं। ये लोग दूसरों के घर में आग लगाकर तमाशा देखने वाले होते हैं।

और भी चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे कि—

(क) एक पुरुष अपना या अपने साथियों का विश्वास दिलाता है एवं उनका उत्तरदायित्व भी लेता है, दूसरों का नहीं।

(ख) एक पुरुष दूसरों का विश्वास दिलाता है या उत्तरदायित्व ले लेता है, अपनों का नहीं।

(ग) एक पुरुष अपना या अपने साथियों का विश्वास दिलाता है और दूसरों का भी विश्वास दिला देता है और उनका दायित्व भी ले लेता है।

(घ) एक पुरुष न अपना और न अपने साथियों का विश्वास दिलाता है, एवं न दूसरे का ही, इसी प्रकार न अपनी जवाबदारी लेता है और न दूसरे की। स्वार्थ-बुद्धि से भी प्रीति की जाती है और परोपकार बुद्धि से भी। इसी प्रकार विश्वास और उत्तरदायित्व के विषय में समझ लेना चाहिए।

वृक्षोपम-व्यक्ति

मूल—चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता, तं जहा— पत्तोवए, पुप्फोवए, फलोवए, छायोवए। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—पत्तोवारुक्ख-समाणे, पुप्फोवारुक्खसमाणे, फलोवारुक्खसमाणे, छायोवारुक्खसमाणे ॥९०॥

छाया—चत्वारो वृक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पत्रोपगः, पुष्पोपगः, फलोपगः, छायोपगः। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पत्रोपगवृक्षसमानः, पुष्पोपग-वृक्षसमानः, फलोपगवृक्षसमानः, छायोपगवृक्षसमानः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार तरह के वृक्ष प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे कि पत्रों से युक्त, पुष्पों

से युक्त, फलों से युक्त और छाया से युक्त। इसी प्रकार चार तरह के मनुष्य भी होते हैं, जैसे—कुछ पुरुष पत्रों से संयुक्त वृक्ष के समान होते हैं, कुछ फूलों से संयुक्त वृक्ष के समान होते हैं, कुछ पुरुष फलों से संयुक्त वृक्ष के समान हुआ करते हैं और कुछ पुरुष छाया से संयुक्त वृक्ष के समान हुआ करते हैं।

विवेचनिका—मानव-व्यक्तित्व के विश्लेषण की परम्परा में वृक्षों की समता को सामने रखकर मानव व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते हैं, कि वृक्ष चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ वृक्ष केवल पत्तों से युक्त होते हैं।

(ख) कुछ वृक्ष फूलों से भी युक्त होते हैं।

(ग) कुछ वृक्ष फलों से युक्त भी हुआ करते हैं।

(घ) कुछ वृक्ष अपनी छाया से युक्त हुआ करते हैं।

पत्ते तो प्रायः सभी वृक्षों पर होते हैं, किसी में पत्तों की अधिकता एवं पत्तों की ही विशेष उपयोगिता होती है। किसी में फूलों की अधिकता एवं उपयोगिता रहा करती है। किसी में फलों की उपयोगिता एवं अधिकता होती है और किसी में छाया की उपयोगिता और अधिकता होती है। जैसे कि तेंदू वृक्ष के पत्तों की विशेष उपयोगिता है, गुलाब आदि के फूलों की विशेष उपयोगिता है, आम आदि के फलों की और वट आदि की महत्ता उसकी छाया की अधिकता एवं उपयोगिता के कारण ही मानी जाती है। वृक्ष की तरह मानव भी चार प्रकार से परोपकार करते हैं, जैसे कि—

(क) कुछ वचन मात्र से पीड़ित को सान्त्वना एवं आश्वासन देते हैं।

(ख) कुछ कष्ट-निवारण का उपाय बताकर किसी की रक्षा भी करते हैं।

(ग) कुछ अभावग्रस्त व्यक्ति को यथा-शक्ति धन आदि देकर दूसरों का उपकार भी करते हैं।

(घ) कुछ अपने आश्रय में आए हुए की सब तरह से रक्षा करते हैं।

लोकोत्तरिक मानव भी वृक्ष की तरह चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

(क) शास्त्र का मूल पाठ सिखा कर उपकार करने वाले महामानव पत्रदायी वृक्ष के समान हैं।

(ख) व्याख्या के साथ श्रुतसाहित्य का ज्ञान देकर उपकार करने वाले फलदायी वृक्ष के समान हैं।

(ग) थोकड़े, बोल, विचार आदि सिखाकर उपकार करने वाले महामानव फूलदायी वृक्ष के समान हैं।

(घ) सब प्रकार के दुःखों से बचाकर उपकार करने वाले छाया देने वाले वृक्ष के समान माने गए हैं।

अपनी मर्यादा में रहते हुए दूसरों का कल्याण करना ही वास्तव में कल्याण है एवं परोपकार है। सब प्रकार के उपकारों का समावेश दान और सेवा इन दोनों में ही हो जाता है। निःस्वार्थ एवं शुभ उद्देश्य से शिक्षा देना, उपदेश देना, विद्या देना, सद्विचार देना, समय देना, औषध देना, वस्त्र देना, धन देना, तन देना, अन्न देना इत्यादि सब दान ही हैं। किसी को साता एवं शान्ति पहुंचाना सेवा है। परोपकार करने से सुख-कीर्ति, बल, नैरोग्य, ऐश्वर्य, विजय इत्यादि अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं परमपद की उपलब्धि भी होती है।

''पत्रोपग'' शब्द की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार कहते हैं—**पत्राणि-पर्णान्युपगच्छतीति पत्रोपगो बहुलपत्र इत्यर्थः**—जो वृक्ष घने पत्तों वाला होता है उसी के लिए पत्रोपग विशेषण दिया जाता है।

श्रमणोपासक के विश्राम-स्थान

मूल—भारण्णं वहमाणस्स चत्तारि आसासा पण्णत्ता, तं जहा— जत्थवि य णं अंसाओ अंसं साहरइ, तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते, जत्थवि य णं उच्चारं वा, पासवणं वा परिट्ठावेइ, तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते, जत्थवि य णं णागकुमारावासंसि वा, सुवन्नकुमारावासंसि वा वासं उवेइ, तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते, जत्थवि य णं आवकहाए चिट्ठइ, तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते।

एवामेव समणोवासगस्स चत्तारि आसासा पण्णत्ता, तं जहा—जत्थवि य णं सीलवय-गुणव्वय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं पडिवज्जेइ, तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते, जत्थवि य णं सामाइयं देसावगासियं सम्ममणुपालेइ, तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते, जत्थवि य णं से चाउद्दसट्ठ-मुद्दिट्ठ-पुन्नमासिणीसु पडिपुन्नं पोसहं सम्मं अणुपालेइ, तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते, जत्थवि य णं अपच्छिममारणंतियसंलेहणा-जूसणाजूसिए भत्त-पाणपडियाइक्खित्ते पाओवगए कालमणवकंखमाणे विहरइ तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते॥११॥

छाया—भारं वहमानस्य चत्वार आश्वासाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—यत्र अंसादंसं संहरति, तत्रापि च स एक आश्वासः प्रज्ञप्तः, यत्रापि च उच्चारं वा, प्रस्रवणं वा परिष्ठापयति, तत्रापि च स एक आश्वासः प्रज्ञप्तः, यत्रापि च नागकुमारावासे वा, सुपर्णकुमारावासे वा वासमुपैति, तत्रापि च स एक आश्वासः प्रज्ञप्तः, यत्रापि च यावत्कथया तिष्ठति, तत्रापि च स एक आश्वासः प्रज्ञप्तः।

एवमेव श्रमणोपासकस्य चत्वारः आश्वासाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—यत्रापि च शीलव्रत-गुणव्रत-विरमण-प्रत्याख्यान-पौषधोपवासान् प्रतिपद्यते, तत्रापि च स एकः आश्वासः प्रज्ञप्तः, यत्रापि च सामायिकं देशावकाशिकं सम्यगनुपालयति, तत्रापि स एक आश्वासः प्रज्ञप्तः, यत्रापि च स चतुर्दश्यष्टम्युद्दिष्टपौर्णमासीषु प्रतिपूर्णपौषधं सम्यगनुपालयति, तत्रापि च स एक आश्वासः प्रज्ञप्तः, यत्रापि च अपश्चिम-मारणांतिकसंलेखना-जोषणाजुष्टो भक्त-पानप्रत्याख्यातः पादपोपगतः कालमन-वकांक्षयन् विहरति, तत्रापि च स एक आश्वासः प्रज्ञप्तः।

शब्दार्थ—भारण्णं वहमाणस्स—भार को वहन करते हुए व्यक्ति के, **चत्तारि आसासा पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार के विश्राम कहे गए हैं, जैसे, **जत्थवि य णं**—जिस समय भारवाहक, **अंसाओ अंसं साहरइ**—एक कन्धे से दूसरे कन्धे पर भार को बदलता है, **तत्थवि य**—उस भार-परिवर्तन काल में भी, **से एगे आसासे पण्णत्ते**—वह एक विश्राम कहा गया है, **जत्थवि य णं उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठावेइ**—जिस समय वह मल-मूत्र का परित्याग करता है, **तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते**—उस समय भी उसके लिए वह एक विश्राम कहा गया है, **जत्थवि य णं णागकुमारावासंसि वा, सुवन्नकुमारावासंसि वा वासं उवेइ**—जहां पर भी नागकुमार अथवा सुपर्णकुमारावास में निवास करता है, **तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते**—उस काल में भी उसके लिए एक विश्राम कहा गया है, **जत्थवि य णं आवकहाए चिट्ठइ**—जहां पर भी वह जीवन भर ठहरता है, **तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते**—वहां पर भी एक विश्राम कहा गया है।

एवामेव—इसी तरह, **समणोवासगस्स**—श्रमणोपासक के लिए भी, **चत्तारि आसासा पण्णत्ता, तं तहा**—चार विश्राम कहे गए हैं, जैसे, **जत्थवि य णं**—जिस समय वह, **सीलव्वय-गुणव्वयवेरमणपच्चक्खाण**—शीलव्रत तथा गुण-व्रत के दोषों की निवृत्ति और परित्याग कर, **पोसहोववासाइं**—पौषध और उपवासादिक को, **पडिवज्जेइ**—स्वीकृत करता है, **तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते**—वह भी उसके लिए एक विश्राम-स्थल कहा गया है, **जत्थवि य णं**—जिस समय, **सामाइयं**—सामायिक, **देसावगासियं**—देशावकाशिकता का, **सम्ममणुपालेइ**—सम्यक् पालन करता है, **तत्थवि य णं से एगे आसासे पण्णत्ते**—वह भी एक विश्राम ही कहा गया है, **जत्थवि य णं**—जहां भी, **चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुन्नमासिणीसु**—चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस और पूर्णमासी को, **पडिपुन्नं पोसहं**—प्रतिपूर्ण पौषध को, **सम्मं अणुपालेइ**—सम्यक् रूप से पालन करता है, **तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते**—वह भी उसके लिए एक विश्राम ही कहा गया है, **जत्थवि य णं**—जहां पर भी, **अपच्छिममारणंतियसंलेहणा-जूसणाजूसिए**—अन्तिम मरणकाल में संलेखना तप को सेवन करने वाला साधक, **भत्तपाणपडियाइक्खित्ते**—अन्न-पानी का परित्याग करके, **पाओवगए**—पादपोपगमन-संथारा धारण किए हुए, **कालमणवकंखमाणे**—मृत्यु की इच्छा न करता हुआ, **विहरइ**—विचरण करता है, **तत्थवि य से एगे आसासे**

पण्णत्ते—वहां पर भी उसका विश्राम कहा गया है।

मूलार्थ—भार को वहन कहते हुए व्यक्ति के लिए चार विश्राम-स्थल प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—जिस अवस्था में भारवाहक एक कन्धे से दूसरे कन्धे पर भार का परिवर्तन करता है वही उसके लिए प्रथम विश्राम कहा गया है, जिस समय मल-मूत्र का परित्याग करता है, वह भी एक विश्राम ही है, जहां पर भी नागकुमारावास में या सुपर्णकुमारावास में वह निवास करता है, वह भी एक विश्राम-स्थल कहा गया है। जहां पर वह यावज्जीवन निवास करता है, वह भी उसके लिए एक विश्रामभूमि है।

इसी तरह श्रमणोपासक—श्रावक के लिए चार विश्राम-स्थल प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—जिस समय श्रमणोपासक शीलव्रत तथा गुणव्रत के दोषों की निवृत्ति और प्रत्याख्यान एवं पौषध-उपवास आदि ग्रहण करता है, वह उसके लिए प्रथम विश्राम है। जहां पर भी सामायिक और देशावकाशिक का सम्यक् पालन करता है, वह भी उसके लिए एक विश्राम ही है। जहां पर भी चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी को प्रतिपूर्ण पौषध का सम्यक् पालन करता है, वह भी एक विश्राम ही है। जहां पर वह मारणान्तिक संलेखना का सेवन करने वाला और भक्तपान का परित्याग करके पादपोपगमन संथारा धारण किए हुए अचल होकर मृत्यु की इच्छा न करता हुआ विचरण करता है, वह भी एक विश्रामस्थल प्रतिपादित किया गया है।

विवेचनिका—वृक्ष की छाया में पथिक को दैहिक विश्रान्ति मिलती है, आध्यात्मिक विश्रान्ति के लिए साधारण गृहस्थ को श्रावक-वृत्ति की आवश्यकता रहती है, अतः प्रस्तुत सूत्र में श्रमणोपासकों के चार विश्राम स्थानों का वर्णन किया गया है। जब बोझ ढोने वाला कोई भी व्यक्ति बोझ उठाकर एक नगर से दूसरे नगर की ओर जाता है तब मार्ग में चलते हुए जहां कहीं पर भी उसे थकान प्रतीत होती है, उसके उस विश्राम के चार रूप हैं, जैसे कि—जिस कन्धे पर उसने भार उठाया हुआ है उसे जब वह दूसरे कन्धे पर रखता है तब उसे आंशिक विश्राम मिल जाता है यही उसका प्रथम विश्राम है। जब उसे कहीं मलमूत्र की बाधा पीड़ित करती है तब वह उस बोझ को उचित स्थान पर रख देता है, उससे भी उसे कुछ क्षणों के लिए विश्राम मिल जाता है, यह उसका दूसरे प्रकार का विश्राम है। जब मार्ग में यात्रा करते हुए सन्ध्या हो जाती है तब वह रात भर किसी देवालय एवं धर्मस्थान में ठहर कर विश्राम करता है यह उसका तीसरा विश्राम है और जब वह अपने अभीष्ट स्थान में पहुंच जाता है और बोझ को यथास्थान रख देता है तब उसको चौथे पूर्ण विश्राम की उपलब्धि होती है।

भारवाही की तरह श्रमणोपासक भी गार्हस्थ्य के भार को अपने कन्धों पर उठाकर चलता है। विश्राम करने से जैसे शरीर को सुख का अनुभव होता है, वैसे ही श्रमणोपासक के हृदय में जब त्याग की भावना उत्तरोत्तर बढ़ती है वही समय उसके लिए सुखकारक विश्राम-स्थान है। उसके विश्राम स्थल भी चार ही हैं, जैसे कि—

श्रमण निर्ग्रंथों के दर्शन करता हुआ उनके धर्मोपदेश सुनकर परमश्रद्धा से पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत तथा नियम, त्याग एवं पौषधोपवास आदि धारण करता है जिनसे उसके जीवन में नई चेतना, नई स्फूर्ति एवं नया उत्साह भर जाता है, इससे उसे विलक्षण आनन्द की अनुभूति होती है, वह कर्मभार से मुक्त होता है और इस प्रकार वह कर्मों का क्षय करता हुआ विश्रान्ति का अनुभव करता है।

जब श्रमणोपासक सामायिक और देशावकाशिक इन दो व्रतों की सम्यक् आराधना करता है, तब उसे अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है, कुछ क्षणों के लिए वह कर्मों के भार से तथा गार्हस्थ्य के भार से हल्का हो जाता है, इसी कारण वह सुखानुभव करता है, क्योंकि कर्मक्षय-सुख ही तो महान् विश्राम है।

जब श्रमणोपासक चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णमासी, अष्टमी आदि तिथियों में अहोरात्र-प्रमाण प्रतिपूर्ण पोषध करता है—अहोरात्र के लिए आहार-परित्याग, शरीर-सत्कार-त्याग, अब्रह्मचर्य सेवन त्याग और सावद्य-व्यापार परित्याग इन सब की आराधना करता है, जीवन के अमूल्य समय को स्वाध्याय, ध्यान एवं समाधि में व्यतीत करता है, उस समय उसे जो आनंद की अनुभूति होती है उससे वह कुछ क्षणों के लिए दुनियावी धंधों से हल्का हो जाता है, उसके लिए वह जीवन का सुन्दर विश्राम-स्थान है। जब श्रमणोपासक को कभी अपनी आयु का ज्ञान हो जाता है कि मेरी आयु समाप्त होने जा रही है, कुछ क्षण कुछ घंटे या कुछ दिनों की आयु शेष है, उस समय वह संथारा करता है। संथारे में सब प्रकार के आहार का त्याग करना, शरीर पर से ममत्व उठाना, उपधि का सर्वथा त्याग करना, अठारह प्रकार के पाप-स्थानों का त्याग करना ही संथारा कहलाता है। संथारा जीवन भर के लिए किया जाता है। सब प्रकार के अतिचारों से रहित हो काल की आकांक्षा न करते हुए जब साधक साधना के पावन क्षेत्र में विचरता है तब वह उसका चौथा विश्राम-स्थान है। उस समय वह गृहभार को सदा के लिए छोड़ देता है, फिर उसे उठाने के लिए वह सपने नहीं देखता, सदा के लिए उससे हल्का हो जाता है। जो आत्मा जन्म-मरण आदि दुःखों से व्याकुल होकर मोक्ष के अभिमुख हैं उनकी शान्ति के लिए उक्त रीति कथन की गई है।

"वेरमण" शब्द का अर्थ होता है—अनर्थ-दंड से, रागादि विकारों से तथा हिंसा आदि महापापों से विराम एवं निवृत्ति पाना।

उदयास्त व्यक्तित्व

मूल—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—उदियोदिए णाममेगे,

उदियत्थमिए णाममेगे, अत्थमियोदिए णाममेगे, अत्थमियत्थमिए णाममेगे।

भरहे राया चाउरंत चक्कवट्टी णं उदियोदिए। बंभदत्ते णं राया चाउरंतचक्कवट्टी उदिअत्थमिए। हरिएसबले णमणगारे अत्थमिओदिए। काले णं सोयरिए अत्थमियत्थमिए॥९२॥

छाया—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—उदितोदितो नामैकः, उदितास्तमितो नामैकः, अस्तमितोदितो नामैकः, अस्तमितास्तमितो नामैकः।

भरतो राजा चातुरन्तचक्रवर्ती उदितोदितः, ब्रह्मदत्तो राजा चातुरन्तचक्रवर्त्ती उदितास्तमितः, हरिकेशबलोऽनगारोऽस्तमितोदितः। कालःसौकरिकोऽस्तमितास्तमितः।

शब्दार्थ—**चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे, **उदियोदिए णाममेगे**—उदित होकर उदित ही रहने वाले, **उदियत्थमिए णाममेगे**—उदित होकर अस्त हो जाने वाले, **अत्थमियोदिए णाममेगे**—अस्त होकर उदित होने वाले और, **अत्थमियत्थमिए णाममेगे**—अस्त होकर अस्त ही रहने वाले।

भरहे राया चाउरंतचक्कवट्टी—भरत नामक राजा जो चक्रवर्ती थे वे, **उदियोदिए**—उदित होकर उदित ही रहे, **बंभदत्ते णं राया चाउरंतचक्कवट्टी**—चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त राजा, **उदियत्थमिए**—उदित होकर अस्त हो गए, **हरिएसबले णमणगारे**—अनगार हरिकेशबल, **अत्थमिओदिए**—अस्त होकर उदित हुए और, **काले णं सोयरिए**—काल नामक सौकरिक, **अत्थमियत्थमिए**—अस्त होकर अस्त हुआ।

मूलार्थ—चार प्रकार के पुरुष प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—एक उदितोदित, एक उदित-अस्तमित, एक अस्तमित-उदित और एक अस्तमित-अस्तमित।

चारों दिशाओं के अन्तिम छोरों तक राज्य करने वाले चक्रवर्ती राजा भरत उदित-उदित थे, चारों दिशाओं के अन्तिम छोरों तक के सम्राट् चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त उदित-अस्तमित थे, हरिकेशबल नामक मुनि अस्तमितोदित थे और काल नामक सौकरिक (कसाई) अस्तमित-अस्तमित था।

विवेचनिका—अब सूत्रकार साधना एवं आराधना के संवर्धन और क्षय की दृष्टि से मानव-व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए उसके उदित-उदित आदि चार रूप प्रस्तुत करते हैं। सूत्रकार ने 'उदित' और 'अस्त' दो शब्दों का प्रयोग किया है। 'उदित' शब्द से सूत्रकार का आशय है—'जन्म-जन्मांतरों में संचित पुण्य एवं धर्म-साधना के बल पर यश, ऐश्वर्य, बल एवं जीवनोत्कर्ष के समस्त साधनों को साथ लेकर जन्म लेना और 'अस्त' से उनका अभिप्राय है संचित पुण्य-बल, धर्म-साधना एवं जीवनोत्कर्ष के साधनों को खोकर पतन की ओर जाना।

इस धरती पर जन्म लेने वाले सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दु:ख किसी को इष्ट नहीं

है, परन्तु सुख की प्राप्ति और दु:ख की निवृत्ति मानव के द्वारा कृत कर्मों पर निर्भर हुआ करती है। जो जैसा करता है वैसा भरता है। इसी आधार पर सूत्रकार ने मानव के चार रूप उपस्थित किए हैं—उदित-उदित, उदित-अस्तमित, अस्तमित-उदित और अस्तमित-अस्तमित।

उदित-उदित

उदित-उदित की सूत्रकार चक्रवर्ती सम्राट् भरत का उदाहरण देकर व्याख्या करते हैं—

चक्रवर्ती सम्राट् भरत प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभ देव के पुत्र थे, वे उदित अवस्था में उत्पन्न हुए थे अर्थात् पूर्वजन्मार्जित पुण्य-साधना से वे चक्रवर्ती सम्राट् बने, अतुल वैभव पाया, समस्त समृद्धियों के स्वामी भी बने, देववन्द्य यशस्वी महापुरुष बन कर जीवन का प्राप्तव्य जो कुछ भी हो सकता है वह उन्हें प्राप्त हुआ। वे अन्त में शुक्लध्यान द्वारा घनघाती कर्मों का क्षय करके सिद्धत्व प्राप्त करने में समर्थ हुए। इस प्रकार उदित अवस्था में उत्पन्न होकर अक्षय आनन्दमय सिद्धत्व-लाभ रूप उदित अवस्था में ही रहे, अत: वे 'उदित-उदित' कहलाते हैं।

उदित-अस्तमित

उदित-अस्तमित व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण चक्रवर्ती सम्राट् ब्रह्मदत्त का उदाहरण देकर किया गया है।

सम्राट् ब्रह्मदत्त अनेक जन्मों में सञ्चित पुण्य-साधना के बल पर अनन्त वैभव सम्पन्न देववन्द्य यशस्वी चक्रवर्ती सम्राट् बने, परन्तु जीवन भर काम-वासनाओं की तृप्ति की तृष्णा को शान्त करने के लिए ही भटकते रहे, कामिनियों के कोमल कुन्तलों की छाया में ही सोते रहे, इस प्रकार उनका जन्म तो उदित अवस्था में ही हुआ, परन्तु उन्होंने अनेक जन्मार्जित पुण्यों का फल पाकर उन्हें तो समाप्त कर दिया, किन्तु जीवन भर कोई ऐसा कार्य न किया जिससे वे पुन: उदित अवस्था को प्राप्त कर सकें, परिणाम स्वरूप उनका पतन हुआ और वे निम्न से निम्न सातवें नरक की यातनाओं के मेहमान बनकर 'अस्तमित' अवस्था को प्राप्त हुए। इस प्रकार उन्हें 'उदित-अस्तमित' वर्ग के मानवों में रखा गया है।

अस्तमित-उदित

अस्तमित-उदित वर्ग के मानवों का परिचय देते हुए सूत्रकार मुनिराज हरिकेश बल का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। पूर्व-जन्मों के ब्राह्मणत्व के मद एवं साधना की हीनता के कारण हरिकेशी जी का जन्म चाण्डाल-कुल में हुआ, अत: जीवन-सुखों से वे वंचित ही रहे, इसलिए उनका जन्म 'अस्त' अवस्था में हुआ था, परन्तु उन्होंने तपस्या की अग्नि में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, चारित्रावरणीय एवं अन्तराय कर्मों को भस्म करके अपनी आत्मा को महात्मा ही नहीं परमात्मा बना दिया, इस प्रकार वे अस्तमित अवस्था से उदित अवस्था में पहुंच गए। इसलिए उन जैसे महापुरुषों को 'अस्तमितोदित' कहा जाता है।

अस्तमितास्तमित

इस वर्ग के मानवों का परिचय देते हुए शास्त्रकार 'काल' नामक सौकरिक अर्थात् कसाई का निदर्शन उपस्थित करते हैं। काल कसाई जाति से हीन, कर्म से हीन, रूप से हीन एवं वैभव से हीन था, इस प्रकार उसका जन्म 'अस्त' अवस्था में हुआ, वह जीवन भर भी ऐसे ही कर्म करता रहा जिससे वह पुनः नरकगामी बना, इस प्रकार अस्त अवस्था में जन्म लेकर मरने पर भी अस्तमितावस्था को ही प्राप्त हुआ, अतः उसे 'अस्तमितास्तमित' कहा गया है।

शास्त्रकार शब्दों एवं सिद्धान्तों के नहीं, जीवन के व्याख्याता हैं। उपर्युक्त विवेचन के द्वारा वे मानव को आत्मनिरीक्षण के लिए प्रेरित कर रहे हैं और उसे यह विचार करने के लिए प्रेरित कर रहे हैं कि अभी भी समय है सावधान हो जा, यद्यपि अब तुझे 'उदितोदित अवस्था' जन्मान्तर में ही प्राप्त हो सकती है, परन्तु उदित अवस्था से अस्तमित अवस्था की ओर जाने का प्रयास तो मत कर, यदि तू 'अस्त' अवस्था में उत्पन्न हुआ है तो उसकी भी चिन्ता मत कर, क्योंकि उस अवस्था से उदित अवस्था की ओर जाने के लिए साधना के द्वार सदा खुले हैं, नहीं तो अस्तमितास्तमित अवस्था को प्राप्त कर दुःख का भागी बनने से तुझे कोई रोक न सकेगा।

युग्म विवेचन

मूल—चत्तारि जुम्मा पण्णत्ता, तं जहा—कडजुम्मे, तेयोए, दावरजुम्मे, कलिओए। नेरइयाणं चत्तारि जुम्मा पण्णत्ता, तं जहा—कडजुम्मे, तेओए, दावरजुम्मे, कलियोए। एवं असुरकुमाराणं जाव थणियकुमाराणं। एवं पुढविकाइयाणं, आउकाइयाणं, तेउकाइयाणं, वाउकाइयाणं, वणस्सइ-काइयाणं, बेंदियाणं, तेंदियाणं, चउरिंदियाणं, पंचिंदियतिरिक्ख-जोणियाणं, मणुस्साणं, वाणमंतर-जोइसियाणं, वेमाणियाणं, सव्वेसिं जहा णेरइयाणं॥९३॥

छाया—चत्वारो युग्माः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कृतयुग्मः, त्र्योजः, द्वापरयुग्मः, कल्योजः।

नैरयिकाणां चत्वारो युग्माः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कृतयुग्मः, त्र्योजः, द्वापरयुग्मः, कल्योजः। एवमसुरकुमाराणां यावत् स्तनितकुमाराणाम्। एवं पृथिवीकायिकानां, अप्कायिकानां, तैजस्कायिकानां, वायुकायिकानां, वनस्पतिकायिकानां, द्वीन्द्रियाणां, त्रीन्द्रियाणां, चतुरिन्द्रियाणां, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां, मनुष्याणां, वानव्यन्तर-ज्योतिष्काणां, वैमानिकानां, सर्वेषां यथा नैरयिकाणाम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के युग्म प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—कृतयुग्म, त्र्योज, द्वापर और कल्योज।

नारकियों के चार युग्म कहे गए हैं, जैसे—कृतयुग्म, त्र्योज, द्वापर और कल्योज। इसी तरह असुरकुमारों से लेकर स्तनितकुमारों पर्यन्त चार युग्म कहे गए हैं। पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तैजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च, मनुष्य, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक इन सब की चार-चार राशियां वैसे ही होती हैं, जैसे नारकियों की राशियां कही गई हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में उदित और अस्त को लक्ष्य में रखकर मानव-व्यक्तित्व के चार रूप प्रस्तुत किए गए हैं, अब सूत्रकार समराशि और विषमराशि की दृष्टि से मानव व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हैं।

संख्या के दो रूप माने गए हैं—सम और विषम। दो से विभक्त होकर शेष शून्य रहने वाली संख्याएं सम कहलाती हैं, जैसे—दो, चार, छः, आठ, आदि और दो से भाग पर अवशिष्ट रहने वाली संख्याएं विषम कहलाती हैं। शास्त्रीयभाषा में सम संख्या को ही 'युग्म' कहा जाता है और विषम संख्या 'ओज' कहलाती है।

यदि कोई क्रान्तद्रष्टा केवलज्ञानी महापुरुष नारकीय आदि सूत्र निर्दिष्ट जीवों की चार-चार के समूहों में विभक्त करके गणना करे तो विभाग-फल के रूप में चार शेष रहने पर अर्थात् चार की संख्या से पूर्णतः विभक्त होने पर उन जीवों को 'कृतयुग्म' कहा जाता है, तीन शेष रहने पर वह जीव-समूह 'त्र्योज' कहलाता है, दो शेष रहने पर उस जीव-समूह को 'द्वापर-युग्म' संज्ञा दी जाती है और एक शेष रहने पर वह जीव-समूह कल्योज कहलाएगा।

वैदिक परम्परा में चार युग बताए गए हैं—कृतयुग (सतयुग), त्रेता युग, द्वापर युग और कलियुग। साथ ही धर्म के चार चरणों की कल्पना करते हुए कहा गया है कि सतयुग में धर्म के चारों चरण (सत्य, अहिंसा, दया और दम) विद्यमान रहते हैं, त्रेता में तीन चरण, द्वापर में दो चरण और कलि में एक चरण शेष रह जाता है और वह भी टूटने की स्थिति में होता है।

वहां यह भी कहा गया है कि सोने पर कलियुग आ जाता है, बैठ जाने पर द्वापर, खड़े हो जाने पर त्रेता और चल पड़ने पर सतयुग का आरम्भ हो जाता है।

इस दृष्टि से यदि विचार किया जाए तो ऐसा भी प्रतीत होता है कि चौबीस दण्डकों में चार शेष रहने का अभिप्राय यह है कि धर्म के चारों चरण विद्यमान होने पर कृतयुग्म होता है ऐसी दशा में जीव 'सम्यक् दृष्टि' होते हैं। तीन चरण शेष रहने पर त्र्योज होता है, अर्थात् संयम भाव की कुछ शिथिलता होने पर वहां त्रेता जैसा भाव हो जाता है। धर्म के

दो ही चरण शेष रहने पर द्वापर-युग्म होगा और धर्म की शिथिलता पर जब 'मिथ्यादर्शन' का उदय होगा तब वहां 'कल्योज' हो जाता है। इस प्रकार चार, तीन, दो और एक के अवशेष से धर्म के चरण भी अभीष्ट हो सकते हैं।

प्रमाद, आलस्य आदि सोने के अंग हैं, ये ही तो कल्योज की सृष्टि करके मिथ्यादृष्टित्व को जन्म देते हैं। इनसे सावधान होने का प्रयत्न ही बैठ जाना है, यह प्रयत्नशीलता द्वापर युग्म को जन्म देती है। प्रयत्न-प्रेरित होकर मोक्ष मार्ग पर चलने को प्रस्तुत हो जाना ही खड़े हो जाना है और यही खड़े हो जाने पर सम्यक्त्व की ओर प्रस्थान है, इसी प्रस्थान को त्र्योज कहा गया है। चल पड़ना ही सतयुग है, अर्थात् सम्यक्त्व को प्राप्त करना ही सतयुग अथवा कृत-युग्म कहलाता है, यहां धर्मभाव पूर्णरूप से विकसित होने लगता है।[१]

शास्त्रकार की भाषा सांकेतिक है, हो सकता है कि उनका संकेत उपर्युक्त भावों की ओर भी हो, क्योंकि ये भाव शास्त्र-सम्मत और बुद्धि को अपील करने वाले हैं।

चार प्रकार के शूर

मूल—चत्तारि सूरा पण्णत्ता, तं जहा—खंतिसूरे, तवसूरे, दाणसूरे, जुद्धसूरे। खंतिसूरा अरहंता, तवसूरा अणगारा, दाणसूरे वेसमणे, जुद्धसूरे वासुदेवे ॥९४॥

छाया—चत्वारः शूराः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्षान्तिशूरः, तपःशूरः, दानशूरः, युद्धशूरः। क्षान्तिशूराः अर्हन्तः, तपःशूरा अनगाराः, दानशूरो वैश्रमणः, युद्धशूरो वासुदेवः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के शूर कहे गए हैं, जैसे—क्षमाशूर, तपःशूर, दानशूर और युद्धशूर। क्षान्तिशूर अर्हन्त भगवान, तपःशूर साधु महाराज, दानशूर वैश्रमण देव और युद्धशूर वासुदेव हैं।

विवेचनिका—'कृतयुग्म' शब्द विजय का परिचायक है, विजय केवल शूरवीर ही प्राप्त कर सकते हैं, अतः अब सूत्रकार क्रम प्राप्त 'वीरत्व' की विवेचना करते हैं। वीरत्व-सम्पन्न व्यक्ति को 'वीर' या 'शूर' कहा जाता है। वीरता का मूल भाव 'उत्साह' है, पूर्ण वेग के साथ अभिव्यक्त उत्साह ही वीरत्व का रूप धारण कर लेता है।

मानव की प्रत्येक क्रिया के पीछे उसकी प्रेरक शक्ति उत्साह ही है, एक चोर भी उत्साह से प्रेरित होकर ही चोरी करता है, परन्तु उसे वीर नहीं कहा जा सकता, वीर वही है जिसकी क्षमा, जिसके तप, जिसके दान और जिसकी करुणा के पीछे प्रेरक शक्ति के रूप में उत्साह का सागर लहरा रहा होता है। इसी आधार पर सूत्रकार शूर अर्थात् वीर के चार रूप उपस्थित करते हैं—क्षान्तिशूर, तपःशूर, दानशूर और युद्धशूर।

---

१ इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए 'भगवती-सूत्र'।

क्षान्तिशूर—क्षान्तिशूर उन्हें कहा जाता है जिनमें अनन्त सहिष्णुता और अपरिमेय क्षमा होती है। यद्यपि तपस्वियों में एवं सामान्य मनुष्यों में भी क्षमा और सहिष्णुता होती है, गुरु शिष्य के, पिता पुत्र के, मित्र मित्र के अपराधों को क्षमा करते ही हैं, बड़े-बड़े कष्टों को सहिष्णुता के बल पर ही तो सभी सहते हैं, परन्तु उनकी क्षमा एवं सहिष्णुता सीमित होती है और उनकी क्षमा के साथ क्रोध और सहिष्णुता के पीछे विवशता होती है, अतः क्षमा करने पर भी न मानने वाले पुत्र पर पिता का क्रोध उफन आता है, परन्तु अरिहन्तों में जो क्षमा होती है वह क्षमा ही होती है उसके पीछे क्रोध नहीं होता है, अतः भयंकर से भयंकर यातनाएं देने वालों पर भी वे क्रोध नहीं करते, कानों में कीलें ठोकने वाले भी उनकी क्षमा के पात्र होते हैं। अरिहन्त शरीर से इतने उदासीन एवं आत्मनिष्ठ होते हैं कि उन्हें शरीर के कष्टों की अनुभूति ही नहीं होती है, अतः वे इतने निर्द्वन्द्व हो जाते हैं कि संसार उन्हें सहिष्णुता की साकार प्रतिमा समझकर उनके चरणों पर नत-मस्तक हो जाता है, इस अपेक्षा से अरिहन्तों को ही 'क्षान्ति-शूर' कहा गया है।

तपःशूर—तप का अर्थ है तपना, जो अत्यन्त कठिन कार्य है। सोने में जब खोट मिल जाता है तो वह धोने से नहीं, तपने से ही नष्ट होता है, इसी प्रकार आत्म-सुवर्ण में मिले कषायों के खोट को नष्ट करने के लिए साधक अपने आपको तपाता है—तप करता है। एक तपस्वी मुनिराज हैं, उन्हें तप करने के लिए किसी दूषित स्थान में बिठला दीजिए, दूषित वातावरण उनकी वृत्तियों को तप में लीन न होने देगा, अतः तपस्या के लिए शुद्ध वातावरण चाहिए। एक व्यक्ति क्रोधी है उसे किसी सुन्दर भवन में बिठला दीजिए वह किसी भी समय क्रोधावेश में आकर उस सुन्दर भवन के श्रृगार के लिए रखी हुई वस्तुओ को तोड़ सकता है, अतः तप के लिए सुन्दर भवन और सुन्दर भवन के लिए आत्म-संयमी व्यक्ति अपेक्षित हैं। आत्मा ही तपस्वी है, शरीर नहीं, जड शरीर भला क्या तपस्या करेगा? शरीर भवन है, तपस्वी आत्मा के लिए सुन्दर भवन भी चाहिए, अतः दो प्रकार का तप बताया गया है[१]—आभ्यन्तर और बाह्य। पहले छः प्रकार का तप करने वाला तपस्वी भोजन न करके, कम खा कर, भिक्षा-सक्षेप करके, रस-परित्याग करके, कायक्लेश (शारीरिक-साधना) करके एव प्रतिसलीनता करके अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करके तपस्या भवन को शुद्ध कर देता है, और फिर वही तपस्वी कृतकर्मों का प्रायश्चित्त करके अर्थात् शरीर से उदासीन होकर आत्म-निष्ठा को प्राप्त कर लेता है। यह बारह प्रकार की साधना वही कर सकता है जिसमें आध्यात्म जगत के मैदान मे विषयों एवं कषायों पर विजय पाने का अद्भुत एवं अपरिमित उत्साह होता है। इसी प्रकार के उत्साह सम्पन्न साधक को तपः-शूर कहा गया है और यह भी कहा गया है कि इस प्रकार की तपःशूरता अनगार साधु ही

---

१. सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भन्तरो तवो॥

प्राप्त कर सकते हैं, शरीर रूप अगार और मिट्टी के अगार के मोह से मुक्त ही अनगार है।

दानशूर—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज का प्राण है आदान-प्रदान। आदान तभी हो सकता है जब कोई प्रदान करने वाला हो, आदान सरल है, प्रदान कठिन है, क्योंकि प्रदान वही कर सकता है जिसका जीवन-सूत्र हो **"शतहस्तं समाहर, सहस्रहस्तं संकिर"** सौ हाथों से संचित करो और हजार हाथों से उसे बांटो। यह हजार हाथों से बांटने वाला ही दानशूर कहलाता है। दानशूर बनने के लिए एक और शर्त देना है निरपेक्ष भाव से, सापेक्ष भाव से जहां प्रतिदान की इच्छा होती है वह दान, दान नहीं रह जाता, सौदेबाजी हो जाती है, जो केवल देने के लिए ही दिया जाता है वही दान है। किसी प्रदेश को जीत कर वहां अपना स्वामित्व न रखना और वहीं के किसी योग्य व्यक्ति को देना यह और भी बड़ी वीरता है और दान करके दानी होने के अभिमान को भी त्याग देना दानशूर होने का सबसे बड़ा लक्षण है। अपनी खुशियों पर धन न लुटा कर औरों की खुशियों पर लुटाना और भी महान् कार्य है। सूत्रकार वैश्रमण को इसी लिए दानशूर कहते हैं कि भगवती त्रिशला के घर तीर्थंकर के जन्म लेने पर वह अपना सर्वस्व लुटाने लगता है।

युद्धशूर—लड़ना ही युद्ध है और लड़ते सभी हैं, लड़ाई के बिना जीवन चल ही नहीं सकता है। क्षान्तिशूर भी लड़ता है, तपःशूर भी लड़ता है, दानशूर भी लड़ता है, कोई कषायों से, कोई इन्द्रियों से, कोई स्वार्थ से। परन्तु क्षान्ति-शूर, तपःशूर और दान-शूर की लड़ाई आभ्यन्तर की लड़ाई है। पर जीवन केवल आभ्यन्तर ही तो नहीं, बाह्य भी तो है, यहां मत्स्यन्याय चल रहा है—बड़ी मछलियां छोटी मछलियों को खा जाती हैं, बलवान् बलमद में निर्बलों को सताने लगते हैं, क्रूर दूसरों को जलाकर चैन की बंसी बजाते हैं, भौतिक-साधन-सम्पन्न गरीब असहायों को सताते हैं, इस भौतिक संसार में इस प्रकार के अन्यायों को देख कर उन महान् व्यक्तियों में अन्यायी को दण्ड देने का उत्साह जागृत हो जाता है, परन्तु उस उत्साह की प्रेरक शक्ति मद, हिंसा एवं क्रूरता नहीं करुणा होती है। इस करुणा और उत्साह से प्रेरित होकर अन्यायियों को दण्ड देने के लिए जो शत्रुओं से युद्ध करते हैं, अपनी अपरिमेय शक्ति से उन्हें परास्त करते है, वे युद्धशूर कहलाते हैं। युद्धशूर में क्रोध नहीं होता है, बदले की भावना नहीं होती है। दूसरों के धन वैभव को हड़पने की लालसा नहीं होती है, उनमें होती है केवल करुणा, संरक्षण की भावना, अतः वे युद्ध करते हैं हंसते-हंसते, क्रोध में अपने आपको भूलकर नहीं। ऐसे युद्धशूर के उदाहरण के रूप में 'वासुदेव' को उपस्थित किया गया है। वासुदेव में अपरिमित शक्ति होती है, अपरिमित उत्साह होता है, साथ ही वत्सलता भी होती है, इन्हीं से प्रेरित होकर वह युद्ध करता है।

कुल और विचार की दृष्टि से मानव

मूल—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—उच्चे णाममेगे उच्चच्छन्दे,

उच्चे णाममेगे णीयच्छन्दे, णीये णाममेगे उच्चच्छन्दे, णीए णाममेगे णीयच्छन्दे ॥९५॥

छाया—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा, उच्चो नामैक उच्चच्छन्दः, उच्चो नामैको नीचच्छन्दः, नीचो नामैक उच्चच्छन्दः, नीचोनामैको नीचच्छन्दः॥

शब्दार्थ—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष हुआ करते हैं यथा, **उच्चे णाममेगे उच्चच्छन्दे**—कुछ पुरुष कुल आदि से उच्च होते हुए विचारों से भी उच्च होते हैं, **उच्चे णाममेगे णीयच्छन्दे**—कुछ पुरुष कुल आदि से उच्च होने पर भी विचारों से नीच होते हैं, **णीये णाममेगे उच्चच्छन्दे**—कुछ पुरुष कुल आदि से नीच होने पर भी विचारों से उच्च हुआ करते हैं और, **णीये णाममेगे णीयच्छन्दे**—कुछ पुरुष कुल आदि से भी नीच और विचारों से भी नीच होते हैं।

मूलार्थ—चार प्रकार के पुरुष अर्थात् व्यक्ति हुआ करते हैं—कुछ व्यक्ति कुल आदि से और विचार की अपेक्षा से उच्च होते हैं, कुछ व्यक्ति कुल आदि से उच्च होने पर भी विचारों से नीच होते हैं, कुछ व्यक्ति कुल आदि की दृष्टि से नीच होते हैं, परन्तु विचारों की अपेक्षा से उच्च हुआ करते हैं और कुछ व्यक्ति कुल और विचार दोनों दृष्टियों से नीच होते हैं।

विवेचनिका—मानव-व्यक्तित्व अत्यन्त विलक्षण है, यह वह गहन सागर है जिसकी थाह अथाह ही रही है, नही कहा जा सकता कि जिसे हम जैसा देख रहे हैं, जिसके जैसा होने की सम्भावना कर रहे हैं वह वैसा ही साबित होगा, क्योंकि मानव-प्रकृति का निर्माण अनेक कारणो से होता है, पूर्व-जन्म के सस्कार, चारो ओर का वातावरण एव संगति आदि मनुष्य को सहसा बदल दिया करते हैं, इसीलिए जैनत्व जातिवाद से ऊंचा है, क्योंकि केवल जाति ही मानवीय व्यक्तित्व के निर्माण में कारण नहीं है। सूत्रकार कहते हैं कि कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिनका जन्म उच्च कुलों में होता है और उनके विचार भी उच्च ही रहते है, प्रायः महापुरुषों की गणना इसी कोटि मे की जाती है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति प्रायः पूर्व जन्मों के तपस्वी होते हैं।

कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिनका जन्म उच्च कुलों में होता है, परन्तु वे प्राप्त वैभव का दुरुपयोग करते हैं, प्राप्त सम्पत्ति को कुकृत्यों में लगाते हैं, विगत जन्मों के पुण्यों का फल पाते हुए इस जन्म को सुधारने का प्रयास नहीं करते। महाराज ब्रह्मदत्त पूर्वजन्मार्जित पुण्यों के कारण एक महान् राजवंश में उत्पन्न हुए, किन्तु पूर्वजन्म के केशाकर्षण के निदान के कारण एवं माता के दुष्टाचरणों को देखते हुए विकसित होने के कारण जीवन भर नारी-सौन्दर्य की आराधना एवं कोमलकान्त केशों की छाया में शयन ही करते रहे। उच्चकुल में जन्म लेकर भी उच्च विचार का निर्माण न कर सके।

तीसरे प्रकार के ऐसे जीव भी होते हैं जो पूर्व-जन्म के किसी दुष्कृत्य के कारण निम्न

वर्ग में जन्म लेते हैं, परन्तु किसी घटना वशात्, किसी संस्कार के कारण एवं किसी महापुरुष की कृपा का प्रसाद पाते ही उच्च विचारों के हो जाया करते हैं। मुनि हरिकेशी जी निम्न वर्ग में उत्पन्न हुए, परन्तु अपने विचारों की उच्चता के कारण उन्होंने सिद्ध-बुद्ध पद प्राप्त कर लिया।

चौथे प्रकार के वे सामान्य जन होते हैं जो निम्न वर्गों में जन्म लेते हैं और जीवन भर नीच कर्म ही किया करते हैं।

सूत्रकार ने केवल स्थिति का परिचय दिया है, परन्तु परिस्थितियों के परिवर्तन की शक्ति मानव में है, वह जब चाहे उनमें परिवर्तन करके अपने व्यक्तित्व को महत्ता के सांचे में ढाल सकता है।

असुरकुमारों की लेश्याएं

मूल—असुरकुमाराणं चत्तारि लेसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—कण्हलेसा, णीललेसा, काउलेसा, तेउलेसा। एवं जाव थणियकुमाराणं। एवं पुढविकाइयाणं, आउ-वणस्सइकाइयाणं, वाणमंतराणं सव्वेसिं जहा असुरकुमाराणं ॥९६॥

छाया—असुरकुमाराणां चतस्रो लेश्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या। एवं यावत् स्तनितकुमाराणाम्। एवं पृथिवीकायिकानां, अप्-वनस्पतिकायिकानां, वानव्यन्तराणां सर्वेषां यथा असुरकुमाराणाम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—असुरकुमारों की चार लेश्याएं कही गई हैं, यथा—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या और तेजोलेश्या। इसी प्रकार स्तनितकुमारों पर्यन्त सभी की लेश्याएं जाननी चाहिएं। इसी प्रकार पृथिवीकायिक, अप्कायिक, वनस्पतिकायिक और वानव्यन्तर सभी की लेश्याएं असुर कुमारों के समान समझनी चाहिएं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में कुल एवं विचार की दृष्टि से मानव-व्यक्तित्व का विश्लेषण किया गया है, अब प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार कुल एवं विचारों के निर्माण में सहायक लेश्याओं की दृष्टि से जीवों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

लेश्या वह गुणरूपा शक्ति है जो जीवमात्र के शरीर एवं भावों के निर्माण में योग देती है[१]। लेश्याएं छः बताई गई हैं—कृष्ण-लेश्या, नील-लेश्या, कापोत-लेश्या, तेजो-लेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या। पुनः लेश्या के दो रूप माने गए हैं—द्रव्यलेश्या और भाव-लेश्या। इन में से द्रव्यलेश्याएं नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयु के निर्माण में सहायक होती हैं और भाव-लेश्याएं शुद्धत्व-अशुद्धत्व,

---

१. लिश्यते इति लेश्या, मनोयोगावष्टम्भजनितपरिणामः, आत्मना सह श्लिश्यते एकीभवतीत्यर्थः॥

प्रशस्तत्व-अप्रशस्तत्व, संक्लिष्टत्व-असंक्लिष्टत्व, नाम, परिणाम, स्थान, गति और लक्षण आदि में सहायक मानी गई हैं। चतुर्थ स्थान के अनुरोध से यहां पर सूत्रकार ने केवल उन जीवों का वर्णन किया है जिनमें चार लेश्याएं पाई जाती हैं। असुरकुमारों में, पृथ्वीकायिक जीवों में, अप्कायिक जीवों में, वनस्पतिकायिक जीवों में तथा वानव्यन्तर देवों में कृष्ण, नील, कापोत, और तेजोलेश्या नामक चार लेश्याएं प्राप्त होती हैं। इनमें से प्रथम तीन लेश्याएं अप्रशस्त मानी गई हैं, अतः ये जीव को उच्च योनियों में न ले जाकर निम्न योनियों में ले जाती हैं।

तेजोलेश्या वाले जीव उपर्युक्त तीन स्थावरों में जन्म ले सकते हैं, अतः उनमें अंशतः अर्थात् अपर्याप्त अवस्था में ही तेजोलेश्या रहती है। पर्याप्त अवस्था में उनमें प्रथम तीन ही लेश्याएं पाई जाती हैं। तेजोलेश्या वाले स्थावर जीव अपर्याप्त अवस्था में कभी देहत्याग नहीं करते, और उस लेश्या में वे आयु का बन्ध भी नहीं करते। संज्ञी मनुष्य और तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीव यदि तेजोलेश्या की अवस्था में मृत्यु को प्राप्त करता है तो वह स्थावरों में जन्म नहीं लेता है।

इस प्रकार सूत्रकार ने चार अप्रशस्त लेश्यी जीवों का वर्णन प्रस्तुत किया है।

यान, वाहन, सारथी एवं पुरुष

मूल—चत्तारि जाणा पण्णत्ता, तं जहा—जुत्ते णाममेगे जुत्ते, जुत्ते णाममेगे अजुत्ते, अजुत्ते णाममेगे जुत्ते, अजुत्ते णाममेगे अजुत्ते। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जुत्ते णाममेगे जुत्ते, जुत्ते णाममेगे अजुत्ते०४।

चत्तारि जाणा पण्णत्ता, तं जहा—जुत्ते णाममेगे जुत्तपरिणए, जुत्ते णाममेगे अजुत्तपरिणए०४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जुत्ते णाममेगे जुत्तपरिणए०४।

चत्तारि जाणा पण्णत्ता, तं जहा—जुत्ते णाममेगे जुत्तरूवे, जुत्ते णाममेगे अजुत्तरूवे, अजुत्ते णाममेगे जुत्तरूवे०४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जुत्ते णाममेगे जुत्तरूवे०४।

चत्तारि जाणा पण्णत्ता, तं जहा—जुत्ते णाममेगे जुत्तसोभे०४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जुत्ते णाममेगे जुत्तसोभे०४। चत्तारि जुग्गा पण्णत्ता, तं जहा—जुत्ते णाममेगे जुत्ते०४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जुत्ते णाममेगे जुत्ते०४। एवं जहा जाणेण चत्तारि आलावगा तहा जुग्गेणवि, पडिवक्खो तहेव पुरिसजाया, जाव सोभेत्ति।

चत्तारि सारही पण्णत्ता, तं जहा—जोयावइत्ता णामं एगे नो विजोयावइत्ता, विजोयावइत्ता णामं एगे नो जोयावइत्ता, एगे जोयावइत्तावि विजोयावइत्तावि, एगे नो जोयावइत्ता नो विजोयावइत्ता। एवामेव चत्तारि हया पण्णत्ता, तं जहा—जुत्ते णामं एगे जुत्ते, जुत्ते णाममेगे अजुत्ते०४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जुत्ते णाममेगे जुत्ते। एवं जुत्तपरिणए, जुत्तरूवे, जुत्तसोभे, सव्वेसिं पडिवक्खो पुरिसजाया।

चत्तारि गया पण्णत्ता, तं जहा—जुत्ते णाममेगे जुत्ते०४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जुत्ते णाममेगे जुत्ते०४। एवं जहा हयाणं तहा गयाणं वि भाणियव्वं, पडिवक्खो तहेव पुरिसजाया।

चत्तारि जुग्गारिया पण्णत्ता, तं जहा—पंथजाई णाममेगे णो उप्पहजाई, उप्पहजाई णाममेगे णो पंथजाई, एगे पंथजाईवि उप्पहजाईवि, एगे णो पंथजाई णो उप्पहजाई। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया॥१७॥

छाया—चत्वारि यानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—युक्तं नामैकं युक्तं, युक्तं नामैकमयुक्तम्, अयुक्तं नामैकं युक्तम्, अयुक्तं नामैकमयुक्तम्। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—युक्तो नामैको युक्तः, युक्तो नामैकोऽयुक्तः ०४।

चत्वारि यानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—युक्तं नामैकं युक्तपरिणतं, युक्तं नामैकमयुक्तपरिणतम् ०४, एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—युक्तो नामैको युक्तपरिणतः ०४।

चत्वारि यानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—युक्तं नामैकं युक्तरूपं, युक्तं नामैकमयुक्तरूपम्, अयुक्तं नामैकं युक्तरूपम्०४। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—युक्तो नामैको युक्तरूपः०४।

चत्वारि यानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—युक्तं नामैकं युक्तशोभम्०४। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—युक्तो नामैको युक्तशोभः०४।

चत्वारि युग्यानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—युक्तं नामैकं युक्तम्०४। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—युक्तो नामैको युक्तः०४। एवं यथा यानेन चत्वार आलापकास्तथा युग्येनापि, प्रतिपक्षस्तथैव, पुरुषजातानि यावत् शोभ इति।

चत्वारः सारथयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—योजयिता नामैको नो वियोजयिता, वियोजयिता नामैको नो योजयिता, एको योजयितापि वियोजयितापि, एको नो योजयिता नो वियोजयिता। एवमेव चत्वारो हयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—युक्तो नामैको युक्तः, युक्तो नामैकोऽयुक्तः०४। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—युक्तो नामैको

युक्तः ०४। एवं युक्तपरिणतः, युक्तरूपः, युक्तशोभः सर्वेषां प्रतिपक्षः पुरुषजातानि। चत्वारो गजाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—युक्तो नामैको युक्तः०४। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—युक्तो नामैको युक्तः०४। एवं यथा हयानां तथा गजानामपि भणितव्यं, प्रतिपक्षस्तथैव पुरुषजातानि।

चतस्रो युग्यचर्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पथियायि नामैकं नो उत्पथयायि, उत्पथयायि नामैकं नो पथियायि, एकं पथियाय्यपि, उत्पथयाय्यपि, एकं नो पथियायि, नो उत्पथयायि। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के यान अर्थात् वाहन प्रतिपादित किए गए हैं, यथा—एक वृषभादि से युक्त होकर सामग्री से भी युक्त है। एक वृषभादि से युक्त होने पर भी सामग्री से अयुक्त है। एक वृषभादि से अयुक्त और सामग्री से युक्त है। एक वृषभ और सामग्री दोनों से अयुक्त है। इसी प्रकार चार प्रकार के पुरुष हैं, जैसे—एक धनादि से युक्त होने पर भी धर्मानुष्ठान आदि से भी युक्त है। एक धनादि से युक्त होने पर धर्मानुष्ठानादि से युक्त नहीं है०४। चार भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के वाहन होते हैं यथा—एक यान सामग्री से युक्त है, किन्तु उत्तम वृषभादि के होते हुए भी वे (वृषभादि) जुते हुए नहीं हैं, एक सामग्री से तो युक्त है, परन्तु वृषभादि साधन से युक्त नहीं है। चारों भंगों की कल्पना करनी चाहिए। ऐसे ही चार पुरुष हैं, जैसे—एक धनादि से युक्त होने पर उचित कार्य में तत्पर भी है। चारों भंग समझ लेने चाहिएं। चार प्रकार के यान होते हैं, जैसे—एक सामग्री से युक्त है और उसके वृषभादि भी भद्र हैं। एक सामग्री से तो युक्त है, पर वृषभादि भद्र नहीं हैं। एक सामग्री से युक्त नहीं, किन्तु भद्र वृषभादि से युक्त है और चौथा सामग्री से भी रहित है और भद्र वृषभादि से भी रहित है। इसी प्रकार चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे—कुछ सामग्री आदि से भी युक्त होते हैं और आत्म-गुणों से भी सम्पन्न होते हैं। शेष चारों भंग समझ लेने चाहिएं।

चार प्रकार के युग्य अर्थात् अश्वादि कहे गए हैं, जैसे—कुछ अश्व काठी आदि से युक्त होते हुए वेग से भी युक्त होते हैं। चतुर्भंगी की कल्पना कीजिए। इसी प्रकार चार प्रकार के पुरुष हुआ करते हैं, जैसे—एक धन आदि से युक्त होते हैं और धर्म-क्रियाओं से भी युक्त होते हैं। यहां पर भी चारों भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए। इसी प्रकार जैसे यान के चार आलापकों की कल्पना की गई है वैसे ही युग्य के चार भंगों की कल्पना करते हुए प्रतिपक्ष में दार्ष्टान्तिक रूप से पुरुषों के भी समृद्धि और धर्म की शोभा को लक्ष्य में रख कर रूप जान लेने चाहिएं।

चार प्रकार के सारथि होते हैं, जैसे एक सारथि जोड़ने वाला होता है, पर खोलने वाला नहीं, एक खोलने वाला तो है, पर जोड़ने वाला नहीं, एक खोलने वाला भी है और जोड़ने वाला भी है, एक न खोलने वाला है और न जोड़ने वाला है। इसी तरह चार प्रकार के घोड़े हैं, जैसे एक काठी आदि से युक्त और वेगादि से भी युक्त है। एक अश्व काठी आदि से युक्त है, पर वेग से युक्त नहीं, एक वेग से युक्त है काठी से युक्त नहीं और एक न काठी से युक्त है और न वेग से। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष हुआ करते हैं, जैसे—एक धनादि से युक्त होते हुए भी धर्मानुष्ठानादि रूप कार्य से भी युक्त होते हैं। इसी तरह युक्त-परिणत, युक्त-रूप और युक्त-शोभा आदि की दृष्टि से भी पुरुष के भेदों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के गज प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—एक सामग्री (हौदा) आदि से युक्त होने पर वेग से भी युक्त है, चतुर्भंगी की कल्पना कीजिए। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक धनादि से युक्त होने पर धर्मानुष्ठान आदि से भी युक्त है। इसी तरह जैसे घोड़ों के विषय में कहा गया है, वैसे ही हाथियों के विषय में भी कहना चाहिए। प्रतिपक्ष में पुरुष रूप भी जान लेने चाहिएं।

चार प्रकार की हाथी-घोड़ों आदि की चर्या (गति) प्रतिपादित की गई है, जैसे—एक सीधे मार्ग पर ही चलने वाला है, उल्टे मार्ग पर नहीं चलता। एक उल्टे मार्ग पर तो चलता है, सीधे मार्ग पर नहीं चलता। एक सीधे मार्ग पर भी चलता है, उल्टे मार्ग पर भी। एक न सीधे मार्ग पर चलता है और न उल्टे मार्ग पर ही। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे—एक सन्मार्ग गामी हैं पर कुमार्ग गामी नहीं। चारों भंगों की यहां भी कल्पना कीजिए।

विवेचनिका—लेश्या विशेष से मानवों की विचार धारा में विविधता आती है, अत: इस सूत्र में अनेक चतुर्भंगों के द्वारा मानव-विचार धारा के अनेक रूप प्रस्तुत किए गए हैं।

सवारी के प्राय: सभी साधन यान कहलाते हैं। यान दो तरह के होते हैं, यन्त्र से चलने वाले और बिना यन्त्र से चलने वाले। रेल, मोटर, वायुयान आदि यान यन्त्रयान कहलाते हैं। रथ, बग्घी, तांगा गाड़ी और मझोली आदि सब अयन्त्र-यान कहलाते हैं। यहां सूत्रकार को केवल अयन्त्र यान ही इष्ट है, यन्त्रयान नहीं। अयन्त्र यान चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

(क) एक वह यान जिसमें वृषभ आदि जोते जाते हैं और साथ ही जीवनोपयोगी और रक्षासाधनों से भी सम्पन्न होता है।

(ख) एक वह यान जिसमें बैल आदि तो जोते हुए हैं, किन्तु सामान से खाली है।

(ग) एक वह यान है जोकि सामान से तो भरा हुआ है, किन्तु बैल नहीं जोते हुए हैं।

(घ) एक यान वह है जो यानशाला में दोनों प्रकार से खाली पड़ा हुआ है।

यान की तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

(क) एक पुरुष ऐश्वर्य से सम्पन्न है और सदाचार आदि गुणों से भी युक्त है।

(ख) एक पुरुष ऐश्वर्य आदि से तो सम्पन्न है, सदाचार आदि से युक्त नहीं।

(ग) एक पुरुष सदाचार आदि गुणों से तो सम्पन्न है, किन्तु ऐश्वर्य से सम्पन्न नहीं।

(घ) एक पुरुष ऐश्वर्य और सदाचार दोनों से रहित है।

जिस यान को जिस सामग्री व सामान से भरना चाहिए यदि उसे उससे पूर्णतया भर दिया गया हो तो उस यान को युक्त परिणत कहते हैं। इस दृष्टि से भी यान चार तरह के होते हैं।

(क) एक यान वह है जिस में वृषभ आदि जोते हुए हैं और उचित सामग्री से भी सम्पन्न है।

(ख) एक यान उचित सामग्री से तो सम्पन्न है, किन्तु वृषभ आदि से युक्त नहीं।

(ग) एक यान वृषभ आदि से तो युक्त है, किन्तु उचित सामग्री से परिणत नहीं है।

(घ) एक यान न बैलों आदि से युक्त है और न उचित सामग्री से ही परिणत है।

यान की तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

(क) एक पुरुष ऋद्धि आदि से सम्पन्न है और अहिंसा आदि धर्म से भी समृद्ध है।

(ख) एक ऋद्धि आदि से तो सम्पन्न है, किन्तु अहिंसा आदि धर्म से अच्छी तरह परिणत नहीं हुआ।

(ग) एक अहिंसा आदि से तो अच्छी तरह परिणत है, किन्तु ऋद्धि आदि से सम्पन्न नहीं।

(घ) एक पुरुष न ऋद्धि से सम्पन्न है और न धर्म से परिणत है।

जिस यान का आकार रूप जैसा होना चाहिए वैसा ही होने पर वह यान श्रेष्ठ यान कहलाता है। दूसरा वह भी है जो कि पुराना जीर्ण-शीर्ण, टूटा-फूटा हुआ है, इसी लक्ष्य को लेकर सूत्रकार ने चतुर्भंगी बनाई है, जैसे कि—

(क) एक यान सुख सामग्री से भरा हुआ है और साथ ही सुन्दर भी है।

(ख) एक यान देखने में बहुत ही सुन्दर है, किन्तु सामग्री से खाली है।

(ग) एक यान सामग्री से भरा हुआ है, किन्तु आकार-प्रकार से सुन्दर नहीं है।

(घ) एक यान सामग्री और रूप दोनों से विहीन है।

यान की तरह मानव भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

(क) एक सब प्रकार के वैभव आदि से सम्पन्न है और सौन्दर्य से भी युक्त है।

(ख) एक पुरुष सौन्दर्य से सम्पन्न नहीं, किन्तु ऐश्वर्य से अवश्य सम्पन्न है।

(ग) एक वैभव आदि से सम्पन्न है, किन्तु सौन्दर्य से विहीन है।

(घ) एक वैभव और सौन्दर्य दोनों से विहीन है।

अथवा

(क) एक पुरुष ज्ञान आदि गुणों से भी युक्त है और उचित वेष से भी युक्त है।

(ख) एक पुरुष ज्ञानादि गुणों से तो युक्त है, किन्तु उचित वेष से सम्पन्न नहीं।

(ग) एक उचित वेष से तो सम्पन्न है, किन्तु रत्नत्रय से सम्पन्न नहीं।

(घ) एक रत्नत्रय और उचित वेष दोनों से विहीन है।

पुनः यान चार प्रकार के कथन किए गए हैं, जैसे कि—

(क) कोई यान बहुमूल्य वस्तुओं से भरा हुआ है और साथ ही सजा-धजा होने से अत्यन्त शोभनीय है।

(ख) कोई बहुमूल्य वस्तुओं से तो भरा हुआ है, किन्तु शोभनीय नहीं है।

(ग) कोई यान शोभास्पद तो अवश्य है, किन्तु बहुमूल्य वस्तुओं से युक्त नहीं है।

(घ) कोई यान न बहुमूल्य वस्तुओं से युक्त है और न शोभनीय ही है।

यान की तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

(क) कोई व्यक्ति गुणों से युक्त है और साथ ही संघ और देश की शोभा भी बढ़ाने वाला है।

(ख) कोई व्यक्ति गुणों से तो अवश्य युक्त है, किन्तु संघ या देश की शोभा बढ़ाने वाला नहीं है।

(ग) कोई पुरुष शोभास्पद तो अवश्य है, किन्तु गुणों से युक्त नहीं है।

(घ) कोई पुरुष न गुणसम्पन्न है और न शोभास्पद ही है।

युग्य की व्याख्या

दो हाथ परिमाण लम्बे-चौड़े एवं चार कोनों वाले तथा वेदिका-सहित यान को युग्य कहते हैं, ऐसा वृत्तिकार का अभिमत है। दो घोड़ों की गाड़ी को भी युग्य कहा जाता है। यान की तरह युग्य के साथ भी युक्त, परिणत, रूप एवं शोभा शब्द जोड़ कर चतुर्भंगियां बना लेनी चाहिएं। इसी प्रकार पुरुषों की भी धन आदि तथा ज्ञान आदि के द्वारा चार चतुर्भंगियां बना लेनी चाहिए।

चार प्रकार के सारथि—रथ आदि के चालक को सारथि कहते हैं। उपलक्षण से गाड़ीवान को भी सारथि कहा जाता है। रथ को चलाना, घोड़ों को जोड़ना, उन्हें खोलना, बांधना आदि सारथि के कार्य हैं। सारथियों में भी परस्पर स्वामी-सेवक का सम्बन्ध होता है।

५. (क) कुछ सारथि घोड़ों को स्वयं ही रथ से जोड़ते हैं, किन्तु उन्हें खोलते नहीं हैं।

(ख) कुछ सारथि घोड़ों को खोलते अवश्य हैं, किन्तु उन्हें रथ में नहीं जोतते।

(ग) कुछ सारथि जोड़ते भी हैं और खोलते भी हैं।

(घ) कुछ सारथि न तो घोड़ों को जोड़ते हैं और न खोलते ही हैं।

सारथि की तरह गुरु भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

(क) कुछ गुरु दूसरों को संयम में जोड़ते हैं, पर किसी को धर्म से विमुख नहीं करते।

(ख) कुछ गुरु अयोग्य एवं पाखण्डी व्यक्ति को संयम से अलग करते हैं, पुन: उसे संयम मार्ग पर नहीं लगाते।

(ग) कुछ गुरु साधकों को संयम में जोड़ते भी हैं और अयोग्य को संयम से अलग भी करते हैं।

(घ) कुछ गुरु न संयम में जोड़ते हैं और न किसी को संयम से अलग करते हैं, जैसे कि—जिनकल्पी तथा कल्पातीत मुनि।

(६) चार प्रकार के घोड़े

(क) कोई घोड़ा काठी युक्त अर्थात् बाजीन है और वेग आदि गुणों से भी संपन्न है।

(ख) कोई घोड़ा काठी वाला तो है, किन्तु वेग आदि गुणों से संपन्न नहीं है।

(ग) कोई घोड़ा वेग आदि गुणों से युक्त है, परन्तु काठी वाला नहीं है।

(घ) कोई घोड़ा वेग आदि गुणों से भी हीन है और काठी से भी हीन है।

इसी तरह मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

(क) कोई पुरुष संयम से युक्त होता है और विद्या आदि गुणों से भी युक्त हुआ करता है।

(ख) कोई पुरुष संयम से तो सम्पन्न है, किन्तु विद्या आदि गुणों से सम्पन्न नहीं।

(ग) कोई पुरुष विद्या आदि गुणों से सम्पन्न है, संयमयुक्त नहीं है।

(घ) कोई पुरुष संयम और विद्या आदि गुण दोनों से ही हीन है।

७. एक अन्य रूप में भी घोड़े चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक घोड़ा बाजीन है और साथ ही सुशिक्षित भी।

(ख) एक घोड़ा बाजीन तो है, किन्तु सिधाया हुआ नहीं है।

(ग) एक घोड़ा सिधाया हुआ है, किन्तु बाजीन नहीं है।

(घ) एक घोड़ा न बाजीन है और न सिधाया हुआ ही है।

घोड़ों की तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

(क) एक पुरुष संयम से युक्त है और श्रुतसाहित्य से भी युक्त है, अर्थात् शास्त्र-ज्ञान सम्पन्न है।

(ख) एक पुरुष संयम से तो अवश्य सम्पन्न है, किन्तु श्रुत-परिणत नहीं, अर्थात् शास्त्रज्ञान से रहित है।

(ग) एक पुरुष श्रुतसाहित्य से परिणत है, अर्थात् शास्त्र-ज्ञान-सम्पन्न है, किन्तु संयम-परिणत नहीं।

(घ) एक पुरुष संयम और श्रुत दोनों से विहीन है।

८. पुनः घोड़े चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक घोड़ा सुशिक्षित है और सर्वांग सुन्दर भी।

(ख) एक घोड़ा सुशिक्षित अवश्य है, किन्तु सर्वांग सुन्दर नहीं।

(ग) एक घोड़ा सर्वांग सुन्दर है, किन्तु सुशिक्षित नहीं।

(घ) एक घोड़ा न सुशिक्षित है और न सर्वांग सुन्दर है।

इसी तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

(क) एक पुरुष न्याय-नीति या संयम से सम्पन्न है और साथ ही रूपवान भी।

(ख) एक पुरुष न्याय-नीति या संयम से तो सम्पन्न है, किन्तु रूपवान नहीं।

(ग) एक पुरुष सर्वांग सुन्दर है, किन्तु संयम या न्याय-नीति से सम्पन्न नहीं है।

(घ) एक पुरुष न न्याय नीति एवं संयम से सम्पन्न है और न ही रूपवान है।

९. पुनः चार प्रकार के घोड़े होते हैं—

(क) एक घोड़ा सब प्रकार से सनद्ध-बद्ध है, विजयी होने से यशस्वी भी है।

(ख) एक घोड़ा सनद्ध-बद्ध अवश्य है, किन्तु यशस्वी न होने से शोभा-जनक नहीं।

(ग) एक घोड़ा शोभाजनक अवश्य है, किन्तु सनद्ध-बद्ध नहीं।

(घ) एक घोड़ा न सनद्ध-बद्ध है और न शोभाजनक ही।

जब घोड़ा सब प्रकार से वस्त्राभूषण से विभूषित होता है, तब वह जन-यात्रा में, वर-यात्रा में, युद्ध-यात्रा में शोभाजनक प्रतीत होता है, विजयी एवं यशस्वी घोड़ा सर्वदा शोभनीय होता है, उक्त कारणों से विपरीत शोभनीय नहीं होता। इसी प्रकार पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

(क) एक उग्र संयमी है और साथ ही प्रभावशील भी।

(ख) एक उग्र संयमी अवश्य है, परन्तु प्रभावशील नहीं।

(ग) एक प्रभावशील अवश्य है, किन्तु उग्र संयमी नहीं।

(घ) एक न उग्र संयमी है और न प्रभावशील ही।

जिस प्रकार चार चतुर्भंगियां अश्व की और चार चतुर्भंगियां पुरुषों की वर्णित की गई हैं, वैसे ही चार चतुर्भंगियां हाथी और पुरुषों को लक्ष्य में रख कर कल्पित कर लेनी चाहिएं। दोनों को मिलाकर आठ चतुर्भंगियां बनती हैं। हाथी की पीठ पर पलान और अम्बारी होती है। हाथी में स्वाभिमानता, बुद्धिमत्ता, शूरवीरता, आदि सैंकड़ों गुण होते हैं, उसे महान एवं सशक्त व्यक्ति ही रख सकता है और उससे काम ले सकता है। हाथी की उपमा सर्वोत्तम मानी जाती है। सर्वोत्तम उपमा से सर्वोत्तम उपमेय को उपमित किया जा सकता है।

रथ, बग्घी, गाड़ी आदि को खींचने वाले बैल, हाथी-घोड़े आदि जब अपनी क्रिया कर रहे हों, तब उन्हें जुग्गारिया कहा जाता है। वे चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

(क) कुछ घोड़े आदि मार्ग पर गमन करते हैं, उन्मार्ग पर नही जाते।

(ख) कुछ घोड़े आदि उन्मार्ग पर गमन करते हैं, सुमार्ग पर नहीं जाते।

(ग) कुछ घोड़े आदि सुमार्ग पर ही चलते हैं, उन्मार्ग पर कभी नहीं जाते।

(घ) कुछ घोड़े आदि न सुमार्ग पर चलते हैं और न उन्मार्ग पर ही, अड़ियल होते हैं। इसी प्रकार पुरुष भी चार तरह के होते हैं, जैसे कि—

(क) कुछ व्यक्ति न्याय-पथ पर ही चलते हैं, अन्याय-पथ पर नहीं जाते।

(ख) कुछ व्यक्ति अन्याय-पथ पर ही गमन करते हैं, न्याय-पथ पर नहीं चलते।

(ग) कुछ व्यक्ति कभी न्याय-पथ पर चलते हैं और कभी अन्याय-पथ पर।

(घ) कुछ व्यक्ति न न्याय-पथ पर गति करते हैं और न अन्याय-पथ पर ही।

लोकोत्तरिक पक्ष में पहले भंग में उत्तम साधु, दूसरे भंग में साधुवेष में धूर्त, तीसरे भंग में प्रमत्त साधु और चौथे भंग में उद्यमहीन एवं अबोध बालक जानने चाहिएं।

पुष्प और मानव व्यक्तित्व

चत्तारि पुप्फा पण्णत्ता, तं जहा—रूवसंपन्ने णाममेगे णो गंधसंपन्ने, गंधसंपन्ने णाममेगे णो रूवसंपन्ने, एगे रूवसंपन्नेवि गंधसंपन्नेवि, एगे णो रूवसंपन्ने णो गंधसंपन्ने। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—रूवसंपन्ने णाममेगे णो सीलसंपन्ने०४।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जाइसंपन्ने णाममेगे नो कुल संपन्ने ०४॥१॥

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जाइसंपन्ने णाममेगे णो बलसंपन्ने, बलसंपन्ने नामं एगे णो जाइसंपन्ने०४॥२॥ एवं जाइए रूवेण ०४, चत्तारि आलावगा ॥३॥ एवं जाइए सुएण०४॥४॥ एवं जाइए सीलेण०४ ॥५॥ एवं जाइए चरित्तेण०४ ॥६॥ एवं कुलेण-बलेण०४ ॥७॥ एवं कुलेण-रूवेण०४ ॥८॥ कुलेण-सुएण०४ ॥९॥ कुलेण-सीलेण ०४॥१०॥ कुलेण-चरित्तेण०४॥११॥

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—बलसंपण्णे णाममेगे णो रूवसंपन्ने०४ ॥१२॥ एवं बलेण सुएण०४॥१३॥ एवं बलेण सीलेण०४ ॥१४॥ एवं बलेण चरित्तेण०४॥१५॥

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—रूवसंपन्ने नाममेगे णो सुयसंपन्ने ०४ ॥१६॥ एवं रूवेण-सीलेण०४॥१७॥ रूवेण-चरित्तेण०४॥१८॥ चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—सुयसंपन्ने नाममेगे णो सीलसंपन्ने ०४ ॥१९॥ एवं सुएण चरित्तेण०४॥२०॥

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—सीलसंपन्ने नाममेगे णो चरित्तसंपन्ने४ ॥२१॥, एते एक्कवीसं भंगा भाणियव्वा ॥९८॥

छाया—चत्वारि पुष्पाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—रूपसम्पन्नं नामैकं नो गन्धसम्पन्नं, गन्धसम्पन्नं नामैकं नो रूपसम्पन्नम्, एकं रूपसम्पन्नमपि गन्धसम्पन्नमपि, एकं नो रूपसम्पन्नं नो गन्धसम्पन्नम्। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—रूपसम्पन्नो नामैको नो शीलसम्पन्नः०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—जातिसम्पन्नो नामैको नो कुलसम्पन्नः ०४।१। चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—जातिसम्पन्नो नो बलसम्पन्नः, बलसम्पन्नो नामैको नो जातिसम्पन्नः०४।२। एवं जात्या रूपेण ४ चत्वार आलापकाः ।३। एवं जात्या श्रुतेन०४।४। एवं जात्या-शीलेन०४।५। एवं जात्या-चारित्रेण ०४।६। एवं कुलेन बलेन०४।७। एवं कुलेन रूपेण०४।८। कुलेन श्रुतेन० ०४ ।९। कुलेन शीलेन०४।१०। कुलेन चारित्रेण ०४।११।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—बलसम्पन्नो नामैको नो रूपसम्पन्नः ०४।१२। एवं बलेन श्रुतेन०४।१३। एवं बलेन शीलेन०४।१४। एवं बलेन चारित्रेण ०४।१५।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—रूपसम्पन्नो नामैको नो श्रुतसम्पन्नः ०४।१६। एवं रूपेण शीलेन०४।१७। रूपेण चारित्रेण०४।१८।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—श्रुतसम्पन्नो नामैको नो शीलसम्पन्नः ०४।१९। एवं श्रुतेन चारित्रेण०४।२०।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—शीलसम्पन्नो नामैको नो चारित्रसम्पन्नः ०४।२१। एते एकविंशतिर्भङ्गा भणितव्याः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के पुष्प हुआ करते हैं, जैसे—एक पुष्प रूप-सम्पन्न है, पर गन्ध-सम्पन्न नहीं। एक गन्ध से सम्पन्न है, रूप-सम्पन्न नहीं। एक रूप सम्पन्न भी है और गन्ध से सम्पन्न भी। एक न रूप से सम्पन्न है और न ही गन्ध-सम्पन्न है। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष हुआ करते हैं, जैसे—एक पुरुष रूप-सम्पन्न तो है, परन्तु शील-सम्पन्न नहीं। (चतुर्भंगी व्याख्या में देखिए)।

चार प्रकार के पुरुष हुआ करते हैं, जैसे—एक जाति सम्पन्न होने पर भी कुल सम्पन्न नहीं है०४ । १ ।

चार प्रकार के पुरुष हुआ करते हैं, जैसे—एक जाति सम्पन्न होते हुए भी बल सम्पन्न नहीं है। एक बल सम्पन्न है, परन्तु जाति सम्पन्न नहीं है०४ ।२, इसी प्रकार जाति और रूप से आदि चार आलापक कहने चाहिएं०४ । ३, इसी प्रकार जाति और श्रुत से०४ । ४, इसी प्रकार जाति और शील से०४ । ५, इसी तरह जाति और चरित्र से०४ । ६, इसी प्रकार कुल और बल से०४ । ७, ऐसे ही कुल और रूप से०४ । ८, कुल और श्रुत से०४ । ९, कुल और शील से०४ । १०, कुल और चारित्र से समझने चाहिएं०४ । ११ । चार प्रकार के पुरुष हुआ करते हैं, जैसे—एक पुरुष बलसम्पन्न होने पर भी रूप सम्पन्न नहीं है०४ । १२, इसी प्रकार बल और श्रुत से०४। १३, इसी तरह बल और शील से०४ । १४, इसी प्रकार बल और चारित्र से समझने चाहिएं ०४। १५।

चार प्रकार के पुरुष हैं, जैसे—एक रूप-सम्पन्न है, किन्तु श्रुत-सम्पन्न नहीं ०४ । १६, इसी तरह रूप और शील से०४ । १७, रूप और चारित्र से समझने चाहिए०४ ।१८।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक श्रुत-सम्पन्न होने पर भी शील-सम्पन्न नहीं है०४ । १९, ऐसे ही श्रुत और चारित्र से भी जानना चाहिए ०४ ।२०।

चार प्रकार के पुरुष हैं, जैसे एक पुरुष शील-सम्पन्न होने पर भी चारित्र सम्पन्न नहीं है ०४।२१, इस प्रकार ये इक्कीस चतुर्भंग कहने चाहिएं।

विवेचनिका—पूर्व-सूत्र में अनेक प्रकार के दृष्टान्त देकर मानव के अनेक रूपों का वर्णन किया गया है। उसी परम्परा में पुनः पुष्प आदि का दृष्टान्त देकर मानवता का विश्लेषण किया जा रहा है।

चार प्रकार के फूल होते हैं—

(क) कुछ फूल सौंदर्य से परिपूर्ण होते हैं, किन्तु सुगन्ध से हीन होते हैं।

(ख) कुछ फूल सुगंध से परिपूर्ण होते हैं, किन्तु सौंदर्य से हीन हुआ करते हैं।

(ग) कुछ फूल सौंदर्य से सपन्न होते है और सुगन्ध से भी सम्पन्न हुआ करते हैं।

(घ) कुछ फूल सौंदर्य और सुगन्ध दोनों से विहीन होते है।

जिन वृक्षों और वल्लियों पर फल लगने से पूर्व फूल लगते हैं वे प्रायः रूपवान तो होते हैं, किन्तु सुगंधित नहीं होते, उनका समावेश पहले भंग मे होता है। दूसरे भंग में बकुल,

मौलश्री, रातरानी आदि फूलों का अंतर्भाव हो जाता है। तीसरे भंग में नरगिस, मालती, केतकी, गेंदा, गुलाब आदि का अन्तर्भाव हो जाता है। चौथे भंग में पलाश अर्थात् किंशुक के फूलों का समावेश होता है। फूलों की तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

(क) एक पुरुष रूप वाला है, सदाचारी नहीं।

(ख) एक पुरुष सदाचारी है, किन्तु रूपवान नहीं।

(ग) एक पुरुष रूपवान भी है और सदाचारी भी।

(घ) एक पुरुष न रूपवान है और न सदाचारी ही।

१. जाति, २. कुल, ३. बल, ४. रूप, ५ श्रुत, ६. शील, और ७. चारित्र इन सात पदों में परस्पर द्विक संयोग से २१ चतुर्भंगियां बनती हैं, जैसे कि—

जाति और कुल

१ (क) कोई पुरुष जाति-संपन्न होता है, कुल-सम्पन्न नहीं।

(ख) कोई पुरुष कुल-संपन्न होता है, जाति-संपन्न नहीं।

(ग) कोई पुरुष जाति और कुल दोनों से संपन्न होता है।

(घ) कोई पुरुष जाति और कुल दोनों से विहीन होता है।

जाति और बल

२ (क) कोई पुरुष जाति-संपन्न तो होता है, किन्तु बल-सम्पन्न नहीं।

(ख) कोई बल-संपन्न होता है, जाति-सपन्न नही।

(ग) कोई जाति और बल दोनों से सम्पन्न होता है।

(घ) कोई जाति और बल दोनों से विहीन होता है।

जाति और रूप

३. (क) कोई पुरुष जाति सम्पन्न होता है, किन्तु रूपवान नहीं।

(ख) कोई पुरुष रूपवान है, किन्तु जाति सम्पन्न नहीं।

(ग) कोई जाति और रूप दोनों से सम्पन्न होता है।

(घ) कोई पुरुष न जाति-सम्पन्न होता है और न रूपवान ही।

जाति और श्रुत-सम्पन्नता

४. (क) कोई पुरुष जाति-सम्पन्न होता है, किन्तु श्रुत-सम्पन्न नहीं।

(ख) कोई पुरुष श्रुत-सम्पन्न होता है, किन्तु जातिवान नहीं।

(ग) कोई जाति और श्रुत दोनों से सम्पन्न होता है।

(घ) कोई न जाति-सम्पन्न और न श्रुत-सम्पन्न ही होता है।

जाति और शील

५. (क) कोई जाति-सम्पन्न होता है, किन्तु शील-संपन्न नहीं।

(ख) कोई शील-सम्पन्न तो है, किन्तु जाति-सम्पन्न नहीं।

(ग) कोई जाति और शील दोनों से सम्पन्न होता है।

(घ) कोई ज़ाति और शील दोनों से विहीन होता है।

जाति और चारित्र

६. (क) कोई पुरुष जातिवान है, किन्तु चारित्रवान नहीं।

(ख) कोई पुरुष चारित्रवान है, किन्तु जातिवान नहीं।

(ग) कोई पुरुष जातिवान भी है और चारित्रवान भी।

(घ) कोई पुरुष न जातिवान है और न चारित्रवान ही।

कुल और बल

१. (क) कोई पुरुष कुल-सम्पन्न है, किन्तु बल-सम्पन्न नहीं।

(ख) कोई पुरुष बल-सम्पन्न है, किन्तु कुल-सम्पन्न नहीं।

(ग) कोई पुरुष कुल और बल दोनों से सम्पन्न है।

(घ) कोई पुरुष न कुल सम्पन्न है और न बल सम्पन्न ही।

कुल और रूप

२. (क) कोई पुरुष कुलीन होता हुआ भी रूपवान नहीं।

(ख) कोई पुरुष रूपवान होता हुआ भी कुलीन नहीं।

(ग) कोई पुरुष कुल और रूप दोनों से सम्पन्न है।

(घ) कोई पुरुष न कुल-सम्पन्न है और न रूप-सम्पन्न ही।

कुल और श्रुत-सम्पन्नता

३. (क) कोई पुरुष कुल-सम्पन्न है, किन्तु शास्त्रवेत्ता नहीं।

(ख) कोई पुरुष श्रुतवेत्ता है, किन्तु कुल-सम्पन्न नहीं।

(ग) कोई पुरुष कुल और श्रुत दोनों से सम्पन्न है।

(घ) कोई पुरुष न कुलीन ही है और न विद्वान ही।

कुल और शील

४. (क) कोई पुरुष कुलीन होता हुआ भी शील-सम्पन्न नहीं है।

(ख) कोई पुरुष सुशील होता हुआ भी, कुलीन नहीं है।

(ग) कोई पुरुष कुलीन भी है और सुशील भी।

(घ) कोई पुरुष न कुलीन है और न शील-सम्पन्न ही।

कुल और चारित्र

५. (क) कोई पुरुष कुलीन है, किन्तु चारित्रवान नहीं है।

(ख) कोई पुरुष चारित्रवान है, किन्तु कुलवान नहीं।

(ग) कोई पुरुष कुलवान भी है और चारित्रवान भी।

(घ) कोई पुरुष कुल और चारित्र दोनों से विहीन है।

बल और रूप

१. (क) कोई पुरुष बलवान होता हुआ भी रूपवान नहीं।
   (ख) कोई पुरुष रूपवान होता हुआ भी बलवान नहीं।
   (ग) कोई पुरुष बलवान भी है और रूपवान भी।
   (घ) कोई पुरुष न बलवान ही है और न रूपवान ही।

बल और विद्वत्ता

२. (क) कोई पुरुष बलवान होता हुआ भी विद्वान नहीं है।
   (ख) कोई पुरुष विद्वान होता हुआ भी बलवान नहीं है।
   (ग) कोई पुरुष बलवान भी है और विद्वान भी।
   (घ) कोई पुरुष न बल सम्पन्न है और न विद्वान ही।

बल और शील

३. (क) कोई पुरुष बलवान होता हुआ भी दु:शील है।
   (ख) कोई पुरुष शील-सम्पन्न होता हुआ भी, बल-संपन्न नहीं है।
   (ग) कोई पुरुष बल और शील दोनों से सम्पन्न है।
   (घ) कोई पुरुष न बल सम्पन्न ही है और न शील सम्पन्न ही।

बल और चारित्र

४. (क) कोई पुरुष सबल होता हुआ भी चारित्र-सम्पन्न नहीं है।
   (ख) कोई पुरुष चारित्रवान होता हुआ भी बल-सम्पन्न नहीं है।
   (ग) कोई पुरुष बल और चारित्र दोनों से सम्पन्न है।
   (घ) कोई पुरुष न बलवान ही है और न चारित्रवान ही।

रूप और विद्वत्ता

१. (क) कोई पुरुष रूपवान है, किन्तु विद्वत्ता से सम्पन्न नहीं।
   (ख) कोई पुरुष विद्वत्ता से सम्पन्न है, किन्तु रूप सम्पन्न नहीं।
   (ग) कोई पुरुष रूपवान भी है और विद्वान् भी।
   (घ) कोई पुरुष सौन्दर्य और विद्वत्ता दोनों से विहीन है।

रूप और शील

२. (क) एक पुरुष रूपवान होता हुआ भी दु:शील है।
   (ख) एक पुरुष शीलवान होता हुआ भी कुरूप है।
   (ग) एक पुरुष रूपवान भी है और शीलवान भी।
   (घ) एक पुरुष न रूपवान है और न शीलवान ही।

रूप और चारित्र

३. (क) एक पुरुष रूपसम्पन्न है, किन्तु चारित्रवान नहीं।
(ख) एक पुरुष चारित्रवान है, किन्तु रूप-सम्पन्न नहीं।
(ग) एक पुरुष रूपवान भी है और चारित्रवान भी।
(घ) एक पुरुष न रूपवान है और न चारित्रवान ही।

विद्वत्ता और स्वभाव

१. (क) एक पुरुष विद्वान है, किन्तु स्वभाव का मधुर नहीं।
(ख) एक पुरुष स्वभाव से मधुर है, आगमवेत्ता नहीं।
(ग) एक पुरुष आगमवेत्ता भी है और स्वभाव का मधुर भी।
(घ) एक न आगमवेत्ता ही है और न स्वभाव का मधुर ही।

विद्वत्ता और चारित्र

२. (क) एक पुरुष विद्वान है, किन्तु चारित्रवान नहीं।
(ख) एक पुरुष चारित्रवान है, किन्तु विद्वान नहीं।
(ग) एक पुरुष विद्वान भी है और चारित्रवान भी।
(घ) एक पुरुष न विद्वान ही है और न चारित्रवान ही।

शील और चारित्र

१. (क) एक पुरुष शीलवान है, किन्तु चारित्र-सम्पन्न नहीं।
(ख) एक पुरुष चारित्रवान है, किन्तु स्वभाव से श्रेष्ठ नहीं।
(ग) एक पुरुष श्रेष्ठ प्रकृति का है, और साथ ही चारित्रवान् भी।
(घ) एक पुरुष न प्रकृति से श्रेष्ठ है और न चारित्रवान ही।

इस प्रकार जाति के संयोग से ६, कुल के संयोग से ५, बल के संयोग से ४, रूप के संयोग से ३, श्रुत के संयोग से २ और शील के संयोग से १ चतुर्भंगी बनती है।

फलोपम आचार्य और साधक

मूल—चत्तारि फला पण्णत्ता, तं जहा—आमलगमहुरे, मुद्दियामहुरे, खीरमहुरे, खंडमहुरे। एवामेव चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा—आमलगमहुरफलसमाणे जाव खंडमहुरफलसमाणे।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—आय-वेयावच्चकरे नाममेगे नो परवेयावच्चकरे०४।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—करेइ नाममेगे वेयावच्चं नो पडिच्छइ, पडिच्छइ नाममेगे वेयावच्चं नो करेइ०४।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—अट्ठकरे णाममेगे णो माणकरे, माणकरे णाममेगे णो अट्ठकरे, एगे अट्ठकरेवि माणकरेवि, एगे णो अट्ठकरे णो माणकरे।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—गणट्ठकरे णाममेगे णो माणकरे०४ ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—गणसंग्गहकरे णाममेगे णो माणकरे०४ ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—गणसोभकरे णामं एगे णो माणकरे०४ ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—गणसोहिकरे णाममेगे नो माणकरे०४ ॥११॥

छाया—चत्वारि फलानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आमलकमधुरं, मृद्वीकामधुरं, क्षीरमधुरं, खण्डमधुरं। एवमेव चत्वारः आचार्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आमलकमधुर-फलसमानो यावत् खण्डमधुरसमानः।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आत्मवैयावृत्त्यकरो नामैको नो परवैयावृत्त्यकरः०४ ।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—करोति नामैको वैयावृत्त्यं नो प्रतीच्छति, प्रतीच्छति नामैको वैयावृत्त्यं नो करोति०४ ।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—अर्थकरो नामैको नो मानकरः, मानकरो नामैको नो अर्थकरः, एकोऽर्थकरोऽपि मानकरोऽपि, एको नो अर्थकरो नो मानकरः।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—गणार्थकरो नामैको नो मानकरः०४ ।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—गणसंग्रहकरो नामैको नो मानकरः०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—गणशोभाकरो नामैको नो मानकरः०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—गणशोधिकरो नामैको नो मानकरः०४।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के फल होते हैं—आमलक तुल्य मधुर, मृद्वीका अर्थात् द्राक्षा तुल्य मधुर, क्षीर तुल्य मधुर और खाण्ड तुल्य मधुर। ऐसे ही चार तरह के आचार्य कहे गए हैं—आमलक फल की तरह मधुर, द्राक्षा फल की तरह मधुर, क्षीर फल की तरह मधुर, खाण्ड के तुल्य फल के समान मधुर।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—कुछ अपनी सेवा करने में तत्पर हैं,

परन्तु अन्य की सेवा करने वाले नहीं। चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—कोई स्वयं दूसरों की सेवा करते हैं, किन्तु अपनी सेवा नहीं चाहते। एक अपनी सेवा तो चाहते हैं, किन्तु अन्य की सेवा नहीं करते। इसी प्रकार अन्य दो भंग भी जान लेने चाहिएं।

चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे—एक पुरुष हितप्राप्ति और अहित परिहार रूप प्रयोजन को तो करते हैं, परन्तु सम्मान नहीं करते। एक सम्मान तो करते हैं, किन्तु हितसम्पादन और अहित-परिहार रूप कार्य नहीं करते। एक परहित सम्पादन और पर-अहित परिहार भी करते हैं और सम्मान भी करते हैं। एक न तो हिताहित सम्पादन परिहार रूप कार्य ही करते हैं और न ही सम्मान करते हैं।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक पुरुष गण की मर्यादा तो बान्धते हैं, परन्तु उसका मान नहीं करते, शेष तीन रूपों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के पुरुष हुआ करते हैं, जैसे—एक ज्ञानादि द्वारा गण का संग्रह अर्थात् संगठन करते हैं, किन्तु मान नहीं करते। इसी तरह शेष तीन भंग भी समझ लेने चाहिएं।

चार प्रकार के पुरुष हैं, जैसे—एक आचारादि द्वारा गण की शोभा बढ़ाने वाले होते हैं, किन्तु मान नहीं करते। शेष तीन भंगों की कल्पना भी कीजिए।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक आचारादि द्वारा गण की शुद्धि करने वाले हैं, किन्तु मान नहीं करते।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में जाति, कुल, बल, आचार आदि की दृष्टि से साधक व्यक्ति का वर्णन किया गया है, अब प्रस्तुत सूत्र में फल-भेद का निदर्शन उपस्थित करते हुए शास्त्रकार आचार्य एवं आचार्य के निर्देशन में कार्य करने वाले साधक व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए कहते हैं:—

चार प्रकार के फल होते हैं—

(क) कुछ फल आंवले के समान किंचित् मधुर होते हैं।

(ख) कुछ फल दाख के समान मधुरतर हुआ करते हैं।

(ग) कुछ फल खीर के समान अतिमधुर होते हैं।

(घ) कुछ फल खंड-मिश्री के समान अतीव मधुर हुआ करते हैं।

इसी प्रकार आचार्य भी चार तरह के होते हैं—

(क) किसी आचार्य की वाणी आंवले के तुल्य कुछ मधुर होती है।

(ख) किसी आचार्य की वाणी दाख के तुल्य अधिक मधुर होती है।

(ग) किसी आचार्य की वाणी खीर के तुल्य अधिकतर मधुर होती है।

(घ) किसी आचार्य की वाणी मिश्री की तरह सर्वथा मधुर होती है।

आचार्य संघ का शासक है और शासक की भाषा में कुछ कठोरता आ ही जाती है, परन्तु सफल आचार्यत्व तो वही है जो मधुरवाणी द्वारा सम्पन्न हो, क्योंकि आचार्य में साधुत्व, शासकत्व और सर्व-कल्याण की भावना का समन्वय होता है। साधुत्व मधुरता से ही सुशोभित होता है, अतः उपर्युक्त विवेचन में माधुर्य की दृष्टि से ही आचार्यत्व का विश्लेषण हुआ है।

साधक पुरुष चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ साधक अपनी वैयावृत्त्य अर्थात् सेवा करते हैं, दूसरों की नहीं।

(ख) कुछ दूसरों की वैयावृत्त्य करते हैं, अपनी नहीं।

(ग) कुछ अपनी भी वैयावृत्त्य करते हैं और दूसरों की भी।

(घ) कुछ साधक न अपनी वैयावृत्त्य करते हैं और न दूसरों की ही।

पाप कर्मों से व्यावृत्त होकर स्वार्थ का परित्याग करके जो सेवा की जाती है, उसे वैयावृत्त्य कहते हैं। पहले भंग में आलसी, विसंभोगिक और एकलविहारी, दूसरे भंग में अभिग्रहधारी, तीसरे भंग में स्थविरकल्पी और चौथे भंग में पादपोपगमन-संथारे वाले महासाधक का समावेश होता है।

पुनः चार तरह के साधक होते हैं—

(क) एक स्वयं वैयावृत्त्य करता है, परन्तु वह दूसरे से सेवा नहीं चाहता।

(ख) एक दूसरे से सेवा चाहता है, परन्तु स्वयं किसी की सेवा करने की इच्छा नहीं रखता।

(ग) एक स्वयं भी सेवा करता है और दूसरों से भी सेवा की इच्छा रखता है।

(घ) एक न स्वयं सेवा करता है और न दूसरे से सेवा की इच्छा रखता है।

पहले भंग में निस्पृह एवं समर्थ व्यक्ति, दूसरे में आचार्य या रोगी, तीसरे में स्थविरकल्पी और चौथे में जिनकल्पी साधकों की ओर संकेत किया गया है।

पुनः चार प्रकार के पुरुष होते हैं—

(क) कुछ पुरुष दूसरों का कार्य करते हैं, किन्तु उनका मान नहीं करते।

(ख) कुछ पुरुष उनका मान करते हैं, किन्तु काम नहीं करते।

(ग) कुछ पुरुष दूसरों का अभीष्ट कार्य भी करते हैं और उनका सम्मान भी करते हैं।

(घ) कुछ पुरुष न दूसरों का अभीष्ट कार्य ही करते हैं और न सम्मान ही करते हैं।

यद्यपि नीति शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि '**हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः**' ऐसे वचन दुर्लभ ही होते हैं जो हितकारी भी हों और मधुर भी हों। परन्तु अहिंसावृत्ति प्रधान जैन

संस्कृति उसी को सच्चा मित्र मानती है जो मधुर वचन कह कर मित्र का सम्मान भी करे और उसके हित के लिए उपयोगी कार्य भी करे। अतः हितेच्छा और सम्मान की दृष्टि से प्रस्तुत भंग में मानवत्व का विश्लेषण किया गया है।

चार प्रकार के पुरुष होते हैं—

(क) कुछ साधक गण का प्रयोजन तो सिद्ध करते हैं, किन्तु उसका मान नहीं करते।

(ख) कुछ साधक मान के ही इच्छुक होते हैं, किन्तु गण का प्रयोजन सिद्ध नहीं करते।

(ग) कुछ साधक गण का कार्य भी करते हैं और साथ में उसका मान भी करते हैं।

(घ) कुछ साधक न गण का कार्य ही करते हैं और न उसका मान ही करते हैं।

यहां गण का अर्थ गच्छ, बिरादरी एवं समाज माना जा सकता है।

पुनः चार प्रकार के पुरुष होते हैं—

(क) कुछ पुरुष गण के लिए वस्त्र-पात्र आदि का संग्रह करते हैं, उसका अभिमान नहीं करते।

(ख) कुछ साधक व्यर्थ का मान करते हैं, किन्तु गण के लिए वस्त्र-पात्र आदि का संग्रह नहीं करते।

(ग) कुछ साधक गण के लिए संग्रह भी करते हैं और संग्रह का मान भी करते हैं।

(घ) कुछ साधक न संग्रह करते हैं और न अभिमान ही किया करते हैं, उदासीन रहते हैं।

गण के लिए आवश्यक द्रव्य और भाव के साधनों को जुटाना ही गण-संग्रह कहलाता है। संयम उपयोगी वस्त्र-पात्र, आहार आदि द्रव्यों का संग्रह करना द्रव्य-संग्रह है और ज्ञान-दर्शन और चारित्र के साधनों का संग्रह करना भाव-संग्रह कहलाता है। सचाई यह है कि प्रत्येक प्राणी को जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह स्वकृत कर्म-फल के रूप में प्राप्त होता है। प्राप्ति का साधक तो केवल निमित्त मात्र ही हुआ करता है, अतः श्रेष्ठ तो वही है जो गण के लिए संग्रह करे और अभिमान न करे। एक दानी नेत्र नीचे करके दान दिया करता था। उससे किसी ने पूछ ही लिया कि आप देते समय नेत्र नीचे क्यों कर लेते हैं। तो उसने उत्तर दिया था—

देने वाला और है, देता है दिन रैन।
लोग भरम मुझ पर करें, ताते नीचे नैन।

यही तो उत्तम साधक का लक्षण है।

पुनः चार प्रकार के पुरुष होते हैं—

(क) एक गण की शोभा बढ़ाता है, किन्तु उसका अभिमान नहीं करता।

(ख) एक मान करता है, किन्तु गण की शोभा नहीं बढ़ाता।

(ग) एक गण की शोभा भी बढ़ाता है और मान भी करता है।

(घ) एक न गण की शोभा बढ़ाता है और न मान ही करता है।

गण की शोभा लौकिक और लोकोत्तरिक विधि से बढ़ाई जा सकती है। रक्षा, सहानुभूति, नैमित्तक, धर्मकथा, विद्या, मंत्र इत्यादि के द्वारा प्रभावना करना तथा ज्ञान-दर्शन चारित्र और तप के द्वारा प्रभावना करना इन कारणों से संघ की शोभा बढ़ती है। शोभा बढ़ाने पर भी स्वयं मान न करना कितना अच्छा है। प्रथम और तीसरे भंग का स्वामी ही अनुकरणीय है।

पुनः चार प्रकार के पुरुष होते हैं—

(क) एक पुरुष गण में बढ़ती हुई दुष्प्रवृत्ति को रोकता है, किन्तु मान नहीं करता।

(ख) एक केवल मान ही करता है, किन्तु दुष्प्रवृत्ति को रोक कर शुद्धीकरण नहीं करता।

(ग) एक दुष्प्रवृत्ति को रोक कर शुद्धीकरण भी करता है और मान भी नहीं करता।

(घ) एक न शुद्धीकरण ही करता है और न उसका मान ही करता है।

गण में बढ़ते हुए रीति-रिवाज, कुप्रथाएं, विकृतियां, आडम्बर, अपव्यय तथा दुष्प्रवृत्तियां ये सब समाज के लिए एवं साधकों के लिए घातक होती हैं। इनकी रोक थाम युगानुरूप करते रहना चाहिए, इस सुप्रवृत्ति को ही शुद्धीकरण कहते हैं। शुद्धीकरण करने से ही समाज की भलाई होती है। इस प्रकार की संघ सेवा करने से भी जीव कल्याण का भागी बनता है।

धर्म और व्यक्ति

मूल—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—रूवं नाममेगे जहइ नो धम्मं, धम्मं नाममेगे जहइ नो रूवं, एगे रूवंवि जहइ धम्मंवि जहइ, एगे नो रूवं जहइ नो धम्मं।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—धम्मं नाममेगे जहइ नो गण-संठितिं ४।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—पियधम्मे नाममेगे नो दढधम्मे, दढधम्मे नाममेगे नो पियधम्मे, एगे पियधम्मेवि दढधम्मेवि, एगे नो पियधम्मे नो दढधम्मे।

चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा—पव्वायणायरिए नाममेगे णो उवट्ठावणायरिए, उवट्ठावणायरिए णाममेगे णो पव्वायणायरिए, एगे पव्वायणायरियेवि उवट्ठावणायरियेवि, एगे नो पव्वायणायरिए नो उवट्ठावणायरिए धम्मायरिए।

चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा—उद्देसणायरिए णाममेगे णो वायणायरिए ४ धम्मायरिए।

चत्तारि अंतेवासी पण्णत्ता, तं जहा—पव्वायणंतेवासी नामं एगे णो उवट्ठावणंतेवासी ४ धम्मंतेवासी।

चत्तारि अंतेवासी पण्णत्ता, तं जहा—उद्देसणंतेवासी नामं एगे नो वायणंतेवासी ०४ धम्मंतेवासी॥१००॥

छाया—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—रूपं नामैको जहाति नो धर्मं, धर्मं नामैको जहाति नो रूपम्, एको रूपमपि जहाति धर्ममपि जहाति, एको नो रूपं जहाति नो धर्मं जहाति।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—धर्मं नामैको जहाति नो गणस्थितिम् ४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—प्रियधर्मो नामैको नो दृढधर्मो, दृढधर्मो नामैको नो प्रियधर्मो, एकः प्रियधर्मोऽपि दृढधर्मोऽपि, एको नो प्रियधर्मो नो दृढधर्मो।

चत्वार आचार्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्रव्राजनाचार्यो नामैको नो उपस्थापनाऽऽचार्यः, उपस्थापनाऽऽचार्यो नामैको नो प्रव्राजनाचार्यः, एकः प्रव्राजनाचार्योऽपि, उपस्थापना-ऽऽचार्योऽपि, एको नो प्रव्राजनाचार्यो नो उपस्थापनाऽऽचार्यो, धर्माचार्यः।

चत्वार आचार्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—उद्देशनाऽऽचार्यो नामैको नो वाचनाऽऽचार्यो ०४, धर्माचार्यः।

चत्वारोऽन्तेवासिनः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—प्रव्राजनान्तेवासी नामैको नो उपस्थाप-नान्तेवासी ०४, धर्मान्तेवासी।

चत्वारोऽन्तेवासिनः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—उद्देशनान्तेवासी नामैको नो वाचनान्तेवासी ०४, धर्मान्तेवासी।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के पुरुष प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—एक पुरुष रूप अर्थात् वेश छोड़ देता है किन्तु धर्म (चारित्र रूप) को नहीं छोड़ता। एक पुरुष धर्म को छोड़ देता है, किन्तु वेश को नहीं छोड़ता। एक पुरुष वेश को भी छोड़ देता है और धर्म को भी। एक न वेश को छोड़ता है और न धर्म को।

चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे—एक पुरुष धर्म को छोड़ देता है, किन्तु गण की मर्यादा को नहीं छोड़ता ०४ । चतुर्भंगी की कल्पना कीजिए।

चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे—एक पुरुष को धर्म तो प्रिय है, पर वह धर्म

में दृढ़ नहीं है, एक पुरुष धर्म में दृढ़ तो है पर वह धर्म-प्रिय नहीं है। एक धर्म-प्रिय भी है और दृढ़-धर्मी भी। एक न तो प्रिय-धर्मी है और न दृढ़-धर्मी।

चार प्रकार के आचार्य कहे गए हैं, जैसे—एक दीक्षा देने वाले आचार्य तो हैं पर बड़ी दीक्षा देने वाले नहीं। एक उपस्थापन आचार्य हैं, किन्तु प्रव्रज्या आचार्य नहीं। एक प्रव्रज्या आचार्य भी हैं और उपस्थापन आचार्य भी। एक न प्रव्रज्या आचार्य हैं और न उपस्थापन आचार्य, केवल धर्माचार्य हैं।

चार प्रकार के आचार्य कहे गए हैं, जैसे—एक उद्देशना आचार्य तो हैं, किन्तु वाचना-आचार्य नहीं हैं०४। धर्माचार्य हैं। चार भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के अन्तेवासी (शिष्य) हैं, जैसे—एक प्रव्रज्या अन्तेवासी तो है, किन्तु उपस्थापन अन्तेवासी नहीं है ०४ । केवल धर्मान्तेवासी है। चार भङ्गों की यहां भी कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के अन्तेवासी हैं, जैसे—एक उद्देशना अन्तेवासी तो है, किन्तु वाचना अन्तेवासी नहीं ०४ । केवल धर्मान्तेवासी है। चतुर्भंगी यहां भी कल्पित कीजिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में सामान्य साधकों के प्रवृत्तियों के आधार पर अनेक रूप प्रस्तुत किए गए हैं। प्रस्तुत सूत्र में आचार्य और शिष्य की प्रवृत्तियों को लक्ष्य में रखकर उनका वर्गीकरण किया गया है, साथ ही दोनों में विद्यमान धर्म सत्ता को आधार माना गया है।

चार प्रकार के पुरुष होते हैं—

(क) एक साधक साधु वेश छोड देता है, किन्तु धर्म को नहीं।

(ख) एक साधक धर्म छोड़ देता है, किन्तु साधु-वेश नहीं।

(ग) एक साधक धर्म और वेश दोनों ही छोड़ देता है।

(घ) एक साधक न वेश को छोड़ता है और न धर्म को ही।

पुनः चार प्रकार के पुरुष हुआ करते हैं—

(क) कुछ साधक श्रुत एवं चारित्र धर्म को छोड़ देते हैं, किन्तु गण-मर्यादा नहीं।

(ख) कुछ साधक गण-मर्यादा को छोड़ देते हैं, किन्तु चारित्र-धर्म को नहीं।

(ग) कुछ साधक धर्म और गण-मर्यादा दोनों को ही छोड़ देते हैं।,

(घ) कुछ साधक न धर्म को छोड़ते हैं और न गण-मर्यादा को ही।

स्थविरों ने वर्तमान काल को लक्ष्य में रखकर गण की रक्षा एवं उन्नयन के लिए जो-जो नियमावलियां बनाई हैं, उन्हें गण-स्थिति या गण-मर्यादा कहते हैं। गच्छ की नियमावली निर्माण करते समय श्रुत और चारित्ररूप धर्म का ध्यान अवश्य रखा जाता है।

वृत्तिकार ने इस चतुर्भंगी को श्रुतधर्म-विषयक निरूपित किया है।[१]

पुनः धार्मिक दृढ़ता की दृष्टि से पुरुष के भेद—

(क) एक पुरुष प्रिय-धर्मी है, किन्तु दृढ़-धर्मी नहीं।

(ख) एक पुरुष दृढ़-धर्मी है, किन्तु प्रिय-धर्मी नहीं।

(ग) एक पुरुष प्रिय-धर्मी भी है और दृढ़-धर्मी भी।

(घ) एक पुरुष न प्रिय-धर्मी है और न दृढ़-धर्मी ही।

जो सुख दशा में धर्म का आराधक होता है वह प्रिय-धर्मा और जो प्राणान्त कष्ट आ जाने पर भी ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा को भंग नहीं करता, अपितु उस में दृढ़ रहता है, वह दृढ़धर्मा या दृढ़-धर्मी कहलाता है। जो सुख और दुःख दोनों अवस्थाओं में धर्म की आराधना करता है उसे प्रिय-धर्मा एवं दृढ़-धर्मा कहा जाता है। पौद्गलिक सुख को लक्ष्य में रखकर जो धर्म करता है वह प्रिय-धर्मा और संवर और निर्जरा को लक्ष्य में रखकर जो धर्म का उपार्जन करता है वह दृढ़धर्मा है। जो धर्म से सर्वथा विमुख है वह चौथे भंग का स्वामी है।

गुरु भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक प्रव्रजना-आचार्य होते हैं, उपस्थापना-आचार्य नहीं।

(ख) एक उपस्थापना-आचार्य होते हैं, प्रव्रजना-आचार्य नहीं।

(ग) कुछ प्रव्रजनाचार्य और उपस्थापनाचार्य दोनों ही होते हैं।

(घ) एक दोनों से ही रहित होते हैं।

दीक्षा देने वाले गुरु को प्रव्रजनाचार्य कहते हैं, छेदोपस्थापनीय चारित्र का आरोप करने वाले को उपस्थापनाचार्य कहा जाता है। जो इन पवित्र कार्यों में सिद्धहस्त हैं, ऐसे साधु को आचार्य या दीक्षा-गुरु भी कहा जाता है।

अध्ययन की दृष्टि से गुरु के भेद—

(क) कुछ उद्देशनाचार्य होते हैं, वाचनाचार्य नहीं।

(ख) कुछ वाचनाचार्य होते हैं, उद्देशनाचार्य नहीं।

(ग) कुछ उद्देशनाचार्य भी होते हैं, और वाचनाचार्य भी।

(घ) कुछ न उद्देशनाचार्य होते हैं और न वाचनाचार्य ही, केवल धर्माचार्य ही होते हैं।

अध्ययन के विषय में जो मार्ग-प्रदर्शक होते हैं, अथवा जो शिष्य को अंग आदि सूत्रों

---

१. "धर्मं त्यजत्येको जिनाज्ञारूपं न गणस्थितिं—स्वगच्छकृतां मर्यादाम्। इह कैश्चिदाचार्यैस्तीर्थकरानुपदेशेन संस्थितिः कृता, यथा—नास्माभिर्महाकल्पाद्यतिशयः श्रुतमन्यगणसत्कायदेयमिति, एवं च योऽन्यगणसत्काय न तद्दाविति, स धर्मं त्यजति न गणस्थितिं, जिनाज्ञाननुपालनात् तीर्थकरोपदेशो ह्येवं—सर्वेभ्यो योग्येभ्यः श्रुतं दातव्यमिति प्रथमो, यस्तु ददाति स द्वितीयः, यस्त्वयोग्येभ्यस्तद् ददाति स तृतीयःयस्तु श्रुताव्यवच्छेदार्थं तदव्यवच्छेदसमर्थस्य परशिष्यस्य स्वकीयदिग्बंध कृत्वा श्रुतं ददाति तेन न धर्मो नापिगणस्थितिस्त्यक्तेति, स चतुर्थ इति"।

के अध्ययन के योग्य बनाने वाले होते हैं, उन्हें उद्देशनाचार्य कहते हैं। जो शिष्यों को वाचना देते हैं, वे वाचनाचार्य माने जाते हैं। जिस के निश्राय में साधक शिष्य बनता है या जिसके द्वारा उसे धर्म बोध प्राप्त होता है, उसे धर्माचार्य कहते हैं।

चार प्रकार के अंतेवासी होते हैं—

(क) एक प्रव्रजन अंतेवासी होता है, उपस्थापना-अंतेवासी नहीं।

(ख) एक उपस्थापना-अन्तेवासी होता है, प्रव्रजन-अन्तेवासी नहीं।

(ग) एक प्रव्रजन-अंतेवासी भी होता है और उपस्थापना-अंतेवासी भी।

(घ) एक न प्रव्रजन अंतेवासी होता है और न उपस्थापना अंतेवासी।

जिस गुरु ने जिस शिष्य को दीक्षा दी है, वह शिष्य उस गुरु का प्रव्रजन-अंतेवासी माना जाता है। जिस गुरु ने जिस शिष्य पर छेदोपस्थापनीय चारित्र का आरोप किया है वह उसका उपस्थापना अंतेवासी है। कोई दोनों की अपेक्षा से अंतेवासी कहलाता है। जिस गुरु ने जिस शिष्य को प्रतिबोध दिया है अथवा जो शिष्य जिस गुरु के निश्राय में रह रहा है वह उस गुरु का धर्मान्तेवासी कहलाता है। अंतेवासी शब्द की व्युत्पत्ति वृत्तिकार ने निम्नलिखित की है—"**अंते—गुरोः समीपे वस्तुशीलमस्यान्तेवासी—शिष्यः.......धर्मान्तेवासी—धर्मप्रतिबोधनतः शिष्यः, धर्मार्थितयोपपन्नो वेत्यर्थः,**"—अर्थात् जो गुरु के समीप रहे या गुरु के मन में रहे वह अंतेवासी कहलाता है। जिसने जिसकी धर्मभावना को जगाया है और धर्म के अभिमुख किया है, वह उसका धर्म-अंतेवासी माना जाता है।

पुनः चार प्रकार के शिष्य होते हैं—

(क) एक उद्देशन-अंतेवासी होता है, वाचना-अंतेवासी नहीं।

(ख) एक वाचना-अंतेवासी होता है, उद्देशन-अंतेवासी नहीं।

(ग) एक उद्देशन और वाचना दोनों दृष्टियों से अंतेवासी है।

(घ) एक न उद्देशन-अंतेवासी है और न वाचना-अंतेवासी ही, वह केवल धर्मान्तेवासी होता है।

इसका भाव पूर्ववत् जानना, किन्तु जो इस चतुर्भङ्गी का चौथा भङ्ग है, उसमें धर्म-अंतेवासी गर्भित होता है। धर्म-अंतेवासी साधु-साध्वी, श्रावक या श्राविका कोई भी हो सकता है और इनमें कोई भी धर्म-गुरु हो सकता है। जिसने पहली बार शिष्य को धर्म के अभिमुख किया है, वह धर्म-गुरु और जिसको पहली बार धर्म की प्राप्ति हुई वह धर्म-अंतेवासी है।

सूत्र के इस पाठ में दीक्षा-गुरु, विद्यागुरु और धर्मगुरु का निर्देश किया गया है।

इसी प्रकार शिष्यों के भी अनेक रूप हैं—विद्या-शिष्य, धर्म-शिष्य और दीक्षा-शिष्य आदि।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में गुरु-शिष्य सम्बन्धों पर अनेक दृष्टियों से प्रकाश डाला गया है।

अनाराधक और आराधक के रूप

मूल—चत्तारि निग्गंथा पण्णत्ता, तं जहा—राइणिए समणे निग्गंथे महाकम्मे, महाकिरिए, अणायावी, असमिए धम्मस्स अणाराहए भवइ। राइणिए समणे निग्गंथे अप्पकम्मे, अप्पकिरिए, आयावी, समिए धम्मस्स आराहए भवइ। ओमराइणिए समणे निग्गंथे महाकम्मे, महाकिरिए, अणायावी, असमिए धम्मस्स अणाराहए भवइ। ओमराइणिए समणे निग्गंथे अप्पकम्मे, अप्पकिरिए, आयावी, समिए धम्मस्स आराहए भवइ।

चत्तारि णिग्गंथीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—राइणिया समणी निग्गंथी एवं चेव ०४।

चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा—राइणिए समणोवासए महाकम्मे तहेव ०४।

चत्तारि समणोवासियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—राइणिया समणोवासिया महाकम्मा तहेव चतारि गमा॥ १०१॥

छाया—चत्वारो निर्ग्रन्थाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—रात्निकः श्रमणो निर्ग्रन्थो महाकर्मा, महाक्रियः, अनातापी, असमितो धर्मस्यानाराधको भवति। रात्निकः श्रमणो निर्ग्रन्थोऽल्पकर्मा, अल्पक्रियः, आतापी, समितो धर्मस्याराधको भवति। अवमरात्निकः श्रमणो निर्ग्रन्थो महाकर्मा, महाक्रियः, अनातापी, असमितो धर्मस्यानाराधको भवति। अवमरात्निकः श्रमणो निर्ग्रन्थोऽल्पकर्मा, अल्पक्रियः, आतापी, समितो धर्मस्याराधको भवति।

चतस्रो निर्ग्रन्थ्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—रात्निका श्रमणी निर्ग्रन्थी एवं चैव ०४।

चत्वारः श्रमणोपासकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—रात्निकः श्रमणोपासको महाकर्मा तथैव ०४।

चतस्रः श्रमणोपासिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—रात्निकीः श्रमणोपासिका महाकर्मा तथैव चत्वारो गमाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के निर्ग्रन्थ प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—रात्निक अर्थात् ज्ञानादि द्वारा व्यवहार करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ, महाकर्मा, महाक्रिया करने वाला, आतापनादि न लेने वाला, पांच समितियों से रहित वह धर्म का अनाराधक होता है।

रात्निक श्रमण-निर्ग्रन्थ, अल्पकर्मा, अल्पक्रिया करने वाला, आतापना लेने वाला, पांच समितियों से समित धर्म का आराधक होता है। अवमरात्निक श्रमण निर्ग्रन्थ, महाकर्मा, महाक्रिया करने वाला, आतापनादि रहित और पांच समितियों से असमित, धर्म का आराधक नहीं होता। ज्ञानादि से व्यवहार करने वाला, श्रमण निर्ग्रन्थ अल्पकर्मा, अल्पक्रिया करने वाला, आतापना लेने वाला और समितियों से समित वह धर्म का आराधक होता है।

चार प्रकार की श्रमणी-निर्ग्रन्थी कही गई हैं, जैसे—ज्ञानादिरत्नत्रय से व्यवहार करने वाली आदि। श्रमणी निर्ग्रन्थी के भी निर्ग्रन्थ-श्रमण के समान ही चार रूप जानने चाहिएं।

चार प्रकार के श्रमणोपासक होते हैं, जैसे—रात्निक श्रमणोपासक महाकर्मा आदि पूर्ववत् जान लेने चाहिएं।

चार प्रकार की श्रमणोपासिकाएं होती हैं, जैसे—रात्निक श्रमणोपासिका महाकर्मा आदि, उसी प्रकार चारों रूपों की उद्भावना कर लेनी चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में आचार्य और शिष्यों के रूप प्रस्तुत किए गए हैं, अब सूत्रकार साधुवृत्ति धारण करने के अनन्तर साधना-सिद्धि को लक्ष्य में रखकर श्रमणों के जो रूप सामने आते हैं उनका तथा श्रावक-श्राविकाओं के साधना-मार्ग पर चलते हुए जो रूप होते हैं उनका दिग्दर्शन कराते हैं।

इस प्रकरण में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी, श्रमणोपासक और श्रमणोपासिका के दीक्षा-ग्रहण-काल एवं श्रावकवृत्ति धारण काल को लक्ष्य में रखकर ज्येष्ठ और कनिष्ठ की श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता का निर्देश किया गया है। सूत्रकार ज्येष्ठ को रात्निक और कनिष्ठ को अवमरात्निक कहते हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र को रत्नत्रय कहते हैं। जिस साधक को इन रत्नों का लाभ पहले हुआ है वह रात्निक और जिसको अन्य की अपेक्षा कुछ काल के अनन्तर रत्नत्रय का लाभ हुआ है, वह अवमरात्निक माना जाता है।

श्रमण निर्ग्रन्थों के चार रूप—

(क) कुछ रात्निक श्रमण-निर्ग्रन्थ ऐसे होते हैं जो रत्नत्रय के पालन की भावना से दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु वे जन्म-जन्मान्तरों तक भोगे जाने के योग्य कर्मों में बंधे हुए साधक जीवन के अनुरूप क्रियाओं एवं समितियों के पालन में असावधान रहते हैं और साधक-जीवन के कष्टों और बाधाओं को सहन नहीं करते, अतः वे चारित्र-धर्म का पालन सही रूप में नहीं कर पाते हैं।

(ख) दूसरे प्रकार के रात्निक श्रमण-निर्ग्रन्थ वे होते हैं जो रत्नत्रय के पालन की भावना से दीक्षित होते हैं और शीघ्र भोगे जाने के योग्य कर्मों की निर्जरा एवं क्षय करते हुए

साधक जीवन के अनुरूप क्रियाओं एवं समितियों का सावधानी से पालन करते हैं, अतएव चारित्र-धर्म के पालक होते हैं।

उपर्युक्त दोनों साधक वे हैं जिन्हें दीक्षाग्रहण किए हुए बहुत काल व्यतीत हो चुका है, अतएव वे दीक्षा की दृष्टि से ज्येष्ठ हैं। अब शास्त्रकार उन श्रमणों का परिचय देते हैं जिन्हें दीक्षा ग्रहण किए हुए कुछ ही समय व्यतीत हुआ है, अतएव दीक्षा-दृष्टि से जो छोटे हैं।

(ग) कुछ अवमरात्निक श्रमण ऐसे भी होते हैं जिन्होंने रत्नत्रय के पालन को लक्ष्य में रखकर दीक्षा ग्रहण की है, परन्तु अनेक जन्म-भोग्य कर्मों के भार से दबे होने के कारण तथा साधु-जीवन के योग्य क्रियाओं अर्थात् आचार का तथा समितियों का पालन नहीं कर सकने के कारण साधु-जीवन के कष्टों और बाधाओं को सहन नहीं करते हैं, अतः चारित्र-धर्म का समुचित पालन करने वाले नहीं होते हैं।

(घ) कुछ अवमरात्निक श्रमण ऐसे भी होते हैं जिन्होंने जीवन-मुक्ति प्राप्त करने के लिए एवं रत्नत्रय के पालन के उद्देश्य से कुछ समय-पूर्व ही दीक्षा ग्रहण की है, परन्तु भोग्य कर्मों की निशक्तता एवं अल्प प्रभावशीलता के कारण जो साधु-आचार का विधिवत् पालन करते हैं और समिति रूप माता की छत्रछाया में रहते हुए दृढ़ता-पूर्वक साधु-मार्ग के कष्टों एवं बाधाओं पर विजय प्राप्त करते हैं, अतएव चारित्रधर्म का पालन करने वाले हैं।

यद्यपि ''निर्ग्रन्थ'' कहने मात्र से निर्ग्रन्थियों अर्थात् श्रमणियों का बोध भी अनायास ही हो जाता है, क्योंकि लिंग-भेद साधना भेद में बाधक नहीं है, फिर भी शास्त्रकार ने स्पष्टता के लिए निर्ग्रन्थियों के भी श्रमण निर्ग्रन्थ के समान चारों रूप समझ लेने का निर्देश कर दिया है।

यहां तक पूर्व निर्दिष्ट गुरु-पद योग्य श्रमण-रूपों का विश्लेषण किया गया है। अब सूत्रकार शिष्य-पद-योग्य श्रमणोपासकों का भी निर्देश करते हैं कि श्रमणोपासक और श्रमणोपासिकाओं के भी श्रमण-जीवन एवं श्रमणी-जीवन के समान साधना की दृष्टि से चार रूप देखे जाते हैं—

(क) ऐसे श्रमणोपासक एवं श्रमणोपासिकाएं जिन्हें श्रावक-वृत्ति धारण किए पर्याप्त समय व्यतीत हो चुका है, परन्तु अभी तक वे अत्युत्कट कर्मभार के कारण श्रावक-जीवन के कष्टों को सहन न करते हुए आचार-विचार के प्रति उदासीन रहते हैं, अतः स्वधर्म-निष्ठ नहीं बन पाते।

(ख) कुछ ऐसे श्रावक-श्राविकाएं भी होते हैं जो श्रावक-वृत्ति को धारण करके अल्पकर्मी होने के कारण धर्म-क्षेत्र की बाधाओं को सहन करते हुए चरित्र-धर्म के पालन के प्रति सावधान रहते हैं।

इन दो वर्गों के श्रावक श्राविकाएं भी वे ही हैं जिन्हें श्रावक-वृत्ति ग्रहण किए हुए

पर्याप्त समय व्यतीत हो चुका है। जिन्हें श्रावकत्व ग्रहण किए हुए थोड़ा ही समय व्यतीत हुआ है उनके भी दो ही रूप हैं।

(ग) जिन्होंने कुछ दिन पूर्व ही रत्नत्रय की उपासना का व्रत लिया है, फिर भी दीर्घ-समय-भोग्य कर्मों के कारण बाधाओं को सहन न करके आचार की उपेक्षा करते रहते हैं।

(घ) चौथी श्रेणी में वे श्रावक-श्राविकाएं आते हैं जिन्हें श्रावक-वृत्ति धारण किए कुछ ही समय व्यतीत हुआ है, परन्तु जो अल्पकर्मी होने के कारण समितियों आदि का पालन एवं उपसर्गों को सहन करते हुए चारित्र-पालन के प्रति निष्ठावान् रहते हैं।

आत्म-निरीक्षण-प्रधान जैन-संस्कृति के अनुसार संघ के चारों अंगों के १६ रूपों को शास्त्रकार ने उपस्थित कर दिया है, अब साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका को स्वयं सोचना है कि मेरा कौन-सा रूप है, और मुझे क्या करना चाहिए।

चतुर्विध श्रमणोपासक

मूल—चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा—अम्मापिइसमाणे, भाइसमाणे, मित्तसमाणे, सवत्तिसमाणे।

चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा—अद्दागसमाणे, पडागसमाणे, खाणुसमाणे, खरकंटगसमाणे॥१०२॥

छाया—चत्वारः श्रमणोपासकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मातापितृसमानः, भ्रातृसमानः, मित्रसमानः, सपत्नीसमानः।

चत्वारः श्रमणोपासकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आदर्शसमानः, पताकासमानः, स्थाणुसमानः, खरकण्टकसमानः।

शब्दार्थ—चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के श्रमणोपासक होते हैं, जैसे, **अम्मापिइसमाणे**—माता-पिता के समान, **भाइसमाणे**—भ्राता के समान, **मित्तसमाणे**—मित्र के समान और, **सवत्तिसमाणे**—सपत्नी के समान।

चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के श्रमणोपासक और कहे गए हैं, जैसे, **अद्दागसमाणे**—दर्पण के समान, **पडागसमाणे**—पताका के समान, **खाणुसमाणे**—स्थाणु अर्थात् स्तम्भ के समान और, **खरकंटगसमाणे**—तीक्ष्ण कांटे के समान।

मूलार्थ—चार प्रकार के श्रमणोपासक प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—कुछ श्रमणोपासक माता-पिता के समान होते हैं, कुछ श्रमणोपासक भाई के समान हुआ करते हैं, कुछ मित्र के समान और कुछ सपत्नी अर्थात् सौत के समान भी हुआ करते हैं।

चार प्रकार के श्रमणोपासक और भी कहे गए हैं, जैसे—१. एक श्रावक आदर्श के समान शुद्ध हृदय वाले श्रुत उपदेश को ग्रहण करने वाले, एक श्रमणोपासक पताका के समान अस्थिर चित्त वाले, एक श्रमणोपासक स्थाणु अर्थात् स्तम्भ अथवा ठूंठ के तुल्य हुआ करते हैं और कुछ श्रमणोपासक तीक्ष्ण कांटे के समान दुर्वचन रूप कांटों से पीड़ा पहुंचाने वाले होते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र के अन्तिम चरण में श्रमणोपासकों के जीवन-रूपों पर प्रकाश डाला गया है, प्रस्तुत सूत्र में पुनः श्रमणोपासकों के जीवन रूपों की व्याख्या सूत्रकार ने उपस्थित की है।

जो व्यक्ति आत्मलक्ष्य की प्राप्ति के लिए श्रमणों की ही उपासना करते हैं और श्रमणश्रेष्ठों द्वारा धर्म-मार्ग का ज्ञान प्राप्त कर उस पर अग्रसर होने का यत्न करते हैं उन्हें श्रमणोपासक कहा जाता है। गुण और प्रकृति के अनुसार श्रमणोपासकों के चार भेद कथन किए गए हैं।

(१) जो श्रावक बिना किसी भेदभाव के विनयपूर्वक परमार्थ बुद्धि से श्रमणों की सेवाभक्ति करते हैं, उन्हें संयम-मार्ग पर बढने के लिए आवश्यक सहायता देते हैं, उनकी वीतरागता को प्रोत्साहित करते हैं, ऐसे श्रावकों को शास्त्रकार माता-पिता तुल्य श्रावक मानते हैं।

(२) जो श्रावक साधुओं से प्रेम तो रखते हैं, किन्तु तत्त्व-विचार की वेला में कुछ कठोर वचनों का भी प्रयोग कर देते हैं और समय आने पर अतीव वात्सल्य भी प्रकट करते हैं वे श्रमणोपासक भाई के समान होते हैं।

(३) जो कष्ट के समय सन्तों के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं, उनके संयम-मार्ग में तथा तप-साधना में उनके द्वारा होने वाले ज्ञान के प्रकाश में एवं संथारे आदि में सहायक होते हैं, वे श्रमणोपासक मित्र के समान होते हैं। ऐसे श्रमणोपासक मित्र की तरह दोषों का आच्छादन करने वाले तथा गुणों का प्रकाश करने वाले होते हैं।

(४) जो सन्तों एवं सधर्मियों के गुणों को न देख कर केवल उनके दोष ही देखते रहते हैं, उन्हें हानि पहुंचाने के प्रयत्न में रहते हैं, उनकी, निंदा-चुगली करने वाले, छिन्द्रान्वेषी, अंट-संट बोलने वाले, ईर्ष्या द्वेष में संलग्न रहने वाले हैं वे श्रमणोपासक सौत के सदृश होते हैं। श्रमणोपासक के इन चार रूपों के द्वारा सूत्रकार ने अप्रत्यक्ष रूप से श्रावकों को सन्तों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए इस कर्त्तव्य का निर्देश किया है। इन चार रूपों में ऐसी उपमाएं प्रस्तुत की गई हैं जिनके द्वारा पूर्व-पूर्व की श्रेष्ठता और उत्तर-उत्तर की हीनता स्वतः आभासित हो जाती है।

एक अन्य रूप में —चार प्रकार के श्रमणोपासक

अब आगमकार ने श्रमणोपासकों को चार उपमाओं से उपमित करके उनके स्वभाव

का विश्लेषण किया है। जब किसी उपमान से उपमेय की तुलना की जाती है तब उपमेय और उपमान में समानरूप से रहने वाले गुण का आभास पाठक को स्वत: ही हो जाता है। यह अभिव्यक्ति की सरलतम शैली है, अत: सूत्रकार इसी सरल शैली में श्रावक-स्वभाव का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए उसके चार रूप प्रस्तुत करते हैं—

१. **दर्पण-समान श्रावक**—जैसे दर्पण समीपस्थ पदार्थों का प्रतिबिम्ब स्पष्ट ग्रहण करता है वैसे ही जो श्रावक सन्तों के द्वारा उपदिष्ट स्वसमय, परसमय, उत्सर्ग-अपवाद, जिनकल्प, स्थविरकल्प, उपदेश, शिक्षा-सिद्धान्त संबंधी भावों को यथार्थ रूप से ग्रहण करता है, वह श्रावक दर्पण के तुल्य होता है।

२. **पताका-समान श्रावक**—पताका चञ्चल होती है और वह जिस दिशा की ओर वायु चलती है उसी ओर फहराने लग जाती है, वैसे ही जो श्रावक जैसी देशना सुनता है उसी की ओर झुक जाता है। जिसकी श्रद्धा एवं विचार-धारा चंचल एवं अस्थिर है, वह श्रावक पताका के तुल्य होता है। ऐसे ही श्रावकों के लिए ''गंगा गए तो गंगादास, जमना गए तो जमनादास कहा जाता है''।

३. **खाणु-समान श्रावक**—'खाणु' शब्द के तीन अर्थ हैं—स्तम्भ, खूंटा और ठूंठ। हो सकता है शास्त्रकार ने तीनों अर्थों को लक्ष्य में रखकर ही श्रावक को खाणु-सदृश कहा हो।

(i) **स्तम्भ-सदृश**—स्तम्भ को स्थापत्य-कला में 'आधार-भूत सुन्दर तत्व' कहा जाता है, क्योंकि छोटी-सी झोंपड़ी से लेकर विशाल प्रासाद तक में ऊपरी मंजिलों के 'आधार' स्तम्भ ही हुआ करते हैं। इसी प्रकार जिन-संस्कृति रूप भवन के स्थायित्व में पूर्ण योग देने वाले श्रावक 'स्थाणु-सदृश श्रावक' कहला सकते हैं।

'खाणु' अपनी दृढता के लिए भी तो प्रसिद्ध है। अशोक कालीन स्तम्भ शताब्दियों से आँधियों तूफानों और भूचालों की चुनौतियों को विफल बनाते हुए अपने गौरवान्वित सिर को ऊंचा उठाए खड़े हैं। इसी प्रकार जो श्रावक मत-मतान्तरों की चुनौतियों को विफल बनाते हुए अपनी धार्मिक दृढ़ता के बल पर संस्कृति के सिर को गौरव से ऊंचा उठाए रखते हैं वे श्रावक भी 'खाणु-सम-श्रावक' कहलाते हैं।

स्तम्भकला अपने सौन्दर्य के लिए भी प्रसिद्ध है। बहुस्तम्भी भवन आज भी दर्शकों की सौंदर्य पिपासा को शान्त करते रहते हैं। अपनी सच्चरित्रता, दानशीलता, संयम-निष्ठा, सर्वभूत-हितेच्छा और संयम-निष्ठ-सेवा से जिन-संस्कृति के सौन्दर्य का संवर्धन करने वाले श्रावक भी तो 'खाणु-समान श्रावक' ही कहे जाएंगे।

'खाणु' जड भी है, हो सकता है संयमी महापुरुषों के उपदेशों का प्रभाव जिस पर न पडता हो, ऐसे जड़-बुद्धि श्रावक को भी स्थाणु समान श्रावक कहा गया हो, परन्तु पूर्व प्रदर्शित अभिप्राय ही अधिक उपर्युक्त प्रतीत होते हैं।

(ii) खूंटे के सदृश श्रावक—खूंटे की उपयोगिता वैविध्य पूर्ण है। हो सकता है उसी वैविध्य को लक्ष्य में रख कर श्रावक को खूंटे के समान कहा गया हो, जैसे कि—

(क) खूंटे के साथ बंधा हुआ पशु नियन्त्रित रहता है, पराए खेत नहीं चरता, पास आने वाले को मार नहीं सकता, इसी प्रकार मन रूपी पशु को नियन्त्रित रखने वाला श्रावक खूंटे के सदृश ही तो कहलाएगा।

(ख) खूंटे गाड़े जाते हैं और उनके साथ बंधी रस्सियों के सहारे बड़े-बड़े खेमे टिके रहते हैं। इसी प्रकार श्रमण-संस्कृति के विशाल खेमे को ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की रस्सियों के सहारे स्थिर रखने वाले श्रावक भी खूंटे जैसे ही हो सकते हैं।

(ग) सीमा प्रदर्शित करने के लिए सीमा-सूचक खूंटे गाड़ने की प्रथा आज भी विद्यमान है। इसी प्रकार सांस्कृतिक मर्यादाओं के साकार रूप श्रावक भी तो खूंटे के ही समान कहे जा सकते हैं जो सांस्कृतिक सीमाओं की रक्षा करते हैं।

(घ) जिस स्थान पर बहुत अधिक खूंटे गड़े हुए हों वहां चलने वाले यात्री को खूंटे सावधान होकर चलने के लिए बाध्य भी कर देते हैं, इसी प्रकार जो श्रावक जीवन-पथ पर चलकर धर्मलक्ष्य की ओर बढ़ने वाले साधकों को सावधान करते रहते हैं, उनको **'मा पमाए'** का प्रभु-सन्देश सुनाते रहते हैं वे श्रावक भी खूंटे के समान कहला सकते हैं।

(ङ) हो सकता है खूंटे के समान जड़ता पूर्ण निष्क्रिय जीवन जीने वालों की ओर भी शास्त्रकार ने इस विशेषण द्वारा संकेत किया हो।

(iii) ठूंठ-सदृश—ठूंठ सूखा वृक्ष है, यह वृक्ष होते हुए भी वृक्ष नहीं, फलों से रहित, पत्रों से रहित, पुष्पों से हीन, रस से वंचित केवल गीधों एवं चीलों से सेवित ठूंठ वृक्ष कहलाने की योग्यता खो देता है। इसी प्रकार सेवाभाव से रहित, साधनामय जीवन से हीन, धर्म-रस से वंचित, दुष्टजनों से सेवित व्यक्ति श्रावक कुल में उत्पन्न होने के नाते श्रावक होते हुए भी इतना ही श्रावक होता है जैसे ठूठ। ऐसे श्रावक को ही 'खाणु-श्रावक' कहा जा सकता है।

४. खर-कंटक समान श्रमणोपासक—१. जैसे कठोर कांटा फंसे हुए वस्त्र को फाड़ता है और साथ ही छुड़ाने वाले पुरुष के हाथों में चुभ कर उसे दुःखित करता है, वैसे ही जो श्रमणोपासक, समझाने वाले को भी कठोर वचनों से दुःखित करते हैं, जिनके वचन ही तीक्ष्ण कांटे हैं, वे कभी-कभी दूसरों के पर्दे फाश भी कर देते हैं, वे खर-कंटक के समान होते हैं।

२. जैसे कठोर कांटों से लगी हुई बाड़ से खेती की रक्षा होती है, खेती नष्ट करने वालों का उसमें प्रवेश नहीं हो सकता, वैसे ही जो श्रमणोपासक चतुर्विध श्री संघ पर होने वाले मिथ्यादृष्टियों के आक्रमण को रोकते हैं, चतुर्विध श्रीसंघ को किसी भी प्रकार से हानि नहीं पहुंचाने देते, वे भी खर-कंटक के समान होते हैं।

३. जैसे कठोर और तीक्ष्ण कांटा, चुभे हुए दूसरे कांटों को भी निकाल देता है, उसी प्रकार जो श्रमणोपासक दूसरों के जीवन से माया-शल्य, निदान-शल्य तथा मिथ्यादर्शन-शल्य निकालते हैं, वे भी खरकंटक के समान होते हैं।

४. जैसे यत्नशील को कांटा नहीं चुभता अयत्नशील को ही कांटा बुरी तरह चुभता है, उसी प्रकार कई एक श्रमणोपासक, उग्रविहारी साधुओं के लिए नहीं, बल्कि शिथिलाचारी श्रमण-वर्ग तथा श्रावक-वर्ग के लिए खरकंटक के समान बने हुए हैं, जो कि कठोर वचन बोलकर ही दूसरों को सावधान करते हैं, मधुरता और नम्रता से नहीं, वे श्रावक भी खरकंटक ही कहलाते हैं।

श्रमणोपासकों की अरुणाभ विमान में स्थिति

मूल—समणस्स णं भगवओ महावीरस्स समणोवासगाणं सोहम्मकप्पे अरुणाभे विमाणे चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता॥ १०३॥

छाया—श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य श्रमणोपासकानां सौधर्मकल्पेऽरुणाभे विमाने चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

शब्दार्थ—समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के, **समणोवासगाणं**—श्रमणोपासकों की, **सोहम्मकप्पे**—सौधर्मकल्प देवलोक में, **अरुणाभे विमाणे**—अरुणाभ विमान में, **चत्तारि पलिओवमाइं**—चार पल्योपम की, **ठिई पण्णत्ता**—स्थिति प्रतिपादन की गई है।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर के आनन्दादि श्रमणोपासकों की सौधर्म देवलोक के अरुणाभ नामक विमान में चार पल्योपम की स्थिति कही गई है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में श्रमणोपासकों का परिचय दिया गया है, अब उनकी देवलोक-स्थिति का वर्णन किया जाता है। श्रमण भगवान् महावीर के जो श्रमणोपासक देशविरति की आराधना करके सौधर्म देवलोक के अरुणाभ विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए हैं, उनकी स्थिति चार पल्योपम प्रमाण है। महावीर के तीर्थ में एक लाख, उनसठ हजार बारहव्रती श्रमणोपासक हुए हैं, उनमें अधिकतर अरुणाभ विमान में उत्पन्न हुए हैं। उस विमान में धर्म के आराधक ही उत्पन्न हो सकते हैं, विराधक नहीं। श्रावक का सौधर्म देवलोक में उत्पन्न होना और वह भी देवत्व के रूप में, इससे यह सिद्ध होता है कि वे सभी श्रावक धर्म के आराधक हुए हैं। उपलक्षण से श्रमणोपासिकाएं भी अरुणाभ विमान में देव रूप में उत्पन्न हुई न कि देवियों के रूप में। भगवान के शासन में या उनके युग में तथा उनकी प्रतिबोधी हुईं श्रमणोपासिकाएं तीन लाख, अट्ठारह हजार हुईं। उनमें जो जो आराधिकाएं हुईं वे भी अधिकतर अरुणाभ विमान में देवत्व रूप में उत्पन्न हुईं और कुछ श्राविकाएं अरुणगव आदि विमानों में भी उत्पन्न हुईं।

देव-अनागमन-आगमन-कारण

मूल—चउहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए, तं जहा—

१. अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए, गिद्धे, गढिए, अज्झोववन्ने। से णं माणुस्सए कामभोगे नो आढाइ, नो परियाणाइ, णो अट्ठं बंधइ, णो णियाणं पगरेइ, णो ठिइप्पगप्पं पगरेइ।

२. अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए ०४। तस्स णं माणुस्सए पेमे वोच्छिन्ने, दिव्वे संकंते भवइ।

३. अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए ०४। तस्स णं एवं भवइ—इण्हिं गच्छं, मुहुत्तं गच्छं, तेणं कालेणमप्पाउया मणुस्सा कालधम्मुणा संजुत्ता भवंति।

४. अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए ०४। तस्स णं माणुस्सए गंधे पडिकूले, पडिलोमे यावि भवइ। उड्ढंपि य णं माणुस्सए गंधे जाव चत्तारि पंच जोयणसयाइं हव्वमागच्छइ ४।

इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं अहुणोववण्णे देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए।

चउहिं ठाणेहिं अहुणोववण्णे देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छित्तए, संचाएइ हव्वमागच्छित्तए, तं जहा—

१. अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु अमुच्छिए जाव अणज्झोववन्ने। तस्स णं एवं भवइ—अत्थि खलु मम माणुस्सए भवे आयरिएइ वा, उवज्झाएइ वा, पवत्तीइ वा, थेरेइ वा, गणीइ वा, गणधरेइ वा, गणावच्छेएइ वा, जेसिं पभावेणं मए इमा, एयारूवा दिव्वा देविड्ढी, दिव्वा देवजुई लद्धा, पत्ता, अभिसमन्नागया। तं गच्छामि णं ते भगवंते वंदामि जाव पज्जुवासामि।

२. अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु जाव अणज्झोववन्ने। तस्स णमेवं भवइ—एस णं माणुस्सए भवे णाणीइ वा, तवस्सीइ वा, अइदुक्कर-अइदुक्करकारए। तं गच्छामि णं ते भगवंते वंदामि जाव पज्जुवासामि।

३. अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु जाव अणज्झोववन्ने। तस्स णमेवं भवइ—अत्थि णं मम माणुस्सए भवे मायाइ वा, जाव सुण्हाइ वा। तं गच्छामि णं तेसिमंतियं पाउब्भवामि, पासंतु ता मे इमेयारूवं दिव्वं देविड्ढिं, दिव्वं देवजुतिं लद्धं, पत्तं अभिसमन्नागतं।

४. अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु जाव अणज्झोववन्ने। तस्स णमेवं भवइ—अत्थि णं मम माणुस्सए भवे मित्तेइ वा, सहीइ वा, सुहीइ वा, सहाएइ वा, संगएइ वा, तेसिं च णं अम्हे अन्नमन्नस्स संगारे पडिस्सुए भवइ "जो मे पुव्विं चयइ से संबोहियव्वे"।

इच्चेएहिं जाव संचाएइ हव्वमागच्छित्तए॥१०४॥

छाया—चतुर्भिः स्थानैः अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु इच्छति मानुष्यं लोकं शीघ्रमागन्तुं, नो चैव शक्नोति शीघ्रमागन्तुम्, तद्यथा—

१. अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु, दिव्येषु कामभोगेषु मूर्च्छितः, गृद्धः, ग्रथितः, अध्युपपन्नः। स मानुष्यकान् कामभोगान् नो आद्रियते, नो परिजानाति, नो अर्थं बध्नाति, नो निदानं प्रकरोति, नो स्थितिप्रकल्पं प्रकरोति।

२. अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु दिव्येषु कामभोगेषु मूर्च्छितः ४। तस्य मानुष्यकं प्रेम व्युच्छिन्नं, दिव्यं संक्रान्तं भवति।

३. अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु, दिव्येषु कामभोगेषु मूर्च्छितः ४। तस्य एवं भवति—इदानीं गमिष्यामि, मुहूर्त्तेन गमिष्यामि, तस्मिन् कालेऽल्पायुष्का मनुष्याः कालधर्मेण संयुक्ता भवन्ति।

४. अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु, दिव्येषु कामभोगेषु मूर्च्छितः ०४। तस्य मानुष्यको गन्धो प्रतिकूलः, प्रतिलोमश्चापि भवति। ऊर्ध्वमपि च मानुष्यको गन्धो यावत् चत्वारि पञ्च योजनशतानि शीघ्रमागच्छति ०४।

इत्येतैश्चतुर्भिः स्थानैः अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु इच्छति मानुष्यकं लोकं शीघ्रमागन्तुं नो चैव शक्नोति शीघ्रमागन्तुम्।

चतुर्भिः स्थानैः अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु इच्छति मानुष्यकं लोकं शीघ्रमागन्तुं, शक्नोति शीघ्रमागन्तुम्, तद्यथा—

१. अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु, दिव्येषु कामभोगेषु अमूर्च्छितो यावत् अनध्युपपन्नः। तस्य खलु एवं भवति—अस्ति खलु मम मानुष्यके भवे—आचार्य इति वा, उपाध्याय इति वा, प्रवर्त्ती इति वा, स्थविर इति वा, गणीति वा, गणधर इति वा, गणावच्छेदक इति वा, येषां प्रभावेण मया इयमेतद्रूपा दिव्या देवर्द्धिः, दिव्या देवद्युतिः लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता। तद् गच्छामि तान् भगवतो वन्दे, यावत् पर्युपासे।

२. अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु यावद् अनध्युपपन्नः। तस्य एवं भवति—एष मानुष्यके भवे ज्ञानीति वा, तपस्वीति वा, अतिदुष्कर-अतिदुष्करकारकः तद्गच्छामि तान् भगवतो वन्दे, यावत् पर्युपासे।

३. अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु यावद् अनध्युपपन्नः। तस्य एवं भवति—अस्ति मम मानुष्यके भवे मातेति वा यावत् स्नुषेति वा। तद्गच्छामि, तेषामन्तिकं प्रादुर्भवामि, पश्यन्तु तावत् मे इमामेतद्रूपां दिव्यां देवर्द्धिं, दिव्यां देवद्युतिं लब्धां, प्राप्ताम्, अभिसमन्वागताम्।

४. अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु यावद् अनध्युपपन्नः। तस्य एवं भवति—अस्ति मम मानुष्यके भवे मित्रमिति वा, सखेति वा, सुहृदिति वा, सहाय इति वा, सांगतिक इति वा, तेषां च अस्माभिः अन्योऽन्यं संगारः (संकेतः) प्रतिश्रुतो भवति—"योऽस्माकं पूर्वं च्यवते, स सम्बोधयितव्यः"।

इत्येतैर्यावत् शक्नोति शीघ्रमागन्तुम्।

शब्दार्थ—चउहिं ठाणेहिं—चार स्थानों से, **अहुणोववन्ने देवे**—तत्काल-उत्पन्न देव, **देवलोएसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए**—देवलोकों में इच्छा करता है कि मनुष्यलोक में शीघ्र (आऊं) आने के लिए, परन्तु, **णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए**—शीघ्र आने के लिए समर्थ नहीं होता, **तं जहा**—जैसे, **अहुणोववन्ने देवे**—तत्काल का उत्पन्न देव, **देवलोएसु**—देवलोक में, **दिव्वेसु कामभोगेसु**—स्वर्ग सम्बन्धी कामभोगों में, **मूच्छिए**—मूर्च्छित, **गिद्धे**—आकांक्षा वाला, **गढिए**—विषयात्मक रस्सी से बन्धा हुआ, **अज्झोववन्ने**—अत्यन्त तन्मय होता है, **से णं**—वह, **माणुस्सए कामभोगे**—मनुष्य सम्बन्धी काम भोगों को, **नो आढाइ**—आदर नहीं देता, **नो परियाणाइ**—उन्हें वास्तविक रूप नहीं मानता, **णो अट्ठं बंधइ**—उनसे उसका प्रयोजन नहीं होता, **णो णियाणं पगरेइ**—न उनकी प्राप्ति की इच्छा करता है, **णो ठिइपगप्पं पगरेइ**—ये काम भोग मेरे पास स्थिर रहें, ऐसी भी इच्छा नहीं रखता।

अहुणोववन्ने देवे—अधुना उत्पन्न देव, **देवलोएसु कामभोगेसु मुच्छिए**—देवलोकों के दिव्य काम भोगों में मूर्च्छित के समान, **तस्स णं**—उसका, **माणुस्सए पेमे**—मनुष्य सम्बन्धि प्रेम, **वोच्छिन्ने**—व्यवच्छेद हो जाता है, और, **दिव्वे संकंते भवइ**—दिव्य सुख में प्रेम प्रविष्ट हो जाता है।

अहुणोववन्ने देवे दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए—तत्कालीन उत्पन्न देव दिव्य कामभोगों में मूर्च्छित समान होता है, **तस्स णं एवं भवइ**—उसके ऐसा विचार पैदा होता है, **इण्हं गच्छं, मुहुत्तं गच्छं**—मैं अभी जाता हूँ मुहूर्त में जाता हूं, **तेणं कालेणमप्पाउया मणुस्सा**—उतने समय में अल्प आयुष्क मनुष्य, **कालधम्मुणा**—काल धर्म से, **संजुत्ता भवंति**—संयुक्त हो जाते हैं।

अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु—तत्काल का उत्पन्न देव देवलोकों में, **दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए**—दिव्य काम-भोगों में मूर्च्छित होने से, **तस्स णं माणुस्सए गंधे**—उसे मनुष्य लोक की गन्ध, **पडिकूले**—प्रतिकूल होती है, **पडिलोमे यावि भवइ**—तथा इन्द्रिय और मन को दुःखदायी होती है, **माणुस्सए गंधे**—मनुष्य लोक की गन्ध, **उड्ढंपि य णं**—और ऊपर, **जाव चत्तारि पंच जोयणसयाइं हव्वमागच्छइ**—यावत् चार-पांच सौ योजन जाती है।

इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं—इन चार स्थानों से, **अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु**—तत्काल का उत्पन्न देव देवलोक में, **इच्छेज्जा**—चाहता है कि मैं, **माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छित्तए**—मनुष्य लोक में शीघ्र जाऊं, परन्तु, **णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए**—शीघ्र जाने में समर्थ नहीं होता।

चउहिं ठाणेहिं—चार कारणों से, **अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छित्तए**—तत्काल का उत्पन्न देव देवलोक में चाहता है कि मैं मनुष्य लोक में शीघ्र जाऊं और वह, **संचाएइ हव्वमागच्छित्तए**—शीघ्र आ सकता है, **तं जहा**—यथा, **अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु**—तत्काल का उत्पन्न देव देवलोक में दिव्य काम-भोगों में, **अमुच्छिए जाव अणज्झोववन्ने**—अमूर्च्छित यावत् अत्यन्त तन्मय न होता हुआ, **तस्स णं एवं भवइ**—उसके मन में ऐसा विचार होता है, **माणुस्सए भवे**—मनुष्य भव में, **मम**—मेरे, **आयरिएइ वा**—आचार्य, **उवज्झाएइ वा**—अथवा उपाध्याय, **पवत्तीइ वा**—प्रवर्तक, संयम में प्रवृत्ति कराने वाला, **थेरेइ वा**—अथवा स्थविर, **गणीइ वा**—अथवा गणी, **गणधरेइ वा**—अथवा गणधर, **गणावच्छेएइ वा अत्थि**—अथवा गणावच्छेदक है, **जेसिं पभावेणं**—जिनके प्रभाव से, **मए इमा**—मैंने यह प्रत्यक्ष रूप, **एयारूवा**—इस प्रकार की, **दिव्वा देविड्ढी**—देव सम्बन्धी देव-ऋद्धि, **दिव्वा देवजुई**—दिव्य देवद्युति का, **लद्धा**—लाभ किया, **पत्ता**—जन्मान्तर में उपार्जित, वर्तमान में प्राप्त हुई, और, **अभिसमन्नागया**—भोग्य रूप बनी। **तं गच्छामि णं**—इसलिए मैं जाता हूं और, **ते भगवंते**—उन भगवन्तों को वन्दना करता हूं, **जाव पज्जुवासामि**—यावत् उनकी उपासना करता हूं।

अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु जाव अणज्झोववन्ने—तत्काल का उत्पन्न देव देवलोकों में यावत् अनासक्त। **तस्स णमेवं भवइ**—उसके ऐसा विचार होता है, **एस णं माणुस्सए भवे णाणीइ वा**—मनुष्य भव में ज्ञानी अथवा, **तवस्सीइ वा**—अथवा तपस्वी, **अइदुक्कर-दुक्करकारए**—अथवा जो अति दुष्कर-दुष्कर करणी करने वाले हैं। **तं गच्छामि णं**—तो मैं जाता हूं, और, **ते भगवंते वंदामि जाव पज्जुवासामि**—उन भगवन्तों को वन्दना करता हूं और यावत् उनकी उपासना करता हूं।

अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु जाव अणज्झोववन्ने—तत्काल में उत्पन्न देव देवलोक में यावत् अनासक्त होने से, **तस्स णमेवं भवइ**—उसे ऐसा भाव पैदा होता है, **मम माणुस्सए भवे मायाइ वा**—मनुष्य भव में मेरे माता अथवा, **जाव सुण्हाइ वा**—यावत् पुत्रवधू,

अत्थि—हैं, **तं गच्छामि णं**—तो मैं जाता हूँ, और, **तेसिमंतियं पाउब्भवामि**—उनके पास प्रकट होता हूँ कि, **मे इमेयारूवं**—आप मेरी इस प्रकार की, **दिव्वं देविड्ढिं, दिव्वं देवजुइं**—दिव्य देवर्द्धि, दिव्य देवद्युति जो, **लद्धं, पत्तं अभिसमन्नागतं**—लाभ हुई, जन्मान्तर में उपार्जित, वर्तमान में प्राप्त हुई तथा भोग रूप में सामने आई, **पासंतु ता**—उसे देखो।

अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु जाव अणज्झोववन्ने—तत्काल का उत्पन्न देव देवलोकों में यावत् अनासक्त होता है। **तस्स णमेवं भवइ**—उसे यह विचार पैदा होता है, **माणुस्सए भवे**—मनुष्य भव में, **मम**—मेरे, **मित्तएइ वा**—मित्र अथवा, **सहीइ वा**—अथवा सखा, **सुही वा**—अथवा सुहृद, **सहाएइ वा**—अथवा सहचर, **संगएइ वा**—अथवा परिचित, **अत्थि णं**—हैं, **तेसिं च णं अम्हे**—और उनका हमारे साथ, **अन्नमन्नस्स**—परस्पर, **संगारे पडिसुए भवइ**—संकेत किया हुआ है, **जो मे पुव्विं**—जो हम में से पहिले, **चयइ**—च्यव जाएगा, **स संबोहेयव्वे**—उसे संबोध कराना चाहिए। **इच्चेएहिं जाव संचाएइ हव्वमागच्छित्तए**—इन कारणों से देव शीघ्र आने में समर्थ होता है।

मूलार्थ—देवलोक में तत्काल ही उत्पन्न देव चार कारणों से मनुष्य-लोक में शीघ्र आने की इच्छा रखता हुआ भी आ नहीं सकता। वे चार कारण इस प्रकार हैं—

१. देवलोक में तात्कालिक-उत्पन्न देव, देव संबन्धी काम-भोगों से मूर्च्छित मोहासक्त हो जाता है, तब उन्हीं काम-भोगों की आकांक्षा में लीन रहने लगता है। काम-भोग रूप पाशों में बन्धकर उन्हीं में अत्यन्त तन्मय हो जाता है। तब वह मनुष्य के काम-भोगों में आदर नहीं रखता, उनको वास्तविक रूप से सुखकारक नहीं मानता तथा उनसे उसका कुछ भी प्रयोजन नहीं रह जाता है। ये काम-भोग मुझे प्राप्त हों, यह इच्छा भी उसे नहीं रहती। ये काम-भोग मेरे पास स्थिर रूप से बने रहें, यह इच्छा भी उसके हृदय में उत्पन्न नहीं होती।

२. देवलोक में तात्कालिक उत्पन्न देव दिव्य काम-भोगों में मूर्च्छित के समान हो जाता है। इत्यादि कारणों से उसका मनुष्य सम्बन्धी प्रेम-आकर्षण टूट जाता है और दैविक प्रेम उसके हृदय में संक्रमित हो जाता है।

३. देवलोक में तात्कालिक उत्पन्न देव दिव्य काम-भोगों में मूर्च्छित हो जाता है। तब उसके हृदय में यह विचार उत्पन्न होता है कि मैं मनुष्य लोक में अभी जाता हूं, मुहूर्त्त में जाता हूं, परन्तु इतने समय में अल्पायु वाले मनुष्य काल-धर्म को प्राप्त हो जाते हैं।

४. देवलोक में तत्कालोत्पन्न देव दिव्य काम-भोगों में मूर्च्छित हो जाता है। उसे मनुष्य लोक का गन्ध देवलोक के गन्ध से विपरीत, एवं इन्द्रियों तथा मन को आनन्दित करने वाला नहीं जान पड़ता। मनुष्य-लोक का गन्ध चार-पांच सौ योजन

तक ऊंचा जाता है। इन चार कारणों से देवलोक में तात्कालिक उत्पन्न देव मनुष्य लोक में आने का इच्छुक होता हुआ भी नहीं आ सकता।

देवलोक में तात्कालिक उत्पन्न देव चार कारणों से मनुष्य लोक में आने की इच्छा रखता है और वह शीघ्र आ भी सकता है। वे चार कारण निम्नलिखित हैं—

१. देवलोक में तात्कालिक उत्पन्न देव दैविक काम-भोगों में मूर्च्छित, उनका इच्छुक एवं उनमें तन्मय नहीं होता। उसके हृदय में यह विचार पैदा होता है कि मनुष्य भव में मेरे आचार्य, उपाध्याय और संयम-मार्ग में प्रवृत्ति कराने वाले प्रवर्त्तक हैं। संयम-योगों में स्थिर करने वाले स्थविर और गण के अधिपति गणी हैं, गण-धर हैं। जिनके प्रभाव से मैंने यह दिव्य देव-ऋद्धि, दिव्य देव-कान्ति प्राप्त की है, जन्मांतर में उपार्जित की और वर्तमान में भोग्य रूप से मुझे प्राप्त हुई है। इसलिए मैं उन भगवन्तों को वन्दना करने एवं उनकी पर्युपासना, सेवा आदि करने के लिए जाता हूँ।

२. देवलोक में तात्कालिक उत्पन्न देव जो कि देवभोगों में मूर्च्छित, उनका अभिलाषी एवं आसक्त नहीं होता, वह देव विचारता है—कि मनुष्य-भव में मुझ पर उपकार करने वाले ज्ञानी हैं, अतिदुष्कर तपस्या करने वाले तपस्वी हैं, अतः मै उन भगवन्तों की वन्दना, उनकी पर्युपासना, सेवा आदि के लिए जाता हूँ।

३. जब देवलोक में तात्कालिक उत्पन्न देव देवभोगों में मूर्च्छित, आसक्त एव तन्मय नहीं होता, तब वह यह विचार करता है कि मनुष्य-भव सम्बन्धी मेरी माता है, पुत्रवधू आदि है, अतः मैं मनुष्य-लोक में जाता हूं और उनके समीप प्रकट होता हूँ, ताकि वे मेरी इस प्रकार की दिव्य देव-ऋद्धि, दिव्य देवद्युति को जो मैंने जन्मान्तर में उपार्जन की और यहां प्राप्त हुई तथा मेरे उपभोग में आ रही है, वे भी उसे देख ले।

४. जब देवलोक में तात्कालिक उत्पन्न देव मूर्च्छित एवं तन्मय नहीं होता, तब उसके हृदय में यह विचार उत्पन्न होते हैं—कि मनुष्य भव में मेरे मित्र हैं, सखा हैं, हितैषी हैं, सहायक तथा अत्यन्त परिचित हैं। उन सबका मेरे साथ यह वायदा हो चुका था कि हम में से जो पहले मृत्यु को प्राप्त होगा वह उसे बोध देने आएगा। इन चार कारणों से देव मनुष्यलोक में शीघ्र आ सकता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में श्रमणोपासकों की देवलोक-स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। अब प्रस्तुत सूत्र में देवलोक में पहुंचे हुए जीवों की मनःस्थिति को स्पष्ट करते हुए

सूत्रकार उनकी भूलोक में आगमन की इच्छा और अनिच्छा पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

देवलोक में उत्पन्न जीव निम्नोक्त चार कारणों से मनुष्यलोक में आने की इच्छा होते हुए भी नहीं आता—

१. तत्काल का उत्पन्न हुआ देव मनुष्य-लोक में आना चाहता है, किन्तु आ नहीं सकता, क्योंकि वह दिव्य काम-भोगों के जाल में उलझ कर अत्यासक्ति के कारण मनुष्यलोक में आने के कार्यक्रम को भुला ही देता है।

२. मनुष्यलोक में न आ सकने का दूसरा कारण यह भी है, कि उसका मनुष्य-लोक से प्रेम सम्बन्ध टूट जाता है और देवलोक से जुड़ जाता है, क्योंकि यह नियम है कि जीव जिस लोक में उत्पन्न होता है, वह उसी लोक में रहकर खुश रहता है। वह धीरे-धीरे पूर्व जन्म के स्नेही साथियों को भूल जाता है, अतः पूर्वजन्म के मधुर सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने से उसकी भूलोक में आने की इच्छा धीरे-धीरे स्वतः शान्त हो जाती है।

३. मनुष्यलोक में न आने का तीसरा कारण यह होता है—देवलोक में उत्पन्न होते ही जीव यह समझने लग जाता है कि अभी मैं मनुष्यलोक में जाकर क्या करूंगा? अभी तक न तो मैंने स्वर्गलोक के सभी मनोहर दृश्य ही देखे हैं, न अभी तक अपनी समृद्धि पर अधिकार ही जमाया है और न अच्छी तरह दिव्य काम-भोगों का अनुभव ही किया है, अतः अभी नहीं कुछ क्षण या मुहूर्त्त ठहर कर जाऊंगा। देवों का मुहूर्त्त भी इतना लम्बा होता है कि उतने काल में मर्त्य-लोक में सैंकड़ों व हजारों वर्ष बीत जाते हैं, अथवा सुख में दीर्घकाल बीतने पर ऐसा लगता है मानों दो घड़ी समय ही व्यतीत हुआ है। उसके बाद जब वह देव पूर्व जन्म के पुराने सम्बन्धियों को मिलने के लिए तैयारी करता है तब अवधिज्ञान से देखता है कि मेरे पूर्व परिचित सभी सम्बन्धी मरकर कहीं के कहीं चले गए हैं। अब वहां जाकर क्या करूंगा, यही सोचकर देव भूलोक में आने का विचार छोड़ देता है।

४. सद्योजात देव का मनुष्य लोक में न आने का चौथा कारण यह होता है—कि दिव्य काम-भोगों और शब्द, रूप आदि में आसक्त हुआ देव यदि शीघ्र आने के लिए प्रयत्न करता भी है, तो वह वहां से चलकर बीच में ही लौट जाता है, क्योंकि मनुष्यलोक की दुर्गन्ध जो चार-पांच सौ योजन ऊपर को जाती है उसे न सह सकने के कारण वह पुनः वापिस लौट जाता है। मनुष्यलोक की दुर्गन्ध चार सौ योजन तक तो जाती है, किन्तु विशेष दुर्गन्ध पांच सौ योजन तक भी ऊपर को जाया करती है।

यूं तो घ्राणेन्द्रिय नौ योजन से आने वाले गन्ध-पुद्गलों को ग्रहण कर सकती है, किन्तु यह कथन औदारिक शरीर की अपेक्षा से किया गया है, वैक्रिय शरीर की अपेक्षा से नहीं, क्योंकि औदारिक शरीर बारह योजन से आए हुए शब्द-पुद्गलों को श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण कर सकता है, किन्तु देव हजारों लाखों योजन दूर से आए हुए शब्द-पुद्गलों को सुन सकता है,

यही कारण है कि देव लाखों योजन दूर रहने पर भी विमानों के घण्टे के शब्द सुन लेते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वैक्रिय शरीरियों का यह नियम नहीं है कि देव नौ योजन से आए हुए गन्ध-पुद्गलों को ही ग्रहण कर सकते हों उससे परे के नहीं, वे तो पांच सौ योजन से आए हुए गंध को भी घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण कर सकते हैं। ऐसा इस पाठ से ध्वनित होता है।

सूत्रकार ने जो **"तस्स णं माणुस्सए पेमे वोच्छिन्ने, दिव्वे संकंते भवइ"**—यह सूत्र दिया है इसका आशय यह है कि प्रेम के वशीभूत होकर बिना आह्वान के भी देव मनुष्य लोक में आ सकते हैं, किन्तु जब उनका प्रेम मनुष्यलोक से विच्छिन्न हो जाता है तब उनमें भूलोक में आगमन की इच्छा ही नहीं रह जाती।

देवों के भूलोक में आगमन के कारण—

देवलोकों में तत्काल उत्पन्न हुआ जो देव दिव्य कामभोगों में आसक्त नहीं हुआ, वह चार कारणों से मनुष्यलोक में आ सकता है, बिना कारण के नहीं आता। वे चार कारण निम्नलिखित हैं, जैसे कि—

१. गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिए।

२. किसी विशिष्ट तपस्वी या ज्ञानी के दर्शनार्थ।

३. पूर्व जन्म के संबन्धियों को सान्त्वना देने के उद्देश्य से।

४. अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार किसी को प्रतिबोध देने के लिए।

इन चार कारणों में से किसी भी एक कारण से देव भूलोक में आ सकता है।

इस सूत्र में आए हुए कुछ पद विशेष मननीय हैं, जैसे कि—

१. **मुच्छिए**—जो देव दिव्य काम भोगों में अत्यासक्त हो जाता है वह गुरुभक्ति तथा पूर्वजन्म के स्नेह आदि को भूल जाता है। वह समझता है कि ये दिव्य कामभोग सदा-सर्वदा मेरे साथ रहने वाले हैं, इनसे बढ़कर और कोई सुख नहीं है। इस प्रकार उन दिव्य सुखों में गलतान या मूढ़-सा हो जाता है।

२. **गिद्धे**— जो आत्मा उन दिव्य सुखों से तृप्त नहीं होती, जिसके मन में भोगों की तीव्र आकांक्षा बनी रहती है। इस प्रकार का देव पृथ्वी के सुखों को नहीं चाहता है और वहां के सुखों से वियुक्त भी नहीं हाना चाहता। इसी कारण वह गृद्ध कहलाता है।

३. **गढिए**—जो देव दिव्य काम-भोगों के स्नेह-रज्जु से अच्छी तरह से बंध गया है, अतः वह अन्यत्र जाने में असमर्थ हो जाता है।

४. **अज्झोववन्ने**—शब्द का आशय यह है कि जो देव दिव्य काम-भोगों में इतना रम गया है कि उसे यहां आने के लिए सूझ-बूझ ही नहीं रही, इसीलिए वह यहां के शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श का आदर नहीं करता, मन से भी उन्हें अच्छा नहीं समझता। मनुष्यलोक सम्बन्धी किसी कामभोग से किसी प्रयोजन की सिद्धि स्वीकार नहीं करता। वह किसी तरह का निदान करने के लिए भी तैयार नहीं होता कि मनुष्यलोक में जो सुख है, इन दिव्य सुखों

के बदले वह मुझे मिले। उसके मन में इस प्रकार की कल्पना भी नहीं होती कि मनुष्य-लोक के इन्द्रिय सुख मेरे साथ सदाकाल स्थायी रहें, मेरे से कभी भी अलग न हों। इस प्रकार का निदान नहीं करता, इस कारण वह मर्त्यलोक में नहीं आता।

५. **आयरिए**—प्रतिबोध देने वाले, दीक्षा देने वाले, वाचना देने वाले विद्या एवं धर्मगुरु इन सबका अंतर्भाव आचार्य-पद में हो जाता है।

६. **उवज्झाए**—जिस मुनि के पास आकर जिज्ञासु और तर्कशील छात्र दर्शन एवं आगमों का उच्चस्तरीय अध्ययन करते हैं उसे उपाध्याय कहते हैं।

७. **पवत्ती**—जो आचार्य की आज्ञानुसार दूसरों को सेवा आदि शुभ-क्रिया में प्रवृत्ति कराता है, उसे प्रवर्त्ती अर्थात् प्रवर्त्तक कहते हैं।

८. **थेरे**—जिनके परिणाम संयम में शिथिल हो रहे हैं, उन्हें संयम में पुनः स्थिर करने वाला स्थविर कहलाता है।

९. **गणी**—गणाचार्य, गणधर इनका ग्रहण गणी पद से ही हो जाता है।

१०. **गणावच्छेए**—जो श्रुत-उपयोगी तथा संयम-उपयोगी उपकरणों का संग्रह करके गण में या संघ में यथासमय वितीर्ण करता है उस मुनिवर को गणावच्छेदक कहा जाता है।

११. **मित्र**—उसे कहते हैं जो पीछे से स्नेही बना है।

१२. **सखा**—जो बालवयस्य अर्थात् बचपन का साथी रहा है।

१३. **सुहृद्**—सज्जन हितैषी।

१४. **सहाय**—जो किसी भी एक कार्य में प्रवृत्ति करने वाला या सहयोगी रहा है।

१५. **सांगतिक**—विशेष परिचित। वह देव यदि अपनी की हुई प्रतिज्ञा याद करे कि मैंने भूलोकवासी मित्रों से संकेत किया हुआ है कि जो हमारे में से पहले देवत्व को प्राप्त करेगा वह मनुष्यलोक में आकर दूसरे को धर्म-मार्ग में लगाएगा, अतः मैं अपने साथियों के संबोधनार्थ मनुष्यलोक में जाता हूं।

यद्यपि लब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वयागत शब्दों में पर्याप्त अर्थ-साम्य होने से ये शब्द पर्यायवाची ही प्रतीत होते हैं, परन्तु भाषा-विज्ञान एवं समभिरूढ़-नय शब्दों की पर्यायवाचकता का विरोधी है, उनका कथन है कि प्रत्येक शब्द का अर्थ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न ही होता है। शास्त्रकार ने भी उपर्युक्त तीनों शब्दों का एक साथ प्रयोग करके प्रत्येक शब्द की अर्थ-भिन्नता के सिद्धान्त का समर्थन किया है, जैसे कि—

१६. **लब्ध**—जब हमें किसी वस्तु की प्राप्ति का आश्वासन प्राप्त हो जाता है, तब हम उस पर अपना स्वत्व मानने लगते हैं, ऐसी दशा में हम उस वस्तु के लिए 'लब्ध' शब्द का प्रयोग करेंगे। जैसे एक जज ने फैसला किया कि इस मकान पर वादी-प्रतिवादी में से वादी का अधिकार है, तब वादी यह कह सकता है कि मकान मुझे लब्ध है, परन्तु अभी तक उसे वह मकान सौंपा नहीं गया है।

१७. प्राप्त—जब लब्ध वस्तु हस्तगत हो जाती है तब उसे प्राप्त कहा जाता है। जब न्यायालय के अधिकारी आकर मकान का कब्जा दिला देते हैं, तब वह यह कहता है कि मुझे मकान 'प्राप्त' हो गया है।

१८. अभिसमन्वयागत—जब प्राप्त वस्तु का उपभोग होने लगे तब उसे अभिसमन्वयागत कहा जाता है। जब कब्जा मिलने के अनन्तर 'प्राप्त' करने वाला व्यक्ति उस मकान में रहने भी लग जाए, तब वह मकान की प्राप्ति के लिए 'अभिसमन्वयागत' शब्द का प्रयोग करता है।

इस प्रकार-प्राप्ति के आश्वासन की अवस्था 'लब्ध' है, अधिकार-प्राप्ति की अवस्था 'प्राप्त' है और प्राप्त वस्तु के उपभोग की दशा 'अभिसमन्वयागत' मानी जाती है।

यद्यपि तृतीय स्थान के तृतीय उद्देशक में भी इस विषय का वर्णन किया गया है और वहां तृतीय स्थान के अनुरोध से तीन ही कारण बताए गए हैं, अब पुनः चतुर्थ स्थान में इसी विषय का वर्णन किया गया है और यहां चार कारण बताए गए हैं। इस विषय का वर्णन केवल यहीं पर किया जा सकता था, परन्तु अध्ययन शीलों की स्मृति-शक्ति के संवर्धनार्थ एवं ज्ञान की परिपक्वता के लिए इस द्विरावृत्ति की शैली को अपनाया गया है।

लोकान्धकार और लोक-प्रकाश के कारण

मूल—चउहिं ठाणेहिं लोगंधयारे सिया, तं जहा—अरहंतेहिं वोच्छिज्जमाणेहिं, अरहंतपण्णत्ते धम्मे वोच्छिज्जमाणे, पुव्वगए वोच्छिज्जमाणे, जायतेए वोच्छिज्जमाणे।

चउहिं ठाणेहिं लोगुज्जोए सिया, तं जहा—अरहंतेहिं जाएमाणेहिं, अरहंतेहिं पव्वयमाणेहिं, अरहंताणं णाणुप्पायमहिमासु, अरहंताणं परिनिव्वाणमहिमासु ४ । एवं देवंधयारे, देवुज्जोए, देवसन्निवाए, देवुक्कलियाए, देवकहकहए।

चउहिं ठाणेहिं देविंदा माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छन्ति। एवं जहा तिठाणे जाव लोगंतिया देवा माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छेज्जा, तं जहा—अरहंतेहिं जायमाणेहिं जाव अरिहंताणं परिनिव्वाणमहिमासु ॥१०५॥

छाया—चतुर्भिः स्थानैः लोकान्धकारः स्यात्, तद्यथा—अर्हत्सु व्यवच्छिद्यमानेषु, अर्हत्प्रज्ञप्ते धर्मे व्यवच्छिद्यमाने, पूर्वगते व्यवच्छिद्यमाने, जाततेजसि व्यवच्छिद्यमाने४।

चतुर्भिः स्थानैः लोकोद्योतः स्यात्, तद्यथा—अर्हत्सु जायमानेषु, अर्हत्सु प्रव्रजत्सु, अर्हतां ज्ञानोत्पादमहिमासु, अर्हतां परिनिर्वाणमहिमासु ४। एवं देवान्धकारः, देवोद्योतः, देवसन्निपातः, देवोत्कलिकः, देवकलकलः।

चतुर्भिः स्थानैः देवेन्द्रा मानुष्यं लोकं शीघ्रमागच्छन्ति। एवं यथा त्रिस्थाने यावत् लोकान्तिका देवा मानुष्यं लोकं शीघ्रमागच्छन्ति, तद्यथा—अर्हत्सु जायमानेषु यावत् अर्हतां परिनिर्वाणमहिमासु।

शब्दार्थ—चउहिं ठाणेहिं लोगंधयारे सिया—चार कारणों से लोक में अन्धकार हो जाता है, **तं जहा**—यथा, **अरहंतेहिं वोच्छिज्जमाणेहिं**—अर्हन्तों के व्यवच्छेद अर्थात् विरह हो जाने से, **अरहंतपण्णत्ते धम्मे वोच्छिज्जमाणे**—अरिहन्त-प्रतिपादित धर्म के व्यवच्छेद हो जाने पर, **पुव्वगए वोच्छिज्जमाणे**—पूर्वों के ज्ञान का विच्छेद हो जाने पर और, **जायतेए वोच्छिज्जमाणे**—स्थूल अग्नि के विच्छेद होने पर।

चउहिं ठाणेहिं लोगुज्जोए सिया—चार कारणों से लोक में उद्योत होता है, **तं जहा**—जैसे, **अरहंतेहिं जाएमाणेहिं**—अरिहन्तों के जन्म लेने पर, **अरहंतेहिं पव्वयमाणेहिं**—अरिहन्तों के दीक्षा लेने के अवसर पर, **अरहंताणं णाणुप्पायमहिमासु**—अरिहंतों के ज्ञान उत्पत्ति की महिमा के अवसर पर और, **अरहंताणं परिनिव्वाणामहिमासु**—अरिहन्तों के निर्वाण की महिमा के अवसर पर, **एवं**—इसी प्रकार, **देवंधयारे**—देव अन्धकार, **देवुज्जोए**—देव का उद्योत, **देवसन्निवाए**—देव का समवाय होना, **देवुक्कलियाए**—उत्कण्ठापूर्वक देवों का गमनागमन और, **देवकहकहए**—देवों की हर्ष-ध्वनि।

चउहिं ठाणेहिं देविंदा—चार कारणों से देवेन्द्र, **माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छन्ति**—मनुष्य-लोक में शीघ्र आते हैं, **एवं**—ऐसे ही, **जहा**—जैसे, **जाव**—यावत्, **तिठाणे**—तीसरे स्थान में कहा गया है, **जाव**—यावत्, **लोगंतिया देवा माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छेज्जा**—लोकान्तिक देव मनुष्य-लोक में शीघ्र आते हैं, **तं जहा**—जैसे, **अरहंतेहिं जायमाणेहिं**—अरिहन्तों के जन्म लेने पर, **जाव अरिहंताणं परिनिव्वाणमहिमासु**—यावत् अरिहन्तों के निर्वाण की महिमा के अवसर पर।

मूलार्थ—चार कारणों से इस लोक में अन्धकार हो जाता है—१. अरिहन्तों का विरह होने से, २. अरिहन्त-भाषित धर्म का व्यवच्छेद हो जाने से, ३. पूर्वों का ज्ञान नष्ट हो जाने से और, ४. बादर अग्नि के नाश हो जाने से। चार कारणों से लोक में प्रकाश होता है—१. अरिहन्तों के जन्म लेने पर, २. अरिहन्तों की दीक्षा के अवसर पर, ३. अरिहन्तों के केवल ज्ञान की महिमा पर और, ४. अरिहन्तों का निर्वाण—मोक्ष होने पर। इसी प्रकार देवों में अन्धकार, देवों में प्रकाश, देवों के समूह का एकत्रित होना, देवों का उत्कण्ठित होकर गमनागमन करना और देवों की हर्ष-ध्वनि होती है।

चार कारणों से देवेन्द्र मनुष्य लोक में शीघ्र आते हैं। इसी प्रकार जैसे तीसरे स्थान में वर्णन किया गया है, यावत् लोकान्तिक देव मनुष्यलोक में शीघ्र आते हैं, यथा अरिहन्तों के जन्मोत्सव पर यावत् अरिहन्तों के निर्वाण के अवसर पर।

विवेचनिका—इस सूत्र में अन्धकार और उद्योत के कारण बतलाए गए हैं। अन्धकार दो तरह का होता है—द्रव्य-अन्धकार और भाव-अन्धकार। स्थूल, भौतिक अग्निकाय का अभाव हो जाने पर होने वाला अन्धकार द्रव्य-अन्धकार कहलाता है। भाव-अन्धकार अनेक प्रकार का होता है, जैसे कि अविद्यान्धकार, व्यापकरूप से दुर्भिक्ष पड़ जाना, राष्ट्र में महामारी आदि रोगों का फैलना तथा राष्ट्र भर में अराजकता, शोक, अन्याय, अनीति का फैलना या बढ़ जाना आदि भावान्धकार के अनेक रूप हैं। प्रस्तुत सूत्र में दोनों तरह के अन्धकारों का वर्णन किया गया है। जिनमें तीन कारण भावान्धकार के हैं और एक कारण द्रव्यान्धकार का है।

१. जब किसी राष्ट्र से अरिहन्तों का व्यवच्छेद हो जाता है अर्थात् जब वे भौतिक शरीर को छोड़कर सिद्धालय में चले जाते हैं, तब उस राष्ट्र में ही नहीं, अपितु लोक भर में अन्धकार छा जाता है।

२. जब लोक में लोगों के हृदय में केवली भाषित धर्म के प्रति अश्रद्धा और उदासीनता हो जाती है, तब लोक में अन्धकार छा जाता है।

३. जब पूर्वगत श्रुतज्ञान का अध्ययन-अध्यापन सर्वथा बंद हो जाता है और जो पूर्वधर हैं उनका देवलोकवास हो जाता है, तब भी लोक में अन्धकार छा जाता है।

४. दुषम आरक के अन्तिम दिन भरत और ऐरवत इन दो क्षेत्रों में बाह्य भौतिक अग्नि का लोप हो जाता है, इसलिए लोक में अन्धकार छा जाता है।

इस अन्धकार का होना भावी अनिष्टता को सूचित करता है। इसके विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—

"संभाव्यते ह्यर्हदादि व्यवच्छेदे द्रव्यतोऽन्धकारं उत्पातरूपत्वात्तस्य, छत्रभंगादौ रज उद्घातादिवदिति, वह्निव्यवच्छेदेऽन्धकारं द्रव्यत एव, तथा स्वभावात् दीपादेरभावाद्वा, भावतोऽपि वा, एकान्तदुःषमादावागमादेरभावादिति"।

यद्यपि देवलोक में अन्धकार नहीं होता है, तथापि सूत्रकार ने 'देवन्धकारे' शब्द देकर देवलोक में भी अन्धकार के अस्तित्व का संकेत किया है, वह केवल इस आशय से कि जब अरिहन्त भगवान् का निर्वाण-काल उपस्थित होता है तो उस निर्वाण-काल की बेला में क्षण मात्र के लिए देवलोक में भी अन्धकार छा जाता है, क्योंकि अरिहन्त भगवान् के तेज रूप वस्तु का यही तो माहात्म्य है कि उसके अभाव में क्षण-मात्र के लिए प्रकाशमय लोकों में भी अन्धकार हो जाया करता है। वृत्तिकार ने इस आशय को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"देवस्थानेष्वपि अर्हदादिव्यवच्छेदकाले वस्तुमाहात्म्यात् क्षणमन्धकारं भवतीति"।
उक्त चार कारणों से संज्ञी लोक में कुछ क्षणों के लिए अन्धकार हो जाता है।

उद्योत के कारण—उद्योत शब्द का अर्थ है प्रकाश। प्रकाश दो प्रकार का होता है,

द्रव्य-प्रकाश और भाव-प्रकाश। सूर्य, चन्द्र, एवं दीपक आदि के प्रकाश को द्रव्योद्योत कहा जाता है और ज्ञान, प्रमोद, इष्ट-प्राप्ति, सुभिक्ष, न्याय, नीति, सुराज्य आदि भाव-प्रकाश के अन्तर्गत आते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में 'उद्योत' शब्द से 'भावोद्योत' ही शास्त्रकार को अभीष्ट है। उद्योत के सूत्रनिर्दिष्ट कारणों से भिन्न कारण भी हो सकते हैं, परन्तु उनके द्वारा होने वाला भाव-उद्योत ससीम होता है। किसी को बुढ़ापे में यदि पुत्रोपलब्धि होती है तो उससे उत्पन्न उद्योत उस व्यक्ति तक, अधिक हुआ तो उसके परिवार एवं मित्रजनों तक सीमित होगा। ऐसा ससीम उद्योत सूत्रकार को इष्ट नहीं। उनका आशय उस महा-उद्योत से है, जो निखिल लोक में एक साथ फैल जाता है। ऐसा उद्योत चार कारणों से होता है—

१. अरिहन्तों के जन्म-कल्याणक होने पर।

२. अरिहन्तों के प्रव्रज्या (दीक्षा) ग्रहण करने पर।

३. अरिहन्तों को केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर।

४. उनकी निर्वाण-महिमा का गान करते समय।

इन चार कारणों से किसी एक राष्ट्र में ही नहीं बल्कि समस्त लोक में उद्योत होता है। ये चार कल्याणक समस्त लोक के लिए हितकर होते हैं, उत्तम पुरुषों की प्रत्येक क्रिया आदर्श एवं कल्याणकर होती है। उनके जीवन का प्रत्येक क्षण "सर्वजनहिताय" होता है तथा अनुकरणीय एवं प्रातः स्मरणीय होता है। इसी कारण उनके प्रत्येक कल्याणक में देवों एवं देवाधिपति इन्द्रों का आगमन होता है, उनका मेला भरता है। इस विषय का विस्तृत वर्णन तृतीय स्थान के पहले उद्देशक में किया जा चुका है।

चतुर्विध दुख-शय्या

मूल—चत्तारि दुहसेज्जाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—तत्थ खलु इमा पढमा दुहसेज्जा, तं जहा—

१. से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए निग्गंथे पावयणे संकिए, कंखिए, विइगिच्छिए, भेयसमावन्ने, कलुससमावन्ने, निग्गंथं पावयणं णो सद्दहइ, णो पत्तियइ, णो रोएइ। निग्गंथं पावयणं असद्दहमाणे, अपत्तिअमाणे, अरोएमाणे मणं उच्चावयं नियच्छइ, विणिघायमावज्जइ पढमा दुहसेज्जा।

२. अहावरा दोच्चा दुहसेज्जा—से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ जाव पव्वइए सएणं लाभेणं णो तुस्सइ, परस्स लाभमासाएइ, पीहेइ, पत्थेइ, अभिलसइ। परस्स लाभमासाएमाणे जाव अभिलसमाणे मणं उच्चावयं नियच्छइ, विणिघायमावज्जइ। दुच्चा दुहसेज्जा।

३. अहावरा तच्चा दुहसेज्जा—से णं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए दिव्वे, माणुस्सए कामभोगे आसाएइ जाव अभिलसइ, दिव्वमाणुस्सए कामभोगे आसाएमाणे जाव अभिलसमाणे मणं उच्चावयं नियच्छइ, विणिघाय-मावज्जइ। तच्चा दुहसेज्जा।

४. अहावरा चउत्था दुहसेज्जा—से णं मुंडे जाव पव्वइए तस्स णं एवं भवइ—जया णं अहमगारवासमावसामि तया णमहं संवाहणपरिमद्दण-गायब्भंगणउच्छोलणाइं लब्भामि, जप्पभिइं च णं अहं मुंडे जाव पव्वइए तप्पभिइं च णं अहं संबाहण जाव गाउच्छोलणाइं णो लब्भामि। से णं संबाहण जाव गाउच्छोलणाइं आसाएइ जाव अभिलसइ। से णं संबाहण जाव गाउच्छोलणाइं आसाएमाणे जाव मणं उच्चावयं नियच्छइ, विणिघायमावज्जइ, चउत्था दुहसेज्जा ॥१०६॥

छाया—चतस्रो दुःखशय्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—तत्र खलु प्रथमा दुःखशय्या, तद्यथा—

१. सः मुण्डो भूत्वा आगारादनगारितां प्रव्रजितो नैर्ग्रन्थ्ये प्रवचने शङ्कितः, कांक्षितः, विचिकित्सितः, भेदसमापन्नः, कलुषसमापन्नो नैर्ग्रन्थ्यं प्रवचनं नो श्रद्धत्ते, नो प्रत्येति, नो रोचते। नैर्ग्रन्थ्यं प्रवचनमश्रद्दधानोऽप्रतीयन् अरोचमानो मन उच्चावचं निर्गच्छति विनिघातमापद्यते। प्रथमा दुःखशय्या।

२. अथापरा द्वितीया दुःखशय्या—सः मुण्डो भूत्वा आगाराद् यावत् प्रव्रजितः स्वकेन लाभेन नो तुष्यति, परस्य लाभमाशयति, स्पृहयति, प्रार्थयति, अभिलषति। परस्य लाभमाशयन् यावत् मन उच्चावचं निर्गच्छति, विनिघातमापद्यते। द्वितीया दुःखशय्या।

३. अथापरा तृतीया दुःखशय्या—सः मुण्डो भूत्वा यावत् प्रव्रजितो दिव्यान्, मानुष्यकान् कामभोगानाशयति यावद् अभिलषति। दिव्यमानुष्यकान् कामभोगान् आशयन् यावद् अभिलषन् मन उच्चावचं निर्गच्छति, विनिघातमापद्यते। तृतीया दुःखशय्या।

४. अथापरा चतुर्थी दुःखशय्या—सः मुण्डो यावत् प्रव्रजितः, तस्यैवं भवति—यदाहमगारवासमवसम्, तदाहं संवाहन-परिमर्द्दन-गात्राभ्यंग-गात्रोत्क्षालनानि लभे, यत्प्रभृति च अहं मुण्डो यावत् प्रव्रजितः तत्प्रभृति च अहं संवाहन-यावत्-गात्रोत्क्षालनानि नो लभे। स सवाहन-यावत्-गात्रोच्छोलनानि आशयन्-यावद् मन उच्चावचं निर्गच्छति विनिघातमापद्यते। चतुर्थी दुःखशय्या।

शब्दार्थ—चत्तारि दुहसेज्जाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—चार दुःख शय्याएं अर्थात् दुःख के कारण बताए गए हैं जैसे, तत्थ खलु—उन में, इमा पढमा दुहसेज्जा—यह प्रथमा

दुःख शय्या है, **तं जहा**—यथा—

से णं मुंडे भवित्ता—जब कोई कर्म-भार से दबा व्यक्ति, मुण्डित होकर, **अगाराओ**—गृहस्थावस्था को छोड़ कर, **अणगारियं पव्वइए**—अनगार-साधु बन गया और फिर, **निग्गंथे पावयणे**—निर्ग्रन्थ प्रवचन में या जिनधर्म में, **संकिए**—शंकाशील होने लगा, **कंखिए**—अन्य मतों की आकांक्षा करने लगा, **वितिगिच्छिए**—तप आदि के फल में सन्देह करने लगा, **भेयसमावन्ने**—गृहीत साधुत्व के सत्यासत्य की दुविधा में फंस गया, **कलुस-समावन्ने**—कलुष-कर्म में प्रवृत्त होने लगा, **निग्गंथं पावयणं णो सद्दहइ**—निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा-हीन होने लगा, **णो पत्तियइ**—विश्वास खोने लगा, **णो रोएइ**—जिनधर्म के प्रति प्रेम त्यागने लगा, **निग्गंथं पावयणं**—निर्ग्रन्थ प्रवचन में, **असद्दहमाणे**—श्रद्धान न रखता हुआ, **अपत्तिअमाणे**—विश्वास न रखता हुआ, **अरोएमाणे**—प्रीति न रखता हुआ, **मणं उच्चावयं नियच्छइ**—मन को डावांडोल करने लगा, **विणिघायमावज्जइ**—इस प्रकार वह विनाश को प्राप्त हो जाता है, **पढमा दुहसेज्जा**—यही प्रथम दुःखशय्या है। **अहावरा दोच्चा दुहसेज्जा**—इसके पश्चात् दूसरी दुःखशय्या यह है, **से णं मुंडे भवित्ता**—जब कोई व्यक्ति मुण्डित होकर, **अगाराओ जाव पव्वइए**—गृहस्थवास को छोड़कर प्रव्रजित हो जाता है, वह, **स एणं लाभेणं णो तुस्सइ**—अपने लाभ से सन्तुष्ट नहीं होता, **परस्स लाभमासाएइ**—पर के लाभ की आशा करता है, **पीहेइ**—वाञ्छा करता है, **पत्थेइ**—याचना करता है और, **अभिलसइ**—कुछ मिलने पर अधिक की इच्छा करता है। **परस्स लाभमासाएमाणे जाव अभिलसमाणे**—दूसरे के लाभ की आशा करता हुआ यावत् मिल जाने पर और अधिक की इच्छा करता हुआ, **मणं उच्चावयं नियच्छइ**—मन को डावांडोल बना लेता है और इसी लिए, **विणिघायमावज्जइ**—विनाश को प्राप्त हो जाता है। **दुच्चा दुहसेज्जा**—यही दूसरी दुःख-शय्या है।

अहावरा तच्चा दुहसेज्जा—इसके पश्चात् तीसरी दुःख शय्या है, **तं जहा**—जैसे, **से णं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए**—जब कोई गुरुकर्मा जीव, मुण्डित होकर यावत् प्रव्रजित हुआ, **दिव्वे**—देवता सम्बन्धी और, **माणुस्सए कामभोगे आसाएइ जाव अभिलसइ**—मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों की आशा करता है और उनके मिलने पर और अधिक की इच्छा करता है, **दिव्वमाणुस्सए कामभोगे**—देव और मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों की, **आसाएमाणे जाव अभिलसमाणे**—आशा करता हुआ यावत् मिलने पर और अधिक की इच्छा करता हुआ, **मणं उच्चावयं नियच्छइ**—मन को डावांडोल बना लेता है, अतएव, **विणिघाय-मावज्जइ**— विनाश को प्राप्त होता है, **तच्चा दुहसेज्जा**—यही तीसरी दुःखशय्या है।

अहावरा चउत्था दुहसेज्जा—इसके बाद चौथी दुःख शय्या यह है, **से णं मुंडे जाव पव्वइए**—वह गुरुकर्मा जीव मुण्डित होने एवं यावत् प्रव्रजित होने के अनन्तर, **तस्स, णमेवं भवइ**—उसे यह विचार उत्पन्न होता है, **जया णं अहमगारवासमावसामि**—जब मैं

गृहस्थावास में वास करता था, **तया णमहं**—तब मैं, **संवाहणपरिमद्दणगायब्भंग-गाउच्छोलणाइं लब्भामि**—पैर आदि दबवाना, उबटन आदि का मलना, तैलादि का मर्दन और जलादि से प्रक्षालनादि प्राप्त करता था, **जप्पभिइं च णं**—और जब से लेकर, **अहं मुंडे जाव पव्वइए**—मैं मुण्डित होकर यावत् प्रव्रजित हुआ हूं, **तप्पभिइं च णं**—तभी से लेकर, **अहं संबाहण जाव गाउच्छोलणाइं णो लब्भामि**—वैयावृत्य यावत् शरीर स्नानादि को प्राप्त नहीं करता हूं और, **से णं**—वह, **संबाहण जाव गाउच्छोलणाइं**—संवाहन यावत् शरीर स्नानादि की, **आसाए जाव अभिलसइ**—आशा करता है यावत् प्राप्त होने पर अधिक की इच्छा करता है। **से णं संबाहण जाव गाउच्छोलणाइं**—वह संवाहन यावत् स्नानादि की, **आसाएमाणे जाव मणं उच्चावयं नियच्छइ**—अभिलाषा करता यावत् मन को डावांडोल कर लेता है और, **विणिघायमावज्जइ**—उसका साधनामय जीवन विनाश को प्राप्त होता है, **चउत्था दुहसेज्जा**—यही चौथी दु:ख शय्या है।

मूलार्थ—चार प्रकार की दु:ख-शय्याएं प्रतिपादित की गई हैं। उनमें प्रथम दु:ख शय्या यह है—

१. जब कोई उग्र कर्मभार से दबा हुआ व्यक्ति मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोड़ दीक्षित होकर निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् जिन वाणी में शंकायुक्त होता हुआ अन्य मतों की आकांक्षा करता है, साधुत्व प्राप्ति के फल में सन्देह करता है, यह मार्ग सत्य है अथवा असत्य, ऐसी शंका करता हुआ तथा यह शास्त्रोक्त बातें सत्य नहीं हैं यह कहता हुआ निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा नहीं करता है, विश्वास नहीं करता है, जिन-शासन में प्रीति नहीं करता है और निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा न रखता हुआ और उसमें प्रीति न करता हुआ मन को अस्थिर बना लेता है। इस प्रकार वह विनाश को प्राप्त हो जाता है। यही पहली दु:खशय्या है।

२. इसके पश्चात् दूसरी दु:ख-शय्या यह है—जब कोई उग्र कर्मों के भार से दबा व्यक्ति मुण्डित होकर गृहस्थावास छोड़ दीक्षित आदि होकर अपने लाभ से सन्तुष्ट नहीं होता और पर के लाभ की इच्छा करता है, पर के लाभ को चाहता हुआ एवं प्राप्त होने पर भी अधिक की कामना करता हुआ वह अपने मन को अस्थिर बना लेता है। इस तरह वह जीव विनाश को प्राप्त होता है। यही दूसरी दु:ख-शय्या है।

३. इसके पश्चात् तीसरी दु:ख-शय्या यह है—जब कोई कर्म-भार से दबा हुआ व्यक्ति मुण्डित हो दीक्षित आदि होकर, देव और मनुष्यों के कामभोगों की इच्छा करता है, प्राप्त होने पर अधिक की अभिलाषा करता है। दिव्य और मानवीय काम-भोगों की इच्छा करता हुआ तथा प्राप्त होने पर भी अधिक की कामना करता

हुआ अपने मन को अस्थिर बना कर विनाश को प्राप्त होता है। यही तीसरी दुःख-शय्या है।

४. इसके अनन्तर चौथी दुःख-शय्या यह है कि जब कोई कर्म-भार से दबा हुआ व्यक्ति मुण्डित हो यावत् दीक्षित हो जाता है, तदनन्तर उसके हृदय में ये विचार उत्पन्न होते हैं कि जब मैं गृहस्थ में रहता था तो पैर दबवाना आदि सेवाएं, उबटन-मर्दन, तैल-मर्दन और स्नानादि को प्राप्त करता था। जब से मैं मुण्डित और दीक्षित हुआ हूं, तब से न तो सेवा आदि करवाता हूं, न स्नान करता हूं। इस कारण वह संवाहन और गात्रक्षालन आदि की इच्छा करता है, प्राप्त होने पर भी और अधिक की कामना करता हुआ अपने मन को डावांडोल बना लेता है और विनाश को प्राप्त हो जाता है। यही चौथी दुःख-शय्या है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में अन्धकार और उद्योत के कारण बताए गए हैं। अन्धकार के दो रूप हैं, द्रव्यान्धकार और भावान्धकार। द्रव्यान्धकार में मनुष्य दुखित होता ही है, परन्तु द्रव्य-प्रकाश में रहते हुए भी वह मनुष्य अत्यन्त दुखित होता है जिसके हृदय प्रदेश में भावान्धकार भर जाता है। भावान्धकार के कारण गृहस्थ भी दुःखी होता है और साधु भी। प्रस्तुत सूत्र में उस व्यक्ति का वर्णन किया गया है जिसने किसी भावावेश में आकर अस्थिर वैराग्य के कारण पहले तो संयमी जीवन स्वीकार कर लिया है, दीक्षित होकर साधुत्व-साधना आरम्भ कर दी है, परन्तु पुनः सांसारिक सुख-भोगों के चिन्तन के कारण उसके हृदय में भावान्धकार बढ़ता जा रहा है, लौकिक आकर्षणों के कारण वह विचलित हो रहा है, उसका मन डावांडोल हो रहा है, अतः अत्यन्त दुःखी हो रहा है।

यहां दुःख की अवस्था को दुःख-शय्या कहा गया है, क्योंकि ऐसे अस्थिर भोग-कामी, संशयशील का मन हर समय दुःख रूपी शय्या पर पड़ा हुआ तड़फता रहता है, अतः दुःख ही भाव-शय्या है, अस्थिर मन उस पर सोने वाला है, इस शयनकर्त्ता और शय्या को लक्ष्य में रखकर इस मानसिक चञ्चलता, अस्थिरता आदि को दुःख-शय्या कहा गया है।

द्रव्य-शय्या चाहे कठोर हो, ऊबड़-खाबड़ हो, टूटी खटिया हो, फटा-पुराना बिस्तर हो, नंगी भूमि हो, कठोर शिला हो, यदि मन शान्त है तो वहां पर भी नींद आ जाती है, परन्तु मानसिक अशांति की अवस्था में डनलप के गद्दों, रेशमी चादरों और बढ़िया आराम के साधनों में भी नींद नहीं आती है, अतः मानसिक दुर्व्यवस्था ही वास्तविक दुःख-शय्या है।

साधुत्व ग्रहण करने के अनन्तर यह मानसिक अशान्ति चार रूपों में भ्रष्ट साधक के सामने आती है, अतः सूत्रकार उन चारों दुःख-शय्याओं का वर्णन करते हैं।

पहली दुःख-शय्या—जब कोई व्यक्ति वैराग्य के आवेश में आकर पहले तो श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर लेता है, परन्तु फिर वैराग्य का आवेश ठंडा पड़ते ही जिनेन्द्र-वाणी एवं

पावनी जैन-संस्कृति पर श्रद्धा नहीं करता है, स्वीकृत श्रमणत्व के प्रति अरुचि करने लगता है, उसके प्रति अपनी प्रेममयी आस्था को खो देता है, अन्य मत-मतान्तरों एवं संस्कृतियों की ओर जाने की इच्छा करने लगता है, उनकी प्रशंसाएं करने लगता है, उनका समर्थन करने लगता है। ऐसी दशा में उसका चित्त डावांडोल होने लगता है, उसकी दशा उस समुद्र-यात्री सी हो जाती है जो दो नौकाओं पर पैर रखकर समुद्र पार करने की कामना कर रहा होता है, अतएव उसमें मानसिक विक्षिप्तता उत्पन्न हो जाती है, यही विक्षिप्तता उसके लिए दुःख-शय्या बन जाती है।

दूसरी दुःख-शय्या—साधुत्व की वास्तविक कसौटी है कि साधु "यथालाभेन सन्तुष्टः" के सिद्धान्त का पालन करे, प्राप्त जीवन-साधनों से सन्तुष्ट रहे, अप्राप्त की इच्छा न करे, परन्तु जब कोई साधक लोभाविष्ट होकर प्राप्त से असन्तुष्ट रहने लगता है, दूसरों के पास विद्यमान पदार्थों की अभिलाषा से ग्रस्त होकर उन्हें पाने के प्रयास करने लगता है, उनके लिए याचना करने लगता है, इस प्रकार अपनी लोभवृत्ति के जाल-जंजाल में उलझ कर अभिलषित पदार्थों को पाकर पुनः अन्य की कामना करता हुआ व्याकुल होने लगता है। उस समय उसकी दशा **"इतो न किञ्चित् ततो न किञ्चित्, यतो यतो यामि ततो न किञ्चित्"**—न इधर कुछ मिलता है, न उधर कुछ मिलता है, जहां भी जाता हूं, वहीं कुछ नहीं मिलता—जैसी हो जाती है। यह असन्तोष की ज्वालाओं से दहकती लोभ की आग उसके लिए दुःखशय्या बन जाती है।

तीसरी दुःख-शय्या—कर्म भार से मुक्ति एवं सांसारिक तथा स्वर्गीय भोगों से विरक्ति ही साधुत्व का चरम-लक्ष्य है। जब श्रमणत्व को स्वीकृत करके भी कोई साधक अपनी समस्त साधनाओं का लक्ष्य सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति बना लेता है, परित्यक्त कामभोगों को वमित पदार्थों के समान पुनः पाने की इच्छा करने लगता है, मुक्ति के मार्ग से भटक कर देवलोकों के दिव्य भोगों की उपलब्धि के लिए यत्नशील रहने लगता है, तब वह अपने लक्ष्य से भटक कर दुखी होने लगता है। इस प्रकार यह लक्ष्य-भ्रष्टता उसके लिए दुःख-शय्या बन जाती है।

चौथी दुःख-शय्या—जो साधक साधुव्रत को धारण कर उन व्रतों का पालन करता हुआ आत्म-चिन्तन नहीं करता है, अपितु बैठे-बैठे यही सोचता रहता है कि गृहस्थ में कितना सुख था, कोई मेरे पैर दबाता था, कोई तेल मालिश करके मुझे स्फूर्ति देता था, मैं ऋतु-अनुकूल शीत एवं उष्ण जल से स्नान करके तेल-फुलेल लगाकर प्रमुदित होता था, कितना सुखमय था मेरा वह जीवन। यह भी कोई जीवन है—न स्नान है, न तेल मालिश है, न सेवा है। मांग कर खाना और शीत-उष्णता जन्य कष्टों को सहना कितना कष्टप्रद है। इस प्रकार उपभुक्त भोगों का चिन्तन उसके लिए कष्टों का कारण बन जाता है। यही कष्टावस्था चौथी दुःख-शय्या है।

ये चारों दुःखशय्याएं दुःख-परम्परा का सुन्दर विश्लेषण हैं। पहली अवस्था में श्रद्धा विचलित होती है, दूसरी अवस्था में स्वावलम्बन का अभाव होता है, तीसरी अवस्था में असन्तोष जन्म लेता है और इस प्रकार परित्यक्त भोगों को पुनः पाने की कामनाएं जागृत होती हैं। इसी अवस्था में पहुंचकर साधक भ्रष्ट हो जाता है, अपनी साधुता को खो देता है, लक्ष्य से विचलित हो जाता है और इस प्रकार "आत्मोत्थान" के प्रयास में असफल होकर सन्तप्त होने लगता है।

इस प्रकार शास्त्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में दुःखों के कारणों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

चतुर्विध सुख-शय्या

मूल—चत्तारि सुहसेज्जाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—तत्थ खलु इमा पढमा सुहसेज्जा—

१. से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए निग्गंथे पावयणे निस्संकिए, णिक्कंखिए, निव्वितिगिच्छिए, नो भेदसमावन्ने, नो कलुससमावन्ने निग्गंथं पावयणं सद्दहइ, पत्तियइ, रोएइ। निग्गंथं पावयणं सद्दहमाणे, पत्तियमाणे, रोएमाणे नो मणं उच्चावयं नियच्छइ, णो विणिघायमावज्जइ। पढमा सुहसेज्जा।

२. अहावरा दोच्चा सुहसेज्जा—से णं मुंडे जाव पव्वइए, सएणं लाभेणं तुस्सइ, परस्स लाभं णो आसाएइ, णो पीहेइ, णो पत्थेइ, णो अभिलसइ, परस्स लाभमणासाएमाणे जाव अणभिलसमाणे नो मणं उच्चावयं णियच्छइ, णो विणिघायमावज्जइ। दोच्चा सुहसेज्जा।

३. अहावरा तच्चा सुहसेज्जा—से णं मुंडे जाव पव्वइए दिव्वमाणुस्सए कामभोगे णो आसाएइ जाव णो अभिलसइ। दिव्वमाणुस्सए कामभोगे अणासाएमाणे जाव अणभिलसमाणे नो मणं उच्चावयं नियच्छइ, णो विणिघायमावज्जइ। तच्चा सुहसेज्जा।

४. अहावरा चउत्था सुहसेज्जा—से णं मुंडे जाव पव्वइए। तस्स णं एवं भवइ—जइ ताव अरहंता भगवंतो हट्ठा, आरोग्गा, बलिया, कल्लसरीरा अन्नयराइं ओरालाइं, कल्लाणाइं विउलाइं, पयत्ताइं पग्गहियाइं, महाणुभागाइं, कम्मक्खयकारणाइं, तवोकम्माइं पडिवज्जंति, किमंग पुण अहं अब्भोवगमिओवक्कमियं नो सम्मं सहामि, खमामि, तितिक्खेमि,

अहियासेमि? ममं च णं अब्भोवगमिओवक्कमियं सम्ममसहमाणस्स, अक्खममाणस्स, अतितिक्खमाणस्स, अणहियासेमाणस्स किं मन्ने कज्जइ? एगंतसो मे पावे कम्मे कज्जइ। ममं च णं अब्भोवगमिओ जाव सम्मं सहमाणस्स जाव अहियासेमाणस्स किं मन्ने कज्जइ? एगंतसो मे निज्जरा कज्जइ। चउत्था सुहसेज्जा ॥१०७॥

छाया—चतस्त्रः सुखशय्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा, तत्र खलु इयं प्रथमा सुख-शय्या—

१. सः मुण्डो भूत्वा अगारादनगारितां प्रव्रजितो निर्ग्रन्थे प्रवचने निःशंकितः, निष्कांक्षितः, निर्विचिकित्सितो, नो भेदसमापन्नः, नो कलुषसमापन्नो नैर्ग्रन्थ्यं प्रवचनं श्रद्धत्ते, प्रत्येति, रोचते। नैर्ग्रन्थ्यं प्रवचनं श्रद्दधानः, प्रतीयन्, रोचयन् नो मन उच्चावचं निर्गच्छति, नो विनिघातमापद्यते। प्रथमा सुखशय्या।

२. अथापरा द्वितीयसुखशय्या—सः मुण्डो यावत् प्रव्रजितः स्वकेन लाभेन तुष्यति, परस्य लाभं नो आशयति, नो स्पृहयति, नो प्रार्थयति, नो अभिलषति। परस्य लाभमनाशयन् यावदनभिलषन्, नो मन उच्चावचं निर्गच्छति, नो विनिघातमापद्यते द्वितीया सुखशय्या।

३. अथापरा तृतीया सुख-शय्या—सः मुण्डो यावत् प्रव्रजितो दिव्यमानुष्यकान् कामभोगान् नो आशयति यावत् नो अभिलषति। दिव्यमानुष्यकान् यावद् अनभिलषन् नो मन उच्चावचं निर्गच्छति, नो विनिघातमापद्यते। तृतीया सुखशय्या।

४. अथापरा चतुर्थी सुखशय्या—सः मुण्डो यावत् प्रव्रजितः, तस्यैवं भवति—यदि तावद् अर्हन्तो भगवन्तो हृष्टाः, आरोग्याः, बलिकाः, कल्यशरीराः, अन्यतराणि, कल्लाणानि, विपुलानि, प्रयतानि, प्रगृहीतानि, महानुभागानि कर्मक्षयकारणानि तपः कर्माणि प्रतिपद्यन्ते किमंग! पुनरहमभ्युपगमिक्यौपक्रमिकीं वेदनां नो सम्यक् सहे, क्षमे, तितिक्षे, अधियासे? मम च अभ्युपगमिक्यौपक्रमिकीं (वेदनाम्) सम्यगसहमानस्य, अक्षममाणस्य, अतितिक्षमाणस्य, अनध्यासमानस्य किं मन्ये क्रियते? एकान्तशो मया पापं कर्म क्रियते। मम च अभ्युपगमिकीं यावत् सम्यक् सहमानस्य यावदध्यासयतः किं मन्ये क्रियते, एकान्तशो मया निर्जरा क्रियते। चतुर्थी सुखशय्या।

शब्दार्थ—चत्तारि सुहसेज्जाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—चार सुख शय्याएं कही गयी हैं, जैसे—तत्थ खलु—उन में, इमा पढमा सुहसेज्जा—यह पहली सुखशय्या है—

से णं—वह-अल्पकर्मा, मुंडे भवित्ता—मुण्डित हो, अगाराओ अणगारियं पव्वइए—गृहस्थावास छोड़ अनगर-साधु बन गया और, निग्गंथे पावयणे निस्संकिए—निर्ग्रन्थ-प्रवचन में शंकारहित होता हुआ, निक्कंखिए—अन्य मत की इच्छा न करता हुआ तथा, निव्वितिगिच्छिए—फल के प्रति सन्देह से रहित होकर, नो भेदसमावन्ने—'यह सत्य है

अथवा असत्य' इस प्रकार के सन्देह से रहित, **नो कलुससमावन्ने**—शास्त्रोक्त यह बात सत्य है, ऐसा कहता हुआ, **निग्गंथं पावयणं सद्दहइ**—निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा करता है, **पत्तियइ**—उस पर प्रतीति करता है, **रोएइ**—निर्ग्रन्थ प्रवचन उसे रुचता है वह, **निग्गंथं पावयणं सद्दहमाणे**—निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा रखता हुआ, **पत्तियमाणे**—विश्वास रखता हुआ और, **रोएमाणे**—उसमें प्रीति करता हुआ, **नो मणं उच्चावयं नियच्छइ**—मन को अस्थिर नहीं होने देता, अतएव, **नो विणिघायमावज्जइ**—वह विनाश को नहीं प्राप्त होता, यही, **पढमा सुहसेज्जा**—प्रथमा सुखशय्या है।

अहावरा दोच्चा सुहसेज्जा—इसके पश्चात् दूसरी सुखशय्या है, **से णं मुंडे जाव पव्वइए**—वह अल्पकर्मी मुण्डित होकर यावत् प्रव्रजित होकर, **सएणं लाभेणं तुस्सइ**—अपने लाभ से सन्तुष्ट रहता है, **परस्स लाभं णो आसाएइ**—पर के लाभ की आशा नहीं करता, **णो पीहइ**—अन्य के फल की इच्छा नहीं करता है, **णो पत्थेइ**—उसकी प्रार्थना नहीं करता है और, **णो अभिलसइ**—प्राप्त होने पर अधिक की इच्छा नहीं करता है, इस प्रकार, **परस्स लाभमणासाएमाणे जाव**—पर के लाभ की इच्छा न करता हुआ यावत्, **अणभिलसमाणे**—प्राप्त होने पर अधिक की आशा न करता हुआ, **नो मणं उच्चावयं णियच्छइ**—अपने मन को ऊंचा नीचा नहीं होने देता अतएव, **नो विणिघायमावज्जइ**—विनाश को प्राप्त नहीं होता। यही, **दोच्चा सुहसेज्जा**—दूसरी सुख शय्या है।

अहावरा तच्चा सुहसेज्जा—इसके अनन्तर एक तीसरी सुखशय्या भी है, **से णं मुंडे जाव पव्वइए**—वह मुण्डित हो यावत् प्रव्रजित हुआ, **दिव्वमाणुस्सए कामभोगे णो आसाएइ**—दिव्य और मनुष्य-सम्बन्धी कामभोगों की, **जाव णो आसाएइ**—यावत् आशा नहीं करता। **दिव्वमाणुस्सए कामभोगे**—दिव्य और मनुष्य-सम्बन्धी कामभोगों की, **अणासाएमाणे जाव अणभिलसमाणे**—आशा न करता हुआ यावत् प्राप्ति होने पर अधिक की इच्छा न करता हुआ, **नो मणं उच्चावयं नियच्छइ**—मन को अस्थिर नहीं करता। अतएव, **णो विणिघायमावज्जइ**—विनाश को प्राप्त नहीं होता, यही, **तच्चा सुहसेज्जा**—तीसरी सुखशय्या है।

अहावरा चउत्था सुहसेज्जा—तदनन्तर चौथी सुखशय्या है, **से णं मुंडे जाव पव्वइए**—वह मुण्डित हो यावत् प्रव्रजित हो जाता है, **तस्स णं एवं भवइ**—तब उसके मन में यह भाव पैदा होता है, **जइ ताव**—यदि, **अरहंता भगवंतो**—अरिहन्त भगवन्त, **हट्ठा**—हर्ष युक्त, **आरोग्गा**—रोग-रहित, **बलिया**—बलवान् और, **कल्लसरीरा**—शरीर के सामर्थ्य से युक्त, **अन्नयाइं**—अन्यतर कई, **ओरालाइं**—प्रधान, **कल्लाणाइं**—कल्याण रूप, **विउलाइं**—महान, **पयत्ताइं**—उत्कृष्ट संयम सहित, **पग्गहियाइं**—आदर पूर्वक ग्रहण किए गए, **महाणुभागाइं**—अचिन्त्य शक्ति सहित, **कम्मक्खयकारणाइं**—कर्मक्षय के कारण, **तवो-कम्माइं पडिवज्जंति**—तपःकर्म ग्रहण करते हैं, **किमंग पुण अहं**—तो फिर क्यों मैं,

अब्भोवगमिओवक्कमियं वेयणं—इच्छापूर्वक लुञ्चन, ब्रह्मचर्यादि से और रोगादि से उत्पन्न वेदना को, **नो सम्मं सहामि**—सम्यक् प्रकार से सहन नहीं करता, **खमामि**—सम्यक् प्रकार से क्षमा धारण नहीं करता, **तितिक्खेमि**—क्यों नहीं सहिष्णुता को बनाए रखता और, **अहियासेमि**—क्यों अदीन भाव से उन्हें सहन नहीं करता हूं। **ममं च णं**—यदि मेरे द्वारा, **अब्भोवगमिओवक्कमियं**—केश लुञ्चनादि से उत्पन्न तथा रोगादि से उत्पन्न वेदना, **सम्ममसहमाणस्स**—भली प्रकार सहन नहीं की जाती, **अक्खममाणस्स**—मैं क्षमा धारण नहीं करता, **अतितिक्खमाणस्स**—सहिष्णु बन कर नहीं रहता और, **अणहियासेमाणस्स**—अदीनभाव पूर्वक सभी कष्टों को सहन नहीं करता, **किं मन्ने कज्जइ?**—तो मैंने साधु बनकर किया ही क्या है? अर्थात् कुछ नहीं किया, **एगंतसो मे पावे कम्मे कज्जइ**—ऐसी दशा में एकान्तरूप से मेरे द्वारा पाप कर्म ही किया जा रहा है। **ममं च णं**—इसलिए मुझे यह मानना चाहिए कि मेरे द्वारा, **अब्भोवगमिओ जाव**—केश-लुञ्चनादि और रोगादि से उत्पन्न वेदना को, **सम्मं सहमाणस्स जाव**—भली प्रकार सहन करने पर, **अहियासेमाणस्स**—अदैन्यभाव से सहन करने पर ही, **किं मन्ने कज्जइ?**—मेरे द्वारा कुछ किया जा रहा है? **एगंतसो मे**—मेरे द्वारा एकान्त, **निज्जरा कज्जइ**—निर्जरा की जा रही है। **चउत्था सुहसेज्जा**—यही भावना चौथी सुख-शय्या है।

मूलार्थ—चार सुखशय्याएं प्रतिपादित की गई हैं, यथा उनमें से यह पहली सुख शय्या है—

१. अल्पकर्मों वाला साधक मुण्डित होकर गृहवास छोड़कर प्रव्रजित हो जिनशासन में शंका न करता हुआ और पर-मत की आकांक्षा न करता हुआ तथा "यह सत्य अथवा झूठ है" इस सन्देह से मुक्त हुआ एवं शास्त्रोक्त बात सत्य है, ऐसा कहता हुआ जिन-प्रवचन में श्रद्धा रखता है, विश्वास रखता है और प्रीति रखता है। इस प्रकार जिन-प्रवचन में श्रद्धा, विश्वास और प्रीति रखने वाला मन को डावांडोल नहीं होने देता। अतएव विनाश को प्राप्त नहीं होता। यही भावना पहली सुख-शय्या है।

२. इसके पश्चात् दूसरी सुखशय्या यह है—अल्प कर्मों वाला साधक मुण्डित एवं प्रव्रजित आदि होकर अपने ही लाभ में सन्तुष्ट रहता है, पराए लाभ की इच्छा नहीं रखता, न दूसरे के लाभ की याचना करता है और न अभिलाषा ही करता है। पराये लाभ को न प्राप्त करता हुआ, प्राप्त होने पर भी अधिक की इच्छा नहीं करता, मन को अस्थिर नहीं बनाता, इसीलिए वह विनाश को प्राप्त नहीं होता। यही भावना दूसरी सुखशय्या है।

३. इसके पश्चात् तीसरी सुख-शय्या यह है- अल्पकर्मा साधक मुण्डित एवं

दीक्षित होकर देव और मनुष्यों के भोगों की अभिलाषा नहीं करता, प्राप्त होने पर अधिक की आशा नहीं करता। देव और मनुष्यों के कामभोगों को न प्राप्त करता हुआ और अधिक की इच्छा न रखता हुआ मन को अस्थिर नहीं बनाता। अतएव विनाश को प्राप्त नहीं होता। यही भावना तीसरी सुखशय्या है।

४. इसके अनन्तर यह चौथी सुखशय्या है-अल्प कर्मों वाला साधक मुण्डित एवं प्रव्रजित आदि होने पर अपने मन में यह विचार करता है कि यदि अरिहन्त भगवान हर्षयुक्त, रोगरहित, बलवान और शारीरिक सामर्थ्य से युक्त, किसी महान् कल्याणकारी उत्कृष्ट संयम से सम्पन्न, सत्प्रयत्न से युक्त अचिन्त्य शक्तिमान् और कर्मों के क्षय करने वाले होने पर भी—तपश्चर्याओं को स्वेच्छा से ग्रहण करते हैं तो फिर मैं केशलुञ्चन, ब्रह्मचर्य तथा ज्वरादि से उत्पन्न वेदना को भली-भाँति क्यों न सहन करूं? मैं क्यों न क्षमा धारण करूं? मैं क्यों न सहिष्णुता को अपनाऊं? क्यों न सब कष्टों को अदीन भाव से सहन करूं? यदि मैं केशलुञ्चन और रोगादि से उत्पन्न वेदना को अच्छी तरह से सहन न करूंगा, क्षमा-भाव न धारण करूंगा, सहिष्णुता को न अपनाऊंगा और सब कष्टों को अदीनता से न सहूंगा तो मैं एकान्त रूप से पाप कर्मों के करने वाला होऊंगा और यदि इसके विपरीत समता का आचरण करूंगा तो एकान्त रूप से निर्जरा (कर्मक्षय) करने वाला होऊंगा। यही भावना चौथी सुखशय्या है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में दुःखशय्या का वर्णन किया गया है। वस्तुतः सुख के अभाव का नाम ही दुख है, अतः दुःख वास्तविक नहीं, सुख ही वास्तविक है, वास्तविकता की ही अभिलाषा होती है, इसीलिए सारा संसार सुख चाहता है, दुःख नहीं।

साधक का वास्तविक ध्येय है श्रद्धा का राजमार्ग, यथालाभ सन्तोष की भावना, सांसारिक सुखों में अनासक्ति और सहिष्णुता का जीवन के साथ सामञ्जस्य। इसी ध्येय की ओर बढ़ते हुए साधक का मन उसी प्रकार स्थिर हो जाता है, जैसे समुद्र को प्राप्त कर नदी का जल स्थिर हो जाया करता है। यही स्थिरता ही तो सुखशय्या है। सुख भी दो प्रकार का होता है, बाह्य सुख और आन्तरिक सुख। बाह्य सुख भी उस समय दुःख बन जाता है जब अन्तर में अशान्ति होती है, अतः अन्तःकरण की शान्ति ही सच्चा सुख है और इसी सुख को भाव-सुख कहा जाता है। निम्नलिखित चार रूप भावसुख के ही प्रदर्शित किए गए हैं—

प्रथम सुख-शय्या—जब कोई साधनाशील व्यक्ति संसार से उदासीन होकर साधुत्व के पावन पथ पर चल पड़ता है और फिर निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर अचल निष्ठा लिए हुए उस पर विश्वास करता है, उसमें रुचि लेकर उसके अनुरूप आचरण करता है, मन को शान्त

एवं स्थिर रखकर उसे धर्म-मार्ग पर आरूढ़ किए रहता है, तब उसे जीवन में जिस अन्तःसुख की प्राप्ति होती है, वही उस साधक के लिए प्रथम सुखशय्या कही जाती है।

द्वितीय सुख-शय्या—नीतिकारों का कथन है कि "**सन्तुष्टा नृपा नष्टाः, असन्तुष्टाश्च साधवः**" जैसे प्राप्त धन वैभव से परितृप्त होकर बैठे रहने वाला राजा नष्ट हो जाता है, वैसे ही असन्तुष्ट रहने वाला साधु भी नष्ट हो जाया करता है। असन्तोष वह आग है जो कभी शान्त नहीं होती है, अतः जो साधक जीवन-यात्रा को चलाने के लिए यथा-अवसर प्राप्त साधनों से सन्तुष्ट रहता है, दूसरों के द्वारा लाए हुए पदार्थों की तृष्णा में नहीं भटकता, इस प्रकार सर्वदा तृप्त एवं स्वावलम्बी रहने वाला साधक जीवन में जिस सुख की अनुभूति करता है वही सुख साधक की दूसरी सुखशय्या है, जिस पर विश्राम करके उसका मन परितृप्त हो जाता है।

तीसरी सुख-शय्या—जो मुमुक्षु साधक साधुत्व को अपना कर, वासना-जन्य सुखों से उदासीन रहता है, परित्यक्त भोगों को वमित पदार्थों सा हेय मानता है, इस धरती के तो क्या स्वर्गीय विलासों के सुख को भी ठुकरा देता है और इस प्रकार संयम-पथ का अमर पथिक बनकर जिस दिव्य आनन्द की अनुभूति करता है, वही उसके लिए तीसरी सुख-शय्या है जिस पर बैठकर उसका मन सन्तुष्ट एवं आनन्द निमग्न होता है।

चौथी सुख-शय्या—जो साधक दीक्षित होने के अनन्तर यह विचार करता है कि 'जब कि तीर्थंकरदेव शोक आदि से मुक्त, शारीरिक रोगों से रहित, सर्व-समर्थ, शक्ति के अक्षय स्रोत, सर्वांग-पूर्ण अनुपम सौन्दर्य से सम्पन्न कल्यशरीरी होते हुए भी तप की साधना करते हैं, अनेकविध उपसर्गों एवं परीषहों को सहन करते हैं, तब मुझे भी तो 'तप' की साधना करनी ही चाहिए, इसलिए मैं सुखशीलता का परित्याग करूंगा, सब प्रकार की विभूषाओं से दूर रहूंगा, तपस्या करते हुए आने वाले प्रत्येक कष्ट को सहर्ष सहन करूंगा। हर्ष सहित की जाने वाली तप की साधना में साधक को ऐसे ही विशेष आनन्द की अनुभूति होने लगती है, जैसे पर्वतीय हिमशिखरों पर चढ़ने वालों को आगे-आगे की मंजिल पर पहुंचते हुए मार्ग के कष्ट सुखदायी प्रतीत होते हैं। कष्टों से खेलते हुए प्राप्त होने वाले इस हर्ष को ही चौथी सुख-शय्या कहा गया है।

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने तप-कर्म के जो विशेषण दिए हैं उनके द्वारा तप के उद्देश्य, तप की साधना-प्रक्रिया और तप के फल पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। जैसे कि—

१. **ओरालाइं**—अर्थात् साधक का तप निदान से एवं कर्म-फल की प्राप्ति की भावना से रहित होने पर ही सफल होता है।

२. **कल्लाणाइं**—कर्म-निर्जरा करते हुए आत्म-कल्याण एवं आत्मोद्धार ही साधक का लक्ष्य रहना चाहिए और उसमें यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि तप के द्वारा ही मैं अपना कल्याण कर सकता हूं।

३. विपुलाइं—अर्थात् तपस्या का क्रम निरन्तर चलना चाहिए, व्यवधान हो जाने पर तप का प्रभाव बिखर जाता है और साधक की कुछ काल में सफल होने वाली तपस्या दीर्घकाल तक भी सफल नहीं हो पाती है।

४. पयत्ताइं—अर्थात् सर्वतो भावेन जीवन को संयम-मय बनाकर तप करना। तपस्या काल के अतिरिक्त समय में भी मन और इन्द्रियों पर नियन्त्रण रहने से ही तपस्या सफल हो सकती है।

५. पग्गहियाइं—अर्थात् जो भी साधना अपनाई जाए वह रुचि से अपनाई जानी चाहिए, भार समझकर नहीं, क्योंकि रुचिपूर्वक की जाने वाली क्रिया ही सरलता से सम्पन्न होकर उल्लासदायिनी बन सकती है।

६. महाणुभागाइं—अर्थात् तप को जीवन का महान सौभाग्य और अक्षय शक्तियों का महास्रोत समझते हुए अपनाना चाहिए।

७. कम्मक्खयकारणाइं—अर्थात् यह समझना चाहिए कि मैं तप की अग्नि में अपने समस्त कर्मों को भस्म करके कर्मभार से मुक्त हो रहा हूं, यह तप नहीं, अपितु कर्मों के भार से मुक्ति का अमोघ साधन है।

इस प्रकार अक्षय विश्वास-पूर्वक किया जाने वाला तप ही मानसिक आनन्द का कारण बनकर सुख-शय्या का रूप धारण कर लेता है।

सूत्रकार ने आभ्युपगमिकी और औपक्रमिकी वेदनाओं का उल्लेख किया है। इन दोनों वेदनाओं की स्थिति इस प्रकार है—

आभ्युपगमिकी—आभ्युपगमिकी वेदना उसे कहा जाता है जिसे साधक जीवन के क्षेत्र में जान बूझकर बुलाता है, उसे स्वयं निमन्त्रित करता है और उससे खेलता हुआ कर्म-निर्जरा सम्पन्न करता है। केशलोच के द्वारा, सुदीर्घ उपवासों के द्वारा, शीत-घाम आदि परीषहों को सहन करते हुए जो वेदना होती है वह निमन्त्रित वेदना होने से आभ्युपगमिकी ही होती है। सहिष्णु-साधक की वीरता द्वारा यह वेदनाओं को दी जाने वाली चुनौती है।

औपक्रमिकी—यह वेदना पूर्व कृत कर्म के भोग रूप में जीवन में आया करती है, रोग उत्पन्न हो जाने पर, किसी दुर्घटना से आहत होने पर होने वाली एवं इसी प्रकार की अन्य वेदनाएं औपक्रमिकी कहलाती हैं। ये साधक के जीवन में निमन्त्रित नहीं की जातीं, स्वतः आती हैं।

सच्चा साधक दोनों प्रकार की वेदनाओं से खेलता हुआ हंसते-हंसते अपने को कर्मभार से मुक्त कर देता है।

चतुर्विध अवाचनीय एवं वाचनीय

मूल—चत्तारि अवायणिज्जा पण्णत्ता, तं जहा—अविणीए, विगइ-

पडिबद्धे, अविओसविअपाहुडे, माई।

चत्तारि वायणिज्जा पण्णत्ता, तं जहा—विणीए, अविगइपडिबद्धे, विओसविअपाहुडे, अमाई ॥१०८॥

छाया—चत्वारोऽवाचनीयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अविनीतः, विकृतिप्रतिबद्धः, अव्यवशमितप्राभृतः, मायी।

चत्वारो वाचनीयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—विनीतः, अविकृतिप्रतिबद्धः, व्यवशमित-प्राभृतः, अमायी।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के व्यक्ति शास्त्र-वाचना के अनधिकारी माने जाते हैं—अविनीत, विकृतिजनक पदार्थों के लोलुपी, अत्यन्त क्रोधी और कपटी। चार व्यक्ति शास्त्र-वाचना के अधिकारी माने गए हैं, विनयशील, विकृतिजनक पदार्थों का सेवन न करने वाला, क्रोध न करने वाला तथा मायारहित।

विवेचनिका—पूर्व सूत्रों में दुःखशय्या और सुखशय्याओं का वर्णन किया गया है। इनमें से सुखशय्या उसी साधक को उपलब्ध हो सकती है जिसने केवलज्ञानी महापुरुषों के वचनामृत का—शास्त्रों के मधुर सलिल-सिन्धु का पान किया होगा, परन्तु शास्त्र-सिन्धु के अमृत-पान का अधिकारी कौन हो सकता है और कौन नहीं, यह प्रश्न विचारणीय है, इसी प्रश्न का प्रस्तुत सूत्र में समाधान किया गया है।

विनीतः—शास्त्रों के अध्ययन का अधिकारी बनने के लिए पहली शर्त है—विनयशीलता। ज्ञान-प्राप्ति के लिए ज्ञानदाता की प्रसन्नता अनिवार्य है, प्रसन्नता की अवस्था में ही अध्ययन करवाने वाले के ज्ञान-द्वार खुले रहते हैं और उसे प्रसन्न कर सकती है केवल शिष्य की विनयशीलता। विनय सम्मान की जननी है, जब तक शिष्य की विनय गुरु के प्रति एवं शास्त्र के प्रति सम्मान नहीं प्रदर्शित करेगी तब तक वह अध्ययन करके भी कुछ प्राप्त नहीं कर सकता है। सम्मान श्रद्धा एवं रुचि को जन्म देता है। गुरु के प्रति श्रद्धा और शास्त्र के प्रति रुचि जागृत होने पर ही शिष्य ज्ञान-प्राप्ति में समर्थ हो सकता है, अतः अविनीत को शास्त्राध्ययन के अयोग्य एवं विनीत को शास्त्र-अध्ययन के योग्य कहा गया है।

अविकृतिप्रतिबद्धः—शास्त्रों की भाषा में विकृति का अर्थ है घी, दूध, मक्खन आदि वे पदार्थ जो शरीर में शक्ति का संचार करते हैं। किशोरावस्था के अनन्तर शारीरिक शक्तियों का अनायास ही विकास होने लगता है और यही समय स्वाध्याय के लिए निश्चित किया गया है। यदि इस समय शिष्य अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ अपनी शक्तियों को स्वाध्याय पर केन्द्रित कर देता है तो वह अपने स्वाध्याय में सफल हो

जाता है, इस दशा में स्वाध्यायशील को उन पदार्थों और परिस्थितियों से बचना चाहिए जो उसके ब्रह्मचर्य को भंग कर सकती हैं। घी, दूध आदि पदार्थ शारीरिक शक्तियों को उत्तेजित कर उन्हें ब्रह्मचर्य से विचलित कर देते हैं, अतः इस अवस्था में उसे घी, दूध आदि पदार्थों में आसक्त नहीं होने देना चाहिए। इसलिए घी, दूध आदि विकारोत्पादक पदार्थों में अनासक्त रहने वाले को ही शास्त्र-स्वाध्याय का अधिकारी बताया गया है और उनमे आसक्त रहने वाले को शास्त्र-स्वाध्याय का अनधिकारी घोषित किया गया है।

यहां यह भी स्मरणीय है कि घी, दूध आदि पदार्थ अपनी गरिष्टता एवं चिकनाहट के कारण आलस्योत्पादक होते हैं, और "**अलसस्य कुतो विद्या**"—आलसी के पास विद्या कहां ? की उक्ति सर्वमान्य ही है।

यहां घी, दूध आदि पौष्टिक पदार्थों के सेवन का सर्वथा निषेध नहीं किया गया है, अपितु उनके प्रति अनासक्ति एव उनकी मात्रा नियन्त्रित रखने का संकेत किया गया है।

व्यवशमितप्राभृतः—कहते हैं 'विद्या' शान्ति की गोद में पलती है। ठीक भी है जब तक अध्येता का मन शान्त न होगा तब तक वह स्थिर होकर स्वाध्याय में कैसे प्रवृत्त हो सकता है? मानसिक अशान्ति का सबसे बड़ा कारण क्रोध है, क्योंकि क्रोध के जागृत होते ही शरीर-शास्त्र के अनुसार रक्तचाप बढ़ जाता है, मस्तिष्क में गरमी भर जाती है और ऐसी दशा में मन और बुद्धि दोनो विकृत हो जाते हैं। स्वाध्याय के लिए चित्तवृत्तियों की एकाग्रता एवं बुद्धि की स्वस्थता अनिवार्य है और क्रोध में दोनों का ही अभाव हो जाता है। साथ ही बात-बात पर क्रुद्ध होने वाले शिष्य पर गुरु की कृपा नही रहती और गुरु-हृदय में क्रोधी के प्रति उपेक्षा जागृत हो जाती है। दूसरी ओर क्रोधी क्रोधावेश में आपे से बाहर हो जाता है और गुरु के प्रति आदर और शास्त्र के प्रति सम्मान एव रुचि को खो देता है, अतः स्वाध्याय शील के लिए क्रोध पर विजयी होना अनिवार्य है। इसीलिए शास्त्रकार स्वाध्यायशील के लिए 'व्यवशमित-क्रोध' वाला होना आवश्यक समझते हुए क्रोधी को शास्त्र-स्वाध्याय का अनधिकारी घोषित करते हैं।

अमायी—माया का अर्थ है छल-कपट। जिसकी चित्तवृत्तिया छल-प्रपञ्चों में उलझी हुई हैं, जिसके व्यवहार में कपट भरा हुआ है, उसका मन सर्वदा इस भय से भयभीत रहता है कि 'कही मेरे ढोल की पोल न खुल जाय।' भयभीत का मन स्थिर नहीं रहता और स्थिरता के अभाव में वह स्वाध्याय मे प्रवृत्त भी नही हो सकता। कपटी व्यक्ति अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है, वह अन्य स्वाध्यायशील साथियों को भी विचलित करता है, उनका समय नष्ट करता है और फिर उपाध्याय आदि के पूछने पर नाना प्रकार के झूठ-फरेब करता है। इस प्रकार वह स्वय विकृत होता है, साथियो को भी विकृत करता है और गुरुजनों के मन को भी परितप्त करता है। इसलिए उसे स्वाध्याय के अयोग्य ठहराते हुए, निष्कपट शिष्य को ही शास्त्र-स्वाध्याय के योग्य ठहराया गया है।

आज के विद्यार्थी प्राय: अविनीत, क्रोधी, विकृत-भोजनसेवी एवं कपटी हैं, अत: उनकी विद्या भी सफल नही हो पाती है और आज भी विनयशील छात्र सफलता-पथ पर बढ़ते देखे जा सकते हैं।

अनेक दृष्टियों से पुरुष-भेद

मूल—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—आयंभरे नाममेगे नो परंभरे, परंभरे नाममेगे नो आयंभरे, एगे आयंभरेवि परंभरेवि, एगे नो आयंभरे नो परंभरे।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—दुग्गए नाममेगे दुग्गए, दुग्गए नाममेगे सुग्गए, सुग्गए नाममेगे दुग्गए, सुग्गए नाममेगे सुग्गए।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा— दुग्गए नाममेगे दुव्वए, दुग्गए नाममेगे सुव्वए, सुग्गए नाममेगे दुव्वए, सुग्गए नाममेगे सुव्वए।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—दुग्गए नाममेगे दुप्पडियाणंदे, दुग्गए नाममेगे सुप्पडियाणंदे ०४ ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—दुग्गए नाममेगे दुग्गइगामी, दुग्गए नाममेगे सुग्गइगामी ०४ ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—दुग्गए नाममेगे दुग्गइंगए, दुग्गए नाममेगे सुगइंगए ०४ ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—तमे नाममेगे तमे, तमे नाममेगे जोई, जोई नाममेगे तमे, जोई नाममेगे जोई।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—तमे नाममेगे तमबले, तमे नाममेगे जोइबले, जोई नाममेगे तमबले, जोई नाममेगे जोइबले।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—तमे नाममेगे तमबलपलज्जणे, तमे नाममेगे जोइबलपलज्जणे ०४ ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—परिन्नायकम्मे नाममेगे नो परिन्नायसन्ने, परिन्नायसन्ने नाममेगे णो परिन्नायकम्मे, एगे परिन्नाय-कम्मेवि ०४ ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—परिन्नायकम्मे नाममेगे नो परिन्नायगिहावासे, परिन्नायगिहावासे णामं एगे णो परिन्नायकम्मे ०४ ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—परिन्नायसन्ने नाममेगे नो परिन्नायगिहावासे, परिन्नायगिहावासे णामं एगे०४।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—इहत्थे णाममेगे नो परत्थे, परत्थे नाममेगे नो इहत्थे ०४।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—एगेणं णाममेगे वड्ढइ एगेणं हायइ, एगेणं णाममेगे वड्ढइ दोहिं हायइ, दोहिं णाममेगे वड्ढइ एगेणं हायइ, दोहिं नाममेगे वड्ढइ दोहिं हायइ ॥१०९॥

छाया—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आत्मम्भरिर्नामैको नो परम्भरिः, परम्भरिर्नामैको नो आत्मम्भरिः, एक आत्मम्भरिरपि परम्भरिरपि, एको नो आत्मम्भरिर्नो परम्भरिः।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—दुर्गतो नामैको दुर्गतः, दुर्गतो नामैकः सुगतः, सुगतो नामैको दुर्गतः, सुगतो नामैकः सुगतः।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—दुर्गतो नामैको दुर्व्रतः, दुर्गतो नामैकः सुव्रतः, सुगतो नामैको दुर्व्रतः, सुगतो नामैकः सुव्रतः।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—दुर्गतो नामैको दुष्प्रत्यानन्दः, दुर्गतो नामैकः सुप्रत्यानन्दः०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—दुर्गतो नामैको दुर्गतिगामी, दुर्गतो नामैकः सुगतिगामी०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—दुर्गतो नामैको दुर्गतिंगतः, दुर्गतो नामैकः सुगतिंगतः ०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—तमो नामैकस्तमः, तमो नामैको ज्योतिः, ज्योतिर्नामैकस्तमः, ज्योतिर्नामैको ज्योतिः।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—तमो नामैकस्तमोबलः, तमो नामैको ज्योतिर्बलः, ज्योतिर्नामैकस्तमोबलः, ज्योतिर्नामैको ज्योतिर्बलः।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—तमो नामैकस्तमोबलप्ररञ्जनः, तमो नामैको ज्योतिर्बलप्ररञ्जनः ०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा परिज्ञातकर्मा नामैको नो परिज्ञातसंज्ञः, परिज्ञातसंज्ञा नामैको नो परिज्ञातकर्मा, एकः परिज्ञातकर्माऽपि ०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—परिज्ञातकर्मा नामैको नो परिज्ञातगृहावासः, परिज्ञातगृहावासो नामैको नो परिज्ञातकर्मा ०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—परिज्ञातसंज्ञो नामैको नो परिज्ञात-गृहावासः, परिज्ञातगृहावासो नामैको नो परिज्ञातसंज्ञः ०४ ।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—इहार्थो नामैको नो परार्थः, परार्थो नामैको नो इहार्थः ०४ ।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—एकेन नामैको वर्धते एकेन हीयते, एकेन नामैको वर्द्धते द्वाभ्यां हीयते, द्वाभ्यां नामैको वर्द्धते एकेन हीयते, द्वाभ्यां नामैको वर्द्धते द्वाभ्यां हीयते।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—१. चार प्रकार के पुरुष प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे कि—कुछ व्यक्ति अपना भरण-पोषण करते हैं, दूसरों का नहीं। कुछ व्यक्ति दूसरों का भरण-पोषण करते हैं, अपना नहीं। कुछ व्यक्ति अपना भरण-पोषण भी करते हैं और दूसरों का भी। कुछ व्यक्ति न अपना भरण-पोषण करते हैं और न ही दूसरों का भरण-पोषण किया करते हैं।

२. पुरुष चार प्रकार के होते हैं—कुछ पहले भी दुर्गति में थे और अब भी दुर्गति में हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो पहले तो दुर्गति में थे, किन्तु अब सद्गति को प्राप्त कर चुके हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो पहले तो सद्गति में थे, किन्तु अब दुर्गति में पड़े हुए हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो पहले भी सद्गति में थे और अब भी सद्गति में ही हैं।

३. पुरुष चार प्रकार के होते हैं—कुछ लोग धन-वैभव से रहित अर्थात् दरिद्र होते हैं और साथ ही दुर्व्रती अर्थात् सदाचारहीन भी। कुछ लोग धन-हीन दरिद्र होते हुए भी सुव्रती अर्थात् सदाचार-सम्पन्न होते हैं। कुछ लोग वैभव-सम्पन्न होते हुए भी दुर्व्रती अर्थात् दुराचारी होते हैं। कुछ लोग धन-वैभव और सदाचार दोनों से समृद्ध होते हैं।

४. चार प्रकार के पुरुष हुआ करते हैं—कुछ व्यक्ति दरिद्र होते हैं और साथ ही कृतघ्न भी होते हैं। कुछ व्यक्ति धन-वैभव से रहित होने पर भी कृतज्ञ हुआ करते हैं। कुछ व्यक्ति दरिद्र होते हुए भी अकृतज्ञ होते हैं और कुछ व्यक्ति धन-वैभव से समृद्ध होते हैं और साथ ही कृतज्ञता प्रकाशित करने वाले भी होते हैं।

५. चार प्रकार के पुरुष हुआ करते हैं- कुछ लोग धनहीन होते हैं और साथ ही दुर्गति को भी प्राप्त करते हैं, कुछ लोग धनहीन होते हैं परन्तु शुभ गति अर्थात् मंगलमय वातावरण में जाते हैं। शेष दो भंगों की कल्पना भी कर लेनी चाहिए।

६. पुरुष चार प्रकार के होते हैं—कुछ लोग दुर्गति अर्थात् दु:खों में जन्म लेकर दु:खों में ही रहते हैं और कुछ लोग दुर्गति में जन्म लेकर अपने सत्प्रयत्नों से सुख प्राप्ति कर लिया करते हैं। शेष दो भंगों की कल्पना भी कर लेनी चाहिए।

७. पुरुष-चार प्रकार के होते हैं—कुछ व्यक्ति तम अर्थात् अन्धकार से युक्त होते हैं और अज्ञानान्धकार की ओर ही जाते हैं। कुछ लोग अज्ञानदशा में रहते हुए भी ज्ञानमार्ग की ओर बढ़ते रहते हैं। कुछ लोग ज्ञानमय वातावरण में रहते हुए भी अज्ञानान्धकारमयी प्रवृत्तियों की ओर बढ़ते रहते हैं और कुछ लोग ज्ञानमय वातावरण में जन्म लेकर ज्ञानमार्ग की ओर ही उन्मुख रहते हैं।

८. चार प्रकार के पुरुष होते हैं, कुछ लोग अज्ञानमयी प्रवृत्तियों में जन्म लेते हैं और दुर्जनता को ही अपनी शक्ति मानते हैं, कुछ लोग अज्ञानमयी अवस्था में जन्म लेते हैं, परन्तु सज्जनता को ही जीवन-शक्ति मानते हैं। कुछ लोग सज्जनतामय वातावरण में अच्छे पुरुषों के घर जन्म लेकर भी दुर्जनता की शक्तियां प्राप्त करने में रत रहते हैं और कुछ लोग सज्जनता के वातावरण में उत्पन्न होकर और अधिक सौजन्य-शक्ति को पाने का ही प्रयास करते रहते हैं।

९. चार प्रकार के पुरुष होते हैं—कुछ लोग अज्ञानमय वातावरण में उत्पन्न होकर भी अज्ञानता से ही प्रसन्न होते हैं। कुछ लोग अज्ञानमय वातावरण में जन्म लेकर भी ज्ञान-मयी बातो से प्रसन्न होते हैं। शेष दो भंगो की कल्पना कर लेनी चाहिए।

१०. चार प्रकार के पुरुष होते हैं—कुछ लोग पापकर्म करना तो छोड़ देते हैं, किन्तु पाप-भावना का त्याग नहीं कर पाते। कुछ लोग पाप-भावना से तो घृणा करने लगते हैं, किन्तु पाप-कर्म का परित्याग नहीं कर पाते, कुछ लोग पाप-कर्म और पाप-भावना दोनों का त्याग कर देते हैं। कुछ लोग न पाप कर्म करना छोड़ते हैं और न पाप-भावना का परित्याग करते हैं।

११. पुरुष के चार रूप हैं—कुछ लोग सांसारिक कार्यों से उदासीन हो जाते हैं, परन्तु गृहवास का परित्याग नहीं करते। कुछ लोग गृहवास का परित्याग कर देते हैं, परन्तु सांसारिक कार्यों का परित्याग नहीं कर पाते, शेष दो भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

१२. चार प्रकार के पुरुष हैं—कुछ लोग गृहवास की भावना का त्याग कर देते हैं, परन्तु गृहवास का परित्याग नहीं करते। कुछ लोग गृहवास का त्याग कर देते

हैं, परन्तु गृहवास की भावना का त्याग नहीं कर पाते। शेष दो भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

१३. पुरुष चार प्रकार के होते हैं—कुछ लोग सांसारिक सुखों को चाहते हैं, किन्तु परलोक-सुख नहीं चाहते। कुछ लोग परलोक-सुख चाहते हैं, किन्तु सांसारिक सुखों की इच्छा नहीं रखते। शेष दो भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

१४. चार प्रकार के पुरुष होते हैं—कुछ लोग अपने को स्वाध्याय अर्थात् ज्ञान से युक्त बनाते हुए भी, विनय से हीन होते जाते हैं। कुछ लोग ज्ञान का संवर्धन करते हैं, किन्तु विनय और सम्यग्दर्शन इन दोनों से हीन होते जाते हैं। कुछ लोग विद्या और सम्यग्दर्शन से सम्पन्न होते हुए भी चारित्र से हीन होते जाते हैं और कुछ लोग विद्या और दर्शन से समृद्ध होते हुए भी चारित्र एवं विनय-इन दो साधनों से हीन होते रहते हैं।

विवेचनिका—पूर्वसूत्र में वाचना योग्य एवं वाचना के अनधिकारी पुरुषों का वर्णन किया गया है। इसी पुरुष-विश्लेषण के अनुरूप शास्त्रकार पुनः मानव-व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए अनेक दृष्टियों से मानवीय व्यक्तित्व की व्याख्या करते हैं—

१. भरण-पोषण की दृष्टि से— इस दृष्टि से मानव-व्यक्तित्व के चार रूप हमारे समक्ष आते हैं—

पहले वे व्यक्ति होते हैं जो केवल अपने भरण-पोषण में ही लीन रहते हैं और दूसरों के भरण-पोषण से उदासीन रहते हैं। लौकिक दृष्टि से ऐसे लोगों को स्वार्थी और आध्यात्मिक दृष्टि से ऐसे लोगो को 'जिनकल्पी' कहा जाता है। दूसरे वे व्यक्ति होते हैं जिन्हें अपने भरण-पोषण की कोई चिन्ता नहीं होती वे केवल दूसरों के ही भरण-पोषण की चिन्ता किया करते हैं। लौकिक दृष्टि से ये लोग परोपकारी और आध्यात्मिक दृष्टि से ऐसे महापुरुष ही तीर्थंकर कहलाते हैं। तीसरे वे व्यक्ति होते हैं जो अपने भरण-पोषण का भी ध्यान रखते हैं और दूसरों के भरण-पोषण का भी। ऐसे लोग लौकिक दृष्टि से आत्मकल्याणकारी एवं परोपकारी दानी कहलाते हैं, आध्यात्मिक दृष्टि से इन्हें ही 'स्थविरकल्पी' कहा जाता है, क्योंकि ये शास्त्रानुमोदित चारित्र का पालन करते हुए अपना और अन्य जीवों को धर्म उपदेश देकर उनका भी उत्थान किया करते हैं। चौथे वे व्यक्ति होते हैं जो न तो अपना भरण-पोषण करते हैं और न ही दूसरों का। ऐसे लोगों को सांसारिक वातावरण में आलसी और अध्यात्मिक पक्ष में 'साधना-प्रमादी' कहा जाता है।

२. दुर्गति और सुगति की दृष्टि से—दुर्गत का अर्थ है वह व्यक्ति जो लौकिक वातावरण में धन-वैभव से रहित है और अलौकिक वातावरण में जो ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र रूप त्रिरत्न से वंचित है। सुगत का अर्थ है वह व्यक्ति जो लोक में धन-वैभव से सम्पन्न

है और पारलौकिक क्षेत्र में जो त्रिरत्न-प्राप्ति का अवसर प्राप्त कर चुका है। इस दृष्टि से भी पुरुष के चार रूप कहे गए हैं।

पहले रूप में ऐसे व्यक्ति आते हैं जो पूर्व जन्मार्जित पाप-प्रभाव के कारण ऐसे वातावरण में उत्पन्न हुए हैं जहां धन-वैभव तो क्या खाने का भी ठिकाना न था और साथ ही दुष्प्रवृत्तियों के कारण जो आध्यात्मिक सम्पत्ति रूप त्रिरत्न से भी वञ्चित रहे, इस प्रकार दुर्गति-अवस्था में जन्म लेकर सर्वदा इसी अवस्था में रहने वाले व्यक्ति दुर्गत-दुर्गत कहलाते हैं। दूसरे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो दुर्गत अवस्था में जन्म लेते हैं, परन्तु महापुरुषों के सत्संग में प्राप्त उद्बोधन द्वारा एवं तपस्या आदि के द्वारा अन्तराय कर्म का क्षयोपशम करके धन-वैभव भी प्राप्त कर लेते हैं और आध्यात्मिक पक्ष में त्रिरत्न-साधना की ओर उन्मुख भी हो जाते हैं। तीसरे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो पूर्व जन्मार्जित पुण्य-कर्म-प्रभाव से सुगति अवस्था में जन्म लेते हैं, परन्तु दुष्प्रवृत्तियों की ओर बढ़ते हुए धन-वैभव को खो देते हैं और आध्यात्मिक सम्पत्ति से भी हाथ धो बैठते हैं। चौथे प्रकार के वे पुण्यात्मा व्यक्ति होते हैं जो धन-वैभव-सम्पन्न कुल में जन्म लेकर सत्कर्म करते हैं, महापुरुषों के सान्निध्य में रहकर आध्यात्मिक सम्पत्ति से भी सम्पन्न रहते हैं और अपने जीवन की इसी स्थिति को स्थिर रखते हैं, ऐसे व्यक्तियों को शास्त्रकार सुगत-सुगत कहते हैं।

३. गतित्व और व्रतित्व की दृष्टि से—गति शब्द का अर्थ है स्थिति, बुरी स्थिति के उस व्यक्ति को दुर्गत कहा जाता है जो भौतिक वैभव और धार्मिक वैभव दोनों से ही वंचित है। "**दुव्वए**" शब्द के दो अर्थ हैं—**दुर्व्रतः**— अर्थात् सत्कर्मों में प्रवृत्ति से रहित और **दुर्व्यय**—प्राप्त सम्पत्ति का अपव्यय करने वाला। '**सुगए**' शब्द का अर्थ है वैभव-सम्पन्न और **सुव्वए** का अर्थ है सदाचारी एवं समुचित व्यय करने वाला व्यक्ति। इस दृष्टि से भी मानव-व्यक्तित्व के चार रूप प्राप्त होते हैं।

पहले वे व्यक्ति हैं जो धन वैभव से तो हीन हैं और साथ ही दुराचारी हैं एवं जो कुछ प्राप्त होता है उसका भी अपव्यय करने वाले हैं। आज कल का वह व्यसनी मजदूर वर्ग इसी श्रेणी में आता है जो दिन भर में कठिनाई से चार पैसे कमाता है, परन्तु उसे शाम को बच्चों के मुख में रोटी न डालकर जुए और शराब आदि में खो देता है। दूसरे प्रकार के वे व्यक्ति हैं जो दुर्गति अवस्था में जन्म लेकर भी सदाचार का पालन करते हैं और जो कुछ कमाते हैं उसका समुचित व्यय भी करते हैं। एक प्राचीन कथा में एक गरीब किसान ने एक राजा से अपनी कमाई का विवरण बताते हुए कहा था, मैं एक रुपया रोज कमाता हूं, उसमें से चार आने खाता हूं, चार आने से कर्जा चुकाता हूं, चार आने कर्जा देता हूं और चार आने जमा करता हूं, (खाता हूं, माता-पिता को देता हूं, बच्चों पर व्यय करता हूं, धर्म में लगाता हूं।) यह किसान इसी दूसरी श्रेणी का दुर्गत-सुव्रत था। तीसरे प्रकार के वे व्यक्ति हैं जो पूर्व जन्मों के पुण्योदय के कारण वैभव-सम्पन्न कुलों में जन्म लेते हैं, परन्तु कुल-परम्पराओं

को तिलाञ्जलि देकर दुराचार में लग जाते हैं और इस प्रकार प्राप्त वैभव का अपव्यय भी करते हैं। आज का ऐश पसन्द धनी वर्ग इसी कोटि के अन्तर्गत आता है। चौथे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो सुगति अवस्था में जन्म लेते हैं और जीवन भर सदाचार-निष्ठा का पालन करते हैं और प्राप्त धन-वैभव को अच्छे कामों में ही लगाते हैं। महाश्रावक सेठ सुदर्शन जैसे व्यक्ति इसी कोटि में रखे जा सकते हैं।

४. वैभव एवं उपकार की दृष्टि से—'दुर्गत' एवं 'सुगत' शब्दों का अभिप्राय स्पष्ट हो ही चुका है। "**दुप्पडियाणंदे**" शब्द का अर्थ है '**दुष्प्रत्यानन्दः**' अर्थात् किए हुए उपकार को न मानने वाला व्यक्ति और '**सुप्पडियाणंदे**'—शब्द का अर्थ है किए हुए उपकार को मानने वाला व्यक्ति, धन-वैभव एवं दरिद्रता तथा कृतज्ञता एवं अकृतज्ञता की दृष्टि से भी चार प्रकार के व्यक्ति देखे जाते हैं—पहले वे व्यक्ति जो अशुभ कर्मों के कारण दरिद्र हैं, परन्तु उनकी हालत पर तरस खाकर उन पर जो उपकार करते हैं वे उस उपकार को मानते नहीं हैं अर्थात् दरिद्र और अनुपकारी। दूसरे प्रकार के व्यक्ति होते हैं जो गरीब अवश्य होते हैं, परन्तु अपने ऊपर उपकार करने वालों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं, नमक हराम नहीं होते। तीसरे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो पैसे वाले तो होते हैं, परन्तु किसी के किए हुए उपकार को नहीं मानते, जो यह समझते हैं कि हमने सबको पैसे से खरीदा हुआ है और सबसे चांदी के जूते के बल पर काम लेते हैं। यहां सब हमारे पैसे को नमस्कार करने वाले हैं। चौथे प्रकार के वे सज्जन व्यक्ति होते हैं जो धन-वैभव से सम्पन्न होते हुए भी उपकारी के प्रति कृतज्ञ रहते हैं, उनका सम्मान करते हैं और उन्हें आदर देते हैं।

५. वर्तमान गति और भावी गति की दृष्टि से—इस धरती को कर्म-भूमि कहा जाता है, यहां मनुष्य जैसा करता है वैसा भरता है एवं अपने कृत कर्मों का फल भी भोगता है। इस जन्म को वर्तमान गति कह सकते हैं। जिस मनुष्य ने पूर्व जन्मों में पापाचरण किया है वह इस कर्म भूमि पर 'दुर्गति' रूप में जन्म लेता है—दरिद्र होता है। किसी तत्त्व-चिन्तक मनीषी ने कहा है—

दुष्कृत्यकरणाच्च भवेद् दरिद्रः, दरिद्रभावाच्च करोति पापम्।
पापप्रभावान्नरकं प्रयाति, पुनर्दरिद्रः पुनरेव पापी॥

दुष्कर्मी लोग ही दरिद्र वातावरण में उत्पन्न होते हैं, दारिद्र्य के कारण नरक में जाते हैं और नारकी जीव पुनः दरिद्री एवं पुनः पापाचारी बनते हैं। इस दृष्टि से भी मानव के चार रूप हमारे समक्ष आते हैं—पहले लोग दुर्गत अवस्था में जन्म लेकर जीवन भर दरिद्रता के वातावरण में कष्ट पाते हैं और फिर दुर्गति को ही प्राप्त करते हैं। दूसरे प्रकार के वे लोग होते हैं जो दरिद्रवातावरण में जन्म लेते हैं, परन्तु महापुरुषों के सत्संग से, तप-संयम एवं प्रभु-भक्ति के द्वारा उस वातावरण से ऊपर उठकर स्वर्गादि पुण्य-लोकों को प्राप्त करते हैं। तीसरे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो किसी पूर्व जन्मार्जित सुकृत्य से वैभवशाली कुल में

जन्म लेते हैं और इस प्रकार "सुगत" अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु बुरी संगति के प्रभाव से दुष्कृत्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं, अतः दुर्गति को अर्थात् नरकादि लोकों में जाते हैं। चौथे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो पूर्व-जन्मार्जित पुण्यों के कारण समृद्ध वातावरण में जन्म लेते हैं और प्राप्त वैभव से और अधिक पुण्यार्जन करते हुए सद्गति अर्थात पुण्य-लोकों को जाते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों के लिए किसी तत्वचिंतक मनीषी ने कहा है—

सुकृत्यकरणाच्च भवेद् धनाढ्यः, धन-प्रभावेण करोति पुण्यम्।
पुण्यप्रभावात्स्वर्गं प्रयाति, पुनर्धनाढ्यः पुनरेव भोगी॥

सत्कर्म करने से वैभव प्राप्त होता है, वैभव से पुण्यदानादि होते हैं, पुण्य-प्रभाव से पुण्यात्मा देवलोकों में जाते हैं और देवलोकों के सुखभोग कर पुनः यहां धनवान् होते हैं, पुनः पुण्य-कर्म करते हैं और पुनः ऊपर-ऊपर के देवलोकों में पहुंचते रहते हैं।

६. पूर्व गति और वर्तमान गति की दृष्टि से—पूर्व चतुर्भंगी में भविष्य में प्राप्त होने वाली गति की दृष्टि से मानवता का विश्लेषण किया गया था, अब प्राप्त हुई गति की दृष्टि से विश्लेषण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं। व्यक्ति के चार रूप हैं—पहले वे व्यक्ति हैं जो पूर्वजन्मों में दरिद्र थे, अतः वहा वे ऐसे पुण्यानुष्ठान नहीं कर सके जिनसे वे इस जन्म में वैभव प्राप्त कर सकते, अतः वे तब भी दुर्गत थे और अब भी दुर्गत अवस्था में ही प्राप्त हुए हैं। दूसरे व्यक्ति ऐसे होते हैं जो पूर्व-जन्म में धन-वैभव से हीन होते हुए भी ऐसा साधना-सम्पन्न जीवन बना लेते हैं जिससे इस जन्म में वे वैभव-सम्पन्न अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। तीसरे प्रकार के वे मानव होते हैं जो पूर्व-जन्मों में समृद्ध थे, परन्तु प्राप्त वैभव का दुरुपयोग करके पापाचरण में लीन रहने के कारण इस जन्म में आकर दुर्गत अवस्था भोग रहे हैं। चौथे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो पूर्वजन्मो मे समृद्ध थे, अतः उन्होंने पुण्यानुष्ठान किए और इस जन्म मे भी पुण्य प्रभाव से समृद्ध कुलों में ही जन्मे हैं, अतः पहले भी सुगत थे और अब भी सुगत हैं।

७-८. ज्ञान एवं अज्ञान की दृष्टि से—सूत्रकार ने इस विश्लेषण में जिस **'तमे'** शब्द का प्रयोग किया है उस **'तम'** शब्द का अर्थ 'अज्ञानान्धकार' है भौतिक अन्धकार नहीं। जैसे उपनिषद् का ऋषि कहता है—तमसो मा ज्योतिर्गमय—मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाओ। इस प्रार्थना का भाव यही है कि मुझे अज्ञान से ज्योति अर्थात् ज्ञान की ओर ले चलो। इस तम एव ज्योति की दृष्टि से भी मनुष्य के चार ही रूप होते हैं—पहला वह व्यक्ति है जो अज्ञानी है, अर्थात् विद्या-विहीन एवं मूढ है और अपना समस्त जीवन इसी मूढ़ता में ही व्यतीत कर देता है, स्तुति, पाठ, भक्ति, तप, संयम, अध्ययन एवं सदाचारमय जीवन से दूर ही रहता है। ऐसे ही लोगों के लिए भर्तृहरि ने कहा है—

येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्यु-लोके भुविभारभूताः, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

जिनके पास न विद्या है, न तप है, न दान है, न शीलता है, न सदाचार की प्रवृत्ति है, न कोई गुण है और न धर्मानुष्ठान का चाव है, ऐसे लोग पृथ्वी के भार ही होते हैं और उन्हें ही मानवरूप धारी पशु कहा जा सकता है।

दूसरे वे लोग होते हैं जो अज्ञानमय वातावरण में जन्म लेते हैं, परन्तु जो त्रिरत्नोपासक मोहममताजयी ज्ञान-धन गुरुओं की शरण में पहुंचकर उनकी सेवा सुश्रूषा से उत्पन्न पुण्य से अज्ञान को नष्ट कर ज्ञान-मार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि सूर्य के सन्मुख जाने पर प्रकाश प्राप्त होना स्वाभाविक है, गुरु सेवा से ज्ञानोपलब्धि भी अनिवार्य है। तभी तो वासुदेव श्री कृष्ण कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं, ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

वन्दना नमस्कार करो। श्रद्धापूर्वक अपनी जिज्ञासाएं प्रकट करो। और सर्वतोभावेन सेवा करो, फिर तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुम्हें ज्ञान की दिव्य ज्योति का उपदेश दे ही देंगे। इस प्रकार अज्ञानी जब ज्ञानवान् बन जाता है, तब उसे शास्त्रकार—"**तमे नाममेगे जोती**" कहते हैं। तीसरे वे व्यक्ति होते हैं जो ज्ञानवान कुलों में ज्ञानमय वातावरण में जन्म लेकर विद्या-विनय-सम्पन्न ज्ञानवान् बन जाते हैं, परन्तु फिर सांसारिकता, भौतिकता और भोगेच्छाओं से प्रेरित होकर ज्योति-मार्ग से अन्धकार की ओर बढ़ने लगते हैं। उन्हें ही व्यवहार में 'पढ़े लिखे मूर्ख, अथवा 'ज्ञानातिसारी' कहा जाता है। चौथे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो पूर्व जन्मार्जित पुण्य-बल से ज्ञानवान् कुलों में जन्म लेकर कुल-पुरुषों एवं सन्त महात्माओं से ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और फिर जीवन भर उस ज्ञान-ज्योति के बल पर प्रकाश की ओर ही बढ़ते जाते हैं, ज्ञान के शिखरों पर पहुंचकर दर्शन और चारित्र के ज्योतिर्मय शिखरों के यात्री बनकर यात्रा करते रहते हैं। इन्हें ही शास्त्रकार ने "**जोती नाममेगे जोती**" कहकर सम्मान दिया है।

अप्रशस्त लेश्याओं को तम और प्रशस्त लेश्याओं को ज्योति कहा जाता है। इस आधार पर भी इस चतुर्भंगी को समझा जा सकता है।

९. तमोबल और ज्योति-बल की दृष्टि से—'तमोबल' का अर्थ है—'वह व्यक्ति जो अन्धकार का आश्रय लेकर ही जीवन-कार्य सम्पन्न करता है जैसे चोर एवं लुटेरों का तथा निशाचरों का आश्रय अन्धकार ही तो है। उन व्यक्तियों को भी 'तमोबल' कहा जा सकता है जिनका यह विश्वास है कि यहां सब कुछ मारपीट, युद्ध एवं हिंसा से ही हो सकता है। 'ज्योतिर्बल' वे व्यक्ति हैं जो प्रकाश में ही कार्य करते हैं और जिनका विश्वास है कि यहां सब कुछ शान्ति, धैर्य, प्रेम एवं अहिंसा से ही सम्पन्न होगा। इस प्रकार उग्र-स्वभाव व्यक्ति ही तमोबल हैं और शान्त-स्वभाव महापुरुष ही ज्योतिर्बल हैं। इन दोनों के आधार पर शास्त्रकार मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए कहते हैं—पुरुष चार प्रकार के होते हैं—

पहले वे व्यक्ति जो उग्र एव क्रूर स्वभाव लेकर जन्म लेते है और जो जीवन भर उग्रता, क्रूरता एवं हिंसा के आधार पर ही जीवन-यापन करते हैं। ऐसे ही लोगों को निशाचर कहा जाता है। दूसरे प्रकार के व्यक्ति वे होते हैं जो पहले तो उग्र एवं क्रूर स्वभाव वाले होते है, परन्तु धीरे-धीरे जीवन का उत्थान करते हुए अपने उग्रस्वभाव को त्याग कर शान्त-स्वभाव, तपस्वी एवं अहिंसा के आराधक बन जाया करते हैं। तीसरे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो पहले तो शान्तमना, स्नेहशील एवं कोमल प्रकृति के होते हैं, परन्तु कुसंग से किसी पापकर्म के उदय से एवं परिस्थिति-वश उग्रचित्त, क्रूरमना एवं हिंसाशील हो जाते हैं। प्राय: डाकू वर्ग इसी श्रेणी में आता है, क्योंकि प्राय: देखा गया है और डाकुओं के जीवन का अध्ययन यह प्रमाणित करता है कि वे पहले प्राय: शान्त स्वभाव थे, परन्तु किसी उग्र सामाजिक प्रतिक्रिया के कारण वे डाकू बनकर मार-काट एवं हत्याओं में ही विश्वास करने लग जाते हैं। चौथे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो जीवन की पहली सीढ़ी पर शान्त थे, स्नेहशील थे, सेवा परायण एवं भक्तिमान श्रद्धालु थे और भविष्य में भी जीवन की प्रत्येक सीढ़ी पर शान्ति, प्रेम, सेवा, तप, त्याग में ही लीन रहते हैं और ज्योतिर्मय मार्ग को ही अपने जीवन का लक्ष्य माने रहते हैं।

१०. पाप-प्रसन्नता और पुण्य-प्रसन्नता की दृष्टि से—प्रसन्नता के लिए सूत्रकार ने **'परज्जणे'** शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है **'प्ररञ्जन:'**—प्रसन्नता अनुभव करने वाला। प्राय: देखा जाता है कि कुछ लोग पापकर्म में अनुरक्ति नहीं रखते, परन्तु मनोविनोद के लिए पाप मे प्रवृत्त होते हैं। शिकारी लोग शिकार रूप पाप-कर्म मे प्रसन्नता का अनुभव करते है। पठानो की कुछ जातियां, मनुष्य-मांस का भक्षण नहीं करती, परन्तु मानव शीश को तपे हुए तवे पर रखकर उसे हसते हुए और शब्द करते हुए देखकर प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकार ऐसे भी लोग देखे जाते हैं, जिनकी धर्म में विशेष रुचि तो नहीं, परन्तु धार्मिक महोत्सवो में केवल मनोरञ्जन के लिए सम्मिलित होते हैं। ये भी तो मानव-मन की ही प्रवृत्तियां है। मनोविज्ञान के विज्ञाता शास्त्रकार कहते है कि ऐसी प्रवृत्तियों के आधार पर भी मानव-व्यक्तित्व के चार रूप प्राप्त होते है—पहले वे व्यक्ति हैं जो पाप-पंक के कीट बनकर जन्म लेते हैं और पाप-कर्मों मे ही प्रसन्नता की अनुभूति करते हैं। प्राय: वधिक वर्ग इसी श्रेणी में आता है। दूसरे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो परिस्थिति एव वातावरण के कारण चाहे पापकर्म में ही लीन रहते हों, परन्तु मानसिक रूप में वे पापों से घृणा करते हैं और पुण्य-अनुष्ठानों में ही उन्हें प्रसन्नता की अनुभूति होती है। तीसरे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो पुण्यमय वातावरण में जन्म लेते हैं, पुण्यमय वातावरण में ही रहते हैं, परन्तु फिर भी उन्हें पापकर्मों में प्रमोद प्राप्त होता है। दुर्योधन अच्छे कुल में जन्मा था, पुण्यानुष्ठानों में पला था और धर्म-कार्यों के महत्त्व को भी समझता था, फिर वह स्वयं स्वीकार करता था **''जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति:''** अधर्म जीवन के लिए विनाशकारी है यह जानता हूं फिर भी उससे निवृत्त नहीं हो पाता, अत: उसे पापकर्म से ही मनो-विनोद होता था,

सम्पूर्ण महाभारत के पीछे उसका पाप-प्रमोद ही तो कार्य कर रहा है। चौथे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो धर्मनिष्ठ होते हैं और धर्मकार्यों से ही आनन्दित हुआ करते हैं। सत्यवादी हरिश्चन्द्र, देवी राजीमती जैसी पुण्यशीला सतियां इसी कोटि में आती हैं।[१]

११. अन्तर्वृत्ति एवं बाह्यवृत्ति के आधार पर—इस पाठ में जैन संस्कृति के परिभाषिक शब्द हैं—परिज्ञातकर्मा और परिज्ञात-संज्ञः। 'परिज्ञातकर्मा'—इस शब्द का अर्थ है वह व्यक्ति जिसने ज्ञ-परिज्ञा से कर्म के स्वरूप को जाना है और फिर प्रत्याख्यान-परिज्ञा के द्वारा उसका परित्याग कर दिया है, अर्थात् कर्म के स्वरूप को जानकर उसका परित्याग करने वाला। यहां संज्ञा का अर्थ है—'उत्कृष्ट बलवती इच्छा।' जैनागम इस प्रकार की चार बलवती इच्छाएं बताते हैं—आहार-संज्ञा (भोजन की तीव्र इच्छा), भय-संज्ञा (भय के कारण भागने की उत्कृष्ट इच्छा), मैथुन-संज्ञा (तीव्र कामेच्छा) और परिग्रह-संज्ञा (वस्तु-संग्रह की तीव्र इच्छा)। इच्छा ही जीवन प्रेरिका संचालिका शक्ति है। रथ में घोड़े का, मोटर में इञ्जन का जो स्थान है, जीवन में वही स्थान इच्छा का है। यद्यपि आधुनिक मनोवैज्ञानिक आठ इच्छाएं बताते हैं, जिनमें चार तो यही हैं, शेष चार इच्छाओं का इन्हीं चारों में अन्तर्भाव हो जाता है। ज्ञान और इच्छा इन दोनों का सम्बन्ध बाह्य जगत से होते हुए भी विशेषतः अन्तर से ही है। अतः शास्त्रकार अब बाह्यजगत और अन्तर्जगत के आधारभूत इन दो तत्त्वों को लक्ष्य में रखकर मानवता का विश्लेषण करते हुए मानव के चार रूप बताते हैं:—

प्रथम वह व्यक्ति है जिसने दिखावे के लिए साध्वाचरण को अपनाया हुआ है और जो अपने को त्यागी महात्मा कहता है, परन्तु मन से विषय-इच्छा में लीन रहता है। ढोंगी एवं पाखण्डी लोग इसी श्रेणी में आते हैं। दूसरे वे लोग होते हैं, जो देखने में तो घर-गृहस्थी में रह रहे हैं और लोक-संग्रह के लिए लोकाचार निभाते मालूम पड़ते हैं, परन्तु जिन्होंने हृदय को सब प्रकार की इच्छाओं से मुक्त कर लिया है। बारह व्रती श्रावक इस दूसरी कोटि में रखे जा सकते हैं। तीसरे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जिन्होंने शरीर और मन दोनों को इच्छाओं से मुक्त कर लिया है। अप्रमत्त-संयत महात्मा इसी श्रेणी के व्यक्ति होते हैं। चौथे वे सामान्य संसारी जन हैं जो बाह्य जगत् में भी विषय-लीन रहते हैं और जिनकी मनोवृत्तियां भी विषय-चिन्तन से कभी विमुख नहीं होती हैं।

१२. पाप त्याग और गृह-त्याग की दृष्टि से—पाप कर्मों एवं दुर्भावनाओं का परित्याग करके कुछ लोग गृह-वास का भी त्याग कर देते हैं और कुछ लोग गृह-वास का परित्याग करके भी पाप-चिन्तन का परित्याग नहीं कर पाते हैं। शास्त्रकार की दृष्टि से

---

१. इस पाठ में 'पलज्जणे' का संस्कृत रूप 'पलज्जनः' भी बन सकता है तब इसका अर्थ है, पाप से लज्जित होने वाला, पुण्य से लज्जित होने वाला।

कुछ प्रतियों में 'पज्जलणे' पाठ भी उपलब्ध होता है, वहां इसका अर्थ होगा—पापकर्म में गौरव अनुभव करने वाले और पुण्यकर्म में गौरव की अनुभूति करने वाले। चतुर्भंगी की दोनों अर्थों से संगति की कल्पना कर लेनी चाहिए।

मानव की यह प्रवृत्ति भी छिपी नहीं है, अतः अब वे इसी प्रवृत्ति के आधार पर मानव मन का विश्लेषण करते हुए कहते हैं, यहां मनुष्य के चार रूप हैं—

पहला वह व्यक्ति है जिसने पापकर्म के मर्म को समझ लिया है और उसके परिणाम को भी जान लिया है, परन्तु उससे पूर्ण निवृत्ति पाने के लिए गृहवास का परित्याग करके साधुता की शरण ग्रहण नहीं की है। हम श्रावक वर्ग को इसी श्रेणी में रख सकते हैं। दूसरे वे व्यक्ति होते हैं, जिन्होंने भावावेश में आकर गृहवास का परित्याग कर दिया है, देखने में 'साधुत्व' को ग्रहण भी कर लिया है, परन्तु जिनका चंचल मन सावद्य कर्मों में उलझा रहता है और विषय-चिन्तन में लीन रहता है। अपरिपक्वबुद्धि चंचल साधु को इसी दृष्टि से देखा जा सकता है। तीसरे वे व्यक्ति हैं, जिन्होंने समस्त पापवृत्तियों का परित्याग कर दिया है, सब प्रकार के आरम्भ-संरम्भों से उदासीन हो गए हैं और घर-बार का परित्याग करके एकान्त जीवन में प्रवेश करके साधुत्व की पावन छाया में साधना में ही लीन रहते हैं। उच्चकोटि के महापुरुषों को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। चौथे वे सामान्य संसारी जन हैं, जिन्होंने न तो घर-बार का परित्याग किया है और न ही पाप कर्मों को छोड़ा है।

इस भंग में शास्त्रकार का प्रमुख लक्ष्य स्थूल कर्मों की ओर रहा है, भावना की ओर नहीं। इसीलिए तेरहवें भंग में वे भावना को लक्ष्य में रखकर पुनः नवीन वर्गीकरण उपस्थित करते हैं।

१३. तीव्र इच्छा और गृहवास-परित्याग की दृष्टि से:—भर्तृहरि ने भी वैराग्य-शतक में कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये चार प्रवृत्तियां मनुष्य और पशु में समान रूप से प्राप्त होती हैं। मानव में यही विशिष्टता है कि वह धर्म का बांध बांधकर इन चारों को रोक सकता है, पशु नहीं। धर्मविहीन होते ही मनुष्य उपर्युक्त चारों वृत्तियों के रहते हुए पशु तुल्य ही होता है।

जैनागमों ने निद्रा के स्थान पर परिग्रह को ग्रहण करते हुए मनुष्य की मोहजन्य चार तीव्र अभिलाषाओं को संज्ञा कहा है। आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा और परिग्रह संज्ञा। इन चारों संज्ञाओं पर नियन्त्रण अत्यन्त कठिन कार्य है, पर असम्भव नहीं। इन पर नियन्त्रण करने वाले प्रायः गृह-त्यागी विरक्त हो जाया करते हैं, अतः शास्त्रकार इन चार संज्ञाओं और गृह-जीवन के परित्याग को लक्ष्य में रख कर कहते हैं कि पुरुष चार प्रकार के होते हैं;—

पहले वे व्यक्ति हैं, जिन्होंने विरसंगिनी चारों संज्ञाओं पर नियन्त्रण कर लिया है, परन्तु अभी विरक्त-जीवन अपनाने के लिए घर का परित्याग नहीं किया है। श्रावक वर्ग में इस

प्रकार के महामानवों के दर्शन किए जाते रहे हैं। दूसरे ऐसे व्यक्ति होते हैं, जिन्होंने परिस्थिति-वश वैराग्य की लहर का धक्का खाते ही गृहवास का परित्याग करके साधु-जीवन को अपना लिया है, परन्तु आहारेच्छा, संचयेच्छा, निद्रालुता एवं वासना-तृप्ति से मुंह नहीं मोड़ा है, रह रहकर जिनमें ये संज्ञाएं उठती रहती हैं और उन्हें विक्षुब्ध करती रहती हैं। दुष्प्रव्रजित साधु को देखकर इस भंग की कल्पना की गई है। तीसरे वे महामानव हैं—वे विरक्त मुनीश्वर हैं जिन्होंने चारों संज्ञाओं को समाप्त कर दिया है और गृहपरित्याग करके संयममयता को अपना लिया है। चौथे प्रकार के वे जगत-जीव हैं जो गृहस्थवास के भार को ढोते हुए चारों संज्ञाओं के आवेश में ही डूबे रहते हैं।

१४. इहलोकसुख और परलोकसुख की दृष्टि से—जहां से हम आए हैं और जहां पर हमें जाना है वह परलोक है और यह धरती जहां हम रह रहे हैं, यह इहलोक है। मनुष्य सुख-कामी है, अत: वह यहां भी सुख चाहता है और वहां भी सुख चाहता है। परन्तु कुछ लोग वर्तमानवादी होते हैं और वे चाहते हैं कि हमारा वर्तमान सुखमय बन जाना चाहिए चाहे भविष्य बने या न बने। इस मानवीय वृत्ति को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार कहते हैं, मानव के चार रूप हैं—

पहले वे मनुष्य हैं जो वर्तमानवादी हैं और यह चाहते हैं कि हमें इस संसार में सुख मिलना चाहिए, परलोक में जाएंगे तब देखा जाएगा। परलोक किसने देखा है? क्या पता है भी या नहीं। स्वर्गसुखों के प्रलोभन में मूर्ख ही आया करते हैं। इस श्रेणी में वे चार्वाक आदि आते हैं जिन्हें परलोक के अस्तित्व पर विश्वास ही नहीं और वे लोग भी आते हैं, जो सांसारिक सुखों के समक्ष चिरस्थायी देवसुखों को नगण्य मानते हैं। दूसरे वे व्यक्ति हैं जो पारलौकिक सुखों को पाने के लिए इस लोक के सुखों को ठोकर मार देते हैं, राज्य-वैभव त्याग देते हैं, बन्धु-बान्धवों को छोड़ देते हैं। तीसरे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो सांसारिक सुखों को भी चाहते हैं, और परलोक-सुखों को पाने के लिए भी यत्नशील रहते हैं। ईमानदारी और सच्चाई से अर्थोपार्जन करते हुए मर्यादाओं की सीमा में रहकर गृहस्थ-सुखों का उपभोग करने वाले श्रावक ही इस तीसरे भंग के निदर्शन कहे जा सकते हैं। चौथे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो न तो सांसारिक सुख की इच्छा रखते हैं और न पारलौकिक सुखों की कामना करते हैं, क्योंकि इस लोक के सुख भी बन्ध के कारण हैं और परलोक के सुख भी बन्ध के कारण हैं, क्योंकि देवलोकों का जीवन-मान इतना विशाल एवं दीर्घकालिक है कि जो युग-युगान्तर तक चलता रहता है, परिणामस्वरूप जीवन महासुखों के बन्ध में दीर्घकाल तक बंधा रहकर शाश्वत मोक्षानन्द से वञ्चित रह जाता है। अत: मुमुक्षु साधक लोक और परलोक दोनों के सुखों को ठुकरा देता है।

मूल पाठ में जो **'इहत्थे'** और **'परत्थे'** शब्द हैं उनका अर्थ **'इहास्थः'** अर्थात् इस लोक में ही आस्था रखने वाला और परास्थ:—अर्थात् परलोक को ही महत्त्व देने वाला भी हो सकता है, परन्तु उस अर्थ से भी पूर्वोक्त भाव की ही अभिव्यक्ति होती है।

'इहत्थे' शब्द का संस्कृत रूपान्तर **'इहस्थः'**—अर्थात् यहीं ठहरने वाला और **'परत्थे'** शब्द का संस्कृत रूपान्तर **'परस्थः'** अर्थात् अन्यत्र ठहरने वाला भी हो सकता है। ऐसी दशा में इस चतुर्भंगी का रूप इस प्रकार भी संभव है—

पहले वे व्यक्ति होते हैं जो स्वदेश में ठहरना ही पसन्द करते हैं परदेश में नहीं। दूसरे वे व्यक्ति होते हैं जो परदेश में रहकर ही सुखी होते हैं, स्वदेश में नहीं। तीसरे वे व्यक्ति होते हैं जो स्वदेश में रहकर भी प्रसन्न हैं और परदेश में रहकर भी प्रसन्न रहते हैं। चौथे जीवन से ऊबे हुए वे व्यक्ति होते हैं जिनका मन न देश में लगता है, न परदेश में लगता है, जो सर्वदा भटकते ही रहते हैं।

१५. ज्ञान-दर्शन, चारित्र एवं विनय की दृष्टि से—यद्यपि ज्ञान तो वस्तुमात्र का होता है, परन्तु यहां पर ज्ञान शब्द से इष्ट है स्वाध्याय। इस प्रकार स्वाध्याय आदि को लक्ष्य में रखकर भी मानव-मन की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए शास्त्रकार मानव के चार रूप उपस्थित करते हैं—

पहले वे व्यक्ति होते हैं जो प्रतिदिन शास्त्र-स्वाध्याय करके प्रखर पाण्डित्य तो प्राप्त कर रहे हैं, परन्तु विद्या के फल रूप विनय से रहित हैं। यदि **'विद्या ददाति विनयम्'**—के नियमानुसार पाण्डित्य विनय से मण्डित न हुआ तो वह पाण्डित्य किस काम का है? अतः **'एकेन हीयते'**—का अभिप्राय यही है कि पाण्डित्य से समृद्ध होकर भी विनय के अभाव में व्यक्ति हीन ही रह जाता है। दूसरे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो प्रखर पाण्डित्य से तो समृद्ध हो रहे हैं अनेक शास्त्र कण्ठस्थ कर डाले हैं, फिर भी विनय और सम्यग्दर्शन दोनों से रहित हैं। इस कोटि में वे लोग आते हैं, जिन्होंने अपने आपको (डिग्रियों) से तो लाद लिया है, परन्तु अभिमानी हैं और तत्त्वज्ञान से शून्य हैं, जिन्होंने कभी शास्त्रीय तत्त्वों का दर्शन ही नहीं किया है। तीसरे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जिन्होंने विद्या भी प्राप्त कर ली है और शास्त्र-तत्त्व मर्मज्ञ भी हो गए हैं, परन्तु जो उसके अनुरूप अपने चारित्र का निर्माण नहीं कर पाए हैं। ऐसे बहुत से लोग देखे जाते हैं जो विद्वान हैं, परन्तु ऊंचे चारित्र से हीन ही रहते हैं। ऐसे ही लोगों के लिए महर्षि कहते हैं—**'आचारहीनं न पुनाति शास्त्रम्'**—चारित्र-सम्पदा से हीन को शास्त्र भी पवित्र नहीं कर सकते। चौथे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो विद्या और दर्शन की दृष्टि से समृद्ध होते हैं, परन्तु विनय और चारित्र दोनों से रहित होते हैं।

शास्त्रकार का अभिप्राय यह है कि शास्त्र-स्वाध्याय भी तभी सफल होता है जबकि वह ज्ञान-सम्पदा, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र एवं विनय से मण्डित हो।

वृत्तिकार ने इस चतुर्भंगी का निम्नलिखित रूप भी उपस्थित किया है—

(क) पहला वह व्यक्ति है जो स्वाध्याय के कारण विद्यावान् होकर ज्ञान से समृद्ध हो रहा है, परन्तु राग की वृद्धि के कारण हीनता को प्राप्त होता जा रहा है।

(ख) दूसरा वह व्यक्ति है जो स्वाध्याय से समृद्ध होकर भी राग और द्वेष दोनों की वृद्धि के कारण उत्थान से वञ्चित हो रहा है।

(ग) तीसरा वह व्यक्ति है जो स्वाध्याय-जन्य ज्ञान से समृद्ध होकर संयम-पथ पर भी आ गया है, फिर भी राग का परित्याग न कर सकने के कारण गिर रहा है।

(घ) चौथा वह व्यक्ति जो ज्ञान-सम्पदा पाकर संयम पथ पर आ चुका है, परन्तु राग और द्वेष के कारण उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो पा रहा है।

शास्त्रकार ने 'एकेन' तथा 'द्वाभ्यां' ये दो शब्द दिए हैं, इन दो शब्दों से जीवन के नानारूप व्यक्त हो सकते हैं, अतः इनकी समयानुरूप धर्मसम्मत कुछ भी व्याख्या की जा सकती है। प्राचीन युग में 'मनोविज्ञान' शब्द चाहे प्रचलित नहीं हुआ था, परन्तु जैनागमों के व्याख्याता मुनीश्वरों ने इस विषय का जो विशद विवेचन किया है उसे देखकर कहा जा सकता है कि मनोविज्ञान की उलझी समस्याओं को उन्होंने सम्यक्तया सुलझा दिया था।

कन्थकोपम पुरुष

मूल—चत्तारि कंथगा पण्णत्ता, तं जहा—आइन्ने नाममेगे आइन्ने, आइन्ने नाममेगे खलुंके, खलुंके नाममेगे आइन्ने, खलुंके नाममेगे खलुंके। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—आइन्ने नाममेगे आइन्ने चउभंगो ०४ ।

चत्तारि कंथगा पण्णत्ता, तं जहा—आइन्ने नाममेगे आइन्नयाए विहरइ, आइन्ने नाममेगे खलुंकयाए विहरइ ०४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—आइन्ने नाममेगे आइन्नयाए विहरइ, चउभंगो ०४ ।

चत्तारि पकंथगा पण्णत्ता, तं जहा—जाइसंपन्ने नाममेगे णो कुलसंपन्ने ०४ ।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जाइसंपन्ने नाममेगे०, चउभंगो ०४ ।

चत्तारि कंथगा पण्णत्ता, तं जहा—जाइसंपन्ने नाममेगे णो बलसंपन्ने ०४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जाइसंपन्ने नाममेगे णो बलसंपन्ने ०४ ।

चत्तारि कंथगा पण्णत्ता, तं जहा—जाइसंपन्ने णाममेगे णो रूवसंपन्ने ०४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जाइसंपन्ने नाममेगे णो रूवसंपन्ने ०४ ।

चत्तारि कंथगा पण्णत्ता, तं जहा—जाइसंपन्ने णाममेगे णो जयसंपन्ने ०४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—जाइसंपन्ने ०४। एवं कुलसंपन्नेण य बलसंपण्णेण य ०४। कुलसंपन्नेण य रूवसंपण्णेण ०४। कुलसंपन्नेण य जयसंपन्नेण ०४। एवं बलसंपन्नेण य रूवसंपन्नेण य ०४। बलसंपन्नेण य जयसंपण्णेण य ०४। सव्वत्थ पुरिसजाया पडिवक्खो।

चत्तारि कंथगा पण्णत्ता, तं जहा—रूवसंपन्ने णाममेगे णो जयसंपन्ने ०४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—रूवसंपन्ने नाममेगे णो जयसंपन्ने ०४।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—सीहत्ताए नाममेगे निक्खंते सीहत्ताए विहरइ, सीहत्ताए नाममेगे निक्खंते सियालत्ताए विहरइ, सियालत्ताए नाममेगे निक्खंते सीहत्ताए विहरइ, सियालत्ताए नाममेगे निक्खंते सियालत्ताए विहरइ॥११०॥

छाया—चत्वारः कन्थकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आकीर्णो नामैक आकीर्णः, आकीर्णो नामैकः खलुङ्कः खलुङ्को नामैक आकीर्णः, खलुङ्को नामैकः खलुङ्कः। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आकीर्णो नामैकः आकीर्णः, चतुर्भङ्गाः०४।

चत्वारः कन्थकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आकीर्णो नामैक आकीर्णतया विहरति, आकीर्णो नामैकः खलुङ्कतया विहरति ०४। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा आकीर्णो नामैक आकीर्णतया विहरति, चतुर्भङ्गाः ०४।

चत्वारः प्रकन्थकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जातिसम्पन्नो नामैको नो कुलसम्पन्नः ०४। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—जातिसम्पन्नो नामैकः० चतुर्भङ्गः०४।

चत्वारः कन्थकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जातिसम्पन्नो नामैको नो बलसम्पन्नः ०४। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—जातिसम्पन्नो नामैको नो बलसम्पन्नः ०४।

चत्वारः कन्थकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जातिसम्पन्नो नामैको नो रूपसम्पन्नः ०४। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—जातिसम्पन्नो नामैको नो रूपसम्पन्नः ०४।

चत्वारः कन्थकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जातिसम्पन्नो नामैको नो जयसम्पन्नः ०४। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—जातिसम्पन्नो नामैकः ०४। एवं कुलसम्पन्नेन च बलसम्पन्नेन च ०४। कुलसम्पन्नेन च रूपसम्पन्नेन ०४। कुलसम्पन्नेन च जयसम्पन्नेन ०४। एवं बलसम्पन्नेन च रूपसम्पन्नेन च ०४। बलसम्पन्नेन च जयसम्पन्नेन च ०४। सर्वत्र पुरुषजातानि प्रतिपक्षः।

चत्वारः कन्थकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—रूपसम्पन्नो नामैको नो जयसम्पन्नः ०४। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—रूपसम्पन्नो नामैको नो जयसम्पन्नः ०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—सिंहतया नामैको निष्क्रान्तः सिंहतया विहरति, सिंहतया नामैको निष्क्रान्तः श्रृगालतया विहरति, श्रृगालतया नामैको निष्क्रान्तः सिंहतया विहरति, श्रृगालतया नामैको निष्क्रान्तः श्रृगालतया विहरति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के घोड़े कहे गए हैं, जैसे—कोई पहले आकीर्ण अर्थात् विनय एवं वेगादि गुणों से युक्त होता है और पश्चात् भी वैसा ही आकीर्ण बना रहता है। एक घोड़ा पहले जो वेग-विनयादि से युक्त होता है, परन्तु फिर इन गुणों से रहित होकर अविनीत हो जाता है। एक पहले तो वेग-विनय आदि गुणों से रहित होता है, परन्तु बाद में इन्हीं गुणों से युक्त हो जाया करता है। कोई घोड़ा पहले भी और पश्चात् भी विनयवेगादि गुणों से रहित होता है। इसी प्रकार चार प्रकार के पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे—कोई व्यक्ति पहले आकीर्ण अर्थात् विनयादि गुणों से सम्पन्न होता है और पश्चात् भी वैसा ही बना रहता है। घोड़े के ही समान पुरुष के भी चार भंग समझ लेने चाहिएं।

चार प्रकार के घोड़े और भी कहे गए हैं, जैसे—एक आकीर्ण अर्थात् विनय आदि गुणों से युक्त भी है और आकीर्णता अर्थात् ठीक ढंग से चलता भी है। एक घोड़ा है तो विनीत, परन्तु अविनीत के समान वक्र गति से चलता है ०४। इसी प्रकार चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक पुरुष विनयी है और उसका आचरण भी विनयशीलों जैसा ही है। घोड़े के सदृश पुरुष के भी चार भंग जान लेने चाहिएं।

चार प्रकार के घोड़े और भी कहे गए हैं, जैसे—एक जाति-सम्पन्न है, किन्तु कुल-सम्पन्न—विशुद्ध पितृपक्ष वाला नहीं है। इसी तरह चार तरह के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक मातृपक्ष विशुद्ध होने से जाति-सम्पन्न है, परन्तु पितृपक्ष विशुद्ध न होने से कुल-सम्पन्न नहीं है। अश्व के समान पुरुष के भी चार भंग जान लेने चाहिएं।

चार प्रकार के और भी घोड़े होते हैं, जैसे—एक विशुद्ध जाति-सम्पन्न तो है, परन्तु अधिक बलवान् नहीं है ०४। इसी प्रकार पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे—कोई पुरुष विशुद्ध जाति वाला होते हुए भी अधिक बलवान् नहीं होता। चारों

भंग समझ लेने चाहिएं।

चार प्रकार के घोड़े और भी कहे गए हैं, जैसे—कोई घोड़ा विशुद्ध जाति वाला तो है, परन्तु सुन्दर स्वरूप वाला नहीं है ०४। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष भी होते हैं, जैसे—कोई जाति सम्पन्न तो है, परन्तु सुन्दर स्वरूप वाला नहीं है। यहां भी चारों भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के घोड़े और भी कहे गए हैं, जैसे—कोई उत्तम जाति वाला होता हुआ भी विजय प्राप्त करने वाला नहीं है ०४। इसी प्रकार चार प्रकार के पुरुष भी होते हैं, जैसे—विशुद्ध जाति वाला होने पर भी कोई एक विजय प्राप्त करने वाला नहीं होता ०४। इसी तरह कुलसम्पन्न और बलसम्पन्न, कुलसम्पन्न और रूपसम्पन्न, कुलसम्पन्न और जयसम्पन्न के द्वारा भी चार-चार भंग जानने चाहिएं। इसी तरह बलसम्पन्न और रूपसम्पन्न, बलसम्पन्न और जयसम्पन्न के द्वारा भी चार-चार भंग जानने चाहिएं। सभी स्थानों में उपमान घोड़े के समान उपमेय पुरुष-रूपों की भी कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के घोड़े और भी कहे गए हैं, जैसे—कोई रूपसम्पन्न तो है, परन्तु जयसम्पन्न नहीं ०४। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष होते हैं ०४।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—कोई सिंह के सदृश वीरतापूर्वक दीक्षा लेने के लिए घर से निकलता है और सिंह के समान वीरतापूर्वक ही विहार करता है। दूसरा सिंह के समान वीरतापूर्वक दीक्षा के लिए घर से निकलता है, किन्तु गीदड़ के समान कायरतापूर्वक विचरता है। तीसरा श्रृगाल के समान कायरतापूर्वक निकलता है और सिंह के समान वीरतापूर्वक विचरण करता है और चौथा श्रृगाल के समान घर से दीक्षा लेने के लिए निकलता है और गीदड़ के समान ही कायरता पूर्वक विहार करता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में अनेक दृष्टियों से मानवीय वृत्तियों का विश्लेषण किया गया है। अब सूत्रकार पुनः अश्व और मनुष्य को क्रमशः उपमान और उपमेय के रूप में समक्ष रखकर मानवीय गुणों एवं आचरण का विश्लेषण करते हैं।

संस्कृत में सामान्य घोड़ों को 'कन्थक' और विशेष जाति के घोड़ों को प्रकन्थक कहा जाता है। घोड़ों में सीधापन, अच्छी एवं तीव्रगति आदि गुण होते हैं, इसी प्रकार जीवन-पथ पर चलते हुए मानव में भी सरलता एवं जीवनोपयोगी प्रगति आदि गुण हुआ करते हैं। समान गुण वालों में समता करने की परम्परा प्राचीन है, क्योंकि सामान्य-जन दृष्टान्तों के द्वारा कथनीय भाव को सरलता से ग्रहण कर लेते हैं, अतः शास्त्रकार घोड़े के माध्यम से

मानवीय गुणों के विश्लेषण की परिपाटी को अपनाते हुए कहते हैं— घोड़े चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ घोड़े जन्म से ही आकीर्ण अर्थात् सरल एवं सुन्दर गति वाले होते हैं और फिर जीवन भर अपने गुणों का परित्याग नहीं करते।

(ख) कुछ घोड़े पहले तो सरल एवं अच्छी गति वाले होते हैं, परन्तु बाद में अनेकविध कारणों से खलुङ्क अर्थात् अड़ियल हो जाते हैं।

(ग) कुछ घोड़े पहले तो अड़ियल होते हैं, परन्तु कुशल शिक्षक के हाथों से प्रशिक्षित होकर सरल एवं मनोनुकूल गति वाले हो जाया करते हैं।

(घ) कुछ घोड़े ऐसे भी होते हैं जो जन्म से ही उद्धत और अड़ियल होते हैं और आजीवन अपने में रहे हुए अवगुणों का परित्याग नहीं कर पाते।

घोड़ों के समान मानव भी चार प्रकार के होते हैं—कुछ मनुष्यों की प्रकृति जन्म से ही सरल होती है, वे जीवन-मार्ग पर सदा प्रगति ही करते हैं और किसी भी दशा में अपने गुणों का परित्याग नहीं करते हैं। दूसरे प्रकार के वे मनुष्य होते हैं जो बचपन में तो सरल-स्वभावी हुआ करते हैं, परन्तु फिर परिस्थिति वश क्रूर एवं जिद्दी स्वभाव के हो जाया करते हैं। तीसरे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो बचपन में तो अविनीत एवं हठी प्रकृति के हुआ करते हैं, परन्तु अच्छे शिक्षकों से प्रशिक्षित होकर महापुरुषों का सत्संग करके और अच्छे साहित्य का अध्ययन करके सुशील एवं आज्ञानुवर्ती प्रकृति के हो जाया करते हैं। चौथे प्रकार के वे हठी एवं दुष्प्रवृत्तियों वाले मानव होते हैं जो जीवन भर अपने दुष्टाचरणों का एवं अपनी दुर्विनीतता का परित्याग नहीं करते हैं। ऐसे ही लोगों के लिए शास्त्रकारों ने कहा है— **'शुष्ककाष्ठानि मूर्खाश्च न नमन्ति कदाचन'** सूखी लकडी के समान मूर्ख कभी विनम्र नहीं हो सकते हैं।

अश्वस्वभाव के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि अश्व चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ घोड़े ऐसे होते हैं जो स्वभाव से आकीर्ण अर्थात् सरल एवं गतिशील होते हैं और अपने उन्हीं गुणों के अनुरूप सवारी भी देते हैं।

(ख) कुछ घोड़े ऐसे होते हैं जिनमें सरलता भी होती है और भाग भी सकते हैं, परन्तु सवारी नहीं करने देते, सवारी के समय उछलने-कूदने लगते हैं।

(ग) कुछ घोड़े ऐसे भी होते हैं जो जिद्दी एवं अड़ियल होते हुए भी सवारी के समय सरल हो जाया करते हैं।

(घ) कुछ घोड़े ऐसे भी होते हैं जो जिद्दी एवं अड़ियल होते हैं और सवारी के समय भी अड़कर खड़े हो जाते हैं।

इन चार प्रकार के घोड़ों जैसे स्वभाव वाले मनुष्य भी हुआ करते हैं। जैसे कि कुछ व्यक्तियों का स्वभाव विनीत होता है और उनके व्यवहार में विनीतता हुआ करती है, वे

प्रत्येक व्यक्ति के साथ विनीतता से ही पेश आते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिनके स्वभाव में विनयशीलता और सरलता अवश्य होती है, परन्तु वे व्यावहारिकता के क्षेत्र में उग्र-स्वभाव और अशिष्ट हो जाया करते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिनका स्वभाव उग्र होता है, और उद्दण्ड भी होते हैं, परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में सरल हो जाया करते हैं। कुछ ऐसे भी मनुष्य देखे जा सकते हैं, जिनके स्वभाव में अविनीतता और उद्दण्डता तो होती ही है, परन्तु पारस्परिक व्यवहार में भी वे अविनीत और उद्दण्ड ही हुआ करते हैं।

घोड़ों की चित्राली, अरबी, उराली, सिन्धी, टट्टू आदि आदि अनेक जातियां हैं और प्रत्येक जाति के घोड़े में विशिष्ट गुण हुआ करते हैं। जैसे कि अरबी घोड़े भागने में इतने तेज नहीं होते जितने कि निर्भीक होते हैं, उराली घोड़े भागने में बहुत तेज होते हैं, परन्तु निर्भीक नहीं होते। शास्त्रकार का इस प्रकरण में जाति से यही अभिप्राय है।

कुल से अभिप्राय है मातृ-पितृ-सम्बन्ध, क्योंकि कभी-कभी अच्छी जाति के घोड़े भी माता-पिता के अवगुणों के कारण अपनी जातीय विशेषताएं खो देते हैं।

इस प्रकार जाति और कुल को लक्ष्य में रखकर पहले उपमानरूप में घोड़ों के चार भेद प्रस्तुत करते हुए शास्त्रकार कहते हैं। घोड़े चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ घोड़े अच्छी जाति के होते हुए भी अच्छे कुल के नहीं होते।

(ख) कुछ घोड़े अच्छे कुल के होते हुए भी अच्छी जाति के नहीं होते।

(ग) कुछ घोड़े अच्छी जाति के होते हैं और उनका कुल भी अच्छा होता है।

(घ) कुछ घोड़े न अच्छी जाति के होते हैं और न कुल के ही अच्छे होते हैं।

घोड़ों के समान मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं। मनुष्य-विवेचन में जाति से अभिप्राय ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि है और कुल से अभिप्राय उसके उस वंश से है जिसमें उसने जन्म लिया है।

(क) हम देखते हैं कि कुछ मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अच्छी जातियों में जन्म लेते हैं और साथ ही उन्हें कुल भी ऐसा मिला होता है जिसमें शुद्ध आचार-विचार एवं शुद्ध आहार-विहार हुआ करता है।

(ख) कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनका जन्म पवित्र-आचरण वाले जिनेन्द्र-भक्त, साधु-सेवी कुलों में होता है, परन्तु वे उच्च जाति के नहीं होते।

(ग) कुछ ऐसे भी व्यक्ति हुआ करते हैं जिमका जन्म अच्छी जातियों में होता है, परन्तु उन्हें जन्म देने वाला परिवार खान-पान एवं आचार-विचार से पतित हुआ करता है।

(घ) कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो चाण्डाल आदि निम्न जातियों में जन्म लेते हैं और उन्हें जन्म देने वाले कुल भी आचार-विचार की दृष्टि से उत्तम नहीं हुआ करते हैं।

यद्यपि जैन-संस्कृति जातिवाद के कथंचित विरुद्ध है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह जाति के अस्तित्व को ही अस्वीकार करती है। जैन-संस्कृति जाति-परिवर्तन में विश्वास

रखती है, क्योंकि जाति का मूल कारण मानव के कर्म हैं, जन्म नहीं। जिस व्यक्ति के जैसे कर्म हैं उन्हीं कर्मों के अनुरूप उसकी जाति मानी जाती है। एक चाण्डाल यदि उत्तम कर्म करने लग जाए, उसका जीवन दुष्कर्मों का परित्याग करके साधना-सम्पन्न हो जाए, वह अध्ययनशील, तपस्वी एवं त्रिरत्नोपासक बन जाए तो उसे **''तं वयं बूम माहणं''** के सिद्धान्तानुसार हम ब्राह्मण ही कहेंगे, चाण्डाल नहीं। इसी मान्यता को लक्ष्य में रखकर जाति और कुल की दृष्टि से मानव-स्वभाव का विश्लेषण किया गया है।

सूत्रकार ने अश्व और पुरुष को समान रूप से लक्ष्य में रखकर अनेक चतुर्भंगियों की कल्पना की है। नीचे उन चतुर्भंगियों के रूप प्रदर्शित किए जा रहे हैं। अश्व-पक्ष और मानव-पक्ष में इनकी योजना शैली अत्यन्त सरल है, क्योंकि दोनों पक्षों के विशेषण भाव को स्वतः ही बुद्धिगम्य करा देने वाले हैं।

जाति और बल की दृष्टि से—

(क) जैसे कुछ अश्व अच्छी जाति के होते हुए भी बलशाली नहीं होते, वैसे ही कुछ पुरुष अच्छी जाति के होते हुए भी बलवान् नहीं होते हैं।

(ख) जैसे कुछ अश्व बलशाली होते हुए भी अच्छी जाति के नहीं होते, वैसे ही कुछ व्यक्ति शक्ति-सम्पन्न होते हुए भी अच्छी जाति के नहीं होते।

(ग) जैसे कुछ अश्व अच्छी जाति के भी होते हैं और बलशाली भी होते हैं, वैसे ही कुछ व्यक्ति अच्छी जाति के और शक्ति-सम्पन्न भी हुआ करते हैं।

(घ) जैसे कुछ अश्व न अच्छी जाति के होते हैं और न बलिष्ठ ही हुआ करते हैं, वैसे ही कुछ व्यक्ति जाति और शक्ति दोनों दृष्टियों से हीन हुआ करते हैं।

जाति और रूप की दृष्टि से—

(क) जैसे कुछ अश्व अच्छी जाति के होते हुए भी सुन्दर रूप वाले नहीं होते। वैसे ही कुछ व्यक्ति अच्छी जाति में जन्म लेकर भी रूप से वंचित रह जाया करते हैं।

(ख) जैसे कुछ अश्व सुन्दर रूप वाले होते हैं, पर अच्छी जाति के नहीं होते, उसी प्रकार कुछ व्यक्ति रूपवान् होते हुए भी जाति से हीन हुआ करते हैं।

(ग) जैसे कुछ अश्व सुन्दर रूप और अच्छी जाति दोनों गुणों से युक्त होते हैं, वैसे ही कुछ व्यक्ति रूप-सम्पन्न और जाति-श्रेष्ठ भी हुआ करते हैं।

(घ) जैसे कुछ अश्व न रूपवान होते हैं और न अच्छी नस्ल के होते हैं वैसे ही कुछ व्यक्ति रूप और जाति दोनों से वंचित रहते हैं।

जाति और विजय की दृष्टि से—

(क) कुछ अश्व अच्छी नस्ल (जाति) के होते हैं, पर विजयशील नहीं।

(ख) कुछ अश्व विजयशील होते हैं, अच्छी जाति के नहीं।

(ग) कुछ अश्व विजयशील भी और अच्छी जाति के भी होते हैं।

(घ) कुछ अश्व न अच्छी जाति के होते हैं और न विजयशील ही हुआ करते हैं।

अश्व के समान पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ व्यक्ति अच्छी जाति में उत्पन्न होते हैं, परन्तु स्वभाव के दब्बू एवं कायर होने के कारण मानवीय दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त नहीं कर पाते हैं। मानव जाति की इसी स्थिति को देखकर ही तो जैन-संस्कृति ने जन्मत: जाति को एवं जाति-गौरव को महत्त्व नहीं दिया है।

(ख) कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो जाति से अच्छे न होते हुए भी मानवीय दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर लिया करते हैं। मुनीश्वर हरिकेशी जाति से चाण्डाल होते हुए भी मानवीय दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर महामुनीश्वर बन गए।

(ग) तीसरे प्रकार के वे होते हैं जो उत्तम जाति में जन्म लेते हैं और मानवीय दुर्बलताओं पर, लोभ-मान-माया एवं मोह पर विजय प्राप्त कर लिया करते हैं। तीर्थंकर देव उच्च जातियों में जन्म भी लेते हैं और कषायों पर विजयी होकर सिद्ध-बुद्ध भी हो जाया करते हैं।

(घ) कुछ व्यक्ति ऐसे भी देखने में आते हैं जो न तो अच्छी जातियों में जन्म लेते हैं और न ही मानवीय स्वभावगत दुर्बलताओं पर विजय ही प्राप्त कर पाते हैं।

उपर्युक्त पद्धति से अश्व और मानव दोनों को उपमान और उपमेय के रूप में देखते हुए अश्व के गुणों के समान मानव-गुणों का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार ने अन्य तुलनात्मक रूप इस प्रकार उपस्थित किए हैं—

(क) जिस प्रकार कुछ अश्व कुल-सम्पन्न और बल-सम्पन्न भी होते हैं, उसी प्रकार कुछ मनुष्य अच्छे कुलों में जन्म लेकर शक्तिशाली भी हुआ करते हैं। शेष तीन भंग स्पष्ट हैं।

(ख) जिस प्रकार कुछ अश्व अच्छे कुल में जन्म लेते हैं और अत्यन्त सुन्दर भी होते हैं, वैसे ही कुछ व्यक्ति सम्मान्य वंशों के भी होते हैं और सुन्दर भी हुआ करते हैं, पूर्वोक्त शैली से तीन भंग समझे जा सकते हैं।

(ग) जिस प्रकार कुछ अश्व अच्छे कुल में जन्म लेने वाले और विजयशील भी होते हैं, उसी प्रकार कुछ व्यक्ति किसी महान् वंश में जन्म लेकर अपनी विजय-पताका सर्वत्र फहराया करते हैं। कुल और विजय को लक्ष्य में रखकर शेष रूपों की भी कल्पना कर लेनी चाहिए।

(घ) जिस प्रकार कुछ अश्व बलवान् और रूपवान् दोनों ही हुआ करते हैं, उसी प्रकार कुछ व्यक्ति शक्तिशाली भी होते हैं और रूप-सम्पदा के धनी भी हुआ करते हैं। बल और रूप को लक्ष्य में रखकर शेष तीन रूपों की भी उद्भावना कर लेनी चाहिए।

(ङ) जिस प्रकार कुछ अश्व बल और विजयशीलता दोनों गुणों से समृद्ध होते हैं उसी प्रकार कुछ व्यक्ति भी बल और विजयशीलता से समन्वित होते हैं। बल और विजय की दृष्टि से दोनों पक्षों में अन्य तीन रूपों को समझ लेना चाहिए।

(च) जिस प्रकार कुछ अश्व देखने में अत्यन्त सुन्दर होते हैं, परन्तु युद्धों में विजय प्राप्त करने के योग्य नहीं होते हैं, उसी प्रकार कुछ व्यक्ति देखने में हृष्ट-पुष्ट एवं सौन्दर्य-सम्पन्न होते हैं, परन्तु भौतिक युद्ध और आध्यात्मिक युद्ध दोनों में विजय प्राप्ति नहीं कर पाते हैं। इस भंग में रूप सौन्दर्य और विजयशीलता को लक्ष्य में रखकर शेष चार भंगों की भी उद्भावना की जा सकती है।

अब शास्त्रकार उपर्युक्त समस्त विवरण को लक्ष्य में रखकर साधना-पथ के पथिकों की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

१. सिंह जब अपनी मांद को छोड़कर वन-भ्रमण के लिए निकलता है तो उस समय उसके हृदय में किसी भी प्रकार का भय एवं आशंका नहीं होती है और वह निशंक एवं निर्भीक होकर यथेष्ट स्थानों में भ्रमण करता है, इसी प्रकार कुछ साधक इस प्रकार के होते हैं कि जो कष्टों, बाधाओं एवं विपत्तियों की आशंकाओं की परवाह न करते हुए संयमी जीवन अपनाने के लिए सिंह के समान घर से निकल पड़ते हैं और फिर जीवन भर निर्भीक एवं संशय-मुक्त होकर संयम-पथ पर विचरण करते हैं।

२. दूसरे प्रकार के वे साधक होते हैं, जो गृह-परित्याग के समय तो सिंह के समान संशय-मुक्त एवं निर्भीक होते हैं, परन्तु कष्टों, बाधाओं एवं परीषहों से डरते हुए गीदड़ों की तरह संयम-पथ पर विचरण करते रहते हैं।

३. तीसरे प्रकार के वे साधक होते हैं, जिनमें गृह-परित्याग के समय तो श्रृगाल-वृत्ति होती है, अर्थात् वे संयम-पथ पर कदम बढ़ाते हुए मन से यह सोचा करते हैं कि मैं संयम-पथ की कठिनाइयों को किस प्रकार सहन करूंगा, कैसे परीषहों और उपसर्गों को झेलूंगा, परन्तु जब संयम-पथ पर चल पड़ते हैं तो फिर उनमें सिंह-वृत्ति आ जाती है और वे सब प्रकार की बाधाओं को बिना किसी घबराहट के मुस्कराते हुए सहन करते रहते हैं।

४. चौथे प्रकार के वे साधक होते हैं जो प्रकृति से भी भयशील, शंकालु और विघ्न-बाधाओं से घबराने वाले श्रृगाल-वृत्ति हुआ करते हैं और फिर साधनामय जीवन में कभी भी उत्साह-धैर्य और वीरतापूर्वक कष्टों का सामना नहीं करते हैं, अर्थात् जीवन-भर श्रृगाल वृत्ति का परित्याग नहीं कर पाते हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने सामान्य-जन और साधक-जन दोनों के जीवन को लक्ष्य में रखकर अश्व, श्रृगाल और सिंह के दृष्यान्तों द्वारा मानव-व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं को स्पष्ट करते हुए विशाल मानवता-सिन्धु का सम्यक् अवगाहन किया है।

ज्ञातव्य-समान-पदार्थ

मूल—चत्तारि लोगे समा पण्णत्ता, तं जहा—अप्पइट्ठाणे नरए, जम्बुद्दीवे दीवे, पालए जाणविमाणे, ४ सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे।

चत्तारि लोगे समा सपक्खिं सपडिदिसिं पण्णत्ता, तं जहा—सीमंतए नरए, समयक्खेत्ते, उडुविमाणे, ईसीपब्भारा पुढवी॥१११॥

छाया—चत्वारो लोके समाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अप्रतिष्ठानो नरकः, जम्बूद्वीपो द्वीपः, पालकयानविमानम्, ४ सर्वार्थसिद्धं महाविमानम्।

चत्वारो लोके समाः सपक्षाः सप्रतिदिशाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सीमन्तको नरकः, समयक्षेत्रम्, उडुविमानम्, ईषत्प्राग्भारा पृथिवी।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—लोक में चार पदार्थ समान प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे— नरकों में सातवीं नरक का अप्रतिष्ठान नामक नरकावास, द्वीपों में जम्बूद्वीप नामक द्वीप, कृत्रिम विमानों में सौधर्मेन्द्र के आने-जाने का पालक विमान और सर्वोत्तम शाश्वत विमानों में सर्वार्थसिद्ध नामक महाविमान।

लोक में चार पदार्थ समान दिशाओं वाले और समान विदिशाओं वाले कहे गए हैं, जैसे—प्रथम नरक में सीमन्तक नामक नरकावास, समयक्षेत्र—मनुष्यक्षेत्र, सौधर्म देवलोक के प्रथम प्रस्तट में उडु नामक विमान और ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी—सिद्धशिला।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में अश्व आदि के साथ चेतन पुरुष की समता का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार लोकस्थित अन्य समान पदार्थों का वर्णन करते हैं। लोक में चार पदार्थ लाख-लाख योजन के वर्णन किए गए हैं। सातवीं तमतमा पृथ्वी सात राजू प्रमाण विस्तार वाली है, उसके ठीक मध्यभाग में एक लाख योजन प्रमाण अप्पइट्ठाण अर्थात् अप्रतिष्ठान नामक नरकावास है। उसकी चारों दिशाओं में रौद्र, महारौद्र, रौरव और महारौरव नाम के चार नरकावास हैं जिनका विस्तार असंख्यात योजन प्रमाण है।

अप्पइट्ठाण नरकावास से ऊपर बिल्कुल सीध में सात राजू प्रमाण क्षेत्र अवगाह कर जम्बूद्वीप नामक द्वीप है, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई एक लाख योजन प्रमाण है।

पालकयान विमान भी एक लाख योजन प्रमाण होता है। सौधर्म देवलोक के अधिपति शक्रेन्द्र जब मध्यलोक में तीर्थंकरों के कल्याणक-अवसर पर आते हैं तब वे पालकयान विमान में बैठकर ही आते हैं। यह विमान शाश्वत नहीं, बल्कि बनावटी होता है। वह पालक नामा देव के द्वारा निर्मित होता है। जो विमान इन्द्र के गमन के लिए काम आता है, उसे पालकयान विमान कहते हैं। इस विषय में वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं, जैसे कि—

"पालकं पालकदेवनिर्मितं सौधर्मेन्द्रसम्बन्धियानञ्च तद्विमानञ्च, यानाय वा—गमनाय विमानं, नतु शाश्वतमिति"।

जंबूद्वीप के ऊपर कुछ कम सात राजू प्रमाण बिल्कुल सीध में सर्वार्थसिद्ध महाविमान है। यह विमान पांच अनुत्तर विमानों में सर्व-श्रेष्ठ माना जाता है। इस विमान का आयाम-विष्कंभ अर्थात् लम्बाई-चौड़ाई एक लाख योजन प्रमाण है। उस विमान की चारों दिशाओं में विजय, वैजयंत, जयंत और अपराजित नामक चार महाविमान असंख्यात योजन प्रमाण विस्तार वाले हैं। उन विमानों में एकान्त सम्यग्दृष्टि देव रहते हैं। सर्वार्थसिद्ध महाविमान में इस प्रकार के देव रहते हैं जिनकी आयु तेंतीस सागरोपम की है। अन्य देवों की अपेक्षा से वे परम सुखी हैं और एक भव अवतारी हैं।

लोक में चार पदार्थ पैंतालीस लाख योजन प्रमाण के हैं, जैसे कि सीमंतक नरकावास, मनुष्यलोक जिसे दूसरे शब्दों में समय-क्षेत्र और तीसरे शब्दों में ढाईद्वीप भी कहते हैं, उड्डुविमान और ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी। रत्नप्रभा पृथ्वी के पहले प्रस्तट में सीमंतक नरकावास है, जिसकी लंबाई-चौड़ाई पैंतालीस लाख योजन की है। उसमें रहने वाले नारकियों की स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट नब्बे हजार वर्ष की है।

समय-क्षेत्र में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे सभी गतिशील हैं, अतः वे उदय भी होते हैं और अस्त भी, किन्तु समय-क्षेत्र से बाहर के ज्योतिष्क-मंडल अवस्थित हैं, अतः समयक्षेत्र भी पैंतालीस लाख योजन के विस्तार वाला है।

पहले देवलोक में तेरह प्रस्तट हैं, उनमें उड्डुविमान पहले प्रस्तट में ही है। उसमें रहने वाले देवों की स्थिति जघन्य एक पल्योपम है। वह विमान भी पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है। ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी सर्वार्थसिद्ध महाविमान से बारह योजन ऊपर उत्तान छत्राकार है, वह आमूल-चूल स्फटिक एवं अति-श्वेतवर्ण वाली है। उसका मध्यभाग आठ योजन है तथा उसका प्रान्तवर्ती भाग मक्षिका-पंख के समान पतला है, वह भी पैंतालिस लाख योजन प्रमाण विस्तार वाली है।

सपक्खिं सपडिदिसिं—सूत्रकार ने ये दो विशेषण अतीव समान अर्थ में दिए हैं। उक्त चार पदार्थ सब दिशाओं में समान हैं और विदिशाओं में भी वे परस्पर समान ही हैं।

द्विशरीरी जीव

मूल—उड्ढलोगे णं चत्तारि बिसरीरा पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइया, आउकाइया, वणस्सइकाइया, उराला तसा पाणा।

अहोलोगे णं चत्तारि बिसरीरा पण्णत्ता, तं जहा—एवं चेव तिरियलोए वि ॥ ११२ ॥

छाया—ऊर्ध्वलोके खलु चत्वारो द्विशरीराः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिकाः,

अप्कायिकाः, वनस्पतिकायिकाः, उदारास्त्रसाः प्राणाः।

अधोलोके चत्वारो द्विशरीराः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एवं चैव, तिर्यक्लोकेऽपि।

शब्दार्थ—उड्ढलोगे णं—ऊर्ध्वलोक में, **चत्तारि**—चार प्रकार के जीव, **बिसरीरा पण्णत्ता, तं जहा**—दो शरीर वाले अर्थात् दो शरीर धारण करके मोक्ष पाने वाले प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—**पुढविकाइया**—पृथ्वी काय वाले, **आउकाइया**—अप्-काय वाले, **वणस्सइकाइया**—वनस्पतिकाय वाले और, **उराला तसा पाणा**—औदारिक त्रस प्राणी। **अहोलोगे णं**—अधोलोक में, **चत्तारि**— चार प्रकार के जीव, **बिसरीरा पण्णत्ता तं जहा**—दो शरीर धारण कर मोक्ष जाने वाले कहे गए हैं, जैसे—**एवं चेव**—वैसे ही जैसे पहले कथन किए गए हैं। **एवं तिरियलोए वि**—तिर्यक् लोक में भी इसी प्रकार द्विशरीरी जीव समझने चाहिएं।

मूलार्थ—ऊर्ध्वलोक में चार प्रकार के जीव द्विशरीर धारण करके मोक्ष प्राप्त करने वाले कहे गए हैं, जैसे कि—पृथ्वीकायिक—पृथ्वी ही जिनका शरीर है। अप्कायिक—जिनका शरीर जल ही है। वनस्पतिकायिक—वनस्पति ही जिनका शरीर है, औदारिक त्रस प्राणी अर्थात् संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव। अधोलोक में चार प्रकार के प्राणी दो शरीर वाले अर्थात् दो शरीरों को धारण करने के अनन्तर मोक्ष जाने वाले कहे गए हैं। इसी प्रकार तिर्यक् लोक में भी चार प्रकार के ही द्विशरीरी प्राणी कहे गए हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में लोकस्थित समान पदार्थों का वर्णन किया गया है, उसी परम्परा में पुनः ऊर्ध्वादि लोकों में द्विशरीरता की दृष्टि से समान जीवों का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—जिन जीवों के दो भव शेष हैं, उन्हें द्विशरीरी कहा गया है। ऊर्ध्वलोक में चार प्रकार के जीव द्विशरीरी हैं, जैसे कि पृथ्वीकायिक जीव, अप्कायिक जीव, वनस्पति-कायिक जीव और उदार त्रस प्राणी अर्थात् संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव। इसी प्रकार अधोलोक तथा तिर्यग् लोक में भी उपर्युक्त चार द्विशरीरी प्राप्त होते हैं।

उदार त्रस प्राणी पद से पंचेन्द्रिय जीव ही ग्रहण किए जाते हैं। यद्यपि तेजस्काय और वायुकाय तथा तीन विकलेन्द्रिय जीवों को भी उदार त्रस प्राणी कहा जा सकता है, किन्तु उनमें रहने वाले जीव द्विशरीरी नहीं होते, क्योंकि तेजस्काय और वायुकाय में रहने वाले जीव मनुष्य गति को प्राप्त नहीं कर सकते तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चौरिन्द्रिय जाति से निकला हुआ जीव मनुष्यगति में परमपद को प्राप्त नहीं कर सकता, अतः उदार त्रस प्राणियों से देव, नारकी, संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यों का ही ग्रहण किया जा सकता है। पंचेन्द्रिय त्रस जीव ही मनुष्य-गति में आकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, विकलेन्द्रिय नहीं। विकलेन्द्रिय से आया हुआ मनुष्य संयम ग्रहण कर सकता है और मनःपर्याय ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है, किन्तु केवल ज्ञान नहीं। केवल ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। उक्त

चार स्थानों से आया हुआ जीव चरम शरीरी बनकर मनुष्य-भव में आ सकता है, शेष स्थानों से नहीं।

द्विशरीरी कहने का तात्पर्य इतना ही है कि एक भव वह जिसमें जीव विद्यमान है और दूसरा भव मनुष्य का, जिसे प्राप्त कर जीव ने मोक्ष प्राप्त करना है, अतः सिद्ध हुआ कि जिस जीव के कुल दो भव रहते हैं वह द्विशरीरी कहलाता है, तेजस् और कार्मण इन दो शरीरों की अपेक्षा से इस प्रकरण में द्विशरीरी अपेक्षित नहीं है।

सत्व-दृष्टि से पुरुष-भेद

मूल—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—हिरिसत्ते, हिरिमणसत्ते, चलसत्ते, थिरसत्ते॥११३॥

छाया—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—ह्रीसत्वः, ह्रीमनःसत्त्वः, चलसत्त्वः, स्थिरसत्त्वः।

शब्दार्थ—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे, **हिरिसत्ते**—कोई लज्जावश परीषह आदि के सहन करने की शक्ति वाला होता है, **हिरिमणसत्ते**—कोई लज्जा के कारण केवल मन से ही सत्त्व—साहस रखने वाला होता है। **चलसत्ते**—कोई चल-सत्त्व अर्थात् प्रसंग आने पर शक्ति को स्थिर न रख सकने वाला होता है और, **थिरसत्ते**—कोई स्थिर सत्त्व वाला—दृढ़सत्त्व वाला होता है।

मूलार्थ—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—कुछ पुरुष लज्जा के कारण परीषह आदि सहन करने की शक्ति रखते हैं, कुछ लज्जा के कारण परीषह आदि सहन करने की केवल मानसिक शक्ति रखते हैं, कुछ कष्ट आदि के उपस्थित होने पर शक्तिहीन हो जाते हैं और कुछ कष्टादि के उपस्थित होने पर और भी अधिक स्थिर शक्ति वाले हो जाते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में लोकस्थ जीवों का वर्णन किया गया है, उसी वर्णन-परम्परा में तिर्यग् लोकस्थ जीवों के सत्त्व अर्थात् सामर्थ्य का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि इस दृष्टि से जीव चार प्रकार के होते हैं—

१. ह्री-सत्त्वः—'ह्री' शब्द का अर्थ है लज्जा और 'सत्त्व' शब्द का अर्थ है 'सामर्थ्य', अर्थात् शक्ति। लज्जा ही जिसकी शक्ति है उसे ह्री-सत्त्व कहा जाता है। 'ह्रीसत्त्व' वही व्यक्ति हो सकता है जो स्वभावतः लज्जाशील है और जो लज्जा के कारण ही शक्तिशाली बना हुआ है। यदि कोई व्यक्ति यह सोचकर युद्धभूमि में कूदा हुआ है कि 'रण छोड़कर भागने की अपेक्षा तो डूब मरना अच्छा है, अतः अन्तिम सांस तक लड़ूंगा, चाहे कुछ भी हो पीछे न हटूंगा', तो उसकी युद्ध-सामर्थ्य के पीछे लज्जा ही कार्य-शक्ति एवं प्रेरिका शक्ति है, अतः वह ह्री-सत्त्व है। इसी प्रकार साधना-पथ पर चलने वाला साधक यदि

स्वाभाविक लज्जा के कारण साधना पथ के कष्टों, विपत्तियों एवं बाधाओं को सहन करता है तो उसे मनोवैज्ञानिक भाषा में ह्री-सत्त्व ही कहा जाएगा।

२. **ह्रीमनःसत्त्वः**—वह व्यक्ति 'ह्री-मनःसत्त्व' कहलाता है जिसके मन में लज्जा अवश्य है, परन्तु वह उस लज्जा से उस सामर्थ्य को प्रकट नहीं कर पा रहा जो उसकी प्रेरिका शक्ति है। यदि कोई व्यक्ति शत्रु को आता हुआ देखते ही कांपने लग जाता है, भय-विह्वल हो उठता है, फिर भी इस भाव से युद्ध में लग जाता है कि कहीं मेरी जग-हंसाई न हो, तो हम ऐसे व्यक्ति को ह्रीमनःसत्त्व कहेंगे, क्योंकि मन में लज्जा-शीलता तो है, अतएव लड़ भी रहा है, परन्तु वह लज्जा उसका पराक्रम नहीं बन पाई है, यदि लज्जा उसके सुप्त पराक्रम को जागृत कर देती तो वह कांपता नहीं, भयविह्वल भी न होता, इसी प्रकार साधना-पथ का पथिक साधु भी यदि भयभीत होकर केवल लोकलाज के कारण परीषहों को सहन करता है, लज्जा-जन्य उत्साह से नहीं तो उसे भी 'ह्री-मनःसत्त्व' ही कहा जाएगा।

३. **चलसत्त्वः**—जो व्यक्ति शक्तिशाली तो है, शरीर में सामर्थ्य भी रखता है, परन्तु शक्ति प्रदर्शन के अवसर पर ढीला पड़ जाता है, शत्रु को देखते ही जिसकी शक्तियां जवाब दे जाती है, ऐसे व्यक्ति को मनोवैज्ञानिक चलसत्त्व कहते है। इसी प्रकार जो साधु शक्ति-सम्पन्न है, हृष्ट-पुष्ट है फिर भी साधना- पथ के कष्टों को देखते ही घबरा जाता है, उसका दम फूलने लगता है, उसका धैर्य विचलित हो जाता है वह भी 'चल-सत्त्व' व्यक्तियों की श्रेणी में ही गिना जाता है।

४. **स्थिरसत्त्वः**—वे शक्तिशाली व्यक्ति स्थिर-सत्त्व कहलाते हैं, जिनकी शक्तियो के पीछे उत्साह का महासागर लहरा रहा होता है, जिनके शक्ति-सागर मे धैर्य का हिमालय अटल रूप से खड़ा रहता है, शत्रुओं को देखकर जिनकी शक्तियां अपना पौरुष प्रदर्शित करने के लिए मचल उठती हैं, जो कभी किसी विपत्ति से घबराते नहीं हैं, उन्हें स्थिर-सत्त्व कहा जाता है। ऐसे ही विशिष्ट-जन लोक-व्यवहार और मोक्षपथ पर प्रगति करने का सु-अवसर प्राप्त कर सकते है।

सूत्रकार केवल मनोविश्लेषण के लिए ही मनोविश्लेषण नहीं करते हैं, अपितु मानव-मात्र को प्रेरणा दे रहे हैं कि मनुष्य को ह्रीसत्त्व एवं स्थिर-सत्त्व बनकर जीवन-पथ पर सफलताएं प्राप्त करनी चाहिएं।

चतुर्विध प्रतिमा

मूल—चत्तारि सिज्जापडिमाओ पण्णत्ताओ। चत्तारि वत्थपडिमाओ पण्णत्ताओ। चत्तारि पायपडिमाओ पण्णत्ताओ। चत्तारि ठाणपडिमाओ पण्णत्ताओ ॥११४॥

छाया—चतस्रः शय्याप्रतिमाः प्रज्ञप्ताः। चतस्रो वस्त्रप्रतिमाः प्रज्ञप्ताः। चतस्रः पात्र-प्रतिमाः प्रज्ञप्ताः। चतस्रः स्थानप्रतिमाः प्रज्ञप्ताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार शय्या-पीठ, फलकादि-सम्बन्धी प्रतिमाएं कही गई हैं। चार वस्त्र-सम्बन्धी प्रतिमाएं कही गई हैं। चार पात्र-सम्बन्धी प्रतिमाएं और चार स्थान संबंधी प्रतिमाएं कही गई हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में स्थिरसत्त्व आदि का वर्णन किया गया है, जो स्थिरसत्त्व है वही अभिग्रह आदि धारण कर सकता है, अतः इस सूत्र में शय्या-प्रतिमा, वस्त्र-प्रतिमा, पात्र-प्रतिमा तथा स्थान-प्रतिमा के चार-चार भेद वर्णित किए गए हैं, जैसे कि सर्वप्रथम शय्या-प्रतिमा का निर्देश किया गया है। जिस पर शयन किया जाए उसे शय्या या संस्तारक कहते हैं। प्रतिमा शब्द का अर्थ अभिग्रह अर्थात् विशेष प्रकार की प्रतिज्ञा धारण करके उसका उसी तरह से पालन करना अभिग्रह है। शय्या-प्रतिमा के चार भेद हैं, जैसे कि—

१. शय्या-प्रतिमा

१. पहली प्रतिमा—तख्तपोश, पट्टा, शिला, भूमि, फूस, पराली आदि शय्या कहलाती है, इनमें से किसी एक का अभिग्रह धारण करना, शेष का त्याग करना।

२. दूसरी प्रतिमा—तख्तपोश आदि को देखकर ही ग्रहण करूंगा, बिना देखे नहीं।

३. तीसरी प्रतिमा—जो गृहस्थ के घर में तख्तपोश आदि हों, उन्हें ही ग्रहण करूंगा, इनके अतिरिक्त अन्य किसी स्थान से ग्रहण नहीं करूंगा।

४. चौथी प्रतिमा—जिस मकान में ठहरना है उसी मकान में बिछे हुए संस्तारक आदि को ही ग्रहण करूंगा, अन्य स्थान से लाया हुआ नहीं।[१]

२. वस्त्र-प्रतिमा—

स्थविरकल्पी निर्ग्रन्थ के लिए वस्त्र रखने का विधान है, जिनकल्पी के लिए नहीं। मोक्ष-प्राप्ति न स्थविरकल्पी को हो सकती है और न जिनकल्पी को ही, वह तो केवल कल्पातीत को ही प्राप्त होती है। जो त्यागी वर्ग समाज में रहता है उसे स्थविरकल्पी कहा जाता है। स्थविरकल्पी निर्ग्रन्थों के लिए वस्त्र धारण आवश्यक है, क्योंकि लोक-लज्जा समाज का अनिवार्य अंग है। इतना अवश्य है कि साधु को अपने अभिग्रह के अनुसार वस्त्र रखने और पहनने चाहिएं, धारण किए हुए अभिग्रह से विरुद्ध वस्त्र रखना-पहनना अवश्य निषिद्ध है। वस्त्र ग्रहण करने के लिए साधु चार में से किसी एक प्रतिमा को अवश्य धारण करे, अभिग्रह की उपेक्षा करके मनमाने वस्त्र धारण करना उसके लिए निषिद्ध है। वस्त्र-सम्बन्धी वे चार प्रतिमाएं निम्नलिखित हैं—

---

१ विस्तृत वर्णन के लिए देखिए आचारागसूत्र अध्ययन ११, उद्देशक ३।

१. पहली प्रतिमा—सादे एवं श्वेत रंग के वस्त्र अनेक प्रकार के होते हैं, उनमें से किसी एक प्रकार के ही वस्त्रों के ग्रहण करने एवं धारण करने की प्रतिज्ञा करना साधु के लिए अनिवार्य है। ऐसा करने से मन में संतोष और अनासक्ति बनी रहती है। अनासक्ति और संतोष का नाम ही निर्ग्रन्थता है।

२. दूसरी प्रतिमा—जो वस्त्र सामने पड़ा हो वही लेना, जो परोक्ष में पेटी आदि में पड़ा हो वह न लेने की प्रतिज्ञा ही दूसरी प्रतिज्ञा है। पेटिका में बहुमूल्य वस्त्र ही बंद करके रखे जाते हैं, सामान्य नहीं, अतः दूसरी प्रतिमा सादगी का संकेत करती है।

३. तीसरी प्रतिमा—जो वस्त्र गृहस्थ का पहना हुआ है, मैं वही लूंगा, जो वस्त्र किसी का पहना हुआ नहीं है उसे नहीं ग्रहण करूंगा। इस प्रकार की प्रतिज्ञा वस्त्र सम्बन्धी तीसरी प्रतिमा है। इससे सिद्ध होता है कि साधु गृहस्थों के उपयोग में लाए हुए वस्त्रों का भी प्रयोग कर सकता है।

४. चौथी प्रतिमा—जो वस्त्र किसी के काम नहीं आता, जिसे पहनना कोई भी गृह-सदस्य पसंद नहीं करता, इस प्रकार का उत्सृष्ट वस्त्र आदि कहीं से मिले तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं। इस प्रकार की वस्त्र-सम्बन्धी प्रतिज्ञा है।[१]

३. पात्र-प्रतिमा—

स्थविरकल्पी साधु के लिए शास्त्रकारों ने तीन प्रकार के पात्र रखने का विधान किया है—मिट्टी के पात्र, काष्ठ के पात्र और तूंबे के पात्र। इनसे भिन्न पात्र साधु के लिए कल्पनीय नहीं माने गए हैं। जो साधु वृद्ध है, रोगी है या नवदीक्षित है उसकी परिचर्या के लिए तथा आचार्य, उपाध्याय की सेवा के उद्देश्य की पूर्ति के लिए जितने पात्र आवश्यक हों, उतने ही पात्र रखने चाहिएं। अधिक पात्रों का संग्रह भी अपरिग्रह व्रत में बाधक हो जाता है।

१. पहली प्रतिमा—तीन तरह के पात्रों में से अमुक प्रकार का ही पात्र मैं ग्रहण करूंगा, अन्य किसी प्रकार का पात्र नहीं। इस प्रकार की प्रतिज्ञा पात्र सम्बन्धी पहली प्रतिमा है।

२. दूसरी प्रतिमा—'जो पात्र दृष्टिगत हो' उसी को ग्रहण करूंगा, किन्तु जो पात्र अंधेरे में है या किसी अलमारी में या संदूक आदि में रखा हुआ है, उसे नहीं ग्रहण करूंगा। इस प्रकार की पात्र सम्बन्धी प्रतिज्ञा दूसरी प्रतिमा है।

३. तीसरी प्रतिमा—जो पात्र गृहस्थ के उपयोग में आ चुका हो उसे ही ग्रहण करूंगा अन्य किसी नवीन पात्र को नहीं। इस प्रकार की प्रतिज्ञा पात्र-सम्बन्धी तीसरी प्रतिमा है।

४. चौथी प्रतिमा—'जो पात्र किसी के काम आने वाला नहीं है तथा जिसे ग्रहण करना कोई पसंद नहीं करता, उसी को ग्रहण करूंगा।' स्थविरकल्पी साधु द्वारा इस प्रकार

---

१ विशेष वर्णन के लिए देखिए आचारांगसूत्र, अध्ययन १४, उद्देशक १।

की पात्र-सम्बन्धी प्रतिज्ञा चौथी प्रतिमा है।[१]

उक्त चार प्रतिमाओं का चिंतन करने से ज्ञात होता है कि पात्र रखना परिग्रह नहीं। अत्यावश्यकीय धर्मोपकरणों का संतोष एवं अनासक्ति भाव से रखना परिग्रह नहीं है, ममत्वबुद्धि एवं आसक्ति को ही परिग्रह कहा गया है। पात्र ग्रहण अपरिग्रह और अत्यावश्यकता इन दोनों के मध्य की स्थिति है। शास्त्रकारों ने आवश्यकता-पूर्ति के लिए ही पात्र-ग्रहण की आज्ञा दी है परिग्रह के लिए नहीं। आगमकार जितना महत्त्व अहिंसा को देते हैं, उतना ही अपरिग्रह को भी, दोनों महाव्रतों का समान महत्त्व है। इनमें छोटा या बड़ा कोई नहीं है।

४. स्थान-प्रतिमा—

जैन मुनि चाहे स्थविरकल्पी ही क्यों न हो वह किसी स्थान-विशेष के साथ अपनत्व की स्थापना नहीं कर सकता है, वह अनगार है और अनगारिता ही उसके महत्त्व का मानदण्ड है, अतः वे गृहस्थों के द्वारा धर्मकार्यों के लिए, जन-सेवा के लिए तथा अपने लिए बनवाए गए स्थान में स्थानाधिपति की आज्ञा लेकर ही ठहरते हैं। किसी उपाश्रय में भी वह विशेष प्रकार की प्रतिज्ञाएं लेकर ठहरा करते हैं, इन्हीं प्रतिज्ञाओं को स्थान-प्रतिमा कहा जाता है। स्थान-प्रतिमाएं भी चार प्रकार की होती हैं—

१. पहली प्रतिमा—''मैं इतने स्थान में ठहरूंगा, आवश्यकता पड़ने पर दीवार का सहारा लूंगा, हाथ-पैरों की समस्त आवश्यक क्रियाएं करूंगा और चलने-फिरने की आवश्यकता होने पर चलूं-फिरूंगा भी।'' साधु द्वारा उपाश्रय-प्रयोग की ऐसी प्रतिज्ञा ही स्थान-प्रतिमा का प्रथम रूप है।

२. दूसरी प्रतिमा—जब साधु मुनिराज किसी स्थान-विशेष में ठहरते हुए यह प्रतिज्ञा करता है कि—''मैं इस स्थान में रहूंगा, दीवार आदि का सहारा लेने की आवश्यकता पडने पर सहारा लूंगा, और हाथ-पैरों का संचालन आवश्यकतानुरूप करता रहूंगा, परन्तु इस स्थान में इधर-उधर घूमूंगा नहीं।'' यह भ्रमण-विवर्जित प्रतिज्ञा ही दूसरी प्रतिमा है।

३. तीसरी प्रतिमा—जब कोई मुनिराज ''मैं इस स्थान में निवास-काल तक दीवार एवं पट्टे आदि का सहारा तो लूंगा, परन्तु निश्चल होकर बैठूंगा, इधर-उधर घूमूंगा भी नहीं।'' इस प्रकार की कर्मेन्द्रियों की क्रियाओं से एवं भ्रमण से रहित निवास की प्रतिज्ञा करता है तो वही स्थान सम्बन्धी तीसरी प्रतिमा कहलाती है।

४. चौथी प्रतिमा—जब कोई साधक किसी स्थान विशेष में यह प्रतिज्ञा करके ठहरता है कि—''मैं इस स्थान में निवास-काल तक स्थिर होकर रहूंगा, न किसी दीवार आदि का सहारा लूंगा, न हाथ पैरों की क्रियाएं करूंगा और न ही इधर-उधर भ्रमण करूंगा।'' उसकी ऐसी 'समाधिस्थ' होकर रहने की प्रतिज्ञा स्थान-सम्बन्धी चौथी प्रतिमा कहलाती है।

---

१ इस प्रतिज्ञा का विस्तृत विवेचन आचारांग-सूत्र के पन्द्रहवें अध्ययन में किया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में साधु-जीवन में शय्या, वस्त्र, पात्र एवं स्थान आदि के उपयोग की विधि एवं मर्यादाओं की ओर संकेत करते हुए साधु-जीवन में प्रतिमाओं की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है।

जीव-स्पृष्ट एवं कार्मण-मिश्रित शरीर

मूल—चत्तारि सरीरगा जीवफुडा पण्णत्ता, तं जहा—वेउव्विए, आहारए, तेयए, कम्मए।

चत्तारि सरीरगा कम्मुम्मीसगा पण्णत्ता, तं जहा—ओरालिए, वेउव्विए, आहारए, तेयए॥११५॥

छाया—चत्वारि शरीरकाणि जीवस्पृष्टानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—वैक्रियकम्, आहारकं, तैजसं, कार्मणम्।

चत्वारि शरीरकाणि कार्मणोन्मिश्रकाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—औदारिकं, वैक्रियम्, आहारकं, तैजसम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार शरीर जीवात्मा द्वारा स्पृष्ट कहे गए हैं, जैसे—१. वैक्रिय—देव और नारकीयों का शरीर। २. आहारक—लब्धिधारी मुनि का एक प्रकार का शरीर। ३. तैजस—आहार को रस-रुधिर आदि में परिणत करने वाला शरीर। ४. कार्मण—कर्मसमूह रूप अत्यन्त सूक्ष्म शरीर।

चार शरीर कार्मण-शरीर से मिश्रित कहे गए हैं, जैसे—औदारिक—मनुष्य और तिर्यंच-सम्बन्धी शरीर, वैक्रिय, आहारक और तैजस।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है। प्रतिमा-प्रतिपन्न साधक का शरीर भी जीव-स्पृष्ट होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में क्रम-प्राप्त जीवस्पृष्ट शरीरों का वर्णन किया गया है।

यद्यपि जीव अनन्त हैं और प्रत्येक जीव के आश्रयभूत शरीर भिन्न-भिन्न होने से शरीर भी अनेक ही होते हैं, परन्तु जीव के आधारभूत एवं क्रियाओं के साधनभूत समस्त शरीरों का कार्य-कारण आदि के सादृश्य की दृष्टि से वर्गीकरण करने पर उन्हें पांच रूपों में विभक्त किया जाता है—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण।[१]

औदारिक—अस्थि-मांस, रुधिर-स्नायु आदि द्वारा निर्मित वह स्थूल शरीर जो जीव द्वारा परित्यक्त होने पर हाड़-मांस के पुतले के रूप में गलने, सड़ने, जलाने, दबाने आदि के लिए शेष रह जाता है।

---

१ औदारिक-वैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि। (तत्त्वार्थ-२/३७)

वैक्रिय—देवों और नारकीयों का वह शरीर जो स्वेच्छा से छोटा-बड़ा, मोटा-पतला एवं कभी एक और कभी अनेक किया जा सकने वाला होता है।

आहारक—चौदह पूर्व-धर लब्धि-सम्पन्न तपस्वी मुनिराजों द्वारा तपोजनित शक्ति से एक हाथ प्रमाण का शुद्ध पुद्गलों द्वारा निर्मित शरीर जो अबाध गति वाला होता है।

तैजस—यद्यपि यह शरीर सेन्द्रिय एवं प्रत्यक्ष रूप में सावयव नहीं होता, तथापि इसी के द्वारा पाचन आदि कार्य होते हैं और तपस्या-जनित शक्तियों से सम्पन्न विशिष्ट मुनिराज इसके द्वारा अनुग्रह-विनाश आदि में भी समर्थ होते हैं।

कार्मण—यह शरीर भी तैजस शरीर की तरह सेन्द्रिय एवं सावयव नहीं होता, परन्तु यह कर्मरूप है और अनादिकाल से जीव के साथ सम्बद्ध है।

इन पांच शरीरों में से प्रथम औदारिक शरीर को छोड़कर शेष चार शरीरों को 'जीव-स्पृष्ट' कहा गया है। "जीवस्पृष्ट" शब्द का अर्थ है—'जीव के द्वारा परित्यक्त होने पर जिस शरीर के अवशेषों की सत्ता शेष न रहे।' वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर जब जीव के द्वारा त्याग दिए जाते हैं तो उन शरीरों का कोई चिह्न इस प्रकार का शेष नहीं रह जाता, जैसा कि औदारिक शरीर का अवशेष हाड़-मांस का पुतला रह जाया करता है। अत: इन चार शरीरों को 'जीव-स्पृष्ट' कहा गया है।

कर्म-स्वरूप कार्मण शरीर शेष चारों शरीरों का मूल है, क्योंकि कर्म ही जन्म से मृत्यु तक रहने वाले शरीरों का निमित्त कारण है, अत: चारों शरीरों को कार्मण शरीर से मिश्रित बतलाया गया है। कार्मण शरीर के बिना अन्य शरीरों की अवस्थिति ही असम्भव है।

संसारी जीव एक साथ कम से कम दो और अधिक से अधिक चार शरीर धारण कर सकता है, क्योंकि आहारक और वैक्रिय की सत्ता एक साथ नहीं हो सकती है। कार्मण शरीर प्रत्येक अवस्था में रहता ही है, अत: आदि के सभी शरीरों को कार्मण मिश्रित कहा गया है।

अस्तिकाय-स्पृष्ट लोक

मूल—चउहिं अत्थिकाएहिं लोगे फुडे पण्णत्ते, तं जहा—धम्मत्थिकाएणं, अधम्मत्थिकाएणं, जीवत्थिकाएणं, पुग्गलत्थिकाएणं।

चउहिं बादरकाएहिं उववज्जमाणेहिं लोगे फुडे, पण्णत्ते, तं जहा—पुढविकाइएहिं, आउकाइएहिं, वाउकाइएहिं, वणस्सइकाइएहिं ॥११६॥

छाया—चतुर्भिरस्तिकायैर्लोकः स्पृष्टः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—धर्मास्तिकायेन, अधर्मास्तिकायेन, जीवास्तिकायेन, पुद्गलास्तिकायेन।

चतुर्भिर्बादरकायैरुपपद्यमानैर्लोकः स्पृष्टः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—पृथिवीकायिकैः, अप्कायिकैः, वायुकायिकैः, वनस्पतिकायिकैः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—यह लोक चार अस्तिकायों द्वारा स्पृष्ट कहा गया है, जैसे—धर्मास्तिकाय से, अधर्मास्तिकाय से, जीवास्तिकाय से और पुद्गलास्तिकाय से।

उत्पन्न होने वाले चार बादर काय द्वारा यह संसार परिव्याप्त कहा गया है, जैसे—पृथ्वीकायों से, अप्कायों से, वायुकायों से और वनस्पतिकायों से।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में जीव-स्पृष्ट शरीरों का वर्णन किया गया है, वे शरीर लोकाकाश में ही पाए जाते हैं, अतः अब क्रम-प्राप्त लोकाकाश की स्थिति का वर्णन किया जा रहा है।

जैन दर्शन में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ये चार अजीवकाय माने गए हैं। गतिशील पदार्थों की गति में निमित्तभूत द्रव्य को धर्मास्तिकाय कहा जाता है और स्थिति में निमित्त भूत द्रव्य को अधर्मास्तिकाय संज्ञा दी गई है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीव इन चार द्रव्यों को अवकाश प्रदान करने वाले तत्त्व को आकाशास्तिकाय कहा गया है। जिसे न्यायदर्शन एवं आधुनिक विज्ञान परमाणु कहता है, उसे ही जैन दर्शन परमाणु-पुद्गल मानता है और पुद्गल-समूह को पुद्गलास्तिकाय कहा जाता है।

आकाशास्तिकाय अत्यन्त विशाल है। उस आकाश के जितने भाग में धर्मास्तिकाय आदि की सत्ता पाई जाती है उसे लोक कहा जाता है और जिस भाग में इसकी सत्ता नही पाई जाती उसे अलोक कहा जाता है, अतः सूत्रकार लोक को इन चारों द्वारा स्पृष्ट बताते हैं।

यद्यपि पांचवें जीव द्रव्य की सत्ता भी लोक में ही पाई जाती है, परन्तु उपर्युक्त विवेचन अजीव द्रव्यों को लक्ष्य में रखकर किया गया है। यह आत्मा बन्ध-अवस्था तक ही आत्मा है और कर्म मुक्त अवस्था में यही परमात्मा बन जाता है, अतः जीव की सत्ता भी लोक तक सीमित होने के कारण उसे विभु अर्थात् व्यापक नहीं माना जा सकता। वह बन्ध अवस्था तक लोक में और मुक्त अवस्था में सिद्धालय को प्राप्त हो जाता है। दोनों दशाओं में उसे व्यापक स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सूत्र के दूसरे अंश में यह कहा गया है कि यह लोक बादर पृथ्वीकाय, बादर अप्काय, बादर वायुकाय और बादर वनस्पतिकाय से भी स्पृष्ट है। यद्यपि सूक्ष्म रूप से तेजस्काय सहित पांचों स्थावरों द्वारा लोक स्पृष्ट है, परन्तु बादर तेजस्काय की सत्ता केवल ढाई द्वीप में ही पाई जाती है, सम्पूर्ण लोक में नहीं, अतः लोक का स्पर्श करने वाले स्थावरों में केवल चार की ही गणना की गई है।[१]

---

१. इस विषय का विस्तृत विवेचन देखिए 'प्रज्ञापना-सूत्र' द्वितीय स्थान-पद।

प्रदेश-समानता

मूल—चत्तारि पएसग्गेणं तुल्ला पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, लोगागासे, एगजीवे ॥११७॥

छाया—चत्वारः प्रदेशाग्रेण तुल्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः, लोकाकाशः, एकजीवः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार पदार्थ प्रदेशों की अपेक्षा समान प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, 'लोकाकाश और एक जीव अर्थात् आत्मा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में लोक को धर्मास्तिकाय आदि के द्वारा स्पृष्ट बताया गया है, अब सूत्रकार क्रम-प्राप्त धर्मास्तिकाय आदि की समान-प्रदेशता पर प्रकाश डालते हैं।

प्रदेश का अर्थ है—किसी द्रव्य-विशेष का वह भाग जिसके अंशों अर्थात् भागों की कल्पना भी न की जा सके अर्थात् अविभाज्य अंश को प्रदेश कहा जाता है। धर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश हैं, इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के भी प्रदेश असंख्यात माने गए हैं। लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या भी असंख्यात ही मानी गई है। यद्यपि जीव द्रव्य अर्थात् आत्मा अनन्त हैं, परन्तु प्रत्येक जीव के प्रदेशों की संख्या असंख्यात ही स्वीकार की गई है, क्योंकि लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं एक जीवात्मा के भी उतने ही प्रदेश स्वीकार किए गए हैं। अतः शास्त्रकार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव को प्रदेश-संख्या की दृष्टि से समान कहते हैं।

दुर्दृश्य चार शरीर

मूल—चउण्हमेगं सरीरं नो सुपस्सं भवइ, तं जहा—पुढविकाइयाणं, आउकाइयाणं, तेउकाइयाणं, वणस्सइकाइयाणं॥११८॥

छाया—चतुर्णामेकं शरीरं नो सुदृश्यं भवति, तद्यथा—पृथिवीकायिकानाम्, अप्कायिकानाम्, तेजस्कायिकानाम्, वनस्पतिकायिकानाम्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चारों का एक शरीर सुगमता से नहीं देखा जा सकता, जैसे—पृथ्वीकाय के जीवों का, अप्काय के जीवों का, तैजस्कायिक जीवों का और वनस्पतिकायिक जीवों का।

विवेचनिका—पूर्व सूत्रों में उन जीवों का वर्णन किया गया है जो लोक का स्पर्श करते हैं, उनमें पृथ्वीकाय आदि चार प्रमुख हैं। प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार यह स्पष्ट करते हैं कि पृथ्वीकाय आदि देखने में बादर अर्थात् स्थूल अवश्य हैं, परन्तु उनके शरीर दुर्दृश्य हैं।

पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक और वनस्पतिकायिक इन चारों के शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, अतः वे चर्म-चक्षुओं से देखे नहीं जा सकते हैं, यद्यपि इनके विशाल रूपों को हम प्रतिदिन देखते हैं, परन्तु वह शरीर किसी एक जीव का नहीं होता, अनेक जीवों का समूह होता है, उस सामूहिक शरीर को ही हम दृष्टिगोचर कर पाते हैं। जैसे खसखस का दाना अकेला पड़ा होने पर दूर से दिखाई नहीं देता और खसखस के दानों का ढेर आसानी से देखा जा सकता है, इसी प्रकार पृथ्वीकाय किसी एक जीव के शरीर का प्रत्यक्ष सामान्य चर्म-चक्षुओं से नहीं हो सकता, केवल उन जीवों के पिण्ड को ही हम देख पाते हैं।

यद्यपि पांच स्थावरों में वायुकायिक जीवों की भी गणना होती है, परन्तु दुर्दृष्यता के प्रकरण में उसे ग्रहण नहीं किया गया, क्योंकि वायुकायिक जीवों के सामूहिक—पिण्डीभूत रूप के भी दर्शन नहीं किए जा सकते हैं।

पृथ्वीकाय आदि के जीवों का व्यक्तिरूप से प्रत्यक्ष या तो अनुमान प्रमाण द्वारा होता है अथवा केवली सर्वज्ञ महापुरुष ही उनका प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

वैदिक संस्कृति में भी पृथ्वी की भू-देवी के रूप में, जल की वरुण देवता के रूप में, अग्नि की अग्निदेवता के रूप में और पीपल, बरगद, तुलसी आदि वनस्पतिकायिकों की देवता रूप मे उपासना उनके सामूहिक सजीवत्व का ही समर्थन करती है।

स्पर्श द्वारा अनुभूत-पदार्थ

मूल—चत्तारि इंदियत्था पुट्ठा वेदेंति, तं जहा—सोइंदियत्थे, घाणिंदियत्थे, जिब्भिंदियत्थे, फासिंदियत्थे ॥११९॥

छाया—चत्वारः इन्द्रियार्थाः स्पृष्टा वेद्यन्ते, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियार्थः, घ्राणेन्द्रियार्थः, जिह्वेन्द्रियार्थः, स्पर्शनेन्द्रियार्थः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के इन्द्रिय-विषय स्पर्श किए जाने पर ही जाने जाते हैं, जैसे श्रोत्रेन्द्रिय का विषय, घ्राणेन्द्रिय का विषय, जिह्वेन्द्रिय का विषय और स्पर्शनेन्द्रिय अर्थात् त्वचा का विषय।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में दुर्दृष्य शरीरों का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार उसी परम्परा में स्पर्शवेद्य विषयों का वर्णन करते है—

चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियां प्राप्यकारी कहलाती हैं। विषय से सम्बन्धित होने पर ही जिन इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान हो, उन्हें 'प्राप्यकारी' कहते हैं। चक्षु और मन अपने विषय को दूर से ही ग्रहण कर लेते हैं। नेत्र में पड़े हुए कण को जैसे चक्षु इन्द्रिय नहीं ग्रहण करती, वैसे ही शरीर में रहे हुए किसी भी धातु या उपधातु का ग्रहण मन नहीं करता, किन्तु

दूर रहे हुए विषय को ग्रहण कर लेता है। शेष चार इन्द्रियों का ऐसा स्वभाव नहीं है। जब विषय का इन्द्रियों से सम्बन्ध हो जाता है, तभी वे इन्द्रियां उस विषय का ज्ञान प्राप्त करती हैं। इसी कारण उन्हें प्राप्यकारी कहा जाता है।

श्रोत्रेन्द्रिय अपना विषय स्पर्शमात्र से ग्रहण करती है, चक्षु बिना ही स्पर्श किए अपने विषय को ग्रहण करता है, किन्तु घ्राणेन्द्रिय गंध को, रसनेन्द्रिय रस को और स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्श को बद्धस्पृष्ट रूप ग्रहण करती है।[1]

बौद्धों ने श्रोत्र को भी चक्षु की तरह अप्राप्यकारी माना है जो उचित नहीं है। शेष दर्शन सभी इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं।

अलोक में प्रवेश न हो सकने के कारण

मूल—चउहिं ठाणेहिं जीवा य पोग्गला य णो संचाएंति बहिया लोगंता गमणयाए, तं जहा—गइअभावेणं, णिरुवग्गहयाए, लुक्खयाए, लोगाणु-भावेणं ॥१२०॥

छाया—चतुर्भिः स्थानैर्जीवाश्च पुद्गलाश्च नो शक्नुवन्ति बहिस्ताल्लोकान्ताद् गमनतायै, तद्यथा—गत्यभावेन, निरुपग्रहतया, रूक्षतया, लोकानुभावेन।

शब्दार्थ—चउहिं ठाणेहिं—चार कारणों से, **जीवा य**—जीव-आत्माएं और, **पोग्गला य**—पुद्गल पदार्थ, **बहिया लोगंता**—लोकान्त से बाहिर, **गमणयाए**—जाने में, **णो संचाएंति**—समर्थ नहीं हैं, **तं जहा**—जैसे, **गइअभावेणं**—गति के अभाव से, **णिरुवग्गहयाए**—धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण, **लुक्खयाए**—रूक्षता के कारण और, **लोगाणुभावेणं**—लोक-मर्यादा के कारण।

मूलार्थ—चार कारणों से जीव और पुद्गल लोकांत से बाहर जाने में समर्थ नहीं हैं, जैसे १. गति के न होने से। २. धर्मास्तिकाय के न होने से। ३. रूक्षता के कारण और ४. लोकमर्यादा के कारण।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में स्पर्शानुभूत पदार्थों का वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार उसी परम्परा में जीव और पुद्गल गति सीमा का वर्णन करते हैं—

आकाश दो भागों में विभक्त है—लोकाकाश और अलोकाकाश। अलोक में आकाश के अतिरिक्त और किसी द्रव्य का अस्तित्व नहीं है। जीव और पुद्गल ये दोनों द्रव्य सक्रिय अर्थात् गति करने में समर्थ हैं। शेष सब द्रव्य निष्क्रिय हैं। जीव और पुद्गल की गतिशीलता को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने जीव और पुद्गल दो द्रव्य ही ग्रहण किए हैं और बताया है कि ये दोनों गतिशील होते हुए भी लोक सीमा को लांघकर अलोक में प्रविष्ट नहीं हो

१ पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासइ अपुट्ठं तु।
गंधं रसं च फासं च, बद्धपुट्ठं वियागरे ॥ नन्दीसूत्र।

सकते। इनके अलोक में प्रवेश न पा सकने के चार कारण हैं—

१. जैसे दीपशिखा स्वाभाविक रूप से नीचे को नहीं जाती, वैसे ही गतिशील होते हुए भी जीव और पुद्गल का स्वभाव लोक से बाहर जाने का नहीं है। अत: लोकान्त की सीमा पर पहुंचते ही उनमें गति का अभाव हो जाता है।

२. जैसे पंगु पुरुष गाड़ी के बिना नहीं जा सकता, वैसे ही जीव और पुद्गल की गति धर्मास्तिकाय के अभाव क्षेत्र में नहीं हो सकती। क्योंकि गतिशीलता का जन्म धर्मास्तिकाय से ही होता है, धर्मास्तिकाय लोक-स्पृष्ट है, अत: लोक में ही वह पदार्थों को गतिशील बनाता है, अलोक में नहीं। अलोक में धर्मास्तिकाय का अभाव होने से जीव और पुद्गल गतिशील नहीं हो सकते हैं।

३. लोकान्त भाग में इतनी रूक्षता है कि जिस के कारण जीव और पुद्गल की गति हो नहीं सकती। जैसे शुष्क काष्ठ में विद्युत् का संचार अवरुद्ध हो जाता है, वैसे ही लोकान्त में रूक्षता के कारण जीव और पुद्गल की गति अवरुद्ध हो जाती है।

४. चौथा कारण लोक मर्यादा है। जैसे सूर्य तथा सौर-मण्डल के ग्रह अपने मार्ग से दूसरी ओर नहीं जाते, वैसे ही लोक मर्यादा से बन्धे जीव और पुद्गल लोक से बाहर अलोक में प्रविष्ट नहीं होते।

चतुर्विध ज्ञात एवं न्याय

मूल—चउव्विहे णाए पण्णत्ते, तं जहा—आहरणे, आहरणतद्देसे, आहरणतद्दोसे, उवन्नासोवणए।

आहरणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—अवाए, उवाए, ठवणाकम्मे, पडुप्पन्नविणासी।

आहरणतद्देसे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—अणुसिट्ठी, उवालंभे, पुच्छा, निस्सावयणे।

आहरणतद्दोसे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—अधम्मजुत्ते, पडिलोमे, अंतोवणीए, दुरुवणीए।

उवन्नासोवणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—तव्वत्थुए, तदन्नवत्थुए, पडिनिभे, हेऊ।

हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—जावए, थावए, वंसए, लूसए।

अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे आगमे।

अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—अत्थित्तं अत्थि सो हेऊ,

अत्थित्तं णत्थि सो हेऊ, णत्थित्तं अत्थि सो हेऊ, णत्थित्तं णत्थि सो हेऊ ॥१२१॥

छाया—चतुर्विधं ज्ञातं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आहरणम्, आहरणतद्देशः, आहरणतद्दोषः, उपन्यासोपनयः।

आहरणं चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—अपायः, उपायः, स्थापनाकर्म, प्रत्युत्पन्नविनाशी। आहरणतद्देशश्चतुर्विधः, प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अनुशिष्टिः, उपालम्भः, पृच्छा, निश्रावचनम्। आहरणतद्दोषश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—अधर्मयुक्तः, प्रतिलोमः, आत्मतोपनीतः, दुरुपनीतः।

उपन्यासोपनयश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—तद्वस्तुकः, तदन्यवस्तुकः, प्रतिनिभः, हेतुः।

हेतुश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—यापकः, स्थापकः, व्यंसकः, लूषकः।

अथवा हेतुश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, औपम्यम्, आगमः।

अथवा हेतुश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अस्तित्वमस्ति स हेतुः, अस्तित्वं नास्ति स हेतुः, नास्तित्वमस्ति स हेतुः, नास्तित्वं नास्ति स हेतुः।

शब्दार्थ—चउव्विहे णाए पण्णत्ते, तं जहा—चार प्रकार के ज्ञात—दृष्टान्त कहे गए हैं, जैसे, **आहरणे**—दृष्टान्त, **आहरणतद्देसे**—दृष्टान्तैक देश, जैसे कि चन्द्रसदृश मुख, **आहरणतद्दोसे**—दोषयुक्त दृष्टान्त, जैसे—शब्द नित्य है, अमूर्त होने से, यथा घट, **उवन्नासोवणए**—वादी द्वारा दिए गए हेतु द्वारा पक्ष में अनिष्ट दोष की प्राप्ति होना।

आहरणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दृष्टान्त चार प्रकार के हैं, जैसे, **अवाए**—अनर्थ, **उवाए**—उपाय, **ठवणाकम्मे**—जिस दृष्टान्त द्वारा परमत को दूषित सिद्ध करके स्वमत की स्थापना की जाती है, वह स्थापनाकर्म है, **पडुप्पन्नविणासी**—जिस के द्वारा भविष्य में होने वाले विनाश से बचाव किया जाए।

आहरणतद्देसे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दृष्टान्तैक देश चार प्रकार का है, जैसे, **अणुसिट्ठी**—सद्गुण की प्रशंसा करना, जैसे—सुभद्रा के शील की तरह, **उवालंभे**—उपालम्भ, उपालम्भ द्वारा शिक्षित करना, **पुच्छा**—प्रश्न द्वारा निर्णय करना, कुणिकवत्, **निस्सावयणे**— दूसरे को निमित्त बनाकर अन्य को शिक्षा देना।

आहरणतद्दोसे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दोषयुक्त दृष्टान्त चार प्रकार का है, जैसे, **अधम्मजुत्ते**—जिस के द्वारा बुद्धि अधर्मयुक्त हो जाए, **पडिलोमे**—धूर्त के प्रति धूर्तता करना, **अंतोवणीए**—अन्य के मत का खण्डन करने के लिए दिए गए दृष्टान्त से अपने ही मत को दूषित कर लेना, **दुरुवणीए**—एक दोष द्वारा दूसरे दोष की सिद्धि करना।

उवन्नासोवणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—उपन्यासोपनय चार प्रकार का है, जैसे, **तव्वत्थुए**—वादी द्वारा स्थापित हेतु से वादी के ही सिद्धान्त का खण्डन करना,

तदन्नवत्थुए— वादी द्वारा स्थापित हेतु का अन्य हेतु द्वारा खण्डन करना, **पडिनिभे**—वादी द्वारा स्थापित छलहेतु का छलहेतु से खण्डन करना, **हेऊ**—वक्ता के आशय को जानकर भी वक्रोक्ति से छलयुक्त उत्तर देना।

हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—हेतु चार प्रकार के कहे गए हैं, जैसे, **जावए**—कालयापन हेतु, **थावए**—वादी के पक्ष का खण्डन करके स्वपक्ष की स्थापना करना, **वंसए**—पूर्वापर विरोध द्वारा वादी को व्यामोह में डाल देना, **लूसए**—व्यामोह द्वारा दूसरे के पक्ष का खण्डन करना।

अहवा—अथवा, **हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा**—हेतु चार प्रकार का कहा गया है, जैसे, **पच्चक्खे**—प्रत्यक्ष, **अणुमाणे**—अनुमान प्रमाणरूप हेतु, **ओवम्मे**—उपमान रूप हेतु, **आगमे**—आप्त वचनरूप हेतु।

अहवा—अथवा, **हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा**—हेतु चार प्रकार का कहा गया है, जैसे, **अत्थित्तं अत्थि सो हेऊ**—एक वस्तु के अस्तित्व द्वारा दूसरी वस्तु के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला हेतु, जैसे कि—वह्नि के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला धूम का अस्तित्व रूप हेतु, **अत्थित्तं णत्थि सो हेऊ**—अस्तित्व के द्वारा नास्तित्व को सिद्ध करने वाला हेतु, जैसे कि जहां अग्नि है, वहां शीत नहीं है, **णत्थित्तं अत्थि सो हेऊ**—नास्तित्व के द्वारा अस्तित्व को सिद्ध करने वाला हेतु, सूर्य के न होने से अन्धकार का होना, **णत्थित्तं णत्थि सो हेऊ**— नास्तित्व के द्वारा नास्तित्व को सिद्ध करने वाला हेतु, जैसे कि—जहां अग्नि नहीं, वहां धूम भी नहीं।

मूलार्थ—चार प्रकार के दृष्टान्त कहे गए हैं, जैसे—आहरण—जिसमें समग्र दार्ष्टान्तिक अर्थ का उपनय हो, अर्थात् जिस दृष्टान्त में दार्ष्टान्तिक अर्थ सर्वांश से समन्वित होता है, जैसे—पाप दुःख का कारण है, ब्रह्मदत्त के पाप की तरह। आहरण तद्देश—जिसमें एकांश से दार्ष्टान्तिक अर्थ घटित होता है, जैसे—चन्द्रमुखी। आहरण-तद्दोष—दोष युक्त दृष्टान्त, जैसे—शब्द नित्य है—अमूर्त होने से घट के समान। यहां पर साध्य साधन से रहित होना दृष्टान्त का दोष है। उपन्यासोपनय—जिसमें वादी के पक्ष में अनिष्ट की आपत्ति हो, जैसे—आत्मा अकर्त्ता है, अमूर्त होने से। आकाश के समान। यहां आकाश दृष्टान्त द्वारा आत्मा में अनिष्ट भोक्तृत्व दोष की प्राप्ति होती है।

आहरण दृष्टान्त चार प्रकार का है, अनर्थरूप दृष्टान्त, जैसे—सर्पयुक्तगृह अनर्थ का कारण है। उपाय रूप दृष्टान्त, जैसे—कृषिकर्म रूप उपाय से धन की उत्पत्ति होती है। स्थापना-कर्म, जैसे—जिसके द्वारा संपूर्णतया पर-मत खण्डन-पूर्वक स्वमत की स्थापना की जाए, जैसे—शब्द नित्य है, इन्द्रियग्राह्य होने से, घट की तरह। इस

मत का शब्द अनित्य है, क्रियाजन्य होने से घट की तरह। इस दृष्टान्त से पूर्वमत का खण्डन हो जाता है। प्रत्युत्पन्न विनाशी—जिसमें तत्कालोत्पन्न वस्तु का विनाश कथन किया जाए, जैसे—आत्मा अकर्त्ता है, अमूर्त्त होने से, आकाशवत्। यहां आत्मा में अकर्तृत्व उत्पन्न होते ही उसके विनाश में आत्मा कर्त्ता ही है, कथंचित् मूर्त्त होने से, देवदत्तवत्। इस उत्तर के दृष्टान्त से पूर्व दृष्टान्त का खण्डन—विनाश होने के कारण यहां पूर्व दृष्टान्त प्रत्युत्पन्नविनाशी है।

आहरणतद्देश चार प्रकार का है, जैसे—अनुशास्ति, सद्गुण की प्रशंसा करना, जैसे—सुभद्रा के शील की तरह। उपालम्भ द्वारा शिक्षित करना, जैसे—चन्दनबाला ने उपालम्भ द्वारा मृगावती को शिक्षित किया। पृच्छा—प्रश्न द्वारा निर्णय करना, जैसे—कुणिक ने भगवान् महावीर स्वामी से अपने गतिबन्ध के विषय में प्रश्न किए। निश्रायवचन, दूसरे को निमित्त बनाकर अन्य को शिक्षा देना, जैसे—भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी के द्वारा अन्य साधक आत्माओं को "**समयं गोयम ! मा पमायए**" हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर। इत्यादि वाक्यों द्वारा जनसामान्य को भी शिक्षा दी है।

आहरणतद्दोष चार प्रकार का कहा गया है, जैसे—अधर्मयुक्त, अर्थात् जिस दृष्टान्त से बुद्धि अधर्मयुक्त हो जाए। प्रतिलोम—जहां प्रतिकूलता का उपदेश किया जाए, जैसे कि शठ के प्रति शठता का बर्ताव करना चाहिए। आत्मोपनीत—दूसरे के मत का खण्डन करने के लिए दिए हुए जिस दृष्टान्त द्वारा अपने ही मत को दूषित कर लिया जाए। दुरुपनीत—जिस दृष्टान्त में एक दोष द्वारा दूसरे दोष की सिद्धि की जाए।

उपन्यासोपनय चार प्रकार का कहा गया है—जैसे—तद्वस्तुक, यथा—वादी द्वारा स्थापित हेतु से ही वादी के सिद्धान्त का खण्डन करना, जैसे—जीव नित्य है, अमूर्त्त होने से, आकाशवत्। इसी हेतु द्वारा यह कथन कि, जीव अनित्य है, अमूर्त्त होने से, कर्मवत्। यहां एक ही हेतु से वादी के उपरोक्त सिद्धान्त का खण्डन किया गया है। तदन्यवस्तुक, जैसे— वादी द्वारा स्थापित हेतु का अन्य हेतु द्वारा खण्डन करना। प्रतिनिभ, जिसमें वादी द्वारा स्थापित छलहेतु का छलहेतु से खण्डन किया जाए। हेतु, वक्ता के आशय को जानकर भी वक्रोक्ति द्वारा छलयुक्त उत्तर देना।

हेतु चार प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—यापन, जिस हेतु द्वारा केवल कालयापन किया जाए। स्थापक, जिससे वादी के पक्ष का खण्डन करके स्वपक्ष की स्थापना की जाए। व्यंसक, जिस हेतु द्वारा वादी को व्यामोह में डाल

दिया जाए। लूषक, जिस हेतु से व्यामोह में डालकर वादी के पक्ष का खण्डन किया जाए।

अथवा हेतु चार प्रकार का है, जैसे—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम।

अथवा हेतु चार प्रकार का है, जैसे—एक के अस्तित्व से दूसरे के अस्तित्व को सिद्ध करना। अस्तित्व के द्वारा नास्तित्व को सिद्ध करना। नास्तित्व के द्वारा अस्तित्व को सिद्ध करने वाला हेतु। नास्तित्व के द्वारा नास्तित्व को सिद्ध करने वाला हेतु।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में जीव और पुद्गल के लोक से बाहर न जा सकने के कारणों पर प्रकाश डाला है। जीव आदि की गति प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा नहीं जानी जा सकती, उसके लिए अनुमानादि की आवश्यकता होती है, अतः अनुमानादि कारणों के स्वरूप का ज्ञान कराया जाता है।

ज्ञात शब्द अनेक अर्थों का द्योतक है, उसका एक अर्थ है 'दृष्टान्त'। जब वक्ता किसी ऐसे विषय का वर्णन करता है जो भावात्मक एवं अदृश्य होने से सामान्य जन की समझ में नहीं आ सकता है तो वह उस जैसे समान धर्म अर्थात् गुण एवं क्रिया वाले किसी अन्य विषय का इस प्रकार वर्णन करता है, जिससे अभीष्ट विषय बुद्धिगम्य हो उठता है, उसी अभीष्ट अर्थ का बोध कराने वाले अन्य विषय को दृष्टान्त कहा जाता है। दृष्टान्त को ही जैनागमों की भाषा में 'ज्ञात' कहा जाता है, क्योंकि दृष्टान्त रूप में उपस्थित विषय सभी को ज्ञात होता है अर्थात् उसे प्रायः सभी जानते हैं।

दृष्टान्त दो प्रकार के होते हैं, साधर्म्य युक्त और वैधर्म्य युक्त। जहां साधन के तौर पर साध्य का होना निश्चित बताया जाए, वह साधर्म्य दृष्टान्त होता है। जैसे कि जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि अवश्य होती है। जैसे रसोईघर में धूम साधन है, उससे साध्य अग्नि के होने का निश्चय हुआ है, अतः यह साधर्म्य दृष्टान्त है। इससे विपरीत जहां-जहां साध्य का अभाव है, वहां-वहां साधन का भी अभाव होता है जैसे कि जलाशय में अग्नि का ही अभाव है, अतः वहां धूम का अभाव है। यह वैधर्म्य-दृष्टान्त है। उक्त विषय का संक्षिप्त स्पष्टीकरण एक कारिका में मिलता है, जैसे कि—

"साध्येनानुगमो हेतोः, साध्याभावे च नास्तिता।
ख्याप्यते यत्र दृष्टान्तः, स साधर्म्येतरो द्विधा॥"

ज्ञात शब्द का अर्थ आख्यानक अर्थात् कथानक भी होता है, उसके भी मुख्यतया दो भेद हैं, चरित अर्थात् ऐतिहासिक या पौराणिक रूप में घटित और कल्पित। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की तरह निदान दुःख के लिए ही होता है, यह चरित-दृष्टान्त है, क्योंकि ब्रह्मदत्त ऐतिहासिक व्यक्ति है। प्रमादी जीवों को यौवन आदि की अनित्यता दिखाने के लिए 'किसलय' और 'जीर्णपत्र' का संवाद कल्पित दृष्टान्त है। जैसे कि—

पतनाभिमुख जीर्ण पत्र का परिहास करती हुई कोंपलें बोलीं—देखा, हम आए और तुम चले, इस व्यंग्य का उत्तर देता हुआ पत्ता बोला—जैसे तुम हो, कभी हम भी ऐसे ही थे, जैसे हम हैं वैसे कभी तुम भी हो जाओगे। इस प्रकार गिरते हुए जीर्णपत्र ने किसलयों को शिक्षा दी, अत: यौवन आदि पर कभी भी अहंभाव नहीं करना चाहिए। इस प्रकार के दृष्टान्त कल्पित कहलाते हैं। इस विषय को अनुयोगद्वार सूत्र में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

जह तुब्भे, तह अम्हे, तुब्भेऽवि य होहिहा जहा अम्हे।
अप्पाहेइ पडंतं पंडुयपत्तं किसलयाणं॥

'ज्ञात' शब्द उपमान का भी द्योतक है, जैसे कि इस बालक के हाथ कोंपल के समान सुकुमार हैं। यहां कोंपल उपमान है, अत: वही ज्ञात है।

कही पर 'ज्ञात' शब्द उपपत्ति मात्र रूप हेतु के लिए भी प्रयुक्त होता है। जैसे किसी ने किसी खरीदार से पूछा—''ये जौं किस लिए खरीदे जा रहे हैं?'' तब खरीदार ने उत्तर दिया— ''जौं कहीं से मुफ्त नहीं मिलते, इसलिए खरीदे जा रहे हैं।'' यहां प्रयुक्त 'मुफ्त न मिलना रूप' जो हेतु दिया गया है वह ज्ञात है।

'णाए' का संस्कृत रूप 'न्याय' भी है जिसका अर्थ होता है—'वस्तु-स्वरूप का ज्ञान', अत: जिससे वस्तु का स्वरूप जाना जाए' उसे भी 'णाए' कहा जाता है।

'ज्ञात' के मूल भेद चार हैं—जैसे कि आहरणज्ञात, आहरणतद्देश, आहरणतद्दोष और उपन्यासोपनय। इनमे से फिर प्रत्येक के चार-चार भेद होते हैं। इस प्रकार 'ज्ञात' के कुल सोलह भेद होते है जो कि विशेष मननीय है। उनमे सर्वप्रथम आहरण और उसके चार उपभेदों का विवेचन किया जाता है:—

१. आहरण—

अप्रसिद्ध अर्थ को प्रसिद्धि मे लाने या अप्रतीत अर्थ की प्रतीति करवाने को आहरण कहा जाता है। जैसे—पाप दु:ख का कारण होता है, जैसे महाराज ब्रह्मदत्त। इस दृष्टान्त के द्वारा ब्रह्मदत्त के पापमय जीवन की प्रतीति हुई है, साथ ही पाप करने पर दु:ख होगा ही, इस अर्थ की भी प्रतीति हुई है। अपाय, उपाय, स्थापनाकर्म और प्रत्युत्पन्न विनाशी इस प्रकार आहरण के मूल भेद चार हैं, जिनका विवरण निम्नलिखित है:—

(क) अपाय—इस ससार के सभी पदार्थ प्राय: अनर्थों के कारण हैं, इस विषय का विवेचन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से किया जाता है। द्रव्य से अनर्थ होता है या द्रव्य के होने पर अनर्थ होता है या स्वय द्रव्य ही अनर्थ का कारण है। इसी के कारण ही सभी प्रिय सम्बन्धियों का नाश हो जाता है। राजाओं के परस्पर घोर युद्ध द्रव्य के कारण से ही होते है, जैसे कूणिक और चेटक राजा का घोर संग्राम सिंचानक हाथी और हार के लिए ही हुआ था। सभी प्रकार के दुर्व्यसनों का आरम्भ द्रव्य से ही होता है। द्रव्य से ही दुर्गति

की प्राप्ति होती है, अतः आसक्ति-पूर्वक द्रव्य स्वयं अपाय—दुःख एवं अनर्थ का मूल कारण है।

जो क्षेत्र भय का कारण है, जिस प्रान्त, स्थान या क्षेत्र में शत्रु, जल, अग्नि, चोर, रोग, युद्ध, अराजकता और अप्रतिष्ठा इत्यादि का भय है उसका परित्याग कर देना चाहिए, जैसे प्रतिवासुदेव जरासंध के भय से यादवों ने मथुरा नगरी का परित्याग कर द्वारिका नगरी का निर्माण किया। अथवा जिस स्थान या घर में सर्प एवं व्यंतर आदि देवों का भय हो वह भी क्षेत्रापाय कहलाता है, उसे छोड़ने में ही भला है।

जो काल सब ओर से भयानक दीखता हो, भले ही वह अल्पकाल के लिए हो या बहुकाल के लिए वह कालापाय कहलाता है, उसे धर्मपूर्वक व्यतीत करना चाहिए, क्योंकि जीवन को पवित्र एवं धर्ममय बनाना ही कालापाय को दूर करने का साधन है।

क्रोध आदि कषाय जो आत्मा के सद्गुणों का नाश करने वाले हैं, उन्हीं से भावों में मालिन्य आता है, अतः उन्हें भावापाय कहा जाता है। जैसे चण्डकौशिक पूर्वभव के तीव्र कषायों के कारण ही सर्प बना और फिर भगवान के द्वारा प्रतिबोध देने के अनन्तर जातिस्मरण ज्ञान के द्वारा कषायों को अनर्थ का मूल कारण जान लेने पर हत्यारों के द्वारा कष्ट दिए जाने पर भी उसने समता का संग नहीं छोड़ा। क्रोध या द्वेष का अवलम्बन नहीं लिया, मैत्री एवं क्षमा का आश्रय लेकर समाधिपूर्वक जीवन-यापन करके आठवें देवलोक का उच्च देव बना। जिन भावों से हानि तथा अनर्थ की वृद्धि हो, उनका परित्याग कर धर्म का आराधक बनना चाहिए। यही भावापाय का संकेत है।

(ख) उपाय—आहरण ज्ञात का दूसरा भेद है उपाय। इसकी व्याख्या भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चार प्रकार की वर्णित है। उपाय के द्वारा जिसको सिद्ध किया जाता है, उसे उपेय कहते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव उपेय हैं। इष्ट पदार्थ के प्रति जो पुरुष व्यापारादि रूप साधन-सामग्री होती है उसे उपाय कहते हैं। किसी द्रव्य के उपार्जन का उपाय, किसी अभीष्ट द्रव्य को रूपान्तरित करने का उपाय, किसी वस्तु को बनाने का, खाने व पीने का उपाय द्रव्य-उपाय कहलाता है।

किसी खेत को अच्छी तरह संवारना जिससे वह अच्छी फसल दे सके, जमीन अधिक उपजाऊ हो सके, वैसा प्रयत्न करना, रहने का स्थान सुरक्षित बनाना इत्यादि क्रियाएं क्षेत्रोपाय कहलाती हैं।

काल को जानने के उपाय अर्थात्, वर्ष, महीना, पक्ष, वार, तिथि, होरा, इष्टघड़ी, पल-विपल आदि जानने के उपाय को कालोपाय कहा जाता है। काल का ठीक ज्ञान प्राप्त करना और जो कार्य जिस समय होना चाहिए, उसको उसी समय करने का यत्न भी कालोपाय ही कहलाता है।

किसी भी व्यक्ति के शुभ तथा अशुभ भावों का यथार्थ बोध प्राप्त करने का यत्न

अर्थात् सत्यवादी कौन है? असत्यवादी कौन है? वह वस्तु इसकी है या उसकी? इसने ऐसा वैसा-काम किया है या नहीं? चोर कौन है? और कौन नहीं? इस प्रकार के यथार्थ निर्णय कराने का जो उपाय है उसे भावोपाय कहा जाता है। किसी उत्थानिका द्वारा दूसरे के भावों को जान लेना और उस ज्ञात वस्तु के द्वारा अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि कर लेना भी भावोपाय ही है।

(ग) स्थापना-कर्म—आहरण ज्ञात का तीसरा भेद है स्थापनाकर्म अर्थात् अपने मत को स्थापित करके एवं वादी के पक्ष को दूषित सिद्ध करके उसका निराकरण करना। जैसे कि वस्तु न एकान्त रूप से नित्य ही है और न एकान्तरूप से अनित्य ही है—इस प्रकार एकान्तवाद का निषेध कर अनेकान्तवाद की स्थापना करना, कोई भी वस्तु द्रव्यत्व की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है, अत: प्रत्येक वस्तु उभयधर्मात्मक है, अर्थात् किसी अपेक्षा से नित्य और किसी अपेक्षा से अनित्य होती है। एकान्त नित्य मानने पर या एकान्त अनित्य मानने पर क्या-क्या आपत्ति हो सकती है उसका उल्लेख करना, स्थापना-कर्म कहलाता है।

एक व्यक्ति कहता है—क्रिया-जन्य होने से शब्द अनित्य है, दूसरा व्यक्ति इस विषय पर आपत्ति उठाते हुए कहता है कि—वर्णात्मक शब्द का क्रिया-जन्य होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वह नित्य है। इन दोनों का समाधान करते हुए स्याद्वादी कहता है कि—वर्णात्मक शब्द भी कर्तृजन्य है, क्योंकि कर्त्ता की उच्चारण रूप क्रिया द्वारा उत्पन्न होता है, जैसे घट, पट आदि। यहां पर घटादि के दृष्टान्त से वर्णों की क्रिया-जन्यता को स्थापित किया गया है, अत: इसे भी स्थापना-कर्म ही कहा जाता है।

अपने कार्य की सिद्धि के लिए, अपने अपराध को छिपाने के लिए, या अपनी प्रतिष्ठा को स्थिर रखने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, उसे भी स्थापनाकर्म कहते हैं। जैसे कि एक मालाकार ने राजमार्ग के किसी प्रदेश में पुरीषोत्सर्ग कर दिया। अपने अपराध को दूर करने के लिए उसने उस स्थान पर स्फूर्ति से पुष्पों का ढेर लगा दिया, तब लोगों ने पूछा— यह क्या है? उसने कहा 'यह हिंगुशिव देव है'। ऐसा कहने पर वहां व्यन्तरायतन की स्थापना हुई। इस प्रकार का छिपाव भी स्थापना-कर्म के ही अन्तर्गत माना जाता है।

जिस ज्ञात अर्थात् दृष्टान्त के द्वारा परमत का निराकरण हो और स्वमत की पुष्टि या स्थापना हो उसे भी स्थापना-कर्म कहते हैं। जैसे कि सूत्रकृताग नामक सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध के पहले अध्ययन में पुण्डरीक का रूपक दिया गया है। उसका और उसके उपनय का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है—

एक बहुत बडी पुष्करिणी है जो कि जल और पंक से परिपूर्ण है, अनेक पंकजों के मध्य में एक महापुडरीक अर्थात् बहुत बडा कमल है, जो कि सौंदर्य और सौरभ से अद्वितीय है। उसे तोड़ने के लिए चार दिशाओं से चार पुरुष उस पुष्करिणी में उतर गए। उस कमल

तक पहुंचने से पहले ही वे दल-दल में सदा के लिए धंस गए। इतने में एक पुरुष और आया, उसने तट पर खड़े होकर ही अपनी अमोघ वाणी से उस पुण्डरीक का आह्वान किया और वह उसके पास पहुंच गया। यह संसार भी एक पुष्करिणी है, काम-भोग रूपी इस में प्रचुर जल और कीचड़ है, साधारण कमलों के समान सामान्य जन हैं। पुंडरीक के समान राजा है। निर्विवेकी मिथ्यादृष्टि चार पुरुष राजा का अपने-अपने मतानुसार उद्धार करने के लिए चले, जो कि बिना ही उद्धार किए स्वयं ही अगाध विषय-भोगों में सदा के लिए फंस गए। केवली-भाषित धर्म या वीतरागी मुनीश्वर ने तटस्थ रहकर ही उपदेश के द्वारा राजा का उद्धार किया। जो स्वयं अनासक्त एवं तटस्थ है वही दूसरे का उद्धार कर सकता है, अन्य नहीं। उसी का वचन प्रभावशील हो सकता है। इस रूपक से इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है कि विषयासक्त मिथ्यादृष्टि पुरुष जीवों का संसार से उद्धार नहीं कर सकते। इससे विपरीत काम-भोगों में अनासक्त, अनेकान्तवादी साधु ही धर्मदेशना से भव्य जीवों का उद्धार करने में समर्थ हैं, अन्य नहीं। इस रूपक से आचार्य ने अन्य सिद्धान्तों को मिथ्या प्रमाणित करके स्वमत की स्थापना की है, अतः यह स्थापना-कर्म का ही उदाहरण है।

(घ) प्रत्युत्पन्न विनाशी—यदि किसी अच्छे गुण के विनाश होने की सम्भावना हो, तो तत्काल ही उसे विनाश से बचाने का प्रयत्न करना चाहिए, जैसे शील रक्षा के लिए कन्या आदि को कामोत्तेजक नृत्यशाला आदि में जाने से रोकने का प्रयत्न करना। इसी प्रकार यदि शिष्यों के कुमार्गगामी होने की सम्भावना हो तो उनको कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लाने का प्रयत्न करना, अथवा असत्य पक्ष के उपस्थित होने पर शीघ्र ही सत्य-पथ की स्थापना का प्रयास करना। जैसे कि आत्मा अकर्ता है अमूर्त होने से, आकाशवत्। इस उक्ति से आत्मा को अकर्ता प्रमाणित किया गया है। वह आकाश की तरह अमूर्त है, इस पक्ष को सुनकर शिष्य भ्रान्ति में पड़ सकते हैं, अतः उनके ही सम्मुख आचार्य ने इस पक्ष को नष्ट करने के लिए कहा—'आत्मा कर्ता है, किसी अपेक्षा से मूर्त होने के कारण। देवदत्त के समान। कार्मण शरीर पौद्गलिक है, संसारी आत्मा सभी सकर्मा हैं, जो सकर्मा होता है वह कर्ता नियमेन ही होता है, देवदत्त की तरह। इस प्रकार के कथन से शिष्यों की भ्रान्ति का निराकरण करके उन्हें सत्यमार्ग पर स्थापित किया गया है, अतः यह भी स्थापना-कर्म ही है।

२. आहरणतद्देश—

जिसमें दृष्टान्त अर्थात् उपमेय के एक ही भाग से उपमान की समानता प्रदर्शित की जाए उसे आहरणतद्देश कहा जाता है। जैसे कि "इसका मुख चन्द्र के समान सौम्य है।" यहां उपमान रूप चन्द्र की केवल सौम्य आकृति ही ग्रहण की गई है। यद्यपि चन्द्र में अनेक विशेषताएं हैं तो भी उनमें से एक सौम्य धर्म का ही मुख में आरोप किया गया है, अतः यह दृष्टान्त आहरणतद्देश ज्ञात है। इसके भी अनुशास्ति, उपालम्भ, पृच्छा और निश्रावचन इस तरह चार भेद होते हैं।

(क) अनुशास्ति—गुणवान् व्यक्ति के गुणों की प्रशंसा करना, जनता में उसके अनुकरण की प्रवृत्ति को जागृत करने का यत्न करना, जिस चरित या दृष्टान्त से जन-मन को अनुशासन में रहने की शिक्षा मिले उस दृष्टान्त का वर्णन करना, अनुशास्ति ज्ञात कहलाता है। जैसे कि सुभद्रा सती ने अपने शील का महत्त्व दिखलाया, देवों ने उसकी प्रशंसा की, औरों को उसके समान सदाचार पालन करने की प्रेरणा दी। इस प्रकार के चरितों का समावेश अनुशास्ति आहरणतद्देश में होता है।

(ख) उपालंभ—किसी अपराध के होने पर अपराधी को शान्तिपूर्वक और मधुर वाक्यों से उपालंभ देना, जिससे वह कुमार्ग से हटकर सन्मार्ग पर आ जाए, ऐसा न्यायपूर्वक दिया हुआ उपालंभ आत्मशुद्धि का एक उत्तम मार्ग है। जैसे चन्दनबाला ने मृगावती साध्वी को उपालंभ देकर उसका कल्याण किया तथा राजीमती साध्वी ने विचलित-मन रथनेमि को उपालंभ देकर संयम-मार्ग में स्थिर किया। इस प्रकार के चरित व दृष्यन्तों को उपालम्भ कहा जाता है। उपालंभ द्वेष-बुद्धि से नहीं, हित-बुद्धि से दिया जाता है।

(ग) पृच्छा—किसी अज्ञात विषय को समझने के लिए, अपनी शंकाओं को दूर करने के लिए या जनता को समझाने के लिए अपने विषय में या दूसरों के विषय में किसी अतिशय-ज्ञानसंपन्न मुनिवर से प्रश्न पूछना ही पृच्छा है। जैसे कि कूणिक राजा ने एक बार भगवान महावीर स्वामी से पूछा—'भगवन्! ऐसा चक्रवर्ती जिसने कामभोगों का परित्याग नहीं किया, वह मरकर कहां उत्पन्न होता है?' तब श्री भगवान ने उत्तर दिया—'कामभोगों में आसक्त होने से वह उत्कृष्ट सातवें नरक में उत्पन्न हो सकता है।' तब कूणिक ने पूछा 'भगवन्! मैं मरकर कहां उत्पन्न होऊंगा?' तब भगवान ने कहा—'छठी नरक में।' तब राजा कूणिक ने सातवें नरक में जाने के लिए चक्रवर्ती बनने का भरसक प्रयत्न किया, फिर भी वह छठी नरक में ही गया। इस प्रकार के चरित या दृष्यान्त रूप में जितने भी संवाद हैं, उनका अन्तर्भाव पृच्छा में हो जाता है।

(घ) निश्रावचन—किसी एक सुयोग्य व्यक्ति का आलंबन लेकर अन्य व्यक्तियों को सुशिक्षित करना निश्रावचन कहलाता है। जैसे भगवान ने द्रुमपत्र नामक उत्तराध्ययन के दसवें अध्ययन में श्री गौतम को सम्बोधित कर अन्य शिष्यों को अप्रमत्त रहने का उपदेश दिया कि "**समयं गोयम ! मा पमाए।**" इस प्रकार से दी जाने वाली शिक्षा को निश्रावचन कहते हैं। यही व्यवहार लौकिक वा अलौकिक पक्ष में देखा जाता है, किन्तु जो व्यक्ति असहनशील एवं विनय, नम्रता आदि गुणों से रहित है, यदि उसे लक्ष्य में रखकर अन्य को प्रतिबोध या उपदेश देने का यत्न किया जाएगा तो वह कलह का ही कारण होगा, शान्ति का नहीं। अत: दृष्टान्त का आलम्बन व्यक्ति योग्य, नम्र एवं सहनशील होना चाहिए और दृष्यन्त द्वारा उद्दिष्ट व्यक्ति भी गुणग्रहण के योग्य होना चाहिए। तभी तो कहा गया है—
"सीख ताही को दीजिए जाको सीख सुहाय।"

३. आहरणतद्दोष—

जो चरित, दृष्टान्त या युक्ति सदोष हो, जिससे साध्य विकल हो, जैसे "शब्द नित्य है, अमूर्त होने से, घट के समान" इस वाक्य में शब्द पक्ष है, नित्यत्व साध्य है, अमूर्त होना यह हेतु है, घट के समान यह दृष्टान्त है। 'घट के समान' दृष्टान्त में नित्यत्व का साध्य होना और अमूर्तत्व का साधन होना ये दोनों ही नहीं पाए जाते, क्योंकि घट कर्तृ-जन्य कार्य होने से अनित्य है तथा पौद्गलिक होने से मूर्त। इस प्रकार यह दृष्टान्त साध्य और साधन दोनों की दृष्टि से विकल है।

अथवा जो दृष्टान्त साध्य की सिद्धि करता हुआ भी असाध्य की सिद्धिरूप दोष से युक्त होता है, वह भी तद्दोष-आहरण कहलाता है, जैसे लौकिक मुनि सत्य धर्म को चाहते हुए कहते हैं—

"वरं कूपशताद् वापी, वरं वापीशतात् क्रतुः।
वरं क्रतुशतात्पुत्रः, सत्यं पुत्रशताद् वरम् ॥"

अर्थात् सौ कुओं से एक बावड़ी श्रेष्ठ है, सौ बावड़ियों से एक यज्ञ श्रेष्ठ है, सौ यज्ञों से एक पुत्र-श्रेष्ठ है और सौ पुत्रों से एक सत्य श्रेष्ठ है।

इस पद्यात्मक वाक्य में वापी आदि पदार्थों की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता बताते हुए सत्य की श्रेष्ठता रूप साध्य की तो सिद्धि हो गई है, परन्तु वापी, यज्ञ और पुत्र आदि की श्रेष्ठता असाध्य होते हुए भी सिद्ध हो गई है, अतः यह आहरणतद्दोष है। इसके भी अधर्म-युक्त, प्रतिलोम, आत्मोपनीत और दुरुपनीत इस प्रकार चार भेद होते हैं, जिनका विवेचन इस प्रकार है—

(क) अधर्मयुक्त—जिस चरित या दृष्टान्त के सुनने से श्रोताओं में अधर्म-बुद्धि उत्पन्न हो, जिसके सुनने से अधर्मकार्यों में प्रवृत्ति हो—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह का आकर्षण जागे, मिथ्यात्व में प्रवृत्ति हो इस प्रकार की कथा-कहानियों का समावेश अधर्मयुक्त आहरणतद्दोष में होता है।

(ख) प्रतिलोम—जिसके सुनने से "शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्, " धूर्त के प्रति धूर्तता का व्यवहार करे" यह भावना जागृत हो उसे प्रतिलोम आहरणतद्दोष कहा जाता है। जैसे महाराज चण्डप्रद्योत ने महामन्त्री अभयकुमार का अपहरण किया, समय पाकर अभयकुमार ने सर्वजन-प्रत्यक्ष चण्डप्रद्योत का अपहरण कर लिया। इस प्रकार के आख्यानकों के श्रवण करने से श्रोताओं के हृदय में प्रतिकार की भावना जागृत हो सकती है।

धृष्टता के साथ अपसिद्धान्त की सिद्धि करना भी प्रतिलोम ही कहलाता है। जैसे जीव राशि और अजीव राशि दो पदार्थों की स्वीकृति का सिद्धान्त होते हुए भी वादी का पक्ष दूषित करने के लिए तीसरी राशि स्थापित करना जैसे—**नो जीव नो अजीव**—भी तीसरा पदार्थ है—तुरन्त कटी हुई गृह-कोकिल एवं छिपकली की पूंछ की तरह। जैसे वह तड़फती

हुई पूंछ न जीव है और न अजीव ही। इस प्रकार के सभी दृष्टान्तों का उक्त भेद में समावेश हो जाता है।

(ग) आत्मोपनीत—जिससे आत्मा ही उपनीत हो जाए अर्थात् परमत को दूषित करने के लिए दिए गए दृष्टान्त से अपना ही पक्ष दूषित हो जाए, वह आत्मोपनीत कहलाता है। जैसे किसी सभा में किसी सदस्य ने कहा—"यहां सभी मूर्ख हैं।" सभी कहने पर वक्ता स्वयं भी मूर्ख सिद्ध हो जाता है, क्योंकि सर्व पद से उसका भी ग्रहण हो जाता है।

अथवा "**मा हिंस्यात् सर्वभूतानि**—किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।" इस कथन को दूषित करने के लिए यदि कोई ऐसा कहे कि—"जैसे विष्णु ने राक्षसों को मारा था वैसे ही अन्य धर्मावलम्बियों को भी मार देना चाहिए।" इस कथन से वक्ता स्वयं भी हन्तव्य हो जाता है, क्योंकि वह स्वयं भी धर्मान्तर में स्थित है।

अथवा किसी राजा ने किसी नैमित्तिक से पूछा कि—"अमुक तालाब यत्न करने पर भी ठीक नहीं होता, क्या उपाय किया जाए ?" तब नैमित्तिक ने कहा कि यह तालाब एक अच्छे पुरुष की बलि चाहता है, तभी यह सभी प्रकार से ठीक हो सकेगा। यह सुनते ही राजा ने कहा—"हे नैमित्तिक ! तुम्हारे से बढ़कर सुयोग्य व्यक्ति और कौन मिल सकेगा, अत: आप ही इसके योग्य हैं।" तब राजा ने अपने भृत्यों के द्वारा उस नैमित्तिक की बलि तालाब के निमित्त दे दी। इस तरह अपने ही विवेकहीन वचनों से नैमित्तिक को मरना पड़ा। इस प्रकार के सभी दृष्टान्त आहरणतद्दोष के अन्तर्गत आत्मोपनीत हैं। सारांश यह है कि जिस कथन से अपनी और अपनी मान्यता की हानि हो, उसे ही आत्मोपनीत कहा जाता है।

(घ) दुरुपनीत—जिसके बोलने से अपनी ही नीचता सिद्ध हो, उसे दुरुपनीत ज्ञात कहते हैं। जैसे किसी ने किसी के लिए कुछ भी पूछा हो, यदि वह उसका उत्तर असंगत देता है तो वह दुरुपनीत है। जिस प्रकार किसी ने एक भिखमंगे से पूछा—"हे भिक्षुक! तेरी कंथा में ये जगह-जगह छेद क्यों हो रहे हैं ?" उसको उत्तर मिला—"यह कंथा नहीं, यह तो मछलियां पकड़ने का जाल है।" "तो क्या तुम मछली भी खाते हो ?" "हां वह बिना मद्य के अच्छी नहीं लगती।" "तो क्या तुम मद्य भी पीते हो ?" "हां उसे वेश्या के साथ पीता हूं, अकेला नहीं।" "तो क्या वेश्या के यहां भी जाते हो ?" "हां शत्रुओं के गले पर पैर रखकर जाता हूं।" "क्या तुम्हारे शत्रु भी हैं?" "हां जिनके घर में सेंध लगाता हूं, वे मेरे शत्रु बन जाते हैं।" "तो क्या चोरी भी करते हो?" "हां जुए के लिए सब कुछ करना पड़ता है।" "तुम ऐसा क्यों करते हो?" "क्योंकि मैं दासी का पुत्र हूं।"[१] इन वाक्यों से उस भिक्षाकार ने अपनी नीचता सिद्ध की है।

---

१ कन्थाऽऽचार्याऽघना ते ननु शफरवधेजालमश्नासि मत्स्यान्—
ते मे मद्योपदंशाः पिबसि ननु ? युतो वेश्यया, यासि वेश्याम् ?

जो साध्य की सिद्धि में उपयोगी नहीं होता वह भी दुरुपनीत ही कहलाता है। क्योंकि जब उपमान में साधर्म्य का अभाव रहता है तो साध्य सिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे किसी ने कहा है कि "घट की तरह शब्द नित्य है, कार्य रूप होने से।" तब वादी ने कहा—"घट तो पट की तरह अनित्य है, अत: घट की तरह है।" इस दृष्टान्त से तो शब्द की अनित्यता ही सिद्ध होती है न कि नित्यता। इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में अपना साध्य सिद्ध तो नहीं हो पाया, साथ ही वह दूषित भी हो गया है, अत: यहां दुरुपनीत आहरणतद्दोष है।

४. उपन्यासोपनय—

वादी द्वारा अपने मत की पुष्टि के लिए जो कुछ कहा जाता है, उसका निराकरण करके पक्ष रूप में जो स्वमत स्थापित किया जाता है उसे उपन्यासोपनय कहते हैं। जैसे किसी ने कहा—"जिस बुद्धिमान ने घट की तरह इस जगत् की रचना की है, वही ईश्वर है।" उत्तर मे प्रतिवादी ने कहा—"वह ईश्वर कुम्हार के समान होने से अनीश्वर ही सिद्ध होता है।"

अथवा—किसी ने कहा है—"आत्मा अमूर्त होने से अमूर्त आकाश की तरह अकर्त्ता है।" उत्तर में प्रतिवादी ने कहा—"तब तो आत्मा को आकाश की तरह अभोक्ता भी मानना चाहिए।" सांख्यदर्शन आत्मा को भोक्ता तो मानता है, किन्तु कर्त्ता नहीं। आकाश अमूर्त है, परन्तु न वह कर्त्ता है और न भोक्ता ही, अत: उक्त दृष्टान्त साध्य मे भोक्तृत्व का निषेध करता है जो कि साख्यदर्शन को मान्य नहीं है, क्योंकि अभोक्तृत्व मानने से उसके सिद्धान्त पर कुठाराघात होता है।

अथवा किसी ने कहा—"प्राणी-अंग होने से मास भक्षण ओदन की तरह निर्दोष है।" उत्तर में प्रतिवादी ने कहा—"यदि मांस भात की तरह भक्ष्य है फिर तो स्वपुत्र आदि के मास का भक्षण भी प्राणी-अग होने से ओदन की तरह ही निर्दोष है।" उपन्यासोपनय भी तद्वस्तुक, तदन्यवस्तुक, प्रतिनिभ और हेतु के भेद से चार प्रकार का है। उन भेदों की व्याख्या निम्नलिखित है:—

(क) तद्वस्तुक—जिसमे, पर के द्वारा दिया गया उत्तर ही वस्तु रूप हो वह तद्वस्तुक कहलाता है, जैसे किसी ने कहा—"मेरे गांव में एक बहुत बड़ा तालाब है, उसके तट पर एक बहुत बड़ा वृक्ष है, उसके पत्ते जितने जल मे गिरते हैं वे सब जलचर जीवो के रूप

दत्त्वाऽरीणा गलेऽङ्घ्रि, क्व नु तव रिपवो? येषु सँधि छिनद्मि,
चौरस्त्वं? द्यूतहेतो: कितव इति कथ येन दासीसुतोऽस्मि।।

इसी से मिलती जुलती एक दूसरी उक्ति भी है, जैसे कि—

भिक्षो! मांसनिषेवण प्रकुरुषे? किं तेन मद्य बिना
मद्य चापि तव प्रिय? प्रियमहो वाराङ्गनाभि: सह।
वेश्या द्रव्यरुचि: कुतस्तव धन? द्यूतेन चौर्येण वा,
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवत:? भ्रष्टस्य कान्या गति:।।

में परिणत हो जाते हैं और जो पत्ते स्थल पर गिरते हैं वे सब स्थलचर जीवों के रूप में परिणत हो जाते हैं।" ऐसा कहने पर किसी अन्य व्यक्ति ने कहा—"जो पत्ते दोनों के मध्य में गिरते हैं उनकी क्या दशा होती है ?" इस तर्कात्मक उत्तर से यह ध्वनित होता है कि दोनों के मध्य में गिरे हुए पत्ते जिस तरह पत्तों के रूप में ही रहते हैं, उसी तरह जल और स्थल में गिरे हुए पत्ते भी पत्ते के रूप में रहते हैं, वे जलचर और स्थलचर जीवों के रूप में परिणत नहीं होते।

अथवा—जैसे किसी ने पूर्व पक्ष स्थापित करते हुए कहा—"जीव अमूर्त होने से आकाश की तरह नित्य है।" तब उत्तर देने वाले ने कहा—"जीव अनित्य ही है अमूर्त होने से कर्म की तरह।" इन दोनों कथनों में एकान्त पक्ष का ग्रहण होने से उक्त दोनों पक्ष निर्मूल और असंगत हैं, क्योंकि वास्तव में जीव कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है। इसको भी तद्वस्तुक कहते हैं।

(ख) तदन्यवस्तुक—इसका अभिप्राय है—वादी का पक्ष खण्डित करने के लिए युक्ति रखना। जैसे कि वादी ने कहा जो पत्र जल में गिरते हैं वे जलचर जीव बन जाते हैं और जो स्थल पर गिरते हैं वे स्थलचर जीव बनते हैं। इस पक्ष का खण्डन करने के लिए युक्ति दी गई कि—"जो पत्र गिराकर खाए जाते हैं या कहीं ले जाए जाते हैं, उनका क्या बनता है?" कारण कार्य में यथोचित सम्बन्ध न होने से यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। जीव अपने कर्मानुसार ही विभिन्न योनियों में जन्म लेते हैं, अतः उक्त कथन युक्तिसंगत न होने से अप्रामाणिक है। इस प्रकार के तर्क तदन्यवस्तुक कहलाते हैं।

(ग) प्रतिनिभ—इसका भाव यह है कि "जैसे को तैसा" उत्तर देकर वादी को निरुत्तर कर देना। जैसे किसी ने कहा "जो मुझे नई बात सुनाएगा, उसे मैं एक लाख रुपए मूल्य का कटोरा दूंगा।" उसकी इस घोषणा को सुनकर अनेक विद्वानों ने अपूर्व-अपूर्व श्लोकों की रचना करके नई-नई बातें सुनाईं। परन्तु सबकी बातें सुनकर वह कह देता—"यह बात या यह पद्य मेरा सुना हुआ है।" तब एक सिद्ध-पुत्र ने कहा—

"तुज्झ पिया मज्झ पिउणो धारेइ अणूणयं सयसहस्सं।
जइ सुयपुव्वं दिज्जउ, अह न सुयं खोरयं देहि॥"

अर्थात् तुम्हारे पिता जी ने मेरे पिता जी का एक लाख रुपया देना था, यदि यह बात तुमने पहले से ही सुन रखी है तो मेरे पिता जी का एक लाख रुपया दे दो, अगर तुमने यह बात पहले नहीं सुन रखी है और इसे नई बात समझते हो तो मुझे कटोरा दे दो। इस प्रकार की उत्तर-विधि का नाम प्रतिनिभ है। वादी को निरुत्तर कर देना ही इस का तात्पर्य है। उस व्यक्ति ने पहले असत्य कहा—बाद में गाथा उपस्थित करने वाले ने भी उस के समक्ष उसके जैसा ही असत्य वस्तु का उल्लेख कर उसे पराजित कर दिया। यह पराजय उसे उपन्यासोपनय प्रतिनिभ द्वारा ही प्राप्त हुई है।

(घ) हेतु—उपन्यासोपनय हेतु उसे कहते हैं, जो प्रश्न का हेतु ही उत्तर रूप में कहा

जाए। जैसे किसी ने पूछा—"तुम यव क्यों खरीदते हो, तो उसने कहा व्यापार किए बिना निर्वाह नहीं हो सकता।" किसी ने किसी साधु से कहा—"हे साधो! तुम ब्रह्मचर्य आदि कष्ट क्यों सहते हो?" तब साधु ने उत्तर दिया—"जो तपस्या आदि शुभ क्रियाएं नहीं करते, उन्हें नरक आदि के दुःख सहने पड़ते हैं।" किसी ने पूछा—"साधो! तुम दीक्षित क्यों हुए हो?" तब उसने उत्तर दिया—"बिना दीक्षा ग्रहण किए प्रायः कर्म क्षय नहीं हो सकते।" इन प्रश्नों में जो प्रश्न रूप में कहा गया है, वही उत्तर रूप में यहां प्रकट किया गया है। इस प्रकार ज्ञात के मूल भेद चार हैं और उत्तर भेद सोलह हैं।

पहला ज्ञात समग्रसाधर्म्यरूप है, दूसरा देशसाधर्म्य है, तीसरा ज्ञात सदोष है और चौथा ज्ञात प्रतिवादी का उत्तररूप विषय है। यहां पर ज्ञात के कुछ भेद ही दिखलाए गए हैं। अन्य भेद भी हो सकते हैं, परन्तु वे यहां विवक्षित नहीं हैं। कुछ भेदों को इन सोलह भेदों के अन्तर्गत ही माना जाता है।[१]

हेतु-भेदः—

१. हेतु—अब शेष तीन सूत्रों के द्वारा हेतुओं का वर्णन किया जाता है। हेतु का शाब्दिक अर्थ है "**हिनोति—गमयति ज्ञेयमिति हेतुः**"—जिससे ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान हो उसे हेतु कहते हैं, अथवा जिसके होने पर नियमेन साध्य की उपलब्धि हो और जिसके न होने पर उपलब्धि न हो, वह हेतु कहलाता है। अथवा जो अपने साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध वाला होता है वही हेतु कहलाता है। उपन्यासोपनय में हेतु का अर्थ प्रश्न के हेतु का उत्तर के रूप में कथनमात्र होता है, किन्तु यहां वह साध्य के प्रति अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध वाला और दृष्टान्तदर्शित व्याप्ति वाला होता है। यही दोनों हेतुओं में अन्तर है। साध्यसाधक हेतु के मूलतः चार भेद हैं, जैसे कि—यापक, स्थापक, व्यंसक और लूषक इन का विवरण निम्नलिखित है:—

(क) यापक—जो हेतु वादी की काल-यापना करता है, उसे यापक कहते हैं। काल-यापक हेतु वही होता है जो अधिक विशेषणों वाला होता है, जैसे कि—"वायु सचेतन है, बिना किसी अन्य की प्रेरणा के तिर्यग् और अनियतगमन करने वाला होने से, गाय के शरीर की तरह गति मान होने से।"[२] यह हेतु अनेक विशेषणों से युक्त है इसी कारण दुरधिगम हो जाता है। उसके समझने में काल-यापन होता है, वह शीघ्रता से ध्यान में नहीं आता। किन्हीं अन्य हेतुओं द्वारा अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए काल-यापन कर देने को "वितंडावाद" भी कहा जा सकता है। "**प्रतिवादिनं ज्ञात्वा तथा विशेषणबहुलो हेतुः कर्त्तव्यो यथा कालयापना भवति**" अधिक विशेषणों वाला हेतु साध्य का ज्ञान शीघ्र नहीं कराता, इसलिए वैसे हेतु को यापक कहा जाता है।

---

१. इह च किंचिद् विशेषेणैव विधा ज्ञातभेदाः सम्भवन्त्यन्येऽपि किन्तु ते न विवक्षिताः, अन्तर्भावो वा कथंचित् गुरुभिर्विवक्षितो न च तं वयं सम्यग् जानीम इति।"

२. सचेतना वायवः, अपरप्रेरणेऽसति तिर्यगनियतत्वाभ्या गतिमत्त्वात्, गोशरीरवत्।

(ख) **स्थापक**—जो हेतु पर-पक्ष का खण्डन कर स्वपक्ष की स्थापना करे, उसे स्थापक हेतु कहते हैं, अथवा जो शीघ्रता से साध्य का ज्ञान कराता है वही स्थापक हेतु होता है। "**अग्निस्तत्र धूमात्।**" 'वहां अग्नि है, क्योंकि वहां धूआं है।' यहां धूम रूप हेतु ने अग्नि का ज्ञान शीघ्र करा दिया है, अतः धूम स्थापक हेतु है।

अथवा **नित्यानित्यं वस्तु द्रव्यपर्यायतस्तथैव प्रतीयमानत्वाद्।** प्रत्येक वस्तु द्रव्यत्व की अपेक्षा से नित्य और पर्यायत्व की अपेक्षा से अनित्य है। इस कथन रूप हेतु से यह बात सिद्ध हो जाती है कि वस्तु नित्यानित्यात्मक है।

किसी धूर्त परिव्राजक ने प्रत्येक ग्राम या नगर में ऐसी प्ररूपणा करनी प्रारम्भ कर दी कि—"लोक के मध्य भाग में दिया गया दान अनन्त फलदायक होता है। इस रहस्य को केवल मैं ही जानता हूं।" तब उसकी मान्यता को खंडित करने के लिए किसी ने कहा—"हे परिव्राजक! लोक का मध्य भाग तो एक ही होता है, फिर वह प्रत्येक ग्राम में अलग-अलग रूप में कैसे सम्भावित हो सकता है? अतएव तुम्हारे कथनानुसार लोक का मध्य भाग युक्तिसंगत नहीं है।" यहां उपस्थित हेतु से परमत का खण्डन और स्वमत की स्थापना हुई है, अतः यह भी स्थापक हेतु ही है।

(ग) **व्यंसक**—जिस हेतु के द्वारा वादी को असमंजस में डाला जाए, जिसके द्वारा वादी को व्यामोह में डालकर निग्रहस्थान में लाया जाए उसे व्यंसक हेतु कहते हैं। "**व्यंसति परं व्यामोहयति शकटतित्तिरीग्राहकधूर्तवत्, यः सः, व्यंसक इति**"

कोई शकटवाहक गाड़ीवान अपनी गाड़ी को जोतकर किसी दूसरे गांव में जा रहा था। उसने मार्ग में एक तित्तिरी पकड़कर अपनी गाडी में रख ली। चलते-चलते उसका एक नगरी में ठहरना हुआ। वहां किसी धूर्त ने उससे कहा—"यह शकटतित्तिरी कितने में देते हो?" तब उस शकटवाहक ने ऐसा समझा कि यह शकट में रखी हुई तित्तिरी की मांग कर रहा है। अतः उसने कहा—'इस शकट-तित्तिरी को मैं तर्पणालोडिका अर्थात्—सत्तू भाव से देना स्वीकार करता हूं।' तब वह धूर्त तित्तिरी सहित उस गाड़ी को ले जाने लगा। गाड़ीवान ने कहा—यह तुम क्या करते हो? गाड़ी तो मेरी है। तब धूर्त ने कहा—तुमने ही तो 'शकट-तित्तिरी" ऐसा कहकर इसे "तर्पणालोडिका" में देना स्वीकार किया है, इसलिए मैंने शकट-सहित तित्तिरी को लिया है, यदि तुझे इसमें सन्देह है तो साक्षी रूप में इन लोगों से पूछ लो। उसके पूछने पर सबने यही कहा कि इसने तित्तिरी सहित ही शकट लिया है। तब वह गाड़ीवान अति चिंतित हुआ, इस तरह गाड़ी वाले को व्यामोह में डालना व्यंसक हेतु है।

अथवा किसी ने कहा—**अस्ति जीवोऽस्ति घटः**—अर्थात् जीव का अस्तित्व भी है और घट का भी। इस पर वादी ने कहा—यदि जीव और घट में समानरूप से अस्तित्व रहता है तो जीव और घट में एकता प्राप्त हो जाएगी, क्योंकि जीव और घट में रहा हुआ अस्तित्व

शब्द उक्त दोनों का बोधक है। घट शब्द से जैसे घट और घट का स्वरूप दोनों का बोध होता है, वैसे ही एक अस्तित्व शब्द से जीव और घट दोनों का एक साथ ग्रहण होने के कारण एक ही वाच्य माना जाएगा, "**अभिन्नशब्दविषयत्वाद्**" इस हेतु को दूसरे से ज्ञान पड़ता है कि अस्तित्व की एकता से जीव और घट में भी एकता आने का प्रसंग आ जाएगा, अतः उक्त हेतु यथार्थ होता हुआ भी वादी को चक्कर में डाल देता है। इस प्रकार के अन्य-अन्य हेतु भी व्यंसक में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

(घ) लूषक—यह हेतु का चौथा भेद है। जिसने जिस विधि से अपने को ठगा, उसी विधि से उसे ठगना। जिस दाव-पेच से अपने को किसी ने पराजित किया, उसी रीति से उसे पराजित करना। जिस हेतु से वादी ने अपने को हराया, उसी हेतु से समयान्तर में उसे हराना लूषक हेतु है। जैसे उक्त प्रकार से ठगाया हुआ गाड़ीवान घूमते-फिरते किसी वकील से मिला, उसके समक्ष अथ से इति तक सब बातें कह सुनाईं। वकील के कथनानुसार वह गाड़ीवान कुछ प्रभावशील व्यक्तियों को ले जाकर उस धूर्त के घर पहुंचा और कहने लगा "तर्पणलोडी" लाओ। उसने अपनी स्त्री से कहा कि इसे "सत्तूपानी घोलकर दे दो।" जब स्त्री सत्तूपानी घोलने लगी तब वह गाड़ीवान उस स्त्री को लेकर जाने लगा। तब धूर्त ने कहा—"यह क्या करते हो।" गाड़ीवान बोला—"यह स्त्री मेरी है, क्योंकि तर्पण के निमित्त जो सत्तू तैयार कर रही है, उसे "तर्पण-लोडिका" कहते हैं। तुमने शकटतित्तिरी के बदले में "तर्पण- लोडिका" देना स्वीकार किया है। इससे वह धूर्त पराजित हुआ और उसने उसकी गाड़ी वापिस कर दी। शकटतित्तिरी शब्द से गाड़ीवान ठगा गया था, और "तर्पण-लोडिका" शब्द से धूर्त। अतः गाड़ीवान का हेतुभूत तर्क लूषक हेतु है।

जो जीव और घट में पूर्वोक्त प्रकार से वादी ने एकत्व स्थापित किया है इसी विषय को लेकर प्रतिवादी कहता है, यदि अस्तित्व की अविशेषता को लेकर तुम जीव और घट में एकत्व स्थापित करते हो तो सभी पदार्थों में ही एकत्व हो जाएगा, क्योंकि अस्तित्व सभी पदार्थों में रहता है, किन्तु ऐसी बात तीन काल में भी संभावित नहीं हो सकती। इस तरह जीव और घट में एकता रूप दोषापत्ति का निवारण करने वाले इस हेतु को लूषक हेतु कहते हैं। व्यंसक हेतु में जो वादी ने अनिष्टता सिद्ध की, उसी अनिष्टता का निवारण लूषक हेतु करता है।

उपर्युक्त चार प्रकार के हेतु युक्ति से सम्बन्ध रखने वाले हैं। इनका नित्य उपयोग प्रायः न्यायालयों में होता है। मल्लयुद्ध, रणयुद्ध, वाग्युद्ध तथा खेल आदि में भी ये प्रयुक्त होते हैं। अनात्मवादी, कदाग्रही प्रायः ज्ञान का हेतु युक्ति को ही मुख्य मानते हैं। इन भेदों का प्रयोग व्यवहार कुशल व्यक्ति ही करते हैं।

यद्यपि न्याय-शास्त्र में इस विषय का विशद विवेचन प्राप्त होता है, तथापि यह दावे से कहा जा सकता है कि जैन-दर्शनों ने भी इस विषय की विवेचना को पराकाष्ठा तक

पहुंचा दिया है। उपर्युक्त विवेचन की सर्वथा नवीन-पद्धति और विवेचन-क्रम के नवीन नाम एवं भेद इनके प्रमाण रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

२. हेतु—

यहां हेतु का मुख्य अर्थ प्रमाण है। जो पदार्थों का बोधक हो या जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो उसे हेतु कहते हैं।[१] जो भेद प्रमाण के हैं, वे ही हेतु के भेद हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि हेतु का प्रयोग प्रमाण अर्थ में भी होता है। जो उपाय ज्ञान कराने वाला हो, वही हेतु है। हेतु से जिसका प्रत्यक्ष किया जाए उसे प्रत्यक्ष-हेतु कहा जाता है। हेतु चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम।

(क) 'अक्ष' शब्द आत्मा और इन्द्रियों का वाचक है। इन्द्रियों से सीधा सम्बन्ध रखने वाला व्यावहारिक प्रत्यक्ष है और जिसका इन्द्रियों की सहायता के बिना सीधा जीव के साथ सम्बन्ध हो वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है। अवधिज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान और केवल ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं और पांच इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को व्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है।

(ख) व्याप्ति के स्मरण के बाद जिससे पदार्थ का ज्ञान होता है, अर्थात् साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। जैसे धूम रूप साधन से साध्य रूप अग्नि का निश्चय किया जाता है और चेतना रूप साधन से जीव रूप साध्य का निश्चय किया जाता है। इसे अनुमान हेतु कहते हैं।

(ग) जिसके द्वारा सदृशता के कारण उपमेय पदार्थों का ज्ञान हो उसे उपमान हेतु कहते हैं, जैसे कि—नीलगाय, गाय के समान होती है। यहां 'गाय' रूप उपमान के द्वारा सादृश्य के कारण उपमेय रूप नीलगाय का ज्ञान हो रहा है। अतः 'गाय' उपमान हेतु है।

(घ) आप्तवचनों का समूह ही आगम है। उसके द्वारा होने वाला ज्ञान आगम हेतु कहलाता है। जिसके वचन परस्पर अविरोधी हों, जो वचन वीतराग प्रणीत हों, जिसके वचन में दृष्ट-प्रत्यक्ष और इष्ट-अनुमान से किसी तरह की ज्ञान-बाधा न हो, जिस पदार्थ का जैसा स्वरूप है, उसका वैसा ही वर्णन किया गया हो, ऐसे आप्तपुरुषों के वचन से उत्पन्न हुआ ज्ञान आगम हेतु कहलाता है। जैसे कि कहा भी है—

दृष्टेष्टाव्याहताद् वाक्यात्परमार्थाभिधायिनः।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम्॥

आचार्य समन्तभद्र शास्त्र का लक्षण करते हुए कहते हैं—

आप्तोपज्ञमनुलङ्घ्य दृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥

---

१ हिनोति—गमयति प्रमेयमर्थं स वा हीयते—अधिगम्यतेऽनेनेति हेतुः, प्रमेयस्य प्रमितौ कारणं प्रमाणमित्यर्थः।" इति वृत्तिकारः।

अर्थात् जो आप्तप्रणीत, किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं होता, जो यथार्थ ज्ञान का प्रतिपादक है, तत्त्व का उपदेश करने वाला है, सब जीवों का हितैषी है, कुमार्ग से दूर हटाने वाला है, ऐसा शास्त्र ही आगम कहलाता है। वही प्रमाण की कोटि में गिना जाता है। शेष सब अप्रामाणिक हैं। जिससे आगमज्ञान प्राप्त हो उसे आगम-हेतु कहते हैं।

३. हेतु—

यह हेतु तीसरे प्रकार का है। इस कथन पर हेतु के नाम से चतुर्भंगी का निर्देश किया गया है। यहां अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाले हेतु से उत्पन्न होने के कारण कार्य में कारण के उपचार से अनुमान को ही हेतु कहा गया है। यहां अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाले हेतु का आरोप अनुमान कार्य में कर लिया गया है, इसी कारण अनुमान को हेतु कह दिया गया है। इसके मूल भेद चार हैं, उनका विवरण निम्नलिखित है—

(क) अत्थित्तं अत्थि सो हेऊ—जहां-जहां धूम है, वहां-वहां अग्नि है, **जीवोऽयं सचेतनत्वात्**—सचेतन होने से यह जीव है, जहां चेतनता होती है, वहां नियमेन जीव का सद्भाव होता है। साधन से ही साध्य की सिद्धि होती है। यह भेद अन्वय-व्याप्ति में गर्भित हो जाता है।

(ख) अत्थित्तं नत्थि सो हेऊ—इसमें अग्नि का सद्भाव है, शीतस्पर्श वाला न होने से। जहां अग्नि का सद्भाव होता है वहां शीतस्पर्श नहीं होता, जैसे अंगीठी में भस्मावच्छन्न अग्नि है शीतस्पर्श वाली न होने से। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझ लेने चाहिएं।

(ग) नत्थित्तं अत्थि सो हेऊ—इस अंगीठी में अग्नि नहीं है, क्योंकि यह शीतस्पर्श वाली है, जो अंगीठी शीतस्पर्श वाली होती है वह अग्नि वाली नहीं होती।

(घ) नत्थित्तं नत्थि सो हेऊ—जहां अग्नि नहीं है, वहां धूम भी नहीं है, जिसमें चेतना नहीं वह जीव भी नहीं, जो सम्यग्दृष्टि नहीं है वह विवेकी भी नहीं है। इसी प्रकार अन्य-अन्य उदाहरण भी जान लेने चाहिएं।

पहले भंग का उदाहरण—पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्। पर्वत में अग्नि है, धूआं होने से।

दूसरे भंग का उदाहरण—अत्राग्निरस्ति शीतस्पर्शाभावात्। यहां अग्नि है, शीत स्पर्श न होने से।

तीसरे भंग का उदाहरण—अत्राग्निर्नास्ति शीतस्पर्शसद्भावात्। यहां अग्नि नहीं, शीत स्पर्श होने से।

चौथे भंग का उदाहरण—नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षाभावात्। यहां शीशम नहीं, वृक्षों का अभाव होने से।

यह केवल कथन की ही विचित्रता है, वैसे तो अविनाभावी साधन से जो भी साध्य का ज्ञान होता है, वह सब अनुमान ही है।

यहां यह विषय संक्षेप से वर्णित किया गया है। इस विषय की विशद व्याख्या हजारों

श्लोकों में निबद्ध अनेक जैन ग्रंथों में विद्यमान है। यह विषय सूक्ष्म बुद्धि से अनुभव करने के योग्य है। सत में सत हेतु यह चतुर्भंगी जैन प्रक्रिया के अनुसार बड़ी महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक पदार्थ अपनेपन में अस्तित्व रखता है तथा सादृश्य लिंग से साध्य का भली-भांति ज्ञान हो जाता है। अतः यथार्थ अनुभव से सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन मनीषियों का चिन्तन परावलम्बी चिन्तन नहीं, स्वतन्त्र चिन्तन है। इनकी विवेचन शैली सर्वथा मौलिक है।

संख्यान, अन्धकार एवं प्रकाश के कारण

मूल—चउव्विहे संखाणे पण्णत्ते, तं जहा—पडिकम्मं, ववहारे, रज्जू, रासी।

अहोलोगे णं चत्तारि अंधयारं करेंति, तं जहा—नरगा, णेरइया, पावाइं कम्माइं, असुभा पोग्गला।

तिरियलोगे णं चत्तारि उज्जोयं करेंति, तं जहा—चंदा, सूरा, मणी, जोई।

उड्ढलोगे णं चत्तारि उज्जोयं करेंति, तं जहा—देवा, देवीओ, विमाणा, आभरणा ॥१२२॥

छाया—चतुर्विधं संख्यानं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—परिकर्म, व्यवहारः, रज्जुः, राशिः।

अधोलोके चत्वारि अन्धकारं कुर्वन्ति, तद्यथा—नरकाः, नैरयिकाः, पापानि कर्माणि, अशुभाः पुद्गलाः।

तिर्यक्लोके चत्वारि उद्योतं कुर्वन्ति, तद्यथा—चन्द्राः, सूर्याः, मणयः, ज्योतिः।

ऊर्ध्वलोके चत्वारि उद्योतं कुर्वन्ति, तद्यथा—देवाः, देव्यः, विमानानि, आभरणानि।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार का गणित कहा गया है, जैसे—परिकर्म-संकलनादि, व्यवहार गणित, रज्जु—इंच, फुट, गज, मीटर आदि, राशि-त्रैराशिक, पञ्चराशिक आदि।

अधोलोक में चार वस्तुएं अन्धकार करती हैं, जैसे—नरकावास, नारकीय जीव, पाप-कर्म और अशुभ पुद्गल।

तिर्यक् लोक में चार पदार्थ प्रकाश करते हैं, जैसे कि—चन्द्र, सूर्य, मणियां और ज्योति-अग्नि आदि।

ऊर्ध्वलोक में चार पदार्थ प्रकाश करने वाले प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—देव, देवियां, विमान और आभूषण।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में ज्ञान के लिए ज्ञात रूप अनेक साधन बतलाए गए हैं।

संख्यान भी ज्ञान का विषय है, इसीलिए इस सूत्र में संख्यान आदि का विवेचन किया गया है। **संख्यायते गण्यतेऽनेनेति संख्यानं गणितमित्यर्थः**—अर्थात् जिसके द्वारा गणना की जाए उसे संख्यान कहा जाता है। गुणा, भाग, जोड़, बाकी इस प्रकार की गणित पद्धतियों को परिकर्म कहते हैं।

दर्जन, नाप-तोल आदि वस्तुओं की संख्या से हिसाब लगाना व्यवहार संख्यान कहलाता है।

खेत, मकान, उद्यान आदि का क्षेत्रफल एवं ऊंचाई आदि जानने के लिए, गज, फीता, रस्सी आदि से जो नाप किया जाता है, उसे 'रज्जू' कहा जाता है।

ढ़ेरी देखकर हिसाब लगाना जैसे मंडियों में अनाज आदि पदार्थों की ढ़ेरियां लगाई जाती हैं। उनका हिसाब-किताब ढ़ेरियों के रूप में ही होता है, ढ़ेरियों के ही सौदे होते हैं, ढ़ेरियों की ही बोलियां होती हैं, इस प्रकार के हिसाब-किताब को 'राशि' कहा जाता है।

सूत्र के उत्तर भाग में यह बतलाया गया है कि तीनों लोकों के अन्तःपाती अन्धकार और प्रकाश करने वाले कौन-कौन हैं? किस वस्तु से अंधकार फैलता है और किससे प्रकाश होता है? इस विषय का बड़ी अच्छी पद्धति से वर्णन किया गया है, लोक तीन भागों में विभक्त है। जिसमें नारकी रहते हैं वह अधोलोक है। यद्यपि भवनपति आदि देव भी अधोलोक में निवास करते हैं, तदपि अधोलोक से तात्पर्य सूत्रकार का केवल नरकों से ही है। नरक, नैरयिक, पापकर्म और अशुभ पुद्गल ये चार पदार्थ अधोलोक में अन्धकार करने वाले हैं।

मध्यलोक में चार पदार्थ प्रकाश करने वाले हैं जैसे कि चन्द्र, सूर्य, मणि और ज्योति।

ऊर्ध्वलोक में देव, देवी, विमान तथा आभरण ये चार उद्योत करते हैं।

इस सूत्र से यह भी सिद्ध होता है कि पापकर्म और अशुभ पुद्गल ये अंधकार करने वाले हैं। पुण्यकर्म और शुभ पुद्गल ये उद्योत अर्थात् प्रकाश करने वाले हैं। चन्द्र, सूर्य, मणि और ज्योति तथा देव, देवी, विमान और आभरण ये पुण्यकर्म और शुभ पुद्गलों की राशि हैं। पापकर्म अंधकारमय होने से प्राणी मात्र के लिए त्याज्य है। पुण्यकर्म धर्म की सहायता के लिए उपादेय है। अंत में वह भी निर्वाण-प्राप्ति के समय अवश्य त्याज्य है। समभाव में स्थिति के लिए पुण्यकर्म ज्ञेय रूप है। केवल पुण्यानुबंधी पुण्य ही धर्मक्रिया में सहायक हो सकता है।

इस सूत्र में शास्त्रकार ने तीन लोक के विषयभूत पुण्य और पाप के फलों का दिग्दर्शन कराया है। केवल इसीलिए कि दोनों के स्वरूप को जानकर मानव अपना जीवन प्रशस्त कर सके, पाप से मुक्त हो सके और धर्म के प्रकाशमय मार्ग पर चलते हुए निर्वाण-पद की ओर बढ़ सके।

॥ चतुर्थ स्थान का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चतुर्थ स्थान

चतुर्थ उद्देशक

इस उद्देशक में प्रसर्पक, नैरयिक-आहार, आशीविष, व्याधियों-चिकित्साओं, चिकित्सक, व्रण, वादीसमूह, मेघों, आचार्यों, भिक्षुकों, चतुष्पदों, क्षुद्र प्राणियों, संवास, अवनति, प्रव्रज्या, संज्ञा, काम, जल, समुद्र, तैराक, उपसर्ग, कर्म, संघ, बुद्धि, संसारी जीवों, तिर्यञ्च-गति- आगति, सम्यग्दृष्टि नारकों और असुरकुमारों की क्रियाओं, गुणों की उत्पत्ति-विनाश, नारकीयों के उत्पत्ति-स्थान, धर्मद्वार, वाद्य, नाट्य-आदि, विमान-वर्ण, उदक-गर्भ, वादी-सम्पदा, अर्धचन्द्राकृति देवलोकों, आवर्तों, अनुराधा नक्षत्र के तारों आदि की चतुर्विधात्मकता का परिचय दिया गया है।

चार प्रसर्पक (विदेश-यात्रा में प्रयत्नशील)

मूल—चत्तारि पसप्पगा पण्णत्ता, तं जहा—अणुप्पन्नाणं भोगाणं उप्पाएत्ता, एगे पसप्पए। पुव्वुप्पन्नाणं भोगाणं अविप्पओगेणं एगे पसप्पए। अणुप्पन्नाणं सोक्खाणं उप्पाइत्ता एगे पसप्पए। पुव्वुप्पन्नाणं सोक्खाणं अविप्पओगेणं एगे पसप्पए॥ १२३॥

छाया—चत्वारः प्रसर्पकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा अनुत्पन्नान् भोगानुत्पादयितैकः प्रसर्पकः। पूर्वोत्पन्नान् भोगानविप्रयोगेणैकः प्रसर्पकः। अनुत्पन्नान् सौख्यानुत्पादयितैकः प्रसर्पकः। पूर्वोत्पन्नान् सौख्यानविप्रयोगेनैकः प्रसर्पकः।

शब्दार्थ—चत्तारि पसप्पगा पण्णत्ता, तं जहा—चार कारणों से भाग-दौड़ करने वाले कहे गए हैं, जैसे, अणुप्पन्नाणं भोगाणं उप्पाएत्ता—अनुत्पन्न भोगों को उत्पन्न करने के लिए, एगे पसप्पए—कुछ लोग देश-देशान्तर में भ्रमण रूप प्रयत्न करते हैं, पुव्वुप्पन्नाणं

भोगाणं—पूर्वोत्पन्न भोगों का, **अविप्पओगेणं**—विप्रयोग न हो, इसलिए, **एगे पसप्पए**—कुछ लोग प्रयत्न करते हैं, **अणुप्पन्नाणं सोक्खाणं उप्पाइत्ता**—अनुत्पन्न सुखों को उत्पन्न करने के लिए, **एगे पसप्पए**—कुछ प्रयत्न करते हैं, **पुव्वुप्पन्नाणं सोक्खाणं**—पूर्वोत्पन्न सुखों का, **अविप्पओगेणं**—विप्रयोग न होने के लिए, **एगे पसप्पए**—कुछ प्रयत्न किया करते हैं।

मूलार्थ—देश-देशान्तरों में भ्रमण करके भोग-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाले चार प्रकार के प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे कि—कुछ व्यक्ति अनुत्पन्न भोगों को उत्पन्न करने के लिए प्रयत्न करते हैं। कुछ लोग पूर्वोत्पन्न भोगों का विप्रयोग न होने देने के लिए प्रयत्न करते हैं। कुछ लोग अनुत्पन्न सुखों को उत्पन्न करने के लिए प्रयत्न करते हैं और कुछ लोग पूर्वोत्पन्न सुखों का विप्रयोग न हो, इसलिए प्रयत्न करते हैं।

विवेचनिका—इस सूत्र में प्रसर्पकों का चित्रण किया गया है। सांसारिक भोगों के लिए चारों दिशाओं में परिभ्रमण करने वाले प्रसर्पक कहलाते हैं अथवा जो भौतिक सुख और उसकी सामग्री के लिए दौड़-धूप करने वाले तथा आरम्भ और परिग्रह का विस्तार करने वाले होते हैं वे प्रसर्पक माने जाते हैं। प्रसर्पक किन बातों के लिए इधर-उधर दौड़-धूप करते हैं इसके मुख्यतया चार कारण बताए हैं, जैसे कि—

(क) कुछ लोग अप्राप्त भोगों की प्राप्ति के लिए इधर-उधर दौड़-धूप किया करते हैं।

(ख) कुछ लोग प्राप्त भोगों की रक्षा के लिए इधर-उधर दौड़-धूप किया करते हैं।

(ग) कुछ लोग अप्राप्त सुख को पाने के लिए इधर-उधर भाग-दौड करते रहते हैं।

(घ) कुछ लोग प्राप्त सुख की रक्षा के लिए इधर-उधर भाग-दौड़ करते रहते हैं।

इस सूत्र में भोग और सुख को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने यह चतुर्भंगी प्रस्तुत की है। सुख प्राप्ति की बाह्य सामग्री को भोग कहा जाता है और उससे उत्पन्न होने वाले अनुभव को सुख। भोग शुभ भी होते हैं और अशुभ भी। संसारी जीव जहां शुभ भोगों की प्राप्ति के लिए परिश्रम करते हैं वहां उन्हें चिरस्थायी रखने के लिए भी यत्नशील रहते हैं।

अशुभ भोगों को दूर करने के लिए भी मानव यत्न करता रहता है, परन्तु वह भी प्रकारान्तर से सुख-प्राप्ति का ही यत्न होता है। भोग सुखरूप हों तभी उनकी स्थिरता के लिए संसारी जीव प्रयास करते हैं। यदि मन और इन्द्रियों के प्रतिकूल हों तो उनकी दौड़धूप उनकी निवृत्ति के लिए हो जाया करती है। अतः अनुत्पन्नभोग और सुखों के उत्पादन के लिए तथा उत्पन्न भोग और सुखों की रक्षा के लिए ही संसार यत्नशील है।

भोगों का मुख्य साधन धन है। धन के पीछे भागने वाले किस प्रकार दुःख सहते हैं इसका चित्रण करते हुए महापुरुषों ने कहा है—

धावेइ रोहणं, तरेइ सागरं, भमइ गिरि निकुंजेसु।
मारेइ बंधवापि हु पुरिसो जो होज्ज धणलुद्धो॥
अडइ बहुं वहइ भरं सहइ छुहं पावमायरइ धिट्‌ठो।
कुल-सील-जाति-पच्चयट्‌ठिइं लोभद्दुओ चयइ॥

धन और भोगों की प्राप्ति के लिए लोग वनों में घूमते हैं, पर्वतों पर चढ़ते हैं, समुद्र की यात्राएं करते हैं, यहां तक कि लोभ के वश भाइयों को भी मार डालते हैं। लोभ के वशीभूत हो इधर-उधर भटकते हैं, दूसरे का भार भी उठाते हैं, भूख प्यास भी सहते हैं, पापाचरण करने में कोई संकोच नहीं करते, अपने कुल-शील तथा जाति की मर्यादा को भी छोड़ देते हैं, अतः ये भोग और सुख आत्मविकास के महान बाधक हैं और पापाचरणों की प्रवृत्ति को जागृत कर दुर्गतियों में पहुंचाने वाले हैं।

नैरयिक आदि के आहार

मूल—णेरइयाणं चउव्विहे आहारे पण्णत्ते, तं जहा—इंगालोवमे, मुम्मरोवमे, सीयले, हिमसीयले।

तिरिक्खजोणियाणं चउव्विहे आहारे पण्णत्ते, तं जहा—कंकोवमे, बिलोवमे, पाणमंसोवमे, पुत्तमंसोवमे।

मणुस्साणं चउव्विहे आहारे पण्णत्ते, तं जहा—असणे जाव साइमे।

देवाणं चउव्विहे आहारे पण्णत्ते, तं जहा—वन्नमंते, गंधमंते, रसमंते, फासमंते॥१२४॥

छाया—नैरयिकाणां चतुर्विध आहारः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अङ्गारोपमः, मुरमुरोपमः, शीतलः, हिमशीतलः।

तिर्यग्योनिजानां चतुर्विध आहारः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—कङ्कोपमः, बिलोपमः, पाणमांसोपमः, पुत्रमांसोपमः।

मनुष्याणां चतुर्विध आहारः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अशनं यावत् स्वादिमम्।

देवानां चतुर्विध आहारः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—वर्णवान्, गन्धवान्, रसवान्, स्पर्शवान्।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नारकीय जीवों का आहार चार प्रकार का कहा गया है, जैसे—अंगार के समान, मुरमुर के समान, शीतल और हिम-समान शीतल।

तिर्यञ्च अर्थात् पशुओं का चार प्रकार का आहार कहा गया है, जैसे—कङ्क पक्षी विशेष के आहार-समान सुखपूर्वक खाया जाने वाला तथा सुखपूर्वक पचाया

जाने वाला, बिल में डाली जाने वाली वस्तु के समान रसास्वाद से रहित, चाण्डाल मांस के समान निन्दनीय, पुत्रमांस समान अतिनिन्दनीय।

मनुष्यों का आहार चार प्रकार का कहा गया है, जैसे—अशन, पान, खादिम और स्वादिम।

देवों का आहार चार प्रकार का कहा गया है, जैसे—वर्णवाला, गन्धवाला, रसवाला और स्पर्शवाला।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में सुख-भोग की विवेचना की गई है। सुख-भोग का प्रधानतम साधन आहार है, क्योंकि इसके बिना दीर्घ जीवन चल ही नहीं पाता है, अतः सुख-भोग के अनन्तर सूत्रकार आहार का वर्णन करते हैं। आहार से शरीर का संवर्धन होता है। औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर वाले जीव आहार करते हैं। चौदहवें गुणस्थान में, सिद्ध-अवस्था में, केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में तथा वाटे बहते वक्र गति में जीव अनाहारक रहता है। इनके अतिरिक्त अन्य दशाओं में नियमेन आहारक होता है।

संसारी जीव चार गतियों में विभक्त हैं, जैसे कि नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव। इस सूत्र में क्रमशः चारों गतियों में रहते हुए जीव किस-किस प्रकार का आहार करते हैं, इस विषय का विवेचन किया गया है।

१. नारकीय जीव चार प्रकार का आहार करते हैं—

(**क**) अंगारों के समान आहार—यह स्वल्पकाल के लिए दाहक होता है।

(**ख**) भोभर के समान आहार—यह अधिक काल तक दाहक हुआ करता है।

(**ग**) शीत आहार—यह शीत वेदना उत्पन्न करता है।

(**घ**) हिमशीतल आहार—यह अत्यन्त शीत वेदना कारक होता है।

पहले दो प्रकार का आहार उष्णयोनिक नारकीयों का होता है तथा शीतयोनिक नारकीयों का आहार अन्तिम दो प्रकार का होता है। चौथे नरक से लेकर सातवें नरक तक प्रायः शीतवेदना होती है और वहां पर नारकीयों को शीत आहार ही प्राप्त होता है। यद्यपि नारकीयों का आहार ग्रास के रूप में नहीं होता, तथापि वे मन से पुद्गलों का आकर्षण कर रोमाहार करते हैं। इस अपेक्षा से उनके आहार का कथन किया गया है। उष्ण वेदना दायक अंगारोपम तथा भोभर-तुल्य-आहार तीसरी नरक तक के नारकीयों को प्राप्त है, शेष नरकों में नहीं।

२. तिर्यंचों का चार प्रकार का आहार होता है—

(क) कंकोपम—शीघ्र हजम होने वाला आहार। जैसे कंकपक्षी का आहार सुभक्ष्य एवं सुपाच्य होता है, इसी प्रकार तिर्यञ्च का सुभक्ष्य एवं सुखकारी परिणाम वाला आहार कंकोपम कहलाता है।

(ख) बिलोपम—जो आहार बिल की तरह गले में बिना ही रस या स्वाद दिए शीघ्र ही अन्दर उतर जाता है। जैसे कबूतर आदि पक्षी बिना ही चबाए आहार को निगल लेते हैं, इसी तरह सर्प, मछली आदि भी निगलकर ही आहार करते हैं। ऐसे आहार को बिलोपम कहा गया है।

(ग) पाणमांसोपम—चांडाल का मांस मुश्किल से खाया जाता है, वैसे ही जो आहार घृणित होने के कारण बड़ी कठिनता से खाया जा सके, वह आहार मातंगमांसोपम है।

(घ) पुत्रमांसोपम—अति स्नेह होने के कारण पुत्र का मांस खाना कठिन ही नहीं अत्यन्त कठिन होता है, इसी प्रकार जो आहार बहुत ही कठिनता से खाया जाए वह पुत्रमांसोपम होता है, पुत्र का मांस यदि किसी मनुष्य को खाना पड़े तो वह अति कठिनता से खाता है उसी तरह जो आहार पशुओं के लिए भी दुखाद्यतम हो वह आहार पुत्र-मांसोपम होता है।[१]

३. मनुष्यों का आहार चार प्रकार का होता है—

(क) अशन—चौबीस प्रकार के धान्यों से बनी हुई रोटी, दाल, भात, खीचड़ी, राबडी, दलिया इत्यादि वस्तुओं का आहार अशन कहलाता है।

(ख) पान—पानी आदि पेय पदार्थ जो कि प्यास को शान्त करते हैं, वह पान कहलाता है।

(ग) खादिम—गुड़, शक्कर, खांड, फल, मेवा, रस, पेड़ा, बर्फी, मिश्री, मावा, कला-कंद आदि पदार्थ खादिम कहलाते हैं।

(घ) स्वादिम—लौंग, इलायची, सुपारी, पान, चूर्ण इत्यादि वस्तुएं स्वादिम हैं। औषध आदि पदार्थों का समावेश भी उपर्युक्त चार भेदों में हो जाता है।

यह है मनुष्य का आहार। इन पदार्थों को छोड़कर जो मनुष्य मद्य, मांस-अंडा, मछली आदि का आहार करते हैं, वे केवल संज्ञामात्र से मनुष्य हैं। वस्तुतः मनुष्य वही है जिसका आहार सात्विक है।

४. देवों का आहार चार प्रकार का होता है—

(क) पांच वर्णों में जो शुभ वर्ण वाला पदार्थ है वही देवों का भक्ष्य है। उनमें भी प्रायः वे श्वेत और पीले रंग का आहार करते हैं।

(ख) शुभ गन्ध—देव सुगन्धित पदार्थों का आहार करते हैं।

---

१ कंकोपम, बिलापम, इनमें मध्यमपदलोपी समास है, जैसे कि—कंकः पक्षीविशेषः, तस्याहारेणोपमा यत्र स मध्यमपदलोपात् कंकोपमः, *अयमर्थो यथाहि कंकस्य दुर्जरोऽपि स्वरूपेणाहारः सुखभक्ष्यः सुखपरिणामश्च* भवति, एव यस्तिरश्चा सुभक्षः सुखपरिणामश्च स कंकोपम इति।—इति वृत्तिकारः।

(ग) शुभरस—देव उत्तम रस वाले पदार्थों का आहार करते हैं, उनमें भी उन्हे षटरस और मधुर रस अधिक प्रिय हैं।

(घ) देव शुभस्पर्श वाले पदार्थों का आहार करते हैं। उनमें भी वे सुकोमल, लघु, उष्ण और स्निग्ध पदार्थ आहारार्थ उपभोग में लाते हैं। देवता मनोभक्ष्य आहार करते हैं, कवलाहार नहीं।

जाति-आशीविष

मूल—चत्तारि जाइ-आसीविसा पण्णत्ता, तं जहा—बिच्छुअजाइ-आसीविसे, मंडुक्कजाइ-आसीविसे, उरगजाइ-आसीविसे, मणुस्सजाइ-आसीविसे।

बिच्छुयजाइ-आसीविसस्स णं भंते! केवइए विसए पण्णत्ते? पभू णं बिच्छुयजाइ-आसीविसे अद्धभरहप्पमाणमेत्तं बोंदिं विसेणं विसपरिणयं विसट्टमाणिं करित्तए, विसए से विसट्ठताए, नो चेव णं संपत्तीए करेंसु वा, करेंति वा, करिस्संति वा।

मंडुक्कजाइ-आसीविसस्स पुच्छा, पभू णं मंडुक्कजाइ-आसीविसे भरहप्पमाणमेत्तं बोंदिं विसेणं (विसप०) विसट्टमाणिं। सेसं तं चेव जाव करिस्संति वा।

उरगजाइ-पुच्छा, पभू णं उरगजाइ-आसीविसे जम्बूदीवप्पमाणमेत्तं बोंदिं विसेणं विसपरिणतं विसट्टमाणिं करेत्तए, विसए से विसट्ठताए, नो चेव णं जाव करिस्संति वा।

मणुस्सजाइ पुच्छा, पभू णं मणुस्सजाइ-आसीविसे समयखेत्तप्पमाणमेत्तं विसेणं विसपरिणतं विसट्टमाणिं करेत्तए, विसए से विसट्ठताए, नो चेव णं जाव करिस्संति वा॥१२५॥

छाया—चत्वारो जात्याऽऽशीविषाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वृश्चिकजात्याऽऽशीविषः, मण्डूकजात्याऽऽशीविषः, उरगजात्याऽऽशीविषः, मनुष्यजात्याऽऽशीविषः।

वृश्चिकजात्याऽऽशीविषस्य भदन्त! कियान् विषयः प्रज्ञप्तः? प्रभुः वृश्चिक-जात्याऽऽशीविषः अर्द्धभरतप्रमाणमात्रं शरीरं विषेण विषपरिणतं विकसत् कर्त्तुं, विषयः स विषार्थतया, नो चैव सम्पत्त्या अकार्षुर्वा, कुर्वन्ति वा, करिष्यन्ति वा।

मण्डूकजात्याऽऽशीविषस्य पृच्छा, प्रभुः मण्डूकजात्याऽऽशीविषोः भरतप्रमाणमात्रं शरीरं विषेण विषपरिणतं विकसत्। शेषः स चैव यावत् करिष्यन्ति वा।

उरगजातिपृच्छा, प्रभुः उरगजात्याऽऽशीविषः जम्बूद्वीपप्रमाणमात्रं शरीरं विषेण०। शेषः स चैव यावत् करिष्यन्ति वा।

मनुष्यजातिपृच्छा, प्रभुः मनुष्यजात्याऽऽशीविषः समयक्षेत्रप्रमाणं शरीरं विषेण विषपरिणतं विकसत् कर्त्तुं, विषयो विषयार्थतया, नो चैव यावत् करिष्यन्ति वा।

शब्दार्थ—चत्तारि—चार प्रकार के जीव, **जाइ-आसीविसा पण्णत्ता, तं जहा**—जाति से आशीविष, अर्थात् दाढ़ों में विष वाले कहे गए हैं, जैसे, **विच्छुअजाइ-आसीविसे**—जन्म से ही आशीविष वाले वृश्चिक, **मंडुक्कजाइ-आसीविसे**—जन्म से ही आशीविष वाले मण्डूक, **उरगजाइ-आसीविसे**—जाति से आशीविष वाले उरग—सांप और, **मणुस्सजाइ-आसीविसे**—जाति से आशीविष वाले मनुष्य।

भंते!—भगवन्!, **विच्छुअजाइ-आसीविसस्स णं**—जाति आशीविष वृश्चिक का, **केवइए विसए पण्णत्ते?**—कितना विष कहा गया है? हे गौतम!, **विच्छुयजाइ- आसीविसे**—जाति-आशीविष वृश्चिक का विष, **अद्धभरहप्पमाणमेत्तं बोंदिं**—अर्धभरत प्रमाण भूमि पर निवास करने वाले शरीरों को, **विसेणं**—विष द्वारा, **विसपरिणयं विसट्टमाणिं करित्तए**—विष से व्याप्त तथा विदीर्ण करने में समर्थ है, **विसए से**—यह विषय, **विसट्ठताए**—विष की शक्ति की अपेक्षा से कहा गया है, **पभू णं**—इतना सामर्थ्य इसमें है, किन्तु, **नो चेव णं संपत्तीए**—किसी ने इसकी संप्राप्ति कार्य रूप से न तो, **करेंसु वा, करेंति वा, करिस्संति वा**—कभी की है, न कोई करता है और न ही कोई करेगा।

मंडुक्कजाइ-आसीविसस्स पुच्छा—जाति-आशीविष मेंढक के विषय में प्रश्न है, **मंडुक्कजाइ-आसीविसे**—जाति-आशीविष मेंढक का विष, **भरहप्पमाणमेत्तं बोंदिं**—भरत क्षेत्र प्रमाण भूमि में रहने वाले शरीरों को, **विसेणं**—विष द्वारा, **विसपरिणयं विसट्टमाणिं**—विष-व्याप्त तथा विदीर्ण करने में, **पभु णं**—समर्थ है, **सेसं तं चेव जाव करिस्संति वा**—यह विषय भी शक्ति की अपेक्षा से कहा गया है। ऐसा न तो किसी ने किया, न कोई करता है और न ही करेगा।

उरगजाइपुच्छा—जाति से आशीविष सर्प का प्रश्न है, **उरगजाइ-आसीविसे**—जाति से आशीविष सर्प का विष, **जम्बूदीवप्पमाणमेत्तं बोंदिं**—जम्बूद्वीप परिमाण प्रदेश में रहने वाले शरीरों की, **विसे णं**—विष द्वारा, **विसपरिणयं विसट्टमाणिं करेत्तए**—व्याप्त और विदीर्ण करने में, **पभू णं**—समर्थ है, किन्तु, **सेसं तं चेव जाव करिस्संति वा**—शेष उसी प्रकार, जैसे ऊपर कथन किया गया है यावत् नहीं कोई करेगा।

मणुस्सजाइ पुच्छा—जाति से आशीविष मनुष्य का प्रश्न है, **मणुस्सजाइ- आसीविसे**—जाति-आशीविष मनुष्य का विष, **समयखेत्तप्पमाणमेत्तं बोंदिं**—मनुष्यक्षेत्र प्रमाण प्रदेश में रहने वाले शरीरों को, **विसेणं**—विष द्वारा, **विसपरिणयं विसट्टमाणिं करेत्तए**—विषव्याप्त तथा विदीर्ण करने में, **पभू णं**—समर्थ है, **विसए से विसट्ठताए, नो चेव णं**

जाव करिस्संति वा—यह विषय भी विष की शक्ति की अपेक्षा से कहा गया है, कार्य रूप से यावत् ऐसा कोई नहीं करेगा।

मूलार्थ—चार प्रकार के जीव जाति अर्थात् जन्म से ही आशीविष—जिनकी दाढ़ों में विष होता है, कहे गए हैं, जैसे—जाति-आशीविष बिच्छू, जाति-आशीविष मण्डूक, जाति-आशीविष उरग अर्थात् सांप और जाति-आशीविष मनुष्य।

भगवन्! जाति-आशीविष वृश्चिक का कितना विष कहा गया है? इसके उत्तर में कहा गया कि जाति-आशीविष वृश्चिक का विष अर्द्धभरतप्रमाण भूमि में रहने वाले शरीरों को विष-व्याप्त तथा विदीर्ण करने में समर्थ है। यह विषय विष की शक्ति की अपेक्षा से कहा गया है, कार्य की अपेक्षा से ऐसा न तो किसी ने किया है, न कोई करता है और न ही कोई करेगा।

अब जाति-आशीविष मेंढक के सम्बन्ध में भी यही प्रश्न है। इसका उत्तर यह है—जाति-आशीविष मेंढक का विष भरतक्षेत्र प्रमाण प्रदेश में रहने वाले शरीरों को विष से व्याप्त और विदीर्ण करने में समर्थ है। शेष पूर्ववत् अर्थात् यह विषय भी विष की शक्ति की अपेक्षा से कहा गया है। कार्य-दृष्टि से ऐसा न तो किसी ने किया, न कोई करता है और न कोई करेगा।

जाति-आशीविष सर्प के सम्बन्ध में यही प्रश्न है। इसका उत्तर है—कि जाति-आशीविष सर्प का विष जम्बूद्वीप प्रमाण प्रदेश में रहने वाले शरीरों को विष से व्याप्त एवं विदीर्ण करने में समर्थ है, शेष पूर्ववत् अर्थात् यह विषय भी विष की शक्ति की अपेक्षा से कहा गया है। कार्य दृष्टि से ऐसा न तो किसी ने किया, न कोई करता है और न कोई करेगा।

जाति-आशीविष मनुष्य के विषय में प्रश्न का उत्तर यह है—जाति से आशीविष मनुष्य मनुष्यक्षेत्र प्रमाण प्रदेश में रहने वाले शरीरों को विष से व्याप्त और विदीर्ण करने में समर्थ है। यह बात भी शक्ति की अपेक्षा से कही गई है न कि कार्य की अपेक्षा से, क्योंकि आज तक न तो किसी ने ऐसा किया, न अब कर सकता है और न ही आगे कर सकेगा।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में मनुष्यों और देवों आदि के आहार का वर्णन किया गया है, मनुष्य एवं कुछ अन्य प्राणियों का आहार विषरूप में भी परिणत होता है, अब सूत्रकार आशीविष अर्थात् विषयुक्त दाढों वाले प्राणियों का वर्णन करते हैं।

विष अनेक प्रकार का होता है और अनेक प्राणियों में होता है। इस प्रकरण में जिस विष का वर्णन किया गया है वह प्राणी-विष है। 'आशी' शब्द का अर्थ है दाढ़ या पूंछ का अग्र भाग। जिन प्राणियों की दाढ़ों में या पुच्छाग्र भाग में विष रहता है उन्हें आशीविष कहा

जाता है। मनुष्य की और मेंढक की दाढ़ों में विष रहता है और बिच्छू के पुच्छाग्रभाग में विष हुआ करता है।

जिन प्राणियों में यह विष जन्म-जात है उन्हें जाति-आशीविष कहा जाता है। जिन प्राणियों में यह विष कर्म-जन्य हो उन्हें कर्म-आशीविष कहते हैं। इसी आधार पर विष के दो भेद माने गए हैं—जाति-आशीविष और कर्म-आशीविष। जाति-आशीविष तिर्यंच और मनुष्य में ही होता है, किन्तु कर्म-आशीविष देवों में भी होता है। भवनपति देवों से लेकर सहस्रार देवलोक पर्यन्त यह कर्म-आशीविष पाया जाता है, वह भी केवल अपर्याप्त अवस्था में ही। जिन्होंने यहां कर्म-आशीविष की लब्धि प्राप्त की हुई थी, यदि वे देवलोक में उत्पन्न होते हैं तो उनमें यह कर्म-आशीविष अपर्याप्तकाल में पाया जाता है, पर्याप्तकाल में नहीं।

विश्व में विषैले प्राणी अनेक प्रकार के हैं, उनमें से चार प्रकार के प्राणियों में जाति-आशीविष पाया जाता है। आशीविष की उत्कृष्ट शक्ति या विषय कितना है? इसी बात का सूत्रकार ने निर्देश किया है कि वृश्चिक, मण्डूक, सर्प और मनुष्य ये सबसे अधिक विषैले प्राणी हैं। इनमें भी किस प्राणी में कितना और कितनी शक्ति वाला आशीविष होता है, इसका सुन्दर विवेचन सूत्रकार करते हैं—

१. वृश्चिक-जाति-आशीविष—बिच्छू की अनेक छोटी-बडी जातियां हैं। उनकी पूंछ का अग्रभाग नुकीला होता है, जोकि विष से व्याप्त होता है। जो बिच्छू सबसे बडा और सबसे अधिक सशक्त होता है जब वह किसी सजीव या निर्जीव पदार्थ को दंशित करता है, तब स्वल्पकाल में ही वह पदार्थ सुहागे की तरह खिल जाता है, उसे ही संखिया विष कहते हैं। वह महापरिमाण वाला संखिया इतनी शक्ति रखता है, जिससे वह सोलह हजार देशों में रहते हुए प्राणियों को मौत के घाट उतार सकता है। इसका यह भाव भी हो सकता है कि ऐसे विषैले बिच्छू जम्बूद्वीप के १६ हजार देशों में ही प्राप्त होते हैं, सर्वत्र नहीं। इस पाठ का यह भाव भी हो सकता है कि यदि किसी प्राणी का शरीर अर्ध-भरत-क्षेत्र परिमाण वाला हो, तो भी वह इस वृश्चिक-दंश से मृत्यु को प्राप्त हो सकता है।

२. मंडूक-जाति-आशीविष—मेंढक जाति के भी अनेक भेद हैं। उनमें भी सबसे बड़े और अधिक विषैले मेंढकों में इतनी आशीविष-शक्ति है कि उससे वे ३२ हजार देशों में रहने वाले प्राणियों को विषाक्त बना सकते हैं। ३२ हजार देशों के समुदाय को भरत-क्षेत्र कहा जाता है। मेंढक जाति में इतना विष है कि वह सारे भरत क्षेत्र को निर्जीव बना सकता है। इसका भी यह अभिप्राय माना जा सकता है कि ऐसे विषाक्त मेंढक भरत क्षेत्र में ही उपलब्ध होते हैं, अथवा चाहे किसी व्यक्ति का शरीर भरतक्षेत्र के बराबर का क्यों न हो उस पर भी इस विष का इतना प्रभाव होगा कि वह मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा।

३. उरग-जाति-आशीविष—जो प्राणी केवल छाती के बल से ही पृथ्वी पर चल

सकते हैं, उन्हें उरग या सर्प कहते हैं। इन प्राणियों के पांव नहीं होते, सर्पों की भी अनेक जातियां हैं, उनमें जो सांप अधिक जहरीले होते हैं, उन्हें आशीविष कहा जाता है। उनमें रहे हुए विष की शक्ति इतनी प्रबल होती है, जिससे जम्बूद्वीप में रहे हुए सभी प्राणी यम के अतिथि बन सकते हैं। यूं भी कहा जा सकता है कि सर्प जाति के आशीविष जम्बूद्वीप में ही पाए जाते हैं। अथवा यदि किसी प्राणी का शरीर जम्बूद्वीप परिमाण वाला हो तो भी वह इस सर्प के विष से मृत्यु को प्राप्त हो सकता है।

४. **मनुष्य-जाति-आशीविष**—सब विषैले प्राणियों में मनुष्य जाति अधिक विषैली है। जितना विष मनुष्य में है उतना विष अन्य किसी प्राणी में नहीं होता है। उस विष की शक्ति का प्रभाव इतना है कि वह ढाई द्वीप में रहे हुए प्राणियों को परभव की यात्रा करा सकता है। अढ़ाई द्वीप परिमाण वाले शरीर को भी यह विष समाप्त कर सकता है, यह भी इन पंक्तियों का अभिप्राय हो सकता है।

बिच्छू के डंक में और उरग जाति के प्राणियों में आशीविष होता है, यह तो प्रायः सभी को ज्ञात ही है, किन्तु मनुष्य-जाति की दाढ़ों में इतना उग्र प्रभाव-कारक विष होता है, यह विषय सर्वज्ञात नहीं है। पर यह ज्ञातव्य है कि मनुष्य सबसे अधिक विषैला है। जिस मनुष्य ने आजीवन कभी भी खटाई और नमक का प्रयोग नहीं किया, उसके कुपित होने पर दूसरों के लिए उसका सर्वांग शरीर विषमय हो जाता है। वह मनुष्य क्रुद्ध होकर यदि किसी को काट ले तो वह प्राणी मर ही जाएगा, नमक और मीठे के अभाव में मानव-शरीर विषैले बनते जाते हैं और तब तक उनमें विष बढ़ता ही जाता है, जब तक कि उसकी उत्कृष्ट शक्ति की सीमा नहीं आ जाती।

इतनी उत्कृष्ट शक्ति वाले विषैले प्राणी अतीतकाल में हुए, वर्तमान में हैं और भविष्य में भी होंगे। उनके आशीविष का जो इतना बड़ा क्षेत्र-परिमाण बतलाया गया है, वह उनकी सत्ता का ही द्योतक है।

अर्धभरतक्षेत्र परिमाण वाला, भरतक्षेत्र के बराबर, जम्बूद्वीप के समान तथा अढ़ाई द्वीप के समान आकृति वाला शरीर न तो हुआ है, न है और न होगा और न ही आज तक किसी आशीविष प्राणी ने आज तक किसी ऐसे प्राणी को दंशित किया और न करेगा। इसलिए कहा गया है—

नो चेव णं संपत्तीए करेंसु वा, करेंति वा, करिस्संति वा—

यहां जो एक वचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग किया गया है, वह उपर्युक्त प्राणियों से संबंधित अनेक प्रकार के आशीविषों को बतलाने के लिए कथन किया गया है। जो यहां पर तीन काल का पाठ दिया है वह संसार को प्रवाह से अनादि सिद्ध करने के लिए भी है।[१]

---

१. 'करेंसु' पद का संस्कृत रूप "अकार्षुः" बनता है, जो कि लुङ् लकार के प्रथम पुरुष का बहुवचन है।

अर्द्धभरत क्षेत्र में रहे हुए प्राणियों को विषाक्त बनाने की शक्ति बिच्छू में है, इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि आशीविष वाला बिच्छू यदि बार-बार अनेक शिलाओं पर डंक मारता रहे तो वे शिलाएं संखिया बनती जाएंगी। इस प्रकार आशीविष बिच्छू इतना संखिया बना सकता है जिससे अर्धभरत क्षेत्र के प्राणी मृत्यु को प्राप्त हो सकते हैं।

अथवा यदि वह बिच्छू किसी प्राणी को डंक मार दे और उसके डंक से विषाक्त बने प्राणीशव को जितने मांसाहारी जीव खाते जाएंगे वे भी विषाक्त बनते जाएंगे, पुनः उनके विषाक्त शवों को खाने वालों के शरीर भी विषाक्त बन जाएंगे। इस प्रकार परम्परा से यह विष इतने प्राणियों पर असर कर सकता है जितने प्राणी अर्ध भरत-क्षेत्र में रहते हैं।

कर्म-आशीविष मनुष्य और अन्य पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों में होता है। जब वे किसी तपस्या आदि विशेष अनुष्ठान में संलग्न होते हैं तब उस तपश्चर्या के प्रभाव से उन्हें शाप देने की उत्कृष्ट लब्धि-प्राप्त होती है। उस लब्धि का प्रयोग कोपावेश में किया जाता है। तेजोलेश्या भी कर्म-आशीविष का ही एक भेद है। वरदान प्रसन्नता से दिया जाता है और शाप क्रोध से दिया जाता है। शाप देने वाला साधक यदि काल कर जाए तो अधिक से अधिक आठवें देवलोक का देवता बन सकता है। अपर्याप्त काल में वह देव भी कर्माशीविष वाला कहलाता है, केवल पूर्व भव के संस्कारों से। अतः कर्माशीविष वाले जीव तीन गतियों में पाए जाते हैं।

व्याधि और चिकित्सा

मूल—चउव्विहे वाही पण्णत्ते, तं जहा—वाइए, पित्तिए, सिंभिए, सन्निवाइए। चउव्विहा तिगिच्छा पण्णत्ता, तं जहा—विज्जो, ओसहाइं, आउरे, परिचारए॥ १२६॥

छाया—चतुर्विधो व्याधिः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—वातिकः, पैत्तिकः, श्लेष्मिकः, सान्निपातिकः। चतुर्विधा चिकित्सा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—वैद्यः, औषधानि, आतुरः, परिचारकः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार की व्याधियां प्रतिपादित की गई हैं, जैसे—वातिक—वायु से उत्पन्न होने वाली, पैत्तिक—पित्त से पैदा होने वाली, श्लैष्मिक-कफ से पैदा होने वाली और सान्निपातिक—वात-पित्त और कफ के संयोग से पैदा होने वाली।

चार प्रकार की चिकित्सा प्रतिपादित की गयी है, जैसे—वैद्य, औषधि, रोगी और परिचारक अर्थात् सेवा करने वाला।

विवेचनिका—विष से अनेक प्रकार की व्याधियां उत्पन्न होती हैं, अतः आशीविष के अनन्तर सूत्रकार व्याधियों तथा चिकित्सा का वर्णन करते हैं। जब शरीर में वात, पित्त

और कफ इन तीनों की यथोचित स्थिति होती है, तब शरीर सब तरह से स्वस्थ होता है। इनमें से किसी एक तत्त्व में विकृति हो जाने पर कोई न कोई व्याधि उत्पन्न हो जाया करती है। जब दो या तीन तत्त्व एक साथ विकृत हो जाते है, तब सन्निपात रोग उत्पन्न हो जाता है, जिसे कष्टसाध्य एवं असाध्य माना जाता है, अत: वात, पित्त तथा कफ की अनुकूल अवस्था ही स्वस्थता है।

वात, पित्त एवं कफ की विशेषताओं का क्रमशः परिचय देते हुए कहा गया है—

"तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः।
पित्तं स्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विश्रं सरं द्रवम्॥
कफो गुरुर्हिमः स्निग्धः प्रक्लेदी स्थिरः पिच्छिलः।
सन्निपातस्तु सङ्कीर्णलक्षणो द्व्यादिमीलकः॥"

अर्थात् वायु का स्वभाव छः प्रकार का है—रूखा, हल्का, ठंडा, कठोर, सूक्ष्म और चलस्वभाव ये लक्षण वात के हैं। स्निग्ध—चिकना, तीखा, गर्म, हल्का, कच्ची गंध वाला, गतिशील, तरल, इस तरह पित्त का स्वभाव सात प्रकार का है। भारी, अतिशीत, स्निग्ध, गीला, स्थिर और चिकना, इस तरह श्लेष्म—कफ का स्वभाव छः प्रकार का है। इनमें से दो या तीन प्रकृतियो के विकार से सन्निपात होता है।

इसके आगे वृत्तिकार ने इनसे उत्पन्न होने वाले रोग बताए हैं। निम्नलिखित प्रत्येक श्लोक मे प्रत्येक तत्त्व के कार्यों का उल्लेख किया गया है। जैसे कि—

पारुष्य-संकोचन-तोदशूलश्यामत्वमंगव्यथ-चेष्टभंगाः।
सुप्तत्वशीतत्वखरत्वशेषाः कर्माणि वायोः प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥

अर्थात् शरीर मे कठिनता होना, शरीर का सुकड जाना, शरीर मे सूजन का होना, अफारा, शूल रोगों का होना, श्यामरंग हो जाना, अंगपीडा, निश्चेष्ट हो जाना, अंगो का सो जाना, शरीर का ठडा हो जाना, खुरदरापन, मुख या कण्ठ का सूख जाना, पार्श्वघात इत्यादि व्याधिया वात-जन्य मानी जाती हैं।

परिस्त्रव-स्वेद-विदाह-रागा-वैगन्ध्य-संक्लेद-विपाक-कोपाः।
प्रलापमूर्छाभ्रमिपीतभावाः पित्तस्य कर्माणि वदन्ति तज्ज्ञाः॥

अर्थात् मुख से लारें टपकना, पसीना आना, दाहज्वर होना, ज्वराक्रान्त होना, दुर्गन्ध का होना, गीलापन, भस्म रोग, क्रोधशील, बकवास—बडबडाना, बेहोशी होना, पीला, इस प्रकार की व्याधिया पित्त से उत्पन्न होती है।

श्वेतत्व-शीतत्व-गुरुत्व-कण्डू-स्नेहोपदेहस्तिमितत्वलेपाः।
उत्सेध-संपातचिरक्रियाश्च कफस्य कर्माणि वदन्ति तज्ज्ञाः॥

अर्थात् शरीर का सफेद होना, फुलवैरी का होना, शरीर का ठडा हो जाना, अधिक मोटा हो जाना, खुजली का होना, चिकनापन, भारीपन, शरीर पर लगा हुआ लेप शीघ्र न

सूखे गीला ही रहे, शरीर का पुनः-पुनः गिरना, किसी भी क्रिया को स्फूर्ति से न कर पाना— आलस्य का होना, इस तरह की व्याधियां कफजन्य कहलाती हैं, ऐसा शरीर-शास्त्रियों का कथन है।

सन्निपात रोग संयोगज है, जो भयंकर एवं असाध्य माना गया है। उत्पन्न होता हुआ एक रोग अन्य-अन्य अनेक रोगों को जन्म देता है। असाता वेदनीय कर्म के उदय से वात, पित्त, कफ विषम अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। तीनों के विषम होने से भयंकर बीमारियां भड़क उठती हैं। जिनका उपचार औषध, तप-संयम आदि से किया जा सकता है।

चिकित्सा—इस सूत्र के दूसरे भाग में चार प्रकार की चिकित्सा का निर्देश किया गया है। चिकित्सा का अर्थ है, रोग-प्रतीकार। रोग को समूल नष्ट करना या उपशान्त करना ही चिकित्सा है। चिकित्सा के प्रधानतः चार अंग हैं, जैसे कि वैद्य, औषधि, रोगी और परिचारक, ये चारों यदि अपने आप में समर्थ हों तो रोग नष्ट होने में कोई विलंब नहीं होता।

१. **वैद्य**—जो रोग के कारण और उसके उपचारों को जानता है उसे वैद्य कहा जाता है। डाक्टर हकीम आदि वैद्य शब्द के ही पर्यायवाची हैं। वैद्य वही हो सकता है जो चार गुणों से संपन्न है। जैसे कि—

(क) दक्ष—किसी भी कार्य को सुगमता पूर्वक एवं शीघ्र करने में समर्थ हो, वह चतुर एवं फुर्तीला होना चाहिए। विवेकपूर्वक शीघ्रता से काम करने वाला ही दक्ष कहलाता है।

(ख) विज्ञातशास्त्रार्थ—आयुर्वेद-सम्बन्धी शास्त्रों का पारगामी होना भी उसके लिए आवश्यक है। वह केवल उनका ज्ञाता ही नहीं, अपितु विशेषज्ञ भी होना चाहिए।

(ग) दृष्टकर्मा—उपचार-क्रिया में उसका अनुभवी होना भी आवश्यक है, बीमारी को पहचानने वाला हो और जिसने अपने जीवन में अनेक रोगियों को स्वस्थ किया हो, वही दृष्टकर्मा कहलाता है। वही अनेक नवीन एवं प्राचीन पद्धतियों से रोगों की परीक्षा करने में समर्थ होता है, अतः वैद्य विशेषज्ञ एवं अनुभवी होना चाहिए।

(घ) शुचि—वैद्य का चौथा गुण शुचि है। जिसका अर्थ है, वह बाहर से और भीतर से स्वच्छ हो। जिसके मन में रोगी के प्रति हित एवं मंगल-भावना रहती हो, वही वैद्य मानसिक रूप से शुचि कहलाता है। प्रेम-पूर्वक रोगी का हाल पूछना, प्रीति से उसे देखना और आश्वासन देना इत्यादि गुणों से संपन्न होना वैद्य के लिए आवश्यक है।

२. **औषध**—चिकित्सा का दूसरा अंग है, औषध। वह भी चार गुणों से युक्त होनी चाहिए। उसका पहला गुण है—

(क) बहुकल्प—जो औषधि अनेक औषधियों के संमिश्रण से बनाई गई हो।

(ख) बहुगुण—जो कि अनेक गुणों से संपन्न हो जिससे नवीन रोग उत्पन्न न हों और एक ही औषध अनेक रोगों को शान्त करने वाली हो, और जिसका प्रभाव चिरस्थायी हो।

(ग) संपन्न—कुछ दवाएं नई सशक्त होती हैं और कुछ पुरानी, कुछ तुरन्त असर करने वाली होती हैं और कुछ विलम्ब से, कुछ स्वल्पमूल्य वाली होती हैं और कुछ बहुमूल्य वाली, कुछ सुलभ होती हैं और कुछ दुर्लभ, कुछ तैयार होती हैं और किन्हीं को तैयार करना पड़ता है, इनमें से जो सशक्त है, एवं शीघ्र ही स्वस्थ करने वाली दवा है वही सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है।

(घ) योग्य—जो दवा जिसके योग्य हो, जिसकी जितनी मात्रा है, उसे उतनी मात्रा में देना योग्य है। रोगी के स्वभाव से विपरीत एवं उचित मात्रा से रहित औषधि देने से कोई लाभ नहीं होता। न्यून देने से स्वस्थता प्राप्त नहीं होती और अधिक देने से हानि उठानी पड़ती है। कोई दवा खाने के लिए होती है, कोई पीने के लिए, कोई लगाने के लिए और कोई कान-नाक आदि में डालने के लिए होती है। जो औषधि जिस रोग के लिए उपयुक्त हो, वह औषधि उस रोग के लिए योग्य कहलाती है।

३. परिचारक—जो रोगी की सेवा करने वाले हैं, उन्हें परिचारक कहते हैं। वे भी चार गुणों से संपन्न होने चाहिएं। वे यदि विज्ञ एवं सतर्क न हों तो रोग का निवारण नहीं हो सकता। परिचारक में निम्नोक्त चार गुण होने चाहिएं—

(क) अनुरक्त—जो रोगी का हितैषी है, पास रहकर रोगी की अच्छी तरह देखभाल करता है, वही सेवा कर सकता है।

(ख) शुचि—परिचारक रोगी का हितचिंतक और मंगल-भावना वाला होना चाहिए। स्वयं को रोगी एवं उसके उपकरणों को और उसके स्थान को शुद्ध रखने वाला होना चाहिए।

(ग) दक्ष—रोगी की सेवा करने में चतुर होना चाहिए।

(घ) बुद्धिमान—परिचारक सेवा-भावी मनीषी होना चाहिए। यह वस्तु इसके उपयोगी है या नहीं? दवा कब और कितनी मात्रा में देनी है? रोगी के सामने कैसे बोलना चाहिए और कैसे नहीं? रोगी को कैसे प्रसन्न रखना चाहिए? रोगी के मन में क्या अभिप्राय है? इन सब बातों को जानने वाला ही परिचारक बन सकता है। आजकल रोगियों की सेवा के लिए प्राय: परिचारिकाएं रखी जाती हैं, उनको परिचारिका-शिक्षा (नर्सिंग-ट्रेनिंग) में प्राय: इन्हीं गुणों से युक्त होने की शिक्षा दी जाती है।

४. आतुर—उद्विग्न, बेचैन, व्याकुल एवं दु:खी व्यक्ति को आतुर कहते हैं। रुग्ण व्यक्ति यदि रोगनिवृत्ति अमुक पद्धति एवं रीति से करना चाहे, तभी रोग हटाने के लिए उपचार किया जा सकता है। उसकी अनुमति होने पर ही उपचार आदि प्रक्रियाएं की जा सकती हैं। रोगग्रस्त यदि चार बातों में ठीक है तभी उसका उपचार हो सकता है।

(क) आढ्य—धन से संपन्न होने पर ही रोगी अपने रोग की पूर्ण चिकित्सा करा सकता है।

(ख) भिषग्वश्य—वह किसी डाक्टर, हकीम या वैद्य के वशीभूत होना चाहिए जिस पर उसे पूर्ण विश्वास हो।

(ग) ज्ञापक—रोग कैसे उत्पन्न हुआ, उससे सम्बन्धित सभी बातों का परिचय कराने वाला होना चाहिए।

(घ) सत्त्ववान—रोगी धैर्य और उत्साहवान होना चाहिए, चंचल एवं अस्थिर मन वाला रोगी भटक जाता है। इन चार गुणों से संपन्न व्यक्ति अपने में रहे हुए रोग की चिकित्सा करा सकता है।

वास्तव में देखा जाए तो जो शरीर में उत्पन्न होने वाले रोग हैं, वे सब द्रव्यरोग हैं। उपर्युक्त चिकित्सा द्रव्यरोगों की ही बताई गई है। स्मरण रहे द्रव्य-रोग औदारिक शरीरियों को ही होते हैं, वैक्रिय और आहारक शरीरियों को द्रव्यरोग नहीं होते। उपर्युक्त चार प्रकार द्रव्य-रोग के ही बताए गए हैं, इस तरह उपचार चार प्रकार का होता है।

द्रव्य-रोग के अस्तित्व से भाव-रोग भी बढ़ने लगते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और प्रमाद ये भाव-रोग हैं। इनसे ही कर्म-व्याधियां उत्पन्न होती हैं और वृद्धि पाती हैं। उस भाव-रोग को निर्मूल एवं उपशान्त करने के लिए चार अंगों का होना अनिवार्य है। बंध और बंध के हेतुओं से मुक्त होने का इच्छुक मुमुक्षु आतुर के तुल्य है, सद्गुरु वैद्य के समान है, रत्नत्रय की आराधना सर्वोच्च औषधि है, अप्रमत्त संयमी परिचारक के तुल्य है। मोह रूप बीमारी के हटाने के लिए या मोह को उपशान्त करने के लिए आठ तरीके हैं, जैसे कि—

निव्विगइ निव्वलोमे तव उद्धट्ठाणमेव उब्भामे।
वेयावच्चाहिडण मंडलि कप्पट्ठियाहरणं॥

अर्थात् निव्वी, आयंबिल आदि तप करना, अरस-विरस आदि निर्बल आहार करना, ऊनोदरी तप करना, कायोत्सर्ग करके खड़े रहना, निर्दोष भिक्षा के लिए परिभ्रमण करना, संयमी जनों की वैयावृत्य करना, नवकल्पी विहार करना, शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन करना, यह मोह-शान्ति के आठ साधन हैं। इन साधनों का प्रयोग करने से साधक को मोह-रोग पीड़ित नहीं कर सकता।

चिकित्सक, पुरुष और व्रण-भेद

मूल—चत्तारि तिगिच्छगा पण्णत्ता, तं जहा—आयतिगिच्छए नाममेगे णो परतिगिच्छए, परतिगिच्छए नाममेगे ०४ ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—वणकरे णाममेगे नो वणपरिमासी, वणपरिमासी नाममेगे णो वणकरे, एगे वणकरेवि वणपरिमासीवि, एगे णो वणकरे णो वणपरिमासी।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—वणकरे नाममेगे णो वणसारक्खी ०४ ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—वणकरे णाममेगे णो वणसंरोही ०४। चत्तारि वणा पण्णत्ता, तं जहा—अंतो सल्ले नाममेगे णो बाहिं सल्ले ०४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—अंतोसल्ले णाममेगे णो बाहिंसल्ले ०४।

चत्तारि वणा पण्णत्ता, तं जहा—अंतो दुट्ठे नामं एगे णो बाहिंदुट्ठे, बाहिंदुट्ठे नामं एगे नो अंतो ०४।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—अंतो दुट्ठे नाममेगे नो बाहिं दुट्ठे ०४ ॥१२७॥

छाया—चत्वारश्चिकित्सकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आत्मचिकित्सको नामैको नो परचिकित्सकः, परचिकित्सको नामैकः ०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—व्रणकरो नामैको नो व्रणपरिमर्शी, व्रणपरिमर्शी नामैको नो व्रणकरः, एको व्रणकरोऽपि व्रणपरिमर्श्यपि, एको नो व्रणकरो नो व्रणपरिमर्शी।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—व्रणकरो नामैको नो व्रणसंरक्षी ०४ ।

चत्वारि पुरुषजातानि, प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—व्रणकरो नामैको नो व्रणसंरोही ०४।

चत्वारो व्रणाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अन्तःशल्यो नामैको नो बहिः शल्यः ०४।

एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—अन्तःशल्यो नामैको नो बहिःशल्यः ०४ ।

चत्वारो व्रणाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अन्तर्दुष्टो नामैको नो बहिर्दुष्टः, बहिर्दुष्टो नामैको नोऽन्तः ०४ ।

एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—अन्तर्दुष्टो नामैको नो बहिर्दुष्टः ०४ ।

शब्दार्थ—चत्तारि तिगिच्छगा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के चिकित्सा करने वाले कहे गए हैं, जैसे, **आयतिगिच्छए नाममेगे णो परतिगिच्छए**—एक पुरुष अपनी चिकित्सा करने वाला तो है, परन्तु दूसरे की चिकित्सा नही कर सकता, **परतिगिच्छए नाममेगे०**—एक पुरुष दूसरे की चिकित्सा करने वाला है, परन्तु अपनी चिकित्सा नहीं कर सकता, (शेष दो चतुर्भंगियों की कल्पना इस प्रकार कीजिए—एक पुरुष अपनी चिकित्सा भी करता है, अन्य की चिकित्सा भी, एक पुरुष न अपनी चिकित्सा करता है न अन्य की)।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे, **वणकरे णाममेगे नो वणपरिमासी**—एक पुरुष व्रण करने वाला तो है, परन्तु पुनः-पुनः संस्मरण पूर्वक स्पर्श करने वाला नहीं है, **वणपरिमासी नाममेगे णो वणकरे**—एक पुरुष व्रण का पुनः-पुनः संस्मरण पूर्वक स्पर्श करने वाला तो है, किन्तु व्रण करने वाला नहीं है, **एगे वणकरेवि वणपरिमासीवि**—एक व्रण करने वाला भी है और पुनः-पुनः संस्मरणपूर्वक स्पर्श करने वाला भी है, **एगे नो वणकरे नो वणपरिमासी**—एक न व्रण करने वाला है और न पुनः-पुनः संस्मरण कर स्पर्श करने वाला है।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे, **वणकरे नाममेगे णो वणसारक्खी ०४** —एक व्रण करने वाला तो है, किन्तु व्रण-संरक्षी नहीं है। चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे, **वणकरे नामएगे णो वणसंरोही ०४**—एक पुरुष व्रण करने वाला है, किन्तु व्रण को रोपण अर्थात् भरने वाला नहीं है। चतुर्भंगी समझ लेनी चाहिए।

चत्तारि वणा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के व्रण हैं, जैसे, **अंतोसल्ले णाममेगे नो बाहिंसल्ले**—एक व्रण ऐसा है जिसके अन्दर शल्य है, किन्तु बाहर शल्य नहीं। चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

एवामेव—इसी प्रकार, **चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे, **अंतोसल्ले णाममेगे णो बाहिंसल्ले**—एक पुरुष ऐसा है जिसके अन्तर में शल्य—अनालोचित रूप अतिचार है, किन्तु बाहिर शल्य नहीं होता। शेष तीनों भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चत्तारि वणा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के व्रण हैं, जैसे, **अंतोदुट्ठे नामं एगे णो बाहिंदुट्ठे**—एक व्रण ऐसा है जिसके अन्दर दोष है, किन्तु बाहिर नहीं दिखता। **बाहिंदुट्ठे नामं एगे नो अंतो**—एक व्रण बाहिर से दूषित होता है, किन्तु अन्दर से दोष-मुक्त होता है।

एवामेव—ऐसे ही, **चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार के पुरुष हैं, जैसे, **अंतोदुट्ठे नाममेगे नो बाहिंदुट्ठे०४**—एक अन्तर में माया आदि होने से दुष्ट है, किन्तु बाहिर आकृति से दुष्ट नहीं होता। चतुर्भंगी की कल्पना कर लेनी चाहिए।

मूलार्थ—चार प्रकार के चिकित्सक कहे गए हैं, जैसे—एक चिकित्सक अपनी चिकित्सा करने वाला है, परन्तु दूसरे की चिकित्सा नहीं कर पाता। एक दूसरे की चिकित्सा करने वाला है, परन्तु अपनी चिकित्सा नहीं कर सकता। चतुर्भंगी स्वयं ही समझ लेनी चाहिए।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक पुरुष व्रण करने वाला तो है, परन्तु

उसे धोने, शुद्ध करने आदि के लिए होने वाले स्पर्श को नहीं करता, एक व्रण को धोने आदि की क्रियाओं का स्पर्श करने वाला है, परन्तु व्रण करने वाला नहीं होता। एक व्रण भी करता है और धोने आदि की क्रिया भी करता है। एक न व्रण करता है और न धोने आदि की क्रिया ही करता है।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं जैसे—एक व्रण करने वाला है, किन्तु उसका संरक्षण-संभाल आदि नहीं करता। इसकी भी चतुर्भंगी जान लेनी चाहिए।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक व्रण करने वाला तो है, किन्तु उसे औषध आदि से भरने वाला नहीं है। इसकी भी चतुर्भंगी जान लेनी चाहिए।

चार प्रकार के व्रण कथन किए गए हैं, जैसे—एक व्रण ऐसा है जिसके अन्तर में अदृश्य रूप से शल्य है, किन्तु वह शल्य बाहिर से दिखाई नहीं देता। इसकी भी चतुर्भंगी जान लेनी चाहिए। इसी प्रकार चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक पुरुष वह है जिसके अन्दर माया आदि शल्य होते हैं, किन्तु बाह्यरूप से कोई शल्य—कपट आदि प्रतीत नहीं होता। इसकी भी चतुर्भंगी समझनी चाहिए।

चार प्रकार के व्रण और भी हैं, जैसे—एक व्रण अन्दर से सदोष होता है, किन्तु बाहिर से दूषित नहीं दिखाई देता। एक बाहिर से सदोष होता है, किन्तु अन्दर से दोषयुक्त नहीं होता। इसकी भी चतुर्भंगी जाननी चाहिए।

इसी प्रकार चार तरह के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक छल-कपट आदि के कारण अन्दर से दुष्ट होता है, किन्तु मृदु भाषणादि के कारण बाहिर से दुष्ट नहीं होता। इसकी भी चतुर्भंगी जान लेनी चाहिए।

विवेचनिका--पूर्व सूत्र में व्याधि और चिकित्सा के भेदोपभेदों का वर्णन किया गया है, प्रस्तुत सूत्र में भी उसी विषय से सम्बद्ध व्रण एवं उनके उपचार करने वालों का तथा उनके माध्यम से मानववृत्तियों का विश्लेषण किया जा रहा है।

१. वैद्य चार प्रकार के होते हैं:—

(क) एक ऐसा वैद्य है जो अपनी चिकित्सा तो कर सकता है, दूसरों की नहीं।

(ख) एक ऐसा वैद्य है जो दूसरों की चिकित्सा कर सकता है, अपनी नहीं।

(ग) ऐसे भी वैद्य होते हैं जो अपनी चिकित्सा भी कर सकते हैं और दूसरों की भी।

(घ) कुछ वैद्य ऐसे भी होते हैं जो न तो अपनी चिकित्सा कर सकते हैं और न दूसरों की। ये केवल नाम मात्र के ही वैद्य होते हैं।

उपर्युक्त रूप उन चिकित्सकों के बताए गए हैं जो शारीरिक रोगों की चिकित्सा करते हैं, किन्तु भावजगत् के रोगों की चिकित्सा ये नहीं कर सकते। भाव-जगत् के रोगों की

चिकित्सा करने वाले आध्यात्मिक नेता, महापुरुष महात्मा जन हुआ करते हैं, जो साधक के दु:ख, शोक, पीड़ा, मोह, ममता, क्रोध एवं मान आदि रोगों को दूर करते हैं। उनके भी चार ही रूप हो सकते हैं:—

(क) कुछ साधु-पुरुष ऐसे होते हैं, जो अपना उद्धार करने के प्रयास तो करते हैं, दूसरों के उद्धार का प्रयास नहीं करते।

(ख) कुछ साधु-पुरुष दूसरों के उद्धार करने में लीन रहते हैं, उन्हें आत्मोद्धार की चिन्ता नहीं होती।

(ग) ऐसे भी साधु-पुरुष होते हैं जो आत्मोद्धार भी करते हैं और संसार को भी तार देते हैं।

(घ) ऐसे साधु-वेषधारी भी होते हैं जो न अपना उद्धार करते हैं और न ही संसार का उद्धार करते हैं। "**उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः**" वाले साधु इसी कोटि में आते हैं।

२. पुनः चिकित्सक चार प्रकार के होते हैं:—

(क) कुछ वैद्य आप्रेशन के रूप में घाव तो करते हैं, किन्तु उसे अच्छी तरह साफ नहीं करते।

(ख) कुछ वैद्य ऐसे भी होते हैं जो अन्य वैद्यों के द्वारा किए हुए घावों को साफ तो कर देते हैं, किन्तु स्वयं घाव नहीं करते।

(ग) कुछ वैद्य ऐसे भी होते हैं जो स्वयं ही घाव करते हैं और स्वयमेव उसे साफ भी करते हैं।

(घ) कुछ वैद्य न स्वयं घाव ही करते हैं और न ही उसे साफ ही करते हैं। शल्य चिकित्सक नहीं केवल औषधि चिकित्सक होते हैं।

३. वैद्य की तरह साधक भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि:—

(क) कुछ साधक व्रतों में अतिचार तो लगा लेते हैं, किन्तु स्मृति के द्वारा उसे स्पर्श नहीं करते अर्थात् पश्चात्ताप नहीं करते हैं।

(ख) कुछ साधक पूर्वकृत अतिचारों का स्मरण तो करते हैं, किन्तु वर्तमान में अपने व्रतों में अतिचार नहीं लगने देते।

(ग) कुछ साधक पुनः-पुनः अतिचार भी लगाते हैं और उनका पुनः-पुनः स्मृति से स्पर्श भी करते हैं।

(घ) कुछ साधक ऐसे भी होते हैं जो न तो अतिचार ही लगाते हैं और न पूर्वकृत दोषों का स्मरण ही करते हैं।

व्रतों को दोष लगाना उन्हें क्षत-विक्षत करने जैसा ही है। जो-जो दोष लगाए हैं उनका शुभ स्मृति के द्वारा क्षालन करना, उनका आलोचना, निन्दना, गर्हणा आदि से निराकरण करना ही व्रणपरिमर्शन कहलाता है। लगाए हुए अतिचार याद रखने चाहिएं, तभी उनकी

निन्दना, गर्हणा एवं आलोचना हो सकेगी। पहले भंग में आने वाले साधक दोषों का सेवन करते हैं, किन्तु उन्हें स्मरण से पुनः-पुनः स्पर्श नहीं करते अर्थात् निन्दा-गर्हा आदि द्वारा पश्चात्ताप भी नहीं करते हैं। दूसरे भंग में अप्रमत्तसंयत, तीसरे भंग में स्थविर और चौथे में अप्रमत्त नवदीक्षित रखे गए हैं।

इस चौभंगी को एक दूसरे रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है—

(क) कुछ लोग दूसरों के मन में भेद अर्थात् द्वेष उत्पन्न कर देते हैं, किन्तु उसे दूर करने का प्रयत्न नहीं करते।

(ख) कुछ लोग दूसरों के द्वारा किए हुए मनमुटावों को मिटाते हैं, किन्तु स्वयं मन-मुटाव पैदा नहीं करते।

(ग) कुछ लोग मनः-भेद पैदा भी करते हैं और उसे मिटाने का भी प्रयत्न करते हैं।

(घ) कुछ लोग न मनः-भेद पैदा करते हैं और न किसी के मत-भेद को मिटाने का प्रयास करते हैं।

४. चार प्रकार के वैद्य होते हैं—

(क) एक ऑप्रेशन से घाव तो करता है किन्तु मरहम पट्टी से उस घाव की रक्षा नहीं करता।

(ख) एक मरहम पट्टी से घाव की रक्षा तो करता है, किन्तु स्वयं ऑप्रेशन नहीं करता।

(ग) एक स्वयं ऑप्रेशन भी करता है और उस घाव पर मरहम पट्टी से उसकी रक्षा भी करता है।

(घ) एक न घाव करता है और न मरहम पट्टी ही करता है।

५. वैद्य की तरह साधक भी चार तरह के होते हैं, जैसे कि—

(क) कुछ साधक दूसरों को दोषों से बचने की शिक्षा देते हैं, किन्तु दोष के कारणों से उनकी रक्षा नहीं करते।

(ख) कुछ साधक दोष के कारणों से शिष्य की रक्षा तो करते हैं, किन्तु दोषों से बचने की शिक्षा नहीं देते।

(ग) कुछ साधक दूसरों को दोषों से बचने की शिक्षा भी देते हैं और कुसंगति से शिष्य की रक्षा भी करते हैं।

(घ) कुछ साधक शिष्यों को दोषों से बचने की न शिक्षा ही देते हैं और न कुसंगति से उन्हें बचाते ही हैं।

६. पुनः चार प्रकार के वैद्य होते हैं—

(क) कोई वैद्य व्रणकर होता है किन्तु उस घाव को भरने के लिए औषधि नहीं देता।

(ख) कोई वैद्य घाव भरने के लिए औषधि तो देता है, किन्तु स्वयं घाव नहीं करता।

(ग) कोई वैद्य व्रणकर भी होता है और औषधि भी देता है।

(घ) कोई वैद्य न व्रणकर ही होता है और न घाव भरने के लिए औषधि ही देता है। इस भंग में भी व्रण का अर्थ ऑप्रेशन ही करना चाहिए।

७. वैद्य की तरह साधना-पथ के पथिक भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे कि—

(क) एक वह साधक है जो दोष सेवन भी करता है, परन्तु उसकी निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त नहीं करता है।

(ख) एक वह साधक है जो पूर्वकृत दोषों का प्रायश्चित्त कर लेता है, किन्तु पुनः उन व्रतों में दोष नहीं लगने देता।

(ग) एक वह साधक है जो व्रतों में दोष भी लगाता है और उसका प्रायश्चित्त भी करता है।

(घ) एक वह अप्रमत्त साधक होता है जो न तो व्रतों को दोष ही लगने देता है और न प्रायश्चित्त ही करता है।

अथवा

(क) कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो दूसरों की हानि तो करते हैं, किन्तु हानि की पूर्ति नहीं करते।

(ख) कुछ ऐसे भी व्यक्ति हुआ करते हैं जो किसी की हानि की पूर्ति तो करते हैं, किन्तु किसी की हानि नहीं करते।

(ग) कुछ ऐसे लोग भी देखे जाते हैं जो दूसरों की हानि भी करते हैं और समयान्तर में हानि की पूर्ति भी कर दिया करते हैं।

(घ) कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो न तो किसी की हानि करते हैं, न हर्जाना ही भरते हैं।

जिस प्रकार द्रव्य व्रण अर्थात् शारीरिक घाव शरीर की सुन्दरता का नाश करता है और शरीर को बेचैन कर देता है, उसी प्रकार भाव-व्रण आत्म-विकास का प्रतिबंधक होता है और दुर्गतियों में पहुंचाकर बेचैन करने वाला होता है, अतः इसे दूर करके ही आत्मा को वास्तविक शान्ति प्राप्त हो सकती है।

व्रण अर्थात् घाव दो तरह के होते हैं—बाहरी कारण से होने वाला घाव और किसी आन्तरिक विकार से उत्पन्न होने वाला घाव। जब शरीर के किसी भी अंग में सुई, कांटे, नुकीले पत्थर, कांच एवं अन्य नुकीले पदार्थ गडकर घाव उत्पन्न कर देते हैं, तो ऐसे ही घाव को 'शल्य-जन्य घाव' कहा जाता है। दूसरे प्रकार के वे घाव होते हैं जो शारीरिक विकृतियों के कारण फोड़े-फुंसी आदि के रूप में फूटकर घाव का रूप धारण कर लेते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में प्रथम घाव के कारणरूप शल्य के चार भेद उपस्थित करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

(क) कुछ घावों में शल्य भीतर होता है, पर बाहर दिखाई नहीं देता।

(ख) कुछ घावों में शल्य बाहरी सतह पर ही होता है, भीतर नहीं होता।

(ग) कुछ घावों में शल्य बाहर दिखाई भी देता है और भीतर गहराई तक धंसा भी रहता है।

(घ) कुछ घावों में शल्य न बाहर होता है और न ही भीतर, केवल शल्य-जन्य घाव ही होता है।

फोड़ों में एक प्रकार की सफेद कील सी हुआ करती है, जो मवाद के सूखने से फोड़े के केन्द्र में बन जाया करती है उसे भी शरीर-शास्त्र की भाषा में शल्य ही कहा जाता है। यह शल्य आन्तरिक कारण से ही उत्पन्न होता है। हो सकता है शास्त्रकार ने इस शल्य को लक्ष्य में रखकर उपर्युक्त चतुर्भंगी उपस्थित की हो।

उपर्युक्त विवेचन का लक्ष्य द्रव्य-शल्य ही रहा है जिसका सम्बन्ध शरीर से है मन से नहीं। परन्तु शल्य का अर्थ 'चुभन' भी होता है। भाव-शल्य के पक्ष की ओर भी इस चतुर्भंगी का लक्ष्य हो सकता है। भावशल्य तीन माने गए हैं—

मायाशल्य—अर्थात् सत्य से भटककर धोखाधड़ी करना एवं अनेक प्रकार के षड्यन्त्र रचना।

निदानशल्य—अर्थात् अपने तप, संयम, एवं साधना के बदले में सांसारिक भोगैश्वर्यों की कामना करना।

मिथ्यादर्शनशल्य—अर्थात् असत्-दृष्टि होना, सत्यमार्ग का परित्याग करना। जैसे कांटा पैर में गड़कर अपनी चुभन से शरीर को कष्ट देता रहता है इसी प्रकार उपर्युक्त तीनों शल्य भी भावजगत् में रहकर मनुष्य को मानसिक पीड़ा देते रहते हैं। इसी को लोक-भाषा में 'दिल के घाव' कहा जाता है। ये भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ लोगों के दिल में घाव होते हैं, पर वे प्रकट नहीं करते।

(ख) कुछ लोगों के दिल में घाव नहीं होते, परन्तु वे उन्हें प्रकट करते हैं, अर्थात् ऐसी बातचीत करते हैं जिससे प्रकट होता है कि उनके हृदय में अत्यन्त गहरी वेदना है।

(ग) कुछ लोगों के दिल में भी घाव होते हैं, और उनकी वाणी द्वारा वे बाहर भी प्रकट होते हैं, अर्थात् उनकी आकृति पर दिल के दर्द की रेखाएं उभर आती हैं।

(घ) कुछ लोगों के न दिल में घाव होते हैं और न ही वे उन्हें बनावटी रूप में प्रकट करते हैं।

शरीर की आन्तरिक विकृतियों के कारण होने वाले घाव भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ घाव भीतर से दुष्ट अर्थात् सड़े-गले होते हैं, परन्तु बाहर से सड़े-गले प्रतीत नहीं होते।

(ख) कुछ घाव बाहर से सड़े-गले प्रतीत होते हैं, परन्तु उनका भीतरी भाग सड़ा-गला नहीं होता।

(ग) कुछ घाव बाहर से भी सड़े-गले होते हैं और भीतर से भी सड़े-गले हुआ करते हैं।

(घ) कुछ घाव सामान्य होते है, अतः न बाहर से ही विकृत होते है और न भीतर से ही।

घाव की तरह मनुष्य भी चार प्रकार के होते है—

(क) कुछ व्यक्ति मन से दुष्ट होते है, पर दिखने में सौम्य प्रतीत होते हैं।

(ख) कुछ व्यक्ति मन से दुष्ट नही होते, परन्तु आकृति एव वाणी से दुष्ट प्रतीत होते हैं।

(ग) कुछ व्यक्ति मन से भी दुष्ट होते है और आकृति, वाणी एवं व्यवहार से भी दुष्ट हुआ करते हैं।

(घ) कुछ व्यक्ति न मानसिक रूप से दुष्ट होते हैं और न बाह्यदृष्टि से ही दुष्ट हुआ करते हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने आध्यात्मिक, शारीरिक एवं व्यावहारिक सभी दृष्टिकोणों से मानवता की सुन्दर परख की है। अन्तिम चतुर्भंगी में तो मानो समस्त नीति-शास्त्र का सार ही संजो दिया गया है।

श्रेय और पाप-दृष्टि से पुरुष-भेद

मूल—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—सेयंसे णाममेगे सेयंसे, सेयंसे णाममेगे पावंसे, पावंसे णाममेगे सेयंसे, पावंसे णाममेगे पावंसे।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—सेयंसे णाममेगे सेयंसेत्ति सालिसए, सेयंसे णाममेगे पावंसेत्ति सालिसए ०४ ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—सेयंसेत्ति णाममेगे सेयंसेत्ति मण्णति, सेयंसेत्ति णाममेगे पावंसेत्ति मण्णति ०४ ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—सेयंसे णाममेगे सेयंसेत्ति सालिसए मन्नति, सेयंसे णाममेगे पावंसेत्ति सालिसए मन्नति ०४ ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—आघवइत्ता णाममेगे णो परिभावइत्ता, परिभावइत्ता णाममेगे णो आघवइत्ता ०४ ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—आघवइत्ता णाममेगे नो उंछजीविसंपन्ने, उंछजीविसंपन्ने णाममेगे णो आघवइत्ता ०४ ।

चउव्विहा रुक्खविगुव्वणा पण्णत्ता, तं जहा—पवालत्ताए, पत्तत्ताए, पुप्फत्ताए, फलत्ताए॥१२८॥

छाया—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—श्रेयान् नामैकः श्रेयान्, श्रेयान् नामैकः पापीयान्, पापीयान् नामैकः श्रेयान्, पापीयान् नामैकः पापीयान्।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—श्रेयान् नामैकः श्रेयानिति सदृशकः, श्रेयान् नामैकः पापीयान् सदृशकः ०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—श्रेयानिति नामैकः श्रेयानिति मन्यते, श्रेयानिति नामैकः पापीयानिति मन्यते ०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—श्रेयान् नामैकः श्रेयानिति सदृशको मन्यते, श्रेयान् नामैकः पापीयानिति सदृशको मन्यते ०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आख्यायको नामैको नो प्रतिभावयिता, प्रतिभावयिता नामैको नो आख्यायकः ०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आख्यायको नामैको नो उञ्छजीविका-सम्पन्नः, उञ्छजीविकासम्पन्नो नामैको नो आख्यायकः ०४।

चतुर्विधा वृक्षविक्रिया प्रज्ञप्ता, तद्यथा—प्रवालतया, पत्रतया, पुष्पतया, फलतया।

शब्दार्थ—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे, सेयंसे णाममेगे सेयंसे—एक पुरुष सम्यग्ज्ञानवान होने के कारण प्रशंसनीय है और सदनुष्ठानवान होने से भी प्रशंसनीय है, सेयंसे नाममेगे पावंसे—एक पुरुष सद्बोध के कारण प्रशंसनीय है, परन्तु दुष्ट अनुष्ठान के कारण वही पापात्मा है, पावंसे णामं एगे सेयंसे—एक पुरुष मिथ्यात्वादि के कारण वस्तुतः पापात्मा है, परन्तु किसी कारणवश दिखावे के लिए सदनुष्ठान करने से वही प्रशंसनीय भी है, पावंसे णाममेगे पावंसे—एक मिथ्यात्वादि से युक्त होने के कारण पापात्मा है और दुष्टानुष्ठान से वह पुरुष पापात्मा भी है।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष हैं, जैसे, सेयंसे णाममेगे सेयंसेत्ति सालिसए—एक पुरुष सद्भाव के कारण प्रशंसनीय है और अपूर्ण सदनुष्ठान के कारण प्रशंसनीय के समान है, सेयंसे णाममेगे पावंसेत्ति सालिसए ०४—एक पुरुष सद्बोध के कारण प्रशंसनीय है परन्तु अपूर्ण दुष्टानुष्ठान के कारण पापात्मा के तुल्य है। शेष दो भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष हैं, जैसे, सेयंसेत्ति णाममेगे सेयंसेत्ति मण्णति—एक पुरुष वस्तुतः प्रशंसनीय है और जनता द्वारा भी प्रशंसनीय माना जाता है, सेयंसेत्ति णाममेगे पावंसेत्ति ०४—एक पुरुष वस्तुतः प्रशंसनीय है, परन्तु

जनता द्वारा पापात्मा समझा जाता है। चतुर्भंगी की कल्पना कीजिए।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—सेयंसे णाममेगे सेयंसेत्ति सालिसए मन्नति— एक पुरुष वस्तुतः प्रशंसनीय है और लोगों द्वारा भी प्रशंसनीय तुल्य समझा जाता है। **सेयंसे णाममेगे पावंसेत्ति सालिसए मन्नति ०४**—एक पुरुष वस्तुतः प्रशंसनीय है, परन्तु लोगों द्वारा पापात्मा सदृश समझा जाता है ०४। चतुर्भंगी की कल्पना कीजिए।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष हैं, जैसे, **आघवइत्ता णाममेगे णो परिभावइत्ता**—एक पुरुष सिद्धान्त का व्याख्याता तो है, परन्तु प्रभावना करने वाला नहीं है, **परिभावइत्ता णाममेगे णो आघवइत्ता**—एक सिद्धान्त की प्रभावना करने वाला तो है, परन्तु उसका व्याख्यान करने वाला नहीं है। शेष दो भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे, **आघवइत्ता णाममेगे नो उंछजीविसंपन्ने**—एक सिद्धान्त का व्याख्यान करने वाला है, किन्तु उञ्छजीविका-एषणादि समितियों से सम्पन्न नहीं है, **उंछजीविसंपन्ने णाममेगे णो आघवइत्ता**—एक उञ्छजीविका संपन्न है, किन्तु सिद्धान्त का व्याख्यान करने वाला नहीं है। चतुर्भंगी की कल्पना कीजिए।

चउव्विहा रुक्खविगुव्वणा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार की वृक्ष विक्रियाएं कही गयी हैं, जैसे, **पवालत्ताए**—नवांकुर रूप से, **पत्तत्ताए**—पत्र रूप से, **पुप्फत्ताए**—पुष्प रूप से और, **फलत्ताए**—फल रूप से।

मूलार्थ—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक पुरुष सद्भाव की अपेक्षा श्रेष्ठ है और सच्चरित्रता से भी श्रेष्ठ है। एक सद्भाव की अपेक्षा श्रेष्ठ है, परन्तु दुश्चरित्रता की अपेक्षा पापात्मा है, एक असद्भाव की अपेक्षा पापात्मा है, किन्तु सच्चरित्रता की अपेक्षा श्रेष्ठ है, एक असद्भाव और दुश्चरित्रता दोनों की अपेक्षा से पापात्मा है।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक पुरुष भाव की अपेक्षा से श्रेष्ठ है, परन्तु द्रव्य की अपेक्षा से सर्वथा श्रेष्ठ नहीं है, श्रेष्ठ के तुल्य है। एक पुरुष भाव से श्रेष्ठ है, द्रव्य से पापात्मा के समान है। शेष दो भंग समझ लेने चाहिएं।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक पुरुष स्वयं श्रेष्ठ है और लोगों द्वारा भी श्रेष्ठ ही माना जाता है, एक पुरुष वस्तुतः श्रेष्ठ होता है, किन्तु लोगों द्वारा पापात्मा माना जाता है। शेष दो रूपों को भी इसी तरह समझ लेना चाहिए।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक पुरुष वस्तुतः श्रेष्ठ होता है, परन्तु लोगों द्वारा श्रेष्ठ के तुल्य माना जाता है, एक पुरुष श्रेष्ठ होता है, परन्तु लोगों द्वारा

पापात्मा के समान माना जाता है। यहां भी शेष दो चतुर्भंगियो की कल्पना कीजिए।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक सिद्धान्त की व्याख्या करने वाला तो होता है, किन्तु प्रभावना करने वाला नही, एक प्रभावना करने वाला होता है, किन्तु सिद्धान्त की व्याख्या करने वाला नहीं होता। शेष दो भंगों की कल्पना भी कीजिए।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—एक सिद्धान्त की व्याख्या करने वाला तो है, परन्तु एषणादि समितियों से युक्त नहीं होता, एक एषणादि समितियों से युक्त होता है, परन्तु सिद्धान्त की व्याख्या करने वाला नहीं होता। शेष दो भग समझ लेने चाहिएं।

वृक्ष-विक्रिया चार प्रकार की प्रतिपादित की गयी है, जैसे—नवांकुररूप, पत्ररूप, पुष्परूप और फलरूप।

विवेचनिका—(विष-दंशादि से मृत्यु पाप के ही कारण होती है और विष-दंश क्रिया से पुण्यात्मा ही मुक्त रहते हैं)। पापात्माओं और पुण्यात्माओं के भी अनेक रूप होते है, अत: शास्त्रकार अब पुण्यात्मा एव पापात्मा की विवेचना करते हैं। सम्यग्दृष्टि के लिए समस्त विश्व शिक्षणालय एव प्रयोगशाला है। वह विश्व के अणु-अणु से शिक्षा प्राप्त करता है। उसे सब ओर गुण ही गुण दिखाई देते हैं, अवगुणो की ओर से तो वह सदा उदासीन ही रहता है। इससे विपरीत एकान्त मिथ्यादृष्टि स्वय को छोडकर अन्यत्र सब ओर अवगुण ही अवगुण देखते है। उसे वीतराग की वाणी के प्रकाश मे भी अधेरा दिखाई देता है, वह अपने अवगुणो को भी गुण ही सिद्ध करता है, इतना ही नही वह शास्त्रों के अर्थ का अनर्थ करके अपने अवगुणो पर भी गुणो का मुलम्मा चढाता है।

यद्यपि जीवन श्रेय और प्रेय दोनो पर निर्भर है, परन्तु प्रेय सद् अनुष्ठान द्वारा ही प्राप्त होना चाहिए, शुभ क्रियाओ द्वारा प्रेय-प्राप्ति को ही प्रशंसनीय माना गया है। जीवन-व्याख्याता शास्त्रकार अब इसी दृष्टिकोण से व्यक्ति के चार रूप उपस्थित करते हैं—

(क) एक व्यक्ति शुभ कर्मों के उदय से भी श्रेष्ठ है और शुभ क्रिया करने से भी श्रेष्ठ है।

(ख) एक व्यक्ति शुभ कर्मो के उदय से तो श्रेष्ठ है, किन्तु अशुभ क्रिया करने से पापी है।

(ग) एक व्यक्ति पाप कर्मों के उदय से पुण्यहीन है, किन्तु शुभ क्रिया करने से श्रेष्ठ है।

(घ) एक व्यक्ति पाप-कर्मों के उदय से भी पापी है और पाप-क्रिया करने से भी पापी है।

अथवा—

(क) एक व्यक्ति गृहस्थ-जीवन में श्रेष्ठ है और साधु जीवन में भी श्रेष्ठ है।

(ख) एक व्यक्ति गृहस्थ-जीवन में तो श्रेष्ठ है और साधु जीवन में निन्दनीय है।

(ग) एक व्यक्ति गृहस्थ-जीवन में तो श्रेष्ठ नहीं रहा, किन्तु साधु-जीवन में श्रेष्ठ हो जाता है।

(घ) एक व्यक्ति न गृहस्थ-जीवन में श्रेष्ठ था और न साधु-जीवन में श्रेष्ठता प्राप्त कर पाता है।

अथवा—

(क) एक व्यक्ति पहले भी सन्तों के द्वारा प्रशंसनीय था और अब भी प्रशंसनीय है।

(ख) एक व्यक्ति पहले तो प्रशंसनीय था, किन्तु अब वह निन्दनीय बन गया है।

(ग) एक व्यक्ति पहले तो निन्दनीय था, किन्तु अब वह प्रशंसनीय बन गया है।

(घ) एक व्यक्ति पहले भी निन्दनीय था और अब भी निन्दनीय ही है।

भावना और द्रव्य की दृष्टि से भी पुरुष चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक पुरुष भावना की दृष्टि से तो श्रेष्ठ है, किन्तु द्रव्य से सर्वथा श्रेष्ठ तो नहीं, परन्तु श्रेष्ठ जैसा लगता है।

(ख) एक पुरुष भाव से श्रेष्ठ है, किन्तु द्रव्य से सर्वथा पापी तो नहीं, परन्तु पापी जैसा ही लगता है।

(ग) एक पुरुष भावना की दृष्टि से तो पापी है, किन्तु द्रव्य से सर्वथा श्रेष्ठ नहीं, श्रेष्ठ जैसा ही लगता है।

(घ) एक पुरुष भाव से भी पापी है और द्रव्य से पापी न होता हुआ भी पापी जैसा लगता है।

यह सब कथन द्रव्य और भाव की दृष्टि से किया गया है। सालिसए—शब्द का संस्कृत रूप सदृशकः बनता है। जिसका अर्थ होता है—किसी अन्य श्रेष्ठ के तुल्य। सर्वथा तुल्य नहीं, अतएव इस अपेक्षाकृत पापी के तुल्य है न कि सर्वथा पापी के तुल्य।

चार प्रकार के पुरुष होते हैं—

(क) एक पुरुष सद्गुणों से श्रेष्ठ है और दूसरों के द्वारा भी वह श्रेष्ठ ही माना जाता है।

(ख) एक पुरुष सद्गुणों से श्रेष्ठ होने पर भी दूसरों के द्वारा श्रेष्ठ नहीं माना जाता।

(ग) एक पुरुष सच्चरित्री न होने पर पर भी लोगों के द्वारा वह श्रेष्ठ ही माना जाता है।

(घ) एक पुरुष न सच्चरित्री ही है और न लोगों के द्वारा श्रेष्ठ ही माना जाता है।

अथवा—

(क) एक पुरुष श्रेष्ठ है और अपने आपको श्रेष्ठ ही मानता है। ऐसे पुरुष स्वाभिमानी होते हैं, परन्तु उनमें अहं का अंश आ जाता है।

(ख) एक पुरुष श्रेष्ठ होने पर भी अपने आपको श्रेष्ठ नहीं मानता, सम्यक्दृष्टि साधु-पुरुष इसी कोटि में आते हैं।

(ग) एक पुरुष अधम एवं पापी होते हुए भी अपने को श्रेष्ठ ही मानता है, मिथ्यादृष्टि बगुलाभक्त इसी श्रेणी के व्यक्ति हुआ करते हैं।

(घ) एक पुरुष पापी है और अपने आपको पापी ही मानता है, घातक एवं निम्न प्रकृति के लोग इसी श्रेणी में आते हैं।

आंशिक श्रेष्ठता की दृष्टि से पुरुष चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक पुरुष जितने अंश में श्रेष्ठ है वह अपने आपको उससे भी श्रेष्ठतर मानता है, प्रायः ओछी प्रकृति के व्यक्ति इसी श्रेणी के हुआ करते हैं।

(ख) एक पुरुष जितने अंश में श्रेष्ठ है, उससे भी अपने आपको अधिकतर पापी मानता है, भक्त प्रकृति के वे व्यक्ति जो प्रभु के समक्ष अपना दैन्य व्यक्त करते हैं, प्रायः इसी कोटि के व्यक्ति हुआ करते हैं।

(ग) एक पुरुष जितने अंश में पापी है, उसकी अपेक्षा अपने को श्रेष्ठतर मानता है। पाखण्डी एवं ढोंगी लोग ऐसे ही स्वभाव के हुआ करते हैं।

(घ) एक पुरुष जितने अंश में पापी है, उससे भी अधिक अपने आपको पापी मानता है। चरित्रहीन एवं अक्खड़ स्वभाव के व्यक्तियों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

प्रवचन और प्रभाव की दृष्टि से भी पुरुष चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ लोग प्रवचनकार होते हैं, परन्तु श्रोताओं पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते।

(ख) कुछ लोग प्रभावशील होते हैं, परन्तु प्रवचनकार नहीं हुआ करते।

(ग) कुछ लोग प्रवचनकार भी होते हैं और जन-मानस पर अपना प्रभाव भी जमा लिया करते हैं।

(घ) कुछ लोग न प्रवचनकार ही होते हैं और न जन-मानस को प्रभावित कर सकने की सामर्थ्य ही रखते हैं।

श्रेष्ठ ज्ञान होने पर भी क्रिया रहित वक्ता का जनता पर यथोचित प्रभाव नहीं पड़ सकता, इससे सिद्ध होता है कि प्रभावना ज्ञान और क्रिया के द्वारा ही हो सकती है, मोदक आदि वस्तुओं के वितीर्ण करने से नहीं। जिससे श्रोता जिनवाणी से भावित हो जाए उसे प्रभावना कहते हैं। प्रभावक ही प्रभावना कर सकता है। लौकिक दृष्टि से प्रभावना करने वाला भी प्रभावक होता है और लोकोत्तरिक दृष्टि से प्रभावना करने वाला भी प्रभावक होता है।

प्ररूपणा और आहार की दृष्टि से भी चार प्रकार के पुरुष होते हैं—

(क) कुछ ऐसे शास्त्र व्याख्याता होते हैं जो शास्त्र की प्ररूपणा तो शुद्ध करते हैं, किन्तु आपवादिक स्थिति में सदोष आहार भी ग्रहण कर लेते हैं।

(ख) कुछ ऐसे प्ररूपणाकार भी होते हैं जो निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं, किन्तु शास्त्र की प्ररूपणा शुद्ध रूप में नहीं करते हैं।

(ग) कुछ ऐसे भी शास्त्र-व्याख्याता होते हैं जो शास्त्र की प्ररूपणा भी शुद्ध करते हैं और आहार भी निर्दोष ही ग्रहण किया करते हैं।

(घ) कुछ ऐसे अल्पज्ञ व्याख्याता भी होते हैं जो न तो शुद्ध प्ररूपणा ही करते हैं और न ही निर्दोष आहार ही ग्रहण किया करते हैं।

जो शरीर की दुर्बलता के कारण असमर्थ एवं आपत्तिग्रस्त है तथा क्रिया-पालन में शिथिल हो रहा है, ऐसी स्थिति में भी शुद्ध मार्ग की ही प्ररूपणा करता है उसे भी शास्त्रकारों ने सुलभबोधि कहा है। दूसरा व्यक्ति स्वच्छंदाचारी है, तीसरा साधु माना जाता है और चौथा गृहस्थ या असंयत है। इस कथन से ज्ञान और क्रिया का संबन्ध दिखलाया गया है। जो किसी कारणवश क्रिया-पालन में शिथिल होने पर भी प्रवचन की शुद्ध प्ररूपणा कर रहा है वह भी निर्वाण-पथ का पथिक माना जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में विकुर्वणा का जो वर्णन किया गया है, उसका आशय इतना ही है कि जो पुरुष संयम-क्रिया में तत्पर है, यदि उसे वैक्रिय करने की लब्धि प्राप्त हो जाए तो वह मनचाहा रूप धारण कर सकता है और मन-चाहा बाह्य दृश्य दिखा सकता है। यदि वह वैक्रिय लब्धि द्वारा वृक्ष की विकुर्वणा करता है तो जनता को विस्मित करने के लिए चार प्रकार से वृक्ष वैभव दिखा सकता है, कभी वृक्ष को कोंपलों से समृद्ध, कभी पत्तों से, कभी फूलों से और कभी फलों से समृद्ध दिखाने में समर्थ होता है। इतना स्मरण रहे कि विकुर्वणा से बनाया हुआ वृक्ष सचित्त नहीं अचित्त होता है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में भी शास्त्रकार ने लोकनीति और अध्यात्म-नीति का सुन्दर समन्वय करते हुए लोक-स्थिति पर सुन्दर प्रकाश डाला है।

वादी-समूह

मूल—चत्तारि वाइसमोसरणा पण्णत्ता, तं जहा—किरियावाई, अकिरियावाई, अन्नाणियावाई, वेणइयावाई।

णेरइयाणं चत्तारि वाइसमोसरणा पण्णत्ता, तं जहा—किरियावाई जाव वेणइयावाई। एवमसुरकुमाराणवि जाव थणियकुमाराणं एवं विगलिंदियवज्जं जाव वेमाणियाणं॥१२१॥

छाया—चत्वारि वादिसमवसरणानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—क्रियावादिनः,

अक्रियावादिनः, अज्ञानिकवादिनः, वैनयिकवादिनः।

नैरयिकाणां चत्वारि वादिसमवसरणानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—क्रियावादिनो यावत् वैनयिकवादिनः। एवमसुरकुमाराणामपि यावत्स्तनितकुमाराणाम्। एवं विकलेन्द्रियवर्जं यावद् वैमानिकानाम्।

शब्दार्थ—चत्तारि वाइसमोसरणा पण्णत्ता, तं जहा—वादियों के समूह चार होते हैं, जैसे, **किरियावाई**—क्रियावादी अर्थात् जीव-अजीवादि पदार्थ हैं, ऐसी मान्यता वाले। **अकिरियावाई**—अजीवादि पदार्थों को न मानने वाले, **अन्नाणियावाई**—अज्ञान को ही श्रेष्ठ मानने वाले और, **वेणइयावाई**—सबकी विनय करने वाले।

णेरइयाणं चत्तारि वाइसमोसरणा पण्णत्ता, तं जहा—नारकीय जीवों में स्थित वादी पुरुषों के चार समूह कहे गए हैं, जैसे, **किरियावाई जाव वेणइयावाई**—क्रियावादी से लेकर विनयवादी तक पूर्ववत्। **एवमसुरकुमाराणवि जाव थणियकुमाराणं**—इसी तरह असुरकुमारों से लेकर स्तनितकुमारों तक के भी चार वादि-समूह होते हैं, **एवं विगलिंदियवज्जं जाव वेमाणियाणं**—इसी प्रकार विकलेन्द्रिय अर्थात् अपूर्ण इन्द्रिय, एकेन्द्रियादि जीवो को छोडकर वैमानिक देवों तक के भी चार वादि-समूह ही कहे गए हैं।

मूलार्थ—वादी पुरुषों के चार मत अर्थात् समूह प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—क्रियावादी—जीव-अजीव, पुण्य-पापादि पदार्थों की सत्ता मानने वाले आस्तिक। अक्रियावादी—जीव-अजीवादि पदार्थों के अस्तित्व को न मानने वाले नास्तिक। अज्ञानवादी—अज्ञान को ही श्रेष्ठ मानने वाले और विनयवादी—सबकी विनय करने वाले अर्थात् योग्य-अयोग्य का भेद किए बिना सब जीवों की समान रूप से विनय करने वाले।

नारकीय जीवों के भी चार ही वादि-समूह कहे गए हैं, जैसे—क्रियावादी आदि चार पूर्ववत्। इसी प्रकार असुरकुमार देवो से लेकर स्तनितकुमारों तक तथा विकलेन्द्रिय-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों को छोड़कर वैमानिकों के भी उपर्युक्त चार-चार ही वादि-समूह प्रतिपादित किए गए हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में श्रेय एवं पाप की दृष्टि से पुरुष-भेद किया गया है। श्रेय-प्रेय-दृष्टि का आधार मानवीय मान्यताए अर्थात् सिद्धान्त हैं, अतः प्रस्तुत-सूत्र में सिद्धान्त की दृष्टि से वादियों का परिचय दिया गया है।

इस प्रसंग में समवसरण का अर्थ एकत्र, मिलन, अन्य मतावलम्बियो का समुदाय, या दार्शनिकों का समुदाय ही अभीष्ट है। सैद्धान्तिक आधार पर इन वादियों को चार रूपों में विभक्त किया गया है, जैसे कि—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानिकवादी और वैनयिक-वादी। इन वादियों का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण इस प्रकार हैः—

१. **क्रियावादी**—जीव-अजीव आदि नव तत्त्वों के अस्तित्व को निश्चयात्मक रूप से मानने वाले क्रियावादी कहलाते हैं। कुछ क्रियावादियों की यह भी मान्यता है कि आत्मोत्थान के लिए ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं, उसके लिए शुद्ध क्रिया का होना ही आवश्यक है, अत: क्रिया ही मुक्ति के लिए प्रधान साधन है। क्रिया को ही प्रधान मानने वाले भी क्रियावादी ही कहलाते हैं। क्रिया आत्मा का धर्म है। कर्त्ता के बिना क्रिया का होना संभव नहीं है। क्रिया के कर्त्ता के रूप में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने वाले भी क्रियावादी ही माने जाते हैं। क्रियावादियों के कुल १८० मत हैं। विश्व में जितने भी आस्तिक मत हैं, उन सबका समावेश क्रियावादियो में हो जाता है।

२. **अक्रियावादी**—जीव आदि पदार्थों के यथावत् स्वरूप को या अस्तित्व को न मानने वाले अक्रियावादी कहलाते हैं। इनके भी भिन्न-भिन्न रूप हैं, जैसे कि—जीव आदि पदार्थों को न मानने वाले **अथवा "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"** ज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती, अत: क्रिया की कोई आवश्यकता नहीं है, केवल मानसिक पवित्रता होनी चाहिए। आत्मा क्रिया का कर्त्ता नहीं है, प्रकृति ही कर्त्री है, ऐसी मान्यता रखने वाले भी अक्रियावादी माने जाते हैं। अक्रियावादियो के कुल ८४ मत हैं।

३. **अज्ञानिकवादी**—सिर्फ अज्ञान को ही श्रेष्ठ मानने वाले अज्ञानिकवादी कहलाते हैं। इनका कथन है कि अनजान रहने से पुण्य-पाप का स्पर्श नहीं होता, सुख-प्राप्ति के लिए अज्ञानी रहना आवश्यक है। ज्ञान से परमानंद की प्राप्ति नहीं होती। जीव आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का जानने वाला न कोई व्यक्ति है और न उन पदार्थों के जानने से कुछ सिद्धि ही प्राप्त हो सकती है। जो ज्ञानी होकर भी अपराध करता है उसे अधिक दोष लगता है और अज्ञानी और अबोध का अपराध अपराध नहीं माना जाता है, इस अपेक्षा से भी अज्ञान श्रेयस्कर है, ऐसी मान्यता जिन वादियों की है वे सब अज्ञानवादी कहलाते हैं। अज्ञानवादी सम्प्रदायों के ६७ भेद हैं।

४. **विनयवादी**—निर्वाणपद का कारणीभूत साधन विनय ही है। कल्याण की प्राप्ति विनय से ही होती है। विनय ही सुख का सर्व श्रेष्ठ साधन है। स्वर्ग अपवर्ग की प्राप्ति विनय से ही हो सकती है। देवता, राजा, यति, ज्ञाति, स्थविर, माता, पिता और अधम इन आठों की मन, वचन, काय और दान से सेवा होती है। इनकी विनय करने में ही साधना की पूर्णता समझने वाले वादी विनयवादी कहलाते हैं। विनय-वादियों के बत्तीस भेद हैं।

क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानवादियों के ६७ और विनय-वादियों के ३२, इस प्रकार ३६३ मत-मतान्तर हैं, इनका पूर्ण परिचय सुयगडांग सूत्र की व्याख्या में देखिए।

ये तीन सौ त्रेसठ मत वादि-समवसरण कहलाते हैं। इनमें क्रियावादी जीवों को केवलि-भाषित धर्म सुलभ है। इस दृष्टि से विश्वभर में जितने भी आस्तिक हैं वे सब क्रियावादी

हैं। इससे विपरीत जो नास्तिक हैं वे अक्रियावादी कहलाते हैं। कृष्णपाक्षिक जीव सब अक्रियावादी होते हैं। शुक्लपाक्षिक जीव चारों प्रकार के होते हैं।

जैन-सिद्धान्त इन चारों से पृथक् है, यदि जैनदर्शन को सम्यग्दर्शन पूर्वक क्रियावादी कहें तो कोई अनुचित न होगा। सम्यग्दर्शन-विहीन क्रियावादी जैनदर्शन से बाहर है और शेष सभी समवसरण जैनदर्शन से सर्वथा बाहर हैं। सम्यग्दर्शन पूर्वक क्रियावादी तो हो सकता है, किन्तु अक्रियावादी कोई भी जीव सम्यग्दर्शन सहित नहीं हो सकता। इसी प्रकार अज्ञानवादी और वैनयिकवादी के विषय में भी समझ लेना चाहिए।[1] असुरकुमारों से लेकर दस भवन-पतियों तक तथा ज्योतिष्कों से लेकर वैमानिक देवों पर्यन्त चारों ही वादि-समवसरण कथन किए गए हैं।

संज्ञी पंचेन्द्रिय दण्डकों में भी चारों समवसरण पाए जाते हैं, इस सिद्धान्त की अभिव्यक्ति ही सूत्रकार का उद्देश्य है, क्योंकि असंज्ञी में सिर्फ अक्रियावादी और अज्ञानवादी ही होते हैं। पूर्वभव में जो जीव अक्रियावादी एवं अज्ञानवादी था यदि वह मृत्यु के अनन्तर असंज्ञी प्राणियों में जन्म लेता है तो वहां भी उसके अन्तर में अक्रियावादिता एवं अज्ञानवादिता के संस्कार रहते हैं, परन्तु क्रियावाद एवं विनयवाद की उनमें सत्ता नहीं पाई जाती है। यह ठीक है कि वे संस्कार स्पष्ट नहीं होते, वहां से जब वह पुनः संज्ञी पंचेन्द्रियों में जन्म लेता है तो वहां पुनः उसमें अक्रियावादिता आदि के संस्कार उभर आते हैं। इतना अवश्य है कि वहां उसके विचारों में परिवर्तन हो सकता है और वह अक्रियावादी से क्रियावादी बन सकता है। उक्त सूत्र से यह भी सिद्ध हो जाता है कि देवजाति में भी अक्रियावादी नास्तिक हैं और वे कृष्णलेश्या युक्त होने से हिंसक भी हो सकते हैं।

मेघ और पुरुष, माता-पिता तथा राजा

मूल—चत्तारि मेहा पण्णत्ता, तं जहा—गज्जित्ता णाममेगे णो वासित्ता, वासित्ता णाममेगे णो गज्जित्ता, एगे गज्जित्तावि वासित्तावि, एगे णो गज्जित्ता णो वासित्ता। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—गज्जित्ता णाममेगे णो वासित्ता।

चत्तारि मेहा पण्णत्ता, तं जहा—गज्जित्ता णाममेगे णो विज्जुयाइत्ता, विज्जुयाइत्ता णाममेगे ०४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—गज्जित्ता णाममेगे णो विज्जुयाइत्ता०४ ।

चत्तारि मेहा पण्णत्ता, तं जहा—वासित्ता णाममेगे णो विज्जुयाइत्ता०

१. इस विषय की विशेष जानकारी के लिए देखिए भगवती सूत्र "समोसरण" प्रकरण।

४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता तं जहा—वासित्ता णाममेगे णो विज्जुयाइत्ता०४ ।

चत्तारि मेहा पण्णत्ता, तं जहा—कालवासी णाममेगे णो अकालवासी० ४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—कालवासी णाममेगे णो अकालवासी०४ ।

चत्तारि मेहा पण्णत्ता, तं जहा—खेत्तवासी णाममेगे णो अखेत्तवासी० ४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—खेत्तवासी णाममेगे णो अखेत्तवासी०४ ।

चत्तारि मेहा पण्णत्ता, तं जहा—जणइत्ता णाममेगे णो णिम्मवइत्ता, णिम्मवइत्ता णाममेगे णो जणइत्ता०४ । एवामेव चत्तारि अम्मापियरो पण्णत्ते, तं जहा—जणइत्ता णाममेगे णो णिम्मवइत्ता०४ ।

चत्तारि मेहा पण्णत्ता, तं जहा—देसवासी णाममेगे णो सव्ववासी० ४। एवामेव चत्तारि रायाणो पण्णत्ता, तं जहा—देसाहिवई णाममेगे णो सव्वाहिवई०४ ॥१३०॥

छाया—चत्वारो मेघाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—गर्जिता नामैको नो वर्षिता, वर्षिता नामैको नो गर्जिता, एको गर्जिताऽपि, वर्षिताऽपि, एको नो गर्जिता नो वर्षिता। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—गर्जिता नामैको नो वर्षिता ०४ ।

चत्वारो मेघाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—गर्जिता नामैको नो विद्यायिता, विद्यायिता नामैको० ४। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—गर्जिता नामैको नो विद्यायिता० ४ ।

चत्वारो मेघाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वर्षिता नामैको नो विद्यायिता ०४। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—वर्षिता नामैको नो विद्यायिता ०४ ।

चत्वारो मेघाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—कालवर्षी नामैको नो अकालवर्षी ०४। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—कालवर्षी नामैको नो अकालवर्षी ०४।

चत्वारो मेघाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—क्षेत्रवर्षी नामैको नो अक्षेत्रवर्षी ०४ । एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—क्षेत्रवर्षी नामैको नो अक्षेत्रवर्षी ०४।

चत्वारो मेघाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जनयिता नामैको नो निर्मापयिता, निर्मापयिता नामैको नो जनयिता ०४। एवमेव चत्वारोऽम्बापितरः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—जनयिता नामैको नो निर्मापयिता ०४ ।

चत्वारो मेघाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—देशवर्षी नामैको नो सर्ववर्षी ०४। एवमेव चत्वारो राजानः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—देशाधिपतिर्नामैको नो सर्वाधिपतिः ०४ ।

मूलार्थ—चार प्रकार के मेघ हैं, जैसे—एक गर्जने वाला है, बरसने वाला नहीं, एक बरसने वाला होता है, गर्जता नहीं, एक गर्जता भी है और बरसता भी है, एक न गर्जता है और न ही बरसता है। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष भी हैं—एक गर्जने वाले मेघ के समान जोर-शोर से प्रतिज्ञाएं करते हैं, परन्तु न बरसने वाले मेघ के समान उसे कार्य रूप में परिणत नहीं करते०।

चार प्रकार के मेघ हैं—एक गर्जन करता है, परन्तु उसमें विद्युत् नहीं चमकती। एक विद्युत् पैदा करता है, गर्जता नहीं। शेष दो भंग भी ऐसे ही समझ लेने चाहिएं। इसी प्रकार चार तरह के पुरुष भी हैं, जैसे—कुछ व्यक्ति गर्जने वाले बादल की तरह दानादि की प्रतिज्ञाएं करते हैं, परन्तु विद्युत् उत्पादन करने वाले मेघ के समान प्रतिज्ञानुसार कार्यारम्भ का आडम्बर नहीं करते०।

चार प्रकार के मेघ हैं, जैसे—एक मेघ बरसने वाला है, किन्तु विद्युत् करने वाला नहीं। शेष तीन भंग समझ लेने चाहिएं। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष हैं, जैसे—एक पुरुष बरसने वाले बादल के समान दानादि करने वाला है, परन्तु विद्युत् चमकाने वाले मेघ के समान आडम्बर करने वाला नहीं होता। शेष तीन भंग समझ लेने चाहिए।

चार तरह के बादल कहे गए हैं, जैसे—एक समय पर बरसता है, अकाल वर्षा करने वाला नहीं। शेष तीन भंगों की कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिए। इसी प्रकार के पुरुष भी हैं, जैसे—एक पुरुष कालवर्षी मेघ के समान समय की आवश्यकता के अनुसार दानादि करता है, किन्तु असमय पर बरसने वाले मेघ के समान समय की आवश्यकता से विपरीत दानादि नहीं करता। शेष तीन भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिएं।

चार प्रकार के मेघ हैं, जैसे—एक क्षेत्रवर्षी है अर्थात् धान्य की उत्पत्ति स्थल पर बरसता है, किन्तु अक्षेत्र अर्थात् ऊसर भूमि पर नहीं बरसता। शेष तीन भंगों की कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिए। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष भी हैं, जैसे—एक क्षेत्रवर्षी मेघ के समान दानयोग्य को दान देने वाला है, अक्षेत्रवर्षी मेघ के समान अयोग्य को दान देने वाला नहीं। यहां भी चारों भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के बादल हैं, जैसे—एक जनयिता—वृष्टि द्वारा धान्य को उत्पन्न करने वाला होता है, परन्तु निर्माण-परिपाक करने वाला नहीं होता। एक मेघ परिपाक करने वाला तो है, परन्तु अंकुरित करने वाला नहीं होता। शेष दो भंगों की स्वतः कल्पना कीजिए। ऐसे ही चार प्रकार के माता-पिता कहे गए हैं, जैसे—एक

जन्मदाता तो हैं, परन्तु जीवन-निर्माण करने वाले नहीं। शेष तीन भंग स्वयं समझ लेने चाहिएं।

चार प्रकार के मेघ और भी हैं, जैसे—एक मेघ देशवर्षी अर्थात् किसी एक ही देश में बरसने वाला है, सब देशों में नहीं। शेष तीन भंग स्वयं समझ लेने चाहिएं। इसी तरह चार प्रकार के राजा कहे गए हैं, जैसे—एक देशाधिपति-किसी एक देश का स्वामी होता है, सब देशों का स्वामी नहीं होता। यहां पर भी चारों भंगों की योजना कर लेनी चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वादि-समवसरण के माध्यम से पुरुष-विश्लेषण किया गया है, उसी पुरुष विश्लेषण की परम्परा में पुनः पुरुष विश्लेषण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं।

१. गर्जन और वर्षण की दृष्टि से मेघ चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ मेघ गर्जते हैं, किन्तु बरसते नहीं हैं।

(ख) कुछ मेघ बरसते हैं, किन्तु गर्जते नहीं हैं।

(ग) कुछ मेघ गर्जते भी हैं और बरसते भी हैं।

(घ) कुछ मेघ न गर्जते ही हैं और न बरसते ही हैं।

मेघ की तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो दान, व्याख्यान, ज्ञान, शत्रु-निग्रह, पुण्य-अनुष्ठान, योग-साधना आदि के विषय में ऊंचे स्वर से जनता के समक्ष प्रतिज्ञाएं तो करते हैं, किन्तु समय आने पर किसी भी प्रतिज्ञा को पूर्ण नहीं करते हैं, ऐसे लोग केवल बातें बनाने वाले होते हैं।

(ख) कुछ व्यक्ति जन-समूह में ऊंचे स्वर से डींगे तो नहीं हांकते और न ही अपनी बड़ाई ही करते हैं, किन्तु समय-समय पर आत्म-प्रेरणा से दान आदि शुभ क्रियाएं करते ही रहते हैं।

(ग) कुछ व्यक्ति ऐसे भी हुआ करते हैं, जो डींगे भी हांकते हैं और यथाशक्य अधिकाधिक काम भी करते हैं।

(घ) कुछ व्यक्ति आलसी, प्रमादी एवं कंजूस होने से न गर्जते ही हैं और न कुछ करते ही हैं।

२. गर्जन और विद्युत्-संचार की दृष्टि से भी मेघ चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक मेघ गर्जता है, किन्तु विद्युत् नहीं चमकाता।

(ख) एक मेघ विद्युत् चमकाता है, किन्तु गर्जता नहीं है।

(ग) एक मेघ गर्जता भी है और विद्युत् भी चमकाता है।

(घ) एक मेघ न गर्जता ही है और न विद्युत् ही चमकाता है।

मेघ की तरह पुरुष भी चार तरह के होते हैं—

(क) कुछ व्यक्ति समाज, राष्ट्र और धार्मिक क्षेत्र में बड़े-बड़े कार्य तो कर देते हैं, किन्तु समाज में चमकते नहीं, अर्थात् प्रसिद्ध नहीं हो पाते।

(ख) कुछ व्यक्ति समाज, राष्ट्र और धर्म की विशेष सेवा तो नहीं करते, फिर भी समाज में खूब चमक जाते हैं।

(ग) कुछ व्यक्ति जीवन भर उत्तम कार्य भी करते हैं और खूब चमकते भी हैं अर्थात् प्रसिद्धि भी प्राप्त करते हैं।

(घ) कुछ व्यक्ति ऐसे प्रमादी और अभागे भी होते हैं जो न तो कुछ कार्य ही करते हैं और न ही संसार में चमकते ही हैं।

३. वर्षण और विद्युत्-प्रकाश की दृष्टि से भी मेघ चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक बादल बरसता है, किन्तु चमकता नहीं।

(ख) एक बादल चमकता ही है, परन्तु बरसता नहीं।

(ग) एक बादल बरसता भी है और चमकता भी है।

(घ) एक बादल न बरसता है और न चमकता ही है।

मेघ की तरह मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ व्यक्ति समाज में दान आदि द्वारा सुख की वर्षा करते हैं, परन्तु समाज में फिर भी चमकते नहीं हैं।

(ख) कुछ व्यक्ति समाज में बातों से ही चमक जाते हैं, परन्तु समाज के लिए दानादि सुख की वर्षा नहीं कर पाते।

(ग) कुछ व्यक्ति समाज में सुख की वर्षा भी खूब करते हैं और समाज में चमकते भी खूब हैं।

(घ) कुछ व्यक्ति न तो समाज में सुख की वर्षा ही करते हैं और न ही चमकते अर्थात् प्रसिद्ध ही होते हैं। ऐसे ही लोगों को "भुवि भारभूताः" पृथ्वी के भार कहा गया है।

४. समय पर वर्षण की दृष्टि से भी बादल चार तरह के होते हैं—

(क) कुछ बादल समय पर ही बरसते हैं, असमय पर नहीं।

(ख) कुछ बादल असमय पर ही बरसते हैं, समय पर नहीं।

(ग) कुछ बादल समय पर भी बरसते हैं और असमय पर भी।

(घ) कुछ बादल न समय पर ही बरसते हैं और न असमय पर ही।

इन बादलों के समान पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ व्यक्ति अवसर पड़ने पर ही परोपकार में प्रवृत्त होते हैं, असमय-कुसमय पर नहीं।

(ख) कुछ पुरुष बिना ही अवसर के परोपकारादि में प्रवृत्त हो जाते हैं, पर अवसर आने पर चूक जाते हैं।

(ग) कुछ पुरुष अवसर पर भी परोपकारादि करते हैं और बिना अवसर के भी।

(घ) कुछ पुरुष न अवसर पड़ने पर उपकार करते हैं और न बिना अवसर के उपकार करना जानते हैं।

इस प्रकरण में वर्षण का अर्थ है समाज के काम आना, समाज के लिए कुछ कार्य करना और पुण्य कार्यों मे प्रवृत्त होना।

५. क्षेत्र अर्थात् उर्वर स्थान और अक्षेत्र अर्थात् ऊषर स्थान की दृष्टि से भी मेघ चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक मेघ क्षेत्र में बरसता है, अक्षेत्र में नहीं।

(ख) एक मेघ अक्षेत्र में बरसता है, क्षेत्र मे नहीं।

(ग) एक मेघ क्षेत्र में भी बरसता है और अक्षेत्र में भी।

(घ) एक मेघ न क्षेत्र में बरसता है और न अक्षेत्र में ही। आकाश पर छा जाता है और बिना बरसे ही चला जाता है।

इन मेघों के समान पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ पुरुष दान-ज्ञान आदि सुपात्र को देते है, कुपात्र को नही।

(ख) कुछ पुरुष दान-ज्ञान आदि कुपात्र को देते हैं, सुपात्र को नही।

(ग) कुछ उदार महापुरुष सुपात्र और कुपात्र सबको दान-ज्ञान दिया करते है।

(घ) कुछ व्यक्ति अप्रवृत्तिक होने से न सुपात्र को देते हैं और न कुपात्र को ही।

इनमें से पहला भंग धर्मदान, दूसरे में अधर्मदान, तीसरा भंग विवेकविकलता एव महा उदार होने से, या प्रवचन प्रभावना से दिया हुआ दान, चौथे भग मे अनुदार एव अभावग्रस्त आदि का समावेश हो जाता है।

६. कृषि-विकास की दृष्टि से भी मेघ चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ मेघ बीज को अंकुरित करते हैं, किन्तु खेती को सफल नहीं करते।

(ख) कुछ मेघ खेती को फलीभूत करते है, किन्तु अंकुर उत्पन्न नहीं करते।

(ग) कुछ मेघ अंकुर भी उत्पन्न करते है और फलोन्मुख भी करते है।

(घ) कुछ मेघ न अकुर उत्पन्न करते हैं और न सफलीभूत ही करते हैं।

इन मेघों के समान माता-पिता भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ माता-पिता सन्तान को उत्पन्न तो करते हैं, किन्तु उसके रक्षण-पोषण-शिक्षण का प्रबन्ध नहीं करते।

(ख) कुछ माता-पिता रक्षण-पोषण-शिक्षण का प्रबन्ध तो करते हैं, किन्तु जन्म-दाता नहीं होते।

(ग) कुछ माता-पिता संतान को उत्पन्न भी करते हैं और उसका रक्षण-शिक्षण-पोषण भी करते हैं।

(घ) कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो न तो सन्तान को जन्म देते हैं और न भरण-पोषण ही करते हैं। निस्सन्तान व्यक्ति इसी कोटि में आते हैं।

आध्यात्मिक पक्ष में आचार्य एवं गुरु ही माता-पिता हैं और शिष्य ही सन्तान हैं। इस पक्ष में उपर्युक्त चतुर्भंगी का रूप इस प्रकार होगा—

(क) कुछ आचार्य एवं गुरु शिष्य को दीक्षित करते हैं, किन्तु श्रुतादि द्वारा उसकी पालना नहीं करते।

(ख) कुछ श्रुतज्ञान से शिष्य की पुष्टि करते हैं, किन्तु उसे स्वयं दीक्षित नहीं करते।

(ग) कुछ आचार्य एवं गुरु शिष्य को दीक्षित भी करते हैं और श्रुतज्ञान के द्वारा उसे प्रशिक्षित भी करते हैं।

(घ) कुछ आचार्य न किसी को शिष्य बनाते हैं और न ही उसे शिक्षित करते हैं।

संयम से शिष्य की रक्षा की जाती है और श्रुतज्ञान से शिष्य को पल्लवित, पुष्पित एवं फलित किया जाता है। अत: विद्या और चारित्र से ही आत्मा का शिक्षण एवं रक्षण हो सकता है।

७. सर्वदेशीय और एक देशीय दृष्टि से भी मेघ चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ बादल एक प्रदेश विशेष में ही बरसते हैं, सर्ववर्षी नहीं होते।

(ख) कुछ बादल सर्ववर्षी होते हैं, एक प्रदेश विशेष में ही नहीं बरसते।

(ग) कुछ बादल एक प्रदेश-विशेष में भी बरसते हैं और सर्ववर्षी भी होते हैं।

(घ) कुछ बादल न प्रदेश विशेष में ही बरसते हैं और न सर्ववर्षी ही होते हैं।

इन बादलों के समान राजा भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ राजा एक देश विशेष के ही स्वामी होते हैं, सम्पूर्ण पृथ्वी के नहीं।

(ख) कुछ राजा सम्पूर्ण पृथ्वी के अधिपति होते हैं, किसी देश-विशेष के नहीं।

(ग) कुछ राजा देश-विशेष के भी स्वामी होते हैं और विशाल भूमिभाग के भी।

(घ) कुछ राजा न विशाल भूमि के स्वामी होते हैं और न ही किसी प्रदेश विशेष के। राजसिंहासन से पदच्युत हुए राजा पूर्वकालीन राजत्व के भाव से राजा होते हैं, पर आधिपत्य की दृष्टि से नहीं।

जो योग और क्षेम करने में समर्थ हो उसे राजा कहते हैं। अप्राप्त की प्राप्ति के लिए प्रयास करने को योग कहते हैं और प्राप्त की रक्षा के लिए प्रयास करना क्षेम कहलाता है। इसी प्रकार बाधक प्रवृत्तियों का निवारण करना और संभावित कुप्रवृत्तियों से सतर्क रहना भी राजा की विशेषता है। राजा जितना समर्थ होता है, उतना ही उसका प्रशासन भी सफल

होता है। प्रशासन साम, दान, भेद और दंड इनका सम्यक् प्रयोग होने पर ही ठीक चलता है और इनकी व्यवस्था ठीक न होने से प्रशासन डावांडोल हो जाता है जिससे देशभर में आतंक छा जाता है, न्याय और नीति की व्यवस्था बिगड़ जाती है और अराजकता फैल जाती है। जो राजा किसी प्रदेश-विशेष का अधिपति होता है वह उसी प्रदेश का योग क्षेम करने में समर्थ होता है, सर्वत्र नहीं। पहले भंग का स्वामी अपने ही देश के अंतर्गत राज्य करने में समर्थ होता है, दूसरे देश में नहीं। जो अपने और दूसरे देश के अंतर्गत राज्य करने में समर्थ है, वह दूसरे भंग में माना जाता है। वासुदेव या चक्रवर्ती पहले एक देश का अधिपति होकर पीछे से तीन खंड या छः खंड पर आधिपत्य करने वाले राजा तीसरे भंग में, पदच्युत राजा चौथे भंग में समाविष्ट हो जाते हैं।

जिस भूमि के ऊपर जितने काल के लिए बरसाऊ बादल आकाश में छाए रहते हैं, उसी क्रम से जिसका प्रशासन जिस भूमि पर जितने काल तक चलता है, उसी आधिपत्य से वह राजा कहलाता है। बादल वर्षा करता है और अपनी राज्य-परिधि में योग-क्षेम प्रवर्तन करने से राजा को बादलों से उपमित किया गया है।

मेघ-जाति

मूल—चत्तारि मेहा पण्णत्ता, तं जहा—पुक्खलसंवट्टे, पज्जुन्ने, जीमूए, जिम्हे। पुक्खलसंवट्टए णं महामेहे एगेणं वासेणं दसवाससहस्साइं भावेइ। पज्जुन्नेणं महामेहे एगेणं वासेणं दसवाससयाइं भावेइ। जीमूए णं महामेहे एगेणं वासेणं दसवासाइं भावेइ। जिम्हे णं महामेहे बहूहिं वासेहिं एगं वासं भावेइ वा ण वा भावेइ॥ १३१॥

छाया—चत्वारो मेघाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पुष्करसंवर्तकः, पर्जन्यः, जीमूतः, जिह्मः। पुष्करसंवर्तको महामेघ एकया वर्षया दशवर्षसहस्राणि भावयति। पर्जन्यो महामेघ एकया वर्षया दशवर्षशतानि भावयति। जीमूतो महामेघ एकया वर्षया दशवर्षाणि भावयति। जिह्मो महामेघो बहुभिर्वर्षाभि एकं वर्षं भावयति वा न वा भावयति।

शब्दार्थ—चत्तारि मेहा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के मेघ कहे गए हैं, जैसे, **पुक्खलसंवट्टए**—पुष्करसंवर्तक, **पज्जुन्ने**—पर्जन्य, **जीमूए**—जीमूत और, **जिम्हे**—जिम्ह।, **पुक्खलसंवट्टए णं महामेहे**—पुष्करसंवर्तक महामेघ, **एगेणं वासेणं**—एक बार की वर्षा से, **दसवाससहस्साइं भावेइ**—दस हजार वर्ष तक भूमि को आर्द्र बनाए रखता है।, **पज्जुन्ने णं महामेहे**—पर्जन्य नामक महामेघ, **एगेणं वासेणं**—एक बार की वर्षा से, **दसवाससयाइं भावेइ**—एक हजार वर्ष तक भूमि को आर्द्र रखता है, **जीमूए णं महामेहे**—जीमूत नामक महामेघ, **एगेणं वासेणं दसवासाइं भावेइ**—एक वर्षा से दस वर्ष पर्यन्त भूमि को आर्द्र रखता है और, **जिम्हे णं महामेहे बहूहिं वासेहिं**—जिम्ह नामक महामेघ अनेक बार की

वर्षा से, **एगं वासं भावेइ[1] वा०**—एक वर्ष तक भूमि को गीला रखता है, कदाचित् नहीं भी रखता।

मूलार्थ—चार प्रकार के बादल कहे गए हैं, जैसे—पुष्करसंवर्तक, पर्जन्य, जीमूत और जिम्ह। पुष्करसंवर्तक नामक महामेघ एक बार की वर्षा से दस हजार वर्ष तक पृथ्वी को आर्द्रता से युक्त रखता है। पर्जन्य महामेघ एक वर्षा से एक हजार वर्ष तक पृथ्वी को गीला रखता है। जीमूत नामक महामेघ एक बार की वर्षा से पृथ्वी को एक वर्ष तक गीला रखता है और जिम्ह नामक महामेघ अनेक बार की वर्षा से एक वर्ष तक भूमि को गीला रखता है और कभी नहीं भी रखता।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में मेघ के साथ मानव व्यक्तित्व का तुलनात्मक विश्लेषण किया गया है। उसी मेघ-प्रकरण में अब मेघ जातियों का वर्णन प्रस्तुत किया जाता है। मेघ चार प्रकार के होते हैं। उनके नाम और स्वभाव का सूत्रकार ने इस प्रकार विवेचन किया है—

१. पुष्करसंवर्तक—जो एक बार अच्छी तरह बरसकर दस हजार वर्ष के लिए पृथ्वी को आर्द्रतम एवं उपजाऊ बना देता है वह पुष्कर संवर्त्तक मेघ कहलाता है।

इसी प्रकार जो महापुरुष एक ही बार उपदेश देकर सुनने वाले को दुर्गुणों से सदा के लिए छुड़ा देता है या एक ही बार दान देकर सदा के लिए याचक की दरिद्रता को दूर कर देता है वह पुरुष पुष्कर संवर्त्तक मेघ के समान होता है।

२. पर्जन्य मेघ—जो मेघ एक बार बरसकर एक हजार वर्ष के लिए पृथ्वी को उपजाऊ बना देता है वह पर्जन्य मेघ कहलाता है।

इसी तरह जो महापुरुष एक बार उपदेश देता है और उस उपदेश का प्रभाव जब तक बना रहता है तब तक उपदेश सुनने वाला बुराइयों से बचा रहता है। परन्तु उपदेश के अस्थायित्व के कारण उपेदश का प्रभाव ज्यों ही हटता है, त्यों ही वह व्यक्ति पुनः बुराइयो में प्रवृत्त हो जाता है, अथवा जिस व्यक्ति के द्वारा दिए हुए दान से अनेक वर्षों तक किसी का जीवन यापन हो सके या कोई संस्था चल सके, सदा के लिए नहीं, वह दाता पर्जन्य मेघ के समान होता है।

३. जीमूत मेघ—जो मेघ एक बार बरसकर दस वर्ष तक पृथ्वी को उपजाऊ बना देता है वह जीमूत मेघ कहलाता है।

इसी प्रकार जिस महापुरुष का दिया हुआ उपदेश श्रोताओं को कुछ बरस तक पापों से बचा सके और सत्कर्मों में प्रवृत्त रख सके और जिस दानी के दिए हुए दान से कुछ महीने

१ "भावेइ" पद के संदर्भ में वृत्तिकार लिखते हैं—"भावयति—उदकस्नेहवती करोति धान्यादि निष्पादन समर्थामिति यावद् भावमिति गम्यते जिह्मस्तु बहुभिर्वर्षणैरेकमेव वर्षम्—अब्द यावद् भुव भावयति नैव वा भावयति रूक्षत्वात्तज्जलस्येति"।

या वर्ष तक याचक का जीवन यापन हो सके अथवा कोई संस्था कुछ काल तक चल सके, वे महापुरुष एवं दाता जीमूत मेघ के समान माने जाते हैं।

४. जिह्म मेघ—जो मेघ कई बार बरसने पर भी पृथ्वी को एक वर्ष के लिए भी नियमपूर्वक उपजाऊ नहीं बना सकता वह मेघ जिह्म मेघ कहलाता है।

इसी प्रकार बार-बार उपदेश देने पर भी प्रभाव नियमपूर्वक नहीं पड़ता, कभी पड़ता है और कभी नहीं, यदि पड़ता है तो थोड़े समय के लिए ही, अथवा दानी के अनेक बार देने पर भी थोड़े काल के लिए ही याचक की आवश्यकताएं पूरी हों और न भी हों, वह दाता जिह्म मेघ के समान है। आगमों मे अप्काय की सात लाख योनि बतलाई गई हैं। मेघ वृष्टि में कितनी शक्ति होती है? इस रहस्य का उद्घाटन उक्त सूत्र में किया है। उत्तम मेघ स्वच्छ और स्निग्ध गुणो से सपन्न होते हैं। निकृष्ट मेघ बिल्कुल साधारण गुणों वाले होते हैं। जिस-जिस स्तर के मेघ होते हैं वे उसी रीति-नीति से पृथ्वी को प्रभावित करते हैं।

पुरुषपक्ष में उपदेश, दान, धर्म, या सहानुभूति आदि विषयों का अच्छा प्रभाव पड़ना, देने वाले की मंगल भावना पर निर्भर होता है।

पुष्करसंवर्त्तक मेघ का अपर नाम पुष्करावर्त्तक भी है। कविकुल शिरोमणि कालिदास ने भी पुष्करावर्त्तक मेघ का मेघदूत महाकाव्य मे उल्लेख किया है।[१] अग्निपुराण और शिवपुराण मे भी मेघो का स्वामी इन्द्र को कहा गया है और उसी का मेघों पर नियन्त्रण माना गया है, परन्तु इसका अभिप्राय यहां विकर्षण शक्ति से है। विकर्षणात्मक इन्द्र शक्ति के द्वारा ही मेघों का बरसना और न बरसना निर्भर हुआ करता है। आधुनिक विज्ञान भी इसी तथ्य को स्वीकार करता है।

करण्डक तुल्य आचार्य

मूल—चत्तारि करंडगा पण्णत्ता, तं जहा—सोवागकरंडए, वेसिया-करंडए, गाहावइकरंडए, रायकरंडए। एवामेव चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा—सोवागकरंडगसमाणे, वेसियाकरंडगसमाणे, गाहावइकरंडग-समाणे, रायकरंडगसमाणे॥१३२॥

छाया—चत्वारः करण्डकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—श्वपाककरण्डकः, वेश्याकरण्डकः, गाथापति (गृहपति) करण्डकः, राजकरण्डकः। एवमेव चत्वारः आचार्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—श्वपककरण्डकसमानः, वेश्याकरण्डकसमानः, गाथापतिकरण्डक-समानः, राजकरण्डकसमानः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

---

१ जात वशे भुवनविदिते, पुष्करावर्त्तकाना।
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुष मघोनः॥

मूलार्थ—चार प्रकार के करंडक-वंश आदि की शलाकाओं से निर्मित करंडिया अथवा टोकरे कहे गए हैं, —चाण्डाल का करंडक, वेश्या का करंडक, गाथापति-सेठ का करण्डक और राजा का करण्डक। ऐसे ही आचार्य भी चार प्रकार के प्रतिपादित किए गए हैं जैसे—श्वपाक-करंडक के समान, वेश्या के करंडक समान, गाथापति के करंडक समान और राजा के करंडक के समान।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में मेघों का परिचय देते हुए उनके माध्यम से शिष्यों के अनुशास्ता आचार्यों का भी वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में पुनः उसी परम्परा के अन्तर्गत करण्डकों से उपमित करते हुए सूत्रकार आचार्य-रूपों का परिचय देते हैं।

करण्डक बांस, बैंत एवं लकड़ी आदि से बने हुए उन सन्दूकों को कहा जाता है जिनमें लोग जीवनोपयोगी वस्तुओं का संग्रह किया करते हैं एवं बहुमूल्य पदार्थ रखा करते हैं।

समाज में आज भी देखा जाता है कि जिस व्यक्ति की जैसी हैसियत होती है उसके डिब्बों एवं सन्दूकों में उसी प्रकार का सामान भी हुआ करता है। तत्कालीन समाज में भी यही सामाजिक व्यवस्था रही होगी उसी को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार करण्डकों को चार भागों में विभक्त करते हैं—

१. **श्वपाक-करण्डक**—यद्यपि 'श्वपाक' शब्द चाण्डाल के लिए ही प्रयुक्त होता है, परन्तु इस प्रकरण में 'श्वपाक शब्द' निम्न वर्ग का वाचक है। निम्न वर्ग के करण्डकों में पुराने कपड़े, चांदी, पीतल, सामान्य पत्थरों एवं गुञ्जाओं आदि के आभूषण हुआ करते हैं।

इन करण्डकों को लक्ष्य में रखकर प्रथम प्रकार के आचार्यों को 'श्वपाक-करण्डक-तुल्य' कहा गया है। इस प्रकार के आचार्यों के हृदय-करण्डक में या गच्छ में शिथिलाचार के पुराने वस्त्र, दुर्विदग्धता, भ्रष्टाचारता एवं संयमहीनता के कुत्सित आभूषण रहते हैं।

२. **वेश्याकरण्डक**—यद्यपि प्राचीन युग के वर्णनों से वेश्याओं की अतुल समृद्धि का परिचय प्राप्त होता है, परन्तु वह वर्णन उन्हीं वेश्याओं का है जो सौन्दर्य की दृष्टि से उत्तम थीं एवं जिनका सम्पर्क केवल उच्च वर्ग से था। सामान्य वेश्याओं के करण्डकों में प्रायः कृत्रिम बहुमूल्यता के वस्त्र एवं सोने के मुलम्मे वाले तथा अन्दर लाख भरकर बनाए गए आभूषण हुआ करते थे।

सूत्रकार कहते हैं कि जो आचार्य लोक-प्रसिद्धि तो प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु जिनके हृदय-करण्डकों में धर्मविद्या का अभाव रहता है, बाह्याडम्बरों की प्रधानता रहती है और वेशभूषा की सौन्दर्य-साधना की इच्छाओं की भरमार रहती है वे आचार्य 'वेश्याकरण्डक' के समान हुआ करते हैं।

३. **गाथापति-करण्डक**—'गाथापति' शब्द का अर्थ है सम्पन्न व्यापारी, जिन्हें आज के युग में 'सेठ' कहा जाता है। इनके करण्डकों में बहुमूल्य वस्त्र होते हैं, सुन्दर आभूषण

आदि हुआ करते हैं, किन्तु बहुत अधिक संख्या में नहीं, सीमित संख्या में।

जिस आचार्य के हृदय-करण्डक या गच्छ में सामान्य शास्त्रीय ज्ञान है और जो चारित्र-पालन एवं संयमशीलता को अधिकाधिक हृदय-करण्डक में या गच्छ में भरने के लिए यत्नशील रहता है उस आचार्य को 'गाथा-पति करण्डक' के समान कहा गया है।

४. राज-करण्डक—इस नाम से ही स्पष्ट है कि राज-महलों के करण्डकों में बहुमूल्य वस्त्र एवं रत्नाभरणों का आधिक्य होता है।

इसी प्रकार जिस आचार्य के हृदय-करण्डक एवं गच्छ में अतुल ज्ञान सम्पत्ति है, चारित्र के असंख्य आभूषण हैं, संयमशीलता के अनन्त रत्नाभरण हैं वे आचार्य राज-करण्डक के समान हुआ करते हैं। सुधर्मा स्वामी आदि आचार्य इसी कोटि में रखे जाते हैं।

उपर्युक्त वर्णन का यह अभिप्राय नहीं कि तत्कालीन वातावरण में उपर्युक्त चारों प्रकार के आचार्य पाए जाते थे। शास्त्रकार संभाव्यता को लक्ष्य में रखकर ऐसा वर्णन कर रहे हैं और समय-समय पर इस सम्भाव्यता की छाया समाज में देखी भी जाती है। भला सर्वज्ञ प्रभु से क्या छिपा रह सकता था?

शाल-तरु-तुल्य आचार्य

मूल—चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता, तं जहा—साले नाममेगे सालपरियाए, साले नाममेगे एरंडपरियाए, एरंडए नाममेगे सालपरियाए, एरंडए नाममेगे एरंडपरियाए। एवामेव चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा—साले नाममेगे सालपरियाए, साले नाममेगे एरंडपरियाए, एरंडए नाममेगे सालपरियाए, एरंडए नाममेगे एरंडपरियाए।

चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता, तं जहा—साले नाममेगे सालपरिवारे ०४। एवामेव चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा—साले नाममेगे साल-परिवारे ०४।

सालदुममज्झयारे जह, साले णाम होइ दुमराया।
इय सुंदर-आयरिए, सुंदरसीसे मुणेयव्वे॥१॥
एरंडमज्झयारे जह, साले णाम होइ दुमराया।
इय सुंदर-आयरिए, मंगुलसीसे मुणेयव्वे॥२॥
सालदुममज्झयारे, एरंडे णाम होइ दुमराया।
इय मंगुलायरिए, सुंदरसीसे मुणेयव्वे॥३॥

एरंडमज्झयारे, एरंडे णाम होइ दुमराया।
इय मंगुलायरिए, मंगुलसीसे मुणेयव्वे ॥ ४ ॥१३३॥

छाया—चत्वारो वृक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा शालो नामैकः शालपर्यायः, शालो नामैक एरण्डपर्यायः, एरण्डो नामैकः शालपर्यायः, एरण्डो नामैक एरण्डपर्यायः। एवमेव चत्वारः आचार्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शालो नामैकः शालपर्यायः, शालो नामैकः एरण्डपर्यायः, एरण्डो नामैकः शालपर्यायः, एरण्डो नामैकः एरण्डपर्यायः।

चत्वारो वृक्षाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शालो नामैकः शालपरिवारः०४। एवमेव चत्वारः आचार्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शालो नामैकः शालपरिवारः०४।

शालद्रुममध्यकारे यथा, शालो नाम भवति द्रुमराजः।
इति सुन्दर आचार्यः, सुन्दरः शिष्यो ज्ञातव्यः॥ १ ॥
एरण्डमध्यकारे यथा, शालो नाम भवति द्रुमराजः।
इति सुन्दर आचार्यः, मंगुलः (असुन्दरः) शिष्यो ज्ञातव्यः॥ २ ॥
शालद्रुममध्यकारे, एरण्डो नाम भवति द्रुमराजः।
इति मंगुल आचार्यः, सुन्दरः शिष्यो ज्ञातव्यः॥ ३ ॥
एरण्डमध्यकारे, एरण्डो नाम भवति द्रुमराजः।
इति मंगुल आचार्यः, मंगुलः शिष्यो ज्ञातव्यः॥ ४ ॥

शब्दार्थ—चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के वृक्ष होते है, जैसे, **साले नाममेगे सालपरियाए**—एक शाल का वृक्ष है और उसी की पर्याय—सघन छाया वाला एव फला-फूला भी है, **साले नाममेगे एरंडपरियाए**—एक वृक्ष तो शाल का है, परन्तु एरण्डपर्याय—एरण्ड के समान सामान्य छायादि से युक्त है, **एरंडए नाममेगे सालपरियाए**—एक वृक्ष तो एरण्ड का है, किन्तु शाल की पर्याय वाला अर्थात् गहरी छाया आदि वाला है, **एरंडए नाममेगे एरंडपरियाए**—एक वृक्ष भी एरण्ड का है और एरण्ड की पर्याय वाला है, **एवामेव**—ऐसे ही, **चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार के आचार्य है, जैसे, **साले नाममेगे सालपरियाए**—एक आचार्य शालवृक्ष के समान उत्तम जाति वाला और सत्कुलोत्पन्न होता है तथा शाल वृक्ष की सघन छायादि गुणों के समान ज्ञान-क्रिया आदि सद्गुणों से भी युक्त होता है, **साले णाममेगे एरंडपरियाए**—एक आचार्य उत्तम जाति वाला व सत्कुलोत्पन्न होने पर भी ज्ञान-क्रिया आदि गुणो से हीन होने से शाल के समान होता हुआ भी एरण्डपर्याय वाला अर्थात् एरण्ड के समान होता है, **एरंडए नाममेगे सालपरियाए**—एक आचार्य एरण्ड के समान जाति-कुल रहित होने पर भी शालपर्याय के समान ज्ञान-क्रिया आदि से युक्त होता है, **एरंडए नाममेगे एरंडपरियाए**—एक आचार्य एरण्ड के समान होता है और ज्ञान-क्रिया से भी एरण्ड सदृश ही होता है।

चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के वृक्ष होते हैं, जैसे, **साले नाममेगे सालपरिवारे ०४**—एक वृक्ष शाल का है और उस का परिवार भी शाल का है, शेष तीन भंग समझ लेने चाहिएं। **एवामेव चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा**—इसी प्रकार आचार्य भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे, **साले नाममेगे सालपरिवारे ०४**—एक आचार्य शालवृक्ष के समान उत्तम जाति-कुल वाला है और उसका शिष्य परिवार भी वैसा ही है, ऐसे ही शेष तीन भंगों की कल्पना करनी चाहिए।

सालदुममज्झयारे जह—यथा शालवृक्षों के मध्य में, **साले णाम होइ दुमराया**—राजा के समान मुख्य वृक्ष भी शाल ही है, **इय**—इसी तरह, **सुंदर-आयरिए**—आचार्य भी उत्तम है और, **सुंदरसीसे मुणेयव्वे**—शिष्य भी उत्तम ही हैं। **एरंडमज्झयारे जह, साले णाम होइ दुमराया**—जैसे एरण्ड वृक्षों के मध्य में राजा के समान मुख्य वृक्ष शाल का होता है, **इय सुंदर-आयरिए, मंगुलसीसे मुणेयव्वे**—इसी तरह कुशिष्य परिवार के मध्य में शाल के समान आचार्य सुन्दर है। **सालदुममज्झयारे, एरंडे णाम होइ दुमराया**—शाल वृक्षों के मध्य में जैसे राजा के समान मुख्य वृक्ष एरण्ड का है, **इय मंगुलआयरिए, सुंदर-सीसे मुणेयव्वे**—उसी प्रकार उत्तम शिष्य-परिवार के मध्य में आचार्य निकृष्ट है। **एरंड-मज्झयारे एरंडे णाम होइ दुमराया**—एरण्ड वृक्षों के मध्य में राजा के समान मुख्य वृक्ष एरण्ड का है, **इय मंगुलआयरिए, मंगुलसीसे मुणेयव्वे**—उसी प्रकार निकृष्ट शिष्य-परिवार के मध्य में आचार्य भी निकृष्ट ही है।

मूलार्थ—चार प्रकार के वृक्ष कहे गए हैं, जैसे—एक शाल का वृक्ष है और वह शाल की पर्यायों से भी युक्त है। एक शाल का वृक्ष है, किन्तु एरण्ड की पर्यायों से युक्त है। एक एरण्ड का वृक्ष है, किन्तु वह शाल की पर्यायों से युक्त है। एक एरण्ड का वृक्ष है और एरण्ड की पर्यायों से भी युक्त है। इसी तरह चार प्रकार के आचार्य हैं, जैसे—एक आचार्य सम्यग् ज्ञान-क्रिया आदि उत्तम गुणों से युक्त होने के कारण वह शाल की पर्यायों के समान पर्यायों वाला भी है। एक आचार्य शाल के समान उत्तम जाति-कुल वाला होने पर भी एरण्ड पर्यायों के समान ज्ञान-क्रियादि उत्तम पर्यायों से रहित है। इसी प्रकार शेष दो भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के वृक्ष कहे गए हैं, जैसे—एक शाल का वृक्ष है, उसका परिवार भी शालवृक्षों का है। इसी प्रकार शेष भंगों की कल्पना भी कर लेनी चाहिए। इसी तरह चार प्रकार के आचार्य कहे गए हैं, जैसे—एक आचार्य शाल के समान स्वयं उत्तम है और उसका शिष्य-परिवार भी शाल परिवार के समान उत्तम ही है। इसी प्रकार शेष तीन भंगों की कल्पना भी कर लेनी चाहिए।

उपरोक्त चार भंगों का वर्णन चार गाथाओं द्वारा इस प्रकार किया गया है, जैसे—

शालवृक्षों के मध्य में वृक्षराज भी शाल ही है, इसी तरह उत्तम शिष्यों के मध्य में आचार्य भी उत्तम ही है।

एरण्ड वृक्षों के मध्य में जैसे वृक्षराज शाल है, वैसे ही निकृष्ट शिष्यों के मध्य में आचार्य उत्तम है।

शालवृक्षों के मध्य में जैसे एरण्ड वृक्षराज है, इसी प्रकार उत्तम शिष्यों के मध्य में निकृष्ट आचार्य है।

एरण्डवृक्षों के मध्य में जिस प्रकार वृक्षराज भी एरण्ड ही है, इसी तरह निकृष्ट शिष्यों के मध्य में आचार्य भी निकृष्ट ही है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में क्रिया, चारित्र एवं संयम-सम्पन्नता की दृष्टि से आचार्यत्व का विश्लेषण किया गया है, प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार संयम-साधना एवं शिष्य-वर्ग की दृष्टि से आचार्य के चार रूपों का विश्लेषण करते हैं।

शाल के वृक्ष उन उच्च हिमालय के शिखरों पर उत्पन्न होते हैं जहां का वातावरण अत्यन्त शीतल होता है, शालवृक्ष अपनी उच्चता एवं दृढ़ता की दृष्टि से भी प्रसिद्ध है। इससे विपरीत एरण्ड जो नाममात्र का वृक्ष है वह प्रायः गन्दगी एवं कूड़े-करकट से भरी पृथ्वी पर उत्पन्न होता है और अपनी निम्नता एवं कच्चेपन के लिए भी प्रसिद्ध है। नीतिकार तो एरण्ड को वृक्ष श्रेणी में भी गिनते हुए सकुचाते हैं, अतः कहते हैं—

''निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते।''

वृक्षहीन प्रदेश में एरण्ड भी वृक्ष कहलाने लगता है, अर्थात् वह वृक्ष नहीं गुल्म है—बड़ा पौधा है, उसकी शाखाओं-प्रशाखाओं का अभाव भी प्रसिद्ध है।

प्रस्तुत सूत्र में शाल और एरण्ड को उपमान मानकर आचार्य रूप उपमेय का विश्लेषण किया गया है। प्रस्तुत सूत्र के चार शब्द अपने विशेष अर्थ के बोधक हैं, अतः सर्व-प्रथम उनका स्पष्टीकरण आवश्यक होगा:—

१. **शाल-पर्याय**—अपने पत्रादि के वैभव से सम्पन्न पूर्ण विकसित शालवृक्ष।

२. **एरण्ड-पर्याय**—अपने पत्रादि के वैभव से रहित अविकसित, जीर्ण अथवा हेमन्त के अन्त में पतझड़ की अवस्था का वृक्ष।

३. **एरण्ड-शाल-पर्याय**—ऐसा एरण्ड का वृक्ष जो उर्वर भूमि में एवं वातावरण की अनुकूलता के कारण शाल की तरह विकसित हो गया है।

४. **एरण्ड-एरण्ड-पर्याय**—ऐसा एरण्ड का वृक्ष जो अपनी सामान्यरूप दशा में सामान्य रूप से पत्रादि से युक्त है।

उपर्युक्त क्रम से शाल और एरण्ड को लक्ष्य में रखकर शास्त्रकार ने संयम एवं त्रिरत्न-वैभव की दृष्टि से आचार्यों के भी चार ही रूप उपस्थित किए हैं—

(क) प्रथम प्रकार के वे आचार्य होते हैं जो उच्च कुलोद्भव भी होते हैं और संयम-सम्पत्ति की दृष्टि से भी सम्पन्न हुआ करते हैं। ऐसे आचार्यों को 'शाल-पर्याय' सदृश कहा गया है।

(ख) दूसरे प्रकार के वे आचार्य होते हैं जो उच्चकुलोद्भव तो होते हैं, किन्तु संयम-सम्पत्ति की दृष्टि से जिन्हें सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। ऐसे आचार्यों को 'एरण्ड- पर्याय' कहा गया है।

(ग) तीसरे प्रकार के वे आचार्य होते हैं जो उच्चकुलोद्भव तो नहीं होते, परन्तु संयम- सम्पन्नता की दृष्टि से महान होते हैं, ऐसे आचार्यों को 'एरण्ड-शाल-पर्याय' कहा गया है।

(घ) चौथे प्रकार के वे आचार्य होते हैं जिन्हें किसी भ्रान्ति-वश एवं दिखावे मात्र के संयम एवं पाण्डित्य से प्रभावित होकर समाज ने उन्हें आचार्य-पद तो प्रदान कर दिया है, परन्तु न तो वे उच्चकुलोद्भव ही होते हैं और न ही उन्हें संयम-संपत्ति एवं त्रिरत्न-साधना की दृष्टि से महत्ता प्रदान की जा सकती है। ऐसे ही आचार्यों को 'एरण्ड-एरण्ड-पर्याय' कहा गया है।

अब सूत्रकार आचार्य एवं उनके शिष्य-परिवार की दृष्टि से भी उनकी चतुर्विध रूपता का वर्णन करना चाहते हैं। उसके लिए भी उन्होंने शाल-परिवार एवं एरण्ड-परिवार को उपमान रूप में प्रस्तुत किया है। यथा—

१. एक ऐसा महान् शाल-वृक्ष है जिसके चारों ओर शालवृक्षों का ही वन है।

२. एक ऐसा शालवृक्ष भी हो सकता है जो स्वयं तो सभी प्रकार से सम्पन्न है, किन्तु उसके चारों ओर एरण्ड वृक्षों का समुदाय ही दृष्टिगोचर होता है।

३. एक ऐसा एरण्ड वृक्ष है जो स्वयं तो अपनी फल-पुष्पादि रूप सम्पन्नता से समृद्ध है, परन्तु उसके चारों ओर ऐसे ऊंचे शालवृक्ष उत्पन्न हो गए हैं जिनमें उसका अस्तित्व लुप्त प्राय हो गया है।

४. एक ऐसा भी एरण्ड वृक्ष होता है जिसके चारों ओर एरण्ड जाति के वृक्षों का ही समुदाय है।

इसी प्रकार शाल एवं एरण्ड-परिवार के समान आचार्य भी चार प्रकार के ही होते हैं—

(क) एक ऐसे आचार्य होते हैं जो उच्च नाम-गोत्र एवं संयम-सम्पन्न होते हैं। सौभाग्य से उनका शिष्य-परिवार भी उच्चकुलोद्भव एवं संयम-सम्पत्ति से सम्पन्न हुआ करता है। वे शालवृक्ष के चारों ओर शाल-वन से ही प्रतीत होते हैं।

(ख) कुछ आचार्य स्वयं तो गुणों एवं जाति आदि की दृष्टि से महान् होते हैं, परन्तु उन्हें शिष्य-परिवार ऐसा मिल जाता है, जिसे न तो जाति से उत्तम कहा जा सकता है और न वे शिष्य संयमधन के धनी ही होते हैं, वे शाल वृक्ष के चारों ओर एरण्ड से प्रतीत होते हैं।

(ग) कुछ आचार्य ऐसे भी हुआ करते हैं जो स्वयं तो संयम-सम्पत्ति के महाधनी नहीं होते, परन्तु उनका शिष्य-परिवार तपोधन एवं चारित्र-निधि का स्वामी होता है। ऐसे आचार्यों को ही शालवन में खड़े एरण्ड से उपमित किया गया है।

(घ) कुछ आचार्य स्वयं भी कुल, जाति, गोत्र, संयम, ज्ञान आदि से समृद्ध नहीं होते और उनका शिष्य-परिवार भी वैसा ही होता है। ऐसे आचार्यों को एरण्ड वन में खड़े एरण्ड से उपमित किया गया है। ऐसे गुरुओं के लिए ही किसी सूक्तिकार ने कहा होगा—"गुरु लालची लोभी चेला, होय नरक में ठेलम-ठेला।"

सूत्र में 'मंगुल' शब्द आया है। यह अर्धमागधी भाषा का विशेष शब्द है और अर्धमागधी कोष में इसका अर्थ 'असुन्दर' और 'असमंजस' किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में इसका असुन्दर अर्थ ही ग्राह्य है।

सूत्रकार की सर्वतोमुखी प्रतिभा प्रत्येक पदार्थ को प्रत्येक दृष्टि से परखती है और उसके प्रत्येक सम्भव रूप को प्रकट करती है। प्रस्तुत प्रकरण इसका सुन्दर निदर्शन है।

मत्स्य-वृत्ति समान भिक्षु-वृत्ति

मूल—चत्तारि मच्छा पण्णत्ता, तं जहा—अणुसोयचारी, पडिसोयचारी, अंतचारी, मज्झचारी।

एवामेव चत्तारि भिक्खागा, पण्णत्ता, तं जहा—अणुसोयचारी, पडिसोयचारी, अंतचारी, मज्झचारी॥१३४॥

छाया—चत्वारो मत्स्याः प्रज्ञप्तास्तद्यथा - अनुस्त्रोतचारी, प्रतिस्त्रोतचारी, अन्तश्चारी, मध्यचारी।

एवमेव चत्वारो भिक्षाकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अनुस्त्रोतचारी, प्रतिस्त्रोतचारी, अन्तश्चारी, मध्यचारी।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के मत्स्य कहे गए हैं, जैसे—प्रवाह के अनुसार चलने वाला, प्रवाह के प्रतिकूल चलने वाला, प्रवाह के किनारे एक ओर चलने वाला और प्रवाह के मध्य में चलने वाला।

इसी तरह चार प्रकार के भिक्षु कहे गए हैं, जैसे—घरों के अनुक्रम से भिक्षा करने वाला, घरों के प्रतिक्रम से भिक्षा करने वाला, अन्तिम के घरों से भिक्षा करने वाला और मध्य के घरों से भिक्षा ग्रहण करने वाला।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में आचार्य एवं उसके गच्छ में अवस्थित साधु-समूह का वर्णन किया गया है। साधु अपनी जीवन-यात्रा भिक्षा के द्वारा ही चलाता है। वह भिक्षा के

समय अनेक विधियों, क्रमों एवं अभिग्रहों को अपनाया करता है, अतः अब सूत्रकार मत्स्य-गति के माध्यम से साधु की गोचरी-विधि के क्रम आदि पर प्रकाश डालते हैं।

मत्स्य महानदों की अथाह जलराशि में विचरण करते हैं, साधु भी संसार-रूपी महानद में विहरण करता है। मत्स्य पानी में आहारार्थ भ्रमण करते हैं, इस प्रकरण में साधु की भी उसी गति का वर्णन किया गया है जब वह आहारार्थ भ्रमण के लिए जाता है, मत्स्य पानी में रहते हैं, परन्तु वे पानी में डूबते नहीं और न ही पानी उनकी गति में किसी प्रकार से बाधक बनता है, साधु भी संसार में रहते हैं, परन्तु सांसारिकता में डूबते नहीं और न ही संसार-नद का मोह-जल उनकी गति में बाधक बनता है, अतः आहार के समय साधु-गति की मत्स्य-गति से तुलना सर्वथा उचित ही है।

आहारार्थ की जाने वाली गति के आधार पर मत्स्य चार प्रकार के होते हैं—

१. अनुस्रोतचारी—उस मत्स्य को 'अनुस्रोतचारी' कहा जाता है जो जल-प्रवाह के अनुकूल अर्थात् जिधर पानी बह रहा है उसी ओर चलता है।

निर्दोष भिक्षा के द्वारा जीवन-यापन करने वाला भिक्षु भी जब आहारार्थ चलता है तो वह अपने गति-प्रवाह में बहता हुआ रास्ते में पड़ने वाले घरों से भिक्षा ग्रहण करता है, परन्तु लौट पड़ने पर किसी घर से भिक्षा नहीं लेता। ऐसे अभिग्रहधारी भिक्षार्थ गमन करते हुए साधु को भी अनुस्रोतचारी कहा जाता है।

२. प्रतिस्रोतचारी—उस मत्स्य को प्रतिस्रोतचारी कहा जाता है जो जल-प्रवाह में आहारार्थ ऊपर की ओर गमन करता है, अर्थात् प्रवाह के प्रतिकूल चलता है।

इसी प्रकार जो मुनिराज 'लौटते हुए ही भिक्षा ग्रहण करूंगा, जाते हुए नहीं' इस अभिग्रह के साथ किसी मनश्चिन्तित स्थान तक जाकर लौटते हुए ही भिक्षा ग्रहण करता है जाते हुए नहीं, उसे ''प्रतिस्रोतचारी भिक्षु'' कहा जाता है।

३. अन्तश्चारी—जो मत्स्य जल-प्रवाह में केवल किनारे-किनारे ही भ्रमण करते हुए आहार का अन्वेषण करते हैं उन्हें अन्तश्चारी मत्स्य कहा जाता है।

इसी प्रकार जो मुनिराज भिक्षाटन के समय गली-मोहल्लों के सीमावर्ती गृहों से ही आहार-पानी ग्रहण करते हैं उन्हें 'अन्तश्चारी भिक्षु' कहा जाता है।

४. मध्यचारी—जो मत्स्य जल-प्रवाह के मध्य में पहुंचकर आहार की खोज किया करते हैं, उन्हें मध्यचारी मत्स्य कहा जाता है।

इसी प्रकार जो मुनिराज गली-मुहल्लों के मध्यवर्ती गृहस्थ-गेहों से निर्दोष एवं कल्पनीय आहार-पानी ग्रहण करते हैं उन्हें 'मध्यचारी भिक्षु कहा जाता है।

अभिग्रह के अनुरूप आहार-पानी ग्रहण करना भिक्षाचरी तप कहलाता है, भिक्षाचरी तप मुनि-हृदय में सन्तोषवृत्ति का विकास करता है और उसे आहार-पानी की चिन्ता से

ग्रस्त नहीं होने देता है। अभिग्रह मुनि-जीवन में उस दृढ़ता को जन्म देता है जिससे उसका तपस्वी जीवन देदीप्यमान हो उठता है। मत्स्यगति के निदर्शन से सूत्रकार ने साधु को स्वावलम्बिता, दृढ़ता, सन्तोष-पूर्णता एवं तपमयता का भी पावन सन्देश दिया है।

गोले के समान साधक

मूल—चत्तारि गोला पण्णत्ता, तं जहा—मधुसित्थगोले, जउगोले, दारुगोले, मट्टियागोले। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—मधुसित्थगोलसमाणे०४।

चत्तारि गोला पण्णत्ता, तं जहा—अयगोले, तउगोले, तंबगोले, सीसगोले। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—अयगोलसमाणे जाव सीसगोलसमाणे०४।

चत्तारि गोला पण्णत्ता, तं जहा—हिरण्णगोले, सुवन्नगोले, रयणगोले, वइरगोले, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—हिरण्णगोलसमाणे जाव वइरगोलसमाणे ॥१३५॥

छाया—चत्वारो गोलाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मधुसिक्थगोलः, जतुगोलः, दारुगोलः, मृत्तिकागोलः। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—मधुसिक्थगोल-समानः०४।

चत्वारो गोलाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अयोगोलः, त्रपुगोलः, ताम्रगोलः, सीसकगोलः। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—अयोगोलसमानो यावत् सीसकगोलसमानः।

चत्वारो गोलाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हिरण्यगोलः, सुवर्णगोलः, रत्नगोलः, वज्रगोलः। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—हिरण्यगोलसमानो यावत् वज्रगोल-समानः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के गोले कहे गए हैं, जैसे—मोम का गोला। लाख का गोला, लकड़ी का गोला और मिट्टी का गोला। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे—मोम के गोले समान मृदु-कोमल, परीषह आदि के सहन करने में निर्बल। इसी तरह क्रमशः शेष तीन गोलों के समान परीषह आदि सहन करने में दृढ़, दृढ़तर और दृढ़तम पुरुषों के चार भेद समझ लेने चाहिएं। गोलों के साथ पुरुषों की समानता परीषह अर्थात् कष्टों के सहन करने की क्षमता की अपेक्षा से कथन की गई है।

चार प्रकार के गोले और भी कहे गए हैं, जैसे—लोहे का गोला, रांगे का गोला, ताम्बे का गोला और सिक्के का गोला। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष भी होते हैं, जैसे लोहे के गोले के समान यावत् सिक्के के गोले के समान। जैसे लोहे के गोले की अपेक्षा रांगे का गोला भारी होता है, उसकी अपेक्षा ताम्बे का और उसकी अपेक्षा सिक्के का गोला और भी भारी होता है। इसी तरह कर्मभार की अपेक्षा से पुरुष भी चार प्रकार के हैं, जैसे—गुरु, गुरुतर, गुरुतम और अत्यन्त गुरु।

चार प्रकार के गोले और भी कहे गए हैं, जैसे चान्दी[१] का गोला, सोने का गोला, रत्नों का गोला और वज्र अर्थात् हीरे का गोला। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष भी कहे गए हैं, जैसे चांदी के गोले के समान से लेकर वज्र के गोले के समान तक। यह समानता गुणों की अल्पता, अधिकता, अधिकतरता और अधिकतमता की अपेक्षा से कथन की गई है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में मत्स्योपम अभिग्रहधारी एवं कष्ट सहिष्णु मुनिराजों का वर्णन किया गया है, कष्टों के आने पर कुछ मुनि विचलित हो जाते हैं, कुछ अविचल रहते हैं, कुछ कर्म-भार को हल्का कर देते हैं, कुछ और भारी बना लेते हैं, कुछ साधुत्व सम्बन्धी गुणों से सम्पन्न होते जाते हैं और कुछ उन्हें खो देते हैं। इसी सत्य को लक्ष्य में रखकर अब सूत्रकार विभिन्न प्रकार के पदार्थों से बने गोलों के माध्यम से मुनि जीवन की विचलता एवं अविचलता आदि का वर्णन करते हैं:—

चार प्रकार के गोले होते हैं—

मधुसित्थ अर्थात् मोम का गोला, लाख का गोला, लकड़ी का गोला और मिट्टी का गोला। मोम का गोला साधारण सी तपश लगाने पर पिघल जाता है। लाख का गोला—प्रचंड गर्मी से पिघलता है। काठ का गोला—अग्नि में डाल देने से पिघलता नहीं अपितु जलकर भस्म हो जाता है। मिट्टी का गोला—अग्नि में डाल देने से न पिघलता है और न जलकर भस्म होता है, अपितु वह और अधिक मजबूत हो जाता है।

इन चार गोलों के समान परीषहों एवं कष्टों के ताप को सहन करने की दृष्टि से साधना-पथ पर चलने वाले साधक भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) प्रथम तो वे साधक होते हैं जो सामान्य-सा कष्ट आ जाने पर साधना-पथ से विचलित हो जाते हैं, सामान्य-सी वासनाग्नि का ताप पाते ही विचलित हो जाते हैं और साधना-पथ का परित्याग करके पुनः सामान्य जीवन-पथ की ओर उन्मुख हो जाते हैं। ये साधक ही मोम के गोले के समान होते हैं।

(ख) दूसरे साधक लाख के गोले के समान होते हैं जो सामान्य कष्टों की तो परवाह

---

१ स्यात्कोशश्च हिरण्य च हेमरूप्ये कृताकृते।—इत्यमर.।

नहीं करते, परन्तु विशेष कष्टों से परितप्त होकर अथवा किसी विशेष अवस्था में प्रचण्ड वासना की आग से सन्तप्त होने पर जिनके हृदय पिघल जाते हैं, वे संसार की ओर जाते हैं और साधना-पथ से विमुख हो जाते हैं।

(ग) तीसरे प्रकार के सामान्य अपरिपक्व बुद्धि के साधक होते हैं, जिन्हें काष्ठ के गोले के समान कहा गया है, वे इतने शिथिल विचारों के होते हैं कि बुरे विचारों एवं बुरे व्यक्तियों का स्पर्श पाते ही विचलित ही नहीं होते प्रत्युत अपने आपको विनष्ट कर देते हैं। प्रथम साधकों के लिए यह सम्भाव्य है कि पश्चात्ताप के अनन्तर वे पुनः साधना-पथ पर लौट सकते हैं, परन्तु तीसरे प्रकार के साधक अपने आपको इतना विकृत कर देते हैं कि पुनः उनके धर्म-मार्ग पर आने की सम्भावना भी नष्ट हो जाती है।

(घ) मिट्टी के गोले के समान चौथे प्रकार के साधक होते हैं, जो कष्टों की आग में जितने अधिक तपते हैं उतने ही अधिक सुदृढ़ हो जाते हैं, वे सेठ सुदर्शन-से होते हैं जिन्हें वासना की कितनी भी तपश दी जाए वे और भी सुदृढ़ से सुदृढ़तम होते जाते हैं। वे ज्वालामुखियों के भीतर भी अपने साधक रूप को और भी निखारते जाते हैं। ऐसे ही साधकों के लिए कहा गया है कि वे मिट्टी के गोले के समान आग में तप-तप कर अपने रूप, महत्व और कान्ति को संवृद्ध करते जाते हैं।

अब सूत्रकार घनत्व की अधिकता एवं गुरुत्व की अधिकता की दृष्टि से क्रमशः अधिकाधिक गुरुत्व वाले चार प्रकार के धातु-गोलों का परिचय देते हैं और उनके माध्यम से साधक के कर्म-भार का विश्लेषण करते हैं। चार प्रकार के धातु-गोले हैं—लोहे का गोला, जस्त का गोला, तांबे का गोला और सिक्के का गोला। ये गोले अपने मूल कणों के घनत्व के कारण पूर्व-पूर्व की अपेक्षा भार में एक दूसरे से अधिक होते हैं, अर्थात् छः इंच की परिधि वाले लोहे के गोले की अपेक्षा छः इंच की परिधि वाला जस्त का गोला उससे भारी होगा, क्योंकि उसमें मूलकणों का घनत्व अधिक होता है। इसी प्रकार जस्त के गोले की अपेक्षा तांबे का गोला और तांबे के गोले की अपेक्षा सिक्के का गोला और भी भारी होता है।

मानवीय आत्मा भी कर्मों के भार से अपने को भारी अर्थात् बोझिल बनाए रहती है। धातु-गोलों में कणों का घनत्व होता है और आध्यात्मिक पक्ष में कर्म-पुद्गलों का घनत्व होता है। जिस आत्मा को पापानुबन्धी कर्म-पुद्गलों ने जितना अधिक घेरा हुआ है वह आत्मा उतनी ही अधिक बोझिल होती जाती है। प्रस्तुत प्रकरण में निम्न कोटि की धातुओं के गोलों का वर्णन किया गया है, अतः यहां पर कर्म-पुद्गल-गुरुत्व भी अशुभ कर्मों का ही अभीष्ट है। इसी दृष्टि से आत्म-साधकों का धातु-गोलों के माध्यम से वर्गीकरण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

(क) जिस साधक ने अपना सामान्य-सा जीवन व्यतीत करते हुए अपनी आत्मा को

सामान्य कर्म-पुद्गलों से आच्छन्न किया हुआ है वह आत्मा लोहे के गोले के समान होती है।

(ख) जिन आत्माओं ने पापानुबन्धी कर्मों के घनत्व से अपने को और भी अधिक आच्छन्न किया हुआ है वे आत्माएं जस्त के गोले के समान होती हैं। जस्त अर्थात् रांगा अपनी श्वेतता में चाहे कितना ही उज्ज्वल है, चांदी से भी सफेद होता है, परन्तु उसे हीन मूल्य ही माना गया है। इसी प्रकार ऊपर से बगुला भक्त दीखने वाले जीव चाहे कितने ही दिखावटी भक्त बन जाएं, परन्तु वे अपने अशुभ-कर्मों के घनत्व के कारण आखिरकार अन्धकारमय लोकों में ही जाते हैं, नरकों में ही गिरते हैं और जब उनकी कलई खुलती है तो समाज में उनका कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता है।

(ग) तीसरे प्रकार के वे जीव होते हैं जो भयंकरतम पापकर्मों से आच्छन्न होने से और भी अधिक पाप भार से भारी हो जाते हैं, ऐसे जीवों को ताम्बे के तुल्य कहा गया है, ताम्बा भारी तो होता है उसमें विषाक्तता भी रहती है, जो खट्टे पदार्थों का संयोग पाकर उभर आती है इसी प्रकार ये जीव पाप-भार से दबे हुए तो होते ही हैं साथ ही इनमें दुष्प्रवृत्तियों का विष भी रहता है जो सामान्य सा कुसंग पाकर प्रकट हो जाता है।

(घ) चौथे प्रकार के जीव अत्यन्त निम्नस्तरीय धातु सिक्के के समान होते हैं, जिनमें पापकर्म-पुद्गलों का घनत्व अधिक होने से वे अत्यन्त हीन वृत्ति होकर निम्न से भी निम्नतर नारकीय गति को प्राप्त करते हैं।

सिक्का थोड़ा-सा ताप पाते ही पिघल जाता है इसी प्रकार ये जीव साधारण-सी उत्तेजना आने पर पिघल जाते हैं अर्थात् भारी से भारी पाप कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं, आवेश में आ जाते हैं, अशुभ प्रवृत्तियों के सांचे में ढल जाते हैं।

शास्त्रकारों का कथन है कि मोहनीय कर्म आत्मा पर सबसे अधिक दबाव डालते हैं। यद्यपि मोहनीय कर्म के अनेक भेद होते हैं, परन्तु उनमें पितृमोह, मातृमोह, पुत्रमोह और पत्नीमोह को उत्तरोत्तर अधिक प्रभावकारी बताया गया है। पितृमोह लोहे के गोले के समान है, मातृमोह जस्त के समान कहा गया है, पुत्र मोह को ताम्बे के समान और पत्नीमोह को सिक्के जैसा भारी कहा गया है, क्योंकि इसमें स्नेहासक्ति और कामासक्ति का भयंकर योग रहता है।

अब सूत्रकार बहुमूल्य धातुओं और रत्नों के गोलों का परिचय देते हुए उनसे साधक के स्वभाव की तुलना करते हैं। ऐसे गोले चार प्रकार के होते हैं—चांदी का गोला, सोने का गोला, रत्न का गोला और वज्र का गोला। इन चारों गोलों में उत्तरोत्तर महत्ता की अधिकता होती है, चांदी से सोना, सोने से रत्न और शेष रत्नों से वज्र अर्थात् हीरा बहुमूल्य समझा जाता है।

साधक भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) जो साधक उज्ज्वल चारित्री है, सामान्य-सा सत्संग पाकर उद्‌बुद्ध हो जाता है, वह चांदी के गोले के समान होता है। "रजतं तु जलेन वै" चांदी का पात्र धोने मात्र से शुद्ध हो जाता है, इसी प्रकार यह साधक सामान्य-से धार्मिक वातावरण से शुद्ध हो जाया करता है। चांदी पर खट्टे-मीठे आदि पदार्थों का प्रभाव भी कम होता है, इसी प्रकार यह साधक भी कुसंगति के प्रभाव से कम प्रभावित होता है।

(ख) दूसरा साधक 'सुवर्ण गोलक' के समान होता है, जो अपने आपको साधना की अग्नि में तपा-तपा कर शुद्ध करता रहता है। सुवर्ण पर खट्टे-मीठे आदि पदार्थों का प्रभाव चांदी से भी कम होता है, इस प्रकार के साधक पर भी दुष्प्रवृत्तियां अपना प्रभाव नहीं जमा पाती हैं।

(ग) तीसरे प्रकार के साधक 'रत्न गोलक' के समान होते हैं। रत्न-गोलक सुवर्ण से भी कीमती है और उस पर किसी भी दूषित पदार्थ का प्रभाव नहीं पड़ता है। इसी प्रकार जिस त्रिरत्नोपासक साधक पर किसी भी दुष्प्रवृत्ति का प्रभाव नहीं पड़ता है, जो निर्लेप जीवन व्यतीत करता है वह साधक रत्न-गोलक सदृश होता है।

(घ) चौथे प्रकार के साधक 'वज्र-गोलक' के सदृश बताए गए हैं। वज्र अर्थ हीरा प्रसिद्ध है। और हीरा अपनी कठोरता और सुदृढ़ता के लिए भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि लोहे की ऐरन पर रखकर घन का प्रहार करने पर वह नीचे के लोहे में गड़ जाता है, टूटता नहीं, परन्तु वह दूध और दूब से छिल जाता है। इसी प्रकार वज्र-गोलक सदृश साधक किसी भी परीषह से परितप्त नहीं होते, किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होते, परन्तु करुणा के कोमल स्पर्श से कटने के लिए भी प्रस्तुत हो जाते हैं। शुक्ल ध्यानी तपस्वी महामुनीश्वर इसी कोटि में आते हैं।

इस प्रकार शास्त्रकार ने कष्टों से विचलित होने, पापभार से दबने और साधना से ऊपर उठने को ध्यान में रखकर बारह प्रकार के गोलों के माध्यम से मानवीय जीवन की जो व्याख्या की है वह एक ओर तो जीवन के महासत्य को प्रकट करती है और दूसरी ओर काव्य की उपमेय-उपमान शैली का सुन्दर निदर्शन उपस्थित करती है।

पत्र-तुल्य पुरुष और चटाई-तुल्य पुरुष

मूल—चत्तारि पत्ता पण्णत्ता, तं जहा—असिपत्ते, करपत्ते, खुरपत्ते कलम्ब-चीरियापत्ते। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—असिपत्तसमाणे जाव कलंबचीरियापत्तसमाणे।

चत्तारि कडा पण्णत्ता, तं जहा—सुंबकडे, बिदलकडे, चम्मकडे, कंबलकडे। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—सुंबकडसमाणे जाव कंबलकडसमाणे ॥ १६५ ॥

छाया—चत्वारि पत्राणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—असिपत्रं, करपत्रं, क्षुरपत्रं, कदम्ब-चीरिकापत्रम्। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—असिपत्रसमानो यावत् कदम्बचीरिकापत्रसमानः।

चत्वारः कटाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शुम्बकटः, विदलकटः, चर्मकटः, कम्बलकटः। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—शुम्बकटसमानो यावत् कम्बलकट-समानः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के पत्ते कहे गए हैं, जैसे—असिपत्र, करपत्र—बढ़ई के आरे के समान पत्र, खुरपत्र अर्थात् उस्तरे के समान पत्र, कदंबचीरिकापत्र। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—असिपत्र समान, कदंबचीरिकापत्र के समान आदि।

चार प्रकार के कट अर्थात् चटाइयां कही गई हैं, जैसे—शुम्बकट—तृणविशेष कुशा-सरू आदि से बनाई गई चटाई। बिदलकट—बांस एवं बैंत आदि के छिलकों से बनी चटाई। चर्मकट—चमड़े से बनी चटाई। कम्बलकट—ऊनी, रेशमी, सूती, वस्त्रों आदि से बनी चटाई। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—शुम्बकट के समान, बिदलकट के समान, चर्मकट के समान और कम्बलकट के समान।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में बारह प्रकार के गोलों के माध्यम से साधकों की साधना-निष्ठा का परिचय दिया गया है, उसी परम्परा में प्रस्तुत सूत्र में साधक की मोहछेदन की तीव्र शक्ति और स्नेह-बन्धन की सुदृढ़ता का पत्र एव कट अर्थात् चटाई के वर्णन-माध्यम से विवेचन किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में पत्र का अर्थ है—शस्त्र निर्माण योग्य धातु की पत्ती, जैसे लोहे की पत्ती आदि। यह पत्र अर्थात् पत्ती चार प्रकार की होती है।

१. असि-पत्र, २. कर-पत्र, ३ क्षुर-पत्र और ४. कदम्ब-चीरिका-पत्र।

जो शस्त्र पत्त की तरह पतला हो उसे भी पत्र ही कहा जाता है। असि शब्द का अर्थ है—खड्ग अर्थात् तलवार जिसके द्वारा रस्सी आदि का छेदन एक ही प्रहार से हो जाता है।

करपत्र शब्द का अर्थ करोंत अर्थात् आरा होता है। कोई भी आरा तलवार की तरह लकड़ी को एक ही प्रहार से दो टुकडे नहीं कर सकता, वह धीरे-धीरे लकड़ी को चीरता है।

क्षुरपत्र का अर्थ है उस्तरा, वह भी धीरे-धीरे केशों को काटता है।

कदम्बचीरिकापत्र—उस शस्त्र को कहा जाता है जो बिल्कुल कुण्ठित हो, अतएव किसी भी वस्तु को काटने मे असमर्थ हो। कुछ विद्वान कदम्ब-चीरिका-पत्र का अर्थ

''नोकदार शस्त्र'' भी करते हैं, जो चुभ सकता है पर काट नहीं सकता।

असि-पत्र आदि के समान मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) जो व्यक्ति एक बार ही धर्मोपदेश सुनकर स्नेहपाश को सदा के लिए काट देता है वह मनुष्य 'असिपत्र' के समान माना जाता है, जैसे जम्बूस्वामी ने सुधर्मा स्वामी से एक बार ही धर्मोपदेश सुना और तत्क्षण उन्होंने मोहपाश को काट दिया और उससे मुक्त होकर साधना के क्षेत्र में विचरण करने लगे।

(ख) जो व्यक्ति पुनः पुनः धर्मोपदेश सुनकर धीरे-धीरे अभ्यास करता हुआ स्नेहपाशों का छेदन करता है, वह करपत्र के समान है। इस प्रकार नित्य सत्संग में जाने वाले, शास्त्राभ्यास करने वाले, प्रतिदिन साधना में लीन रहने का प्रयत्न करने वाले साधक करपत्र के समान ही माने जाते हैं।

(ग) जैसे गृहस्थ लोग दो चार दिन के बाद उस्तरे से दाढ़ी बनवाते हैं, या संन्यासी लोग सिर मुंडवा लेते हैं, परन्तु दो दिन बाद ही बाल फिर पैदा हो जाते हैं, ऐसे ही जो साधक कभी-कभी सत्संग आदि के द्वारा विरक्ति जागृत होने पर कुछ काल के लिए मोहपाश का छेदन कर देता है, परन्तु सुसंगति न मिलने पर पुनः उसी में फंस जाता है उसे क्षुरपत्र अर्थात् उस्तरे जैसा साधक कहा जाता है।

(घ) जो व्यक्ति मोहपाश का छेदन केवल मनोरथ मात्र से ही करता है व्यवहारतः नहीं, वह कदम्बचीरिका पत्र के समान होता है। जड़ एवं चेतन पदार्थों से मानव-मन का स्नेह जुड़ा हुआ है, उसका छेदन-भेदन करना सुगम कार्य नहीं है, प्रबल भावना के बिना उसका टूटना कठिन है। अविरति असम्यग्दृष्टि भी इसी कोटि के व्यक्ति होते हैं, वे स्नेहपाशों का छेदन करना चाहते हैं, परन्तु छेदन कर नहीं पाते, वे कदम्बचीरिका पत्र अर्थात् कुण्ठित शस्त्र के समान ही होते हैं जो चाहते हुए भी कुछ कर नहीं पाते हैं।

वे व्यक्ति भी कदम्बचीरिका पत्र के समान माने जाते हैं जो बगुला-भक्त बनकर दूसरों के दिल में गड़ते रहते हैं, लोगों को कष्ट देते रहते हैं और ठगते रहते हैं। साधक वेष में दूसरों को बुद्धू बनाया करते हैं।

कट अर्थात् चटाइयां भी चार प्रकार की होती हैं—१. शुंबकट, २. बिदलकट, ३. चर्मकट और ४. कंबलकट।

जिस बैठने अथवा सोने योग्य वस्तु का निर्माण आतान-वितान से या ताने-बाने से हो उसे कट कहते हैं। जो विशेष प्रकार के तृणों से बनाई गई चटाई हो उसे ''शुंबकट'' कहते हैं, जैसे कुशा आदि से बनाई गई चटाइयां। जो बांस या बैंत के छिलकों अथवा पतले टुकड़ों से चटाइयां बनाई जाती हैं उन्हें ''बिदलकट'' कहा जाता है। जिसकी बुनाई चमड़े की रस्सी से या तांतों से की गई हो उसे ''चर्मकट'' कहते हैं। जिसकी बुनती ऊन, सूत, रेशम या सन आदि के सूक्ष्म तन्तुओं से हुई हो, उसे ''कंबलकट'' कहा जाता है। कटों की तरह मनुष्य

भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक ऐसे साधक होते हैं जिनका गुरु आदि से तथा सांसारिक पदार्थों में स्नेह-बंध स्वल्प-सा ही होता है, जैसे तिनकों से बनी हुई चटाई थोड़ी-सी भी प्रतिकूलता में ढीली पड़ जाती है अर्थात् खुल जाती है उसी प्रकार जिनके स्नेह-बन्धन शीघ्र टूटने वाले होते हैं, उन्हें "शुंबकट" के समान कहा जाता है।

(ख) शुंबकट की अपेक्षा बिदलकट अर्थात् बैंत आदि से बनी चटाइयों के बन्ध ऐसे दृढ़ एवं मजबूत होते हैं जो थोड़ी-सी प्रतिकूलता में खुलते नहीं। इसी प्रकार जिनके स्नेह-बन्ध शीघ्र नहीं टूटते, किसी विशेष घटना के घटित होने पर ही टूटा करते हैं उन्हें "बिदलकट के समान" कहा जाता है।

(ग) जिस व्यक्ति या साधक का गुरु आदिक में अथवा सांसारिक पदार्थों में स्नेहबंध बिदलकट की अपेक्षा से भी दृढ़ है, जो अधिक प्रतिकूलता में भी ढीला नहीं होता, ऐसे साधक "चर्मकट के समान" होते हैं।

(घ) जिस पुरुष का स्नेहबंध गुरु अथवा सांसारिक पदार्थों में दृढ़तम है वह कम्बलकट के समान है। जैसे कम्बलकट का बन्ध इतना मजबूत होता है कि वह साधारण परिस्थितियों में ढीला नहीं पड़ता, वैसे ही जिसका स्नेहबंध दृढ़तम हो ऐसे परम स्नेह के लिए कंबलकट की उपमा दी जाती है। इन्द्रभूति गौतम में भगवान महावीर के प्रति जो रागबंध था वह कम्बलकट के ही समान था। संयम-तप की अखंड साधना करने पर भी भगवान महावीर के होते हुए वह स्नेह बंध को न तोड सके। अनेक जन्मों से लगातार स्नेह-बंध चला आ रहा हो वह शीघ्रता से नहीं टूटता, उस बंध का तोड़ना अति कठिन होता है।

तीन प्रकार के राग धर्मक्रिया में बाधक होते हैं—कामराग, स्नेहराग और दृष्टिराग। जो राग किसी नर या नारी को देखकर, सुनकर, चिंतनकर या छूकर वासना को जागृत कर दे उसे कामराग कहा जाता है। जो सांसारिक पदार्थों या व्यक्तियों से होने वाला मोहाकर्षण है वह 'स्नेहराग' कहलाता है। जो राग किसी संप्रदाय से, जाति से, देश से, अपने पक्ष के लोगों से हो उसे दृष्टिराग कहते हैं। ये तीनों राग धर्म में बाधक होते हैं, किन्तु जो राग धर्म-क्रिया में बाधक न हो वह धर्मराग कहलाता है। धर्मराग भी वीतराग संयमी का बाधक होता है। गुरुजनों पर धर्मराग ही हुआ करता है परन्तु बंध से मोक्ष होने में सभी राग बाधक माने गए हैं अतः वीतरागता को ही मोक्ष का साधन माना गया है।

चतुर्विध पशु, पक्षी और क्षुद्र प्राणी

मूल—चउव्विहा चउप्पया पण्णत्ता, तं जहा—एगखुरा, दुखुरा, गंडीपया, सणप्फया।

चउव्विहा पक्खी पण्णत्ता, तं जहा—चम्मपक्खी, लोमपक्खी,

समुग्गपक्खी, वियतपक्खी।

चउव्विहा खुड्डा पाणा पण्णत्ता, तं जहा—बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, संमुच्छिम-पंचिंदियतिरिक्ख-जोणिया॥१३६॥

छाया—चतुर्विधाश्चतुष्पदाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एगखुराः, द्विखुराः, गण्डीपदाः, सनखपदाः।

चतुर्विधाः पक्षिणः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चर्मपक्षिणः, लोमपक्षिणः, समुद्गपक्षिणः, विततपक्षिणः।

चतुर्विधाः क्षुद्रप्राणाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—द्वीन्द्रियाः, त्रीन्द्रिया, चतुरिन्द्रियाः, सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के चौपाये होते हैं, जैसे—१. एक खुर वाले, २. दो खुर वाले, ३. गंडीपद और ४. सनखपद।

चार प्रकार के पक्षी कहे गए हैं, जैसे—१. चर्मपक्षी, २. लोमपक्षी, ३. समुद्गपक्षी और ४. विततपक्षी।

चार प्रकार के क्षुद्र प्राणी कहे गए हैं, जैसे—१. द्वीन्द्रिय, २. त्रीन्द्रिय, ३. चतुरिन्द्रिय और ४. समूर्च्छिम-पंचिंद्रिय-तिर्यञ्चयोनिक।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में नाना प्रकार के शस्त्रों के माध्यम से साधक की मोहच्छेदक साधना आदि का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में जिन्होंने मोह का छेदन नहीं किया तथा सुदृढ साधना के अभाव में जीवात्मा जिन तिर्यंच योनियों में जन्म लेता है अब सूत्रकार उनकी विविधता का वर्गीकृत विवेचन करते हैं—

पशुभेद

भूमि पर विचरण करने वाले पंचेन्द्रिय तिर्यंच चार प्रकार के होते हैं—(१) एक खुर वाले पशु अर्थात् जिनके पांवों में एक ही खुर हो, जैसे कि गधा, घोड़ा इत्यादि। (२) जिन पशुओं के दो खुर होते हैं वे "दो खुरा" कहलाते हैं, जैसे कि गाय, भैंस, भेड़, बकरी, मृग इत्यादि। (३) जिनके पांव सुनार की ऐरन के समान हों, उन्हें गण्डिकापद कहते हैं, जैसे कि हाथी-गैंडा इत्यादि। जिनके पांव नाखुनों वाले हों उन्हें "सनखपद" कहते हैं, जैसे कि सिंह, कुत्ता, बिल्ला इत्यादि।

एक खुर वाले प्राणियों के सिर पर सींग नहीं होते और न ही वे जुगाली करते हैं। दो खुर वाले प्राणियों के सिर पर सींग भी होते हैं और जुगाली भी करते हैं। ऊंट जुगाली करता है, किन्तु उसके सींग नहीं होते। गंडिकापद पशु निरामिष और बलशाली होते हैं। उपर्युक्त सभी प्राणी मांसाहारी नहीं, अपितु शाकाहारी होते हैं, किन्तु नाखूनों वाले प्राणी प्रायः

मांसाहारी और शिकारी होते हैं। इस प्रकार पशु जाति में चरणाकृति भेद से स्वभाव-भिन्नता भी पाई जाती है।

पक्षी-भेद

अब सूत्रकार संज्ञी-पंचेन्द्रिय प्राणियों में पक्षियों की चतुर्विधता का वर्णन करते हैं। सूत्रकार की सूक्ष्मदृष्टि ने समस्त पक्षियों को चार भागों में विभक्त किया है—जैसे कि चर्मपक्षी, रोम-पक्षी, समुद्ग पक्षी और वितत पक्षी।

चर्म-पक्षी—ये वे पक्षी हैं जिनके शरीर पर रोम नहीं होते जो चर्म पंखों के सहारे ही उड़ते हैं, जैसे भारण्ड पक्षी और चमगादड़ आदि।

रोम-पक्षी—ये वे पक्षी हैं जिनके शरीर पर रोम होते हैं और जो पंखों के सहारे आकाश में उड़ते हैं। जैसे तोते, कौए, चीलें आदि।

समुद्ग पक्षी—यद्यपि इस जाति के पक्षियों का अन्तर्भाव रोमपक्षी वर्ग में ही हो जाता है, तथापि इन्हें इसलिए अलग रखा गया है, क्योंकि ये रोम वाले होते हुए भी अपने पंखों को फैलाकर उनके सहारे उड़ते नहीं हैं, समुद्ग अर्थात् डिब्बे की तरह इनके पंख इनके शरीर को ढके ही रहते हैं। यद्यपि टीकाकारों ने इस पक्षी को मनुष्य क्षेत्र से बाहर का बताया है, परन्तु हो सकता है कि शास्त्रकार का अभिप्राय भारत से भिन्न समुद्र पार के अन्य देशों में पाए जाने वाले पक्षियों से हो। ऐसी दशा में शतुर्मुर्ग आदि पक्षी इसी कोटि में आ सकते हैं, क्योंकि वे पंखों के सहारे उड़ते नहीं, अपितु अपनी लम्बी-लम्बी टांगों के सहारे रेतीले प्रदेशों में सवारियों को उठाकर दौड़ा करते हैं।

वितत-पक्षी—यह चर्म पक्षी का ही एक भेद है। यह अनुश्रुति है कि भारण्ड पक्षी सर्वदा अपने चर्म-पंखों के सहारे उड़ता ही रहता है, कभी धरती या किसी वृक्ष पर बैठता नहीं है। इसके पंख सर्वदा 'वितत' अर्थात् फैले ही रहते हैं, अतः इसे विततपक्षी कहा जाता है। संस्कृत साहित्य में 'शार्दूल' नाम के पक्षी की भी ऐसी ही अनुश्रुति है कि वह सर्वदा आकाश में उड़ानें ही भरता रहता है, अतः उसे भी विततपक्षी की श्रेणी में ही रखा जा सकता है।[१]

क्षुद्र-प्राणी

क्षुद्र अर्थात् बहुत छोटे आकार के एवं निकृष्ट समझे जाने वाले प्राणी भी चार प्रकार के होते हैं—**द्वीन्द्रिय**—दो इन्द्रियों वाले (सीप, शंख, जोंक, लट आदि), **त्रीन्द्रिय**—तीन इन्द्रियों वाले (जूं, लीख, ढोरा, सुरसरी आदि), **चतुरिन्द्रिय**—चार इन्द्रियों वाले प्राणी (मक्खी, मच्छर, भ्रमर आदि) और **असंज्ञी**—मनश्चेतना से रहित तिर्यंच पंचेन्द्रिय प्राणी (बरसाती मेंढक आदि)। इन चारों जातियों के क्षुद्र जीव जल-स्थल और आकाश में सर्वत्र पाए जाते हैं।

---

१. विशेष वर्णन के लिए देखिए प्रज्ञापना सूत्र प्रथम पद।

इन्हें क्षुद्र इसलिए कहा गया है, क्योंकि ये आकार प्रकार में भी छोटे होते हैं और साथ ही अनन्तर भव में जन्म लेकर चरम शरीरी बनकर मोक्ष पद को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

शास्त्रकार ने इस प्रकरण में एक खुर आदि पशुओं का, चर्मपक्षी आदि पक्षियों का और क्षुद्र जीवों का परिचयात्मक वर्गीकरण इसलिए किया है, ताकि आत्मा को इन योनियों का परिचय प्राप्त हो जाए और वह ऐसे कर्म न करे जिससे उसे इन योनियों में भ्रमण करना पड़े और साथ ही ऐसे पुण्य साधना में लीन हो सके जो उसका उद्धार कर दे।

पक्षियों जैसे भिक्षुक

मूल—चत्तारि पक्खी पण्णत्ता, तं जहा—णिवइत्ता णाममेगे नो परिवइत्ता, परिवइत्ता नामं एगे नो निवइत्ता, एगे निवइत्तावि, परिवइत्तावि, एगे नो निवइत्ता, नो परिवइत्ता। एवामेव चत्तारि भिक्खागा पण्णत्ता, तं जहा—णिवइत्ता णाममेगे नो परिवइत्ता०४ ॥१३८॥

छाया—चत्वारः पक्षिणः, प्रज्ञप्तास्तद्यथा—निपतिता नामैको नो परिव्रजिता, परिव्रजिता नामैको नो निपतिता, एको निपतिताऽपि परिव्रजिताऽपि, एको नो निपतिता नो परिव्रजिताः। एवमेव चत्वारो भिक्षाकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—निपतिता नामैको नो परिव्रजिताः०४।

शब्दार्थ—**चत्तारि पक्खी पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार के पक्षी होते हैं, जैसे—**णिवइत्ता णाममेगे नो परिवइत्ता**—एक पक्षी घौंसले से बाहिर निकल तो जाता है, परन्तु इधर-उधर दूर तक घूम नहीं सकता, जैसे बालपक्षी, **परिवइत्ता नामं एगे नो निवइत्ता**—एक पक्षी इधर-उधर दूर तक घूम तो सकता है, परन्तु घौंसले से बाहिर निकल नहीं सकता, जैसे युवा भीरु पक्षी, **एगे निवइत्तावि, परिवइत्तावि**—एक घौंसले से निकल भी जाता है और दूर-दूर तक घूमता भी है, जैसे युवा और साहसिक पक्षी। **एगे नो निवइत्ता, नो परिवइत्ता**—एक न घौंसले से निकल सकता है और न ही समीप व दूर तक उड़ सकता है, जैसे अतिबालक पक्षी। **एवामेव चत्तारि भिक्खागा पण्णत्ता, तं जहा**—इसी तरह चार प्रकार के भिक्षु कहे गए हैं, जैसे—**णिवइत्ता णाममेगे नो परिवइत्ता०४**—एक भिक्षुक आहार के लिए जाने में समर्थ है, परन्तु रोग, आलस्य और लज्जा आदि के कारण सब घरों में जाने में समर्थ नहीं है। इसी तरह चतुर्भंगी बना लेनी चाहिए।

मूलार्थ—चार प्रकार के पक्षी कहे गए हैं, जैसे—एक पक्षी घौंसले से बाहर निकल सकता है, परन्तु इधर-उधर उड़ नहीं सकता। एक इधर-उधर घूम सकता है, परन्तु घौंसले से बाहिर नहीं निकल पाता। एक बाहिर निकल भी सकता है और दूर-दूर तक घूम भी सकता है। एक न बाहिर निकल सकता है और न इधर-उधर

फिर सकता है। इसी तरह चार प्रकार के भिक्षु होते हैं, जैसे—एक भिक्षु-आहार के लिए चल पड़ता है, परन्तु रोगादि के कारण घरों में जाने के लिए समर्थ नहीं है। अन्य तीन भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में पक्षियों का परिचय दिया गया है। उसी प्रकरण के अन्तर्गत पुनः पक्षियों का परिचय देकर उनके साथ भिक्षुक की तुलना उपस्थित करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

इस सूत्र में एक चौभंगी पक्षी के विषय में बनाई गई है और दूसरी भिक्षु विषयक है। यह इसलिए किया गया है क्योंकि जो विशेषता उपमान में पाई जाती है वही उपमेय में होती है, जैसे कि—

(क) एक पक्षी नीड़ से बाहर तो निकल सकता है, परन्तु उड़ान लगाने में समर्थ नहीं होता।

(ख) एक पक्षी उड़ान लगाने में तो समर्थ है, किन्तु अपने नीड़ से बाहर नहीं निकलता।

(ग) एक नीड़ से बाहर भी निकल सकता है और उड़ान लगाने में भी समर्थ है।

(घ) एक पक्षी न नीड़ से निकलने में समर्थ है और न उड़ान लगाने में ही समर्थ है।

जो पक्षी शैशवकाल होने के कारण, धृष्टता से या अबोध होने से घौंसले से बाहर आ जाता है, किन्तु उड़ान की शक्ति से विहीन है, वह प्रथम भंग में गर्भित हो जाता है। दूसरे भंग में वे भीरू या आलसी पक्षी आते हैं जो उड़ने में समर्थ होते हुए भी नीड़ से बाहर नहीं निकलते। जो पक्षी पुष्ट और उड़न-शक्ति संपन्न हैं वे तीसरे भंग में और जो न तो घौंसले से बाहर निकलने में समर्थ हैं और न उड़ने में समर्थ हैं उन्हें चतुर्थ भंग के पक्षी कहा जा सकता है, जैसे तत्काल अंडे से निकला हुआ बच्चा।

पक्षी के समान भिक्षु भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक भिक्षु भिक्षा के लिए उपाश्रय से बाहर तो निकलता है, किन्तु परिभ्रमण नहीं करता, रोगी होने से, आलसी होने या लज्जाशील होने के कारण परिभ्रमण करने में असमर्थ रहता है।

(ख) दूसरे भिक्षु परिभ्रमण करने में समर्थ होने पर भी भिक्षा के लिए जाते ही नहीं हैं, क्योंकि वे स्वाध्याय-ध्यान आदि में संलग्न रहते हैं।

(ग) कुछ भिक्षु सब तरह से समर्थ होने के कारण भिक्षा के लिए जाते हैं और निर्दोष भिक्षा लाने के लिए इधर-उधर भ्रमण करने में भी समर्थ होते हैं।

(घ) कुछ नवदीक्षित भिक्षु गोचरी के नियमों से अनभिज्ञ होने के कारण न भिक्षा के लिए उपाश्रय से बाहर जाते हैं और न भिक्षाटन में ही समर्थ होते हैं।

इस चतुर्भंगी से क्रमशः आलस्य, तप, वैयावृत्यकर्म और अबोध दशा का ज्ञान भली-भाँति हो सकता है तथा अभिग्रह-विशेष का बोध भी हो जाता है। उपदेश या विहार आदि क्रियाओं के समय साधु को इस चौभंगी को लक्ष्य में रखना चाहिए कि वह किस कारण से भिक्षा के लिए जा रहा है और किन कारणों से भिक्षा के लिए नहीं जा रहा। वैयावृत्य, स्वाध्याय आदि के उद्देश्य से भिक्षा के लिए साधु का न जाना निर्दोष होता है, परन्तु आलस्य एवं प्रमाद आदि के कारण उसका भिक्षार्थ न जाना उचित नहीं कहा जा सकता।

द्रव्य और भाव की सबलता-दुर्बलता आदि की दृष्टि से पुरुष-भेद

मूल—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—णिक्कट्ठे णाममेगे णिक्कट्ठे, णिक्कट्ठे नाममेगे अणिक्कट्ठे०४।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—णिक्कट्ठे नाममेगे णिक्कट्ठप्पा, णिक्कट्ठे नाममेगे अणिक्कट्ठप्पा०४।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—बुहे नाममेगे बुहे, बुहे नाममेगे अबुहे०४।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—बुहे नाममेगे बुहहियए०४।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—आयाणुकंपए णाममेगे नो पराणुकंपए०४॥१३९॥

छाया—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—निकृष्टो नामैको, निकृष्टः, निकृष्टो नामैकोऽनिकृष्टः०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—निकृष्टो नामैको निकृष्टात्मा, निकृष्टो नामैकोऽनिकृष्टात्मा०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—बुधो नामैको बुधः, बुधो नामैकोऽबुधः०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—बुधो नामैको बुधहृदयः०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—आत्मानुकम्पको नामैको नो परानुकम्पकः०४।

शब्दार्थ—चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे— **णिक्कट्ठे णाममेगे णिक्कट्ठे**—कुछ पुरुष द्रव्य और भाव दोनों की दृष्टि से

दुर्बल होते हैं। **णिक्कट्ठे नाममेगे अणिक्कट्ठे**—कुछ पुरुष द्रव्य अर्थात् शरीर की दृष्टि से दुर्बल होते हुए भी भाव की दृष्टि से दुर्बल नहीं होते। शेष दो भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष और भी कहे हैं, जैसे, **णिक्कट्ठे नाममेगे णिक्कट्ठप्पा**—कुछ पुरुष निकृष्ट शरीर होते हुए भी आत्मा की दृष्टि से भी निकृष्ट होते हैं, **णिक्कट्ठे नाममेगे अणिक्कट्ठप्पा**—कुछ शरीर की अपेक्षा निकृष्ट होने पर भी आत्मा की दृष्टि से सशक्त होते हैं। शेष दो भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष और भी कहे हैं, जैसे, **बुहे नाममेगे बुहे**—कुछ पुरुष शास्त्रज्ञता की अपेक्षा से पंडित और काय-निपुणता की अपेक्षा भी पण्डित होते हैं, **बुहे नाममेगे अबुहे०४**—कुछ पुरुष शास्त्रज्ञता की दृष्टि से पण्डित होते हुए भी आचरण की दृष्टि से पण्डित नहीं होते। शेष दो भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिएं।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे, **बुहे नाममेगे बुहहियए०**—कुछ पुरुष शास्त्रज्ञता से बुध और विवेकयुक्त हृदय होने से बुधहृदय भी होते हैं। शेष तीन भंग समझ लेने चाहिएं।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे, **आयाणु-कंपए णाममेगे नो पराणुकंपए०४**—कुछ व्यक्ति अपने आप पर अनुकम्पा करने वाले होते हैं, परन्तु दूसरों पर नहीं। शेष तीन भंगों को भी बुद्धिगम्य कर लेना चाहिए।

मूलार्थ—चार प्रकार के पुरुष हुआ करते हैं, जैसे—कुछ पुरुष द्रव्य से निकृष्ट और भाव से भी निकृष्ट होते हैं अर्थात् तपस्या आदि के कारण शरीर से दुर्बल हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भावों की मन्दता न होने के कारण भावों की अपेक्षा से भी दुर्बल हुआ करते हैं। एक द्रव्य की अपेक्षा निकृष्ट, किन्तु भावों की अपेक्षा अनिकृष्ट अर्थात् शरीर से दुर्बल, परन्तु कषायों की मन्दता होने से भाव की अपेक्षा से दुर्बल नहीं होते। शेष दो भंग भी इसी तरह समझने चाहिएं।

चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे—एक शरीर से दुर्बल और आत्मा की अपेक्षा से भी दुर्बल होते हैं। कुछ शरीर की अपेक्षा दुर्बल, किन्तु आत्मा की अपेक्षा से बलवान होते हैं। शेष भंग भी इसी तरह जान लेने चाहिएं।

चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—कुछ पुरुष शास्त्रज्ञ होने से पण्डित हैं और कार्य में निपुण होने से भी पण्डित होते हैं। कुछ शास्त्रज्ञता की दृष्टि से पण्डित हैं, किन्तु कार्यकुशलता न होने से अबुध अर्थात् मूर्ख माने जाते हैं। शेष

दो भंग भी इसी तरह जानने चाहिएं।

चार प्रकार के पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे—कुछ शास्त्रज्ञ होने से बुध हैं और विवेकयुक्त हृदय होने से बुध-हृदय भी हैं। शेष तीन भंग इसी प्रकार जान लेने चाहिएं।

चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे—कुछ पुरुष अपना हित करने से आत्मानुकम्पी हैं, परन्तु दूसरों पर अनुकम्पा करने वाले नहीं होते। शेष तीन भंग भी इसी तरह जानने चाहिएं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में पक्षियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उपाश्रय से भिक्षार्थ निकलने और न निकलने वाले भिक्षुजनों का वर्णन किया गया है, उसी परम्परा में उपवासादि के निमित्त भिक्षार्थ जाने वाले और न जाने वाले साधक की व्रतोपवास आदि की दृष्टि से होने वाली शारीरिक कृशता एवं कषायों की कृशता को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार पुनः साधकों का वर्गीकरण करते हैं—

साधु-वृन्द भी मानव हैं और मानवता के क्षेत्र में सबलता का दिन और दुर्बलता की रात्रि दोनों का आवागमन बना रहता है। साधु यदि आलस्यादि दोषों के कारण भिक्षार्थ नहीं जाता है तो यह उसकी दुर्बलता है और यदि वह व्रतोपवास, स्वाध्याय, सेवा एवं तप आदि को लक्ष्य में रखकर भिक्षा से निवृत्त रहता है तो यह उसकी सबलता है। प्रस्तुत प्रकरण में सबलता को ही लक्ष्य में रखकर प्रथम वर्गीकरण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि शारीरिक एवं मानसिक कृशता, पुष्टता की दृष्टि से साधक चार प्रकार के होते हैं—

उपवासादि और कषाय-विजय

(क) पहला वह साधक है जिसने व्रतोपवासादि के द्वारा शरीर को कृश बनाते हुए क्रोधादि कषायों को भी कृश कर दिया है।

(ख) दूसरा वह साधक है जिसने व्रतोपवासादि के द्वारा शरीर को तो दुर्बल बना दिया है, परन्तु अध्यात्म-साधना के अभाव में कषायों को कृश नहीं कर सका है, अतः जिसकी साधना अपूर्ण है।

(ग) तीसरा वह साधक है जिसने उचित समय पर शरीर यात्रा के लिए आवश्यक भोजनादि लेते हुए शरीर को तो दुर्बल नहीं होने दिया, परन्तु कषायों को क्षीण कर दिया है। ऐसा साधक जीने के लिए भोजन करता है भोजन के लिए जीता नहीं है।

(घ) कुछ ऐसे भी प्रमत्त साधक होते हैं जो खूब खाते-पीते हैं और शरीर का यथेष्ट पोषण भी करते हैं, परन्तु कषायों को क्षीण करने रूप अपने साधु-जीवन के ध्येय को भूल जाते हैं।

शरीर-साधना और आत्म-साधना

अब शास्त्रकार शरीर-साधना और आत्म-साधना की दृष्टि से साधक-जीवन का विश्लेषण करते हुए उसके भी चार रूप उपस्थित करते हुए कहते हैं:—

(क) पहले वे साधक होते हैं जो बाह्य तप अर्थात् उपवासादि द्वारा शरीर को कृश बना देते हैं और साथ ही आभ्यन्तर तप अर्थात् ध्यान, आत्मचिन्तन आदि साधनाओं द्वारा आत्मा को भी कृश बना देते हैं—आत्मा को कषाय-भार से मुक्त कर देते हैं।

(ख) दूसरे प्रकार के वे साधक होते हैं जो बाह्य तप द्वारा शरीर को कृश बना देते हैं, परन्तु आभ्यन्तर तप के अभाव में आत्मा को कषाय-भार से मुक्त करके उसे हल्का नहीं बना पाते।

(ग) तीसरे प्रकार के वे साधक होते हैं जो बाह्य तप की ओर विशेष ध्यान नहीं देते, परन्तु अन्तः-साधना के प्रति सतत् जागरूक रहते हैं, अतः कषाय-आत्मा को निरन्तर कृश करते रहते हैं अर्थात् कषाय-मुक्ति द्वारा आत्मोद्धार के लिए कृत-संकल्प हुआ करते हैं।

(घ) चौथे प्रकार के वे साधक होते हैं जो बाह्य तप और अन्तःसाधना दोनों से उदासीन रहते हैं, जो जीने के लिए जीते हैं साधना के लिए नहीं।

इनमें से प्रथम साधक सर्वश्रेष्ठ होते हैं, दूसरे और तीसरे साधना-पथ के पथिक बनकर प्रगति की ओर बढ़ते रहते हैं, परन्तु चौथे प्रकार के साधक **'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः'** की श्रेणी में आते हैं और इन्हीं के लिए कहा गया है—**''तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः''** हम तप के द्वारा अपने आप को तपाकर शुद्ध तो न कर पाए, परन्तु पाप-ताप से स्वयं तप्त होते रहे।

पाण्डित्य और आचरण

अब शास्त्रकार पाण्डित्य और आचरण की दृष्टि से साधकों का वर्गीकरण करते हैं। जीवन के उत्थान के लिए बुद्धि पर विद्वत्ता का भार लाद लेने मात्र से कुछ नहीं होता, जब तक कि प्राप्त पाण्डित्य के अनुसार आचरण न किया जाए। विश्व की सभी धार्मिक परम्पराएं आचरण को ही प्रधानता देती हैं। वैदिक परम्परा में कहा गया है कि **''आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः''**—शुद्ध आचार-विचार से रहित व्यक्ति को वेदों का अध्ययन भी पवित्र नहीं कर सकता है। नीतिकारों ने पाण्डित्य से पूर्ण एवं आचरण से हीन व्यक्ति की चन्दन भार से लदे हुए गधे से समता करते हुए कहा है कि 'गधा चन्दन के भार को ही समझ सकता है उसकी सुगन्ध को नहीं, इसी प्रकार निरन्तर अभ्यास के द्वारा बुद्धि पर पाण्डित्य के भार को लादने वाले पण्डित भी यदि आचरण की सुगन्ध का आनन्द नहीं लेते तो वे भी उसी गधे के समान ही कहे जा सकते हैं। इसी दृष्टिकोण से चतुर्भंगी की कल्पना करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(क) कुछ व्यक्ति विद्वान् होते हैं और स्वाध्याय द्वारा प्राप्त ज्ञान के अनुसार आचरण करने वाले भी हुआ करते हैं।

(ख) कुछ व्यक्ति विद्वान् तो होते हैं, परन्तु प्राप्त ज्ञान के अनुरूप जीवन को ढालने की कला से अनभिज्ञ रहते हैं, अतः आचरणशील नहीं बन पाते।

(ग) कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो विद्वान् तो नहीं होते, किन्तु श्रद्धापूर्वक सुने हुए ज्ञान के अनुरूप जीवन में उसका आचरण अवश्य करते हैं।

(घ) कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो न तो विद्वान् होते हैं और न ही आचरणशील होते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए नीतिकारों ने कहा है—**"ते मृत्युलोके भुवि भारभूताः मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति"**—ऐसे लोगों को इस मृत्युलोक में पृथ्वी के भार कहा जाता है और वे लोग ही 'मनुष्य शरीरधारी पशु' कहे जाते हैं।

मस्तिष्क-बोध और हृदय-बोध

विद्वत्ता मस्तिष्क निवासिनी है और विवेक हृदय में निवास करता है। धर्मशास्त्रों के अध्ययन और दर्शन-शास्त्र के निरन्तर अभ्यास से जिसका मस्तिष्क पाण्डित्य से परिपूर्ण हो चुका है वह बुध अर्थात् विद्वान् है और जिसके हृदय मन्दिर में सम्यग्ज्ञान का आलोक फैल गया है वह बुध-हृदय है, विवेकशीलता ही ज्ञान को सम्यक्त्व प्रदान करती है। अतः अब शास्त्रकार बौद्धिक पाण्डित्य और हार्दिक विवेक की दृष्टि से नवीन चतुर्भंगी उपस्थित करते हुए कहते हैं—

(क) कुछ व्यक्ति विद्वान् भी होते हैं और उनके हृदय में विवेकशीलता भी होती है, अतः बुध-हृदय भी होते हैं।

(ख) कुछ व्यक्ति विद्वान् तो होते हैं, परन्तु विवेकशील नहीं होते।

(ग) कुछ व्यक्ति विवेकशील होते हैं, किन्तु विद्वान् नहीं होते।

(घ) चौथे प्रकार के वे ठूंठ जैसे व्यक्ति भी होते हैं जो न विद्वान् होते हैं और न ही विवेकशील ही हुआ करते हैं। ऐसे अनभिज्ञ व्यक्ति का जीना भी न जीने के बराबर ही होता है।

अनुकम्पा की दृष्टि से

तपस्वी, ज्ञानी और विद्वान् ही अनुकम्पाशील होते हैं। अतः अब शास्त्रकार अनुकम्पा की दृष्टि से मानवता का चतुर्विध विश्लेषण करते हैं:—

(क) कुछ व्यक्ति अपने आप पर अनुकम्पा करते हैं दूसरों पर नहीं। प्रत्येक बुद्ध और जिनकल्पी महापुरुष भी इसी कोटि में आते हैं और लौकिक दृष्टि से स्वार्थी मनुष्यों को भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है।

(ख) कुछ महामानव ऐसे भी होते हैं जो दूसरों पर अनुकम्पा करते हैं, अपने आप पर नहीं। तीर्थंकर भगवान और लौकिक दृष्टि से स्वयं कष्ट सहन कर दूसरों को सुख पहुंचाने वाले व्यक्ति इसी प्रकार के हुआ करते हैं।

(ग) तीसरे प्रकार के वे महापुरुष होते हैं जो अपने आप पर भी अनुकम्पा करते हैं और दूसरों पर भी। स्थविरकल्पी महात्मा एवं सज्जन प्रकृति दयालु व्यक्ति इसी रूप में देखे जा सकते हैं।

(घ) चौथे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो न अपने आप पर अनुकम्पा करते हैं और न दूसरो पर ही। अपना विनाश करके भी दूसरों के विनाश की कामना करने वाले नीच-प्रकृति दुष्ट लोग इसी प्रकार के हुआ करते है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र मे शास्त्रकार की लौकिक एवं अलौकिक उभय-पथ गामिनी बुद्धि कुशलता ने मानवता का सोलह रूपों मे यथार्थ वर्णन उपस्थित किया है।

संवास-भेद

मूल—चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा—दिव्वे, असुरे, रक्खसे, माणुसे। चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा—देवे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छइ, देवे नाममेगे असुरीए सद्धिं संवासं गच्छइ, असुरे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छइ, असुरे नाममेगे असुरीए सद्धिं संवासं गच्छइ।

चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा—देवे नाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छइ, देवे नाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छइ, रक्खसे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छइ, रक्खसे नाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छइ।

चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा—देवे नाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छइ, देवे नाममेगे मणुस्सीए सद्धिं संवासं गच्छइ, मणुस्से नाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छइ, मणुस्से नाममेगे मणुस्सीए सद्धिं संवासं गच्छइ।

चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा—असुरे नाममेगे असुरीए सद्धिं संवासं गच्छइ, असुरे नाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छइ०४।

चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा—असुरे नाममेगे असुरीए सद्धिं संवासं गच्छइ, असुरे नाममेगे मणुस्सीए सद्धिं संवासं गच्छइ०४।

चउव्विहे संवासे पण्णत्ते, तं जहा—रक्खसे नाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छइ, रक्खसे नाममेगे माणुस्सीए सद्धिं संवासं गच्छइ०४ ॥ १४० ॥

छाया—चतुर्विधः संवासः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—दिव्यः, आसुरः, राक्षसः, मानुषः।

चतुर्विधः संवासः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—देवो नामैको देव्या सार्धं संवासं गच्छति, देवो नामैकः असुर्या सार्धं संवासं गच्छति, असुरो नामैको देव्या सार्धं संवासं गच्छति, असुरो नामैकः असुर्या सार्धं संवासं गच्छति।

चतुर्विधः संवासः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—देवो नामैको देव्या सार्धं संवासं गच्छति, देवो नामैको राक्षस्या सार्धं संवासं गच्छति, राक्षसो नामैको देव्या सार्धं संवासं गच्छति, राक्षसो नामैको राक्षस्या सार्धं संवासं गच्छति।

चतुर्विधः संवासः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—देवो नामैको देव्या सार्धं संवासं गच्छति, देवो नामैको मानुष्या सार्धं संवासं गच्छति, मनुष्यो नामैको देव्या सार्धं संवासं गच्छति, मनुष्यो नामैको मानुष्या सार्धं संवासं गच्छति०४।

चतुर्विधः संवासः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—असुरो नामैकोऽसुर्या सार्धं संवासं गच्छति, असुरो नामैको राक्षस्या सार्धं संवासं गच्छति०४।

चतुर्विधः संवासः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—असुरो नामैकोऽसुर्या सार्धं संवासं गच्छति, असुरो नामैको मानुष्या सार्धं संवासं गच्छति०४।

चतुर्विधः संवासः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—राक्षसो नामैको राक्षस्या सार्धं संवासं गच्छति, राक्षसो नामैको मानुष्या सार्धं संवासं गच्छति०४।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार का संवास अर्थात् संभोग कहा गया है, जैसे—देव-सम्बधी, असुर-सम्बंधी, राक्षस-सम्बंधी, मनुष्य-सम्बंधी।

चार प्रकार का संवास कहा गया है, जैसे—कोई एक देव देवी के साथ संवास करता है। कोई एक देव असुरी के साथ संवास करता है। कोई असुर देवी के साथ संवास करता है। कोई असुर असुरी के साथ संवास करता है।

चार प्रकार का संवास कहा गया है, जैसे—देव-देवी के साथ संवास करता है। देव राक्षसी के साथ संवास करता है। राक्षस देवी के साथ संवास करता है। राक्षस राक्षसी के साथ संवास करता है।

चार प्रकार का संवास कहा गया है, जैसे—देव देवी के साथ संवास करता है। देव मानुषी के साथ सवास करता है। मनुष्य देवी के साथ सवास करता है। मनुष्य मानुषी के साथ संवास करता है।

चार प्रकार का संवास कहा गया है, जैसे—असुर असुरी के साथ संवास करता है। असुर राक्षसी के साथ संवास करता है०४। शेष दो भंग भी इसी प्रकार समझ लेने चाहिएं।

चार प्रकार का संवास कहा गया है, जैसे—असुर असुरी के साथ संवास करता

है। असुर मानुषी के साथ संवास करता है०४।

चार प्रकार का संवास कहा गया है, जैसे—राक्षस राक्षसी के साथ संवास करता है। राक्षस मानुषी के साथ संवास करता है०४।

विवेचनिका—संमुर्च्छिम जीवों को छोड़कर शेष सभी जीव चाहे वे गृहस्थ साधक हों या सामान्य जीवन व्यतीत करने वाले सामान्य प्राणी हों, प्रायः सभी संवास करते ही हैं, अतः पुरुष-परिचय के अनन्तर शास्त्रकार अब जीवों की काम-वासना एवं तज्जन्य संवास पर प्रकाश डालते हैं। संवास शब्द का अर्थ होता है "स्त्रिया सह संवसनं—शयनं संवासः" अर्थात् कामवासना के उदय होने पर जब कोई व्यक्ति किसी स्त्री के साथ रति-क्रीड़ा करता है, उस रति-क्रीड़ा को 'संवास' कहा जाता है। मोहनीय कर्म के उदय से जो विकार उत्पन्न होता है उसे उपशम करने के लिए ही संवास किया जाता है। देव पद से वैमानिक और ज्योतिष्क दोनों ग्रहण किए जाते हैं, असुर शब्द से सभी भवनपतियों का ग्रहण हो जाता है और राक्षस शब्द से सभी वानव्यन्तरों का ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार देवियों के विषय में भी समझ लेना चाहिए। इनके भंग निम्न प्रकार से हैं—

१. (क) कभी देव देवी के साथ संवास करता है।
(ख) कभी देव असुरी के साथ संवास करता है।
(ग) कभी असुर देवी के साथ संवास करता है।
(घ) कभी असुर असुरी के साथ संवास करता है।

२. (क) कभी देव देवी के साथ संवास करता है।
(ख) कभी देव राक्षसी के साथ संवास करता है।
(ग) कभी राक्षस देवी के साथ संवास करता है।
(घ) कभी राक्षस राक्षसी के साथ संवास करता है।

३. (क) कभी देव देवी के साथ संवास करता है।
(ख) कभी देव मानुषी के साथ संवास करता है।
(ग) कभी मनुष्य देवी के साथ संवास करता है।
(घ) कभी मनुष्य मानुषी के साथ संवास करता है।

४. (क) कभी असुर असुरी के साथ संवास करता है।
(ख) कभी असुर राक्षसी के साथ संवास करता है।
(ग) कभी राक्षस असुरी के साथ संवास करता है।
(घ) कभी राक्षस राक्षसी के साथ संवास करता है।

५. (क) कभी असुर असुरी के साथ संवास करता है।
(ख) कभी असुर मानुषी के साथ संवास करता है।

(ग) कभी मनुष्य असुरी के साथ संवास करता है।

(घ) कभी मनुष्य मानुषी के साथ संवास करता है।

६. (क) कभी राक्षस राक्षसी के साथ संवास करता है।

(ख) कभी राक्षस मानुषी के साथ संवास करता है।

(ग) कभी मनुष्य राक्षसी के साथ संवास करता है।

(घ) कभी मनुष्य मानुषी के साथ संवास करता है।

उपर्युक्त ६ चतुर्भंगियों का संक्षिप्त विवरण तालिका में देखें, जैसे कि—

देव ३	असुर २	राक्षस १	मनुष्य
देवी	असुरी	राक्षसी	मानुषी

जिसके वेद—मोहनीय कर्म प्रकृति प्रबल रूप से उदय होती है, वही उक्त प्रकार से संवास का सेवन करता है।

जो स्त्री-पुरुष विश्व में भौतिक दृष्टि से समुन्नत-सशक्त एवं श्रेष्ठ माने जाते हैं वे व्यक्ति देव और देवी हैं। जो उग्रस्वभावी, क्रोधी, देवों से निकृष्ट, राजसी प्रकृति के स्वामी हैं, वे व्यक्ति असुर और असुरी हैं। देव जाति में जो निर्दयी, क्रूर, तामसी प्रकृति वाले हैं वे राक्षस और राक्षसी हैं। जिनमें कुछ दैविक, कुछ आसुरी और कुछ राक्षस जैसी प्रकृति पाई जाती है वे मनुष्य और मानुषी हैं। जो मनुष्य या मानुषी ब्रह्मभावना से ओत-प्रोत हैं, अप्रमत्त संयत एवं वीतराग हैं, उनकी गणना उक्त भेदों में नहीं होती। जो गुप्तब्रह्मचारी होते हैं, वे किसी के साथ संवास नहीं करते, क्योंकि उनके मोहकर्म उदय में नहीं आता। यदि यत्किंचित् उदय हो भी जाए तो वे उसे तप-संयम के द्वारा निष्फल कर देते हैं।

यहां चतु:स्थान के अनुरोध से तिर्यञ्चग्रहण नहीं किए गए, किन्तु उपलक्षण से उनका भी ग्रहण किया जा सकता है।

आध्यात्मिक अवनति

मूल—चउव्विहे अवद्धंसे पण्णत्ते, तं जहा—आसुरे, आभिओगे, संमोहे, देवकिब्बिसे।

चउहिं ठाणेहिं जीवा आसुरत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—कोवसीलयाए, पाहुडसीलयाए, संसत्ततवोकम्मेणं, निमित्ताजीवयाए।

चउहिं ठाणेहिं जीवा आभिओगत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—अत्तुक्कोसेणं, परपरिवाएणं, भूइकम्मेणं, कोउयकरणेणं।

चउहिं ठाणेहिं जीवा सम्मोहत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—उम्मग्ग-

देसणाएणं, मग्गंतराएणं, कामासंसप्पओगेणं, भिज्जानियाणकरणेणं।

चउहिं ठाणेहिं जीवा देवकिब्बिसियत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—अरहंताणं अवन्नं वयमाणे, अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स अवण्णं वयमाणे, आयरियउवज्झायाणमवण्णं वयमाणे, चाउवण्णस्स संघस्स अवण्णं वयमाणे॥१४१॥

छाया—चतुर्विधोऽपध्वंसः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—आसुरः, आभियोगः, साम्मोहः, दैवकिल्विषः।

चतुर्भिः स्थानैर्जीवा आसुरतायै कर्म प्रकुर्वन्ति तद्यथा—कोपशीलतया, प्राभृत-शीलतया, संसक्ततपः कर्मणा, निमित्ताजीवतया।

चतुर्भिः स्थानैर्जीवा आभियोगतायै कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—आत्मोत्कर्षेण, परपरिवादेन, भूतिकर्मणा, कौतुककरणेन।

चतुर्भिः स्थानैर्जीवा साम्मोहतायै कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—उन्मार्गदेशनतया, मार्गान्तरायेण, कामाऽऽशंसप्रयोगेण, अभिध्यनिदानकरणेन।

चतुर्भिः स्थानैर्जीवाः देवकिल्विषतायै कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—अर्हतामवर्णं वदन्, अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्यावर्णं वदन्, आचार्योपाध्यायानामवर्णं वदन्, चातुर्वर्णस्य संघ-स्यावर्णं वदन्।

शब्दार्थ—चउव्विहे अवद्धंसे पण्णत्ते, तं जहा—चार कारणों से चारित्र का अथवा उसके फल का विनाश कहा गया है, जैसे, **आसुरे**—आसुरी भावना से, **आभिओगे**—आभियोग भावना से, **संमोहे**—संमोह भावना से और, **देवकिब्बिसे**—देवकिल्विष भावना से।

चउहिं ठाणेहिं जीवा आसुरत्ताए—चार कारणों से जीव असुरसम्बन्धी, **कम्मं पगरेंति, तं जहा**—कर्मों का उपार्जन करते हैं, जैसे, **कोवसीलयाए**—क्रोधी स्वभाव के द्वारा, **पाहुड-सीलयाए**—कलहकारी स्वभाव के द्वारा, **संसत्ततवोकम्मेणं**—संसक्त-तप-कर्म के द्वारा और, **निमित्ताजीवयाए**—ज्योतिष आदि द्वारा आजीविका करने से।

चउहिं ठाणेहिं जीवा आभिओगत्ताए—चार कारणों से जीव आभियोग सम्बन्धी अर्थात् किंकर देवता सम्बन्धी, **कम्मं पगरेंति, तं जहा**—कर्मों का उपार्जन करते हैं, जैसे, **अत्तुक्कोसेणं**—अपने गुणों का अभिमान करने से, **परपरिवाएणं**—दूसरों के दोष कहने से, **भूइकम्मेणं**—भूतिकर्म—गण्डा-तावीज आदि के करने से और, **कोउयकरणेणं**—सौभाग्यादि के लिए दूसरों पर मंत्रादि का प्रयोग करने से।

चउहिं ठाणेहिं जीवा सम्मोहत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—चार कारणों से जीव मूढ़ात्मा—देव विशेष सम्बन्धी कर्म करते हैं, जैसे, **उम्मग्गदेसणाएणं**—सम्यग्दर्शन आदि

भावमार्ग से विपरीत मार्ग का उपदेश देने से, **मग्गंतराएणं**—मोक्ष मार्ग में विघ्न डालने से, **कामासंसप्पओगेणं**—शब्दादि विषयों की अभिलाषा करने से और, **भिज्जानियाणकरणेणं**—आसक्ति- पूर्वक चक्रवर्ती आदि पद के लिए निदान करने से।

चउहिं ठाणेहिं जीवा देवकिब्बिसियत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—चार कारणो से जीव देवकिल्विष सम्बन्धी कर्म करते हैं, जैसे, **अरहंताणं**—अरिहन्त—तीर्थंकरों का, **अवण्णं वयमाणे**—अवर्णवाद करने से, **अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स अवण्णं वयमाणे**—अरिहन्त प्रतिपादित धर्म की निन्दा करने से, **आयरियउवज्झायाणमवण्णं वयमाणे**—आचार्य-उपाध्यायों की निन्दा करने से और, **चाउवण्णस्स संघस्स अवण्णं वयमाणे**—चतुर्विध संघ की निन्दा करने से।

मूलार्थ—चार प्रकार का अपध्वंस अर्थात् संयम और उसके फल का विनाश बतलाया गया है, जैसे—आसुरी भावना से उत्पन्न-आसुर, अभियोग-भावना से उत्पन्न आभियोग, सम्मोह भावना से उत्पन्न सांमोह, देव किल्विष भावना से उत्पन्न-दैवकिल्विष।

चार कारणों से जीवात्मा असुर सम्बन्धी कर्म करते हैं, जैसे—क्रोधयुक्त स्वभाव से, कलहकारी स्वभाव से, आसक्तिमूलक तपश्चरण से, ज्योतिष आदि निमित्त के द्वारा आजीविका करने से।

चार कारणों से जीवात्मा अभियोग सम्बन्धी कर्म करते हैं, जैसे—अहंकार करने से, दूसरो की निन्दा करने से, भूति-कर्म अर्थात् जादू-टोना करने से, कौतुककरण अर्थात् सौभाग्यादि के लिए मंत्र-यंत्र आदि का प्रयोग करने से।

चार कारणों से जीवात्मा मूढ़ देवता सम्बन्धी कर्म करते हैं, जैसे—उन्मार्ग का उपदेश देने से, सन्मार्ग में विघ्न पैदा करने से, काम-भोगों में आसक्ति रखने से, चक्रवर्ती आदि पदो की प्राप्ति के लिए निदान करने से।

चार कारणों से जीवात्मा किल्विषदेव सम्बन्धी कर्म करते हैं, जैसे—अरिहन्तो की निन्दा करने से, अर्हन्तों द्वारा प्ररूपित धर्म की निन्दा करने से, आचार्य और उपाध्याय की निन्दा करने से, चतुर्विध सघ की निन्दा करने से।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में 'संवास' का वर्णन किया गया है, संवास के कारण ही जीव उन नाना योनियों में जन्म लेता है जिनमें धर्म से भ्रष्ट होकर वह दुर्गति को प्राप्त करता है, अत: संवास के अनन्तर अपध्वंस अर्थात् आध्यात्मिक पतन का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं:—

अपध्वंस चार प्रकार का होता है—असुर-भावना, अभियोग-भावना, सम्मोहन-भावना और देव-किल्विष भावना।

(क) **असुर-भावना**—जब कोई व्यक्ति अत्यन्त क्रोधी हो जाता है, लड़ाई झगड़ों में उलझ जाता है, खान-पान की दृष्टि से भक्ष्याभक्ष्य विवेक को छोड़कर हिंसावृत्ति को अपना लेता है, तब वह मानवता से गिरकर असुर बन जाता है और यह असुर भावना उसके पतन का कारण बन जाती है।

(ख) **अभियोग-भावना**—अभियोग का अर्थ है मन्त्र-तन्त्रादि का प्रयोग। जब कोई व्यक्ति मन्त्र-तन्त्रादि की साधना करता हुआ उनके द्वारा दूसरों को पीड़ित करके, दुःख देकर एवं सन्त्रस्त करते हुए अपनी आजीविका चलाता है तो उसकी इस भावना को अभियोग भावना कहा जाता है। यह भावना भी मनुष्य के मानसिक पतन का कारण है।

(ग) **किल्विष-भावना**—यद्यपि किल्विष शब्द का अर्थ 'पाप' होता है, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में इसका अर्थ है निन्दा एवं चुगली करना, दूसरों पर मिथ्या आरोप लगाना। यह नियम है कि निन्दा दूसरों की ओर जाती हुई अपने को प्रेषित करने वाले का विनाश करती है और अपनी ओर आती हुई निन्दा को अपनाने वाले का उत्कर्ष करती है, इसीलिए 'आत्मनिन्दा' को—स्वकीय पर्यवेक्षण को विशेष महत्व दिया जाता है। निन्दा-चुगली करने वाला लोकदृष्टि में गर्हित हो जाता है और उसकी बात पर कोई विश्वास नहीं करता है। इस प्रकार यह किल्विष भावना भी मनुष्य के लिए विनाशकारी बन जाती है।

(घ) **संमोह-भावना**—प्रस्तुत प्रकरण में संमोह का अर्थ है—कामासक्ति। कामासक्ति के कारण मनुष्य विवेक को खो देता है, लोक-लाज का परित्याग कर देता है और विषयान्ध होकर करणीय अकरणीय सभी का आचरण करने लगता है। अतः यह भावना भी मानव के पतन का कारण मानी गई है।

उपर्युक्त चार भावनाएं पतन का कारण हैं, यह बताकर अब शास्त्रकार इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करते हैं।

१. आसुर-कर्म—जब मनुष्य में क्रोध की भावना बढ जाती है, जब मनुष्य लड़ाई-झगडों में उलझ जाता है, तप-कर्म के द्वारा भी जब उसमें सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति बढ़ जाती है और जब वह ज्योतिष आदि विद्याओं द्वारा आजीविका चलाने लगता है, तब उसमें आसुरी भावनाएं जन्म लेती हैं।

२. अभियोग-कर्म—शास्त्रकारों ने कहा है '**भूतान् यान्ति भूतेज्या याः**': भूत-प्रेतों की साधना करके उनसे कार्य लेने वाला व्यक्ति मृत्यु के अनन्तर भूत-प्रेतादि योनियों में ही जन्म लेता है और वहां वह उनकी दासता करता है, अतः मनुष्य को भूत-प्रेतादि की उपासना नहीं करनी चाहिए। अभियोग सम्बन्धी कार्यों में प्रवृत्ति का विशद विवेचन करते हुए सूत्रकार चार कारण उपस्थित करते हैं:—

आत्मोत्कर्ष—प्रस्तुत प्रकरण में आत्मोत्कर्ष का अर्थ है अपनी झूठी प्रशंसा करना, अपने सामान्य गुणों को असाधारण गुण समझना और व्यर्थ का अहंकार करना। मनुष्य में

स्वाभिमान तो होना ही चाहिए, क्योंकि स्वाभिमान के बिना मनुष्य मनुष्य ही नहीं रह जाता। तभी तो एक कवि का कथन है—

जिस को नहीं निज जाति वा, निज वंश का अभिमान है।
वह नर नहीं है पशु निरा, और मृतक समान है॥

इस पद्य में अभिमान शब्द स्वाभिमान का ही द्योतक है, जिन कार्यों से आत्मा का पतन होता हो, सदाचार दूषित होता हो, कषाय की वृद्धि होती हो, चारित्र में बाधा आती हो उन सब कारणों से अपने को बचाना स्वाभिमान है, अत: स्वाभिमान उपादेय है, परन्तु आत्मोत्कर्ष त्याज्य है।

परपरिवाद—दूसरों की निन्दा करना अर्थात् दूसरे के दोषों को प्रकट करना ही पर-परिवाद है।

भूतिकर्म—भस्म से, मिट्टी से या डोरा-ताबीज से एवं मंत्र-यंत्र आदि का किसी पर प्रयोग करना भूतिकर्म है।

कौतुककरण—सौभाग्य आदि के लिए किया जाने वाला स्नपन, विस्मापन, धूप-होम आदि करना। इन चार कारणों से साधक अभियोगिक देव बनता है। निम्नलिखित गाथा में भी चार कारण वर्णित किए गए हैं, जैसे कि—

कोउय भूईकम्मे पसिणा इयरे निमित्तमाजीवी।
इड्ढिरस साय गरुओ अभिओगं भावणं कुणइ॥

अर्थात् कौतुक कर्म करने से, भूतिकर्म करने से, हाथ आदि देखकर किसी का शुभ-अशुभ कहने से, अपनी समृद्धि एवं शक्ति का अभिमान करने से प्राणी अभियोग-भावना करने वाला माना जाता है।

३. संमोह-कर्म—

जिस प्रक्रिया से जीव देवगति प्राप्त करने पर भी जीवन-भर मूढ़ ही रहता है, ऐसे कर्मबंध को संमोह कहते हैं। संमोह-कर्म करते हुए जीव चारित्र को दूषित करता है और फल भोगते हुए धर्म से विमुख होता है, इसी कारण इसे संमोह कहा जाता है। संमोह भावना के भी चार कारण हैं—उन्मार्ग की देशना से अर्थात् सम्यग्दर्शन रूप उत्तम मार्ग को छोड़कर मिथ्यामार्ग का उपदेश करने से, मार्गान्तराय से अर्थात् मोक्षमार्ग में प्रवृत्त प्राणी की प्रगति में विघ्न डालने से, कामाशंसप्रयोग से अर्थात् कामभोगों की अत्यन्त अभिलाषा करने से और अतिलोभ के वशीभूत होकर निदान कर्म करने से, जैसे कि इस तप आदि के प्रभाव से मुझे चक्रवर्ती आदि की पदवी की प्राप्ति हो। इन चार कारणों से जीव अपने निज स्वरूप को भूलकर मोह में तल्लीन हो जाता है। ये ही चार कारण निम्नलिखित गाथा में व्यक्त किए गए हैं। जैसे कि—

उम्मग्गदेसओ मग्गनासओ मग्गविपडिपत्ती।
मोहेण य मोहेत्ता संमोहं भावणं कुणइ॥

अर्थात् कुमार्ग का उपदेश देने से, मोक्षमार्ग में प्रवृत्त मनुष्य के आगे विघ्न उपस्थित करने से, सन्मार्ग का लोप करने से, मोह से और दूसरों को मुग्ध करके जीव संमोह भावना पैदा करता है और उससे वह मूढ़भाव को प्राप्त होता है।

४. किल्विष-कर्म—

जिस प्रक्रिया से प्राणी देव या मनुष्य जाति में चांडालपने के योग्य कर्म का बंध करता है, जैसे कि अरिहंत भगवान का अवर्णवाद करता है, उनके बतलाए हुए धर्म की निन्दा करता है, आचार्य और उपाध्याय का अपमान करता है और चतुर्विध श्रीसंघ का अनादर करता है, तो जीव किल्विषीपने के योग्य कर्म का बंध करता है। अवर्णवाद का अर्थ है निंदा। निंदा का अर्थ है दोष न होने पर भी दोष प्रकट करना। "**अवर्णः अश्लाघा असद्दोषोद्‌घाटनमित्यर्थः**"—उपर्युक्त चार कारणों से जीव अनादि-अनन्त संसार चक्र में परिभ्रमण करता रहता है, अतः अवर्णवाद कदापि नहीं करना चाहिए। इसी विषय को एक गाथा में वर्णित किया गया है, जैसे—

नाणस्स केवलीणं धम्मायरियाण सव्वसाहूणं।
भासं अवन्नवाई किब्बिसियं भावणं कुणइ॥

यद्यपि पांचवीं कन्दर्प-भावना भी है, परन्तु यहां चतुःस्थान के अनुरोध से उसका उल्लेख सूत्रकार ने नहीं किया, किन्तु वह उत्तराध्ययन सूत्र के ३६वें अध्ययन में वर्णित है, जिज्ञासुओं की जानकारी के लिए उसका यहां उद्धरण दिया जाता है, जैसे कि—

कंदप्प कुक्कुयाइं तह सील सहाव हसण विगहाइं।
विम्हावेंतो वि परं कंदप्पं भावणं कुणइ॥

अर्थात् कामभोग की बातें करना, उसे करने के लिए उपदेश करना, उसकी प्रशंसा करना कंदर्प है। भांडों जैसी चेष्टाएं करना, शरीर और वचन से दूसरे को हंसाना कौत्कुच्य है। अट्टहास करना, दूसरे को इंद्रजाल द्वारा विस्मित करना, विकथा करना, इस तरह के अनुष्ठान से जीव यदि देव-योनि में उत्पन्न होता है तो वह कंदर्पीदेव बनता है, यदि मनुष्यों में उत्पन्न होता है तो भांड आदि बनता है।

इन भावनाओं में से जिस भावना में संयत प्रवर्तमान है वह उसी देवत्व को प्राप्त करता है, क्योंकि उसके पास चारित्र का लेश रहता है, अतः उसके प्रभाव से वह संयत वहां उत्पन्न होता है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने मानव-मन के विदूषित होने के कारणों का सुन्दर एवं विस्तृत विवेचन किया है।

प्रव्रज्या-भेद

मूल—चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—इहलोगपडिबद्धा, परलोगपडिबद्धा, दुहओ लोगपडिबद्धा, अप्पडिबद्धा।

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—पुरओ पडिबद्धा, मग्गओ पडिबद्धा, दुहओ पडिबद्धा, अप्पडिबद्धा।

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—ओवायपव्वज्जा, अक्खायपव्वज्जा, संगारपव्वज्जा, विहगगइपव्वज्जा।

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—तुयावइत्ता, पुयावइत्ता, मोयावइत्ता, परिपूयावइत्ता।

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—नडखाइया, भडखाइया, सीहखाइया, सियालखाइया।

चउव्विहा किसी पण्णत्ता, तं जहा—वाविया, परिवाविया, णिंदिया, परिणिंदिया। एवामेव चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—वाविया, परिवाविया, णिंदिया, परिणिंदिया।

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—धन्नपुंजियसमाणा, धन्नविरल्लियसमाणा, धन्नविक्खित्तसमाणा, धन्नसंकट्टिअसमाणा ॥ १४२ ॥

छाया—चतुर्विधा प्रव्रज्या प्रज्ञप्ता, तद्यथा—इहलोकप्रतिबद्धा, परलोकप्रतिबद्धा, द्विधालोकप्रतिबद्धा, अप्रतिबद्धा।

चतुर्विधा प्रव्रज्या प्रज्ञप्ता, तद्यथा—पुरतःप्रतिबद्धा, मार्गतः प्रतिबद्धा, द्विधा प्रतिबद्धा, अप्रतिबद्धा।

चतुर्विधा प्रव्रज्या प्रज्ञप्ता, तद्यथा—अवपातप्रव्रज्या, आख्यातप्रव्रज्या, संकेतप्रव्रज्या, विहगगतिप्रव्रज्या।

चतुर्विधा प्रव्रज्या प्रज्ञप्ता, तद्यथा—तोदयित्वा, प्लावयित्वा, मोचयित्वा, परिप्लुतयित्वा।

चतुर्विधा प्रव्रज्या प्रज्ञप्ता, तद्यथा—नटखादिता, भटखादिता, सिंहखादिता, शृगालखादिता।

चतुर्विधा कृषिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—वापिता, परिवापिता, निदाता, परिनिदाता। एवमेव चतुर्विधा प्रव्रज्या प्रज्ञप्ता, तद्यथा—वापिता, परिवापिता, निदाता, परिनिदाता।

चतुर्विधा प्रव्रज्या प्रज्ञप्ता, तद्यथा—धान्यपुञ्जितसमाना, धान्यविरेल्लितसमाना,

धान्यविक्षिप्तसमाना, धान्यसङ्कर्षितसमाना।

शब्दार्थ—चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार की प्रव्रज्या कही गई है, जैसे—**इहलोगपडिबद्धा**—प्रस्तुत लोक में आसक्ति रखकर केवल जीवन यात्रा चलाने का उद्देश्य रखने वाली, **परलोगपडिबद्धा**—परलोक में कामादि की आसक्ति वाली, **दुहओ लोगपडिबद्धा**—दोनों लोक की आसक्ति वाली, **अप्पडिबद्धा**—किसी भी प्रकार की आसक्ति न रखने वाली।

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार की प्रव्रज्या बतलाई गई है, जैसे, **पुरओ पडिबद्धा**—प्रव्रज्या से पहले के स्वजनादि में आसक्ति रखना, **मग्गओ पडिबद्धा**—प्रव्रज्या के पश्चात् होने वाली शिष्यादि की संपत्ति की आसक्ति रखना, **दुहओ पडिबद्धा**—दोनों ओर आसक्ति रखना, **अप्पडिबद्धा**—आसक्ति से रहित होना।

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार की प्रव्रज्या बतलाई गई है, जैसे, **ओवायपव्वज्जा**—सद्गुरुओं की सेवा के उद्देश्य से ग्रहण की जाने वाली प्रव्रज्या, **अक्खाय-पव्वज्जा**—किसी के कहने से प्रव्रज्या लेना, **संगारपव्वज्जा**—आपस में संकेत करना कि यदि तू प्रव्रज्या लेगा तो मैं भी लूंगा, इस प्रकार सांकेतिक प्रव्रज्या, **विहगगइपव्वज्जा**—पक्षी की तरह परिवारादि के वियोग से एकाकी प्रव्रज्या लेना।

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार की प्रव्रज्या और भी कही है, जैसे, **तुयावइत्ता**—पीड़ा पहुंचाकर दीक्षा देना, **पुयावइत्ता**—अन्य स्थान में ले जाकर दीक्षा देना, **मोयावइत्ता**—किसी दास आदि को दासत्व से छुड़ाकर दीक्षा देना, **परिपूयावइत्ता**—भोजनादि का लोभ दिखाकर दीक्षा देना।

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार की प्रव्रज्या कही गई है, जैसे, **नडखाइया**—जिसमें नट के समान वैराग्य रहित कथा-कहानी सुनाकर भोजन खाया जाता है, **भडखाइया**—जिसमें सैनिक के समान बल दिखाकर भोजन खाया जाता है, **सीहखाइया**—जिसमें सिंह के समान अवज्ञा से प्राप्त भोजन खाया जाता है, **सियालखाइया**—जिसमें शृगाल के समान दीनता से प्राप्त भोजन खाया जाता है।

चउव्विहा किसी पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार की कृषि कही गई है, जैसे, **वाविया**—एक बार बोने से ही उत्पन्न होने वाली, **परिवाविया**—दो या तीन बार बोने से उत्पन्न होने वाली, **णिंदिया**—एक बार विजातीय तृणों को साफ करने से उत्पन्न होने वाली, **परिणिंदिया**—अनेक बार साफ करने से उत्पन्न होने वाली। **एवामेव चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा**—इसी तरह चार प्रकार की प्रव्रज्या कही है, जैसे, **वाविया**—एक बार स्वीकार की जाने वाली सामायिक दीक्षा, **परिवाविया**—दोबारा स्वीकार की जाने वाली छेदोपस्थापनीय प्रव्रज्या, **णिंदिया**—एक बार की आलोचना से शुद्ध हो जाने वाली, **परिणिंदिया**—अनेक बार की आलोचना से शुद्ध हो जाने वाली।

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार की प्रव्रज्या कही गई है, जैसे—**धन्नपुंजियसमाणा**—विशुद्ध धान्य पुंज के समान निरतिचार दीक्षा, **धन्नविरल्लियसमाणा**—खलिहान में बैलों के द्वारा गाहे गये एवं वायु से साफ किये गये धान्य के समान दीक्षा जो थोड़े प्रयत्न से ही शुद्ध हो जाए, **धन्नविक्खित्तसमाणा**—बैलों से गाहे गये, किन्तु साफ न किए गए धान्य के समान, जो अन्य सामग्री की अपेक्षा रखने के कारण जरा चिरकाल में शुद्ध हो, **धन्न संकट्टिअसमाणा**—खेत से काटकर ज्यों के त्यों खलिहान में लाये हुए धान्य के समान जो अत्यधिक प्रयत्न के बाद चिरकाल में शुद्ध हो।

मूलार्थ—चार प्रकार की प्रव्रज्या अर्थात् दीक्षा कथन की गई है, जैसे—इस लोक की आसक्ति वाली, परलोक की आसक्ति वाली, दोनों लोकों की आसक्ति वाली, किसी भी प्रकार की आसक्ति न करने वाली।

चार प्रकार की प्रव्रज्या कथन की गई है, जैसे—भविष्य में होने वाले शिष्यादि के प्रति आसक्ति रखना। गृहवासकालीन स्वजनों के प्रति आसक्ति रखना। पूर्व और पश्चात् दोनों ओर की आसक्ति रखना। किसी भी प्रकार की आसक्ति न रखना।

चार प्रकार की प्रव्रज्या कथन की गई है, जैसे—सद्गुरु की सेवा-भक्ति करते-करते वैराग्य पाकर ली जाने वाली दीक्षा, किसी के कहने-सुनने पर ली जाने वाली दीक्षा, 'यदि तू दीक्षा लेगा तो मैं भी लूंगा' इस प्रकार पूर्वकालीन किसी संकेत विशेष के अनुसार ली जाने वाली दीक्षा। परिवार आदि का वियोग होने के पश्चात् पक्षी की उड़ान के समान एकाकी विदेश जाकर ली जाने वाली दीक्षा।

चार प्रकार की प्रव्रज्या कथन की गई है, जैसे—किसी को कष्ट पहुंचाकर ली जाने वाली दीक्षा। अन्यत्र ले जाकर दी जाने वाली दीक्षा। किसी दास आदि को दासत्व के बन्धन से छुड़ाकर दी जाने वाली दीक्षा। सुन्दर भोजन आदि का प्रलोभन दिखाकर दी जाने वाली दीक्षा।

चार प्रकार की प्रव्रज्या कथन की गई है, जैसे—नट की तरह वैराग्य शून्य परिहासात्मक धर्मकथा सुनाकर आजीविका चलाने वाली। सैनिक की तरह वीरता आदि का प्रदर्शन कर आजीविका चलाने वाली। सिंह की तरह शौर्य का भाव दिखाकर आजीविका चलाने वाली। गीदड़ की तरह दीन वृत्ति से इधर-उधर मांग-तांग कर आजीविका चलाने वाली।

चार प्रकार की कृषि कथन की गई है, जैसे—एक बार बोने से उत्पन्न होने वाली। अनेक बार बोने से उत्पन्न होने वाली। एक बार की निदायी करके उत्पन्न

होने वाली। बार-बार निदायी करने से उत्पन्न होने वाली। इसी तरह चार प्रकार की प्रव्रज्या भी कथन की गई है, जैसे—एक बार ली जाने वाली। दो बार ली जाने वाली। एक बार की आलोचना से शुद्ध होने वाली। अनेक बार की आलोचना से शुद्ध होने वाली।

चार प्रकार की प्रव्रज्या कथन की गई है, जैसे—धान्यपुञ्जितसमान—खलिहान में बिल्कुल साफ करके ढेरी के रूप में एकत्रित किए धान्य के समान जो सर्वथा निरतिचार एवं निर्दोष हो। धान्यविरेल्लित समान—खलिहान में साफ किए हुए, किन्तु बिखरे हुए धान्य के समान, जो थोड़े से प्रयत्न से ही शुद्ध हो सके। धान्य-विक्षिप्त समान—खलिहान में बैलों द्वारा मर्दन किए हुए भूसे से युक्त धान्य के समान, जो पूर्व की अपेक्षा अधिक प्रयत्न से शुद्ध हो सके। धान्यसंकर्षितसमान—खेत से काटकर खलिहान में लाए हुए अमर्दित धान्य के समान, जो चिरकाल में अत्यधिक साधना के बाद प्रव्रज्या शुद्ध हो सके।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में अपध्वंस के विविध रूपों का विवेचन किया गया है। अब स्वभावत: यह जिज्ञासा जागृत होती है कि इस अपध्वंस से बचने का क्या कोई उपाय भी है? इसी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए सूत्रकार प्रव्रज्या का वर्णन करते हैं और निर्देश देते हैं कि प्रव्रज्या भी अनेक कारणों से ली जाती है, परन्तु वही प्रव्रज्या अपध्वंस से रक्षा कर सकती है जिसका लक्ष्य कषायों की कलुषता को त्यागकर सांसारिक बन्धनों से मुक्त होना हो। लौकिक जीवन के निर्वाह आदि के लिए ली गई प्रव्रज्या अपध्वंस से रक्षा नहीं करती अपितु अपध्वंस का मार्ग खोल देती है।

प्रव्रज्या का अर्थ है सांसारिक बन्धनों को तोड़कर मोक्ष मार्ग पर दृढ़ता से चलने की तैयारी, दूसरे शब्दों में प्रव्रज्या को ही दीक्षा कहा जाता है। सांसारिक मनुष्य अनेक कारणों से प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं, उन सभी कारणों को चार-चार के वर्गों में बांटकर सूत्रकार सहज शैली में प्रव्रज्या के कारणों का विभाजन करते हैं।

प्रथम चार कारण उपस्थित करते हुए कहते हैं—

१. (क) कुछ लोग इसलिए प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं कि उनका जीवन-निर्वाह भली प्रकार से हो जाए।

(ख) कुछ लोग स्वर्गीय सुखों के आकर्षण में बंधकर प्रव्रज्या ग्रहण किया करते हैं।

(ग) कुछ लोगों के द्वारा प्रव्रज्या लेने का यह भी कारण होता है कि वे इस जीवन में खान-पान, रहन-सहन आदि का सुख प्राप्त करें और मरकर भी उन्हें स्वर्गीय सुखों की उपलब्धि हो सके।

(घ) कुछ ऐसे भी महासाधक होते हैं जो मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए

प्रव्रज्या लिया करते हैं।

अब शास्त्रकार प्रव्रज्या के चार रूपों पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं। प्रव्रज्या चार प्रकार की होती है—

२. (क) **पुरत:प्रतिबद्धा**—जो प्रव्रज्या भावी आकांक्षाओं को लक्ष्य में रखकर ग्रहण की जाती है वह 'पुरत: प्रतिबद्ध' कहलाती है। जैसे कि 'मुझे अच्छा आहार-पानी मिलेगा, मेरा कोई लड़का नहीं है, अत: प्रव्रज्या लेकर कोई ऐसा शिष्य बनाऊंगा जो वृद्ध अवस्था में मेरी सेवा करेगा, प्रव्रज्या धारण करने पर मैं सर्वपूज्य एवं सर्वमान्य बन जाऊंगा', इत्यादि भावनाओं से प्रेरित होकर तथा अपने किसी पूर्वज के दीक्षित हो जाने पर उसके स्नेह में बंधे हुए जो प्रव्रज्या धारण की जाती है वह 'पुरत: प्रतिबद्धा' कहलाती है।

(ख) **मार्गत: प्रतिबद्धा:**—जिस प्रव्रज्या के अनन्तर परित्यक्त पदार्थों के प्रति आसक्ति बनी रहती है, जमीन-जायदाद के प्रति लगाव नहीं टूटता है, परित्यक्त बन्धु-बान्धवों से मोह बना रहता है तथा अपने से छोटों को दीक्षा ग्रहण करते देखकर उनकी आसक्ति के कारण जो दीक्षा ली जाती है उसे 'मार्गत: प्रतिबद्धा' दीक्षा कहा जाता है।

(ग) **उभयत: प्रतिबद्धा**—जब दीक्षित व्यक्ति के हृदय में परित्यक्त पदार्थों एवं बन्धु- बान्धवों के प्रति आसक्ति बनी रहती है और भविष्य में अनेक पदार्थों एवं शिष्यों आदि की प्राप्ति के लिए आकांक्षा भी नहीं छूटती, तथा अपने पूर्वजों एवं सन्तति आदि के मोह के कारण जो प्रव्रज्या ली जाती है उसे 'उभयत: प्रतिबद्धा' प्रव्रज्या कहते हैं।

(घ) **अप्रतिबद्धा प्रव्रज्या**—जब प्रव्रजित का हृदय अनासक्त हो जाता है, मोह-माया का परित्याग कर देता है, केवल कर्मक्षय करके मुक्ति मार्ग पर पहुंचने के लिए व्याकुल हो उठता है, ऐसे प्रव्रजित की प्रव्रज्या को 'अप्रतिबद्धा प्रव्रज्या' कहा जाता है।

३. (क) **अवपात प्रव्रज्या**—जो प्रव्रज्या किसी स्थविर, तपस्वी, ज्ञानी एवं रोगी गुरु की सेवा करने के उद्देश्य से ली जाती है वह 'अवपात प्रव्रज्या' कहलाती है। जैसे कि यदि ''मैं इनकी सेवा करूंगा तो इससे इनको समाधि प्राप्त होगी''। इस प्रकार के प्रव्रजित के हृदय में गुरु सेवा की प्रबल भावना हुआ करती है। इसी भावना से भावित प्रव्रज्या को 'अवपात प्रव्रज्या' कहा जाता है।

(ख) **आख्यात-प्रव्रज्या**—जो प्रव्रज्या धर्मोपदेश या शास्त्र श्रवण से ली जाती है अथवा महापुरुषों की प्रेरणा से ग्रहण की जाती है उसे 'आख्यात प्रव्रज्या' कहा जाता है।

(ग) **संगार-प्रव्रज्या**—जो प्रव्रज्या किसी संकेत से प्राप्त की जाती है, जैसे कि मेतार्य ने प्राप्त की अथवा ''यदि तुम प्रव्रज्या ग्रहण करो तो मैं भी प्रव्रजित होने को तैयार हूं'' इस प्रकार के संकेत से जो प्रव्रज्या ग्रहण की जाती है वह 'संगार प्रव्रज्या' कहलाती है।

(घ) **विहग-गति प्रव्रज्या**—जिस प्रकार पक्षी आकाश में एकाकी उड़ान लगाता है। ठीक उसी प्रकार जो परिवार आदि से वियुक्त होकर अकेले ही देशान्तर में जाकर दीक्षित होता है उसे 'विहग-गति' प्रव्रज्या कहते हैं।

वृत्तिकार ''क्वचित्'' शब्द के आधार पर यह भी कहते हैं कि—**''विहयपव्वज्जे'' त्ति पाठस्तत्र विहगस्येवेति दृश्यमिति, विहतस्य वा—दारिद्र्यादिभररिभिर्वेति''**—दरिद्रता आदि कारणों से खिन्न होकर जो प्रव्रज्या ग्रहण की जाती है उसे भी 'विहत प्रव्रज्या' माना जाता है।

अब सूत्रकार पर-प्रेरित एवं दबाव से ग्रहण की जाने वाली प्रव्रज्या के चार रूप उपस्थित करते हैं—

४. (क) **तोदयित्वा प्रव्रज्या**—किसी के द्वारा व्यथा उत्पन्न कराकर जो दीक्षा दी जाती है वह तोदयित्वा प्रव्रज्या कहलाती है। कहीं-कहीं **उयावइत्ता** ऐसा पाठ मिलता है, जिसका अर्थ होता है ओजबल या विद्याबल का चमत्कार दिखाकर दीक्षित करना। ऐसी दशा में इस प्रव्रज्या को **''ओजयित्वा प्रव्रज्या''** कहा जाएगा।

(ख) **प्लावयित्वा प्रव्रज्या**—जन्म स्थान के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान पर ले जाकर जो प्रव्रज्या दी जाती है उसे 'प्लावयित्वा प्रव्रज्या' कहते हैं। **पुयावइत्ता**—का संस्कृत रूप ''**पूतयित्वा**'' भी होता है जिसका अर्थ है—प्रायश्चित्त के द्वारा पहले दोषों को दूर करके शिष्य को पवित्र एवं शुद्ध करके दीक्षित करना, यही **''पूतयित्वा प्रव्रज्या''** कहलाती है। किसी-किसी प्रति में **''बुयावइत्ता''** पाठ भी मिलता है जिसका अर्थ है बातचीत करके, संभाषण करके दीक्षित करना। ऐसी दशा में यह प्रव्रज्या ''संभाष्य प्रव्रज्या'' कहलाएगी।

(ग) **मोचयित्वा प्रव्रज्या**—किसी कार्य से किसी को छुड़ाकर या दास आदि को स्वामी से मुक्त कर, ऋणी को ऋण से, बंदी को कारावास से किसी भी रीति-नीति से छुड़ाकार दीक्षा देना, जैसे एक साधु ने तैल आदि के निमित्त से दासत्व को प्राप्त हुई भगिनी को छुड़ाकर दीक्षा दी।

(घ) **परिप्लुतयित्वा प्रव्रज्या**—किसी गरीब को घृतादि से परिपूर्ण भोजन पदार्थों द्वारा परितुष्ट करके, उसके अभाव को परिपूर्ण करके जो दीक्षा दी जाती है, वह ''परिप्लुतयित्वा प्रव्रज्या'' कहलाती है।

अब सूत्रकार जीवन-निर्वाह की दृष्टि से गृहीत प्रव्रज्या के चार रूप उपस्थित करते हैं—

५. (क) **नटखादिता प्रव्रज्या**—नट जैसे नट विद्या से दर्शकों को मुग्धकर जीवन-निर्वाह करता है, वैसे ही जो साधु वैराग्य रहित अवस्था में केवल जनता के मनोरंजन के लिए कथा-व्याख्यान आदि करके उपार्जित आहार आदि का सेवन करता है, उसकी प्रव्रज्या को 'नट खादिता प्रव्रज्या' कहा जाता है।

(ख) **भटखादिता-प्रव्रज्या**—जैसे भट अर्थात् योद्धा व्यक्ति शारीरिक परिश्रम से या दूसरों पर अपनी शक्ति का रोब दिखाकर जीवन-निर्वाह करता है, वैसे ही जो साधु सेवा आदि कार्य करके तथा विद्या, तप या शाप आदि का भय दिखाकर जीवन-निर्वाह करते हैं उनकी प्रव्रज्या 'भटखादिता' प्रव्रज्या कहलाती है।

(ग) **सिंहखादिता प्रव्रज्या**—जिस प्रकार सिंह अपने श्रम से उपार्जित वस्तु का ही आहार करता है, अन्य का नहीं, वैसे ही जो साधु अपना लाया हुआ आहार ही ग्रहण करता है, दूसरे का लाया हुआ नहीं अथवा अदीनवृत्ति से जीवन निर्वाह करने वाला है उस साधु की प्रव्रज्या 'सिंह खादिता प्रव्रज्या' कहलाती है।

(घ) **शृगालखादिता प्रव्रज्या**—जो साधु परमुखापेक्षी, आलसी, प्रमादी, दीन, खुशामदी और दीनवृत्ति वाला है उसकी प्रव्रज्या "शृगाल खादिता" कही जाती है।

कृषि चार प्रकार की होती है—

खेतों में बीज बोकर अनाज उत्पन्न करने के कार्य को कृषि कहा जाता है। उसके चार रूप हैं—जिस धान्य की बीजाई गेहूं आदि की तरह हो उसे 'उप्ता' कहते हैं। जो एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान में रोपी जाती है, वह 'पर्युप्ता' कृषि है, जैसे धान की खेती। कृषि को हानि पहुंचाने वाले तृण-घास वगैरा को उखाड़कर भूमि को शुद्ध करके की जाने वाली खेती 'निन्दिताकृषि' कहलाती है, जिसे आज की भाषा में गुडाई भी कहते हैं। जिस खेती की गुडाई दो-तीन बार की जाती है उसे 'परिनिंदिता' कहा जाता है जिन्हें संस्कृत में क्रमशः 'निदाता' तथा 'परिनिदाता' भी कहते हैं।

उप्ता कृषि के समान प्रव्रज्या भी चार प्रकार की होती है—

६. (क) **उप्ता-प्रव्रज्या**—जिस प्रव्रज्या में सामायिक चारित्र का आरोप किया जाता है, वह "उप्ता प्रव्रज्या" कहलाती है।

(ख) **पर्युप्ता प्रव्रज्या**—जिसमें महाव्रतों का आरोपण किया जाता है वह "पर्युप्ता प्रव्रज्या" है। वह निरतिचार रूप भी होती है और सातिचार रूप भी। पर्युप्ता प्रव्रज्या पहले और चरम तीर्थंकर के शासनकाल में होती है। शेष बाईस तीर्थंकरों के शासन में केवल "उप्ता प्रव्रज्या" होती है।

(ग) **निदाता प्रव्रज्या**—प्रायश्चित्त के द्वारा जिस प्रव्रज्या के अतिचारों का शोधन एक ही बार हो जाए वह "निदाता प्रव्रज्या" होती है।

(घ) **परिनिदाता प्रव्रज्या**—जिसमें अतिचारों का शोधन अनेक बार प्रायश्चित्त देने से हो, वह "परिनिदाता" प्रव्रज्या कहलाती है।

यदि किसी ने अतिचार का सेवन केवल एक बार किया, किन्तु शुद्धीकरण होने के अनन्तर जीवन भर पुनः उसका सेवन नहीं करे, तब वह "निंदिया प्रव्रज्या" है और जिस प्रव्रज्या में एक बार ही नहीं अनेक बार अतिचार लगे हों, जिसका शुद्धीकरण एक बार ही नहीं अपितु दो या तीन बार किया गया हो ऐसी प्रव्रज्या को "परिनिंदिया प्रव्रज्या" कहते हैं—

अब सूत्रकार प्रव्रज्या को धान्य से उपमित करते हैं।

७. (क) **धान्यपुंजित प्रव्रज्या**—जो अनाज खलिहान में रखा हुआ, सब तरह से साफ किया हुआ है, केवल विशुद्ध धान्य ही धान्य है, उसे धान्यपुंज कहते हैं। उसी प्रकार जिस साधक का चारित्र दोष एवं अतिचारों से सर्वथा रहित है उसकी प्रव्रज्या को "धान्यपुंजित समाना प्रव्रज्या" कहा जाता है।

(ख) **धान्यविरेल्लित प्रव्रज्या**—जो धान्य भूसे के अंश वाला एक बार उडावनी से शुद्ध होने वाला है उसे धान्यविरेल्लित कहते हैं। इसी प्रकार जिसके चारित्र में अतिचार या दोष सूक्ष्म रूप से मिश्रित हैं, सर्वथा विशुद्ध संयम नहीं है, एक बार के थोड़े से उपदेश या शिक्षा से या साधारण प्रायश्चित्त आदि से दोषों की निवृत्ति हो सकती है, ऐसी प्रव्रज्या को "धान्यविरेल्लित समाना" कहा जाता है।

(ग) **विक्षिप्तधान्या प्रव्रज्या**—बैलों के खुरों से मर्दित इधर-उधर बिखरा हुआ कंकर-भूसे आदि से मिश्रित, जिसे साफ करने में पर्याप्त समय लगता है, ऐसे धान्य को विक्षिप्त धान्य कहा जाता है। इसी प्रकार जिस प्रव्रज्या में अतिचार आदि दोषों की बहुलता पाई जाए, ऐसे चारित्र या प्रव्रज्या को "विक्षिप्तधान्या" प्रव्रज्या कहा जाता है।

(घ) **धान्यसंकट्टिता प्रव्रज्या**—खेतों से काटकर खलिहान में लाकर लगाए हुए फसल के ढेर को "धान्य संकटित" कहा जाता है। वह कूड़े-करकट से युक्त होने से बहुत समय और बहुत परिश्रम करने के बाद अपने शुद्ध और साफ सुथरे रूप में आता है। इसी प्रकार जो प्रव्रज्या ऐसे अत्यधिक दोषों से युक्त है, जिन्हें हटाने के लिए दीर्घ समय, कठिन तपस्या और अति-परिश्रम की आवश्यकता रहती है उसे "धान्य संकट्टिता प्रव्रज्या" कहा जाता है।

इस सूत्र में प्रव्रज्या के कारण, गुण और दोषों का निरूपण किया गया है। जिज्ञासुओं को चाहिए कि वे निर्मल और विशुद्ध प्रव्रज्या द्वारा जीवन का उत्थान करके निर्वाण प्राप्ति के लिए प्रयत्न करें।

संज्ञा-भेद

मूल—चत्तारि सन्नाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आहारसन्ना, भयसन्ना, मेहुणसन्ना, परिग्गहसन्ना।

चउहिं ठाणेहिं आहारसन्ना समुप्पज्जइ, तं जहा—ओमकोट्ठयाए, छुहावेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, मईए, तदट्ठोवओगेणं।

चउहिं ठाणेहिं भयसन्ना समुप्पज्जइ, तं जहा—हीणसत्तयाए, भयवेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, मईए, तदट्ठोवओगेणं।

चउहिं ठाणेहिं मेहुणसन्ना समुप्पज्जइ, तं जहा—चितमंससोणिययाए, मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, मईए, तदट्ठोवओगेणं।

चउहिं ठाणेहिं परिग्गहसन्ना समुप्पज्जइ, तं जहा—अविमुत्तयाए, लोभवेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, मईए, तदट्ठोवओगेणं॥ १४३॥

छाया—चतस्रः संज्ञाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा।

चतुर्भिः स्थानैराहारसंज्ञा समुत्पद्यते, तद्यथा—अवमकोष्ठतया, क्षुधावेदनीयस्य कर्मण उदयेन, मत्या, तदर्थोपयोगेन।

चतुर्भिः स्थानैर्भयसंज्ञा समुत्पद्यते, तद्यथा—हीनसत्वतया, भयवेदनीयस्य कर्मण उदयेन, मत्या, तदर्थोपयोगेन।

चतुर्भिः स्थानैर्मैथुनसंज्ञा समुत्पद्यते, तद्यथा—चितमांसशोणिततया, मोहनीयस्य कर्मण उदयेन, मत्या, तदर्थोपयोगेन।

चतुर्भिः स्थानैः परिग्रहसंज्ञा समुत्पद्यते, तद्यथा—अविमुक्ततया, लोभवेदनीयस्य कर्मण उदयेन, मत्या, तदर्थोपयोगेन।

शब्दार्थ—चत्तारि सन्नाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—चार संज्ञाएं बतलाई गई हैं, जैसे, **आहारसन्ना**—आहार संज्ञा, **भयसन्ना**—भयसंज्ञा, **मेहुणसन्ना**—मैथुनसंज्ञा, **परिग्गहसन्ना**—परिग्रह संज्ञा।

चउहिं ठाणेहिं आहारसन्ना समुप्पज्जइ, तं जहा—चार कारणों से आहार संज्ञा पैदा होती है, जैसे—**ओमकोट्ठयाए**—पेट खाली होने से, **छुहावेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं**—

क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से, **मईए**—आहार की बात-चीत सुनने से, **तदट्ठोवओगेणं**—निरन्तर आहार की चिन्ता करने से।

चउहिं ठाणेहिं भयसन्ना समुप्पज्जइ, तं जहा—चार कारणों से भयसंज्ञा पैदा होती है, जैसे, **हीणसत्तयाए**—हीन सत्व होने से, **भयवेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं**—भयवेदनीय कर्म के उदय से, **मईए**—भय की बातें सुनने से, **तदट्ठोवओगेणं**—निरन्तर भय की चिन्ता करने से।

चउहिं ठाणेहिं मेहुणसन्ना समुप्पज्जइ, तं जहा—चार कारणों से मैथुन-संज्ञा पैदा होती है, जैसे, **चित्तमंससोणिययाए**—मांस और रुधिर के बढ़ जाने से, **मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं**—मोहनीय कर्म के उदय से, **मईए**—मैथुन की बात-चीत सुनने से, **तदट्ठोवओगेणं**—निरन्तर मैथुन का चिन्तन करने से।

चउहिं ठाणेहिं परिग्गहसन्ना समुप्पज्जइ, तं जहा—चार कारणों से परिग्रह-संज्ञा पैदा होती है, जैसे, **अविमुत्तयाए**—परिग्रह का त्याग न करने से, **लोभवेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं**—लोभवेदनीय कर्म के उदय से, **मईए**—परिग्रह की बातचीत सुनने से, **तदट्ठो-वओगेणं** —परिग्रह की सतत चिन्ता करने से।

मूलार्थ—चार संज्ञाएं कथन की गई हैं, जैसे—आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा, परिग्रह-संज्ञा।

चार कारणों से आहार-संज्ञा उत्पन्न होती है, जैसे—उदर के खाली होने से, क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से, आहारादि की वार्ता श्रवण करने से, आहार के सम्बन्ध में निरन्तर चिन्तन करने से।

चार कारणों से भय-संज्ञा उत्पन्न होती है, जैसे—शक्ति की हीनता से, भय-वेदनीय कर्म के उदय से, भय की बातें सुनने से, निरन्तर भय का चिन्तन करने से।

चार कारणों से मैथुन-संज्ञा उत्पन्न होती है, जैसे—मांस और रक्त की वृद्धि से, मोहनीय कर्म के उदय से, मैथुन-सम्बन्धी वार्तालाप श्रवण करने से, निरन्तर मैथुन का संकल्प करने से।

चार कारणों से परिग्रह-संज्ञा उत्पन्न होती है, जैसे—परिग्रह का त्याग न करने से, लोभ-वेदनीय कर्म के उदय से, परिग्रह सम्बन्धी वार्तालाप श्रवण करने से और निरन्तर परिग्रह का चिन्तन करने से।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में प्रव्रज्या का वर्णन किया गया है। प्रव्रज्या की विचित्रता संज्ञा के तारतम्य या उसके अभाव पर निर्भर है, इसलिए प्रस्तुत सूत्र में क्रम-प्राप्त संज्ञा के भेद-प्रभेदों का वर्णन किया गया है। यद्यपि संज्ञा शब्द का अर्थ बुद्धि, चेतना, होश, ज्ञान भी होता है, तथापि इस प्रसंग में संज्ञा शब्द असाता-वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय

से होने वाली विकृत चेष्टा अथवा अशुद्ध आत्मपरिणाम के अर्थ में रूढ़ है। कहा भी है—
"केवलं संज्ञानं संज्ञा चैतन्यं तच्चासातावेदनीयमोहनीयकर्मजन्यविकारयुक्तमाहार-संज्ञादित्वेन व्यपदिश्यत इति"—जब असाता-वेदनीय कर्म का उदय होता है और साथ ही मोहनीय कर्म का भी उदय होता है, उस समय जीव की जो विशेष चेष्टाएं होती हैं उन्हें संज्ञा कहा जाता है। वे चार प्रकार की होती हैं, जैसे कि आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा और परिग्रह-संज्ञा। प्रत्येक संज्ञा के चार-चार भेद हैं। उनका विवरण निम्नलिखित है—

१. आहार संज्ञा—

शरीरधारी सभी जीवों को जो भूख प्यास लगती है वह असाता-वेदनीय कर्म का फल है और साथ ही उसकी निवृत्ति के लिए जो आसक्तिपूर्वक इच्छा उत्पन्न होती है, उसे आहार-संज्ञा कहते हैं। उसके उत्पन्न होने के चार कारण हैं, जैसे कि—

१. जब किया हुआ आहार सब तरह से परिणमन हो जाता है, तब उदर रूप कोष्ठक खाली हो जाता है। उसके रिक्त हो जाने से आहारसंज्ञा उत्पन्न हो जाती है। उदरपूर्ति के लिए कल्पनीय एवं मर्यादित आहार करना साधु के लिए भी वैध है, किन्तु आसक्ति से उदरपूर्ति करना उसके लिए निषिद्ध है।

२. क्षुधा-वेदनीय कर्म के उदय से भी आहार-संज्ञा पैदा होती है। उदररूपी कोष्ठक के रिक्त होने पर भी यदि क्षुधावेदनीय का उदय संतोष ने रोका हुआ है तब भी आहार-संज्ञा उत्पन्न नहीं होती। उक्त कर्म-प्रकृति का उदय होना भी आहार-संज्ञा के लिए जरूरी है।

३. मति से भी आहार-संज्ञा पैदा होती है, भत्तकथा करने से या तरह-तरह के खाद्य पदार्थों के देखने से, उनकी मधुरता आदि का वर्णन सुनने से, तत्सदृश गंध के सूंघने से जो आहार संज्ञा उत्पन्न होती है वह तज्जनित बुद्धि से होती है।

४. अभीष्ट आहार के पुनः पुनः अनुचिंतन करने से तथा बारम्बार उसमें उपयोग लगाने से भी आहार-संज्ञा पैदा होती है। आहारसंज्ञा का उदय होने पर भक्ष्य-अभक्ष्य, कल्पनीय-अकल्पनीय का भान नहीं रहता, अतः साधक को सदैव आहार-संज्ञा से बचने का प्रयास करते रहना चाहिए।

२. भयसंज्ञा—

विरोधी तत्त्व से डरना, अनिष्ट-संयोग से डरना, इष्ट-वियोग से डरना, लोकापवाद से डरना भयसंज्ञा है। जो भय अहिंसा, सत्य एवं सदाचार से विचलित तथा भ्रष्ट करने वाला है उसे ही भयसंज्ञा कहा जाता है। इसके उत्पन्न होने के भी चार कारण हैं, जैसे कि—

१. भय-संज्ञा का पहला कारण है बलहीनता, बलहीन होने से ही भयसंज्ञा का जन्म होता है। बलहीनता किसी भी प्रकार की हो, वह अपने आपको बलवान से सुरक्षित नहीं समझती। दुर्बल व्यक्ति सदा भयभीत ही रहता है।

२. भयसंज्ञा का दूसरा कारण है भयमोहनीय कर्म का उदय, इससे जीव को बिना ही कारण भय बना रहता है। जिन प्राणियों की प्रकृति भीरुता से युक्त है, उनके डरने का मुख्य कारण उक्त भयमोहनीय कर्म ही है। उस प्रकृति का जिसने तीव्र परिणामों से बंध किया है वह सदा भयभीत ही रहता है।

३. तीसरा कारण बुद्धि है, जैसे कि भयावने दृश्य देखने से, भयावनी बातें सुनने से जो भय उत्पन्न होता है, उसमें मुख्य कारण भययुक्त बुद्धि है। यदि बुद्धि में भय न हो तो भयसंज्ञा नहीं होती।

४. चौथा कारण है तदर्थ-उपयोग अर्थात् अतीत काल में जो भयावना दृश्य देखा-सुना या अनुभव किया है, उसका बार-बार चिन्तन करने से भयसंज्ञा उत्पन्न होती है। साधक के लिए भय-संज्ञा परित्याज्य है। मेरे से कभी अविनय-आशातना न हो जाए, मेरे नियम, व्रत, मर्यादा किसी दोष से दूषित न हो जाएं इन कारणों से डरना संयम है, भय संज्ञा नहीं।

३. मैथुनसंज्ञा—

स्त्री-पुरुष की विकारजन्य पारस्परिक चेष्टाओं को मैथुन-संज्ञा कहते हैं, ये चेष्टायें चार कारणों से उत्पन्न होती हैं, यथा—

१. मैथुनसंज्ञा का पहला कारण है मांस-शोणित की वृद्धि अर्थात् शरीर के खूब हृष्ट-पुष्ट होने से मैथुनसंज्ञा उत्पन्न होती है, अतः ब्रह्मचारी के लिए तपश्चर्या आवश्यकीय बतलाई गई है, क्योंकि तप से मांसशोणित की वृद्धि नहीं होती।

२. मैथुनसंज्ञा का दूसरा कारण है वेदमोहनीय कर्म का उदय। जब इस प्रकृति का उदय हो जाता है तब प्राणी का शरीर भले ही कुष्ठ रोग से ग्रस्त भी हो फिर भी उसमें मैथुनसंज्ञा उत्पन्न हो जाती है।

३. मैथुनसंज्ञा का तीसरा कारण मति है। विकारी दृश्य देखने से, अश्लील बातें सुनने से, विकारी वातावरण में रहने से जब इन्द्रियों में विकारी चेष्टायें उत्पन्न होती हैं, तब उससे मैथुनसंज्ञा उत्पन्न होती है। अतः ब्रह्मचारी को ऐसे वातावरण में रहना चाहिए जिससे यह संज्ञा उत्पन्न होने के कारण उपस्थित न हो सकें।

४ मैथुनसज्ञा का चौथा कारण है तदर्थोपयोग, देखी-सुनी और अनुभव की हुई बातों के बारम्बार स्मरण करने से मैथुनसज्ञा पैदा होती है। पहले कारण में मांस-शोणित, दूसरे में वेदमोहनीय, तीसरे में इन्द्रियां, और चौथे में मन कारण होता है, अतः साधक को इनके नियंत्रण के लिए सतत जागरूक रहना चाहिए।

४. परिग्रह-संज्ञा—

इच्छा, संग्रह और ममत्व ये परिग्रह के मूल कारण हैं। जो जड़ या चेतन पदार्थ अपने पास नहीं उसकी इच्छा करना, जो मिल रहा है उसे संग्रह करना और जो मिला हुआ है उस पर ममत्व रखना परिग्रह है। परिग्रह संज्ञा उत्पन्न होने के भी चार कारण हैं, जैसे—

१. पहला कारण है परिग्रह से अपने को अलग न करना, तृष्णा को न रोकना, परिग्रह से चिपटे रहना और संतोष का न होना।

२. दूसरा कारण है लोभ मोहनीय कर्म का उदय। ज्यों-ज्यों लोभ बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसके साथ-साथ परिग्रहसंज्ञा भी बढ़ती ही जाती है।

३. तीसरा कारण मति है—सचित्त, अचित्त और मिश्र इनमें से किन्हीं अभीष्ट पदार्थों के देखने से, सुनने से या धनोपार्जन सम्बन्धी पुस्तकों के पढ़ने से परिग्रह संज्ञा बढती है।

४. चौथा कारण तदर्थोपयोग है। सदा परिग्रह का विचार करते रहने से परिग्रह संज्ञा बढ़ती है। निष्परिग्रही को उसके विषय में विचार भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि सब पापों का मूल कारण परिग्रह ही है। इस निमित्त से जीव हिंसा, झूठ, चोरी भी करता है, दुराचार भी इसी कारण से करता है। इस संज्ञा के निवृत्त होने से शेष अन्य संज्ञाएं स्वयं निर्मूल हो जाती हैं। कोई भी संज्ञा संयमियों के लिए हितकर नहीं है। सभी संज्ञाएं चारित्र की बाधक हैं।

काम-भेद

मूल—चउव्विहा कामा पण्णत्ता, तं जहा—सिंगारा, कलुणा, बीभच्छा, रोद्दा। सिंगारा कामा देवाणं, कलुणा कामा मणुयाणं, बीभच्छा कामा तिरिक्खजोणियाणं, रोद्दा कामा णेरइयाणं॥१४४॥

छाया—चतुर्विधाः कामा प्रज्ञप्तास्तद्यथा—शृंगाराः, करुणाः, बीभत्साः, रौद्राः। शृंगाराः कामा देवानाम्, करुणाः कामा मनुजानाम्, बीभत्साः कामास्तिर्यग्योनिजानाम्, रौद्राः कामा नैरयिकाणाम्।

शब्दार्थ—चउव्विहा कामा पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार के काम कथन किए गए हैं, जैसे, **सिंगारा**—शृंगार, **कलुणा**—करुण, **बीभच्छा**—वीभत्स, **रोद्दा**—रौद्र। **सिंगारा कामा देवाणं**—शृंगार काम देवताओं का है, **कलुणा कामा मणुयाणं**—करुण काम मनुष्यों का है, **बीभच्छा कामा तिरिक्खजोणियाणं**—वीभत्स काम तिर्यग्योनिक पशुओं का है, **रोद्दा कामा णेरइयाणं**—रौद्र काम नारकों का है।

मूलार्थ—चार प्रकार का काम कथन किया गया है, जैसे—शृंगार, करुण, वीभत्स, और रौद्र। शृंगार काम देवों का, करुण काम मनुष्यों का, वीभत्स काम तिर्यंचों का, रौद्र काम नारकों का होता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में चार प्रकार की संज्ञाओं का विश्लेषण किया गया है, संज्ञाएं शब्द रूप आदि काम-गोचर होती हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में काम के भेद बतलाए गए हैं। संसारी जीव चार गतियों मे विभक्त हैं। किस गति में कैसा काम होता है इसका विवरण प्रस्तुत सूत्र में किया गया है। काम का अर्थ होता है अभिलाषा, शब्द रूप में आसक्ति होने

से जो सुख अनुभव होता है वह काम है। वह चार प्रकार का होता है जैसे कि शृंगार-काम, करुण-काम, वीभत्स-काम और रौद्र-काम।

१. ***शृंगारकाम***—स्त्री-पुरुष का प्रसन्नचित्त से परस्पर आलिंगन आदि क्रियाओं में प्रवृत्त होना ही शृंगार काम है। जो आदि में, मध्य में तथा अन्त में अत्यन्त सुखदायक, मनोज्ञ एवं प्रकृष्ट रति का उत्पादक होता है उसे शृंगार-काम कहते हैं। कहा भी है **रतिरूपो हि शृंगारः।**

२. **करुणकाम**—जो विषय-सुख अभीष्ट होने पर भी तुच्छ और क्षणभर में नष्ट होने वाला है, शुक्र-शोणित के सम्बन्ध जनित शरीर वाला है, शोक-स्वभाव वाला है और जिसका अंतिम फल शोकजनक है, उसे करुणकाम कहते हैं। कहा भी है—**"करुणो हि रसः शोकस्वभावः" "करुणः शोकप्रकृतिः"**, मैथुन-क्रीड़ा के पश्चात् शोकयुक्त होना ये मनुष्यों के कामभोग का स्वभाव है। अत्यासक्ति के कारण रोग आदि से ग्रस्त होना ही इसका अन्तिम दुष्परिणाम है।

३. ***वीभत्सकाम***—*तिर्यंचो का कामभोग वीभत्सरस से परिपूर्ण होता है*, वीभत्सरस घृणास्पद होता है, इस रस की सभी अवस्थाओं में जुगुप्सा अर्थात् घृणा ही होती है।

४. **रौद्रकाम**—रौद्र का अर्थ होता है दारुण—अत्यन्त अनिष्ट। जो कामभोग अतिदारुण एवं अहितकर हो उसे रौद्रकाम कहते हैं। अत्यन्त अनिष्ट तथा क्रोध का उत्पादक होने से इसको रौद्र काम कहा जाता है, कहा भी है—**रौद्रः क्रोध प्रकृतिः।** रौद्र काम नारकियों में पाया जाता है। प्रश्न हो सकता है कि नारकी तो सभी नपुंसक होते हैं, वे मैथुन संज्ञा की पूर्ति कैसे करते हैं ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि काम के दो भेद हैं—इच्छा-काम और आसेवन-काम। नारकियों में आसेवन काम नहीं होता किन्तु इच्छाकाम अवश्य होता है, वह अतिरौद्रकाम क्रोध रूप में बदल जाता है, अतः उस काम को रौद्र संज्ञा दी जाती है।

इस स्थान पर जो काम शब्द ग्रहण किया गया है वह शब्द और रूप का ही वाचक है, उपलक्षण से गंध, रस और स्पर्श का भी ग्रहण हो जाता है। वास्तव में इनके परित्याग से ही आत्मा अपने स्वरूप को पा सकता है। इनमें पहला भेद देवों मे, दूसरा मनुष्यों में, तीसरा तिर्यंचों में और चौथा नारकियों में पाया जाता है।

उत्तान और गंभीर

मूल—चत्तारि उदगा पण्णत्ता, तं जहा—उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोदए, उत्ताणे णाममेगे गंभीरोदए, गंभीरे णाममेगे उत्ताणोदए, गंभीरे णाममेगे गंभीरोदए। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—उत्ताणे णाममेगे उत्ताणहियए, उत्ताणे णाममेगे गंभीरहियए०४।

चत्तारि उदगा पण्णत्ता, तं जहा—उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोभासी, उत्ताणे णाममेगे गंभीरोभासी०४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोभासी, उत्ताणे णाममेगे गंभीरोभासी।

चत्तारि उदही पण्णत्ता, तं जहा—उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोदही, उत्ताणे णाममेगे गंभीरोदही०४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—उत्ताणे णाममेगे उत्ताणहियए।

चत्तारि उदही पण्णत्ता, तं जहा—उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोभासी, उत्ताणे णाममेगे गंभीरोभासी०४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोभासी०४॥१४५॥

छाया—चत्वारि उदकानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—उत्तानं नामैकमुत्तानोदकम्, उत्तानं नामैकं गंभीरोदकं, गंभीरं नामैकमुत्तानोदकं, गंभीरं नामैकं गंभीरोदकम्। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—उत्तानो नामैक उत्तानहृदयः, उत्तानो नामैको गंभीरहृदयः०४।

चत्वारि उदकानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—उत्तानं नामैकमुत्तानावभासि, उत्तानं नामैकं गंभीरावभासि। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—उत्तानो नामैक उत्तानावभासी, उत्तानो नामैको गंभीरावभासी०४।

चत्वार उदधयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—उत्तानो नामैक उत्तानोदधिः, उत्तानो नामैको गंभीरोदधिः०४। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—उत्तानो नामैक उत्तानहृदयः०४।

चत्वार उदधयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—उत्तानो नामैक उत्तानावभासी, उत्तानो नामैको गंभीरावभासी। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—उत्तानो नामैक उत्तानावभासी०४।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार का जल कहा गया है, जैसे—अल्प जल है और जल की स्वच्छता के कारण उसका तल भाग भी दिखलाई देता है। अल्प जल है, किन्तु जल की मलिनता के कारण तल भाग दिखाई नहीं देता। गंभीर जल है, किन्तु स्वच्छता के कारण तल भाग दिखाई देता है। गंभीर जल है और मलिनता के कारण तल भाग दिखाई नहीं देता। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष कहे गये हैं, जैसे—एक पुरुष ऊपर से दैन्यादि के कारण तुच्छ है और हृदय से भी तुच्छ है। एक ऊपर से तुच्छ है, किन्तु हृदय से गंभीर है। शेष भंगों की कल्पना जान लेनी चाहिए।

चार प्रकार के जल हैं, जैसे—एक जल अंगभीर है और अगंभीर ही मालूम देता है। एक जल अगंभीर है, किन्तु गंभीर मालूम देता है०४। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे—एक पुरुष तुच्छ है और तुच्छ ही मालूम देता है। एक पुरुष तुच्छ है, किन्तु गंभीर मालूम होता है। शेष दो भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के समुद्र हैं, एक समुद्र वह है जो पहले भी अगंभीर था और अब भी अगम्भीर है, दूसरा समुद्र वह है जो पहले अगम्भीर था परन्तु अब गम्भीर हो गया है। शेष दो भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए। इसी प्रकार पुरुष भी चार प्रकार के होते है, एक व्यक्ति पहले भी तुच्छ स्वभाव का था और अब भी तुच्छ स्वभाव का है। तुच्छता और गम्भीरता की दृष्टि से शेष तीन भंग भी समझ लेने चाहिएं।

प्रतीति की दृष्टि से भी समुद्र चार प्रकार के होते हैं—एक वह समुद्र है जो अगम्भीर ही प्रतीत होता है। दूसरा वह समुद्र है जो थोड़े जल वाला है, परन्तु गम्भीर प्रतीत होता है। इसी प्रकार पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं—एक वह व्यक्ति है जो तुच्छ स्वभाव वाला है और तुच्छ स्वभाव वाला ही प्रतीत होता है। शेष तीन रूपो को भी समझ लेना चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे कहा गया है कि संसारी जीव काम के वशीभूत होते है, काम तुच्छ और गभीर तथा बाधक और साधक दोनों प्रकार का होता है। प्रस्तुत सूत्र में इसी बात को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने आठ सूत्रो के द्वारा दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक का समन्वय किया है। उत्तान शब्द का प्रयोग यहा प्रतल, तुच्छ एवं स्वच्छ अर्थ में किया गया है और गभीर शब्द बहुत गहरा—अगाध, जटिल, शान्त, धीर इत्यादि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जिस जलाशय मे जल स्वल्पमात्रा मे अवस्थित है या बहता है जिसमे मनुष्य बहुत सुगमतापूर्वक यातायात कर सकता है वह उत्तान है, जब पुनः वही जल इतना स्वच्छ होता है जिसका प्रतल भाग स्पष्ट रीति से प्रत्यक्ष होता है तब वह उत्तानोदक कहलाता है। जो पानी स्वच्छ या मलिन होता है वह गभीरोदक कहलाता है। जल का निर्देश सूत्रकार ने उदक शब्द से किया है।

१. उदक चार प्रकार का होता है—

(क) एक जल स्वच्छ होने से उत्तान है, पुनः प्रतल एवं विस्तीर्ण होने से भी उत्तान है।

(ख) एक जल स्वच्छ होने से तो उत्तान है, पुनः अगाध होने से गंभीर भी है।

(ग) एक जल मलिन एवं अगाध होने से गंभीर है, किन्तु विस्तीर्ण होने से उत्तान है।

(घ) एक जल सब ओर से मलिन है और अगाध होने से गंभीर है।

अथवा—

(क) एक जल गुण या दोष के स्वभाव से व्यक्त एवं उत्तान है, पुनः प्रतल होने से भी

उत्तान है।

(ख) एक जल अच्छे या बुरे स्वभाव से उत्तान है, पुनः वही जल अथाह होने से गंभीर भी है।

(ग) एक जल अच्छे या बुरे स्वभाव से गंभीर है, पुनः वही प्रतल होने से उत्तान है।

(घ) एक जल गुण दोष एवं स्वभाव से भी गंभीर है, पुनः अथाह होने से भी गंभीर है।

२. उदक की तरह मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) कोई मनुष्य बाहर से सीधा-सादा है, किन्तु हृदय से ओछे स्वभाव का है।

(ख) कोई मनुष्य बाहर से तो सीधा-सादा है, किन्तु हृदय स्वच्छ एवं अगाध होने से गंभीर है।

(ग) कोई मनुष्य बाहरी आकृति से गंभीर है, किन्तु हृदय तुच्छ एवं ओछा होने से उत्तान हृदयी है।

(घ) कोई मनुष्य आकृति से भी गंभीर है, और हृदय से भी गंभीर है।

३. उदक चार प्रकार का होता है—

(क) एक जल उत्तान है और उत्तान जैसा ही प्रतीत होता है, है वास्तव में गंभीर।

(ख) एक जल उत्तान है, परन्तु गंभीर जैसा प्रतीत होता है, वास्तव में उत्तान है।

(ग) एक जल अगाध है, परन्तु लगता है उत्तान जैसा, है वास्तव में गंभीर।

(घ) एक जल अगाध है, परन्तु लगता है गंभीर जैसा, है वास्तव में उत्तान।

४. उदक की तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक पुरुष बाहर से तुच्छ-ओछा है, पुनः तुच्छ जैसा ही दिखाई देता है, वास्तव में है गंभीर।

(ख) एक पुरुष बाहर से तुच्छ है, परन्तु गंभीर जैसा प्रतीत होता है, वास्तव में है तुच्छ।

(ग) एक पुरुष बाहर से गभीर है, परन्तु लगता है तुच्छ जैसा, वास्तव में है गंभीर।

(घ) एक पुरुष बाहर की आकृति से गंभीर है, और गंभीर जैसा ही लगता है, वास्तव में है तुच्छ।

सूत्रकार ने दो चौभंगियां उदधि के विषय में वर्णित की हैं। उदक शब्द जल का पर्यायवाचक है। उदक धारण करने वाले को उदधि कहते हैं। यद्यपि उदधि शब्द समुद्र, बादल और घड़ा इन अर्थों में भी प्रयुक्त होता है, तथापि यहां समुद्र अर्थ ही अभीष्ट है। समुद्र न केवल पानी को ही धारण करता है अपितु वह बहुमूल्य या अमूल्य रत्नों को भी अपने में धारण किए हुए अवस्थित है। समुद्र एक ही नहीं, अनगिनत हैं, उन सबका समावेश जितने भेदों में किया जा सकता है, उनका उल्लेख सूत्रकार ने चौभंगी के द्वारा किया है।

५. उदधि चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक समुद्र पहले भी उत्तान था, और अब भी उत्तान है।

(ख) एक समुद्र पहले तो उत्तान था, किन्तु अब गंभीर है।

(ग) एक समुद्र पहले तो गंभीर था, किन्तु अब उत्तान है।

(घ) एक समुद्र पहले भी गंभीर था और अब भी गंभीर है।

पहला भंग पानी थोड़ा होने से बेला में पाया जाता है, दूसरा भंग ज्वार-भाटा आ जाने पर, तीसरा भंग लहर के चले जाने पर पाया जाता है और चौथा भंग समुद्र के मध्यभाग में पाया जाता है, क्योंकि मध्य भाग में समुद्र गंभीर ही होते हैं। उक्त चौभंगी एक समुद्र में भी पाई जाती है और अनेक समुद्रों में भी। जलाशयों में जैसे समुद्र महान होता है वैसे ही मनुष्य भी सब प्राणियों में महान है, अतः सूत्रकार ने मनुष्य को समुद्र से उपमित किया है।

६. समुद्र की तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ पुरुष जीवन के पहले और पिछले भाग में सब तरह से तुच्छ ही होते हैं।

(ख) कुछ पुरुष जीवन के पहले भाग में तो तुच्छ होते हैं, किन्तु उत्तर भाग में गंभीर हृदय वाले हो जाते हैं।

(ग) कुछ पुरुष जीवन के पहले भाग में तो गंभीर होते हैं, किन्तु उत्तर भाग में तुच्छ-हृदय हो जाया करते हैं।

(घ) कुछ पुरुष जीवन के पूर्व भाग में गंभीर होते हैं और उत्तर भाग में भी गंभीर-हृदय होते हैं।

मनुष्य में धर्म-नीति की दृष्टि से भी तुच्छता और गंभीरता पाई जाती है और राजनीति की दृष्टि से भी। तुच्छता और गंभीरता उसके हृदयस्थित भाव हैं। यत्किंचित् भौतिक लाभ से होने वाली प्रसन्नता, दीनता तथा ओछापन ये सब उत्तान में माने जाते हैं और समाधि में, आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान में गंभीरता पाई जाती है। जिसके हृदय का कोई पता नहीं चलता वह गंभीर-हृदय है। जो अपने हृदय का किसी को भेद नहीं देता उसे भी गंभीर हृदय कहा जाता है, जो अपने हृदय में किसी बात को छिपा नहीं सकता वह उत्तान हृदय कहलाता है।

७. पुनः समुद्र चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक समुद्र उत्तान है और दिखाई भी उत्तान ही देता है।

(ख) एक समुद्र देखने में उत्तान है, किन्तु वास्तव में गंभीर है।

(ग) एक समुद्र देखने में गंभीर लगता है, किन्तु वास्तव में उत्तान है।

(घ) एक समुद्र देखने में भी गंभीर है और वास्तव में गंभीर ही है।

इस चौभंगी में स्थान के अतिशय से, जल की मलिनता या स्वच्छता की अपेक्षा से या दृष्टि की भ्रान्ति से समुद्र की विविधता बतलाई गई है—

समुद्र की तरह मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक मनुष्य तुच्छ जैसा दीखता है और है भी तुच्छ ही।

(ख) एक मनुष्य बड़ा गंभीर दिखाई देता है, किन्तु वास्तव में है तुच्छ।

(ग) एक मनुष्य तुच्छ जैसा लगता है, वास्तव में है बड़ा ही गम्भीर।

(घ) एक मनुष्य गंभीर दिखाई देता है और वास्तव में गंभीर ही है।

सूत्रकार का आशय मानव की आकृतियां और कृतियां दिखाने का है, कारण कि मनुष्य अपनी क्रियाएं अपनी प्रकृति के अनुसार ही करता है, विशेषतया इसमें पूर्व संस्कार और नूतन संसर्ग इत्यादि कारण उपस्थित होते हैं। साधक मनुष्य सम्यग्ज्ञान के द्वारा मलिन-प्रकृति को परिवर्तन कर सम्यग् विचार में स्थापित करता है। अज्ञान एवं अस्थिर चित्त मनुष्य को सन्मार्ग में दृढ़ नहीं रहने देते, अतः अन्य मार्ग से तथा तदनुसार विधि-विधानों से निवृत्त होकर उसे श्रद्धापूर्वक आगमों का अध्ययन करना चाहिए और उनके अनुसार ही सन्मार्ग में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

तैराक-भेद

मूल—चत्तारि तरगा पण्णत्ता, तं जहा—समुद्दं तरामीतेगे समुद्दं तरइ, समुद्दं तरामीतेगे गोपयं तरइ, गोपयं तरामीतेगे०४।

चत्तारि तरगा पण्णत्ता, तं जहा—समुद्दं तरित्ता नाममेगे समुद्दे विसीयइ, समुद्दं तरेत्ता णाममेगे गोपए विसीयइ०४ ॥ १४६ ॥

छाया—चत्वारस्तरकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—समुद्रं तरामीत्येकः समुद्रं तरति, समुद्रं तरामीत्येको गोष्पदं तरति, गोष्पदं तरामीत्येकः०४।

चत्वारस्तरकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—समुद्रं तरित्वा नामैकः समुद्रे विषीदति, समुद्रं तरित्वा नामैको गोष्पदे विषीदति।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के तैरने वाले कथन किए गए हैं, जैसे—एक समुद्र को तैरने का विचार करता है और समुद्र को ही तैरता है, अर्थात् सर्वविरतिरूप मुनि-दीक्षा लेना चाहता है और मुनि-दीक्षा ग्रहण कर भी लेता है। एक समुद्र तैरने का विचार करता है और गोष्पद तैरता है, अर्थात् सर्वविरति रूप मुनि-दीक्षा ग्रहण करना चाहता है, किन्तु ग्रहण कर पाता है गोष्पद रूप देशविरति-श्रावकवृत्ति ही। एक गोष्पद तैरना चाहता है, किन्तु तैर जाता है समुद्र अर्थात् श्रावकव्रत ग्रहण करना चाहता है, किन्तु समय पर मुनि-दीक्षा ही ग्रहण कर लेता है। चतुर्थ भंग भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

चार प्रकार के तैरने वाले कथन किए गए हैं—एक समुद्र में तैरने का सामर्थ्य होते हुए भी समुद्र में डूब जाता है, अर्थात् समुद्र जैसे महान कार्य को पूर्ण करके भी कभी दूसरे महान कार्य को पूर्ण नहीं कर पाता है। कोई समुद्र तैरकर भी गोष्पद में डूब जाता है, अर्थात् महान् कार्य पूर्ण करके कभी-कभी गोष्पद रूप तुच्छ कार्य भी पूर्ण नहीं कर पाता है। एक गोष्पद तैरकर समुद्र नहीं तैर पाता है, अर्थात् तुच्छ कार्य पूर्ण करके महान् कार्य का भार नहीं संभाल सकता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में विभिन्न प्रकार के उथले एवं गंभीर जल को लक्ष्य में रखकर मनुष्यों के भेद आठ चौभंगियों के द्वारा बताए गए हैं। प्रस्तुत सूत्र में तैराक के विषय में निरूपण किया गया है। तैरने वाले को तैराक कहते हैं। वे दो तरह के होते हैं—१. द्रव्य तैराक और २. भाव तैराक। साधारण जलाशय को तथा समुद्र को तैरने वाला द्रव्य तैराक कहलाता है और संसार से पार होने वाला या संयम आदि किसी महाकार्य को संपन्न करने वाला भाव तैराक माना जाता है। तैरने की शक्ति सबमें एक जैसी नहीं होती, इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने तैराकों का दो चौभंगियों के द्वारा दिग्दर्शन कराया है। तैरने के संकल्प और तैरने की शक्ति का जब समन्वय हो जाता है तब दो भंग बनते हैं, पहला और पिछला। जब संकल्प और शक्ति मे विषमता होती है तब मध्य के दो भंग बनते हैं।

जो जलाशय गोखुर परिमित जल से युक्त है उसे गोष्पद कहते हैं। अथवा जिस कच्चे जलाशय में गौ सुगमतापूर्वक यातायात कर सके, या जिस जलाशय में आगे बढ़कर स्वच्छ जल पी सके, उस छोटे जलाशय को भी गोष्पद कहा जाता है। गोष्पद गौशाला को भी कहते हैं। वहां पर गऊओं को पानी पीने के लिए जो बड़ा हौज बना होता है, उसे भी लक्षणा से गोष्पद कहा जाता है। गोष्पद से तात्पर्य छोटे जलाशय से है, वह चाहे कृत्रिम हो या अकृत्रिम, जिसमें स्वल्पशक्ति वाला तैर भी सकता है और डूब भी सकता है इत्यादि जलाशयों का समावेश गोष्पद में हो जाता है।

१. तैराक चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक तैराक समुद्र को तैरने का संकल्प करता है और समुद्र को तैर भी जाता है।

(ख) एक तैराक समुद्र को तैरने का संकल्प करता है और तैर पाता है गोष्पद को।

(ग) एक तैराक विचार करता है गोष्पद तैरने का और तैर जाता है समुद्र को।

(घ) एक तैराक पहले से ही गोष्पद तैरने का संकल्प करता है और गोष्पद को ही तैरता है।

२. भाव तैराक भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक व्यक्ति मुनिदीक्षा लेने का संकल्प करता है और उसे लेता भी है और उसे पालता भी है।

(ख) एक व्यक्ति संकल्प करता है मुनिदीक्षा लेने का, परन्तु ग्रहण करने पाता है श्रावक-वृत्ति तथा उसे पालता भी है।

(ग) एक व्यक्ति संकल्प करता है श्रावक-वृत्ति लेने का, ग्रहण करता है मुनि-दीक्षा और उसे पालता भी है।

(घ) एक व्यक्ति विचार करता है श्रावक-वृत्ति लेने का और श्रावक-वृत्ति ही लेता है और उसे पालता भी है।

जो व्यक्ति जिसमें तैरने का विचार करता है, किन्तु तैरता नहीं उसमें दो कारण हो सकते हैं, १. शक्ति की प्रबलता, २. शक्ति की न्यूनता। सशक्त व्यक्ति साधारण कार्य करने में उत्साह नहीं रखता, और अशक्त व्यक्ति दुस्तर महाकार्य करने में उत्साह नहीं रखता।

३. तैराक चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक तैराक समुद्र को तैरकर, पुनः समुद्र में डूब जाता है।

(ख) एक तैराक समुद्र को तैरकर, पुनः गोष्पद में डूब जाता है।

(ग) एक तैराक गोष्पद को तैरकर, पुनः समुद्र में डूब जाता है।

(घ) एक तैराक गोष्पद को तैरकर, पुनः गोष्पद में ही डूब जाता है।

४. भाव तैराक भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) कोई एक व्यक्ति किसी दुस्तर महाकार्य में सफल हो जाता है, परन्तु दूसरे महाकार्य में असफल रह जाता है।

(ख) कोई एक व्यक्ति किसी दुस्तर महाकार्य के करने में सफल होकर दूसरे साधारण कार्य में असफल हो जाता है।

(ग) कोई एक व्यक्ति किसी छोटे कार्य को करने में तो सफल होता है किन्तु दूसरा महाकार्य करने में असफल हो जाता है।

(घ) कोई एक व्यक्ति किसी छोटे कार्य में सफल होकर दूसरे छोटे कार्यों में असफल हो जाता है।

किसी कार्य को प्रारम्भ करके उसका निर्वाह न कर पाना ही विषाद है। उच्च भावों से ग्रहण की हुई किसी प्रतिज्ञा का पालन न करना तथा ग्रहण किए हुए संयम, ध्यान, नियम-पच्चक्खाण आदि का पालन न करना भी विषाद है। जो शुभकार्य करने में भी विषाद मानता है वह उसके पूर्णतया वहन करने में समर्थ कैसे हो सकता है? जब भाव सम्यग्दर्शन पूर्वक होंगे तभी सम्यक् क्रियाओं का पालन हो सकता है। यदि भावों में अविश्वास हो, चित्त में चंचलता हो तो वह प्रतिज्ञा पालन करने में कभी भी समर्थ नहीं हो सकता। किसी भी छोटे-बड़े कार्य को पूर्ण करने के लिए श्रेष्ठ व्यक्ति का सहयोग, दृढ़ता और विवेक की परम आवश्यकता रहती है।

कुम्भ और मानवीय व्यक्तित्व

मूल—चत्तारि कुंभा पण्णत्ता, तं जहा—पुण्णे णाममेगे पुण्णे, पुण्णे णाममेगे तुच्छे, तुच्छे णाममेगे पुण्णे, तुच्छे णाममेगे तुच्छे। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—पुण्णे णाममेगे पुण्णे०४।

चत्तारि कुंभा पण्णत्ता, तं जहा—पुण्णे णाममेगे पुण्णोभासी, पुण्णे णाममेगे तुच्छोभासी, तुच्छे णाममेगे पुण्णोभासी, तुच्छे णाममेगे तुच्छोभासी। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—पुण्णे णाममेगे पुण्णो-भासी०४।

चत्तारि कुंभा पण्णत्ता, तं जहा—पुण्णे णाममेगे पुण्णरूवे, पुण्णे णाममेगे तुच्छरूवे०४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—पुण्णे णाममेगे पुण्णरूवे०४।

चत्तारि कुंभा पण्णत्ता, तं जहा—पुण्णेवि एगे पियट्ठे, पुण्णेवि एगे अवदले, तुच्छेवि एगे पियट्ठे, तुच्छेवि एगे अवदले। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—पुण्णेवि एगे पियट्ठे०४।

तहेव चत्तारि कुंभा पण्णत्ता, तं जहा—पुण्णेवि एगे विस्संदइ, पुण्णेवि एगे णो विस्संदइ, तुच्छेवि एगे विस्संदइ, तुच्छेवि एगे णो विस्संदइ। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—पुण्णेवि एगे विस्संदइ०४।

तहेव चत्तारि कुंभा पण्णत्ता, तं जहा—भिण्णे, जज्जरिए, परिस्साई, अपरिस्साई। एवामेव चउव्विहे चरित्ते पण्णत्ते, तं जहा—भिण्णे जाव अपरिस्साई०४।

चत्तारि कुंभा पण्णत्ता, तं जहा—महुकुंभे णामं एगे महुपिहाणे, महुकुंभे णामं एगे विसपिहाणे, विसकुंभे णामं एगे महुपिहाणे, विसकुंभे णाममेगे विसपिहाणे। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—महुकुंभे णामं एगे महुपिहाणे०४।

हिययमपावमकलुसं, जीहाऽवि य महुरभासिणी णिच्चं।
जंमि पुरिसंमि विज्जइ, से महुकुंभे महुपिहाणे ॥१॥
हिययमपावमकलुसं, जीहाऽवि य कडुयभासिणी णिच्चं।
जंमि पुरिसंमि विज्जइ, से महुकुंभे विसपिहाणे ॥२॥

जं हियय कलुसमयं, जीहाऽवि य महुरभासिणी णिच्चं।
जंमि पुरिसंमि विज्जइ, से विसकुंभे महुपिहाणे ॥ ३ ॥
जं हियय कलुसमयं, जीहाऽवि य कडुयभासिणी णिच्चं।
जंमि पुरिसंमि विज्जइ, से विसकुंभे विसपिहाणे ॥ ४ ॥ १४७॥

छाया—चत्वारः कुम्भाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पूर्णो नामैकः पूर्णः, पूर्णो नामैकस्तुच्छः, तुच्छो नामैकः पूर्णः, तुच्छो नामैकस्तुच्छः। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पूर्णो नामैकः पूर्णः०४।

चत्वारः कुम्भाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पूर्णो नामैकः पूर्णावभासी, पूर्णो नामैकस्तुच्छावभासी, तुच्छो नामैकः पूर्णावभासी, तुच्छो नामैकस्तुच्छावभासी। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पूर्णो नामैकः पूर्णावभासी०४।

चत्वारः कुम्भाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पूर्णो नामैकः पूर्णरूपः, पूर्णो नामैकस्तुच्छरूपः०४। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पूर्णो नामैकः पूर्णरूपः०४।

चत्वारः कुम्भाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पूर्णोऽपि एकः प्रियार्थः, पूर्णोऽप्येकः अवदलः, तुच्छोऽप्येकः प्रियार्थः, तुच्छोऽप्येकोऽवदलः। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पूर्णोऽप्येकः प्रियार्थः०४।

तथैव चत्वारः कुम्भाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पूर्णोऽप्येको विष्यन्दते, पूर्णोऽप्येको नो विष्यन्दते, तुच्छोऽप्येको विष्यन्दते, तुच्छोऽप्येको नो विष्यन्दते। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—पूर्णोऽप्येको विष्यन्दते०४।

तथैव चत्वारः कुम्भाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—भिन्नः, जर्जरितः, परिश्रावी, अपरिश्रावी। एवमेव चतुर्विधं चारित्रं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—भिन्नं यावद् अपरिश्रावी०४।

चत्वारः कुम्भाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मधुकुम्भो नामैको मधुपिधानः, मधुकुम्भो नामैको विषपिधानः, विषकुम्भो नामैको मधुपिधानः, विषकुम्भो नामैको विषपिधानः। एवमेव चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—मधुकुम्भो नामैको मधुपिधानः०४।

हृदयमपापमकलुषं, जिह्वाऽपि च मधुरभाषिणी नित्यम्।
यस्मिन्पुरुषे विद्यते, स मधुकुम्भो मधुपिधानः ॥ १ ॥
हृदयमपापमकलुषं, जिह्वाऽपि च कटुकभाषिणी नित्यम्।
यस्मिन्पुरुषे विद्यते, स मधुकुम्भो विषपिधानः ॥ २ ॥
यद् हृदयं कलुषमयं, जिह्वाऽपि च मधुरभाषिणी नित्यम्।
यस्मिन्पुरुषे विद्यते, स विषकुम्भो मधुपिधानः ॥ ३ ॥

यद् हृदयं कलुषमयं, जिह्वाऽपि च कटुकभाषिणी नित्यम्।
यस्मिन्पुरुषे विद्यते, स विषकुम्भो विषपिधानः ॥ ४ ॥
(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के कुंभ प्रतिपादन किए गए हैं, जैसे—एक घट अवयवों की दृष्टि से पूर्ण है और घृतादि से भी पूर्ण है। एक अवयवों की दृष्टि से तो पूर्ण है, किन्तु घृतादि से पूर्ण नहीं है। एक घट अवयवों की दृष्टि से तो अपूर्ण है, किन्तु घृतादि द्रव्यों से पूर्ण है। एक घट अवयवों की दृष्टि से भी अपूर्ण है और घृतादि से भी अपूर्ण है। इसी प्रकार संसार में चार प्रकार के पुरुष होते हैं, जैसे—एक अवयव अथवा जाति आदि से पूर्ण है और ज्ञानादि गुणों से भी पूर्ण है। शेष भंगों की योजना इसी प्रकार कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के कुम्भ कथन किए गए हैं, जैसे—एक घट आकारादि बाह्य सौन्दर्य से पूर्ण है, और अन्दर भी घृतादि से पूर्ण मालूम देता है। एक आकारादि से तो पूर्ण है, किन्तु घृतादि से रिक्त मालूम देता है। एक आकारादि से अपूर्ण-हीन है, किन्तु पूर्ण प्रतीत होता है। एक आकार से भी अपूर्ण है और घृतादि से भी अपूर्ण ही प्रतीत होता है। इसी तरह चार प्रकार के पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे—एक पुरुष अवयवादि से पूर्ण है और ज्ञानादि गुणों से भी पूर्ण ही मालूम होता है। शेष भंगों की योजना भी कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के कुम्भ कथन किए गए हैं, जैसे—एक घट घृतादि से पूर्ण है और पूर्णरूप अर्थात् सुन्दर रूप वाला है। एक घट घृतादि से पूर्ण है, किन्तु हीन-रूप-असुन्दर रूप वाला है। इसी प्रकार चार-चार श्रेणियों के पुरुष होते हैं, जैसे—एक व्यक्ति ज्ञानादि गुणों से पूर्ण है और पुण्यरूप भी है। शेष भंगो की योजना भी पहले की भांति कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के कुम्भ कथन किए गए हैं, जैसे—एक घट जलादि से पूर्ण है और स्वर्णादि का बना होने से प्रियार्थ-प्रिय है। एक घट जलादि से पूर्ण है, किन्तु कुत्सित मृत्तिका का बना होने से अथवा अर्धपक्व होने से अपदल अर्थात् कुत्सित है। एक जलादि से रिक्त है, किन्तु प्रियार्थ है। एक जलादि से रिक्त है और अपदल भी है। इसी भांति चार प्रकार के पुरुष होते हैं—एक पुरुष धन-संपत्ति से या ज्ञानादि से पूर्ण है और परोपकारी होने से प्रियार्थ भी है। शेष भंगों की भी इसी प्रकार कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के कुम्भ हैं, जैसे—एक जलादि से पूर्ण है और साथ ही टपकता

भी है। एक पूर्ण है, किन्तु टपकता नहीं। एक अपूर्ण है और टपकता भी है। एक घट अपूर्ण है परन्तु टपकता नहीं है। इसी प्रकार चार प्रकार के पुरुष हैं, जैसे—एक धन-संपत्ति से पूर्ण है और टपकता अर्थात् दान आदि भी करता है। शेष भंगों की कल्पना भी इसी भान्ति है।

चार प्रकार के कुम्भ कथन किए गए हैं, जैसे—भिन्न अर्थात् फूटा हुआ। जर्जरित रेखा अर्थात् तरेड़ वाला। परिश्रावी अर्थात् टपकने वाला। अपरिश्रावी न टपकने वाला। इसी तरह चार प्रकार का चारित्र होता है, सर्वथा भग्न यावत् सर्वथा निर्दोष।

चार प्रकार के कुम्भ हैं, जैसे—मधु का कुम्भ है और मधु का ही ढक्कन है, मधु का घट है और विष का ढक्कन है, विष का घट है और मधु का ढक्कन है, विष का घट है और विष का ही ढक्कन है। इसी प्रकार संसार में चार प्रकार के पुरुष होते हैं—मधु-घट और मधु-पिधान इत्यादि। जिसका हृदय पाप-रहित एवं अकलुषित है और जिसकी जिह्वा भी सदैव मधुर भाषण करती है, वह मधु-घट एवं मधुपिधान तुल्य है।

जिस व्यक्ति का हृदय पाप-रहित एवं अकलुषित है, और जिसकी जिह्वा सदैव कटु भाषण करने वाली है, वह पुरुष मधु-घट एव विषपिधान तुल्य है। जिसका हृदय तो पाप के कारण कलुषित हो, किन्तु जिह्वा मधुर भाषण करने वाली हो, वह पुरुष विष-घट एवं मधुपिधान तुल्य है। जिसका हृदय भी कलुषित हो और जिसकी जिह्वा भी कटु भाषण करने वाली हो, वह पुरुष विष-घट एवं विष-पिधान तुल्य है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में जल के महान् आधार समुद्र से तुलना करते हुए मानव व्यक्तित्व का विश्लेषण किया गया है। उसी परम्परा में जल के लघु आधारभूत कुम्भ के माध्यम से अब सूत्रकार मानव को कुम्भ से उपमित करते हैं, कुम्भ शब्द अनेक अर्थों का द्योतक है, उनमें एक अर्थ घडा भी है। मिट्टी के बने हुए घडे को कुम्भ कहते हैं, वह आकृति रूप-रंग तथा बाहरी अच्छी बुरी वस्तुओं के संयोग-वियोग से अनेक प्रकार का होता है। इन्हीं कारणों से उसकी अनेक चौभंगियां बनती हैं।

१. कुम्भ चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक कुम्भ अपने अवयवों की दृष्टि से पूर्ण है और घृत आदि पदार्थों से भी पूर्ण है।

(ख) एक कुम्भ अपने अवयवों की दृष्टि से तो पूर्ण है, किन्तु घृत आदि पदार्थों से रिक्त है।

(ग) एक कुम्भ घृत आदि पदार्थों से पूर्ण है, किन्तु अपने आप में पूर्ण नहीं।
(घ) एक कुम्भ घृत आदि पदार्थों से भी खाली है और अपने स्वरूप से भी पूर्ण नहीं है।

२. कुम्भ की तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं—
(क) एक पुरुष सर्वांग अवयवों से पूर्ण है, और धन एवं धर्म से भी पूर्ण है।
(ख) एक पुरुष सर्व अवयवों से तो पूर्ण है, किन्तु धन एवं धर्म से पूर्ण नहीं है।
(ग) एक पुरुष ऐश्वर्य आदि से तो पूर्ण है, किन्तु सर्व अवयवों से पूर्ण नहीं है।
(घ) एक पुरुष न सर्व अवयवों से पूर्ण है, और न ऐश्वर्य आदि से पूर्ण है।

पूर्ण शब्द से अवयव, जाति, कुल, ऐश्वर्य, गुण, धर्म इत्यादि अर्थ ग्रहण किए जाते हैं। तुच्छ शब्द से स्वल्प, खाली, ओछापन इत्यादि भावों का ग्रहण होता है।

३. कुम्भ चार प्रकार के होते हैं—
(क) एक कुम्भ आकार आदि से पूर्ण है और देखने में भी भरा हुआ प्रतीत होता है।
(ख) एक कुम्भ आकार आदि से तो पूर्ण है, परन्तु भीतर से खाली जैसा लगता है।
(ग) एक कुम्भ आकार आदि से अपूर्ण है, परन्तु भीतर से भरा हुआ जैसा लगता है।
(घ) एक कुम्भ आकार आदि से तो अपूर्ण है और भीतर से भी खाली प्रतीत होता है।

जो पदार्थ जैसा नहीं है अगर वह वैसा जान पड़े, उसे ही आभास या अवभास कहा जाता है। जो घट दर्शक जनों की दृष्टि में पूर्ण प्रतीत होता है, परन्तु पूर्ण है नहीं, उसे पूर्णावभासी कहते हैं। जो खाली तो नहीं है, किन्तु देखने वाले को खाली जैसा लगता है, वह तुच्छ अवभासी है।

४. कुम्भ की तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं—
(क) एक पुरुष आकार से पूर्ण है और धन एवं गुणों से भी पूर्णावभासी है, वस्तुतः तुच्छ है।
(ख) एक पुरुष आकार से पूर्ण है, किन्तु ऐश्वर्य की दृष्टि से तुच्छ जैसा लगता है, परन्तु वस्तुतः पूर्ण है।
(ग) एक पुरुष आकार से तुच्छ है और लगता है पूर्ण जैसा, वस्तुतः है तुच्छ ही।
(घ) एक पुरुष बाहर से तुच्छ है, किन्तु गुणों से भी तुच्छ जैसा मालूम होता है, वास्तव में पूर्ण ही है।

५. कुम्भ चार प्रकार के होते हैं—
(क) एक कुम्भ मांगलिक पदार्थों से पूर्ण है और अलंकृत होने से रूपवान भी है।
(ख) एक कुम्भ मांगलिक पदार्थों से तो पूर्ण है, किन्तु अलंकृत न होने से तुच्छ रूप वाला है।

(ग) एक कुम्भ भीतर से खाली होने के कारण तुच्छ है, किन्तु अलंकृत होने से रूपवान है।

(घ) एक कुम्भ भीतर से भी तुच्छ है और आकार-प्रकार रंग रूप से भी तुच्छ है।

६. कुम्भ की तरह पुरुष अर्थात् साधु भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ साधु ज्ञान आदि गुणों से पूर्ण होते हैं और स्वलिंग से भी पूर्णरूप हुआ करते हैं।

(ख) कुछ साधु ज्ञानादि गुणों से तो पूर्ण होते हैं, किन्तु स्वलिंग न होने से तुच्छ रूप हुआ करते हैं।

(ग) कुछ साधु रत्नत्रय से हीन होने के कारण तुच्छ होते हैं, किन्तु स्वलिंग होने से पूर्ण रूप हुआ करते हैं।

(घ) कुछ साधु रत्नत्रय से हीन होने के कारण तुच्छ होते हैं और अन्य लिंगी होने से तुच्छ रूप भी हुआ करते हैं।

७. कुम्भ चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक कुंभ जल आदि से पूर्ण और अद्‌भुत एवं चमत्कृत होने से प्रियार्थ अर्थात् प्रिय भी होता है।

(ख) एक कुंभ जल आदि से तो पूर्ण है, किन्तु अर्धपक्व एवं खराब होने से अपदल है।

(ग) एक कुंभ तुच्छ अर्थात् खाली होता हुआ भी मंगल स्थान पर रखा हुआ होने से प्रियार्थ है।

(घ) एक कुंभ तुच्छ होता हुआ भी कच्चा है और अकिंचित्कर होने के कारण अपदल भी है।

८. कुंभ की तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ पुरुष धन एवं धर्म से पूर्ण होते हैं और परोपकारी होने से लोकप्रिय भी हुआ करते हैं।

(ख) कुछ पुरुष धन एवं धर्म से तो पूर्ण होते हैं, किन्तु परोपकारी न होने से लोकप्रिय नहीं हो पाते।

(ग) कुछ पुरुष धन या धर्म से तो अपूर्ण होते हैं, किन्तु परोपकारी होने से लोकप्रिय होते हैं।

(घ) कुछ पुरुष धन या धर्म से तो अपूर्ण होते हैं और परोपकारी न होने से लोकप्रिय भी नहीं होते।

९. कुम्भ चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक कुम्भ जल आदि से परिपूर्ण है और साथ ही टपकता भी है।

(ख) एक कुम्भ जल आदि से तो भरा हुआ है, किन्तु उससे पानी नहीं टपकता है।
(ग) एक कुम्भ जल आदि से अपूर्ण है, पर टपकने वाला है।
(घ) एक कुम्भ जल आदि से अपूर्ण है, परन्तु टपकता नहीं है।

१०. कुम्भ की तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं—
(क) कुछ पुरुष धन या श्रुत आदि से सम्पन्न होते हैं और वे उन्हें परोपकार में भी लगाते रहते हैं।
(ख) कुछ पुरुष धन या श्रुतादि से पूर्ण तो होते हैं, किन्तु उसे परोपकार में नहीं लगाते।
(ग) कुछ पुरुष धन या विद्या से तो अपूर्ण होते हैं, किन्तु अवसर के अनुकूल प्राप्त पदार्थों को परोपकार में लगाते रहते हैं।
(घ) कुछ पुरुष धन या विद्या से अपूर्ण होते हैं और अवसर के अनुरूप प्राप्त पदार्थों को परोपकार में भी नहीं लगाते।

११. कुम्भ चार प्रकार के होते हैं—
(क) कोई कुम्भ जहां-तहां से फूटा हुआ होता है।
(ख) कोई कुम्भ जर्जरित एवं तरेड़ वाला होता है।
(ग) कोई कुंभ अर्धपक्व होने से टपकने वाला होता है।
(घ) कोई कुम्भ परिपक्व होने से टपकने वाला नहीं होता है।

१२. कुम्भ की तरह चारित्र भी चार प्रकार का होता है—
(क) एक चारित्र वह है जो मूल प्रायश्चित्त से शुद्ध होने वाला है।
(ख) एक चारित्र वह है जो छेद प्रायश्चित्त से शुद्ध होने वाला है।
(ग) एक वह चारित्र है जो केवल सूक्ष्म दोषों से दूषित है।
(घ) एक वह चारित्र है जो सर्वथा निर्दोष है।

यहां चारित्र रूप धर्म का जो प्रतिपादन किया गया है वह धर्म और धर्मी में कथंचित् अभेद को लक्ष्य में रखकर किया गया है। इस कथन से यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि चारित्र शब्द सदाचार का वाचक है, वह गृहस्थ और मुनि दोनों से सम्बन्ध रखता है, अत: यह चौभंगी दोनों के विषय में समान जाननी चाहिए।

१३. कुम्भ चार प्रकार के होते हैं—
(क) एक कुम्भ मधु से भरा हुआ है और मधुमय ढक्कन से ही ढका हुआ है।
(ख) एक कुम्भ मधु से भरा हुआ है और विषमय ढक्कन से ढका हुआ है।
(ग) एक कुम्भ विष से भरा हुआ है और मधुमय ढक्कन से ढका हुआ है।
(घ) एक कुम्भ विष से भरा हुआ है और विषमय ढक्कन से ढका हुआ है।

मधु शब्द के अर्थ हैं—शहद, मकरंद, मिश्री, अमृत, दूध, दही, मक्खन आदि। शास्त्रकार को ये सभी शब्द अभीष्ट प्रतीत होते हैं।

१४. इसी भाँति चार प्रकार के पुरुष होते हैं—

(क) जिस व्यक्ति का हृदय पापरहित एवं कलुषता हीन है, तथा जिह्वा मधुर भाषिणी है, वह मधु-कुम्भ एवं मधुपिधान के समान माना जाता है।

(ख) जिस व्यक्ति का हृदय तो पाप-रहित एवं कलुषता-हीन है, किन्तु जिह्वा कटु-भाषिणी है वह मधुकुम्भ तथा विषपिधान के तुल्य माना जाता है।

(ग) जिस व्यक्ति का हृदय पाप-सहित एवं कलुषता पूर्ण है, किन्तु जिह्वा मधुर भाषिणी है, वह विषकुम्भ तथा मधुपिधान के सदृश होता है।

(घ) जिस व्यक्ति का हृदय पाप-सहित एवं कलुषतापूर्ण है और जिह्वा भी कटुभाषिणी है, वह विष-कुम्भ तथा विषपिधान के सदृश कहा जाता है।

इस सूत्र में कुम्भ की विभिन्न अवस्थाओं एवं वस्तु-स्थितियों का चौभंगियों के द्वारा दिग्दर्शन कराया गया है। कुम्भ के साथ पुरुषों की तुलना की गई है, इससे कर्मों का अनुभाव कथन किया गया है। जीव की कर्म करने में स्वतंत्रता और स्याद्वाद सिद्धान्त की नित्यता भी इससे सिद्ध होती है। मनुष्य जिस प्रकार के कर्मों का उपार्जन करता है, उसे फल भी उसी तारतम्य से प्राप्त होता है। इसी कारण परस्पर प्रकृति-स्वभाव का भेद होता है। जो हृदय से स्वच्छ एवं मधुरभाषी है, वही लौकिक क्रिया एवं धर्म-क्रिया करने में समर्थ होता है। जो व्यक्ति मलिन हृदय वाला है तथा कटुभाषी है वह सर्वथा अयोग्य माना जाता है।

ये चौभंगियां मानव-जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं और मनुष्य को आत्म-निरीक्षण की प्रेरणा देती हैं कि उसे अपना जीवन किस सांचे में ढालना चाहिए।

चतुर्विध उपसर्ग

मूल—चउव्विहा उवसग्गा पण्णत्ता, तं जहा—दिव्वा, माणुसा, तिरिक्खजोणिया, आयसंचेयणिज्जा।

दिव्वा उवसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—हासा, पाओसा, वीमंसा, पुढोवेमाया।

माणुस्सा उवसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—हासा, पाओसा, वीमंसा, कुसीलपडिसेवणया।

तिरिक्खजोणिया उवसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—भया, पओसा, आहारहेउं, अवच्चलेणसारक्खणया।

आयसंचेयणिज्जा उवसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—घट्टणया, पवडणया, थंभणया, लेसणया ॥ १४८ ॥

छाया—चतुर्विधा उपसर्गाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—दिव्याः, मानुषाः, तिर्यग्योनिजाः, आत्मसचेतनीयाः।

दिव्या उपसर्गाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हास्यात्, प्रद्वेशात्, विमर्शात्, पृथग्-विमात्रात्। मानुष्या उपसर्गाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हास्यात्, प्रद्वेशात्, विमर्शात्, कुशीलप्रतिसेवनात्।

तिर्यग्योनिजा उपसर्गाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—भयात्, प्रद्वेषात्, आहारहेतोः, अपत्य-लयनसंरक्षणकाः।

आत्मसंचेतनीया उपसर्गाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—घट्टनता, प्रपतनता, स्तम्भनता, श्लेषणता।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के उपसर्ग कथन किए गए हैं, जैसे—दिव्य-देवता-सम्बन्धी, मनुष्य-सम्बन्धी, तिर्यग्योनिज अर्थात् तिर्यंच योनि-सम्बन्धी, आत्मसंचेतनीय अर्थात् अपने शरीर से ही होने वाले आत्म-सम्बन्धी।

देवता सम्बन्धी उपसर्ग चार प्रकार के बतलाए गए हैं, जैसे—उपहास से, प्रद्वेष से, विमर्श अर्थात् ईर्ष्या से और पृथग्विमात्र अर्थात् उपहासादि के समुदाय से।

मनुष्य सम्बन्धी उपसर्ग चार प्रकार के बतलाए गए हैं, जैसे—उपहास से, द्वेष से, ईर्ष्या से और किसी दुराचार आदि के सेवन करने से।

तिर्यंचयोनि सम्बन्धी उपसर्ग चार प्रकार के बतलाए गए हैं, जैसे—भय से, द्वेष से, आहार के कारण और सन्तान एवं निवास-स्थान की रक्षा के संकल्प से।

आत्मसंचेतनीय उपसर्ग चार प्रकार के कथन किए गए हैं, जैसे—घट्टन से, अर्थात् आंख आदि में किरकिरी आदि पदार्थ के गिरने पर, उसे मसल देने से, प्रपतन से अर्थात् बहुत शीघ्र चलते हुए गिर जाने से, स्तम्भन से अर्थात् बैठे-बैठे या लेटे-लेटे हाथ-पावों आदि अवयवों के सुन्न हो जाने से, लेषण से-बैठते या लेटते हुए आकस्मिक वात-स्पर्श के कारण हस्तपादादि अवयवों के जुड़ जाने से।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में निकृष्टता का विवेचन किया गया है और निकृष्ट-प्रकृति व्यक्ति ही उपसर्ग किया करते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में उपसर्ग-भेदों का विवेचन किया गया है। जिन हिंसात्मक साधनों के द्वारा जीव को श्रुत और चारित्र धर्म से गिराया जाए या विचलित किया जाए उन्हें उपसर्ग कहा जाता है, अर्थात् कष्टदायक उपद्रव उपसर्ग कहलाते हैं।

उपसर्ग दो प्रकार के होते हैं, अनुकूल उपसर्ग और प्रतिकूल उपसर्ग। पहले प्रकार का

उपसर्ग इन्द्रियों और मन के अनुरूप होता है, अतः वह अनुकूल कहलाता है और दूसरे प्रकार का उपसर्ग देह, इन्द्रियों और मन के विरुद्ध होने से प्रतिकूल कहलाता है। दोनों तरह के उपसर्ग धर्म मार्ग से विचलित करने वाले होते हैं।

इस सूत्र में कारण की दृष्टि से उपसर्ग के चार भेद कथन किए गए हैं। जैसे कि—दिव्य, मानुष, तैर्यग्योनिक और आत्म-संचेतनीय। इनमें से पुनः प्रत्येक के चार भेद उपस्थित किए गए हैं। जिनकी व्याख्या निम्नलिखित है:—

१. दिव्योपसर्ग—

प्रायः सभी संस्कृतियां इस सत्य का समर्थन करती हैं कि देव मनुष्य को साधना-मार्ग पर बढ़ते हुए देखकर ईर्ष्या के कारण उसकी साधना में विघ्न डालने का प्रयत्न करने लग जाया करते हैं। उनकी यह ईर्ष्या चार रूपों में व्यक्त होती है—

(क) **हास्योपसर्ग**—जब कोई देव मनोविनोद के लिए किसी साधना-निष्ठ व्यक्ति को कष्ट देता है, उसका मजाक उड़ाकर उसके मन को दूषित करता है उसे "हास्योपसर्ग" कहा जाता है।

(ख) **प्रद्वेषोपसर्ग**—जब कोई देव द्वेष के कारण किसी साधक को कष्ट पहुंचाता है तो उसे प्रद्वेषोपसर्ग कहते हैं। निम्नकोटि के देव प्रद्वेषोपसर्ग देने वाले हुआ करते हैं।

(ग) **विमर्शोपसर्ग**—जब कोई देव साधक की साधना-निष्ठा की परीक्षा लेने के लिए उसे कष्ट पहुंचाता है तो उसे विमर्शोपसर्ग कहा जाता है।

(घ) **पृथग्विमात्रोपसर्ग**—जिस देवकृत उपसर्ग में हास्य, प्रद्वेष और विमर्श तीनों का संयोग हो उसे पृथग्-विमात्रोपसर्ग कहा जाता है।

इस प्रकार सूत्रकार ने देवकृत उपसर्गों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है।

२. मानुषोपसर्ग—

(क) मनुष्य-कृत उपसर्ग को मानुषोपसर्ग कहा जाता है। इसके मूल कारण और भेद भी वही हैं जो देवकृत उपसर्ग के हुआ करते हैं। जब कोई मूर्ख मनुष्य किसी धर्मात्मा को देखता है तब मनोविनोद के लिए व्यंग्यात्मक शब्दों में उसका उपहास करता है, उस पर कंकर, पत्थर फैंकता है तथा उसकी साधना में अनेक विघ्न-बाधाएं डालता है। इस प्रकार की भावनाओं से प्रेरित उपसर्ग **हास्योपसर्ग** कहलाता है।

(ख) जब कोई दुष्ट व्यक्ति किसी धर्मात्मा की साधना में द्वेष-वश बाधाएं पहुंचाता है उसे अनेक प्रकार के कष्ट देता है और उसे कलंकित करने का प्रयास करता है, ऐसे उपसर्ग को **प्रद्वेषोपसर्ग** ही कहा जाता है।

(ग) जब कोई दुष्ट व्यक्ति केवल परीक्षा के उद्देश्य से ही किसी धर्मात्मा को अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग देता है, तब वह **विमर्शोपसर्ग** कहलाता है।

(घ) जब कोई दुष्ट व्यक्ति किसी साधक को ब्रह्मचर्य से पतित करने के लिए पीड़ित करता है, वह **कुशील-प्रतिसेवनता** है।

इस प्रकार के उपसर्ग देने वाले दुष्टात्मा मनुष्य साधक को पवित्र वृत्ति से गिराने का प्रयास करते हैं, प्रलोभन के द्वारा उसे अपने जाल में फंसाते हैं। जैसे धर्मवीर सुदर्शन सेठ पर कुशीलता का आरोप लगाकर, रानी ने शूली की सजा देने के लिए राजा को प्रेरित किया। कुशील-सेवन की आशंका से जो कष्ट दिया जाता है उसका अन्तर्भाव इसी में हो जाता है।

३. तैर्यग्योनिक उपसर्ग—

पशु-पक्षियों के द्वारा जो उपद्रव या उपसर्ग किए जाते हैं उनको तैर्यग्योनिक उपसर्ग कहते हैं। इन उपसर्गों के पीछे भी मूल कारण चार ही हैं, जैसे कि—

पहला कारण **भय** है—प्राय: यह देखा जाता है कि जब कोई पशु-पक्षी भयभीत होता है तो वह उस अवस्था में जो भी सामने आए उसी पर आक्रमण कर देता है। गाय, भैंस, कुत्ता भयभीत होकर ही प्राय: आक्रमणों द्वारा कष्ट देते देखे जाते हैं।

दूसरा कारण **प्रद्वेष** है—कभी-कभी पशु-पक्षी भी द्वेष के वशीभूत होकर साधक को कष्ट देते हैं। उन कष्टों में द्वेष की प्रधानता रहती है। जिस व्यक्ति को पशु देखना पसंद नहीं करता वह उसे मारता है, काटता है, आहत करता है। इन समस्त क्रियाओं के पीछे द्वेष ही प्रेरक होता है।

तीसरा कारण **आहार** है—अपनी भूख मिटाने के लिए भी पशु-पक्षी मनुष्यों को उपसर्ग देते हैं, जैसे सिंह आदि। डांस, मच्छर, कीडी आदि भी आहार के लिए ही प्राणियो को उपसर्ग दिया करते हैं।

चौथे कारण में बताया गया है कि पशु-पक्षी अपनी **संतति की रक्षा** के लिए भी दूसरों को कष्ट देते हैं, जैसे प्रसूता गौ या कुतिया बच्चों की रक्षा के लिए मारने को तथा काटने को तैयार हो जाती है। **अवच्चलयणसारक्खणया**—इस पद में ''**अवच्च**'' और ''**लयण**'' शब्द आए हैं। पहले शब्द का अर्थ है अपत्य—बच्चे और दूसरे पद का अर्थ है, स्थान, घोंसला, गुफा आदि जिनकी रक्षा के लिए पशु-पक्षियों द्वारा उपसर्ग दिए जाने की बात कही गई है।

४. आत्मसंचेतनीयोपसर्ग—

जिस पीड़ा या कष्ट में साधक स्वयमेव ही कारण बन जाए उसे ''आत्मसंचेतनी-योपसर्ग'' कहा जाता है।

पहला कारण ''**घट्टनता**'' है। आंख में रजकण पड़ने पर आंखों को हाथों से मसलते- मसलते आंखें दु:खने लग जाती हैं, किसी के साथ टक्कर या ठोकर लग जाने से जो कष्ट होता है वह भी घट्टनता है।

दूसरा कारण **प्रपतनता** है। बिना यतना के चलते हुए किसी गड्ढे आदि में गिर जाने से जो कष्ट होता है, वह प्रपतनता-जन्य हुआ करता है।

तीसरा कारण **स्तंभनता है**—हाथ पांवों का सो जाना, मलमूत्र का रुक जाना, पक्षाघात हो जाना, शीत या वायु से जडवत् हो जाना इत्यादि अनेक कष्ट स्तम्भनता-जन्य उपसर्ग हैं।

चौथा कारण **श्लेषणता** है। वात, पित्त, कफ, सन्निपात इत्यादि कारणों से रोग उत्पन्न होना, पैरों का जुड़ जाना, पैरों को संकोच कर बैठने से वात आदि रोगों का उत्पन्न होना इत्यादि अनेक कष्टों का अन्तर्भाव इसमें हो जाता है। इन कारणों से आत्म-संचेतनीय उपसर्ग होते हैं। सारांश यह है कि ये समस्त उपसर्ग केवल आत्म-प्रयोग से ही उत्पन्न हुआ करते हैं, न कि अन्य किसी देव आदि के निमित्त से।

कर्म करते समय जीव जिन निमित्तों को पाकर कर्मों का बंध करता है वे निमित्त भी चार ही हैं—जैसे कि देव, मनुष्य, तिर्यंच और स्वयं मनुष्य। शुभ और अशुभ कर्मों का उदय इन्हीं निमित्तों को पाकर होता है। बिना किसी निमित्त के कर्म का फल नहीं भोगा जा सकता। कर्म-फल भोग के निमित्तों का परिचय देना ही यहां सूत्रकार का लक्ष्य है।

चतुर्विध कर्म

मूल—चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—सुभे नाममेगे सुभे, सुभे नाममेगे असुभे, असुभे नाम०४।

चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—सुभे नाममेगे सुभविवागे, सुभे नाममेगे असुभविवागे, असुभे नाममेगे सुभविवागे, असुभे नाममेगे असुभविवागे।

चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—पगडीकम्मे, ठिइकम्मे, अणुभावकम्मे, पएसकम्मे ॥ १४९ ॥

छाया—चतुर्विधं कर्म प्रज्ञप्तं तद्यथा—शुभं नामैकं शुभं, शुभं नामैकमशुभम्, अशुभं नामैक शुभम्०४।

चतुर्विधं कर्म प्रज्ञप्तं तद्यथा—शुभं नामैकं शुभविपाकं, शुभं नामैकमशुभविपाकम्, अशुभं नामैकं शुभविपाकम्, अशुभं नामैकमशुभविपाकम्।

चतुर्विधं कर्म प्रज्ञप्तं, तद्यथा—प्रकृतिकर्म, स्थितिकर्म, अनुभावकर्म, प्रदेश-कर्म।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के कर्म कथन किए गए हैं, जैसे शुभ-शुभ, शुभ-अशुभ,

अशुभ-शुभ, अशुभ-अशुभ अर्थात् एक कर्म शुभ है और भविष्य में भी शुभ कर्मों का उत्पादक है। एक कर्म शुभ है, किन्तु भविष्य में अशुभ कर्मों का उत्पादक है। एक कर्म अशुभ है, किन्तु भविष्य में शुभ कर्मों का उत्पादक है। एक कर्म अब भी अशुभ है और भविष्य में भी अशुभ कर्मों का उत्पादक है।

चार प्रकार के कर्म हैं, जैसे—शुभ-शुभ-विपाक—एक कर्म शुभ है और शुभ ही फल देता है, शुभ-अशुभ विपाक—एक कर्म शुभ है, किन्तु फल अशुभ देता है, अशुभ-शुभ-विपाक—एक कर्म अशुभ है, किन्तु उसका संक्रमण काल में फल शुभ होता है, अशुभ-अशुभ विपाक—एक कर्म अशुभ है और उसका फल भी अशुभ ही है।

चार प्रकार के कर्म कथन किए गए हैं, जैसे—प्रकृति कर्म-कर्मों का भिन्न-भिन्न स्वभाव, स्थिति-कर्म—कर्मों की भिन्न-भिन्न स्थिति, अनुभावकर्म-कर्मों का भिन्न-भिन्न तीव्र अथवा मन्द फल, प्रदेशकर्म—कर्मों के परमाणुओं का दल।

विवेचनिका—उपसर्गों के सहन करने से अशुभ कर्मों का क्षय और शुभ कर्मों का उदय होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में कर्मों का दिग्दर्शन कराया गया है। सूत्रकार द्वारा प्रदर्शित यह कर्म-विश्लेषण अपने आप में पूर्ण, संक्षिप्त एवं सूक्ष्म है। आत्मा के साथ संवर के बिना कर्मों का बन्ध समय-समय में होता ही रहता है। यह बन्ध शुभ कर्मों का भी होता है और अशुभ कर्मों का भी, अतः सूत्रकार शुभाशुभ कर्मों का चौभंगियों द्वारा सुन्दर विश्लेषण करते हुए कहते हैं—

कर्म चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ शुभ-कर्म ऐसे होते हैं जो उदित होकर इस जन्म में सुख देते हैं और शुभ कर्मों में ही जीव को प्रवृत्त करते हैं।

(ख) कुछ ऐसे शुभ कर्म भी होते हैं जो उदित होकर इस जन्म में सुख तो देते हैं, परन्तु साथ ही पाप की ओर प्रवृत्त करते हैं।

(ग) कुछ ऐसे अशुभ कर्म भी होते हैं जो उदित होकर इस जन्म में दुख देते हैं, परन्तु साथ ही जीव को शुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त करते हैं।

(घ) कुछ ऐसे भी अशुभ कर्म होते हैं जो इस जन्म में दुख देते हैं और साथ ही अशुभ प्रवृत्तियों में भी लगाते हैं।

इस चौभंगी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं—

(क) पुण्यानुबंधी पुण्य। (ख) पुण्यानुबंधी पाप।

(ग) पापानुबंधी पुण्य। (घ) पापानुबंधी पाप।

अथवा—

(क) एक क्रियमाण कर्म दीखता भी शुभ है और है भी शुभ ही।

(ख) एक क्रियमाण कर्म दीखता तो शुभ है और है वास्तव में अशुभ।

(ग) एक क्रियमाण कर्म दीखता तो अशुभ है, किन्तु है वास्तव में शुभ।

(घ) एक क्रियमाण कर्म दीखता भी अशुभ है और वास्तव में है भी अशुभ।

२. कर्म चार प्रकार के होते हैं—

(क) कुछ कर्म शुभ रूप में बंधते हैं और उनका फल भी शुभ ही होता है।

(ख) कुछ कर्म शुभ परिणामों से बंधते हैं, किन्तु संक्रमण से फल अशुभ देते हैं।

(ग) कुछ कर्म अशुभ परिणामों से बंधते हैं, किन्तु संक्रमण से शुभ फल देते हैं।

(घ) कुछ कर्म अशुभ भावों से बंधते हैं, और फल भी अशुभ ही देते हैं।

सूत्रकार ने इस चौभंगी के दूसरे भंग में शुभ कर्म का अशुभ विपाक और तीसरे भंग में अशुभ का शुभ विपाक बतलाकर यह सिद्ध किया है कि कर्म-प्रकृतियों में संक्रमण होता रहता है। कर्म-सिद्धान्त में संक्रमण भी एक विशिष्ट कार्य करता है। मूलप्रकृतियों को छोड़कर अध्यवसाय के द्वारा उत्तर प्रकृतियों का संक्रमण हो जाता है। उत्तर प्रकृतियों में भी आयु, दर्शन-मोह और चारित्र-मोह इनमें संक्रमण नहीं होता है। उदाहरणार्थ समझिए कि किसी जीव ने किसी को उच्चभावों से दान दिया, किन्तु समयान्तर में दिए हुए दान के विषय में पश्चात्ताप करने लगा कि मैंने उसे दान क्यों दिया? उस पश्चात्ताप से शुभ प्रकृतियां अशुभ रूप में बदल जाती हैं। इसी प्रकार अबोध अवस्था में किए हुए पापों का पश्चात्ताप करने से अशुभ प्रकृतियां शुभ रूप में परिवर्तित हो जाया करती हैं। एक का दूसरे में बदलना ही संक्रमण कहलाता है। वह क्रिया से नहीं केवल भावों से ही होता है। इस विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—

मूलप्रकृत्यभिन्नाः सङ्क्रमयति गुणत उत्तराः प्रकृतीः।
नन्वात्माऽमूर्त्तत्वादध्यवसानप्रयोगेण॥

मतान्तरम्— मोत्तूण आउयं खलु दंसणमोहं चरित्तमोहं च।
सेसाणं पयडीणं उत्तरविहिसंकमो भणिओ॥

कर्म चार प्रकार के होते हैं—

(क) **प्रकृतिकर्म**—इसमें कर्मों की मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियों का ग्रहण किया जाता है।

(ख) **स्थितिकर्म**—इससे कर्मों की जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट सब प्रकार की स्थितियों का ग्रहण होता है।

(ग) **अनुभावकर्म**—इससे कर्मों के तीव्र एवं मंदरस का ग्रहण किया जाता है।

(घ) **प्रदेशकर्म**—इससे स्वल्पप्रदेशी बहुप्रदेशी कर्मदलिकों का ग्रहण किया जाता है।

इन कर्मों का विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के तेईसवें पद में देखना चाहिए। इस विषय का विश्लेषण चतुर्थ स्थान के दूसरे उद्देशक में भी किया जा चुका है। कर्मों की सभी परिस्थितियों से मनुष्य को परिचित होना चाहिए, तभी वह उनके बन्धनों से मुक्त हो सकता है और मुक्त होने के लिए प्रयास कर सकता है।

चतुर्विध संघ

मूल—चउव्विहे संघे पण्णत्ते, तं जहा—समणा, समणीओ, सावगा, सावियाओ ॥१५०॥

छाया—चतुर्विधः संघः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—श्रमणाः, श्रमण्यः, श्रावकाः, श्राविकाः।

शब्दार्थ—चउव्विहे संघे पण्णत्ते, तं जहा—चार प्रकार का संघ कथन किया गया है, जैसे—**समणा**—श्रमण, **समणीओ**—श्रमणी, **सावगा**—श्रावक और **सावियाओ**—श्राविकाएं।

मूलार्थ—चार प्रकार का संघ कथन किया गया है, जैसे—श्रमण-साधु, श्रमणी-साध्वी, श्रावक-गृहस्थ उपासक, श्राविका-गृहस्थ उपासिका।

विवेचनिका—श्रुत ज्ञान के द्वारा कर्म-स्वरूप एवं कर्म-गति को जानने वाले साधक-समूह को ही संघ कहा जाता है, अतः कर्म-विवेचना के अनन्तर संघ-स्वरूप का परिचय देते हुए शास्त्रकार कहते हैं:—

गुणीजनों के समूह को संघ कहा जाता है। संघ के चार अंग माने गए हैं। पहला श्रमणों का सघ, दूसरा श्रमणियों का संघ, तीसरा श्रावकों का संघ और चौथा श्राविकाओं का संघ। इनके समुदाय को चतुर्विध श्री-संघ कहा जाता है। इनमें पहले प्रकार के दो संघ सर्वविरति हैं अर्थात् त्याग-मार्ग को अधिकाधिक अपनाने वाले हैं और शेष दो अर्थात् श्रावक-श्राविका देशविरति अर्थात् यथाशक्ति त्यागमार्ग के अनुगामी हैं। श्रमण और श्रावक इन दो शब्दों की मननीय व्याख्या निम्नलिखित है।

समणा—श्रमण, शमन, समन और समण इन सबका प्राकृत रूप "**समण**" बनता है। जो अपने ही श्रम के द्वारा संयम और तप की साधना से कर्मों पर विजय प्राप्त करके परमात्मपद में लीन होते हैं, अथवा जिनकी यह मान्यता है कि जीव अपना विकास अपने ही परिश्रम से करता है उसे 'समण' कहा जाता है।

श्रमण—श्राम्यन्ति-तपस्यंतीति श्रमणाः—जिनका जीवन तपश्चर्या में व्यतीत होता है, वे श्रमण कहलाते हैं।

शमन—'शमन' शब्द का अर्थ है जो साधक कलुषित चित्तवृत्तियों को शांत करने के लिए सर्वथा प्रयत्नशील रहते हैं, वे शमन कहलाते हैं।

समन—'समन' का अर्थ है जो अपने मन को शत्रु मित्र में, निन्दा और स्तुति में, उदय और अस्त में, राग और द्वेष में, कंचन और कांच में, हानि और लाभ में संतुलित रखकर समभाव में रहते हैं वे समन कहलाते हैं।

समण—समण शब्द का अर्थ होता है जो व्यक्ति सब जीवों के साथ समान व्यवहार करते हैं, दूसरों के सुख और दु:ख को अपने समान समझते हैं वे समण कहलाते हैं। जैसे कि कहा भी है—**समं मणन्ति सर्वजीवेषु तुल्यं वर्तन्ते यतस्तेन ते समणाः**—जिन्होंने समस्त जीवों के साथ स्थायी मैत्री स्थापित कर ली है, वे समण हैं। आगम के शब्दों में—

तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ न होइ पावमणो।
सयणे य जणे य समो समो य माणावमाणेसु॥
नत्थि य सिं कोइ वेसो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो एसो अन्नोऽवि पज्जाओ॥

इसी प्रकार श्रमणी के विषय में भी जानना चाहिए।

सावया—'श्रावका' और 'सव्रता' का प्राकृतरूप 'सावया' बनता है। जो जिनवाणी को श्रद्धा से सुनते हैं उन्हें श्रावक कहते हैं। श्रद्धालु, विवेकी और क्रियावान् व्यक्ति को श्रावक कहा जाता है। श्रावक शब्द की व्युत्पत्ति वृत्तिकार ने निम्नलिखित शब्दों में उपस्थित की है—

श्रद्धालुतां याति पदार्थचिंतनाद्।
धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम्॥
किरत्यपुण्यानि सु-साधु सेवना—
दथापि तं श्रावकमाहुरंजसा॥

अर्थात् तत्त्व-चिन्तन करते-करते जिसकी सम्यक् श्रद्धा दृढ़ हो गई है, जिसका द्रव्य सुपात्र दान में लग रहा है, साधु-सन्तों की सेवा करने से जिसके पाप विलय हो रहे हैं उसे श्रावक कहते हैं। श्रावक शब्द का विश्लेषण करते हुए यह भी कहा गया है—

अवाप्तदृष्ट्यादिविशुद्धसम्पत्, परं समाचारमनुप्रभातम्।
शृणोति यः साधुजनादतन्द्रस्तं श्रावकं प्राहुरमी जिनेन्द्राः॥

अर्थात् जिसकी दृष्टि विशुद्ध है, जो शुभाचरण करने वाला है, जो आलस्य को छोड़कर साधुजनों से प्रातः-सांय धर्म-उपदेश सुनता है, जिनवाणी के अतिरिक्त शेष को अनर्थरूप समझता है, जिनेन्द्र भगवान ने ऐसे आदर्श गृहस्थ को श्रावक कहा है। जो स्त्री उक्त गुणों से संपन्न है, वह श्राविका कहलाती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सु-साधु, सु-साध्वी, सु-श्रावक और सु-श्राविका इनके समूह को ही श्रीसंघ कहते हैं, इसीलिए सूत्रकार ने **चउव्विहे संघे पण्णत्ते**—कहा है।

संघ का सम्मान वही होना चाहिए जो भगवान का होता है, क्योंकि आगमों के अनेक स्थलों में संघ को भगवान पद से अलंकृत किया है। जो भगवान है वही संघ है और जो संघ है वही भगवान है। संघ की आशातना करने से जीव संसार में भटकता है और संघ की सेवा करने से तीर्थंकर नाम गोत्र की प्राप्ति हो सकती है और कर्मों की निर्जरा भी होती है, पुण्यानुबंधी पुण्य का बंध होता है और मनुष्य भावी समय को समुज्ज्वल बना लेता है।

चार प्रकार की बुद्धि

मूल—चउव्विहा बुद्धी पण्णत्ता, तं जहा—उप्पत्तिया, वेणइया, कम्मिया, पारिणामिया।

चउव्विहा मई पण्णत्ता, तं जहा—उग्गहमई, ईहामई, अवायमई, धारणामई।

अहवा चउव्विहा मई पण्णत्ता, तं जहा—अरंजरोदगसमाणा, वियरोदगसमाणा, सरोदगसमाणा, सागरोदगसमाणा॥१५१॥

छाया—चतुर्विधा बुद्धिः प्रज्ञप्ता तद्यथा—औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी, पारिणामिकी।

चतुर्विधा मतिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—अवग्रहमतिः, ईहामतिः, अवायमतिः, धारणामतिः। अथवा चतुर्विधा मतिः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—अरंजरोदक-समाना, विदरोदक-समाना, सरोदक-समाना, सागरोदक-समाना।

शब्दार्थ—चउव्विहा बुद्धी पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार की बुद्धि कही गई है, जैसे—**उप्पत्तिया**—औत्पत्तिकी, **वेणइया**—वैनयिकी, **कम्मिया**—कार्मिकी, **पारिणामिया**—पारिणामिकी।

चउव्विहा मई पण्णत्ता, तं जहा—चार प्रकार की मति बताई गई है, जैसे—**उग्गहमई**—अवग्रह मति, **ईहामई**—ईहा मति, **अवायमई**—अवाय मति, **धारणामई**—धारणा मति।

अहवा—अथवा, **चउव्विहा मई पण्णत्ता, तं जहा**—चार प्रकार की मति कथन की गई है, जैसे—**अरंजरोदगसमाणा**—जलघट के समान, **वियरोदगसमाणा**—नदी-तट के गर्त जल समान, **सरोदगसमाणा**—सरोवर के जल समान, **सागरोदगसमाणा**—सागर के जल समान।

मूलार्थ—चार प्रकार की बुद्धि बतलाई गई है, जैसे—औत्पत्तिकी—जो बुद्धि पूर्व अदृष्ट एवं अश्रुत पदार्थ के सम्बन्ध में झट-पट जानकारी करा देती है। वैनयिकी—जो बुद्धि गुरु-सेवा से प्राप्त होती है। कार्मिकी—जो बुद्धि नित्य के शिल्पादि कार्यों

का अभ्यास करते रहने से प्राप्त होती है। पारिणामिकी—अनुमान आदि के द्वारा किसी दूसरे के मनोगत अभिप्रायों को जान लेने वाली बुद्धि।

चार प्रकार की मति कथन की गई है, जैसे—अवग्रह—इन्द्रियों और पदार्थों के योग्य स्थान में रहने पर सामान्य प्रतिभास रूप दर्शन के बाद होने वाला वस्तु का सर्वप्रथम ज्ञान। ईहा—अवग्रह से जाने हुए पदार्थों के विषय में उत्पन्न हुए संशय को दूर करने वाली विशेष विचारणा। अवाय—ईहा से जाने हुए पदार्थ के सम्बन्ध में 'यह वही है, अन्य नहीं' इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान अवाय है। धारणा—अवाय से निश्चित किए गए पदार्थ को कालान्तर में धारण किए रखना, विस्मृत न होने देना धारणा है।

अथवा मति के चार प्रकार और भी कथन किए गए हैं, जैसे—अरंजरोदक समान—घट के जल समान जो मति बहुत सीमित भावों का ज्ञान करा सकती हो एवं ज्ञात भावों को अधिक काल तक स्थिर न रख सकती हो। विदरोदकसमान—विदर का अर्थ है नदी के तट पर जलार्थ खोदे जाने वाला गर्त, उस गर्त के जल समान जो बुद्धि नवीन भावों की कल्पना करने में समर्थ होने के कारण जन-समाज का उपकार कर सके। सरोदकसमान—जलाशय के जल के समान मति जिसका विस्तार विदर जल की अपेक्षा विस्तृत होता है। सागर उदक समान—सागर के जल समान जो विस्तृत एवं संसार के अखिल पदार्थों का भली-भांति परिज्ञान कर सके और उस ज्ञान को कभी भी नष्ट न होने दे।

विवेचनिका—सर्वज्ञ प्रभु के वचनों पर श्रद्धा रखने से संघ में स्थित महापुरुष ही विशेष बुद्धिमान होते हैं, अत: संघ-भेदों का वर्णन करने के अनन्तर बुद्धि-भेदों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है, निश्चयात्मक ज्ञान को बुद्धि कहा जाता है, अथवा जो निश्चयात्मक ज्ञान में कारण है, वही बुद्धि है। यह बुद्धि मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होती है। वह मूल में एक प्रकार की होती हुई भी विविध प्रकार से व्यक्त होती है अर्थात् उसकी अनन्त पर्याय हैं। यद्यपि बुद्धि के सभी रूप क्षयोपशम भाव से उत्पन्न होते हैं तथापि साधारण गुणों को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने बुद्धि का वर्णन चार-चार रूपां से किया है।

१. चार प्रकार की बुद्धि—

१. औत्पत्तिकी बुद्धि—जो बुद्धि विषय-वस्तु एवं प्रश्न के सामने आते ही अविलम्ब उस विषय का निश्चयात्मक उत्तर सोच लेती है, सद्यः स्फुरण ही जिसका विशेष गुण होता है, उस बुद्धि को औत्पत्तिकी बुद्धि कहा जाता है। इस औत्पत्तिकी बुद्धि वाले पण्डित ही सम्मान योग्य माने जाते हैं।

२. वैनयिकी बुद्धि—जो बुद्धि गुरु आदि पूज्यजनों की विनय करने से उत्पन्न होती है, वह बुद्धि वैनयिकी कहलाती है। यह विनय से विकसित होती है, अतः इसे वैनयिकी कहा जाता है। यह विकसित होने पर लौकिक तथा लोकोत्तर फलदायिनी होती है। यह बुद्धि विरले किसी एक महापुरुष में होती है। इस बुद्धि से संसार में जीव सब तरह से लाभान्वित होता है।

३. कर्मजा बुद्धि—किसी एक कर्म के अभ्यास से उत्पन्न होने वाली बुद्धि कर्मजा या कार्मिकी कहलाती है। जैसे नित्य प्रति कृषि आदि कर्म का अभ्यास करने से कृषक को उसमें दक्षता प्राप्त हो जाती है, अतः उसकी बुद्धि कर्मजा होती है, यह भी उभयलोक फलदायिनी होती है।

४. पारिणामिकी बुद्धि—यह सुदीर्घकाल पर्यंत पूर्व-अपर अर्थों के अवलोकन से उत्पन्न होती है। यह अनुमान से, हेतु व दृष्टान्त से अपने अभीष्ट अर्थ को सिद्ध करने वाली और धीरे-धीरे आयु वृद्धि के साथ-साथ बढ़ती जाती है उसके अनुसार प्राप्त, विशेष अनुभव वाली एवं आत्महित की साधना की ओर प्रेरित करने वाली बुद्धि पारिणामिकी कहलाती है। इस बुद्धि वाला मनुष्य अभ्युदय या निःश्रेयस के अभिमुख होता है, उसका ज्ञान और अनुभव परिपक्व होता है।[१]

२. मतिज्ञान के चार भेद—

इन्द्रिय और मन के द्वारा योग्य देश में रहे हुए पदार्थ का जो ज्ञान होता है वह मति-ज्ञान कहलाता है। इस सूत्र में 'श्रुतनिश्रित मति-ज्ञान' के चार रूपों का उल्लेख किया गया है। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. अवग्रह—जिस पदार्थ को पहले समय में ही ग्रहण किया जाता है उसे अवग्रह कहा जाता है, अथवा इन्द्रिय और पदार्थों के योग्य स्थान में रहने पर सामान्य प्रतिभास रूप एवं दर्शन के अनन्तर होने वाले अवान्तर सत्ता-सहित वस्तु के सर्व-प्रथम होने वाले ज्ञान को अवग्रह कहते हैं। जैसे दूर से होने वाला किसी वस्तु का निर्विकल्प ज्ञान।

२. ईहा—अवग्रह के द्वारा जाने हुए पदार्थ के विषय में उत्पन्न संशय को दूर करके प्राप्त विशेष ज्ञान एवं उसके पर्यालोचन को ईहा कहते हैं। जैसे कि यदि अवग्रह से किसी दूरस्थ का ज्ञान होने पर उसके विषय में किसी प्रकार का संशय होता है कि यह दूरस्थ वस्तु "सीपी है या चांदी है?" जिस विचारणा से इस संशय की कुछ निवृत्ति होकर जब हमारा ज्ञान निश्चय के समीप पहुंच जाता है वही ईहा है। यह ज्ञान ज्ञाता को निश्चय के अभिमुख ले जाता है, परन्तु उस समय इतना कमजोर होता है कि ज्ञाता को इससे पूर्ण निश्चय नहीं होने पाता, हा निश्चयात्मक ज्ञान की आकांक्षा उसमें जागृत हो जाती है।

३. अवाय—ईहा से जाने हुए पदार्थों में "यह सीपी नहीं है, यह तो चांदी है", ऐसे

१ इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए नन्दी सूत्र—'अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान' प्रकरण।

निश्चयात्मक ज्ञान को अवाय कहते हैं। ईहा के उत्तर काल में अवाय का प्रवेश होता है। ईहा के बिना अवाय का अवतरण नहीं हो सकता, निश्चयात्मक ज्ञान को ही अवाय या बुद्धि कहते हैं।

४. धारणा—अवाय से प्राप्त ज्ञान जितना दृढ़ होता जाता है उसके संस्कार भी उतने ही दृढ़ हो जाते हैं। कालांतर में भी वे संस्कार ज्यों के त्यों बने रहते हैं। संख्यात या असंख्यात काल में भी जिस निश्चित ज्ञान का विस्मरण न हो सके इस प्रकार के धारण किए हुए ज्ञान को धारणा कहते हैं।

''**श्रुतनिश्रित मतिज्ञान**'' क्रमशः ही होता है, उत्क्रम से नहीं, क्योंकि अवग्रह होने पर ही ईहा हो सकती है, ईहा के होने पर ही निश्चय हो सकता है, निश्चय दृढ़ होने पर ही कालान्तर में स्मृति हो सकती है। अवग्रह के बिना ईहा नहीं, ईहा के बिना अवाय नहीं और अवाय के बिना धारणा नहीं हो सकती और उसके बिना कालान्तर में स्मृति उद्‌बुद्ध नहीं हो सकती है, अतः ज्ञान उक्त रीति-नीति से ही हो सकता है।[१]

३. मति चार प्रकार की होती है—

उपकार के तारतम्य को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने चार प्रकार की मति कही है। सबकी मति एक समान नहीं होती है, जिसमें जैसी मति होती है, वह उसके अनुसार ही उपकार कर सकता है। चार उपमाओं से मति को उपमित किया गया है जैसे कि—

१. अलिंजरोदक-समाना मति—अलिंजर शब्द का अर्थ है घट। उसमे भरा हुआ उदक अलिंजरोदक कहलाता है, इसे अरंजरोदक भी कहते हैं। अलिंजरोदक को उदकुम्भ और जलघट भी कहा जाता है। जलघट अपने अस्तित्व से जितना उपकार करता है वह अपेक्षाकृत स्वल्प ही है, क्योंकि उससे कुछ लोग ही उपकृत हो सकते हैं। उसके अनन्तर वह खाली हो जाता है। इसी प्रकार जो मति बहुत अर्थों को ग्रहण नहीं कर सकती, अल्प होने से अस्थिर एवं विस्मृत स्वभाव वाली है, वह जनता पर अधिक उपकार नहीं कर सकती और न शास्त्रीय ज्ञान को अधिक मात्रा में ग्रहण कर सकती है तथा न चिरकाल तक उस ज्ञान को धारण ही कर सकती है इस प्रकार की मति ही उदकुंभ समान मानी गई है।

२. विदरोदकसमाना मति—नदी के आस-पास तट पर बने हुए गहरे खड्डे को विदर कहते हैं। जहां नहर या नदी की झाल ऊपर से गिरती है, यदि वह अनिश्चितकाल के लिए सूख भी जाए तो कुंड में बहुत दिनों तक पानी भरा रहता है। कुंड में रहे हुए पानी के बर्तने पर भी वह जल्दी खाली नहीं होता। बावड़ी कूप आदि का समावेश भी विदरोदक में हो जाता है। वह बहुजन उपकारी होता है। इसी प्रकार जिस मति में नवीन-नवीन अर्थ के मिलने पर भी अल्प-अल्प संवेदन होता ही रहता है, जो मति स्वल्प होती हुई भी अन्य-अन्य अर्थों के परिज्ञान में कुशल होती है और जिसमें शीघ्र ही विस्मृति नहीं होती

---

१. इस विषय का विशेष वर्णन भी नन्दीसूत्र के आभिनिबोधिक प्रकरण में मिलता है।

इस तरह की मति को "विदरोदक समाना" कहा गया है।

३. सरोदकसमाना मति—सरोवर मे इतनी मात्रा में जल होता है कि वह जल्दी समाप्त नहीं होता, चाहे उसके पानी का उपयोग अनेक प्राणी महीनों तक भी करते रहें फिर भी वह सूखता नहीं है, इसी प्रकार विपुल अर्थों के ग्रहण और धारण करने पर भी जो मति लुप्त या विस्मृत नहीं होती और बहुत लोगो की हितकारिणी एव उपकार करने वाली होती है वह मति सरोदक समान कही जाती है।

४. सागरोदकसमाना मति—समुद्र में निरन्तर हजारो ही नहीं बल्कि लाखों नदियां प्रविष्ट होती है। नदियो से वह पानी लेता भी है और बादलो को देता भी है, उसमें पानी अक्षीण एवं अगाध रहता है। विभिन्न प्रकार के रत्नों से वह रत्नाकर होता हुआ भी अपनी गम्भीरता का परित्याग नहीं करता है, वह अपनी मर्यादा का कभी भी उल्लंघन नहीं करता है। इसी प्रकार जो मति सकल पदार्थों को जानने में समर्थ है, अक्षयरूप से अर्थों को धारण करती है, पूर्वों का श्रुतज्ञान और उत्कृष्ट जाति-स्मरण ज्ञान की जो भाजन है, वह मति जनता का सर्वतोमुखी उपकार कर सकती है। ऐसी मति सागरोदक समान कहलाती है। जिसकी ऐसी बुद्धि होती है वह जीव सकल अर्थों के निर्णय करने मे समर्थ होता है। इतना ही नही बल्कि धर्म-प्रचार और श्रुतसेवा भी भली प्रकार से वही कर सकता है। सांसारिक सभी क्रियाओ मे वह सफल मनोरथ हो सकता है। सीमित एव नि:सीममति का होना क्षयोपशम के तारतम्य पर निर्भर है।

चार प्रकार के संसारी जीव

मूल—चउव्विहा संसारसमावन्नगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा—णेरइया, तिरिक्खजोणिया, मणुस्सा, देवा।

चउव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी, अजोगी।

अहवा चउव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—इत्थिवेयगा, पुरिसवेयगा, णपुंसगवेयगा, अवेयगा।

अहवा चउव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—चक्खुदंसणी, अचक्खुदंसणी, ओहिदंसणी, केवलदंसणी।

अहवा चउव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—संजया, असंजया, संजयासंजया, णोसंजया-णोअसंजया॥ १५२॥

छाया—चतुर्विधाः संसारसमापन्नकाः जीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नैरयिकाः, तिर्यग्योनिका, मनुष्याः, देवाः।

चतुर्विधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—मनोयोगिनः, वाग्योगिनः, काययोगिनः, अयोगिनः।

अथवा चतुर्विधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—स्त्रीवेदकाः, पुरुषवेदकाः, नपुंसक-वेदकाः, अवेदकाः।

अथवा चतुर्विधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—चक्षुर्दर्शिनः, अचक्षुर्दर्शिनः, अवधि-दर्शिनः, केवलदर्शिनः।

अथवा चतुर्विधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—संयताः, असंयताः, संयतासंयताः, नो संयता-नोऽसंयताः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के संसार समापन्नक अर्थात् संसारी जीव कथन किए गए हैं, जैसे—नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव।

चार प्रकार के सर्वजीव—संसारी और मुक्त जीव कथन किए गए हैं, जैसे—मनोयोगी, वचनयोगी, काययोगी और अयोगी अर्थात् मुक्त।

अथवा चार प्रकार के सर्व जीव कथन किए गए हैं, जैसे—स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, नपुंसकवेदी, अवेदी।

अथवा चार प्रकार के सर्वजीव कथन किए गए हैं, जैसे—चक्षु दर्शन वाले, अचक्षु-दर्शन वाले, अवधि-दर्शन वाले और केवल दर्शन वाले।

अथवा चार प्रकार के सर्वजीव कथन किए गए हैं—संयत—संयम वाले, असंयत—असंयम वाले, संयतासंयत—सयम और असंयम दोनों वाले, नो संयत नो असंयत—न संयम न असंयम वाले—सिद्ध।

विवेचनिका—बुद्धि या मति ससारी जीवो में ही पाई जाती है, अत: सूत्रकार अब ससारी जीवो का वर्णन करते है। ससारी जीव चार प्रकार के होते हैं, वे अपने-अपने कर्मरूपी चक्र में परिभ्रमण करने वाले नरक आदि भावो को प्राप्त करते हैं। जिन जीवो ने नरक के योग्य अशुभ कर्मो का बन्ध कर लिया है और जिनके बद्ध कर्मों का उदय भी हो गया है वे नैरयिक कहलाते हैं। जिन्होंने तिर्यंच योनियों के योग्य आयु आदि कर्मो का बध किया है और उन कर्मों का उदय भी हो गया है वे तिर्यग्योनिक जीव कहलाते हैं। जिन्होंने मनुष्य बनने योग्य आयु आदि कर्म बाध लिए हैं या उनका उदय भी हो गया है, वे मनुष्य हैं। जिन जीवो ने देवगति के योग्य आयु आदि कर्मो का बंध कर लिया है और उन कर्मों का उदय भी हो गया है, वे देव कहलाते हैं। आत्मा अशुभ कर्मो के उदय से नैरयिक बनता है और शुभ कर्मों के उदय से देव, किन्तु तिर्यंच और मनुष्यभव को जीव शुभाशुभ कर्मों के उदय से प्राप्त करता है।

मन, वचन और काया के व्यापार को योग कहते हैं। जीव जब मन से क्रिया करता है तब उसे मनोयोगी कहते हैं। इसी प्रकार वचन-योग से वचन-योगी और काय-योग से काय-योगी कहलाता है। पहले गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक सभी जीव सयोगी होते हैं, किन्तु चौदहवें गुणस्थानवर्ती तथा सिद्ध भगवान अयोगी माने गए हैं। इन चार स्थानों में सभी जीवों का समावेश हो जाता है।

जिस जीव मे किसी न किसी तरह की कामवासना विद्यमान है, वह वेदक कहलाता है और जो उस वासना से रहित है उसे अवेदक कहा जाता है। जिसकी कामवासना पुरुष के द्वारा शान्त हो वह स्त्री वेदक कहलाता है, जिसकी कामना स्त्री के द्वारा शान्त हो वह पुरुष वेदक और जिसकी कामना स्त्री तथा पुरुष दोनों की हो, किन्तु शान्त दोनो से भी न हो सके वह नपुंसक वेदक कहलाता है। आठवें गुण स्थान तक सभी संसारी जीव सवेदी होते हैं। विपक्ष मे वे जीव समाविष्ट है जो कि अवेदी हैं। नौवे गुणस्थान से लेकर चौदहवे गुणस्थान में रहने वाले जीव तथा सिद्ध भगवान् ये सब अवेदक हैं।

निर्विकल्पक और सामान्यावबोध को दर्शन कहते हैं। नेत्रो के द्वारा पदार्थों का सामान्यावबोध हो जाना चक्षु-दर्शन, अन्य इन्द्रियो के द्वारा सामान्य ज्ञान हो जाना अचक्षु-दर्शन, रूपी एव मूर्त पदार्थों का सामान्य प्रत्यक्ष करना अवधि-दर्शन और रूपी तथा अरूपी सभी पदार्थों का सामान्य ज्ञान ही केवलदर्शन है। एकेन्द्रिय से लेकर त्रीन्द्रिय तक सभी जीव अचक्षु-दर्शनी हैं, चतुरिन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सभी जीव चक्षु-दर्शनी एवं अचक्षु-दर्शनी है। सज्ञी जीव अवधि-दर्शनी भी होते है, किन्तु मुक्तात्मा केवलदर्शनी ही होते है। इस प्रकार सभी जीवों का अन्तर्भाव उक्त चार दर्शनो में हो जाता है।

संसारी और मुक्त सभी जीव चार वर्गो मे विभक्त हैं, जो सर्वविरति एव सयमी है, वे संयत कहलाते हैं। जो जीव किसी भी तरह का त्याग नही करते हैं, अविरत एव अपच्च-क्खाणी है, वे असंयत है। जो जीवन मे आंशिक त्याग करते हैं, विरताविरत वृत्ति वाले श्रावक हैं वे संयतासयत कहलाते हैं और जो न सयत है, न असयत हैं और न सयतासंयत हैं, इस प्रकार के जीव सिद्ध कहलाते हैं। सभी जीवो का उक्त चार भेदो में समावेश हो जाता है।

पहले सूत्रांश में केवल संसार समापन्नक जीवो का ही वर्णन किया गया है, शेष चार सूत्रों में कहा गया है कि सभी जीवों को विविध प्रकार के वर्गों मे विभक्त करके उनके भेद-प्रभेदों को जाना जा सकता है। इस प्रकार सूत्रकार ने जीवों को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा है और उनका संक्षिप्त परिचय दिया है।

मित्र एवं अमित्र दृष्टि से पुरुष-भेद

मूल-चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—मित्ते नाममेगे मित्ते, मित्ते

नाममेगे अमित्ते, अमित्ते नाममेगे मित्ते, अमित्ते नाममेगे अमित्ते।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—मित्ते नाममेगे मित्तरूवे, चउभंगो०४।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—मुत्ते नाममेगे मुत्ते, मुत्ते नाममेगे अमुत्ते०४।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—मुत्ते नाममेगे मुत्तरूवे ०४॥ १५३॥

छाया—चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—मित्रं नामैकः मित्रम्, मित्रं नामैकोऽमित्रम्, अमित्रं नामैको मित्रम्, अमित्रं नामैकोऽमित्रम्।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—मित्रं नामैको मित्ररूपः, चतुर्भंगाः०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—मुक्तो नामैको मुक्तः, मुक्तो नामैकोऽमुक्तः०४।

चत्वारि पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—मुक्तो नामैको मुक्तरूपः०४।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं, जैसे—मित्र-मित्र—लोक और परलोक दोनों स्थानों में उपकारकर्त्ता होने से सद्गुरु। मित्र-अमित्र—जो इस लोक में स्नेह के कारण मित्र हो, किन्तु विपरीताचरण में फंसा देने के कारण परलोक में अमित्र हो। अमित्र-मित्र—प्रतिकूल व्यवहार रखने वाला परिवार जो यहां तो अमित्र हो, किन्तु दुःखगर्भित वैराग्य में निमित्त होने के कारण परलोक में मित्र हो। अमित्र-अमित्र—वह पुरुष जो यहां भी क्लेश करने वाला है और दुर्भावना का उत्पादक होने से परलोक में भी दुर्गति देने वाला है।

चार प्रकार के पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे—एक सज्जन अन्तर-हृदय से स्नेही होने से मित्र है और ऊपर सभ्यता के रंग-ढंग से भी मित्ररूप है। शेष तीन भंग भी इसी प्रकार योजनीय हैं।

चार प्रकार के पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे—एक महापुरुष द्रव्यपरिग्रह अर्थात् धन-धान्य से मुक्त है और भावपरिग्रह अर्थात् काम-क्रोधादि से भी मुक्त है। एक द्रव्य से मुक्त है, किन्तु भाव से मुक्त नहीं। शेष दो भंगों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

चार प्रकार के पुरुष कथन किए गए हैं, जैसे—एक पुरुष आसक्तिहीन होने से द्रव्य-परिग्रह एवं भाव-परिग्रह दोनों से मुक्त है और लोकप्रतीति की दृष्टि से तथा

साधु-वेष का धारक होने से मुक्तरूप भी है। शेष तीन भंगों को भी बुद्धिगम्य कर लेना चाहिए।

विवेचनिका—संसारी जीव ही मित्र, शत्रु तथा मुक्त होते हैं, अत: संसार-समापन्नक जीवों के वर्णन के अनन्तर मित्र आदि की दृष्टि से जीवों का वर्णन किया गया है। किसी भी विषय को समझने के लिए अनेकान्तवाद का आश्रय लेना उपयुक्त होता है, क्योंकि सत्य और असत्य की परख, सत्य में भी द्रव्यसत्य और भाव-सत्य की परख अनेकान्तवाद से ही हो सकती है। जो एक बार अनेकान्तवाद की कसौटी पर परख लिया गया है वह तीनों कालों में कभी भी असत्य नहीं हो सकता। जो हितैषी है वह मित्र है और जो हितैषी नहीं है वह अमित्र है। मित्र और अमित्र की दृष्टि से संसारी जीवों को इस प्रकार विभक्त किया जा सकता है:—

(क) वह महापुरुष जीव का मित्र-मित्र है जो लोक और परलोक दोनों में सुखमार्ग का प्रदर्शक है तथा दोनों लोकों में उपकार करने वाला है, जैसे सद्गुरु।

(ख) वह व्यक्ति मित्र होता हुआ भी अमित्र है जो पहले उपकारी प्रतीत होता है, परन्तु अन्त में उपकारी नहीं है, जैसे धर्मरहित स्त्री का सम्बन्ध। धर्मरहिता स्त्री का स्नेह भले ही इस लोक में सुखरूप प्रतीत होने वाला है, किन्तु धर्मरहित होने से परलोक में सुखरूप नहीं है।

(ग) वह व्यक्ति अमित्र होते हुए भी मित्र है जिसका व्यवहार देखने में अमित्र जैसा कठोर है, परन्तु अन्त में हितकारी है, जैसे कि शिक्षक। जब वह कर्कश वाक्यों से शिक्षा देता है उस समय अमित्र प्रतीत होता है, किन्तु उसके भाव जीवन सुधारने के होते हैं इस अपेक्षा से वह मित्र ही होता है।

(घ) वह व्यक्ति अमित्र-अमित्र माना जाता है, जो न पहले हितकारी था और न अब हितकारी है, जैसे कलह-कारिणी स्त्री, जो न तो इस लोक में सुखरूप है और न वह परलोक में सुखरूप हो सकती है।

वृत्तिकार ने मित्र का अर्थ स्त्री ग्रहण करके यह संकेत किया है कि वास्तव में वही व्यक्ति मित्र है जो सुख-दु:ख में सहायक हो और धर्म में भी सहायक हो, किन्तु धर्म-रहित मित्र परलोक की अपेक्षा से अमित्र ही माना जाता है जैसे:—

''मित्रं स्नेहवत्त्वादमित्रं परलोकसाधनविध्वंसात्, कलत्रादिवत्, अन्यस्त्वमित्रं प्रतिकूलत्वान्मित्रं निर्वेदोत्पादनेन परलोकसाधनोपकारकत्वादविनीतकलत्रादिवच्चतुर्थोऽमित्र: प्रतिकूलत्वात्, पुनरमित्र: सङ्क्लेशहेतुत्वेन दुर्गतिनिमित्तत्वात्''।

वस्तुत: स्नेह और धर्म दोनों से ही इस लोक और परलोक में मित्र होते हैं। इस चौभंगी को दूसरी तरह भी कहा जा सकता है, जैसे कि—

(क) एक पुरुष बाहर से भी मित्र है और भीतर से भी मित्र है।

(ख) एक पुरुष बाहर से तो मित्र है, किन्तु भीतर से शत्रु है।

(ग) एक पुरुष बाहर से तो अमित्र है, किन्तु भीतर से मित्र है।

(घ) एक पुरुष बाहर से भी अमित्र है और भीतर से भी अमित्र है।

अथवा

(क) एक व्यक्ति पहले भी मित्र था और अब भी मित्र है।

(ख) एक व्यक्ति पहले तो मित्र था, किन्तु अब अमित्र बन गया है।

(ग) एक व्यक्ति पहले तो अमित्र था, किन्तु अब मित्र बन गया है।

(घ) एक व्यक्ति पहले भी अमित्र था, और अब भी अमित्र ही है।

सूत्रकार ने दूसरी चौभंगी मित्र और मित्ररूप को लेकर बनाई है, जो कि पहली चौभंगी से कुछ विलक्षण ही है। आगमकार विषय की विवेचना बड़ी गहराई से करते हैं, जैसे कि चार प्रकार के पुरुष होते हैं:—

(क) कुछ व्यक्ति अन्दर से हितैषी होने के कारण मित्र हैं और बाहर से भी मधुर व्यवहार होने के कारण मित्र रूप होते हैं।

(ख) कुछ व्यक्ति भीतर से तो हितैषी होने के कारण मित्र प्रतीत होते हैं, किन्तु बाहर से कटु-व्यवहारी होने से मित्ररूप नहीं जान पड़ते।

(ग) कुछ व्यक्ति भीतर से तो अमित्र होते हैं, किन्तु बाहर से मधुर व्यवहार के कारण मित्ररूप जान पड़ते हैं।

(घ) कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो न भीतर से मित्र होते हैं और कटु व्यवहार होने के कारण बाहर से भी अमित्ररूप ही हुआ करते हैं।

मुक्त अत्यन्त व्यापक शब्द है, इसका अर्थ है वह व्यक्ति जिसे मुक्ति प्राप्त हो चुकी है, जो बंधनों से छुटकारा पा चुका है, जो सब तरह से बंधन-रहित है। बंधन मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं, द्रव्य-बंधन और भाव-बंधन। जो दोनों प्रकार के बन्धनों को काट चुका है वही मुक्त है। रोग से, कारावास से, ऋण से, उत्तरदायित्वों से, गृहस्थ के धंधों से, अनिष्ट कारक संयोगों से, बेरोजगारी तथा परिग्रह से छुट्टी पाने वाले को द्रव्यमुक्त कहा जाता है। बुराइयों से, संचितकर्मों से, कषायों के बन्धनों को तोड़कर जन्म-मरण के चक्र से अलग हो जाने वाले को भाव-मुक्त कहा जाता है। सूत्रकार ने दो चौभंगियों द्वारा इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है—

पुरुष चार प्रकार के होते हैं:—

(क) एक पुरुष द्रव्य से मुक्त है, अनासक्त होने के कारण भाव से भी मुक्त है।

(ख) एक पुरुष द्रव्य से तो मुक्त है, किन्तु आसक्ति से मुक्त न होने के कारण भाव से मुक्त नहीं है।

(ग) एक पुरुष द्रव्य से तो मुक्त नहीं, किन्तु भाव से मुक्त है।

(घ) एक पुरुष न द्रव्य से मुक्त है और न भाव से मुक्त है।

इनमें से पहले भंग में चारित्र-संपन्न साधु वर्ग की गणना होती है, दूसरे भंग में रंक या वे साधु आते हैं जो केवल वेशभूषा से साधु है। तीसरे में उनकी गणना होती है जिन्होंने राज्य-वैभव में रहकर या गृहवास में रहकर भी केवलज्ञान प्राप्त किया है, जैसे कि भरत चक्रवर्ती और चौथे भंग में सामान्य गृहस्थ वर्ग की गणना होती है।

पुरुष चार प्रकार के होते हैं—

(क) एक भीतर से भी मुक्त है और ध्यानस्थ होने से मुक्तरूप भी है।

(ख) एक भीतर से मुक्त है, किन्तु बाहर से मुक्तरूप नहीं है।

(ग) एक भीतर से तो मुक्त नहीं है, किन्तु बाहर से मुक्तरूप है।

(घ) एक न भीतर से मुक्त है और न बाहर से मुक्तरूप ही है।

प्रथम भंग में साधनानिष्ठ साधु-वर्ग की गणना होती है और दूसरे वर्ग में गृहस्थावस्था के अंतर्गत श्रमण भगवान महावीर की गणना हो सकती है, तीसरे वर्ग में संयमाभिमुख विरक्तों की गणना होती है और चौथे में गृहस्थ लोग समाविष्ट हैं। जो साधक भाव से मुक्त हैं, वे ही मोक्ष के अधिकारी हो सकते हैं, क्योंकि अन्तःशुद्धि में भाव की प्रधानता रहती है। इसी से जीव का कल्याण और अकल्याण हो सकता है। शुभभावों से ही कल्याण होता है और अशुभ भावों से अकल्याण। वस्तुतः भाव-मुक्त को ही मुक्त माना जाता है और वही सच्चा त्यागी है।

पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों की गति और आगति

मूल—पंचिंदिय-तिरिक्खजोणिया चउगइया चउआगइया पण्णत्ता, तं जहा—पंचिंदिय-तिरिक्खजोणिया पंचिंदिय-तिरिक्खजोणिएसु उववज्जमाणा णेरइएहिंतो वा, तिरिक्खजोणिएहिंतो वा, मणुस्सेहिंतो वा, देवेहिंतो वा उववज्जेज्जा। से चेव णं से पंचिंदिय-तिरिक्खजोणिए पंचिंदियतिरिक्खजोणियत्तं विप्पजहमाणे णेरइयत्ताए वा जाव देवत्ताए वा उवागच्छेज्जा। मणुस्सा चउगइआ, चउआगइया। एवं चेव मणुस्सावि ॥१५४॥

छाया—पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिकाश्चतुर्गतिकाश्चतुरागतिकाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिकाः, पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिकेषूपपद्यमाना नैरयिकेभ्यो वा, तिर्यग्योनिकेभ्यो वा, मनुष्येभ्यो वा, देवेभ्यो वा उपपद्यन्ते। अथ चैव सः पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिकः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकत्वं विप्रजहन् नैरयिकतया वा यावत् देवतया

वा उपागच्छति। मनुष्याश्चतुर्गतिकाश्चतुरागतिका एवं चैव मनुष्या अपि।

शब्दार्थ—**पंचिंदियतिरिक्खजोणिया**—पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि वाले जीव, **चउगइया**—चार गति और, **चउआगइया पण्णत्ता, तं जहा**—चार आगति वाले कथन किए हैं, जैसे, **पंचिंदियतिरिक्खजोणिया**—पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक, **पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु**—पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिकों में, **उववज्जमाणा**—उत्पन्न होते हुए, **णेरइएहिंतो वा**—नारकों से, **तिरिक्खजोणिएहिंतो वा**—तिर्यञ्चयोनिकों से, **मणुस्सेहिंतो वा**—मनुष्यों से, **देवेहिंतो वा**—देवताओं से, **उववज्जेज्जा**—उत्पन्न होते हैं, **से चेव णं से**—और वह, **पंचिंदियतिरिक्खजोणिए**—पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक—**पंचिंदियतिरिक्खजोणियत्तं विप्पज्जहमाणे**—पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिकत्व को छोड़ता हुआ, **णेरइयत्ताए वा**—नैरयिक रूप से, **जाव**—यावत्, **देवत्ताए वा**—देव रूप से, **उवागच्छेज्जा**—उत्पन्न होता है, **मणुस्सा चउगइया**—मनुष्य चार गति वाले, **चउआगइया**—चार आगति वाले हैं, **एवं चेव मणुस्सावि**—इसी प्रकार मनुष्य भी जान लेने चाहिएं।

मूलार्थ—पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच चार गति और चार आगति वाले होते हैं, जैसे कि—पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच गति में नरक से, तिर्यंच योनियों से, मनुष्यगति और देवगति से आकर उत्पन्न होते हैं तथा पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च अपनी-अपनी पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच जाति की अवस्था को छोड़ता हुआ नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति में उत्पन्न होते हैं। मनुष्य भी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च जाति की तरह ही चार गति और चार आगति वाले हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में साधना-सम्पन्न और साधनाहीन जीवों का वर्णन किया गया है। ये जीव ही नाना गतियों में उत्पन्न होते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में जीवों की गति और आगति अर्थात् नाना योनियों में जन्म का वर्णन किया गया है।

तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जितने भी जीव हैं उनमें कुछ नरक गति से निकलकर आते हैं, कुछ तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय से निकलकर उत्पन्न होते हैं, कुछ मनुष्य गति से और कुछ देवगति से उत्पन्न हुआ करते हैं। ये जीव तिर्यञ्च पंचेन्द्रियत्व को छोड़कर कुछ नरकगति को प्राप्त करते हैं, कुछ तिर्यञ्चगति को, कुछ मनुष्यगति को और कुछ देवगति को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार मनुष्य बनने के लिए जीव चार गतियों में से किसी भी गति से आकर मनुष्य-भव में उत्पन्न हो सकता है और चार गतियों में से किसी भी गति में उत्पन्न हो सकता है।

इस पाठ से यह सिद्ध होता है कि जीव कृतकर्म के अनुसार चार गतियों में से किसी भी एक गति में उत्पन्न हो सकता है। जिसने जिस गति के योग्य कर्मों का बंध किया है, वह उसी गति में जाता है।

जिन लोगों की मान्यता है कि मनुष्य मरकर मनुष्य ही बनता है और तिर्यंच मरकर

तिर्यंच ही बनता है, सर्वज्ञ प्रभु इस मान्यता का प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट निषेध करते हैं।

पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीव शुभ भावों से या पूर्व गृहीत व्रतों को धारण करने से ऊपर से ऊपर आठवें देवलोक तक उत्पन्न हो सकता है। कारण यह है कि जब उसको जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब वह अपनी पूर्व जाति का स्मरण करता हुआ पूर्वगृहीत व्रतों को भी धारण कर लेता है जैसे कि ज्ञाताधर्म कथा सूत्र में नन्दन मनियार मृत्यु के अनन्तर मेंढक रूप में जन्म लेता है, परन्तु वहां जाति स्मरण ज्ञान के द्वारा वह व्रती होकर सौधर्म देवलोक का देव बनता है।

यद्यपि जन्म से पूर्व और मृत्यु के बाद क्या है? यह इन्द्रियगोचर नहीं हो सकता, परन्तु साधना के उच्चशिखरों पर आसीन महापुरुष अपने दिव्य ध्यान के नेत्रों से जन्म और मृत्यु के पर्दे के पीछे छिपे रहस्यों को भी प्रत्यक्ष कर लिया करते हैं। शास्त्रकार ने सर्वज्ञ प्रभु की वाणी का आश्रय लेकर जन्म और मृत्यु के पार की जन्म-मरण अवस्था को इसी बल पर व्यक्त किया है।

द्वीन्द्रिय जीवों सम्बन्धी संयम एवं असंयम

मूल—बेइंदिया णं जीवा असमारभमाणस्स चउव्विहे संजमे कज्जइ, तं जहा—जिब्भामयाओ सोक्खाओ अववरोवित्ता भवइ, जिब्भामएणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवइ, फासमयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, एवं चेव ०४।

बेइंदिया णं जीवा समारभमाणस्स चउव्विहे असंजमे कज्जइ, तं जहा—जिब्भामयाओ सोक्खाओ ववरोवित्ता भवइ, जिब्भामएणं दुक्खेणं संजोगित्ता भवइ, फासमयाओ सोक्खाओ ववरोवेत्ता भवइ, फासमएणं दुक्खेणं संजोगित्ता भवइ ॥१५५॥

छाया—द्वीन्द्रियान् जीवान् असमारभमाणस्य चतुर्विधः संयमः क्रियते, तद्यथा—जिह्वामयात् सौख्याद् अव्यपरोपयिता भवति, जिह्वामयेन दुःखेन असंयोजयिता भवति, स्पर्शमयात् सौख्यादव्यपरोपयिता भवति, एवं चैव०४।

द्वीन्द्रियान् जीवान् समारभमाणस्य चतुर्विधः असंयमः, क्रियते, तद्यथा—जिह्वामयात्सौख्याद् व्यपरोपयिता भवति, जिह्वामयेन दुःखेन संयोजयिता भवति, स्पर्शमयात्सौख्याद् व्यपरोपयिता भवति, स्पर्शमयेन दुःखेन संयोजयिता भवति।

शब्दार्थ—**बेइंदिया णं जीवा**—द्वीन्द्रिय जीवों का, **असमारभमाणस्स**—आरम्भ न करने वाले का, **चउव्विहे संजमे**—चार प्रकार का संयम, **कज्जइ**—होता है, **तं जहा**—यथा, **जिब्भामयाओ सोक्खाओ**—जिह्वा सम्बन्धी सुख से, **अववरोवित्ता भवइ**—भ्रष्ट करने

वाला नहीं होता है, **जिब्भामएणं दुक्खेणं**—जिह्वा-सम्बन्धी दुःख से, **असंजोगेत्ता भवइ**—संगुक्त करने वाला नहीं होता है, **फासमयाओ सोक्खाओ**—स्पर्श सम्बन्धी सुख से, **अववरोवित्ता भवइ**—भ्रष्ट करने वाला नहीं होता, **एवं चेव**—इसी प्रकार चतुर्थ भेद भी जान लेना चाहिए।

बेइंदियाणं जीवाणं—द्वीन्द्रिय जीवों का, **समारभमाणस्स**—आरम्भ करने वाले को, **चउव्विहे असंजमे**—चार प्रकार का असंयम, **कज्जइ**—होता है, **तं जहा**—जैसे, **जिब्भामयाओ सोक्खाओ**—जिह्वा-संबन्धी सुख से, **ववरोवित्ता भवइ**—भ्रष्ट करने वाला होता है, **जिब्भामएणं दुक्खेणं**—जिह्वा सम्बन्धी दुःख से, **संजोगित्ता भवइ**—संयुक्त करने वाला होता है, **फासमयाओ सोक्खाओ**—स्पर्श-सम्बन्धी सुख से, **ववरोवित्ता भवइ**—भ्रष्ट करने वाला होता है, **फासमएणं दुक्खेणं**—स्पर्श सम्बन्धी दुःख से, **संजोगित्ता भवइ**—संयुक्त करने वाला होता है।

मूलार्थ—द्वीन्द्रिय जीवों की हिंसा न करने वाले का चार प्रकार का संयम होता है, जैसे—वह जीवों को जिह्वा-संबन्धी सुख से वियुक्त नहीं करता है, जिह्वा-सम्बन्धी दुःख से संयुक्त नहीं करता है, स्पर्श-संबन्धी सुख से वियुक्त नहीं करता है, स्पर्श-संबन्धी दुःख से संयुक्त नहीं करता है।

द्वीन्द्रिय जीवों की हिंसा करने वाले का चार प्रकार का असंयम होता है, जैसे—कि वह जीवों को जिह्वा-संबंधी सुख से वियुक्त करता है, जिह्वा-सम्बन्धी दुःख से संयुक्त करता है, स्पर्श-संबन्धी सुख से वियुक्त करता है, स्पर्श सम्बन्धी दुःख से संयुक्त करता है।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में मनुष्य की गति एवं आगति का वर्णन किया गया है। मनुष्य संयमी भी होते हैं और असंयमी भी, अतः प्रस्तुत सूत्र में द्वीन्द्रिय जीवों से सम्बन्धित संयम एवं असंयम का निरूपण किया गया है। जिन जीवों को रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय ये दो ही इन्द्रियां उपलब्ध हों, शेष तीन ज्ञानेन्द्रियां न हों, उन्हें द्वीन्द्रिय जीव कहते हैं, उन जीवों की रक्षा करना संयम है। उनका हनन करना असंयम है।

उन जीवों को जिह्वामयसुख से तथा स्पर्शमय सुख से संयुक्त करना, उनके सुख में किसी तरह बाधक न बनना, उनके सुख में सहायक बनना संयम है। इसी प्रकार जिह्वामय दुःख से तथा स्पर्शमय दुःख से उन्हें वियुक्त करना, दुखाने के संकल्प से किसी को दुःखित न करना, दुःख से उन्हें बचाना भी संयम है।

द्वीन्द्रिय जीवों को जिह्वामय तथा स्पर्शमय सुख से वियुक्त करना, जिसको जिस-जिस इन्द्रिय का सुख प्राप्त है उसके उस सुख को लूटना असंयम है। इसी प्रकार उन जीवों को जिह्वामय एवं स्पर्शमय दुःख से संयुक्त करना—दुःख देना, उनके प्राणों को लूटना असंयम

है। इसी बात को दूसरे शब्दों में भी कहा जा सकता है, जीवों के सुख का विनाश और दुःख का संयोग असंयम है तथा दुःख का विनाश एवं सुख का संयोग मिलाना संयम है। संयम से किसी की हानि नहीं हो सकती। उनसे अपनी भी रक्षा होती है और दूसरों की भी। "कर भला, हो भला" "आराम दे आराम ले" इत्यादि उक्तियां ऐसे ही संयमशीलों के लिए कही गई हैं। सुख देने से और दुख न देने से जीव सुख का भाजन बनता है। दुःख देने से और सुख लूटने से दुख का पात्र बनता है। संयम में दुःख नहीं और असंयम में सुख नहीं, अतः संयम ग्राह्य है और असंयम त्याज्य है। प्राणीमात्र की संयम-भाव से रक्षा करना मोक्ष का अन्यतम साधन है।

सम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रिय जीवों की क्रियाएं

मूल—सम्मद्दिट्ठियाणं नेरइयाणं चत्तारि किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणिया।

सम्मद्दिट्ठियाणमसुरकुमाराणं चत्तारि किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—एवं चेव। एवं विगलिंदियवज्जं जाव वेमाणियाणं ॥ १५६ ॥

छाया—सम्यग्दृष्टिकानां नैरयिकाणां चतस्रः क्रियाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्ययिकी, अप्रत्याख्यानक्रिया।

सम्यग्दृष्टिकानामसुरकुमाराणां चतस्रः क्रियाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—एवञ्चैव, एवं विकलेन्द्रियवर्जं यावत् वैमानिकानाम्।

शब्दार्थ—सम्मद्दिट्ठियाणं नेरइयाणं—सम्यग्दृष्टि नारकों की, **चत्तारि किरियाओ**—चार क्रियाएं, **पण्णत्ताओ, तं जहा**—कही गई हैं, जैसे, **आरंभिया**—आरम्भिकी, **परिग्गहिया**—पारिग्रहिकी, **मायावत्तिया**—मायाप्रत्ययिकी और, **अपच्चक्खाणिया**—अप्रत्याख्यान क्रिया।

सम्मद्दिट्ठियाणमसुरकुमाराणं—सम्यग्दृष्टि असुरकुमारों की, **चत्तारि किरियाओ**—चार क्रियाएं, **पण्णत्ताओ, तं जहा**—कथन की गई हैं, जैसे, **एवं चेव**—इसी प्रकार, **विगलिंदियवज्जं**—विकलेन्द्रियों को छोड़कर, **जाव वेमाणियाणं**—वैमानिक देवों तक चार क्रियाएं जाननी चाहिएं।

मूलार्थ—सम्यग्दृष्टि नारक जीवों की चार क्रियाएं कथन की गई हैं, जैसे—आरम्भिकी क्रिया, पारिग्रहिकी क्रिया, मायाप्रत्ययिकी क्रिया और अप्रत्याख्यान-क्रिया।

सम्यग्दृष्टि असुरकुमार देवों की चार प्रकार की क्रियाएं कही गई हैं, ये क्रियाएं भी नारकों के समान ही चार क्रियाएं जान लेनी चाहिएं। इसी प्रकार चार क्रियाएं विकलेन्द्रिय जीवों को छोड़कर वैमानिक देवों तक की हुआ करती हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में द्वीन्द्रिय जीवों की हिंसा न करने वालों के संयम का तथा

हिंसाशीलों के असंयम का वर्णन किया गया है। असंयमशील ही क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, अतः प्रस्तुत सूत्र में किन-किन जीवों की किस-किस क्रिया में प्रवृत्ति होती है इस विषय का विश्लेषण किया गया है। सम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रिय दण्डकों में चार क्रियाएं पाई जाती हैं और पांच स्थावर और तीन विकलेन्द्रिय इन आठ दंडकों में पांच क्रियाएं हुआ करती हैं, किन्तु जो अविरति-सम्यग्दृष्टि जीव हैं, वे चाहे नरक में हैं, या दस भवनपति देवों में हैं, चाहे ज्योतिष्क एव वैमानिकों में हैं और चाहे तिर्यंच और मनुष्यदंडक में हैं, उन्हें मिथ्यात्व के अतिरिक्त शेष चार क्रियाएं लगती ही हैं। यद्यपि तीन विकलेन्द्रियों के अपर्याप्त काल में सास्वादन सम्यक्त्व भी पाया जाता है, तदपि उसके स्वल्पकालिक होने से उसकी विवक्षा नहीं की गई। आरम्भ, परिग्रह, मायाप्रत्यय और अप्रत्याख्यान ये चार क्रियाएं अविरति-सम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रिय दण्डकों में पाई जाती हैं।

गुणों के विनाश और विकास के कारण

मूल—चउहिं ठाणेहिं संते गुणे नासेज्जा, तं जहा—कोहेणं, पडिनिवेसेणं, अकयण्णुयाए, मिच्छत्ताभिनिवेसेणं।

चउहिं ठाणेहिं संते गुणे दीवेज्जा, तं जहा—अब्भासवत्तियं, परच्छंदाणुवत्तियं, कज्जहेउं, कयपडिकइएइ वा ॥ १५७॥

छाया—चतुर्भिः स्थानैः सतो गुणान् नाशयेत्, तद्यथा—क्रोधेन, प्रतिनिवेशेन, अकृतज्ञतया, मिथ्यात्वाभिनिवेशेन।

चतुर्भिः स्थानैः सतो गुणान् दीपयेत्, तद्यथा—अभ्यासप्रत्ययं, परच्छन्दानुवर्तिकं, कार्यहेतोः, कृतप्रातिकृतक इति वा।

शब्दार्थ—**चउहिं ठाणेहिं**—चार कारणों से, **संते**—विद्यमान, **गुणे नासेज्जा**—गुण भी नष्ट हो जाते हैं, **तं जहा**—जैसे, **कोहेणं**—क्रोध से, **पडिनिवेसेणं**—दूसरों की प्रतिष्ठा को सहन न करने से, **अकयण्णुयाए**—अकृतज्ञता से, **मिच्छत्ताभिनिवेसेणं**—मिथ्यात्व के अभिनिवेश से।

चउहिं ठाणेहिं—चार कारणों से, **संते गुणे**—विद्यमान गुण, **दीवेज्जा**—प्रकाशित होते हैं, **तं जहा**—जैसे, **अब्भासवत्तियं**—अधिक अभ्यास करने से, **परच्छंदाणुवत्तियं**—गुरुदेवों की आज्ञानुसार चलने से, **कज्जहेउं**—अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए अनुकूल प्रयत्न करने से, **कयपडिकइएइ वा**—उपकारी के प्रति उपकार करने से।

मूलार्थ—चार कारणों से विद्यमान गुण भी नाश को प्राप्त हो जाते हैं, जैसे—क्रोध से, प्रतिनिवेश—ईर्ष्या से, अकृतज्ञता से, मिथ्यात्व के अभिनिवेश से।

चार कारणों से विद्यमान गुण अधिक उद्दीप्त हो जाते हैं, जैसे—गुणों का अधिकाधिक अभ्यास करने से, गुरुजनों की आज्ञानुसार आचरण करने से, अभीष्ट

साध्य की सिद्धि के लिए अनुकूल प्रयत्न करने से, अपने उपकारी का उपकार के रूप में बदला चुकाने से।

विवेचनिका—आरम्भ-परिग्रह आदि क्रियाओं से ही जीव की गुण-सम्पत्ति नष्ट होती है, अतः क्रिया के अनन्तर गुण-सम्पत्ति को विनष्ट करने वाले कारणों पर प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं:—

यदि किसी जीव में सद्गुण विद्यमान हैं, तो उन गुणों का विनाश चार कारणों से होता है, जैसे कि:—

१. क्रोध से—दावानल जैसे वन की शोभा को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, वैसे ही क्रोध भी सद्गुणों को भस्मसात् कर देता है। क्रोध एक आग है, इसकी चिनगारी मात्र से मानव शरीर में वह अग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है जो समस्त गुणों को जला देती है। इसीलिए कहा गया है—

काम एष क्रोध एष, रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा, विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

काम और क्रोध ये रजोगुण से उत्पन्न होते हैं, ये मनुष्य के सभी सद्गुणों को निगल जाते हैं। ये महापापी हैं अर्थात् मनुष्य को बड़े से बड़े पाप के लिए उकसाने वाले हैं, अतः ये मनुष्य जाति के महान् शत्रु हैं। वैज्ञानिकों का कथन है कि क्रोधावेश से रक्त गरम हो जाता है और श्वास-गति बढ़ जाती हैं अतः मनुष्य की विचार-शक्ति नष्ट हो जाती है और उस अवस्था में मनुष्य कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक खो देता है। विवेक के अभाव में गुण-समृद्धि का नष्ट हो जाना स्वाभाविक होता है, अतः गुणों के विनाश का प्रथम कारण क्रोध को बताया गया है।

२. प्रतिनिवेश से—प्रतिनिवेश का अर्थ है अहंकार अर्थात् अभिमान। जिसे पाप का मूल कहा जाता है—"पापमूल अभिमान"। अभिमान के आते ही मनुष्य अपने आपको भूल जाता है, आत्मविस्मृति ही समस्त अवगुणों को जन्म देती है और अवगुणों का विस्तृत घेरा गुणों को आछन्न कर लेता है, इसलिए प्रतिनिवेश को गुणों का नाशक बताया गया है।[१]

आसक्ति, असूया एवं ईर्ष्या आदि अहंकार के ही अंग माने गए हैं, क्योंकि जब परिग्रह की अधिकता के कारण आसक्ति बढ़ती है तो अहंभाव संवर्धित हो जाता है। दूसरी ओर दूसरों के अपने से अधिक वैभव को देखकर जब मनुष्य के अहं को ठेस लगती है तो मनुष्य आवेश से तिलमिला उठता है, यह तिलमिलाहट मनुष्य के विवेक को नष्ट कर देती है और तब मनुष्य के सभी सद्गुण विलुप्त होने लगते हैं।

३. अकृतज्ञता से—मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज चल रहा है पारस्परिक

---

१ "पडिनिसेवेणं" इति पाठान्तरम्।

सहयोग से। जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को सहयोग देता है और उस सहयोग के बदले कुछ लेने की इच्छा नहीं रखता, उपकार के बदले उपकार नहीं चाहता, केवल अपने कृतभार से दूसरे के जीवन में सहायता देता है, ऐसी अवस्था में उस 'कृत' को—की हुई सहायता को जो समझता है, दूसरे के उपकार को मानता है उसे 'कृतज्ञ' कहा जाता है। कृतज्ञता दूसरों में अधिक उपकार करने की प्रवृत्ति जागृत करती है और इस प्रकार समाज में सहयोग भावना बढ़ती है। जब कोई व्यक्ति दूसरों के उपकार को नहीं मानता, कृतज्ञता को महत्त्व नहीं देता, तब उसे कृतघ्न कहा जाता है। कृतघ्नता मन को दूषित कर देती है और दूषित मन से सद्गुण विदा हो जाते हैं, अतः शास्त्रकार अकृतज्ञता को गुणों की नाशक बतलाते हैं।

४. मिथ्यात्वाभिनिवेश से—मिथ्यात्वाभिनिवेश का अर्थ है यथार्थ ज्ञान के अभाव की स्थिति में भी अपने आपको 'ज्ञानी' जानना और अपने अज्ञान को ही ज्ञान मानने का दुराग्रह करना। ऐसी स्थिति में मनुष्य अपने अज्ञान का प्रचार एवं प्रसार भी करना चाहता है। यदि कोई व्यक्ति उसके अज्ञान को अज्ञान कहता है तो वह कुपित होता है, आपे से बाहर हो जाता है और उस अवस्था में वह अपने व्यावहारिक स्तर को भी भूल जाता है। सद्गुण तो उससे उसी समय विदा हो जाते हैं, जब उसमें मिथ्यात्व का आवेश आता है, परन्तु अब वह सद्गुणों के प्रवेश की सम्भावना को भी रोक देता है। इसी सम्भावना को लक्ष्य में रखकर शास्त्रकार कहते हैं—

रोसेण पडिनिवेसेण, तह य अकयण्णुमिच्छभावेणं।
संते गुणे नासित्ता, भासइ अगुणे असंते वा॥

रोष के आवेश से, अकरणीय कार्य करने से, अकृतज्ञता से, मिथ्याज्ञान के कारण असत्य को सत्य मानने से हठी व्यक्ति अपने गुणों को तिलाञ्जलि दे देता है। अतः मनुष्य को क्रोध, अहंकार, कृतघ्नता और मिथ्यात्वाभिनिवेश से सावधान रहना चाहिए, जिससे साधक सद्गुणों को प्राप्त कर अपने जीवन-पथ को प्रशस्त कर सके।

गुणों का प्रकाश चार कारणों से होता है—

१. अभ्यासवर्तित्व—गुणों का अभ्यास करने से गुण विकसित होते हैं, "करत-करत अभ्यास नित जड़मति होत सुजान, रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान" अतः अभ्यास गुणों के प्रकाश में मुख्य कारण है। अथवा गुणी जनों के समीप रहने से नित्य ज्ञान-चर्चा होती रहने के कारण गुण-विकास अभ्यास से अनायास ही होता रहता है, अतः उन्हीं के गुण विकसित होते हैं, जो गुणी-जनों के समीप विनीत होकर रहते हैं। विनीत ही गुणों के पात्र होते हैं।

२. परच्छन्दानुवर्तित्व—गुणी जनों तथा पूज्य जनों के अनुकूल बनकर रहना, उनकी आज्ञा का पालन करना गुण-विकास का महान् कारण है। कहावत भी है "अपनी न कहो,

दूसरों की सहो, जहां मर्जी हो रहो'' अतः गुणों के विकास के लिए महान् व्यक्तियों का आश्रय और उनकी आज्ञा का पालन मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है।

३. **कार्य-हेतु**—अपने कार्य की पूर्ति के निमित्त गुरु एवं पूज्यजनों की भक्ति में तल्लीन रहना, उनके गुणों की प्रशंसा करना, ऐसा करने से वे अपने अनुकूल हो जाते हैं, उनका अनुकूल होना ही कार्यपूर्ति में आशीर्वाद है।

४. **कृतप्रतिकृत**—इस शब्द का अर्थ है कृतज्ञ होना। यदि किसी व्यक्ति ने किसी समय अपने साथ उपकार किया हो तो उसके उपकार को मानकर उसका गुणानुवाद करने से गुण उद्दीप्त एवं विकसित होते हैं।

अभ्यास करने से, गुरुजनों की आज्ञा का पालन करने से, अपने कार्य की सिद्धि के लिए भक्ति में तत्पर रहने से और कृतज्ञता प्रकाशित करने से गुणों का प्रकाश होता है। इन गुण प्रकाश के उपायों को धारण करके लोक में सुख और सन्मार्ग पर बढ़ते हुए मोक्ष-प्राप्ति होनी सुलभ हो सकती है।

शरीरोत्पत्ति के मूल कारण

मूल—णेरइयाणं चउहिं ठाणेहिं सरीरुप्पत्ती सिया, तं जहा—कोहेणं, माणेणं, मायाए, लोभेणं। एवं जाव वेमाणियाणं।

णेरइयाणं चउहिं ठाणेहिं निव्वत्तिए सरीरे पण्णत्ते, तं जहा—कोहनिव्वत्तिए जाव लोभ निव्वत्तिए। एवं जाव वेमाणियाणं॥१५८॥

छाया—नैरयिकाणां चतुर्भिः स्थानैः शरीरोत्पत्तिः स्यात्, तद्यथा—क्रोधेन, मानेन, मायया, लोभेन। एवं यावत् वैमानिकानाम्।

नैरयिकाणां चतुर्भिः स्थानैर्निर्वर्तितं शरीरं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—क्रोधनिर्वर्तितं यावत् लोभनिर्वर्तितम्। एवं यावद् वैमानिकानाम्।

शब्दार्थ—णेरइयाणं—नारकीय जीवों की, **चउहिं ठाणेहिं**—चार कारणों से, **सरीरुप्पत्ती**—शरीरोत्पत्ति, **सिया**—होती है, **तं जहा**—जैसे, **कोहेणं**—क्रोध से, **माणेणं**—मान से, **मायाए**—माया से, **लोभेणं**—लोभ से। **एवं**—इसी प्रकार, **जाव**—यावत्, **वेमाणियाणं**—वैमानिकों की शरीरोत्पत्ति भी समझनी चाहिए।

णेरइयाणं चउहिं ठाणेहिं निव्वत्तिए सरीरे पण्णत्ते—नारकीय जीवों की चार कारणों से शरीर की निष्पत्ति होती है, **तं जहा**—जैसे कि, **कोहनिव्वत्तिए**—क्रोध से निष्पत्ति होती है, **जाव लोभ निव्वत्तिए**—यावत् लोभ से निष्पत्ति होती है, **एवं जाव वेमाणियाणं**—इसी प्रकार वैमानिकों पर्यन्त निष्पत्ति समझनी चाहिए।

मूलार्थ—चार कारणों से नारकों के शरीर की उत्पत्ति होती है, जैसे—क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से। इसी प्रकार वैमानिक देवों तक के चौबीस दण्डकों के

वासियों की शरीर उत्पत्ति कषायों से होती है।

चार कारणों से नारकों के शरीर की निष्पति होती है, जैसे—क्रोध से निष्पत्ति होती है, मान और माया से शरीर-निष्पत्ति होती है और लोभ से निष्पत्ति होती है। इसी प्रकार वैमानिक पर्यन्त चौबीस दण्डकों के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में सद्‌गुणो के विनाश और विकास के कारणो पर प्रकाश डाला गया है, सद्‌गुणो का नाश और विकास ये दोनो बातें शरीर की उत्पत्ति के बिना असम्भव हैं, अतः इस सूत्र में शरीर की उत्पत्ति और उसकी निष्पत्ति कैसे हो सकती है? उसमें मुख्य कारण क्या है? इस विषय का उल्लेख किया गया है। नारकियो से लेकर वैमानिकपर्यन्त जितने भी सशरीरी जीव है उनके शरीरो की उत्पत्ति और निष्पत्ति में मुख्यतया चार कषाय ही कारण माने गए हैं। जैसे कि क्रोध, मान, माया और लोभ। इन कषायों के भी चार स्तर हैं, जैसे कि अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। नारकीय शरीर में अनन्तानुबंधी कषाय कारण है, तिर्यग्योनिक शरीर मे अप्रत्याख्यान कषाय कारण है, मनुष्य शरीर मे प्रत्याख्यानावरण कषाय कारण है तथा देवो के शरीर मे संज्वलन कषाय की कारणता स्वीकार की गई है। इन कषायों के द्वारा ही शरीरो की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न हो सकता है कि '**सरीरुप्पत्ती**' और '**सरीरनिव्वत्तिए**' ये दो पद क्यों दिए गए है? जबकि अर्थ दोनों का एक ही है। इसके उत्तर मे कहा जाता है कि आरम्भ मात्र को उत्पत्ति कहते है और उसकी पूर्णता को निष्पत्ति या निर्वृत्ति कहते है। जिसका प्रारभ ही नहीं हुआ उसकी समाप्ति कैसे हो सकती है? शरीर के विषय मे दो बाते समझने योग्य हैं। जो जीव उत्पन्न होते ही मर जाते है उनके शरीर की उत्पत्ति तो हो जाती है, किन्तु उनकी निष्पत्ति नहीं हो पाती, निष्पत्ति शरीर के विकास की प्रथमावस्था है और विकास का अन्तिम रूप विनाश है मृत्यु है—मृत्यु समाप्ति नही, अपितु उत्पत्ति का पूर्व रूप है। शरीर की इस प्रकार उत्पत्ति और निष्पत्ति क्रम से होती ही रहती है और उनका कारण उपर्युक्त चार कषाय ही हैं। उत्पत्ति के अनन्तर निष्पत्ति अर्थात् शरीर का विकास होगा ही यह नियम नहीं है, क्योंकि कुछ प्राणियो को उत्पन्न होते ही मरते हुए देखा जाता है। निष्पत्ति के अनन्तर उत्पत्ति भी निश्चित नही, क्योंकि चरम शरीरियो की उत्पत्ति हाती है, निष्पत्ति भी होती है, परन्तु वे मोक्षगामी होकर उत्पत्ति-निष्पत्ति की परम्परा को तोड देते है, कारण कि वे कषायों से मुक्त हो जाते है। अतः उत्पत्ति और निष्पत्ति की परम्परा तभी तक रह सकती है जब तक कषाय हैं, कषायाभाव में उत्पत्ति-निष्पत्ति की शृखलाए स्वतः ही टूट जाती हैं।

कषायों के द्वारा संसारी जीवों के शरीरों की उत्पत्ति एव निष्पत्ति होती है, किन्तु निर्वाण-पद की प्राप्ति केवल कषायों से रहित होने से ही हो सकती है, अतः सिद्धों के

शरीर का अभाव इसीलिए प्रतिपादित किया गया है कि उनमें कषायों का सर्वथा अभाव है।

धर्म-द्वार

मूल—चत्तारि धम्मदारा पण्णत्ता, तं जहा—खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे ॥१५१॥

छाया—चत्वारि धर्मद्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—क्षान्तिः, मुक्तिः, आर्जवं, मार्दवम्।

शब्दार्थ—**चत्तारि**—चार, **धम्मदारा पण्णत्ता, तं जहा**—धर्म के द्वार कथन किए गए हैं, जैसे, **खंती**—क्षमा, **मुत्ती**—मुक्ति, **अज्जवे**—सरलता, **मद्दवे**—मृदुता।

मूलार्थ—धर्म के चार द्वार प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—क्षमा, निर्लोभता, सरलता, कोमलता।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे उत्पत्ति और निष्पत्ति के कारणीभूत चार कषायों का वर्णन किया गया है। कषायों की निवृत्ति धर्म-मार्ग पर चलने से ही हो सकती है, अतः अब सूत्रकार धर्मद्वारो का वर्णन करते हैं। जब तक मन्दिर के, नगर या गृह आदि के द्वार न हो तब तक उसमें प्रवेश नहीं किया जा सकता है। इसी तरह चारित्ररूप धर्म-मन्दिर में प्रवेश करने के लिए द्वारों का होना भी अनिवार्य है। सूत्रकार ने धर्म-मन्दिर के चार प्रवेश द्वार कथन किए हैं। यहां द्वार से सूत्रकार का अभिप्राय उपाय जान पडता है, अतः धर्मभाव जागृति के चार उपाय हैं, जैसे कि—

१. **क्षमा**—क्रोध पर विजय प्राप्त कर लेने पर ही शान्ति एवं सहनशीलता का उदय होता है। जो व्यक्ति सहनशक्ति एव धैर्य से सम्पन्न है वास्तव में वही धर्ममन्दिर में प्रवेश कर सकता है। क्षमा का अर्थ है प्रतिकार की शक्ति होने पर भी प्रतिकार न करना। यद्यपि सर्वत्र क्षमाशीलता से काम नहीं चलता, राजनीति में दण्ड भी देना पड़ता है, परन्तु दण्ड देते समय भी यदि हृदय में क्रोध न हो, दण्डनीय के कल्याण की भावना हो, तो ऐसा दण्ड भी क्षमा का ही एक अंग माना जाता है। तभी तो क्षमाशील क्रोध पर विजय प्राप्त कर लेता है।

२. **मुक्ति**—परिग्रह एव लोभ से मुक्त होना ही मुक्ति है। उदय होते हुए लोभ पर सन्तोष का अंकुश लगाना और उदित हुए लोभ को पराजित कर उससे छुटकारा पाना मुक्ति है। लोभ का उदय हो तो उसे निष्फल करना तथा लोभ का उदय न होने देना ही मुक्ति है। लोभी पुरुष धर्म की आराधना में समर्थ नहीं हो पाता। संतोष की मात्रा जितनी अधिक से अधिक होती जाती है, धर्म भी उतना ही वृद्धि को प्राप्त करता है। श्रुत और चारित्र-धर्म मे वही व्यक्ति अग्रसर हो सकता है जो कि धर्म-मन्दिर मे बैठकर साधना करता है।

३. **आर्जव**—यद्यपि 'आर्जव' शब्द का सामान्य अर्थ है 'सरलता' परन्तु प्रस्तुत प्रकरण

में इस का अर्थ है 'निष्कपटता'। क्योंकि निष्कपट व्यक्ति वही हो सकता है जिसका मन पवित्र है, जिसकी वाणी में सत्य है, जिसकी काय में प्रमाद नहीं और चेष्टाओं में छल नहीं है। जिस प्रकार पत्थरों पर पौधे नहीं उग सकते उसी प्रकार पापों से पत्थर बनी हृदय की भूमि पर धर्म के अंकुर नहीं फूट सकते। इस सत्य को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं:-

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्ति व्व पावए॥ —उत्तराध्ययन

अर्थात् निष्कपट पुरुष के हृदय में ही विशुद्ध धर्म का निवास होता है और वही परम शान्ति को प्राप्त करता है। घृत के सिंचन से जैसे अग्नि प्रदीप्त होती है वैसे ही सरल व्यक्ति भी तपस्तेज से तेजस्विता प्राप्त करता है।

४. मार्दव—मार्दव का अर्थ है कोमल व्यवहार, नम्रता-पूर्ण आचरण अर्थात् अहंकार न करना। यह भी धर्म का एक द्वार है। अहंकार में धर्म का अभाव माना जाता है, क्योंकि अहंभाव के साथ स्वार्थमयता का अटूट सम्बन्ध है और स्वार्थ ही समस्त पाप-कर्मों का मूल है। विनीतता, नम्रता आदि गुण उसी में हो सकते हैं जिसके मन में अहंवृत्ति न हो, इसीलिए सूत्रकार ने चौथा द्वार मार्दव को माना है।

इस प्रकार क्षमा, निर्लोभता, आर्जव और मार्दव धर्म-मन्दिर के ये चार द्वार हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार ऐसे अवरोधक हैं जो मानव-मन को धर्मद्वार में जाने से रोकते हैं, इनके हट जाने पर ही क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति अर्थात् संतोष इत्यादि गुण उत्पन्न होते हैं। सूत्र में आए हुए द्वार शब्द का अर्थ 'उपाय' अधिक संगत प्रतीत होता है। इन्हीं चार उपायों से चारित्र की आराधना हो सकती है।

जीवों द्वारा आयुष्कर्म बांधने के कारण

मूल—चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—महारंभयाए, महापरिग्गहयाए, पंचिंदियवहेणं, कुणिमाहारेणं।

चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजोणियत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—माइल्लयाए, णियडिल्लयाए, अलियवयणेणं, कूडतुलकूडमाणेणं।

चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्सत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—पगइभद्दयाए, पगइविणीययाए, साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए।

चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा— सरागसंजमेणं, संजमासंजमेणं, बालतवोकम्मेणं, अकामणिज्जराए ॥ १६०॥

छाया—चतुर्भिः स्थानैर्जीवा नैरयिकतायै कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—महारम्भतया, महापरिग्रहतया, पञ्चेन्द्रियवधेन, कुणपाहारेणं।

चतुर्भिः स्थानैर्जीवास्तिर्यग्योनिकतायै कर्म्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—मायितया, निकृत्तिमत्तया, अलीकवचनेन, कूटतुलाकूटमानेन।

चतुर्भिः स्थानैर्जीवा मनुष्यतायै कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—प्रकृतिभद्रतया, प्रकृतिविनीततया, सानुक्रोशतया, अमत्सरिकतया।

चतुर्भिः स्थानैर्जीवा देवायुष्कतायै कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा—सरागसंयमेन, संयमासंयमेन, बालतपः कर्मणा, अकामनिर्जरया।

शब्दार्थ—चउहिं ठाणेहिं जीवा—चार कारणों से जीव, **णेरइयत्ताए**—नारकत्व के लिए, **कम्मं पगरेंति**—कर्म करते हैं, **तं जहा**—जैसे, **महारंभयाए**—महारम्भ से, **महापरिग्गहयाए**—महापरिग्रह से, **पंचिंदियवहेणं**—पञ्चेन्द्रिय जीवों के वध से, **कुणिमाहारेणं**—मासाहार से।

चउहि ठाणेहिं जीवा—चार कारणो से जीव, **तिरिक्खजोणियत्ताए कम्मं पगरेंति**—तिर्यञ्चयोनित्व के लिए कर्म करते है, **तं जहा**—जैसे, **माइल्लयाए**—माया से, **णियडिल्लयाए**—दूसरों को ठगने के लिए अटपटी काय चेष्टाएं करने से, **अलियवयणेणं**—झूठ बोलने से, **कूडतुलकूडमाणेणं**—खोटे तोल और खोटे माप से।

चउहिं ठाणेहिं जीवा—चार कारणो से जीव, **मणुस्सत्ताए**—मनुष्यत्व के लिए, **कम्मं पगरेंति**—कर्म करते हैं, **तं जहा**—जैसे, **पगइभद्दयाए**—प्रकृतिसिद्ध भद्रता से, **पगइविणीययाए**—प्रकृतिसिद्ध विनीतता से, **साणुक्कोसयाए**—अनुकम्पा से, **अमच्छरियाए**—अमत्सरता से।

चउहिं ठाणेहिं जीवा—चार कारणो से जीव, **देवाउयत्ताए कम्मं पगरेंति**—देवायु के लिए कर्म करते है, **तं जहा**—जैसे, **सरागसंजमेणं**—सराग सयम से, **संजमासंजमेणं**—सयमासंयम—श्रावकत्व से, **बालतवोकम्मेणं**—बालतपश्चरण से, **अकामणिज्जराए**—अकाम निर्जरा से।

मूलार्थ—चार कारणों से जीव नरक गति के लिए कर्म करते हैं, जैसे—महान आरम्भ से, महान परिग्रह से, पञ्चेन्द्रिय जीवों का वध करने से और मांसाहार से।

चार कारणों से जीव तिर्यंच गति के लिए कर्म करते हैं, जैसे—मानसिक कुटिलता से, दूसरों को धोखा देने के उद्देश्य से कायिक कुटिलता के द्वारा, असत्य भाषण से, खोटे तोल और खोटे माप से।

चार कारणों से जीव मनुष्य गति के लिए कर्म करता है, जैसे—प्रकृति की भद्रता से, प्रकृति की नम्रता से, दुःखी जीवों के प्रति अनुकम्पा से, ईर्ष्या न करने से।

चार कारणो से जीव देवगति के लिए कर्म करते हैं, जैस-सराग संयम से,

संयमासंयम से, बालतप से और अकाम-निर्जरा से।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में चार धर्म-द्वारों का वर्णन किया गया है। इन धर्म-द्वारों में कौन प्रवेश कर सकता है और कौन नहीं अब सूत्रकार इस जिज्ञासा को शान्त करते हुए कर्माधीन चार गतियों का वर्णन करते हैं।

जीव अपने कृत कर्मों का फल भोगने के लिए चार गतियों में जन्म लेता है और उस-उस गति की आयु प्राप्त करता है। प्रत्येक गति की प्राप्ति के भिन्न-भिन्न कारण हैं, अर्थात् कर्म हैं। कर्म-बल और कर्म-प्रेरणा ही जीव को चार गतियों में जाने के लिए बाध्य करती है, परन्तु यह जीव का अनादि स्वभाव है कि वह शुभ कर्मों की ओर शीघ्रता से नहीं जा पाता, परन्तु बुराइयों की ओर वह उसी शीघ्रता से जाता है जिस शीघ्रता से लोह-कण चुम्बक की ओर भागता है अतः सर्व प्रथम उन अशुभ कर्मों का परिचय दिया गया है जो नरक-गति में कारण माने जाते हैं।

१. नरक गति—

(क) महारम्भः-जीवन व्यवहार के ऐसे साधनों को महारम्भ कहा जाता है जिन साधनों के मूल में हिंसा-कर्म की अधिकता होती है। जो कर्म जितना हिंसा-प्रधान है वह जीव का उतना ही अधिक पतन करता है और जीव को नीचे-नीचे के नरकों में जाने को बाध्य करता है। यहां यह स्मरणीय है कि जीवन-साधन दो प्रकार के हैं—एक वे जिनमें हिंसा की जाती है, और दूसरे वे जिनमें हिंसा हो जाती है। जिनमें हिंसा की जाती है, ऐसे ही कर्म महारम्भ कहलाते हैं और ये महारम्भात्मक कर्म जीव को नरक में जाने को बाध्य करते हैं।

(ख) महापरिग्रहः-परिग्रह का अर्थ है भौतिक पदार्थों का संचय। भौतिक पदार्थों को सर्वथा हेय नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जड पौद्गलिक शरीर को संसार-यात्रा के योग्य रखने के लिए उन भौतिक पदार्थों का संचय आवश्यक होता है। जीवन-व्यवहार इन्हीं पदार्थों पर ही तो निर्भर है, लोक-व्यवहार के मूल में भी ये पदार्थ ही तो हैं, परन्तु संचय बुरा नहीं, संचित पदार्थों के प्रति अत्यासक्ति और उन्हें अधिकाधिक प्राप्त करने की लालसा बुरी मानी गई है, क्योंकि आसक्ति एव लालसा के बढ़ते ही मनुष्य भक्ष्य-अभक्ष्य, गम्य-अगम्य, हेय-उपादेय के विवेक को खो देता है और ऐसी विवेकहीन दशा में जीव नरकगामी बनता है।

(ग) पञ्चेन्द्रियवध—यद्यपि एकेद्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय आदि सभी जीवों का वध निन्द्य है, पाप है और नरक गति का कारण है, फिर भी यहां शास्त्रकार ने केवल पञ्चेन्द्रिय-वध को ही नरक का द्वार बतलाया है, वह इसलिए कि पञ्चेन्द्रिय जीवों को मनुष्य मारते हैं, उनका शिकार करते हैं, स्वपोषण के लिए उनके मांस का आहार करते हैं, अतः उन्हें मारा जाता है और उसके पीछे मारने की भावना होती है।

अन्य जीव चलते-फिरते भी मर जाते हैं, परन्तु उसमें उनको मारने की भावना नहीं होती, अतः भावना-विहीन मारण क्रिया को नरक का कारण नहीं बताया गया। नरक का कारण है पञ्चेन्द्रिय जीवों का शिकार, उनका वध करके उनके मांस से उदर-पोषण, अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए देव आदि के नाम पर उनका बलिदान, उनके मांस का व्यापार आदि।

(घ) **कुणिमाहार**—कुणिम शब्द का अर्थ है मृत प्राणी का शरीर। कुछ ऐसे बुद्धिवादी लोग भी हैं जिनका तर्क कहता है कि प्राणियों का मारना पाप है, परन्तु मरे हुए या अन्य द्वारा मारे हुए या यूं कहिए कि बाजार में बिकते हुए मांस का भक्षण करने से तो कोई हिंसा नहीं होती, अतः ऐसा मांस खाना निषिद्ध क्यों माना जाता है। शास्त्रकार ऐसे ही तर्क का उत्तर देते हुए कहते हैं कि शव-भक्षण भी नरक गति का कारण है। पशु स्वयं मरा हो, या मारा गया हो दोनों दशाओं में उसका मृत शरीर कुणिम है और कुणिम-भक्षण भी नरकगति का कारण है।

शरीर-शास्त्र का यह नियम है कि मृत शरीर में शीघ्र ही अनेक प्रकार के कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं। शव-भक्षण शव का भक्षण ही नहीं उसके साथ अनन्त जीवों का भी भक्षण है। यह भक्षण शरीर में अनेक रोग उत्पन्न कर देता है, मनुष्य को क्रोधी, चिड़चिड़ा, असहनशील और क्रूर बना देता है और क्रूर क्रोधियों और असहनशीलों का जीवन हिंसामय बन जाता है। हिंसामय जीवन नरक गति का ही कारण बन जाता है। महात्मा गौतम बुद्ध ने अपने उपदेश में यह कहा कि मांस के लिए जीवों को मत मारो, अर्थात् कृत, दृष्ट और उद्दिष्ट हिंसा से बचो, किन्तु जो स्वयमेव मर चुका है, या जो मांस भिक्षा में प्राप्त है, उसे खाने में कोई दोष नहीं है। जैन शास्त्रकार बौद्धों के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं, क्योंकि मांसाहार सब बुराइयों का तथा नरक का कारण है। पञ्चेन्द्रिय वध के अनन्तर 'कुणिमाहार' को पृथक् स्थान देने का यही कारण ज्ञात होता है।

२. तिर्यंच आयु-बन्ध के चार कारण—

एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक सभी जातियां तिर्यञ्चों में पाई जाती हैं, उनमें से किसी भी जाति की आयु का बंध करना तिर्यंच-आयु कहलाती है। वह भी चार कारणों से बांधी जाती है, जैसे कि—

(क) **माया**—इसका अर्थ होता है कपट करना। मन की कुटिलता से, वाणी की कुटिलता से और व्यवहार की कुटिलता से जीव तिर्यंच की आयु का बंध करता है, अर्थात् उन योनियों में जन्म लेता है।

(ख) **निकृतिमत्ता**—एक कपट को छुपाने के लिए दूसरा कपट करना, दूसरे को ठगने के लिए धर्म का रूप धारण करना, दूसरों को अपने कपट-जाल में फंसाने के लिए तरह-तरह के प्रयोग करना आदि निकृतिमत्ता के ही रूप हैं। यह निकृतिमत्ता भी तिर्यञ्चगति में जन्म लेने का कारण है।

(ग) **अलीक वचन**—अलीक शब्द का अर्थ है असत्य। असत्य बोलने से भी जीव तिर्यञ्च-योनियों में जन्म लेता है।

(घ) **कूटतोल-कूट मान**—इस शब्द का अर्थ है कम तोलना और कम मापना। कम तोल और कम माप खरीददार से धोखा है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय छल है, इसे राष्ट्रीयता की दृष्टि से भी घोर अपराध माना गया है। अपराध ही पाप है और पाप ही प्राणी को नाना योनियों में जन्म देने का कारण है, अतः शास्त्रकार कम तोलने वाले और कम मापने वाले की गति के रूप में उसका तिर्यञ्च योनियों में जन्म लेना मानते हैं।

३. **मनुष्य-आयु-बन्ध के चार कारणः**—नीतिकारों और जीवन के मर्मज्ञों की ज्ञानधारा के प्रवाह का एक ही उद्घोष है—"नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्" मनुष्यत्व से श्रेष्ठ यहां कुछ नहीं। यह उद्घोष इसलिए किया गया कि 'मनुष्य' स्वतन्त्र है, इच्छानुकूल कर्म करने का उसे अधिकार है। वह ऐसे कर्म भी कर सकता है जो उसे मनुष्य से देवता ही नहीं मुक्तात्मा भगवान भी बना सकते हैं और ऐसे बुरे कर्म भी कर सकता है जो उसे नरक में भी ढकेल सकते हैं। उसकी कर्म-स्वतन्त्रता को देखकर ही उसकी श्रेष्ठता का गुण-गान किया गया है। प्रश्न है कि यह दुर्लभ मनुष्यत्व किन कर्मों के कारण जीव को प्राप्त हो सकता है इसका निर्देश करते हुए शास्त्रकार चार कारण उपस्थित करते हैं—

(क) **प्रकृति-भद्रता**—जो स्वभाव से ही भद्र एवं सुकोमल हृदय है।

(ख) **प्रकृतिविनीतता**—जो स्वभाव से ही विनीत एवं विनम्र है।

(ग) **सानुक्रोशता**—जो दयालु स्वभाव और करुणाशील है।

(घ) **अमत्सरता**—जो दूसरों के गुणों में अनुराग रखते हुए ईर्ष्यालु नहीं है।

इन चार सद्गुणों को जीवन में लाने से जीव मनुष्य की आयु का बंध करता है। उक्त गुणों का सद्भाव यदि अंशमात्र में हो तो जीव साधारण मनुष्य बनता है। यदि इन गुणों का सद्भाव उत्कृष्ट मात्रा में हो तो वह उत्तम पुरुष बनता है।

४. देव-आयु-बन्ध के चार कारण—

देव जाति भी एक स्वतन्त्र जाति है, जो कि अपने आप में अनुपम है। स्वर्ग-लोक में पुण्यानुसार सुख भोगने वाले अद्भुत शक्ति-सम्पन्न वैक्रिय शरीरी देव कहलाते हैं। देव-गति के योग्य आयु का बंध चार कारणों से होता है, जैसे कि—

(क) **सराग संयम**—कषाय सहित चारित्र के पालने का अन्तिम परिणाम स्वर्ग है।

(ख) **संयमासंयम**—श्रावक-वृत्ति एवं गृहस्थ जीवन से भी स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

(ग) **बाल-तपः-कर्म**—अज्ञान पूर्वक तप करने से भी जीव देव-आयु का बंध करता है।

(घ) **अकाम निर्जरा**—अनिच्छा से ब्रह्मचर्य, तप एवं सहनशीलता का होना, बिना इच्छा के भूख, प्यास, कष्ट आदि का सहन करना अकाम निर्जरा है। जीव जब कभी देवायु

का बंध करता है तो उक्त चार कारणों में से किसी एक कारण के होने पर ही करता है। बाल तपःकर्म और अकाम निर्जरा से जो देवायु का बन्ध करते हैं वे आराधक देव नहीं, क्योंकि आराधक भाव तो सम्यग्दर्शन पर ही निर्भर है। उसके बिना ज्ञान नहीं, ज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र नहीं, उसके बिना आराधक होना असंभव है। आराधक अवस्था में बंधी हुई आयु ही महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

चतुर्विध वाद्य, नाट्य आदि

मूल—चउव्विहे वज्जे पण्णत्ते, तं जहा—तते, वितते, घणे, झुसिरे।

चउव्विहे नट्टे पण्णत्ते, तं जहा—अंचिए, रिभिए, आरभडे, भिसोले।

चउव्विहे गेए पण्णत्ते, तं जहा—उक्खित्तए, पत्तए, मंदए, रोविंदए।

चउव्विहे मल्ले पण्णत्ते, तं जहा—गंथिमे, वेढिमे, पूरिमे, संघाइमे।

चउव्विहे अलंकारे पण्णत्ते, तं जहा—केसालंकारे, वत्थालंकारे, मल्लालंकारे, आभरणालंकारे।

चउव्विहे अभिणए पण्णत्ते, तं जहा—दिट्ठंतिए, पांडुसुए, (पाडिस्सुइय[1]) सामंतोवणिवाइ, लोगमब्भावसिए (लोगमज्झावसिअ[2])॥१६१॥

छाया—चतुर्विधं वाद्यं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—ततं, विततं, घनं, शुषिरम्।

चतुर्विधं नाट्यं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—अञ्चितं, रिभितम्, आरभटं, भिसोलम्।

चतुर्विधं गेयं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—उत्क्षिप्तकं, पत्रकं, मन्दकं, रोविन्दकम्।

चतुर्विधं माल्यं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—ग्रथिमं, वेष्टिमं, पूरिमं, संघातिमम्।

चतुर्विधोऽलङ्कारः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—केशालङ्कारः, वस्त्रालङ्कारः, माल्यालङ्कारः, आभरणालङ्कारः।

चतुर्विधोऽभिनयः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—दार्ष्टान्तिकः, प्रातिश्रुतिकः, सामन्तोपनिपातिकः, लोकमध्यावसितः।

शब्दार्थ—चउव्विहे वज्जे पण्णत्ते, तं जहा—चार प्रकार के वाद्य कथन किए गए

---

१ यद्यपि आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित प्रति में 'पाडुसुते' यह पाठ प्राप्त होता है, परन्तु यह पाठ शुद्ध ज्ञात नहीं होता, इसका शुद्ध रूप 'पाडिस्सुइय' अथवा 'पाडिस्सुइअ' ज्ञात होता है। राजप्रश्नीय सूत्र में अभिनय प्रकरण के अन्तर्गत 'पाडिस्सुइय' पाठ ही प्राप्त होता है।

२ यद्यपि आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित प्रति में 'लोगमब्भावसिते' पाठ ही दिया गया है, परन्तु यह शब्द भी 'लोगमज्झावसिअ' होना चाहिए। 'पाइयसद्दमहण्णवो' नामक कोष में तथा 'अभिधानराजेन्द्र' में इसी स्थल का उद्धरण निर्देश देते हुए 'लोगमज्झावसिअ' पाठ ही दिया गया है। 'ध्य' को 'ज्झ' आदेश प्राकृत-व्याकरण सिद्ध है।

हैं, जैसे, **तते**—वीणादिक, **वितते**—पटहादिक, **घणे**—घन-कास्यतालादिक, **झुसिरे**—बासुरी आदिक।

चउव्विहे नट्टे पण्णत्ते, तं जहा—चार प्रकार के नाट्य कथन किए गए हैं, जैसे, **अंचिए**—अंचित, **रिभिए**—रिभित, **आरभडे**—आरभट, **भिसोले**—भिसोल।

चउव्विहे गेए पण्णत्ते, तं जहा—चार प्रकार के गेय कथन किए गए हैं, जैसे, **उक्खित्तए**—उत्क्षिप्त, **पत्तए**—पत्रक, **मंदए**—मन्दक, **रोविंदए**—रोविन्दक।

चउव्विहे मल्ले पण्णत्ते, तं जहा—चार प्रकार की मालाए कथन की गई हैं, जैसे, **गंथिमे**—सूत्र से गूंथ कर बनाई गई, **वेढिमे**—लपेट कर बनाई गई, **पूरिमे**—पूर कर बनाई गई, **संघातिमे**—पुष्प-समूह से ओत-प्रोत।

चउव्विहे अलंकारे पण्णत्ते, तं जहा—चार प्रकार के अलंकार कथन किए गए है, जैसे, **केसालंकारे**—केशो का अलकार, **वत्थालंकारे**—वस्त्रो का अलकार, **मल्लालंकारे**—माला का अलंकार, **आभरणालंकारे**—गहनों का अलंकार।

चउव्विहे अभिणए पण्णत्ते, तं जहा—चार प्रकार का अभिनय कथन किया गया है, जैसे, **दिट्ठंतिए**—दार्ष्टान्तिक, **पांडुसुए**—प्रातिश्रुतिक, **सामंतोवणिवाइए**—सामन्तोपनिपातिक, **लोगमज्झावसिए**—लोक-मध्यावसित।

मूलार्थ—चार प्रकार के वाद्य कथन किए गए हैं, जैसे—तत—वीणा आदि, वितत—पटह आदि, घन—कास्य-ताल आदि, शुषिर—बांसुरी आदि।

चार प्रकार का नाट्य कथन किया गया है, जैसे—अञ्चित, रिभित, आरभट, भिसोल।

चार प्रकार का गेय कथन किया गया है, जैसे—उत्क्षिप्तक, पत्रक, मन्दक, रोविन्द।

चार प्रकार की मालाएं कथन की गई हैं, जैसे—ग्रन्थिम—गून्थी हुई माला, वेष्टिम—लपेट कर बनाई हुई माला, पूरिम—बांस आदि की शलाकाओं को पूर्ण करके बनाई हुई माला, संघातिम—अनेक प्रकार के फूलों से निर्मित माला।

चार प्रकार के अलंकार कथन किए गए हैं, जैसे—केशालंकार, वस्त्रालंकार, माल्यालंकार, आभरणालंकार।

चार प्रकार का अभिनय हुआ करता है, जैसे—दार्ष्टान्तिक, प्रतिश्रुतिक, सामन्तोपनिपातिक, लोकमध्यावसित।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र मे मनुष्यत्व और देवत्व प्राप्ति के कारणो पर प्रकाश डाला गया है। मनुष्यों और देवो को वाद्य, नृत्य, माला अलकार आदि प्रिय हैं, अत: उनके प्रिय

वाद्य गीत आदि का परिचय देकर उनके चार रूपों पर प्रकाश डालते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

१. वाद्य चार प्रकार के होते हैं—

(क) मुंह से बजाए जाने वाले जितने तरह के बाजे हैं, वे सब '**तत**' कहलाते हैं, जैसे कि बैंड बाजा, वीणा आदि।

(ख) गुल्ली या थाप आदि मारकर बजाए जाने वाले साजबाज 'वितत' **कहलाते हैं**, जैसे मृदंग, ढोलकी, ढोल, नगारा, भेरी आदि।

(ग) ताल आदि के योग से बजाए जाने वाले साज-बाज को 'घन' कहते हैं, जैसे झालर, घण्टा, खड़ताल, घुंघरू, सारंगी, जलतरंग आदि साज 'घन' कहलाते हैं।

(घ) वायु और अंगुलियों के योग से बजाए जाने वाले वाद्यों को शुषिर कहा जाता है, जैसे कि हारमोनियम आदि।

२. नाट्य अर्थात् नृत्य चार प्रकार के होते हैं— मंद-मंद नाचना '**अंचित**' है, गीत की संज्ञा पूर्वक नाचना '**रिभित**' है, गाते हुए नाचना आरभट है और विविध प्रकार की चेष्टाएं भाव-भंगिमाएं प्रदर्शित करते हुए नाचना भिसोल कहलाता है।

३. गीत चार प्रकार के होते हैं—आरम्भ में मधुरता से गाना '**उत्क्षिप्त**' कहलाता है। मध्य में गीत को ऊंचे स्वर से गाना '**पत्रक**' कहलाता है। गीत को उतारना '**मंदक**' है और अन्त में गीत को धीमे स्वर से पूर्ण करना **रोविंदक** कहलाता है।

४. मालाएं चार प्रकार की होती हैं—फूलों को एक सूत्र में गूंथ कर बनाई गई माला को '**ग्रंथिम**' फूलों को मुकुट आदि से वेष्टित करके माला बनाना '**वेष्टिम**' बांस की टोकरी, पीतल के गुलदस्तों और इसी प्रकार के अन्य पदार्थों को फूलों से पूर्ण करना '**पूरिम**' और अनेक प्रकार की पुष्प-माला आदि के समूह से बने पुष्पों के कलात्मक उपकरणों को '**संघातिम**' कहते हैं।

४. अलंकार चार प्रकार के होते हैं:— इस प्रसंग में अलंकार का अर्थ बनाव है, क्योंकि अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति भी यही कहती है '**अलङ्क्रियते-भूष्यतेऽनेनेत्य-लङ्कारः**'। अनेक प्रकार की केश-रचना को **केशालंकार** कहा जाता है, इसी प्रकार वस्त्रों के द्वारा शरीर को सजाना '**वस्त्रालंकार**' है, भूषणों के द्वारा शरीर को सजाना '**आभरणालंकार**' है और विविध मालाओं के द्वारा शरीर को सजाना **मालालंकार** है। इन अलंकारों से शरीर की सुंदरता और रूप का सौंदर्य बढ़ जाता है। इतना ही नहीं, काम-सूत्रों में इनको कामोत्पादक भी माना गया है, क्योंकि विभूषा से ही काम-वासना उत्तेजित होती है।

उत्तराध्ययन सूत्र के सोलहवें अध्ययन में दस प्रकार की ब्रह्मचर्य-समाधि का विस्तृत वर्णन किया गया है, उसमें नौवीं समाधि है 'विभूषा का परित्याग'। इससे सिद्ध होता है कि

ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए विभूषा बाधक है और उसका परित्याग करना साधक है। इस सूत्र में इस विषय का वर्णन केवल लौकिक ज्ञान के लिए किया गया है।

६. **अभिनय चार प्रकार का होता है:**—किसी अभिनेता या अभिनेत्री के द्वारा किसी की शारीरिक एवं मानसिक चेष्टाओं का जो अनुकरण किया जाता है वह अभिनय कहलाता है। आगमकार इसके चार रूप उपस्थित करते हैं—जैसे दार्ष्टान्तिक, प्रातिश्रुतिक, सामंतोपनिपातिक और लोकमध्यावसित। बाह्य शारीरिक चेष्टाओं के अनुकरण को '**दार्ष्टान्तिक**' कहा जाता है, इसे ही नाट्य-शास्त्र में 'आङ्गिक' अभिनय कहा गया है। वाणी के अभिनय को '**प्रातिश्रुतिक**' कहते हैं, इसे नाट्य-शास्त्र वाचिक अभिनय कहता है। मानसिक भावों अर्थात् रोने, हंसने, पसीना आने और कांपने आदि के अभिनय को '**सामन्तोपनिपातिक**' कहा जाता है, नाट्यशास्त्र इसे सात्त्विक अभिनय कहता है। देशकाल के अनुरूप वेश-भूषा के अभिनय को '**लोकमध्यावसित**' कहा गया है, यही अभिनय नाट्य शास्त्र में 'आहार्य' कहलाता है।

सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प के विमान-वर्णन

मूल—सणंकुमारमाहिंदेसु णं कप्पेसु विमाणा चउवण्णा पण्णत्ता, तं जहा—णीला, लोहिया, हालिद्दा, सुक्किला।

महासुक्कसहस्सारेसु णं कप्पेसु देवाणं भवधारणिज्जा सरीरगा उक्कोसेणं चत्तारि रयणीओ उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता॥१६२॥

छाया—सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः कल्पयोः विमानाश्चतुर्वर्णाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—नीलाः, लोहिताः, हारिद्राः, शुक्लाः।

महाशुक्रसहस्रारयोः कल्पयोः देवानां भवधारणीयानि शरीराणि उत्कर्षेण चतस्रो रत्न्यः ऊर्ध्वमुच्चत्वेन प्रज्ञप्तानि।

शब्दार्थ—सणंकुमारमाहिंदेसु णं—सनत्कुमार और माहेन्द्र, **कप्पेसु**—कल्पों में, **विमाणा**—विमान, **चउव्वण्णा**—चार वर्ण वाले, **पण्णत्ता, तं जहा**—कथन किए गए हैं, जैसे, **णीला**—नील, **लोहिया**—लोहित, **हालिद्दा**—पीत, **सुक्किला**—श्वेत।

महासुक्कसहस्सारेसु णं—महाशुक्र और सहस्रार, **कप्पेसु**—कल्पों में, **सरीरगा**—शरीर, **उक्कोसेणं**—उत्कर्ष रूप से, **चत्तारि रयणीओ**—चार हाथ, **उड्ढं**—ऊर्ध्व, **उच्चत्तेणं**—उच्च रूप से, **पण्णत्ता**—कथन किए गए हैं।

मूलार्थ—सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोक के विमान चार वर्ण के प्रतिपादित किए गए हैं, जैसे—नील, लोहित अर्थात् लाल, हारिद्र, अर्थात् पीले और शुक्ल अर्थात् सफेद।

महाशुक्र और सहस्रार देवलोकों में देवों के भवधारणीय-जन्म-जात शरीर ऊंचाई में अधिक से अधिक चार हाथ परिमाण वाले हुआ करते हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में नृत्य, अलंकार आदि का वर्णन किया गया है। देवों के शृंगार के अन्तर्गत उनके विमान भी आते हैं, अतः अब आगमकार देवविमानों के वर्ण आदि का परिचय देते हैं—

तीसरे और चौथे देवलोकों में चार वर्ण वाले विमान पाए जाते हैं, कुछ नीले रंग के हैं, कुछ लाल रंग के हैं, कुछ पीले रंग के हैं और कुछ सफेद रंग के हैं। अन्य देवलोकों में यह नियम नहीं है। पहले और दूसरे देवलोकों में पांच वर्णों के विमान हैं। तीसरे और चौथे में काले के बिना चार, पांचवें, छट्ठे में नीले के बिना तीन रंग के विमान हैं। सातवें और आठवें देवलोकों में विमान, पीले और सफेद रंग के ही हैं। नौवें देवलोक से लेकर छब्बीसवें देवलोक पर्यन्त केवल श्वेतवर्ण के विमान ही पाए जाते हैं।[1]

सातवें और आठवें देवलोकों में देवों के भवधारणीय शरीर की अवगाहना उत्कृष्ट चार हाथ की है। भवनपति, वानव्यंतर, ज्योतिष्क, पहले और दूसरे देवलोक की अवगाहना सात हाथ की, तीसरे और चौथे देवलोक में छः हाथ की, पांचवें और छठे देवलोक में पांच हाथ की, सातवें और आठवें देवलोक में चार हाथ की, नौवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें में तीन हाथ की, नव-ग्रैवेयकों में दो हाथ की और पांच अनुत्तर विमानों में देवों की एक हाथ की अवगाहना होती है।[2]

इस प्रकार भवधारणीय शरीर की ऊंचाई का वर्णन किया गया है, किन्तु उत्तर वैक्रिय शरीर की छोटी से छोटी अंगुल के संख्यातवें भाग की और अधिक से अधिक एक लाख योजन प्रमाण अवगाहना होती है। मध्यम अवगाहना के अनेक भेद हैं। उत्तर वैक्रिय करने की शक्ति बारहवें देवलोक तक के देवों में पाई जाती है, उससे आगे नहीं। भवधारणीय शरीर जन्म से लेकर मरणपर्यंत रहता है, वह शरीर सब देवों को प्राप्त होता है।

चतुर्विध उदक-गर्भ

मूल—चत्तारि उदकगब्भा पण्णत्ता, तं जहा—उस्सा, महिया, सीया, उसिणा।

चत्तारि उदकगब्भा पण्णत्ता, तं जहा—हेमगा, अब्भसंथडा, सीयोसिणा, पंचरूविया।

---

१. सोहम्मे पचवण्णा एक्कगहाणीठ जा सहस्सारो।
दो दो तुल्ला कप्पा तेणं परं पुंडरीयाओ।।

२. भवण-वण-जोइस-सोहम्मीसाणे सत्त होंति रयणीओ।
एक्केक्क हाणी सेसे दु दुगे या दुगे चउक्के य।
गेविज्जेसु दोण्णि एक्का रयणी अणुत्तरेसु।।

माहे उ हेमगा गब्भा, फग्गुणे अब्भसंथडा।
सीयोसिणा च चित्ते, वइसाहे पंचरूविया ॥१६३॥

छाया—चत्वार उदकगर्भाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अवश्यायाः, महिकाः, शीतानि, उष्णानि।

चत्वार उदकगर्भाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—हेमकाः, अभ्रसंस्थिताः, शीतोष्णाः, पञ्चरूपिकाः—

माघे तु हैमका गर्भाः, फाल्गुने अभ्रसंस्थिताः।
शीतोष्णास्तु चैत्रे, वैशाखे पञ्चरूपिकाः॥

शब्दार्थ—चत्तारि उदकगब्भा पण्णत्ता, तं जहा—चार उदक गर्भ कथन किए गए हैं, जैसे, **उस्सा**—ओस, **महिया**—धुंध, **सीया**—शीत, **उसिणा**—गर्म।

चत्तारि उदकगब्भा पण्णत्ता, तं जहा—चार उदक-गर्भ कहे गए हैं, जैसे, **हेमगा**—हिम, **अब्भसंथडा**—आकाश में मेघों का छाए रहना, **सीयोसिणा**—सर्दी और गर्मी, **पंचरूविया**—गर्जन, बिजली का चमकना, जल, वायु और बादल, इन पाचो का इकट्ठा होना। **माहे उ**—माघ में, **हेमगा गब्भा**—हिम का गर्भ होता है, **फग्गुणे**—फाल्गुन मे, **अब्भसंथडा**—मेघाच्छन्नता रूप, **चित्ते उ**—चैत्र मे तो, **सीयोसिणा**—सर्दी-गर्मी रूप, **वइसाहे**—वैशाख में, **पंचरूविया**—गर्जन आदि पाच प्रकार का उदक-गर्भ हुआ करता है।

मूलार्थ—चार प्रकार के उदकगर्भ-कालान्तर मे होने वाली वर्षा के हेतु हैं, जैसे—ओस, महिका, शीत, उष्णता।

चार प्रकार के उदकगर्भ कथन किए गए हैं, जैसे—हिम, आकाश में बादलों का छाना, सर्दी-गर्मी, गर्जना आदि पांच कारणों का समुदाय होते हैं। माघ में हिम का गर्भ होता है। फाल्गुन मे आकाश में मेघो का जमघट, चैत्र में सर्दी-गर्मी और वैशाख में गर्जन आदि पाच कारणों के समुदाय का गर्भ होता है।

विवेचनिका—आकाशस्थ जल-निपात का बहुत कुछ सम्बन्ध देव-शक्तियों के साथ भी है, अतः देवों के अभिनयादि का वर्णन करने के अनन्तर उदक-गर्भ विषय को शास्त्रकार ने उपस्थित किया है। जिस प्रकार मातृ-गर्भ मे प्राणी छिपा रहता है और वह समय पाकर जन्म लेता है उसी प्रकार शीत, उष्ण, हिम आदि के गर्भ मे जल छिपा रहता है और वह समय पाकर बरसता है, अतः शीत, उष्णता आदि को उदक गर्भ कहा गया है। मातृ-गर्भ में स्थित शिशु अदृश्य रहता है इसी प्रकार शीत-उष्णता आदि के पीछे जल अदृश्य रहता है, अतः इनका उदक-गर्भ नाम यथार्थ ही प्रतीत होता है।

ओस का पड़ना, धुंध अर्थात् कुहरे का छा जाना, वातावरण मे एकदम अति शीत का हो जाना अथवा वातावरण का अत्यन्त उष्ण अर्थात् उमस वाला हो जाना ही उसकी जल

गर्भता को प्रकट करता है। इसलिए अधिक गर्मी पड़ने पर लोक में जल-वर्षण की सम्भावना प्रकट की जाती है। अन्य प्रकार से भी उदक गर्भ का वर्णन किया गया है, जैसे कि :—

पवनाभ्रवृष्टि-विद्युद् गर्जितशीतोष्णरश्मिपरिवेषाः।
जलमत्स्येन सहोक्ता दशधा धातु प्रजनहेतुः॥

अर्थात् पवन, अभ्र-विकार, वृष्टि, विद्युत्, गर्जना, सर्दी, गर्मी, सूर्य-कुंडल और इंद्रधनुष इन लक्षणों से उदकगर्भ जाना जाता है, अर्थात् शीघ्र होने वाली वृष्टि की सम्भावना ज्ञात होती है। उदकगर्भ का कालमान कम से कम एक समय और उत्कृष्ट छः मास होता है। भगवती सूत्र के दूसरे शतक और पंचम उद्देशक में कहा गया है **"उदगगब्भेणं भंते! उदगगब्भेति कालओ केवच्चिरं होइ? गोयमा! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा"**। इतने समय के बाद तो गर्भस्थ जल अवश्य ही बरसने लग जाता है।[१]

उदक गर्भ चार प्रकार का होता है—

हेमक, अभ्रसंस्तृत, शीतोष्ण और पंचरूपक। इनमें से हिमपात उदकगर्भ माघमास में होता है। बादलों का फैलाव रूप उदकगर्भ फाल्गुण मास में होता है। शीत और उष्ण का मिश्रित उदकगर्भ चैत्र मास में होता है, अत्यन्त शीत और अत्यन्त गर्मी का होना भी उक्त मास में होता है। गर्जना, चमकना, जल, वायु और बादल इनके समूह को पंचरूपिका कहते हैं। पंचरूपिका उदकगर्भ वैशाख के महीने में होता है।

चतुर्विध मानुषी-गर्भ

मूल—चत्तारि माणुस्सीगब्भा पण्णत्ता, तं जहा—इत्थित्ताए, पुरिसत्ताए, णपुंसगत्ताए, बिंबत्ताए—

अप्पं सुक्कं बहुं ओयं, इत्थी तत्थ पजायइ।
अप्पं ओयं बहुं सुक्कं, पुरिसो तत्थ पजायइ॥
दोण्हंपि रत्तसुक्काणं, तुल्लभावे णपुंसओ।
इत्थीओयसमाओगे, बिंबं तत्थ पजायइ ॥ १६४ ॥

छाया—चत्वार मानुषीगर्भाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—स्त्रीतया, पुरुषतया, नपुंसकतया, बिम्बतया—

---

१. इस सूत्र की वृत्ति करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं—उदगगब्भेणं क्वचित् दगगब्भेणं इति दृश्यते, तत्रोदकगर्भः। कालान्तरेण जलप्रवर्षणहेतुः पुद्गलपरिणामः, तस्य चावस्थानं जघन्यतः समयः, समयानन्तरमेव प्रवर्षणात्, उत्कृष्टतस्तु, षण्मासात्, षण्णां मासानामुपरि वर्षणात्, अयं च मार्गशीर्षपोषादिषु वैशाखान्तेषु संध्याराग मेघोत्पादादि लिंगो भवति, यदाह।

पौषे समार्गशीर्षे सन्ध्यारागोऽम्बुदाः सपरिवेषाः।
नात्यर्थं मार्गशिरे शीतं पोषेऽति हिमपातः॥

अल्पं शुक्रं बहु ओजः, स्त्री तत्र प्रजायते।
अल्पं ओजः बहु शुक्रं, पुरुषस्तत्र प्रजायते॥
द्वयोरपि रक्तशुक्रयोः, तुल्यभावे नपुंसकः।
स्त्र्योजः समायोगे, बिम्बतुल्यं प्रजायते॥

शब्दार्थ—**चत्तारि**—चार, **माणुसीगब्भा पण्णत्ता, तं जहा**—मानुषी-गर्भ कथन किए गए हैं, जैसे, **इत्थित्ताए**—स्त्रीरूप, **पुरिसत्ताए**—पुरुषरूप, **णपुंसगत्ताए**—नपुंसक रूप, **बिंबत्ताए**—बिम्बरूप।

अप्पं—अल्प, **सुक्कं**—शुक्र, **बहु-ओयं**—बहुत ओज हो तो, **इत्थी**—स्त्री, **तत्थ पजायइ**—वहां उत्पन्न होती है। **अप्पं ओयं**—अल्प ओज, **बहु सुक्कं**—बहुत शुक्र हो तो, **तत्थ**—वहां, **पुरिसो पजायइ**—पुरुष उत्पन्न होता है।

दोण्हंपि—दोनों, **रत्तसुक्काणं**—रक्त और शुक्र के, **तुल्लभावे**—समान होने पर, **णपुंसओ**—नपुंसक होता है। **इत्थीओयसमाओगे**—केवल स्त्रियों के ओज का ही संयोग होने पर, **तत्थ**—वहां, **बिंबं पजायइ**—बिम्ब उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—चार प्रकार के मानुषी-गर्भ कथन किए गए हैं, जैसे—स्त्रीरूप, पुरुषरूप, नपुंसकरूप, बिम्बरूप।

जब पुरुष का शुक्र अल्प और स्त्री का रज अधिक होता है, तब वहां स्त्री उत्पन्न होती है। जब स्त्री का रज अल्प और पुरुष का शुक्र अधिक होता है, तो वहां पुरुष उत्पन्न होता है।

रज और शुक्र के समान होने पर नपुंसक पैदा होता है। स्त्री रज का स्त्री रज के साथ संयोग होने पर वहां बिम्ब अर्थात् अवयव-रहित मांस-पिण्ड रूप की ही उत्पत्ति होती है।

विवेचनिका—गर्भ का प्रकरण होने से प्रस्तुत सूत्र में मानुषी-गर्भ का वर्णन किया गया है। स्त्री, पुरुष, नपुंसक और बिम्ब इन रूपों में मानुषी-गर्भ चार प्रकार का होता है।

यदि पुरुष का शुक्र स्वल्प हो और स्त्री का ओज अधिक तो कन्या उत्पन्न होती है, यदि ओज न्यून हो और शुक्र अधिक हो तो पुत्र उत्पन्न होता है, यदि शुक्र और ओज तुल्य हों तो नपुंसक की उत्पत्ति होती है। वात-विकार के प्रयोग से रुधिर स्थिर हो जाए तो वह बिम्ब होता है। अन्य ग्रन्थकारों ने भी इस विषय को दो श्लोकों द्वारा इसी प्रकार स्पष्ट किया है, कहा भी है:—

अतएव च शुक्रस्य बाहुल्याज्जायते पुमान्।
रक्तस्य स्त्री तयोः साम्ये, क्लीबः शुक्रार्तवे पुनः॥

वायुना बहुशो भिन्ने यथास्वं बहुपत्यता।
वियोनिविकृताकारा जायन्ते विकृतैर्मलैः॥

कभी-कभी वात-प्रकोप आदि के कारण नारी-रज आस-पास के नलिका-संस्थान में रुक जाता है और वह रज पुनः नए रज से सम्मिलित होकर गर्भ का रूप धारण कर लेता है। वह गर्भ तो नहीं होता, परन्तु गर्भ के समान आकार वाला होता है। अतः इसे गर्भ ही कहा जाता है। आयुर्वेद शास्त्र इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए कहता है—

अवस्थितं लोहितमङ्गनायाः, वातेन गर्भं ब्रुवतेऽनभिज्ञाः।
गर्भाऽकृतित्वात् कटुकोष्णतीक्ष्णैः, श्रुतेः पुनः केवल एव रक्ते॥

अर्थात् वायु के वश से शोणित गर्भ के आकार में अवस्थित हो जाता है। गर्भ जैसा आकार होने से उसे बिंब-गर्भ कहा जाता है। जब वह रक्त कटु उष्ण एवं पदार्थों के सेवन से बाहर आ जाता है तो अनभिज्ञ लोग ऐसा कहने लग जाते हैं कि किसी भूत ने गर्भ का हरण कर लिया है।

इस कथन से सिद्ध होता है कि स्वदार-संतोष और स्वभर्त्ता-सन्तोष व्रत के धारण करने से ही बलयुक्त पुत्रादि हो सकते हैं। धर्मपूर्वक शास्त्रानुसार जीवनचर्या बनाकर खान-पान, रहन-सहन ठीक होने पर ही अपनी और संतति की रक्षा हो सकती है। तेजस्वी संतान और स्वशरीर-रक्षा उक्त विधि से ही सम्पन्न हो सकती है।

उत्पात पूर्व की चार चूला वस्तुएं

मूल—उप्पायपुव्वस्स णं चत्तारि चूलावत्थू पण्णत्ता॥१६५॥

छाया—उत्पातपूर्वस्य चत्वारि चूलावस्तूनि प्रज्ञप्तानि।

शब्दार्थ—उप्पायपुव्वस्स णं—उत्पातपूर्व की, **चत्तारि**—चार, **चूलावत्थू**—चूलावस्तु, **पण्णत्ता**—कथन की गई हैं।

मूलार्थ—उत्पात पूर्व की चार चूला वस्तुएं कथन की गई हैं।

विवेचनिका—गर्भ से प्राणियों का उत्पाद अर्थात् जन्म होता है, अतः इस सूत्र में चौदह पूर्वों में पहले उत्पाद पूर्व की चूला वस्तुओं का निर्देश किया गया है। चूला शब्द का अर्थ है अग्र अर्थात् प्रथम। **'आचारः प्रथमो धर्मः'** के अनुसार आचार ही प्रथम धर्म है, अतः इस पूर्व में आचार रूप चूला का वर्णन किया गया है। वस्तु शब्द का अर्थ अध्ययन भी पाया जाता है। किसी-किसी प्रति में 'मूलवत्थू' पद का प्रयोग मिलता है। स्थानांग सूत्र की कुछ प्रतियों में तथा नन्दी सूत्र में **''चत्तारि चूलियावत्थू पण्णत्ता''** यह पाठ प्राप्त होता है। वृत्तिकार ने भी मूल पद को छोड़कर केवल चूला शब्द की वृत्ति की है, जैसे कि **''चूला आचारस्याग्राणीव तद्रूपाणि वस्तूनि—परिच्छेदविशेषा अध्ययनवच्चू-**

लावस्तूनि'' उत्पाद पूर्व की चूला के चार पच्छिेद हैं सूत्रकार को यही बताना इष्ट प्रतीत होता है।

चतुर्विध काव्य

मूल—चउव्विहे कव्वे पण्णत्ते, तं जहा—गज्जे, पज्जे, कत्थे, गेए॥ १६६॥

छाया—चतुर्विधं काव्यं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—गद्यं, पद्यं, कथ्यं, गेयम्।

शब्दार्थ—चउव्विहे—चार प्रकार के, **कव्वे पण्णत्ते**, तं जहा—काव्य कथन किए गए हैं, जैसे, **गज्जे**—गद्य, **पज्जे**—पद्य, **कत्थे**—कथ्य और, गेए—गेय।

मूलार्थ—चार प्रकार का काव्य प्रतिपादित किया गया है, जैसे—गद्य, पद्य, कथ्य और गेय।

विवेचनिका—उत्पाद पूर्व का एक अंग काव्य है, अत: इस सूत्र में काव्य का वर्णन किया गया है। **कवयति वर्णयतीति कविः**—जो किसी विषय का वर्णन करता है, वह कवि कहलाता है, कवि द्वारा भावों के अभिव्यक्त रूप को काव्य कहते हैं।

कुछ कवि अपनी भावनाओं को प्रवाहशील गद्य में व्यक्त करते हैं, उनकी भाव-समष्टि को गद्य कहा जाता है। 'शस्त्र-परिज्ञा' नाम का अध्ययन इसका निदर्शन है।

छन्दोबद्ध भावाभिव्यक्ति को पद्यात्मक काव्य कहा जाता है, 'विमुक्ति अध्ययन' इसी पद्यात्मक काव्य का रूप है। उपर्युक्त दो प्रकार के काव्यों में भावतत्त्व की प्रधानता रहती है और घटना-पक्ष गौण रहता है।

जिस काव्य में भावतत्त्व गौण हो जाता है और घटना-तत्त्व प्रधान हो जाता है उसे कथ्य काव्य कहा जाता है। 'ज्ञाता-धर्मकथा' के अध्ययनों को इसी कथ्य काव्य की कोटि में रखा जा सकता है। कथ्य काव्य में परानुभूति की प्रधानता रहती है, स्वानुभूति गौण हुआ करती है।

परन्तु जिस काव्य में संगीत-लहरी के साथ कवि स्वानुभूति को प्रधानता देता है उसे गेय काव्य कहा जाता है। ''कपिल अध्ययन'' को गेय काव्य की कोटि में रखा जा सकता है।

काव्य-शास्त्र वर्णित खण्डकाव्य, महाकाव्य, एकार्थककाव्य, पाठ्यकाव्य, गीति काव्य, चम्पू काव्य आदि का उपर्युक्त काव्य-भेदों में सहज ही समावेश हो जाता है।

चतुर्विध नारकीय समुद्घात

मूल—णेरइयाणं चत्तारि समुग्घाया पण्णत्ता, तं जहा—वेयणासमुग्घाए, कसायसमुग्घाए, मारणंतियसमुग्घाए, वेउव्वियसमुग्घाए। एवं वाउक्काइयाण वि॥ १६७॥

छाया—नैरयिकानां चत्वारः समुद्घाताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—वेदनासमुद्घातः, कषायसमुद्घातः, मारणान्तिकसमुद्घातः, वैक्रियसमुद्घातः। एवं वायुकायिकानामपि।

शब्दार्थ—**णेरइयाणं**—नारक जीवों के, **चत्तारि समुग्घाया पण्णत्ता, तं जहा**—चार समुद्घात कथन किए गए हैं, जैसे, **वेयणासमुग्घाए**—वेदनासमुद्घात, **कसायसमुग्घाए**—कषाय समुद्घात, **मारणंतियसमुग्घाए**—मारणान्तिक समुद्घात। **एवं वाउक्काइयाणं वि**—इसी प्रकार वायुकायिक जीवों को भी जान लेना चाहिए।

मूलार्थ—नारक जीवों के चार समुद्घात कथन किए गए हैं, जैसे—वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात, मारणान्तिकसमुद्घात, वैक्रियसमुद्घात। इसी प्रकार वायुकायिक जीवों के समुद्घात भी जान लेने चाहिएं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में काव्य-रूपों का वर्णन किया गया है। काव्य का प्रमुख विषय है जीवन। जीवन प्राणिमात्र को प्राप्त है। जीवन प्राप्त करने वाले के शरीर से प्राणों का निकास भी अवश्य होता है, इसी विषय को लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत सूत्र में नारकीय जीवों और वायुकायिक जीवों के समुद्घात का वर्णन किया गया है।

समुद्घात शब्द का अर्थ है आत्मप्रदेशों की हलचल या आत्म-प्रदेशों का शरीर से बाहर हो जाना। "**समुद्घातः—शरीराद्बहिर्जीवप्रदेशप्रक्षेपः**" नारकी और देव चार रूपों में समुद्घात करते हैं जैसे कि वेदना, कषाय, मारणान्तिक और वैक्रिय। इसी प्रकार वायुकायिक जीव भी चार समुद्घात करते हैं। सात समुद्घातों में से जिस जीव में जितने समुद्घात होते हैं उतने ही कहने चाहिएं। वैक्रियलब्धि-सम्पन्न मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच भी वैक्रिय समुद्घात करते हैं। समुद्घात करने से जीव को वेदना तो होती है, किन्तु वह उसे सहन कर लेता है। इस विषय का विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के ३६ वें पद में प्राप्त होता है।

श्री अरिष्टनेमि के संघ में चतुर्दशपूर्वी-सम्पदा

मूल—अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स चत्तारि सया चोद्दसपुव्वीणमजिणाणं जिणसंकासाणं सव्वक्खरसन्निवाईणं जिणो इव अवितहवागरमाणाणं उक्कोसिया चउद्दसपुव्विसंपया हुत्था॥१६८॥

छाया—अर्हतोऽरिष्टनेमेश्चत्वारि शतानि चतुर्दशपूर्विणामजिनानां जिनसंकाशानां सर्वाक्षरसन्निपातिनां जिन इवावितथं व्याकुर्वाणानामुत्कृष्टाश्चतुर्दशपूर्विसंपदा बभूवुः।

शब्दार्थ—**अरहओ णं**—अरिहंत, **अरिट्ठनेमिस्स**—अरिष्टनेमि की, **चत्तारि सया**—चार सौ मुनीश्वर, **चोद्दसपुव्वीणं**—चतुर्दश पूर्वी, **अजिणाणं**—जो जिन तो नहीं, **जिण-संकासाणं**—किन्तु जिन-समान थे, **सव्वक्खरसंनिवाईणं**—सर्वाक्षर संनिपाती, **जिणो इव**—जिन भगवान के समान, **अवितहवागरमाणाणं**—सर्वथा अवितथ अर्थात् सत्य कथन

करने वालों की, **उक्कोसिया**—उत्कृष्ट, **चउद्दसपुव्विसंपया**—चतुर्दश पूर्वियों की सम्पदा, **हुत्था**—थी।

मूलार्थ—भगवान् अरिष्टनेमि के चार सौ मुनीश्वर जो जिन तो नहीं, किन्तु जिन के समान थे, सर्वाक्षरसन्निपाती—सकल वाङ्मय के ज्ञाता शब्दानुशासन के वेत्ता थे, जिन समान सत्य कथन करने वाले थे, उन चौदह पूर्वियों की उत्कृष्ट चार सौ की संख्या थी।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में वर्णित वैक्रिय समुद्घात वैक्रिय-लब्धि सम्पन्न जीव ही कर सकते हैं। वैक्रिय लब्धि के समान श्रुत ज्ञान भी एक लब्धि है। प्रस्तुत सूत्र में श्रुतलब्धि-स्वरूप चतुर्दश पूर्वों के वेत्ताओं का वर्णन है। अर्हन् भगवान अरिष्टनेमि के सान्निध्य में चार सौ मुनीश्वर चौदह पूर्वों के अध्येता थे, जिन्हें जिन अर्थात् तीर्थंकर तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु वे तीर्थंकरों के तुल्य अवश्य थे, अर्थात् उनके लिए समस्त वाङ्मय प्रत्यक्षवत् था। वे जो कुछ कहते थे वह यथार्थ ही होता था, अतः उनकी वाणी भी जिन भगवान के सदृश पूर्ण सत्य होती थी। यह वर्णन इस ऐतिहासिक तथ्य पर भी प्रकाश डालता है कि प्रत्येक तीर्थंकर के युग में चौदह पूर्वधरों की विद्या-सम्पदा का सर्वत्र प्रसार था और जैन संस्कृति के विद्वान् सम्यक् श्रुत के द्वारा लोक को पूर्ण रूप से प्रभावित करते रहे हैं।

सूत्रकर्त्ता ने जो **चउद्दसपुव्वीणं**—यह पद दिया है, इससे यह भी सिद्ध होता है कि यह सम्पदा केवल चौदह पूर्वधरों की है, किन्तु एक से लेकर त्रयोदश पूर्वधर अन्य मुनिवर भी थे तथा किसी को चौदह पूर्वों का ज्ञान सामान्य भी था, अतः सूत्रकार ने कहा है "**सव्वक्खरसन्निवाईणं**" वे श्रुतज्ञान के उत्कृष्ट आराधक थे। चौदह पूर्वों का पूर्ण ज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व और यथाख्यात चारित्र ये तीन रत्न जिनके पास हों वे विद्वान् भगवान की आध्यात्मिक सम्पदा माने जाते हैं और उन विद्वानों की श्रुत सम्पदा का कारण तीर्थंकरों का प्रभाव ही हुआ करता है।

श्री महावीर के संघ की वादी-सम्पदा

मूल—समणस्स णं भगवओ महावीरस्स चत्तारि सया वादीणं सदेव-मणुयासुराए परिसाए अपराजियाणं उक्कोसिया वादिसंपया हुत्था ॥ १६९॥

छाया—श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य चत्वारि शतानि वादिनां सदेवमनुजासुरायां परिषदि अपराजितानामुत्कृष्टा वादिसम्पदा आसीत्।

शब्दार्थ—समणस्स णं—श्रमण, **भगवओ**—भगवान, **महावीरस्स**—महावीर के, **चत्तारि सया**—चार सौ, **सदेवमणुयासुराए**—देव, मनुष्य और असुरों के सहित, **परिसाए**—परिषद् में, **अपराजियाणं**—अपराजित, **वादीणं**—वादियों की, **उक्कोसिया**—उत्कृष्ट, **वादिसंपया**—वादि-सम्पदा, **हुत्था**—थी।

मूलार्थ—श्रमण भगवान् महावीर के संघ में चार सौ वादियों की सम्पदा थी, जो वादी देव, मनुष्य और असुरों की परिषद में सर्वथा अपराजित एवं अजेय थे।

विवेचनिका— पूर्व सूत्र में भगवान अरिष्टनेमि जी की पूर्वधर विद्वानों की श्रुत-सम्पदा का वर्णन किया गया है, इस सूत्र में उसी प्रकरण के अन्तर्गत श्रमणेन्दु प्रभु महावीर की वादी सम्पदा का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

श्रमण भगवान महावीर के सान्निध्य में ऐसे चार सौ साधु थे जो कि देव, मनुष्य और असुरों की परिषद् में शास्त्रार्थ करने में समर्थ थे, जिनको वाद में देवगण भी पराजित नहीं कर सकते थे। जो वादकला-निपुण साधु सुखपूर्वक धर्मप्रचार एवं प्रवचन-प्रभावना कर सकते हैं वे ही दूसरों की शंकाओं का निवारण करते हुए उन्हें सन्मार्ग पर ला सकते हैं।

ऐसी आध्यात्मिक सम्पदा से सम्पन्न वही विद्वान् हो सकता है, जो विशिष्ट श्रुतज्ञान और सद्यः स्फुरण-शील बुद्धि से संपन्न हो। कुंडकोलिक तथा मद्दुक श्रमणोपासक ने भ्रान्त धारणा वाले देवों और विद्वानों को वाद-विवाद में पराजित किया, अतः वे भगवान महावीर की असीम कृपा के पात्र हुए। इसलिए संघ में ऐसे विद्वानों का होना अनिवार्य है जो शंकाशीलों की शंकाओं का निवारण करके उन्हें यथार्थ ज्ञान के आलोक से आलोकित कर सकें और भगवान जिनेन्द्र देव के द्वारा उपदिष्ट धर्म का प्रचार एवं प्रसार करने में समर्थ हों। आज के संघ-प्रमुखों को विद्वत्ता के प्रचार एवं प्रसार के लिए प्रस्तुत सूत्र का वर्णन एक संकेतात्मक आदेश है।

अर्धचन्द्राकार और पूर्णचन्द्राकार देवलोक

मूल—हेट्ठिल्ला चत्तारि कप्पा अद्धचंदसंठाणसंठिया पण्णत्ता, तं जहा—सोहम्मे, ईसाणे, सणंकुमारे, माहिंदे। मज्झिल्ला चत्तारि कप्पा पडिपुन्नचंदसंठाणसंठिया पण्णत्ता, तं जहा—बंभलोए, लंतए, महासुक्के, सहस्सारे। उवरिल्ला चत्तारि कप्पा अद्धचंदसंठाणसंठिया पण्णत्ता, तं जहा—आणए, पाणए, आरणे, अच्चुए ॥ १७० ॥

छाया—अधस्तनाश्चत्वारः कल्पाः अर्धचन्द्रसंस्थानसंस्थिताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सौधर्मः, ईशानः, सनत्कुमारः, माहेन्द्रः। मध्यमाश्चत्वारः कल्पाः प्रतिपूर्णचन्द्र-संस्थानसंस्थिताः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—ब्रह्मलोकः, लान्तकः, महाशुक्रः, सहस्रारः। उपरितनाश्चत्वारः कल्पा अर्धचन्द्रसंस्थानसंस्थिताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आनतः, प्राणतः, आरणः, अच्युतः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—नीचे के चार कल्प-देवलोक अर्धचन्द्र के संस्थान वाले हैं, जैसे—

सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार और माहेन्द्र। बीच के चार कल्प पूर्ण चन्द्र के संस्थान वाले कथन किए गए हैं, जैसे—ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार। ऊपर के चार कल्प पुनः अर्धचन्द्र के संस्थान वाले कथन किए गए हैं, जैसे—आनत, प्राणत, आरण, अच्युत।

विवेचनिका—वाद-लब्धि-संपन्न मुनिवर कल्पदेवलोकों में भी उत्पन्न हैं। प्रस्तुत सूत्र में उनके संस्थान-आकार आदि का वर्णन किया गया है। कल्प देवलोक बारह हैं। उनके तीन भाग किए गए हैं—पहले चार कल्प अर्धचन्द्राकार हैं, मध्यम चार कल्प पूर्णचन्द्राकार हैं और शेष चार कल्पों की रूपरेखा पुनः अर्धचन्द्राकार है।

प्रत्येक रस-सम्पन्न चार समुद्र

मूल—चत्तारि समुद्दा पत्तेयरसा पण्णत्ता, तं जहा—लवणोदे, वरुणोदे, खीरोदे, घओदे ॥ १७१ ॥

छाया—चत्वारः समुद्राः प्रत्येकरसाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—लवणोदः, वरुणोदः, क्षीरोदः, घृतोदः।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—चार समुद्र प्रत्येक रस वाले कथन किए गए हैं, जैसे—लवणोद, वरुणोद, क्षीरोद, घृतोद।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में ऊर्ध्वलोकस्थ कल्पदेवलोक के संस्थानों का वर्णन किया गया है। संस्थान समुद्रों का भी होता है, अतः सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र में मध्यलोकस्थ प्रत्येक रस वाले समुद्रों का वर्णन करते हैं—

यद्यपि मध्यलोक में असंख्यात समुद्र हैं, किन्तु रस अर्थात् स्वाद की दृष्टि से उन्हें चार भागों में विभक्त किया गया है। जिनके रस की तुलना किसी दूसरे समुद्र के जल-रस के साथ नहीं हो सकती वे समुद्र "प्रत्येक रस" वाले कहलाते हैं, जैसे कि लवणोद समुद्र का जल खारा अर्थात् नमकीन है। वरुणोद समुद्र का पानी मदिरा के समान गन्धयुक्त एवं नशीला है, क्षीरोद समुद्र का पानी दूध के समान श्वेत एवं मधुर रस वाला है और घृतोदसमुद्र का पानी घृत के समान स्निग्ध है।

कालोदसमुद्र, पुष्करोदसमुद्र और स्वयंभूरमणोद समुद्रों में पानी का वही रस है जो स्वाभाविक रूप से जल का होता है। शेष समुद्रों में पानी का रस इक्षुरस के समान मधुर एवं पथ्य कहा गया है।

यह सत्य है कि दुग्ध-समुद्र और घृत-समुद्र आदि का वर्णन आज तक मानव-बुद्धि को कल्पित सा प्रतीत होता रहा है, परन्तु जैसे-जैसे सृष्टि-रहस्यों के ज्ञान की ओर मानव

की अन्वेषणशील बुद्धि बढ़ रही है वैसे-वैसे उसे लोक-लोकान्तरों की अनन्तता का आभास भी होने लग रहा है। हो सकता है वह दिन भी आ जाए जिस दिन खगोलवेत्ता अन्य ऐसे समुद्रों की सत्ता को भी स्वीकार करने लगें जिनका वर्णन सर्वज्ञों की सर्वज्ञता ने किया है।

आवर्त और कषाय

मूल—चत्तारि आवत्ता पण्णत्ता, तं जहा—खरावत्ते, उन्नतावत्ते, गूढावत्ते, आमिसावत्ते। एवामेव चत्तारि कसाया पण्णत्ता, तं जहा—खरावत्त-समाणे कोहे, उन्नतावत्तसमाणे माणे, गूढावत्तसमाणा माया, आमिसावत्तसमाणे लोभे। खरावत्तसमाणं कोहं अणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ, णेरइएसु उववज्जइ। उन्नतावत्तसमाणं माणं एवं चेव। गूढावत्तसमाणं मायमेवं चेव। आमिसावत्तसमाणं लोभमणुप्पविट्ठे कालं करेइ, णेरइएसु उववज्जइ ॥ १७२ ॥

छाया—चत्वार आवर्ताः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—खरावर्त्तः उन्नतावर्त्तः, गूढावर्त्तः, आमिषावर्त्तः। एवमेव चत्वारः कषायाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—खरावर्तसमानः क्रोधः, उन्नतावर्तसमानो मानः, गूढावर्तसमाना माया, आमिषावर्तसमानो लोभः। खरावर्तसमानं क्रोध-मनुप्रविष्टो जीवः कालं करोति नैरयिकेषूपपद्यते। उन्नतावर्तसमानं मानमेवञ्चैव। गूढावर्तसमानां मायामेवं चैव। आमिषावर्तसमानं लोभमनुप्रविष्टो जीवः कालं करोति नैरयिकेषूपपद्यते।

शब्दार्थ—चत्तारि—चार, **आवत्ता पण्णत्ता, तं जहा**—आवर्त कथन किए गए हैं, जैसे, **खरावत्ते**—खरावर्त, **उन्नतावत्ते**—उन्नतावर्त, **गूढावत्ते**—गूढावर्त, **आमिसावत्ते**—आमिषावर्त। **एवामेव**—इसी प्रकार, **चत्तारि कसाया पण्णत्ता, तं जहा**—चार कषाय कथन किए गए हैं, जैसे, **खरावत्तसमाणे कोहे**—अतीव वेगशाली समुद्रादि के भंवर समान क्रोध है, **उन्नतावत्तसमाणे माणे**—गिरि शिखरारोहण अथवा बावरौला के समान अभिमान है, **गूढावत्तसमाणा माया**—काष्ठ-ग्रन्थि अथवा गेंद आदि की गांठ रूप गूढावर्त्त के समान माया है, **आमिसावत्तसमाणे लोभे**—मांस खण्ड के ऊपर आकाश में मंडराने वाले पक्षियों के आवर्त समान लोभ है। **खरावत्तसमाणं**—खरावर्त्त समान, **कोहं**—क्रोध में, **अणुप्पविट्ठे जीवे**—अनुप्रविष्ट जीव, **कालं करेइ**—काल करता है तो, **णेरइएसु**—नारकों में, **उववज्जइ**—उत्पन्न होता है, **उन्नतावत्तसमाणं**—उन्नतावर्त समान, **माणं एवं चेव**—मान में अनुप्रविष्ट जीव नरक में उत्पन्न होता है, इसी प्रकार, **गूढावत्तसमाणं मायं**—गूढावर्त्त समान माया में प्रविष्ट जीव नरक में उत्पन्न होता है। **आमिसावत्तसमाणं लोभं**—आमिषावर्त्त समान लोभ में, **अणुप्पविट्ठे जीवे**—अनुप्रविष्ट जीव, **कालं करेइ**—

यदि काल करे तो, **णेरइएसु उववज्जइ**—नारकों में उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—चार आवर्त्त-भंवर कथन किए गए हैं, जैसे—खरावर्त-अतीव वेगशाली समुद्रादि का भंवर, उन्नतावर्त—गिरिशिखरारोहण अथवा वातोत्कलिका वात-आवर्त आदि, गूढावर्त—लकड़ी की गांठें अथवा गेन्द आदि की गूढ़ ग्रन्थियां, आमिषावर्त्त—मांस-खण्ड के ऊपर मण्डराने वाले गृध्र आदि पक्षियों का आवर्त।

इसी प्रकार चार कषाय कथन किए गए हैं, जैसे—खरावर्त समान क्रोध, उन्नतावर्त समान मान, गूढ़ावर्त समान माया और आमिषावर्त समान लोभ। खरावर्त समान क्रोध करने वाला जीव काल करके नारकों में उत्पन्न होता है, उन्नतावर्त समान मान करने वाला एवं गूढ़ावर्त समान माया और आमिषावर्त समान लोभ करने वाला जीव भी काल करके नारकों में उत्पन्न होता है।

विवेचनिका—सभी समुद्र आवर्त्त सहित होते हैं, अतः समुद्रों के वर्णन के अनन्तर प्रस्तुत सूत्र में चार प्रकार के आवर्त्तों का तथा उनसे उपमित कषायों का निरूपण किया गया है, जिस जलाशय, नदी या समुद्र में आवर्त्त-भंवर इतना प्रबल होता है कि चाहे कोई कितना भी तैराक हो उसे उससे बाहर निकलना अशक्य हो जाए उसे खरावर्त्त कहते हैं। इस चक्र में फंसा हुआ प्राणी प्रयत्न करने पर भी उससे निकल नहीं सकता है। इसी प्रकार जो क्रोध अत्यन्त भयंकर हो, जिसका आवेश व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र सबके लिए कष्टकारी हो और जिस क्रोध में से क्रोधी और क्रोध-भाजन का बचना कठिन हो जाता हो, उसे खरावर्त क्रोध कहा जाता है। खरावर्त्त के समान क्रोधी जीव नरक का अतिथि बनता है।

ग्रीष्म ऋतु की दोपहरी में प्रायः मंडलाकार वात-चक्र उठा करते हैं, उनकी लपेट में आए पदार्थ भी गोलाकार घूमते हुए ऊपर उठने लग जाते हैं। पर्वत के शिखर पर चढ़ने के लिए मार्ग भी टेढ़े-मेढ़े होने से आवर्ताकार ही होते हैं। इन आवर्तों को उन्नतावर्त कहा जाता है। जब जीव मान में प्रविष्ट होता है, तब वह अपने को सबसे ऊंचा और दूसरों को नीच समझने लगता है। वह गुणी जनों के समक्ष भी नहीं झुकता, उसकी प्रत्येक बात में अभिमान एवं अहंभाव की झलक दीखती है। ऐसे व्यक्ति का मान उन्नतावर्त समान माना गया है। उन्नतावर्त्त मान मनुष्य को ऊंचा चढ़ाकर फिर नरक-कूप में ढकेल देता है।

जैसे वृक्ष की गांठ के अंदर आवर्त्त होते हैं, बांस की जड़ में चक्र पर चक्र हुआ करते हैं, गेंद पर चढ़े हुए डोरे के चक्र एवं धागे से बने हुए गोले में आवर्त्त होते हैं, ये सभी आवर्त्त एक दूसरे के नीचे छिपे रहते हैं, अतः ये गूढ़ावर्त्त कहलाते हैं। इन्हीं के समान जिसमें छल-कपट के अनगिनत आवर्त्त होते हैं जो अपने पूर्ण हितैषी गुरुजनों के सामने भी कपट करने से झिझकता नहीं, जिसके भाव दूसरों को अपने जाल में फंसाने के रहते हैं, हिंसक एवं शिकारियों के हृदय में जो दुर्भावनाएं बनी रहती हैं उन्हें गूढ़ावर्त्त माया कहा जाता है।

ऐसी माया जीव को नरक में ले जाती है। जो दूसरों को माया-जाल में फंसाता है समयान्तर में वह स्वयं भी उसमें बुरी तरह फंस जाता है और वहां से उसका निकलना नितांत कठिन हो जाता है।

जहां कहीं किसी प्राणी का शव पड़ा होता है उसके ऊपर गीध जैसे मांसाहारी पक्षी चक्कर लगाते रहते हैं ऐसे चक्र को आमिषावर्त्त कहते हैं। जो लोभ इतना भयंकर है कि उसके कारण अधम जीव अनगिनत प्राणियों को प्राणों से रहित कर देता है, कसाईखाने खोलता है, लोभवश दूसरों का विनाश करता है, मांसाहार करता है, ऐसे प्राणियों के लोभ को आमिषावर्त्त कहा जाता है। इस लोभ से भी जीव का नरकपात ही होता है।

ये कषाय हैं जो भवरूपी वृक्ष को सींचने वाले हैं, अत: इनका त्याग करके ही आत्मा सन्मार्ग में आ सकता है और सुख का पात्र बन सकता है। क्रोध में कठोरता रहती है, मान से दूसरों की अवहेलना होती है, माया दूसरे के मन, बुद्धि और नेत्रों को कुंठित करती है और लोभ दूसरे के सुख एवं संपत्ति को सहन नहीं करता। इस प्रकार ये सब कषाय व्यक्ति के हृदय को कलुषित कर देते हैं, साथ ही इस प्रकार के कषायों वाला व्यक्ति समाज और राष्ट्र के लिए भी घातक हो जाता है। शास्त्रकार कषायों के विभिन्न भयंकर रूपों पर प्रकाश डालते हुए प्रत्येक साधक को उनसे सावधान रहने का संकेत करते हैं।

अनुराधा नक्षत्र के चार तारे

मूल—अणुराहा नक्खत्ते चउत्तारे पण्णत्ते। पुव्वासाढे एवं चेव। उत्तरा-साढे एवं चेव ॥१७३॥

छाया—अनुराधानक्षत्रं चतुस्तारकं प्रज्ञप्तम्। पूर्वाषाढा एवं चैव। उत्तराषाढा एवं चैव।

(शब्दार्थ स्पष्ट है)

मूलार्थ—अनुराधा नक्षत्र के चार तारे कथन किए गए हैं, इसी प्रकार पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा नक्षत्रों के भी चार-चार तारे हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्रों में सूत्रकार बाह्य जगत् एवं उसके माध्यम से अन्तर जगत् का वर्णन करते आ रहे हैं, बाह्य जगत् के परिचयात्मक ज्ञान के रूप में प्रस्तुत सूत्र में अनुराधा, पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा नामक नक्षत्रों का परिचय दिया गया है।

जिस प्रकार ध्रुव नामक नक्षत्र के पास सप्तर्षि नामक सात तारे सर्वदा रहते हैं और उसकी परिक्रमा करते रहते हैं, एवं ध्रुव के पास 'ध्रुवाक्षी' नाम का तारक-युगल भी रहता है, इसी प्रकार अनुराधा, पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा नामक नक्षत्रों के पास चार-चार ऐसे तारक हैं जो उनकी परिधि का कभी परित्याग नहीं करते हैं। यद्यपि यह विषय खगोलशास्त्र का है प्रस्तुत अध्यात्मशास्त्र का नहीं, परन्तु सर्वज्ञ तीर्थंकरों का ज्ञान सर्वगामी होता है, अत:

जब उनका ज्ञान जीव की ऊर्ध्वगति का अवलोकन करते हुए लोक के विभिन्न भागों की यात्रा करता है उस समय मार्गगत ऐसे ज्ञातव्य विषयों का वर्णन भी वह कर जाया करता है, अतः यह प्रकरणभिन्नता उनकी सर्वज्ञता का परिचय देती है।

चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारों की अवस्थिति का विस्तृत वर्णन चन्द्र-प्रज्ञप्ति आदि सूत्रों से जानना चाहिए। इस स्थान में तो केवल चतुःस्थान के अनुरोध से ही यह वर्णन किया गया है।

जीवों द्वारा अशुभ पुद्गलों का संचय

मूल—जीवा णं चउट्ठाणणिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा—णेरइयणिव्वत्तिए, तिरिक्ख- जोणिय-णिव्वत्तिए, मणुस्सणिव्वत्तिए, देवणिव्वत्तिए। एवं उवचिणिंसु वा, उवचिणंति वा, उवचिणिस्संति वा। एवं चिय, उवचिय, बंध, उदीर, वेय तह निज्जरे चेव ॥ १७४ ॥

छाया—जीवाश्चतुःस्थाननिर्वर्तितान् पुद्गलान् पापकर्मतया चितवन्तः वा, चिन्वन्ति वा, चेष्यन्ति वा, नैरयिकनिर्वर्तितान्, तिर्यग्योनिकनिर्वर्तितान्, मनुष्य-निर्वर्तितान्, देवनिर्वर्तितान्। एवमुपचितवन्तो वा, उपचिन्वन्ति वा, उपचेष्यन्ति वा। एवं चितं, उपचितं, बन्धः, उदीरः, वेदस्तथा निर्जरा चैव।

शब्दार्थ—**जीवा णं**—जीव, **चउट्ठाणणिव्वत्तिए**—चार स्थानों में निष्पादित, **पुग्गले**—पुद्गलों को, **पावकम्मत्ताए**—पाप कर्म रूप से, **चिणिंसु वा**—भूतकाल में इकट्ठा करते रहे हैं, **चिणंति वा**—वर्तमान काल में इकट्ठा करते हैं, **चिणिस्संति वा**—भविष्य में इकट्ठा करेंगे, **णेरइयणिव्वत्तिए**—नैरयिक निष्पादित, **तिरिक्खजोणियणिव्वत्तिए**—तिर्यग्योनिकनिष्पादित, **मणुस्सणिव्वत्तिए**—मनुष्य निष्पादित, **देवणिव्वत्तिए**—देव निष्पादित। **एवं**—इसी प्रकार, **उवचिणिंसु**—बार-बार इकट्ठा करते रहे हैं, **उवचिणंति वा**—बार-बार इकट्ठा करते हैं, **उवचिणिस्संति वा**—बार-बार इकट्ठा करेंगे, **एवं**—इसी प्रकार, **चिय**—चय, **उवचिय**—उपचय, **बंध**—बन्ध, **उदीर**—उदीरण, **वेय**—वेदन, **तह**—तथा, **निज्जरे चेव**—निर्जरा आदि के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए।

मूलार्थ—संसारी जीव चार स्थानों में निष्पादित पुद्गलों को पापकर्म रूप से भूतकाल में एकत्रित करते रहे हैं, वर्तमान में करते हैं, भविष्य में करेंगे, नारकनिष्पादित, तिर्यंचनिष्पादित, मनुष्यनिष्पादित, देवनिष्पादित। इसी प्रकार भूतकाल में पुनः पुनः इकट्ठा करते रहे हैं, वर्तमान में कर रहे हैं, भविष्य में करते रहेंगे। इसी प्रकार चय, उपचय, बन्ध, उदीरणा, वेदना और निर्जरा के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में अनुराधा आदि नक्षत्रों का वर्णन किया गया है। ये नक्षत्र ज्योतिष्क देवों के निवास स्थान हैं। देव भी मनुष्यों के समान सशरीरी हैं। सशरीरी जीवों का शरीर पुद्गलों द्वारा निर्मित होता है, अतः अब सूत्रकार पुद्गल-निर्मित शरीरियों का वर्णन करते हैं।

इस भूलोक से तिर्यञ्च जीवो और मानवों का सम्बन्ध है, भूलोक से अधोभागों में नारकी जीव रहते है और भूलोक से ऊपर की ओर ज्योतिष्क और वैमानिक देवों का निवास-स्थान माना गया है। नारकी, तिर्यञ्च, मानव और देव, ये चारों शरीरधारी हैं और ये चारो अपने द्वारा कृत पाप कर्मों के फल स्वरूप ही नाना शरीर धारण किया करते हैं। ससार की यह व्यवस्था अनादिकाल से चली आ रही है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवो ने पहले भी पुद्गल-संचय किया, वर्तमान में भी कर रहे हैं और भविष्य में भी करेगे। यह क्रम जीव-स्वभाव की भिन्नता के कारण न कभी अवरुद्ध हुआ है और न होगा।

इन चारों सशरीरी जीवों ने कर्म-पुद्गलों का प्रगाढ़ बन्ध किया है, करते हैं और करते रहेगे। यह बन्ध-क्रम भी अनादि है।

कर्म-फल को शारीरिक कष्टों के रूप में आमन्त्रित कर उनका समय से पूर्व ही फलभोग कर लेना उदीरणा है। यह कर्म-उदीरणा भी अनादि काल से जीव करते आ रहे है और करते रहेंगे।

इसी प्रकार कर्म-फल का यथासमय भोग अर्थात् वेद और कर्मफल-भोग के अनन्तर उन कर्मों का परित्याग निर्जरा है। वेद और निर्जरा का क्रम भी अनादि काल से चलता आ रहा है और चलता रहेगा।

कषाय और योग कर्म-पुद्गलो के सञ्चय के कारण माने जाते है, जब तक कषाय और योग जीव के साथ विद्यमान है तब तक कर्म-पुद्गलो के चय-उपचय आदि होते ही रहेंगे। कषाय-मुक्त अयोगी केवली ही इस क्रम को तोड़ने मे समर्थ हो सकते हैं, अन्य नहीं।

चतुष्प्रदेशी पुद्गलों की अनन्तता

मूल—चउपदेसिया खंधा अणंता पण्णत्ता। चउपदेसोगाढा पोग्गला अणंता प०। चउसमयट्ठिइया पोग्गला अणंता प०। चउगुणकालगा पोग्गला अणंता जाव चउगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता॥१७५॥

छाया—चतुःप्रदेशिकाः स्कन्धा अनन्ताः प्रज्ञप्ताः। चतुःप्रदेशावगाढाः पुद्गला अनन्ताः, चतुर्गुणकालकाः पुद्गला अनन्ताः यावच्चतुर्गुणरूक्षाः पुद्गला अनन्ताः प्रज्ञप्ताः।

शब्दार्थ—चउपदेसिया खंधा—चार प्रदेशों वाले स्कन्ध, **अणंता पण्णत्ता**—अनन्त

कथन किए गए हैं, **चउपदेसोगाढा पोग्गला**—चार प्रदेशों के अवगाहन करने वाले पुद्गल, **अणंता**—अनन्त कथन किए गए हैं, **चउसमयट्ठिइया पोग्गला अणंता**—चार समय की स्थिति वाले पुद्गल अनन्त हैं, **चउगुणकालगा पोग्गला अणंता**—चार गुण वाले पुद्गल अनन्त हैं, **जाव**—यावत्, **चउगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता**—चार गुण रूक्ष पुद्गल अनन्त कथन किए गए हैं।

मूलार्थ—चतु:प्रदेशिक स्कन्ध अनन्त हैं। चार प्रदेशों को अवगाहन करने वाले पुद्गल अनन्त हैं। चार समय की स्थिति वाले पुद्गल अनन्त हैं। चार गुण वाले पुद्गल अनन्त हैं। यावत् चार गुण रूक्ष पुद्गल अनन्त हैं।

विवेचनिका—पूर्व सूत्र में कर्म-पुद्गलों का वर्णन किया गया है, उसी पुद्गल-वर्णन परम्परा में पुन: पौद्गलिक वर्णन प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं। चार प्रदेशी स्कंध अनन्त हैं। आकाश के चार प्रदेशों पर ठहरने वाले पुद्गल भी अनन्त हैं। कुल चार समय तक अवस्थित रहकर चलित होने वाले पुद्गल भी अनन्त हैं। पुद्गल द्रव्य के पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श इनके अनन्त गुण पर्याय होते हैं, किन्तु चतु: स्थान के अनुरोध से चतुर्गुण कृष्ण आदि वर्णन किए गए हैं।[१]

॥ इति चतुर्थं स्थानम् ॥
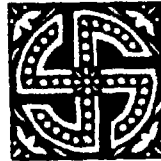
१. इस विषय के विस्तृत वर्णन के लिए द्रष्टव्य है प्रज्ञापनासूत्र का पांचवां पर्याय-पद।

जैन धर्म दिवाकर,
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म भूमि	राहो
पिता	: लाला मनसारामजी चौपड़ा
माता	. श्रीमती परमेश्वरी देवी
वश	क्षत्रिय
जन्म	विक्रम सं 1939 भाद्र सुदि वामन द्वादशी (12)
दीक्षा	. वि.स. 1951 आषाढ़ शुक्ला 5
दीक्षा स्थल	बनूड़ (पटियाला)
दीक्षा गुरु	मुनि श्री सालिगराम जी महाराज
विद्यागुरु	आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज (पितामह गुरु)
साहित्य सृजन	अनुवाद, सकलन-सम्पादन-लेखन द्वारा लगभग 60 ग्रन्थ
आगम अध्यापन	शताधिक साधु-साध्वियो को।
कुशल प्रवचनकार	तीस वर्ष से अधिक काल तक।
आचार्य पद	पजाब श्रमण सघ, वि स 2003, लुधियाना।
आचार्य सम्राट् पद	अ भा श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण सघ सादड़ी (मारवाड) 2009 वैशाख शुक्ला
सयम काल	67 वर्ष लगभग।
स्वर्गवास	वि स. 2019 माघवदि 9 (ई 1962) लुधियाना।
आयु	79 वर्ष 8 मास, ढाई घटे।
विहार क्षेत्र	· पजाब, हरियाणा, हिमाचल, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, दिल्ली आदि।
स्वभाव	विनम्र-शान्त-गभीर प्रशस्त विनोद।
समाज कार्य	नारी शिक्षण प्रोत्साहन स्वरूप कन्या महाविद्यालय एवं पुस्तकालय आदि की प्रेरणा।

जैनभूषण, पंजाब केसरी, बहुश्रुत, महाश्रमण, गुरुदेव श्री ज्ञान मुनि जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म भूमि	साहोकी (पजाब)
जन्म तिथि	वि स 1979 वैशाख शुक्ल 3 (अक्षय तृतीया)
दीक्षा	वि स 1993 वैशाख शुक्ल 13
दीक्षा स्थल	रावलपिडी (वर्तमान पाकिस्तान)
गुरुदेव	आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज
अध्ययन	प्राकृत, सस्कृत उर्दू, फारसी, गुजराती, हिन्दी, पजाबी, अग्रेजी आदि भाषाओ के जानकार तथा दर्शन एव व्याकरण शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित, भारतीय धर्मो के गहन अभ्यासी।
सृजन	हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण पर भाष्य, अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना आदि कई आगमों पर बृहद् टीका लेखन तथा तीस से अधिक ग्रन्थो के लेखक।
प्रेरणा	विभिन्न स्थानको, विद्यालयो, औषधालयो, सिलाई केन्द्रो के प्रेरणा स्रोत।
विशेष	आपश्री निर्भीक वक्ता, सिद्धहस्त लेखक एव कवि थे। समन्वय तथा शान्तिपूर्ण क्रान्त जीवन के मगलपथ पर बढ़ने वाले धर्मनेता, विचारक, समाज सुधारक एव आत्मदर्शन की गहराई मे पहुंचे हुए साधक थे। पजाब तथा भारत के विभिन्न अचलो मे बसे हजारो जैन-जैनेतर परिवारो मे आपके प्रति गहरी श्रद्धा एव भक्ति है। आप स्थानकवासी जैन समाज के उन गिने-चुने प्रभावशाली सतों मे प्रमुख थे जिनका वाणी-व्यवहार सदा ही सत्य का समर्थक रहा है। जिनका नेतृत्व समाज को सुखद, सरक्षक और प्रगति पथ पर बढ़ाने वाला रहा है।
स्वर्गारोहण	मण्डी गोविन्दगढ़ (पंजाब) 23 अप्रैल, 2003 (रात 11.30 बजे)

आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म स्थान	मलौटमडी, जिला-फरीदकोट (पजाब)
जन्म	18 सितम्बर, 1942 (भादवा सुदी सप्नमी)
माता	श्रीमती विद्यादेवी जैन
पिता	स्व श्री चिरजीलाल जी जैन
वर्ण	वैश्य ओसवाल
वश	भाबू
दीक्षा	17 मई, 1972, (समय–12 00 बजे)
दीक्षा स्थान	मलौटमण्डी (पजाब)
दीक्षा गुरु	बहुश्रुत, जैनागमरत्नाकर, राष्ट्रसत श्रमणसघीय सलाहकार श्री ज्ञानमुनि जी महाराज
शिष्य-सपदा	श्री शिरीष मुनि जी, श्री शुभममुनि जी श्री श्रीयशमुनि जी, श्री सुव्रतमुनि जी एव श्री शमितमुनि जी
प्रशिष्य	श्री निशात मुनि जी श्री निरजन मुनि जी
युवाचार्य पद	13 मई, 1987 पूना, महाराष्ट्र
आचार्य पदारोहण	9 जून, 1999 अहमदनगर, महाराष्ट्र
चादर महोत्सव	7 मई, 2001, ऋषभ विहार, दिल्ली मे
अध्ययन	डबल एम ए, पी-एच डी, डी लिट् आगमो का गहन गभीर अध्ययन, ध्यान-योग-साधना मे विशेष शोध कार्य

श्रमणश्रेष्ठ कर्मठयोगी, मंत्री श्री शिरीष मुनि जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म स्थान	नाई, उदयपुर, (राजस्थान)
जन्मतिथि	19 फरवरी, 1964
माता	श्रीमती सोहनबाई
पिता	श्रीमान ख्यालीलाल जी कोठारी
वश, गौत्र	ओसवाल, कोठारी
दीक्षार्थ प्रेरणा	दादीजी मोहन बाई कोठारी द्वारा
दीक्षा तिथि	7 मई, 1990
दीक्षा स्थल	यादगिरी (कर्नाटक)
गुरु	श्रमण सघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनिजी महाराज
शिक्षा	एम ए (हिन्दी साहित्य)
अध्ययन	आगमो का गहन गभीर अध्ययन, जैनेतर दर्शनों मे सफल प्रवेश तथा हिन्दी, सस्कृत, अग्रेजी, प्राकृत, मराठी, गुजराती भाषाविद्।
उपाधि	श्रमण सघीय मत्री, साधुरत्न, श्रमणश्रेष्ठ कर्मठयोगी
शिष्य सम्पदा	श्री निशात मुनि जी श्री निरजन मुनि जी
विशेष प्रेरणादायी कार्य	ध्यान योग साधना शिविरो का सचालन, बाल-सस्कार शिविरो और स्वाध्याय-शिविरो के कुशल संचालक। आचार्य श्री के अनन्य सहयोगी।

आत्म शिव साहित्य

आगम संपादन :–

(व्याख्याकार आचार्य श्री आत्माराम जी म.)

	सहयोग राशि
• श्री आचाराग सूत्रम् (भाग एक)	450.00
• श्री आचाराग सूत्रम् (भाग दो)	450 00
• श्री स्थानाग सूत्रम् (भाग एक)	500 00
• श्री स्थानाग सूत्रम् (भाग दो)	400 00
• श्री उपासकदशाग सूत्रम्	300 00
• श्री अन्तकृद्दशाग सूत्रम्	300 00
• श्री अन्तकृद्दशाग सूत्रम् (संक्षिप्त सस्करण)	50 00
• श्री अनुत्तरौपपातिक सूत्रम्	100 00
• श्री विपाक सूत्रम्	500 00
• श्री निरयावलिका सूत्रम् (कल्पिका-कल्पावतंसिका-पुष्पिका-पुष्पचूलिका-वृष्णिदशा)	300 00
• श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग एक)	300 00
• श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग दो)	300 00
• श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग तीन)	300 00
• श्री दशवैकालिक सूत्रम्	300 00
• श्री नन्दीसूत्रम्	400 00
• श्री दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रम्	200 00
• श्री आवश्यक सूत्रम् (श्रावक प्रतिक्रमण)	30 00

साहित्य (हिन्दी)–

• श्री तत्वार्थ सूत्र जैनागम समन्वय	(समन्वय प्रधान ग्रन्थ)	100 00
• श्री जैनतत्वकलिका विकास	(जैन तत्व विद्या)	75 00
• जैनागमों में अष्टाग योग	(जैन योग)	60 00
• भारतीय धर्मों मे मोक्ष विचार	(शोध प्रबन्ध)	220 00
• ध्यान - एक दिव्य साधना	(ध्यान पर शोध-पूर्ण ग्रन्थ)	120 00

*	ध्यान-पथ	(ध्यान सम्बन्धी चिन्तनपरक विचारबिन्दु)	60 00
*	योग मन सस्कार	(निबन्ध)	50 00
*	जिनशासनम्	(जैन तत्व मीमासा)	40 00
*	पढम नाण	(चिन्तनपरक निबन्ध)	50 00
*	अहासुह देवाणुप्पिया	(अन्तगडसूत्र प्रवचन)	100.00
*	शिव-धारा	(प्रवचन)	50.00
*	अन्तर्यात्रा	,,	50 00
*	नदी नाव सजोग	,,	60 00
*	अनुश्रुति	,,	35 00
*	मा पमायए	,,	60 00
*	अमृत की खोज	,,	40 00
*	आ घर लौट चले	,,	60 00
*	सबुज्झह कि ण बुज्झह	,,	50 00
*	सद्गुरु महिमा	,,	50 00
*	प्रकाशपुञ्ज महावीर	(संक्षिप्त महावीर जीवन-वृत्त)	20 00
*	अध्यात्म-सार	(आचाराग सूत्र पर एक बृहद् आलेख)	60 00
*	आत्म-ध्यान साधना कोर्स	(सचित्र ध्यान-योग बिन्दु)	10 00
*	शिवाचार्य प्रवचन गीत		10 00

साहित्य (अग्रेजी)—

* दी जैना पाथवे टू लिब्रेशन
* दी फण्डामेन्टल प्रिंसीपल्स ऑफ जैनिज्म
* दी डॉक्ट्रीन ऑफ द सेल्फ इन जैनिज्म
* दी जैना ट्रेडिशन
* दी डॉक्ट्रीन ऑफ लिब्रेशन इन इंडियन रिलीजन्स विथ रेफरेस टू जैनिज्म
* स्परीच्युल प्रक्टेसीज ऑफ लॉर्ड महावीरा